ॐ आनन्दमय

ॐ शान्तिमय

श्रीमद्भगवद्गीता

महाराजभाष्य

(प्रथम भाग)

परम पूज्य महाराजजी

ॐ आनन्दमय ॐ शान्तिमय

श्रीमद्भगवद्गीता

महाराजभाष्य

(प्रथम भाग)

श्री भागीरथी धाम, गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पौड़ी, उत्तराखण्ड,
हिमालय, पिन २४१ ३०४

श्री भागीरथी धाम, हरिपुरकला, प्रेम विहार चौक, हरिद्वार, उत्तराखण्ड,
पिन २४६ २०५

प्रथम संस्करण २५००
मार्गशीष, मोक्षदा एकादशी
श्रीगीता जयन्ती, सम्वत् २०६३
सन् दिसम्बर २००६
द्वितीय संस्करण ११००
श्रीरामनवमी, सम्वत् २०७०
सन् १६ अप्रैल २०१३

सर्वाधिकार सुरक्षित – श्री भागीरथी धाम समिति
श्री भागीरथी धाम,
गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पौड़ी, उत्तराखण्ड,

मुद्रक – विद्यार्थी प्रेस, पटना, बिहार, पिन ८०० ००४

प्रकाशक भक्तों की ओर से दो शब्द :

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यह सूत्र वाक्य निर्विवादतः परम पूज्य महाराजजी के प्रस्तुत महाराजभाष्य पर पूर्णरूपेण लागू होता है। स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने बाँसुरी को प्रतीक मानकर विभिन्न राग–रागिनियों के माध्यम से लोक जीवन एवं ब्रह्मतत्त्व के विविध पक्षों से अर्जुन का रणभूमि में साक्षात्कार कराते हुए आध्यात्मिक कर्मपथ पर प्रवृत्त किया है। आज जब लौकिक ऐश्वर्यों के चकाचौंध में भौतिक साधनों का संग्रह ही जीवन का उद्देश्य होता जा रहा है, परिणामतः दुःख, संघर्ष एवं संत्रास से आज मानव घिरा हुआ है। इस घेरे को तोड़कर ब्रह्मानन्द से साक्षात्कार का अभीष्ट प्राप्त करने तथा अखिल ब्रह्माण्ड नायक परमपिता परमात्मा के श्रीचरणों में स्वयं को समर्पित करने के निमित्त गीताजी को हृदयंगम करने के अतिरिक्त कलियुग में और कोई साधन नहीं है क्योंकि परम पूज्य महाराजजी ने स्पष्टतः रेखांकित किया है कि "जिस अलौकिक गीताजी में तंत्र, मंत्र, योग, ज्ञान, विज्ञान सब समाए हुए हैं अर्थात् जिसके पठन, पाठन, चिन्तन, मनन से ही सम्पूर्ण योगों का, साधनाओं का, जप–तप का फल प्राप्त हो जाता है।" (प्रथम अध्याय, पृ० ४६)

महर्षि व्यासजी से लेकर आज तक विविध कालखण्डों में विभिन्न संतों, ऋषियों एवं मनीषियों द्वारा श्रीमद्भागवत का अमृत पान कराने की परम्परा स्थापित है। सद्गुरु अपने भक्तों को श्रीमद्भागवत की महत्ता एवं प्रासंगिकता इस दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं कि उन्हें साधना, उपासना का सहज फल प्राप्त हो सके। इसी पृष्ठभूमि एवं परम्परा का निर्वाह करते हुए परम पूज्य महाराजजी ने गीता के गूढ़ अर्थों, उसमें निहित दर्शन, तत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मविद्या को आम भक्तों के लिये सरल, सुगम एवं सहजग्राहीरूप में प्रस्तुत भाष्य अपने भक्तों को प्रदान किया है। अपनी अमृतवाणी से परम पूज्य महाराजजी ने गूढ़ गद्यमय भाष्य को काव्यात्मकता के कलेवर में प्रस्तुत किया है ताकि भाव–सम्प्रेषण केंद्रीय विषय बना रहे। लोकभाषा में प्रचलित शब्दों एवं शैलियों का प्रयोग इस भाष्य में निःसंकोचरूप से इसीलिए किया गया है कि प्रस्तुत भाष्य आम भक्तों का भाष्य बन सके।

इस भाष्यरूपी ज्ञान गंगोत्री में डुबकी लगाते समय भक्तों को यह सहज प्रतीति होगी कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण उनके संकटों, समस्याओं एवं संशयों का निवारण करते हुए भगवदर्थ कर्म एवं ज्ञान मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। भाष्य पाठन के पश्चात् भक्त स्वयं अर्जुन की भाँति भय, विषाद, संकोच, असमंजस आदि से मुक्त हो सत्य को अंगीकार करते हुए कर्मपथ पर प्रवृत्त हो रहा है।

परम पूज्य महाराजजी ने आत्मजिज्ञासुओं, साधकों एवं भक्तों के हितार्थ स्वामी आत्मानन्दजी, स्वामी रामानन्दजी, स्वामी शेषानन्दजी आदि साधकों एवं राधेश्यामजी, मुन्नालालजी आदि भक्तों के अतिशय अनुरोध पर ही इस गीता भाष्य को वैसे ही प्रकट किया है जैसे देवताओं, संतों एवं भक्तों ने भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवती आदि को प्रकट किया है। गुरुदेव की हम भक्तों पर इससे और बड़ी कृपा नहीं हो सकती। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसका पठन–पाठन कर हम जीवन के उन सभी प्रश्नों का सहज उत्तर प्राप्त कर सकेंगे, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय तथा शान्तिमय हो सके।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना समीचीन होगा कि यह भाष्य चूँकि वाणिज्यिक दृष्टि से प्रकाशित नहीं किया जा रहा है इसीलिए इसका मूल्य अंकित नहीं है। यह हम लोगों जैसे ही सभी श्रद्धावान भक्तों को सहजरूप से उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है। मुद्रण में आए वित्तीय भार का वहन स्वैच्छिकरूप से श्री प्रकाश राजगड़िया (मुम्बई वाले) ने किया है।

हम हैं आपके–

श्री भागीरथी धाम, भक्त परिवार

गुरु वन्दना

नमामि सद्गुरो पदं, नमामि सद्गुरो पदं,
भजामि सद्गुरो वदं, भजामि सद् गुरो ददं।
स्मरामि सद्गुरो पठं, पठामि सद्गुरो पठं,
वदामि सद्गुरो वदं, ददामि सद्गुरो ददं।।१।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

लिखामि सद्गुरो लिखं, चलामि सद्गुरो चलं,
खदामि खाद सद्गुरो, पिवामि सद्गुरो पिवं।
करोमि सद्गुरो करं, धरोमि सद्गुरो धरं,
भरामि सद्गुरो भरम, रचामि सद्गुरो रचं।।२।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

अर्चामि अर्चनम गुरो, वन्दनामि वन्दनं गुरो,
नमामि सद्गुरो नमं, भजामि सद्गुरो भजं।
कृड़ामि सद्गुरो कृड़ं, वृणामि सद्गुरो वृणं,
व्रजामि सद्गुरो व्रजं, नमामि सद्गुरो पदं।।३।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

स्मरामि रूप सद्गुरो, जानामि रूप सद्गुरो,
भजामि रूप सद्गुरो, नमामि रूप सद्गुरो।
हुंकरामि सद्गुरो, हुंकरामि सद्गुरो,
जपामि च तपामि च, ध्यानामि ध्यान सद्गुरो।।४।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

कथाम्यहं सत् वचन, महाराज कथति सत् वचन,
कुरूत्वमादरेण सः येन्विध्या तेन्कृतं।
प्राप्स्यसि तु तत्पदं, प्राप्तं स यत्पदं,
प्राप्स्यसि तु तत्पदं, प्राप्तं स यत्पदं।।५।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

(राग–मिश्र शिवरंजिनी)

परम पूज्य महाराजजी की वाणी से निःसृत अनमोल वचन

❁ तीन धारा तो अहर्निश इस शरीरूप संसार में बहती रहती है– कभी कुचिन्तन की, कभी सुचिन्तन की तो कभी नींद, आलस, प्रमाद की, जिसमें नींद, आलस, प्रमाद को हटाना आपके वश की बात नही है; किन्तु चौथी धारा ब्रह्मचिन्तन को जैसे ही स्वीकार करते हैं वैसे ही कुचिन्तन और सुचिन्तन का पता भी नहीं चलेगा तथा नींद भी कालान्तर में आपका ही कहना मानेगी।

❁ जीव स्वतंत्रता चाहता है और साधक सद्गुरु की अधीनता चाहता है। सतोगुण बढ़ने पर सद्गुरु की आज्ञा का पालन नहीं होता बल्कि आत्मजिज्ञासा होने पर सद्गुरु की आज्ञा का सम्पूर्णता से पालन होता है क्योंकि सतोगुण ध्यान में बाँधता है।

❁ यदि प्रतिकूलता आने पर दुःख लग जा रहा है तो आप सकामी भक्त ही माने जायेंगे। निष्कामी भक्त को किसी भी अवस्था में मान–सम्मान की कामना और क्रोधादि नहीं होते।

❁ संयम से प्राप्त हुई सिद्धि असंयम से चली जाती है। समाधि एक कला है लेकिन शरणागति प्रभु कृपा है।

❁ गीताजी विधायिका है। जो भी कर्म है यज्ञमय है– यह गीताजी बताती है। साथ में यह भी बताती है कि आपका कर्म मात्र श्रम देनेवाला न हो बल्कि धर्म को देनेवाला हो अर्थात् भगवान को देनेवाला हो।

❁ जगत ब्रह्म का संकल्प है और स्वप्न जगत जीव का संकल्प है। ब्रह्म के संकल्प को त्यागा जा सकता है क्योंकि ब्रह्म का संकल्प ब्रह्म ही होता है यदि जगत रूप में आ रहा है तो त्यागना धर्म है।

❁ भक्त प्रह्लाद का एक पथ है एक राजा जनक का पथ है और संन्यास तत्त्व को प्रकाशित करने वाले शुकदेव, कपिल हैं। मीरा, शबरी, अगस्त्य, सुतीक्ष्ण आदि के विभिन्न प्रकार के पंथ हैं लेकिन सारे पंथों का आधार यम, नियम ही है। आध्यात्मिक जीवन जीने वाले पर घोर संकट आ जाता है लेकिन वह अपने पथ से विचलित नहीं होता। भगवत् पथ पर चलने वाले को दूसरे में दोष दिखाई नहीं देता।

❁ शूर्पणखा घर जाती है और सीताजी ऋषि वाल्मीकिजी के पास जाती हैं। शूर्पणखा के घर जाने से उसके साथ–साथ लंका का भी विनाश हो जाता है जबकि सीताजी सबकी आदर्श होती हैं। इसी प्रकार यदि कोई संन्यासी घर न जाने का और विदेश न जाने का संकल्प ले लेता है तो प्राकृतिक आपदा उसपर कुछ भी नहीं कर सकती।

❁ भारत की गरीबी भगवान को देने वाली होती है और भारत की अमीरी सुग्रीव बना देती है तथा विभीषण की शरणागति वरदान को देने वाली होती है।

❁ सेवकाई और शिष्यत्व दोनों साथ–साथ नहीं है तो चित्त के समाधान होने में लम्बा समय लग जाता है लेकिन सेवकाई के साथ यदि शिष्यत्व है तो सद्गुरु का हर वाक्य ब्रह्म वाक्य जैसा लगेगा।

❁ जब साधक दूसरे को देखता है तो अपने स्वरूप को भूल जाता है अर्थात् अपने स्वरूप को भूलने पर ही दूसरे को देखना होता है। जगत से निर्मोही होने पर ही भगवान से मोह होता है और जगत से अनासक्त होने पर ही भगवान से आसक्ति होती है।

❁ अध्यात्म में अपने को शरीर मानना ही अहंकार है और अपने आप को आत्मा मानना ही अहंकार से रहित होना है। जो अपने को भगवान का भक्त मानता है वह दान नहीं देता बल्कि भगवान की वस्तु को भगवान को लौटा देता है।

❁ 'स्व में स्थित यानी मैं आत्मा हूँ' में स्थित होकर शिष्य के जगह शिष्य का कर्म, पुत्र के जगह पुत्र का कर्म इत्यादि करना ही स्वधर्म है। 'परधर्म यानी मैं शरीर हूँ' में स्थित होकर कर्म करना ही परधर्म है। असुरधर्म को स्वीकार करना ही परधर्म है।

❁ यदि आपका मन सदैव ब्रह्मचिन्तन में रमण करता है तो यथार्थ में यही ब्रह्मचर्य कहलाता है। सद्गुरु के साथ रहें अथवा वह जहाँ रखे वहाँ रहें, यदि आप उसी की आज्ञा में चल रहे हैं तो यथार्थतः वही ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है।

❁ मौनी वही है जो भगवान के लिये भगवान से बोलता है। जो निन्दा–स्तुति में शम है वही मौनी है। स्तुति अर्थात् मान–सम्मान होने पर विशेष बोलना पड़ता है या निन्दा होने पर विशेष बोलना पड़ता है– यदि दोनों में शम है तो वही मौनी है।

❁ गणिका ने अपना चेहरा दर्पण में देखा और कहा कि यह चेहरा संसार के लिये नहीं बल्कि भगवान के लिये होना चाहिए और वह उसी दिन से भगवान के लिये जीने लगी। आप कुचिन्तन के साथ चौबीस घंटे रह लेते हैं लेकिन तीन घंटे भी सुचिन्तन नहीं हो पाता आपसे, यह कैसा दुर्भाग्य है आपका, इस पर विचार करना चाहिए।

❁ शास्त्र और संत में जो संत को श्रेष्ठ मानता है वही बुद्धिमान है क्योंकि संत देश, काल, अवसर के अनुसार बोलता है। जो महापुरुषों से नहीं सीख सकता, वह शास्त्र से क्या सीखेगा। शास्त्र जिस समय जिसके लिये कहा गया है उसके लिये वही सही है लेकिन यह आपके लिये सही है या नहीं, इसका भी निर्णय संत ही करेंगे।

❁ देखना यह है कि आप भगवान के हैं या नहीं, यदि आप दूसरे को देख रहे हैं, क्रोध हो जा रहा है, ईर्ष्या–द्वेष हो जा रहा है तो आप सम्पूर्णता से भगवान के नहीं हैं।

❁ सद्गुरु किसी से अधिक तो किसी से कम प्रेम नहीं करता बल्कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुसार ही वह प्रेम में बोल देता है। जैसे अग्नि किसी से प्रेम नहीं करती बल्कि जो अग्नि के जितना ही निकट जाता है उसको उतना ही उष्णता प्राप्त होती है वैसा ही सद्गुरु का व्यवहार भी होता है।

समर्पणम्

महाराजकृतं गीताभाष्यं समर्पणं समर्पणम्।।

आस्तिकं कर्षणं नास्तिकं कर्षणं, ज्ञानी ध्यानी च योगीन्कर्षणम्।
मन मतिं हृदयं प्राणं कर्षणं, त्राणं त्राणं जीवनं कर्षणम्।।

जीवनं जीवनस्य जीवनं अमृतस्य, जीवनं सत्याऽपि च असत्यस्य जीवनम्।
जीवनं कर्माऽपि च अकर्मस्य जीवनं, धर्माधर्मस्य जीवनं अर्पणम्।।

गीतमयं भगवद्गीता प्रभुमयं च भाष्यमिदम्।
महाराजमयं च भाष्यमिदं तव प्रभुणा अर्पणं अर्पणम्।।

(राग–मिश्र विहाग)

विषय एवं अध्याय सूची

विषय / अध्याय	पृष्ठ	विषय / अध्याय	पृष्ठ
गीताद्वार	११	चतुर्थोऽध्यायः	३६०
बाँसुरी रहस्योपाख्यान	४२	पञ्चमोऽध्यायः	५११
प्रथमोऽध्यायः	४६	षष्ठोऽध्यायः	५६६
द्वितीयोऽध्यायः	१०६	सप्तमोऽध्यायः	६८६
तृतीयोऽध्यायः	२७६		

अर्धमासपारायणके विश्राम–स्थल

	पृष्ठ		पृष्ठ
पहला विश्राम	१०५	नवाँ विश्राम	६३६
दूसरा "	२०५	दसवाँ "	१०४६
तीसरा "	३०६	ग्यारहवाँ "	११३५
चौथा "	४०५	बारहवाँ "	१२१६
पाँचवाँ "	५१०	तेरहवाँ "	१३०८
छठा "	६१३	चौदहवाँ "	१३६१
सातवाँ "	७१६	पंद्रहवाँ "	१४७२
आठवाँ "	८२६		

मासपारायणके विश्राम–स्थल

पहला विश्राम	६१	सोलहवाँ विश्राम.....	८२६
दूसरा "	१०५	सत्रहवाँ "	८८४
तीसरा "	१५६	अठारहवाँ "	६३६
चौथा "	२०५	उन्नीसवाँ "	६८७
पाँचवाँ "	२५८	बीसवाँ "	१०४६
छठा "	३०६	इक्कीसवाँ "	१०८६
सातवाँ "	३५६	बाईसवाँ "	११३५
आठवाँ "	४०५	तेईसवाँ "	११७६
नवाँ "	४६५	चौबीसवाँ "	१२१६
दसवाँ "	५१०	पचीसवाँ "	१२५४
ग्यारहवाँ "	५६२	छब्बीसवाँ "	१३०८
बारहवाँ "	६१३	सत्ताईसवाँ "	१३४६
तेरहवाँ "	६६४	अट्ठाईसवाँ "	१३६१
चौदहवाँ "	७१६	उनतीसवाँ "	१४३४
पंद्रहवाँ "	७६०	तीसवाँ "	१४७२

उपरोक्त विश्राम–स्थल के आधार पर ही आप द्विमास, त्रिमास, चतुर्मास आदि के विश्राम–स्थल का निर्णय ले सकते हैं इसप्रकार स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ में आप सहजता से प्रवेश कर सकते हैं

गीता–माहात्म्य

गीता गायी प्रभु ने ऐसी गायी नहीं जाये।
महाराज कछु गाये भक्तन्ह मन भाये।।

जूती पहन रास घोड़े की कर में, सजे स्वर्ण भूषण पीताम्बरी में,
रोते–बिलखते जो अर्जुन को पायी, द्रवित चित्त प्रभु ने गीता सुनायी।
दे दी पहेलि सारे जगत को, समझ बूझ जो पाये।।

खाये पीये कुछ रहे चाहे कैसे, श्रद्धा सुमन से पढ़े चाहे जैसे,
जूती पहन चाहे वाहन में जाये, अपवित्र गीता न तो भी हो पाये।
अध्याय आधी या पूरी पढ़े वो, दुःख दुविधा सब जाये।।

सकल सृष्टि उसकी हो जाये, पाठ करे नित गीता,
जीवनरथ सद्गुरु जो थामें, महामोह को जीता।
काम क्रोध अरु लोभ शत्रु को, सहजहिं मार भगाये।।

अमृत बने मृत्यु करे सेवकायी, सारे विभूति करें पहुनायी,
सकल मंत्र तन्त्रों की जननी ये गीता, पढ़े या सुने फिर भी होवे न भीता।
आगम निगम सब बनें उसके मीता, अमृत परम सुख पाये।।

शरणागति हो गीता की जिस दिन, साधु कहाये प्रभु से ही उसदिन,
वर्ण जाति पाँति न पूछे ये गीता, स्त्री पुरुष कोई अमृत जो पीता।
परम पूज्य बनता वही सारे जग में, जनम मरण मिटि जाये।।

अंधा भी देखे बहरा सुने भी, लँगड़ा चले अरु लुल्हा करे भी,
पढ़े रंक गीता राजा हो जाये, पढ़ता रहे तो परम पद को पाये।
महिमा महाराज भैरवी में गाये, जो प्रभु को सहजहिं भाये।।
(भैरवी या देशराग)

ॐ

गीताद्वार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

आज प्रश्न भी करेगा और उत्तर भी देगा महाराज। आज थोड़ा ही विषय होगा जो कि धारण करने के योग्य होगा; इसे आप भूले नहीं तो साधना अति सुगम हो जायेगी। इतना ही नहीं, गीताभाष्य समझने में भी सुगमता हो जायेगी। प्रश्न है कि शरीर का धर्म क्या है? प्रारब्ध का धर्म क्या है? आत्मा का धर्म क्या है? क्या कर्ता शरीर से अलग है? यदि हाँ तो आखिर कर्ता कौन है? आत्म जिज्ञासु तो प्रश्न करता ही है, बुद्धिमान बालक भी ऐसा प्रश्न कर सकता है। जो थोड़े से प्रबुद्ध होते हैं, वे विचार करते हैं कि यदि मैं कर्ता होता तो शरीर को वृद्ध नहीं होने देता, कृश नहीं होने देता, मरने भी नहीं देता, इससे सिद्ध होता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ। तो शरीर कर्ता है क्या? इसका धर्म क्या है? क्योंकि जब शरीर से प्राण अर्थात् प्रारब्ध निकल जाता है तो शरीर सड़–गल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर तो कर्ता है ही नहीं। ये दो बातें हो गईं कि आप कर ही नहीं रहे हैं और शरीर कर ही नहीं रहा है, तब फिर प्रारब्ध कर्ता है क्या? नहीं, नहीं, प्रारब्ध कर्ता नहीं हो सकता क्योंकि यदि आँखें न हों तो प्रारब्ध कैसे कहेगा कि मैं देखता हूँ, कान न हो तो कैसे कहेगा कि मैं सुनता हूँ, जिह्वा न हो तो कैसे कहेगा कि मैं रस लेता हूँ। तो यहाँ भी बात पूरी नहीं होती; क्योंकि वह भी कर्ता सिद्ध नहीं हो पा रहा है। तो क्या आत्मा कर्ता है? नहीं, नहीं आत्मा तो अजन्मा है, वह त्रिकाल द्रष्टा है, सदा–सर्वदा से शुद्ध, साक्षी, चेतन ही है, वह कर्ता हो ही नहीं सकता। शरीर कर्ता हो ही नहीं सकता, प्रारब्ध बिना आत्मा के कर्ता हो ही नहीं सकता, तो फिर कर्ता कौन है? ऐसे चिंतन करनेवाले के लिए एक आसन में बैठने की आवश्यकता नहीं होती। यदि पद्मासन, सिद्धासन में बैठकर चिंतन करने में बाधा हो रही है तो फिर आसन को हटा देना चाहिए तथा सुखपूर्वक जैसे चिंतन हो सके वैसे करना चाहिए।

आद्यगुरु शंकराचार्य ने अपने अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ में कहा है कि किसी आसन में बैठकर चिन्तन इसलिए करना है क्योंकि लेटकर आपको नींद आ जायेगी, टहलने पर रजोगुण की वृद्धि हो सकती है। हाँ, बैठने पर नींद नहीं आएगी, परन्तु बैठकर आत्मचिन्तन करने पर एक खतरा रहता है कि उस समय तन, मन, इन्द्रियों में सतोगुण की वृद्धि विशेष हो जाती है और बलात् ज्योतिर्मय ध्यान लगने लगता है। तो कहते हैं कि उस सतोगुण को स्वीकार न करते हुए चिंतन को स्वीकार करें; क्योंकि आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए प्रभु ने ज्योतिर्मय ध्यान स्वीकार करना मना किया है। यह बात अलग है कि आत्मचिन्तन करते करते ज्ञानसमाधि लग ही जाती है जो तीन घण्टे से लेकर तीन दिन, तीन माह, तीन वर्ष या वर्षों लगी रहती है लेकिन

आध्यात्मिक संत उस समाधि को मात्र बारह–तेरह घण्टे, ज्यादा से ज्यादा सोलह घण्टे स्वीकार करते हैं। जैसे दिनभर आत्मचिन्तन करेंगे और शाम सात बजे सोकर दस–ग्यारह बजे रात्रि में जगकर ज्ञानसमाधि में बैठकर सुबह उसे छोड़ देंगे (जिसका वर्णन गीताजी के छठे अध्याय में किया गया है) तो वह सतोगुण अपने लिए बाधक न होकर साधक हो जाता है। हाँ, तो यदि सतोगुण बाधा दे रहा है तो आसन को छोड़ दें। सतोगुण को कितना स्वीकार करना चाहिए इसका भी अनुपात दिया गया है। तो चलें तीनों ही कर्ता नहीं होते हैं– न आत्मा कर्ता होता है, न प्रारब्ध कर्ता होता है शरीर के अभाव में, न शरीर कर्ता होता है प्रारब्ध के अभाव में और आत्मा के अभाव में तो दोनों ही कर्ता नहीं हो रहे हैं। फिर कर्ता की भावना कैसे बन गयी? तो कहते हैं कि आपमें असजगता है, असावधानी है, प्रमाद है, इसलिए बन गयी इसीलिए लगता है कि मैं कर्ता हूँ, कर रहा था और आगे भी करता रहूँगा। शरीर के धर्म के विषय में यदि विचार किया जाय तो शरीर का धर्म है– जन्मना, मरना, घटना, बढ़ना, भूख और प्यास लगना, यह अपने–आप हो रहा है। महाराज फिर–फिर कह रहा है कि आज थोड़े में ही ज्ञान को प्रकाशित किया जा रहा है, जिसे आप अच्छीप्रकार यदि धारण कर लें तो बुद्धि में प्रवेश कर सकता है और अभी ही स्पष्ट होगा कि आपने पहले कभी कुछ नहीं किया है, न आज कर रहे हैं, न आगे करेंगे। प्रश्न है कि कर्ता कौन है? यदि शरीर है, तो प्रारब्ध के अभाव में प्राण निकल जाता है, फिर तो शरीर सड़–गल जाता है, अतः शरीर कर्ता नहीं हो सकता। वैसे ही प्रारब्ध शरीर के अभाव में कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि बिना आँख, कान, नाक के वह कैसे कर सकता है! इतना ही नहीं, वह बिना चेतन की सत्ता के कैसे देख–सुन सकता है! फिर तो आत्मा कर्ता है क्या? क्योंकि अब तो वही बचा न! नहीं, नहीं, वह तो अजन्मा है, शाश्वत है, सनातन है त्रिकाल द्रष्टा है, शुद्धचेतन है, अतः वह कर्ता हो ही नहीं सकता। फिर तीनों ही कर्ता नहीं हो पा रहे हैं तो भी क्रिया हो रही है– इस विषय में गम्भीरता से विचार करना है। इस न्याय से तो न आप शरीर हैं और न आप जन्मते, मरते, घटते, बढ़ते हैं और न आपको भूख–प्यास ही लगती है। इसी से तो अध्यात्म में कहा जाता है कि मानो भूख–प्यास लगती है शरीर को, मानो यह सोता है, जागता है, चलता है, उठता है, बैठता है, मानो यह हँसता है, रोता है इत्यादि इत्यादि! मानो शरीर जन्मता है, क्योंकि यदि प्राण न रहे तो इसमें और इसके द्वारा कुछ क्रिया हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि आप कर्ता नहीं हुए। डाक्टर के बिस्तर पर भी शरीर का धर्म होता रहता है। जब शरीर रोगी होता है तो भी ये धर्म अपने–आप होते ही रहते हैं, इन्हें कोई रोक नहीं सकता। यदि आप शरीर होते तो अपनी इच्छा के अनुसार ही होते। चाहते कि मैं बूढ़ा न होऊँ तो आप बूढ़े नहीं होते, चाहते कि मैं बालक ही रहूँ तो बालक ही रहते, लेकिन आपकी इच्छा के विरुद्ध ही हो रहा है; इसलिए महाराज आपको अलग कर रहा है और शरीर को अलग कर रहा है। अबतक आपकी इच्छा के विरुद्ध ही इसके द्वारा काम हुआ, शरीर का जो व्यवहार रहा आपके विरुद्ध ही रहा, आप इसको अपना मानते रहे लेकिन इसने एक भी कहना आपका नहीं माना, आप नहीं चाहे तो भी भूख लगी, प्यास लगी, न चाहने पर भी वृद्धावस्था आई, आप नहीं चाहे तो भी प्राण निकला, इससे सिद्ध होता है कि इसने आपका पीछा नहीं किया बल्कि आपने ही इसका पीछा किया। तो यह आपको केवल एक मात्र भ्रम है कि मैं शरीर हूँ, मैं खाता हूँ, पीता

हूँ, जन्मता हूँ, मरता हूँ, बढ़ता हूँ, घटता हूँ, जबकि न यह आपका धर्म है, न प्रारब्ध का धर्म है।

गीता अध्याय चार में 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये.....इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'– यह एक मंत्र है जो कि शरीर और शरीर के विषय का विभाग कर देता है तथा इसका विभाग करके वह प्रारब्ध पर संकेत करता है। शरीर, इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों में रहनेवाला वह पुरुष जो प्रारब्ध कहलाता है, 'जो कान के माध्यम से सुनता है, आँख के माध्यम से देखता है, नाक के माध्यम से गंध लेता है, जिह्वा के माध्यम से रस लेता है, त्वचा के माध्यम से सर्दी–गर्मी के स्पर्श का अनुभव करता है और शिश्न के माध्यम से आनन्द की अनुभूति करता है'; मानो वह शरीर का माध्यम ले रखा है। इसप्रकार प्रारब्ध का धर्म है– नेत्र का आश्रय लेकर रूप को देखना, कान का आश्रय लेकर शब्द को सुनना, घ्राण का आश्रय लेकर गंध को लेना, जिह्वा का आश्रय लेकर रस को लेना, त्वचा का आश्रय लेकर स्पर्श का अनुभव करना इत्यादि इत्यादि। यहाँ तक बात स्पष्ट हो गयी कि शरीर का और प्रारब्ध का आत्मा के माध्यम से निकट का संबंध है लेकिन निकट का सम्बन्ध जबतक शरीर की अवधि है, तभीतक है। एक समय निश्चित है कि शरीर में इतने समय तक प्रारब्ध रहेगा और इसकी उम्र समाप्त होते ही वह प्रारब्ध (संस्कार, कर्म) समाप्त हो जाएगा यानी शरीर को छोड़ देगा तो उस समय शरीर का बाह्यप्राण त्याग कर देगा। दो प्राण हैं– एक बाह्यप्राण और दूसरा अन्तःप्राण। जिस प्राण से संस्कार आंदोलित होता है, जो प्राण नख से लेकर सिर तक फैला हुआ है, वह अन्तःप्राण है और बाह्यप्राण, जो विश्वरूप का प्राण है जिस प्राण से यह शरीर आंदोलित होता दिखाई पड़ता है, चलायमान होता दिखाई पड़ता है। यदि किसीप्रकार किसी योग से बाहर की हवा को रोक दिया जाय तो प्रारब्ध की सत्ता नहीं रहेगी। अतः दोनों का (प्रारब्ध का और शरीर का) निकट का संबंध है। इसीप्रकार बाह्यप्राण का अन्तःप्राण से, बाहरी प्रकाश का आन्तरिक प्रकाश से, बाहरी खाद्य–पदार्थों का आन्तरिक खाद्य–पदार्थों से निकट का सम्बन्ध है। अन्तर (शरीर के भीतर) के खाद्य–पदार्थ को यदि योग के माध्यम से जागृत कर लिया जाए तो बाह्य खाद्य–पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसीप्रकार अन्तःप्राण को ध्यान–समाधि से प्रकट कर लिया जाय तो बाह्यप्राण की आवश्यकता नहीं पड़ती लेकिन यदि ऐसी सामर्थ्य नहीं है तो उसके पूर्व सबके लिए एक ही धर्म है, जो कि विभाग करके आज बताया जा रहा है। इसे फिर से आपको समझना होगा, ताकि सद्गुरु के सामने व्यवहार के लिए आप कह सकें कि मैं खाता–पीता, सोता–जागता हूँ, पर आप अपने सामने ऐसा न कह सकें। इसप्रकार जो कर्तापने का दोष होता है, उसे समझकर उस दोष से तो आज ही आप मुक्त होवें!

कर्ता कौन है? आत्मा, प्रारब्ध या शरीर? गहनता से चिन्तन किया जा रहा है। आत्मा को अकर्ता कहा गया है, शरीर को जड़ कहा जाता है, प्रारब्ध को आत्मा के माध्यम से चेतन कहा जाता है, शरीर को प्रारब्ध के माध्यम से चेतन कहा जाता है और आज आपको एक नई बात मिली होगी, इसको फिर से सुनेंगे– महाराज आत्मा को अकर्ता कह रहा है। शरीर मानो जड़ सा है और प्रारब्ध चेतन है। लेकिन प्रारब्ध आत्मा के माध्यम से चेतन है तथा प्रारब्ध के माध्यम से शरीर चेतन है। प्रारब्ध (संस्कार) का धर्म है कान से सुनना, आँख से देखना, नाक से सूँघना,

जिह्वा से रस लेना और त्वचा से स्पर्श करना, मन के माध्यम से मनन करना, बुद्धि के माध्यम से निर्णय करना, चित्त के माध्यम से किसी रूप को धारण कर लेना और अहम् के माध्यम से मैं शरीर हूँ– यह कहना। वह अहम् क्या है? 'अहम्' तो 'अहम्' है अर्थात् चेतन आत्मा ही है लेकिन समझने मात्र के लिए समष्टि अहम् (चेतन) और व्यष्टि अहम् (चेतन) नाम दिया जाता है। इसप्रकार अहम् का दो भाग करता है महाराज– एक ब्रह्म का 'मैं' है, एक जीव का 'मैं', जो सब जीवों से प्रकट हो रहा है। जिसप्रकार सूर्य है और सूर्य की किरणें हैं, उसीप्रकार समष्टि 'मैं' रूप सूर्य से व्यष्टि 'मैं' रूप किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं, प्रवाहित हो रही हैं। उसी व्यष्टि 'मैं' के माध्यम से, अर्थात् चेतन द्रष्टा के माध्यम से प्रारब्ध कहता है कि मैं कर्ता हूँ यानी चेतन न हो तो देखना, सुनना, गुनना कुछ भी नहीं हो पायेगा। इससे सिद्ध होता है कि उस चेतन के अभाव में प्रारब्ध भी निष्क्रिय है। जैसे सूर्य के अभाव में कोई पढ़ नहीं सकता, अंधेरे में कोई चल नहीं सकता; उसीप्रकार व्यष्टि चेतन का आश्रय लेकर पूर्व का संस्कार (प्रारब्ध) इस शरीर के माध्यम से अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि के माध्यम से कर्ता सा प्रतीत हो रहा है। पाँव के माध्यम से चलता हुआ, मन के माध्यम से मनन करता हुआ सा, बुद्धि के माध्यम से चिन्तन करता हुआ सा प्रतीत होता है। यह भी स्पष्ट हो गया कि आत्मा कर्ता नहीं है। आत्मा का तात्पर्य है आप अर्थात् आत्मा का तात्पर्य है 'मैं', (चाहे आप अज्ञानी हैं, चाहे ज्ञानी हैं)। एक समय में कहते हैं कि मैं शरीर हूँ, तो दूसरी अवस्था में आप कहते हैं कि मेरे शरीर में दर्द है– ऐसा कहकर आप अपने को शरीर से अलग कर लेते हैं, जबकि प्रारम्भ में ही ऐसा कहना चाहिए कि मेरे शरीर में दर्द है। यदि आप कहते हैं– मुझे दर्द हो रहा है, तो इसे कहते हैं प्रमाद और इसी प्रमाद से साधना में शिथिलता आ जाती है इसी प्रमाद से स्वरूप के चिन्तन में विकृति आ गयी है। आत्मस्वरूप का चिंतन जो पकड़ में नहीं आ रहा है, केवल उसका एकमात्र कारण है प्रमाद, जबकि समझना चाहिए कि पेट से भूख–प्यास की अनुभूति प्रकट हो रही है, अब नींद प्रकट हो रही है, अब जाग्रदवस्था प्रकट हो रही है, अब सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख की अनुभूति प्रकट हो रही है इत्यादि इत्यादि। ऐसा अनुभव करने से ही साधना में स्थिरता आती है। इस अनुभूति के माध्यम से शरीर और प्रारब्ध से अलग होने का प्रयत्न कोई भी कर सकता है। आये दिन प्रतिपल ऐसा ही हो रहा है कि उसने ऐसा किया, मैंने ऐसा सोचा इत्यादि इत्यादि। ये जो भ्रमात्मक भाव हो गए हैं, इनसे दूर होने के लिए कर्ता को अच्छीप्रकार से समझना है कि आखिर कर्ता है कौन? जो है अर्थात् द्रष्टा है, वह कर्ता नहीं है बल्कि द्रष्टा का आश्रय लेकर प्रारब्ध कर्ता हो रहा है वैसे ही शरीर प्रारब्ध के माध्यम से अपने छः धर्मों को मानो धारण करता है। तो फिर करना क्या है? एक तरफ प्रारब्ध है, दूसरी तरफ शरीर है और तीसरी तरफ द्रष्टा है, जिनके योग से क्रिया हो रही है। फिर पहेली तो पहेली ही रह गयी! वह पहेली है कि आखिर 'मैं कौन हूँ' जिस 'द्रष्टा' को 'मैं हूँ' कहा जा रहा है अर्थात् मैं कौन हूँ का उत्तर दिया जा रहा है कि 'तुम आत्मा ही हो शुद्ध साक्षी चेतन हो', तो उस आत्मा में द्रष्टा, साक्षी, चेतन कह देने से तो उसकी आत्मसत्ता, आत्मशक्ति सिद्ध ही नहीं हो रही है? हाँ, हाँ तो लें बस, इसी पहेली को प्रकाशित करने का प्रयास महाराज कर रहा है क्योंकि जब इस पहेली को लगभग बुद्धि के द्वारा समझ लेते हैं तो फिर आप मात्र द्रष्टा नहीं रहेंगे, कर्ता एवं धर्ता तथा स्रष्टा भी हो सकते हैं।

सूर्य भगवान जगत के लिए द्रष्टा हैं लेकिन हनुमानजी के लिए कर्ता हैं। वे माँ कुन्ती के पास प्रकट हो गए थे, प्रभु श्रीराम के पास प्रकट हो गए थे। अपने उपासकों के पास वे प्रकट होते देखे जाते हैं। समुद्र आम आदमी के लिए जड़ है लेकिन प्रभु श्रीराम के पास प्रकट होते देखा जाता है। गंगा माँ आम आदमी के लिए जल हैं लेकिन भक्तों के लिए प्रकट होते देखी जाती हैं, वरदान देती हुई देखी जाती हैं। वैसे ही यदि आप द्रष्टा हैं तब तो मात्र इतने से बात नहीं बनती है लेकिन यहाँ पर तो आप अभी द्रष्टा ही सिद्ध हो रहे हैं क्योंकि आप शरीर के कर्ता तो हैं नहीं; क्योंकि शरीर के छः धर्म स्वतंत्र हैं। प्रारब्ध के माध्यम से शरीर एवं शरीर के छः धर्म और आपके माध्यम से प्रारब्ध स्वतंत्र है। जैसे ही शरीर की अवधि समाप्त हो जाती है वैसे ही प्रारब्ध निकल जाता है, जैसे ही प्रारब्ध निकलता है वैसे ही प्राण निकल जाता है तो शरीर परतंत्र हो जाता है अर्थात् सड़–गल जाता है और पृथ्वी का अंश पृथ्वी में, जल का अंश जल में, अग्नि का अग्नि में, वायु का वायु में, आकाश का आकाश में, सूर्य का सूर्य में, चंद्रमा का चंद्रमा में; अर्थात् ये सारे के सारे भाग पृथक्–पृथक् हो करके अपने–अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यहाँ तक स्पष्ट हो गया कि वह शरीर परतंत्र हो जाता है, प्रारब्ध के नहीं रहने पर। ठीक ऐसे ही आपके अभाव में प्रारब्ध परतंत्र हो जाएगा अर्थात् यदि आपने हस्तक्षेप किया तो आपके अधीन हो जाएगा। जैसे आपने स्वीकार किया है अलग से शरीर को, वैसे ही अलग से स्वीकार करते हैं प्रारब्ध को तो सारी की सारी बात ही बन सकती है।

यहाँ तक यही स्पष्ट हुआ कि अबतक आपने देखने के सिवा कुछ किया ही नहीं अर्थात् शरीर के छः धर्मों में आपने कुछ नहीं किया, प्रारब्ध के देखने में, सुनने में कुछ नहीं किया। क्यों? इसलिए कि नहीं चाहते हुए भी आँखों से दिखाई पड़ेगा अर्थात् आपके नहीं चाहने पर भी आँखों से कोई देख रहा है, आपके नहीं चाहने पर भी कान से सुनाई पड़ रहा है यानी इससे सिद्ध होता है कि आपके नहीं चाहने पर भी शरीरसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों से क्रियायें हो रही हैं। आप वहाँ सुनने, देखने और करने के कर्ता नहीं हैं, जो यह सब कर रहा है वह प्रारब्ध कहलाता है। तब फिर आपका क्या धर्म है? आपका धर्म है मात्र द्रष्टापना अर्थात् यह स्पष्ट हो रहा है कि न आप शरीर हैं, न शरीर का धर्म आपका धर्म है, न आप प्रारब्ध हैं न प्रारब्ध का धर्म आपका धर्म है। हाँ, यह स्पष्ट हो जाता है कि आपका होना सिद्ध है कि 'आप हैं'। यहाँ तक सिद्ध हो गया कि आप द्रष्टा हैं; क्योंकि आपके आश्रित होकर ही प्रारब्ध कर्ता होता है और प्रारब्ध के आश्रित शरीर कर्ता होता है। अब फिर कहा जाता है कि यदि द्रष्टा न होकर कुछ समय के लिए आप कर्ता हो जाते हैं तो विशेष क्रिया से क्षुद्र कर्ताभाव को काटकर आप परम कर्ता एवं परम द्रष्टारूप हो सकते हैं। गीता अध्याय तेरह के अनुसार जबतक आप मात्र उपद्रष्टा हैं, तभी तक आपके ऊपर प्रारब्ध भारी पड़ रहा है अर्थात् जबतक आप एकमात्र द्रष्टा हैं तो प्रारब्ध आप पर शासन कर रहा है लेकिन बीच में जब विशेष क्रिया से आप कर्ता हो जाते हैं, तब आप ही प्रारब्ध पर भारी पड़ते हैं अर्थात् वह कमजोर हो जाता है और आप बलवान हो जाते हैं। वह आँख के माध्यम से कर्ता होता है, कान के माध्यम से कर्ता होता है तो आप उसके धर्म को रोक तो सकते नहीं हैं और जिसके धर्म को आप रोक नहीं सकते तो फिर सच में कर्ता कैसे हो सकते हैं, यह

विचार का विषय है। उसी के समाधान के लिए कहा जाता है कि प्रारब्ध के धर्म को आपने अपना मान लिया है; जैसे देख रहा है प्रारब्ध और आप कह रहे हैं कि मैं देख रहा हूँ। तो 'मैं देख रहा हूँ'— इसी भाव को छोड़ दें, मैं सुन रहा हूँ– इसी भाव को छोड़ दें, मैं खा–पी रहा हूँ, मैं सो रहा हूँ, जाग रहा हूँ, मैं जा रहा हूँ, मैं आ रहा हूँ इत्यादि समझना छोड़ दें तथा इन सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता प्रारब्ध को मान लें। जिन्हें आगे बढ़ना है साधना में, इसे नोट कर लें और चिन्तन का साधन बनायें।

महाराज ने शरीर और प्रारब्ध के धर्म को प्रकाशित करके अब आत्मा के धर्म को प्रकाशित करना प्रारंभ किया है। सहज धर्म और असहज धर्म– ये दो धर्म हैं। आत्मा का द्रष्टा होना उसका सहज धर्म है लेकिन द्रष्टा होने मात्र से प्रारब्ध उस पर भारी हो गया है, अतः अपने स्वभाव के विरुद्ध वह (द्रष्टा) कर्ता हो रहा है। कर्ता कैसे हो रहा है वह? तो कहते हैं कि इसको जानने के लिए जो संत परम द्रष्टा हो गये हैं, उनके पास जाएँ (गीता अध्याय–४, गीता अध्याय–१३) और उनसे ज्ञान तथा क्रिया लें। जिस शरीर के माध्यम से प्रारब्ध अपना काम करता है, अपना प्रयोजन सिद्ध करता है, उसी शरीर से आप अपना प्रयोजन सिद्ध करें। सद्गुरु के पास जाना है इसलिए कि जो शरीर, प्रारब्ध का साधन बना हुआ है अर्थात् जिसके माध्यम से वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का सेवन कर रहा है, उसी शरीर से अब आपको अपना प्रयोजन सिद्ध करना है। जैसे उन्हीं इन्द्रियों से अर्थात् नेत्र से शास्त्र पढ़ना है, कान से कथा सुननी है, वाणी से जप एवं स्वाध्याय धारण करना है अर्थात् सात्त्विक वृत्ति को धारण करके उसके माध्यम से ब्रह्म के विषय को धारण करना है। वह ब्रह्म विषय है कि जब आप कर्ता होने जा रहे हैं तो वाणी से सद्गुरु जो नाम दे दे उसी नाम का जप करें, मन के माध्यम से पढ़े हुए का मनन करें तथा बुद्धि के माध्यम से पढ़े हुए का निर्णय करें कि जो हमने पढ़ा है उसमें क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है, इसप्रकार बुद्धि तक पहुँच गये। जब चिंतन करते–करते यह स्पष्ट हो जाय कि यह सत्य है, यह असत्य है, तो सत्य को धारण करें, असत्य को त्याग दें। यह एक अवस्था की बात है। यहाँ तक कर्ता के व्यावहारिक होने की बात कही गई। यद्यपि आप द्रष्टा हैं लेकिन जब कर्ता हो जाते हैं तब आपके लिए शरीर हथियार हो जाता है, जबकि शरीर आपका नहीं है लेकिन जिसका है उसने कहा है कि आप कुछ समय के लिए इसे अपना हथियार मान लें। प्रथम में इस सिद्धान्त में भक्ति पक्ष भी है। सद्गुरु के पास आप गए तो आप भक्त हो ही गए। उसने कहा कि यह शरीर तुम्हारा नहीं है, यह शरीर प्रकृति का है लेकिन तुम इसे कुछ समय के लिए अपना हथियार मान लो। अतः आप इसे अपना यंत्र मान लें, तो यह आपका यंत्र ही हो जायेगा। इस यंत्र में अनेकानेक विभाग हैं —आँख है, कान है, पाँव है, मन, बुद्धि इत्यादि हैं; इन करणों और उपकरणों से वह जो भी करने को कहे वह करें। उस अवस्था में आप सही अर्थों में कर्ता हो जाते हैं। जब आप सद्गुरु के अनुसार कर्ता होते हैं तो निश्चितरूप से प्रारब्ध अकर्ता हो जाता है। तो फिर आप कर्ता होकर क्या करेंगे? हाँ, आत्मचिन्तन करेंगे। जैसे गाते समय विचार नहीं आते, विचार नाभि से उठकर और नाभि में ही विलीन हो जाते हैं, वे स्मृतिपटल पर नहीं आते हैं; उसीप्रकार एक तीसरा पक्ष भी है कि

आत्मचिन्तन करते समय क्षुद्र विचार नाभि से उठते हैं और नाभि में ही विलीन हो जाते हैं, जैसे बालक का प्राण नाभि से तालु तक तथा तालु से नाभि तक गमन करता रहता है। अतः स्पष्ट हो गया कि इन समयों में विचार नहीं आता है– जैसे खेलते समय, गाते समय और आत्मचिन्तन के समय। जब आप आत्मचिंतन में प्रवेश करते हैं अपने–आप को द्रष्टा ही नहीं आत्मा समझकर तो उस अवस्था में जो विचार आपके मन को विक्षिप्त कर देते थे, वे नहीं कर पाते हैं। जब आप चिंतनशील होते हैं, तो वहाँ प्रारब्ध की सत्ता जाती रहती है। जब आप वहाँ कर्ता नहीं होते हैं तभी वहाँ प्रारब्ध होता है। जैसे जब प्रकाश नहीं होता, तभी अंधकार की सत्ता होती है।

जैसे आप कहते हैं कि मैं महाकामी हूँ तो महाराज आपकी बात मानता है लेकिन कोई अप्सरा प्रकट होकर आलिंगन की कामना करे और सद्गुरु वहाँ बैठा हो तो क्या आपमें काम आयेगा? असम्भव है। उस विषय में प्रवृत्त होने की जगह वहाँ शीलता, लज्जा, विनम्रता प्रकट हो जाएगी; क्योंकि अहर्निश पूज्यभाव में रहने से उस काल में ऐसी निकटता है आपकी और सद्गुरु की कि एक आध्यात्मिक शक्ति आपमें प्रवाहित हो रही है। अतः जिस अवस्था में रम्भा जैसी अप्सरा को आपका सद्गुरु ना कह सकता है, वैसे ही उस अवस्था में आप भी ना कर सकते हैं लेकिन सद्गुरु के अभाव में अप्सरा नहीं कोई साधारण बालिका भी आती है तो आप काम के वेग को नहीं रोक पाते। इससे यह सिद्ध होता है कि आप जब कामी होते हैं, क्रोधी होते हैं, तो आपके पास ब्रह्म का अभाव है, द्रष्टा, परम द्रष्टारूप का अभाव है। सद्गुरु सगुणरूप में ब्रह्म है। भक्तिपक्ष को लेकर कह रहा है महाराज। सद्गुरु के पास आप भक्त होते ही हैं। ज्ञानयोग की बात कह रहा है लेकिन ज्ञानयोग बिना सद्गुरु के होता ही नहीं। सद्गुरु की उपासना भक्तिपक्ष में आ जाती है। उनसे ज्ञान को लेकर साधना को वे जैसे कहते हैं वैसा स्वीकार करें, धारण करें तो आप द्रष्टा न होकर ब्रह्मकर्ता होते हैं और बहुत साल बीतने पर आप देखते हैं कि शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियों पर वैसा ही शासन होता है आपका जैसा कि शासन संतों का होता है। यहाँ तक आपने थोड़े में ही जान लिया कि कर्ता कौन है। तीनों ही कर्ता नहीं हैं, तीनों एक–दूसरे के माध्यम से कर्ता होते हैं, स्वतंत्र कर्ता यहाँ कोई नहीं है। आत्मा (द्रष्टा) परमात्मा के रूप में अर्थात् समष्टि के रूप में कर्ता होता है। जिसके पास आप कहते हैं शरीर है ही नहीं, वही ब्रह्म भक्ति की पराकाष्ठा जब होती है, समर्पण होता है तब समष्टि से व्यष्टि होकर प्रकट हो जाता है, जिसे चौबीस अवतार कहते हैं। चौबीस अवतार के अतिरिक्त भी, जैसे माँ द्रौपदी की साड़ी बन जाना, गज के सुरक्षा के लिए चक्र बन जाना, आत्मज्ञानी संत के रूप में प्रकट हो जाना– ऐसे व्यष्टि अवतार भी बहुत हुए हैं। उसीप्रकार भक्ति की पराकाष्ठा में समष्टि चेतन व्यष्टि रूप में प्रकट हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म के चौबीस अवतार माने जाते हैं लेकिन समष्टि ब्रह्म को शरीर की ही आवश्यकता है, यह कोई जरूरी नहीं है क्योंकि उसी में से सारे के सारे शरीर प्रकट हो रहे हैं। उसमें ऐसे–ऐसे शरीर भी हैं, जो संकल्प से चाहे जिस रूप में प्रकट हो सकते हैं। माँ के गर्भ से ही प्रकट हों, यह कोई जरूरी नहीं है, जैसे नरसिंह एवं वराहरूप आदि; लेकिन आपके हृदय की स्थिति वैसी नहीं है इसीलिए आपके लिए गुरुरूप में ही प्रकट है। अतः उसके माध्यम से ही अपने को कर्ता समझ लें। फिर शरीर के माध्यम से

कर्ता, इन्द्रियों के माध्यम से कर्ता होकर आप आगे बढ़ें। यह चिन्ता न करें कि मैं द्रष्टा कब होऊँगा, जब सद्गुरु के माध्यम से कर्ता होते हैं तो शीघ्रातिशीघ्र अपने द्रष्टारूप में स्थित हो सकते हैं।

शेषानन्द, पुष्करानन्द आदि ने कहा कि कोई अनजाना व्यक्ति आकर लटर–पटर की बात करता है आपसे, इसलिये हमलोग आपके पास बैठ नहीं पाते। महाराज ने कहा तुमलोग गलत बात कर रहे हो। अरे! जब वह आता है तो इसलिये बक–बक शुरू कर देता है क्योंकि तुम महाराज के पास मौनी होकर बैठे हो। लगता है, तुम सब कुछ जान गए हो। तुम नहीं कुछ पूछ रहे हो तभी तो वह बोल रहा है? महाराज के पास तो सभी आयेंगे– चोर, बदमाश, शैतान, राक्षस भी आयेंगे और यह वहाँ उन सबसे बोलेगा। आपको अच्छा नहीं लग रहा है तो महाराज अपने से तो बोलेगा नहीं। आप नहीं बोल रहे हैं तभी तो कोई बक–बक कर रहा है!

आश्रम में एक साधक था जिसे निकालना था। महाराज ने कहा कि निकालने की आवश्यकता नहीं है। महाराज सत्य की स्थापना कर देता है; असत्य, सत्य की जगह नहीं रह सकता, दोनों का परस्पर में विरोध है। महाराज ने कहा कि यहाँ कोई किसी को गाली नहीं देगा, चाँटा नहीं मारेगा, गाय को नहीं मारेगा, जो अहिंसा का पालन करेगा वही रहेगा। दो दिन के बाद उस साधक ने कहा– महाराजजी! हमारे से तो होगा ही नहीं, गाली निकल ही जायेगी, गाय को मार ही दूँगा। महाराज ने कहा– कुछ नहीं कहता महाराज, बस एक नियम लागू कर दिया है कि जो अहिंसा का पालन करेगा वही रहेगा। उसके उपरान्त उससे अहिंसा का पालन नहीं हुआ और वह यहाँ से चला गया। सत्य की जगह असत्य नहीं रह सकता। आप इतने लोग रहते हैं और वह बक–बक कर रहा है, इससे सिद्ध होता है कि उस जगह आप असत्य हैं। विषयी पुरुष के आने पर आप उदासीन नहीं होते हैं, आप समर्थन करते हैं, उसकी सुनते हैं। अतः उससे उदासीन हो जाएँ। एक आश्रम से एक साधक को निकालना था तो उनलोगों के सद्गुरु ने कहा सब उससे उदासीन हो जाओ। जब वह किसी का प्रिय है ही नहीं तो वह यहाँ क्यों रहेगा? मुझे तो प्रिय है लेकिन मुझे यहाँ रहना नहीं है। सभी लोग उदासीन हो गए, उसके बाद वह चला गया। वैसे ही आप सब अपने धर्म में हो जाएँ और महाराज को अपने धर्म में रहने दें। इसप्रकार आप अपने सत् स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, सत् व्यवहार में स्थित हो जाते हैं तो असत् का अस्तित्व अपने–आप समाप्त हो जाता है जैसा कि 'नासतो विद्यते भावो.....' (गीता अध्याय २) में कहा गया है।

कर्ता कौन है? शरीर, प्रारब्ध या आत्मा? इसपर चिंतन चल रहा है। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगों में तो निश्चितरूप से प्रारब्ध ही कर्ता है। वहाँ पर प्रारब्ध ही बलवान है लेकिन मनुष्य शरीर में प्रारब्ध सदा भयभीत रहता है, उसे डर बना रहता है कि कहीं यह पुरुष 'प्रारब्ध–विजेता' के पास न चला जाय। भगवान नारायण महात्मा अर्जुन के रथ पर जैसे ही आसीन हुए वैसे ही कौरवों का हृदय विदीर्ण हो गया। भीष्मपितामह ने भी कह दिया कि अब विजय तो पाण्डवों की ही होगी, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ने भी यही कहा। दुर्योधन ने कहा–

क्यों? इच्छामृत्युवाले आप हैं, द्रोणाचार्य भी विश्वविजेता हैं, कर्ण भी किसी से कम नहीं हैं; फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं? तो भीष्मपितामह कहते हैं कि जो सत्य–असत्य से परे हैं लेकिन सत्य–असत्य जिनके आश्रित रहकर ही अपना कर्म करते हैं, वे साक्षात् नारायण उनलोगों के साथ हैं; जो धर्म–अधर्म से परे हैं किन्तु धर्म–अधर्म जिनके अधीन होकर काम करते हैं, वे प्रभु पाण्डवों के साथ हैं; जो कर्म–अकर्म से परे हैं, जिन्हें कर्म करने में अभिरुचि नहीं, किसी ने कर्म करते देखा नहीं, किसी ने योगसाधना करते देखा नहीं लेकिन उनकी तरफ देखने की सामर्थ्य किसी में नहीं है, जो सृष्टि कर्ता–धर्ता हैं तथा सृष्टि में भी उथल–पुथल कर सकते हैं, वे ही साक्षात् नारायण उनके साथ हैं। जो क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिए– इससे परे हैं और किससे क्या कराना चाहिये, कब कराना चाहिये अर्थात् जो भूत, भविष्य, वर्तमान को भलीभाँति जानते हैं, वे ही साक्षात् नारायण उनके साथ हैं। अतः हमारा प्रारब्ध और पाण्डवों का प्रारब्ध दोनों के प्रारब्ध जब परस्पर में एक–दूसरे पर आक्षेप करेंगे तो भगवान नारायण हमारे प्रारब्ध को कुण्ठित कर देंगे, निष्क्रिय कर देंगे और उस समय उनका प्रारब्ध बलवान हो जायेगा। भगवान के आश्रित हैं पाण्डव, इसलिए इस न्याय से वे बलवान हैं। विजय उनके हाथ में है; क्योंकि हमारे पास अधर्म है और जहाँ अधर्म की सत्ता रहती है, वहाँ धर्म की सत्ता नहीं रहती। धर्म की सत्ता तो पाण्डवों में पहले से है फिर भी धर्म पर जो शासन करता है, उन साक्षात् नारायण की उनपर सत्ता है। यद्यपि अधर्म पर धर्म शासन करता है लेकिन कभी–कभी अधर्म भी धर्म पर शासन करता है, ऐसा देखा जाता है। जब धर्म सीमित हो जाता है तो अधर्म शासन करता है और जब धर्म शासन करता है, उस समय अधर्म निष्क्रिय होता सा दिखाई पड़ता है। अभी तक हमलोगों ने पाण्डवों पर शासन किया; क्योंकि पूर्वकृत संस्कार वहाँ पर (पाण्डवों के पास) दुःख भोगने का था, अतः भगवान वहाँ मौन थे। अब भगवान को उनलोगों ने बोलने के लिए बाध्य कर दिया है, अतः भगवान अब बोलेंगे। भगवान ने तो इतना कह दिया था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो भी अर्जुन ने कहा था कि कोई बात नहीं, दिशानिर्देश तो देंगे! क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, क्या कहना चाहिये, किस अवस्था में क्या नहीं कहना चाहिये, कब किस मुहाने पर किसके साथ युद्ध करना चाहिये, किसके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये; ये तो आप आज्ञा करेंगे ही करेंगे! ऐसा उनलोगों ने साक्षात् नारायण से वचन ले लिया है।

एक साधक सद्गुरु के पास गया। उसने पहले ही दिन कहा कि मैं तो आपके पास आया हूँ वैसे ही, जैसे एक नववधू अपने ससुराल आती है। वह अपने पूर्व परिवार के हाव–भाव, रहन–सहन, आचार–विचार को लेकर आती है और उसी के घेरे में रहती है लेकिन यहाँ का व्यवहार तो सर्वथा उससे भिन्न होगा। इसलिए आप बतायें कि मुझे यहाँ पर कैसे रहना चाहिए, किन–किन नियमों का पालन करना चाहिए? आप किस व्यवहार से संतुष्ट होंगे ताकि मुझे संतुष्टि हो? गुरुदेव ने कुछ तो बता दिया और कुछ के लिए मौन हो गए तो शिष्य ने कहा– इतना तो आपने बता दिया लेकिन आगे जो आपने नहीं बताया, उसे समय–समय पर जब

आपको दिखाई पड़ जाय, आप वचन दें कि मैं वह भी बता दूँगा। तब उन्होंने कहा कि मैं बता दूँगा। इसलिए उनके बताये जाने के कारण से वह साधक वहाँ के व्यवहार में शीघ्रातिशीघ्र सफल हो गया।

अध्यात्म एक तरफ है और व्यवहार एक तरफ है। नैतिक होने से पाण्डव पहले से ही गुरुदेव की उपासना करते थे और कौरव मनमानी करते थे। अतः गुरुदेव के पास दिव्य आदर्श के साथ रहने के कारण से भगवान नारायण की भी आज्ञा पालन कर सकेंगे, ऐसा उन्हें पूरा का पूरा विश्वास था। इसलिए अपने प्रारब्ध पर विश्वास न करके, अपने सत्य पर विश्वास न करके, भगवान को आगे कर लिये। महाराज युधिष्ठिर के पास धर्म की प्रतिष्ठा थी, सत्य की प्रतिष्ठा थी, महात्मा अर्जुन के पास धर्म की प्रतिष्ठा थी, भीम, नकुल, सहदेव के पास भी धर्म की प्रतिष्ठा थी। उनलोगों ने कोई ऐसा व्यवहार नहीं किया था जिससे कि भगवान उन्हें स्वीकार न करें। इसी कारण से भगवान की आज्ञा का पालन कर सके। महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन करने में समर्थ अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव ने भगवान की आज्ञा पालन करने में थोड़ी सी भी कोताही (कमी) नहीं बरती। मूल में जो नैतिक होता है, उसमें अति नैतिकता अपने–आप सहज में आती है। महाराज ने पहले कहा था कि कोई कहता है कि प्रारब्ध कर्ता है और कोई कहता है कि शरीर ही कर्ता है, जबकि ये दोनों ही जड़ हैं। यदि प्रारब्ध के पास चेतन आत्मा न हो तो वह निष्क्रिय है। सो जाने के बाद वहाँ पर चेतन नहीं है, अर्थात् जाग्रदवस्था में जो चेतन की अवस्था होती है, वह चेतनता वहाँ नहीं है बल्कि चेतनता बिखरी हुई है। अतः शरीर श्वास ले रहा है लेकिन कुछ कर ही नहीं रहा है। जैसे आँखें हैं लेकिन देख नहीं पा रही हैं, वाणी है लेकिन बोल नहीं पा रही है; क्योंकि मात्र वहाँ पर चेतन नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान के लिए जितना शरीर जड़ है उतना ही प्रारब्ध भी जड़ है। एक अंश भी प्रारब्ध और शरीर में किसीप्रकार की न्यूनाधिकता नहीं है, सबल और निर्बल इन दोनों में से कोई नहीं है। भगवान के लिए जितनी जड़ की सत्ता है उतनी ही चेतन की सत्ता है। वे तो बाँसुरी से सामवेद गाते हैं और अन्य लोग तो सामान्य राग भी नहीं गा पाते। भगवान पूरी तरह से बाँसुरी से बेसुध कर देते हैं अपने भक्तों को लेकिन आपकी बाँसुरी से तो केवल साँप बेसुध होता है थोड़े समय के लिए। कामराग गानेवाली गोपियों ने तो भगवान की बाँसुरी की तान सुनकर काम को ही भुला दिया। अतः प्रभु के लिए जड़, चेतन दो नहीं हैं। आपके लिए जड़ और चेतन की कल्पना निश्चितरूप से है, किन्तु जब आप भी यदि नैतिक हैं अपने से बड़े–बूढ़ों के साथ यदि आपने आचार संहिता का पालन किया है तो सद्गुरु के आवाहन पर ब्रह्म (सद्गुरु) आपका वैसे ही दिशानिर्देश करेगा, वैसे ही आपके जीवनरथ पर बैठेगा जैसे पाण्डवों के जीवनरथ पर भगवान बैठ गए थे।

वह प्रारब्ध आत्मा के अभाव में कुछ कर ही नहीं सकता तो कैसी मूर्खतापूर्ण बात है जो लोग कहते हैं कि आत्मा अशरीरी है। दो प्रकार के पुरुष होते हैं– या तो महात्मा कहेगा कि

आत्मा अशरीरी है या तो थोड़ा–मोड़ा पढ़ लेनेवाले जो अपने को ज्ञानी समझते हैं, वे लोग ही कहेंगे कि आत्मा अशरीरी है; जबकि शरीरवान तो आत्मा ही है, दूसरे के पास तो शरीर है ही नहीं। प्रारब्ध के पास शरीर आंशिक है, क्षणिक है, थोड़े समय के लिए है, शरीर के पास भी प्रारब्ध थोड़े समय के लिए है; लेकिन ये दोनों ही जिस शरीर से प्रकट होते हैं, वह आत्मा है। लोग कहते हैं कि वह अशरीरी है लेकिन महाराज कहता है– नहीं, नहीं वह अशरीरी क्यों है? अशरीरी से शरीर कैसे प्रकट होगा? जल से यदि बर्फ प्रकट होती है तो जल भी तो शरीर है, वाष्प से बादल नामक शरीर प्रकट होता है तो वाष्प भी तो एक सूक्ष्म शरीर है। अतः वह अति सघन है, जिसे लोग अशरीरी कहते हैं। ऐसा नहीं है कि वह शरीरवाला नहीं है। हाँ, ऐसा क्षुद्र शरीरवाला नहीं है। ऐसा नहीं है कि उसके पास नेत्र नहीं है, हाँ उसके पास ऐसा क्षुद्र नेत्र नहीं है, ऐसा क्षुद्र कान नहीं है बल्कि सब ओर से जीभ, नाक, कान, त्वचावाला होने से उसे अशरीरी कह दिया गया क्योंकि वही तो असीमित शरीरवाला है। अशरीरी का तात्पर्य यह होता है कि उसके पास वह शरीर है, जिसको शरीर की संज्ञा नहीं दी जायेगी। यह क्षुद्र शरीर नौ दरवाजोंवाला है, जिसमें क्षुद्र दुर्वासना वास करती है, जिसकी सत्ता ब्रह्म के पास कुछ भी नहीं है। जो संस्कार से संचालित होता है वह शरीर कहलाता है, किन्तु आत्मा इसप्रकार का नौ दरवाजोंवाला शरीर नहीं है, इसलिए उसे अशरीरी कहते हैं। आप जैसा वह क्षुद्र कर्ता नहीं है, इसलिए उसे अकर्ता कहते हैं। आत्मा दरवाजोंवाला नहीं है, सो बात नहीं है, उसमें भी दरवाजे हैं; पर वह सब ओर से दरवाजोंवाला है क्योंकि वह तो सब ओर से देखता–सुनता है, बोलता–चालता है, चाहे जब जिस अवस्था में भी प्रकट हो सकता है। अतः कौन मूर्ख कहेगा कि उसके पास शरीर नहीं है? 'वह निर्गुण है', एकमात्र ऐसा कहने से शून्यवाद प्रकट हो जाता है; अतः यहाँ पर यह कहा जाता है कि निश्चितरूप से उसके आश्रित होकर प्रारब्ध कर्ता होता है लेकिन वह महाकर्ता है, इसी से उसे स्रष्टा भी कहते हैं। मूर्खों के लिए वह एकमात्र द्रष्टा होता है लेकिन भक्तों के लिए कर्ता और स्रष्टा दोनों होता है। आप कौन हैं? वह आत्मा तो महाकर्ता है और आप भी अपने–आप को कर्ता मानते हैं, इसी का समाधान किया महाराज ने।

अभी तक भ्रम हो गया है आपको कर्तापने का, जबकि कभी आपने कुछ किया ही नहीं। सोना–जागना भी आपका नहीं है, सोने–जागने तथा कर्मों को करने का तो मात्र आपको भ्रम हो गया है; क्योंकि यह पहले ही निर्णय हो चुका है कि चाह कर भी आप देखना बंद नहीं कर सकते, सुनना बंद नहीं कर सकते, खाना–पीना, सोना–जागना बंद नहीं कर सकते; अतः अचाह में होनेवाली सभी क्रियाएँ प्रारब्ध के द्वारा हो रही हैं। सजगता के साथ इस सिद्धान्त को धारण करना है, जो अपने स्वरूप में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित करनेवाला है। अतः ध्यान देने योग्य यही सिद्धान्त है। सिद्धान्त को अब प्रयोग में ढालना है। उसके लिए महाराज ने कहा था– आप अभी तक द्रष्टा हैं, जब आप द्रष्टा हैं तो प्रारब्ध आपका कर्ता होता है और जब आप ब्रह्म अर्थात् महाकर्ता हो जाते हैं अथवा ब्रह्म के सानिध्य में उपकर्ता हो जाते हैं, तब प्रारब्ध आपके पास सामान्य कर्ता सा प्रतीत होता है, जिसका कोई आपके पास अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म परम कर्ता

है, आप उपकर्ता हैं तथा ब्रह्म के साक्षित्व में ही प्रारब्ध कर्ता है; लेकिन आप केवल ब्रह्म के साक्षित्व मात्र से ही कर्ता नहीं होते हैं बल्कि सद्गुरु की आज्ञा के माध्यम से भी कर्ता होते हैं, इसलिए उपकर्ता कहे जाते हैं। सद्गुरु की अध्यक्षता में कर्ता होना और उसकी आज्ञा से भी कर्ता होना– ये दो बातें हुईं। जैसे सूर्य की अध्यक्षता में आप कर्ता हैं, लेकिन सूर्य की आज्ञा से कोई कर्ता हो तो दो बातें हुईं। सूर्य की अध्यक्षता भी है और आज्ञा भी है, तो यह बहुत महत्त्व की बात हो जाती है– हनुमानजी सूर्य की अध्यक्षता में सूर्य की आज्ञा से कर्म करते हैं, सभी सूर्यवंशी सूर्य की अध्यक्षता में सूर्य की आज्ञा से कर्म करते हैं अर्थात् सद्गुरु की अध्यक्षता में उनकी ही आज्ञा से कर्म करते हैं।

'हे राम! निश्चितरूप से आपके लिए रावण का वध करना दूभर हो गया है। मैं समझता हूँ कि आप इस समय व्यथित से प्रतीत हो रहे हैं। आप चिंतन कर रहे हैं कि मायावी राक्षस को मारा कैसे जाए। आप सूर्यवंशी हैं, सूर्यवंशियों ने भगवान भास्कर की अध्यक्षता तथा आज्ञा में सारे यज्ञ सम्पन्न किये हैं। अतः आप स्नान करें और सूर्य भगवान की आज्ञा लें, उनकी आज्ञा से ही उसका वध कर पायेंगे। जो आपके पास सारंगधनुष है, वह पुरातनकाल में, सृष्टि के आदिकाल में भगवान सूर्य से ही प्राप्त हुआ है। वे भी सारंगधनुषवाले हैं। अतः उनकी आज्ञा के बिना रावण नहीं मारा जा सकता। वे आपके कुल देवता हैं।' ऐसा अगस्त्य ऋषि के कहने से प्रभु श्रीराम ने स्नान किया और ब्रह्मर्षि ने एक अद्भुत स्तोत्र के साथ सूर्य का स्तुति गान कराया। जिस स्तोत्र का नाम है 'आदित्यह्रदयम्'। इस 'आदित्यह्रदयं' नामक स्तोत्र में ऐसा भी दिया है कि ये सूर्य भगवान ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं, ये ही देवता भी हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सम्पूर्ण देवताओं की कल्पना इन्हीं के माध्यम से होती है। ये सम्पूर्ण सृष्टिरूप हैं, ये साक्षात् विश्वरूप ही हैं। ये अन्धकार को ही दूर नहीं करते बल्कि अशुद्ध प्रारब्ध को भी दूर करते हैं। इस समय रावण आपका तामसी प्रारब्ध है। अतः इनसे आज्ञा लें और रणभूमि में प्रवेश करें। भगवान ने कुल देवता यानी विश्वरूप भगवान भास्कर को प्रसन्न करके उनसे आज्ञा ली और शाम होने के पहले यानी दोपहर तक रावण का वध कर दिया।

आप उपकर्ता हैं, प्रारब्ध केवल कर्ता है, इन्द्र और उपेन्द्र की तरह। इन्द्र की प्रसन्नता के लिए, देवताओं की प्रसन्नता के लिए भगवान नारायण राजा बलि के पास प्रकट हो गए और देवताओं की प्रसन्नता के लिए ही इन्द्र के पद पर नहीं बैठे, बगल में यानी इन्द्र के पास में बैठे और उपेन्द्र कहलाये। इसप्रकार जब आप उपकर्ता होते हैं तो आपके लिए महाकर्ता प्रसन्न होकर किसी न किसी रूप में आपके कर्तापने को प्रशस्त कर देता है और आपको विजेता बनाता है। देवताओं का प्रारब्ध महात्मा बलि के प्रारब्ध से निष्क्रिय सा हो गया था, त्राहि–त्राहि कर बैठे थे तो भगवान आये और रक्षा की। उसीप्रकार जब आप उपकर्ता होकर अपनी पूरी की पूरी शक्ति सामर्थ्य से आध्यात्मिक युद्ध करेंगे तथा अपने प्रारब्ध से आपको भगवान पराजित होते हुए देखेगा तो किसी न किसी रूप में आकर बल प्रदान करेगा, प्रेरणा देगा क्योंकि वह महाकर्ता है।

महाराज ने यह सिद्ध किया कि वह ब्रह्म ही कर्ता है, जिसे महाकर्ता भी कहते हैं। आप द्रष्टा होते हैं तो उपद्रष्टा कहे जाते हैं, अतः उपकर्ता भी हो जाएँ। भगवान माँग रहे हैं कि आप उपकर्ता भी हो जाएँ, केवल द्रष्टा मत होयें। आपका शरीर भगवान का ही एक अंग है, जिसे कृपा करके उसने दिया है, जिस अंग से आप उपकर्ता होकर प्रारब्ध का छेदन करके अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हैं। कर्ता कौन है? प्रारब्ध कर्ता तब होता है, जब आप कर्ता नहीं होते। यह भी सिद्ध हो गया कि आप चाहें तो उपकर्ता हो सकते हैं, जबकि ब्रह्म ही सम्पूर्ण कर्ता है। यक्ष ने महात्मा युधिष्ठिर से भी पूछा था कि महाभोक्ता, महाकर्ता कौन है, तब उन्होंने कहा कि ब्रह्म ही महाकर्ता और महाभोक्ता है, जो प्राण पर भी शासन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।

(गीता अ० १३/२२)

प्रारब्ध ही प्राण है, वह ब्रह्म उस प्रारब्ध पर शासन करता है, अतः महाकर्ता कहा जाता है। पशु में और आपमें अन्तर नहीं रह जाता जब आप भगवान के आश्रित नहीं रहते; क्योंकि उसके पास कोई ब्रह्म आज्ञा देनेवाला नहीं है और आपके पास भी नहीं है। जो पशु–पक्षी ब्रह्म के आश्रित हो चुके हैं, वे भी दिव्य शक्ति से सम्पन्न हो चुके हैं, संतों की अध्यक्षता में रहनेवाले पशु–पक्षी भी बहुत कुछ करते यानी बलाबल से सम्पन्न देखे जाते हैं। महाराज युधिष्ठिर के साथ रहनेवाला कुत्ता, जो भीतर से देवता ही था, उनकी सारी गतिविधियों को देखता रहता था। वन में रहनेवाले वे सभी सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जटायु, सम्पाती आदि वानर और पक्षी कहलाते थे, लेकिन गुणों के कारण ब्रह्म की अध्यक्षता में रहकर परम तत्त्व को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् उपकर्ता हो चुके हैं। उनके साथ भगवान का बल इतना काम किया, इतना काम किया कि उनकी शक्ति के सामने जो अपने को महारथी कहते थे रावण आदि, वे निष्क्रिय होते हुए देखे गये हैं।

भीम का पुत्र घटोत्कच अपने आचार्य की अध्यक्षता में तामस शक्ति से इतना बलिष्ठ हो चुका था कि एक दिन भगवान के काम आ गया। जब वह भगवान की आज्ञा में आया तो कर्ण आदि ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। आज के सेनापति घटोत्कच होंगे, यह भगवान की आज्ञा थी। उस दिन भगवान महाकर्ता हैं और घटोत्कच उपकर्ता है। कौरवसेना में अफरा–तफरी मच गई और सभी भाग खड़े हुए। अर्जुन के वध के लिये छिपाकर रखी गयी अमोघ शक्ति को दुर्योधन एवं अन्यान्य कौरवों के बार–बार कहने पर कर्ण ने निकाल लिया। दुर्योधन ने कर्ण का मन भारी होते देख पुनः कहा– मित्र! यदि इसका संधान नहीं करते हो तो यह असुर आज हम सबको मार डालेगा। यदि हम रहेंगे ही नहीं तो कैसे प्रयोजन सिद्ध होगा? अतः अब देर न करो इस राक्षस को मार डालो! कर्ण ने शक्ति को अभिमंत्रित किया तथा घटोत्कच के ऊपर छोड़ दिया। वह मारा गया, उसके उपरान्त कर्ण ने समझ लिया कि मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। आसुरी प्रकृति

के लोग भी जब महाकर्ता ब्रह्म की अध्यक्षता में उपकर्ता होते हैं तो उनका सामना करनेवाला विश्व में कोई नहीं होता। उसीप्रकार जिस दिन आप उपकर्ता हो जायेंगे, उस दिन आप प्रारब्ध से अति बलवान हो जायेंगे। अभी तक तो आप पर आपका संस्कार ही शासन कर रहा है, थोड़े में उबल जाना, विक्षिप्त हो जाना, तर्क करने लगना, धैर्य खो जाना, भयभीत हो जाना, प्रसन्नता में बह जाना– ये सब क्षुद्र संस्कार के ही कारण होते हैं। वहाँ पर आप उपकर्ता नहीं हैं, आपने अपने को शरीर मान लिया और यही धोखा हो गया; जबकि यह शरीर एकमात्र यंत्र है, दिव्य यंत्र है, जिससे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करके भीतर में छिपे हुए प्रारब्ध को मार सकते हैं।

(तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं.....) चौथे अध्याय में भगवान ने महात्मा अर्जुन से कहा है– 'अरे! इस प्रारब्ध को मारने के लिए ज्ञानरूपी तलवार को ले लो।' अतः आप चिंतन भी करते चलें, क्योंकि जब आप केवल तपस्वी, जापक एवं योगी होते हैं तो आप पर कुछ काल तक प्रारब्ध बलवान होता है, जब आप केवल स्वाध्यायी होते हैं तो प्रारब्ध आपसे बलवान होता है; परन्तु जब आप जप, तप, योग के साथ–साथ चिन्तनशील भी होते हैं तो प्रारब्ध आपसे निर्बल हो जाता है। जब कभी आपका जप से, स्वाध्याय से तथा चिंतन से भी मन ऊब जाये तो वहाँ पर तीसरा अस्त्र धारण कर लें। आपके मनरूपी कोश में तीसरा अस्त्र भी होना चाहिए। वह क्या है? आप एक काल्पनिक मन का अलग से निर्माण करें। प्रारब्ध का मन, प्रारब्ध की बुद्धि और आपका शरीर तो वही रहेगा, इन्द्रियाँ भी वही रहेंगी, लेकिन जब आप सद्गुरु की आज्ञा ले लेते हैं तो उस आज्ञा में होने से सद्गुरु का मन आपका मन हो जाता है, सद्गुरु की सारी इन्द्रियाँ आपमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं। जैसे जब मारणमंत्र का उच्चारण किया जाता है तब वहाँ आसुरी शक्ति के सारे अंग–उपांग होते हैं, जो जाकर प्राण का अपहरण कर लेते हैं। वैसे ही सद्गुरु की आज्ञा में अपने पास एक अलग मन प्रकट होता है जो सद्गुरु का मन होता है, वह गुप्त होता है, उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तभी वह प्रकट होता है। उस समय वहाँ पर सद्गुरु की बुद्धि होती है, सद्गुरु का चित्त होता है; जबकि शरीर वही होता है जो प्रारब्ध का है। यह भी एक पहेली जैसा है, इसी को समझना है। देखना है कि कहाँ आज्ञा में बिखराव हो रहा है। जब–जब पराजित हों आप, हर रोज पराजित होते ही हैं, कोई एक दिन की बात नहीं है, हर रोज पराजय होती है, इससे सिद्ध होता है कि हर रोज आज्ञा का उल्लंघन होता है। कहीं न कहीं प्रमाद हुआ है, दोषदर्शन हुआ है। सम्पूर्णता से उसकी आज्ञा में प्रतिष्ठित नहीं होने के कारण से आपमें राग हो जाता है, द्वेष हो जाता है अर्थात् प्रारब्ध प्रकट हो जाता है। राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ, छल–कपट ये सब प्रारब्ध हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म महाकर्ता है। यदि आप सद्गुरु की आज्ञा में चलते हैं तो उपद्रष्टा होते हुए भी आप उपकर्ता हो जाते हैं तथा ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं।

जामवन्तजी ने कहा कि आखिर जायेगा कौन, लंका तो जाना ही होगा? मैं तो जा नहीं सकूँगा, क्योंकि अब वह सामर्थ्य मेरे में नहीं है। आखिर यह विचारणीय विषय है ही, क्योंकि

ये तो पता चल ही गया कि भगवती सीता अशोक वाटिका में बैठी हैं। सम्पाती ने तो बता ही दिया, तो भी बिना पता लगाये और बिना देखे श्रीराम प्रभु के पास जाना ठीक नहीं है। अंगद ने कहा कि मैं भी तो नहीं जा पाऊँगा; क्योंकि लौटना असम्भव है (कुछ कारण बताते हैं अर्थात् जीव की आज्ञा से अंगद नहीं जायेंगे)। प्रभु श्रीराम ने उन्हें सेनानायक नियुक्त तो किया था लेकिन अंगद को यह हृदय से स्वीकार नहीं था क्योंकि उनकी नियुक्ति सुग्रीव के माध्यम से की गयी थी। वहाँ अंगद को कहना चाहिये था कि मैं न लौटूँ तो और किसी को सेनापति के पद पर नियुक्त कर दीजियेगा। मैं तो जा सकता हूँ लेकिन यह संशय है कि आ भी सकता हूँ, नहीं भी आ सकता हूँ। अंगद के लिये मानो जीव की आज्ञा थी वे समझते हैं कि जामवन्त जीव हैं। उतना विश्वास नहीं है अंगद को कि ये भगवान के भक्त हैं। इधर हनुमानजी को आज्ञा दे रखी है भगवान श्रीराम ने तथा जामवन्त जैसे महात्मा ने भी आज्ञा दे दी—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना।।
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।।
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा।।

(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

उन्हें आज्ञा मिली और वे बलाबल से सम्पन्न हो गये, सारी की सारी शक्ति प्रकट हो गयी और जो हुआ वह आप सब जानते हैं लेकिन महात्मा अंगद को जब भगवान श्रीराम ने कहा कि हे बालीपुत्र! विभीषण का कहना है कि किसी न किसी को दूत बनाकर भेजना चाहिये, तो मेरी राय में आप ही हर तरह से जाने के योग्य हैं। किस अवसर पर क्या करना चाहिये, क्या सुनना चाहिये, क्या नहीं सुनना चाहिये, इसके लिए मैं आपको ही योग्य समझता हूँ, अतः मेरी आज्ञा है कि आप ही जायें। वहाँ अंगद ने यह नहीं कहा कि मैं लौट नहीं पाऊँगा, बल्कि स्पष्ट कहा कि 'स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ।' 'ब्रह्म का कार्य स्वतः से सिद्ध होता है, वह निमित्त बनाता है'— इस गूढ़ात्मक रहस्य को अंगद जानते हैं, अतः कहा कि आपने तो मुझे बड़ाई दी है, ऐसा कहकर प्रणाम किये और चल दिये। इसके उपरान्त तो आप सब जानते ही हैं जो अंगद की सामर्थ्य से चमत्कार हुआ। प्रभु की आज्ञा थी, उस आज्ञा में वे भगवान श्रीराम ही गये थे, क्योंकि उनकी शक्ति साथ गई हुई थी। इसप्रकार प्रारब्ध बलवान हो जाता है, जब गुरु की आज्ञा आपके साथ नहीं होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि कहीं न कहीं निश्चितरूप से आप त्याग बैठे हैं भगवान की आज्ञा को, इसलिए आपके साथ वह नहीं है। इसीलिए उपकर्ता होते हुए भी आप विपन्न हैं अर्थात् दरिद्र हैं, शक्तिहीन हैं। महाराज का कहना है कि 'ब्रह्म ही शरीरवान है, ब्रह्म ही गुणवान है; निर्गुण का तात्पर्य होता है— असीमित गुणवाला, अशरीरी का तात्पर्य होता है— असंख्य शरीरवाला, निराकार का तात्पर्य होता है— असीमित आकारवाला।' ऐसा समझकर जब उस आकार से एक आकार आपको प्राप्त है, जिसे

शरीर कहते हैं और यदि सद्गुरु की आज्ञा प्राप्त हो गई कि आप साधना करें, तो इससे सिद्ध होता है कि साधना भी होगी और साधना सिद्ध भी होगी। आज्ञा में ही शक्ति है, विभूति है– ऐसा सम्पूर्ण सद्गुरुओं का निर्णय किया हुआ मत है।

प्रसंग चल रहा है कि कर्ता कौन है? यहाँ तक सिद्ध हो चुका है कि शरीर का आश्रय लेकर आत्मा की अध्यक्षता में पशु–पक्षी और विषयी मनुष्यों का कर्ता तो प्रारब्ध है लेकिन जो जिज्ञासु हैं वे यदि प्रारब्ध की तरफ न देखें और सद्गुरु की अध्यक्षता में उनकी आज्ञानुसार इन्द्रियों से जो करने योग्य है उस कर्म को स्वीकार करें तो वे स्वयं उपकर्ता हैं। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो जब वे भगवान का आवाहन करते हैं, तब वहाँ भगवान ही प्रकट होकर उनके लिए कर्ता बन जाता है। भगवती द्रौपदी उपकर्ता थी, शाप दे सकती थी, सबको भस्म भी कर सकती थी, किन्तु उसने वैसा नहीं किया, लोगों को बताया कि प्रारब्ध से भगवान सामर्थ्यशाली है। प्रारब्ध में नग्न होना लिखा हुआ था, लाज तो जानी थी, फिर भी भगवान ने आकर हस्तक्षेप किया। साधकों को बताया जाता है कि उनका सद्गुरु ही भगवान है। यदि सद्गुरु मिल गया तो फिर वह महाकर्ता है। यदि वह उपदेश दे रहा है कर्ता का तो कर्म करें, उपदेश दे रहा है संन्यास का तो संन्यास लें, उपदेश दे रहा है चिन्तन का तो चिन्तन करें, उपदेश दे रहा है जप का तो जप करें इत्यादि इत्यादि। शास्त्रों में बहुत से साधन लिखे गये हैं, जो सुनने में और करने में कठिन से कठिन हैं तथा कुछ चित्त को मोहित करनेवाले भी हैं। लोग कहते हैं हिमालय में साधु हजारों–हजारों साल समाधिस्थ रहते हैं, अतः ऐसी उत्सुकता हो जाती है कि उन्हें देखें और उसीप्रकार की समाधि के लिए यत्न करें। अध्यात्म और प्राकृत– दो विज्ञान हैं। प्रकृति विज्ञान भी कौतूहल को जन्म देता है, अनेकानेक लोकान्तरों को देखने की इच्छा हो जाती है, जबकि सम्पूर्ण लोकों को मायामय ही समझना चाहिये। जो माया का अन्त देखना चाहेगा, वह देख नहीं पायेगा। माया का अन्त ब्रह्म ही है अतः ब्रह्म होकर ही माया का अन्त देखा जा सकता है। जब ब्रह्म अनादि अनन्त है तो माया अनादि शान्त है। माया ब्रह्म से ही प्रकट होती है, ब्रह्म में ही रहती है, ब्रह्म में ही अन्तर्ध्यान हो जाती है। जब वह बाहर है ही नहीं तो कोई उसका अंत कैसे देखेगा? ब्रह्म होकर माया से परे हुआ जा सकता है। यदि उपद्रष्टा उपकर्ता बन जाये तो महाकर्ता होने में देर नहीं लगेगी। उपद्रष्टा का सद्गुरु ही महाकर्ता होता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म वहाँ सम्पूर्णता से प्रकट है, अतः उसके लिए वह महाकर्ता है। उसके स्मरण से प्रेरणा मिलती है और जो उपकर्ता है उसमें अलौकिक बल और सामर्थ्य आ जाती है। उसके लिए आध्यात्मिक यात्रा सुलभ से सुलभ होती जाती है। कोई भी क्रिया कठिन नहीं होती। हाँ, संकल्प में शिथिलता यदि है तो कठिन है, गुरु आज्ञा में प्रमाद है तो कठिन है। आज से निर्णय किया एक साधक के लिए कि आँख खोलकर ध्यान करो, बहुत दिन हो गये कहते–कहते लेकिन जब अवस्था नींद की है और महाराज के साथ रहने में नींद ही पूरी नहीं होती, जबकि अवस्था के अनुसार छः घण्टे नींद चाहिये तो वैसे में आँखों को खोलकर प्रतीक्षा करो। ध्यान

का अर्थ है प्रतीक्षा करना; क्योंकि आँखों को खोलकर प्रतीक्षा की जायेगी तो कम से कम जप तो होगा, अतः जप के साथ प्रतीक्षा करनी चाहिए। जब नींद आ जाने से जप बिखर जा रहा है, चिन्तन हो नहीं पा रहा है, ध्यान लग नहीं रहा है अर्थात् प्रकाश आ नहीं रहा है तो सिद्ध है कि आप तामस सुख को स्वीकार कर रहे हैं। अतः या तो उस समय खड़े हो जायें या तो आँख खोलकर प्रतीक्षा करें। एकबार भी जम्हाई आ जाये तो सावधान होना चाहिये उपकर्ता को। बार–बार कहता है महाराज कि आप मात्र उपद्रष्टा हो चुके हैं, इसीकारण से आपका प्रारब्ध जो तमोमय भी है, रजोमय भी है, सतोमय भी है, वह आपसे बलाबल में सम्पन्न हो गया है। आपके पूर्वकृत कर्म अधर्ममय हैं और धर्म में शिथिलता है, इसलिए आप पर वे (अधर्ममय कर्म) भारी पड़ते हैं। ध्यान में बैठते ही नेत्र को बंद करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि कुछ देर तक नेत्र को खोलकर रखें, १५–२० मिनट तक यदि नींद नहीं आती है तो दृष्टि पर ही मन के केन्द्रित होने से अथवा दृष्टि को बाहर संयमित कर देने से भीतर की दृष्टि जग जाती है। इस भ्रम में नहीं रहना चाहिये कि आँख बंद करके ही ध्यान किया जाता है। ध्यान लाया नहीं जाता, समाधि लायी नहीं जाती। जैसे जल डाला जाता है पेड़ में और जब पेड़ बड़ा हो जाता है तो बाड़ हटा दिया जाता है और प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार पेड़, जल, हवा आदि लेता रहता है, उसमें फूल एवं फल आते रहते हैं, उसीप्रकार प्रतीक्षा (ध्यान करना) एक बीज है, संयम बाड़ है, आत्मचिन्तन या जप जल है, ध्यान फूल और फल समाधि है जो अपने–आप प्रकट होती है। समाधि के प्रति बहुत से लोगों में बहुत सी अवधारणायें हो गयी हैं, जबकि समाधि भी दो प्रकार की होती है– (१) जड़ समाधि (२) चेतन समाधि। चेतन समाधि सिद्धि और ज्ञान को देनेवाली है और जड़ समाधि एकमात्र सिद्धि देनेवाली है। वह पृथ्वी और आकाश में समाधिस्थ होने के लिए बाध्य करती है। अन्तर इतना ही है कि तपस्या के साथ होने से सिद्धि प्रदान करनेवाली है अन्यथा मूर्च्छा और जड़ समाधि में कोई अन्तर नहीं है। बहुतों के मन में कौतूहल कर दिया है उसने, अतः जी–जान लगाकर के लोग समाधि–समाधि चिल्लाते रहते हैं, जबकि समाधि प्रकट होती है, ध्यान प्रकट होता है। इस समय ध्यान पर भी बल लगा दिया गया है, जहाँ देखो ध्यान, जहाँ देखो ध्यान, ध्यान की बातें सुनते–सुनते मानो ध्यान को पकड़ लेंगे लोग लेकिन ध्यान को जब पकड़ने चलेंगे तो नींद चली आयेगी। जो ब्रह्म अपने से प्रकट होता है उसे पकड़ने चलेंगे तो आपको तामस प्रकृति पकड़ लेगी; क्योंकि आपके और ब्रह्म के बीच में तामस और राजस प्रकृति का घेरा है, उसे आप तोड़ नहीं सकते। जो घेरे को तोड़कर सुरक्षित रह सकता है वह ब्रह्म है, इसलिए प्रतीक्षा की जाती है। अतः ध्यान शब्द का अर्थ ध्यान करने से नहीं लगाना चाहिए बल्कि ध्यान में होने से लगाना चाहिए।

(ध्यायतो विषयान्पुंसः ध्यायतो ब्रह्मान्पुंसः.....) जो विषयी हैं, वे विषय की तरफ दौड़ते हैं; जो विषयी नहीं हैं जिज्ञासु हैं, वे ब्रह्म की तरफ दौड़ते हैं– दोनों में एक ही बात होती है। इसीलिए भक्तों से महाराज कहता है– 'ध्यायतो ब्रह्मान्पुंसः स¼स्तेषूपजायते.....' जब ब्रह्म की

तरफ दौड़ते हैं अर्थात् उसका आवाहन करते हैं, उसके लिए रोते–गाते हैं, उसके नाम का जप करते हैं, उसका चिन्तन करते हैं तो उसमें आसक्ति होती है। जहाँ ब्रह्म में आसक्ति होने पर काम का नाश हो जाता है वहीं विषय में आसक्ति होने से काम प्रकट होता है (गीता अध्याय– २)। विषयी अपने अनुसार अर्थ लगायेंगे लेकिन जो जिज्ञासु हैं, उन्हें अपने अनुसार अर्थ करना होगा। किसी बच्ची को धर्मपत्नी मानते ही अन्यथा भाव उत्पन्न हो जाता है, काम–विकार आदि स्वतः से प्रकट हो जाते हैं। इसलिए विचार करना है कि मोह तो नहीं है जगत से? जगत से प्रेम होना चाहिये और मोह ब्रह्म में होना चाहिये। ब्रह्म में मोह होगा तब, जब ब्रह्म का नामजप, जगत के नामजप एवं तप के अनुपात से ज्यादा हो जायेगा। जब ब्रह्म के स्मरण का अनुपात ही विशेष हो जाता है, तब ब्रह्म में मोह हो जाता है, उसके पूर्व ब्रह्म में मोह नहीं होता। जिसप्रकार जीवनपर्यन्त विषय के प्रति आसक्ति होने से विषय में मोह हो जाता है, उसीप्रकार लम्बे काल तक ब्रह्म का स्मरण करने पर ब्रह्म में आसक्ति यानी मोह हो जाता है। अतः ध्यान का तात्पर्य धारण करना भी होता है, आवाहन करना भी होता है और प्रतीक्षा करना भी होता है। आप तो ध्यान को पकड़ने का ही प्रयत्न करते हैं इसीलिए आँख बंद कर लेते हैं, जबकि शुरु में ही आँख को बंद कर लेना आपके लिए घातक हो जायेगा। आँख बंद तो वह करता है, जिसके सामने प्रबल वेग से ज्योति प्रकट होती है, शब्द प्रकट होता है, शक्ति प्रकट होती है और तब बाहर के नेत्र स्वतः बंद हो जाते हैं। जब आप आँख बंद करते हैं, तो क्या पाया आपने कि आँख बंद किया? जब आपने पाया नहीं कुछ तो आँख बंद करने की क्या आवश्यकता है? यदि आप सात्त्विक प्रकृति के हैं कि आँख बंद करने पर भी नींद नहीं आती है तब तो कोई बात नहीं लेकिन जब आँख बंद करने पर नींद आती ही है और आपने कुछ पाया भी नहीं तो आँख क्यों बंद करते हैं? इसलिए आँख खोलकर तबतक ध्यान करें जबतक अपने–आप आँख बंद न हो जाय। कुछ ऐसे भी साधक हुए हैं और हैं जो आँख खोलकर यानी त्राटक से ध्यान किये हैं और आज भी कर रहे हैं। त्राटक का तात्पर्य होता है नेत्रों को खुला छोड़ देना और अपने लक्ष्य की ओर देखना। इसप्रकार आँख खुली की खुली रह जाती है और समाधि भी लग जाती है।

अपनी प्रकृति को देखना चाहिये, शरीर की अवस्था को देखना चाहिये कि आँख बंद करने योग्य मेरी प्रकृति है या नहीं। यदि नहीं है तो देखा–देखी क्या करना! विचार करके देखें कि यदि आप आँख बंद करेंगे तो विचारों का ताँता लग जायेगा और आँख उसी समय खोल देंगे तो १६ आना में १२ आना विचार समाप्त हो जायेंगे। यदि रीढ़ की हड्डी सीधी है, शरीर सम है, ओठ बंद हैं, दाँत खुले हैं, जिह्वा अर्धखेचरी के अन्तर्गत है और आँख खुली है तो विचार नहीं आयेंगे, बल्कि अन्दर में चिदाकाश में ही भ्रमण करते रहेंगे। आप भीतर और बाहर के बीच में हैं। नाभि से गमन करनेवाले विचार, मूलाधार से गमन करनेवाले विचार, स्वाधिष्ठान, अनाहद, विशुद्ध और सहस्त्रार से गमन करनेवाले विचार होते हैं। बड़े अन्तर जगत में होते हैं वे, उनका मनोराज्य अलग है और आप एक दूसरे मनोराज्य में प्रवेश कर चुके हैं। आप इस मनोराज्य से

अलग होकर खड़े हैं। शरीर को छोड़ दिया है आपने, जप ही आपका मनोराज्य है उसमें आप खड़े हैं अथवा चिन्तन ही आपका मनोराज्य है उसमें खड़े हैं अथवा द्रष्टापना ही आपका मनोराज्य है उसमें ही स्थित हैं; अतः निश्चितरूप से न आप बाहर हैं न भीतर हैं। बड़ी सावधानी से देखना चाहिये कि नेत्रों को बंद कर देने पर विचार आते हैं या नेत्रों को खोलने पर विचार आते हैं। नेत्रों को बंद कर देने के बाद यदि नींद नहीं आती है और चिन्तन चल रहा होता है तो अति प्रभावकारी होता है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो आप देखें नेत्रों को खोलकर, तो विचार मुक्त होते दिखाई पड़ेंगे यानी विचार विलीन होते दिखाई पड़ेंगे, आपके द्रष्टापना को बाधित नहीं करेंगे; क्योंकि आप उपद्रष्टा भी हैं, उपकर्ता भी हैं। प्रारब्ध ही आँखों को बंद करता है और खोलता भी है, कानों को बंद करता और खोलता भी है, अर्थात् बहुत सी क्रियाओं को करता है। उपकर्ता आँखों को बंद नहीं करता बल्कि छोड़ देता है। जाग्रदवस्था में आँखें खुली हों तब जाग्रदवस्था सफल होती है। स्वप्नावस्था में स्वतः आँखें बंद होती हैं लेकिन जाग्रदवस्था तब सफल होती है जब आप आँखें नहीं बंद करते। आँख बन्द करते हैं तो मानो नींद जानती है कि मुझे बुला रहा है; क्योंकि लम्बेकाल यानी बचपन से आजतक आपने आवाहन किया नींद को बुलाने के लिए और आँखों को बंद किया, इसी कारण से यह दुर्दशा हो गयी है। इसलिए उपकर्ता को भलीभाँति विचार करना होगा कि मैं द्रष्टा हूँ लेकिन कुछ समय के लिए मैं उपकर्ता भी हो गया हूँ, अतः जिस शरीर को प्रारब्ध ने स्वीकार किया है उसी शरीर को मैं स्वीकार करना चाहता हूँ।

शरीर तो अपने वश में नहीं है, यह निश्चित है, लेकिन कुछ आंशिकरूप से वश में होता है। यदि लकवा नहीं मारा है और इच्छा करता है कि हाथ ऊपर उठे तो हाथ ऊपर उठता है। थोड़ा सा संकल्प इसमें काम करता है लेकिन आधे घण्टे के बाद हाथ दर्द करेगा और आप विवश हो जायेंगे हाथ को नीचे करने के लिए, क्योंकि संकल्प केवल आधे घण्टे के लिए आपके साथ रहा। उसीप्रकार आंशिक समय के लिए यदि शरीर में रोग नहीं है तो प्रभु से प्रार्थना करके शरीर को अपना यंत्र बना लें। यह भगवान का यंत्र तो है ही नहीं; क्योंकि भगवान शरीर से कर्ता है नहीं, आप भी शरीर से कर्ता हैं नहीं, जब आप भी कर्ता नहीं हैं, भगवान भी कर्ता नहीं है, तभी तो प्रारब्ध कर्ता हो गया है, तभी यह शरीर प्रारब्ध का हो गया है, तभी प्रारब्ध बलवान हो गया है। आप या तो भगवान से करायें या आप स्वयं करें। सम्पूर्ण शास्त्रों और दर्शनों का यही उपदेश है कि आप प्रारब्ध को छोड़ें और जप–तप धारण करें। मन जप, तप, योग नहीं कर सकता, उसका स्वभाव नहीं है; मन भोजन नहीं छोड़ सकता, उसका स्वभाव ही नहीं है अर्थात् प्रारब्ध विषय को धारण किये रहता है। सात्त्विक प्रारब्ध जड़ समाधि की कामना करता है। इसप्रकार बड़ी सावधानी से चेतन समाधि और चेतन ध्यान की चर्चा करके निर्णय करना चाहिये। जो प्रारब्ध है वह विषयी है, उस विषयी प्रारब्ध को नहीं देखना है। प्रारब्ध व्रत नहीं करता, मात्र विषय चाहता है, समाधि का इच्छुक होता है सात्त्विक प्रारब्ध (गीता अध्याय–१४), जो कि सुख

और अन्तर्विज्ञान के ज्ञान में बाँधता है। समाधि का भी सुख होता है– दिव्य स्पर्श होता है, अन्तर यात्रायें होती हैं, उसमें बँध जाने से वह चिन्तन से विमुख कर देता है, इसलिए अध्यात्म में उस साधक की गति नहीं हो पाती।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।

(गीता अध्याय– १३/२२)

वह जो ब्रह्म है निश्चितरूप से इसी शरीर में है, क्रियाओं के माध्यम से उसकी अनेक संज्ञायें हो गयी हैं। जबतक प्रारब्ध के क्रियाकलापों को देखता है तबतक वह उपद्रष्टा कहलाता है। 'अनुमन्ता'– जब सात्त्विक बुद्धि से निर्णय करता है तब अनुमन्ता कहलाता है। 'भर्ता'– जब वही सात्त्विक प्रकृति को लेकर सद्गुरु की आज्ञा का पालन करता है तो भर्ता कहलाता है। ब्रह्मसुख का उपभोक्ता होने से वही भोक्ता कहलाता है। 'महेश्वरः'– सम्पूर्ण ईश्वरों का ईश्वर जो प्राण है, उस प्राण पर भी शासन करता है इसलिए महेश्वर कहलाता है। निष्कामी जिज्ञासुओं की आत्मा होने से वह परमात्मा कहलाता है। आध्यात्मिक शिष्य उसे परमात्मा मानते हैं। आध्यात्मिक शिष्य ही उसकी आत्मा होता है, अतः उसके लिए वह परमात्मा होता है। इसप्रकार इसी शरीर में कर्म के माध्यम से ब्रह्म की ही अनेकानेक संज्ञायें देखने को मिलती हैं। अच्छीप्रकार से जान लेना है कि एक तरफ प्रारब्ध कर्ता है तब, जब आप कर्ता नहीं होते और आपका भगवान कर्ता नहीं होता। जब प्रभु की आज्ञा लेकर आप जप, योग, स्वाध्याय, सत्संग आदि के माध्यम से कर्ता होते हैं तो वह दिन दूर नहीं जब आप, मैं अकर्ता हूँ, शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा ही हूँ की अनुभूति करेंगे।

किसी के भगवान सद्गुरु हैं तो किसी के शंकरजी, दुर्गाजी, श्रीरामजी, श्रीकृष्ण इत्यादि। जिसका भगवान निकट है, उसकी आज्ञा लेकर जो करता है, वह द्रष्टा ही नहीं होता, कर्ता भी हो जाता है। वह प्रभु की शक्ति को लेकर उस प्रारब्ध से युद्ध करता है। प्रारब्ध जल्दी पीछा नहीं छोड़ता, उसको वश में करने के लिए अनेकानेक मुद्रायें हैं, अनेकानेक अस्त्र–शस्त्र हैं, जो अभ्यासयोग नाम से विख्यात हैं। 'अभ्यासयोग'– कभी तो जप किया, कभी तप किया, कभी योग किया और कभी स्वाध्याय किया। यदि अखण्ड जप चल रहा हो तो उठते–बैठते, चलते–फिरते भी करना है और खड़े होकर के या बैठकर अलग से भी करना है; क्योंकि चलते हुए जप करने पर आप बात करने लगेंगे, राजसी पुरुषों के साथ तो राजस हो जायेंगे, तामसी पुरुषों के साथ तामस हो जायेंगे। अतः एक घण्टा जप का अभ्यास हो गया तो २ घण्टे और २ घण्टे से ३ घण्टे अभ्यास बढ़ाना है। ऐसे करते–करते, सवेरे ५ बजे से रात्रि १० बजे तक खड़े–खड़े या बैठे–बैठे जप करते हैं तब अखण्ड माना जायेगा। यद्यपि १२ घण्टे जप हो जाये तो अखण्ड ही माना जायेगा, लेकिन आप विवश हो जायेंगे १३ घण्टे करने के लिये, १४ घण्टे, १५ घण्टे, २४ घण्टे करने के लिये। इसप्रकार आप महात्मा ध्रुव ही बन जायेंगे। चलते–फिरते

तथा कर्म करते समय राजस प्रकृति रहती है, लेटकर के तामस प्रकृति प्रकट होती है, इसीलिए कहते हैं कि सात्त्विक प्रकृति को लेकर जप करें।

आपने पूछा कि जप श्रेष्ठ है या चिन्तन श्रेष्ठ है? नहीं, दोनों ही श्रेष्ठ हैं। जिसके पास चिन्तन प्रकट हो गया उसके लिए चिन्तन श्रेष्ठ है, जो ज्ञानयोगी है उसके लिए चिन्तन श्रेष्ठ है, जो भक्तयोगी है उसके लिए जप श्रेष्ठ है; इसलिए दोनों ही श्रेष्ठ हैं। किसका कौन मार्ग है, विचार करना है। यदि आप भक्तिपक्ष से चल रहे हैं तो जप श्रेष्ठ है। भगवान के विषय में बीच–बीच में चिन्तन करना, भगवान के गुणों का स्मरण करना और उनकी अहैतुकी कृपा का अनुभव कर प्रार्थना करते–करते रोने लगना, हृदय गद्‌गद हो जाना इत्यादि, ये सब उन्नति के लक्षण माने जाते हैं। चलते–फिरते तो करना ही है, जबतक बैठे–बैठे और खड़े होकर ध्यान–जप करने की सामर्थ्य नहीं आ जाती। गृहस्थाश्रम में कर्म करते हुए, खाते–पीते, कहीं आते–जाते, झाड़ू –पोछा लगाते हुए भी जप, तप तथा ध्यान करने का फल मिलेगा। चूँकि आपने घर छोड़ दिया है, इसलिए आप पर वह नियम लागू नहीं होगा, आपके लिए तो खड़े–खड़े या बैठकर ही जप–तप करने का विधान बनाया गया है। भिक्षा माँग के खाएँ अथवा मिल जाय तो अन्नक्षेत्र में खाएँ, आश्रम में मिल जाय तो वहाँ खाएँ, अर्थात् थोड़ा सा खा करके जप करें। कबतक जप करें? जप करते–करते जब भूख से पीड़ा हो रही है, तब थोड़ा इस पेटरूपी थैली में डाल दिया प्रसाद और वह शान्त हो गया भूख नाम का देवता। वह वैश्वानर देवता ब्रह्म ही है, वह शान्त हो गया फिर आपने जप किया। धीरे–धीरे तीन साल में तो अखण्ड सुखपूर्वक आराम–आराम से जप होने लगेगा और आपको लगेगा ही नहीं कि बारह घण्टे कैसे बीते।

मद्रास में देखा महाराज ने एक पैसे कमानेवाले को, अखण्ड पाँच घण्टे खड़ा था। वह हररोज ही ५ घण्टे रहता था स्टेडियम में, समुद्र के किनारे लोग पैसे फेंकते रहते थे, उसकी आँखें हिलती नहीं थीं। महाराज ने आश्चर्य किया कि यदि यही भगवान के लिए खड़ा होकर जप करता तो भगवान मिल जाते, लेकिन थोड़ा पैसा मिल जाता है! ६००० रु. उसका वेतन है महीने का और कुछ उसकी पगड़ी में तथा धीरे से कुछ उसके सामने डाल देते थे तो उस पैसे का ही वह अधिकारी है, कुल मिलाकर महीने का १२०००, १३००० अथवा १५००० मिल जाता होगा। तो सामान्य ही मिला, कोई विशेष नहीं मिला। यह शरीर ऐसा है जो खड़े–खड़े भी सिद्ध हो जायेगा, हिलेगा–डुलेगा नहीं, इसे कहते हैं– ताड़ासन। एक महीना, दो महीना, तीन महीना उसमें हलन–चलन होगी, लेकिन जब भक्ति और शक्ति का प्रभाव होने लगेगा तो बस स्तम्भित हो जायेगा, खड़ा का खड़ा रह जायेगा, चेतन एवं जड़ का जब मिलन होता है तो फिर वहाँ एक प्रतिक्रिया होती है वह यह कि साधक संकल्प करता है तो वहाँ पर शरीर फिर हिलता–डुलता नहीं है।

मनु–शतरूपा एवं भक्त ध्रुव आदि खड़े–खड़े घोर तप किये हैं। इसीप्रकार खड़े होकर चौबीस–चौबीस घण्टे, दो–दो दिन, तीन–तीन दिन, आज भी लोग जप करते हैं ध्यान करते हैं।

ये सब कहानी नींद के कारण से है। यदि नींद आपको परेशान करती है तो खड़े–खड़े आपको जप, तप, ध्यान करना होगा। नींद परेशान नहीं कर रही है तो पद्मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासन में से किसी भी आसन में बैठकर करना होगा। क्यों? अन्य आसनों में क्यों नहीं? इसलिए कि अन्य आसनों में शरीर के ढीला होने से उसमें तामस वृत्ति के उदय होने की संभावना विशेष रहती है। आप देखते होंगे कि शरीर पलंग पर जाता है और नींद आ जाती है लेकिन यदि वही चलता रहता है तो नींद नहीं आती। तामस प्रकृति शरीर की शिथिलता में प्रकट होती है, शरीर की चंचलता में राजस वृत्ति और शरीर की सतर्कता में सात्त्विक वृत्ति प्रकट होती है। यदि शरीर सीधी रेखा में गमन करे, बैठकर अथवा खड़े होकर तो सात्त्विक वृत्ति प्रकट होगी, ऐसा प्रकृति का नियम है। इसीप्रकार गीता अध्याय–१८ में भलीभाँति सांख्यमत को भगवान ने स्वीकार किया है। उस सांख्यमत को जिसमें भगवान कपिल ने तीन प्रकार के कर्ता, तीन प्रकार के कर्म, तीन प्रकार की बुद्धि, तीन प्रकार के ज्ञान, तीन प्रकार की धृति, तीन प्रकार के सुख की बात की है। सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रकृति के अनुसार ये सब तीन–तीन प्रकार के होते हैं। तीन प्रकार का ज्ञान अर्थात् भीतर में भी सात्त्विक प्रकृति है, सात्त्विक प्रारब्ध है, वह भी कर्ता है। यह आपको पता होना चाहिए कि मेरा जो ज्ञान है सात्त्विक ज्ञान तो नहीं है? सात्त्विक ज्ञान यद्यपि सहायक होता है लेकिन 'गुरु का ज्ञान और सात्त्विक ज्ञान'– दो प्रकार का ज्ञान है। गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए सात्त्विक ज्ञान आधार बनता है। सबमें ब्रह्म की अनुभूति हो रही है अर्थात् अनुमान ज्ञान हो रहा है कि सबमें ब्रह्म है, इसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं और सबमें ब्रह्म दिखाई पड़ रहा है, इसे सात्त्विक ज्ञान नहीं कहेंगे बल्कि ज्ञान कहेंगे। अब सात्त्विक ज्ञान से आगे बढ़ गये और सब ब्रह्म ही है, ऐसी अनुभूति हो रही है तो इसे न सात्त्विक कहेंगे न ज्ञान कहेंगे बल्कि इसे तो ब्रह्म ही कहेंगे। इसे कहते हैं– ब्रह्मदृष्टि, ज्ञानदृष्टि। इसप्रकार ज्ञान, कर्म, कर्ता आदि तीन–तीन प्रकार के होने से इन पर विश्वास नहीं करना, अनुमान ज्ञान को ही सर्वस्व न मान लेना। भगवान ने संकेत किया है– नैष्कर्म्यसिद्धि की एक अवस्था आती है जिसमें आपको पता चल जाता है कि आप आत्मा हैं। तो फिर आप निष्क्रिय हो जायेंगे क्या? अंतिम घोषणा है भगवान की कि गुरु के ज्ञान से आप भगवान हो गये, आपने निर्णय कर लिया कि मैं भगवान हूँ, आपने निर्णय कर लिया कि मैं आत्मा हूँ, शरीर शरीर है, 'मैं' 'मैं' हूँ; अर्थात् इतना निर्णय हो गया कि मैं द्रष्टा हूँ और प्रारब्ध के साथ शरीर दृश्य है। अब दो भाग हो गया, तो फिर इतने से ही काम चल जाएगा क्या आपका? सत्रहवें अध्याय के उपरान्त का प्रश्न है। अब अठारहवें अध्याय में इस ब्रह्मविद्या के सिर पर सुनहरे मुकुट को पहनाना चाहते हैं भगवान। अतः एक ब्रह्मविद्या को प्रकट कर दिया और अपने हृदय से अनपायनी भक्तियोग नामक वस्त्र से उसे सजा दिया अर्थात् उसको पहना दिया तथा नानाप्रकार के साधनों से, साधनरूपी गहनों से उसे सजा दिया, अब शेष मुकुट ही पहनाना बाकी है।

भगवान द्वारा अठारहवें अध्याय का दिया हुआ ज्ञान ही दिव्य मुकुट है। यदि आप आत्मा

हो गये तो इतने से काम चल जायेगा क्या कि मैं आत्मा हूँ और शरीर दृश्य है? कहते हैं कि जब आत्मा हो गये अर्थात् जान गये तो फिर नैष्कर्म्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करें। मंगलानन्द ने कहा था कि 'क्रोध सहन नहीं होता। पता तो चल गया कि मैं आत्मा हूँ, लेकिन क्रोध में पागल हो जाता हूँ!' केवल मान लेने से कि मैं द्रष्टा हूँ, मैं आत्मा हूँ, तो प्रतिकूल घटना आने पर वह विषयरूपता को प्राप्त हो जायेगा। क्रोध में क्रोधी हो जायेगा, राग में रागी हो जायेगा, काम में कामी हो जायेगा, फिर कहेगा कि अरे! ये क्या हो गया! रोज पश्चात्ताप, रोज पश्चात्ताप अर्थात् केवल आप द्रष्टा होंगे तो जो कर्म होगा उस कर्म का संस्कार उस चित्त पर पड़ेगा, जिस चित्त से उपराम होकर आपने अपने को द्रष्टा माना है, तो चित्त पुनः आपको अपनी तरफ आकर्षित कर लेगा, खींच लेगा, विवश हो जायेंगे आप और खिंचा जाएँगे। इसलिए भगवान ने कहा– सन्तोष इतने में मत कर लेना। नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् भगवद्सिद्धि की बात की जा रही है। यह सिद्धि मिल गयी कि आप आत्मा हैं, विश्वास हो गया आपको, तो उसके उपरान्त एक ऐसी अलौकिक श्रद्धा मिली आपको कि गुरुजी ने आध्यात्मिक विवेचन कर दिया आपके पास, विभाग कर दिया प्रकृति और पुरुष का, तो बस विश्वास हो गया कि मैं आत्मा हूँ। भगवान ने कहा कि ऐसा विश्वास हो जाना सिद्धि है; जब ये सिद्धि प्राप्त हो गयी तो अब अगली सिद्धि के लिए आप प्रयत्न करें। अगली सिद्धि है कि अखण्ड अपने स्वरूप में आप स्थित रहें और प्रारब्ध पर तथा शरीर पर आपका शासन हो।

जेर से लिपटा हुआ ही कोई भी शिशु माँ के गर्भ से बाहर आता है– यह प्राकृतिक नियम है; वैसे ही ब्रह्मविद्या भी एक ऐसे गर्भ से प्रकट हो रही है, जो विषाद नामक जेर से लिपटी हुई है। ब्रह्म की योनि मूल प्रकृति है और यह विलक्षण बात है कि महात्मा अर्जुन के भीतर से वह विषाद नामक जेर प्रकट होता है, जिसमें ब्रह्मविद्या छिपी हुई है। महात्मा अर्जुन भगवान की आत्मा हैं, वे प्रकृति हैं, उन्हें मूल प्रकृति के रूप में भी यदि देखा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भगवान को कोई निमित्त चाहिए, अतः उस निमित्त (अर्जुन) को संतों ने बड़ाई तो दी लेकिन कारण नहीं माना। भक्तों ने ब्रह्मविद्या का कारण माना भगवान को अर्थात् अर्जुन को नहीं देखा भगवान को देखा। इसलिए इस प्रथम अध्याय को संतों ने विषादयोग नाम दिया। इसके पूर्व और उपरांत विषाद को योग नहीं कहा गया था। ध्यानयोग, जपयोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग, नादयोग इत्यादि बहुत से योगों की बात कही गयी थी परन्तु विषादयोग की बात नहीं की गयी थी। निश्चितरूप से जब कोई भक्त भगवान के पास रोता है, बिलखता है, अपनी दीनता को समर्पित करता है, निकट का संबंध यदि है तो फिर उसका रोना–बिलखना भी भगवान की प्रसन्नता का हेतु होता है। महात्मा अर्जुन का विषाद आपको प्राप्त हो, इसलिए विषादयोग कहा। आपमें कहीं न कहीं, कोई न कोई कमी है, जिस कारण से जहाँ भाव ही भाव है, वहाँ आपको अभाव सा प्रतीत होता है; जहाँ सुख ही सुख है, शान्ति ही शान्ति है, आनन्द ही आनन्द है, वहाँ पर ठीक इसके विपरीत आपके साथ व्यवहार हो रहा है। अतः स्पष्ट हो रहा

है कि आप अपनी जगह से भटक गये हैं। भगवान नारायण अधिकारी को पाकर युद्ध की भूमि में ब्रह्मविद्या को देते हैं और आपको तीर्थ में भी नहीं देते। अतः हतोत्साहित होकर आप कुछ का कुछ सोचने के लिए विवश हो जाते हैं। बुद्धिवाद के अन्तर्गत प्रवेश कर जाते हैं, अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं, जहाँ बुद्धि काम नहीं करती, जहाँ आपका मन नहीं काम करता, जहाँ आपकी वाणी काम नहीं करती। इन क्षुद्र उपकरणों का मानो आपने आश्रय लिया, बहुत कुछ होने–जानने की कल्पना कर ली, जैसे–जैसे आपने बहुत जानने का दम्भ भरना शुरू किया, वैसे–वैसे आपका भगवान आपसे बहुत दूर भागता गया।

एक भूत प्रकट हो गया किसी वैश्य के पास जो कहीं तराजू लेकर तौलने के लिए जा रहा था। भूत ने कहा– कहाँ जा रहे हो? वैश्य ने कहा– इस अगले गाँव में अनाज तौलने जा रहा हूँ। भूत ने कहा– चलो कोई बात नहीं, तो मेरा भी काम कर दो! ये जो खेत में मिट्टी के ढेले हैं, थोड़ा इनको तौल दो! वैश्य ने कहा– इसका आप क्या करेंगे? भूत ने कहा– तौलो तो, मैं एक तरफ अपने पापों को रखूँगा दूसरी तरफ मिट्टी के ढेलों को रखूँगा और देखूँगा कि अभी तक मेरा पाप कितना भारी है। जेष्ठ के महीने की बात है, दोपहरी का समय था, मृग–मरीचिका नृत्य कर रही थी। उस समय उस वैश्य को सहसा उसके हाव–भाव, रहन–सहन से स्मरण आया कि कहीं यह भूत तो नहीं है! अतः डर गया और उसने एक तरफ मिट्टी के ढेले को रख दिया और कहा कि आपको जो कुछ भी रखना है, दूसरे पलड़े पर रखो। तो उसने छू दिया और कहा– तौलो तो! उसने कहा– रामः राम एक, तो भूत ने कहा कि यह क्या कर रहे हो! वैश्य ने सोचा कि अरे! यह तो डर रहा है राम कहने से। अतः फिर कहा– रामः राम दो, तो भूत पीछे हटा और कहा– यह कर क्या रहे हो तुम! रामः राम तीन, रामः राम चार–पाँच करता गया और भूत भागता गया, भागता गया, ओझल हो गया। भक्तों के राम नाम से भूत भागता है, किन्तु आपके संन्यासयोग से काम आता है! काम एक भूत है, क्रोध एक भूत है, लोभ एक भूत है। यह कैसा है आपका संन्यास! वह एकबार राम कहता है तो भूत भागता है, जबकि आपने सदा राम राम कहने के लिए ही संन्यास लिया है तो भी आपका भूत नहीं भागता! यह कैसी विडम्बना है!

एक भक्त ने कहा कि त्याग बड़ा कठिन है। अरे! आपका कैसा भगवान है, यह विचार का विषय है। जिसके माध्यम से, जिसके आश्रित होकर हम त्याग को सुगम समझते हैं, उसी त्याग को कोई कठिन कहता है! ग्रहण का भूत लग गया है, राहू और केतु, बुध तथा शुक्र आदि की दशा की बात करते हैं आप! इससे सिद्ध होता है कि आपकी वाणी का भगवान कोई और है तथा मन का भगवान कोई और है, अपनी बुद्धि के भगवान को आप जानते ही नहीं। भगवती द्रौपदी के आँसू और आपके आँसुओं में बहुत दूरी है, महात्मा सुदामा की दीनता एवं समर्पण में और आपकी दीनता, समर्पण में आकाश–पाताल का अंतर है। महात्मा लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य में और आपके ब्रह्मचर्य में भी विषमता है क्योंकि उन्होंने अपने ब्रह्मचर्य में शूर्पणखा की नाक–कान काट ली थी, उपहास कर दिया था, चुनौती के साथ उन्होंने घोषणा कर दी थी कि ब्रह्मचर्य

है क्या? अतः उनके ब्रह्मचर्य में शूर्पणखा की नाक–कान कटती है और आपके ब्रह्मचर्य में वह आपके ऊपर भारी पड़ती है भले ही बारह–बीस साल हो जाते हैं। अरे! कुछ सालों में तो ब्रह्मचारी की वासना बाहर आ जाती है! यदि अखण्ड विशुद्ध भाव से, विशुद्ध नियम से, विशुद्ध श्रद्धा से सद्गुरु के आश्रित रहनेवाला ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य पालन करते हुए, साधना करे तो निश्चितरूप से तीन साल होते–होते निर्मल वैराग्य की प्राप्ति हो जायेगी, छः साल होते–होते विषय से उदासीनता हो जाएगी, नौ साल होते–होते सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन होना प्रारंभ हो जायेगा और बारह साल होते–होते भीतर में ब्रह्मचारियों का ब्रह्म भर जायेगा, तो उनके भीतर की वासना बाहर आ जायेगी। किसी–किसी ब्रह्मचारी के उत्तमातिउत्तम समर्पण में तीन साल में ही वासना बाहर आ जाती है तथा वासना की नाक–कान काटने में वह सफल हुआ तो आगे बढ़ जाता है। मार्ग में विराध आता है, कबंध आता है, विराध और कबंध भय और क्रोध के प्रतीक हैं, तामस वासना हैं। रावण का वध करना है– यह रूपक है। रूपक में बाह्यवृत्तियों के माध्यम से संकेत लेना है। पहले क्रोध आता है, फिर भय आता है– विराध के बाद कबंध भय है। इन दोनों का वध कर दिया जाता है, उसके उपरान्त फिर तो काम ही आता है, वह है– शूर्पणखा, जो बाहर में वासनारूप में प्रकट हो गई। उस ब्रह्मचारी ने स्वामी के ऐश्वर्य देने पर भी अस्वीकार कर दिया। उसके राम बाहर हैं, लेकिन बारह साल होते–होते उसके राम भीतर भी आ गये। उसके सद्गुरु रामजी ने शूर्पणखा से कहा– जाओ, वह जो ब्रह्मचारी दिखाई दे रहा है कुछ दूरी पर, उसके पास जाओ, हमारे पास तो धर्मपत्नी है ही। इसप्रकार वह ऐश्वर्य देता है क्योंकि मूर्खों के लिए काम ही ऐश्वर्य है। अतः काम ला के खड़ा कर देता है लेकिन सद्गुरु की बात नहीं मानी उस ब्रह्मचारी ने। प्रभु राम ही उसके सद्गुरु हैं, सगुण और निर्गुण ब्रह्म वही हैं। ब्रह्मचारी ने स्वीकार नहीं किया और कहा– तुम मेरे पास कैसे आ गयी? शूर्पणखा ने कहा– तुम्हारे बड़े भाई ने भेजा है। बहुत से तर्क–वितर्क होते–होते ब्रह्मचारी ने कहा कि तुम ऐसे सेवक के पास कैसे रह सकती हो, जहाँ कि तुम्हारे अनुकूल कोई व्यवहार ही प्राप्त न हो; उपहास करता गया, करता गया और पुनः सद्गुरु (प्रभु श्रीराम) के पास भेज दिया। श्रीराम प्रभु के पास आने पर पुनः उन्होंने उसके पास भेजा। इससे सिद्ध होता है कि ऐश्वर्य और विभूति भगवान आपके पास भेजता है। ऐश्वर्य (लंका) का उपहास कर दिया विभीषण ने तथा ऐश्वर्य का उपहास कर दिया उस ब्रह्मचारी लक्ष्मण ने, अति उपहास कर दिया। वह विक्षिप्तमना, मूढ़मना शूर्पणखा रावण के पास भाग जाती है, इसप्रकार काम पराजित होता है। उसके (लक्ष्मण के) राम में जितेन्द्रियता है और आपके राम में कामुकता है। उसके ब्रह्मचर्य में ब्रह्म प्रतिष्ठित होता है और आपके ब्रह्मचर्य में काम प्रतिष्ठित होता है, ये दोनों विरोधी बातें हैं। कर्ता कौन है? अबतक इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा था। विभीषण को लंका दी पर उस महापुरुष ने उस ऐश्वर्य का परित्याग कर दिया, जिस ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए रावण ने घोर जप–तप किया था। पद–प्रतिष्ठा, मान–सम्मान और अद्भुत लक्ष्मी– ये सब भगवान के देने के उपरान्त भी विभीषण ने मना कर दिया, तब भगवान ने पहले अपने को दिया, फिर उसने लंका को भगवान की आज्ञा

से ले लिया। ऐश्वर्य आता है ब्रह्मचारी के पास, मोह–ममता छोड़ देने के बाद। मोह–ममता अर्थात् जगत की आसक्ति छोड़ देने के बाद ऐश्वर्य सद्गुरु ही होता है, वह मिल गया तो ऐश्वर्य मिल गया। मात्र उसकी आरती उतारने से तो वह आपके भीतर आ नहीं जाता। उसके दो स्वरूप हैं– सिद्धान्त उसका मौलिक स्वरूप है और शरीर उसका व्यावहारिक स्वरूप है। व्यावहारिक स्वरूप एक आवरण है, वही तो दीक्षित करता है आपको!

ध्रुव के घर छोड़ देने के बाद नारदजी प्राप्त होते हैं और सिद्धान्त देते हैं, मन्त्र देते हैं तथा जबतक सिद्धान्त भीतर नहीं उतर जाता है तबतक महात्मा ध्रुव पीछा नहीं छोड़ते हैं। उन्होंने किसी को मित्र नहीं बनाया। वन में जाकर घोर तप करते हैं, जबकि अयोध्या पास में है। न मित्र बनाते हैं, न माँ के पास जाते हैं। बस, सद्गुरु के सिद्धान्त को ही उन्होंने अपना मित्र बना लिया है, भाई–बान्धव बना लिया है अर्थात् सर्वस्व बना लिया है और सफल भी होते हैं। महात्मा लक्ष्मण ने भी प्रभु श्रीराम को छोड़कर उस तेरह साल के अन्तर्गत किसी को साथी नहीं बनाया है। प्रभु श्रीराम ने सुग्रीव को साथी बना लिया, मित्र बना लिया, हनुमानजी को सेवक बना लिया; क्योंकि वे सद्गुरु के पद पर हैं लेकिन उस ब्रह्मचारी ने अपने ब्रह्मचर्य का परित्याग नहीं किया, अपनी सेवा स्वयं से की। उसके ब्रह्मचर्य में और आपके ब्रह्मचर्य में कहीं विषमता तो नहीं है? ब्रह्मचर्य को धारण करना यानी उपकर्ता होना है। इसप्रकार महाकर्ता के निकट है वह। श्रीराम प्रभु महाकर्ता हैं, वह उपकर्ता हो चुका है। उसके भीतर का प्रारब्ध निश्चितरूप से तो है ही, जैसे कि आपके भीतर है, लेकिन कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप महाकर्ता के निकट नहीं हैं, यह विचार का विषय है। महाकर्ता के निकट कभी पराजय देखी नहीं गयी। धर्मशास्त्र कभी भी ऐसा नहीं कहते बल्कि वे तो कहते हैं कि सच्चे भक्त की दिन दूनी–रात चौगुनी साधना बढ़ती है– ऐसा ही सब संतों ने भी उल्लेख किया है।

जब ब्रह्मचारी का व्यवहार सद्गुरु के अनुरूप नहीं होता तो फिर उसमें महात्मा अर्जुन का विषाद आना चाहिए। लक्ष्मण देखो ऐसा न करो, तुम मेरे अति प्रिय हो लेकिन विवश मत करो मेरे को। इस समय भरत भी नहीं है, शत्रुघ्न भी नहीं है, मात्र तुम ही हो, अतः मुझे जाने दो। माता–पिता की सेवा सर्वोपरि है, वह सेवा धर्म के अन्तर्गत आती है, वनवास मुझे हुआ है तुम्हारे को नहीं हुआ है। यह घोर अपराध माना जायेगा, यदि तुम भी मेरे साथ चलते हो तो। इसप्रकार बहुत से तर्क दिए प्रभु श्रीराम ने लेकिन उस जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी ने बस एक स्पष्ट घोषणा कर दी कि यदि आप स्वीकार नहीं करते तो हे प्रभु! प्राण त्याग दूँगा। उसने कहा कि मैं माँ को नहीं जानता, पिता को नहीं जानता, गुरु को नहीं जानता, भाई–बान्धव को नहीं जानता, किसी धर्म–कर्म को नहीं जानता, बस मैं आपको जानता हूँ। जीवन–जीवन मुझे नरक प्राप्त हो लेकिन मुझे आप चाहिएँ, आपका साथ चाहिए, इसप्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जीव–जीव जब एकसाथ रहते हैं तो वैर की सम्भावना हो जाती है, पति–पत्नी यदि चौबीस घण्टे साथ रहते हैं तो वैर की सम्भावना हो जाती है, भाई–भाई चौबीस घण्टे साथ रहेंगे तो एक महीना होते–होते वैर हो जायेगा लेकिन ब्रह्म और जीव जब साथ रहते हैं तो जीव में

निर्वैरता आती है, समता आती है, जीव में प्रेम बढ़ता है– ऐसा ही सबका मत है। जितना ही सद्गुरु की निकटता होती जायेगी उतना ही निर्मल प्रेम, आध्यात्मिक प्रेम प्रकट होता जायेगा। कदाचित् ऐसा भी होता है कि सभी साधक सद्गुरु के शरीर के साथ नहीं रह पाते लेकिन उसके सिद्धान्त के साथ यदि रह लेते हैं तो शरीर के साथ रहना माना जाता है। महात्मा भरत को प्रभु ने सिद्धान्त दे दिया। एक तरफ लक्ष्मण हैं तो दूसरी तरफ भरत हैं, दोनों को वही अध्यात्म प्राप्त होता है। शत्रुघ्न को सेवा दे दी भरत की और उन्हें भी वही अध्यात्म प्राप्त होता है। अपने–अपने पद के अनुरूप व्यवहार करने से उन्हें अध्यात्म वरण करता है। अध्यात्म प्रकट होता है, पकड़ा नहीं जाता। ब्रह्मचारियों के आचार्य महात्मा लक्ष्मण भी होते हैं, सत्यकाम, आरुणि इत्यादि भी होते हैं, जो आर्ष ऋषियों के यहाँ पाये जाते हैं। इसप्रकार कहीं न कहीं आप अपने मन के सिद्धान्त को चौबीस घण्टे में कई बार स्वीकार करते होंगे, तभी सद्गुरु का सिद्धान्त आपके सामने बिखरा हुआ है, इसीलिए आप उपकर्ता नहीं हो पाते। क्षुद्र द्रष्टारूप में रहना आपकी विवशता है, हर–पल आपके पास विवशता है तभी तो खाते समय आप क्षुद्र कर्ता बन जाते हैं, सुनते समय आप क्षुद्र कर्ता बन जाते हैं, देखते समय आप क्षुद्र कर्ता बन जाते हैं लेकिन जब रोग आक्रमण करता है तो फिर आप वहाँ कर्ता नहीं होते, भाग्य की दुहाई देते हैं।

एक सन्त को रोटी नहीं मिली तो लोगों ने कहा कि दस दिन आपको रोटी क्यों नहीं मिली? संत ने कहा कि 'भगवान तपस्या करा रहा था न! मैं तो तपस्या नहीं करता, इसलिए तपस्या करा रहा था।' आप वैसे समय में भाग्य को कोसेंगे। एक सन्त ने अपने साधनाकाल में कभी भी भोजन और वस्त्र के विषय में चिन्ता नहीं की। उन्होंने कहा कि कभी भी यह नहीं देखा कि साधना में व्यवधान होगा, परेशानी हो जायेगी। आहार मिला तो प्रसन्नता हुई और नहीं मिला तो भी प्रसन्नता हुई। एक तरफ 'युक्ताहारविहारस्य' कह दिया और प्रसाद मिल ही नहीं रहा है तो जिसके आश्रित है वह भगवान जाने, क्यों नहीं मिल रहा है। अतः उपकर्ता जब हो जाते हैं आप, तो सूक्ष्म व्यवहार को भी देखा जाता है, पहले आध्यात्मिक व्यवहार को लिया जाता है। कोई आपका आदर्श हो जिसके व्यवहार को देखकर आप पिछले व्यवहार को छोड़ दें और विशुद्ध ब्रह्मचारी के व्यवहार को धारण करें। बारह साल होते–होते वासना बाहर निकल जाती है, कलियुग में तो जल्दी वासना बाहर आती है। यह वासना शूर्पणखा ही तो है, जिसे आप आश्रम कहते हैं। उसमें और आश्रम में कोई अन्तर नहीं है, शूर्पणखा के साथ आलिंगन करना या आश्रम के साथ आलिंगन करना, आश्रम को विषय विलास का साधन बना लेना, इसमें किसीप्रकार का अंतर नहीं है। कभी–कभी तो साधकों को देखा है महाराज ने कि कहते हैं कि जगह नहीं है साधना के लिए तो महाराज को शूर्पणखा याद आ जाती है। इनको कमरा चाहिए। महाराज देखा है कि हजार साधक एकसाथ यहाँ साधना कर सकते हैं लेकिन किवाड़ बन्द चाहिए साधक को, जबकि खुले में करनी चाहिये साधना।

एक साधक ने कहा– जीवन में कभी भी मैंने सद्गुरु के पास यह नहीं सोचा कि कमरा चाहिए या कोई विशेष जगह चाहिए। इतनी ही जगह चाहिए जितने में कि बैठा जा सके ध्यान के लिए। गीता जयन्ती वहाँ अर्थात् सद्गुरु आश्रम पर मनाई जा रही थी, पाँच दिन तो वहाँ

बहुत भीड़ रहती थी, तो ध्यान कहाँ किया जायेगा! देखा तो एक गुप्त स्नानघर था जिसकी रात में सफाई करने के बाद रातभर ध्यान कर लेता था। इसप्रकार वहाँ पर जगह की कमी ही नहीं थी। सद्गुरु के पास चाहे कितनी भी भीड़ हो, उससे क्या लेना–देना। वे बात करते रहते थे और उसका ध्यान हो जाता था। 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य'– सद्गुरु के निकट बैठकर ध्यान करना इससे पवित्र भूमि क्या होगी, गंगाजी के किनारे बैठकर ध्यान करना इससे पवित्र भूमि क्या होगी। एक साधक ने तो कभी कमरे में ध्यान किया ही नहीं। आकाश आपका स्वागत करे, वायु आपका स्वागत करे, अन्तरिक्ष के देवता आपका स्वागत करें फिर देखें ध्यान को। अभी एक घटना है देवप्रयाग की, महाराज ने एक पद लिखा पत्थर पर, वहाँ कलम–कागज था ही नहीं, ऐसे ही चला गया था, वर्षा हुई मिट गया सोचा क्या करे, पद तो वही आना चाहिए। अतः दूसरे दिन ठीक उसी समय (शाम को पाँच बजे के लगभग) वहाँ पहुँचा। पहले दिन की तरह दस–बारह बार टहला उसी पद का संकल्प करते हुए। कुछ ही देर में वही पद चिदाकाश से उतरता गया और पूरा पद उतर आया। जितना खुले आकाश का सम्बन्ध आपके चिदाकाश से होगा उतनी ही अन्तर्मुखी वृत्ति होगी और भीतर के गोपनीय स्तर खुलेंगे। उपकर्ता होने में आप व्यवस्था की तरफ न देखें। कहाँ पर ऐसी जगह है जहाँ पर आपकी व्यवस्था नहीं है। भगवान सामने हैं जूती पहने हुए और महात्मा अर्जुन उनसे ऊँचे पद पर बैठे हुए हैं लेकिन निकटता तो देखें! कितना निकट का सम्बन्ध है– सखा का सम्बन्ध है, गुरु का सम्बन्ध भी नहीं है, बूआ के बच्चे होने से भाई का सम्बन्ध है, किन्तु पुरातन काल से एक साथ युगलजोड़ी के रूप में रहने मात्र से जीव (अर्जुन) उस पुरातन सम्बन्ध को भूल गया लेकिन ब्रह्म नहीं भूला, अब इससे विशेष अहैतुकी कृपा किसे कहते हैं? वहाँ तो मात्र रथ है और रथ पर जूती है चमड़े की, मुकुट है सिर पर तथा हृदय में विषाद है और उस विषाद की अवस्था में ही ब्रह्मविद्या प्रकट होने जा रही है लेकिन आप तो आसन सिद्ध करते हैं, भोजन देखते रहते हैं कि शुद्ध तो है नहीं, हर रोज शिकायत–हर रोज शिकायत। अतः आप उस समय उपकर्ता नहीं हैं, उस समय तो वह प्रारब्ध बोलता है, प्रारब्ध को धर्म–अधर्म की बातें आती हैं, कर्म–अकर्म की बातें आती हैं। परन्तु भक्त सद्गुरु के सिद्धान्त के सामने धर्म–अधर्म को क्या जानेगा कि क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है? जो उसने साधना बतला दी उसको साध रहा है वही उसका धर्म है, जो नाम दे दिया उसका जप कर रहा है, जो चिन्तन दे दिया है वह चिन्तन कर रहा है, वही उसका धर्म है।

आज पूछा था शरद ने कि क्या धर्म है एक ब्रह्मचारी का? तो महाराज ने कहा एक ही धर्म है– सद्गुरु की आज्ञा में प्रतिष्ठित हो जाना। लेकिन इस धर्म में प्रतिष्ठित क्यों नहीं हो पाता? इसलिये कि हुंकार नहीं भर पा रहा है, दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हो पा रहा है। जितनी शक्ति का ह्रास दूसरे को देखने में होता है उतना किसी अन्य दोष से नहीं होता। जब आप दूसरे के व्यवहार को देखते हैं, दूसरे के चरित्र को देखते हैं तो अध्यात्म में आप चरित्रभ्रष्ट कहे जाते हैं। जब सद्गुरु का चरित्र आपको देखने को मिल ही रहा है तो दूसरे का व्यवहार, दूसरे का चरित्र आपको देखने का क्या अधिकार है? आप देखेंगे कि जब ध्यान में आप बैठते हैं तो जो विचार आयेंगे वे गप–शप के होंगे, आपके दोष–दर्शन के होंगे। सोलह आना जो भीतर गप हो रहा

है, जो विचार चल रहे हैं, बारह आना आपके गप के होंगे, चार आना आपके मोह के होंगे। यदि गप नहीं है, मोह नहीं है तो आपका शरीर बैठेगा और धीरे–धीरे वह सुन्न होता जायेगा, बाहर से सुन्न सा दिखाई पड़ता जायेगा और भीतर विकसित होता जायेगा। अतः सद्गुरु आज्ञापालन के अतिरिक्त साधक के लिए कोई धर्म नहीं बचता।

आत्मानन्द ने कहा था कि 'शीलता मेरी जैसी न हो किसी में'। साधक जब दयावान होता है, शीलवान होता है तो उसकी शीलता में, उसकी दया में व्यावहारिक धर्म प्रकट होता है, व्यावहारिक धर्म प्रकट होने में जो मौलिक धर्म है वह छूट जाता है। शील है, संकोच है, जैसे एक साधक आश्रम में अन्य साधकों से बहुत डरता है कि कोई कुछ कह न दे; तो डरने से क्या साधना होगी, आप अपने महाकर्ता के सामने नहीं हैं क्या? आप साधना कर रहे हैं, आपके ऊपर आज्ञा किसी की नहीं है क्या कि आपको पाप लग रहा है? रोज खिन्नमना होना यानी पाप लगना, हतोत्साहित होना यानी पाप लगना, साधना छूट जाना यानी पाप लगना, छिन्न–भिन्न साधना का हो जाना यानी पाप लगना, साधना में शरीर का रोगी हो जाना अर्थात् पाप लगना, तो वह कवच कहाँ गया जो ब्रह्म की आज्ञा ही होता है। साधक का बचाव करने के प्रकृति के पास अनेकानेक उपाय हैं। तो ये दो कारण होते हैं जिसके कारण आपका भगवान आपके साथ नहीं है। आपके बाल–बच्चे आपके साथ हैं, आपके भाई–बान्धव आपके साथ हैं, तो आपको भ्रम है कि मैं भगवान का हूँ और जबतक आपके चित्त की ऐसी अव्यवस्था है तबतक आप उपकर्ता नहीं हो सकते।

यदि आप द्रष्टा होते हैं तो शरीर के साथ द्रष्टा होते हैं, केवल आप देखते हैं तो शरीर के माध्यम से ही तो देख रहे हैं। इसलिए आप कह तो सकते हैं कि मैं द्रष्टा हूँ, लेकिन क्या प्रमाण है कि आप देख रहे हैं? यह भी तो मानें कि संस्कार देख रहा है। सतोगुण भी देखता है, रजोगुण भी देखता है, तमोगुण भी देखता है– सतोगुण प्रकाश के साथ देखता है, अन्तर्विज्ञान के साथ देखता है, रजोगुण भाई–बान्धव के माध्यम से देखता है, तमोगुण नींद के माध्यम से देखता है। इसलिए जैसा कि कहा है महाराज ने– आप उपकर्ता तब होते हैं जब अपने जीवनरथ पर यानी मन में राम को बिठाते हैं अर्थात् सद्गुरु के सिद्धान्त को बिठाते हैं, और तब सद्गुरु के सिद्धान्त के माध्यम से कालान्तर में आप देखते हैं, वह आपका देखना होता है। आप देखें– बिताते तो हैं आप चौबीस घण्टे लेकिन बिना जप के, बिना ध्यान के, बिना चिन्तन के ही चौबीस घण्टे बीतते हैं; जप के साथ एक दिन चौबीस घण्टे बिता के देखें तो दिन नहीं बीतेगा बहुत भारी जान पड़ेगा। इससे सिद्ध होता है कि कितने छिन्न–भिन्न हो गये हैं आप, मन का कितना आप पर शासन है, प्रारब्ध का कितना आप पर शासन है, शरीर का भी कितना आप पर शासन है; इसलिए कि आपका कहा नहीं माना, आप देखते रहे और उत्पात होता रहा। रावण ने कहा कि ठहरो! अब बात ऐसे नहीं बनेगी, आज मैं युद्ध करने जाऊँगा। वह राम तो एक–एक करके मार डालेगा। जब प्रहस्त मारा गया तब उसने ऐसे कहा था– नहीं नहीं! अब कोई नहीं जायेगा, मैं जाऊँगा। चला गया, अकेले युद्ध किया यद्यपि वह पराजित हुआ। उस दिन प्रभु श्रीराम ने उसे नहीं मारा, कहा– जाओ युद्ध की कला सीख के आना। वह असुर हो

करके भी कितना सावधान था जो कहता है कि अरे! एक–एक करके वह मारे जा रहा है, जब सब मारे ही जाएँगे तो फिर मैं रहकर क्या करूँगा। एक आसुरी प्रकृति का पुरुष जिसका कि आप नाम नहीं लेना चाहते हैं, कहता है– कहीं सैनिक न कह दें कि महाराज तो बैठे हैं और सारे लोग मारे जा रहे हैं। रावण कितना सजग है, कितना सजग है। वह जान गया कि खर–दूषण को ब्रह्म के सिवा कोई मार नहीं सकता, इतना सजग है। उस सजगता का परिणाम है कि उसने तीनों लोकों को पराजित किया था। आप इतने प्रमादी हैं कि एक–एक करके इन्द्रियाँ आपका साथ छोड़ रही हैं तो भी घोषणा नहीं कर पा रहे हैं, त्याग नहीं कर पा रहे हैं। कल के दिन रोग होने की संभावना है तो भी संन्यास फलित नहीं हो पा रहा है, व्यावहारिक संन्यास भी फलित नहीं हो पा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं व्यवहार के लिए आप जीते हैं, व्यवहार ही आपकी भूमि है। साधना कर रहे हैं और सुन लिया कि भाई के साथ दुर्घटना घट गयी और आप चल दिए, सुन लिया कि माँ बीमार हो गयी तो आप चल दिए– इससे सिद्ध होता है कि आप भगवान के लिए नहीं जी रहे हैं। एक आसुरी प्रकृति का साधक भी विचलित नहीं होता, लेकिन आप चल पड़ते हैं मित्र के लिए, भाई–बान्धव के लिए। निश्चितरूप से आप में निष्क्रियता है, संकल्प में विकल्प प्रतिपल प्रकट हो रहा है। इसलिए आप उपकर्ता हो नहीं सकते हैं। ब्रह्म महाकर्ता है तो क्या ब्रह्म की आत्मा मात्र द्रष्टा ही रहेगा? आपके माध्यम से भी तो बहुत कुछ करेगा वह। जब आपका तन, मन, वचन, हृदय भगवान के लिए हो जायेगा उस समय फिर वह जो महाकर्ता है, वह आपके लिए कर्ता बन जायेगा। एक तरफ जन्म–जन्म के आपके संस्कार हैं जो आप पर भारी पड़ चुके हैं, दूसरी तरफ आप हैं जो कि अकर्मण्यता के साथ जी रहे हैं। पहले समय को पकड़ा जाता है, सारे प्राणिपदार्थ समय के अन्तर्गत भ्रमण कर रहे हैं। आपके पास समय ही नहीं है! जितने भी वैज्ञानिक हुए, जितने भी ऋषि हुए उनके आप समय को देखें। समय से प्रसाद पाना है, समय से सोना है, उसके लिए चाहे कोई भी बलिदान देना हो, कोई भी कीमत चुकानी हो, वे चुकाते हैं। आपका बिखरा हुआ समय है। यदि समय आपके पकड़ में आ जाता है तो प्रकृति आपके पकड़ में आ जाती है। कम से कम जानें तो कि वह प्रारब्धरूप शत्रु कहाँ रहता है। समय का इतना प्रताप है कि जहाँ पर जिस अवस्था में जिस समय में काव्य निकलता है, महाराज शाम को उसी समय जाता है तभी वह काव्य प्रकट होता है। अतः समय को पकड़ें आप। संकल्प करके एकादशी व्रत करते हैं, संकल्प करके नवरात्रि व्रत करते हैं, बिना संकल्प के तो आप रह ही नहीं रहे हैं। हाँ, अन्तर इतना ही है कि वह संकल्प आपके प्रारब्ध का है, उस प्रारब्ध के संकल्प को आप अपना मान लेते हैं किन्तु यदि सद्गुरु के सिद्धान्त को लेकर संकल्प बनाते हैं, तो आप संकल्पवान हो जाते हैं।

महाराज कहता है– अरे! चौबीस घण्टे तो कम से कम दोषदर्शन मत करें आप सब। कोई साधक ऐसा आये जो सद्गुरु के पास कह दे कि दस दिन हो गये, किसी में दोषदर्शन यहाँ नहीं हुआ है। दस दिन यदि दोषदर्शन नहीं हुआ तो निश्चितरूप से वह महात्मा है, प्रभु उसके साथ हो गया है अब। अहिंसा को देखकर, सत्य का अनुपालन करते हुए देखकर बहुत से साधकों

ने महाराज का साथ छोड़ दिया कि मंच पर क्यों कहते हैं हमारी बात। दस दिन आप अपनी अहिंसा को देखें, अपने सत्य को देखें, अपने ब्रह्मचर्य को देखें, अपने त्याग को देखें, अनावश्यक आवश्यकता की तरफ कितना मन जाता है, इसको देखें। महाराज कहता है– **'जवानी रोती है जवान को देखकर, बुढ़ापा हँसती है बूढ़े को देखकर। अपने से रोज कहें आप– जवानी रोती है जवान की मूर्खता पर और बुढ़ापा हँसती है बूढ़े की मूर्खता पर'** कि वह अभी भी बाल–बच्चों के साथ ही है, जो धक्का दे रहे हैं, मारे जा रहे हैं, पिटाई करते जा रहे हैं, तो भी उन्हीं बाल–बच्चों के लिए तत्पर है, पूरा जीवन दाव पर लगा दिया है। बुढ़ापा जवान पर हँसती है कि देखो वह देख रहा है कि बुढ़ापे में क्या दशा होती है लेकिन फिर भी वह चेत नहीं रहा है, वैसे ही जवानी रोती है जवान की मूर्खता पर कि प्रभु ने सामर्थ्य दी है साधन–भजन करने की तो भी यह मुझे बेमोल बेच रहा है। (महाराज ने इस भाष्य में कहीं–कहीं 'बुढ़ापा' का प्रयोग जान बूझकर स्त्रीलिंग में किया है क्योंकि वहाँ 'बुढ़ापा' में 'अवस्था' छिपी हुई है।)

आप उपाध्यक्ष हो सकते हैं; क्योंकि जब परमाध्यक्ष ब्रह्म है तो आप उपाध्यक्ष हैं। आप स्वयं कहते हैं कि यह शरीर मेरा है तो अब कह दीजिए कि मेरा नहीं है। जो कहता है कि मेरा शरीर है उसे उपाध्यक्ष की उपाधि स्वयं से लेनी चाहिए। यदि आप कहते हैं कि सामर्थ्य नहीं है तो आप कह दें कि यह शरीर मेरा नहीं है। आपका एक–एक व्यवहार देखा जायेगा। जब आप कहते हैं कि यह मेरा शरीर है ये मेरे भाई–बान्धव हैं, तो फिर भगवान क्यों आपके पास आयेगा? जब आपके बहुत लोग हैं तो भगवान क्यों आपके लिए कुछ करने जायेगा? जब बुद्धि आपके पास है ही, बल है ही, तो भगवान क्यों होगा आपका? इसलिए अपनी चोरी को आप देखें, अपनी हिंसा को देखें, अपने क्षुद्र विचारों को देखें फिर भगवान की तरफ देखें। अतः सारांश यही है कि आप उपद्रष्टा होकर अर्जुन जैसा उपकर्ता भी हो जाएँ, रागी भले हों आप परन्तु सद्गुरु के पास अर्जुन जैसा विषादी बन जायँ। इसप्रकार जब आपका उपद्रष्टापना अर्जुन का उपकर्तापना बन जाता है, जब आपका विषाद महात्मा अर्जुन का विषाद बनता है तो आपके चिदाकाश में एक जेर निर्मित होता है जिस जेर में भगवान ब्रह्मविद्या को प्रकट करता है। वह आध्यात्मिक हुंकार, वह आह, वह वेदना, वह टीस जब पैदा होती है तो उसी में भगवान अहैतुकी कृपा करके ब्रह्मविद्या की स्थापना कर देता है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ

बाँसुरी रहस्योपाख्यान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इस श्रीमद्भगवद्गीतारूपी शास्त्र की भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ही आत्मा हैं, प्राण हैं, मन हैं, बुद्धि हैं, हृदय हैं, इतना ही क्यों कहा जाय वे तो स्वयं गीतामय ही हैं। सृष्टि में जितने भी आयुध हैं, अस्त्र–शस्त्र हैं वे सब अप्रकटरूप से इन्हीं में वास करते हैं। हाँ, प्रकटरूप में उनके दिव्य हाथों में दिव्य बाँसुरी शोभा देती रहती है; तो आयें इस जादूभरी बाँसुरी के गूढ़ात्मक रहस्य को भी समझते चलें।

इस भूमण्डल में जितने भी प्राणी हैं, वे ही अर्थात् सारे के सारे शरीर ही, सबमें रमण करनेवाले आत्मा (श्रीकृष्ण) की बाँसुरी हैं; जिन बाँसुरियों के साथ वे एक ही समय में, एक ही साथ, नानाप्रकार की रागिनियों के साथ गीत गा रहे हैं। यह वंशी उन्हीं के हाथों में है, उन्हीं के अधिकार में है और उन्हीं के होठों पर है अर्थात् उन्हीं की प्रेरणा से प्रेरित हो रही है। यह शरीररूपी बाँसुरी, जब वे सुषुप्तिरूप हो जाते हैं तो उन्हीं के सिरहाने रहती है अर्थात् उन्हीं में लीन रहती है तथा जब जाग्रत्मय होते हैं तो बाहर आकर हाथों में आ जाती है और वे अहर्निश इसे बजाते रहते हैं। कभी न वे (आत्मा अर्थात् श्रीकृष्ण) थकते हैं न बाँसुरी, दोनों एक–दूसरे के लिए समर्पित हैं। उनकी बाँसुरी के नाद को, राग की गति को गोप–गोपियाँ अर्थात् जितने भी सन्त–भक्त हैं, वे सुन–सुनकर ध्यानस्थ हो जाते हैं, मग्न होकर समाधिस्थ हो जाते हैं। वे किसी बाँसुरी से सामवेद गा रहे हैं तो किसी से ऋग्वेद, किसी से अथर्ववेद तो किसी मुरली से यजुर्वेद गा रहे हैं; किसी मुरली से पुराण गा रहे हैं तो किसी से शास्त्र, किसी से उपनिषद् गा रहे हैं तो किसी से रामायण। जब वे द्वापर में एक अलौकिक, परम दिव्यशरीररूप बाँसुरी से गीता गाने लगे तो अर्जुन नाम की बाँसुरी स्तब्ध रह गयी, भीष्मपितामह नाम की मुरली बेसुध हो गयी, युधिष्ठिर नाम की बाँसुरी आश्चर्यवत् हो गयी, संजय नाम की बाँसुरी धृतराष्ट्र नाम की बाँसुरी को धिक्कारने लगी और महाराज नाम की बाँसुरी प्रेम में आँसुओं की वर्षा करने लगी। कभी नृत्य करती तो कभी गाती, कभी ध्यानमग्न हो जाती तो कभी समाधिस्थ हो जाती, कभी आनन्दमय और कभी शान्तिमय हो जाती तो कभी आत्मानन्द, रामानन्द आदि नामक बाँसुरियों से कहती– सुनो–सुनो! कैसी मधुर तान है भगवान के मुरली की! क्या भैरवी गीत है! क्या ख्याल राग है– ऐसा कहते हुए आत्मविभोर होकर महाराज नामक मुरली गा उठती है 'मालगुंजी–राग' में–

मुरलिया बजाई, बजाई आज ऐसी।

ठिठुके से रह गये साधु संत सगरे, असुर नाग रह गये ठिठुके से मगरे।
ठिठुके से रह गये धनञ्जय को देखो, संजय की सुध–बुध बनी देखो कैसी।।
ठिठुके से रह गये भीष्म राग सुनके, देखो न दुर्योधना मन में तमके।
ठिठुके से रह गये धृतराष्ट्र सुनके, ज्ञानयोग गाई माधव ने जैसी।।
ठिठुके करण द्रोण युयुत्सु भी ठिठुका, दुर्योधना पर वह वीर भड़का।
सेना महत् देखो ठिठुकी सी रह गई, ठिठुकी सकल सृष्टि निर्गुण के जैसी।।
महाराज ठिठुका सकल शिष्य ठिठुके, सारे जगत से सदा से ये बिदुके।
महाराज माधव की ठिठुकन तो देखो, ठिठुकन है कैसी निराकार जैसी।।

सात सौ मंत्र (श्लोक) नहीं हैं इस गीतारूप गीत में बल्कि सात सौ रागिनियाँ हैं, जो और भी असंख्य रागिनियों को अलाप रही हैं। सात सौ रागिनियों में जितने भी शब्द हैं उतनी ही रागिनियाँ हैं, उतनी ही रागें हैं, उतनी ही मात्राएँ और उतने ही स्वर हैं। सात सौ मंत्रों (श्लोकों) में इक्कीस सौ शब्द हैं अर्थात् रागिनियाँ और राग हैं। भगवान व्यासरूपी बाँसुरी तो ब्रह्मसूत्र गाने लगी, गीतारूपी गीत को सुनकर। इस दिव्यगीत को सुनकर भगवान शुकदेवरूपी बाँसुरी समाधिस्थ हो गयी और समय आने पर महाराज परीक्षित नाम की बाँसुरी के पास इस गीत को उसी राग में गाने लगी। जब वह अलापती तो परीक्षित ध्यानमग्न हो जाते, फिर तो बाँसुरी (शुकदेव भगवान) कहती– सुनो राजन्! सुनो! अभी सातवाँ रोज नहीं हुआ। इस गीतारूपी गीत को भगवान शुकदेवरूपी बाँसुरी जब अपने ढंग से गाती है तो अट्ठासी हजार ऋषि ब्रह्मज्ञान के गीत गाने लगते हैं। आज महाराज नामक बाँसुरी भी इसे गाने का (लिखने का) प्रयत्न करने में लगी है। महाराज के सामने रामानन्द, आत्मानन्द आदि साधक भी गाने में लगे हैं; तो क्या करें, गाना ही चाहिए! शुकदेव भगवान नाम की बाँसुरी गा रही है परीक्षित नाम की बाँसुरी के पास; किन्तु उस बाँसुरी के जन्मदाता भगवान व्यास नाम की बाँसुरी अपना जन्म सार्थक समझ रही है और बार–बार श्रीमद्भागवत महापुराण में गाती है– शुक उवाच, शुक उवाच। इसप्रकार बार–बार 'शुक उवाच' कहकर मानो प्रणाम कर रही है। महात्मा अर्जुन ने जब यह गीत सुना तो झट से गाण्डीव उठा लिया हाथों में। पहले अर्जुन नामक बाँसुरी ने विषाद, शोक–सन्ताप नामक गीत गाया, अब गाण्डीव नामक बाँसुरी से जब वही बाँसुरी महाभारत युद्ध नामक गीत गाने लगी तो सारे रथी–महारथी आश्चर्यचकित रह गये। उसी गीतारूपी गीत को कलियुग में आद्यगुरु शंकराचार्य नामक बाँसुरी ने जब गाया तो बौद्धों के गीत फीके हो गये। उस समय सभी की सभी बाँसुरियाँ इन्हीं के गीत सुनने एवं गाने लगीं। यह बाँसुरी सात स्वरोंवाली है– दो कान, दो आँख, दो नाक, एक मुख। कभी इस बाँसुरी का सुनना ही गीत गाना है, कभी देखना ही गीत गाना है, कभी सूँघना ही गीत गाना है, कभी खाना ही गीत गाना है, तो कभी–कभी बोलना ही गीत गाना है। इस गीत को सुनकर सारी बाँसुरियाँ बौद्ध गीत गाना छोड़ दीं। मण्डन मिश्र नाम की बाँसुरी उस समय में बौद्ध बाँसुरियों में अग्रगण्य थी, परन्तु वह भी भगवान शंकराचार्य नाम की बाँसुरी से गाये हुए गीतारूपी गीत को जब गाने लगी, फिर तो क्या! फिर गूँज उठी भैरवी, हुंकार कर बैठा भैरव, सारा भारत पुनः गीतामय हो गया। जब उसी गीता

नामक गीत को परम प्रेम में भरकर शुद्ध सच्चिदानन्दमय परमहंस स्वामी श्री शिवानन्दजी तीर्थ (महाराज के गुरुदेव—गीताघाट बाबा सासाराम, बिहार) नामक बाँसुरी गाती है तो उस गीत का नाम होता है— 'गीता सुबोध', 'गीता तत्त्वबोध'; इतनी सुगम, इतनी सुगम कि सामान्य से सामान्य बाँसुरियाँ भी गा लें। जिस सासाराम, बक्सर, गया, पटना आदि की बाँसुरियाँ कर्मकाण्ड का गीत गाती थीं और अभिशप्त थीं, वे ही सारी की सारी मुरलियाँ गीता सुबोध एवं गीता तत्त्वबोधरूप गीत गाने लगीं और अभिशाप से मुक्त हो गईं। महाराज नाम की बाँसुरी ने तो उस गीत को अबतक वैसे का वैसा ही नहीं गा पाया। गुरुदेव नाम की बाँसुरी से जो जप, तप, ध्यान, समाधि, ज्ञान—विज्ञान, आहार—व्यवहार, विचार—आचाररूपी गीत प्रकाशित हुए, उन्हें अबतक महाराज नाम की बाँसुरी ने वैसे का वैसा नहीं गा पाया है; पर जो कुछ अंश यह बाँसुरी गा पा रही है, उसी में तुष्ट, पुष्ट एवं सन्तुष्ट भी है; किन्तु इसके गीत सभी को प्रिय लगने चाहियें, तब माना जायेगा कुछ गाना। जब इसी गीतारूपी गीत को प० पूज्य बाबा मस्तराम नाम की बाँसुरी (ऋषिकेश गंगा तट, हनुमान शिला) 'नैवनाशो निवासो वा, मस्तभाष्य—गीता, आत्मचिंतनम्, गीतागुह्यम' नामक राग में गाती है तो उत्तर भारत के साधु—समाज, साधक, सिद्ध, संत नामक बाँसुरियाँ आश्चर्यवत् गाने लगती हैं, आश्चर्यवत् देखने लगती हैं, आश्चर्यवत् सुनने लगती हैं और वहाँ की बहुत सी जनतारूपी बाँसुरियाँ तो उस बाँसुरी के गीत को समझ ही नहीं पातीं। इस गीतारूपी दिव्य राग को जब संत ज्ञानेश्वर महाराज (महाराष्ट्र) नामकी बाँसुरी 'ज्ञानेश्वरी' नामक राग से गाती है तो पूरा महाराष्ट्र झूम उठता है और साधक, भक्त उस राग को ही अपने लिये संजीवनी बूटी मान लेते हैं।

हाँ, तो इन सारी की सारी बाँसुरियों से अहर्निश गीत गाये जा रहे हैं, गोप—गोपी (संत—भक्त) मस्ती में मस्त हैं। संत—भक्त तो केवल इसका मधुरनाद मात्र देख रहे हैं, सुन रहे हैं; उन्हें वाणी द्वारा गाने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं— बस, सारी बाँसुरियों से भगवान गाये जा रहे हैं तो हम केवल इनकी सुनेंगे और इन्हें देखेंगे। कितने ही संत उनकी मुरली से बजते हुए, स्वर निकलते हुए गीत सुन तो रहे हैं, परन्तु देख नहीं पा रहे हैं; किन्तु कितने ही सुन भी रहे हैं और बाँसुरी को बजाते हुए भगवान श्रीकृष्ण (आत्मा) को देख भी रहे हैं। इसप्रकार जो देख भी रहे हैं और सुन भी रहे हैं, उनका उद्धार हो गया है; फिर—फिर वे जन्म—मृत्युरूप चक्र में नहीं आयेंगे, नहीं आयेंगे, नहीं आयेंगे।

प्रत्येक बाँसुरियों से प्रभु कुछ संदेश गा रहे हैं— वे पेड़रूप से गाते हैं कि मैं तो फल नहीं खाता, फल देता हूँ; वैसे ही हे बाँसुरियों! तुम सभी शुभ—अशुभ कर्मफलों को मत खाओ, बाँसुरी बजानेवाले भगवान को ही समर्पित कर दो; क्योंकि स्वयं भगवान कह रहे हैं, जिसे महाराज अपनी राग भूपाली में छन्द द्वारा गा रहा है—

यत्करोसि त्वं कुरु अर्पणम् मम

महतोस्मि हि पापपुण्यात् चापि, महतोस्मि तव कर्म धर्मात् चापि।
महतोस्मि तव काम क्रोधात् चापि, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

महतोऽस्मि तव लोभ मोहात् चापि, महतोऽस्मि तव राग द्वेषात्चापि।
महतोऽस्मि तव देहगेहात्चापि, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

महतोऽस्मि तव मातु पित्राऽपि चापि, महतोऽस्मि तव मित्र बन्धुभिः चाऽपि।
महतोऽस्मि तव सर्व स्वजनैर्चाऽपि, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

महतोऽस्मि तव मम अहम् मम अहम् मम, महतोऽस्मि तव त्वं तव त्वं तवाऽपि।
महतोऽस्मि तव बल दर्पात् चापि, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

महतोऽस्मि तव जप तपाद् चाऽपि, महतोऽस्मि तव ज्ञान ध्यानाद्चापि।
महाराज महतोऽस्मि तव जीवभावात्, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

करिस्यामि मुक्तं अनेनैव योगात्, तरिस्यसि तरिस्यसि संसार रोगात्।
सत्यं वदामि न किंचित् असत्यम्, अतः सर्व सर्वं कुरु अर्पणम् मम।।

इसीप्रकार वे गायरूप से गा रहे हैं कि दूध मैं नहीं पीता तुम सभी पीते हो, उसीप्रकार तुम्हारा जो सत्कर्म, दुष्कर्म है, सब भगवान के लिए है। पक्षीरूपी बाँसुरी से आत्माराम गा रहे हैं, सन्तों, साधकों, सिद्धों के लिये कि एक जगह मत रहना; शेर–चीतारूपी बाँसुरी से गा रहे हैं कि अनाप–शनाप मत खाओ, स्वाद मत लो, जो शरीर को उपयोगी हो, वही पदार्थ इसे दो; सर्परूप बाँसुरी से गा रहे हैं साधकों के लिये, सन्तों के लिये कि घर मत बनाना अपने लिए; नदीरूप बाँसुरी से गा रहे हैं कि चाहे जिसे भी अपने सद्गुणों को, संपत्ति को लेने देना, सभी तुम्हारे जीवन में जीने के अधिकारी हैं, सबके साथ समान व्यवहार करना, किसी से घृणा और प्रेम मत करना। इसप्रकार राग–द्वेष, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, निंदा–स्तुति में भी समान रहना, मौनी (मौन) हो जाना (यो न हृष्यति न द्वेष्टि.....भक्तिमान्यः स मे प्रियः– अ० १२–१७), इन अमृत धर्मों का पालन करना। फिर तो क्या! जिसप्रकार नदियाँ समुद्र में मिल रही हैं, वैसे ही तुम भी अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाओगे। वायुरूप बाँसुरी का गीत तो और भी विलक्षण है, वह संदेश देता है कि सबके घर में आना–जाना लेकिन किसी से कुछ मत लेना, तब तुम्हारी निर्मलता बनी रहेगी। निश्चय ही सारे लोग घेरे रहते हैं लेकिन प्राण निर्मोहता के साथ सबके शरीरों को छोड़ देता है, उसीप्रकार तुम्हारे शरीर को भी लोग घेरे रहेंगे, किंतु अन्तिम समय में तुम निर्मम, निर्मोही होकर प्राणों को छोड़ देना। प्राण शरीर को छोड़ता है तथा जीवात्मा प्राणों को छोड़ता है, छोड़ने का मतलब प्राणों से अनासक्त हो जाता है, प्राण जाये या रहे उसकी चिंता नहीं करता। वे सूर्यरूपी बाँसुरी से गा रहे हैं कि ऐसा कर्मरूपी गीत गाओ कि सभी तुम्हारे गीत के आश्रित हो जायें; समुद्ररूप बाँसुरी से गीत गा रहे हैं कि जिसप्रकार समुद्र हजारों–हजार नदियों के प्रवेश करनेपर भी अपनी मर्यादा में बना रहता है, उसीप्रकार तुम ऐसा ज्ञानमय तप करो, ज्ञानमय तप तपो कि सारे के सारे ऐश्वर्य, भोग तुम्हारे में विलीन हो जायें और तुम निर्विकारी तथा निराकारी बने रहो। पृथ्वीरूपी बाँसुरी से ऐसे दिव्य गीत गा रहे हैं कि सुनते ही बनता है। वे कह रहे हैं कि पृथ्वी पर अनेक दिव्य योगी, जपी–तपी, सिद्ध–संत, शूरवीर, सती, राजर्षि अवतरित हुए, किन्तु पृथ्वी ने किसी को भी स्वीकार नहीं किया; उसीप्रकार हे

जिज्ञासु! तुम इसी महात्यागरूपी गीत को गाने का प्रयास करो अथवा गाओ, तुम ऋद्धि–सिद्धि के प्रयास में मत रहो, क्योंकि तुम भी आत्मा ही हो और आत्मा का परमधर्म है 'त्याग'। बाहर से ऐश्वर्य–विभूतियों, ऋद्धि–सिद्धियों का त्याग करते–करते मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का त्याग करके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है; यही अवस्था परमपद है, परमनिर्वाण है। आकाशरूप बाँसुरी से तो वह गीत स्फुरित हो रहा है, जिसने सबका ज्ञानचक्षु ही खोल दिया है। वे (आत्माराम) गा रहे हैं कि आकाश सबका आश्रय है, सबके भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें, सर्वत्र विद्यमान है किन्तु वह किसी से भी लिपायमान नहीं है; यहाँ तक कि सम्पूर्ण घड़ों में है किन्तु घड़ों के टूटने–फूटने से वह टूटता–फूटता नहीं, कहीं आता–जाता नहीं। उसीप्रकार तुम भी सर्वत्र होने से, आकाश का भी आकाश होने से, आत्मा होने से सबके आश्रय हो और सबके भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें भी हो, किन्तु किसी भी आकृति के नष्ट होने से, परिवर्तित होने से, किसी भी शरीर के नष्ट–भ्रष्ट होने से, परिवर्तित होने से, तुम नष्ट–भ्रष्ट अथवा परिवर्तित नहीं होते हो। इसप्रकार सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ श्रीकृष्ण की बाँसुरी हैं और उनका नाद ही अनाहद नाद है, महानाद है। इसी अनाहद नाद को सुनते–सुनते साधक, सिद्ध, संत अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतः तुम ऐसी मधुर गीता गाओ कि लोग भी अपनी बाँसुरी से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप–त्यागरूप गीत गाने के लिए विवश हो जायें। श्रीरामरूपी बाँसुरी ने अहिंसाव्रत धारण कर रखा था, वे नीति–धर्म को गाये जा रहे थे, किन्तु शूर्पणखा की नाक–कान कटने पर उसी अहिंसा और नीति–धर्म को खर–दूषण नाम की बाँसुरी से उसकी आत्मा ने गाने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम दूत भेजा कि सीता को छोड़कर वह दण्डक वन से चला जाय– यही नाक–कान काटने का दण्ड है। अपनी बहन के नाक–कान को कटे देखकर तो राक्षस का हृदय अपनी नीति को भूल जाता है, वह तो तत्क्षण वैसे अपराधी को मार डालता है और उसकी सम्पत्ति का हरण कर लेता है; किंतु मारीच ने कहा था कि वह (राम) नीति–धर्म का पालन करता है, अतः खर–दूषण ने सोचा– 'क्या हम उससे नीति–धर्म में कम हैं? हम भी उससे बढ़कर नीति–धर्म और न्याय का पालन करेंगे।' प्रभु श्रीराम ने जब नहीं माना, तब वे स्वयं आकर कहने लगे– 'हम तुम्हें नहीं मारना चाहते, अपनी सुन्दरी सीता को देकर लौट जाओ। तुम्हारे जैसे सुन्दर गीतगायक को हम मारना नहीं चाहते, ऐसी हमें तुमसे प्रेरणा मिली है।' इसप्रकार ऐसा उनकी आत्मा ही कह रही है कि ये तो अवध्य हैं; किन्तु वे अपनी आत्मा के गीत को नहीं समझ पा रहे हैं और श्रीराम प्रभु ने ऐसी मधुर युद्धरूपी गीत की वर्षा कर दी कि सारे के सारे सर्प (राक्षस) उस गीत में बेसुध हो गये; फिर तो प्रभु ने उन सबको एकसाथ ग्रसन कर लिया। रावण ने भी मारीच से सुना था, दूतों से भी सुना था और धनुष यज्ञ में स्वयं भी देखा ही था कि 'सचमुच में राम का धर्मपालनरूपी गीत सबको प्रिय है। उसने बिना गुरु–आज्ञा के धनुष भी नहीं तोड़ा था, चाहे राजा जनक ने जितना भी कलंकित किया हो आवेश में वसुंधरा के राजा–महाराजाओं को, महावीरों को। लक्ष्मण तो आवेश में आ गये थे, किन्तु राम मुसकरा रहे थे। अतः मैं क्या, धर्म, त्याग तथा न्याय के पालन में उससे कहीं कम हूँ? जब उसने मेरी बहन को स्पर्श तक नहीं किया तो मैं भी उसकी सीता को स्पर्श तक नहीं करूँगा। राम ने पुष्प वाटिका में इसे प्रसन्न करके पाया था, तो मैं भी अशोक

वाटिका में ही इसे प्राप्त करूँगा।' उसने सोचा– 'यह नानाप्रकार के रंग–बिरंगे फूलों के पौधों को देखकर पुरुष से प्रेम करने लगती है।' अतः उसने भी वही गीत गाने का प्रयास किया और भगवती सीता को प्रसन्न करने लगा। उसने दिखा तो दिया कि वह अब पहलेवाली बाँसुरी (रावण) नहीं, जो चाहे जैसा गीत गाने लगती थी। उसने दिखा दिया कि अब मैं बलात्कारी नहीं, बल्कि राम से कहीं विशेष मर्यादित हूँ– राम ने तो कम से कम स्वयं से नहीं किन्तु लक्ष्मण से मेरी बहन की नाक–कान कटवा ही ली; पर मैं तो अपने भाइयों से भी सीता का स्पर्श नहीं कराता। अतः राम से कहीं विशेष धर्मपालक, न्यायकर्ता और मर्यादित हूँ अर्थात् उसकी आत्मा ने रावण नामक बाँसुरी से, श्रीराम नाम की बाँसुरी जैसा ही स्वर, ताल, मात्राओं, छन्दों, दिव्य राग–रागिनियों जैसा स्वर–ताल आदि निकालने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया; यह बात अलग है कि वह रावण नाम की बाँसुरी प्रभु जैसा गाने में असफल रही। श्रीराम तो बाली से क्षमा माँगते हैं और कहते हैं कि यदि आपको लगता हो कि मैंने आपके साथ धोखा किया है तो मैं आपको जीवित रखूँगा, किन्तु रावण यहीं चूक जाता है– वह विभीषण और अपने पुलस्त्य आदि पितामहों, पिताओं के कहने पर भी गलती नहीं मान रहा है अर्थात् श्रीरामरूपी बाँसुरी जैसा राग (गीत) वह रावण नामक बाँसुरी से नहीं गा सका। वहीं विभीषण नामक बाँसुरी से आत्मा ने श्रीराम जैसा गीत गा लिया, धर्मपत्नी को सीताजी की सेवा में (गुप्तरूप से) छोड़कर श्रीराम की शरण में आ गये। उन्होंने सोचा– 'श्रीराम ने अयोध्या छोड़ दी, मेरे दरवाजे आ गये, तो मुझे भी दरवाजे तक जाकर उन्हें स्वयं घर में लाना चाहिये।' विभीषण नामक बाँसुरी से जो गीत आत्माराम ने गाया वह भक्त समुदाय के लिये अनुकरणीय हो गया। भगवान को विभीषण नामकी बाँसुरी के गीत ऐसे प्रिय लगे कि उन्हें पूछना पड़ा–

खल मंडली बसहु दिनु राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती।।

(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

दुष्टों के बीच आप रहते हैं फिर भी भक्तधर्म को आपने पूरा कर लिया, यह कैसे हुआ? यह प्रश्न साधक और भक्तों के लिये भी है, इसका उत्तर उनके लिए जीवन जीने की कला है, इसका उत्तर तो सारी समस्याओं का समाधान ही है। तो देखें विभीषण क्या कहते हैं–

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन विश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम।।४६।।

(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला।।

विभीषण का यह आध्यात्मिक गीत प्रभु के मन को इतना भाया, इतना भाया, इतना प्रिय लगा कि अन्तिम चरण में जो वरदान दिया उन्हें, ऐसा वरदान किसी को नहीं मिला।

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।। ११६(घ)

(श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड)

अर्थात् निर्वाणपद को प्राप्त हो जाओगे। विभीषणजी आज भी गुप्तलंका में राजा हैं, ब्रह्मज्ञान और राजपद दोनों ही के साथ हैं और दिव्य दृष्टिवाले संत उस लंका को देख रहे हैं। इसप्रकार विभीषण नामकी बाँसुरी से आत्मा ने आध्यात्मिक गीत गाया कि दुष्टों के बीच में ही रहने का अवसर आये तो पलायन न करना; वह अपना कुसंस्कार है, अपने ही कुकर्मों का फल है, अतः उसे सहर्ष भोगते रहना और प्रभु नाम का गीत गाते रहना, दुःख को प्रायश्चित जान लेना। दुःख को भोगने में जीव परतन्त्र है और सुख का त्याग करने में स्वतन्त्र है (मस्तभाष्य)। जहाँ कामी, क्रोधी, लोभी, छली, कपटी, दम्भी, पाखण्डी ही अपने आस–पास (चारों तरफ) हों तो वही महापञ्चाग्नि का तापना है, उनका अत्याचार सहन करना ही कठोर चान्द्रायणव्रत है, कठोर अनशन है अथवा आमरण अनशन है, वही महात्याग है, महाप्रायश्चित है– यह जानना ही कर्मों की गति को जानना है। विभीषण भावुक ही नहीं विचारक भक्त हैं, यही कारण है कि विभीषण के होने से लंका का अस्तित्व है, जब विभीषण नहीं रहते तो कुछ दिन बाद रावण भी और उसकी प्रजा भी नहीं रहती। निश्चित ही मुख से जिह्वा को निकाल दिया जाय तो कोई जीवित नहीं रहता। जिह्वा जानती है कि ये सब दाँत बहुत जल्दी जायेंगे; क्योंकि कठोर हैं ये। जो जितना ही प्रतिकूलता में रहता है, वह उतना ही तन, मन, वचन और हृदय से शीघ्रातिशीघ्र पवित्र होता है। इसलिये विभीषण नामकी बाँसुरी से आत्मा ने जो गीत गाया है, वह आध्यात्मिक संदेश है। गृहस्थाश्रमी भक्तों के लिए दुःख से परिपूर्ण गृहस्थाश्रम है इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं, किन्तु सहन किया जाय प्रभु का स्मरण करते हुए तो भगवान आकर स्वयं सर्वस्व दे देंगे। इसप्रकार श्रीराम के त्यागरूपी गीत को विभीषण नामक बाँसुरी ने बखूबी गाया और भगवान ने प्रसन्न होकर सबकुछ दे दिया।

अपने शरीर, मन, वचन, हृदय से ऐसा दिव्य कर्मरूपी गीत भगवान अभी तक गाये जा रहे हैं कि प्रत्येक बाँसुरी का गीत कुछ संकेत ही दे रहा है। भरत नाम की बाँसुरी से तो भगवान ने पूरा का पूरा राम नाम की बाँसुरी का गीत गा दिया और भरत श्रीराम नामक बाँसुरी की छाया बन गये। प्रत्येक शरीररूपी बाँसुरी से ब्रह्म का गीत सन्देशात्मक है, सार्थक है, निरर्थक नहीं। विभीषण ने कहा कि एक रहस्य और है प्रभु! कि जिसप्रकार दाँतों के रहते वाणी स्पष्ट निकलती है, दाँतों के बिना जिह्वा लँगड़ी हो जाती है, इसलिये जिह्वा दाँतों की सफाई करती रहती है, एक भी कण फँस जाय तो बार–बार वहीं सफाई का प्रयास करती रहती है उसीप्रकार दुष्टों के द्वारा प्रतिकूल व्यवहार करने पर तो बिना प्रायश्चित किये प्रायश्चित होता रहता है। इसप्रकार सारे प्राणिपदार्थ ही अलौकिक बाँसुरी हैं और उनमें रमण करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं।

इसप्रकार श्रीकृष्ण और बाँसुरी का गूढ़ात्मक रहस्योपाख्यान पूर्ण हुआ।

ॐ

अथ प्रथमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

द्वापर बीत रहा है, कलियुग प्रवेश कर रहा है, इसी संधि–वेला में भगवान समष्टिरूप होना चाहते हैं। उनका लीलामय स्वरूप अब अन्तर्ध्यान होने को है। उन्होंने सोचा कि निर्गुण निराकारोपासक कहेंगे– प्रभु आये, परन्तु हमें तो कुछ दिया ही नहीं। अतः जाते–जाते इनके लिए एक परम दिव्यरूप की रचना करनी चाहिए। सच में साधक आस लगाये बैठे हुए थे। वे समझते थे– 'प्रभु अभी असुरों को मोहित करने में और भक्तों को दुलारने–पुचकारने में लगे हुए हैं। असुरों के दुर्व्यवहार से आहत हुए भक्तों को, उनकी (प्रभु की) पहले आवश्यकता थी। यही तो कारण है कि भगवान ने अपनी मधुर मानवोचित क्रीड़ा से उन्हें खूब संतुष्ट किया, अब हमें भी कृतार्थ करेंगे। महर्षि व्यासजी ने उनके पूर्वार्ध जीवन को भलीभाँति अंकित कर दिया है। महाभारत सगुणोपासक भक्तों की एक अलौकिक निधि है, जिसके पठन–पाठन, श्रवण–मनन, निदिध्यासन मात्र से वे प्रभुधाम–प्राप्ति के अधिकारी हो जायेंगे; पर हम साधकों के लिए, जो उनके अन्तर्यामीरूप की उपासना करते हैं, कुछ दिया ही नहीं; अतः अब हमें कृतार्थ करेंगे।' भगवान के दो स्वरूप हैं– 'चरित्र और सिद्धान्त।' चरित्र, भक्तों के द्वारा पठन–पाठन एवं गायन कर सगुणपद (सगुण ब्रह्म) पाने के लिए है और सिद्धान्त साधना के लिए अर्थात् ज्ञान, ध्यान, विज्ञान, जप, तप, योगादि के द्वारा कैवल्यपद पाने के लिए है। प्रभु ने साधकों, संतों, सिद्धों की भी सुनी और वे गीतारूप हो गये, ब्रह्मविद्यारूप हो गये, जिस अलौकिक गीताजी में तंत्र, मंत्र, योग, ज्ञान, विज्ञान सब समाये हुए हैं अर्थात् जिसके पठन–पाठन, चिन्तन–मनन से ही सम्पूर्ण योगों का, साधनाओं का, योग, जप, तप का फल प्राप्त हो जाता है।

महर्षि व्यासजी ने वनवासी शुकदेव तथा अन्यान्य दो–चार शिष्यों को वनप्रदेश में जप–तप के साथ शुद्धि–अशुद्धि का ध्यान रखते हुए, श्रीमद्भागवत सुनाया था। स्वयं भगवान शुकदेव ने भी निराहारी, गृहत्यागी, तपोनिष्ठ परीक्षित को श्रीमद्भागवत का पान कराया था। आज भी वही परम्परा है। कुलगुरु अपने शिष्यों को वैसे ही गुप्तरूप में (कान में) मंत्र देते हैं, जब शिष्य स्नान, ध्यान, उपवासमय रहता है; किन्तु प्रभु ने ऐसी आवश्यकता नहीं समझी। कलियुग अब सम्पूर्णता से हर पदार्थ में, हर क्रिया में, सारे आश्रमों में निर्बाधरूप से फैल जायेगा, अतः ऐसे विषमकाल को देखकर भगवान नारायण ने युद्ध के मैदान में राग–द्वेषमय चित्त की भूमि में, चमड़े की जूती पहने हुए, घोड़ों की चमड़े की रास पकड़े हुए, राजसी परिधानों एवं अलंकारों से अलंकृत, रथ पर खड़े–खड़े तथा वैसे ही शिष्य अर्जुन के बाह्य साधनोचित साधनों के अभाव

में अर्थात् कुशा, मृगचर्म, कम्बल आदि आसनों से रहित तथा सिले हुए परिधानों को पहने हुए को ब्रह्मविद्या का दान किया। अतः यह सिद्ध होता है कि इस गीतारूप ब्रह्मविद्या का किसी भी काल, अवस्था एवं चाहे जैसी भी शरीर, वस्त्र, भोजन की व्यवस्था हो, पाठ करना चाहिए। देवमंत्र, शक्तिमंत्र तो देश, काल, आसन, अशन, वसन तथा मंत्र शुद्धि, उच्चारण शुद्धि से ही सिद्ध होते हैं। इतना ही नहीं यदि उन देव एवं शक्ति मंत्रों की ऐसी व्यवस्था न की जाय तो विपरीत परिणाम भी मिलता है अर्थात् वे अपना ही अनिष्ट कर देते हैं; किन्तु गीतारूपी ब्रह्मशास्त्र के पठन–पाठन में भगवान ने श्रद्धा की माँग की है, प्रेम की माँग की है, भाव से पढ़ने की माँग की है, स्नान–ध्यान, जप, तप, योग के साथ पढ़ना, ऐसा नहीं कहा। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि स्नान–ध्यान की आवश्यकता ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि समय जब इतना ही है कि गीताजी का पाठ ही हो सकता है, तो उस अवस्था में शुद्धि–अशुद्धि, स्नान–ध्यान की चिन्ता न करें बल्कि श्रद्धा एवं भावपूर्वक पाठ करें।

कितने लोग गीताजी का पाठ करने में डरते हैं कि कहीं अशुद्धि न हो जाय, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि जो अशुद्धि को भी शुद्धि में बदलनेवाला है, वह अशुद्ध कैसे हो सकता है। यदि रोज प्रयास करें तो एक दिन गीताजी ही उन्हें पढ़ा देगी। महाराज के पास ऐसे भी साधक हैं, जिन्हें हिन्दी भी शुद्ध नहीं पढ़ने आती थी और वे आज अभ्यास के बल से शुद्ध गीताजी पढ़ते हैं। गीताजी के श्रद्धापूर्वक पाठ की तो बात ही अलग है। अरे! इसके तो दूसरों के द्वारा पाठ करनेपर एकमात्र सुनने से ही पुण्यवानों का लोक प्राप्त हो जाता है। प्रभु ने कहा है–

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।
गीता (अ० १८/७१)

अर्थात् जो नित्य श्रद्धा–प्रेमपूर्वक गीताजी को मात्र सुनता है, उसे भी मैं उसके शरीर छूटने पर उत्तमलोक देता हूँ। इससे सिद्ध होता है कि जो चाहे संस्कृत में पाठ करे या हिन्दी में पाठ करे, संस्कृत में सुने या हिन्दी में सुने, उसकी अकालमृत्यु नहीं होगी, अकालमृत्युयोग आदि जन्मकुण्डली में है तो समाप्त हो जायेगा; उसके लिए महामृत्युञ्जय आदि मंत्रों के जप करने–कराने की आवश्यकता नहीं है। यह बात अलग है कि गृहस्थाश्रम में मंत्र अनुष्ठान, यज्ञ, दान आदि तो समयानुसार होते ही रहना चाहिए; क्योंकि वहाँ तो देवयज्ञ भी विहित है अर्थात् अनिवार्य ही है।

ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए कि अठारह अध्याय में तो समय बहुत लग जायेगा इसलिए पाठ कैसे करें। अरे! भगवान कहाँ कहते हैं कि नित्यप्रति अठारह अध्याय का पाठ करें आप, पाठ तो आप कम से कम एक अध्याय, आधा अध्याय करने का समय निकाल लें और नित्य करें तो फल उतना ही मिलेगा जितना अठारह अध्याय करने का। वह क्या? यही कि आपका शरीर अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, शरीर पर पत्थर या पहाड़ गिरने पर तथा अस्त्र–शस्त्र से या जहर (विष) दिये जाने पर भी नहीं मरेगा। एक अध्याय का पाठ करने में तो मात्र पाँच मिनट

का समय लगता है। इसप्रकार अठारह दिन में सम्पूर्ण गीताजी का पाठ होता जायेगा। हररोज पाँच मिनट के लिए आपका और भगवान का गीताजी के माध्यम से सम्बन्ध होगा। इसकी महिमा को कहाँ तक कहा जाय।

एक डकैत को जिसने तीस साल लगातार लूट–पाट, डकैती, अपहरण किया, बहुतों का वध कर दिया, किन्तु गीताजी के प्रति अगाध प्रेम जब उसे हो गया तो कुछ साल तो वह मात्र उस ग्रन्थ को प्रणाम करता था और कुछ साल के बाद पाठ करने लगा। उसके उपरान्त तो आश्चर्यमय घटना घटी कि वह संन्यास लेकर घोर तपस्या करने लगा। महाराज ने उस डकैत को तथा उसके सम्पूर्ण जीवन को अपनी आँखों से देखा है।

हिमाचल प्रदेश के शिलाई क्षेत्र में कमरऊ गाँव के इन्दर सिंह के पिता जीवनपर्यन्त मांस खाये, शराब पीये। अस्सी साल की अवस्था में उन्होंने सद्गुरु के कहने से हिन्दी में गीताजी का पाठ करना शुरू किया। वे नित्य एक अध्याय का पाठ करते थे। महाराज उनकी मरणासन्न बहू को गीताजी बीस–पच्चीस दिन सुनाया, वे भी सुनते रहे। उसके चार–पाँच माह बाद उन्होंने दो महीने लगभग भोजन छोड़ दिया और प्रभु के स्मरण में आनन्दित होते रहे। अंतिम दिन भी जब वहाँ के सुशील शर्मा से गीताजी का पूरा पाठ सुन लिया, तब प्राण छूटा। उसीप्रकार इसी गाँव के चतरजी नित्य प्रति हिन्दी में गीताजी का पाठ बड़ी श्रद्धा से किया करते हैं, एक दिन कहा– गुरुदेव! अब पिताजी को भगवान के पास जाना चाहिए क्योंकि अब वे रहेंगे तो कष्ट पायेंगे। महाराज ने कहा– आप तो नित्य गीतापाठी हैं, प्रभु से प्रार्थना करें कि हे प्रभु! अब ले जायँ अपनी आत्मा को, अब कृपा करें! हे शरणागत रक्षक! अब इन्हें रास्ता दें। उन्होंने घर जाकर स्नान करके सूर्यनारायण भगवान को अर्घ्य (जलदान) दिया और कहा– हे प्रभो! अब मेरे पिताजी के लिए रास्ता और शरण दें। उस गीतापाठी के मात्र इतना ही कहने से, लगभग ढाई घंटे बाद उनके पिताजी के प्राण–पखेरू सहज में निकलकर प्रभुधाम को चले गये। भगवान ने सचमुच में रास्ता और शरण दोनों ही दे दी।

गीताजी का नित्य पाठ करनेवाले भक्तों ने तो इसमें भगवान के साथ–साथ सम्पूर्ण सिद्धियों को भी देखा है और देख भी रहे हैं। उन्हीं भक्तों में से वाराणसी में रहकर अध्यापन का काम करनेवाले भक्त सुदामाजी तो इसे सर्वरूप ही समझते हैं। जिसका प्रमाण है कि एक दिन वे बाल–बच्चों के साथ घर पर आधीरात के बाद लौटे। अन्धेरे में गलियों में चलते समय उनकी धर्मपत्नी के गले से जंजीर कब कहाँ गिर गयी वह जान नहीं पायी। कमरे में पहुँचने पर दोनों का गीता–रामायण का पाठ बाकी था अतः पाठ करने बैठ गये। उसी समय उनकी धर्मपत्नी निर्मला ने कहा– अरे! मेरे गले की जंजीर कहाँ गिर गयी। सुदामाजी ने सत्संग के माध्यम से उसे सान्त्वना दी लेकिन उसके मन को भारी होता देख अपने बेटे को साथ लेकर टार्च के प्रकाश में गीतापाठ करते हुए जंजीर ढूँढ़ने चल पड़े। उन्होंने सोचा– महाराजजी ने कहा है कि दशम अध्याय का पाठ करने से भगवान के साथ–साथ सम्पूर्ण देवी–देवताओं, तंत्र–मंत्रों एवं सम्पूर्ण यज्ञों की उपासना का फल मिल जाता है, अतः क्यों न दशम अध्याय का पाठ करता चलूँ। वे पाठ करते गये, करते गये और जहाँ इस अध्याय का पाठ समाप्त हुआ वहाँ पर बेटे से

कहा कि अब यहीं कहीं ढूँढ़ो। वे दोनों वहीं ढूँढ़ने लगे और ऐसा चमत्कार हुआ गीतापाठ का कि वहीं दीवार के किनारे खोयी हुई जंजीर मिल गयी। बेटे ने पूछा– पिताजी! यह क्या हुआ? क्या आपके पास कुछ सिद्धि है? यही बात धर्मपत्नी ने पूछा– यह कहाँ मिली और कैसे मिली? तब उन्होंने कहा– यह गीताजी में मिली तथा इसके पाठ करने से मिली। और भी वे यदा–कदा कुछ चमत्कार दिखाने लगे हैं, किसी बिच्छू के मारने से पीड़ित का विष उतार देते हैं, किसी का गीतापाठ से ज्वर दूर कर देते हैं, किसी का कुछ दुःख दूर करते हैं तो किसी का कुछ; किन्तु महाराज कहता है कि आप यह सब न करें, यदि चमत्कार दिखाना छोड़ देते हैं तो इसी गीताजी में ब्रह्मविद्या छिपी हुई है जो आपको वरण करना चाहती है, अतः एकमात्र उसी की चाहना करें।

यह गीता शास्त्र विषाद से प्रकट होता है। यह विश्व में पहला और अंतिम ग्रंथ है, जिसने अपनी आधारशिला विषाद को, शोक–संताप को बनाया। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग, ध्यानयोग, जपयोग इत्यादि बहुत से योगों का नाम तो सुना था और ग्रन्थों में पढ़ा भी था, किन्तु 'विषादयोग' न कहीं देखा है, न कहीं सुना है, न कहीं पढ़ा है। भौतिक शास्त्रों में भी गर्भाधान के समय माता–पिता को अति भक्तिभाव से युक्त होकर, प्रसन्न मन होकर, सुपुत्र की कामना से गर्भाधान करने का विधान बताया गया है। यह तो सर्वविदित ही है कि व्यासजी के सामने जिस माँ ने आँख बन्द कर ली, उसके गर्भ से अंधे धृतराष्ट्र हुए; जो अत्यन्त भय से भयभीत हो गयी, उससे पाण्डुरोग से ग्रसित पाण्डु हुए और जिस प्रसन्नवदनी ने उन्हें प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया उसके गर्भ से ही महामना धर्मात्मा विदुर प्रकट हुए। ठीक इसीप्रकार शिष्य जब अति जिज्ञासु होता है और उसकी आध्यात्मिक पिपासा अपनी सीमा लाँघ जाती है, तब सद्गुरु उसकी योग्यता को देखकर ब्रह्मविद्या दिया करता है, किन्तु यहाँ तो इन कारणों से सर्वथा विपरीत ही व्यवहार देखने में आ रहा है तो भी व्यासजी ने अर्जुन के विषाद को 'योग' की संज्ञा देकर उनके उस विषादमय स्वरूप को योगभूमि में स्थापित किया है। महात्मा युधिष्ठिर के द्यूतक्रीड़ा को भी ऐसे ही 'द्यूतयोग' नाम दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि उसका परिणाम हुआ कि सभी ने द्वारिकाधीश के दिव्य चमत्कार को देखा। वह क्या? यही कि भगवती द्रौपदी ने कहा, "हे द्वारिकाधीश! हे अन्तर्यामी! हे प्रभो! जितना आप द्वारिका में हैं, उतना ही आप हस्तिनापुर में भी हैं। अब प्रकट हों नाथ! लाज बचाएँ प्रभु! अपनी शरणागता की लाज बचाएँ!" इस आर्तनाद को सुनकर भगवान द्वारिकाधीश भगवती द्रौपदी की साड़ी ही बन गये। उसने यह सिद्ध कर दिया कि द्वारिकाधीश साक्षात् अन्तर्यामी नारायण ही हैं। भक्तों, संतों के विषाद में प्रभु का दिव्य स्वरूप छिपा रहता है, जो समयानुसार देखा भी जाता है। भक्त के विषाद में भगवान का वास है, भक्त के हँसने में भगवान का वास है, भक्त के खाने–पीने, सोने–जागने में भगवान का वास है, उसकी हर क्रिया में प्रभु का वास है। अतः उसकी हर प्रक्रिया में भगवान के होने के कारण ही उसके कर्म का 'भक्तियोग' नाम पड़ा है। इस न्याय से, 'भक्तियोग' कहें या 'भक्तयोग' कहें, बात दोनों एक ही है। अर्जुन के विषाद में भगवान प्रकट हो रहे हैं, तो द्रौपदी माँ की पुकार में भी भगवान प्रकट हो रहे हैं। जहाँ वसुदेव–देवकी के सत्यव्रत में भगवान प्रकट हो रहे हैं, वहीं माँ यशोदा एवं नन्दबाबा की गोभक्ति में भगवान प्रकट हो रहे

हैं। जहाँ भक्त सुदामा की गरीबी और महाराज जनक की अमीरी में भगवान प्रकट हो रहे हैं, वहीं महात्मा विदुर के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं, तो उनकी धर्मपत्नी के भाव में (भगवानभाव में) भगवान प्रकट हो रहे हैं। सूर्यवंशियों के धर्मग्रहण में भगवान वास करते हैं तो व्यास, पराशर, शुकदेव, अगस्त्य, अत्रि, शरभंग, शबरी, सुतीक्ष्ण, भरद्वाज आदि संतों के त्याग में भी भगवान प्रकट हो रहे हैं।

लोग पूछते हैं– भगवान, युधिष्ठिर के रथ पर क्यों नहीं बैठे, अर्जुन के रथ पर ही क्यों बैठे? इसके बहुत से उत्तर हैं, परन्तु उन सब उत्तरों में एक उत्तर तो दिया ही जा सकता है कि युधिष्ठिर को भगवान से बढ़कर 'सत्य बोलने में' प्रीति है और अर्जुन को भगवान से बढ़कर गुरुजी (द्रोणाचार्य) में प्रीति है, प्रमाण यह है–

जब युद्ध में धृष्टद्युम्न ने ध्यान में बैठे हुए द्रोणाचार्य का वध कर दिया तो अर्जुन ने भगवान की भी नहीं सुनी और वे धृष्टद्युम्न का वध करने की ठान लेते हैं। अंततोगत्वा धृष्टद्युम्न को माँ द्रौपदी के कक्ष में जाकर छिपना पड़ता है। वह उपाय भगवान ने ही बताया था। उधर भगवान ने द्रौपदी को सिखा–पढ़ा दिया कि आज जब अर्जुन धृष्टद्युम्न का वध करने आयें तो उन्हें धिक्कारते हुए अपने–आप की व्यथा सुनाने लगना, पूर्व में तुम्हारे साथ भरी सभा में जो घटना घटी है, उसे रोते–कलपते याद दिलाना, कर्ण, दुःशासन के दुर्वचनों को याद दिलाना इत्यादि इत्यादि। वैसा ही किया गया। अर्जुन के वहाँ पहुँचने पर द्रौपदी ने करुण क्रन्दन के साथ पूर्व की घटनाओं की याद करके विलाप करना शुरू किया। उस घोर रुदन पर महात्मा अर्जुन का क्रोध शान्त हुआ।

भगवान उनके जीवनरथ पर ही बैठता है जिनके जीवन में भगवान से बढ़कर सद्गुरु के प्रति विशेष आदर–मान है; जबकि महात्मा अर्जुन के द्रोणाचार्य सद्गुरु नहीं बल्कि गुरु हैं। द्रोणाचार्य के मन में अर्जुन के प्रति पुत्र से भी बढ़कर प्रीति का संकेत मिलता है। मोह और प्रेम अलग–अलग तत्त्व हैं। पुत्र से मोह होना अलग बात है, किन्तु प्रेम तो उसी से होता है जो अपने आराध्य को सर्वस्व अर्पण कर देता है। जिस ब्रह्मास्त्र का अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा को द्रोणाचार्य ने अधूरा ज्ञान दिया (वह ब्रह्मास्त्र छोड़ तो सकता था किन्तु लक्ष्य भेदने से पूर्व ही उसे लौटा नहीं सकता था और वह भी ब्रह्मास्त्र उसके अति हठ पूर्वक माँगने पर दिया गया था) उसी ब्रह्मास्त्र को अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन को उन्होंने अत्यन्त प्रेम में भरकर वात्सल्यमय हृदय से दिया था। भरी सभा में शौर्य प्रदर्शन के समय सबने राजा धृतराष्ट्र को अपने कुल–गोत्र आदि का परिचय देते हुए प्रणाम किया था, किन्तु महात्मा अर्जुन ने, "महान पराक्रमी, शूरवीरों में अग्रगण्य, सर्वदा अजेय, अपने गुरुदेव द्रोणाचार्य का शिष्य अर्जुन महाराज के चरणों में प्रणाम करता है" ऐसा कहा था। धृतराष्ट्र के पूछने पर कि वत्स! क्या तुम्हारे कुल–गोत्र का परिचय नहीं है? महात्मा अर्जुन ने कहा था– नहीं महाराज! शिष्य का गुरु ही परिचय होता है। इन कारणों से स्पष्ट होता है कि अर्जुन को गुरु से प्रिय भगवान भी नहीं हैं। स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने भगवान से रामचरितमानस में कहा–

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।।

(अयोध्याकाण्ड)

भगवान उसी के जीवनरथ पर बैठता है जिसने सद्गुरु को ही सगुण ब्रह्म के रूप में माना और जाना है। गुरु के प्रति भी ब्रह्मभाव रखने से जीवन में सद्गुरु मिल ही जाता है। अब अगले चरण में तो ये अर्जुन भगवान को आध्यात्मिक गुरु अर्थात् सद्गुरु ही बनानेवाले हैं। ऐसा जो विश्व के लिए विभूति है, वह महापुरुष भौतिक ज्ञान में ही पारंगत रहे, यह भगवान को कभी अभीष्ट नहीं है। भगवान स्वयं ही इन्हें ब्रह्मज्ञान देना चाहते हैं। उन्हें तो ब्रह्मज्ञान की लेशमात्र भी इच्छा नहीं है, किन्तु भक्ति का प्रताप ही ऐसा है कि गुरुभक्त के पीछे ब्रह्मविद्या दौड़ लगाती है। अर्जुन उन्हीं शिष्यों और भक्तों में से हैं। वैसे भी ये पुरातन नर नामक ऋषि हैं क्योंकि उन्होंने सहस्त्र कवच नामक राक्षस को मारने के लिए भगवान नारायण के साथ ही प्राचीन काल में बद्रीनाथ में घोर तप किया था। ये भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द स्वयं ही नारायण नाम के ऋषि हैं। दोनों ने ही एक साथ तप करते हुए, वरदान के अनुसार बारी–बारी से उसके नौ सौ निन्यानबे कवच को तोड़ डाला था। भगवान नर अंतिम कवच तोड़कर वध करना ही चाहते थे कि राक्षस भागकर भगवान सूर्य के शरणागत हो गया और मरने से बच गया। उसी सहस्त्रकवच नामक राक्षस को भगवान सूर्य ने तपोनिष्ठ, सदाचार से सम्पन्न माँ कुन्ती के गर्भ में कुँआरेपन में ही दे दिया। वही राक्षस यह कर्ण है, जो जन्म से उसी एक कवच के साथ जन्म लिया था, जिस कवच को इन्द्र ने छल से दान में माँग लिया था। अब ये ही 'नर' नामक ऋषि अर्जुन, भगवान के कहने पर इसका वध करेंगे।

अर्जुन का विषाद, इनका शोक–संताप, मानव मात्र के कल्याण के लिए है। भगवान की प्रेरणा से ही इन्हें विषाद है, अन्यथा ऐसे अवसर पर इन्हें मोह नहीं हो सकता था। सामान्य मोह परिणाम में दुःखद ही होता है, परन्तु इनका यह मोह–शोक परिणाम में महा अभ्युदयकारक बना। इसलिए इस धर्ममय विषाद को भी प्रणाम करना चाहिए। कितने लोग कहते हैं कि गीताजी दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होती हैं, परन्तु महाराज का कहना है कि गीताजी प्रथम अध्याय से ही प्रारम्भ हो जाती है। क्या प्रथम अध्याय में भगवान रथ पर आसीन नहीं थे? क्या अर्जुन की धर्मसंगत सारी बात उन्होंने ध्यान से नहीं सुनी? क्या उन्हें प्रभु ने सांत्वना नहीं दी? महल दिखाई देने से नींव की प्राथमिकता कोई कैसे भूलेगा! गर्भस्थ शिशु जेर में लिपटा रहता है, गर्भ में जेर ही प्रधान होता है और प्रथम अध्याय उसी जेर के समान है। अर्जुन का विषाद ही दिव्य जेर है, जो आदरणीय है। प्रत्येक साधक का भगवान के पास रोना ही जेर है, उसके रोने–कलपने, पुकारने में भगवान दौड़कर आता है। यह ब्रह्मविद्या आज भी 'विषादयोग' नामक जेर में लिपटी हुई है, किन्तु सबके सामने प्रकट नहीं होती। गीताजी संजय ने सुना, धृतराष्ट्र को सुनाया और भी लोगों ने सुना, किन्तु महात्मा अर्जुन को ही स्मृति प्राप्त हुई, औरों को नहीं। इससे सिद्ध होता है कि औरों के पास वह 'विषादयोग' नहीं था।

त्रेतायुग के उपरान्त कुछ काल के बाद सूर्यवंश गुप्त कर दिया गया और उसके गुप्त होते

ही ब्रह्मविद्या गृहस्थों के पास प्रकट होनी प्रायः बन्द ही हो गयी। भगवान सूर्य ने सूर्यवंशियों में ब्रह्मज्ञान का संचार किया तो भगवान श्रीकृष्ण (जो चन्द्रवंशी हैं) ने चन्द्रवंशियों को भी यह ब्रह्मविद्या प्रदान की। सूर्यवंशियों को भगवान के द्वारा गुप्त कर दिये जाने के उपरान्त कुछ काल तो मात्र वनवासी संतों के ही हृदय में यह ब्रह्मविद्यामयी भगवती प्रकट होती थी, गुरु–शिष्य परम्परा के अनुसार वहीं तक अर्थात् वनप्रदेश तक सीमित रह गयी थी; किन्तु अब भगवान ने पुनः सद्गृहस्थों पर भी कृपा कर दी है। उन्होंने देखा कि कलियुग में आश्रमसंकरता भी होगी; हाँ, किन्तु मात्र श्रद्धा और प्रेम के कारण ही प्रभु परम दया करके भक्तों को ब्रह्मविद्या से कृतार्थ करते रहेंगे।

कलियुग में बिना गीताजी को आत्मसात् किये कर्म न करना, ऐसा अर्जुन ने उपदेशात्मक व्यवहार किया है। पहले ज्ञान लेना फिर कर्म करना, पहले सिद्धान्त फिर प्रयोग। यदि सिद्धान्त की जानकारी भलीभाँति हो तो कर्म बाधक नहीं होगा। गृहस्थ आश्रम नित्य का एक युद्धक्षेत्र है। इसमें नित्यप्रति पिता को पुत्र से, पुत्र को पिता से, पत्नी को पति से, पति को पत्नी से, बेटे को माँ से, माँ को बेटे से, भाई को बहन से, बहन को भाई से तथा परिवार एवं समाज के हर क्षेत्र से युद्ध का अवसर आता ही रहता है। उस युद्ध की कला को सीखे बिना गृहस्थाश्रम स्वीकार नहीं करना चाहिए। इन सबसे युद्ध करने की कला–कुशलता गीताजी सिखाती है। भरत जैसे पुत्र को कैकेयी जैसी माँ से, विभीषण जैसे भाई को रावण जैसे भाई से, प्रह्लाद जैसे पुत्र को हिरण्यकशिपु जैसे पिता से, 'गोपियों को क्रूर, भगवान विरोधी धर्मपतियों से' युद्ध करना ही पड़ा है। कौन ऐसा है, जिसके सामने युद्ध का अवसर नहीं आता? ऐसा ही है तो बिना गीताजी के हाथ में आये, बिना इस विद्या को हृदयंगम किये शांति और संतोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए। गीताजी युद्धभूमि में प्रकट हुई, यह सिद्ध प्रमाण है कि यदि आपके हृदय में गीताजी का वास है तो आपको भी नित्य की युद्धभूमि में गीताजी प्रकट होकर कर्तव्य–अकर्तव्य, धर्म–अधर्म का बोध कराती रहेगी। गहरी नदी के पार जाने के लिए नौका चाहिए। यदि आप कहते हैं कि मैं तैरना जानता हूँ और आपके पास दस क्विन्टल चावल है, तब तो नौका चाहिए ही चाहिए। उसीप्रकार यह गृहस्थाश्रम भी एक महासागर है, अतः नौका तो चाहिए ही चाहिए। गीताजी वही नौका है, भगवान उसमें सद्गुरुरूप नाविक (मल्लाह) बने हुए हैं।

भगवान श्रीराम ने सुग्रीव और विभीषण दोनों को राज्य दिया, सुग्रीव ने सहर्ष स्वीकार कर लिया किन्तु विभीषण ने अस्वीकार कर दिया और कहा– हे नाथ! यह लंका ऐश्वर्य नहीं है यह तो महामाया है! अतः आप इसे न देकर अपने को ही दें! जिस सम्पत्ति को पाकर रावण पागल हो गया उसी सम्पत्ति को लेकर क्या मेरी भी वही दशा नहीं होगी? विभीषण के नट जाने पर भगवान को विशुद्ध भक्ति का वरदान देना पड़ा तथा आज्ञा भी दी कि आपका शरीर सिंहासन पर होगा किन्तु आपके हृदय में सदा मैं रहूँगा। आज भी उस दिव्य लंका में विभीषण तो हैं परन्तु माया ने उन्हें स्पर्श तक नहीं किया है।

गुरु, गीता, गंगा, गायत्री और गोमाता ये पाँच सद्गृहस्थों की आत्मा हैं, किन्तु गीताजी

में अन्य चारों का भी वास है। गीताजी को रखना, उसका सेवन करना, अन्य चारों की अपेक्षा अति सुगम है और आश्चर्य तो तब दिखाई पड़ता है, जब गीतापाठी के यहाँ अन्य चारों आत्मायें अपने–आप ही आ जाती हैं। धृतराष्ट्र ने भले ही शोक, मोह तथा दोषबुद्धि से ही गीताजी को सुना था, किन्तु महाभारत युद्धोपरान्त युधिष्ठिर को राज्य देकर स्वयं संन्यास ले लिया था। अतः ऐसा ही है तो 'उठें और आज से ही आप भी गीताजी को हाथ में ले लें तथा चाहे जितना हो सके पाठ करना प्रारम्भ कर दें।'

भगवान ही सबको प्रिय है। आपत्ति–विपत्ति में माता–पिता भी बाल बच्चों से भगवान को पुकारने को, याद करने को ही कहते हैं तथा बाल–बच्चे भी वृद्ध माता–पिता को भगवान का स्मरण करने को ही कहते हैं; अब हमारी चिन्ता मत करो– वे ऐसा कहते देखे जाते हैं। अतः ऐसा भगवान, जिसे सभी चाहते हैं, वही गीताजी में छिपा हुआ है। यदि विश्वास न हो तो पाठ करके देख लें। सभी तो ऐसा ही कहते हैं– थोड़ा चखकर तो देखो! खाकर तो देखो! सारे दुकानदारों को अपनी मिठाई दिखाने की नहीं, चखाने की पड़ी रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई वस्तु या पदार्थ देखने में प्रिय ही लगे; क्योंकि देखने में प्रिय नहीं लगने पर भी कोई–कोई खाद्यपदार्थ अति स्वादिष्ट होता है, ऐसा देखा जाता है। वैसे ही महाराज भी आग्रह करता है कि पहले नित्यप्रति गीताजी को प्रणाम करके पाठ करें, फिर विश्वास करना। परम पूज्य गुरुदेव ने सन् १९७६ में महाराज को वैसे ही गीताजी दी, जैसे सद्गुरुओं ने अपने–अपने प्रिय शिष्यों को अति प्रसन्नता में अपनी आध्यात्मिक शक्ति दी है। महाराज ने गुरुदेव से मना किया– गुरुदेव! पाठ में मन नहीं लगता है। गुरुदेव ने कहा– मेरी आज्ञा है, नित्य अर्थ के साथ एक अध्याय का पाठ करना। बस क्या! आज्ञा सुनते ही हृदय अति प्रसन्नता पूर्वक इस ब्रह्ममयी विद्या को गुरुदेव के हाथों से प्रसादरूप में ले लिया। पता क्या था कि इसी के माध्यम से गुरुदेव ब्रह्मविद्या ही दे रहे हैं। अतः महाराज आज इस ब्रह्मविद्यारूप प्रसाद से ही जपी, तपी, योगी, सिद्ध, संत बना फिरता है। कभी इसने कहा था– "दयानिधि हम पर दया करिये।" आज वही महाराज कह रहा है–

लागत नीको बलमा की बोलिया।

महाराज मन ठिठुकत बोलत, झिझिकत झिझिकत झिझिकत झिझिकत।
किंकर्तव्य विमूढ़ सो देखत, मोलत मोलत मोलत मोलिया।
(भजनावली)

पुनः आज वही महाराज कह रहा है–

ॐ ब्रह्म कथं कथ ब्रह्म कथं कथ, ब्रह्म कथं कथ ब्रह्म कथं कथ।
ॐ ब्रह्मित्थं इत्थं इत्थं, शृणु ब्रह्मित्थं इत्थं इत्थम्॥
(भजनावली)

महाराज जैसे अधम को 'जिसकी अधमता महाराज और सबका भगवान ही जानता है,'

उसे भी इस गीताजी ने अपना बना लिया यह भी एक आश्चर्य ही है और यही प्रमाण है कि आप तो निश्चित ही इसके प्रिय पात्र हैं।

युद्धभूमि का निर्धारण भगवान ने किया था। युद्ध कहाँ हो? भगवान ने कहा– वहाँ, जहाँ धर्मबुद्धि स्वाभाविक प्रकट हो और वह है कुरुक्षेत्र। इसीकारण से धृतराष्ट्र ने पूछा– धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? इसपर स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि क्या अधर्मभूमि भी होती है? हाँ, ऐसी कौन सी भूमि है जहाँ श्मशान न हो? किन्तु मात्र श्मशान होने से भूमि अधर्ममयी नहीं होती बल्कि श्मशान को तो तंत्रयोग साधना की सर्वश्रेष्ठ भूमियों में से एक श्रेष्ठभूमि माना तथा जाना जाता है। अधर्मभूमि की बात है, तभी तो दण्डकारण्य जैसे वन को शापित माना जाता था। वहाँ पशु–पक्षी भी नहीं जा सकते थे। उस प्रदेश को ही एक ऋषि ने शाप दे दिया था कि आज से तुम्हारे यहाँ, मनुष्य, पशु–पक्षी कोई नहीं रह पायेगा। अगस्त्य ऋषि ने श्रीराम प्रभु से कहा था– हे राम! यहाँ से कुछ ही दूरी पर शापित दण्डकवन है, उसे कृतार्थ करो। उस शाप को दूर करो जिससे वह अनाथ पड़ा है। तेरहवें वर्ष में प्रभु ने वहीं डेरा डाला था। उसके उपरान्त वहाँ का शाप दूर हो गया था। बिहार में मगध प्रदेश को भी अशुभ की ही संज्ञा दी गयी है। मानस में आया है–

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

अर्थात् मगध जैसे क्षेत्र में गया जैसे तीर्थ पाये जाते हैं। मालवा क्षेत्र में सब धर्मात्मा ही जन्म लेते हैं, ऐसा शास्त्रों में वर्णन है। कुछ वनप्रदेशों में चोर–लुटेरों, वनवासी कोल–भीलों का आतंक ही सर्वोपरि होता है, तो कोई वनप्रदेश सिद्धों, संतों, साधकों से भरपूर होता है, हिमालय तो तपोभूमि है ही। यद्यपि पूरा भारत धर्मभूमि ही है किन्तु पूरे भारत में आर्य जहाँ तक रहते थे, जहाँ तक उनका फैलाव था, वह विशेष धर्मभूमि कही जाती है। गान्धार (आज का अफगानिस्तान) से लेकर पूरा हिमालय, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, यहाँ आर्यों की विशेष उपस्थिति थी। कुरुक्षेत्र एक तो हस्तिनापुर के निकट था, दूसरा वहाँ प्रायः देवयज्ञ होते रहते थे, एक प्रकार से वह आर्यों की यज्ञस्थली ही थी। एक धर्मात्मा राजा कुरु ने भी वहाँ महान यज्ञ किया था, जिसके कारण से उसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ गया।

यह धर्मयुद्ध है, अतः भगवान ने धर्मभूमि की आवश्यकता समझी। उस भूमि का ऐसा प्रताप था कि वहाँ जाकर पापात्मा की बुद्धि भी धर्मयुक्त बुद्धि होती रही है। असुर जबतक धर्म से मोहित नहीं होते, तबतक उनपर विजय पाना कठिन सा होता है। दुर्योधन, शकुनि, कर्ण ये सब पूर्व के राक्षस ही हैं, जो मानवरूप में आये हुए हैं। अतः इस भूमि में धर्मनिर्णय को मान लेंगे और छल से मारे जायेंगे; क्योंकि ये सब छली और कपटी भी हैं। ऐसा ही देखा भी गया है कि उस भूमि पर पहुँचने पर भीष्म ने कहा कि मैं पाँचों पाण्डवों को नहीं मारूँगा। द्रोणाचार्य ने भी यही बात कही और यह भी कहा कि जबतक अश्वत्थामा जीवित रहता है, तभी तक मैं युद्ध करूँगा। कर्ण ने भी कह दिया कि अर्जुन को छोड़कर मैं अन्य चार पाण्डवों को नहीं मारूँगा। तो भी दुर्योधन

और शकुनि ने इस युद्ध को स्वीकार कर लिया, यह मोहित हुई बुद्धि का ही परिणाम था। भीष्म ने जो–जो नियम बनाये, उन नियमों को भी उनलोगों ने स्वीकार कर लिया। उन नियमों को स्वीकार कर लेने से ही अभिमन्यु संध्याकाल में मारा गया। यदि एक महारथी एक महारथी से ही युद्ध करेगा– यह नियम उस दिन युद्ध प्रारम्भ होते ही दुर्योधन ने तोड़ दिया होता तो अभिमन्यु दोपहर तक ही मारा जाता और शाम तक महाराज युधिष्ठिर, द्रोणाचार्य द्वारा बन्दी बना लिये जाते; क्योंकि उस दिन अर्जुन के अभाव में यही निर्णय किया गया था कि आज युधिष्ठिर को ही बन्दी बना लिया जाय, बस! विजयश्री प्राप्त हो जायेगी, किन्तु यह धर्मभूमि का ही प्रताप है कि अधर्मबुद्धि देर से आयी।

एक दिन रज्जु नामक अस्त्र (रज्वास्त्र) से संध्या समय कर्ण ने अर्जुन के दोनों हाथों को ध्वजा में बाँध दिया और तरकश से उस बाण को निकाला, जिससे उनका सिर धड़ से अलग करे, तबतक सूर्यास्त को देखकर बोला– जाओ कल युद्ध की कला सीखकर आना। इस घटना ने दुर्योधन को हतोत्साहित कर दिया। उसने कहा था– मित्र! हाथ आयी हुई विजयश्री को तुमने ऐसे ही छोड़ दिया! तब कर्ण ने कहा था– मित्र! संध्या हो गयी थी। दुर्योधन ने कहा– संध्या में ही तो तूने अभिमन्यु का वध करने में सहयोग किया था? तब कर्ण ने कहा– उस समय सेनापति द्रोणाचार्य थे, यह उनका निर्णय था अब मैं अपने सेनापतित्व काल में अधर्मयुद्ध नहीं कर सकता। उसकी वैसी धर्मबुद्धि होने में उस धर्मभूमि का भी प्रताप था।

धर्मभूमि, अधर्मभूमि, कर्मभूमि, भोगभूमि, प्रायश्चितभूमि आदि का प्रभाव तो पड़ता ही है। जैसे पूरा विदेश अर्थात् पाश्चात्य जगत भोगभूमि है। वहाँ कर्म कम करना होता है, परन्तु पाना विशेष होता है। वहीं धर्मभूमि (भारतवर्ष) में धर्म के साथ कर्म बहुत करना होता है, पर विषय कम पाना होता है। यहाँ भगवत्कर्म कम करना होता है अर्थात् साधना कम करनी होती है, परन्तु पाना विशेष होता है अर्थात् पाना भगवान होता है तथा यूरोप आदि में भगवत् धर्म जो भगवान के लिए होता है, वह होना ही नहीं है। भारतवर्ष में सम्पूर्ण कर्म भगवान के लिए करने का विधान है। खाना, पीना, सोना, जागना, मैथुन, नींद तथा खेलना–कूदना आदि सब भगवान की प्रसन्नता के लिए है परन्तु यूरोप में ये सब इन्द्रिय–सुख के लिए ही होता है। भगवान उनके लिए एक पहेली है तथा यहाँ भगवान ही सबका जीवन है। यहाँ भारतवर्ष में मौलिक सिद्धान्त है– जिसे महाराज के गुरुदेव प्रायः भक्तों के बीच कहा करते थे।

"अपने मन का हुआ तो अच्छा, और अपने मन का नहीं हुआ तो बहुत अच्छा क्योंकि भगवान के मन का हुआ," पर यूरोप में अपने मन का हुआ तो ही अच्छा अर्थात् अन्यथा हुआ तो सिर फोड़ लेंगे।

धृतराष्ट्र उसे कहते हैं जो राष्ट्र को धारण कर रहा हो, जिसके अधीन सम्पूर्ण राष्ट्र हो, जिसके अनुशासन में सारे लोग रहते हों। उस समय पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य और कर्ण के माध्यम से धृतराष्ट्र अति प्रभुता सम्पन्न हो रहे थे। इसप्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष को स्वाभाविक है कि जब भक्ति प्राप्त न हो, तो वह मद में अन्धा हो जाय। भक्तों ने कहा है कि

भगवान शक्ति बाद में दे, पहले भक्ति दे दे। विभीषण ने लंका को लेने से मना कर दिया; इसलिए कि माया की सामर्थ्य और माया के प्रताप को वे भलीभाँति जानते थे। अतः उन्होंने प्रभु श्रीराम से कहा कि हे प्रभु! जितना आप मेरे बाहर विद्यमान हैं, उतना ही आप मेरे भीतर (हृदय में) भी विद्यमान हों, इसके उपरान्त तो आपकी लंका मुझे स्वीकार है। प्रभु श्रीराम ने उनकी माँग को स्वीकार कर लिया और अव्यभिचारिणी भक्ति दे डाली। जो कुशल साधक होते हैं, वे पहले सिद्धि के लिये प्रयत्न नहीं करते बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति की कामना करते हैं, अनन्य भक्ति की कामना करते हैं। धृतराष्ट्र मानवमात्र के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जिन्होंने पुत्र, धन, मान–सम्मान को ही सर्वस्व मान लिया है, जो उस घेरे से बाहर नहीं जा पा रहे हैं। यहाँ अपने जीवन चरित्र की झाँकी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगी, यदि प्रथम अध्याय का अच्छीप्रकार से अवलोकन करें, अपने ही भीतर झाँकें, तो यह देखना होगा कि हमारे जीवन के रथ पर है कौन? धृतराष्ट्र के जीवनरथ पर उनका ही दुरात्मा पुत्र बैठ गया है। यद्यपि वे धर्मात्मा हैं, दुराचारी नहीं हैं लेकिन मोह, ममता, आसक्ति के घेरे में आने के कारण से उनके जीवन क्षेत्र में दुर्योधन ने भलीभाँति हस्तक्षेप कर दिया है। वे सबकुछ जानते हुए भी अनजान बने बैठे हैं। वहीं महात्मा युधिष्ठिरसहित पाँचों पाण्डवों के जीवनरथ पर भगवान बैठे हुए हैं। पाण्डवों ने अपने सत्य, आचार, विचार, व्यवहार से, समर्पण से भगवान को भलीभाँति अपना बना लिया है। पाण्डवों के सत्य के घेरे में भगवान हैं, तो धृतराष्ट्र के मोह, ममता, आसक्ति के घेरे में सामान्य धर्म है, जिसका कोई महत्त्व ही नहीं है, अर्थ ही नहीं है। वह धर्म निष्क्रिय सा प्रतीत होता है, जब वह चारों तरफ से अधर्म से ही घिरा होता है।

साधक को एकान्त में भलीभाँति चिन्तन करना है कि मेरे जीवनरथ पर कौन बैठा है। यह आर्यभूमि (भारतभूमि) ऐसी आध्यात्मिक भूमि है, जहाँ आप अकर्मण्य होकर नहीं बैठ सकते। 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' का तात्पर्य होता है कि आपका शरीर ऐसे क्षेत्र में जन्म लिया है, जहाँ पर धर्म में प्रतिष्ठित होकर ही कर्म को स्वीकार कर सकते हैं। यह आर्यभूमि ऐसी दिव्य भूमि है, जहाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए भी देवताओं को साक्षी मानकर जीवनसाथी (धर्मपत्नी/धर्मपति) को स्वीकार किया जाता है। गृहस्थाश्रम एक यज्ञशाला है। इस यज्ञशाला की भूमि में प्रवेश करने के पूर्व बहुत सी प्रतिज्ञाओं के साथ जीवनसाथी एक–दूसरे का आश्रय लेते हैं। निश्चितरूप से ये दोनों धर्ममय प्रतिज्ञा को ही साक्षी बनाते हैं, साथ–साथ देवता तो साक्षी होते ही हैं। इतना ही नहीं, वे दोनों अपनी आध्यात्मिक यात्रा को सम्पन्न करने के लिये अपने जीवनरथ पर सद्गुरु को ही बिठा लेते हैं। यहाँ आर्यभूमि में कुलगुरु और सद्गुरु ये दो होते हैं– कुलगुरु (पुरोहित) देवयज्ञ कराकर देवमार्ग प्रशस्त करते हैं, वहीं सद्गुरु ब्रह्ममार्ग के प्रदाता होते हैं। धृतराष्ट्र के पास भी कुलगुरु कृपाचार्य हैं, जिनकी गणना सद्गुरुओं में नहीं होती। उनके मन में यह अवधारणा अच्छीप्रकार घर कर गयी है कि राजा भगवान का प्रतिनिधि होता है। अतः धृतराष्ट्र के पुत्रों के अत्याचार को देखे जाने पर भी, जितना विरोध करना चाहिये, उतना विरोध वे नहीं कर पा रहे हैं। उधर धृतराष्ट्र आत्मजिज्ञासु नहीं हैं, इसलिये उन्हें सद्गुरु प्राप्त नहीं है। यद्यपि कृपाचार्य पाण्डवों एवं कौरवों दोनों के आचार्य थे, किन्तु पाण्डवों ने पहले धर्म को स्वीकार करके

तब कुलगुरु को स्वीकार किया था। जिसका परिणाम हुआ कि जब कुलगुरु कृपाचार्य ने धृतराष्ट्र के राग में राग अलापना प्रारम्भ किया तो पाण्डवों ने धौम्य ऋषि को सद्गुरु बना लिया और कुलगुरु कृपाचार्य से किसी भी प्रकार की मंत्रणा करना छोड़ दिया। महात्मा युधिष्ठिर ने भलीभाँति देख लिया था कि ये कृपाचार्य प्रकृति के गोपनीय रहस्यों को नहीं जानते, धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं जानते, उनका ज्ञान देवयज्ञ तक ही सीमित होकर रह गया है। जिसका परिणाम हुआ कि उन्हें धौम्य ऋषि जैसे आत्मज्ञानी गुरु के साथ–साथ भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द भी प्राप्त हो गये, जिन्होंने आध्यात्मिक पथ के साथ–साथ भौतिक पथ का भी प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा क्यों न हो, जब उन महात्माओं ने धर्मरक्षार्थ सामान्य औपचारिकता को त्याग दिया, सामान्य व्यवहार को त्याग दिया, तब भगवान उनके भगवान तो थे ही लेकिन सद्गुरु भी बन गये।

यदि कोई मानवी व्यवहार का परित्याग कर साधु व्यवहार को धारण करता है, तो उसमें भगवत्ता लायी जाती है। इसकारण उसके लिये सद्गुरु की व्यवस्था की जाती है। आप सबको भी इस पर विचार करना है कि कहीं धृतराष्ट्र की छाया तो आपके तन, मन, वचन, हृदय पर नहीं पड़ रही है? सन्यासाश्रमी साधकों को तो इसपर और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। कहीं परिवार के उनलोगों की छाया वहाँ तक तो नहीं पड़ रही है, जिनलोगों की छाया वहाँ पड़नी ही नहीं चाहिये? आपके हृदयरूपी खेत पर किसका प्रकाश पड़ रहा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि गृहस्थाश्रम का मोहरूपी वटवृक्ष इतना हृदय में फैल गया है कि उसकी छाया के कारण ही सद्गुरु द्वारा बोया हुआ ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूपी बीज आपके हृदयरूपी खेत में अंकुरित होकर ही रह जाता हो? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपके हृदयरूपी खेत में जातिभाव का वृक्ष, परिवारभाव का वृक्ष, देशभाव का वृक्ष इतना व्यापक हो चुका हो, जिससे सद्गुरु बीज बोना तो चाहता हो लेकिन आपके उन क्षुद्रभावरूपी वृक्षों को देखकर बीज न बो पा रहा हो? यदि ऐसा है तो पहले उन पेड़ों को ही भलीभाँति निकालना होगा। आप चाहें तो उनको निकाल सकते हैं। इस दिव्य गीतारूप शास्त्र में स्पष्ट लिखा हुआ है कि मोह, ममता और आसक्तिरूपी वृक्षों को आत्मचिंतन से उखाड़ फेंका जाता है तब जप, तप, योग उसके अन्य साधन बनते हैं, जिनसे आत्मबल मिलता है। इसप्रकार वे सारे के सारे दोष जाते रहते हैं, तब आपके लिये सद्गुरु, अध्यात्म और व्यवहार दोनों में सार्थक होता है। इस प्रथम अध्याय से अपनी चित्तवृत्तियों का भलीभाँति अवलोकन कर लिया जाता है कि वे वृत्तियाँ विशेष पाशविक या आसुरी हैं अथवा दैवी। यदि पाशविक एवं आसुरी ही हैं और बलाबल से सम्पन्न हैं, जिसके चलते आप कमजोर पड़ रहे हैं, तो वैसी स्थिति में अपने जीवनरथ पर सम्पूर्णता से सद्गुरु को ही बिठा लेना चाहिये अर्थात् सदा–सर्वदा उसी के घेरे में रहना चाहिये। आप नहीं देखते कि महात्मा अर्जुन के जीवनरथ पर साक्षात् भगवान नारायण ही बैठे हुए हैं, तो भी परिवार मोह की जड़ उनके हृदय में इतने गहरे में हो गयी है कि जब सामने भाई–बान्धव ही विपक्षी बनकर आते हैं तब उनका भगवान हृदय से निकल कर कहीं दूर चला जाता है। आप यह भी देखते हैं कि जब सामान्य पुरुष शरीर छोड़ता है तो उसके मोह और ममता की विशालता देखते बनती है। उससे बार–बार

कहने पर कि आप प्रभु को याद करें, तो भी उसे बाल–बच्चे ही याद आते हैं, भगवान याद नहीं आता। महाराज साधकों से भी कहता है कि निरन्तर आप जो चिन्तन कर रहे हैं, वही कालान्तर में आपके सामने प्रकट होगा। क्या प्रमाण है कि आपके जीवनरथ पर सद्गुरु ही बैठा हुआ है? इसकी अच्छीप्रकार खोज कर लेनी चाहिये।

ॐ मासपारायण, पहला विश्राम ॐ

अब आयें अपनी वेदना को देखने के लिये धृतराष्ट्र की वेदना को देखें।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

धृतराष्ट्र ने पूछा– संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? (क्या कर रहे हैं?)

संजय की आंतरिक (हृदय की) स्थिति– ओह! यह कैसा अविवेकी पुरुष है, जो पूछ रहा है कि मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने युद्धक्षेत्र में क्या किया? (कर रहे हैं?) इसे पूछना चाहिए था कि हे संजय! बताओ! ये मधुसूदन कहाँ बैठे हैं? उनकी मुद्रा कैसी है? वे कैसे शोभायमान हो रहे हैं? एक सारथि के रूप में उनकी चहल–पहल कैसी है? वे इस समय सबको कैसे निहार रहे हैं? अब वे क्या कर रहे हैं? तो ऐसा न कहकर, कह रहा है कि मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने युद्धक्षेत्र में क्या किया? (क्या कर रहे हैं?) धिक्कार है! ऐसे पुरुष को। किन्तु चलो, खेद न करो, इसी के कारण तो मुझे दिव्य दृष्टि से भगवान की मधुर लीला देखने का दिव्य अवसर प्राप्त हुआ है।

सञ्जय उवाच

दृष्टवा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत॥ २॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां दुप्रदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान।

सौभद्रौ द्रौपदेशश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

अन्ये च बहवः शुरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
प्रर्याप्तंत्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१३॥

हे राजन्! अब युवराज दुर्योधन पाण्डवों की व्यूहाकार खड़ी हुई सेना को देखकर आचार्य द्रोण के पास जाकर कह रहे हैं कि हे गुरुदेव! आप अब पाण्डवों की इस विशाल सेना को देख लें जिसे आपके ही बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहाकार रूप दिया गया है। इनकी सेना में महान धनुर्धर अर्जुन, सर्वश्रेष्ठ गदाधर भीम तथा इन्हींलोगों की तरह सामर्थ्यवान योद्धा युयुधान, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, अभिमन्यु, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सभी महारथी ही हैं। गुरुदेव! इनलोगों की तरह हमलोगों की सेना में आप, पितामहभीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा एवं अन्यान्य महारथी वीर हैं जो अपने जीवन को दाव पर लगाकर हमारे पक्ष से युद्ध करने को आतुर हैं। मैं समझता हूँ कि पितामह के द्वारा रक्षित हमारी सेना इनलोगों से सब प्रकार श्रेष्ठ एवं अजेय है जो भीम के द्वारा रक्षित सेना पर सुगमता से विजय प्राप्त कर लेगी। अतः मैं यह कहता हूँ कि आप अपने सभी महारथियों के साथ पितामहभीष्म के अनुसार ही कार्य करें। हे राजन्! ऐसा सुनकर पितामह (भीष्म) ने दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए सिंह की तरह गरजते हुए शंख फूँक दिया। अब देखें राजन्! एक साथ शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग आदि बज उठे। जिनका शब्द अति भयंकर हो गया है। (यद्यपि ये मंत्र भूतकाल की तरफ संकेत कर रहे हैं क्योंकि निश्चितरूप से किसी का संवाद सुनकर ही तो संजय, धृतराष्ट्र को सुना रहे हैं लेकिन

महाराज ने जानबूझकर इसका अर्थ वर्तमान में किया है।)

धृतराष्ट्र की आंतरिक (मनः) स्थिति– क्यों संजय! तुम पाण्डवों की ही सेना को देखकर दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास गये, ऐसा क्यों कह रहे हो? ऐसा क्यों नहीं कह रहे हो कि दोनों सेनाओं को देखकर दुर्योधन आचार्य के पास जाकर कुछ कहने लगे।

संजय– हे राजन्! वे अपनी सेना को क्यों देखेंगे? जिन्होंने अपनी सेना के मुख्य सेनापति से सुन लिया है कि मैं पाँचों पाण्डवों को नहीं मारूँगा, हाँ! सैनिकों को मारूँगा। अतः जिसके सेनापति भीष्मपितामह की ऐसी स्थिति है, वह अपनी सेना को क्या देखे? जिसके आचार्य द्रोण जैसे महारथी ने कह दिया हो कि मैं तभी तक युद्ध करूँगा, जबतक अश्वत्थामा मारा नहीं गया, वह अपनी सेना को क्या देखेगा। जिसके परम प्रिय मित्र कर्ण ने कह दिया हो कि अर्जुन को छोड़कर मैं अन्य चार पाण्डवों का वध नहीं करूँगा, वह अपनी सेना को क्या देखे?

धृतराष्ट्र– अच्छा! चलो अब आगे का हाल बताओ।

संजय– हे पृथ्वीनाथ! उन्होंने (दुर्योधन ने) पाण्डवों के पक्ष के महारथियों के तथा अपने पक्ष के महारथियों के नाम गिनाये तथा यह भी कह दिया कि 'भीम जैसे खब्बू से रक्षित सेना कितने दिन तक हमारी सेना के सामने टिक सकती है; क्योंकि हमारे सेनापति तो स्वयं वरदानी हैं, इन्हें तो इच्छामृत्यु का वर प्राप्त है, अश्वत्थामा भी अजेय हैं, आपकी तो बात ही क्या करनी है तथा कर्ण भी जन्म से ही अभेद्य कवच पहने हुए आये हैं।' किन्तु अभी देखें राजन्! पितामहभीष्म ने हृदय से घबराये हुए दुर्योधन को जानकर, सिंह की दहाड़ की तरह गर्जना करते हुए, बड़े उच्च स्वर से शंख फूँक दिया है। अरे! राजन्! यह आश्चर्य है! उनके सिंहनाद करते ही एक साथ ढोल, मृदंग, नगाड़े आदि वाद्य युद्धोन्मादी राग गाते हुए बज उठे।

धृतराष्ट्र की मनः स्थिति– आखिरकार युद्ध प्रारम्भ हो ही गया। (दुर्योधन को कोसते हुए) जा मूर्ख! अब युद्ध में उनका सामना कर। तुम्हें युद्ध की बहुत प्यास थी तो पाण्डव उस प्यास को अच्छी प्रकार बुझा देंगे। (प्रकट में होकर) हाँ संजय! तो अब क्या हो रहा है?

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥

(संजय प्रभु को दोनों हाथों से प्रणाम करते हुए आश्चर्य और हृदय के आह्लाद की अवस्था में, परम प्रेम से रोमांचित हो, अश्रुधारा के साथ कहना प्रारम्भ करते हैं) हे राजन्! अति मनोहर लगनेवाले सफेद घोड़ों से जुते हुए दिव्य रथ पर आसीन, पीताम्बर परिधान से सुसज्जित तथा कुण्डलाकार अलौकिक मुकुट पहने हुए एवं मन्द–मन्द मुसकान बिखेरते हुए, रथ पर ही घोड़ों की रास को पैरों से दबाकर, अपने दोनों हाथों से माधव ने पाञ्चजन्य नामक शंख को उठा लिया है। (संजय का बार–बार प्रभु को प्रणाम करते हुए अपने प्रेमाश्रुओं को पोंछना) हाँ तो हे पृथ्वीनाथ! एकबार पुनः भगवान नारायण ने चारों तरफ दृष्टि बिखेर दी है और अब क्या! ओह! शंख का भी क्या भाग्य है राजन्! मानो वे मात्र उसका चुम्बन ले रहे हों। देखें राजन्! मैं अब क्या

बताऊँ!

धृतराष्ट्र– नहीं! नहीं! बोलो! क्यों चुप हो गये?

संजय– हे भूपाल! शंख नहीं बज रहा।

धृतराष्ट्र ने पूछा– तो? संजय ने कहा– हनुमानजी का नाद गूँज रहा है। इस दिव्य रथ की ध्वजा पर भगवान की आत्मा, हनुमानजी की किलकारी के सामने सारे के सारे वाद्य फीके पड़ गये हैं। भगवान का शंख तो वेदमंत्र गा रहा है। हे राजन्! मैंने सुना था कि प्रभु के होठों पर जब बाँसुरी आती थी और जब ये उसमें प्रेमराग फूँकते थे तो गोपियाँ बेसुध हो दौड़ती हुई, आहें भरती हुई, उनके पास चली आती थीं और मैं अब अपनी आँखों से वही दृश्य देख रहा हूँ तथा हनुमानजी ने तो ताण्डवनृत्य सा दृश्य उपस्थित कर दिया है। एक तरफ प्रभु के शंखनाद पर नृत्य करना, दूसरी तरफ आकाश में किलकारी भरना, यह देखते ही बनता है। राजन्! वे बड़े सौभाग्यशाली हैं, जो इस झाँकी को इस समय देख रहे हैं। यहाँ सिद्ध, साधक, देवगण आदि आकाश मण्डल में खड़े हुए, प्रभु का स्वस्तिवाचन करते हुए केवल प्रणाम कर रहे हैं। इतना ही नहीं मैं देख रहा हूँ कि वनप्रदेश एवं हिमप्रदेश में सदा समाधि के दिव्य आनन्द का पान करनेवाले सिद्ध–संत अपनी समाधि त्याग, इस अलौकिक झाँकी को मात्र एकटक ठिठके से देखे जा रहे हैं। अपनी दिव्य दृष्टि से प्रभु की इस मधुर छटा को देखते हुए अघा नहीं रहे हैं।

धृतराष्ट्र की अन्तर्व्यथा– ऐसा कौन सा बड़ा पाप था जो व्यासजी ने मेरे बदले दिव्य दृष्टि संजय को दे दी। माँगा तो मैंने ही था। ओह! धिक्कार है, मेरे जीवन को, जो इस अलौकिक दृश्य को नहीं देख पा रहा हूँ। हार–जीत तो पता है ही वह तो बाद की बात है, पर कम से कम इस दिव्य झाँकी का तो दर्शन मैं कर ही लेता। (प्रकट में होकर) अच्छा संजय! अब आगे बढ़ो।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

संजय– हाँ तो राजन्! पञ्चजन नामक राक्षस को मारकर प्राप्त हुए पाञ्चजन्य नामक शंख से भगवान श्रीकृष्ण ने और देवताओं द्वारा दिये हुए शंख से महात्मा अर्जुन ने घोर नाद किया है, साथ ही अनन्त विजय नामक शंख से युधिष्ठिर ने तथा पौण्ड्र नामक राक्षस को मारकर प्राप्त हुए शंख से पराक्रमी भीम ने, सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख से नकुल तथा सहदेव ने साथ ही साथ भयंकर धनुषवाले काशिराज, धृष्टद्युम्न, विराट, राजा द्रुपद एवं महाबाहु सुभद्रा–पुत्र अभिमन्यु ने भी हर्ष के साथ शंख फूँक दिया है।

धृतराष्ट्र की अन्तर्व्यथा– इसने तो इन महारथियों की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। अरे! भगवान की बात तो अलग थी, इनकी गाथा क्या गानी?

संजय ने यह दुर्भावना जान ली (भाँप ली) और मन ही मन कहा– तुम्हारे जैसे भीतर–बाहर से अंधे से तो सही बात कहनी ही पड़ेगी, शायद इस दृश्य को सुनकर भी तुम्हारे मन में कुछ मानवता जाग जाय और तुम भगवान के शरणागत हो जाओ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
पवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनायोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

हे राजन्! ये क्या! जहाँ शंखनाद हो चुका है, युद्ध प्रारम्भ का बिगुल बज गया है वहाँ हनुमानजी की ध्वजावाले महात्मा अर्जुन अपने स्वजनों को देखकर हृषीकेश से कह रहे हैं कि हे अच्युत्! पहले आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले चलें, जिससे मैं देख सकूँ कि मूर्ख दुर्योधन का हित चाहनेवाले युद्ध की इच्छा से आये हुए महारथियों में मुझे किन–किन के साथ युद्ध करना है।

भगवान की दयालुता रूक न सकी। जब आकाश में सम्पूर्ण सिद्धों को, देवता, गंधर्व, किन्नरों को तथा अलौकिक शक्तियों को दर्शन करते भगवान ने देखा तो हृदय दयार्द्र हो उठा, मानव मात्र के लिए दया का सागर उमड़ पड़ा। भगवान ने अर्जुन की तरफ होकर उनकी आँखों में दया भरी दृष्टि से देखा जिससे अर्जुन के मन में भी दया, करुणा आदि भाव प्रकट हो गये। भगवान को कुछ देना होता है तो वह किसी को भी निमित्त बनाता है। प्रभु का 'ब्रह्मविद्यारूप दूध' उनके

वात्सल्यमय हृदय से छलकने लगा। प्रभु अब उसे रोक नहीं पा रहे हैं। उसी समय प्रभुप्रेरणा से अर्जुन की दशा कुछ और हो गयी और वे कह बैठे– हे माधव! इस रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले चलें, जिससे मैं देख लूँ कि किन–किन महारथियों से मेरे लिए युद्ध करना योग्य होगा।

अर्जुन के माध्यम से ही भगवान सबको दर्शन देना चाहते हैं। अतः कहा– अच्छा! आओ! चलो देख लेते हैं।

"जहाँ बाण की वर्षा होनी थी, वहाँ प्रभु–दर्शन की बरसात होने लगी।"

दुर्योधन ने कहा– पितामह! अब देर क्या है?

पितामह ने कहा– अभी तक अर्जुन ने मुझे तथा द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य आदि गुरुजनों को बाण से प्रणाम नहीं किया है, यह पाण्डवों की आदर्श परम्परा है, फिर अर्जुन तो इधर ही आ रहा है। हो सकता है, वह हम सबसे कुछ कहना भी चाहता है। अरे! देखो तो! रथ पर दोनों हाथों से हम सभी गुरुजनों को प्रणाम करते हुए अर्जुन आगे बढ़ गया। तुम अपनी जगह जाओ, वत्स! समय की प्रतीक्षा करो। अब तुम्हारी आज्ञा से नहीं मेरी आज्ञा से युद्ध प्रारम्भ होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥२६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तोयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥२८॥

हे राजन्! निद्राविजयी अर्जुन के द्वारा ऐसा कहने पर भगवान नारायण ने अपने दिव्य रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कर दिया है, जहाँ से पितामह, गुरुदेव द्रोण, कृपाचार्य आदि सभी दीख रहे हैं। भगवान कह रहे हैं कि लो इन्हें भरपेट देख लो। वहाँ अर्जुन अपने ताऊ–चाचों को, दादा–परदादों को, गुरुओं, मामाओं, पुत्रों–पौत्रों को मित्रों को, ससुरों एवं सुहृदों को देख रहे हैं। अरे! ये देखें राजन्! अपने स्वजनों को देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त

करुणामय हो गये हैं और शोक करते हुए व्यथित हृदय से भगवान से कहने लगे हैं...।

संजय– हे राजन्! एक बात तो देखने ही योग्य है। दोनों ही पक्ष के लोग इस नर–नारायण की जोड़ी को बड़े आदर और प्रेम से निहार रहे हैं। मानो इन्हें हृदय में अति संतुष्टि प्राप्त हो रही हो। सारी सेना में स्तब्धता है राजन्! इतना मौन, इतना मौन कि यदि आकाश से कोई छोटा सा तिनका भी गिरे तो आवाज हो जाय। अर्जुन ध्वजा को पकड़े हुए बड़े प्यार और आदर से निहारते हुए जा रहे हैं तथा भगवान सबको दया दृष्टि से देखते हुए जा रहे हैं। इस छोर से उस छोर तक जाकर अब पुनः लौट रहे हैं। हाँ, तो हे राजन्! अब दोनों सेनाओं के मध्य में भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने रथ को सहसा रोक दिया है।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुष्ट शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥२९॥

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥३१॥

अरे! ये क्या? महात्मा अर्जुन के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उनका हृदय दयार्द्र हो उठा। अपने गुरुजनों के विपक्ष में खड़े होते अपने को देख तथा स्वजनों को विपक्षी होते देख, इस महात्मा का हृदय रो रहा है। हे राजन्! शुद्ध सात्त्विक मोह ने उनके तन, मन, वचन, हृदय को झकझोर दिया है।

धृतराष्ट्र को भी आन्तरिक मोह होना और पूछना– देखो! देखो! संजय! मेरा पुत्र अर्जुन इतना विह्वल क्यों हो गया?

संजय– हाँ राजन्! भगवान श्रीकृष्ण ने उठकर कंधे पर हाथ रख दिया है और बड़े प्यार से सिर के पिछले भाग को सहलाते हुए पूछ रहे हैं– क्या हो गया पार्थ! क्या हो गया? बोलो. .... बोलो..... क्या हो गया? यह कैसी दशा हो रही है?

अर्जुन ने कहा– कैसे बोलूँ माधव! कैसे बोलूँ? स्वजनों को देखकर मेरा मुँह तो सूखा जा रहा है, त्वचा अति जल रही है, रोम–रोम से पसीना आ रहा है तथा अति भय के अवसर पर होनेवाला रोमांच भी हो रहा है और शरीर काँप रहा है। अब तो मैं खड़ा भी नहीं हो पा रहा हूँ, केशव! (भगवान का उन्हें धीरे से रथ के पिछले भाग में बैठो–बैठो कहकर बैठाना)

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पोत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥

अर्जुन का रोते हुए भगवान की आँखों में झाँककर कहना– ये लो! अब तो हे गोविन्द! गाण्डीव को उठाने की सामर्थ्य भी मेरे हाथों में नहीं रही। हे माधव! ये सारे शरीर में विपरीत लक्षण अशुभ की सूचना दे रहे हैं और यह अशुभ हम दोनों पक्षों के लिए है, न कि किसी एक के लिए। नहीं..... नहीं..... हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं चाहता, विजय नहीं चाहता; हस्तिनापुर की तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकी का भी साम्राज्य नहीं चाहता। हे केशव! युद्ध का परिणामरूप फल होता है कि विजेता उस विजयश्री का उपभोग करे, परन्तु जिनके लिए हम युद्ध करने जा रहे हैं, वे ही तो भाई–बान्धव, पुत्र–पौत्र तथा गुरुजन सामने खड़े हैं। मेरी दृष्टि में तो यह 'स्वजन–संहार' ब्रह्म–संहार के बराबर है।

भगवान का मन ही मन हँसते हुए ये कहना कि तुम भले ही अपने बाल–बच्चों की समृद्धि के लिए युद्ध करने आये थे, पर मैं तो धर्म की स्थापना के लिए युद्ध करने आया हूँ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रदोहे च पातकम्॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥४१॥

संङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४७॥

मरे हुए को क्या मारना, क्योंकि इससे तो पाप ही लगता है माधव! ये सब तो पहले ही शास्त्र के अनुसार मरे हुए हैं। शास्त्र में चौदह प्रकार के पुरुष मरे हुए माने जाते हैं और उन चौदहों में ये सब आते ही हैं, फिर इन आततायियों से क्या युद्ध करना? मैं तो नहीं समझता कि इनमें कोई जीवित भी बचेगा। वह प्रलयंकारी दृश्य तो अभी दीख रहा है, जिसके कर्ता हम ही होंगे। हे प्रभो! मूर्खों की संगोष्ठी में तथा बालकों की सभा में बुद्धिमान नहीं जाते। ये तो स्पष्ट ही मूर्खराज दीख रहे हैं, फिर हम बुद्धिमानों को इनके साथ मूर्खता क्यों करनी? अहो! निश्चितरूप से इस युद्धरूप विप्लव में हजारों–हजार स्त्रियाँ विधवा हो जायेंगी और उस अवस्थावाली नारियों में पराये पुरुष की कामना होगी तथा उस कामना से वर्णसंकर उत्पन्न होंगे और वर्णसंकरता के बढ़ने पर हमारे पितरों का पतन हो जायेगा। उस अवस्था में क्या पितर हमें क्षमा करेंगे? क्या हमें सुख–शांति मिलेगी? नहीं माधव! नहीं! इस बड़े भारी पाप से हमें बचा लें। हमें न राज्य चाहिए न ऐसा सुख चाहिए। यदि ये युद्ध करना चाहते हैं, तो मैं अवसर नहीं दूँगा, मैं युद्ध नहीं करूँगा।

संजय ने कहा हे राजन्! आश्चर्य है! आश्चर्य है! महात्मा अर्जुन ने धनुष–बाण को रथ से बाहर फेंक दिया है और शोक–संतप्त हृदय से रथ पर बैठे के बैठे रह गये हैं।

धृतराष्ट्र– देखा संजय! मैंने सैकड़ों बार कहा है कि ये महात्मा पुत्र हैं, इनके रक्त में सद्भाव है। मुझे तो कभी भी अपने पुत्रों पर उतना भरोसा नहीं था जितना कि इनपर। बात तो स्पष्ट है कि यदि एक भाई मूर्खता करे तो दूसरा भी क्या वैसा ही करेगा? फिर अर्जुन ने जो आज वर्णसंकरता की बात की है, पितरों के पतन की बात की है, मैं समझता हूँ कि अब युद्ध होगा ही नहीं, संकट टल गया; क्योंकि जो तर्क मेरे धर्मात्मा पुत्र ने दिये हैं, वे तो शास्त्रीय तर्क हैं। इसकी काट तो भगवान के पास भी नहीं है, क्योंकि शास्त्र की मर्यादा का वे विरोध नहीं कर सकते। क्यों संजय! यह धर्मसंगत बात तुम्हें भी तो खूब भायी होगी। बोलो..... अब क्यों मौन

हो गये?

संजय– हाँ राजन्! मौन नहीं हूँ। भगवान की प्रतिक्रिया देख रहा हूँ।

इस अध्याय की झाँकी को देखते बनता है– एक तरफ विद्वानों का जमघट है तो दूसरी तरफ धर्मात्माओं का, एक तरफ पितामह भीष्म जैसा वेदज्ञ है, कृपाचार्य जैसा विद्वान है, शास्त्रों–पुराणों का ज्ञाता है, द्रोणाचार्य जैसा धनुर्वेदी है तो दूसरी तरफ महात्मा युधिष्ठिर जैसा सत्यवादी है, भीम जैसा महाबली है, अर्जुन जैसा धनुर्धारी है, नकुल एवं सहदेव जैसे अपने भाइयों का अनुगमन करनेवाले महात्मा हैं लेकिन दोनों के मध्य में भगवान श्री कृष्णचन्द्रआनन्दकन्द हैं, चाहे भले ही वे महात्मा अर्जुन के रथ पर ही क्यों न बैठे हों। बड़ी विलक्षण बात है कि जो जाननेवाले हैं, जो कहते हैं कि हम जानते हैं वे ही मूर्खों की गणना में आ गये हैं, उनकी गिनती मूर्खों में हो रही है। जानने का अहंकार बड़ा घातक होता है। 'मैं जानता हूँ' यह भाव अपने–आप में सम्पूर्ण दोषों को देनेवाला है। न जाननेवाले मूर्ख कैसे कह देते हैं कि मैं जानता हूँ! पहले अपने पिता को मान लेते हैं फिर कहते हैं भगवान को जानते हैं। पहले वे माँ के हो जाते हैं, भगवान को जानते ही नहीं और कहते हैं कि हम भगवान को जानते हैं। पहले वे भाई–बान्धवों के हो जाते हैं और कहते हैं– हम भगवान को जानते हैं। कभी किसी भी काल में ऐसा तो हुआ ही नहीं कि कोई माता, पिता एवं स्वजनों का होकर तब भगवान का हुआ हो। भीष्म जैसा महारथी, वेदज्ञ पूरी तरह से शान्तनु का हो चुका है और मूर्खों की सभा में बैठकर भगवान का विपक्षी बन गया है, यह जानते हुए भी कि मैं पापात्माओं के साथ खड़ा हूँ। उसे जानना चाहिए था कि यदि इस समय शान्तनु रहते तो क्या ऐसा ही कहते? लेकिन पितृभक्त श्रवण की कहानी भी तो है जो कि उन्होंने सुन रखी है किन्तु वही पितृभक्त श्रवण राजा दशरथ के बाणों से मारा गया। धर्मपत्नी से युद्धकर, उसको त्यागकर माता–पिता को कन्धे पर लेकर तीर्थ–यात्रा को चल पड़ा पितृभक्त बनने के लिए और आज भी लोग दुहाई देते हैं श्रवण कुमार की लेकिन दुहाई देनेवालों को समझना चाहिये कि वे ये भी कहें कि वे (श्रवण कुमार) भगवान के सम्पूर्णता से नहीं थे तभी तो बाणों से मारे गये। जो भगवान का होता है वह बाणों से नहीं मारा जाता, उसे अग्नि से कोई मार नहीं सकता जलाकर, उसे जल में डुबो नहीं सकता कोई, भूकम्प आदि में धराशायी नहीं हो सकता वह, तो फिर दुहाई देनेवालों को दोनों बातें कहनी चाहिये। श्रवण कुमार को पहले माता–पिता का नहीं, पहले भगवान का होकर फिर माता–पिता का होना चाहिये था। वैसे ही पितामह भीष्म को पहले भगवान का होकर फिर वेद–शास्त्रों का होना चाहिए था, अपने पिता का होना चाहिये था।

विवेकानन्द ने कहा कि मैं इस रहस्य को यदि पहले जान गया होता तो पहले विद्याध्ययन नहीं करता बल्कि पहले (बचपन में) भगवान को प्राप्त करता फिर विद्याध्ययन की आवश्यकता पड़ती तो करता नहीं तो नहीं करता। जाननेवालों की कहानी कही जा रही है। सिद्धि को प्राप्तकर भगवान को जाना नहीं जा सकता, सिद्धि पाकर कोई विरले जान पाते हैं। लक्ष्मी सिद्धि प्राप्त कर ली है दुर्योधन ने, जल में छिपना जानता है। छिपना जानकर भी वह छिप

न सका; क्योंकि अपनी मूर्खता का होकर तब पिता का हुआ है। अरे! वह तो पिता का भी न हो सका, भगवान का तो होने की बात ही अलग है। जो–जो उसके साथ गये वे सब चले गये, सब बह गये। बारीक कमी होती है जो दिखाई नहीं पड़ती। धर्मभीरु होते हैं लोग– वह धर्मभीरु है, पितामह भीष्म धर्मभीरु हैं, द्रोणाचार्य धर्मभीरु हैं, कृपाचार्य धर्मभीरु हैं। दुर्योधन से नहीं, धृतराष्ट्र से भी वे सब नहीं डरते बल्कि धर्म से डर रहे हैं। राजा भगवान का प्रतिनिधि होता है, एकमात्र यही भाव उनके दृष्टिपथ में है, अतः उसकी आज्ञा पालन करना धर्म है, अन्यथा हमें पाप लग जाएगा। पाप से भयभीत होनेवाले लोग भगवान के कभी नहीं हो सकते। भगवान का होकर भी कोई पाप हुआ है क्या? उन्हें जानना चाहिये कि भगवान का होकर के कभी किसी से पाप हुआ ही नहीं, पाप हुआ ही है जब भगवान का कोई नहीं था।

भगवान हँस रहे हैं, महात्मा अर्जुन के रथ पर आसीन हैं, उनकी बकवास को सुन रहे हैं, उनके पुण्य और पाप की दुहाई को सुन रहे हैं। स्पष्ट कह दिया है कि तुम्हारे पाप एवं पुण्य की कहानी तो मैंने बहुत सुन रखी है। भगवान के निकट रहनेवाला, सद्गुरु के निकट रहनेवाला पाप और पुण्य की बात नहीं करता, वह तो एकमात्र अपने–आप की बात करता है फिर अपने–आप की बात कर लेने के बाद जब जान लेता है तब वह व्यवहार की बात करता है। महाराज के गुरुदेव ने एक बार कहा था–

आग लगे आचार विचार को, धूल पड़े प्रवचनों में।
यही लालसा एक नाथ, मन लगा रहे श्रीचरणों में।।
(मेरा लक्ष्य)

सारे सन्तों का भी यही कहना है कि आचार–विचार, व्यवहार, शिष्टाचार आदि ये सब प्रकृति के घेरे हैं, जिसमें कि आप प्रकृति के द्वारा ही बाँध लिये जाते हैं। लाखों–लाखों अंशों में से जितने भी नाते हैं उन नातों में से यदि एक अंश भी आप किसी के हैं और उसके उपरान्त भगवान को चाहते हैं तो ऐसा कभी हुआ नहीं। किसी भी पात्र को आप लाकर खड़ा नहीं कर सकते कि कोई सर्वप्रथम अपने बाल–बच्चों का होकर फिर भगवान का हुआ हो। हाँ, वैसे महापुरुष की कहानी असंख्यों में एक है जो भगवान का होकर तब अपने माता–पिता एवं बाल–बच्चों का हुआ है। महात्मा प्रह्लाद ने पहले भगवान का होकर फिर राजसिंहासन को स्वीकार किया। ध्रुव ने भी शादी की, अपने माता–पिता के भी हुए लेकिन पहले भगवान के होकर। ऐसा इतिहास में कोई नहीं है जो पहले माता–पिता तथा बाल–बच्चों का होकर फिर भगवान का हुआ हो। हाँ, मातृभक्त होकर, पितृभक्त होकर, पुरोहितभक्त होकर, अतिथिभक्त होकर अर्थात् इन धर्मों का पालन करके, किसके लिये करके? भगवान के लिये करके जब कोई भगवान का हो जाता है तो इन सबका हो जाता है और ऐसा नहीं होता तो फिर पितामह भीष्म जैसे उसे क्षमा नहीं किया जाता। श्रवण कुमार को जब क्षमा नहीं किया जाता तो उसे भी क्षमा नहीं किया जाता। श्रवण कुमार को जानना चाहिये कि जिस धर्मपत्नी का विरोध उन्होंने किया, त्याग दिया मात्र माता–पिता के कहने से तो क्या वह इतनी दण्डनीय थी? दण्ड के कई स्तर

होते हैं, कई स्वरूप होते हैं। जितना बड़ा अपराध उतना बड़ा दण्ड होता है। मृत्युदण्ड यानी त्याग तो अन्तिम चरण में होता है। थोड़े से अपराध में धर्मपत्नी का त्याग तो ब्रह्महत्या के पाप में आता है। अपने मौलिक अधिकार का त्याग करने को तो कोई शास्त्र ही नहीं कहता फिर धर्मपत्नी अपने मौलिक अधिकार का त्याग कैसे कर दे। इसी से संन्यास लेने में जितना पुरुष स्वतन्त्र है उतना ही स्त्री स्वतन्त्र है, जितना पति स्वतन्त्र है उतना ही धर्मपत्नी स्वतंत्र है। पति भागता है बारह बजे रात्रि को धर्मपत्नी, बाल–बच्चों को छोड़कर, तो धर्मपत्नी भी भागती है बारह बजे रात्रि को पति और बाल–बच्चों को छोड़कर। दोनों को स्वतन्त्रता प्राप्त है। आंशिक धर्म को भगवान के धर्म में लाकर खड़ा नहीं किया जा सकता। ये जो पौराणिक मत हैं राजस एवं तामस पुरुषों के लिये हैं, वे ही घेरे जाते हैं उन मतों से। कम से कम भगवान की बात पुरुष नहीं मानेगा तो गुरु को ही माने, उन्हीं से उसमें धर्म का वास हो। जब धर्म का वास होते–होते उसका चित्त आगे बढ़ जाएगा तब उसे बताया जाएगा कि धर्म है क्या। महात्मा अर्जुन ने जब भलीभाँति सुना गीताजी को, ब्रह्मविद्या को तो भगवान को अन्तिम चरण मे कहना पड़ा–

'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर दो। एक पहेली है कि भगवान अर्जुन से ही नहीं कहते आप सबसे भी कहते हैं। इस जीव–जगत में जो भगवान का नहीं है, उसके प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं बनता, उसके प्रति अपना कोई धर्म नहीं बनता, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, यह दिखाई पड़ गया तो। जबतक नहीं दिखाई पड़ रहा तबतक तो सामान्य धर्म को पालन करने में कोई हानि नहीं है। लोकमत, शास्त्रमत एवं संतमत यानी गुरुमत ये तीन मत हैं। लोकमत का त्याग कर दिया जाता है जब शास्त्रमत का ज्ञान हो जाए और शास्त्रमत का त्याग कर दिया जाता है जब गुरुमत अपने सामने हो, गुरु का सिद्धांत अपने सामने हो, फिर अब कोई मत नहीं रहता। गुरु का मत तो त्यागा ही नहीं जाता। सद्गुरु का मत तो भगवान का मत है उसमें भगवान समाया रहता है।

विषादी अर्जुन की जगह यदि आप खड़े हैं तो विचार करें। विषादी अर्जुन की तरह आध्यात्मिक युद्धभूमि में जाकर यदि एक बार भी विषाद आता है तो कहीं न कहीं आपको आसक्ति है। एक बार भगवान के लिये चल देने पर फिर विषाद कैसा? हररोज हर्ष, हररोज हर्ष, हररोज हर्ष यानी प्रसन्नता उसे वरण करती जाती है। प्रसन्नता उसकी इतनी बढ़ जाती है, इतनी बढ़ जाती है, इतनी बढ़ जाती है, वह पुरुष इतनी प्रसन्नता के घेरे में आ जाता है कि 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' सम्पूर्ण दुःखों की हानि हो जाती है, इतनी प्रसन्नता हो जाती है कि उसके प्रति अप्रसन्न होनेवालों का भगवान दमन कर देता है, यदि उसका प्रारब्ध उसके प्रति अप्रसन्न होता है तो भगवान उस अप्रसन्न होनेवाले प्रारब्ध का मान–मर्दन कर देता है, नष्ट–भ्रष्ट कर देता है। इसप्रकार उसके सम्पूर्ण दुःखों की हानि हो जाती है अर्थात् प्रारब्ध ही दुःख है, उसके पाप और पुण्य ही दुःख हैं। पुण्य भी उसको दुःख देनेवाले होते हैं, पाप भी दुःख देनेवाले होते हैं, सुख भी उसे दुःख देते हैं, दुःख भी उसे दुःख देते हैं। महाराज ने गूढ़ात्मक रहस्य को लाकर यहाँ खड़ा किया है। पुण्य भी उसे दुःख देते हैं अर्थात् जो भगवान का हो गया है सुख भी उसे दुःख देते हैं, दुःख भी उसे दुःख देते हैं, धर्म भी उसे दुःख देते हैं,

अधर्म भी उसे दुःख देते हैं अर्थात् जगत में जो धर्म विख्यात हैं, जो सामाजिक धर्म होते हैं, व्यावहारिक धर्म होते हैं, वे धर्म उसे दुःख देनेवाले होते हैं। जो उसके सुख हैं, उसे दुःख देनेवाले होते हैं, जैसे साधक ज्यादा सो लिया तो जगने के बाद पश्चात्ताप करता है, उसने ज्यादा खा लिया तो खाने के बाद पश्चात्ताप करता है। जिह्वा के स्वाद में ज्यादा खा लिया, खा लेने के बाद पश्चात्ताप करता है, अतः वह सुख उसे दुःख दे गया। गप करने में उसे बड़ा समय लग गया अतः वह गप उसे बड़ा दुःख दे गया अर्थात् गप का सुख उसे दुःख दे गया। सुख भी दुःख देता है, दुःख तो दुःख देता ही है।

भगवान ने कहा– 'प्रसादे सर्वदुःखानां' लेकिन जिसने उस धर्म का परित्याग कर दिया है, उसके तो सम्पूर्ण दुःखों का अंत हो ही गया है। कौन धर्म है वह? वह धर्म, जो दानवीर कर्ण के पास था उस धर्म का परित्याग कर देता है, जो धर्म कृपाचार्य के पास था उस धर्म का परित्याग कर देता है, जो धर्म पितामह भीष्म के पास था, द्रोणाचार्य के पास था उसका परित्याग कर देता है, जो धर्म शल्य के पास था उस धर्म का परित्याग कर देता है, जो धर्म सामान्य पुराणों में वर्णित है उस धर्म का परित्याग कर देता है। फिर तो वह धर्म उसपर आक्रमण करता है लेकिन जब त्याग ही देता है और आक्रमण से आहत नहीं होता तो उस दुःख की हानि हो जाती है अर्थात् दुःख पराजित हो जाता है, धर्म ही पराजित हो जाता है।

महात्मा अर्जुन से धर्म ही पराजित हो गया। कहीं भूल न कर जाना कि आप घर छोड़ दिये तो आप संन्यासी हो गये। विजेता तो हो गये एक समय में लेकिन पराजित होने की सम्भावना भी बनी रहती है। संन्यास ले लिया था देवर्षि नारद ने और काम विजेता हो गये, काम पराजित हो गया, काम को त्याग दिया; लेकिन पीछा नहीं छोड़ा काम ने उसने समय पाकर आक्रमण किया। वटवृक्ष के नीचे उनके ध्यान में काम आया अपनी सेना के साथ, बसन्त का निर्माण कर दिया वहाँ पर, नानाप्रकार की अप्सराओं को लाकर खड़ा किया लेकिन उदासीन हो देखते रह गये, आकाश की तरह गम्भीर हो देखते रह गये, साक्षीपना बना रह गया उनका, काम शरणागत हो गया। उन्होंने उसपर दया कर दी। अब उनसे रहा नहीं गया कि मैं तो कामविजेता हो गया, त्यागने का तात्पर्य यह नहीं कि आप कामविजेता हो गये। भगवान शंकर से कहा, ब्रह्मा से कहा, विष्णु से भी जाकर कह दिया मना करने पर भी। भगवान शंकर ने मना कर दिया था क्योंकि उन्होंने देख लिया था कि त्यागने का भी अहंकार हो जाता है। धर्म धोखा दे जाता है आपका। भगवान ने दिखाया कि नहीं, अभी आपने त्याग किया है, अभी संकल्प से इसको जलाया नहीं, जैसा कि भगवान शंकर ने जला डाला। जो काम नारद के पास गया वह काम भगवान शंकर के पास भी गया था। नारद ने उसे वरदान दे दिया और भगवान शंकर ने उसे जला डाला। जबतक काम को आपने नहीं जला डाला तबतक क्या प्रमाण है? फिर तो विश्वमोहिनी आपके सामने खड़ी होगी तो पराजित हो जायेंगे।

श्वेतघोड़ों से जुते हुए रथपर भगवान आसीन हैं, इस संकेत को भी देखें–

(ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते.....) भगवान नारायण सफेद घोड़ों से जुते हुए रथ के ऊपर सारथि

के रूप में विद्यमान हैं तथा महात्मा अर्जुन रथी हैं, यह झाँकी कुछ संकेत कर रही है। घोड़ों के सफेद और लाल रंग के होने की बात करने का क्या प्रयोजन था? किसी के काले घोड़े हैं, किसी के चितकबरे रंग के हैं, कोई गुलाबी दुपट्टा पहना है, कोई लाल रंग का, कोई सुनहरे रंग का, तो पितामह शुभ्रवर्ण के परिधानों (वस्त्रों) से सुसज्जित हैं? हाँ, श्वेत वस्त्र एवं श्वेत घोड़ों की बात कहने का अवश्य कुछ प्रयोजन है। मानो पितामह (भीष्म) भगवान से कह रहे हों कि देखें– आपके तो घोड़े सफेद हैं लेकिन मेरे तो सारे वस्त्र सफेद हैं और भीतर–बाहर से मैं अति निर्मल, अति निर्मल, दागरहित हूँ। अतः घोड़ों के सफेद होने से क्या होगा जब आपका कर्मरूप वस्त्र ही सफेद न हो तो? इसके उत्तर में भगवान कह रहे हैं कि जब शरीररूपी वस्त्र, इन्द्रियरूपी वस्त्र, मनरूपी वस्त्र एवं कर्मरूपी वस्त्र ही सफेद न हों और केवल परिधान ही सफेद हो तो उसका क्या महत्त्व है? दोनों जगत को संदेशरूप उपदेश दे रहे हैं; जबकि परिणाम बतायेगा कि सफेद परिधान का विशेष महत्त्व है या सफेद तन, मन, वचन, इन्द्रियों एवं हृदय का। परिणाम के पहले तो कोई भी कह सकता है कि मैं जगत में एक ही हूँ, जो सही हूँ।

महाराज ने घोषणा की थी नवीं कक्षा में कि एकमात्र मैं ही अपराधी हूँ, इसलिए किसी से बोलने का अधिकार नहीं है; एकमात्र मैं ही दोषी हूँ, इसलिए किसी में दोष देखने का अधिकार नहीं है; एकमात्र मैं ही निठल्ला हूँ, इसलिए किसी में निठल्लेपन को देखने का अधिकार नहीं है; एकमात्र मैं ही खब्बू हूँ, इसलिए कौन अधिक खाता है और कौन कम खाता है, यह देखने का अधिकार नहीं है; एकमात्र इस पृथ्वी पर मैं ही भार हूँ, इसलिए किसी के जीवन को देखने का अधिकार नहीं है और वह सवेरा जिसमें भगवान की अध्यक्षता में प्रतिज्ञा की गई थी, दिव्य सवेरा लाकर खड़ा कर दिया कालान्तर में। सूर्य प्रतिज्ञामय हैं, चन्द्रमा प्रतिज्ञामय हैं, पेड़–पौधे प्रतिज्ञामय हैं। ये अपने–अपने समय से ऋतु को पाकर फलते–फूलते हैं। नदियाँ प्रतिज्ञामय हैं, सरोवर प्रतिज्ञामय हैं, वन प्रतिज्ञामय हैं, संत प्रतिज्ञामय हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश– ये सब प्रतिज्ञामय हैं, इसलिए ये संदेशरूप उपदेश देते हैं कि प्रतिज्ञामय हो के रहना, तो फिर आपके जीवनरथ में नानाप्रकार के दिव्य प्रतिज्ञामय कर्म जुड़ते जायेंगे और जब दिव्य रथ का निर्माण हो जाएगा तो उस अवस्था में आपका परम पावन सद्गुरु आपके जीवनरथ पर बैठ जायेगा।

शंख बजाया भगवान नारायण ने– ये घोषणा कर दी कि ये पञ्चजन नामक राक्षस अपने समय का त्रिलोक विजेता था, यह उसी का शंख है। शंख बजाने का भगवान का क्या औचित्य होता है वहाँ पर; क्योंकि वे तो सारथि हैं। शंख योद्धा बजाता है सारथि नहीं लेकिन उस युद्ध की नियमावली में आज का सारथि कल का योद्धा भी हो सकता है, सेनापति भी हो सकता है, जैसा कि शल्य सर्वप्रथम कर्ण के सारथि थे, परन्तु दूसरे समय में वे सेनापति के पद पर भी आसीन हुए। अतः कल की तैयारी में आज शंखनाद फूँक दें तो युद्ध करने के लिए भी भूमिका तैयार हो जाती है।

भगवान ने शंख फूँका, इसलिए कि वे पाण्डवों के गुप्त सेनापति हैं, सेनानायक हैं, परम

सेनापति हैं और एक न एक दिन इस युद्ध के मैदान में युद्ध के लिए तो चल ही पड़ेंगे। अतः उन्होंने शंख फूँक दिया, यह कहते हुए कि जैसे पञ्चजन नामक राक्षस का मानमर्दन करते हुए उसके मस्तक के हजार टुकड़े कर दिये थे मैंने, वैसे ही अवसर आने पर आप सबका मानमर्दन करते हुए मस्तक को विदीर्ण करके मानूँगा और वही याद दिलाई भगवान ने जब रथ के चक्के को लेकर दौड़ लगा दी पितामह भीष्म की तरफ, जिसका परिणाम हुआ कि सबके सामने उस महारथी ने अपने आयुध रथ पर डाल दिये, यह कहते हुए कि आएँ, आएँ, आएँ! अपने सामने खड़े हुए इस जगत के अपराधी भीष्म का वध करें, मैं तो चाहता ही था कि आपके हाथों मरूँ। इस आख्यायिका से आप अपने अहंकार को देखें कि कहीं आपका अहंकार, जो मान लेकर बैठा हुआ है, चकनाचूर तो नहीं किया जाएगा? कहीं आप शिशुपाल की स्थिति में तो नहीं हैं कि आपके द्वारा दी जाती हुई गाली की गिनती हो रही हो और आपका सद्गुरु मौन हो, गिनती न कर रहा हो तो भी जगत की आत्मा गिनती कर रही हो; यह विचार का विषय है। चिन्तन तो बाद में होता है अध्यात्म में, पहले अपने सम्पूर्ण अंग–उपांगों अर्थात् सिद्धांतों पर विचार किया जाता है। ध्यान में पहले ज्योति को, नाद को नहीं देखा जाता, न ही उनकी प्रतीक्षा की जाती है, बल्कि देखा जाता है कि 'गुरुता किसे कहते हैं, शिष्यत्व किसे कहते हैं, शिष्यत्व की झाँकी मेरे में है कि नहीं।' यदि भक्ति या ज्ञान के सम्पूर्ण अंग आपमें हैं तब तो चिन्ता की बात नहीं है।

महात्मा अर्जुन ने इस झाँकी के अर्थ को समझा नहीं, न सफेद घोड़ों की रास पकड़े हुए भगवान श्रीकृष्ण को और न सफेद घोड़ों के रहस्य को; लेकिन व्यासजी तो कहे बिना रहेंगे नहीं कि सफेद घोड़े ही क्यों जोते उन्होंने, क्यों उन्हीं को अपनाया, जबकि शास्त्र तो श्यामकर्ण घोड़ों को महत्त्व देता है! श्यामा (कपिला) गाय और श्यामकर्ण अश्व अर्थात् घोड़ा– ये तो स्वर्गीय होते हैं, तो फिर ऐसे रंग के घोड़ों को क्यों चुना भगवान ने? इसलिए कि अध्यात्म देना है, ब्रह्मविद्या देनी है। ब्रह्मविद्या सरस्वती का हृदय है– स्वर रसवती अर्थात् सरस्वती, स्वर जिसका निर्मल है, अबाध गति से आरोह–अवरोह हो रहा है समयानुसार। प्रत्येक पौने दो घण्टे के अंतर्गत स्वर बदल जाते हैं लेकिन जिसका स्वर आरोह–अवरोह एकमात्र सुषुम्ना में कर रहा है तो फिर भगवान ऐसा क्यों न कहें कि आप सफेदी लिए हुए अर्थात् शुभ्रवर्ण के आधार को यानी सतोगुण को लेकर आधेय को प्राप्त करें। जब कोई आँख बन्द करता है अंधेरे में तो सर्वप्रथम एक मिनट, आधा मिनट अथवा दस सेकेण्ड के बाद अथवा आँख बंद करते ही सफेद वर्ण का प्रकाश, धुँधला प्रकाश, सफेद वर्ण का धुआँ जैसा, बादल जैसा प्रकाश दिखाई पड़ता है। साधक उस सतोगुणमय प्रकाश का आश्रय लेकर ही ध्यानपथ प्रशस्त करते हैं और जब सफेद वर्ण नहीं रहता तो जान लेते हैं कि इस समय प्रकृति तामसी है अथवा हल्का लाल वर्ण का प्रकाश आता है तो जान लेते हैं कि प्रकृति रजोमयी है, इसलिए सतोमयी प्रकृति का निर्माण करते हैं। वे सर्वप्रथम नाड़ीशोधन, उसके उपरान्त रेचक, पूरक, कुम्भक, उसके उपरान्त केवली कुम्भक आदि करके उस सफेद वर्ण को प्रकट कर ध्यान का आधार बना लेते हैं, यह भी संकेत है। भगवान बैठ गये हैं रथ पर और महात्मा अर्जुन ने भगवती दुर्गा का स्मरण करते हुए रथ की परिक्रमा की।

कुछ सेनापति स्वामी कार्तिकेय की उपासना करते हैं, कुछ भगवती रणचण्डिका की। अतः भगवान मुसकुरा रहे हैं। जब भगवान आसीन हो गये रथ पर तो भगवती दुर्गा को यह अच्छा नहीं लगा; क्योंकि अपनी आत्मा का तिरस्कार किसी को भी अच्छा नहीं लगता। जो सबका आराध्य है, यदि कोई उसे आराध्य न समझकर अपनी ही आराधना कराने लगे तो फिर उसकी दुर्गति क्या होती है, ये सभी जानते हैं। भगवती रणचण्डिका को इसी से अच्छा नहीं लगा कि यह तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द की उपासना कर ही नहीं रहा है! कोई बेटा अपनी माँ को वेश्या समझ ले तो इसका परिणाम क्या होता है, यह सभी जानते हैं। कोई हिरण्यकशिपु जैसा पिता अपने प्रह्लाद जैसे पुत्र को अपना वैरी समझ ले तो उसका परिणाम क्या होता है, यह सभी जानते हैं। कोई मन्दोदरी जैसी धर्मपत्नी को अपनी स्त्री समझ ले, वासना की प्रतिमूर्ति समझ ले तो भगवान उसे खेला–खेलाकर कैसे मार डालता है, ये सभी जानते हैं। यही बात महात्मा अर्जुन की है। महात्मा अर्जुन भगवती दुर्गा का स्तवन कर जैसे ही रथ पर आसीन होते हैं, वैसे ही उनके मन में विषाद के साथ–साथ अज्ञानरूप मूर्खता समा जाती है; क्योंकि भगवती कुछ समय के लिए छिप जाती है, अतः वहाँ तामस नहीं सात्त्विक विषाद प्रकट हो जाता है। वे कहते हैं कि हे माधव! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले चलें, जहाँ कि मैं दोनों पक्षों को देख सकूँ। इस युद्ध के मैदान में मेरे एवं कौरवों के हित चाहनेवाले कौन–कौन से लोग आए हुए हैं, कौन स्वर्गीय पुरुष होने की कामना से आए हुए हैं और कौन नरकगामी होने की कामना से आये हैं, कौन भूत–प्रेत बनने की कामना से आए हैं और कौन मृत्यु की कामना से आए हुए हैं, उन्हें देख सकूँ। महात्मा अर्जुन की तरफ भगवान ने एक बार मधुर मुसकान के साथ व्यंग्यात्मक हँसी से हँसते हुए देखा और घोड़ों की रास को उनके चलने की संकेतमय मुद्रा में संचालित कर दिया। धीरे–धीरे वह दिव्य रथ दोनों सेनाओं के बीच में गमन करने लगा। उस रथ पर भगवान की आत्मा हनुमानजी आसीन हैं और वे मानो दिव्य किलकारियाँ मारते हुए, हँसते हुए उस सूर्य के प्रकाश में भी अपने दिव्य प्रकाश को प्रकाशित करते हुए उन दोनों सेनाओं के मध्य में बड़े प्रेम पूर्वक भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द का स्वागत करते हुए जा रहे हैं। महात्मा अर्जुन कभी इस पक्ष, कभी उस पक्ष के योद्धाओं को देखते चले जा रहे हैं। जब अपने से पूज्यजनों को देखते हैं तो स्वाभाविक ही सिर झुक जाता है और जब अपने से छोटों को देखते हैं तो प्यार की मुद्रा बरस जाती है।

व्यक्ति को निर्विकार किया जाता है। जैसे लकड़ी के दो छोर होते हैं, यदि चींटी उस पर आसीन हो गयी है तो एक छोर से दूसरे छोर पर जाएगी, दूसरे छोर से फिर पहले छोर पर आयेगी, अर्थात् उसी पर गमन करती रहेगी लेकिन छलाँग लगाती है तो तीसरी जगह खड़ी हो जाती है, जिसे छोर नहीं कहते, पृथ्वी कहते हैं। उसीप्रकार भगवान ने एक छोर से दूसरे छोर पर रथ ले जाकर पुनः दूसरे छोर से लाकर पहले छोर पर खड़ा नहीं किया बल्कि दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा किया, मानो वे कह रहे हैं कि लो, यहीं से छलाँग लगाकर मेरे पास चले आओ। उस महारथी ने बीच में भगवान के द्वारा दिव्य रथ को खड़े कर दिये जाने पर, उस पार से इस पार तक भरपेट देखा, बार–बार देखा, बार–बार देखा, बार–बार देखनेपर यह बड़ी बात

हो जाती है। वह क्या है? यही कि बार–बार देखने में ताकना हो जाता है, ताकने–झाँकने में दोषदर्शन हो जाता है, दर्शन नहीं हो पाता। दर्शन नहीं किया उस पुरुष ने, देखा। देखना, ताकना, दर्शन करना, दर्शन उतर जाना इत्यादि पद को आप सब जानते हैं। उस पुरुष ने देखा, देखते–देखते ताकने लगा, ताकते–झाँकते, ताकते–झाँकते दोषदर्शन हो गया, दोषदर्शन होते–होते, होते–होते जगत में दोषदर्शन हो जाता है तो निश्चितरूप से भगवान में दोषदर्शन होना स्वाभाविक है। सौ पुरुष खड़े हैं, यदि सौ में से पंचानबे के प्रति दोषदर्शन हो रहा है तो निश्चितरूप से अपने सद्गुरु के प्रति दोषदर्शन हो जायेगा। दोषदर्शन करते–करते उस महापुरुष ने अति कुत्सित भावना से क्षुद्र भावना से भावित होकर आह कर दिया, आह कर बैठा और रोम–रोम में उसके भीतर मोहमयी वृत्ति प्रकट हो गयी। उस मोहमयी वृत्ति के उत्पन्न होने पर जैसा कि उत्पात उत्पन्न होते देखा जाता है, वही हुआ। एक तरफ अभिमन्यु को देखना, तो दूसरी तरफ उन महारथियों को देखना, एक तरफ अपने अन्यान्य पुत्र–पौत्रों को देखना तो दूसरी तरफ दुर्योधन के पुत्र–पौत्रों को देखना, पितामह को, आचार्य को, कृपाचार्य को तथा भाई–बान्धवों को देखना और अपने वैर को भविष्य में न जाने देनेवाला वह महापुरुष गंभीरता से देखते–देखते परिवारवाद के अन्तर्गत मोहमयी वृत्ति से आच्छादित हो गया अर्थात् उसका तन, मन, हृदय मोह से भर गया। उसके उपरान्त फिर होता क्या है; बालक के मर जाने के उपरान्त माँ की दुर्दशा क्या होती है, पिता की दुर्दशा क्या होती है, परम प्रिय मित्र के मरणोपरान्त एक मित्र की दुर्दशा क्या होती है, अज्ञानी शिष्य की सद्गुरु के शरीर छोड़ने के उपरान्त दुर्दशा क्या होती है, यह तो सभी ने देखा है, वही दुर्दशा हुई। इसके उपरान्त भक्त ने भगवान पर आक्षेप पर आक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया कि ओह! महत्पाप कहते किसे हैं? हे माधव! इस परिभाषा को आप ही परिभाषित करें! वहाँ भगवान मौन हैं, इसके बाद इस परिभाषा को परिभाषित करना भक्त अर्जुन ने प्रारम्भ कर दिया, वह यह कि महत्पाप यही है कि कोई अपने को महात्मा समझता है, पुण्यात्मा समझता है और मरणधर्मा जीव को प्रताड़ित करने लगता है, भला–बुरा कहने लगता है, मरे हुए को मारने लगता है, जबकि मरे हुए को मारना, भला–बुरा कहना, वीरों को शोभा नहीं देता, धर्मात्माओं को, महात्माओं को शोभा नहीं देता। जो पागल हैं, चोर हैं, शराबी हैं, कबाबी हैं, वेश्यागामी हैं, वे तो अपने–आप मरे हुए ही हैं तथा जो नास्तिक हैं, साधु विरोधी हैं, भगवान विरोधी हैं, वे तो मरे हुए ही हैं। अतः हे माधव! क्या हमसब मरे हुए को मारने नहीं जा रहे हैं? शेर के लिए चूहा मरा हुआ है, चूहे को शेर मारने जा रहा है, युद्ध करने जा रहा है! चूहे के पास अस्त्र–शस्त्र क्या है, सभी जानते हैं और शेर के पास क्या है, यह भी सभी जानते हैं। हँसी करेंगे लोग जगत में कि ये सब धर्मात्मा मरे हुए लोगों से, पापियों से युद्ध करने गये। (भगवान हँस रहे हैं कि पापियों से युद्ध नहीं किया जाता तो किससे किया जाता है?) उलाहना पर उलाहना, उलाहना पर उलाहना दिये जा रहे हैं– अहो! खेद है, बुद्धिमान होकर भी हम मूर्खों जैसा व्यवहार करने लगे हैं और यह बड़ी भारी गाली है, बहुत सी गालियों में ये बड़ी भारी गाली है। भगवान को मूर्खों का राजा बना गए विषादी अर्जुन। इसप्रकार विडम्बना होते देखी जाती है– जब साधक दृष्टिपात करता है अपने पुण्य और पाप

की कहानी पर तो कभी–कभार यह कहते देखा जाता है कि गुरुदेव! हम आपकी शरण में आ गए तो क्या अभी भी पापी हैं; वह बाली बन जाता है। वहाँ बाली कहता है प्रभु श्रीराम को देखकर कि जब मेरे सामने आप हैं तो अभी भी मैं पापी हूँ क्या? ठगेबाजी करता है। चलो स्वीकार कर लिया भगवान ने उसकी बात को, वह बात अलग है। इस भाव को भी सद्गुरु ने स्वीकार कर लिया, यह बात अलग है, लेकिन अपने–आप को तो आपको देखना ही होगा। यदि सद्गुरु के पास आपके तन, मन, वचन हृदय से पाप नहीं होता तब तो माना जाएगा कि आप पापी नहीं है, आपके पास सत्य है। बाली पापी नहीं है तो क्यों कहता है कि 'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।' (किष्किन्धाकाण्ड)

प्रभु श्रीराम मुसकरा रहे हैं मन ही मन और कहते हैं– छली और कपटियों का स्वभाव ही होता है कि भगवान के साथ भी चतुराई से ही बात करते हैं। जहाँ समर्पण से बात की जाती है, वहाँ पर छल कर बैठा है, अपनी बुद्धिमानी से बाज नहीं आता– एक तरफ कहता है कि क्या मैं पापी हूँ तथा दूसरी तरफ कहता है उसी समय कि 'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ' अर्थात् अपनी करनी या कुकर्मों के वशीभूत मैं जहाँ जन्म लूँ वहाँ हे प्रभु! मैं आपके चरणों का अनुरागी बनूँ। यद्यपि उसने एक तरफ भगवान का दर्शन कर लिया तो दूसरी तरफ पाप कहाँ से आ गया! उसीप्रकार कोई शिष्य कहता है सद्गुरु को पाकर कि मैं अभी तक पापी ही हूँ क्या? हाँ, हाँ पापी तो आप तब नहीं समझे जायेंगे, जब पापबुद्धि आप में हो ही न कभी, लेकिन पाप आ जाये तो फिर जान लेना कि आपके हृदय में अभी दरश प्रकट नहीं हुआ है। आप सद्गुरु का दर्शन करते हैं, कभी–कभी देखते हैं, घूरकर देखा नहीं जाता घूरकर तो वैरी देखता है। जो घूरकर देखता है सद्गुरु को, वह उसके व्यवहार को ताकने लगता है, झाँकने लगता है, तो दोषदर्शन हो जाता है। विभीषण ने तो ताका ही नहीं, आरुणि–उपमन्यु ने भी ताका–झाँका ही नहीं सद्गुरु के व्यवहार में, सत्यकाम ने भी नहीं ताका–झाँका। हाँ, ताका–झाँका अर्जुन ने भगवान के व्यवहार में तो ताकने–झाँकने का फल मिला कि अभिमन्यु जैसी आत्मा का वध करा दिया गया। भगवती द्रौपदी से प्रकट हुए, उनलोगों के पुत्रों का भी अश्वत्थामा द्वारा वध करा दिया गया, कोई भी शेष नहीं बचा। अतः सद्गुरु में ताकने–झाँकने के पहले अपने में ताक–झाँक कर लेनी चाहिए कि क्या मेरे में शिष्यत्व है? सद्गुरु की गुरुता को देखने से पूर्व यह सब देख लिया जाता है। माँ में दोष देखने के पूर्व देखना चाहिए कि क्या मैं सदाचारी हूँ। माँ दुराचारिणी है तो उसकी दुराचारिता पर उसी पुत्र को आक्षेप करने का अधिकार है, जो स्वयं सदाचार से सम्पन्न है। यदि ऐसा नहीं है तो पहले अपने में सदाचार की प्रतिष्ठा कर लेनी चाहिए। पिता और भाई के सदाचार और दुराचार को देखने का अधिकार तभी है, जब वह स्वयं सदाचार से सम्पन्न हो गया है। घूरकर देखनेवाला ताकने लगता है, झाँकने लगता है। उसका परिणाम क्या होता है, इसे सभी जानते हैं। इसलिए महात्मा अर्जुन की जीवनझाँकी को अच्छीप्रकार से आपको ताकना है, दर्शन नहीं करना है। दर्शन तो इसका करना है कि भगवान सारथि हैं और वे रथी हैं, उस दिव्य रथ पर वे दिव्य संवाद को सुन रहे हैं, भगवान जैसे कभी उनके कन्धे को पकड़ लेते हैं, कभी सिर को पकड़ लेते हैं, कैसे कभी मुकुट को पकड़ लेते हैं,

कभी भुजाओं को पकड़ लेते हैं और कैसे सचेत करते हैं, सजग करते हैं कि इधर देखो! इधर देखो! आँखों में देखो! मेरी बात सुनो! इसप्रकार इस झाँकी को देखें, दर्शन करें तब आपमें दरश उतर जायेगा लेकिन महात्मा अर्जुन की जीवन–झाँकी में तो आपको झाँकना है कि उनके जीवन और मेरे जीवन में कहाँ तक समानता है तथा कहाँ तक विषमता है और यदि विषमता है तो उसे दूर करना है।

ध्यान करने के पहले अतीत को देखना होता है। अतीत के व्यवहार को देखकर फिर भविष्य का निर्णय किया जाता है। अतीत बिखरा हुआ है तो फिर आप क्या करेंगे, वर्तमान और भविष्य बिखर ही जायेगा। अतीत बिखरा क्यों? प्रतिज्ञारहित होने से। यदि प्रतिज्ञारहित हैं आप तो भविष्य बिखरा रहेगा। महाराज कहता है कि चौबीस घण्टे के लिए तो आप अहिंसा व्रत धारण करें। आये दिन हर रोज देखता है कि यदि किसी साधक को छेड़े उसका सद्गुरु तो साधक भाग खड़ा होगा अर्थात् उसके व्यवहार को देखे तो वह शिष्य परेशान हो जायेगा। उसके पास मात्र यही कहने को रह जायेगा कि गुरुदेव! मैं जा रहा हूँ, अब तो आपके योग्य बन जाऊँगा तभी आऊँगा– ऐसा बहाना बनाकर चला जायेगा और फिर–फिर नहीं लौटेगा; क्योंकि वह वैसा बन ही नहीं पायेगा; इसलिए कि जब बनानेवाले से भाग ही रहा है तो बनायेगा कौन? एकान्त में आप ध्यान कर लेते हैं लेकिन सद्गुरु के पास आप ध्यान करने के लिए आते हैं तो आपका ध्यान बिखर जाता है, आपकी स्मृति बिखर जाती है। इससे सिद्ध होता है कि मनमाना ध्यान किया है, मनमाना चिन्तन किया है, मनमाना स्वाध्याय किया है आपने।

एक साधक था यहाँ पर जो भोगवादी पुरुष की किताब पढ़ने लगा चोरी से। जब उसे मना कर दिया गया कि यहाँ पर अमुक–अमुक किताबें नहीं पढ़ सकते, फिर भी वह चोरी से पढ़ता था। चोरी से पढ़ता गया, चोरी से पढ़ता गया तथा एक दिन प्रकृति ने अपने–आप उसे दण्ड दे दिया और उसे यहाँ से भागना पड़ा, किसी को कुछ कहना ही नहीं पड़ा। साधकों को देखना है कि हम चोरी कहाँ करते हैं सद्गुरु के पास। कुछ भी क्रिया करने के पहले ये देखना है कि क्या हम सद्गुरु से उसका समर्थन कराते हैं?

एक संत के पास एक वृद्धा माँ आ गयी। रहने के लिए जगह माँगी तो संत ने कहा– इस जगह वृद्ध की आवश्यकता नहीं है, यहाँ न वृद्ध की जगह है न बालक की जगह है, न स्त्री की जगह है न पुरुष की, यह तो भगवान की जगह है; अतः यहाँ भगवान के भक्तों की जगह है। यहाँ खाना, कपड़ा, मकान से पीड़ित दीन–हीनों की जगह नहीं है, यहाँ तो भगवान के लिये जीनेवाले भक्त एवं साधकों की जगह है, योगी की जगह है। संत ने कहा शिष्यों से कि 'दया मत करो इसपर।' खाना, कपड़ा, मकान के अभाव में तो आपकी माता तड़प रही होगी, आपका पिता तड़प रहा होगा, आपके लोग तड़प रहे होंगे। जब आपने उनको नहीं देखा तो यहाँ पर दीन–हीनों को देखने की आवश्यकता नहीं है। एक साधक से उन्होंने कहा– इस वृद्धा को यहाँ से हटा दो। यज्ञशाला में विषयी पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती। यही एक अध्यात्मपथ ऐसा है, जहाँ पर किसी भी धर्म की आहुति दी जाती है और एकमात्र भागवत धर्म को स्वीकार कर

लिया जाता है। यदि एक अंश भी किसी से बाधा बनती दीखती है तो उस बाधा को हटा दिया जाता है।

एक शिष्य ने अपने गुरुदेव से कहा सन् १९७८ में कि गुरुदेव! मैं यह गेरू वस्त्र उतारूँगा और नहीं तो आपको वचन देना पड़ेगा कि मेरे हर पल की बात आपको मुझसे कहनी पड़ेगी, आप मुँह–मीठी बात मेरे से नहीं कहेंगे। सद्गुरु ने स्वीकार कर लिया था। डाँटते–डाँटते–डाँटते उस सद्गुरु ने सन् १९९५ में उस साधक से कहा था कि मैं तुम्हारे पर अति प्रसन्न हूँ, इसलिए कि इतने सालों से मैं तुम्हें डाँटता रहा, फटकारता रहा लेकिन तुम्हारी मुसकान नहीं गयी। तुम जी! जी! जी! करते रह गये; ऐसा कहते हुए उसके गुरुदेव गद्गद हो गये। वहाँ बहुत लोग बैठे हुये थे, तो भी साधक ने गुरुदेव से विनोद किया कि गुरुदेव! आपने मुझे डाँटा! उसके गुरुदेव ने कहा– हाँ! मैंने तुम्हें डाँटा–फटकारा। साधक ने फिर पूछा कि आपने मुझे सच में डाँटा–फटकारा? सद्गुरु ने कहा कि हाँ हाँ, डाँटा! तो साधक ने कहा– ओ! आपने डाँटा और मेरे को शौच नहीं आया, पेशाब नहीं आया, मूर्च्छा नहीं आयी! तो वह आपकी डाँट कैसी है! मैंने तो सुना है कि टंकार करते हैं प्रभु श्रीराम धनुष पर तो आसुरी सेना क्षणभर के लिए बहरी हो जाती है और आप अपने पुत्र को डाँटते हैं तो भी उसे शौच नहीं आता, उसे मूर्च्छा नहीं आती, उसे भय नहीं लगता! ना, ना, ना! मैं नहीं मानता गुरुदेव! कि आपने मुझे डाँटा है।

चित्त का निर्माण करने के लिए, प्रतिज्ञाबद्ध होने के लिए पहले अतीत को सवाँरना नहीं होगा लेकिन दर्शन तो करना ही होगा। 'सदाचार जप जोग बिरागा'– अर्थात् पहले सदाचार है। घर का आचार–विचार और सद्गुरु के पास का सदाचाररूप व्यवहार, इन दोनों में यह देखा जायेगा कि आपमें किस आचार, विचार, व्यवहार की प्रतिष्ठा है। यदि सद्गुरु के पास के आचार, विचार, व्यवहार की प्रतिष्ठा है, तो आपमें जप की प्रतिष्ठा अपने–आप होगी। सदाचार की भूमिका यदि बन गई है तो जप उसमें अपने–आप आकर के प्रतिष्ठित हो जायेगा। जप चेतन होता है, ब्रह्म का नाम चेतन है, वह सिद्ध है, सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने–आप ही सदाचार में आ जायेगा, आसीन हो जायेगा। जब जप की प्रतिष्ठा हो जायेगी तो तपयोग अपने–आप प्रतिष्ठित हो जायेगा यानी जपयोग ही तपयोग बन जायेगा, व्रतयोग बन जायेगा, ज्ञानयोग बन जायेगा, ध्यानयोग बन जायेगा। उसके उपरांत तब एक आध्यात्मिक निर्मल वैराग्य प्रकट होगा, आध्यात्मिक श्रद्धा प्रकट होगी, जिससे कि आध्यात्मिक समाधान हो जायेगा। सद्गुरु के पास आने के उपरांत साधना का इतना क्रम सजाया गया है। देखना यह है कि आपके जीवन में कौन–कौन से सूत्र हैं जो आपकी वाणी में प्रतिष्ठित हैं, आपके मन में प्रतिष्ठित हैं, आपकी बुद्धि में प्रतिष्ठित हैं, जिसमें कि उस प्रतिष्ठा के उपरांत आपकी प्रतिज्ञा प्रतिष्ठित है, यह आपको दिखाई पड़ रहा है, आप इतने सावधान हैं, प्रमादी नहीं बन रहे हैं। ऐसा नहीं है कि सामीप्य मुक्ति मिल गयी तो अपराध होगा ही नहीं, ऐसा नहीं है कि सद्गुरु मिल गया तो अपराध होगा ही नहीं। जय और विजय को सामीप्य मुक्ति मिल गयी थी, भगवान विष्णु के वे सेवक बन गये थे लेकिन सनकादिकों के प्रति उनसे अपराध हो गया और शाप मिल गया तथा वे राक्षस हो गये। सामीप्य मुक्ति, सालोक्य मुक्ति, सारूप्य मुक्ति और तब कैवल्य मुक्ति होती

है, ऐसा क्रम है। अतः जबतक कैवल्य मुक्ति नहीं मिल जाती तबतक धोखा ही धोखा है अर्थात् जबतक अपने स्वरूप का बोध नहीं हो जाता तबतक आपके तन, मन, वचन, हृदय पर प्रकृति का साम्राज्य है। 'मैं' एक पद है, इस 'मैं' के पास प्रकृति का वास है और इसी 'मैं' के पास ब्रह्म का भी वास है। 'मैं आत्मा हूँ' यहीं से ब्रह्म प्रारम्भ होता है और 'मैं जीव हूँ' यहीं से प्रकृति प्रारम्भ होती है। मैं ही दोनों का आधार है। अतः भूल मत कर जाना कि हमने संन्यास ले लिया तो हमारे जीवनरथ पर हमारा सद्गुरु बैठ ही गया। सद्गुरु यदि आपके जीवनरथ पर बैठ गया होता तो आपमें प्रमाद होता ही नहीं, अभी तक आप निष्पाप हो गये होते। सद्गुरुरूप में साधकों एवं भक्तों के जीवनरथ पर बैठकर प्रभु ने ब्रह्मविद्या दे दी लेकिन ये न भूलना कि ब्रह्मविद्या देने के पूर्व उसने उन्हें अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ भी दे दिया, परन्तु अर्जुन के सामने तो कहानी कुछ और ही हो रही है। भगवान ने अर्जुन के रथ पर बैठकर सर्वप्रथम उनका यह लोक ही ले लिया, इस लोक का सारा सुख छीन लिया। रथ पर बैठने का तात्पर्य होता है कि वह सद्गुरु भीतर भी देखे, बाहर भी देखे किन्तु अर्जुन के बाहर तो देखा ही नहीं, क्योंकि वे बाहर से कुछ नहीं देख पा रहे हैं, भगवान को नहीं समझ पा रहे हैं। इसलिए सब कुछ छीन लिया उसने। बस, उन पाँचों को छोड़ दिया कि जाओ मेरे कहने से तुमलोगों में से कोई झूठ नहीं बोलता, वह सत्यवादी बन जाता है; मेरे कहने से कोई युद्ध नहीं करता, महात्मा बन जाता है। हाँ युद्धोपरांत संन्यास देकर संन्यासी बना दिया, यह बात अलग है फिर भी इस लोक की प्रिय वस्तु छीन ही ली। प्रिय वस्तु तो पुत्र ही होता है जो अपने ऐश्वर्य को भोगे लेकिन प्रभु ने उनके समस्त पुत्रों को ही छीन लिया।

अतः सद्गुरु की समीपता प्राप्त हो गयी है तो इतने ही मात्र से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। एकांत में समय देना चाहिए अपने अतीत को और वर्तमान को देखने के लिए। महाराज के गुरुदेव सदा कहा करते थे–

वर्तमान में रहो निरंतर, भूत भविष्य को छोड़ो।

अर्थात् वर्तमान में रहने के लिए भूत भविष्य को छोड़ना पड़ेगा। इसलिए बिखरे हुए अतीत को देखकर उसे छोड़ दें और वर्तमान में प्रतिष्ठित हो जायें। वर्तमान न बिखरने पावे क्योंकि वही तो भविष्य बनायेगा। अतः इसपर आप विचार करें।

अब इस अध्याय के बारहवें मंत्र 'सिंहनादं विनद्योच्चैः.....' के द्वारा महाराज शब्दब्रह्म का गूढ़ात्मक रहस्य (शंखनादोपाख्यान) भी प्रकाशित कर रहा है–

(सिंहनादं विनद्योच्चैः.....) पितामहभीष्म ने सिंह की तरह दहाड़ते हुए, गरजकर शंख बजाया, मानो उन्होंने संकेत किया कि वे अब युद्ध के लिये तैयार हैं, तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने शंख के बहाने ब्रह्मनाद कर उनके शंखनाद को अपने नाद से पी लिया। मानो उनके द्वारा संकेत हो रहा है कि ये पितामह शेर की तरह ही तो नाद कर रहे हैं, गरज रहे हैं, ब्रह्म की तरह तो नाद कर ही नहीं रहे हैं, ब्रह्म की तरह तो हुंकार भर ही नहीं रहे हैं। अरे! ये तो एकमात्र सिंह की तरह ही जीवन व्यतीत कर दिये, जो पैसे कमानेवाले

नटों के द्वारा पिंजड़े में बन्द होकर उनका साधन बन जाता है। यह दुर्योधन वही नट है, जिसने इन्हें अपने मोहरूपी पिंजरे में बन्द कर रखा है तथा अब उसने सेनापति बनाकर इनको यहाँ छोड़ दिया है। तो ये यह न भूलें कि भगवान तो हुंकार भरकर ही इनको निगल सकते हैं। अरे! ये क्या! भगवान के ब्रह्मनाद करने के उपरांत तो पाण्डवों एवं अन्यान्य महारथियों ने भी अपने–अपने शंख से हुंकार भरना प्रारम्भ कर दिया, मानो प्रकृति सम्पूर्ण नादों के माध्यम से प्रलय की सूचना दे रही हो। भगवान तो सारथि हैं, महारथी नहीं लेकिन तो भी उन्होंने अपना महाशंख फूँक ही दिया, जिस दिव्य शब्द में सभी के शब्द समाते गये और फिर क्या था, सबके शंख तो मौन हो गये लेकिन भगवान का शंखनाद चलता ही रहा। मानो प्रभु संकेत कर रहे हों कि यह सृष्टि शब्दमय हुंकार भरती हुई, असंख्य शब्दों के रूप में ही प्रकट होती है (भले ही आचार्यों ने उनचास अक्षरों का ही वर्णन किया हो) और प्रलयकाल में उन सम्पूर्ण शब्दों को एक शब्द में समेटती हुई सम शान्त एवं निर्गुण–निराकाररूप हो जाती है। भगवान मानो यह भी सोच रहे हों कि युद्ध का प्रारम्भ भी एक दिव्य सृष्टि है, जो प्रकट होकर कुछ काल के उपरांत प्रलय को प्राप्त हो जाती है। प्रभु का शंखनाद तो पुरातन है, सनातन है। वह तो मात्र दिखाई पड़ा कि अभी युद्ध के मैदान में हुंकार भर रहे हैं लेकिन अदृश्यरूप में तो जबसे सृष्टि प्रारम्भ हुई तब से लेकर आजतक वह अनाहदनाद हो ही रहा है, वह ब्रह्मनाद हो ही रहा है! सारे प्राणिपदार्थ भगवान के दिव्य शंख ही तो हैं, जिससे वे ब्रह्मनाद कर रहे हैं, जिसे आज भी दिव्य कानों से साधक, सिद्ध एवं संत सुनकर समाधिस्थ होते जा रहे हैं। महाराज आप सब के सामने उस दिव्य शब्दब्रह्म, उस दिव्य नाद को प्रकाशित कर रहा है। सम्भव है आप भी उसे सुनकर 'मैं' और 'तू' के नाद को, 'मेरे' और 'तेरे' के नाद को उसी ब्रह्मनाद में आहुति देकर समाधिस्थ हो जायें। तो आयें, प्रभु के दिव्य शंख से प्रकट हुए शब्दब्रह्म के गूढ़ात्मक रहस्य को देखें–

प्रत्येक प्राणी शब्दब्रह्ममय ही हैं, प्रत्येक पदार्थ शब्दब्रह्ममय ही हैं, प्रत्येक विषय शब्दब्रह्ममय ही हैं, प्रत्येक आकृति शब्दब्रह्ममय ही है और प्रत्येक घटना शब्दब्रह्ममय ही है। शब्दब्रह्म का तात्पर्य है कि जिस शब्द में ब्रह्म छिपा हुआ हो अथवा यह भी है कि ब्रह्म शब्दरूप से प्रकट हो रहा है। देखा भी जाता है कि प्रत्येक मानव शब्द करता हुआ व्यवहार करता है, आहार करता है, सदाचार करता है, दुराचार करता है। शब्द के साथ ही मानव सोता है, शब्द के साथ (विचारों के साथ) ही जागता है, शब्द के साथ ही स्वप्न में विचरण करता है, शब्द के साथ ही देखता है, शब्द के साथ ही सुनता है, शब्द के साथ ही सूँघता है, शब्द के साथ ही रस लेता है, शब्द के साथ ही स्पर्श का अनुभव करता है, शब्द के साथ ही श्वास लेता है और छोड़ता है; क्योंकि प्रत्येक श्वासों में असंख्य विचार हैं, ऐसा विज्ञान भी अब मानने लगा है, जिसे संत तो पहले से ही मानते, जानते एवं अनुभव करते आ रहे हैं। अतः वह शब्द के साथ ही उठता, बैठता, चलता है, शब्द के साथ ही साधक मनन, चिंतन और निदिध्यासन करता है। शब्दब्रह्म की उपासना करनेवाले योगियों का शब्द अनादि है, जिस शब्द का आश्रय लेकर वे परमशब्द तक को प्राप्त कर लेते हैं। निष्काम कर्मयोगियों का शब्द है ब्रह्म के प्रति समर्पण अर्थात् भगवान को कर्म समर्पित करना, ज्ञानयोगियों का शब्द है आत्मचिंतन करना और

सकामियों का शब्द है वैदिक कर्मकाण्ड करना। जब गो माता हुंकार भरती हुई रम्भाती है, बछड़े को बुलाती है, तो उससे ॐ और अम्बा की ध्वनि ही प्रकट होती है। शेर हुंकार भरता हुआ ही अपने शिकार पर आक्रमण करता है। कुत्ता अहर्निश अपने स्वामी की सुरक्षा में गर्जना करता रहता है। चींटी शब्द करते हुए ही मीठे की खोज में रहती है। सारे के सारे पक्षी भी कलरव करते हुए नाद ही तो कर रहे हैं। बद्रीनाथ से माँ अलकनन्दा महानाद करती हुई, गर्जना करती हुई अति वेग से दौड़ती हुई, समुद्र की तरफ चली जा रही है। गोमुख में शब्द के साथ माँ गंगा प्रकट होती है और समुद्र में नाद करती हुई ही समा जाती है। सृजन भी शब्द के साथ और प्रलय भी शब्द के साथ हो रहा है, मानो वह ऐसा संकेत कर रही है। अपने नाद के साथ महानाद अर्थात् महासमुद्र में अपने नामरूप को मिटा देती है; मानो वह यह संकेत कर रही हो कि हे मानव! तुम्हारे साथ ये सारे के सारे प्राणी शब्द करते हुए महाशब्द अर्थात् ब्रह्म में विलीन होने ही जा रहे हैं। इस ऋषिकेश में निश्चित ही बस, ट्रक एवं जीप आदि वाहन नाद करते हुए आ–जा रहे हैं किन्तु उनका वह नाद गंगाजी के महानाद में विलीन हुआ जा रहा है। रेलगाड़ी नाद करती हुई प्रारम्भ होती है, नाद करती हुई चलती है और नाद करती हुई ही अपने गंतव्य स्थान पर सम एवं शान्त हो जाती है। हवाईजहाज नाद करता हुआ ही आकाश में गमन करता है और नाद करता हुआ ही पृथ्वी पर उतर जाता है। ऐसा कौन है जो शब्द नहीं कर रहा है। बादल शब्द करता हुआ अर्थात् गरजता हुआ ही बरसता है और शब्द करता हुआ ही आकाश में विलीन हो जाता है। बिजली शब्द करती हुई आकाश में चमकती है और शब्द करती हुई ही आकाश में विलीन हो जाती है। वायु सन–सन करती हुई आकाश में हिलोरें ले रही है, आँधी और तूफान शब्द करते हुए ही वनों एवं गाँवों को क्षत–विक्षत किये जा रहे हैं। अग्नि, वन और ईंधन को चट–चट शब्द करती हुई ही मानो निगल रही है; पृथ्वी, घरघराहट– इस शब्द के साथ अपनी धूरी पर गतिशील हो रही है और कभी–कभी नाद करते हुए ही भूचाल के साथ लोगों के हृदय को विदीर्ण कर देती है। पूरा वन पत्तों के साथ शब्द कर रहा है तथा शब्द करते हुए ही प्रत्येक पत्ते वृक्षों से झड़ जाते हैं। हमसब के भीतर संकल्प–विकल्पों का जो अबाधगति से प्रवाह है, वह शब्दब्रह्म ही तो है। सजग साधक इस शब्द संकेत को समझते रहते हैं और अपने लिये क्या आज्ञा है, इसको जानते हुए वैसा ही व्यवहार करते रहते हैं।

एक माँ ने कहा– आगे बढ़ो! मधुकरी (भिक्षा) करनेवाले सन्त पीछे लौट गये। माँ ने कहा– ठहरो! पर वे पीछे लौटते गये। माँ ने दौड़कर आगे से घेर लिया और कहा– हे प्रभु! चार दिन के लिए मैं शरीर से अपवित्र हो गई हूँ, इसलिए आपको भोजन नहीं दे सकती हूँ, यही कारण है कि मैंने दूसरे दरवाजे पर जाने को कहा है; किन्तु आप मेरी बात को बुरा मानकर अपनी कुटिया की तरफ जाने लगे! संत ने कहा– तुमने चाहे जिस भाव से कहा हो; परन्तु मेरे लिए तो शब्दब्रह्म ही प्रकट हुआ है। मेरे भगवान तो कह रहे हैं कि आगे बढ़ो और ठहर जाओ। आगे बढ़ो का तात्पर्य है– अब तुम भिक्षा माँगना छोड़ दो, आकाश वृत्ति के साथ जीओ और ठहर जाओ का तात्पर्य है– अहर्निश अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, यही मेरे भगवान के दो संकेत हैं।

भगवान दत्तात्रेय एक गृहस्थ के घर में एक रात अतिथि थे। घर के भीतर माँ धान ओखली

में कूट रही थी, चूड़ियों की खनखनाहट हो रही थी। माँ ने सोचा कि सन्त समझेंगे कि इसके घर में चावल नहीं है, इसलिए मेरे आने पर ही धान कूट रही है। इसलिए बहुत सी चूड़ियों में से कुछ को, उसने फोड़ दिया फिर भी कूटते समय पाँच–छः चूड़ियों से शब्द हो ही रहा था। जब दो चूड़ियाँ रह गयीं तो भी हल्की आवाज आ ही रही थी। माँ ने दो–दो चूड़ियों में से एक–एक चूड़ी को भी फोड़ दिया। अब वो प्रेम से धान को कूट रही थी, लज्जा नहीं लग रही थी। भगवान दत्तात्रेय ने चूड़ियों की खनखनाहट से उपदेश लिया कि साधनाकाल में साधक को अकेले ही रहना चाहिए ताकि वह निर्विघ्न साधना कर सके।

दण्डकवन में भगवान श्रीराम को शूर्पणखा ने देखा और उसके भीतर से नाद प्रकट हो गया– 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी।' अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में तुम्हारे जैसा कोई पुरुष नहीं है और मेरे समान कोई सुन्दर नारी नहीं है। भगवान ने अविद्या को जान लिया। शूर्पणखा का तात्पर्य अविद्या है और रामजी का तात्पर्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने सोचा कि अविद्या तो मेरे पास रह ही नहीं सकती है, हाँ! जीव के पास रह सकती है, अतः जीव (लक्ष्मण) के पास भेज दिया। जब लक्ष्मणजी ने उसको अस्वीकार कर दिया तो ब्रह्म ने अस्वीकार ही कर दिया, कहा कि तुम नारकीय जीव के पास ही जाओ अर्थात् पशुवत् जीवन जीनेवाले लोगों के पास जाओ, अविद्या के वे ही अधिकारी हैं। प्रभु राम (ब्रह्म) के पास तो भगवती सीता (परा विद्या) हैं, अतः उन्होंने उसकी बात नहीं मानी और इसका अर्थ यह लिया कि अविद्या जैसी सचमुच कोई नारी नहीं है जो अकेले सारे जगत को मोहित करे और मेरे जैसा निश्चित ही कोई परमपुरुष नहीं है जो अविद्या को भी मोहित कर दे।

कहीं भी, किसी भी काल में ब्रह्म के द्वारा शब्द प्रकट हो रहा है वह ब्रह्म के द्वारा प्रकट हुआ शब्द निरर्थक नहीं होता, सदा–सर्वदा सार्थक ही होता है। एक शिष्य क्रोधावेश में अपने सद्गुरु का ही निरादर करते हुए बोला– गुरु बन रहे हो, गुरु? मुझे क्या समझ रहे हो? सद्गुरु मन ही मन मुसकरा रहे थे, ब्रह्मवेत्ता थे वे, ब्रह्म का संकेत समझ रहे थे कि अब गुरुभाव का परित्याग कर दो, अब शिष्यभाव का परित्याग कर दो, शिष्य की सुरक्षा के उत्तरदायित्व के भाव से मुक्त हो जाओ, अब दर्शन और व्यवहार दोनों ब्रह्ममय ही हो जाना चाहिये। सात्त्विक प्रवृत्ति का भी परित्याग कर दो। ब्रह्मसंकेत को स्वीकार करके सद्गुरु के मौनी होते ही शिष्य का महापतन हो गया।

सारे प्राणिपदार्थ ब्रह्म ही हैं– ऐसा संकेत किया गया। ऐसा भी संकेत अबतक संपूर्णता से किया गया कि ब्रह्म से शब्द प्रकट हो रहा है और शब्द से अर्थ प्रकट हो रहा है, किन्तु ब्रह्म, शब्द और अर्थ, इन तीनों को तीन रूपों में क्यों देख रहे हो? तो फिर कैसे देखूँ? किस भाँति देखूँ? हाँ, निश्चित ही जो भी कुछ पृथक्–पृथक् आकार–प्रकारों में दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है, ये सब नानाप्रकार की आकृतियाँ शब्द ही हैं, क, च, ट, त, प की तरह और इन सारे शब्दों से अर्थ ही प्रकट हो रहा है। गोस्वामीजी ने इसका मधुर संकेत भी दिया है–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० १८)

अर्थात् शब्द और अर्थ दो नहीं हैं, शब्द के प्रकट होते ही साथ–साथ अर्थ भी प्रकट हो जाता है। जिसे आप आकाश समझते हैं, वह एक शब्द है, जिससे वायु नामक अर्थ प्रकट हो रहा है, शब्द नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। वायु भी एक शब्द ही है, जिससे स्पर्श और अग्नि नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। अग्नि भी एक शब्द ही है, जिससे रूप और जल नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। जल भी एक शब्द ही है, जिससे रस और पृथ्वी नामक अर्थ उत्पन्न हो रहा है। पृथ्वी भी एक शब्द है, जिससे गन्ध और नानाप्रकार के प्राणिपदार्थ नामक अर्थ प्रकट हो रहे हैं। समुद्र भी एक शब्द है, जिससे बादल नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। बादल भी एक शब्द है जिससे वर्षा नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। वर्षा भी एक शब्द है, जिससे वनौषधियों का जीवनरूपी अर्थ प्रकट हो रहा है। औषधियाँ भी एक शब्द हैं, जिनसे रोगनिदान नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। वृक्ष भी एक शब्द है, जिससे फलरूपी अर्थ प्रकट हो रहा है। वनपशु भी एक शब्द है, जिससे नानाप्रकार का संकेतरूप अर्थ प्रकट हो रहा है। शेर भी एक शब्द है, जिससे एकाहार (शेर भूख से मर जायेगा किन्तु मांस के अतिरिक्त कुछ नहीं खायेगा) नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। गो भी एक शब्द है, जिससे ब्रह्मविद्या को प्रदान करनेवाला दूध नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। हाथी भी एक शब्द है, जिससे गम्भीरता नामक अर्थ प्रकट हो रहा है तथा गजकर्णी (एक यौगिक क्रिया जिसमें हाथी पहले जल पीकर उसे वमन कर देता है फिर जल से पेट भर लेता है, वैसे ही साधक एक सप्ताह में एक दिन भरपेट जल पीकर वमन (उल्टी) कर देता है) नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। अश्व भी एक शब्द है जिससे अहर्निश खड़े रहने का अर्थ प्रकट हो रहा है और अश्विनीमुद्रा (एक यौगिक क्रिया) नामक अर्थ प्रकट हो रहा है (घोड़ा कभी जमीन पर लेटता नहीं है, लोट–पोट कर खड़ा हो जाता है तथा शौच करने के बाद बार–बार गुदा का संकुचन करते हुए पूरे वीर्य को छाती और सिर की तरफ ले जाता है अर्थात् वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसी गुदासंकुचन को योगियों ने स्वीकार करके अश्विनीमुद्रा नाम दिया है।) कुत्ता भी एक शब्द है, जिससे स्वामी–भक्ति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है तथा संतोष नामक अर्थ भी प्रकट हो रहा है (कुत्ता चाहे जितना भूखा हो, किन्तु उसे एक रोटी का टुकड़ा भी दे दिया जाय तो वह सन्तोष कर लेता है, जबकि वह बहुत विशेष खाने की क्षमता रखता है)। सर्प एक शब्द है जिससे अनिकेत नामक अर्थ प्रकट हो रहा है (सर्प एक जगह नहीं रहता तथा अपने लिए घर नहीं बनाता सन्तों ने इससे अनिकेत ही रहना चाहिए ऐसा संकेत लिया है)। पुनः समझें– वृक्ष, नदी, पर्वत ये भी शब्द हैं, जिनसे परोपकार करना नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। मानव भी एक शब्द है, जिससे लोकरीति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। मानवों में सकामी भक्त भी एक शब्द है, जिससे वैदिक कर्मकाण्ड नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। निष्कामी भक्त भी एक शब्द है, जिससे सम्पूर्ण यज्ञों का सम्पादन करने के उपरान्त निष्कामता, अकामता, चित्तशुद्धता और ब्रह्म अनुभूति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। जिज्ञासु भक्त भी एक शब्द है, जिससे मैं कौन हूँ, ब्रह्म क्या है, जीव क्या है,

माया क्या है, दृश्य क्या है, द्रष्टा क्या है, मुक्ति क्या है, बन्धन क्या है– ऐसा प्रश्नात्मक अर्थ प्रकट हो रहा है। साधक भी एक शब्द है, जिससे नानाप्रकार की साधना नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। सिद्ध भी एक शब्द है, जिससे सिद्धि नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। ब्रह्मज्ञानी परमशब्द है, जिससे परमानन्द और परमशान्ति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। सप्तर्षि भी एक शब्द है, जिससे वेद नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद भी एक–एक शब्द हैं, जिनसे नानाप्रकार के यज्ञ नामक अर्थ प्रकट हो रहे हैं। सामवेद भी एक शब्द है, जिससे ब्रह्म उपासना नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। वेद भी (पुनः) एक शब्द है, जिससे उपनिषद् नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। उपनिषद् भी एक शब्द है, जिससे शास्त्र नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। शास्त्र भी एक शब्द है, जिससे पुराण नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। पुराण भी एक शब्द है, जिससे स्मृति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। गीता आदि स्मृतियाँ भी शब्द हैं, जिनसे कर्म, अकर्म, विकर्म, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगादि नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। ज्ञान भी एक शब्द है, जिससे भक्ति नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। भक्ति भी एक शब्द है, जिससे मंत्र नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। मंत्र भी एक शब्द है, जिससे तंत्र नामक अर्थ प्रकट हो रहा है। तंत्र भी एक शब्द है, जिससे षड्यंत्र नामक अर्थ प्रकट हो रहा है।

निर्गुण निराकार ब्रह्म में अहर्निश ॐ रूप महानाद प्रकट हो ही रहा है और इस महानाद में से ही असंख्य नाद प्रकट हो रहे हैं। उपनिषद् का मंत्र कहता है कि ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ अर्थात् उसमें एक से अनेक होने की इच्छा प्रकट हुई। कैसे जाना जाय कि उसमें एक से अनेक होने की इच्छा प्रकट हुई? इसलिए कि उसमें से ॐ ध्वनि अनवरत हो रही है, फिर निश्चित ही उस ॐ ध्वनि का कुछ अर्थ होना चाहिए और चिन्तन करने पर इसका अर्थ प्रकट हुआ कि वह एक से अनेक हो रहा है। बच्चा किवाड़ खुलवाते समय नाद करता है– माँ! माँ.....माँ.....माँ..... ! बस, मात्र 'माँ' बोलता है। उस अवस्था में 'माँ' शब्द चिल्लाने से ही माँ समझ जाती है कि वह कह रहा है कि खोलो किवाड़। जल्दी–जल्दी माँ–माँ कह रहा है, इसका अर्थ कि वह कह रहा है– जल्दी खोलो भूख लगी है और आधी रात हो गयी है, भय भी लग रहा है, अब सोने का भी समय हो गया, देर न करो, अब देर से नहीं आऊँगा इत्यादि इत्यादि। माँ केवल माँ शब्द उच्चारण करने से ही सबकुछ जान लेती है कि बच्चा क्या कहना चाहता है। उसीप्रकार ऋषि–महर्षियों ने ॐ.....ॐ.....ॐ..... शब्द का अनवरत महानाद (उच्चारण) होते रहने से यह अर्थ देखा है कि ब्रह्म एक से अनेक होना चाह रहा है तथा एक से अनेक हो भी रहा है। ॐ में अनुस्वार (ँ) तो निश्चित ही बीज है और 'अ', 'उ', 'म्'– ये तीन शक्तियाँ हैं। अकार को ब्राह्मी शक्ति (ब्रह्मा) कहा जाता है, उकार को वैष्णवी शक्ति (विष्णु) कहा जाता है और मकार को माहेश्वरी शक्ति (शंकर) कहा जाता है। इन्हीं तीनों शक्तियों को वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों और स्मृतियों में राजस, तामस तथा सात्त्विक नाम से भी जाना जाता है। अनुस्वार तो 'मैं' (समष्टिमय) ही है अर्थात् महाचैतन्य स्वरूप ही है। यही 'मैं' (अनुस्वार) सम्पूर्ण प्राणियों का बीज कारण है। यही अनुस्वार (मैं) अकार का भी आधार है, मकार का भी आधार है और उकार का भी आधार है तथा सम्पूर्ण बीज मन्त्रों का, अक्षरों का

भी आधार है। सम्पूर्ण प्राणियों में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या (तुरीया)– ये चार अवस्थायें होती हैं। इन चारों में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से तो सभी परिचित हैं किन्तु तुरीयावस्था सन्तों के लिये प्रकट रहती है, इस अवस्था से वे ही परिचित रहते हैं। जिसप्रकार कागज पर नानाप्रकार के चित्र, पशु–पक्षी एवं मनुष्यों के बने रहते हैं और वे चित्र ही दिखाई पड़ते हैं जिससे उस समय कागज गौण हो जाता है, जबकि सारे चित्रों का होना उसी कागज से है, उसीप्रकार यह अनुस्वार ही (चेतन्य मैं) सम्पूर्ण शक्तियों का आधार है। इसी मैं को चैतन्य, पराशक्ति, जीवात्मा कहा गया है और अकार, उकार, मकार को अपराप्रकृति नाम से जाना जाता है। ये अ, उ, म् ही आकृति हैं, दृश्य हैं। इसप्रकार जब दृश्य का मैं (द्रष्टा, चैतन्य और जीवात्मा) से संयोग होता है तो निराकार में साकार, निःशब्द में शब्द, अकर्म में कर्मरूप शब्दब्रह्म प्रकट होता रहता है। इन दोनों का ही अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का, परा और अपरा का, वर्तुलाकार चक्र चल रहा है और इसी मायाचक्र के द्वारा सृष्टिचक्र अबाधगति से गतिमान है। गीताजी के सातवें अध्याय में भगवान नारायण ने स्पष्ट संकेत भी किया है–

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

अर्थात् यह सारा जगत ही अपरा प्रकृति है, जो परा प्रकृति से धारण किया जाता है। इसप्रकार सम्पूर्ण भूतप्राणी इन्हीं दोनों प्रकृतियों के संयोग से प्रकट हो रहे हैं और इन दोनों प्रकृतियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मैं ही स्थान हूँ, यानी ये दोनों प्रकृतियाँ मेरे से ही प्रकट होती हैं, मेरे में ही रहती हैं और मेरे में ही विलीन हो जाती हैं। 'आत्म चिन्तनम्' नामक ग्रन्थ में भी परम पूज्य मस्तराम बाबा कहते हैं कि

अहमिति परिपूर्णप्रत्ययः प्रत्यगात्मा।।

अर्थात् 'अहं' (मैं) ही परिपूर्ण चैतन्य है, जो सबमें ओत–प्रोत है। इसप्रकार दृश्य और द्रष्टा, परा एवं अपरा, क्षर तथा अक्षर ये दोनों ब्रह्म के ही स्वरूप हैं; इन दोनों स्वरूपों में ब्रह्मजिज्ञासु के लिए द्रष्टा तो ग्राह्य है किन्तु दृश्य त्याज्य है। इसी आशय का संकेत 'गीतागुह्यम्' नामक ग्रन्थ में भी किया गया है, कहा गया है– 'नैव नाशो निवासो वा कस्यचिदिति निश्चितम्।।'

अर्थात् नाश नहीं है और निवास नहीं है। किसका नाश नहीं है? आत्मा का नाश नहीं है और निवास किसका नहीं है? दृश्य का निवास नहीं है। अर्थात् द्रष्टा का नाश नहीं है एवं शरीर का निवास नहीं है। अ, उ, म् को मूल प्रकृति कहते हैं। इसी मूल प्रकृति में से सम्पूर्ण प्रकृति प्रकाशित हुई है। इसमें (अकार) अ के द्वारा 'हं' बीजमंत्र प्रकट हुआ, 'हं' आकाशतत्त्व का बीजमंत्र है। पुनः 'हं' से 'कं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो काम का बीजमंत्र कहलाता है। पुनः 'कं'

से 'चं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो क्रोध का बीज है, पुनः 'चं' से 'टं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो लोभ का बीजमंत्र है, पुनः 'टं' से 'तं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो मोह का बीजमंत्र है, पुनः 'पं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो भय का बीजमंत्र है। ये ही पाँच विकार आकाश के माने जाते हैं। इन्हीं पाँचों को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष का प्रतिनिधि माना जाता है। ये ही पाँच क्लेश कहे गये हैं योगशास्त्रों में। अब पुनः 'हं' नामक बीज से ही (जो आकाश का बीजमंत्र है) 'यं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो वायु का बीजमंत्र है। इसी 'यं' से 'खं' नामक बीज प्रकट हुआ जो उत्तिष्ठता (शरीर हवा से ही उठता है) का बीजमंत्र है। पुनः 'छं' नामक बीज प्रकट हुआ जो तिष्ठता (शरीर हवा के द्वारा ही बैठता है) का बीजमंत्र है। पुनः 'छं' से 'ठं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ, जो धावन (शरीर वायु से ही दौड़ता है) का बीजमंत्र है। पुनः 'ठं' से 'थं' नामक बीज प्रकट हुआ जो ग्रहण (वायु के माध्यम से ही हाथ से कुछ पकड़ा जाता है) का बीजमंत्र है। पुनः 'थं' से 'फं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो संकुचन (शरीर वायु के माध्यम से ही सिकुड़ जाता है) का बीजमंत्र है। पुनः 'यं' नामक (वायु) बीजमंत्र से 'रं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो अग्नि का बीजमंत्र है। 'रं' से 'गं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो क्षुधा का बीजमंत्र है। पुनः 'गं' से 'जं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो तृष्णा का बीजमंत्र है। पुनः 'जं' से 'डं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो मैथुन का बीजमंत्र है, पुनः 'डं' से 'दं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो आलस्य का बीजमंत्र है, पुनः 'दं' से 'बं' प्रकट हुआ जो निद्रा का बीजमंत्र है। उसके उपरान्त 'रं' (अग्नि) से 'वं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो जल का बीजमंत्र है। इस 'वं' से 'घं' नामक बीज प्रकट हुआ जो रक्त का बीजमंत्र है, पुनः 'घं' से 'झं' नामक बीज प्रकट हुआ जो वीर्य का बीजमंत्र है, पुनः 'झं' से 'ढं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो मूत्र का बीजमंत्र है, पुनः 'धं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो कफ का बीजमंत्र है, पुनः 'भं' नामक बीजमंत्र प्रकट हुआ जो मेद का बीजमंत्र है। निश्चित ही बिना जल के रक्त, वीर्य आदि का सृजन नहीं हो सकता, जिसप्रकार ऊपर कहे हुए अग्नि 'रं' के बिना निद्रा, क्षुधा, मैथुन आदि का आभास नहीं हो सकता। पुनः 'वं' (जल) से 'लं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो पृथ्वी का बीजमंत्र है, पुनः 'लं' से 'ङं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो त्वचा का बीजमंत्र है, पुनः 'ङं' से 'ञं' बीज प्रकट हुआ जो मांस का बीजमंत्र है, पुनः 'ञं' से 'णं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो रोम का बीजमंत्र है, पुनः 'णं' से 'नं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो अस्थि (हड्डी) का बीजमंत्र है। अब पुनः 'नं' से 'मं' बीजमंत्र प्रकट हुआ जो नाड़ी का बीजमंत्र है। निश्चित ही बिना पृथ्वी के त्वचा मांस, हड्डी आदि का सृजन नहीं हो सकता, जिसप्रकार बिना वायु के उठना, बैठना, दौड़ना आदि नहीं हो सकता। या यों कहें कि जिसप्रकार बिना आकाश के काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सृजन नहीं हो सकता। इसीप्रकार जो शेष अक्षर श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः हैं– ये सूर्य, चन्द्र, इन्द्रादि देवताओं के बीजमंत्र हैं और ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि भी अनेकानेक शक्तियों के ही बीजमंत्र हैं।

आपके ऐसा कहने से तो यही सिद्ध हो रहा है कि यह जो बृहद् संसार दिखाई दे रहा है वह मात्र इन उनचास शब्दों के अर्न्तगत ही है। हाँ, ऐसा ही है। यह शब्द ही ब्रह्म है जो विस्तार सा दिखाई दे रहा है। जिसप्रकार कोई वटवृक्ष अपने छोटे बीज में ही दिखाई देता है,

इसका तात्पर्य है कि छोटे से बीज में जिसप्रकार विशाल वृक्ष छिपा हुआ रहता है, उसीप्रकार इन मात्र उनचास शब्दों में सारा का सारा ब्रह्माण्ड छिपा ही रहता है और सारे के सारे स्वर एवं व्यंजन मात्र 'ॐ' में ही छिपे रहते हैं अर्थात् विलीन रहते हैं। इसप्रकार ॐ शब्द ही ब्रह्म है। जिसप्रकार सूर्य धीरे–धीरे आकाशमण्डल में प्रकट होते हैं तथा धीरे–धीरे ही किरणें फैलती हैं तथा संध्या में जैसे धीरे–धीरे ही किरणें सूर्य में ही सिमट जाती हैं, ठीक उसीप्रकार 'ॐ' नामक अक्षरब्रह्म से सारी की सारी स्वर–व्यंजनरूपी किरणें अपने नाम–रूप, आकार–प्रकार, क्रिया–कलाप से प्रकट होती हैं और पुनः प्रलयकाल में ये सारी कलाएँ नामरूपवाली क्रिया–कर्म आदि किरणें ॐ में ही सिमट जाती हैं। अर्थात् सारा का सारा दृश्य और द्रष्टा नामक संसार उस अपने उद्गम ॐ (शब्दब्रह्म) में ही विलीन हो जाता है। इसप्रकार जिसने ॐ को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। जिसने ॐ को नहीं जाना, वह सब कुछ जानकर अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं, कलाओं को जानकर भी कुछ नहीं जाना। तो आप कहना क्या चाहते हैं? यही कि जो पुनः अपने को, अपने मूल को जानना चाहता है, जिसे मुक्ति चाहिए संसार से, संसार के मूल को भी, संसार के स्वरूप को भी जानना चाहता है, माया को, माया के स्वरूप को भी जानना चाहता है; वह निश्चित ही ॐ का ही स्मरण करे। वह ॐ का ही जप करे वाणी से, मन से, बुद्धि से, तो ॐ को जान लेगा, ॐ को पहचान लेगा। सुगमता तो यह है कि जब ब्रह्म में ॐ का महानाद गूँजने लगता है तो सृष्टियाँ प्रकट होने लगती हैं और जब जीव में, भक्त में, साधक में ॐ गूँजने लगता है, अर्थात् उनकी वाणी में, मन में, अहर्निश साँसों में, तो सम्पूर्ण सृष्टियाँ अपने कारणरूप ॐ में ही विलीन हो जाती हैं। साधक के सारे विकार, उसका सारा ज्ञान–अज्ञान, धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य, कर्म–अकर्म ॐ में विलीन हो जाते हैं अर्थात् ॐ मय हो जाते हैं। महाराज अब पुनः शब्दब्रह्म से प्रकट हुई सृष्टि का क्रम और भी स्पष्ट रूपक के द्वारा प्रकाशित कर रहा है, जिसे बीजमंत्रों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। सर्वप्रथम निर्गुण–निराकार ब्रह्म से ॐ प्रकट हुआ। इस ॐ से पुनः आकाश प्रकट हुआ, इसी आकाश को पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा कहा जाता है। एक मुख तो आकाश ही है, दूसरा मुख वायु है, तीसरा मुख अग्नि है और चौथा मुख वेद है। फिर ॐ से उकार मात्रा की ध्वनि से जल प्रकट हो गया, जिसे पुराणों में श्रीहरि अथवा विष्णु कहा जाता है। पुनः ॐ से मकार ध्वनि के माध्यम से पृथ्वी प्रकट हुई, जिसे पुराणों में शिव की संज्ञा दी जाती है अर्थात् यही शिव हैं। क्या प्रमाण है कि जिन्हें सांख्यमत में पाँच तत्त्व कहा गया, उसी को आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा दे रहे हैं और क्या प्रमाण है कि जिन पाँच तत्त्वों को यज्ञ में पंचदेवताओं के रूप में स्वीकार किया गया इन्हीं को आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं? हाँ प्रश्न तो उचित ही है, निश्चित ही महाराज इन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा देना नहीं चाहता है, न इन्हें पाँच तत्त्व कहता है, न इन्हें पञ्चदेवता कहता है बल्कि केवल ब्रह्म के स्वरूप को ही प्रकट करना चाहता है। महाराज तो यह सिद्ध करेगा कि जिसे आप संसार कहते हैं, जिसे आप तत्त्व कहते हैं, जिसे आप पञ्चदेवता कहते हैं, जिसे आप तीन देवता कहते हैं, वह तो साक्षात् निर्गुण निराकार निर्विशेष सम एवं शान्त ब्रह्म ही है; किन्तु अब महाराज इसको पृथक्–पृथक् नाम रूपों में विभाग करके देता है, इसलिये सर्वप्रथम रूपक को हटाकर

उसके रूप की प्रस्तावना करेगा और तब उस रूप में जो सगुण और निर्गुण का भ्रम होगा उसका भी निराकरण करने का प्रयत्न करेगा। इसप्रकार कहने से तो लग रहा है कि आप शास्त्र–पुराणों के मत का खण्डन करके अपने मत का मंडन (प्रतिष्ठा) कर रहे हैं? नहीं, कभी नहीं, आप पहले महाराज की बात को ध्यान से सुनें और पूरी सुन लें फिर भी कदाचित् कोई शंका हो जाय तो निश्चित ही इसपर तर्क कर लेना।

अब चतुर्मुख आकाश (ब्रह्मा), जल (विष्णु) और पृथ्वी (शिव) के द्वारा प्रकट हुई सृष्टियों का वर्णन किया जा रहा है– सर्वप्रथम आकाश से 'काम' प्रकट हुआ। यह 'काम' ही आकाश का विकार कहा जाता है तथा इसी 'काम' को आकाश का (व्यवहार में) मानस पुत्र कहा जाता है। यही देवताओं का स्वामी माना जाता है। किन देवताओं का? हाँ; क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि देवताओं का। इस 'काम' के भी अनेक रूप हो गये, जिन्हें आप गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस और भूत–प्रेत नाम से जानते हैं। ये गन्धर्व, किन्नर आदि सूक्ष्म जगत के प्राणी कहे जाते हैं, जो मनुष्य से विशेष शक्ति सम्पन्न हैं, विशेष तेजोमय हैं। निश्चित ही ऊपर से ये तेजोमय हैं और भीतर से रजोमय संकल्प से सम्पन्न हैं। ये ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, छल, कपट आदि देवता सृष्टि में सम्पूर्ण यज्ञों के कुछ अंश के भागीदार भी हैं। व्यवहार जगत में बिना इनके सहयोग के कोई भी पुरुष परमतत्त्व की तरफ नहीं बढ़ सकता।

यह तो आज आपने बिल्कुल विपरीत ही कह दिया! जिस काम, क्रोध, राग, द्वेष से मानवमात्र अत्यंत पीड़ित है, उसी को आपने यज्ञ का भागीदार बना दिया, ऐसा क्यों?

ऐसा इसलिए कि किसी भी राजा को राज्य संचालन में साम, दान, दण्ड, भेद आदि नीतियों का प्रयोग करना ही पड़ता है। राजा का जीवन यज्ञमय होता है, अतः उसने सुपुत्र की कामना से 'काम' को स्वीकार कर लिया, जघन्य अपराधी को दण्ड देने के लिए 'क्रोध' को स्वीकार कर लिया, प्रजा की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए, अकाल आदि के पड़ने पर खजाने को भरे रखने के लिए उसने 'लोभ' को स्वीकार कर लिया, धर्म ही उस राजा का प्राण है, इसलिए उसने धर्म के प्रति 'मोह' को स्वीकार कर लिया, अधर्म ही उसके लिये काल है, अतः अधर्म से बचने के लिए उसने भय को स्वीकार किया, सद्गुरु ही राजा का मस्तिष्क है, इसलिये उसने सद्गुरु से 'प्रेम' कर लिया और दुर्विचार ही उसके जीवन के बाधक हैं, इसलिये उनके प्रति उसने द्वेष स्वीकार कर लिया। इसीप्रकार अन्य विकारों (देवताओं) की उपयोगिता को स्वीकार कर लें। समुद्रमन्थन में भी देवता और असुरों ने मिलकर ही रत्न निकाला था, इसे तो सब जानते ही हैं। इसप्रकार इन सूक्ष्म विकारों को भी अपने कर्ममय यज्ञ में सबने स्वीकार किया है, यह स्पष्ट हो गया। आकाश ही ब्रह्मा है, इसलिये कि पुराणों में ब्रह्मा की उपासना का विधान विशेष नहीं है। पूरे भारतवर्ष में ब्रह्मा का एकमात्र पुष्कर में ही एक मन्दिर है। लोग कहते हैं कि ब्रह्मा ने एक कन्या को प्रकट किया, जो उसकी पुत्री कहलाई और वह उसी पर कामासक्त हो गया, इसीकारण से लोगों ने उसकी उपासना का त्याग किया। तात्पर्य यह कि आकाश ही ब्रह्मा है, उसने अविद्यारूप कन्या को प्रकट किया, जिस अविद्या (अज्ञान) के कारण से सारे के

सारे प्राणी मोहित हो रहे हैं। चार्वाक जैसा नास्तिक भी आकाश की बात नहीं करता है, कहता है– आकाश की आवश्यकता ही क्या है? इस लोक में अग्नि और वायु देवता का भी मन्दिर नहीं देखा जाता, किन्तु कर्मकाण्डी साधकों ने कुछ अंश तक अग्नि और वायु को स्वीकार भी किया है। सर्वप्रथम साधक कर्मकाण्ड से ही ब्रह्म की खोज करता है। कर्मकाण्ड को अग्नि की विशेष अपेक्षा है। जब कर्मकाण्ड से ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती, तब वह वायु को स्वीकार करता है अर्थात् योगादि क्रियाओं को स्वीकार करता है। अष्टांगयोग की क्रियायें प्राणायाम से रहित नहीं हैं और प्राणायाम को शुद्ध वायु की अपेक्षा है; किन्तु जब योगादि क्रियाओं से भी ब्रह्म–साक्षात्कार नहीं होता तब वह आत्मचिंतन अर्थात् राजयोग को स्वीकार करता है, तब वह जाकर कृतकृत्य हो जाता है। अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद– ये ही ब्रह्मा के मानो तीनों मुखों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो ब्रह्मजिज्ञासुओं के द्वारा त्याज्य हैं। हाँ, ब्रह्मा का चौथा मुख जो सामवेद है, उसे सम्पूर्ण जिज्ञासुओं ने हृदय से स्वीकार किया, जिसमें मात्र ब्रह्म की प्रशंसा के लिये स्तवन ही हैं और ये सारे सामवेदीय मन्त्र आत्मचिंतन ही हैं। सामवेदीय सारे के सारे मन्त्र ऋषियों के समुदाय हैं। वे सारे ऋषि साधकों का सहयोग करते हैं, अतः वे इसलिये ही स्वीकार किये गये। इसप्रकार ब्रह्म और ब्रह्म की सृष्टि का गूढ़ात्मक रहस्य प्रकाशित हो गया।

जल ही विष्णु है। यह निर्विकार निराकार एवं निर्मल है और जिज्ञासु को भी निर्विकारिता एवं निर्मलता देता है। आकाश ने जो पाँच– काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयरूप मुख्य देवताओं को प्रकट किया था, उनमें से 'क्रोध' तो वायु का विकार हुआ, 'लोभ' अग्नि का और 'मोह' जल का तथा 'भय' पृथ्वी का विकार हुआ अर्थात् वायु में 'काम' अंश मात्र आया, क्रोध मुख्य रूप से आया। अग्नि में काम और क्रोध अंशरूप से आया तथा लोभ मुख्यरूप से आया। इसप्रकार आकाश काममय कहलाया, वायु मुख्यरूप से क्रोधमय कहलाया, अग्नि मुख्यरूप से लोभमय कहलाया, जल मुख्यरूप से मोहमय (वात्सल्य) कहलाया। इसप्रकार वायु दो विकारोंवाला हुआ, अग्नि तीन विकारोंवाला और जल काम, क्रोध, लोभ, मोह इन चार विकारोंवाला हुआ; किन्तु जल में तीन विकार गौण रहते हैं, सुषुप्त से रहते हैं और चौथा विकार मोह (वात्सल्य) प्रधान रूप से रहता है। ये उपरोक्त विकारोंवाले हैं, इनका क्या प्रमाण है? हाँ; आप नहीं देखते कि जब व्यक्ति में क्रोध प्रकट होता है तो प्राणवायु में उथल–पुथल हो जाता है, रक्तचाप बढ़ जाता है। इसलिये यही संकेत है कि प्राणवायु मुख्यरूप से क्रोध से प्रभावित होता है। आप नहीं देखते कि अग्नि में जो भी कुछ ईंधन डाला जाय तो उसको वह खा जाता है, मुख में अग्नि का वास है, अतः जो कुछ भी मुख के द्वारा खाया जाता है उसे अग्नि पचा देता है (इस भाष्य में अग्नि, पृथ्वी आदि तत्त्वों को जहाँ–जहाँ पुलिंग के अर्थ में लिया है वहाँ–वहाँ जानना चाहिए कि इनका प्रयोग तत्त्वरूप में किया गया है)। यही संकेत है कि अग्नि लोभ प्रधान है। और जल? जिसप्रकार माँ बच्चे की सुरक्षा करती रहती है उसीप्रकार जल भी सबको जीवन देता रहता है। भूख लग गयी किसी को तो वह जल पीकर शान्त कर लेता है, प्यास तो जल से शान्त होती ही है, असमय में आलस आ रहा हो तो जल का छींटा मारकर उसे दूर कर लिया जाता है। जल तो सकामी, निष्कामी, योगी, ज्ञानी सबको ही जीवन देता है तथा सभी (मानवमात्र) अपने

कर्मकाण्ड की शुद्धि जल से करते हैं। तपस्वियों का तो यह जल निश्चित ही प्राण है; क्योंकि तपस्वीगण जप, तप, योग के समय सम्पूर्णता से जल को ही स्वीकार करते हैं। साधक आलस्य–प्रमाद की निवृत्ति के लिये, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से निवृत्ति के लिये सर्वप्रथम अन्न का एवं अग्नि का ही त्याग करता है; क्योंकि सम्पूर्ण विकारों के ये निमित्त कारण बनते हैं, परन्तु जल इन कारणों को शान्त करता है। जलपान करके ही ज्ञानयोगी अहर्निश आत्मचिंतन करते रहते हैं। आपने देखा होगा कि शिवलिंग पर सुबह–सुबह जल चढ़ाया जाता है। वह शिवलिंग क्या है? यह शरीर ही शिवलिंग है, जिसे समयानुसार जल से विधिवत् स्नान कराकर इसे ध्यान में बैठाया जाय तो इसी से ब्रह्मज्योति प्रकट होती है; इसप्रकार यह ज्योतिर्लिंग भी है। गर्मी के चार–पाँच महीने तो शिवलिंग के ऊपर घड़े में जलभर करके अहर्निश जलधार गिरायी जाती है; कारण कि यह शरीररूपी शिवलिंग गर्मी के दिनों में विशेष अग्नितत्त्वमय हो जाता है, इसलिये साधकों ने सवेरे शाम, दोपहर और रात्रि में भी शरीर को जल से स्नान कराकर अहर्निश ध्यान किया। कुछ साधकों ने तो नदी में छाती तक जल में खड़े होकर जप–तप का अनुष्ठान किया ताकि आलस्य, प्रमाद, काम, क्रोधादि विकार प्रकट ही न हों। समर्थ स्वामी रामदासजी ने तो अपनी पूरी जपसाधना जल में खड़े रहकर ही की थी। जल निर्विकार है, अतः निर्विकारता एवं निर्मलता की सिद्धि के लिए साधकों ने जल (विष्णु) को स्वीकार किया। लक्ष्मी विष्णु के चरणों की सेवा करती रहती हैं, जहाँ विष्णु हैं वहाँ लक्ष्मी हैं, ऐसा पुराणों में आता है। तात्पर्य कि जहाँ जल है, वहीं भौतिक सम्पन्नता भी है। जहाँ मिट्टी उपजाऊ तो है, परन्तु पर्याप्त सिंचाई के योग्य जल नहीं है तो वहाँ दरिद्रता रहती है, वह राष्ट्र भी विपन्न रहता है। जहाँ जल है वहाँ अन्न भी पर्याप्त है, दूध–घी भी पर्याप्त है, कान्ति–सौन्दर्य भी वहीं है, प्रसन्नता भी वहीं है। यह धन, यश, कीर्ति, सुन्दरता, शान्ति ही लक्ष्मी है। यही कारण है कि जल (विष्णु) की जगत में विशेष उपासना देखी जाती है, चाहे जहाँ विष्णु (राम, कृष्ण) का मन्दिर पाया जाता है। यह जो विष्णु में मोह की बात की गयी है, वह मोह का सात्त्विक अंश मानना चाहिए। मोह का तामस और राजस अंश तो पृथ्वी (शिव) को ही प्राप्त है। अतः विष्णु को पालनकर्ता कहा गया है। यह जल ही सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन है, जगत में ऐसा देखा गया है।

अब पृथ्वी (शिव) से प्रकट हुए प्राणियों को प्रकाशित किया जा रहा है। यह पृथ्वी ही पुराणों में शिव नाम से विख्यात है। पृथ्वी यद्यपि पाँच विकारोंवाली कही जाती है; किन्तु मुख्यरूप से इसमें भय की प्रधानता है। इसीलिए पृथ्वी की प्रजा सर्प–बिच्छू, कीड़े–मकोड़े, पशु–पक्षी आदि तमोमय प्राणी प्रकट हो गये। मनुष्य को छोड़ ये सभी प्राणी अज्ञानमय हैं, मोहमय हैं, तमोमय हैं। भगवान शिव की बारात में जो कहा गया है कि उनके बाराती विलक्षण हैं, वीभत्सरूपवाले हैं, वह इन्हीं प्राणियों के लिए कहा गया है।

कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू।।
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तनखीना।।

छन्द– तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें।।
खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष अगनित को गनै ।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

अर्थात् कोई तो बिना मुख का है और कोई बहुत मुखोंवाला है, कोई बिना पैर का तो कोई बहुत हाथ–पैरोंवाला है, कोई हृष्ट–पुष्ट है तो कोई अत्यंत कृश शरीरवाला है, कोई बहुत नेत्रोंवाला है तो कोई बिना नेत्रोंवाला है, कोई अति अपवित्र है तो कोई अति पवित्र है।

पृथ्वी से उत्पन्न हुआ केंचुआ बिना मुख का दिखाई पड़ता है, सर्प बिना पैरों के हैं तो गोजर बहुत पैरोंवाला है, चींटी की नाक ही नेत्र है तथा गन्ध और गोबर के कीड़ों के नेत्र ही नहीं हैं। हाथी बहुत ही हृष्ट–पुष्ट है तो जिराफ बहुत लम्बा होते हुए भी बहुत पतला है, गो, हिरण आदि अति पवित्र हैं, तो सूअर आदि अति अपवित्र हैं। शेर, बाघ, जोंक आदि हिंसक प्राणी रक्त ही पीते रहते हैं। गधे, कुत्ते, सूअर, शृगाल आदि अनगिनत तमोमय प्राणी शिव के बाराती हैं अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न प्राणी हैं। पुराणों में कहा गया है कि शिव अपने शरीर में श्मशान की भभूत लपेटे हुए हैं, मृगछाला पहने हुए हैं, गले में सर्पों की माला है तथा एक हाथ में त्रिशूल है तो दूसरे हाथ में डमरू है, जटाओं से गंगा प्रवाहित हो रही हैं और बैल ही जिनकी सवारी है– ऐसे त्रिनेत्रधारी भगवान शिव को नमस्कार है। पार्वती जिनकी अर्धांगिनी हैं ऐसे शिव और शिवा सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं। तात्पर्य है कि यह पृथ्वी ही शिव है। इस पृथ्वी पर ऐसी कोई तिल भर भी जगह नहीं है, जहाँ मानव का मृत शरीर न जलाया गया हो। अतः यह पूरी की पूरी भूमि श्मशान है। मानो पृथ्वी ने पूरे अंगों में भभूत रमा रखा है। ये जो पशु हैं मानो वे मृगचर्म हैं। भूमि के विवरों में (विशेष हिमालय में) नागों का वासस्थान माना जाता है, अतः वे ही मानो माला के रूप में हैं। नाग जाति भी होती है जिसका उल्लेख है कि वह हिमालय में ही पायी जाती है। इस समय वह सामान्य लोगों की दृष्टि के पहुँच से बाहर है। वे ही सर्पों की मालाएँ हैं। कैलाश पर्वत ही शिव का मानो गर्दन का ऊपरी भाग है जो बर्फ से ढका हुआ रहता है। ये बर्फ की चोटियाँ ही, शृंखलायें ही जटाएँ हैं। बादल ही बाल हैं, सूर्य चन्द्रमा ही दो नेत्र हैं तथा ऋषि–महर्षि ही तीसरे नेत्र हैं, बादलों की गड़गड़ाहट ही डमरू का नाद है अथवा मानवों, पशु–पक्षियों तथा वाहनों का नाद ही डमरू का नाद है। यहाँ पर दैहिक, दैविक, भौतिक ताप ही त्रिशूल है, आकाश ही सिर है। पृथ्वी का आधा भाग पर्वत ही पार्वती है जो अर्धांगिनी कही जाती है। इसप्रकार मानो पृथ्वी (शिव) ने समाधि लगा रखा हो। शिव को पंचमुख भी कहते हैं क्योंकि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँचों का अंश अंशतः तो इनमें ओत–प्रोत है ही। हाँ, चार तो गौणरूप में हैं और पाँचवाँ तमोगुण प्रधानरूप से है। इसी से ये पृथ्वी (शिव) तम का देव कहा जाता है। निश्चित ही शिव की जटाओं से गंगाजल बह रहा है, जटाओं में गंगाजी का वास है। यह बर्फानी चोटियाँ ही तो जटाएँ हैं, जिनसे गंगाजल अनवरत प्रवाहित होता रहता है।

सूक्ष्म जगत के देवी–देवता तो आकाश से प्रकट हुए, स्थूल तामस प्राणी, पशु–पक्षी, कीट, सर्प आदि तो पृथ्वी से प्रकट हुए; किन्तु मनुष्य किससे और कैसे प्रकट हुआ, जो इस पृथ्वीलोक की विभूति है। क्या यह मानव आकाश, पृथ्वी और जल (ब्रह्मा, शिव और विष्णु) का संकल्प ही है अर्थात् इन तीनों के संकल्प से प्रकट हुआ है? क्योंकि देखा भी जाता है कि यहाँ कुछ प्राणी अन्न से प्रकट होते हैं, वे निश्चित ही एक तत्त्व से ही प्रकट होते हैं, जैसे अन्न का कीड़ा अन्न के बिना नहीं रह सकता। गोबर का कीड़ा दो तत्त्वों से बना है मिट्टी और जल; क्योंकि जब गोबर सूख जाता है तो वह कीड़ा भी, जो गोबर में जल का अंश रहता है, उसके अभाव में जीवित नहीं रह पाता। जल के प्राणी जल के बिना जीवित नहीं रह पाते। इसीप्रकार कुछ प्राणी तीन तत्त्व के पाए जाते हैं, कुछ प्राणी चार तत्त्व के; परन्तु मनुष्य पाँच तत्त्वोंवाला है अर्थात् उसका शरीर पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश के बिना नहीं रह सकता। इससे सिद्ध होता है कि यह रज, सत्त्व तथा तम (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का ही संकल्प है। इसके विषय में आप क्या कहते हैं?

नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। अभी तक तो महाराज ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश का ही परिहार किया अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रहस्य ही प्रकाशित किया, किन्तु अब कहना चाहता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तो मात्र एक रूपक है, कल्पना है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश भी एक कल्पना है; जिसे आप सब जगत कहते हैं, संसार कहते हैं, सृष्टि कहते हैं, ब्रह्माण्ड कहते हैं। निश्चित ही यह साक्षात् निर्गुण ब्रह्म ही है, जो सगुण–ब्रह्म जैसा प्रतीत हो रहा है। आपने अपने अज्ञान की व्यवस्था के लिए इसे पाँच तत्त्वों के रूप में देखा, तीन देवताओं के रूप में देखा अथवा ऋषियों ने आपकी बुद्धि की अल्प सामर्थ्य को देखते हुए ब्रह्म का विभाग करके दिखाया। मुँह छोटा है, भोजन ज्यादा है, इसलिए भोजन को छोटे–छोटे ग्रास करके निगला जाता है; उसीप्रकार बुद्धि की समझ सीमित है, छोटी है, स्थूल है, इसीलिए ब्रह्म का ऋषि–महर्षियों ने तत्त्वों, महातत्त्वों, देवी–देवताओं के रूप में विभाग करके समझाने का प्रयत्न किया। इसलिए जिस तरह छोटा बालक बड़े होने पर 'क' माने 'कौआ' 'ख' माने 'खरगोश' 'ग' माने 'गधा' कहना छोड़ देता है; ठीक उसीप्रकार आत्मज्ञान होने पर पाँच तत्त्व की कल्पना छूट जाती है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूपक समाप्त हो जाता है, मात्र रूप रह जाता है। इसी से सम्पूर्ण ब्रह्मवादियों ने कहा 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म में जगतभाव भ्रम है, असत्य है, कल्पना है। जिसप्रकार धुँधले प्रकाश में रस्सी सर्प की तरह दिखाई पड़ती है, जबकि रज्जु में सर्प है ही नहीं, तीनों कालों में रस्सी–रस्सी ही है, उसीप्रकार ब्रह्म में भ्रम से ही जगत दिखाई दे रहा है, जबकि तीनों कालों में ब्रह्म ही प्रत्यक्ष है। जगत आजतक उसमें प्रवेश ही नहीं किया। अतः मानव शरीर इस सगुण ब्रह्म का ही संकल्प है। यह ब्रह्म से ही प्रकट होता है, ब्रह्म में ही रहता है और ब्रह्म में ही अन्तर्ध्यान हो जाता है। अतः निश्चित ही यह सगुण ब्रह्म है, मनुष्य नहीं है। यही कारण है कि जब यह अपने निर्गुण निराकार रूप में स्थित होता है तब उसके भीतर से महानाद प्रकट होता है– 'अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ', इसप्रकार की ब्रह्मानुभूति में रमण करता हुआ वह सम शान्त सच्चिदानन्दमय

शान्तिमय होकर यहाँ विचरण करता रहता है। उस अवस्था में न शब्दब्रह्म की ही कल्पना है, न ज्योतिर्ब्रह्म की ही; वहाँ वही है, वही है, वही है। उस अवस्था में वह अपने को मानो समेटता हुआ प्रतीत होता है तब उसके भीतर से शब्दब्रह्म प्रकट होता है कि अब 'बहवोऽहं एकः स्याम्' अर्थात् मैं बहुत हूँ किन्तु एक ही हो जाऊँ। फिर तो क्या, वह 'ॐ' ही हो जाता है, 'ॐ' नामवाला तथा 'ॐ' रूपवाला ही हो जाता है।

क्या सम्पूर्ण मनुष्यों के विषय में ऐसा कह रहे हैं ऐसा है? नहीं, सबके विषय में महाराज नहीं कह रहा है, बल्कि यह कह रहा है कि जबतक यह ब्रह्म (मनुष्य) सकामी रहता है तबतक यही ब्रह्मा कहलाता है, जबतक आलसी, प्रमादी, असजग, पशुवत् रहता है, तबतक यही ब्रह्म शिव (मानव) कहलाता है और जब यही ब्रह्म निष्कामी हो जाता है, तब विष्णु कहलाता है और यही ब्रह्म जब आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, आप्तकाम, पूर्णकाम हो जाता है, तब सम शान्त निराकार निर्विशेष निर्गुण कहलाता है। निश्चित यह ब्रह्मज्ञानी, आत्मज्ञानी ही ब्रह्म है, इसी की सेवा–शुश्रूषा, दर्श–स्पर्श करके स्वयं को जानने का सुप्रयत्न करना चाहिए।

(शब्दब्रह्मोपाख्यान पूर्ण हुआ)

जहाँ गृहस्थाश्रम का देवयज्ञ, धर्मभूमि–कर्मक्षेत्र में सम्पन्न होता है; वहीं आध्यात्मिक यज्ञ, तपोभूमि–त्यागक्षेत्र की अपेक्षा रखता है। जहाँ गृहस्थ का मौलिक मंत्र, धर्म फिर कर्म है; वहीं आध्यात्मिक साधक का मौलिक मंत्र है तप फिर त्याग अर्थात् तप के साथ त्याग। यहाँ धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में महात्मा अर्जुन ने अपना सारथि बदल दिया। विशेष भूमि और विशेष कर्म के लिए विशेष अनुभव की आवश्यकता होती है। अबतक अर्जुन ने ऐसे संग्राम की कभी कल्पना भी नहीं की होगी, इसलिए भगवान को ही अपना सारथि बना लिया। ठीक उसीप्रकार आध्यात्मिक संपत्ति की प्राप्ति के लिए अपने जीवनरथ पर साधक सद्गुरु को ही बिठा लेता है; क्योंकि उसके सामने विपक्ष में सारे माता–पिता, भाई–बान्धव, स्वजन–सम्बन्धी, हित–मित्र खड़े हो जाते हैं, उस अवस्था में उसके मन में दया, करुणा का भाव जगना स्वाभाविक है। गृहस्थधर्म जहाँ क्रूरता में नष्ट होता है, वहीं साधक का त्यागमयधर्म दया में जाता रहता है। भगवान का हो जाने पर अधर्म से युद्ध तो करना ही पड़ेगा, चाहे वह अधर्म माँ में हो, चाहे पिता में हो या बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों अथवा हित–मित्रों में हो। चोर पिता अपने धर्मात्मा पुत्र के विरोध को सहन नहीं कर सकता, अतः संग्राम की स्थिति आनी स्वाभाविक है।

एक साधक ने अपनी जीवन–गाथा का एक अंश सुनाया। उसके चाचा और पिता के बँटवारे में चाचा की तरफ से पंच आये। उन्होंने कहा– बेटा! अपने पिता को बुला लाओ। पुत्र पिता को बुलाने गया। कहा– पंच आये हुए हैं, आपको बुला रहे हैं। पिता गरज कर बोले– जानता नहीं! वे सब मेरे दुश्मन आये हुए हैं? जाकर कह दो– पिताजी घर पर नहीं हैं। वह घर के बाहर गली में आकर सोचने लगा कि अब क्या करूँ, मैंने तो झूठ न बोलने का साल भर से व्रत ले लिया है। यदि ऐसा कहता हूँ तो सत्यव्रत खण्डित होता है और सच जाकर बोलता हूँ तो पिता की प्रतिष्ठा जाती है। बस, ऐसा सोचकर नदी के किनारे चला गया और भर पेट भगवान

के सामने रोया कि हे प्रभु! आज इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं सत्य बोल सकूँ।

प्रायः प्रत्येक भगवद्भक्त की परिवार तथा समाज के साथ लम्बे कालतक ऐसे संग्राम की सम्भावना बनी रहती है, विश्वास न हो तो भगवान का होकर कोई देखे। भगवान के जप के लिए, ध्यान–स्वाध्याय के लिए घर के सदस्य विशेष समय नहीं दे सकते, अति खिन्न होकर उन्हें कहना पड़ेगा कि इससे तो साधु बन जाते तो अच्छा रहता। अतः ऐसी विषम परिस्थिति की सम्भावना सदा बनी रहती है। इसलिए अपने जीवनरथ के सारथि, जो माता–पिता, कुलगुरु और बूढ़े–बुजुर्ग होते हैं, उनकी जगह सद्गुरु को ही सारथि बनाना चाहिए, यदि आपको भगवान चाहिए तो। गृहस्थ का सारथि तो पुराण एवं शास्त्र भी बन जाता है, किन्तु भक्त का सारथि शास्त्र–पुराण नहीं बन सकते। देवपूजा में कुलपुरोहित और उनका शास्त्र पर्याप्त है, किन्तु ब्रह्म की उपासना में इनका कोई स्थान नहीं है, वहाँ तो मात्र सद्गुरु चाहिए।

एक भक्त घर के कमरे में नित्यप्रति ध्यान करता था। पिता ने चिढ़कर कहा– मन्दिर क्यों बना है गाँव में, उसमें जाकर जप क्यों नहीं कर लेते? आँख मूँदने से क्या होता है? जल का अर्घ्य दो, भगवान की पूजा करो! आँख मूँदकर ढोंग कर रहे हो? ऐसी अवस्था में साधक कैसा व्यवहार करे, क्या कहे, कैसे रहे– यह गुरुदेव ही बतायेंगे।

देखा जाता है, साधक, जिन्होंने घर छोड़ दिया है, वे भी घर–गाँव के लोगों के प्रति पुनः व्यवहार में आते हैं। यह अर्जुन जैसा मोह ही तो है, जो सर्वथा वर्जित है, जिससे पुनः घर में जाने की सम्भावना बनती है। संन्यासी साधक के दो ही तो अपराध हैं– घर, गाँव, जाति इत्यादि से सम्बन्ध बनाना और विदेश जाना। किन्तु अब ऐसे साधक गिनती के रह गये हैं, जो इन नियमों का पालन कर रहे हों। जहाँ धर्मयुद्ध का अवसर अर्जुन की तरह भाई–बान्धवों से आता ही है, वहीं आध्यात्मिक युद्ध भी भगवद्भजन में आता ही है।

युद्ध का मैदान है, भगवान अपने से प्रकट किये गये दिव्य रथ पर आसीन हैं। उनकी आज्ञा से महात्मा अर्जुन भी भगवती माँ दुर्गा का स्मरण करके रथ के पिछले भाग में खड़े हो गये हैं। दोनों तरफ आमने–सामने सेनाएँ खड़ी हैं। बिगुल बज उठा है अर्थात् मारू राग से योद्धाओं को उत्साहित कर दिया गया है और बाण सर्वप्रथम किसकी तरफ से चले, इसकी प्रतीक्षा है। एक तरफ सेनापति पितामह भीष्म हैं तो दूसरी तरफ अजन्मा धृष्टद्युम्न हैं। धृष्टद्युम्न बाण क्यों चलाएँगे? इसलिए कि वे पितामह भीष्म का समादर करते हैं तथा पितामह भीष्म भी बाण क्यों चलाएँगे सर्वप्रथम? इसलिए कि भगवान का वे संकेत चाहेंगे तथा वे ये भी जानते हैं कि ये जो पाण्डव हैं, वे महत् शिष्य हैं। बिना इनके अभिवादन किए बाण फिर कैसे चलाएँगे। इसी झाँकी से प्रथम अध्याय प्रारम्भ होता है। एक मधुर पहेली है कि जब–जब अवतार हुए तब–तब उन अवतारी भगवानों ने किसी विशेष दिव्य स्थल की माँग नहीं की। जहाँ अवसर पाया, वहीं अपनी प्रिय आत्मा को ज्ञानोपदेश से अभिभूत कर दिया, तृप्त कर दिया। वैसे ही भगवान श्रीराम रणभूमि में रावण के सामने बिना रथ के खड़े हैं। रावण रथ पर बैठा–बैठा फूला नहीं समा रहा है। उसकी प्रसन्नता की स्थिति को तो सभी देख रहे हैं लेकिन महात्मा विभीषण

ने कुछ विशेष ही देखा। अतः उन्होंने भगवान श्रीराम के प्रति जो क्षणभर के लिए मोह हो गया था कहा कि आप इस महारथी के सामने बिना रथ के युद्ध कैसे कर पाएँगे? एक तरफ महात्मा विभीषण हैं तो दूसरी तरफ महात्मा अर्जुन हैं। महात्मा अर्जुन का मोह (संदेह) गीतारूपी शास्त्र देता है, तो महात्मा विभीषण का मोह एक ऐसे दिव्य पुरुष को लाकर खड़ा करता है, जो पुरुष यदि आपके साथ आ जाये तो फिर इस जीव–जगत में आपके लिए कोई शत्रु ही नहीं है जिसपर विजय प्राप्त करने की संभावना भी हो अर्थात् कोई आपका यदि शत्रु होता है तो वह पराजित होता है। 'महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर' हे महात्मा! जिनके पास यह दिव्य पुरुष है अर्थात् दिव्य रथ है, दिव्य रथ पर आसीन वह दिव्य पुरुष है, उसके लिए जगत में कोई शत्रु ही नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जिसके पास कोई शत्रु है तो उसके पास महात्मा विभीषण के पास प्रकट किया गया दिव्य पुरुष जो दिव्य रथ पर आसीन है, वह नहीं है। वह दिव्य रथ जिसमें, अर्थात्–

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

दो०– महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।। ८० (क)।।
(श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड)

जिस दिव्य रथ में शूरता एवं धैर्यता, ये दो चक्के लगे हुए हैं, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और वह दिव्य पुरुष जो आम लोगों को दिखाई नहीं पड़ता वह आत्म पुरुष है, जिसके तरकश में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, अर्चना, वन्दना, सेवा, शूश्रूषा इत्यादि नाना प्रकार के दिव्य बाण हैं। यही नहीं, वह ऐसा दिव्य पुरुष है जिसने सद्गुरुओं एवं उच्चकोटि के साधकों तथा अपने कुल–गुरुओं, पुरोहितों की अर्चना–वन्दना करके एक दिव्य कवच को पहन लिया है और उसके दिव्य रथ पर सत्य व्रत तथा महत्शीलता व्रत की मानो दिव्य ध्वजा फहरा रही है– ऐसे आप लंकाकाण्ड के दिव्य रथ को जिस पर दिव्य पुरुष आसीन है देखें। जितने लक्षण दिये गये हैं वहाँ पर वे क्या आपमें हैं? यदि हैं, तब तो कोई बात नहीं, कल के दिन आप विजेता होंगे। इस जगत में चाहे आपका कोई भी पाप होगा वह पराजित होगा लेकिन यदि उस पुरुष के दिव्य अंगों में से कोई एक अंग भी आपके पास नहीं है तो फिर आपके विजय के काल में कुछ दूरी हो जायेगी, पता नहीं कब आप विजयी होंगे। रामचरितमानस में भगवान श्रीराम के व्यवहार को आप देखें, इधर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द के व्यवहार

को आप देखें, दोनों ही अपने आसुरी एवं दैवी भक्तों की सुरक्षा कैसे करते हैं। आप सबको आश्चर्य होगा कि ऐसा महाराज ने क्यों कह दिया, असुरों को भक्त क्यों कह दिया? इसलिए कि असुर यदि नहीं होते तो आपके सामने रामायण, महाभारत एवं पुराण नहीं होते। ये दो अंग हैं। शरीर में यदि लार का मंथन होने के उपरांत कफ न बने, तो फिर शरीर का जीवित रहना असंभव हो जायेगा। वैसे ही यदि मैला न रहे शरीर में अर्थात् हैजा हो जाय और सब मैला शरीर से निकल जाय, जिससे आप घृणा करते हैं तो फिर आपका शरीर नहीं रह पायेगा। वैसे ही भगवान अपने असुर भक्तों से भी घृणा नहीं करता। वे बड़े उपादेय हैं आपके जीवन में। महात्मा युधिष्ठिर का पराजित होना, शकुनि का छल करना भगवान के बड़ा काम आया। उसका छल भी बहुत कुछ कहता है, महाराज युधिष्ठिर का पराजित होना भी बहुत कुछ कहता है। आप चाहे कुछ भी कहें लेकिन शकुनि को सहसा भगवान नहीं मारेंगे और न ही उन असुरों का संकल्प से वध करेंगे जिन असुरों का आप नाम लेना नहीं चाहते। भगवान के जितने काम वे आते हैं, उतने काम तो देवता भी शायद आते हों। इतना ही नहीं महात्मा के महात्मापना को सिद्ध करने में भी असुर ही काम आते हैं। महात्मापना कैसे सिद्ध हो जब असुर रहेंगे ही नहीं? माँ यदि न रहे तो पुत्र का पुत्रत्व अथवा पुत्र न रहे तो माँ के मातृत्व का पता न चले। माँ जीवन व्यर्थ में ही नहीं व्यतीत करती बेटे के लिए। यद्यपि वह भगवान के लिए नहीं जीती, बेटे के लिए जीती है लेकिन उसकी भावना में राम जैसा बेटा चाहिए, भगवान श्रीकृष्ण जैसा बेटा चाहिए, उस बेटे को सँवारती है, जबकि शिशुपना में नहीं जान पाती की मेरा बेटा राम है लेकिन एक कोने में, जो ऐसा कोना है जिसमें वह अपने शिशु को राम के रूप में देखना चाहती है, कृष्ण के रूप में देखना चाहती है और अपनी कन्या को भगवती के रूप में देखना चाहती है, भगवती सीता, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति के रूप में देखना चाहती है। अतः यदि माताएँ भगवान के लिए नहीं जीतीं तो भगवान उनका अनादर नहीं करते। वे जीवन–जीवन को दाव पर लगाती हैं राम के लिए और राम जब आता है तो कौसल्या का उद्धार करता है, सुमित्रा का उद्धार करता है, कैकेई का भी उद्धार करता है। अतः उन्हें क्या आवश्यकता है, अपने लिए जप, तप, योग करने की। उनका जप, तप, योग तो मानो भगवान ही बन जाता है। वैसे ही जो बड़े उपादेय होते हैं उन्हें विशेष कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। महात्मा अर्जुन को वर्तमान जन्म में भगवान जप, तप, योग नहीं करने देंगे, इसलिए कि जिसका विषाद सम्पूर्ण भक्तों के अवसाद के नाश का कारण बना, उस महात्मा से विशेष कठोर तप क्यों कराएँगे भगवान? जिस महात्मा अर्जुन ने कभी भी अपने पूज्य जनों का अनादर स्वप्न में भी नहीं किया हो, जिसने अपनी पैतृक सम्पत्ति को अपना न माना हो, यहाँ तक कि अपनी भुजाओं के बल से प्राप्त की हुई सम्पत्ति को (जिसके कारण से धनंजय कहे जाते हैं) अपने पूज्य बड़े भ्राता के चरणों में समर्पित कर देता हो, वैसे महात्मा अर्जुन से भगवान विशेष जप, तप, योग की अपेक्षा नहीं रखेंगे। ऐसे महापुरुष के भीतर से यदि आत्मजिज्ञासा नहीं जगती है, भगवान की कामना नहीं जगती है, ब्रह्मज्ञान उसे नहीं चाहिए तो भी भगवान विवश कर देता है कि तुम मुझसे ब्रह्मज्ञान माँगो, तुम मेरे को पहचानो।

आपका विषाद शोक–सन्ताप लाता है, आपके विषाद में नींद नहीं आती है, आपके विषाद में बड़े–बूढ़ों का अपमान हो जाता है, गुरुजनों का अपमान हो जाता है, जिसके कारण से भगवान की भगवत्ता आपके सामने प्रकट नहीं हो पाती। यह इस अध्याय की भूमिका है। इस प्रथम अध्याय की भूमिका में धृतराष्ट्र सर्वप्रथम हैं, जो पूरी गीता की नींव के रूप में देखे जा रहे हैं और यदि अतिशयोक्ति नहीं होगी तो महाराज भी आप सबमें से किसी–किसी को उसी धृतराष्ट्र की जगह देखता है, जिस धृतराष्ट्र के हृदय में दुर्योधन जैसा पुत्र समाया हुआ है लेकिन तो भी कोई बात नहीं, महाराज धृतराष्ट्र की जगह से यदि आपको हटा दे तो फिर आपका बहुत अनादर हो जायेगा। महाराज धृतराष्ट्र की जगह इसलिए आपको रखेगा कि कल के दिन दुर्योधन जैसे पुत्र के मारे जाने के उपरांत आप संन्यास लेंगे। इसलिए रावण के मोह की जगह महाराज आपको नहीं रखेगा, न कंस के मोह की जगह आपको रखेगा, न जरासंध के मोह की जगह आपको रखेगा। धृतराष्ट्र का मोह बड़े महत्त्व का है। वे आपका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं कि आपमें कब और क्यों दुर्भाव आ जाता है, जबकि आप महात्मा हैं। धृतराष्ट्र महात्मा हैं, उन्होंने पितामह भीष्म जैसे गुरु की बहुत विशेष पूजा की है इसी से दृष्टिहीन होने पर भी दस हजार हाथियों से विशेष बल से संपन्न हो जाते हैं और वे भौतिक विद्या में भी पारंगत हैं। यदि वे गुरु पूजक नहीं होते तो फिर उन विद्याओं के ज्ञाता नहीं होते लेकिन एक दोष आ जाता है। वह यह कि पुत्रमोह उनके भीतर में इतना विशाल हो जाता है कि वे अपनी तरफ पुत्र को नहीं बहा पाते बल्कि स्वयं पुत्र की तरफ बह जाते हैं। क्या आप भी उस धृतराष्ट्र की जगह हैं कि पुत्र की तरफ बह जाते हैं? यदि पुत्र की तरफ आप बह जाते हैं तो सारी सम्पत्ति आपकी छीन ली जायेगी यह इस अध्याय का सारांश है। यदि पुत्र की तरफ बह जाते हैं तो आपका सारा ऐश्वर्य छीन लिया जायेगा यह झाँकी ऐसा कहती है। मंत्र का संकेत कहता है कि यदि आप धृतराष्ट्र की जगह हैं तो जो भी आपके पास अभाव है, उस अभाव का आ धार एकमात्र धृतराष्ट्र का मोह ही है। उनके मोह ने आपको विवश कर दिया है ताकि आप माँ से छीना–झपटी करें, पिता से भी छीना–झपटी करें, भाई–भाई से छीना–झपटी करें, पुत्र से भी छीना–झपटी करें, बहू से छीना–झपटी करें, सास से छीना–झपटी करें, भिखारी से छीना–झपटी करें, भिखारी आपसे छीना–झपटी करे। एक मोह के कारण आप छीना–झपटी के घेरे में आ जाते हैं और वह छीना–झपटी आपका सर्वस्व छीन लेती है, आपको कहीं का नहीं रहने देती। छोटा सा अणु होता है, जिसे आप कैंसर का अणु कहते हैं। यदि वह प्रवेश कर जाता है आपके शरीर में तो आपका जीवन ले लेता है। श्रीरामचरितमानस के अन्तर्गत इसी से गोस्वामीजी ने कहा (शूर्पणखा के माध्यम से) कि छोटे से रोग को छोटा नहीं समझा जाता। वैसे ही छोटे से पाप को छोटा नहीं समझा जाता। मोह छोटा सा है। वह छोटा मोह क्या है? हाँ, वह छोटा मोह है कि मैं भगवान का नहीं हूँ, मैं अपने बाल–बच्चों का हूँ; मैं अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों का हूँ। यह छोटा सा मोह है कि मैं ब्राह्मण हूँ, ऐसा सोचते ही भगवान से बड़ा हो गया ब्राह्मण। यह छोटा सा मोह है कि मैं क्षत्रिय हूँ, ऐसा सोचते ही भगवान से बड़ा हो गया क्षत्रिय। ऐसा कहने से कि मैं वैश्य हूँ, ऐसा कहने से कि मैं शूद्र हूँ, मानो भगवान से बड़ा कर देते हैं स्वयं

को, जिसका परिणाम होता है कि आप भगवान को बहुत दूर–बहुत दूर कर देते हैं। आप कहते हैं भगवान से कि मेरे हृदय में मत आना अन्यथा हम अपराधी हो जायेंगे, बेटा मेरा क्या कहेगा कि तुम भगवान को चाहते हो कि मेरे को चाहते हो? छोटा सा मोह है कि मैं शरीर हूँ। छोटा सा तिनका आँख में पड़ता है तो हिमालय पहाड़ दिखाई नहीं पड़ता। वैसे ही छोटा सा मोह है धृतराष्ट्र के पास जो अपने अपराध को भलीभाँति जानता है, जो अपने दोष को भलीभाँति जानता है, अपने पुत्र के कुकृत्य को भलीभाँति जानता है, उसके असुरपना को भलीभाँति जानता है लेकिन वह मोह जिसका आसन बन गया है, जिसका जीवन बन गया है, जिसका भोजन बन गया है, जिसकी नींद बन गया है, जिसका जप, तप, योग बन गया है– वही मोह आप सबके सामने भी है। यदि ऐसा है तो फिर दौर्मनस्य आपका जीवन भर पीछा नहीं छोड़ेगा। भगवान वहाँ पर क्या करेगा, सद्गुरु भी आपका क्या करेगा? यदि आपकी आचार संहिता, यदि आपका विचार सद्गुरु को प्रसन्न नहीं करता तो फिर आपका जप, तप, योग सद्गुरु के द्वारा थोड़ा सा देने के लिए बाध्य कर देगा और थोड़ा देकर रह जायेगा। आप देखते ही हैं कि रावण माँगता है तो वह भगवान थोड़ा देकर रह जाता है, कुम्भकरण माँगता है तो वह थोड़ा देकर रह जाता है, लंकिनी माँगती है तो वह थोड़ा देकर रह जाता है लेकिन विभीषण नहीं माँगते, इसलिए उन्हें सर्वस्व दे देता है। माना कि आपका मोह रावण का घोर जप–तप करा देता है, कभी ऐसा भी होता है; क्योंकि रावण जैसे घोर तपस्वी तो कोई बिरले ही होंगे, लेकिन उसके तप में भगवान सर्वस्व नहीं आ पाता, हाँ, थोड़ा सा ऐश्वर्य आ जाता है। आना चाहिए जिस जप में, तप में भगवान, तो उसमें त्रिलोक का राज्य आ जाता है थोड़े समय के लिए। रघुवंशियों का राज्य थोड़े समय के लिए नहीं होता, रघुवंशियों का राज्य सदा–सर्वदा के लिए होता है। कोई रघुवंशी राज्य से च्युत नहीं हुआ। रावण राज्य से च्युत हो जाता है। रघुवंशियों के राज्य से च्युत होने की बात ही नहीं है न। वे तो घर में दिव्य स्वर्ग को भोगते हैं, ऐश्वर्य को भोगते हैं, शक्तिसम्पन्न होते हैं। वे घर में ही ब्रह्म को विवश कर देते हैं आने के लिए, पुत्र बनने के लिए, पिता बनने के लिए, गुरु बनने के लिए, ब्रह्मज्ञानी बनने के लिए और एक आप हैं। एक उनका जीवन है, एक आपका जीवन है। रघुवंशी सम्पूर्ण ऐश्वर्य होते हुए भी तपोमय जीवन जीते हैं और आप ऐश्वर्यमय जीवन जीने के लिए धन की माँग करते हैं, ऐश्वर्यमय जीवन जीने के लिए सुख की माँग करते हैं, यह कैसा जीवन आपका है? एक व्यापारी को देखा दीपावली के दिन– भाग! भाग!! भाग!!! ड्राइवर को कहा– भाग!!! इतनी देर से आया? महाराज ने कहा कि दीपावली के दिन डाँट दिया आपने! लक्ष्मी की पूजा की जाती है आज के दिन! उसे देते कुछ पैसे, वह अपनी लक्ष्मी की पूजा कर लेता। छिः धिक्कार है! उस पुरुष के पास चार–चार फैक्ट्रियाँ थीं, वे फैक्ट्रियाँ आज नहीं हैं। आये दिन आपका अहंकार, आपका छोटा सा मोह जो धृतराष्ट्र जैसा है, विवश कर देता है भिखारी को लात मारने के लिए, विवश कर देता है नौकर को लात मारने के लिए, विवश कर देता है बड़े–बूढ़ों को लात मारने के लिए, विवश कर देता है भाई को लात मारने के लिए। दीन–दुःखी होकर आते हैं सन्त के पास, संत भीतर से मुसकराता है कि कहीं न कहीं आपने लात मारी है, इसलिए आप भगवान को माँगने नहीं आये। सुदामा ने लात मारी

मित्र को, वह यह कि चना–चबेना खा लिया चुराकर। भगवान मुसकराते रह गये और सोचा मन में कि जगत ऐसा मारेगा कि तेरी विद्वत्ता काम नहीं आयेगी। बड़े प्रकाण्ड विद्वान थे लेकिन दाने–दाने के लिए तरस गये, बाल–बच्चे खाने–खाने के लिए तरस गये और भगवान मौन द्वारिका में बैठे हुए हैं। कालांतर में जब चेत होता है, भगवान को जब पहचानते हैं तो पुनः वे ऐश्वर्य देते हैं, जो देना ही चाहिए। बड़ी पहेली है– रघुवंशियों को ऐश्वर्य देता है भगवान और वही भगवान अर्जुन का ऐश्वर्य ले लेता है। पाण्डवों का ऐश्वर्य ले लेता है तब हस्तिनापुर देता है जिस हस्तिनापुर में बैठनेवाला कोई होता ही नहीं। अभिमन्यु के साथ अन्यान्य बच्चों को भी ले लेता है। कहाँ–कहाँ दोष हो गया था कि रघुवंशियों की तरह सम्पूर्ण ऐश्वर्य नहीं दिया भगवान ने, इस अध्याय के माध्यम से इसका उत्तर दिया जाता है। महात्मा अर्जुन ने रघुवंशियों जैसा व्यवहार नहीं किया भगवान के साथ जिसके कारण रघुवंशियों का ऐश्वर्य छीना नहीं गया और इनका ऐश्वर्य छीन लिया गया। सूर्यवंशियों को रघु, दिलीप एवं अज जैसे पुत्र दिये जाते हैं, हरिश्चन्द्र जैसे पुत्र दिये जाते हैं लेकिन अर्जुन का अभिमन्यु जैसा प्रबल प्रतापी पुत्र छीन लिया जाता है। वह कौन सा व्यवहार था? एक तरफ धृतराष्ट्र का मोह है तो दूसरी तरफ महात्मा अर्जुन का मोह है। धृतराष्ट्र का पुत्र के प्रति ही मोह है तो अर्जुन का कुछ व्यापक हो गया। अर्जुन ने सोचा कि हम क्यों कम रहें? जब बड़े पिता को एक पुत्र में ही मोह है तो फिर मेरा मोह उनसे व्यापक होना चाहिए। अतः उनका मोह व्यापक हो गया अर्थात् दुर्योधन ही क्या, सारे भाई–बान्धवों, स्वजनों के प्रति मोह हो गया और उस मोह को उन्होंने इतना सराहा, इतना सराहा कि भगवान वहाँ पर मौनी के मौनी होकर रह गये। भगवान की भगवत्ता, भगवान की गुरुता, भगवान का ज्ञान वहाँ धरा का धरा रह गया। ज्ञान बघारनेवाले लोग भी होते हैं। कहीं आप भी उन ज्ञान बघारनेवालों में तो नहीं हैं, जिनका कि ऐश्वर्य छीन लिया जाता है। कहीं आपने ऐसा ज्ञान तो बघार नहीं दिया? एक जवान ने कहा महाराज से कि बाबा! आपका कैसा धर्म है, जिस धर्म में चाचा भतीजे की तरफ नहीं देखते हैं, भाई–भाई की तरफ नहीं देखता है और आप कहते हैं कि तुम इनका आदर करो! महाराज हँसता रह गया। सोचा कहाँ से बोल रहा है, यह तो भगवान का भक्त है! महात्मा प्रह्लाद ने कभी नहीं कहा भगवान से कि आप मेरे कितने हैं, आप मेरे कैसे भगवान हैं कि मेरे पिता को सद्बुद्धि नहीं दे रहे हैं अथवा उनसे मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं। हर रोज सताए जा रहे हैं, सताए जा रहे हैं तो भी 'ये कैसा आपका धर्म है' ऐसा कभी नहीं कहा। महात्मा पुरुषों ने कभी नहीं कहा सताए जाने पर कि यह आपका कैसा धर्म है? लेकिन महात्मा अर्जुन ने कहा– 'यह आपका कैसा धर्म है? यह धर्मयुद्ध कैसा है? नहीं–नहीं! यह अधर्मयुद्ध है।' इस अध्याय में जहाँ महर्षि व्यास ने युद्ध को धर्मयुद्ध की संज्ञा दी, वहीं पर महात्मा अर्जुन ने उसे अधर्मयुद्ध की संज्ञा दे दी। जहाँ महात्मा व्यास ने इसे विषादयोग कह दिया, वहीं पर भगवान दूसरे अध्याय में प्रवेश करने पर अर्जुन से कहते हैं कि तेरे में विषादरोग लग गया है। महर्षि व्यास हँस रहे होंगे जंगल में बैठे–बैठे कि जिसे मैं विषादयोग कह रहा हूँ उसी को भगवान विषादरोग कह रहे हैं। भगवान विषादयोग नहीं कहेंगे।

महात्मा अर्जुन का विषाद आपको योग देता है तो आपके लिए योग है मगर भगवान के

लिए तो रोग बन गया। वह यह कि प्रिय आत्मा उनका उपदेशक बन गया। जिसको बहुत कुछ समझते थे, वह कुछ भी काम नहीं आया उस समय। आप विचार करें कि क्या इस अध्याय की झाँकी आपसे मिलती है? क्या आप उपदेष्टा होते हैं गुरु के पास? कहीं आप अपने से बड़े–बूढ़े ज्ञानी के पास ज्ञान बघारते हैं? यदि नहीं बघारा होता तो जीवन में दुःख तो आयेगा लेकिन दुःख पराजित हो जायेगा, अशान्ति नहीं होगी। दुःख का आना और अशान्ति हो जाना ये दो बातें हैं। दुःख हरिश्चन्द्र पर आया, रघु पर आया, दिलीप पर आया, वसुदेव–देवकी पर आया, दुःख नन्दबाबा–यशोदा पर आया लेकिन उनके पास अशान्ति नहीं आयी। जिस दुःख में अशान्ति आती है वह असुरों के पास आया हुआ दुःख होता है। आपके पास वह कौन सा दुःख है? क्या अशान्ति भी लेकर आया है? क्या वह दुःख है जो कि आपकी प्रतिष्ठा का हनन भी करके चला जाता है? यदि हाँ, तो फिर आप विचार करें कि वह दुःख आया ही क्यों? सन् १९६७ में देखा महाराज ने एक छोटे से बालक को कि वह गली में से पौने दो सौ रूपये लाया, माँ के ही हाथ में रखा। माँ ने देवस्थान पर रखा और पति के आने पर उस माँ ने पति को दे दिया। गाँव में पंचायत किया जिसका वह पैसा गिर गया था। वह हरिजन था, मजदूर था। दुकान पर जा रहा होगा, गिर गया। पौने दो सौ रूपये उस समय के बहुत होते हैं। पंचायत किया कि मैं गरीब हूँ, जिसके पास वह पैसा हो वह दे दे। वह पुरुष वहीं बैठा हुआ था किन्तु बोला कुछ नहीं। गरीब चला गया लेकिन हृदय की आह ऐसी फूटी उस गरीब की, ऐसी फूटी कि पैसा चुरानेवाले दो भाई थे, उन दोनों में अलग होने के लिए भयंकर युद्ध छिड़ गया।

उस चोर ने छोटे भाई के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९६७–६८–६९–७०–७१ तक उस चोर भाई के घर में दाने–दाने के लिए बच्चे तरस जाते थे। लोग जानते थे कि इनके पास क्या कमी है लेकिन कोई रात्रि होती थी कि लगता था कि बहुत से बच्चे भूखे रह जायेंगे। कहाँ तो दाल–रोटी, साग–सब्जी खायी जाती थी, तो कहाँ नमक–रोटी भी खायी जाती थी। १९६७–६८–६९–७०–७१ –पाँच साल पौने दो सौ रूपये की चोरी ने कमर तोड़ दी। सन् १९७१ के बाद फिर रास्ता मिला, फिर जैसा का तैसा हो गया। आये दिन गरीबी की कहानी कहता है महाराज। आपने पता नहीं कहाँ का तो पैसा चुरा लिया, कब चुरा लिया, गरीबी आ गई, कब दोष–दर्शन किसी में हो गया आपको कि आपकी आँख ही चली गयी। सन् १९८६ में आत्मानन्द ने कहा कि महाराजजी! आपको मैं एक घटना दिखाता हूँ। वन प्रदेश था, एक संत का आश्रम था। पहले तो उन्होंने कहा कि महाराजजी! अमुक घटना घट रही है यहाँ पर। महाराज ने कहा कि गलत बोल रहे हो तुम। वे रोज कह रहे थे कि अमुक घटना घट रही है यहाँ पर तो महाराज कहता था कि नहीं, गलत बोल रहे हो तुम। ऐसे पाँच दिन–छः दिन बीत गये। आत्मानन्द के मन को चोट लगती गयी, वे सोचते गये कि महाराजजी तो सत्य पर विश्वास करते ही नहीं हैं। एक दिन उन्होंने बहाना बनाया कि महाराजजी! आप भण्डार में ही आज प्रसाद पाने चलें। जहाँ महाराज रहता था वहाँ से भण्डार की दूरी लगभग डेढ़ सौ कदम की होगी। बीच में एक झोपड़ी थी जिस झोपड़ी में ऐसी घटना घट रही थी रोज दिन में दस बजे। भण्डार की तरफ ले जा रहे थे महाराज को, आत्मानन्द आगे चल रहे थे। झोपड़ी बगल में थी।

अब झोपड़ी सामने आयी तो महाराज को पलभर रोककर हाथ के इशारे से दिखाने का प्रयास किया। महाराज ने कहा कि आगे बढ़ो! तो कहा इन्होंने कि नहीं देखा आपने? महाराज ने कहा कि क्या देखा! मस्ती से लोग बैठे हुए थे, गप कर रहे थे। तो कहा इन्होंने कि अरे! राम, राम! आप भगवान की बात पर भी विश्वास नहीं करेंगे। बालक थे उस समय ये, पंद्रह–सोलह वर्ष की अवस्था थी।

आँखों में रोग लग जाता है जब किसी के दोष को आप देखते हैं। दोष भगवान देखे, आप क्यों देखेंगे? दोष न दिखाई पड़े, इसलिए काली पट्टी बाँध ली माँ गान्धारी ने, एक पक्षीय संकल्प हो गया उसका, आपका बहुपक्षीय संकल्प होना चाहिए। जगत में आप दोष क्यों देखेंगे! आपकी आँखों में भगवान बसता है वह भगवान दोष नहीं देखता। भगवान जब दोष देखता है तो सुदर्शनचक्र चलाता है, उसका दोष देखना ऐसा होता है। जिस समय दोष दिखाई पड़ेगा उसे जरासन्ध में तो उस समय भीम को ले जाकर मरवा डालेगा, दोष देखने के लिए वह ही है। आपकी भुजाओं में रोग लग जाता है, पाँवों में रोग लग जाता है, वह इसलिए कि कहीं पाँवों और भुजाओं से दोष तो नहीं हो गया! कहीं चोरी तो नहीं कर ली किसी के भुजा की आपने! किसी के पाँव की तो चोरी नहीं की आपने! किसी के पेट की चोरी तो नहीं की है आपने! भगवान के मिलने से पहले पेट में रोग लग जाना यानी पेट की चोरी की है आपने। महाराज के गुरुदेव ने 'मेरा लक्ष्य' नामक ग्रंथ में लिखा है कि यदि कोई अपने पेट से विशेष खाता है तो महाचोर है। आपका उतने पर ही अधिकार है जितने में कि आपके उदर की पूर्ति हो जाती है लेकिन आपको उल्टी करनी पड़ती है; क्योंकि आप अपने अधिकार से विशेष खा लेते हैं। अतः भगवान नहीं चाहता कि आप ऐसा जीवन जीएँ जिस जीवन में आपका जीवन ही समाप्त हो जाये। यदि मन में रोग लग गया है तो किसी के मन की चोरी तो नहीं की है आपने! किसी के मन को दुःख तो नहीं दिया है! किसी की बुद्धि का आपने अपहरण तो नहीं कर लिया कि बुद्धि आपकी छिन्न–भिन्न हो गयी है। नींद नहीं आ रही है संजय! ऐसा करो– आज तुम रातभर अपने अनुभव की बात करना। तो संजय ने कहा– घबराएँ नहीं राजन्! नींद किस–किस को नहीं आती आप जानते हैं? धृतराष्ट्र ने कहा– किसको नहीं आती? संजय ने कहा– चोर को नहीं आती। आपने कहीं चोरी तो नहीं की है? फिर कहा संजय ने– और जानते हैं, नींद किसे नहीं आती? किसे नहीं आती– धृतराष्ट्र ने पूछा। संजय ने कहा– 'जिसने बहुतों की नींद को चुरा लिया है। कहीं भगवती कुन्ती की नींद तो आपने नहीं चुरा ली है, कहीं द्रौपदी की नींद तो नहीं चुरा ली है आपने, कहीं उत्तरा की तो नींद नहीं चुरा ली आपने! अथवा कहीं भगवती गान्धारी की ही तो नींद नहीं चुरा ली है आपने? अच्छा तो कोई बात नहीं, इसका उत्तर तो आप नहीं दे पाएँगे लेकिन शास्त्र तो ऐसा ही कहता है।' उन्हीं जैसे आपको नींद नहीं आती, आपका ऐश्वर्य चला जाता है, सबकुछ चला जाता है। क्यों जाता है सबकुछ? आपने किसी की चोरी तो नहीं की? अतः आप अपने उन दोषों को देखें जिन–जिन दोषों से फल नहीं कुफल आ जाता है, घोर आपत्ति–विपत्ति आ जाती है।

साधक भी एक दिव्य रथ की कल्पना करता है और उसपर सद्गुरु को आसीन करके

बैठता है; फिर दृढ़ संकल्प करता है अर्थात् शंख बजाता है कि अब या तो प्रभु को पाऊँगा या जीवन त्याग दूँगा अर्थात् प्रभु को पाकर ही जगत में लौटूँगा।

कुवृत्तियों पर विजय पाने के लिए सुवृत्तियों का संगठन होना अनिवार्य है, चाहे भौतिक युद्ध हो या आध्यात्मिक। दोनों ही युद्धों में जीवन को दाव पर लगाकर ही चलना पड़ता है। इस जीवन में साधना पूरी हो ही जायेगी, भगवान मिल ही जायेंगे यह कोई निश्चित नहीं कहा जा सकता है, किन्तु जो चल पड़ा उसके लिए चलते ही भगवान का दरवाजा खुल गया, यह निश्चित है। बालक चलने का प्रयत्न करता है तो सैकड़ों बार गिरकर ही चलना सीख पाता है, उसीप्रकार भक्त की प्रत्येक असफलता में अलौकिक सफलता छिपी रहती है। अर्जुन का मोह होना असफलता है किन्तु भगवान जैसे सद्गुरु से उनका ब्रह्मज्ञान द्वारा परम सफलता प्राप्त करना अपने–आप में एक विचित्र घटना है। साधक कभी मोह से गिरता हुआ प्रतीत होता है तो कभी काम से; कभी क्रोध से, तो कभी लोभ से; कभी राग से, तो कभी द्वेष से, ये सब प्रारब्ध के थपेड़े हैं। मन को विषय चाहिए और आपको भगवान। अतः बात बने कैसे? मन को सामान्य धर्म भी कड़वा लगता है तो फिर विशेष धर्म तो अति दुःखदायी होगा ही, जिसे भक्तों के भगवान ने पहले ही (जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी, मीरा आदि तथा अन्यान्य संतों की जीवनी प्रारम्भ में अति दुःखद है) लिख दिया है, दिखा भी दिया है। भगवान ने भी आगे कहा–

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।"
गीता (अ० १८/३७)

अर्थात् आत्मसुख के लिए पहले विष का सामना करना पड़ेगा तभी परिणाम में अमृत प्राप्त होगा।

एक साधक ने कहा– प्रभु कृपा क्यों नहीं कर रहे हैं? महाराज ने कहा– बतायेंगे। कुछ महीने बाद उस साधक ने अपने सगे बड़े भाई को देखा, परस्पर में आँखें मिलीं। बड़े भाई ने अति आत्मीय भाव से देखा था। साधक एकान्त में जाकर रोने लगा। कुछ देर बाद उसने बताया तो महाराज ने कहा– तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। अन्तर में अभी भाई–बान्धवों के प्रति मोह है तो भगवान तुमसे कैसे मोह करेगा। इसे व्यभिचारिणी भक्तियोग कहते हैं। जिस दिन प्रयास करते–करते अपना–पराया का भाव निकल जायेगा उसी दिन प्रभु कृपा कर देगा।

इस अध्याय को महाराज ने साररूप में पद के माध्यम से गाया है 'भैरवी–राग' में। तो आयें आप भी गायें–

कैसे करुँ माधव इनसों रार।।
स्वजन सगे सब सखा सनेही, गुरुजन की खड़ी धार।
पिता पितामह पुत्र पौत्र पर, कैसी अद्भुद खार।।
कैसे करुँ माधव.....

कठिन कुचाह कुबुद्धि कैसी, लोभ ने मारी मार।
धन धरती के भूखे ये सब, पर हम इनसे पार।।
कैसे करुँ माधव.....
कुलघातक पातक प्रभु ऐसो, पितर पड़े मझधार।
संकरता के कर्ता हम सब, कौन करे जग पार।।
कैसे करुँ माधव.....
दुख दुविधा दयार्द्र चित्त से, धनुष बाण दियो डार।
महाराज चकित चित देखत, प्रभु माया की मार।।
कैसे करुँ माधव.....

इन्द्रियसंयम, बुद्धिसंयम, मनसंयम और चित्तसंयम से प्राप्त हुई सिद्धि तो राग–द्वेष से सम्पन्न साधकों में भी देखी जाती हैं, जैसे विश्वामित्र; किन्तु भगवत् सिद्धता तो भगवान की प्रसन्नता का प्रसाद है, जो सम्पूर्ण सिद्धियों की सिद्धि है।

तो चलते हैं उस भगवत् सिद्धि के करण–उपकरणों अर्थात् संसाधनों की खोज दूसरे अध्याय से प्रारम्भ करते हैं।

ॐ मासपारायण, दूसरा विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, पहला विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् के अन्तर्गतब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप "विषादयोग" नामक पहला अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

महात्मा अर्जुन का अलाप–प्रलाप समाप्त हो चुका है, मानो उन्होंने पौराणिक मत का प्रदर्शन करके अपने ज्ञान से भगवान को सन्तुष्ट कर दिया है। धृतराष्ट्र अति प्रसन्न हैं, संजय धृतराष्ट्र की प्रसन्नता को लेकर व्यंग्यात्मक हँसी हँस रहे हैं। भगवान की भाव–भंगिमा को देखकर वे समझ गए हैं कि उनकी मार अब अर्जुन पर पड़नेवाली है।

गाली देनेवाले को गाली से मारा जाता है, बाण से प्रहार करनेवाले पर बाण से प्रहार किया जाता है; जो जैसे प्रहार करे उसपर वैसे ही प्रहार करना चाहिए। शिशुपाल जैसों पर सुदर्शनचक्र से ही प्रहार किया जाएगा लेकिन यदि शिष्य वाणी से प्रहार कर रहा है, तो उसे सुदर्शनचक्र से नहीं बल्कि गालीरूपी बाण से ही मारा जाएगा अर्थात् उसकी मूर्खता का ज्ञान से छेदन किया जाएगा। यहाँ महात्मा अर्जुन समझ नहीं पाये कि मैंने प्रभु को गाली दी है।

'अहो! खेद है, बुद्धिमान होकर भी हमलोग ऐसे पाप के लिए उद्यत हैं (जो अपने को बुद्धिमान समझता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है), हम बुद्धिमान होकर भी ऐसे मूर्खों जैसा कर्म करने जा रहे हैं'– ऐसा कहना ही भगवान को मूर्ख बनाना और गाली देना है। भगवान नारायण सम शान्त होकर सुन रहे हैं। जब अर्जुन ने धनुष–बाण फेंक दिया तो सिर को हिलाते हुए भगवान ने मानो कुछ कहने का मन बनाया।

धृतराष्ट्र ने व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए पूछा– संजय! जो कुछ कहना चाहिए, मेरे अनुज पुत्र ने कह दिया; अब माधव क्या कह रहे हैं? जब अर्जुन ने कह ही दिया कि यह धर्मयुद्ध नहीं अधर्मयुद्ध है, तो अब कहने को बाकी क्या रहा?

धृतराष्ट्र की ऐसी मूर्खतापूर्ण बातों को सुनकर मानो संजय आवेश में भर आए और कहा–

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषिदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

हे राजन्! शोक से संतप्त अश्रुपात करते हुए, चंचल चित्तवाले महात्मा अर्जुन को देखकर भगवान नारायण को दया नहीं आ रही है, भृकुटि थोड़ी तनी सी लग रही है। वे अर्जुन को व्यंग्यात्मक मुसकान के साथ सिर को धीरे–धीरे हिलाते हुए देख रहे हैं। मानो मन ही मन कह

रहे हों– जानते तो कुछ हो नहीं लेकिन जानने का ढोंग बहुत करते हो।

भगवान व्यास ने अर्जुन के विषाद को विषादयोग कहा, वहीं भगवान नारायण ने उसे विषादरोग कहा।

अपने प्रिय के पास महात्मा पुरुष उसके विषाद से दुःखी नहीं होते, उसके रोने–धोने का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भावना से कर्तव्य बड़ा होता है। रोते हुए मूर्ख पिता के पास मूर्ख पुत्र रोता है, विकल होती हुई धर्मपत्नी के पास कामी पति विकल होता है, हाय! हाय! करते हुए भाई के पास मूर्ख भाई हाय! हाय! करता है; विकल होते हुए, शोक–संतप्त हुए मूर्ख शिष्य के पास मूर्ख गुरु दया से अभिभूत हो जाता है, दया का ढोंग रचता है। भगवान नारायण इनलोगों में से नहीं हैं, वे अति सुहृद हैं, प्रकृति के ऊपरी भाग को वे नहीं देखते, अपितु अपने भक्त का भूत, भविष्य, वर्तमान देखते हैं। अतीत में महात्मा अर्जुन का ऐसा आँसू देखा नहीं गया है, जीवन में कभी ऐसा विषादरोग नहीं लगा तथा उन्हें कभी कोई कलंक भी नहीं लगा, अतः भविष्य में भी वे कलंकरहित हों, ऐसा भगवान सोच रहे हैं। सम्माननीय पुरुष की प्रतिष्ठा जब जाती है तब वह मरा हुआ माना जाता है। (यहाँ गृहस्थाश्रमी की बात हो रही है, किसी संन्यासाश्रमी संत की नहीं। संत तो आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रतिष्ठा स्वयं गँवा देता है, जबकि गृहस्थाश्रमी पुरुष कभी भी अपनी प्रतिष्ठा स्वयं नहीं गँवाता।)

विषादरोग से ग्रसित मूढ़मना अपने प्रिय अर्जुन के पास भगवान ने हँसते हुए कहा–

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

हे पार्थ! इस विषमस्थल में मूर्खों का मोह तुममें कैसे आ गया? रणभूमि में आकर तो अनार्य ही ऐसे मोह से ग्रसित हो भाग खड़े होते हैं। तुम्हारा यह व्यवहार न तो स्वर्ग देगा, न ही कीर्ति को बढ़ायेगा। अतः ऐसी नपुंसकता का त्याग कर दो, जो तुम्हारे जैसे महारथी में शोभा नहीं दे रही है। अतः उठो! युद्ध के लिए खड़े हो जाओ!

भगवान ने सम और विषम कहकर स्थल के दो भाग कर दिये हैं। उन्होंने गृहस्थाश्रम को समस्थल कह दिया, जिसमें सबके साथ समान व्यवहार किया जाता हैः लेकिन युद्धभूमि को विषमस्थल कहकर यह सिद्ध किया है कि यहाँ तो आत्मरूप होकर विषम व्यवहार करना पड़ता है। जहाँ गृहस्थाश्रम में माता–पिता, भाई–बान्धव एवं बाल–बच्चों तथा दीन–दुःखियों पर दया करना धर्म है, जिससे जगत में कीर्ति फैल जाती है और देहत्याग के उपरान्त स्वर्ग मिल जाता है; वहीं युद्धभूमि में दया करना अधर्म कहा जाता है, क्योंकि उसका परिणाम होता है कि उसकी

अपकीर्ति फैल जाती है, वह पुरुष अनार्य कहलाता है, लोग उसे हिजड़ा एवं डरपोक कहते हैं। यही नहीं, भले ही वह दया के वशीभूत होकर युद्ध न करे, तो भी उसे नरक ही मिलता है।

भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन को हिजड़ा और डरपोक कहकर इस एक–दो गाली से ही उनके द्वारा दी गयी बहुत–सी गालियों का पूरी तरह से बदला ले लिया है; तो भी उनकी चेतना नहीं जगी। भगवान ने सोचा– डाँटने–फटकारने से यह मेरी आज्ञानुसार युद्ध करने को विवश हो जायेगा लेकिन ऐसा हुआ नहीं। महात्मा अर्जुन जैसे शूरवीर, महारथी को भगवान द्वारा ऐसा कहना कि 'तुम जाकर नपुंसकों की पंक्ति में बैठ जाओ, ये सब दोष तो उन्हीं में होते हैं, यहाँ तो वीरोचित धर्म और कर्म की आवश्यकता है', अपने–आप में अर्जुन के लिए बहुत बड़ा अपमान है। भगवान के द्वारा महात्मा अर्जुन के प्रति कहे गये अपशब्दों, दी गयी गालियों एवं दिये गये उलाहनों को महाराज ने पद के द्वारा भैरवी राग, ताल दादरा में गाया है, जिसे महाराज के साथ आप सब भी गायें –

कैसो भयो आज तेरो मन भारी, कीर्ति कमाई जाये सारी सारी।।
कैसे भयो आज.....

घर वन नहिं ये तो रणभूमि आये, शंख नाद कर दी योद्धा कहाये।
ओछे हृदय की न बातें ये सोहें, हँसिहैं विपक्षी दे दे के तारी।।
कैसे भयो आज.....

नरक जायेगो तू सरग हाथ लागे ना, अपकीर्ति अक्षय कभी भाग जागे ना।
योद्धा न जग में तेरो जैसो कोई, हृदय क्षुद्रता छोड़ अर्जुन तपधारी।।
कैसे भयो आज.....

भगवान हँसी–विनोद में भी प्रकृति के गर्भ में उतर कर ही बोल रहे हैं। सच में आजतक इतिहास के पन्नों में भी नहीं मिलता कि कोई भी नपुंसक कभी भगवद्भक्त हुआ हो अथवा कभी भी जोगी, जपी, तपी हुआ हो। मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग इन सभी वर्गों में भक्त, साधक, सिद्ध होते पाये जाते हैं, लेकिन हिजड़ों में ऐसी बात नहीं पायी जाती है। योग, जप, तप को तो छोड़ दें, उनकी किसी क्षेत्र में कोई भी भूमिका देखने को नहीं मिलती। युद्धभूमि में शिखण्डी, जो महारथी के रूप में उभरा है, तो उसका कारण है कि उसने स्त्रीरूप में पहले जन्म में पितामह भीष्म का वध करने के निमित्त घोर तप किया है, परिणामस्वरूप उसे हिजड़े के रूप में जन्म मिल गया।

महात्मा अर्जुन के लिए इससे बढ़कर कोई गाली हो ही नहीं सकती। इस बात का खुलासा भगवान ने युद्ध के पूर्व ही कर दिया है– जब युधिष्ठिर ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा था कि हे माधव! जब आप भीम, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, सात्यकि आदि में से किसी को भी दूत बनाकर कौरवों की सभा में नहीं भेजना चाहते तो इस महावीर अर्जुन को ही भेज दें। तब भगवान ने कहा था कि मैं ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि उस सभा में शकुनि, दुर्योधन को इन्हें हिजड़ा कहने

को उकसायेगा। वह कहेगा कि 'इसके लिए हिजड़ा कहने के बराबर कोई अपमान ही नहीं है, तुम ऐसा कहकर देखो, यह या तो भाग खड़ा होगा या युद्ध के लिए खड़ा हो जायेगा।' लेकिन भगवान का यह प्रयोग भी असफल रहा; महात्मा अर्जुन ने गाण्डीव नहीं उठाया।

जो धर्मभीरु होते हैं वे हिजड़े होते हैं, यहाँ पर यह संकेत है कि जिस समय जो जिस पद पर आसीन है, उस पद के अनुरूप कर्म नहीं करता तो पद से च्युत हो, वह पुरुष हिजड़ा कहलाता है। इस न्याय से जो भक्त या साधक भगवत्प्राप्ति की कामना से घर–बार छोड़ चुके हैं अथवा स्वजनों से अनासक्त हो चुके हैं और कमर कसकर जप, तप, योग के लिए तैयार होकर पुनः विषयी पुरुषों जैसा काम, क्रोध, लोभ आदि विषयरूपी विकारों को स्वीकार कर लेते हैं, तो वे नपुंसकों की जाति में गिने जाने योग्य हैं। जो घर छोड़कर संन्यासी बन गये और पुनः घर बनाते हैं, वे हिजड़े हैं; जो निष्काम जप, तप, योग को धारणकर जन्मकुण्डली एवं हस्तरेखा पर विश्वास करते हैं, वे हिजड़े हैं; जो आत्मज्ञानी गुरु को पाकर शास्त्र और पुराण के अनुसार चलने की बात करते हैं, वे हिजड़े हैं। यही नहीं, ऐसे लोगों का मन निश्चितरूप से साधना से उपराम हो ही जाता है। हाँ, यदि सद्गुरु ने साधक में ऐसे दुर्व्यवहार को देखकर उसे भगवान की तरह ही डाँट–फटकार लिया तथा शिष्य ने उस डाँट–फटकार को अमृत समझकर उनके अनुसार व्यवहार शुरू कर दिया तो उसका परम कल्याण हो जाता है। किन्हीं–किन्हीं साधक एवं सिद्धों में तो सद्गुरु की भी डाँट–फटकार को सहन करने की सामर्थ्य नहीं होती। वे उनसे भी मुँह मीठी बात सुनने के आदी होते हैं, जबकि साधनपथ में यह महादोष माना जाता है। इस रहस्य को जाननेवाले एक साधक ने सन् १९७६ में एक दिन एकान्त में अपने सद्गुरु से कहा कि गुरुदेव! मैं आपके पास वैसे ही हूँ, जैसे नववधू अपनी सास के पास होती है। मैं जिस घर–परिवार से आया हूँ, वहाँ का व्यवहार कुछ और था जबकि आपके यहाँ का व्यवहार कुछ और है। यद्यपि आज से ही मैं घर के सम्पूर्ण व्यवहार को त्यागकर एकमात्र आपके ही व्यवहार के अनुसार चलूँगा; लेकिन तो भी जब–जब भूल हो, तब–तब आप उसे बता देना और जब–जब गलती हो, तब–तब डाँटना–फटकारना, इस विषय में आप दया न करना; क्योंकि मैं जानता हूँ कि हित–मित्रों की सेवा, माता–पिता अथवा स्वजनों की सेवा तो अपने मन से भी की जाती है लेकिन सद्गुरु की सेवा तो सद्गुरु के मन से ही की जाती है। उसके गुरुदेव ने उसकी प्रार्थना सुन ली और १५–१६ साल जबतक उसकी साधना सिद्ध नहीं हो गई, तबतक उन्होंने उसका पीछा नहीं छोड़ा, अंशमात्र भूल एवं प्रमाद पर भी वे उसे डाँटते–फटकारते रहे।

साधक के जीवन में विडम्बना तब दिखाई पड़ती है, जब वह परम ध्यानी, ज्ञानी, विज्ञानी सदगुरु के सामने भी अपने मनमुखी सिद्धान्त के कारण अड़ जाता है और अपने सिद्धान्त की पुष्टि पौराणिक, शास्त्रीय एवं वैदिकमतों से करने का प्रयत्न करता है जबकि वे आत्मज्ञानी होने के कारण वेद–शास्त्र से परे होते हैं, जैसा कि अर्जुन के द्वारा भगवान के साथ ऐसा ही व्यवहार करते देखा गया है। वे महामोह से आच्छादित तन, मन, वचन एवं हृदय के कारण भूल ही गये कि उनके रथ पर साक्षात् भगवान ही बैठे हैं। चलें, यदि वे उन्हें उस समय भगवान न मानकर

अपना भाई या सखा ही मान रहे हैं तो क्या हुआ? तो भी तो वे विश्वविजेता हैं! उनका सामना करने की सामर्थ्य तो किसी में भी नहीं है, इस बात को अर्जुन भलीभाँति जानते हैं। राजसूय यज्ञ के समय भरी सभा में सम्पूर्ण असुर महारथियों के बीच प्रभु ने अकेले ही शिशुपाल का गला काट दिया था तथा वहीं पितामह भीष्म और महर्षि व्यास के रहते उनकी अग्रपूजा हुई थी। इसी से सिद्ध हो गया है कि वे ज्ञान, ध्यान, विज्ञान में भी पितामह एवं महर्षि व्यास ही क्या, सम्पूर्ण ऋषि–महर्षियों से भी श्रेष्ठ हैं लेकिन माया की मार तो देखें कि वैसे भगवान को भी अर्जुन उपदेश देने लगे हैं।

अर्जुन की ही भाँति उच्चकोटि के साधकों में भी स्वजनों के सम्मुख छिपी हुई वासना जग जाती है और वे पुनः मोह–ममता की धारा में बहते हुए देखे जाते हैं; चाहे वह मोह सात्त्विक हो, राजस हो या तामस।

एक साधक को देखा– वह ८–१० घण्टे ध्यान–साधना में बैठ लेता था; लेकिन कोई आकर कहता कि चलो तीर्थयात्रा करके आते हैं तो वह चल देता था और पुनः एक–दो माह में आकर साधना प्रारम्भ करता था, तब वह ८–१० घण्टे बैठने का अभ्यास समाप्त होकर तीन–चार घण्टे ही रह जाता था। वह कहता कि साधना में पहले जैसा मन नहीं लग रहा है। महाराज कहता कि तुम्हारे लिए क्या कहा जाय? तुम सात्त्विक वासना में बहकर अपना ध्यानयोग का क्रम ही प्रतिवर्ष तोड़ते रहते हो। अरे! साधना जब सिद्ध हो जाय तो तीर्थयात्रा करते रहना, उस समय दूसरा काम भी क्या रहेगा?

साधक अपने मन के उच्चाटन को भी नहीं पहचान पाते, यहाँ तक कि वे अपने हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को भी नहीं जान पाते, जिससे उनके द्वारा कायरों, डरपोकों, हिजड़ों तथा अनार्यों जैसा कर्म होते देखा जाता है। आर्य तो शेर एवं सूअर से भी शिक्षा–दीक्षा लेते हैं। शेर शिकार करने के पूर्व गर्जना करता है उसीप्रकार साधक साधना में हुंकार भरता हुआ आगे बढ़ता जाता है। सूअर का तो ऐसा गुण है कि वह नदी की धारा को सीधी रेखा में चीरता हुआ ही पार करेगा। यदि टेढ़ी रेखा में चला गया, धारा में थोड़ा भी बह गया तो पुनः नदी के इस पार आकर सीधी रेखा में ही पार करेगा। यही बात साधकों के जीवन में भी देखने को मिलती है– वे प्रारब्ध की धारा में बहते हैं, लेकिन सद्गुरु अपनी धारा में बहाने का प्रयास करता है, भले ही वे इस बात को न समझ पावें।

सद्गुरु यदि अपने जीवनरथ पर बैठ गया है तो साधक का कर्तव्य नहीं बनता कि वह किसी स्वजन के रथ पर जाकर बैठे या स्वजनों के ऊपर दया–करुणा करे। इसीप्रकार के स्वभाववाले साधकों को आध्यात्मिक रणभूमि से असफल होकर पुनः घर में लौटते देखा जाता है। यदि कोई साधक भगवान का होकर या संन्यासाश्रम में आकर माता–पिता, बाल–बच्चों या भाई–बान्धवों पर दया करता है तो निश्चितरूप से वह भगवान से कठोर हो गया है, भगवान के प्रति क्रूर हो गया है, तभी तो वह ऐसा कर रहा है; क्योंकि बिना भगवान के प्रति निष्ठुर हुए स्वजनों पर दया हो ही नहीं सकती। उन निष्ठुर एवं निर्दयी साधकों से कहा जाता है कि वे

दया करें उस भगवान पर जिसने मनुष्य तन दिया, दया करें उसीपर क्योंकि आपको उसने आध्यात्मिक बुद्धि एवं जिज्ञासा दी, दया करें उसीपर क्योंकि वह आपको अपना स्वरूप देने को, आपको आध्यात्मिक शक्ति देने को अहर्निश तत्पर रहता है। दया तो एक ही है, चाहे तो स्वजनों पर करें, चाहे तो अपने पर अथवा चाहे भगवान पर कर लें। यद्यपि भगवान पर तो कोई क्या दया कर सकता है, दया तो अपने पर करके भगवान से दया की भीख माँगी जाती है।

भगवान ने अर्जुन की दया को, करुणा को नकारा है, इसलिए कि उन्होंने कौरवों पर भरपूर दया की है। उनकी दया का ही परिणाम था कि छल करके युधिष्ठिर का इनलोगों ने सम्पूर्ण राज्य छीन लिया, परिणाम हुआ कि तेरह वर्ष ये लोग दया करते हुए वन–वन भटकते रहे। दया का परिणाम ही था कि भरी सभा में उन्होंने भगवती द्रौपदी का घोर अपमान होते देखा, दया का परिणाम ही था कि भरी सभा में ही अपने भ्राता भीम को दुर्योधन के द्वारा बैल कहते सुना, दया का ही परिणाम था कि पाँच गाँव भी माँगने पर इन कौरवों ने कहा कि बिना युद्ध किये सूई की नोक भर भी जमीन नहीं दे सकते। अब कितनी दया की जाय? इसलिए रणभूमि में दया का स्वरूप दूसरा हो जायेगा– ऐसे नराधमों को तो युद्धभूमि में मारकर स्वर्ग देना ही दया करना है।

वैसे ही साधकों को विचार करना चाहिए कि किन स्वजनों पर दया करें– जो पशु–पक्षियों जैसा खाते, पीते, सोते हैं, जो गधे–खच्चरों की तरह गृहस्थी का बोझ ढोते रहते हैं, जो अपने तो भगवान को भूल ही गये हैं और आपके मार्ग में बाधा बन गये हैं, जो अपने भाई से हिस्सेदारी करते हैं, भविष्य में पुत्र के रहते तिजोरी के स्वामी होते हैं, पुत्र–पुत्रियों के सामने ही विषयी बने हुए हैं, जो शास्त्र–पुराण के ही विरुद्ध व्यवहार में तत्पर हैं, जिनके लिए वृद्धावस्था में भगवान के लिए संन्यास लेने को शास्त्र कहता है किन्तु वे भगवान से ही संन्यास ले बैठे हैं, जो अपने पेट के लिए, मान–सम्मान के लिए ही जीते हैं, क्या उनपर साधक–भक्त दया करें? छिः, छिः, छिः! यह साधक के जीवन की कैसी विडम्बना है। वह साधक कायर, हिजड़ा, अनार्य नहीं तो और क्या है?

साधक इस हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग सकते हैं, तभी भगवान ने ऐसा भला–बुरा कहा है अन्यथा वे ऐसे वाक्यों का प्रयोग क्यों करते? स्वजनों को सामने उपस्थित हुआ देखकर भक्त अर्जुन ने बड़ा बारीक बहाना बनाया है, जिसे भगवान ताड़ गये हैं। उसीप्रकार हर रोज साधक साधना में बहाना बनाते फिरते हैं। यदि सद्गुरु को सम्पूर्णता से समर्पण किया गया है तथा उनसे अति निकटता हो गयी है, तब तो आपके उस बहाने पर वे भला–बुरा कहेंगे अन्यथा जानते हुए भी अनजाने बने रहेंगे। इसलिए भगवान के द्वारा दी हुई गाली को साधक अपने लिए दी हुई गाली मान लें, यदि अर्जुन की तरह उनके हृदय में भी क्षुद्रता है तो। अवसर को हाथ से न जाने दें; क्योंकि यदि समय निकल गया तो हाथ नहीं आयेगा। समय ने आपको पकड़ रखा है, अब आप इसके विपरीत करके दिखा दें– वह यह कि आप ही समय को पकड़ लें। अध्यात्म में सर्वप्रथम श्रद्धा का महत्त्व है तो भी नियम के अनुसार ही चलने से वह श्रद्धा–प्रेम

बढ़ता जायेगा। कालान्तर में प्रेम इतना व्यापक हो जाता है कि उस प्रेम से ही सद्गुरु पकड़ में आ जाता है। उसकी आध्यात्मिक शक्ति तो अपने ही लिए होती है। नियम क्यों बनाया, जब प्रेम है तो? यदि ऐसा पूछते हैं तो इसका उत्तर है कि नियमविरुद्ध चलनेवाले के पास प्रकृति अपना काम कर लेती है; लेकिन नियम का घेरा आपने डाल दिया तो उस घेरे में वह प्रवेश नहीं कर सकती। आप तो देखते ही हैं कि जिस दिन आप नियम बना लेते हैं कि आज एकादशी है केवल जल ही पीऊँगा, तो भूख भले ही आवे उसे आप स्वीकार नहीं करते अतः वह भूखरूप प्रकृति आपसे पराजित हो जाती है। ठीक उसीप्रकार आपने प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक काम, क्रोध, लोभ पर विजय प्राप्त करके अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लूँगा, तबतक स्वजनों की तरफ देखूँगा भी नहीं, तीर्थाटन करूँगा ही नहीं, किसी के साथ गप–शप करूँगा ही नहीं, सदा जप, तप, योग में ही लगा रहूँगा तो यह प्रतिज्ञा नियम के अनुसार रहने से निश्चित पूरी होती है।

आप भले ही अपने–आप को जानते रहें कि कोई आपको प्यार करता है लेकिन ऐसा है नहीं; क्योंकि जगत का कोई भी व्यक्ति शक्ति से पूजा पाता है जबकि शक्ति के पूर्व अपने पद के अनुरूप व्यवहार करने से पूजा पाता है। पूजा पाने के अपने–अपने ढंग हैं। कोई तंत्र से, कोई मंत्र से तो कोई योग से तथा कोई–कोई कुछ दिन ढोंग से भी पूजा पा जाते हैं; किन्तु जो भगवद्भक्त होते हैं, वे तो अपने स्वामी के प्रति दिव्य समर्पण एवं दिव्य व्यवहार करके जगत्पूज्य बन जाते हैं। महात्मा अर्जुन भी प्रभु की लताड़ एवं व्यंग्यभरी मार को खाते हुए अपने दिव्य समर्पण से ही अभी कुछ ही देर में भगवान नारायण के हृदय पर विजय प्राप्त कर लेंगे। तो आयें उस महात्मा के आदर्श वचन को सुनें –

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

हे मधुसूदन! आप युद्ध करने की बात करते हैं, निश्चितरूप से आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु ये जो दोनों परम पूजनीय गुरुजन हमारे विपक्ष में ही खड़े हैं, तो मैं इनके विरोध में होकर कैसे युद्ध करूँगा? मैं तो नहीं समझता कि इनके बाणों का उत्तर मैं बाणों से दे सकूँगा।

महात्मा अर्जुन के ऐसा कहने में गुरुजनों के प्रति अतिविनम्रता, अतिशीलता और समर्पण की पराकाष्ठा दिखाई पड़ रही है। यहाँपर अर्जुन ने कुलगुरु कृपाचार्य का नाम नहीं लिया है, वह इसलिए कि वे धृतराष्ट्र के कहने से अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा–दीक्षा में कौरवों पर विशेष ध्यान देते थे। ऐसी स्थिति को भाँपकर ही पितामह भीष्म ने धनुर्विद्या के आचार्यपद पर कृपाचार्य की जगह द्रोणाचार्य को नियुक्त किया था। महात्मा अर्जुन को यह भी दिखाई पड़ रहा है कि इन दोनों गुरुजनों ने आज के पूर्व हम लोगों के साथ कभी भी कोई दुर्व्यवहार नहीं किया है। वे गदायुद्ध की कला जितनी निष्ठा और प्रेम के साथ भीम को सिखाते थे, उतनी ही दुर्योधन को

भी। वे यह भी देख रहे हैं कि मेरी विनम्रता एवं शीलता के कारण इन्होंने अपने पुत्र अश्वत्थामा को उसके द्वारा बहुत प्रार्थना और प्रयत्न करने पर ब्रह्मास्त्र का संधान करना तो दे दिया अर्थात् ब्रह्मास्त्र छोड़ने की कला तो दे दी लेकिन उसे वापस करने की कला नहीं दी, जबकि वहीं मेरे को ब्रह्मास्त्र छोड़ने तथा वापस करने की भी कला दी। महात्मा अर्जुन को उस समय यह भी याद आ रहा है कि जब कौरव–पाण्डव युद्धकला सीखकर हस्तिनापुर लौटे थे तो उस समय राजा एवं प्रजा के सामने अस्त्र–शस्त्र की कला का प्रदर्शन किया गया था, जहाँ इन्हीं गुरुदेव ने मुझे विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने की घोषणा की थी। उन्होंने धृतराष्ट्र और दुर्योधन के कुपित होने की चिन्ता नहीं की, उन्होंने धनुर्विद्या का एक अंश भी मेरे से नहीं छिपाया। वहीं पितामह ने हम पाँचों का कवच बनकर सम्पूर्ण सुरक्षा प्रदान की। लाड़–प्यार करने में भी कहीं किसी अवसर पर कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी, फिर मैं इन दोनों से युद्ध कैसे करूँगा?

महाराज ने सुना है– 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' लेकिन कैकेयी माँ को कुमाता होते देखा, वहीं श्रीराम प्रभु को कुपुत्र होते नहीं देखा। वैसे ही सुना जाता है कि शिष्य भले ही कुशिष्य हो जाय लेकिन गुरु कुगुरु नहीं होता अथवा शिष्य को गुरु विरोधी होते सुना जाता है लेकिन गुरु को शिष्य विरोधी होते नहीं सुना जाता है; किन्तु यहाँ पर तो इन गुरुजनों ने अपने सहजधर्म का ही परित्याग कर दिया है। पाण्डवों जैसे महत् शीलवान, सदाचारी एवं समर्पित शिष्यों को पाकर भी शील और संकोच का त्यागकर युद्ध के लिए ही ललकार दिया है तथा शंखनाद कर मानो आवाज लगाई है कि आओ हमारे से युद्ध करो। अरे! यह शील–संकोच, शोक–संताप इन गुरुजनों को होना चाहिए था, जो इन दिव्य शिष्यों (पाण्डवों) के गुरुपद पर आसीन हैं। बड़ी पैनी दृष्टि से महात्मा अर्जुन ने भगवान के पास यह पक्ष रखा है कि आप ही बतायें कि इन गुरुजनों का प्रतिद्वन्द्वी होकर कैसे युद्ध करें? हे प्रभु! मेरी जगह आप रहते तो क्या आप युद्ध करते? ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन ने उस भगवान को चुनौती दे डाली जिस भगवान ने अपने–आपको अर्थात् अपने जीवन को ब्राह्मणों, सन्तों एवं पितामह जैसे ब्रह्मचारियों की सुरक्षा में समर्पित कर दिया है। भगवान भी मन ही मन सोच रहे हैं कि इस जगत में इस अर्जुन जैसे दिव्य शिष्य भी पाये जाते हैं जो गुरु के द्वारा अन्यायपूर्वक भले ही चमड़ी–दमड़ी एवं प्राण ले लिया जाये तो भी उनकी अर्चना–वन्दना, सेवा–शुश्रूषा करते ही रहेंगे। इतना ही नहीं, ऐसे गुरुओं की भी कोई थोड़ी भी निन्दा कर दे तो वे उसकी जीभ काट लेंगे। ऊपर–ऊपर से भले ही भगवान कुपित होने का नाटक कर रहे हों, भले ही भृकुटि तान कर अर्जुन की तरफ देख रहे हों लेकिन भीतर–भीतर अपने सौभाग्य की सराहना करते नहीं थक रहे हैं और मन ही मन सोच रहे हैं कि 'चलो इन गुरुजनों ने इसके शिष्यत्व के समर्पण का महत्त्व नहीं समझा तो क्या हुआ! आज मैं ही इसे शिष्य बनाऊँगा तथा इसे आत्मज्ञान एवं आत्मशक्ति से सम्पन्न कर दूँगा तथा इतना ही नहीं, इसी के माध्यम से ब्रह्मविद्यारूप गंगा बहाऊँगा; जिसे गीता नाम से जाना जायेगा जिसमें इसी जैसे सद्शिष्य गोते लगा–लगाकर अपने जन्म–जन्म के मोहासक्तिरूप महापाप को धो डालेंगे।' भगवान भी मन ही मन सोच रहे हैं कि ऐसे विषमस्थल में गुरुजनों से युद्ध करने में जो शील–संकोच अर्जुन को हो रहा है, वह

तो इन दोनों आचार्यों को होना चाहिए था। उन्हें एकान्त में आकर मुझसे निवेदन करना चाहिए था कि 'हे माधव! हम दुर्भाग्यशाली, इन पाण्डवों जैसे समर्पित शिष्यों के विपक्ष में होकर कैसे युद्ध करें जिन्होंने कभी किसी काल में भी हमलोगों का स्वप्न में भी निरादर किया ही नहीं है। इनका प्राण सदैव हमारी सुरक्षा में अर्पित रहता था। आज हम इन्हीं महात्माओं के विपक्ष में होकर कैसे युद्ध करेंगे?' भगवान यह भी सोच रहे हैं कि सच में इस अर्जुन को स्वप्न में भी विश्वास नहीं होगा कि ये गुरुजन कौरवों के पक्ष से होकर हमारे विरोध में युद्ध करेंगे। इसे यह पूरा विश्वास था कि जब अवसर आ ही जायेगा, तब ये गुरुजन हमलोगों का साथ देंगे और ये ऐसा न कर सके तो हम दोनों के पक्ष से किनारे हट जायेंगे।' भगवान मन ही मन हँस रहे हैं कि यह अर्जुन ऐसा कहकर मानो मेरे से प्रश्न कर रहा है कि हे माधव! कभी आपने अपने गुरुजनों से युद्ध किया है क्या? यदि यह ऐसा प्रश्न कर ही देता तो मैं अवश्य कहता कि ऐसा अवसर आने पर ऐसे गुरुजनों से मैं अवश्य युद्ध करता। तब महात्मा अर्जुन पुनः कह रहे हैं–

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

चलें, इतना तो मैं जानता हूँ कि गुरुजनों का वध करना और भगवान का वध करना बराबर है, अतः इनका वध करके जीने से तो अच्छा है मर जाना या भिक्षा का अन्न खाकर जी लेना। हे प्रभु! इन गुरुजनों को मारकर इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ एवं कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा। यदि मात्र स्वजन एवं अन्यान्य राजागण ही सामने विपक्ष में रहते तो भी कोई बात नहीं थी लेकिन इन गुरुजनों का वधकर इनकी भी सम्पत्ति का मैं स्वामी तो बन ही जाऊँगा, ऐसे में मैं सुखी एवं शान्त कैसे रह सकता हूँ?

मानो महात्मा अर्जुन को मनुस्मृति का यह श्लोक याद आ रहा हो–

देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं परद्रव्याभिमर्षणम्।
हरयः सर्वभूतेषु विप्रः चाण्डाल उच्यते।।

देवद्रव्य अर्थात् माता–पिता की सम्पत्ति, गुरुजनों की सम्पत्ति की तो बात ही क्या है, यदि किसी अन्य की सम्पत्ति को भी ब्राह्मण चुरा लेता है, तो वह चाण्डाल ही कहा जाता है।

भगवान मन ही मन कह रहे हैं कि इस न्याय से तो तुम्हारे ये ब्राह्मणगुरु एवं पितामह भी चाण्डाल ही हैं; क्योंकि तुमलोगों की सम्पत्ति चुरानेवालों का साथ देते हुए अब रणभूमि में तुमलोगों का प्राण भी लेने आ गये हैं फिर इन चाण्डालों से युद्ध करने में क्या हानि है?

मानो भक्त अर्जुन कह रहे हैं कि इन गुरुजनों के पास भी सम्पत्ति है ही, पितामह के पास तो अपार सम्पत्ति है। गुरु का एक पैसा चुराना या लाख पैसा चुराना बराबर ही तो है? ऐसी

खून से लथपथ सम्पत्ति को मैं कैसे स्वीकार करूँगा? यही नहीं–

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो–
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम तो यह भी नहीं जानते कि ऐसी विषम परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए, भागते हैं तो भी शान्ति नहीं और युद्ध करते हैं तो भी शान्ति नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि विजयश्री किसके चरणों को चूमेगी, उनके या हमलोगों के? तथा जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने युद्ध के लिए खड़े हैं।

(भगवान ने मन ही मन कहा कि अच्छा! तो तुम सबसे बड़े ज्ञानी हो गये हो, सबसे बड़े त्यागी हो गये हो। विजय की लालसा तो मन में है ही और बातें करते हो त्याग की।)

इस मंत्र के द्वारा पता चलता है कि यदि भगवान बता दें कि विजय तुम्हारी निश्चित है तब कोई समस्या नहीं, प्रभु की आज्ञा पालन करने में। यह तो एकमात्र बहाना है कि इनको (धृतराष्ट्र के पुत्रों को) मारकर भी हम जीना नहीं चाहते। प्रकृति के संकेतों से इन्हें यह भी पता चल गया है कि इस महासंग्राम में कोई बचनेवाला नहीं है। यदि इनके स्वजनों के बचने की बात प्रभु कह दें तो भी कोई समस्या नहीं है। मानो वे सोच रहे हों कि ओह! यदि हमारे बच्चे भी इस संग्राम में वीरगति को प्राप्त होते हैं तो उसका कारण भी हम ही बनेंगे, पुत्र–पौत्र हन्ता भी हम ही कहे जायेंगे। जिनके लिए धन–धान्य, मान–सम्मान एवं ऐश्वर्योपार्जन किया जाता है, यदि वे ही लोग नहीं रहेंगे तो ऐसी विजय एवं ऐसी सुख–सुविधा किस काम की।

महात्मा अर्जुन के मन की दुरवस्था (घायल चित्त) को देखकर महाराज को अयोध्या नरेश राजर्षि मुचुकुन्द की कथा याद आ रही है। वे देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र की तरफ से युद्ध कर रहे थे। अन्ततोगत्वा असुर पराजित हुए और पुनः इन्द्र को सिंहासन पर आसीन कर दिया गया। अब राजर्षि मुचुकुन्द की विदाई होने लगी। विदाई समारोह शंख, नगाड़े, ढोल, शहनाइयों को बजाकर मनाया जाने लगा। सारे देवता तिलक लगा रहे हैं; जय–जयकार कर रहे हैं किन्तु देवराज इन्द्र चुपचाप बैठे हैं। देवताओं सहित अयोध्यानरेश को भी बड़ा आश्चर्य हुआ, अतः अन्ततोगत्वा पूछा– हे देवराज! आप प्रसन्न नहीं हैं, क्या कुछ बात है? देवराज ने कहा कि हाँ महाराज! तो क्या बात है आप बतायें– राजर्षि मुचुकुन्द ने पूछा। देवराज इन्द्र ने कहा– हे राजर्षे! आप कहाँ जायेंगे? बहुत पीढ़ियाँ गुजर गयी हैं। अयोध्या में तो आपको कोई पहचाननेवाला भी नहीं है। यहाँ पर तो आये आपको मात्र सालभर ही बीता है, लेकिन पृथ्वीलोक का हजार वर्ष बीत गया है, हजार क्या हजारों वर्ष बीत गये हैं। वर्तमान में जो अयोध्या नरेश हैं वे प्रजा को पुत्रवत् देखते हुए अपने स्वधर्म का पालन कर रहे हैं, किसीप्रकार का उत्पात वहाँ नहीं हो रहा है। वहाँ तो बस मंचों पर कथा कहनेवाले ब्राह्मणों के द्वारा कथा–प्रसंगवश आपका कभी

नाम आ जाता है। ऐसा सुनते ही मुचुकुन्द के अस्त्र–शस्त्र हाथों से छूट गये, थकान हो गयी शरीर में उनके। इसके पूर्व तो वे बड़े उत्साहित थे कि अयोध्या के लोग मेरी बाट जोह रहे होंगे, लेकिन सारा का सारा उत्साह जाता रहा। उन्होंने देवराज इन्द्र से कहा– हे देवराज! मुझे सृष्टि में कोई ऐसी जगह बताएँ जहाँ मैं विश्राम करके अपनी सारी थकान मिटा सकूँ। जबतक मैं सोता रहूँ तबतक कोई जगा न सके। यदि जगाये तो मेरे देखते ही वह भस्म हो जाय। देवराज इन्द्र ने कहा– महाराज! बद्रीनाथ में एक महति, बहुत विशाल, सिद्धों एवं संतों को आश्रय देनेवाली अतिप्रिय गुफा है; आप वहाँ तबतक विश्राम करेंगे जबतक द्वापर में प्रकट होनेवाले भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द आपको आकर वरदान नहीं दे देते।

बहुत से साधकों की ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जो भगवान को तो चाहते हैं, अपने स्वरूप को भी चाहते हैं, लेकिन वे यह भी सोचते रहते हैं कि मैं यदि अहर्निश भगवान की साधना में लग गया तो कहीं माता–पिता, बाल–बच्चे आश्रयहीन तो नहीं हो जायेंगे? माता–पिता तो मेरे बिना चीत्कार कर बैठेंगे, बाल–बच्चे तो कहीं के नहीं रहेंगे फिर भगवान को पाकर ही क्या करेंगे? दूसरे पल में विचार करते हैं तो मन में आता है कि आखिर मैं रहकर भी तो क्या कर रहा हूँ? अबतक इनलोगों को राजसुख तो नहीं दे पाया, यदि करने से ही होता तो रिक्शावान बहुत करता है, मजदूर बहुत करते हैं, लेकिन जितना करते हैं उतना भी नहीं मिल पाता है। फिर बहुत से ऐसे संत हो चुके हैं जो अपने माता–पिता के इकलौते पुत्र थे तो भी संन्यास लेकर निकल गये। वे स्वयं तो भगवान को प्राप्त हो ही गये अपने स्वजनों को भी प्रभु का कर गये। फिर सोचते हैं– राजा जनक भी तो घर में ही थे, फिर मैं भी घर में ही चलता हूँ।

स्वयं महाराज ने जब घर से सन् १९७४ में संन्यास लिया तो एक वन में चला गया। रात्रि में एक झाड़ी के नीचे बैठे–बैठे रात बितायी। बरसात का समय होने से कभी–कभी वर्षा भी होती थी। लगभग आधी रात के उपरान्त राजस विचार चलने लगे कि घर में भी तो तप हो ही रहा था, वहाँ के लोगों से क्या बाधा थी? जो पहले विरोध होता था अब वह भी शान्त हो गया था फिर वन की क्या आवश्यकता है? इत्यादि इत्यादि। लेकिन जब सवेरा हुआ तो मन से कहा– हे मन! अब चलो; इतनी दूर चलो कि घर याद भले ही आवे लेकिन शरीर न आ सके, ऐसा सोचकर उठा और नर्मदा किनारे चला गया; फिर–फिर घर लौटने का विचार नहीं आया।

एक साधक तो यह कह रहा था कि मेरे मन में बहुत समय तक विचार आते रहे कि यदि संन्यास ले लिया और भगवान मिला ही नहीं तथा बुढ़ापा आ गयी, अतिरोग हो गया तो वहाँ सेवा कौन करेगा? कम से कम घर पर अपने स्वजन तो सेवा कर देंगे; लेकिन पता नहीं कैसे योग बन गया और घर–गाँव छूट गया। एक साधक कह रहा था कि न मैं घर में रह पा रहा हूँ, न संन्यास ही ले पा रहा हूँ। यदि कोई सन्त कह दे कि तुम संन्यास में सफल हो जाओगे तो मैं झट संन्यास ले लूँगा। एक साधक ने तो हँसी करते हुए कहा कि अब मैंने जान लिया कि मेरे से साधना नहीं होगी लेकिन संसार में मैं बिना नाम कमाये, बिना प्रतिष्ठा अर्जित किये जी नहीं सकता, मेरा तो किसीप्रकार भी जगत में नाम होना चाहिए। महाराज ने पूछा– प्रतिष्ठा

तुम्हें चाहिए ही क्यों? तो उसने कहा कि घर–गाँव तथा मेरा क्षेत्र जाने कि मैं बड़ा महात्मा हो गया हूँ। महाराज ने हँसते हुए कहा– अच्छा, अच्छा, अच्छा!

लगभग सन् १९८५ में एक गाँव में महाराज ठहरा था। किसी कारण से सवेरे भोर में नहीं जग रहा था, तो जो साथ में साधक था, उसने कहा– महाराजजी जगिये न! महाराज ने कहा– क्यों? शरीर की थकान तो मिट जाने दो? तो उसने कहा– अरे! लोग देखेंगे कि महाराजजी सुबह सो रहे हैं तो क्या कहेंगे? महाराज ने कहा– ये बात है! तो तुम, लोगों को दिखाने के लिए ध्यान–भजन करते हो! प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए आँख बन्द करके बैठते हो! ऐसा कबतक दिखाते रहोगे? भगवान को दिखाना है कि इनको? सारे शास्त्र तो कहते हैं संसार के लोगों से छिपाओ और भगवान को दिखाओ लेकिन तुम उलटा ही कह रहे हो?

महात्मा अर्जुन कह रहे हैं कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, हम जानते ही नहीं हैं। भगवान से शास्त्र–पुराण एवं वेद की बात कर गये तो भी कहते हैं कि हम जानते ही नहीं हैं? यदि भगवान कह दें कि तुम्हारे पक्ष के लोगो में से कोई भी नहीं मरेगा तथा मैं श्रीराम प्रभु जैसा तुम्हारे पक्ष के लोगों के ऊपर देवराज इन्द्र से अमृत की वर्षा करा दूँगा, वे सब जीवित हो जायेंगे; तब उन्हें सब बात समझ में आ जायेगी।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां तवां प्रपन्नम्॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं–
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

हे माधव! आपने ठीक ही कहा– निश्चितरूप से मैं कायरतारूपी दोष से घिर गया हूँ, मेरा चित्त अत्यन्त आहत हो गया है, सचमुच में पारिवारिक धर्म, लोक धर्म, पौराणिक धर्म से मेरा चित्त विमूढ़ हो गया है। बचपन से अबतक जिस धर्म में मैंने जीवन जीया है, जिस धर्म ने आजतक मेरे एवं मेरे परिवार की सुरक्षा की है, उसी धर्म के पालन में मुझे शान्ति थी; यद्यपि मुझे परम ज्ञान नहीं था तो भी मैं ऐसा कभी अशान्त नहीं हुआ। हे प्रभु! अशान्ति का कारण है कि आपके धर्म में मुझे दोष दिखाई पड़ रहा है। जिस क्रिया के करने से पूर्व में ही अशान्ति उत्पन्न हो जाय, इससे तो यही सि(होता है कि वह क्रिया दोषयुक्त है। पौराणिक मत है कि जिस क्रिया में प्रवेश करने के पूर्व उत्साह होता है वह क्रिया ब्रह्मक्रिया कही जाती है; किन्तु आपके अनुसार मेरा एवं पुराण का मत मान्य नहीं है। इससे सि(होता है कि आपके पास कोई विशेष धर्म है। अतः–

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

आज मैं आपका शिष्य होता हूँ, आप मुझे शिष्यरूप में स्वीकार करें और जो यथार्थ हो कहें। निश्चितरूप से आप मेरे इस व्यवहार से अति दुःखी हो गये हैं; क्योंकि जीवन में कभी भी मैंने आपके मुख से ऐसा अपशब्द नहीं सुना था। जब शिशुपाल बकवास कर रहा था तब आपने मात्र इतना कहा था– 'जाने दें पितामह! आज इसी के बोलने का दिन है।' इस न्याय से निश्चितरूप से मैंने आपका घोर अपमान कर दिया है तभी तो आपके मुखारविन्द से हिजड़ापन शब्द निकला, जो मेरे द्वारा किये जानेवाले अपमान का प्रायश्चित कर मेरे तन, मन, हृदय को पवित्र करनेवाला है। आप और गाली! ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। ऐसा प्रयोग तो पिता अथवा गुरु के द्वारा ही अत्यन्त क्षुब्धावस्था में पुत्र या शिष्य के प्रति होता है– ऐसा जानकर ही मैंने आज आपके पास शिष्यत्व स्वीकार किया है। आप भी मेरी शिष्यता स्वीकार करें और जैसे सद्गुरु अपने शिष्य को ज्ञान देकर शान्ति प्रदान करता है, वैसा ही आप भी करें। क्या धर्म है, क्या अधर्म है? ऐसी विषम परिस्थिति में मैंने जो कुछ कहा है, वह अन्यथा कैसे है? इस विषय पर भी प्रकाश डालें। यद्यपि मैंने जो कुछ भी कहा है, वह मेरी समझ में अशास्त्रीय नहीं है किन्तु यदि अशास्त्रीय है तो कहाँ और कैसे? यह भी बतायें। हे प्रभु! (न हि प्रपश्यामि.....) मैं नहीं देखता कि यदि मैं त्रिलोकपति भी हो जाऊँ तो भी मेरे तन, मन, वचन, हृदय, को शान्ति मिल जाय; अतः अब मैं आपके शरणागत हूँ। सर्वप्रथम आप मुझे शान्ति प्रदान करें, क्योंकि अभी भी मेरे मन में ज्यों की त्यों घोर अशान्ति बनी हुई है।

महात्मा अर्जुन ने यहाँ अत्यन्त ही चतुरता दिखाई है; जैसे चोर के पास हजारों कलायें होती हैं, वैसे ही बहानेबाजों के पास जब कायरतारूपी दोष आता है तब हजार बहाने हो जाते हैं। उन्होंने सोचा कि यदि मैं इन्हें गुरु बना लेता हूँ तो ये मुझे संन्यास की आज्ञा दे ही देंगे, तत्पश्चात् युद्ध करने को नहीं कहेंगे; क्योंकि कोई भी गुरु अपने शिष्य को युद्ध की आज्ञा नहीं देगा। वैसे भी ज्ञान का उपदेश करने के बाद तो युद्ध की बात रह भी नहीं जाएगी। चलो पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि भौतिक गुरु हैं ही, अब सद्गुरु भी मिल गया।

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'– भगवान का कोई शिष्य तो था नहीं, इसलिए सोचा कि चलो एक शिष्य तो मिला। प्रभु ने तो पहले ही सोच लिया था कि मैं इसी को शिष्य बना लेता हूँ, तब तो यह समर्पित हो ही जायेगा। ऐसा प्रभु ने सोचा ही था कि अर्जुन के हृदय में प्रेरणा हो गयी कि मैं क्यों न इन्हीं को गुरु बना लूँ, जिससे युद्ध करने से जान बचे और भगवान सोच रहे हैं कि 'जब यह शिष्य बन जाएगा तब तो मेरी किसी भी आज्ञा को टाल ही नहीं पाएगा। इसकी गुरु में जब इतनी प्रीति है तो सद्गुरु में तो विशेष ही प्रीति हो जायेगी। गुरु का होकर अभी भी यह पुत्र और स्वजनों का भी है लेकिन सद्गुरु का होकर तो बाल–बच्चों एवं सम्पूर्ण स्वजनों को यह भूल ही जायेगा।' 'सूझ जुआरिहि आपन दाऊ' जैसे जुआरी को अपना दाव ही दिखाई पड़ता है अर्थात् अपने दाव (बाजी) के विषय में ही सोचता रहता है, वैसे ही ये दोनों एक–दूसरे के गुरु–चेले बनकर अपना–अपना काम एक दूसरे से कराना चाहते हैं; लेकिन यह ऐसा जूआ है, जिसमें दोनों को ही बराबर सफलता मिलेगी, इसमें किसी की हार

नहीं होगी। भगवान, अर्जुन से इस युद्ध में सर्वस्व छीन भी लेंगे और सर्वस्व दे भी देंगे।

कोई भी सद्गुरु उन्हीं पवित्र बालक–बालिकाओं, माता–पिताओं को अपना शिष्य बनाते हैं, जिनकी भौतिक गुरुओं में भी भगवान जैसी ही प्रीति हो। सद्गुरु तो ऐसे शिष्यों का ही आवाहन करते हैं। उनके आवाहन से ही भगवान वैसे पुरुषों को लाकर, उनमें प्रेरणाकर, शिष्य बना देता है। इसलिए साधकों को सद्गुरु मिल जाय तो सद्गुरु की एवं भगवान की ही कृपा माननी चाहिए न कि अपनी बुद्धि की।

महाराज ने सन् २००२ में एक ऐसे साधक को एक सन्त के पास आया हुआ देखा, जिसे उस आश्रम के लगभग सभी साधक घृणा की दृष्टि से देखते थे, एक उसके सद्गुरु ही उसे प्यार करते थे। उस साधक का शरीर भी इतना निर्बल था कि थोड़ी जोरों की हवा चले तो वह हवा में ही उड़ जाय। पूछने पर पता चला कि उसे लगभग हर रोज बिना सपने का गाढ़ी निद्रा में वीर्य स्खलित हो जाता है। उसके सद्गुरु ने बताया कि भोजन पर संयम न रहने से, चाहे जो कुछ मिल जाय उसी को खा लेने से वीर्य में रोग लग गया है; जिससे वीर्य में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है लेकिन उसकी सद्गुरु के प्रति अपार श्रद्धा को देखकर उस सद्गुरु ने उसे ध्यानयोग बता दिया। जब दो–तीन वर्षों में ही वह बारह–बारह घण्टे ध्यान में बैठने लगा तो कुछ साधकों ने उस सन्त से पूछा कि इनकी ऐसी दिव्य सफलता का क्या कारण है? जबकि इनका शरीर अति निर्बल था, वीर्यपात हर रोज होता था और अब उनके तन, मन, वचन में तेज स्पष्ट झलक रहा है? तो संत ने बताया– इन्हें अपने पूर्व के गुरु में भी ऐसी ही श्रद्धा थी जितनी कि मेरे प्रति है। इतना ही नहीं, आज भी उस कुलगुरु के प्रति इनके मन में वैसी ही श्रद्धा है और एक समय में गुरु–सद्गुरु के प्रति एक जैसी श्रद्धा होना एक वरदान ही है, इसी कारण ये वेगपूर्वक सफल होते जा रहे हैं।

भगवान को बिना पहचाने ही उन्हीं की प्रेरणा से महात्मा अर्जुन ने प्रभु को सद्गुरु बनाया है– इसका क्या प्रमाण है? हाँ; प्रमाण तो अगले मंत्र में स्पष्ट ही है। वे कहते हैं– हे माधव! हे प्रभु! आप मुझे दीक्षित करें लेकिन युद्ध करने को न कहें; क्योंकि मैं युद्ध तो करूँगा नहीं। तो आयें भक्त अर्जुन की आन्तरिक वेदना को पद के द्वारा मिश्रित भैरवी राग त्रिताल के द्वारा गाकर हमसब भी आनन्द लें–

माधव शिष्य भयो हौं तुम्हरी, राखो लाज आज हमरी।।
आगे गुरुजन युद्ध को आये, देखत मन को लाज लजाये।
शिष्य गुरु को मारन धाये, यह जग निंदित खबरी।।
माधव शिष्य भयों.....

शास्त्र–अशास्त्र कतहुँ नहीं देखऊँ, गुरुँ सो छीना झपटी।
मरन भलो अस राज्य मुकुट से, धन अस जानूँ खँखरी।।
माधव शिष्य भयों.....

गुरुजन मारि शान्ति सुख सुविधा, नहि पावौं दुविधा हि दुविधा।
तन मन दाह मिटै नहिं कबहुँ, युगयुग बीते सबरी॥
माधव शिष्य भयों.....

महाराज मन विस्मित अर्जुन, गोविन्द युद्ध न करिहौं।
दो उपदेश शान्त चित्त होऊँ, हौं संन्यासी अबरी॥
माधव शिष्य भयों.....

धृतराष्ट्र के मन में घटनाक्रम को जानने की बड़ी उत्सुकता है; अतः वे पूछ रहे हैं कि तुम बोल नहीं रहे हो संजय! अरे! क्या देख रहे हो, बताते क्यों नहीं हो? तब संजय ने कहा–

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

क्या बोलूँ राजन्! भगवान मधुसूदन को आपके अनुज पुत्र अर्जुन ने सारथि से सद्गुरु बना लिया और गुरु एवं शिष्य के धर्म को बड़े सूक्ष्म ढंग से भगवान नारायण के सम्मुख रखकर कहा कि आप ज्ञान एवं शान्ति तो प्रदान करें लेकिन युद्ध करने को न कहें; क्योंकि निश्चय ही मैं युद्ध नहीं करूँगा। हे राजन्! अब तो एक विलक्षण घटना घट रही है; वह यह कि धीरे–धीरे वे (अर्जुन) रथ पर खड़े हो रहे हैं। अरे! यह क्या! हे गोविन्द! अब रक्षा करें– कहते हुए भगवान नारायण के चरणों में अपने सिर को रखकर प्रणाम किया है। 'यह रणभूमि है', महात्मा अर्जुन को अब ऐसा स्मरण नहीं रहा राजन्! इसलिए उन्होंने गोविन्द कहकर भगवान का स्तवन भी कर दिया।

(जो इन्द्रियों को तथा इन्द्रियों में रहनेवाले विषयों को जानता है तथा उनपर शासन भी करता है उसे गोविन्द कहते हैं।)

हे राजन्! वे (अर्जुन) कह रहे हैं कि हे प्रभु! बहुत से ऋषि–महर्षियों के पास दिव्यास्त्र हैं तो भी आपने उन्हें युद्ध करने की आज्ञा कभी नहीं दी है। अतः मुझे भी आप आज्ञा न दें। हाँ, एक बात और सुन लें कि आपकी आज्ञा से भी 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'।

भगवान नारायण ने अपनी दयार्द्र दृष्टि से महात्मा अर्जुन की तरफ वैसे ही देखा जैसे गाय माता अपने शिशु को निहारती है। शिशु की ओर निहारने के कई अवसर आते हैं। मनुष्य वर्ग में भी मातायें जब शिशु को जन्म देती हैं तो प्रथम वात्सल्यमयी दृष्टि से उसे निहारती हैं और भरपेट देख लेने के बाद बड़े वेग से उठाकर उसे अंक में भर लेती हैं तथा बहुत देर तक उसे चूमती–चाटती रहती हैं कि मानो वे बाहर से भीतर उसे पुनः हृदय में बिठा लेना चाहती हों। ऐसे ही तन, मन, वचन, हृदय से परम पावन हुए अपने परम प्रिय शिष्य को सद्गुरु देखता है और देखते ही देखते अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति का उसमें शक्तिपात कर देता है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

ठीक वैसे ही, हे राजन्! दोनों सेनाओं के मध्य विषादग्रसित अर्जुन के प्रति भगवान हृषीकेश ने हँसते हुए से कहा– आओ पार्थ! उठो! (भगवान नारायण ने अपने परम प्रिय शिष्य को रथ के पीछेवाले भाग में बैठा दिया) इधर देखो, मेरी आँखों की तरफ देखो!

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

हे पार्थ! तुम उनके प्रति चिन्ता करने लगे हो जिनकी किसी काल में भी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिए। यद्यपि तुम पण्डितों की सी बात कर रहे हो किन्तु जो यथार्थ में पण्डित हैं, वे तो जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण अभी हैं तथा जिनके प्राण जानेवाले हैं, उनलोगों के विषय में भी शोक–संताप नहीं करते।

इसी दिव्य मंत्र से ब्रह्मविद्या प्रारम्भ होती है। सारे के सारे मंत्र किसी निषेध का ही निषेध करते हैं किन्तु यह मंत्र सम्पूर्णता से मायावाद का भी निषेध कर रहा है। इसी से यह मंत्र सारे मंत्रों की आत्मा है, ब्रह्मचिन्तन में लगे हुए साधकों का प्राण है। महात्मा अर्जुन को पण्डित कहकर प्रभु ने उनके मन में लज्जा का संचार हो जाय, ऐसा प्रयत्न करना चाहा है, ताकि उन्हें स्वयं लगे कि मैं कहाँ, किसके पास बकवास कर रहा था, मैं इनके पास क्या आलाप–प्रलाप कर रहा था। एकमात्र व्यंग्यबाण से घायलकर महात्मा अर्जुन के द्वारा स्वयं को दिये गये उपदेशरूप दोष का प्रायश्चित कराते हुए प्रभु ने उन्हें ब्रह्मविद्या देनी प्रारम्भ कर दी। यह ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जो अनजाने में शिष्य के द्वारा गाली से प्रारम्भ हो रहा है और अद्‌भुत आनन्द की बात है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द जैसे सद्‌गुरु ने गाली से ही अर्जुन जैसे दिव्य, जितेन्द्रिय शिष्य के अहंकार को छिन्न–भिन्न करते हुए उनको ब्रह्मज्ञान देना प्रारम्भ किया है। नीति भी कहती है–

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

मंत्री राजा के भय से, वैद्य रोगी के भय से तथा गुरु शिष्य के भय से मुँहमीठी बातें करते हैं तो राजा का राज्य, रोगी का शरीर तथा शिष्य का धर्म शीघ्र ही नाश हो जाता है। जब ये सब अपने धर्म से विमुख नहीं होते तो भगवान तो फिर मुँह मीठी बात करने से रहे।

महात्मा अर्जुन ने अपने धर्म से हटकर पृथक् धर्म स्वीकार कर लिया है। उन्होंने भगवान के सामने उन पण्डितों की सी बातें करनी प्रारम्भ कर दी है, जो मंच पर उपदेश तो देते हैं

लेकिन स्वयं महामोह से ग्रसित रहते हैं। यही नहीं, वे कामी, क्रोधी, लोभी, रागी, द्वेषी एवं भीतर से अति दीन होते हैं। भगवान का तो स्वयं, सुदामा जैसे ब्राह्मण से विद्यार्थी जीवन में पाला पड़ा ही था, इसलिए पण्डित की व्याख्या सहज में ही उनके द्वारा प्रारम्भ हो गयी। ब्रह्मचारी सुदामा भी वेद, शास्त्र, पुराणों के छन्दों का गूढ़ात्मक रहस्य उद्घाटित करने में कभी–कभी अपने मित्र भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द की बराबरी करते थे। गुरुदेव सन्दीपनि भी उनकी विद्वत्ता पर अति प्रसन्न हो जाया करते थे, लेकिन वैसे विद्वान पण्डित ने भी ब्राह्मणभक्त भगवान से ही चने–चबेने की चोरी कर ली। विद्वत्ता के अनुरूप उस ब्राह्मण का व्यवहार था ही नहीं। इसीलिए भगवान उसे पण्डित नहीं कहते– जो भाषाविज्ञान, शब्दविज्ञान में रमण तो करते हैं, लेकिन ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान से अछूते होते हैं।

भगवान सोच रहे हैं कि यह रणभूमि है, व्यासपीठ नहीं है। इसने तो मुझे ही ज्ञान देना प्रारम्भ कर दिया, जबकि मैं तो इसकी कथा नहीं सुनने आया हूँ बल्कि इससे युद्ध कराने आया हूँ। भगवान यह भी सोच रहे हैं कि मेरे तो गुरुदेव सन्दीपनि एवं दुर्वासा ऋषि– ये दो गुरु हैं ही, मैंने जो भी कुछ भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान है, उन्हीं सद्गुरुओं से ले लिया है; अब तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं है। इसलिए भगवान मानो कह रहे हैं कि भले ही तुम अपने को पण्डित सिद्ध करो, अपने से विद्वान बनते रहो लेकिन मैं तुम्हें पण्डित या विद्वान नहीं मानता।

भगवान पण्डित की परिभाषा कुछ और ही दे रहे हैं– वे आत्मज्ञानी को ही पण्डित भी कहते हैं, आत्मज्ञानी को ही सम्पूर्ण वेद, शास्त्रों, पुराणों एवं स्मृतियों का ज्ञाता भी कहते हैं; चाहे भले ही वह एक अक्षर भी पढ़ा–लिखा नहीं हो। भगवान के अनुसार तो पण्डित वही है, जो मर गये हैं, (भले पितर बन गये हों या भूत–प्रेत या देवता बन गये हों) उनके लिए शोक–सन्ताप नहीं करता; पण्डित वही है, जो अभी मरने के किनारे खड़े हैं, वे भले ही अपने कर्मानुसार देवता बनें, राक्षस बनें या पितर, भूत–प्रेत बनें, उनकी चिन्ता नहीं करता तथा पण्डित वही है, जो अभी मरनेवाले हैं ही नहीं, पता नहीं कब उनके प्राण छूटेंगे, दस–बीस या पचास साल में; लेकिन उनके जीवन की भी चिन्ता नहीं करता कि वे कैसे रहेंगे क्या खायेंगे–पीयेंगे, अमीर होंगे या गरीब। वे हँसते हुए, रोते हुए किसी प्राणी को देखकर हँसते–रोते नहीं हैं वे ही पण्डित हैं। संकरता–वर्णसंकरता फैले न फैले, इसे देखने का अधिकार भगवान ने तो दिया नहीं बल्कि इसके विषय में कि कब वर्णसंकरता हो जायेगी, कब नहीं होगी, किसके कारण से होगी और क्यों होनी चाहिए, इसका समाधान कैसे होगा– इसको सोचने का अधिकार तो एकमात्र सृष्टिकर्ता को है अर्थात् ब्रह्म को है। भगवान के आवाहन को महाराज के गुरुदेव ने अपने एक पद के द्वारा गाया है–

मेरे लगाये बाग से होता तुझे क्यों क्लेश है।
सब रूप मेरे जानिये यह स्वयं का संदेश है।।
(मेरा लक्ष्य)

आज अर्जुन को वर्णसंकरता की बात याद आ रही है, जबकि अबतक इन्होंने युद्धभूमि में

असंख्य शूरवीर क्षत्रियों को स्वर्गवासी बना दिया है, उनकी क्षत्राणियों के द्वारा संकरता फैली कि नहीं फैली– ये देखने तो अबतक नहीं गये! लगता है, एकमात्र कौरव–पाण्डव ही क्षत्रिय हैं और तो कोई क्षत्रिय है ही नहीं! लगता है, इन्हीं लोगों की बहन, बेटियाँ, माताएँ तथा स्त्रियाँ जगत में स्त्री हैं, औरों की बहन–बेटियाँ स्त्री हैं ही नहीं! लगता है, ये कौरव–पाण्डव ही इस सृष्टि के कर्ता–धर्ता हैं और तो कोई इसका सृजन कर्ता है ही नहीं।

कभी–कभार व्यक्ति प्रभुता के मद में अविवेकियों जैसा व्यवहार करने लगता है। महाराज दशरथ ने कैकेयी से कहा– माँगो! वरदान माँगो! क्या चाहती हो? वे ऐसा बोलने लगे थे मानो कहाँ के सिद्ध महात्मा हैं। ऐसा कहकर तो उन्होंने भगवान का ही अपमान किया था, आत्मज्ञानी सन्तों का ही अपमान किया था, जिसका परिणामरूप फल उन्हें खूब भुगतना पड़ा।

गीतापाठी भी सोच सकते हैं कि भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि अशोच्य कैसे हैं अर्थात् इनके विषय में क्यों नहीं शोक–सन्ताप करना चाहिए? जब वे सब पाण्डवों जैसे शिष्यों पर शोक–सन्ताप नहीं कर रहे हैं तो कम से कम ये तो उनकी चिन्ता कर रहे हैं? नहीं नहीं, ऐसा नहीं है बल्कि जगत में इनकी इच्छा के विरुद्ध कोई इनका वध तो कर ही नहीं सकता, ये दोनों ही अजेय हैं। माना कि भगवान परशुराम के शिष्य होने के नाते इनकी पराजय उन्हीं की पराजय मानी जायेगी लेकिन जबतक इन दोनों ने हाथ में धनुष–बाण ले रखा होगा तबतक त्रिलोकी में इनका सामना करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं होगी, इसलिए ये अशोच्य हैं। अर्जुन के द्वारा इन गुरुजनों का वध भगवान नहीं करायेंगे; क्योंकि उन्होंने उनके वध करने की व्यवस्था पहले से कर रखी है। द्रोणाचार्य के वध के लिए धृष्टद्युम्न जैसे महाकाल को अग्नि के द्वारा प्रकट कर लिया गया है तथा कृपाचार्य अजेय ही हैं, रही बात पितामह भीष्म की तो उनके लिए शिखण्डी को आधार बनाया गया है। वैसे भी वे तो क्षत्रिय ही हैं इसलिए अर्जुन के द्वारा बिछाई गयी शरशय्या पर सोयें तो क्या आपत्ति है। वे स्वयं सोच रहे हैं कि जब संन्यास नहीं लिया तो चारपाई पर पड़े–पड़े इच्छाशक्ति द्वारा मरने की अपेक्षा अपने दिव्य पराक्रम और शौर्यरूप कौशल का प्रदर्शन करते हुए युद्धभूमि में भगवान द्वारिकाधीश की छवि को हृदय में धारण किये हुए प्राणों को छोड़ना अच्छा है। यदि महावीर अर्जुन, महाराज धृतराष्ट्र एवं माँ गान्धारी की चिन्ता कर रहे हैं कि युद्धभूमि में अपने सारे पुत्रों के मारे जाने पर ये हमें शाप न दे दें, तो साथ में भगवान के रहते ऐसा तो हो ही नहीं सकता। यदि वे वीर क्षत्राणियों की चिन्ता करते हैं तो वे भी चिन्तनीय नहीं हैं; क्योंकि वे अपने वीर पति की चिता पर स्वयं भी अपने प्राणों की आहुति दे देंगी। वे स्वयं जानते हैं कि उनकी छोटी माँ माद्री महाराज पाण्डु के साथ ही सती हो गयी थी तथा माँ कुन्ती भी सती ही होना चाहती थी; किन्तु गुरुजनों ने विशेषाधिकार से उसे किसी विशेष प्रयोजन से रोक दिया था।

मानो भगवान कह रहे हों कि इन नराधम, नीच कौरवों के रहते तो अवश्य ही वर्णसंकरता फैलेगी। ये सभी जानते हैं कि कुछ वर्षों पूर्व इस दुष्ट दुर्योधन को वनवासी बहन–बेटियों के साथ छेड़–छाड़ के अपराध में वनवासियों द्वारा बंदी बना लिया गया था। अतः ऐसे मूर्खों की,

ऐसे पापात्माओं की क्या चिन्ता करनी? जब ये इनलोगों पर इतने वर्षों से अन्याय पर अन्याय किये जा रहे थे तो उस समय तक पितरों ने पितरलोक से आकर रक्षा क्यों नहीं की; जबकि वे भी वरदान एवं शाप देने की कुछ सामर्थ्य रखते हैं; फिर ऐसे पितरों की क्या चिन्ता करनी? आजतक धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन आदि ने अपने स्वजनों के साथ खूब अधर्म किया तब पितरों का पतन नहीं हुआ? जब दुर्योधन ने पाण्डवों को राज्य से निष्कासित कर दिया तब इनका पतन नहीं हुआ? जबकि निष्कासित करना और वध करना समान है। किसी भी दृष्टिकोण से इनके लिए शोक–सन्ताप करना महात्मा अर्जुन जैसे बुद्धिमान के लिए योग्य नहीं है।

(अशोच्यानन्वशोचस्त्वं.....) अब साधकों की भूमि में लौटते हैं जहाँ असोच की सोच तो साधक भी खूब करते हैं। किसी साधक को विद्वान होने की कमी खलती है तो किसी साधक को तांत्रिकों, मांत्रिकों की सिद्धि को देखकर अपने में सिद्धि के अभाव की चिन्ता हो जाती है। कोई साधक कहता है– इतने साल घर छोड़े हुए हो गया भगवान के नाम पर लेकिन भगवान ने एक छोटी सी भी सिद्धि नहीं दी, जिससे कि मैं किसी के सामने सिद्धि दिखाकर भगवान की शक्ति एवं सामर्थ्य को सिद्ध कर सकूँ। मेरे से गये–गुजरे, सम्पूर्ण आचार–विचार से भ्रष्ट धारा प्रवाह संस्कृत एवं अंग्रेजी बोलते रहते हैं और मैं वहाँ मुँह देखता रहता हूँ। इसप्रकार पण्डित जैसा बोलने–चालने का मन कर जाता है। इतनी ही बात नहीं है बल्कि जो शास्त्रों, पुराणों एवं वेद–वेदांगों के ज्ञाता हैं, स्वयं वे भी अनपढ़ साधक को आठ–दस घण्टे ध्यान में बैठे हुए देख कर मन ही मन अपने–आपको धिक्कारते रहते हैं कि हमारी पण्डिताई किस काम की जो एक–आध घण्टे भी जप, तप, ध्यान में नहीं बैठ सकते। महाराज बहुत से साधकों को देखता है, जिन्होंने भगवान के लिए घर छोड़ने के उपरान्त भाषाविज्ञान सीखने का मन बनाकर अपने योग, जप, तप का परित्याग कर दिया और संस्कृत, अंग्रेजी के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये। पूछने पर वे बताते हैं कि जब विद्वानों में बैठने लायक ही नहीं हूँ, तो ऐसा योग, जप, तप किस काम का; कम से कम गीताजी का अर्थ समझ सकूँ, इतना तो संस्कृत पढ़ लूँ! कम से कम किसी अंग्रेज साधक से उसके द्वारा पूछने पर साधना की बात बता सकूँ, इतना तो अंग्रेजी पढ़ लूँ! कम से कम इतना तो पढ़ लूँ कि तर्क में किसी को मात दे सकूँ! कहाँ तक कहा जाए, साधकों की अनाप–शनाप (क्षुद्र) सोच को तो देखते ही बनता है।

दो बच्चों सहित धर्मपत्नी को छोड़कर संन्यास लिए हुए एक साधक ने बताया कि मुझे कोई और चिन्ता नहीं सताती, बस यही कि मेरी धर्मपत्नी कहीं किसी पराये पुरुष को वरण न कर ले। महाराज ने कहा– तुम तो बड़े ढोंगी लगते हो। यदि ऐसी बात है तो तुम्हें किसने गेरू वस्त्र दे दिया? अरे मूर्ख! जब तुमने संन्यास ले लिया, तो अब वह तुम्हारी धर्मपत्नी कहाँ रही? अब तो जगत की सारी माताएँ, तुम्हारी माताएँ हो गईं। उन्हीं माताओं में एक माँ वह भी हो गई, जिसे तुमने धर्मपत्नी समझ रखा था। जब अन्य माताओं से होनेवाले वर्णसंकरतारूप विचार नहीं आ रहे हैं तो उस एक माँ के प्रति ऐसा सोचकर मन को मैला क्यों कर रहे हो? विषादी अर्जुन के भाव को क्यों वरण कर रहे हो?

आप आध्यात्मिक भूमि में हैं, अतः आपके स्वजनों की चिन्ता तो भगवान करेगा। जब आप भगवान के पास निष्कामी हो जाते हैं, तो मात्र आपकी याद में मरनेवाले स्वजनों को दिव्य–लोकों की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा सम्पूर्ण शास्त्रों का कहना है। इसलिए आप उनके लिए शोक–संताप क्यों करते हैं? आप वहाँ जाकर बूढ़े माता–पिता को जवान तो कर नहीं देंगे? उनके शरीर में हुए कैंसर और लकवा जैसे रोगों को ठीक तो कर नहीं देंगे? अपने बाल–बच्चों को राजा तो बना नहीं देंगे? क्यों दूसरों के सामने दिखाते हैं कि मैं जोगी, जपी, तपी एवं महात्मा हूँ? आप कहते हैं कि मेरी माँ मर गयी है, इसलिए मैं श्राद्ध में जा रहा हूँ। क्या आद्यगुरु शंकराचार्य की माँ की भाँति आपकी माँ ने भी अपने श्राद्ध में आने का आपसे वचन लिया है? क्या उनकी माँ की एक अंश भी छाया आपकी माँ में है? अरे! कम से कम काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को भीतर से त्यागने की सामर्थ्य आपमें नहीं है तो जो संन्यासी–साधक के बाह्य नियम हैं, उन्हीं का तो विधिवत् पालन करें। शोक–सन्ताप होने का अवसर तो आप स्वयं देते हैं और फिर माथा धुनते हैं।

महाराज के पास बारह वर्षों से रहनेवाले एक साधक ने जब सुना कि आतंकवाद की अग्नि में मेरे बाल–बच्चों तथा भाई–बान्धवों की अत्यन्त दयनीय दशा हो गयी है, तो उसका माथा तीन दिन तक उन्हीं की ओर घूमा रह गया। उसने पूछा कि जब मैं भगवान का हो गया तो उनके साथ भगवान ने ऐसा क्यों किया? महाराज ने कहा– जब तुम भगवान के हो गये तो वे लोग तुम्हारे कहाँ रहे? उनके साथ भगवान ने ऐसा करके तुम्हें दिखाया है कि तुमने उनको अभी भी मन से नहीं छोड़ा है। इसलिए अभी भी तुम विशेषरूप से उन्हीं के हो। हाँ! आंशिक रूप से भगवान के हो। तुम तो आत्मरूप हो, शरीररूप होकर शरीरों की चिन्ता क्यों करते हो। वैराग्य की बात तो लोगों के सामने तुम गढ़–गढ़कर करते हो, तो क्या वे बातें मात्र यही सिद्ध करने के लिए हैं कि तुम पण्डित हो? तुम्हें तो अपने चित्त के स्वरूप को अच्छीप्रकार निरखने–परखने का यह एक अवसर मिला है। कम से कम तुम यह तो जान लो कि अभी आत्मरूपता से तुम कोसों दूर हो।

(अशोच्यानन्वशोचस्त्वं.....) एक साधक से उसके गुरु ने कहा कि लो! आज से इसी गुफा में रहना। वह साधक शेर, चीते, भालू आदि से बहुत डरता था; अतः बोला– गुरुदेव! यह तो दूसरे के घर पर अधिकार जमाने जैसा है। ऐसा करने से तो अहिंसा और अस्तेय दोनों व्रतों की हानि हो जायेगी! गुरुजी ने कहा तो झोपड़ी बना लो। साधक ने सोचा कि झोपड़ी में तो शेर, चीते आदि सुगमता से आक्रमण कर सकते हैं, अतः बहाना बनाते हुए कहा– गुरुदेव पेड़ों को काटना भी तो हिंसा है! गुरुजी ने कहा– कोई बात नहीं, तो एक मिट्टी की कोठरी बनवा देते हैं उसी में रहकर साधना करना। उसने सोचा कमरा देखकर चोर समझेंगे कि यह पैसेवाला साधु है, इसलिए परेशान करते रहेंगे। अतः पुनः कहा– गुरुदेव! जंगल में कमरा बनवाना साधु को शोभा नहीं देता। आप कहें तो इसी शहर में एक मन्दिर है, उसमें लोग किसी साधक को चाहते भी हैं, मैं वहीं रह जाऊँ? गुरुजी ने गम्भीर होकर कहा कि मेरी बात मानो तो तुम थोड़े समय

के लिए घर चले जाओ।

यह कैसी विडम्बना है– साधु का वेश बनाना और प्राणों की चिन्ता करना, साधु का वेश बनाना और अपने को शरीर समझना, साधु का वेश बनाना और स्वजनों की चिन्ता करना? अरे! अपने को आत्मा नहीं मान सकते तो प्रथम अवस्था में भगवान का भक्त तो मान ही सकते हैं!

महाराज के पास बीस साल से आनेवाले भक्त ने कहा कि अब मुझे संन्यास दे दें। रामानन्द और आत्मानन्द ने हँसते हुए उससे कहा कि बाल–बच्चों के पास जाने को नहीं मिलेगा। महाराज ने भी इसी से उसे अबतक संन्यास नहीं दिया था। उसने रोने–रोने सा मन बना लिया। महाराज ने कहा– आज संन्यास तो दे दिया जा रहा है; किन्तु इसकी लाज रखना! लेकिन वह क्यों मानने जाये, दो साल के अन्दर तीन–चार बार बाल–बच्चों के पास हो आया। इसबार उसने नवरात्रि व्रत इसलिए किया ताकि अब उसे घर–बार न जाना पड़े। ऐसे साधकों को धिक्कार है जिन्हें अपनी चिन्ता तो पूरी हुई नहीं और बाल–बच्चों की चिन्ता होने लगी।

प्रत्येक साधक को इस विषय में महात्मा भरत को आदर्श बनाना चाहिए। गुरुदेव वसिष्ठ ने भरतजी से कहा कि हे भरत! चित्रकूट जाने से पहले आपको राजसिंहासन और अयोध्या के विषय में विचार कर लेना चाहिए। राजा के अभाव में राज्य में अराजकता फैल जाती है, इसे आप भी जानते हैं। सिंहासन का सूना रहना अशुभ संकेत कहा जाता है। तो भी महात्मा भरत ने कहा था कि गुरुदेव! चाहे मुझे जो भी दण्ड मिले, भले ही मुझे नरक ही क्यों न जाना पड़े लेकिन मैं तो श्रीराम प्रभु को ही लाकर इसपर बिठाऊँगा।

राम का चिन्तन करनेवाले को किसी की चिन्ता नहीं होती, राम की आज्ञा में सन्तुष्ट रहनेवाले को किसी की आज्ञा की अवहेलना की चिन्ता नहीं होती, राम के लिए जीनेवाले को किसी के जीने–मरने की चिन्ता नहीं होती। यह बात अलग है कि राम के लिए जीने में सबके लिए जीना हो जाता है।

अब पुनः एकबार युद्धभूमि में महाराज आपलोगों को ले चलता है, इसलिए कि भगवान, भक्त अर्जुन को गुरुजनों के प्रति भी शोक–सन्ताप नहीं करना चाहिए, ऐसा क्यों कहते हैं? प्रभु कह रहे हैं– हे पार्थ! तुम जिस आचार्य द्रोण के प्राणों की चिन्ता कर रहे हो, यह तुम्हारे में शोभा नहीं देता; क्योंकि उन्होंने कभी किसी के शरीर या प्राणों की चिन्ता नहीं की है। वे अधर्मपूर्वक व्यवहार करने पर किसी शिष्य का गला काटने में भी नहीं चूकेंगे। इन्होंने ही तो अपने द्वारा कौरवों एवं पाण्डवों को दी जाती हुई धनुर्विद्या को चोरी से एकलव्य के द्वारा देखे जाने के कारण उसका अँगूठा ही माँग लिया था। अब ये स्वयं दुर्योधन जैसे महाचोर का साथ दे रहे हैं। अतः इस युद्धभूमि में धृष्टद्युम्न द्वारा इनका गला काट लिया जायेगा। (एकलव्य गुरुद्रोण द्वारा पाण्डव आदि को दी जानेवाली धनुर्विद्या को झाड़ियों की ओट में चोरी से देखकर उनकी मिट्टी की मूर्ति के सामने नित्यप्रति अभ्यास करता था। अतः उसके प्रायश्चितस्वरूप गुरुद्रोण ने उसके दाहिने हाथ का अँगूठा ही काट लिया था।) भगवान मानो अर्जुन से यह भी

कह रहे हैं कि विराटनगर से गायों की चोरी कर ले जाते हुए इन्हीं आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म तथा कर्ण जैसे महारथियों को देखकर उत्तर (विराट का पुत्र) तुम्हारे जैसा ही भाग चला था। उस समय तूने ही उसे यह उपदेश दिया था कि जिसके प्राण चले गये हैं उनके लिए तथा जिनके प्राण जानेवाले हैं उनके लिए बुद्धिमान सोचा नहीं करते; क्योंकि जो चले गये, वे रक्षा करने आयेंगे नहीं या तुम भी उनकी रक्षा कर नहीं सकते और जो जानेवाले हैं उनको बचा सकते नहीं। फिर ऐसी क्षुद्रमूर्खता क्यों धारण करनी?

महात्मा अर्जुन ने मन ही मन सोचा– ठीक है, यह रणभूमि है; इसमें स्वजनों के विषय में शोक–सन्ताप नहीं करना चाहिए; लेकिन इन गुरुजनों के प्रति भी मोह नहीं होना चाहिए क्या? इनके विषय में भी शोक–सन्ताप नहीं होना चाहिए क्या? इसपर भगवान कहते हैं कि

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

नहीं, नहीं! इन गुरुजनों के विषय में भी तुम्हें कुछ सोचना नहीं चाहिए। ऐसा तो है नहीं न, कि मैं वर्तमानकाल के अतिरिक्त कभी था ही नहीं और न ही ऐसा ही है कि तुम और ये राजागण तथा गुरुजन एवं भाई–बान्धव किसी पूर्व के जन्म में थे ही नहीं तथा ऐसा भी नहीं है कि वर्तमान जन्म के उपरान्त हम सब रहेंगे ही नहीं।

भगवान मानो कहना चाह रहे हैं कि भले ही शरीर अलग–अलग हो लेकिन आत्मा तो अलग–अलग नहीं होता। अतः हम सब आत्मरूप होने से शरीर के पूर्व में भी थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे। इसलिए भले ही गुरुजन ही क्यों न हों, उनलोगों के शरीर के विषय में शोक–सन्ताप नहीं करना चाहिए।

साधक भी आध्यात्मिक रणभूमि में आकर कभी–कभार माता–पिता, भाई–बान्धवों, बाल–बच्चों आदि के विषय में शोक–सन्ताप करने लगते हैं। क्या आप जानते हैं कि शरीर के जन्म लेने के पूर्व आप किस रूपवाले थे? तथा क्या आप जानते हैं कि शरीर जाने के उपरान्त पुनः किस रूप में होंगे? क्या आप जानते हैं कि ये स्वजन पूर्व में किस रूप में थे और आगे किस रूप में हो जायेंगे? आपकी पूरी सोच वर्तमान के शरीर पर केन्द्रित हो गयी है, जबकि आप एवं आपके माता–पिता, भाई–बान्धव पहले भी थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। हाँ, किस रूप में थे उस रूप को नहीं जानते तथा इन स्वजनों से आपका कैसा सम्बन्ध था इसे भी नहीं जानते और आगे के जन्मों में इनसे क्या सम्बन्ध होगा यह भी नहीं जानते। तो फिर इनके विषय में क्या शोक–सन्ताप कर रहे हैं? हाँ, सर्वप्रथम अपने स्वरूप को तो जान लें! जब शरीर के मूल को ही नहीं जानते, इसके अन्त को भी नहीं जानते तो इस वर्तमान की क्षुद्र जानकारी में इतने सन्तुष्ट कैसे हैं? और देखा जाय तो आपके पास वर्तमान शरीर की भी क्या जानकारी है? यह शरीर सात आवरणोंवाला कहा जाता है। सभी आवरण एक शरीर होने के कारण पुनः सात–सात आवरणोंवाले हैं; इसप्रकार कुल मिलाकर उनचास आवरणों का यह शरीर है। चाहे

अपना शरीर हो चाहे स्वजनों या गुरुजनों का, परन्तु किसी भी शरीर के विषय में एक अंश भी जानकारी नहीं है तो फिर शोक–सन्ताप किस बात का? पहली बात कि वर्तमान शरीर के पूर्व में मैं किस रूपवाला था और ये स्वजन किस रूपवाले थे, इसकी जानकारी भी नहीं है तथा दूसरी बात कि पुनः ये किस रूपवाले हो जायेंगे, यह भी पता नहीं है। फिर तो इस विषय में ही चिन्तन के द्वारा खोज कर लेनी चाहिए एवं इन सबके साथ पूर्व में मेरा सम्बन्ध क्या था आगे के जन्म में इनसे सम्बन्ध क्या रहेगा, इसकी भी जानकारी कर लेनी चाहिए।

किसी भी सिद्धान्त की प्रस्तावना करने के पूर्व उसके आदि, अन्त का विचार कर लेना चाहिए तथा उसके उद्‌गम, परिणाम और पर्यवसान को भी देख लेना चाहिए। जब मध्य दीख रहा हो और आदि, अन्त अदृश्य हों, तो देखने में निश्चितरूप से दोष है; तब ऐसी अवस्था में क्रिया का कोई अर्थ ही नहीं है। भगवान इस मंत्र के द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं कि भले ही शरीर एवं शरीर के आवरणों को आप न जाने लेकिन यदि इसके मूल पर आप चिन्तन करें तो पायेंगे कि इसका भी मूल आत्मरूप से 'मैं' ही हूँ। इसी न्याय से मैं एवं मेरे स्वजन, गुरुजन (पुरोहित आदि) सब आत्मरूप से पहले भी थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे।

(न त्वेवाहं जातु नासं.....) अब युद्ध की ओर दृष्टिपात करें– भगवान नारायण ने अर्जुन के कन्धे को झकझोरते हुए कहा– जानते हो, तुम कौन हो? शोक–सन्तप्त महात्मा अर्जुन ने भगवान की आँखों की ओर देखा। भगवान ने पुनः जोर देकर कहा– हाँ, हाँ, मैं पूछता हूँ, जानते हो तुम कौन हो? मैं कौन हूँ और ये राजा लोग कौन हैं? जानते हो, हम सब कहाँ से आये हैं और शरीर छोड़ कर कहाँ जायेंगे? तुम कहोगे कि हम सब माँ के गर्भ से आये हैं। माँ के गर्भ में कहाँ से आए, तो कहोगे पिता के वीर्य से आए, वीर्य में अन्न से आए। अब अन्न में कहाँ से आए, कैसे आए, इसे तो नहीं जानते हो तथा हम सब का अतीत में क्या सम्बन्ध था, भविष्य में क्या होगा, इसे भी तो नहीं जानते हो। (अर्जुन ने मन ही मन सोचा कि बात तो सत्य है, यह सब तो मैं कुछ भी नहीं जानता; किन्तु लगता है, ये माधव सबकुछ जानते हैं।)

महाराज भगवान एवं महात्मा अर्जुन की झाँकी को देते हुए चलना चाहता है क्योंकि प्रभु अपने प्रथम और अन्तिम शिष्य को आत्मज्ञान दे रहे हैं। अतः दोनों की मुद्रायें अर्थात् देखने के ढंग, बोलने के ढंग, सोचने समझने के ढंग को उद्‌धृत करना ही होगा; इसलिए कि महाराज के हृदय को ये मधुर झाकियाँ अपनी ओर बरबस खींच लेती हैं। गृहस्थाश्रमी सद्‌गुरु और गृहस्थाश्रमी शिष्य की यह कैसी अद्‌भुत झाँकी है, जिसके माध्यम से संन्यासियों को, ब्रह्मजिज्ञासुओं को, साधकों, सिद्धों, भक्तों एवं संतों को ब्रह्मविद्यारूप गीताजी मिल रही हैं। यह तो वही बात हो गयी कि अत्रि ऋषि एवं माँ अनसूया के माध्यम से संन्यासियों के आदि गुरु भगवान दत्तात्रेय प्रकट हुए। यह कोई बड़ी बात नहीं कि कोई संन्यासी गुरु वनप्रदेश में अपने शिष्य को ज्ञानोपदेश करता हो बल्कि बड़ी बात तो तब होती है जब श्रीराम जैसा बड़ा भाई (गुरु) अपने छोटे भाई (शिष्य) लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न को आत्मज्ञान का उपदेश कर रहा होता है। उससे भी विलक्षण बात तब होती है, जब भगवान कपिल जैसा पुत्र अपनी माँ देवहूति को ज्ञानोपदेश

कर रहा होता है तथा और भी महत्त्व की बात तब होती है, जब भगवान शिव जैसा पति अपनी धर्मपत्नी (पार्वती) को उपदेश कर रहा होता है। कभी–कभार जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब पुत्र पिता को, पिता पुत्र को, सेवक स्वामी को, स्वामी सेवक को और बहू सास–ससुर को तथा सास–ससुर बहू को ज्ञानोपदेश करते हैं। यहाँ पर यह कैसा विलक्षण योग है कि साला (भगवान) जीजा को उपदेश दे रहा है। जीवनपर्यन्त साला, भाई तथा मित्र के रूप में देखनेवाले अर्जुन ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपने साले को ही गुरु बना लिया है और वह ऐसा साला है जो संतों, भक्तों, साधकों, सिद्धों के लिए भीतर–बाहर से ब्रह्म है तथा दुर्योधन, शकुनी जैसे नीचों के लिए महातांत्रिक, महाछली, महाकपटी है (कैसी हास्यास्पद बात है कि जो स्वयं छली थे, वे ही भगवान को महाछली कहते थे।) यह कैसा अद्‌भुत योग है कि ग्वालों का गोप, गोपियों की आत्मा, माँ यशोदा एवं देवकी का लाल त्रिलोकी का महाकाल बना हुआ है तथा वही अर्जुन जैसे मित्र का प्रनतपाल, अब सारथि से सद्‌गुरु बन गया है। गोवर्धन को उठाकर गोपों को बड़ाई देनेवाला स्वयं महाभारत युद्ध का कर्ता–धर्ता होकर भी अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन को बड़ाई देने जा रहा है।

माँ कैकेयी को प्रताड़ित करने के उपरान्त शरणागत हुए भरत को गले लगाते ही वात्सल्यमयी माँ कौसल्या के स्तन से चौदह वर्षों का सूखा हुआ दूध पिघलकर झरने लगा था। ठीक उसीप्रकार कई जन्मों के उपरान्त अपने चिरपुरातन शिष्य को पाकर भगवान नारायण के हृदय से ब्रह्मविद्यारूपी अमृत झरने लगा। जिसप्रकार महात्मा भगीरथ के उत्कृष्टभाव द्वारा किये गये जप–तप को देखकर भगवान पिघलकर गंगाजी हो गये थे, ठीक उसीप्रकार परम प्रिय शिष्य की उत्कृष्ट श्रद्धा, भाव एवं समर्पण से भगवान ब्रह्मविद्यारूप गीताजी हो गये।

(न त्वेवाहं जातु नासं.....) भगवान मानो कह रहे हों कि यह शरीर भी पूर्व में इस रूपवाला नहीं था और भविष्य में भी नहीं रहेगा। आगे एवं पीछे की बात क्या करनी, जैसा वर्तमान में है, कुछ काल के बाद वैसा भी नहीं रहेगा।

अर्जुन भी मानो मन ही मन सोच रहे हों कि ये क्या कह रहे हैं, कुछ ही दिन में इस शरीर में क्या हो जायेगा? इसके उत्तर में भगवान कह रहे हैं कि

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

जिसप्रकार जीवात्मा की शरीर में बचपना, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही शरीर छोड़ने के उपरान्त अन्य शरीरों की प्राप्ति भी होती है।

हे पार्थ! इन गुरुजनों का, पितामहों का शरीर बच्चा से जवान हुआ, जवान से बूढ़ा हुआ उसमें तो तुम रोये नहीं लेकिन जब यह मरणावस्था को प्राप्त होकर तथा दूसरा जन्म लेकर पुनः बच्चा एवं जवान होने जा रहा है तो तुम रो रहे हो, विकल हो रहे हो, ऐसा क्यों? हे पार्थ! सच पूछो तो रोना, विकल होना, मोहित होना तो मुझे चाहिए था; किन्तु मुझे तो यह सबकुछ हो नहीं

रहा है जबकि नारायणी सेना मेरे ही विपक्ष में खड़ी है, जिसकी आत्मा मैं ही हूँ। उस सेना में मेरे भी स्वजन हैं, मेरे भी बाल–बच्चे हैं। तुम्हारे बाल–बच्चों से, तुम्हारे स्वजनों से मेरे बाल–बच्चों एवं स्वजनों में कोई कमी तो नहीं है लेकिन तुम रोना रो रहे हो और मैं सम शान्त हुआ देख रहा हूँ। तुमलोगों की मातायें, बहू–बेटियाँ विकल हो जायेंगी तथा हमारी माताएँ, बहन–बेटियाँ क्या विकल नहीं होंगी? यह कैसी विडम्बना है। तुम बड़े माँ, बहन, बेटियों की चिन्ता करनेवाले हो गये हो, तुम्हारे पितर अपने लोक से नरक चले जायेंगे और मेरे पितर क्या वहीं रह जायेंगे? अरे हे पण्डित! इन सब विषयों में मोहित नहीं होनेवाला, तुम्हारे द्वारा सारथि समझा जानेवाला और अब तुम्हारे ही द्वारा गुरु माना जानेवाला वह धीर पुरुष तुम्हारे रथ पर बैठा है, कम से कम इसकी ओर तो देखो! उस धीर पुरुष सत्यवादी महात्मा युधिष्ठिर को तो देखो! जो जानते थे कि मेरे साथ छल करने के लिए जूआ खेलने को कहा जा रहा है तो भी धैर्यपूर्वक जूआ खेला और पराजय स्वीकार कर ली, अब वे ही धैर्यपूर्वक युद्ध के लिए खड़े हैं।

अब महाराज साधकों की आध्यात्मिक भूमि में प्रवेश कर रहा है जहाँ वे (साधक) इस मंत्र के रहस्यात्मक तत्त्व को देखने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सच ही है कि विचार के अभाव में बहुत छोटी बात बहुत बड़ी बन जाती है तथा विचार से बहुत बड़ी बात बहुत छोटी हो जाती है। यदि हर पहलू पर विचार करते हुए चला जाय तो जीवन में कोई समस्या ही नहीं है। अर्जुन जैसे जितेन्द्रिय ब्रह्मजिज्ञासु साधकों के लिए ज्ञानयोग जैसा सुगम साधन हो ही नहीं सकता, भले ही भगवान इनसे कर्मयोग करा लें यह कहकर कि साधन में सुगम होने से कर्मयोग श्रेष्ठ है लेकिन यदि ये ज्ञानयोग के अधिकारी नहीं होते तो प्रभु सर्वप्रथम इस ज्ञानयोग की ही प्रस्तावना इनके सामने नहीं करते। इतना ही नहीं, ये ऐसे दिव्य श्रोता हैं जो एकमात्र सुनते–सुनते थोड़े ही समय में ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का उल्लंघन कर राजयोग को प्राप्त कर जायेंगे। तो आयें हम भी इस श्रोता जैसा ही श्रोता बनकर भगवान की ज्ञानयोग की बातें सुनें–

साधक जान लें कि अपने शरीर के साथ–साथ माता–पिता, बाल–बच्चों अर्थात् सारे स्वजनों का शरीर भी सर्वप्रथम अणुरूप ही था। पुनः गर्भाधान के द्वारा माँ के गर्भ में शिशुरूप हुआ, जो बाहर आने पर बालक कहलाया, फिर सारे शरीर अपने–आप युवावस्था की तरफ बढ़ते हुए एक दिन युवा हो ही गये लेकिन उस समय विचार नहीं किया जाता कि यह शरीर युवा कैसे हो रहा है? पुनः युवावस्था आगे को बढ़ती ही गयी लेकिन कोई नहीं रोया कि हमारा शरीर बुढ़ापे की ओर क्यों बढ़ रहा है? इसे कोई बूढ़ा होने से रोकता क्यों नहीं? जबकि बुढ़ापा अपने–आप में एक महारोग है, फिर भी इस महारोग को देखकर भी विचारहीनता बनी रहती है लेकिन जब वही वृद्धावस्था मरणावस्था को प्राप्त होने लगती है तो हाय मच जाती है, जबकि वह मृत्यु भी एक अवस्था ही है। क्या जागने एवं सोने के बीच की अवस्था को अवस्था नहीं कहा जायेगा? क्या उस समय कोई शोक–सन्ताप करता है? उसीप्रकार मृत्यु अवस्था पर क्यों रोते हैं? फिर तो वह जीवात्मा जो वासनारूप हो गया है, पुनः किसी न किसी शैशवावस्था को प्राप्त कर ही जायेगा। ऐसे विषय में तो प्रसन्न होना चाहिए कि चलो इस अवस्था से तो इनको मुक्ति

मिली! उसीप्रकार रोते हुए स्वजनों को देखकर आप रोते हैं, जबकि वे रोते–रोते हँसने लगेंगे। रोना एक जीव की अवस्था है, रोना जहाँ बन्द होगा वहीं से हँसना प्रारम्भ हो जायेगा। वैसे ही कोई हँसता है तो आप हँसने लगते हैं जबकि हँसते–हँसते रोना आनेवाला है। उसीप्रकार गरीबी का अन्त अमीरी, अमीरी का अन्त गरीबी में होता है। दुःख का अन्त सुख में और सुख का अन्त दुःख में होता है। यदि आप धीरपुरुष हैं तो ऐसी स्थिति में शोक–संन्ताप का कोई कारण नहीं बनता। आपको विचारना चाहिए– सुख एवं दुःख के मध्य को, गरीबी और अमीरी के मध्य को, राग–द्वेष के मध्य को, हर्ष–शोक के मध्य को, रोने तथा हँसने के मध्य को; क्योंकि इस मध्य में आप आत्मरूप से स्थित हैं, शुद्ध साक्षी एवं चेतन रूप से स्थित हैं। थोड़ी सी सावधानी तो बरतनी है, थोड़ा सा विचार में डूबना है, विशेष तो कुछ करना नहीं है। ज्ञानयोग बुद्धि से प्रारम्भ होता है वहीं कर्मयोग शरीर, इन्द्रियों एवं मन से। जैसे ही चिन्तन का आश्रय लेंगे वैसे ही दिखाई पड़ेगा कि अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, उनमें एकरूपता नहीं है। उसीप्रकार जन्म–जन्मान्तर में भी एकरूपता नहीं होती। यदि स्वजनों की अवस्थाओं में आप एकरूपता ला सकें तब तो निश्चितरूप से उनके सुख–दुःख, गरीबी–अमीरी पर विचार करना चाहिए।

इस मंत्र के द्वारा भगवान मानो कह रहे हैं कि जिसप्रकार आप बच्चे को जवान एवं जवान को बूढ़ा नहीं कर सकते, उसीप्रकार माता–पिता, बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों और हित–मित्रों के स्वभाव को, जीवन को, उनके सुख–दुःख को, उनके हँसने–रोने को बदल नहीं सकते। भले ही साथ में रहें लेकिन जब उनके शरीर में रोग होनेवाला होगा तो होगा ही, उसे आप रोक नहीं सकते; जब उनके पास गरीबी आनेवाली होगी तो आयेगी ही, उसे आप रोक नहीं सकते। यह भी विचार करना चाहिए कि जब आप उनके साथ रहते थे तो क्या कर लेते थे– एकमात्र मुँहमीठी बात। मुँहमीठी बात करने से एकमात्र उस जीवात्मा के (जिसे आप स्वजन मान बैठे हैं) झूठे अस्थायी अहंकार की तृप्ति हो जाती है और कुछ नहीं होता लेकिन इतने मात्र से न आपको सदा–सर्वदा के लिए शान्ति मिली, न उनको। आप साधना–भूमि में हैं, यहाँ आकर आप 'मैं' की खोज कर रहे हैं। जो 'मैं' स्वजनों की भी आत्मा है, यदि आपकी पकड़ में वह 'मैं' आ गया तो आप उनके 'मैं' को भी पकड़ सकते हैं और उनके क्षुद्र शरीरगत 'मैं' को सुगमता से मसल सकते हैं। ओह! आप इसपर क्यों नहीं विचार करते कि आप अपना उद्धार जल्दी कर उनका भी उद्धार कर सकें। आप आये तो इसीलिए थे लेकिन पता नहीं अपने आत्मस्वरूप से क्यों विचलित हो रहे हैं? क्यों आप सद्गुरु के सिद्धान्त से विचलित हो रहे हैं? कहीं आप घर में विशेष मनमानी तो नहीं करते थे, जिससे यहाँ भी सद्गुरु द्वारा कहे जाने पर अपने–आपको आत्मरूप नहीं मान रहे हैं और यदि मान रहे हैं तो उसमें एकतारता, एकरूपता, स्थिरता लाने का प्रत्यत्न नहीं कर रहे हैं! क्या आप अपने को धीरपुरुष नहीं मान रहे हैं? आपका स्वजनों के प्रति शोकसन्तप्त होना, यह सिद्ध करता है कि जीवत्व को अभी आपने त्यागा नहीं है। हँसना–रोना, शोक–सन्ताप करना, सुखी–दुःखी होना तो जीव का धर्म है न कि आत्मा का। भगवान श्रीराम ने लक्ष्मण को सजग करते हुए कहा था–

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।।
(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

यही बात आपकी मुक्ति के इच्छुक भगवान नारायण भी कह रहे हैं कि एक अज्ञानी भी शरीर के नैसर्गिक धर्म को प्रेमपूर्वक स्वीकार करके ही सन्तोष किये रहता है। किसी बूढ़े से पूछें कि मृत्यु से भय लगता है? वह कहेगा– नहीं, क्यों भय लगेगा, जो नहीं चाहने पर भी आयेगी ही, उससे भय किस बात का? भय करने से मृत्यु क्या चली जायेगी? यदि आप उससे पूछें कि आप मरकर कहाँ जायेंगे? तो वह कहेगा– 'कर्म के अनुसार वह जहाँ ले जायेगा वहाँ जायेंगे। स्वर्ग में ले जायेगा तो स्वर्ग चले जायेंगे, नरक में ले जायेगा तो नरक चले जायेंगे और यदि पुनः कहीं मनुष्य ही बना देगा तो मनुष्य ही बन जायेंगे।' अरे! आप साधक हैं। जब एक अज्ञानी पुरुष बड़ी धैर्यता के साथ, सन्तोष के साथ मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है तो फिर आप क्यों उसकी चिन्ता कर रहे हैं? आश्चर्य की बात है कि इन विषयों में उन्हें एक अंश भी शोक–सन्ताप नहीं है किन्तु आप उनके लिए मरे जा रहे हैं। हँसी आती है आपके संन्यास पर, हँसी आती है आपकी जिज्ञासा पर, आपके ध्यान, ज्ञान, विज्ञान पर। आप कैसे आ गये आध्यात्मिक भूमि में? यदि इन सब विषयों में शोक–सन्ताप हो रहा है अर्थात् माता–पिता या स्वजन आदि की याद आ रही है, उनके विषय में विचार आ रहे हैं, उनकी चिन्ता हो रही है तो अपने किसी निकट रहनेवाले अच्छे साधक से कहें कि वह आपके इस कुरूप चेहरे पर थूके, बार–बार धिक्कारते हुए आपसे घृणा करे, थूके। इसलिए कि स्वजन तो रोते–कलपते हुए यह सोच रहे होंगे कि मेरा बेटा, मेरा लाल जप, तप, योग कर रहा होगा। एक दिन अवश्य भगवान को पायेगा और भगवान पाने के उपरान्त दरवाजे आयेगा तथा कहेगा– माँ! माँ! माँ!!! आओ! तेरा लाल अब भगवान का लाल बन गया है, वह तेरे लिए भगवान को लाया है। ऐसी ब्रह्म की आवाज सुनते ही माँ के साथ–साथ उसके सब स्वजन भी आ जायेंगे और आप उन सबको प्रभु श्रीराम जैसा, समर्थ स्वामी रामदास (महाराष्ट्र के एक सन्त) जैसा, ज्ञानेश्वर भगवान जैसा, सन्त नानक, कबीर जैसा आत्मज्ञान देकर, कृतार्थकर आगे कहीं इसीप्रकार आवाज लगाने के लिए बढ़ जायेंगे। ऐसा कौन स्वजन होगा जो आपके संन्यास लेकर जप, तप, योग में प्रवृत्त होने पर मन ही मन प्रसन्न नहीं हो रहा होगा। भद्र पिता, अन्य पिताओं से कहता है– उसने कुछ भी संसार नहीं देखा, भद्र माँ अन्य माताओं से कहती है– उसने संसार क्या होता है कुछ भी नहीं जाना। वे यह संकेत से बताते हैं कि मेरा लाल गर्भ से योगी था, भोगी नहीं था। हम तो नरक में ही रह गये और वह सबकुछ छोड़कर भगवान का हो गया, चलो कम से कम वह अपना तो उद्धार कर रहा है। ये जीवात्मा (स्वजन) धर्मात्मा पुत्र से बड़ी आशा लगाये रहते हैं, चाहे भले ही किसी लोक में रहें।

एक दिन डा० कंचन (दुबई) की माँ ने पितरलोक से उनसे स्वप्न में कहा– बेटा! केदारनाथ में बीस हजार (२०,०००) में एक भण्डारा कर दो। उन्होंने जगते ही महाराज से पूछा– मैं क्या

करूँ, माँ भण्डारा माँग रही है? महाराज ने कहा– आप एक लाख में भण्डारा कर दें! जब वह देवता हो गयी है और मात्र इतने से ही सन्तुष्ट हो जानेवाली है तो क्या बड़ी बात है! वे केदारनाथ क्या, उसकी प्रसन्नता के लिए गंगोत्री, यमुनोत्री, बद्रीनाथ एवं केदारनाथ स्वजनों एवं सन्तों को साथ ले गये और सब जगह हृदय खोलकर भण्डारा किये।

वैसे ही कभी आप जैसे आत्मज्ञानी पुत्र से वे जीवात्मा चाहे जहाँ भी होंगे वहीं से आत्मज्ञान माँग लेंगे। भगवान श्रीराम के धर्मात्मा पिता महाराज दशरथ रावणवध के उपरान्त युद्धभूमि में ही आत्मज्ञान लेने स्वर्ग से उनके पास आ गये थे और प्रभु ने वहीं उसी समय उन्हें ज्ञान दे दिया था।

ज्ञान होने के पहले वासना कभी मरती नहीं; हाँ, सोती सी कभी प्रतीत हो जाय, वह बात अलग है, वही वासना बच्ची, जवान एवं बूढ़ी होती रहती है, आप उस वासना को ही अपने माता–पिता, भाई, बान्धव क्यों मान रहे हैं? आत्मतत्त्व के ज्ञाता तो इन सब बातों को कोई महत्त्व देते ही नहीं, फिर आप क्यों दे रहे हैं? वासना का धर्म है– शरीररूप में माँ के गर्भ में आना, जन्म लेना, घटना–बढ़ना, भूख–प्यास लगना, सोना–जगना फिर कालान्तर में प्राणों का (वासना का) निकलना। आत्मा तो इन धर्मों से सर्वथा निर्लेप है तथा आप वही 'माया से' निर्लेप आत्मा हैं, फिर आप धीर होते हुए भी क्यों अधीर हो रहे हैं? चंचल चित्तवाले प्रकृति के गर्भ में न प्रवेश कर पाने के कारण इस रहस्यात्मक विषय को नहीं जान पाते लेकिन जो धैर्यवान हैं, वे धैर्य के साथ गर्भ में इस शरीर को रचनेवाले को, उसकी शक्ति–सामर्थ्य को और अपनी शक्ति–सामर्थ्य को भी भलीभाँति जानते हैं। आप स्वयं अपनी दिव्य आँखों को, कान, नाक, मुख को, भुजा एवं पैर को तथा मन–बुद्धि को तो देखें, जो अन्य योनियों के प्राणियों से विलक्षण तेजवाले हैं। वह कौन धीर पुरुष है, जिसने गर्भ में इसकी रचना की? वह कौन है जो माँ के गर्भ में रचकर, धीरे–धीरे गर्भ से बाहर कर बालक से युवा और युवा से वृद्ध बना देता है, फिर भी कोई उसे देख नहीं पाता? इसका उत्तर आप जान लें कि आत्मा ही वह धीर पुरुष है जो धैर्य के साथ बनाता है; किन्तु बिगड़ने में आँसू नहीं बहाता। जिसने सभी स्वजनोंसहित सब प्राणिपदार्थों को बनाया और बनाकर सबके हृदय में सम शान्त बैठा–बैठा सबके जागने की प्रतीक्षा कर रहा है। यह कैसी विलक्षण बात है कि वह सर्वकर्ता आपको अकर्ता सा दीख रहा है।

साधक फिर देखें कि महात्मा अर्जुन के रथ पर दुर्योधन एवं शिशुपाल द्वारा ग्वाला कहा जानेवाला, कंस द्वारा क्षुद्र बालक कहा जानेवाला; बाँसुरी की तान पर केदार, ख्याल आदि रागों से गोप एवं गोपियों को बेसुध कर देनेवाला; जोगी, जपी, तपस्वियों की आत्मा बैठा हुआ है और अब अपने ही नारायणी सेनारूप स्वजनों के विपक्ष में बैठकर, वाणी द्वारा आत्मज्ञानरूप दिव्य गंगा बहा रहा है; फिर हम सब भी उसकी ब्रह्मविद्यारूप राग को क्यों न लेकर उसी की तरह गाने का, अलापने का प्रयास करें? तो आयें अब देखते हैं कि तीसरे मंत्र से प्रभु हम सबको आत्मतत्त्व राग की कितनी गहराई में उतारते हैं। लेकिन उसके पूर्व महाराज ने भी एक वैराग्य

राग गाया है, जिसे आप भी सावधानीपूर्वक गायें तो इस दिव्य यमन राग में उतर सकते हैं–

चल भाग जाग जगत से।
जल्दी कर यमदूत जगत सब, झूठे नेह भगत से।
नेह गेह यमदूत ठिकाने, जो भाइ बंधु लगत से।।
चल भाग.....

मधुर व्यंजन यमदूत रसोई, प्रीतिकर स्वाद परत से।
मधुर दृश्य यमदूत दिखावा, शोभा बहुत करत से।।
चल भाग.....

मधुर गीत यमदूत रिझावा, श्रवणन्ह माँझ परत से।
महाराज भाग ह्रदय जहँ, आतमज्ञान झरत से।।
चल भाग.....

महात्मा अर्जुन ने सोचा कि यह ज्ञानयोगरूप राग इतनी दिव्य है, तो इसे गाने में कठिनाई क्यों और कैसी? जबकि भगवान कह रहे हैं– इसे सभी गा सकते हैं इस कौतूहल पर प्रभु कहते हैं–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

हे कौन्तेय! सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषय, मान–सम्मान तथा माता–पिता, बाल–बच्चे एवं अन्य स्वजन; ये सभी प्रकृति के ही अंग–उपांग हैं, आने–जानेवाले हैं। अतः हे भारत! इस अनित्य के विषय में, पदार्थों के रूपान्तरित होने में तुम चिन्तित मत होओ बल्कि धैर्य के साथ इनके द्वारा होते हुए उत्पातों को भी सहन करो।

इस एक ही मंत्र में भगवान ने महात्मा अर्जुन को कौन्तेय और भारत कहकर माँ कुन्ती एवं महात्मा भरत (जिनके नाम पर इस आर्यावर्त देश को भारत भी कहा जाता है) का स्तवन भी किया है। मानो वे कह रहे हों कि तुम्हारी माँ अर्थात् मेरी बूआ को तो देखो कि उसने प्रकृति की मार को कितना सहन किया है। अपने धर्मात्मापति पाण्डु को प्रकृति की मार से पीड़ित हुआ, धैर्यपूर्वक मरते देखा, (मन ही मन– अपने दिव्य सूर्यपुत्र कर्ण को सूतपुत्र होते देखा), तुमलोगों के साथ धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन का अत्याचार होते देखा और अब धैर्य के साथ इस धर्मयुद्ध के परिणाम को देखने की इच्छुक है। वहीं माँ गान्धारी की आँखों में नींद नहीं है, वह रोते–कलपते समय व्यतीत कर रही है; किन्तु वह वीरांगना साध्वी माँ कुन्ती तुमलोगों को मुझे समर्पित कर योगियों की योगनिद्रा जैसी निद्रा भी लेती है, प्रेमपूर्वक प्रसाद भी पाती है और अब मेरी अद्‌भुत युद्धलीला देखने को प्रतीक्षारत है।

'हे भारत!' कहकर भगवान मानो सूर्यवंशी राजर्षि महाराज भरत की याद दिला रहे हों,

जिन्होंने अपने पिता भगवान ऋषभदेव के संन्यास लेने के उपरान्त इस धरा को, पृथ्वी को वैकुण्ठलोक बना दिया था। यद्यपि उस समय वे आत्मज्ञान से सम्पन्न नहीं थे, तो भी अपने कुलगुरु वसिष्ठ की आज्ञानुसार राजधर्म को अत्यन्त कठोरता से निभाते हुए प्रजा की आत्मा बन गये थे। (यदि कोई राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत से ही इस जम्बूद्वीप का नाम भारत पड़ा हुआ मानता है, तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि उनकी भी धर्मशूरता तथा वीरता विख्यात है। उन्होंने भी इस पृथ्वी को अपने समय में स्वर्गीय ऐश्वर्य एवं विभूतियों से सम्पन्न कर दिया था।) भगवान कह रहे हैं– तुम उन्हीं महात्मा राजर्षियों के वंशज हो, जिन्होंने कभी किसी भी काल में अपने स्वजनों की ओर नहीं देखा बल्कि सम्पूर्ण प्रजा की ओर देखा और तुम उनके स्वभाव के ठीक विपरीत होकर क्षुद्र मानवों की भाँति अपने स्वजनों की ही चिन्ता करने लगे हो, जो तुम्हारे में शोभा नहीं दे रहा है।

अब साधकगण अपनी तरफ ध्यान दें– यह ज्ञानयोग शरीर इन्द्रियों तथा मन से प्रारम्भ न होकर बुद्धि से ही प्रारम्भ होता है। यदि चिन्तन करने के उपरान्त यह पता चल गया है कि आप आत्मा हैं, तो आपके लिए फिर किसी अन्य साधन जप, तप, योग की आवश्यकता नहीं है बल्कि आप आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख को सहन करते हुए काम–क्रोधादि विकारों की मार को भी सहन करें, संन्यास लेकर संन्यास के बाह्य नियमों का कठोरता से पालन करें। सर्दी–गर्मी से बचने के लिए आश्रम या झोपड़ी भी न बनायें, दत्तात्रेय भगवान के आदर्श के अनुसार परिव्राजक होकर आकाशवृत्ति, अजगरवृत्ति, खगवृत्ति, भिक्षावृत्ति के साथ शरीर को रखें, इसे विशेष महत्त्व न दें। चिन्तन के द्वारा देखेंगे तो पता चलेगा कि सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख में स्थिरता नहीं है बल्कि इनमें अति वेग है। गर्मी आते–आते सर्दी आ जाती है, सर्दी दौड़ते–दौड़ते थक जाती है तो पुनः गर्मी में ही विलीन हो जाती है। सुख भी दौड़ते–दौड़ते थककर दुःखरूप हो जाता है, दुःख भी दौड़ते–दौड़ते सुखरूप हो जाता है। दिन दौड़ रहा है, भाग रहा है लेकिन भागते–भागते रात में चला जाता है और रात से वह कहता है– अब तुम दौड़ो तब वह दौड़ते–दौड़ते थककर दिन से कहती है– अब तुम्हारी बारी है। अज्ञानियों को मोहित करने के लिए ही सुख–दुःख का, दिन–रात का, सर्दी–गर्मी का निर्माण हुआ है। उसीप्रकार चिदाकाश से काम दौड़ता हुआ आता है और जब कोई साधक उसे स्वीकार नहीं करता तो वह क्रोध बन जाता है तथा चिदाकाश में वह दौड़ता हुआ मन के पास आकर कहता है– मुझे स्वीकार करो, मैं मरा जा रहा हूँ! लेकिन जब साधक उसे भी स्वीकार नहीं करता तो वह चिल्लाते– चिल्लाते थककर पुनः लोभ बन जाता है और अब वह चिदाकाश से सिद्धियों को लेकर दौड़ता हुआ आता है और कहता है–

स्वीकार करो स्वीकार करो, मुझ निर्बल को स्वीकार करो।
मत मारो मुझ को धीर वीर, मेरे स्वागत को प्यार करो।।

लो ऋद्धि–सिद्धि हे महाबीर, अब जग में तुम सम्मानित हो।
इन क्षुद्र प्राणियों के संग में, कभी नहीं अपमानित हो।।

लेकिन इस लोभ के भी प्रलोभन में नहीं आनेपर वह पुनः दौड़ते हुए बड़े वेग से जैसे आता है वैसे ही लौट जाता है। इसीप्रकार सारे के सारे विकार दौड़ते हुए आते हैं किन्तु अस्वीकार करने पर चलते बनते हैं। उसीप्रकार यदि साधक भीतर के विकारों से मोहित नहीं होता तो कुछ समय के लिए उसके स्वजन आर्तभाव से पुकारते हुए दौड़ते हैं और मनरूप दरवाजे पर आहें भरते हैं कि तुम तो अपने स्वरूप में आनन्द एवं शान्ति ले रहे हो लेकिन हमारी तो दशा देखो कि तुम्हारे जाने से सर्वप्रथम हमारी प्रतिष्ठा तो चली ही गयी, अब गरीबी की मार अलग से पड़ रही है, अतः क्या तुम अपने भगवान से हमारे लिए इतना भी नहीं माँग सकते?

स्वामी विवेकानन्द के सामने यह स्थिति आ गयी थी। अपने घर–परिवार की गरीबी से पीड़ित हो वे अपने गुरुदेव स्वामी रामकृष्ण परमहंस से कहते– हे प्रभु! कम से कम परिवार की दीन–दशा तो ठीक कर दें! स्वामीजी कहते– माँ काली से माँग लो। माँ काली तो सफेद वस्तु (निर्मल) देती है लेकिन यदि तुम्हें काली (अशुभ) वस्तु ही माँगनी है तो माँगो! जाओ! स्वामी विवेकानन्द जाते परन्तु माँ काली के पास से बिना माँगे लौट आते। इसप्रकार दो–चार बार प्रयत्न करने पर भी वे न माँग सके। मानो माँ काली कह रही हो कि मुझसे तुम क्षुद्र वस्तु की ही माँग करोगे? मैं तो निर्वस्त्रा हूँ और तुम अपनी माँ को दिव्य वस्त्र पहनाओगे? मैं तो असुरों को खाती रहती हूँ, तुम्हारे जैसे सपूतों के, तुम्हारे जैसे गुरुभक्तों के, तुम्हारे जैसे निर्मल ब्रह्मचारियों के काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को खाती रहती हूँ और तुम माता–पिता को पूए–पकवान, दिव्य मिष्ठान खिलाओगे? नहीं, नहीं! अपने उन माता–पिता से कह दो– संन्यासी बालक के माता–पिता को घोर जप, तप के साथ जीवन बिताना चाहिए। विवेकानन्द फिर–फिर सकामी न हो सके।

जब साधक स्वजनों की पुकार से, उनके दुःख–दर्द की वेदना से विचलित नहीं होता तो फिर वही भारत कहलाता है, वही धीर, वीर, गम्भीर कहा जाता है। यदि ऐसा सहन करने में विशेष पीड़ा हो रही है तो उस ऋषि को याद करे, जो उसके गोत्र हैं; क्योंकि कोई भी कुल–परिवार किसी न किसी ऋषि की ही संतानें हैं। (गोत्र अर्थात् ऋषि की आत्मा) कोई कुल–परिवार भृगु की सन्तान है तो कोई भरद्वाज की, कोई वसिष्ठ की तो कोई अत्रि एवं गौतम की। ये सभी ऋषि–महर्षि दिव्य त्याग से सम्पन्न प्रकृति के उत्पातों को सहन करने में समर्थ थे। वसिष्ठ के सौ पुत्रों को विश्वामित्र ने मार डाला जबकि विश्वामित्र के शरणागत होने पर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने उन्हें ब्रह्मर्षि पद दे दिया। इस सारी प्रजा के मूल स्त्रोत आदिपुरुष महाराज मनु हैं; जो सूर्यवंशी हैं। इस न्याय से सभी साधक सूर्यवंशी ही हैं। महाराज मनु का जीवन भगवान को प्रकट करने के लिए है, जगत को सुख देने के लिए है। इस न्याय से साधकों का जीवन भी आध्यात्मिक ज्ञान पाकर जगत में विचरते हुए साधकों, भक्तों का उद्धार करने के लिए ही है। ये भगवान सूर्य भी सप्तर्षियों में से एक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम निर्गुण–निराकार ब्रह्म से आत्मज्ञान प्राप्त किया था, जो आजतक आत्मज्ञान के जिज्ञासुओं को आत्मज्ञान और भौतिकविज्ञान के जिज्ञासुओं को भौतिकविज्ञान का दान दिये चले आ रहे हैं। साधकों को इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए और इन्हीं ऋषियों की तरह धैर्यवान, वीर्यवान, तेजवान बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

(शीतोष्णसुखदुःखदाः.....) साधक गर्मी से व्यथित होकर हिमालय भाग जाता है, सर्दी से व्यथित होकर दक्षिण भारत भाग जाता है। इसप्रकार साधना में उच्चाटन हो जाता है तथा कभी सर्दी तो कभी गर्मी का बहाना बनाता फिरता है। कभी यहाँ दूध नहीं मिलता, तो कभी यहाँ घी नहीं मिलता, इसका बहाना बनाता हुआ पंजाब भागता है, तो कभी यहाँ मान–सम्मान नहीं मिलता, यहाँ के लोग चोर हैं, बदमाश हैं– ऐसा बहाना बनाता हुआ गुजरात, राजस्थान भाग जाता है। कभी कहता है– यहाँ का जल दूषित है तो कभी कहता है– यहाँ का थल (जगह) अपवित्र है; जबकि अभी–अभी वह घर से आया है और दौड़ शुरु हो गयी। इसी दौड़ के कारण वह भी भगवान का अंग न बनकर पुनः प्रकृति का ही अंग बन जाता है। जो जल–थल साधक के अनुकूल नहीं हैं, वे ही तप में उतरने पर कुछ ही महीने या दिनों में शरीर के अनुकूल हो जाते हैं। जब खाने–पीने का स्वरूप बदलता है तो प्रकृति भी उसी के अनुरूप अपना स्वरूप बदल देती है। यहाँ तक कि शरीररूप प्रकृति हर तरह की जलवायु को स्वीकार कर लेती है। अब कोई चाहे कि गंगाजी के निकट रहकर भोगी रहूँ तो उसे वायु (गैस) की बीमारी लग ही जायेगी, वह माँ गंगा क्यों पचेगी, वह तो तपस्वियों के तप के लिए अवतरित हुई है!

महाराज जी! इस साँप को यहाँ से भगाइये, नहीं तो हमलोग चूहीरामजी के घर सोने चले जायेंगे। दो साधकों ने चिल्लाकर आवाज दी, अभयानन्द भी वहीं हँस रहा था। महाराज ने कहा– तुमलोग यहाँ आओ, यहाँ आओ; रहने दो! कम से कम साँप को, बिच्छू को, शेर, चीते, भालू को तो महाराज के पास रहने दो। तुमलोग तो निर्भय होकर महाराज के पास नहीं रह सकते, लेकिन ये सब तो यहाँ अभय होकर विचरते ही हैं। महाराज के पास रहनेवाला भी कौन है, इनके सिवा? यही तो सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान को सहन करते हुए यहाँ रहते हैं। महाराज को इनकी चिन्ता नहीं और इन्हें महाराज की चिन्ता नहीं। महाराज के पास साधक कहे जानेवालों में से कोई ऐसा भी होगा जो भीतर से बाधक भी होगा। कोई साधक भीतर से शेर है और बाहर से शिष्य है, कोई भीतर से बिच्छू है जो कड़वी बात कहकर डंक मारता रहता है, कोई साधक साँप है जो सद्गुरु के निकट रहनेवाले अन्य साधकों को चुपके से आकर काट खाता है अर्थात् राग–द्वेष का जहर घोल देता है, कोई साधक भीतर से सूअर है और बाहर से साधु है, वह बार–बार घर–बार तथा स्वजन की बातें करता हुआ मानो पुनः पुनः मैला खाता रहता है। महाराज के पास गीदड़ स्वभाववाले साधक भी होंगे जो सबसे डरते रहते होंगे; जबकि साधना में अत्यन्त कुशल होंगे लेकिन इस भीरुतारूप दोष के कारण आज यहाँ कल वहाँ भटक सकते हैं।

वीरेन्द्र पाण्डेय (उखड़ा, बंगाल) ने बताया कि किसी ने उड़ियाबाबा से आकर कहा कि अमुक व्यक्ति आपकी आलोचना कर रहे थे तो उड़ियाबाबा ने कहा– मेरे शरीर की निंदा कर रहे थे तो ठीक ही कर रहे थे क्योंकि अपने शरीर की तो मैं स्वयं ही निंदा करता हूँ और यदि आत्मा की निंदा करते थे तो वे अपनी ही निंदा करते हैं क्योंकि वे स्वयं आत्मा ही हैं।

अरे! नहीं, नहीं; अभय होकर सुख–दुःख, मान–अपमान को सहन करते हुए रहना चाहिए,

आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर रहना चाहिए। आत्मा से तो सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख को भी भय लगता है, मान–अपमान को भी भय लगता है एवं आत्मा से तो स्वजनों को भी भय लगता है। ये सब आत्मा के पास आने का साहस तो करते हैं लेकिन उसके बाहरी तेज से ही भयभीत होकर भाग जाते हैं।

श्रीराम प्रभु के साथ–साथ लक्ष्मण भी आत्मा हैं, तभी तो रावण उनके सामने भी नहीं जा पा रहा है। छलपूर्वक पहले उन दोनों आत्माओं को हटाकर फिर भगवती सीता का अपहरण करता है। आत्मतत्त्व बाहर के व्यवहार से भी परिलक्षित होता है। यदि सर्दी–गर्मी, मान–अपमान से चित्त व्यथित होता है, इन सबको सहन नहीं कर पाता तो आपके संन्यासतत्त्व में कहीं न कहीं कमी है, ज्ञानतत्त्व में कहीं न कहीं कमी है, आपके त्यागतत्त्व में कहीं न कहीं कमी है। आप सहन करनेवाले निर्विकार आत्मा हैं, इसी से प्रकृति के उत्पातों को सहन करने की बात आपसे की जाती है अन्यथा भगवान आपसे ऐसा कहते ही नहीं। आप निर्विकार आत्मा हैं, इसलिए काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विकार आपमें प्रवेश कर ही नहीं सकते। सहन करने का तात्पर्य होता है अनासक्त होना, उदासीन होना, इनको महत्त्व न देना। भारत वही है जो भारत माँ की लाज रखता है। भारतमाता एक यज्ञभूमि है, जिसकी यज्ञशाला के पुरोहित आध्यात्मिक साधकगण हैं। भारत माँ की आत्मा संत हैं, आध्यात्मिक जिज्ञासु हैं; वे ब्रह्म की धरोहर हैं। आप आर्यों की सन्तान हैं, अतः आर्यों की संस्कृति, आर्यों की साधना, आर्यों का तप, आर्यों का योग याद करें, स्मरण करें। स्मरण मात्र से ही आपको सर्दी–गर्मी, सुख–दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करने की सामर्थ्य आ जायेगी। प्रकृति की मार को भगवान सहन करने के लिए इसलिए कह रहे हैं; क्योंकि इनके स्वभाव को तो बदला नहीं जा सकता; जबकि आप अपने स्वभाव को बदल सकते हैं। सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान क्या, स्वजनोंसहित सारे शरीर ही आने–जानेवाले हैं। आपको तो दो–चार स्वजन ही दिखाई दे रहे हैं लेकिन भगवान के तो सभी स्वजन हैं– चींटी से हाथी तक, मनुष्य से देवता तक, पशु से पक्षी तक, साधु से असाधु तक, कौन उनका स्वजन नहीं है? तो भी वे आपके हृदयरूपी रथ पर बैठे हुए, बड़े धैर्य के साथ आपको रोते–हँसते, दुःखी होते, सुखी होते, अपमानित होते, सम्मानित होते चुपचाप देख रहे हैं और प्रतीक्षारत हैं कि वह दिन कब आयेगा, जब आप उन्हें अपने जीवन का सारथि बनायेंगे तथा अर्जुन जैसा मचलकर अपने लिए उन्हें आत्मज्ञानरूप गंगा बहाने के लिए बाध्य कर देंगे।

भगवान मानो इस मंत्र से कहना चाहते हैं कि अपमान को तो कभी आप सुगमता से सहन भी कर लेते हैं लेकिन सम्मान को सहन करना कठिन हो जाता है; क्योंकि सम्मान से शरीरगत अहंकार अति संतुष्ट होता है। सम्मान इतना बड़ा शत्रु है, जो बड़ी युक्ति से अपने को साधनपथ से विमुख कर देता है। उसी सम्मान ने बलरामजी को महाभारत जैसे युद्ध से विमुख करके रखा। वे दुर्योधन द्वारा प्राप्त आदर, मान, सम्मान को पचा नहीं पाये– वह इसलिए कि उस छली, दुष्ट ने उन्हें गदायुद्ध सीखने के लिए गुरु बना लिया था। उसने सोचा कि इस विश्व में गदायुद्ध में मेरे से दो ही बलवान हैं– एक बलराम और एक भीम। भीम को तो मैं वन भेजकर

खाने बिना निर्बल कर दूँगा, अतः तेरह साल के बाद युद्ध हुआ भी तो वह गदायुद्ध में मेरा सामना नहीं कर सकेगा। उस पेटू को जब भरपेट भोजन ही नहीं मिलेगा तो वह एक मन का गदा उठाकर मेरे से युद्ध कैसे करेगा? लेकिन बलराम उनलोगों के पक्ष से युद्ध में सम्मिलित हो गये तो फिर समस्या हो जायेगी। इसलिए उसने उन्हें गुरु ही बना लिया और इतना सम्मानित किया, इतना सम्मानित किया कि वे उसी के होकर रह गये। अतः सावधान! आध्यात्मिक साधक के साधनपथ में काम और लोभ जितनी बाधा नहीं बनते, उससे कहीं हजारों गुना मान–सम्मान बाधा बन जाते हैं। काम, लोभ और मोह गृहस्थाश्रमी साधकों के साधनपथ के बाधक हैं लेकिन मान–सम्मान तो संन्यासी साधकों के महाशत्रु हैं। इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषयों से, स्वजनों से तो दूर जाकर मुक्त हुआ जा सकता है लेकिन मान–सम्मान से नहीं; क्योंकि आप साधुवेश में जहाँ भी जाते हैं वहीं कुछ ही दिन में आपकी आरती–पूजा प्रारम्भ हो जाती है। यदि आप अति शील–संकोच से सम्पन्न हैं तो उन भगवद्भक्तों के द्वारा प्राप्त मान–सम्मान को पाकर आप उनके हित–अहित, सुख–दुःख की चिन्ता करने लगते हैं और पुनः वहाँ पर एक भक्तपरिवार खड़ा हो जाता है। फिर तो जो कहानी घर में होती थी वही वहाँ पर प्रारम्भ हो जाती है।

एक साधक को भ्रम हो गया कि मुझे ज्ञान हो गया है। अब इधर–उधर क्या भटकना, ऐसा सोचकर वह एक नगर की गली–गली में घूमकर कहने लगा कि अरे! मुझे कोई श्मशान दे दे, मुझे कोई श्मशान दे दे! कोई उसकी बात समझ नहीं पा रहा था। उस नगर का राजा सिद्ध पुरुष था। अतः उसने कहा– आयें महाराज! आयें! आपके लिए तो यह महल ही श्मशान है। इन घरों एवं महलों में हम अज्ञानी जीव मृतक के समान ही तो हैं। ऐसा कहकर राजा ने साधक के लिए उत्तम सेवा–शुश्रूषा की व्यवस्था भी कर दी। पाँच–छः महीने के उपरान्त राजा ने अपने सेवकों को समझा–बुझाकर महल में चोरी करवा दी। सवेरे हो–हल्ला मचने पर राजा ने अत्यंत शोक–संताप की मुद्रा में रहने का नाटक किया। साधक ने चुपके से राजा से कहा– हे राजन्! मैं चोरों को तो नहीं पहचानता; लेकिन चोरों ने जहाँ धन छिपाया है, मैंने उस स्थान को उनके पीछे–पीछे जाकर रात में ही देख लिया था। तब राजा ने हँसते हुए साधक से कहा कि महाराज! आप श्मशान में थे! श्मशान में तो समाधि लगाकर रहना होता है। आपने मेरे किसी उपकार का बदला चुकाने के कारण से अपनी ज्ञानमयी समाधि तोड़ दी? क्या मेरे द्वारा प्राप्त हुए मान–सम्मान का ऋण आप पर हो गया था? अब साधक को अपनी भूल का पता चला, अतः पुनः सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान को सहन करने चल पड़ा।

पुनः एकबार हम सब कुरुक्षेत्र की तरफ बढ़ते हैं जहाँ साधक, इस मंत्र के द्वारा प्रभु, अर्जुन के प्रति तत्कालिक संदेश क्या दे रहे हैं, इसे भी देखें– मानो भगवान अर्जुन से कह रहे हों कि पौष माह (दिसम्बर) का यह अन्तिम चरण चल रहा है। यहाँ सर्दी की मार से सारे के सारे योद्धा, रथी–महारथी दिन की थकानरूप गर्मी को छावनियों में, गद्दे–रजाई में बड़े प्रेम से असावधान होकर सोते हुए रात्रि बितायेंगे। लाक्षागृह की कहानी का तुम्हें पता है ही, ऐसे में पापात्मा दुर्योधन छावनियों में आग भी लगा सकता है। अतः तुमलोगों को अति सावधान रहना

होगा। सम्पूर्ण मोर्चों पर रात्रि में विश्वासपात्र प्रहरियों को नियुक्त करना होगा। यही नहीं, इस युद्ध के मैदान में दुर्योधन तथा कर्ण, शकुनि के बहकावे में आकर तुम्हें व्यंग्यबाण से पीड़ित भी कर सकते हैं। वे जानते हैं कि तुम अपमान सहन नहीं कर सकते जबकि यहाँ पर सहन करना होगा; क्योंकि इस युद्ध में छल, बल, सबकी आवश्यकतानुसार आवश्यकता होगी और तुम चाहो तो अपमान को भी सहन कर सकते हो। काम तथा लोभ विजेता तो तुम हो ही, अब मोह और मान–सम्मान विजेता बनना है। यदि तुम्हें मेरे द्वारा ब्रह्मज्ञानरूप वरदान प्राप्त करना है तो इन सबको सहन करना ही होगा; क्योंकि–

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

ये सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी, मान–अपमान और स्वजनभाव–परायाभाव, 'मैं' की मार, 'तू' की मार, 'मेरे' की मार, 'तेरे' की मार; इस माया की मार को जो सहन कर लेता है वही परमपद पाने का अधिकारी होता है, वही निर्वाणब्रह्म पाने का अधिकारी होता है। हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें ब्रह्म को पाना है। यह युद्ध मैं इसलिए नहीं करा रहा हूँ कि तुम्हें राजसिंहासन मिलेगा अपितु यह युद्ध ही तुम्हें ब्रह्मपद को देनेवाला होगा।

महात्मा अर्जुन आश्चर्यचकित हुए भगवान नारायण को देखते के देखते रह गये। वे सोचने लगे कि अरे! यह क्या हुआ? अबतक मैं जानता था कि सिंहासन के लिए छीना–झपटी हो रही है। मैं तो जप, तप, योग के लिए 'थोड़ा ही (संन्यास)' माँग रहा था लेकिन ये तो 'सर्वस्व' (संन्यास का फल आत्मज्ञान) ही देना चाहते हैं।

(यं हि न व्यथयन्त्येते.....) अब साधकों की भूमि में प्रवेश करते हैं– सद्गुरु से शिष्य थोड़ा माँगता है लेकिन सद्गुरु सर्वस्व दे देता है। सुग्रीव ने थोड़ी सी शरणागति माँगी थी, रक्षा की गुहार लगायी थी। वे जानते थे कि यदि श्रीरामजी मुझे अपने साथ रख लेंगे तो मेरी जान बच जायेगी। उसके पूर्व तो उन्हें श्रीराम प्रभु के प्रति भी संदेह ही था कि ये बाली से मेरी रक्षा कर सकेंगे भी कि नहीं। अन्धे के पास आँख नहीं होती, उल्लू को सूर्य का तेज दिखाई नहीं पड़ता, पापियों के पास भी आँख नहीं होती; इसलिए कि उनके पास प्रज्ञा प्रकट नहीं होती। कोई न कोई वहाँ दोष होता है। भीरु (डरपोक) के पास भी आँख नहीं होती। उसके पास कोई न कोई दोष अवश्य होता है, वही दोष सुग्रीव में था। हनुमान जैसे भगवद्भक्त को पाकर भी सुग्रीव उन्हीं की आँख से भी साक्षात् नारायण को पहचान नहीं पा रहे हैं। इसीकारण प्रभु श्रीराम की उन्होंने परीक्षा ले ली। वहाँ जब हनुमानजी ने स्पष्ट कह दिया था कि हे सुग्रीव! ये साक्षात् नारायण हैं, तो प्रभु श्रीराम के प्रति हुए संशय को सुग्रीव को सहन करना चाहिए था। इसीलिए उन्हें प्रभु ने राज्य तो दे दिया लेकिन अपने को नहीं दिया। सुग्रीव के लिए वही सर्वस्व था, परन्तु महात्मा विभीषण ने हनुमानजी का कहना सहज में मान लिया और बिना परीक्षा लिए श्रीरामजी को ब्रह्म जान लिया। इससे सिद्ध होता है कि सुग्रीव उतने धीर पुरुष नहीं थे और न ही नैतिक थे। नैतिकपुरुष, नैतिक को भी पहचानते हैं तथा अनैतिक को भी पहचानते हैं। उन्हें भगवत्कृपा से

आँख मिली हुई होती है, अतः किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। प्रभु श्रीराम को देखनेवाले दो, दिखानेवाला एक; एक ने उनकी परीक्षा ले ली और दूसरे ने देखा श्रीराम को और ठिठका सा रह गया। वह विभीषण न रहा, राम की आत्मा हो गया, कुछ बोल न सका। उस नयनाभिराम को देखते–देखते वह देखता सा रह गया। भगवान ने पूछा– कौन हैं आप? शरणागत हूँ! शरणागत हूँ!! 'हे नाथ! शरणागत हूँ!!!' जगत में मुझे लोग असुरराज, राक्षसराज रावण का भाई कहते हैं लेकिन मैं आपका शरणागत हूँ 'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।'– ऐसा कहकर चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते हुए विभीषण को भगवान नारायण ने उठा करके, आएँ! आएँ! लंकेश आएँ!! ऐसा कहकर अपनी आत्मा बना लिया। लाओ लक्ष्मण! लाओ, समुद्र का जल लाओ, ऐसा कहकर राजतिलक कर प्रभु ने उन्हें लंकेश बना दिया। उस भक्त ने नयनाभिराम को देखा और नयनाभिराम ही हो गया।

(यं हि न व्यथयन्त्येते.....) सुख–दुःख, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी आदि प्रकृतिगत हैं, शरीरगत हैं, आत्मगत नहीं लेकिन आप शरीरगत नहीं आत्मगत हैं। अतः आत्मरूप होकर ही इन्हें सहन कर सकते हैं, शरीरगत होकर नहीं। जो शोक–सन्ताप से व्यथित होते हैं वे भी तो अशोच्य ही हैं, उनके लिए आप शोक क्यों कर रहे हैं! यही नहीं, जो कुलदेवी, कुलदेवता एवं पितर आदि केवल आपके धर्म पर आश्रित हैं, आपके योग, जप, तप पर आश्रित हैं, तो फिर वे भी अशोच्य ही हैं, उनके लिए क्या शोक–सन्ताप करना। श्रेष्ठपुरुष और कनिष्ठपुरुष ये दो पुरुषों की श्रेणियाँ हैं। पशु–पक्षियों की तरह जो खाने, पीने, सोने, लड़ने, झगड़ने में लगे रहते हैं, उनकी बात ही क्या करनी है; वे तो नारकीय प्राणी कहे जाते हैं। इन्हीं कनिष्ठप्राणियों में पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे भी आते हैं, जिनके लिए सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान सहन करना विवशता है। वहीं दूसरे श्रेष्ठपुरुष जिनकी सामर्थ्य है कि भोर में भी चारपाई पर लेटे रहें, साधन भी हैं, नौकर–चाकर भी हैं, जाड़े का मौसम भी है, बड़ी प्यारी नींद है, तो भी वे उस नींद के सुख को सहन करते हैं और जागने में होनेवाले दुःख को सहन करते हैं अर्थात् सुख का त्याग करते हैं और दुःख को भोग लेते हैं। वहाँ उनकी विवशता नहीं है, उनकी सहजता है; क्योंकि वे श्रेष्ठ पुरुष हैं, महत् बुद्धिवाले हैं। उन्हें अमृत चाहिए, उन्हें ब्रह्म चाहिए। सुख त्याग करने से तथा दुःख भोगने से, तन, मन, वचन, निर्मल हो जाने से उनके चित्त में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो जाती है, फिर उस चित्त में न सुख रहता है न दुःख रहता है।

(समदुःखसुखं धीरं.....) धीर पुरुष दुःख और सुख को समान समझता हुआ भी दुःख को भोगता है और सुख का त्याग करता है; क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से तो सुख का परिणाम दुःख ही होता है। इसीप्रकार सत्य–असत्य को समान समझता हुआ भी असत्य का त्याग करता है और सत्य का पालन करता है। सुख–दुःख को समान समझने का अर्थ वेश्या और माँ की समता से नहीं लेना चाहिए। हाँ, माँ और वेश्या समान हैं– ऐसा तो अर्थ लेना चाहिए लेकिन वेश्या और माँ में समानता है– ऐसा अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए; क्योंकि जब वेश्या कहकर माँ कहते हैं तो काम में प्रतिष्ठित कोई माँ दिखाई पड़ती है, इसके बाद अपनी माँ दिखाई पड़ती है। वेश्या

और माँ समान हैं– ऐसा कहनेवाला वेश्या को याद करके तब माँ को याद किया, तो इससे सिद्ध होता है कि इस ढंग से कहनेवाला अशास्त्रीय है, नास्तिक है, महापातकी है। वही कहता है कि मेरी माँ, मेरे पिता के लिए तो वेश्या ही है; अतः वेश्या और माँ में क्या अन्तर है, किन्तु कोई धीर पुरुष कहता है कि माँ में और वेश्या में कोई अन्तर नहीं है। सर्वप्रथम माँ को याद करने से उसके हृदय में मातृता पहले प्रशस्त होती है, जिसके कारण वेश्या का कर्म न दिखाई देकर उसमें मातृभाव अपने–आप दिखाई पड़ने लगता है। माँ और वेश्या को समान देखने का तात्पर्य यह नहीं कि माँ की अवहेलना ही कर दें। धीर पुरुष धैर्य के साथ मूल–तत्त्व में समान देखता है, अतः जिसप्रकार माँ एवं वेश्या तथा वेश्या और माँ आत्मरूप से समान हैं, उसीप्रकार सुख और दुःख मौलिकरूप से समान हैं। तो फिर मौलिक तत्त्व क्या है? हाँ, यह एक गूढ़ात्मक रहस्य है, जिसे अपनी बुद्धि से महाराज द्वारा कहे हुए इस तत्त्व को पकड़ें– जिस अहंभाव से सुख का सम्पादन किया जाता है, उसी अहंभाव से दुःख का भी सम्पादन किया जाता है अर्थात् जिस अहंभाव से सकाम यज्ञ, दान–तपरूप यज्ञ किया जाता है, उसी अहंभाव से चोरी, डकैती, अपहरण, छल, कपट आदि नानाप्रकार का दुराचार किया जाता है। इन दोनों में से अहं पद को निकाल दें, जो उन दोनों भावों की आत्मा है, तो दोनों के 'मैं' में कोई विषमता नहीं है अर्थात् दोनों 'मैं' समान है, अतः यह 'मैं' ही मौलिक तत्त्व है। यही नहीं, दोनों भावों में भी समानता है, एक जप, तप, योग के द्वारा देवताओं से या भगवान से सुख चाहता है और दूसरा चोरी–डकैती, अपहरण, छल–कपट करके अपनी क्षुद्रबुद्धि के द्वारा सुख चाहता है। इसप्रकार लक्ष्य एक ही है; तो भी याज्ञिक कर्म को स्वीकार करना होगा तथा पाशविक कर्म को त्यागना होगा। इसीप्रकार ज्ञानमार्ग में सुख त्याग करना होगा और दुःख को भोगना होगा तथा भक्तिपक्ष में सुख भी भगवान है, दुःख भी भगवान ही है; फिर तो दुःखरूप भगवान को वह भोगेगा और सुखरूप भगवान को अपने इष्ट (भगवान) को समर्पित कर देगा। यह भक्ति की पराकाष्ठा है। यदि कोई प्रारब्धवादी है तो उसकी तो बात ही छोड़ दें; क्योंकि वह दोनों में समान देखने की बात ही नहीं करेगा, वह तो दुःख को त्यागने का प्रयत्न करेगा और सुख प्राप्त करने का यत्न करेगा।

ज्ञानयोगी धीरपुरुष है। वह दुःख के आने पर मोहित नहीं होता, घबराता नहीं बल्कि उस दुःख को अपना ही संकल्प समझकर नमस्कार कर लेता है तथा प्रेमपूर्वक भोगता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि वह सोचता है कि मैंने ही एक समय शरीर–भाव से अज्ञानावस्था में सुख की इच्छा से दूसरों को सताया था, दूसरे से छीना–झपटीकर धन कमाया था, अब उन सबकी आह द्वारा दुःख का शाप मिला है, वही प्रकट हो गया है, उसके भोगने का समय आ गया है; अतः इसे प्रेमपूर्वक भोगूँगा तथा सुख इसलिए त्याग देता है; क्योंकि वह यह समझ जाता है कि सुख की कामना से मैंने कभी जोग–जप या तपादि किया था, दान–धर्म किया था, दीन–दुःखियों की सेवा की थी, अतः उसी का यह परिणामरूप फल है। इसलिए उसे अस्वीकार कर पूर्व के सकाममय जीवन को उस ज्ञानमय जीवन में मिला लेता है और वह धीर पुरुष फिर अपने स्वरूप में स्थित होकर विचरण करता है।

(यं हि न व्यथयन्त्येते.....) अब आप सबको महाराज युद्धभूमि में ले चलता है, वहाँ देखें कि भगवान इस मंत्र से क्या कहना चाह रहे हैं– प्रभु अपने परम प्रिय शिष्य को युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए यदि स्वयं से युद्ध की भी आलोचना करनी पड़े तो करेंगे। यह सामयिक धर्म है, यह विकर्म के अन्तर्गत आता है। ऐसा करने से महात्मा युधिष्ठिर का भी काम बनेगा। योद्धा को ललकारने के कई ढंग होते हैं, एक ढंग यह भी है– भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम्हारे जैसा धीरपुरुष कौन होगा जिसने सामर्थ्य रहते हुए भी सबके अत्याचारों को सहन किया है? महाराज युधिष्ठिर ने तुम्हारे जैसे जितेन्द्रिय, महापराक्रमी तथा महारथी भाई को एक तुच्छ वस्तु समझकर जूए में दाव पर लगा दिया था, दुर्योधन जैसे दुरात्मा का दास बनाकर छोड़ा। मैं मानता हूँ कि उस समय तुमने इनके सत्यधर्म का सम्मान किया था, किन्तु तुमने भी तो कभी झूठ नहीं बोला है! क्या तुम सत्यवादी नहीं हो? तुम्हारा दुरुपयोग तो सबने किया है परन्तु तुमने दुरुपयोग किसी का भी नहीं किया है। इसीलिए मैं तुम्हारा सदुपयोग कर रहा हूँ।

उपरोक्त वाक्य से महाराज के मन में आया कि महात्मा अर्जुन का सबके द्वारा दोहन हुआ है। जैसे हनुमान जैसे महात्मा एवं भक्त का सुग्रीव और बाली ने खूब दोहन किया था; किन्तु ये प्रभु के परम प्रिय भक्त हनुमान धैर्य के साथ अपने भगवान श्रीराम के आने की प्रतीक्षा करते रहे। इन महात्मा को उन दोनों ने मंत्री पद पर रखते हुए दूत बनाकर भी छोड़ा। इसी से श्रीरामजी ने इनको अपनी अन्तरात्मा बना लिया।

साधक सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी की चिंता करते हैं। यदि वे चिन्ता न करें तो भगवान की अहैतुकी कृपा का हर रोज अनुभव करें। सन् १९८६ में पौष (नवम्बर अन्त में) माह में महाराज आत्मानन्द के साथ ऋषिकेश से इन्दौर पहुँचा। महाराज ने कहा– गाँव से दो–तीन किलोमीटर पहले ही उतरकर सीधे जंगल में ही चलना है, नहीं तो आम्बाचन्दन या भगौरा के भक्तलोग गाँव में ही रोक लेंगे और जब झोपड़ी बना देंगे तब जाना पड़ेगा। आत्मानन्द ने कहा– पुरानी झोपड़ी भी तो रहने लायक नहीं होगी, फिर कहाँ सोयेंगे, क्या खायेंगे? महाराज ने कहा– खाने, पीने, सोने की बात इस समय नहीं करनी है। वहाँ पेड़ के नीचे सोया जायेगा और गुफा में तथा पेड़ों के नीचे ही ध्यान किया जायेगा; रही बात खाने की तो हरियाणा के भक्त द्वारा गट्टूमाली (भगौरा) के पास बाँधा हुआ दूध है ही, उसी में हम दोनों पी लेंगे। वहाँ जंगल पहुँचने में शाम को आत्मानन्द गट्टूमाली के पास से एक किलो दूध गरम कराकर ले आये। उनलोगों के पूछने पर कि सारी व्यवस्था हो गयी? आत्मानन्द ने कह दिया– हाँ, हो गयी। रात्रि में बहुत प्रयत्न करने पर भी आत्मानन्द ने एक छटाँक भी दूध नहीं पीया और उन्होंने कहा– योग, तप, ध्यान तो आपको करना है, मैं तो नौ–दस दिन भूखा रहकर भी सेवा कर लूँगा। तब महाराज हँसा कि तुम्हारा महाराज आज दूध पी रहा है हरियाणा का, रह रहे हैं मध्य प्रदेश (इन्दौर) के जंगल में, अब देखना है कि कल तुम कहाँ की रोटी खाते हो? सवेरा हुआ, जंगल के किनारे झरने पर स्नान करने गये तो देखा, पचासों तम्बू लगे हुए हैं। उनलोगों ने गेरूवस्त्र में दो संतों को देखा और दौड़ पड़े। राजस्थान से ऊँट, भेड़, बकरी लाये हुए थे। दोनों को ले जाकर अर्चना–वन्दना

किया तथा बाल–बच्चों को भी दर्शन कराया। उसके उपरान्त माताओं, बहनों–बेटियों ने अपने–अपने तम्बू से आटा, दाल, नमक, मिर्च, मसाला ला–लाकर प्रणाम करना प्रारम्भ किया। महाराज ने कहा कि महाराज तो दूध ही पीता है। इसपर एक बूढ़ी माँ ने प्रेमपूर्वक गरजकर कहा– तुम तो दूध ही पीते हो लेकिन तेरा चेला तो रोटी खाता है! उसने ऐसे कहा जैसे पहले से ही वह जानती हो। महाराज ने हँसते हुए स्वीकार कर लिया। उनलोगों ने लगभग २०–२५ किलो आटे को पेड़ के नीचे पहुँचा दिया। आत्मानन्द ने जंगल से सूखे कंडे (उपले) इकट्ठे कर बाटी (मोटी रोटी) बनायी। जब खाने बैठे तो महाराज ने हँसते हुए कहा– देखा! महाराज दूध पी रहा है हरियाणा का, तुम रोटी खा रहे हो राजस्थान की जबकि रह रहे हैं मध्य प्रदेश में! पाँच दिन के उपरान्त आम्बाचन्दन तथा भगौरा से लोग आये तो देखकर दुःखमय हृदय से कहा– महाराज जी! क्या अपराध हो गया हमलोगों से? क्या खाये, कहाँ सोये, कैसे रहे? महाराज ने कहा– आप सबके खा लेने पर भी सौ लोगों को खिलाने भर आटा बचेगा। इसप्रकार जो धर्मरक्षा के लिए दुःख सहन करता है उसके लिए भगवान की सब जगह व्यवस्था रहती है, वही अमृत पाने के योग्य होता है। उसके उपरान्त कुछ वर्षों के बाद सच में आत्मानन्द आत्मानन्द ही हो गये।

महात्मा अर्जुन के ध्यानपूर्वक आत्मज्ञान की बातें सुनने के कारण प्रभु पुनः मौलिक तत्त्व को प्रकाशित करते हुए कहते हैं–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

हे पार्थ! असत् का अस्तित्व नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता अर्थात् सत् का ही अस्तित्व होता है। यदि असत् का अस्तित्व किसी काल में कहीं दिखाई पड़ रहा है तो उसका भी आधार सत् ही है। यह रहस्य भलीभाँति तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है।

भगवान ने इस मंत्र के द्वारा अपनी अनुभूति की पुष्टि आत्मवेत्ताओं से करायी है, वह इसलिए कि अभी महात्मा अर्जुन को इनकी बातों से विशेष शास्त्र की बातों पर विश्वास था, ऋषि–महर्षियों की बातों पर विश्वास था। भगवान मानो कह रहे हैं कि मनमानी बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि यह शास्त्रीय बात है, कभी अन्य तत्त्वदर्शियों से चाहो तो पूछ भी सकते हो। अर्जुन को भगवान की ही बात पर विश्वास होता तो कहते कि हे प्रभु। अब तो मुझ मूर्ख को अपना लें! क्यों दूसरे की बात की प्रस्तावना करते हैं, क्या आप अपनी बात कहेंगे तो मैं विश्वास नहीं करूँगा? अब तो अपने अनुभव की ही बात करें, अन्य की नहीं।

इस मंत्र में सत् आत्मा को कहा गया है और असत् शरीर को। यदि व्यष्टि चेतन (अहम्) शरीर को अस्वीकार कर दें तो इसकी सत्ता नहीं रहती है अर्थात् किसी भी शरीर की सत्ता नहीं रहती है, चाहे वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो या कारण हो। तो आप थोड़ा ध्यान दें कि आत्मा के कारण से कैसे सारे शरीर असत् होते हुए भी सत् से प्रतीत हो रहे हैं– स्थूल शरीर सम्पूर्णता

से असत् है, जिस दिन सूक्ष्म शरीर (वासनात्मक शरीर, मनोमय शरीर) इसका परित्याग कर दे। सभी देखते ही हैं कि जब इस शरीर की अवधि पूरी होती है तब वह सम्पूर्ण प्राणों को अपनी तरफ खींचकर, इसे छोड़कर चला जाता है, तब यह तत्काल दुर्गन्धयुक्त होकर सड़–गल जाता है। वैसे ही वासनामय शरीरों को आत्मज्ञानी जब छोड़ता है तो सारे अन्तर के शरीर अस्तित्वहीन हो जाते हैं, पुनः वे दूसरे जन्म के हेतु नहीं बनते। इसे इसप्रकार भी समझें– शरीर असत् है, उसकी अपेक्षा मन सत् है; मन असत् है, उसकी अपेक्षा बुद्धि सत् है और बुद्धि असत् है, किन्तु आत्मा तो त्रिकाल में सत् ही सत् है वह किसी की अपेक्षा से सत् नहीं है। इसप्रकार सभी एक–दूसरे की अपेक्षा असत् एवं सत् हैं किन्तु सबका मूल होने से तो आत्मा ही सत् है।

(नासतो विद्यते भावो.....) पुनः इसे दूसरे अर्थों में देखें– सकाम कर्म असत् है तो निष्काम कर्म सत् है, पाशविक एवं आसुरी कर्म असत् है तो मानवी कर्म सत् है, मानवी कर्म असत् है तो दैवी कर्म सत् है, दैवी कर्म असत् है तो ब्रह्मजिज्ञासु कर्म सत् है, ब्रह्मजिज्ञासु कर्म असत् है तो साधक कर्म सत् है, साधक कर्म असत् है तो सिद्ध कर्म सत् है, सिद्ध कर्म असत् है तो आत्मज्ञानी का कर्म सत् है, सत् है, सत् है। वैसे ही साधना क्रम में देखें– साधना में मन नहीं लग रहा है तो प्रथमावस्था में तीर्थ–व्रत सत् है, तीर्थ–व्रत असत् है तो जप ही सत् है, जप यदि असत् है तो चिन्तन ही सत् है, चिन्तन असत् है तो शुद्ध साक्षी एवं चेतन स्वरूप का ध्यान ही सत् है, चेतन स्वरूप का ध्यान असत् है तो आत्मज्ञान सत् है, आत्मज्ञान सत् है, आत्मज्ञान सत् है।

पुनः देखें– पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे, देवता, दानव, राक्षस, भूत, प्रेत असत् हैं तो मनुष्य ही सत् हैं, मनुष्य असत् हैं तो देवपूजक सत् हैं, देवपूजक असत् हैं तो सगुणोपासक भक्त सत् हैं, सगुणोपासक भक्त असत् हैं तो निर्गुणोपासक सत् हैं, निर्गुणोपासक असत् हैं तो आत्मज्ञानी सत् हैं, आत्मज्ञानी सत् हैं, आत्मज्ञानी सत् हैं।

वैसे ही देखें– कौरव पक्ष असत् है तो पाण्डव पक्ष सत् है, पाण्डव पक्ष असत् है तो पाण्डव ही सत् हैं, पाण्डव ही सत् हैं, पाण्डव ही सत् हैं।

इसप्रकार त्रिकाल में भी सत् का ही अस्तित्व है, असत् का कभी भी नहीं। सम्पूर्ण सत् जब प्रकट होता है तो सम्पूर्ण असत् अन्तर्ध्यान हो जाता है। जिसप्रकार सम्पूर्ण सूर्य आकाशमण्डल में प्रकट हो जाय तो सम्पूर्ण अंधकार का अता–पता नहीं चलता। उसीप्रकार सम्पूर्ण ज्ञान में अज्ञान का पता नहीं चलता; किन्तु यदि सम्पूर्ण सूर्यग्रहण लग जाय तो पल भर के लिए सम्पूर्ण अन्धकार हो जाता है। उसीप्रकार अज्ञान के कारण से सम्पूर्ण ज्ञान पर कभी–कभार ग्रहण लग जाने से साधक का तन, मन, वचन भी अज्ञानमय हो जाता है जैसा कि महात्मा अर्जुन का हो गया है।

अर्जुन का यहाँ मौन प्रश्न है, जो आप सब के मन में भी कई बार आ चुका होगा कि असत् की सत्ता होती नहीं, सत् का अभाव होता नहीं, तो फिर महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्पूर्ण सत् पुरुष (सत्यवादी), असत् पुरुष छली–कपटी शकुनि से जूए में हार क्यों गये? हाँ, वह इसलिए

कि श्वेत वस्त्र पर थोड़ा भी रंग का छींटा पड़ जाय तो विशेष चमकता है, काले वस्त्र पर कोई रंग क्या चमकेगा! वैसे ही उस समय जब राजाज्ञा हुई जूआ खेलने की तो इन्होंने स्वीकार कर ली। उनके द्वारा अशुद्ध आज्ञा को स्वीकार करना ही असत् को स्वीकार करना हुआ। राजा भगवान का प्रतिनिधि होता है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी चाहे जो भी आज्ञा हो आँख बन्दकर मान ली जाय। क्या राजाज्ञा झूठ बोलने की होती तो वे बोलते? क्या राजाज्ञा ब्राह्मणवध या गोवध की होती तो वे करते? यदि नहीं, तो इसी असत् के कारण उनकी पराजय हुई। महात्मा पुरुष के अपराध पर भगवान तत्काल प्रायश्चित कराने के उद्देश्य से दण्ड देता है और असुरों को पहले उनके सत्कर्मों का फल देकर तब दुष्कर्मों का फल देता है। यदि वे राजाज्ञा की अवहेलना करते ही नहीं थे, तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्र तो राजाओं के भी राजा हैं, उनकी आज्ञापालन करने में क्यों देर कर दी, 'अश्वत्थामा मारा गया लेकिन नरो वा कुञ्जरो'– क्यों कह दिया? हाँ, वे रहस्य को जानते हुए जूआ खेल रहे हैं, यह बात अलग है। वे ऐसा समझ रहे हैं कि भगवान की इस समय इच्छा ही ऐसी है तो यह बात अलग है लेकिन सम्पूर्ण सत् कभी पराजित नहीं होता जब पराजय की बात की जायेगी तो पराजय के कारण की खोज भी की जायेगी। वहाँ धृतराष्ट्र की आज्ञा पालन करना तो दूर बल्कि महात्मा युधिष्ठिर को प्रतिवाद कर उस आज्ञा का प्रतिकार करना चाहिए था। उन्होंने उस असत् को स्वीकार किया जो आनेवाले समय के लिए भी घातक था। राजा, प्रजा में सात्त्विक आचार, विचार, व्यवहार का सृजन स्वयं के सात्त्विक आचार, विचार एवं व्यवहार से करता है, यदि उसके द्वारा ठीक इसके विपरीत व्यवहार किया जाता है तो प्रकृति क्षमा नहीं करती।

यदि राजाज्ञा के ही पालन की प्रधानता होती तो राजाबेन के अत्याचार पर अंकुश लगाने ऋषिगण क्यों पहुँचे? उसने कहा था– राजधर्म में सन्तों को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राजा ब्रह्म का प्रतिनिधि होता है, मेरे हृदय में जो कुछ प्रेरणा होती है, वही व्यवहार करता हूँ। सूर्यवंशियों से अन्यथा व्यवहार होता ही नहीं, अतः मेरे व्यवहार को आप सब अन्यथा न लें, मुझे दोष न दें। उसके ऐसे आलाप–प्रलाप एवं बकवास करने पर ऋषियों ने हुंकार भरकर उसे मार डाला। राजाज्ञा का पालन करना सभी अवसरों पर धर्म तो है नहीं, अतः सम्पूर्ण सत् के सामने सम्पूर्ण असत् टिकता ही कहाँ है।

सभी जानते हैं कि श्रीराम प्रभु ने अपने पिता के द्वारा दिये गये राज्य को स्वीकार तो किया; किन्तु उनके कुछ आदर्शों का त्याग कर दिया, राजतन्त्र के विलासी पहलू को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने, राजा चाहे जितने विवाह कर सकता है, इस प्रथा का परित्याग कर एक पत्नीव्रता होने का व्रत ले लिया, जिसका परिणाम हुआ कि उनकी सम्पूर्ण प्रजा एक नारीव्रता हो गयी। अर्जुन की ही तरह आप सबके मन में भी यह प्रश्न आ सकता है कि जब भगवान सम्पूर्ण सत् थे तो कालयवन, जरासन्ध से युद्ध के मैदान से भाग क्यों खड़े हुए? हाँ; वे इसलिए भाग खड़े हुए उनसे, आप जैसे लोगों को संशय में डालने के लिए, ताकि इसी संशय को लेकर किसी सन्त के पास तो आप जायें। संशय होना अच्छी बात है, भगवान के प्रति संशय होने पर

भगवान का चरित्र मिलेगा अतः भाग खड़े हुए असुरों से उनको मोहित करने के लिए, जिससे वे सदा अन्धेरे में रहें। यदि कालयवन–जरासन्ध से भागने का नाटक नहीं करते तो सारे असुर उस समय सम शान्त से हो जाते, दुबक जाते फिर तो वे सामना करते ही नहीं उलटे शरणागत हो जाते, जिन्हें भगवान अवसर देना नहीं चाहते थे। आप जैसे मूर्खों को कालयवन एवं जरासंध से भगवान तुच्छ दिखाई पड़ता है लेकिन यह नहीं दिखाई पड़ता कि कालयवन को मुचुकुन्द ऋषि से भस्म करा दिया तथा जरासन्ध को अकेले भीम से ही मरवा डाला।

(नासतो विद्यते भावो.....) कंस देखने में तो सम्पूर्ण असत् प्रतीत हो रहा है और वसुदेव–देवकी सम्पूर्ण सत्, लेकिन कंस के पास भगवान शंकर का वरदान तो कुछ काल के लिए सत् ही है। असत् व्यवहार भी सत् के आश्रय से कुछ काल तक सत् सा प्रतीत होता है। जो कंस वसुदेव–देवकी के पास कुछ अंश में विजयी प्रतीत हो रहा है, वही भगवान के गर्भ में आते ही पराजय की ओर बढ़ जाता है। भगवान आये और ताले खुल गये, दरवाजे अपने–आप खुलकर भगवान का स्वागत किये। अन्ततोगत्वा समय आने पर सम्पूर्ण सत् भगवान ने कंस को हाथ से धक्का दिया जिससे गिरते ही उसके प्राण–पखेरू उड़ गये। इसप्रकार उसकी तथा उसके साथी(अन्य) असुरों के तन्त्र, मन्त्र, योगादि की सत्ता जाती रही।

कहाँ तक कहा जाय स्वयं महात्मा अर्जुन ने युद्धभूमि में आकर स्वजनों को अपना मान लिया, इस परधर्म को स्वीकार करते ही वे सम्पूर्ण असत् हो गये; जिसका परिणाम हुआ कि हाथों से धनुष–बाण फेंकना पड़ा अर्थात् शक्ति उनके हाथ से गिर गयी। युद्धभूमि में स्वजन तो वे हैं, जो रथी–महारथी एवं अन्यान्य सैनिक अपने पक्ष से खड़े होकर अपने लिए प्राणों की बलि देने के लिए तत्पर हैं। उन्हें अपना स्वजन न समझकर अपने ही परिवार के सदस्यों की चिन्ता करना परधर्म है, अतः यही अधर्म है। अधर्म के पास सत् कैसे रहेगा? लेकिन चूँकि अब उन्होंने पूर्ण सत्– भगवान को ही सद्गुरु बना लिया है, अतः बड़े वेग से उनका मोहरूप असत् नष्ट हो रहा है। इस समय सारे विपक्षी लगभग सम्पूर्ण असत्मय हो गये हैं, थोड़ा सा इनके पास पूर्वजन्मों का किया हुआ जप, तप, योग, यज्ञ, दानादिरूप सत् विद्यमान है, जिसके बल पर ही कुछ ही दिन ये युद्ध में खड़े रह सकते हैं। उसके उपरान्त जिसप्रकार पतिंगे स्वतः ही अग्नि में कूदकर अपने को भस्म कर देते हैं, उसीप्रकार ये सब भी इस युद्धरूपी अग्नि में अपने–आपको भस्म कर देंगे।

(नासतो विद्यते भावो.....) रावण की अपेक्षा विशेष सत् इन्द्र ने उसे बन्दी बना लिया, वहीं इन्द्र की अपेक्षा विशेष सत् से सम्पन्न मेघनाद ने इन्द्र को बन्दी बनाकर रावण को छुड़ा लिया। मेघनाद इन्द्र की अपेक्षा निर्विषयी था, जितेन्द्रिय था, एक पत्नीव्रता था। इन्द्र अजितेन्द्रिय तथा विषयी थे अतः मेघनाद के सत् से वे पराजित हुए। जब–जब, जहाँ–जहाँ देवताओं की असुरों से पराजय हुई है, तब–तब, वहाँ–वहाँ देवताओं की अपेक्षा असुरों के पास विशेष सत् था। इसीलिए देवता जब–जब विलासी हुए हैं, तब–तब पराजित हुए हैं।

पुष्करानन्द ने पूछा– आप कहते हैं कि भारतवर्ष में सन्तों का साम्राज्य है, सन्तों की सत्ता

है, यहाँ सन्तों की ही शक्ति काम करती है, फिर भी चार–पाँच सौ साल भारत परतन्त्र रहा, यह क्या रहस्य है? महाराज ने कहा– आप सब जब विलासी होते हैं तो सन्त फिर उदासीन हो जाते हैं, ताकि थोड़ा धक्के खा लें, फिर वे सब त्राहि–त्राहि मचावें और आप सब निर्विषयी बनें, जोगी, जपी, तपी बनें, त्यागी बनें फिर सन्त आपकी सुरक्षा करें। संत की दयालुता ऐसी नहीं है कि आप विलासी बनें और वह आपकी सुरक्षा करता रहे। संत तो धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, भक्त एवं त्यागी पुरुषों की आत्मा होते हैं। वे तो स्वयं चाहते हैं कि वे आप सब विलासियों को मसल डालें, कुचल डालें। यह भारतभूमि यज्ञशाला है, इस यज्ञशाला का जब आप सब दुरुपयोग करेंगे तो असुरों द्वारा आपको दण्ड दिलाया ही जायेगा।

राजा बलि सम्पूर्ण सत् से हो गये थे लेकिन जैसे ही भगवान के विश्वमोहिनीरूप धारण करने पर उन्हें अप्सरा समझा, कामिनी स्त्री समझा, वैसे ही उनका सम्पूर्ण सत्, असत् में बदल गया और वे देवताओं से सहज में ही पराजित हो गये।

(नासतो विद्यते भावो.....) इस मंत्र द्वारा भलीप्रकार स्वयं के सत् और असत्रूप व्यवहार पर विचार करना चाहिए। इसी मंत्र के द्वारा अपने जीवन में जय और पराजय करनेवाली घटना को देखना चाहिए। आप साधक भले हैं लेकिन बहुत बार पराजय का स्वाद चखना पड़ा होगा, तो उस पराजय करनेवाली घटना का स्मरण कर आप खोज करें कि वहाँ पराजय का कौन सा असत् कारण था। भगवान ने इस मंत्र के द्वारा ब्रह्म और ब्रह्म के व्यवहार, इन दोनों की स्थापना की है। इसी से सत् एवं असत् ये दो पद (शब्द) यहाँ दिये गये हैं, जबकि हैं तो तीन पद– सत्, असत् और सत्त्व। सत्त्व तो ब्रह्म में स्थित होने को और ब्रह्म को कहते हैं, सत् उसके आचार–विचार एवं व्यवहार को कहते हैं तथा असत्, अज्ञानी को और अज्ञानी के व्यवहार को कहते हैं। 'सत्त्व' तो निर्गुण निराकार चेतन ब्रह्म है तथा सत् उसका आवरण (सगुण ब्रह्म) है, सत्त्व तो सगुण ब्रह्म है और सत् उसके द्वारा किया जानेवाला व्यवहार है। भगवान स्वयं 'सत्त्व' (आत्मा) हैं एवं सत् व्यवहार ही उनकी दिव्य शक्ति है, जिसके सामने असत् (अज्ञानी) व्यवहार की कोई सत्ता नहीं है। यदि सम्पूर्ण असत् भी सम्पूर्ण सत्त्व के सामने होता है अर्थात् शरणागत होता है तो वह सत्त्व ही हो जाता है। महात्मा अर्जुन भगवान को जीव समझ बैठे हैं। इतना ही नहीं, वे उनको उपदेश भी करने लगे हैं, इस असत् दृष्टि और असत् व्यवहार से ही वे सम्पूर्ण असत् हो गये हैं लेकिन चूँकि सत्त्व (भगवान को गुरु बना लिए) के शरणागत हो गये हैं, अतः थोड़े ही समय में सत्त्व में प्रतिष्ठित हो जायेंगे तथा सत् व्यवहार से विजयी होकर शोभित होंगे।

सत्त्व तो फल है और सत् उसका आवरण है। सत्त्व बिना आवरण का नहीं रहता जैसे फल बिना छिलके का (आवरण) नहीं रहता। आम के गूदे को, रस को उसके छिलकेसहित चूसा जाता है, फिर गुठलीसहित उसे फेंक दिया जाता है; उसीप्रकार सत्त्वरूप सगुण ब्रह्म से अपने आत्मस्वरूप को प्राप्तकर उसी का रूप हो जाया जाता है। आजकल लोग कहने लगे हैं कि राजनीति से धर्म को अलग रखा जाय, मानो वे कह रहे हों कि फल के रस को छिलके से अलग करके रखा जाय, मानो वे कह रहे हों कि पुत्र–पुत्रियों को व्यावहारिक ज्ञान से मुक्त रखा जाय,

मानो वे कह रहे हों कि बाल–बच्चों के व्यवहार से माता–पिता, दादा–दादी को मुक्त रखा जाय, मानो वे कह रहे हों कि शरीर से प्राण को दूर रखा जाय। दुर्योधन ने शकुनि एवं कर्ण से कहा था कि इन साधु–सन्तों को क्या पड़ी है राजधर्म में हस्तक्षेप करने की? ये क्यों बार–बार पिताश्री के पास आकर कानाफूसी करने लगते हैं।

सत्त्व (सगुण ब्रह्म), संकल्प से विजयी रहता है। वह बाँसुरी भी लेकर चल सकता है, खप्पर (शंकर भगवान) भी लेकर चल सकता है। वह निःशस्त्र एवं निर्वस्त्र (काली) होकर भी युद्धभूमि में आकर हुंकार भर सकता है। वह परिव्राजक होकर (सन्त) जीवों पर दया करने के लिए असुरों के मध्य ज्ञानोपदेश के लिए (आद्यगुरु शंकराचार्य, नारद, सनक, सनन्दनादि ऋषि, विश्वामित्र, वसिष्ठ, वाल्मीकि, अगत्स्यादि रूप में) भी जा सकता है। वह शून्यवादी, जिनवादी तथा कपालवादी एवं भोगवादियों के सिद्धान्त का कचूमर भी निकाल सकता है; क्योंकि वह सत्त्व, सत् (सद्व्यवहार, ब्रह्म व्यवहार) से सम्पन्न है। सद्व्यवहार ही शक्ति है, सत् मनन ही शक्ति है, सत् चिन्तन ही शक्ति है, सत् जप ही शक्ति है, सत् तप ही शक्ति है, सत् योग ही शक्ति है, सत् ध्यान ही शक्ति है, सत् ज्ञान ही शक्ति है, सत् विज्ञान ही शक्ति है, सत् शास्त्र ही शक्ति है, सत् दान ही शक्ति है, सत् धर्म ही शक्ति है, सत् काम ही शक्ति है, सत् क्रोध ही शक्ति है, सत् लोभ ही शक्ति है, सत् राग (ब्रह्मशक्ति) ही शक्ति है, सत् द्वेष (विकारों से द्वेष) ही शक्ति है, सत् छल–कपट (माया को माया से मारना) ही शक्ति है और इस सत् को जो धारण करता है वही सत्त्व है, वही सत्त्व है, वही सत्त्व है, यानी वही ब्रह्म है।

(नासतो विद्यते भावो.....) सत्त्व पैंतरेबाजी नहीं करता, वह तो संकल्प से हुंकार भरकर सभी को धराशायी कर देता है। सम्पूर्ण असत् तो पराक्रम करने पर भी विजयी नहीं होता, वह बहुत करता है, बहुत करता है, बहुत करता है किन्तु कुछ पाता नहीं है, करते–करते ही हार जाता है, जीवन से हार जाता है; फिर दुर्योधन जैसा जाकर जल में, थल में कहीं छिप जाता है, किन्तु वहाँ से भी उसे सत्त्व द्वारा निकालकर कहीं का भी नहीं रखा जाता है और वह जीवन–जीवन भूत–प्रेत बनकर भटकता हुआ आहें भरता रहता है। अश्वत्थामा की चालाकी ने उसे कोढ़ी बनाकर वन–वन भटकते रहने के लिए विवश कर दिया था।

आप हर रोज साधना कर रहे हैं तो दिन दूनी रात चौगुनी आपकी साधना बढ़नी चाहिए। यदि आप सम्पूर्ण आत्मजिज्ञासु हैं तो नित्यप्रति आपकी विजय होनी चाहिए। यदि आप सम्पूर्ण जिज्ञासु नहीं हैं तो आप को पराजित करने की सम्पूर्ण जिज्ञासा लिए हुए आपका कुप्रारब्ध आप का बड़ी सजगता से पीछा कर रहा है। वह तो सोच ही रहा है कि आप कब असत् हों, तो मैं आपको मार डालूँ, आपको साधना से विमुख कर दूँ और आपको विषयी बना दूँ। वह जाग्रत् क्या, स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी जागता रहता है; अतः आपको सम्पूर्ण सत्त्व में प्रतिष्ठित जिज्ञास्य यानी ब्रह्म की ही चाहना करनी चाहिए। ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ रहा है, इसलिए सम्पूर्ण सत्त्व में प्रतिष्ठित सद्गुरु की अध्यक्षता चाहिए, उसी का सद्व्यवहार चाहिए, उसी का सत् सिद्धान्त चाहिए। साधना में बैठने के पूर्व यदि उसी के सद्व्यवहार से व्यवहार किया है आपने, विशेष

ध्यान–जप आदि में बैठते ही उसकी छवि को स्मरणकर प्रणाम किया है आपने, उससे प्रार्थना की है आपने और तब ध्यान, जप, तप में उतर गये हैं। फिर देखें सम्पूर्ण असत् प्रारब्ध कैसे नहीं पराजित होता?

एक साधक ने सन् १९८० में अपने गुरुदेव से पूछा– कभी–कभार सोये में ही वीर्य स्खलित क्यों हो जाता है? उनका उत्तर था कि सत्त्व में तो प्रतिष्ठित हो रहे हो लेकिन सत्त्व के व्यवहार को धारण करने में कमी कर रहे हो। उसने पूछा– कैसे? उन्होंने कहा– अभी तूने घर नहीं छोड़ा। उसने कहा– घर तो मैं जाता ही नहीं? उन्होंने कहा– गाँव और क्षेत्र में जाते हो, यह घर जाना ही माना जाता है। संन्यास लेकर स्वजनों के बीच रहे, यह कैसा संन्यास है? अपना प्रदेश भी तो स्वजन ही है? जबतक तुम सम्पूर्णता से सत्त्व में स्थित होकर उसी का व्यवहार नहीं ले लेते तबतक साधना में यह सब उत्पात तो होता ही रहेगा।

महाराज की अनुभूति है कि यदि साधक सम्पूर्ण ब्रह्मजिज्ञासु है और उसके पास सम्पूर्ण सत् व्यवहार है तो छः–सात माह में एक बैठकी (आसन बदल–बदलकर) में सुबह ध्यान–चिन्तन में बिना खाये–पीये बैठेगा और शाम को उठेगा। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो वह अपने असत् व्यवहार की खोज करे। वह कहीं न कहीं अवश्य ही असत् वादी है, असत् द्रष्टा है, असत् श्रोता है, असत् मन्ता है, असत् ज्ञाता है। असत् द्रष्टा आप तब कहे जाते हैं जब अपने सत्त्व में प्रतिष्ठित आप्तकाम सद्गुरु को साक्षात् सगुण ब्रह्म के रूप में नहीं देखते और जबतक सद्गुरु से बड़ी आपको साधना दिखाई पड़ेगी अर्थात् सद्गुरु की कृपारूप शक्ति से आपको अपनी साधना की शक्ति विशेष दिखाई पड़ेगी, तबतक आपमें सम्पूर्णता से न सद्व्यवहार और न सद्विचार ही प्रकट हो सकते हैं।

(नासतो विद्यते भावो.....) भगवान बुद्ध का सम्पूर्ण असत् शून्यवादरूप सिद्धान्त असुरों के पास पलायन कर गया। भारत में कुछ दिन फला–फूला इसलिए कि तत्कालीन राजाओं के विलासी (विषयी) हो जाने से प्रजा भी विलासी हो गयी थी, सर्वत्र अराजकता फैल गयी थी। शून्यवाद के प्रचार–प्रसार के कारण विलासवाद, भोगवाद की प्रवृत्ति होने से चेतनवाद, पूर्णवाद लुप्तप्राय हो गया था। पाखंडियों का बोलबाला हो गया था। वेद–पुराण शास्त्रों के तथाकथित विद्वान एकमात्र वाग्विलासी हो गये थे, उनकी विषयता में और आम अशिक्षित की, मूर्ख की विषयता में कोई अन्तर नहीं रह गया था। अतः उस समय शून्यवाद ने घर–वन के कोने–कोने में अपना डेरा डाल लिया था लेकिन जब आद्यगुरु शंकराचार्य ने पूर्ण चेतनवाद, पूर्णवाद की स्थापना कर सर्वत्र झंडा फहरा दिया तो भारत में शून्यवाद अपने–आप शून्य हो गया, वह अस्तित्त्वहीन हो गया और शून्यवाद के साथ–साथ जिनवाद, परिणामवाद, भोगवाद तथा और भी सारे वाद भाग खड़े हुए। आज पुनः वाग्विलासवाद, पाखण्डवाद तथा विषयविलासवाद सर्वत्र फैल गया है। देखना है कि भगवान कब आकर भगवानवाद, वैराग्यवाद, त्यागवाद, तपवाद, अष्टांगयोगवाद, ध्यानयोगवाद आदि की स्थापना करते हैं।

(नासतो विद्यते भावो.....) सत् की सत्ता होने पर असत् का अभाव ही अभाव है। जैसे

प्रकाश आया अन्धकार गया; क्योंकि अन्धकार की कोई सत्ता है ही नहीं। जिसके उद्‌गम तथा पर्यवसान की जगह है ही नहीं, उसकी कैसी सत्ता? अतः—

वैराग्य आया तो राग गया, अकामता आयी तो सकामता गयी।।
निर्लोभता आयी तो लोभ गया, बोध आया तो क्रोध गया।।
प्रेम आया तो द्वेष गया, तन का मोह गया तो भय भागा।।
सुचिन्तन आया तो कुचिन्तन गया, दिन आया तो रात गयी।।
जवानी आयी तो बचपन गया, बुढ़ापा आयी जवानी गयी।।
मृत्यु आयी बुढ़ापा गयी, जन्म आया तो मृत्यु गयी।।
भोजन खाया तो भूख गयी, जाग्रत् आया स्वप्न गया।।
स्वप्न आया तो सुषुप्ति गयी, सुषुप्ति आयी स्वप्न गया।।
तुरीया आयी तीनों अवस्थायें गयीं, ज्ञान आया अज्ञान गया।।
प्रभु प्रेम हुआ जीव मोह भागा, पुण्य आया तो पाप गया।।
सद्‌गुरु मिला ये दोनों गये, हाँ हाँ सद्‌गुरु मिला ये दोनों गये।।
सत्कर्म हुआ दुष्कर्म गया, विकर्म आया ये दोनों गये।।
अहिंसा आयी हिंसा गयी, सत्य आया तो असत्य गया।।
अचोरी आयी तो चोरी गयी, ब्रह्मचर्य आया तो मैथुन गया।।
अपरिग्रह आया परिग्रह गया, नियम आया तो प्रमाद गया।।
जप तप योग आया भोग गया, ब्रह्मभाव आया जीवभाव गया।।
ब्रह्मज्ञान हुआ अल्पज्ञान गया, ब्रह्मज्ञान हुआ तो अल्पज्ञान गया।।
ब्रह्मज्ञान हुआ तो सब भाग गया, सब भाग गया, सब भाग गया.....।।

महाराज, सत्—असत् को भलीभाँति समझने के लिए सत्पुरुष और असत्पुरुष इन दो पुरुषों का रूपक देता है, जिससे पता चलेगा कि असत् पुरुष की सत्ता क्यों है तथा सत्पुरुष के प्रकट होते ही वह सत्ताहीन कैसे हो जाता है।

मैं शरीर हूँ	यह भाव ही अज्ञानमय पुरुष है।
ये मेरी माँ है, ये मेरे पिता हैं	यह भाव ही इसकी दो आँखें हैं।
यह मेरी बहन है, यह मेरा भाई है	यह भाव ही इसके दो कान हैं।
ये मेरी जाति है, यह मेरा गाँव है	यह भाव ही इसके दो नासाछिद्र हैं।
ये मेरे हित—मित्र हैं, ये मेरे भाई—बान्धव हैं	यह भाव ही इसकी दो भुजाएँ हैं।
यह मेरा धन है, यह मेरा परिवार है	यह भाव ही इसके दो पैर हैं।
यह मेरी धर्मपत्नी है	यह भाव ही इसका शिश्न है।

यह मेरा कुलधर्म है	यह भाव ही इसकी गुदा है।
परिवारमत, लोकमत	इसकी वाणी है।
सदा–सर्वदा बकवास करना	इसका भोजन है।
दिन भर परनिंदा करना	इसकी बड़ी जिह्वा है।
कुचिंतन ही	इसका मन है।
अज्ञानी गुरु ही	उसकी बुद्धि है।
मैं धनवान, कुटुम्बवान, अतिप्रतिष्ठावान हूँ	यह भाव ही उसका अहंकार है।

अब सत् पुरुष को प्रकट किया जाता है–

अंह ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म ही हूँ)	यह अनुभूति ही ज्ञानमय पुरुष है।
ज्ञान और वैराग्य	उसकी दो आँखें हैं।
साधक एवं संत	उसके दो कान हैं।
वेद, शास्त्र तथा पुराणादि	उसके दो नासाछिद्र हैं।
व्रत और तप	उसकी दो भुजायें हैं।
प्रभुनाम जप	उसकी वाणी है।
प्रभु चर्चा	उसकी जिह्वा है।
यम–नियम	उसके दो पाँव हैं।
सम्पूर्ण मातायें, बहनें, बेटियाँ भगवती हैं	यह भाव ही उसका दिव्य शिश्न है।
वसुधैव कुटुम्बकम्	यह भाव ही उसकी दिव्य गुदा है।
त्याग (प्रवृत्ति का)	उसका दिव्य प्राण है।
ब्रह्मचिन्तन	उसका दिव्य मन है।
सद्गुरु	उसकी दिव्य बुद्धि है।
मैं सद्गुरु का दास हूँ	यह दिव्य भाव ही उसका अहंकार है।

इसप्रकार तीनों कालों में सत्पुरुष (ज्ञानमय पुरुष) के प्रकट होते ही असत् पुरुष (अज्ञानमय पुरुष) अपने कारण में विलीन हो जाता है।

(नासतो विद्यते भावो.....) अब पुनः इस मंत्र के स्थूल अर्थ पर विचार किया जाता है। किसी भी मंत्र के निर्गुण और सगुण दो रूप होते हैं। अतः उपरोक्त रूपक निर्गुणोपासक साधकों के

लिए है, अब युद्ध के मैदान की तरफ देखते हुए तत्कालीन सगुण रूपक दिया जा रहा है।

हे पार्थ! ये सारे विपक्षी असत् हैं, अतः इनकी चिन्ता मत करो। पितामह (भीष्म) की प्रतिज्ञा, जीव (पिता) की प्रसन्नता के कारण है, अतः असत् है। उनका ब्रह्मचर्य पिता की प्रसन्नता के लिए है, अतः तुम्हारे ब्रह्मचर्य के सामने असत् है। द्रोणाचार्य जीव की प्रसन्नता के लिए क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्ध करने आये हुए हैं, अतः तुम्हारे धर्मयुद्ध के सामने उनका युद्ध सम्पूर्ण असत् है। कर्ण का ब्रह्मास्त्र और दान, दुर्योधन जैसे पापात्मा की प्रसन्नता के लिए है; अतः तुम्हारे ब्रह्मास्त्र एवं दान के सामने सम्पूर्ण असत् है; क्योंकि तुम्हारा ब्रह्मास्त्र तथा दान, ब्रह्म (धर्म) की प्रसन्नता के लिए है। इसप्रकार यहाँ असत् पुरुषों का समूह ही दिखाई पड़ रहा है। दुर्योधन ने तो स्वयं अपने असत् स्वरूप का बखान (वर्णन) कर ही दिया है–

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।। अ० १/८।।

मैं सर्वशक्तिमान सर्वगुणसम्पन्न, सबका स्वामी (राजा) हूँ।	यह क्षुद्रभाव ही दुर्योधन नामक असत् पुरुष है।
लोभ	उसका (दुर्योधन का) अहंकार है।
कृपाचार्य	उसकी बुद्धि हैं।
शकुनि	उसका बायाँ कान है, दायाँ कान बहरा है।
विकर्ण और भूरिश्रवा	दोनों नासाछिद्र हैं।
कर्ण और अश्वत्थामा	दो भुजायें हैं, जिसमें एक भुजा (कर्ण) शापित है।
भीष्म और द्रोण	दो पाँव हैं; दोनों पाँवों में रोग है। एक ने प्रतिज्ञा की है कि पाँचों पाण्डवों को मारूँगा नहीं और दूसरे ने कहा है कि पुत्र के मरते ही युद्ध से विमुख हो जाऊँगा। इसप्रकार वह लंगड़ाता हुआ चल रहा है।

इसप्रकार यह (दुर्योधन) अपने पिता धृतराष्ट्र जैसा ही दोनों आँखों से अन्धा है और लूला, बहरा तथा लंगड़ा भी है। मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! जब अन्धों की तरह बिना देखे ही यह इधर–उधर नाचता हुआ गदा चलायेगा, तब भीम इसे नचा–नचाकर बड़ी मार मारेंगे। तब सभी ऋषि, महर्षि, देवता, साधक, धर्मात्मा, भक्त आदि आनन्दित होते हुए उस दृश्य को देखेंगे।

अब आयें देखते हैं कि इसी मूर्ख दुर्योधन ने ही महात्मा युधिष्ठिर के स्वरूप का भी वर्णन किया है–

मैं भगवान वासुदेव का भक्त हूँ।	यह दिव्य भाव ही युधिष्ठिर नामक एक दिव्य सत्पुरुष है।
भगवान वासुदेव	इनकी (महात्मा युधिष्ठिर की) आत्मा हैं।
महात्मा विदुर	इनकी बुद्धि हैं।
प्रजा	इनका मन है।
माँ कुन्ती और कुलगुरु	इनकी आँखें हैं।
सन्त एवं ऋषि–महर्षि	इनके कान हैं।
युयुधान तथा विराट	इनके दोनों नासाछिद्र हैं।
राजा द्रुपद	इनके मुख हैं।
भगवती द्रौपदी	इनकी जिह्वा हैं।
अर्जुन, भीम, धृष्टद्युम्न तथा शिखण्डी	इनकी चार दिव्य भुजायें हैं।
नकुल एवं सहदेव	इनके पाँव हैं।
धर्म	इनका शिश्न है।
अधर्म का त्याग	इनकी गुदा है।
द्रौपदी के पाँचों पुत्र	इनके प्राण हैं।
सात्यकि	इनका कवच है।
पुरुजित, कुन्तीभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु तथा विक्रान्त आदि	इनके अन्यान्य अंग हैं।

इसप्रकार उस असत् पुरुष दुर्योधन एवं उसकी शक्ति सामर्थ्य की सत्ता का महत्त्व सम्पूर्ण अंगों से सम्पन्न इस सत्पुरुष महात्मा युधिष्ठिर के सम्मुख कुछ है ही नहीं।

(नासतो विद्यते भावो.....) अब महाराज आपलोगों के मन को बहलाने के लिए भगवान की मधुर झाँकी दिखाकर शोक–सन्ताप मिटाने के लिए युद्धभूमि में ही रखता है। देखें कि भगवान इन मंत्रों से अर्जुन के सामने किन–किन के असत् को उजागर कर रहे हैं।

इस दिव्य ज्ञान के द्रष्टा एवं श्रोता, ऋषि–महर्षियों के साथ संजय भी हैं। वे ब्रह्मविद्या को सुनने में इतने तल्लीन एवं लवलीन हो जाते हैं कि उनकी चुप्पी महाराज धृतराष्ट्र को खलने लगती है। अतः वे संजय से झुंझलाकर कह रहे हैं कि संजय तुम ये मत भूलो कि महर्षि व्यास ने तुम्हें यह दिव्य दृष्टि तुम्हारे लिए नहीं, मेरे लिए दी है।

संजय ने कहा– हाँ राजन्! किन्तु भगवान मधुसूदन आत्मज्ञान को विराम दें, तब तो आप की तरफ आऊँ! यदि आपको बताने में एक वाक्य भी चूक गया तो सब चूक जायेगा!

अच्छा! अब कुछ विराम मिला हो तो बताओ कि अबतक द्वारिकाधीश ने अर्जुन को हस्तिनापुरी से हटाकर किस पुरी में भेजा है? धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– वह ब्रह्मपुरी है राजन्! जैसे माँ बेटे को दुलार–पुचकार करती हुई, अपने अभीष्ट मनोरथ को पूरा करा लेती है, वही स्थिति इस समय भगवान की है। उन्होंने अर्जुन को बड़े प्यार से, दिव्य वात्सल्यमय हृदय से, आदर एवं मान के द्वारा भी उत्साहित करते हुए, स्पष्टरूप से घोषणा कर दी है कि तुम अधीर मत होओ, तुम धीर पुरुष हो। तुम सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान को सहन करते हुए ही मेरे पास तक पहुँचे हो। अब तुम्हें मेरी बात पर विश्वास कर लेना चाहिए कि तुम्हीं निर्विकार, शुद्ध, चेतन एवं साक्षी आत्मा हो। आत्मरूप होने के कारण से त्रिकाल में कभी तुम्हारा अभाव नहीं रहा। इस शरीर का जो कुछकाल के लिए भाव दिखाई पड़ रहा है; वह, तुझ आत्मा के कारण से है।

हे राजन्! भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि ये कौरव तथा इनके गुरुजन सम्पूर्ण असत् हैं। इनमें किसीप्रकार का कोई पौरुष है ही नहीं, शिखण्डी कम से कम हिजड़े तो हैं! हिजड़ा भी युद्ध कर लेगा लेकिन ये तो हिजड़े भी नहीं हैं।

ठहरो संजय! ठहरो!! अब विशेष अपमानित मत करो। यह युद्धभूमि है, बड़े–बूढ़ों को गाली देने की भूमि नहीं है। पहले मुझे विचार कर लेने दो कि यहाँ अब मेरा क्या कर्तव्य बनता है।

संजय ने कहा– अब किस कर्तव्य की बात कर रहे हैं राजन्! क्या भगवान मधुसूदन को ऐसा कहने से मना कर लेंगे? आप पहचानते नहीं हैं– जिन्होंने दूत के वेश में आकर भरी सभा में आपके ही सामने दुर्योधन, कर्ण एवं शकुनि को खरी–खोटी सुनायी थी? आज वही हस्तिनापुरनरेश बोल रहा है या आप कोई दूसरे नरेश हैं? यदि आपको आत्मज्ञान सुनना है राजन्! तो आत्मज्ञान की भूमिका भी सुननी ही होगी।

अच्छा तो चलो! अब वे आगे क्या कह रहे हैं, बताओ! धृतराष्ट्र ने कहा। वैसे तुम ठीक कह रहे हो; आज इस मूर्ख दुर्योधन के कारण से ही इन सभी महापुरुषों के प्रति भी मुझे बहुत कुछ सुनना पड़ रहा है। संजय! मुझे मोह होने पर गान्धारी कहती थी कि ये द्वारिकाधीश साक्षात् नारायण हैं। दुर्योधन को आप समझायें अन्यथा इसे छोड़कर वन को चलें। इस मूर्ख दुर्योधन को मैंने बहुत समझाया लेकिन लगता है कि यह मेरे पुत्र के रूप में कोई राक्षस ही आ गया है। अब मुझे समझ में आ रहा है कि आज भी मैं असत् हूँ और पहले भी असत् था। इसी कारण

आज भी मोह मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है अन्यथा यह तो स्पष्ट ही हो गया कि ये सारे शरीर मायामय होने से असत् हैं। इनकी जो कुछ भी सत्ता दिखाई पड़ रही है, वह एकमात्र आत्मसत्ता के कारण से ही है। अच्छा! तो चलो, प्रभु अब आगे क्या कह रहे हैं, ध्यान से सुनो।

ॐ मासपारायण, तीसरा विश्राम ॐ

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपरो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

हे भारत! जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, उस अविनाशी का विनाश करने में कौन समर्थ है। इस न्याय से इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिए इन सब शरीरों के प्रति तुम कुछ विशेष विचार मत करो, अतः युद्ध करो।

साधक अपनी आध्यात्मिक रणभूमि में लौट आवें, जिससे पुनः सत् एवं सत्त्व की प्रतिष्ठा हो जाय। इन मंत्रों के द्वारा भगवान का यही प्रयास है कि आपके बहुत से उठनेवाले प्रश्नों का समाधान होता जाय। पूर्व के मंत्र से यह स्पष्ट हो गया कि सत् का अभाव नहीं है और असत् का भाव ही नहीं है, लेकिन कभी–कभी देखा जाता है कि साधना में साधक रत तो हैं फिर भी मोहवृत्ति आकर ऐसा आक्रमण करती है कि वे चारों खाने चित होकर गिर जाते हैं। प्रभु ने उपरोक्त मंत्र से सत् की सत्ता की स्थापना की थी, अब सत् की आत्मा सत्त्व की पुनः स्थापना कर रहे हैं, जिसका सत् एक आवरण है। सत्त्व (निर्गुण–निराकार आत्मा 'अहम्') की आत्मा सत् और सत् की आत्मा महापुरुष (आत्मज्ञानी) होते हैं, वहीं असत् की आत्मा दुरात्मा होते हैं। इस न्याय से जो सत् की आत्मा सत्त्व है, वही अविनाशी तत्त्व है; जो सर्वत्र व्याप्त है। सर्वत्र का तात्पर्य सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, बायें–दायें, अगल–बगल है, यानी ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह नहीं है और यह एक अद्भुत पहेली है कि उसी के होने से सम्पूर्ण जगत एवं जगत के प्राणिपदार्थों का, सम्पूर्ण मनुष्यवर्ग तथा जिन्हें स्वजन कहते हैं उनके भी शरीर का होना सिद्ध हो रहा है। वह सत्त्व (चेतन आत्मा), शरीर की आत्मा है; शरीर में स्थित त्वचा, रक्त, मांस, वीर्य, हड्डी, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त आदि सभी आवरणों की आत्मा है। वही माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चों तथा अन्यान्य स्वजनों की भी आत्मा है, जिसका इन सभी के शरीरों का नाश होने पर नाश होता ही नहीं। एक और भी पहेली है– भले ही लोग कहते हों कि यह मेरा शरीर है, यह तुम्हारा शरीर है; यह मेरा पशु है, यह तुम्हारा पशु है; यह मेरा मित्र है, यह तुम्हारा मित्र है; यह मेरी सम्पत्ति है, यह तुम्हारी सम्पत्ति है; लेकिन भगवान कहते हैं कि सभी शरीर इस अविनाशी आत्मा के हैं, इस न्याय से सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य भी आत्मा की ही है।

भगवान मानो कह रहे हैं कि यदि आपका आत्मज्ञानी गुरु ऐसा ही कह रहा है तो उसी

की बात का अनुमोदन करना, स्वजनों की बात का नहीं। इतना ही नहीं बल्कि इस न्याय से तो कोई भी शरीर आपका स्वजन नहीं हो सकता।

(येन सर्वमिदं ततम्.....) इस मंत्र में 'येन' पद बड़ा महत्त्व का है। 'येन' का तात्पर्य है– जिससे, जिसके द्वारा। यह 'येन' पद अति निकट होने का संकेत करता है अतः अति निकट तो चेतन आत्मा ही है। जो साधक अपने को आत्मरूप मान लेते हैं, उन्हीं के लिए यह 'येन' पद आया है। आत्मरूप होने से वे ही तीनों कालों में अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में चेतन द्रष्टा बने रहते हैं। उस चेतन का तीनों कालों में भी लोप नहीं होता, उसका नाश नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूप वासना का आधार होने से सम्पूर्ण वासनाओं की भी वे आत्मा माने एवं जाने जाते हैं। इसीलिए भगवान कहते हैं–

'अन्तवन्त इमे देहा'– शरीर मर जाते हैं, सड़–गल जाते हैं, रूपान्तरित हो जाते हैं तथा उनमें रहनेवाली वासना भी अपने स्वरूप में स्थित हो जाने पर रूपान्तरित हो जाती है अर्थात् वही ब्रह्मवासना बनकर कालान्तर में ब्रह्म ही हो जाती है।

इस मंत्र में 'इमे देहा' पहला पद है 'नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' दूसरा पद है तथा 'तस्माद्युध्यस्व भारत' यह तीसरा पद है– इस न्याय से एक और भी अर्थ का आप सब अवलोकन करें– शरीर तो शरीर है ही तथा जो शरीर को अपना मानती है, वह वासना ही शरीरी है। शरीर के लिए तो वह मानो नित्य सी है, अप्रमेय सी है, नाशरहित सी है और जो सचमुच में नित्य, अप्रमेय एवं नाशरहित आत्मा है, वही वर्तमान में शरीर के नाते किसी भी नाम से पुकारा जाता है। जब सद्गुरु कहता है कि आप नित्य हैं, सनातन एवं पुरातन हैं, तो अपने को उस समय जीवात्मा न मान लेना बल्कि यह समझ लेना कि गुरुदेव मुझे सम शान्त, निर्विकार आत्मा के रूप में ही देखकर बोल रहे हैं। प्रभु ने यहाँ सांख्यमत का आश्रय लिया है, जिससे उन्होंने आपको तो शुद्ध साक्षी आत्मा बना दिया है तथा प्रकृति को रूपान्तरित होनेवाली वासना सिद्ध कर दिया है– भगवान ने बड़ी पैनी दृष्टि से अभी से ज्ञानयोग के द्वारा राजयोग की भूमिका बनानी प्रारम्भ कर दी है।

सारे शरीरों के साथ स्वजनों के शरीर भी उनके बिना चाहे ही मर जायेंगे तो फिर उनके भी वे शरीर कहाँ हुए? जब अनचाहे में ही शरीर जा रहा है तो शरीरी (जीवात्मा, वासनात्मक शरीर अर्थात् पुरुष) की सत्ता–सामर्थ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है, इसीलिए प्रभु ने तीसरे पुरुष शुद्ध, साक्षी, चेतन आत्मा को अलग करके रखा है।

'तो आप क्या बता सकते हैं कि भगवान युद्ध करने को किसे कह रहे हैं?' क्यों नहीं? सुनें आप! शरीर तो जड़ है, उसे कहेंगे नहीं; जीवात्मा (वासना) मनोमय होने से मनमाना करना चाहता है, उसने तो अर्जुन को युद्धभूमि से भगाने का भरसक प्रयास किया है, अतः उसे भी नहीं कहेंगे। अब बचा शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा, जो सद्गुरु के संकल्प से अपनी सृजन, संहार एवं पालनरूप संकल्पशक्ति को स्मरण करता है और जिस स्थूल शरीर को वासनात्मक पुरुष

(जीवात्मा) ने अपने विषयभोग का साधनमात्र बना लिया है, उसी शरीर से, उसी वाणी से, उन्हीं इन्द्रियों से, उसी मन से, उसी बुद्धि से सद्गुरु की आज्ञापालनरूप व्यवहार करता है अतः उसी से युद्ध करने को कह रहे हैं। 'ये आप क्या कह रहे हैं, क्या निर्विकार, निराकार, निर्गुण आत्मा से ही भगवान युद्ध करने को कह रहे हैं?' हाँ, हाँ, क्यों नहीं? 'तो फिर आप उसे शुद्ध, साक्षी, चेतन निर्गुण–निर्विकार क्यों कह रहे हैं?' तो क्या इसका तात्पर्य आप यह समझ रहे हैं कि उसके पास हृदय नहीं है? यदि ऐसा होता तो उसे चेतन क्यों कहा जाता? निश्चितरूप से वह आसुरी एवं दैवी पुरुषों में सम शान्त, शुद्ध–साक्षी, निर्गुण–निराकार ही बना रहता है; लेकिन ब्रह्मजिज्ञासुओं के पास वह रूपवाला, कर्म करनेवाला, गुणवाला भी हो जाता है। प्रह्लाद के पास वही तो आया नरसिंहरूप लेकर, मत्स्यावतार लेकर शुद्ध–साक्षी चेतन आत्मा ही तो आया, वराहरूप में वही तो आया। इतना ही नहीं बल्कि वही सारे शरीरों का, मन का, बुद्धि का द्रष्टा बना हुआ है, तो सद्गुरु उसे संकल्पवत् कर्ता क्यों नहीं बना देगा? वही तो एक ऐसा महापुरुष है जो स्थूलशरीर को, सूक्ष्मशरीर को, कारणशरीर को, महाकारण, हंस आदि शरीरों को अपने अनुसार चलने के लिए बाध्य कर देता है। 'इससे तो आपने यह सिद्ध किया कि स्थूलशरीर पर जीवात्मा (प्रारब्धमय शरीर, वासनामय शरीर) का शासन और जीवात्मा पर उस शुद्ध–साक्षी चेतन आत्मा का शासन है?' हाँ! यह सर्वथा सत्य है, पर वह शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा भी सद्गुरुरूप परमात्मा के अनुसार व्यवहार करे तब। ऐसा अपने स्वरूप को समझकर व्यवहार करेगा तो वह किसी भी कर्म से लिपायमान नहीं हो सकता। यही नहीं बल्कि आप्तकाम पुरुष किसी भी निष्कामी पुरुष के शरीर के द्वारा अपना काम करा सकता है, वह निष्कामियों में चाहे जब जिसका चुनाव कर ले, जैसा कि भगवान ने अर्जुन नामक शरीर का चुनाव अपने युद्ध का निमित्त बनाने के लिए किया है।

(अविनाशि तु तद्विद्धि.....) साधक इस मंत्र से निर्गुण–निराकार अर्थ भी लें– अविनाशी तत्त्व तो उसे जानना चाहिए, जो शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण, प्रकृति तथा प्रारब्ध; इन सब में व्याप्त है और व्याप्त ही नहीं है बल्कि वह चाहे तो इन सब पर शासन कर सकता है। सर्वकाल में रहनेवाला वह साक्षी चेतन आत्मा सबको मार सकता है, लेकिन उसे कोई भी नहीं मार सकता; क्योंकि वह मरणधर्मा है ही नहीं। इस न्याय से भी साधकों को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। साधकों से इस मंत्र का संदेशरूप उपदेश यह है कि आप वही निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं जो त्रिकाल में साक्षी है, सत् है और अक्षर है। प० पू० मस्तराम बाबा ने लिखा है–

स्वप्नान् पश्यति सुप्तो वै सुप्तेर्जागर्ति भावितः।
सुप्तिमात्रं जगद्ध्येतद् आत्मा साक्षी सदक्षरः।।
(आत्मचिन्तनम्)

मानो आत्मा जाग रहा है, सो रहा है और स्वप्न देख रहा है; जबकि सम्पूर्ण दृश्यवर्ग तो वासना के अभावकाल में सुषुप्तिरूप ही है। अतः यह कहना कि आत्मा सोता है, जागता है,

स्वप्न देखता है, भारी मूर्खता है; जबकि वह तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों का द्रष्टा होने के कारण साक्षी कहा जाता है। सत्य एवं असत्य की आत्मा होने के कारण से वह सत् (सत्व) कहा जाता है तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंसहित यह शरीर उसी आत्मा में क्षर रहा है अर्थात् विनाश को प्राप्त हो रहा है; इसलिए वह अक्षर कहा जाता है। गोस्वामीजी ने लिखा है–

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

शब्द अर्थ के साथ प्रकट होता है किन्तु वह अर्थ पुनः शब्दरूप ही हो जाता है, जैसे लहर जल के साथ प्रकट होती है और पुनः जलरूप ही हो जाती है। लहर का सदा क्षय हो रहा है, वह सदा क्षर रही है; किन्तु जल कभी क्षरा ही नहीं। विचारहीन पुरुषों की दृष्टि में वह लहर है, किन्तु बुद्धिमानों की दृष्टि में तो वह मात्र जल ही है। ठीक उसीप्रकार स्वजनोंसहित जितने भी धरती पर मानव हैं, उनके शरीरों के नाम हैं; किन्तु ये नाम व्यवहार में संकेत के लिए ही हैं। सच पूछें तो इन आकृतियों का एक ही नाम है, वह है– 'शरीर', जैसे सम्पूर्ण लहरों का एक ही नाम है– लहर। 'शरीर' शब्द भी संकेत के लिए ही है। यथार्थ में इन आकृतियों का नाम 'शरीर' नहीं है। तो क्या है? स्वप्न से जागने के उपरान्त सम्पूर्ण आकृतियों के प्रति एक ही वाक्य प्रयोग किया जाता है कि वह स्वप्न था, वह माया थी अर्थात् वह कुछ भी नहीं था, भ्रम था। स्वप्न का अविनाशी तत्त्व द्रष्टा जब जाग्रदवस्था को प्राप्त हो गया तो उस साक्षी चेतन का नाश तो हुआ नहीं और स्वप्न, जाग्रत् में रहा नहीं। ठीक इसीप्रकार सम्पूर्ण जगत के लोगों में अथवा साधकों के स्वजनों में एक ही साक्षी चेतन आत्मा है। उसका नाश होगा नहीं और ये आकृतियाँ रहेंगी नहीं। अतः यह मत भूलें कि वह साक्षी सत् एवं अक्षर अविनाशी तत्त्व आप ही हैं।

ज्ञानयोगी साधकों का परम कर्तव्य है कि उपरोक्त चिन्तन को ही अपनी साधना का सम्पूर्ण अंग बनायें। योग जप, तप, व्रत; ये सारे के सारे साधन सदा से क्षर रहे हैं, किन्तु ब्रह्मचिन्तन, आत्मचिन्तन अविनाशी तत्त्व है, वह न कभी क्षर रहा है और न ही कभी क्षरेगा। "आत्मा की आत्मा है, 'आत्मचिन्तन'।" वह आत्मा से अलग वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे अग्नि की आत्मा है– उष्णता, वह अग्नि से पृथक् नहीं हो सकती, जल की आत्मा है– रस, वह जल से अलग नहीं हो सकता तथा जीव की आत्मा है कुचिन्तन, वह उसके बिना नहीं रह सकता। 'जीव' शब्द का अर्थ ही है, जीने–मरनेवाला। इसी से अज्ञानमय भाषा में कहा जाता है कि जीव मरनेवाला है। अतः उसका कुचिन्तन भी क्षरता रहता है। ज्ञानयोगी अहर्निश आत्मचिन्तन में रहे, वह सन्ध्या पर ध्यान न दे, जप, तप, योगादि पर ध्यान न दे। बस, त्यागरूपी भूमि में प्रवेश कर जाये अर्थात् निवृत्ति मार्ग को स्वीकार कर ले और आत्मचिन्तन में ही श्वास ले, आत्मचिन्तन में ही जागे–सोये, आत्मचिन्तन में ही खाये–पीये तथा आत्मचिन्तन में ही बोले–चाले अर्थात् व्यवहार करे। बस, उस महात्मा का जीवन धन्य हो जायेगा एवं दूसरे को भी धन्य करनेवाला होगा।

(अविनाशि तु तद्विद्धि.....) अब इस मंत्र के द्वारा पुनः युद्ध की तरफ चलते हैं, जहाँ सगुण ब्रह्म भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द अर्जुन से कुछ विशेष कह रहे हैं। वे कह रहे हैं– हे पार्थ! अविनाशी तो तुम उसे जानो, जिससे ये सारे लोग व्याप्त हैं अर्थात् सारे लोग अस्तित्ववान हैं। उस अविनाशी को तो कोई मार ही नहीं सकता तथा जो उस अविनाशी में व्याप्त हैं अर्थात् उसके शरणागत हैं, उन्हे भी कोई नहीं मार सकता। हे पार्थ! इस युद्ध के मैदान में मैं ही वह अविनाशी तत्त्व हूँ। इस समय अठारह अक्षौहिणी सेना के प्रत्येक सदस्य के मन में मैं ही व्याप्त हूँ। मैं युद्ध कर भी रहा हूँ, युद्ध करा भी रहा हूँ, किन्तु इनमें से कोई भी ऐसा कहने का साहस नहीं करेगा; क्योंकि कोई भी इस रहस्य को नहीं समझ रहा है। इसी नासमझी के कारण तो दुर्योधन ने मेरी नारायणी सेना माँग ली! उसने सोचा कि यदि ये युद्ध करेंगे ही नहीं तो किस काम के हैं? मंत्रणा करने के लिए तो मेरे पास शकुनि मामा जैसा बुद्धिमान पुरुष हैं ही और युद्ध के मैदान में बाँसुरी की तान सुनाने की आवश्यकता है नहीं, वहाँ तो मारूराग गानेवाले ढोल, नगारे, शहनाई आदि वाद्य होंगे, गाय चराने की कुशलता इनमें है तो ग्वाले मेरे पास हैं ही, फिर इनकी क्या आवश्यकता है? किन्तु तुमने मेरी आवश्यकता समझी, तुमने पग–पग पर मुझसे मन्त्रणा की, मेरे से विचार विमर्श करने की आवश्यकता समझी। (भगवान हँसते हुए भक्त अर्जुन के कन्धे को झकझोर कर कह रहे हैं) जानते हो पार्थ! मैंने उसी समय जान लिया था कि इस समय तुम्हीं परम बुद्धिमान हो, जिस दिन तुमने मुझे माँगा उसी दिन से तुम मुझमें व्याप्त हो गये और मैं उसी समय तुममें व्याप्त हो गया।

युद्ध के मैदान में जितना निकट अपना सारथि रहता है, उतना तो कोई भी नहीं रहता। महात्मा अर्जुन ने सोचा था कि युद्ध के मैदान में मैं महाराज युधिष्ठिर से कभी परामर्श नहीं कर सकता; क्योंकि पता नहीं कब वे मुझे दाव पर लगा बैठें तथा एक और भी सफलता मिलेगी कि इनके साथ हमेशा रहने से महाराज युधिष्ठिर मुझे परामर्श दे भी नहीं सकते; क्योंकि वे भी इनको अपना इष्ट ही मानते हैं। उन्होंने सोचा– ये तो कह रहे हैं कि अविनाशी आत्मा को कोई मार ही नहीं सकता। लगता है, ये अपने को ही वह अविनाशी तत्त्व सिद्ध कर रहे हैं लेकिन वह ब्रह्म तो निर्गुण–निराकार है! सुना तो है मैंने कि वह अवतार भी लेता है, कहीं वह अवतार ये ही तो नहीं हैं जो जगत में कृष्ण नाम से विख्यात हैं!

अर्जुन के मन में भय भी व्याप्त है कि कहीं इन्होंने अपने को निर्गुण–निराकार ब्रह्म का अवतार ही कह दिया तो युद्ध करना पड़ जायेगा। दूसरी बात कि भले ही अपने को ये सगुण ब्रह्म सिद्ध करें लेकिन हैं तो शरीररूप में ही, जो इस समय मेरे सारथि बने हुए हैं। युद्ध में असुरों ने कभी–कभार विपक्ष के सारथि को भी मार डाला है। कहीं इन्हीं पर कर्ण न प्रहार कर दे, तब क्या होगा? इन्होंने तो कह दिया है कि मैं अस्त्र–शस्त्र नहीं उठाऊँगा, इसलिए सुदर्शनचक्र भी तो ये नहीं उठायेंगे, फिर तो बड़ी भारी समस्या खड़ी हो जायेगी।

इसीलिए मानो प्रभु ने कहा– नहीं, नहीं, तुम ऐसा न सोचो, मैं वही साक्षात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ, भले सुदर्शनचक्र न चलाऊँ लेकिन ये सम्पूर्ण अस्त्र–शस्त्र, दिव्यास्त्र भी अपनी आत्मा

मुझ ब्रह्म को पहचानते हैं, वे मेरा वध क्या, मुझे प्रणाम करते हुए लौट जायेंगे। यही नहीं, मुझ अविनाशी ब्रह्म की अध्यक्षता में, मेरी आज्ञा में रहने के कारण तुम्हारा भी ये अस्त्र–शस्त्र एवं दिव्यास्त्र कुछ कर नहीं सकते। यदि तुम मेरी इस बात पर विश्वास नहीं करते हो तो भी कोई बात नहीं है। क्योंकि–

(न त्वेवाहं जातु नासं.....) अभी ही तुमने स्वीकार किया है कि जन्म के पहले तुम इस रूपवाले नहीं थे और मरणोपरान्त भी तुम इस रूपवाले नहीं रहोगे तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में भी तुम एकमात्र साक्षी ही हो। तुझ द्रष्टा की अवस्था बदलती नहीं; किन्तु शरीर की अवस्था बदल जाती है। अतः इतना तो स्वीकार करो कि मरेगा तो शरीर मरेगा, तुम नहीं मरोगे।

इस सिद्धान्त से साधक जब अपने आप्तकाम, ब्रह्मज्ञानी गुरु को अविनाशी, निर्गुण–निराकार का ही परिवर्तितरूप यानी सगुण ब्रह्म का अवतार ही मान एवं जान लेता है तो वह सद्गुरु में व्याप्त हो जाता है और सद्गुरु उसमें व्याप्त हो जाता है। यदि शिष्य को ऐसी अनुभूति हो गयी है तो निश्चय ही साधना काल में काम, क्रोध और लोभादि शत्रु उसे पराजित नहीं कर सकते, प्रारब्ध से वह परास्त नहीं हो सकता। हाँ, घायल होना अलग बात है। वह घायल होगा, गिरेगा, उठेगा किन्तु मैदान छोड़कर भाग नहीं सकता और अन्ततोगत्वा वह सम्पूर्ण अशुभ वृत्तियों का वध कर सफल विजेता हो जायेगा।

(अन्तवन्त इमे देहा.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि यद्यपि तुम्हारे शरीर का भी वध नहीं होगा, लेकिन इस बात को स्वीकार नहीं करते हो तो कोई बात नहीं। तुम्हारे शरीर के साथ–साथ सारे शरीर जो तुम्हारे सामने खड़े हैं, ये सब भी रूपान्तरित होनेवाले हैं, बदलनेवाले हैं, नाश होनेवाले हैं। इसलिए इस विषय में मोहित होने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि ये सभी शरीर 'अविनाशी, अप्रमेयस्वरूप' जीवात्मा के ही तो हैं; जिसे इन शरीरों के मरने–मिटने पर शोक–सन्ताप होगा ही नहीं।

इस मंत्र के द्वारा साधकों को सन्देशरूप उपदेश मिलता है कि आपने अपने अप्रमेयस्वरूप को, अविनाशी एवं नित्यस्वरूप को शरीर मान लिया है; जबकि ऐसी बात नहीं है। आप तो शुद्ध, साक्षी, चेतन आत्मा ही हैं; नित्य, अप्रमेय स्वरूप अविनाशी हैं; अजर–अमर, शाश्वत एवं सनातन हैं। यदि आप शरीर को विनाशी मानें, तब तो अच्छा ही है; अतः इस विनाशी को ही जप, तप, योगादि कराकर इसमें अच्छीप्रकार प्रतिष्ठा कर लें क्योंकि शरीर, शरीर ही है और आप, आप ही हैं अर्थात् आत्मा, आत्मा ही है। आज नहीं तो कल यह शरीर मरेगा ही मरेगा, लेकिन हिजड़ों, कायरों एवं मूर्ख–पागलों जैसा इसे मरने देना नहीं चाहिए। यह शरीर अपनी असत्यता को भलीभाँति जानता है; मन, बुद्धि एवं चित्त भी अपनी असत्यता को अच्छीप्रकार जानते हैं; यही नहीं, माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र भी अपनी असत्यता को भलीप्रकार जानते हैं। अतः वे गृहस्थाश्रम में प्रायश्चित करने के लिए खड़े हैं। यदि वे भी भगवान के शरणागत नहीं होते हैं, तो जानना चाहिए कि उनलोगों ने ऐसा घोर अपराध किया है कि प्रारब्धरूपी बाणों से ही मरेंगे। उन्हें तो आप जैसा ही इस आध्यात्मिक रणभूमि में आ जाना चाहिए लेकिन उनके द्वारा

ऐसा करना तो दूर बल्कि वे सब तो मंत्रणा करते रहते हैं कि 'देखो, इसने अपने धर्म–कर्म का ध्यान नहीं दिया, अपने बूढ़े माता–पिता की तरफ नहीं देखा और भगवान का बहाना बनाकर भाग गया। परिवार के सभी सदस्य मरते हुए जी रहे हैं तथा वह तपस्या कर रहा है, ऐसे में क्या भगवान उसके अपराधों को क्षमा कर देंगे? यह किस शास्त्र में लिखा है कि माता–पिता, बाल–बच्चों को रोते–कलपते छोड़कर संन्यास ले लो, इत्यादि बातें कहते हुए आपके अविनाशीस्वरूप पर भी, त्याग, तप एवं योग पर भी उँगली उठाते हैं। अतः इसप्रकार के साधकों को सोचना चाहिए कि उन स्वजनों का शरीर अन्तवान ही है। यही नहीं, इसी से वह शरीर ही उनपर शासन कर रहा है। शरीर ही उनका स्वामी बना हुआ है, प्रारब्ध ही उनपर शासन कर रहा है तथा उनपर शासन करता हुआ ही अन्त को प्राप्त हो रहा है लेकिन आपका शरीर नाशवान होते हुए भी जबतक वह आपके अविनाशीस्वरूप को नहीं दे देगा, तबतक वह विनाश को प्राप्त नहीं होगा। मैं करता हूँ, 'मैं खाता–पीता, सोता–जागता हूँ, ऐसा कहनेवाले प्रतिपल मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं; क्योंकि खाने–पीने, सोने–जागनेवाला (विषयी) ही मरता है। विषयी पुरुषों को तो कराह–कराह कर ही मरना चाहिए, भले ही वे माता–पिता, बाल–बच्चे ही क्यों न हो; क्योंकि उनके विषयतारूप जीवन से उनके भीतर रहनेवाला भगवान कराहता हुआ ही जीता है। छिः! छिः! धिक्कार है!! ऐसे पापात्मा स्वजनों की याद भगवद्भक्त साधकों को कैसे आ जाती है? वे तो असत्य हैं, उनके कुलदेवता असत्य हैं, उनकी कुलदेवी असत्य है, उनके पितर असत्य हैं, उनकी वाणी, दृष्टि असत्य है, उनका आचार, विचार, व्यवहार असत्य है; फिर उनकी तरफ आप क्यों देखते हैं? उनके कुलदेवता, देवी, पितर कैसे हैं, जिन्होंने उन्हें विषयी बना रखा है! आप भी सोचते हैं कि कहीं मेरा कुलदेवता न रूठ जाय, देवी न रूठ जाय, उनका शाप न लग जाय। परन्तु महाराज कहता है कि आपसे भगवान ही रूठ जाय तब क्या होगा? वही शाप दे दे जो आपके हृदय में बैठा है, तो क्या होगा? उन कुल देवी–देवताओं से आपका भगवान कमजोर है क्या? नहीं, नहीं, आप ऐसा न सोचें। ब्रह्मसाधनारूपी युद्धभूमि में स्वजनों के विषय में विचार नहीं किया जाता। यदि आप स्वजनों की याद करते हैं तो आपका सद्गुरु आपको धिक्कारेगा कि 'मैंने तो अपने घर, गाँव को भी नहीं बताया, जाति–पाँति को भी नहीं बताया, तो क्यों यह अपने घर–गाँव, बाल–बच्चों को याद कर रहा है, मेरे जैसा व्यवहार क्यों नहीं कर रहा है, मुझे अविनाशी तत्त्व कैसे प्राप्त हुआ यह क्यों नहीं देख रहा है? उन स्वजनों को तो कौन नहीं मार रहा है– नींद उन्हें मार रही है, जाग्रदवस्था उन्हें मार रही है, सुषुप्ति उन्हें मार रही है, मन–बुद्धि उन्हें मार रहे हैं, काम, क्रोध, लोभ उन्हें मार रहे हैं; लेकिन वे लोग तो आपके संन्यास धर्म को ही मारना चाहते हैं, आपके त्यागमय जीवन को ही मारना चाहते हैं, आपके जप, तप, योग, ध्यान, ज्ञान, विज्ञान को ही मारना चाहते हैं। आप अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर उन्हें पहचान लें, जिससे कि आपके साथ वे ऐसा करके सफल न हो पायें। उसके लिए आप प्रतिज्ञा करके नियम बद्ध हो जायें, प्रमाद न करें। आप जप, ध्यान में ऐसे लग जायें या अहर्निश आत्मचिन्तन में ऐसे निमग्न हो जायें कि नींद, जाग्रत्, सुषुप्ति आपकी प्रतीक्षा करें, जैसे लगे कि वे आपके सेवक हों, भोजन, वस्त्र आपकी प्रतीक्षा करें कि कब आप हमें स्वीकार करें। साधक

एवं भगवद्भक्त पुरुष आपकी प्रतीक्षा करें कि आप साधना से कब उठें और उन्हें ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की बातें बतायें। ऐसा करके इस अन्तवान शरीर से अपने अनन्तवान एवं नाशरहित स्वरूप में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो जायें, इस अनित्य एवं प्रमेय शरीर से अपने नित्य एवं अप्रमेय स्वरूप आत्मा में भलीप्रकार प्रतिष्ठित हो जायें।

(अन्तवन्त इमे देहा.....) इस मंत्र से ध्यान एवं समाधि में आसक्त रहनेवाले साधकों को सावधान किया गया है। 'इमे देहा' का तात्पर्य है– ये सारे शरीर, अर्थात् स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म, कारण, महाकारण, हंस, परमहंस आदि शरीर भी नाशवान ही हैं। अतः किसी भी दिव्य शरीर द्वारा प्राप्त हुई समाधि के आनन्द में आपको आसक्त नहीं होना चाहिए।

(अन्तवन्त इमे देहा.....) इस मंत्र से दूसरा अर्थ निकलता है कि साधक, सिद्ध इत्यादि, सभी का शरीर नाशवान है। अतः इनसे भी क्या सम्बन्ध करना? यही नहीं, तंत्र, मंत्र भी एक तामस एवं सात्त्विक दिव्य शरीर ही हैं, जिनका रूपान्तरण अवश्यम्भावी है, अतः अपने अचल अविनाशीस्वरूप में ही सदा–सर्वदा स्थित रहें।

इसप्रकार आप ध्यान दें कि आपके जीवनरथ पर आपका सच्चिदानन्दघन अविनाशी तत्त्व सद्गुरु बैठा है। इस रहस्य को भलीभाँति आप जान लें और इतना ही नहीं, आपका जीवनरथ सही दिशा में जाये, इसी के लिए वह अहर्निश आपके लिए जी रहा है। इसप्रकार अपने लिए ही जीनेवाले सद्गुरु का जीवन सार्थक करें। जैसे भरी सभा में दुर्योधन, भगवान को बन्दी बनाना चाहता था, वैसे ही वे आपके स्वजन भी अपने तन, मन, वचन एवं बुद्धि के द्वारा आपकी आत्मा को बन्दी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं; फिर वैसे लोगों की क्या चिन्ता करनी?

अब पुनः युद्ध के मैदान में चलते हैं। वहाँ देखते हैं कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द अपने, सात स्वरोंवाली शरीररूपी मुरली से कौन सी तान छेड़े हुए हैं–

जैसे कोई पुरुष सो रहा है और स्वप्न देख रहा है कि युद्ध में मैं सारथि बना हुआ हूँ। वैसे ही भगवान इस युद्ध को उसी मायावीयुद्ध की भाँति मानो सो कर देख रहे हैं; जो युद्धोपरान्त अपने पाँचों प्राणों (पाण्डवों) के साथ जग जायेंगे।

अथवा

भगवान ध्यान में बैठे हैं; दो प्रकार के शुभाशुभ विचाररूप पक्ष–विपक्ष परस्पर में युद्ध कर रहे हैं। अठारह दिन में सारे के सारे सैनिकरूप विचार मर जायेंगे और भगवान पाँचों प्राणों (पाण्डवों) को समेटकर समाधि लगा लेंगे; क्योंकि ये ही नित्य, अप्रमेयस्वरूप, नाशरहित शरीरवाले कहे जाते हैं।

अथवा

जैसे शरीरी (जीवात्मा) पाँचों विषयों को लेकर एवं शरीर को छोड़कर दूसरे अन्य शरीरों में जाता है, उसीप्रकार भगवान इन पाँचों विषयों (पाण्डवों) को इस सेनारूपी शरीर में से

खींचकर अन्य शरीर की रचनाकर उसमें प्रवेश कर जायेंगे।

अथवा

जैसे ब्रह्मज्ञानी अपने पाँचों प्राणों को संकल्पबल से अपने में लीनकर शरीर छोड़ता हुआ सा दिखाई पड़ता है, उसीप्रकार भगवान श्रीकृष्ण ही इस अठारह अक्षौहिणी सेनारूपी शरीर के पाँचों पाण्डवरूप प्राणों को समेटकर छोड़ देंगे; क्योंकि ये ही नाशरहित, अप्रमेय स्वरूप नित्यात्मा हैं।

'आपने यहाँ पर कहा है कि ब्रह्मज्ञानी शरीर छोड़ता हुआ सा दिखाई पड़ता है, तो क्या वह शरीर नहीं छोड़ता?' हाँ, जो प्राण के लिए शरीर को छोड़ने पकड़ने का भ्रम–सा था, वह समाप्त हो जाता है। अन्य लोगों के शरीर का तो प्राण निकलता है लेकिन उसका प्राण निकलता ही नहीं है, अपितु उसी में विलीन हो जाता है। यद्यपि यह उदाहरण पूर्ण तो नहीं है, तो भी संकेत के लिए दिया जा रहा है– जिसप्रकार घड़ी की बालकमानी उभर जाने से घड़ी की सूइयाँ स्वतः ही रुक जाती हैं, ठीक उसीप्रकार उसका अन्तिम प्रारब्ध ब्रह्मरूप होते ही बाहर की वायु भीतर ही प्रवेश कर जाती है और सम्पूर्ण शरीर वायु से भर जाता है।

(अन्तवन्त इमे देहा.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! मैं विश्वरूप ही सगुण ब्रह्म के रूप में अवतरित हुआ हूँ, इसलिए अविनाशी हूँ। अतः पहले मेरे स्थूल शरीर को भी देखो–

मैं कृष्ण ही विश्वरूप की आत्मा हूँ, वर्तमान में मुझ विश्वरूप का प्रतिनिधि–

धृतराष्ट्र ही	–	अज्ञानमय शरीर है।
दुर्योधन ही	–	अहंकार है।
शकुनि ही	–	बुद्धि है।
कर्ण ही	–	मन है।
अर्जुन ही	–	प्राण हैं।
युधिष्ठिर ही	–	अपान हैं।
भीम ही	–	समान हैं।
सहदेव ही	–	उदान हैं।
नकुल ही	–	व्यान हैं।
विदुर एवं गान्धारी	–	दो आँखें हैं।
व्यास एवं संजय	–	दो कान हैं।

अभिमान एवं स्वाभिमान ही	–	दो नाक हैं।
भीष्म एवं द्रोण	–	दो भुजाएँ हैं।
हस्तिनापुर	–	शिश्न है।
धर्मत्याग	–	गुदा है।
दुःशासन एवं अश्वत्थामा	–	दो पाँव हैं।
कौरव पक्ष की सेना	–	अशुभ वृत्ति है।
पाण्डव पक्ष की सेना	–	शुभ वृत्ति है।

इसप्रकार हे पार्थ! मैं स्थूल शरीर हूँ जो अपने पाँचों प्राणों अर्थात् तुम पाँचों पाण्डवों के साथ बचा ही रह जाऊँगा और ये सब स्वप्न शरीरों की तरह नष्ट हो जायेंगे।

अब मुझ शरीरी (देही, लिंगात्मक पुरुष) के भी शरीर को देखकर तुम अपने कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्णय करो। मैं विश्वरूप ही शरीररूप में अवतरित हुआ हूँ, इसलिए अविनाशी तत्त्व हूँ। इस जगत में मैं दिव्य शरीरवाला कृष्ण नाम से विख्यात हूँ। जिसप्रकार मैं विश्वरूप में सात अंगोंवाला हूँ, उसीप्रकार यहाँ भी मैं सात अंगोंवाला हूँ। तो सर्वप्रथम विश्वरूप में मेरे जो सप्त अंग हैं, उन्हें देखो, जो इसप्रकार हैं–

ज्योतिर्मय प्रदेश (ब्रह्मज्योति) ही	–	मेरा सिर है।
सूर्य ही	–	मेरी आँखें हैं।
आकाश ही	–	मेरा चिदाकाश है।
वायु ही	–	मेरा प्राण है।
अग्नि ही	–	मेरा पेट (मुख) है।
जल ही	–	मेरी वस्ति है।
पृथ्वी ही	–	मेरा पाँव है।

यहाँ इस भूतल (पृथ्वी) पर किसप्रकार सात अंगोंवाला हूँ, उसे भी देखो–

द्रौपदी ही	–	ब्रह्मज्योति (आद्यशक्ति) है।
ये महात्मा युधिष्ठिर ही	–	सूर्य हैं।
माँ कुन्ती ही	–	चिदाकाश है।
तुम अर्जुन ही	–	प्राण हो।

भीम ही	–	पेट हैं।
सहदेव ही	–	वस्ति हैं।
नकुल ही	–	पाँव हैं।

इसप्रकार तुम्हारे पक्ष की सेना मेरी शुभ वृत्ति है, शुभ विचार है और दुर्योधन के पक्ष की सेना ही मेरी अशुभ वृत्ति है, अशुभ विचार है। इस समय मैं इन शुभाशुभ विचारों को मारकर संन्यास लेना चाहता हूँ। द्रौपदीरूप अपनी मूलप्रकृति की कामना से इस समय प्रलय करने के लिए उद्यत हूँ। इसप्रकार मैं नित्य, अविनाशीतत्त्व, अप्रमेयस्वरूप हूँ; जिसका कोई वध कर ही नहीं सकता।

यदि कोई साधक, भक्त पूछता है कि भगवान नारायण ने स्थूल शरीर जो अज्ञानमय है, जिसका प्रतिनिधित्व धृतराष्ट्र कर रहे हैं, उसे क्यों बनाया? तो उसका उत्तर है कि कलियुग जैसा महातामसी समय आनेवाला था, जिसमें जप, तप, योग विशेष नहीं हो सकेगा; इसलिए महाभारत जैसे ग्रन्थ के पठन–पाठन, स्वाध्याय से भगवान के नाम, गुण तथा लीलामय चरित्र का गायन कर सगुणोपासक भक्त भगवान के परम धाम को प्राप्त कर लेंगे। वैसे ही श्रीमद्भगवद्गीता का पठन–पाठन, स्वाध्याय एवं मनन– चिन्तन कर निर्गुण, निराकारोपासक भक्त अपने स्वरूप में स्थित हो जायेंगे। कोई यह न समझे कि महाभारत ग्रन्थ सगुण हो गया और गीताजी निर्गुण हो गयीं, बल्कि यह समझे कि दोनों ग्रन्थ ही सगुण एवं निर्गुण दोनों का बोध कराते हैं; किन्तु गीताजी सबकी समझ से परे होने के कारण सबके लिए सुगम नहीं हैं; परन्तु उन सगुणोपासकों को बिना अर्थ समझे पाठ करने से भी भक्ति–शक्ति तो मिलेगी ही।

(अविनाशि तु तद्विद्धि.....अन्तवन्त इमे देहा.....) हे पार्थ! भगवान मानो कह रहे हैं– ये जो आमने–सामने राजागण खड़े हैं, उनकी तो तुम्हें चिन्ता हो ही नहीं रही है लेकिन गुरुजनों के मरने की चिन्ता तुम्हें सता रही है; जबकि तुम जानते हो कि ये सब इच्छा मृत्युवाले हैं। इस युद्धभूमि में अपने आने के कारण को वे जानते हैं। यह युद्धभूमि तुम्हारे लिए धर्मभूमि है तो उनके लिए प्रायश्चितभूमि है, अतः यहाँ पर वे प्रायश्चित के लिए खड़े हैं। तुमलोगों के साथ कौरवों के द्वारा आजतक घोर अत्याचार होता रहा और ये लोग सामर्थ्य रहते हुए भी उनलोगों का घोर विरोध कर उन्हें दण्डित न कर सके। अतः उसी अपराध का प्रायश्चित करने के लिए ये लोग तुम्हारे जैसे महात्मा के बाणों से मरना चाहते हैं। इसलिए इन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि हम पाण्डवों को नहीं मारेंगे। जानते हो, इनलोगों ने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की है; क्योंकि ये लोग भलीभाँति जानते हैं कि पाण्डवों के तन, मन, वचन, हृदय में; पाण्डवों की स्मृति, चेतना और अहंकार में अर्थात् उनके प्राण–प्राण में, उनके जीवन–जीवन में मुझ कृष्ण का वास है; इसप्रकार के पाण्डवों का वध करने का साहस कोई कर ही नहीं सकता। अतः इनलोगों ने पहले ही प्रतिज्ञा करके अपनी लाज बचा ली है। वे जानते हैं कि पाण्डवों के वध की प्रतिज्ञा करना, केशव के वध करने की प्रतिज्ञा करना है। गुरुद्रोण एवं पितामहभीष्म, ये दोनों ही जब मरने ही

आये हैं तो भयभीत क्यों हो रहे हो, अतः शीघ्रातिशीघ्र गाण्डीव उठाओ और युद्ध करो! इन महारथियों में कोई भी धर्मयुद्ध करने नहीं आया है। पितामहभीष्म अपने पिता की आत्मा की प्रसन्नता के लिए युद्ध कर रहे हैं, द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा की प्रसन्नता के लिए युद्ध कर रहे हैं, कर्ण अपने मूर्ख मित्र दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध कर रहा है, शकुनि कौरवों के सर्वनाश के लिए युद्ध कर रहा है; क्योंकि उसके नहीं चाहने पर भी पितामहभीष्म अन्धे धृतराष्ट्र के लिए इसकी बहन गान्धारी को ले आये थे, उसी का यह भरपेट बदला ले रहा है। द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य को तुम ब्राह्मण समझ रहे हो; जबकि ब्राह्मण मात्र वेद की प्रतिष्ठा के लिए जीता है, जगत–हितार्थ योग, जप, तप में जीता है। इस न्याय से ये ब्राह्मण न हो कर क्षत्रिय हैं।

अब इन दोनों मंत्रों का महाराज उपसंहार कर रहा है– साधक एवं भक्त जान लें कि संतों एवं निष्काम भक्तों को छोड़कर शेष प्राणी तो मृत ही हैं; क्योंकि सभी जाग्रतवस्था से घिरे हुए हैं। वैसे ही जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था से, स्वप्नावस्था सुषुप्तावस्था से और सुषुप्तावस्था पुनः जाग्रदवस्था (वासना) से घिरी हुई है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए प० पू० मस्तराम बाबा कहते हैं।

ज्ञानमज्ञानपर्यन्तं जीवनं मृत्युसंवृतम्।
स्वप्नवत् सर्वमस्पष्टं आत्मा साक्षी सदक्षरः।।
(आत्मचिन्तनम्)

अर्थात् "मूर्खों का ज्ञान, अज्ञान से घिरा हुआ है, उनका जीवन मृत्यु से घिरा हुआ है। यहाँ स्वप्न की भाँति कुछ भी स्पष्ट नहीं है; एकमात्र आत्मा ही स्पष्ट है जो तीनों कालों में साक्षी है, तीनों कालों का साक्षी है। इसी से वह सत् एवं अक्षर कहा जाता है।" इस न्याय से इस जीव जगत में सत् साक्षी एवं अक्षर आत्मा, सन्त ही हैं, जिन्होंने तुरीयरूप होकर तीनों अवस्थाओं को घेर रखा है।

आत्मतत्त्व का विवेचन कर भगवान अर्जुनसहित साधकों पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं–

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

हे पार्थ! जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है एवं जो इसको मरा मानता है, वे दोनों

ही कुछ भी नहीं जानते; क्योंकि आत्मा तो न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है। अरे! इसने तो किसी भी काल में जन्म ही नहीं लिया तो मरेगा क्या? यदि कोई कहता है कि उत्पन्न हो गया है इसलिए मरेगा, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि न यह उत्पन्न होनेवाला ही है और न मरनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य, सनातन एवं पुरातन है। अतः शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

महात्मा अर्जुन के मौन ही रहने पर प्रभु ने अब अलग ढंग से उन्हें सांत्वना देनी प्रारम्भ कर दी। वे ज्ञान की उस भूमि में महात्मा अर्जुन को प्रवेश करा रहे हैं, जहाँ जाकर वे समझेंगे कि मैं तो युद्ध कर ही नहीं रहा हूँ। वैसे ही इस ज्ञान को धारण करनेवाला अर्थात् अपने को आत्मा मानने एवं जाननेवाला साधक कहेगा कि मैंने तो साधना की ही नहीं। आगम, निगम, पुराणों में सभी पढ़ते हैं– भगवान के प्रकट होने पर सभी सन्तों एवं भक्तों ने कहा कि हे प्रभु! आप आ कैसे गये हमारे पास, हमने क्या कर दिया, ऐसा कौन सा जोग, जप और तप किया कि आपने ऐसी महत् कृपा कर दी?

भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम समझते हो कि ये सबलोग युद्ध करने आये हैं और वे लोग समझ रहे हैं कि तुमलोग युद्धभूमि में युद्ध करने ही आये हो, वे लोग समझते हैं, हम पाण्डवों के साथ उनकी सेना को भी मार डालेंगे और तुम भी ऐसा ही समझने लगे हो कि ये लोग मेरे द्वारा मारे जायेंगे– इसप्रकार तो तुम दोनों मूर्ख ही हो; क्योंकि आत्मा को तो न तुम मार सकते हो, न वे लोग मार सकते हैं; क्योंकि आत्मा तो त्रिकाल में भी अवध्य है। अतः झूठे ही मारने–मरने का स्वाँग क्यों रच रहे हो?

(य एनं वेत्ति हन्तारं.....) अब साधक इस मंत्र के गूढ़ार्थ को देखें और समझें–

मैं, शरीर हूँ।
मैं, मनुष्य हूँ।
मैं, देवता हूँ।
मैं, महात्मा हूँ।
मैं, राक्षस हूँ।
मैं, प्रेत हूँ।
मैं, हाथी हूँ।
मैं, चींटी हूँ

इन वाक्यों में आप देख रहे हैं कि 'मैं–शरीर–हूँ', ये तीन पद हैं। इनमें से– शरीर, मनुष्य, देवता, महात्मा, हाथी, चींटी आदि पदों को निकाल दिया जाय तो दो पद मिलकर एक हो जाते हैं– 'मैं हूँ'। इस 'मैं हूँ', 'मैं हूँ', 'मैं हूँ' में तो कोई अन्तर नहीं है? अतः यह 'मैं हूँ' यही चेतन, साक्षी एवं निर्विकार आत्मा है और जो 'मैं हूँ' के बीच में नानाप्रकार की आकृतियाँ हैं, वे ही आने–जानेवाली सी प्रतीत होती हैं। इसप्रकार यह 'मैं हूँ' निर्विकार आत्मा तो मरता ही नहीं और

शरीररूप आकृतियाँ जीती नहीं रहतीं बल्कि बदलती रहती हैं। इसी 'मैं हूँ' परम चेतन के विषय में कहा गया है कि (य एनं वेत्ति हन्तारं..... न जायते म्रियते वा.....) यह न मरता है न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा ही मारा जाता है; क्योंकि इस 'मैं हूँ' चेतन आत्मा ने जन्म लिया ही नहीं। इसलिए कि यह अजन्मा है, शाश्वत है, सनातन है, पुरातन है, अव्यय है, अविनाशी है, घट–घट वासी एवं सुख की राशि है। जिसप्रकार पेड़–पौधे एवं वनौषधियाँ पृथ्वी के चाहे जिस भाग से प्रकट हों उनमें पृथ्वी (मिट्टी) अपने–आप रहेगी ही रहेगी। इसलिए देखा जाता है कि पेड़–पौधों को जन्मने–मरनेवाला कहा जाता है लेकिन उसके माध्यम से भी पृथ्वी (मिट्टी) को जन्मने–मरनेवाला नहीं कहा जाता अथवा घड़े हजारों बन जायँ उनमें आकाश बिना प्रयास का रहेगा ही रहेगा। आजतक घड़ों में आकाश भरा नहीं गया तथा घड़ों के बनने–बिगड़ने से भी आकाश का कुछ बनता–बिगड़ता नहीं है; वह तो घड़े के पहले भी है, बाद में भी है और बीच में भी है या यों कहें कि सर्वत्र ही है। यही बात चेतन आत्मा 'मैं हूँ' के विषय में भी समझनी चाहिए।

एक रहस्यात्मक विषय भी है कि 'मैं' में 'हूँ' भी है और 'हूँ' में 'मैं' भी है। इसलिए 'मैं हूँ' कहें चाहे 'मैं' कहें बात बराबर है। यदि 'मैं' में से 'हूँ' को निकाल दिया जाय तो शून्यवाद (बौद्धमत) प्रशस्त हो जायेगा, जो सर्वथा अमान्य है। शब्द बिना अर्थ का नहीं होता, जैसे अग्नि बिना उष्णता की नहीं रहती। उसीप्रकार 'मैं' (अहम्) पद बिना अर्थ का है ही नहीं। अतः यह 'अहम्' (मैं) ही शुद्ध, साक्षी, चेतन आत्मा है, पूर्ण आत्मा है। इसी 'मैं' (चेतन आत्मा) के सारे के सारे शरीर हैं लेकिन अज्ञानवश प्रतीत हो रहा है कि यह मेरा शरीर है, यह उनका शरीर है। यह 'मैं' ही हृदय भी कहा जाता है, ब्रह्म भी कहा जाता है; यही अपनी अन्तरतम आत्मा भी कहा जाता है। इस 'मैं' से निकट कोई है ही नहीं तथा इस 'मैं' के अभाव में भी कोई नहीं है, इसलिए यही आत्मा है। यह केवल शुद्ध, साक्षी, चेतन ही है सो बात नहीं है, भक्तों की आवश्यकतानुसार यह सृजन, संहार एवं पालनरूप शक्ति से सम्पन्न, प्रकट भी होता है, जिसे अवतार कहा जाता है। ऐसा जड़ या चेतन कोई भी प्राणिपदार्थ नहीं है, जो इस 'मैं' से परिचित न हो, क्योंकि 'मैं' (आत्मा) ही उसका मौलिक रूप है। इसी मंत्र की पुष्टि करते हुए भगवान ने (न जायते म्रियते वा कदाचित्.....) हुंकार भरा– 'न जायते'। भगवान मानो अर्जुन को निमित्त बनाकर अहर्निश ब्रह्म के चिन्तन में लगे हुए साधकों के सामने कह रहे हों कि आत्मा ने कभी जन्म ही नहीं लिया है, इस न्याय से आप ही आत्मा हैं, आपका कभी जन्म नहीं हुआ है। मानो साधक (अर्जुन) के मन में आ सकता है कि जन्मना और मरना तो दिखाई पड़ रहा है फिर आप कैसे कह सकते हैं कि आत्मा मरता–जीता नहीं है? तब भगवान ने मन की बात जानकर पुनः दूसरी बार हुंकार भरा– न म्रियते (वह मरता नहीं)। साधक ने सोचा– अरे! भगवान ये क्या कह रहे हैं? मैंने जन्म लिया है, तभी तो मरना पड़ेगा, भले ही एक ही बार मरना पड़े। तब प्रभु ने पुनः तीसरी बार हुंकार भरा– 'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' अर्थात् न उत्पन्न होकर यह पुनः होनेवाला है। साधक को और भी कौतूहल हो गया तब उसने कहा– ऐसा क्यों? भगवान ने चौथे हुंकार में सबकुछ कह दिया– 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' यह अजन्मा,

नित्य, सनातन और पुरातन है। अतः शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मारा जाता।

प्रश्न खड़ा हो जाता है कि फिर शरीर को कौन मारता है? उत्तर है– काल! काल!! काल!!! यानी समय (प्रारब्ध)। सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ अपनी अवधि के साथ प्रकट हुए हैं; यही नहीं, बल्कि किस निमित्त से जायेंगे, यह भी वे स्वयं लेकर आये हैं अर्थात् जैसे शब्द अपना अर्थ एवं प्रयोजन लेकर प्रकट होता है, उसीप्रकार शरीर (पुरुष) भी इस जगत में रहने का समय, कर्म तथा प्रयोजन सबकुछ के साथ प्रकट हुआ है। समय–समय पर कर्म के साथ प्रयोजन पूरा होता जायेगा। आत्मा निमित्त नहीं होता, वह तो कारण का भी कारण है। तो फिर निमित्त कौन होता है? शरीर। लेकिन कर्म का कारण कौन होता है? अज्ञान, प्रारब्ध। किसी भी कर्म का कारण है– प्रारब्ध और मूल कारण है अज्ञान।

उपरोक्त न्याय से साधक 'मैं' (आत्मरूप) रूप होकर अपने शरीरसहित शरीर के स्वजनों से भी उदासीन हो जाता है। साधक शोक–सन्ताप करते हैं, स्वजनों के प्रति मोह हो जाता है, मन में विषय की कामना से उच्चाटन हो जाता है। अतः प्रश्न है कि 'आपने किसे छोड़ा कि शोक–सन्ताप हो रहा है? क्या माँ को, क्या पिता को, क्या बाल–बच्चों को या भाई–बान्धवों को? माता–पिता, भाई–बान्धव आदि शरीर हैं या आत्मा?' यदि आत्मा हैं, तब तो सर्वत्र व्याप्त आपकी आत्मरूपता में और उनकी आत्मरूपता में किसीप्रकार का अन्तर नहीं है; ऐसा सोचकर आप उन्हें निर्विकार आत्मा मान लेते हैं तो इससे बड़ा उनको सम्मान आप नहीं दे सकते और उन्हें शरीर मान लेते हैं, तो इससे बड़ा उनका अपमान हो ही नहीं सकता।

जैसा वे लोग आपको शरीर ही मान रहे हैं और वैसा ही आप भी उनलोगों को शरीर ही मान रहे हैं तो फिर बात बराबर हो गयी। जैसा अपमान अनजाने में वे लोग कर रहे हैं, वैसा ही अपमान आप ज्ञान में, बोध में कर रहे हैं। आप उनकी गरीबी से शोक–सन्तप्त होते हैं, अमीरी से प्रसन्न होते हैं, तो निश्चित ही उन्हें आत्मरूप नहीं मान रहे हैं। ऐसा करने से, मानने से ही आत्मरूपता छिन्न–भिन्न होती है। आप क्यों नहीं सोचते कि शरीर बिचारा जड़ है, उसकी अपेक्षा प्रारब्ध चेतन है, प्रारब्ध ने ही उन शरीरों को अपने अधीन कर रखा है। आपके वश में एक श्वास तो है नहीं, न उनके वश में है; फिर किस बात से कहते हैं कि मैंने ऐसा किया, उन्होंने वैसा किया? किस ज्ञान से कहते हैं कि 'उन्होंने मुझे गाली दी या मैंने उन्हें गाली दी, मैंने उन्हें त्यागा या उन्होंने मुझे त्यागा, हाय! वे मेरे बिना कैसे रहते होंगे, वे मुझे कैसे दुलार–प्यार करते थे?' छिः, छिः! आपके मोह में एवं पशु–पक्षी के मोह में क्या अन्तर है? आपके लड़ाई–झगड़े में और प्यार में तथा उनके लड़ाई–झगड़े एवं प्यार में क्या अन्तर है? यह कैसा आश्चर्य है कि ज्ञानी गुरु को पाकर भी इन छोटी–छोटी क्षुद्र बातों पर भी आप चिन्तन नहीं करते। सर्वप्रथम आप ध्यान–समाधि की बात करते हैं। अरे! जब आप स्वयं मैं– रूप (आत्मरूप) हैं तो स्वयं का आप ध्यान कैसे करेंगे? हाँ स्वयं के स्वरूप में अज्ञान कैसे भास रहा है, मेरा–तेरा कैसे भास रहा है, यह–वह कैसे भास रहा है, उनका–उनकी कैसे भास रहा है– इसपर स्वयं से चिन्तन तो कर ही सकते हैं। इसप्रकार आत्मरूप होकर इस नानात्व को पकड़कर त्याग देना या मसल देना ही

ज्ञानयोग कहलाता है।'

(न जायते म्रियते.....) भगवान मानो कह रहे हैं कि तुमने जन्म लिया होता या उनलोगों ने जन्म लिया होता, तब तो मरते! शरीर में क्या शक्ति है जो जन्म ले। जिसप्रकार पेड़–पौधे, वनौषधियाँ पृथ्वी के ही अंग हैं, जिन्हें भक्तिपक्ष में भगवान के 'रोयें' कहा गया है; किसी ने भी इन रोओं के जन्मने–मरने की बात आजतक नहीं की है, न ही इस विषय में सोचा ही है। सभी जानते हैं कि रोयें उगते हैं (आते हैं) और झड़ते हैं (जाते हैं), उसीप्रकार जिसे शरीर कहा जाता है वह भी विश्वरूप का ही एक अंग है, जो प्रकट होता है और रूपान्तरित हो जाता है। आजतक किसी ने भी शरीर को जन्माया तो है ही नहीं और न ही आजतक शरीर ने ही कहा है कि मैंने जन्म लिया है अथवा किसी ने मुझे जन्माया है। यह बेचारा तो स्वयं ही इस रहस्य को नहीं जानता कि मैं बच्चे से जवान कैसे हो गया, फिर मरने की बात क्या करेगा? साधक के मन में आ सकता है कि हो सकता है– आत्मा ने कुछ समय के लिए मरने– जीने के स्वभाव को धारण कर लिया हो? इसपर भगवान ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं, कभी नहीं। आखिर क्यों? इसलिए कि उस आत्मा में योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथि, मास, वर्ष तथा युग ने आजतक प्रवेश ही नहीं किया है। इतना ही नहीं उसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि का भी प्रवेश नहीं हुआ है। आप जो कहते हैं कि यह ब्रह्मा का स्वप्नकाल है, तो यह युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अलग से किसी अन्य ब्रह्मा की तो आत्मा में सत्ता है ही नहीं, इसलिए ब्रह्मा की सृष्टि कहाँ से आ गयी है? भगवान ने ज्ञानयोग में किसी भी काल–गणना, योग या लोक–लोकान्तरों को जगह ही नहीं दी है। उन्होंने पूर्व में ही कह दिया है कि आत्मा में अनात्मा प्रकट हुआ ही नहीं। जैसे जो गाय है वह भैंस भी है, ऐसा नहीं हो सकता। साधक के मन में एक और प्रश्न आ सकता है कि 'हो सकता है कि आत्मा ने शरीररूप से जन्म ले लिया है, इसलिए एक बार मरेगा ही? इसी के उत्तर में भगवान ने कहा– (नायं भूत्वा...) न होकर हुआ है और न हो गया है, इसलिए होगा– यह तो सब तुम्हारी कपोल कल्पना है। साधक कहता है मन में कि जो दिखाई पड़ रहा है उसे आप ना कैसे कर सकते हैं? भगवान कहते हैं, 'अरे मूर्ख! जैसे बेटे के लिए माँ में कभी पत्नी या स्त्री ने जन्म नहीं लिया है, ठीक इसी न्याय से तुझ अजन्मा, शाश्वत, पुरातन, नित्य आत्मा में शरीर या संसार ने कभी जन्म लिया ही नहीं है तो शरीररूप से जन्म ले लिया है इसलिए मरेगा ऐसा कहना महामूर्खता है।'

(य एनं.....शाश्वतोऽयं पुराणो...) इन दोनों मंत्रों में 'एनं' और 'अयम्' अत्यन्त गूढ़ात्मक संकेत कर रहे हैं। ये जितना निर्गुण–निराकार ब्रह्म का संकेत कर रहे हैं, उतना ही सगुण–साकार की तरफ भी संकेत कर रहे हैं। अन्तर क्या है दोनों के संकेत में, यही समझना है। यदि साधक ने अपनी आत्मरूपता (आत्मगत अहम्– मैं) को जान लिया तो वह यह भी जान ले कि उसके अनादि अनन्तरूप (मैं) से ही प्रकट होने के कारण (उसके) शरीरसहित सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के शरीर अनादि शान्त हैं। इसप्रकार आप, अनादि अनन्त हैं तथा शरीर अनादि शान्त है। जैसे समुद्र अनादि अनन्त है और उसमें उठनेवाली लहरें अनादि शान्त हैं, उसमें से प्रकट होनेवाली

(जाड़े के दिनों में) बर्फ की चट्टानें अनादि शान्त हैं; पृथ्वी अनादि अनन्त है एवं उसमें से प्रकट होनेवाले पेड़–पौधे अनादि शान्त हैं; वैसे ही जल अनादि अनन्त है पृथ्वी अनादि शान्त है; अग्नि अनादि अनन्त है और जल अनादि शान्त है; वायु अनादि अनन्त है और अग्नि अनादि शान्त है; आकाश अनादि अनन्त है और वायु अनादि शान्त है; 'ॐ' अनादि अनन्त है और आकाश अनादि शान्त है; शब्द अनादि शान्त है और परम चेतन, ब्रह्म (मैं) ही अनादि अनन्त है।

(य एनं वेत्ति हन्तारं...) इस मंत्र से साधक ऐसा समझें कि जो भी स्वजन समझे गये हैं, उनकी मृत्यु तो अवश्यम्भावी है; क्योंकि वे मरने–जीने के भाववाले हैं। इसलिए कि मरने–जीने के भाववाले होकर ही ये पशुवत् कर्म करते हुए जी रहे हैं लेकिन आपके (साधक) शरीर का भी रूपान्तरण नहीं होगा क्योंकि आप तो मरने–जीने की भावना से मुक्त हैं, इसलिए कि आत्मरूप होकर ही आप सद्गुरु की आज्ञानुसार चाहे प्रवृत्तिमय जीवन जी रहे हैं चाहे निवृत्तिमय। आत्मज्ञानी के शरीर का रूपान्तरण करने की सामर्थ्य काल (मृत्यु) में भी नहीं है। यही नहीं, आत्मरूप होकर उसकी अध्यक्षता में रहनेवाले साधक के शरीर का भी काल (मृत्यु) कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता, मारना तो दूर ही रहा।

ये सब मंत्र इस अध्याय की आत्मा हैं। सांख्यमत का आश्रय लिए हुए भगवान सहज में ही अलौकिक कुशलता से राजयोग में उतर जाते हैं, जिसकी व्याख्या नवम् अध्याय में की जायेगी। प्रभु ने समझा कि अर्जुन ज्ञानयोग में बैठ चुका है, इसलिए क्यों न राजयोग में अभी ही इसकी प्रतिष्ठा कर दी जाय? अपने परम प्रिय को परम प्रिय वस्तु देने में देर क्यों? किन्तु प्रभु का यहाँ दाव खाली चला गया। भगवान को एकमात्र 'न जायते' कहना था, 'न म्रियते' तो कहना ही नहीं था; किन्तु उन्होंने (अर्जुन ने) मरने–मारने, मरने–जीने की ही बात अबतक की है और सुनी है, अतः उन्हें 'न जायते' (वह आत्मा जन्मता नहीं है) यह बात समझ में शीघ्रातिशीघ्र कैसे आयेगी?

(न जायते–म्रियते वा कदाचित्....) 'आपने आज ऐसा अर्थ क्यों कर दिया कि साधक, भक्त एवं संत का शरीर भी नहीं मरता है? ' यह 'न जायते म्रियते' पद शरीर के लिए भी है, जबकि शरीर तो जड़ है, वह आया है तो जायेगा, चाहे ज्ञानी का शरीर हो चाहे अज्ञानी का? हाँ, प्रश्न तो अति उत्तम है, लेकिन यदि आपका कहना सत्य होता तो हनुमानजी भी मरते हुए दिखाई पड़ते, प्रह्लाद, परशुराम, काकभुशुण्डि, व्यास आदि भी मरते हुए दिखाई पड़ते, किन्तु ऐसा है नहीं। वे उसी रूप से आजतक इसी विश्व में हैं और जबतक उनकी इच्छा होगी, तबतक उस शरीर को धारण किये रहेंगे। उनके शरीर पर प्रकृति का अधिकार नहीं है बल्कि उनके लिए जल, थल, अग्नि, वायु तथा आकाश एक समान हैं। वे आकाश से पाताल तक कहीं भी आ–जा सकते हैं। इसीलिए महाराज ने ऐसे शरीर को अनादि शान्त कह दिया; लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उनका शरीर अनादि शान्त भी उनकी इच्छा से ही है, प्रकृति की इच्छा से नहीं। अतः ऐसे शरीरों के लिए, न वह जन्मता है न मरता है अर्थात् 'न जायते–म्रियते' ऐसा कहना यथार्थ ही है। यहाँ पर महति दया एवं करुणा करके भगवान ने गोपनीय रहस्य को खोला है। वह यह

कि इस मंत्र के द्वारा शरीर को हटाकर भी अर्थ ले सकते हैं और शरीर के साथ भी लेकिन शरीर के साथ ही इसका अर्थ करना आपके लिए विशेष उपयुक्त होगा, वह इसलिए कि आत्मचिन्तन करने में सुगमता हो जायेगी। जब शरीर आपकी इच्छा के विरुद्ध मरेगा ही नहीं तो अमरता नामक सिद्धि तत्काल मिल जायेगी। वह क्या?' यही कि शेर–चीता, भालू–साँप, चोर–डकैत आदि से भय समाप्त हो जायेगा और आप निर्भीक होकर, कहीं भी एकान्त में, भीड़ में, घर में या वन में बैठकर या खड़े होकर या कर्म करते हुए आत्मचिन्तन कर सकते हैं, ध्यान, जप, तप, योग कर सकते हैं।

(न जायते म्रियते वा कदाचित्...) इस मंत्र में 'कदाचित्' शब्द है अर्थात् किसी भी काल में आपके साथ–साथ आपका शरीर भी अवध्य है। किसी भी काल में का तात्पर्य– जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में भी कोई आपके शरीर को नहीं मार सकता। ऐसा नहीं है कि आपका शरीर वन में सोया है और आकर शेर–चीते मारकर खा जाएँ। भले ही आपका शरीर सो गया लेकिन आप जिस ब्रह्म के आश्रित हैं वह तो आपके लिए तीनों कालों में जागता ही रहता है तथा वह तो जितना आपमें है उतना ही शेर, चीते, भालू में भी है।

महाराज के गुरुदेव ध्यान में बैठे हुए थे, वनप्रदेश था, वहीं आकर पाँच–छः चीते उन्हें घेरकर खड़े हो गये। अब पता नहीं कब से वे खड़े थे, गुरुदेव ने तो जब ध्यान टूटा तब देखा। गुरुदेव ने उनके जाने का कोई संकल्प नहीं किया लेकिन वे स्वयं उन्हें ध्यान से विरत हुआ देखकर चले गये। ध्यानावस्था में साधकों, सन्तों के शरीर पर दीमक अपना घर बना लेती हैं लेकिन जब ध्यान से वे सन्त उठते हैं तो अपने शरीर को ज्यों का त्यों पाते हैं। इस न्याय से ही इस मंत्र का उपरोक्त अर्थ किया गया है।

यदि शरीर को प्रकृति (प्रारब्ध, काल, मृत्यु) मारती है तब तो उसे मरना कहते हैं, लेकिन कोई शरीर को अपने अनुसार छोड़ता है तो उसे मरना नहीं कहते। एक पहेली और भी जान लें आप कि वह आत्मज्ञानी शरीर के माध्यम से प्रकट नहीं हुआ है, वह शरीर के माध्यम से अकालमय, तेजोमय, शक्तिमय नहीं हुआ है; बल्कि यह शरीर ही उसमें जन्मा है और उसके माध्यम से ही यह अकालमय, तेजोमय एवं शक्तिमय हुआ है। जैसे लोहे को अग्निपुंज से निकालें तो आप देखेंगे कि वह अग्निमय हो जाता है। इस विषय में आप क्या कहेंगे? अग्नि के माध्यम से लोहा अग्निमय हुआ या लोहे के माध्यम से अग्नि ही अग्निमय हुआ है (अग्नि को यहाँ तत्त्वरूप में देखा गया है इसलिए पुल्लिंग के रूप में प्रयोग किया गया है)? स्पष्ट है कि अग्नि के माध्यम से लोहा ही अग्निमय हुआ है। उसीप्रकार आत्मा के संसर्ग से शरीर अकालमय एवं शक्तिमय हो गया है। फिर आप यह क्यों कह रहे हैं कि इसने जन्म नहीं लिया क्योंकि जन्म लिया तभी तो अकालमय एवं शक्तिमय हुआ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है, जब जन्म लिया तो मृत्युमय था ही लेकिन जब आत्मा में (आत्मज्ञानी में) जन्म ले लिया तो वह अजन्मा ही कहलाया; क्योंकि वह तो अब बिना आत्मा की इच्छा के मरेगा ही नहीं न! यही नहीं, पुनः वह शरीर (प्रारब्ध) अब जन्म नहीं लेगा, इसलिए भी अजन्मा कहा गया। भगवती मीरा के लिए यह मंत्र कितना सार्थक

है; क्योंकि वे बिहारीजी के विग्रह में सबके सामने ही प्रवेश कर गयीं, लीन हो गयीं। संत तुकाराम गृहस्थाश्रम में थे लेकिन वे सदेह परम धाम को चले गये। भगवान शुकदेव ने प्रयाणकाल के समय अपने शरीर को आकाश मण्डल में ले जाकर संकल्पबल से उसके अणु–परमाणुओं को अपने कारण में ही विलीन कर दिया। वहाँ न हड्डी बची, न रक्त और न मांस बचा। अतः जैसे वे अजन्मा हैं वैसे ही उनका शरीर भी अजन्मा हो गया। हनुमानजी जैसे के ही शरीर को पुरातन भी कहा जायेगा; क्योंकि उनके लिए अनेकानेक सृष्टियाँ जन्म लेंगी और मर (प्रलय) जायेंगी लेकिन वे ज्यों के त्यों रहेंगे, इसलिए उन सृष्टियों के लिए वे पुरातन भी हो गये। यही नहीं, आत्मज्ञानी भी नहीं मरता वह भी चाहे जिस सृष्टि में भक्तों के उद्धार के लिए प्रकट हो सकता है। जिसप्रकार भगवान श्रीकृष्ण एवं प्रभु श्रीराम जन्म नहीं लेते बल्कि अपने संकल्प से प्रकट होते हैं। आत्मा तो नित्य था ही, अतः चाहे तो उसी शरीर को नित्य भी कर सकता है।

कोई साधक शंका कर सकता है कि 'शुकदेव, मीरा, तुकाराम, हनुमान आदि संत एवं भक्तों जैसे ही सभी आत्मज्ञानी क्यों नहीं करते?' हाँ, यह अब उनकी इच्छा पर निर्भर करता है कि जगत में वे व्यवहार कैसा करें– शरीर को आमलोगों के समान छोड़ें या भगवती मीरा एवं शुकदेव जैसा; उसमें कोई हानि है ही नहीं। प्रत्येक आत्मज्ञानियों के व्यवहार में अन्तर देखा जाता है। कोई आत्मज्ञानी जगत में प्रकट भी हो जाता है और कोई अप्रकट ही रहता हुआ चला जाता है। कोई सारंग धनुष का बहाना लेकर युद्ध करता है तो कोई बाँसुरी की तान से युद्ध करता है, कोई डमरू बजाकर महारास में सम्मिलित हो जाता है तो कोई शंख बजा कर। तो आप प्रयत्न करें कि आत्मज्ञानी हो जायँ फिर तो अपने–आप इन व्यवहारों का पता चल जायेगा।

आमव्यक्ति के लिए मरणवाद है अर्थात् वे मृत्युवाद में जीते हैं लेकिन भक्त एवं सन्त रूपान्तरणवाद और भगवद्वाद में जीते हैं। रूपान्तरित होते हुए पदार्थों के लिए मरना नहीं कहा जाता, यह तो अज्ञानमय भाषा है। अतः साधक भयभीत न हों। आप तो उसी दिन अजन्मा हो गये जिस दिन ब्रह्म एवं अपने को जानने के लिए संकल्प लेकर संन्यास लिया या संत तुकाराम, राजा जनक जैसा घर में जीने लगे। साधकों को यदि आत्मजिज्ञासा हो गयी और अजन्मा शाश्वत, सनातन गुरु मिल गया, तो उन्हें जानना चाहिए कि वे अजन्मा हो ही गये, अब जन्म होगा ही नहीं, प्रकृति उन्हें मार सकती ही नहीं। हाँ, लेकिन अणिमा, गरिमा, वशिता आदि सिद्धि के लिए चले, तन्त्र–मंत्र तथा योग की सिद्धि के लिए चले तो मृत्यु आपके साथ चलेगी, वह आपको चारों तरफ से घेरे रहेगी। सिद्धि मिल भी सकती है अथवा नहीं भी मिल सकती है लेकिन जो भगवान के लिए चल पड़ा, उसके लिए सारी की सारी नगरी भगवान की नगरी हो जाती है, वैकुण्ठलोकरूप हो जाती है। इसप्रकार के वैकुण्ठवासी को कोई मार नहीं सकता। वह पुनः पुनः जन्म नहीं लेता, अजन्मा हो जाता है इसलिए मरता ही नहीं।

(य एनं वेत्ति हन्तारं...) सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख शरीर तक आघात करते हैं लेकिन

मान–अपमान तो मन–बुद्धि को अपने घेरे में ले लेते हैं। बहुत से साधक सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख को सहन करने में अति समर्थ होते हैं, लेकिन वही जब मान और अपमान का अवसर आता है तो उनका चित्त अज्ञानियों से भी विशेष अज्ञानी बन जाता है। मान–अपमान को सहन करने के लिए ज्ञानयोगी साधक को प्रतिकूलता में जीना होगा। जहाँ–जहाँ अपने को मानने–जाननेवाले न हों, जहाँ अपना विरोध करें, अपनी अवहेलना करें; वहाँ उन्हें अपने मन, बुद्धि, चित्त को समझने, परखने में अति सुगमता होगी। मन, बुद्धि, चित्त के घायल होने पर विचार करने का अवसर मिलेगा कि एक तरफ मैं निर्विकार आत्मा हूँ और दूसरी तरफ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि उन्होंने मेरा अपमान किया; जबकि आत्मा अपमान कर ही नहीं सकता, शरीर अपमान कर ही नहीं सकता, फिर यह अपमान करनेवाला कौन है? तथा मुझ आत्मा का अपमान हो ही नहीं सकता और मेरे शरीर का अपमान हो ही नहीं सकता, फिर यह अपमानित होनेवाला कौन है? मुझ आत्मा को भूख–प्यास लगती नहीं, शरीर बिचारा जड़ ही है, तो भूख एवं प्यास की अनुभूति करनेवाला है कौन? मुझ आत्मा में काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विकार तो हैं ही नहीं तथा शरीर बिचारा जड़वत् ही है, फिर यह विकारी पुरुष है कौन?

'मैं निर्विकार आत्मा ही हूँ, मेरा कोई स्वजन है ही नहीं तथा शरीर का तो आजतक कोई स्वजन हुआ ही नहीं, क्योंकि जब शरीर मृत हो जाता है तो, लोग जल्दी–जल्दी उसे अग्नि में जला देते हैं, जल में डुबो देते हैं या धरती में गाड़ देते हैं; तो फिर यह स्वजनभाववाला पुरुष कौन है? ' इसका उत्तर है कि वह अज्ञान है, अज्ञान है, अज्ञान (प्रारब्ध) है। साधक चाहें तो इस अज्ञानमय पुरुष को आत्मरूप होकर, आत्मचिन्तन के द्वारा कुछ ही दिनों में नचा–नचाकर मार डालें, मसल डालें। छिः! धिक्कार है, आपको कि जिस पुरुष का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जो छः महीना, सालभर या दो–तीन साल में ही मरनेवाला है; उसे आप बहुत सालों में भी नहीं मार पाते। अवश्य ही आप आत्मचिन्तनरूप होकर जीवन नहीं जी रहे हैं। इसप्रकार निश्चित ही आप स्वयं के और अपने सद्गुरु के विरोधी हैं। यह कैसी विडम्बना है कि आप समर्थ होते हुए भी उस पुरुष को नहीं मार पाने के कारण से सबके द्वारा मारे जा रहे हैं। यद्यपि आप आत्मा हैं, तो भी आप क्षुद्रभावों से पुकारे जाते हैं। 'माता–पिता कहते हैं– हाय मेरे लाल! भाई–बहन कहते हैं– हाय मेरे भइया! आओ–आओ कहाँ गये थे! अरे मित्र! आओ बहुत दिन से तुम्हारी याद आ रही थी। वैरी कहता है– साले! मार डालूँगा, जितना दिन खाना–पीना हो खा–पी ले।' यह सब अपने ढंग की मार है। मार तो मार ही होती है, कोई वाणी से मारता है, कोई गाली से मारता है, कोई मूर्खता से मारता है। भिखारी, 'आप दाता हैं,' ऐसा कह के मारता है और आप, 'चल हट जा दरवाजे से' ऐसा धक्का देकर मारते हैं; अन्न कहता है– आप, मुझे खा रहे हैं; आप कहते हैं– मैं, तुझे खा रहा हूँ; जल कहता है– आप, मुझे पी रहे है; आप कहते हैं– मैं, तुझे पी रहा हूँ; समुद्र कहता है– मत मारो बाण, जल को मत सोखो राम, मेरी मर्यादा ही भंग हो जायेगी, यह मर्यादा आपकी बनायी हुई है; वस्त्र कहता है– आप मुझे पहनें और आप सचमुच ही स्वयं को उसे पहननेवाला मान लेते हैं– इसप्रकार मनुष्य एवं अन्य प्राणिपदार्थ, ये सभी आपको मार रहे हैं लेकिन आप कितने असावधान हैं कि उस मार को ही प्यार समझ रहे

हैं। अरे! हे बातूनी ज्ञानी! तुम तो सही अर्थों में ज्ञानी हो। अतः बातों में समय व्यर्थ क्यों गवाँ रहे हो?

तीस साल पहले एक साधक ने महाराज से एक सपना बताया। उसने कहा– मैं कम्बल ओढ़कर सोया था। सपने में नाले को छलांग लगाकर पार करना चाहा। छलांग लगाते समय, गिरने का भय हो गया और उसी समय वीर्यपतन हो गया लेकिन नींद नहीं टूटी। उसी सपने में मैंने सोचा– ये क्या हो गया। उसी समय स्वप्न में ही ओढ़ा हुआ कम्बल एक स्त्री बनकर हँसने लगा। तब मैंने कहा– अरे! राम! राम!! राम!!! ओ! ये बात है! यह तो कम्बल नहीं वासना है, यह तो कम्बल नहीं वासना है.....। ऐसा कहते हुए जैसे ही मैंने कम्बल को फेंका, मेरी नींद टूट गयी। उस दिन के उपरान्त मैंने कम्बल, रजाई आदि नहीं ओढ़ी; गद्दा पर, पलंगपर तथा कमरे में नहीं सोया। स्पष्ट दिखाई पड़ा कि ये सब शय्या, महल, पलंग आदि वासनारूप स्त्री हैं। ये बाहर की वासना कहीं न कहीं भीतर की वासना को जागृत करती ही है, अतः आज मैं इनका त्याग करता हूँ। उस दिन के बाद मैं अति वेग से सफलता की ओर बढ़ा और अपने लक्ष्य तक पहुँच गया।

अन्न, वस्त्र, शय्या, महल– ये सब मारते हैं; आप इन सबकी मार को तो पहचानें।

भगवान बुद्ध ने देखा कि ये सभी भिक्षु गधे जैसा, वस्त्रों को ढो रहे हैं। इन सारे वस्त्रों को पहनकर, ओढ़कर सोने में तो रात बीत जाती होगी; ये ध्यान आदि कब करते होंगे, ऐसा सोचकर उन्होंने भिक्षुओं से कहा– आज हम सब रात्रि में एक ही जगह सोयेंगे। भिक्षुओं ने ऐसा ही किया। लगभग दस ग्यारह बजे रात्रि को भगवान ने आदेश दिया कि अभी मात्र एक चद्दर की ठंढ है, इसलिए सभी एक ही चद्दर ओढ़कर सोयेंगे। यही नहीं, तीन बजे तो जग ही जाना है, अतः उसके पहले जब–जब ठंढ लगे, तब–तब दूसरी चद्दर ओढ़ते जायेंगे। सभी भिक्षु सो गये। किसी ने एक बजे, किसी ने दो बजे दूसरी चद्दर ओढ़ ली और किसी ने ओढ़ी ही नहीं और तीन बज गया। सभी जगकर ध्यान में बैठ गये। किसी का एक ही चद्दर में काम चल गया, किसी का दो ही चद्दर में काम चल गया तथा अन्य कम्बल एवं चद्दर धरे के धरे रह गये; सबकी आँख खुल गयी। भगवान ने कहा– अनावश्यक चद्दरों एवं कम्बलों को गरीबों में बाँट दो।

आये दिन आपको अन्न पराजित करता है, वस्त्र पराजित करता है। आप आये भगवान के लिए लेकिन चटपटे भोजन करते हैं, चटकीले वस्त्र पहनते हैं। अतः यह आपको मारेगा नहीं तो क्या करेगा? आप कमरे में ध्यान करते हैं– साधक और कमरे में ध्यान? ये दोनों बातें विरोधी हैं। हाँ यदि विशेष ठंढ हो तो कोई आपत्ति नहीं, जहाँ हवा का उत्पात हो तो कोई आपत्ति नहीं; लेकिन यदि ऐसा नहीं है तो यह शोचनीय बात है। आप इन्हें छोड़ दें, जितना चाहिए उतना ही स्वीकार करें। स्वजनों के साथ–साथ वस्त्र, अन्न, महल आदि उत्पात मचाते रहें लेकिन आप तो उत्पात न मचावें। आप तो यह समझें कि मैं आत्मा हूँ; मेरे साथ नहीं, शरीर के साथ उत्पात हो रहा है!

भगवान विश्राम नहीं ले रहे हैं, उनका धिक्कारना बन्द नहीं हुआ और पुनः धिक्कार को जारी रखते हुए कहते हैं–

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

हे पार्थ! जिसने इस आत्मा को, अव्यय, अविनाशी नित्य एवं अजन्मा जान लिया है, वह कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है? यही नहीं, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीरों को प्राप्त होता है।

शोक सन्तप्त महात्मा अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखकर भगवान नारायण ने झकझोरा, उसके उपरान्त अर्जुन ने सिर उठाकर भगवान की तरफ देखा; मानो वे कह रहे हों कि हाँ, हाँ, आप कहें मैं सुन रहा हूँ लेकिन भगवान मानो यह भी कह रहे हैं कि 'मैं गुरुमंत्र कान में नहीं फूँकता, मैं तो आँख–कान दोनों से देता हूँ; अतः मेरा मंत्र आँखों से विशेष सुनो, कान तो अपने–आप सुन लेंगे। अच्छा! तो ये बताओ– जो सचमुच में अपने–आपको अविनाशी, नित्य, अजन्मा जान लेगा या भले ही जाने नहीं, केवल चिन्तनकर या सद्गुरु से सुनकर मान लेगा, तो वह कैसे समझेगा कि मैं किसी को मारनेवाला हूँ या मुझे कोई मारनेवाला है? मानो अर्जुन कह रहे हैं कि बिना जानें कैसे मान लिया जाय कि मैं आत्मा हूँ? आत्मा में तो सृजन, संहार एवं पालन करने की शक्ति होती है, मेरे में तो वह शक्ति है ही नहीं?

हाँ; प्रश्न तो यहाँ ऐसा खड़ा हो जाता है लेकिन सर्वप्रथम विश्वास ही किया जाता है, प्रथम में जानता तो कोई भी नहीं है। साधक भी अनुमान से ही किसी संत को आत्मज्ञानी के रूप में देखते हैं, वे जानते तो हैं ही नहीं; क्योंकि उस आत्मज्ञानी ने अपना विश्वरूप तो दिखाया नहीं, कोई सृजन–संहार और पालनरूप शक्ति तो दिखाई नहीं, तो भी उसकी शरणागति स्वीकार करते हैं। सारे जगत के लोग कहीं न कहीं, किसी न किसी के साथ विश्वास के साथ ही रहते हैं।

इस मंत्र से यह ध्वनि निकलती है कि जो साधक अपने को अजर, अमर, नित्य, अविनाशी आत्मा मान रहा है, वह कैसे ऐसा कहता है कि मैंने घर छोड़ा तथा स्वजन मेरे द्वारा छोड़े गये? यही नहीं, वह कैसे कहता है कि मैं साधना करता हूँ और जबतक सिद्धि नहीं मिल जायेगी तबतक करता रहूँगा? एक तरफ कहता है मैंने सद्गुरु को दे दिया शरीर और दूसरी तरफ

कहता है कि मैं साधना करता हूँ। यह प्रमाद नहीं तो और क्या है। सद्गुरु को तीन प्रकार के साधक अपने शरीर को समर्पित करते हैं। हाँ, समर्पण में थोड़ा–थोड़ा अन्तर रहता है लेकिन समर्पणरूप तत्त्व में किसीप्रकार का अन्तर नहीं है। पहला साधक सद्गुरु से सत्संगरूप कृपा द्वारा अपने स्वरूप को जान लिया तब कह देता है कि गुरुदेव! अब ये तन, मन, वचन आपके हैं, मेरा प्रयोजन पूरा हुआ इसके द्वारा जो कराना हो वह आप करायें। दूसरा साधक अपने को शरीर मानकर समर्पण करता है और कहता है– हे प्रभु! मैं अपने स्वरूप में स्थित हो सकूँ, अपने–आपको जान सकूँ; इसके लिए मुझे साधन बतायें। तीसरा साधक भी अपने–आप को समर्पण करता है, कहता है कि हे प्रभु! अब आप मेरी रक्षा करें! रक्षा करें!! रक्षा करें!!! ऐसा कहकर कुछ साल उनकी सेवा–शुश्रूषा करता है तथा सद्गुरु द्वारा पूछने पर कि क्या चाहते हो तो कहता है– मेरा राम चाहिए या मेरा कृष्ण चाहिए या मेरी दुर्गा चाहिए, शिव–विष्णु चाहिए। तीनों ने शरीर को दिया लेकिन प्रथम साधक ने अपने आत्मस्वरूप को पहचाना और शरीर देने के बदले कुछ नहीं माँगा, दूसरे ने आत्मस्वरूप प्राप्त करने के लिए साधना माँगी तथा तीसरे ने सेवा के बदले भगवान माँगा। ध्यान देने योग्य बात है कि तीनों ही गुरु आज्ञानुसार ही कर रहे हैं, अतः तीनों को ही कहने का अधिकार नहीं है कि हम साधना कर रहे हैं। तीनों का यही कहना धर्म है कि गुरुदेव की आज्ञा कर रही है। लेकिन चलें! दूसरे और तीसरे साधक भले ही न कहें, परन्तु प्रथम साधक को तो ऐसा ही कहना चाहिए। यदि उसने आत्मतत्त्व को सुन कर मान लिया और उसे अपनी आत्मरूपता पर विश्वास हो गया तो फिर यदि वैसे साधक के जीवन में विषाद होता है तो उसके मानने–जानने पर प्रश्न चिन्ह लग सकता है। अरे! जो साधक सद्गुरु द्वारा आत्मतत्त्व सुनकर अपनी आत्मरूपता पर विश्वास कर लेता है वह तो हुंकार भरता है और आत्मज्ञान की मस्ती में झूमता हुआ भैरवी राग से गाता है कि–

मैं हूँ शाश्वत सत् सदाशिव सच्चिदानन्द सनातनम्।
मैं निर्विकारी नित निरंजन नित्यानन्द पुरातनम्।।

मैं हूँ अमर अद्वैत अद्भुत अलख अलेप अगोचरम्।
मैं सर्वव्यापी सर्वगत सर्वज्ञ सर्व उरालयम्।।

मैं हूँ अव्यय ॐ अक्षर अप्रमेय अनामयम् ।
मैं पतित पावन पापनाशन परमानन्द परमेश्वरम्।।

मैं हूँ भूत भविष्य भव भव भरण भव भव भंजनम्।
मैं भूत भावन भक्त भय भ्रम भक्त भार विभंजनम्।।

मैं हूँ कर्ता कर्म कारज करण काल कलेवरम्।
मैं दृश्य द्रष्टा दृष्टि दर्शन दीन दान दिनेश्वरम्।।

मैं में है महाराज अरु महाराज में मैं अव्ययम्।
मैं की पहेली बूझकर मैं हुआ सच्चिदामयम्।।

(वेदाविनाशिनं नित्यं.....) वन को जाते हुए, पहली रात्रि तिनकों की शय्या पर सोये हुए श्रीराम प्रभु एवं भगवती सीता को देखकर निषाद का हृदय अति विषाद से भर गया, उन्होंने माँ कैकेयी को बहुत भला–बुरा कह दिया। उस समय महात्मा लक्ष्मण ने ज्ञान–वैराग्य से समझाने का भरसक प्रयास किया, किन्तु उनके नहीं मानने पर महामना लक्ष्मण ने उनसे पूछा– हे निषादराज! आप ये बताएँ कि श्रीराम को आप क्या मानते हैं? निषाद ने कहा– भगवान मानता हूँ भइया! भगवान मानता हूँ, ये साक्षात् नारायण हैं। लक्ष्मण ने कहा– ये बताएँ, कैकेयी क्या है, भगवान या जीव? उसने कहा– जीव है भइया, वह तो जीव है। लक्ष्मण ने कहा– ये बताएँ कि कहीं भगवान को जीव सुख–दुःख दे सकता है या भगवान ही चाहे तो जीव को सुख–दुःख दे सकता है? निषाद अपनी मूर्खता पर अवाक् रह गये और पूछा कि फिर यह क्या रहस्य है? तब लक्ष्मण ने कहा–

दो०–भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।।६३।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

हे निषाद! असुरों को मोहित करते हुए प्रभु ने भक्तों, सन्तों को अपने दर्शन से कृतार्थ करने के लिए, पृथ्वीरूपी भगवती गाय का उद्धार करने के लिए और धर्मात्माओं, देवताओं की रक्षा करने के लिए अवतार लिया है। ये ऐसी लीला कर रहे हैं, जिसके पठन–पाठन एवं श्रवण से ही तन, मन, वचन एवं हृदय परम पावन बन जायेंगे। इसप्रकार जब निषादराज ने श्रीराम प्रभु को अजन्मा एवं सनातन, नित्यपुरुष जान लिया तो उनका शोक–सन्ताप जाता रहा, फिर–फिर मोह नहीं हुआ।

उसीप्रकार जो साधक सद्गुरु के मुख से अपने आत्मस्वरूप को जान लेते हैं, उनके जीवन में मोह का अवसर आने पर भी उन्हें मोह नहीं होता, वे प्रकृति के द्वारा होते हुए कर्म को न अपना मानते हैं न पराया।

(वेदाविनाशिनं नित्यं.....) इतना ही नहीं, जो यह भी जान लेता है कि मुझ अजन्मा, शाश्वत, सनातन की अध्यक्षता में रहनेवाले, गुरु आज्ञानुसार कर्म करनेवाले शरीर को भी कोई नहीं मार सकता तो फिर वह कैसे समझेगा कि मेरा कभी वध होगा या मैं कभी किसी का वध करूँगा? (साधकों को यहाँ मारने का अर्थ त्यागने से लेना चाहिए; क्योंकि मारना और त्यागना अध्यात्म में एक ही अर्थ को प्रकाशित करते हैं।) वह कैसे समझेगा कि मैंने भाई–बान्धवों या स्वजनों को त्यागा, अतः मुझे तो बड़ा पाप लग जायेगा? हाय! यह क्या हो गया, वे लोग तो मुझे सताते नहीं थे बल्कि साधना में और भी सहयोग करते थे, अब वे क्या सोचते होंगे? कहते होंगे कि आपको तो हमलोग छूट दे रखे थे साधन–भजन करने की, फिर आप क्यों चले गये?' इत्यादि इत्यादि। यही नहीं, वह कैसे समझेगा कि मैं उनका हूँ तथा वे मेरे हैं? इतना ही नहीं–

(वासांसि जीर्णानि यथा विहाय.....) यह शरीर एक वस्त्र के ही तो समान है जो जीवात्मा

के द्वारा समयानुसार त्याग कर दिया जाता है तथा आवश्यकतानुसार अन्य किसी शरीर को धारण भी कर लिया जाता है। इस मंत्र में 'देही' पद जीवात्मा के लिए भी है। निर्विकार, शुद्ध चेतन आत्मा ने स्वेच्छा से जीवत्व को स्वीकार किया है, अज्ञान को स्वीकार किया है। जैसे कोई पुरुष रंगमंच पर सत्यवादी होकर भी असत्यवादी बनकर, पुरुष होते हुए भी स्त्री होकर पाठ करता है, वैसे ही उसने अपने दिव्य शरीर के द्वारा अदिव्य शरीर को धारण कर रखा है, जिसे प्रकृतिमय कहा जाता है। यही नहीं, वह कब इस शरीर को त्यागना चाहिए यह भी जानता है तथा कब नहीं त्यागना चाहिए यह भी जानता है।

इतना ही नहीं, इस मंत्र में 'देही' (जीवात्मा) पद आत्मज्ञानी के लिए भी आया है। जिसने इस देह को (शरीर को) प्रकृति के घेरे से मुक्तकर अपने घेरे में कर लिया है तथा एक यन्त्र की तरह उससे जगत के हितार्थ काम लेता रहता है, वही देही है। सारे के सारे प्राणिपदार्थ ही जीव हैं, वह उनपर भी शासन कर सकता है, इसलिए भी देही कहा जाता है। भले ही वह किसी पर शासन न करे, यह बात अलग हो जाती है लेकिन अपने शरणागत शिष्यों, साधकों, भक्तों के देह पर शासन करता ही है; इसलिए भी देही कहा जाता है। वह आत्मज्ञानी सन्त, शरीररूप वस्त्र को, 'चाहे उसका शरीर हो चाहे शिष्यों या भक्तों का,' समयानुसार धोबी की तरह साफ भी करना जानता है। वह भलीभाँति जानता है कि कब इस वस्त्र को पहनना चाहिए अर्थात् कब इस वस्त्र से काम लेना चाहिए और कब इससे काम नहीं लेना चाहिए। वह शरीररूपी वस्त्र में पड़े हुए काम, क्रोध, लोभादिरूप जूँओं को मारने की दवा भी जानता है तथा पुनः जूँएँ न पड़ें, इसकी विद्या भी जानता है। अरे! कहाँ तक कहा जाय, वह अपने शरीररूप वस्त्र को किन्हीं–किन्हीं शिष्यों एवं भक्तों को पहना भी देता है और उनका स्वयं पहन भी लेता है।

आद्यगुरु शंकराचार्य भी एकबार स्वेच्छानुसार देही हो गये थे– उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अपने शरीररूप वस्त्र को त्यागकर, एक जगह रखकर, कुछ दिनों के लिए राजा अमरुक (जो उसी समय मर गया था) के शरीर को पहन लिया था। लोगों ने जाना राजा जीवित हो गये हैं और उन आद्यगुरु ने अपना काम कर पुनः उस शरीररूप वस्त्र को त्याग कर अपना वस्त्र पहन लिया था। योगिनी गार्गी ने इस शरीर से ही राजा जनक के शरीर को भी पहन लिया था, जैसे कुर्ते पर कोट पहन लिया जाता है। राजा जनक बड़े पशोपेश में पड़ गये थे कि यह क्या हो गया, मेरे शरीर को किसने पहन लिया?

भगवान का इस मंत्र द्वारा साधकों से संदेशरूप उपदेश है कि आप अपने शरीररूपी वस्त्र को सद्गुरु को देकर देखें, या तो वह आपके ही शरीर को साफ–सुथरा कर आपको लौटा देगा या अपना ही दिव्य शरीर आपको पहना देगा। उसे आप पहचानें, उसने आपके लिए ही त्रिगुणमयी माया का निरोध कर अपने शरीर को धारण कर रखा है। यही नहीं, बल्कि वह आवश्यकता पड़ने पर किसी माँ के गर्भ से अपनी इच्छानुसार राजसी, तामसी शक्ति का निरोध कर, सात्त्विक शक्ति के साथ जगत–हितार्थ प्रकट होता है।

कुछ निर्गुण–निराकार मतावलम्बी कहते हैं, "जब वह निर्गुण–निराकाररूप हो जाता है तो

फिर जन्म कैसे लेगा? वह तो 'फूटा कुम्भ जल जल हि समाना' की तरह ब्रह्म में मिलकर ब्रह्म ही हो जाता है?" ऐसा कहनेवाले पढ़े–लिखे विद्वान होते हैं, जिन्हें शब्द ज्ञान तो रहता है लेकिन शब्द के भाव का पता नहीं रहता। अरे! समुद्र क्या श्रीराम प्रभु के पास प्रकट नहीं हो गया था! यही नहीं, ब्रह्म सुषुप्तिरूप हो जाता है क्या? उसकी सर्वज्ञता, सर्व सामर्थ्यता, सर्व संकल्पता, सर्वरूपता समाप्त हो जाती है क्या? अरे! उस ब्रह्मज्ञानी (देही) के भी तो शरणागत भक्त एवं साधक होते हैं? अतः उनके संकल्पानुसार उन्हें कृतार्थ करने के लिए प्रकट होता है। अब चाहे गर्भ में आकर नया शरीर धारण करे, स्वप्न में नया शरीर धारण करके आये या साधक के ही तन, मन, वचन, हृदयादि में प्रकट हो जाये, यह उसकी इच्छा है। वह राम बनके आवे या कृष्ण बनके आवे, नरसिंह बनके आवे या वराह बनके आवे। जब साधक आत्मरूप हो जाता है तो फिर ब्रह्म में और उसमें भेद नहीं होता, वह समष्टि चेतन ही हो जाता है।

भगवान स्वयं उस आत्मज्ञानी का स्तवन करते हुए कहते हैं–

नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

उसके शरीर को भी अस्त्र–शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल डुबो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती; इसलिए कि उसका शरीर तो अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। वह स्वयं अव्यक्त है, अचिन्त्य है, अविकार्य है, नित्य है, सर्वगत (सर्वत्र) है, अचल है, स्थिर रहनेवाला एवं सनातन है। इसलिए साधकों को ऐसा जानकर शोक–सन्ताप नहीं करना चाहिए।

इन तीन मंत्रों में 'एनं' (इसको) और 'अयम्' (यह) पद आये हुए हैं, जो शरीर और शरीरी (आत्मज्ञानी संत) के लिए भी उतने ही सार्थक हैं जितना कि शरीरगत जीवात्मा के लिए।

महाराज यदि निर्गुण–निराकार अर्थ लेता है तो स्वाभाविक ही अर्थ निकलता है कि आत्मा को अस्त्र–शस्त्र मार नहीं सकते, जल डुबो नहीं सकता अग्नि आदि भी मार नहीं सकते। यदि ऐसी बात महाराज स्वीकार करता है तो यह वैसी ही बात हो गयी कि जैसे कोई कह रहा हो कि हवा और आकाश को अस्त्र–शस्त्र मार नहीं सकते, जल डुबो नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, लकवा मार नहीं सकता आदि। हाँ, मरणोपरान्त शरीर को छोड़कर जाते हुए से प्रतीत होनेवाले जीवात्मा (वासनात्मक शरीर को धारण करनेवाले व्यष्टि चेतन– आत्मा) के प्रति उपरोक्त बातें महाराज को भी स्वीकार्य हैं; क्योंकि उस शरीर (पुरुष) को भी अस्त्र–शस्त्र,

जल–अग्नि आदि नहीं मार सकते। आत्मा और जीवात्मा को बहुतों ने पर्यायवाची शब्द माना है लेकिन यहाँ पर महाराज ने भेद कर दिया है; क्योंकि आत्मा, परमात्मा में भेद नहीं, किन्तु आत्मा में जीव शब्द संयुक्त हो जानेपर (जुड़ जानेपर) 'जीवात्मा' शब्द बन जाता है, उस अवस्था में जीवात्मा शब्द वासनात्मक शरीर को धारण करनेवाले आत्मा के लिए कहा जाता है।

आप साधक हैं। ज्ञानयोग के माध्यम से गमन कर रहे हैं इसलिए ध्यान दें– उपरोक्त तीनों मंत्रों में तीन पंक्तियाँ (नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि से लेकर अक्लेद्योऽशोष्य एव च) शरीर के लिए हैं और नीचे की तीन पंक्तियाँ (नित्यः सर्वगतः से लेकर नानुशोचितुमर्हसि तक) आत्मज्ञानी के लिए हैं। पहली तीन पंक्तियों के मंत्र कह रहे हैं कि आत्मज्ञानी का शरीर अस्त्र–शस्त्रों से मारा नहीं जा सकता, इसे जल में डुबोया नहीं जा सकता, अग्नि में जलाया नहीं जा सकता; इसलिए कि वह अब अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य हो गया है; क्योंकि जो आत्मज्ञानी इसे धारण कर रखा है, नीचे की तीन पंक्तियों के मंत्र कह रहे हैं कि वह नित्य, सर्वगत, अचल, स्थिर रहनेवाला, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य हो गया है। अतः इस सनातन आत्मरूप हुए ज्ञानी के शरीर को कौन मार सकता है अर्थात् कोई नहीं।

उपरोक्त तीन मंत्रों के द्वारा यह भी अर्थ स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी की आज्ञा में रहनेवाले के शरीर को भी अस्त्र–शस्त्रादि नहीं मार सकते।

सभी जानते हैं कि हिरण्यकशिपु ने महात्मा प्रह्लाद के शरीर को अस्त्र–शस्त्र से मारना चाहा, अग्नि से जलाना चाहा, जल में डुबोना चाहा। यही नहीं, सारे प्रयत्न कर लिए उनके शरीर को मारने के लिए पर सफलता मिलना तो दूर, वही मारा गया। हनुमानजी को सिंहिका, लंकिनी, अक्षय कुमार आदि मारना चाहते थे, रावण ने अग्नि द्वारा मारना चाहा लेकिन सफल न हुआ। भगवती मीरा को राणा ने मारने के सब प्रयत्न कर लिए लेकिन सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि ये सब नित्य, सनातन, पुरातन पुरुष (ब्रह्म) के आश्रित थे।

(नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि.....) साधक को भगवान अभय होने का इस मंत्र द्वारा संकेत कर रहे हैं। मानो वे कह रहे हैं कि साँप, बिच्छू से डरकर पलंग क्यों बनाते हो या शेर, चीते, भालू से भयभीत होकर गुफा या झोपड़ी के अतिरिक्त जंगल में महल क्यों बनाते हो? तुम नहीं जानते हो कि ये सब मेरे ही अस्त्र–शस्त्र हैं। तुम सर्वत्र मुझे देखते हो इसलिए तुम्हारे लिए तो ये सब ब्रह्म ही हैं। हाँ जो साँप–बिच्छू, शेर, चीते समझते हैं, उनके लिए ये मेरे बाण हैं; वैसे ही अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि भी मेरे ही अस्त्र–शस्त्र हैं और मेरे अपर रूप भी हैं। ये सब मेरी आत्माओं (साधकों, सन्तों, ब्रह्मजिज्ञासुओं) को पहचानते हैं, अतः अपनी आत्मा को वे कैसे मारेंगे? जैसे पिता–माता अपने ही पुत्र–पुत्रियों का वध कैसे करेंगे?

आज कुटियों (झोपड़ीयों) में भी चोरी होती है, इसलिए कि वहाँ भी विलासिता के साधन हो गये हैं। साधक विलासी हो गये हैं। कलियुग वहाँ भी प्रवेश कर गया है। उन्होंने हाथ में घड़ी, पाँव में सैन्डिल, गले में सोने की जंजीर एवं भड़कीले वस्त्रों से अपने शरीर को दूल्हे जैसा सजा

लिया है। स्वाभाविक है कि भगवान चोर बनकर उनकी पिटाईकर, उनके शृंगार को छीन लेगा क्योंकि अपने संन्यासी भक्तों को वह उसी वेश–भूषा में देखना चाहता है और या तो राजा जनक की तरह घर में रहने को कहता है।

अब साधक पंखे में साधना करने लगे हैं। देखकर हँसी भी आती है कि कैसा समय आ गया है? एक साधक को महाराज ने सन् १९८३ में देखा कि जहाँ वह साधना कर रहा था वहाँ दिन में तो लू चलती ही थी, रात में भी पत्थरों से टकराकर गर्म हवा चलती थी तो लगता था कि रात भर लू ही चलती है। फिर भी उसे दिनों–रात ध्यान में बैठे रहने में कोई गर्मी से व्यवधान नहीं हो रहा था। यदि विक्षेपशक्ति बाधा नहीं बन रही है, जिसका समाधान आत्मचिन्तन से हो जाता है, तो सर्दी–गर्मी से बाधा साधना में नहीं होगी; क्योंकि सर्दी–गर्मी भी भगवान के बाण हैं, वे बाण भी साधक को पहचानते हैं। यदि किसी साधक का शरीर ठंढ में ही रहता है तो गर्मीवाले प्रदेश की आवश्यकता उसके लिए नहीं है; क्योंकि ठंढरूप आत्मा का निरादर हो जायेगा। साधक के साधनाकाल में बहुत से उत्पात आते हैं लेकिन उन उत्पातों की तरफ से विमुखता तब होती है जब वह विश्वास कर ले कि मेरा शरीर अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य एवं अशोष्य है तथा मैं नित्य हूँ, सर्वगत, अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकारी हूँ। इसलिए उन उत्पातों की तरफ से शोक–सन्ताप होगा ही नहीं।

सन् १९७७ में एक साधक को महाराज ने देखा, वह अपनी जन्मभूमि के निकट एक गुफा में रहता था। आठ बजे रात्रि को कहीं अनिवार्य जाना पड़ गया, ऐसी कोई सूचना ही थी कि कोई भक्त संकट में है। वह सुबह आया तो देखा कि गुफा धँस गयी है। उसे समझते देर नहीं लगी कि उसके शरीर को बचाने की ही भगवान की पूर्व योजना थी।

(नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि...अच्छेद्योऽयम्...अव्यक्तोऽयम्...) अब थोड़े समय के लिए युद्ध के मैदान में चलते हैं, जहाँ भगवान, महात्मा अर्जुन को सद्गुरु के किस व्यवहार से उन्हें अपने पद पर लाने का प्रयत्न कर रहे हैं–

भगवान वात्सल्यमय हृदय से द्रवित हो अपने शिष्य अर्जुन को बड़े गौर से निहार रहे हैं लेकिन भक्त अर्जुन मानो सोच रहे हों कि 'इन्होंने गुरुमंत्र तो दिया नहीं, सीधे उपदेश ही देना प्रारम्भ कर दिया, जबकि मैंने तो कहा था कि मैं आपका शिष्य होता हूँ, आप मुझे गुरुमंत्र दें फिर उपदेश देकर कृतार्थ करें।' भगवान मानो मन की बात जानकर उन्हीं का संकल्प पूरा करने जा रहे हैं। वे मानो कह रहे हैं– लो पार्थ, लो! गुरु मंत्र लो! अच्छेद्योऽयम्.....अव्यक्तोऽयम्.... ....अचिन्त्योऽयम्– ऐसा कहकर प्रभु ने कहा– इस मंत्र को धारण करो, इसके धारण करने से तुम ब्रह्मरूप हो जाओगे। इसलिए इसको स्मरण भी करो और युद्ध भी करो, ऐसा करने से तुम तो अव्यक्त अचिन्त्य नित्य अविकारी आत्मा हो ही और तुम्हारा यह शरीर भी अस्त्र–शस्त्रों से जल, वायु, अग्नि आदि से सर्वथा अवध्य हो जायेगा। यही नहीं, तुम्हारे शरीर का ही नहीं बल्कि अन्य चारों पाण्डवों का भी कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं पायेगा; क्योंकि तुम पाँचों की मैं आत्मा हूँ। तुम जानते ही हो कि दुर्योधन ने बचपन में भीम को गंगाजी में फेंक दिया था; किन्तु

वरुणदेवता ने उनके शरीर को और भी शक्तिमान करके भेज दिया था। तुमलोगों को इसने लाक्षागृह में जलाना चाहा था; किन्तु अग्निदेवता ने तो तुमलोगों को वहाँ से हटाकर लाक्षागृह के साथ–साथ उसके अनुचरों को भी जला डाला था। मानो भगवान यह भी कह रहे हों कि ये सब तुम्हारी छावनियों में आग लगा देंगे लेकिन तुम लोगों का बाल–बाँका भी नहीं हो सकेगा (अश्वत्थामा ने युद्ध की समाप्ति पर अन्तिम रात्रि छावनियों में आग लगा दी थी लेकिन भगवान के साथ पाण्डवों का कुछ भी अहित नहीं हुआ)।

(नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि.....) इस मंत्र में 'एनम्' (इसको) पद महात्मा अर्जुन के शरीर के लिए भी है। मानो भगवान अपनी उँगली से उनके शरीर की तरफ संकेत से बता रहे हों कि तुम्हारे इस शरीर को भी कोई अस्त्र–शस्त्रादि मार नहीं सकते और पुनः वैसे ही अपने शरीर की तरफ भी संकेत कर रहे हों कि यह शरीर भी किसी भी अस्त्र–शस्त्र से अवध्य ही है।

महात्मा अर्जुन फिर मौन हैं। ऐसी चुप्पी को देखकर भगवान ने अब उनके अनुसार ही बोलना प्रारम्भ कर दिया–

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

हे पार्थ! यदि तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है तथा तुम ऐसा समझते हो कि मरना–जीना सत्य ही है तो भी इसमें शोक–सन्ताप की तो बात ही नहीं है; क्योंकि जिसने जन्म लिया है वह निश्चित ही मरेगा, फिर इसमें शोक–सन्ताप किस बात का?

अब भगवान सिद्धान्त की बात कर रहे हैं। शिष्य को मंत्र देने के उपरान्त विधि–निषेध की बात की जाती है। सिद्धान्त को भलीभाँति जानना चाहिए; क्योंकि जबतक सिद्धान्त को नहीं जानते तबतक उसका प्रयोग विधिवत् सफल नहीं होता, लम्बाकाल लग जाता है। अभी इसी युद्धभूमि में महाराज साधकों को रखता है ताकि वे जान लें कि सद्गुरु का अधिकार कैसा होता है, वह कैसे शिष्य को उत्साहित करता है, साधना में कैसे प्रवृत्त करता है एवं शिष्य भी कैसा धीर, सम शान्त होता है, जो गुरु के प्रत्येक वाक्य पर मनन करता है। भगवान मानो अर्जुन से कह रहे हैं। यद्यपि जो भी कुछ कहना था मैंने कह दिया, अब कहने को कुछ शेष न रहा, लेकिन यदि मेरी बात पर विश्वास हो ही नहीं रहा तो तुम्हारे जैसे योद्धा को कायरों, हिजड़ों जैसा नहीं बल्कि महावीरों जैसा युद्धभूमि में ही शरीर छोड़ना चाहिए। तुम महावीरों के आदर्श बनो, सदा जीने के लिए तुम्हारा शरीर नहीं आया है, आज नहीं तो कल मरेगा ही; अतः इस मरणधर्मा शरीर के लिए तुम मेरे जैसे सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन न करो। जिसका जन्म निश्चित है, उसकी मृत्यु भी निश्चित ही है– तुम्हारे इस सिद्धान्त का मैं समर्थन करता हूँ, इस न्याय से भी तुम्हें युद्ध करना है, शोक–संताप न करो, यह इसका अवसर नहीं है। जो सर्वथा अशोच्य हैं उनकी

तुम चिन्ता करते हो और पण्डितों की सी बातें करते हो! जबकि तुम तो कुछ जानते ही नहीं हो। मानो महात्मा अर्जुन मौन हुए ही पूछ रहे हों कि मैं और क्या नहीं जानता? –

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

सम्पूर्ण भूतप्राणी व्यक्त होने के पूर्व (जन्म के पूर्व) अव्यक्त ही थे और शरीर छोड़ने के उपरान्त पुनः अव्यक्त ही हो जायेंगे। इसलिए यह जो शरीर दो–चार दिन के लिए व्यक्त हो रहा है, दिखाई पड़ रहा है, उसके मरने पर क्या आँसू बहाना?

तुम बड़े शुभ चिन्तक हो तो अपने पिता का पितरलोक या स्वर्गलोक से घोर जप–तप करके उद्धार क्यों नहीं कर लिये? उनके तो तुम मुक्ति प्रदाता नहीं बने; तुम्हें क्या पता है कि वे कहाँ भटक रहे हैं। जो अपने आदि–अन्त को नहीं जानता वह क्षुद्रप्राणी है, तुम्हारे पिता एवं तुममें क्या अन्तर है? तुम भी अपने मूल को, शरीर के मूल को नहीं जानते हो और वे भी अपने मूल को नहीं जानते थे तो तुम किस बात से चिन्तित हो? उनके मन में या तुम्हारे मन में अपने को जानने की चिन्ता कभी नहीं हुई, फिर भी तुम अपने को और उनको बुद्धिमान समझते हो? अहो! खेद है कि स्वयं का तुम्हें पता नहीं है फिर भी अन्यों की चिन्ता में लग गये हो! यही महापाप है, इससे बड़ा पाप क्या हो सकेगा?

भगवान मानो कह रहे हों कि तुमने अभी कहा था कि (अहो बत महत्पापं– अध्याय प्रथम) अहो! खेद है कि हम बुद्धिमान होकर ऐसा महत् पाप करने को उद्यत हैं और अब मैं कह रहा हूँ कि 'अहो! खेद है कि तुम बुद्धिमान होकर भी इस धर्मभूमि से भाग रहे हो। अहो खेद है! पहले अपने मूल को न जानकर मायामय शरीरों की चिंता कर रहे हो!'

महात्मा अर्जुन मन ही मन सोच रहे हैं– बात तो सही ही है, मैं तो अपने और अपने शरीर के मूल को जानता ही नहीं, फिर किस बात की चिन्ता कर रहा हूँ।

भगवान मानो कह रहे हों कि तुम्हारे शरीर का मूल तो नर नाम के ऋषि हैं, इन्द्र भी हैं तथा तुम्हारे अन्य भाई भी पूर्व के देवता ही हैं। पितामह भीष्म स्वयं अपने मूल को जानते हैं, वे आठ वसुओं में से एक है; शरीर छोड़कर पुनः वसु हो जायेंगे। इस मूर्ख दुर्योधन का मूल कालनेमि राक्षस है; क्योंकि पूर्व में यह कालनेमि राक्षस था। यह सूतपुत्र कहा जानेवाला, जो तुम्हारे द्वारा भी घोर तिरस्कृत है, इसका मूल भी मैं जानता हूँ– यह पूर्व जन्म में सहस्त्र कवच नामक राक्षस था; जो एक कवच के शेष रहते ही तुम्हारे से भयभीत होकर भगवान सूर्य में छिप गया था। इसीप्रकार यदि तुम भी जान लेते हो तो शोक–सन्ताप का अवसर ही नहीं प्रकट होता। ये सैनिक तो क्षुद्रप्राणियों की तरह हैं, जो मरकर पुनः अपने कर्मानुसार स्वर्ग एवं नरक को प्राप्त कर लेंगे, इनकी तो बात ही क्या है।

मानो भगवान कह रहे हों कि हे पार्थ! तुम जब नर थे तो मैं नारायण नाम का ऋषि था।

हमारी और तुम्हारी साथ–साथ लम्बी यात्रा हुई है। हम दोनों जगत के हितार्थ एक साथ प्रकट होते रहते हैं, तुम मेरी आत्मा हो और मैं तुम्हारी। तुम्हारा मूल मैं भलीभाँति जानता हूँ। तुम कभी भी अधम योनियों को प्राप्त नहीं हुए हो। यहाँ तक कि तुमने जगत–हितार्थ स्वर्गादि लोकों के ऐश्वर्य एवं भोगों का भी तिरस्कार किया है, तुम निमित्त हो मैं कारण हूँ। सृष्टि की रचना के समय भी तुम मेरे साथ ही रहते हो तभी संहार के समय भी हो, तुम मेरी संकल्पशक्ति हो। तुमने अपने शरीर के मूल को जान लिया और आत्मरूपता की तो बात मैंने तुमसे कह ही दी है कि तुम नित्य हो, सर्वत्र हो, तुम सनातन पुरुष आत्मा ही हो।

(अथ चैनं नित्यजातं.....अव्यक्तादीनि.....) बहुत देर से साधकगण प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि 'ये महाराज युद्धभूमि में ही रहेंगे कि हमलोगों की तरफ भी लौटेंगे?' तो क्या आप सब को अर्जुन प्रिय नहीं हैं, क्या उनका चरित्र प्रिय नहीं है; जिनके माध्यम से हम सबको ब्रह्मविद्यारूप गीताजी प्राप्त हुईं? तो आयें अब अपने ही कर्म, धर्म एवं मूल को सुनें– भगवान मानो साधकों से कह रहे हों– यदि आपको अपनी आत्मरूपता पर सद्गुरु के कहने से भी विश्वास नहीं हो रहा है, यह ज्ञानयोग पच ही नहीं रहा है, गले उतर नहीं रहा है, यदि आप सोच रहे हैं कि बिना शक्ति–सम्पन्न हुए मैं मात्र अपने को शुद्ध–साक्षी चेतन आत्मा मानकर परिव्राजक संन्यासी कैसे बन जाऊँ? तो कोई बात नहीं, सद्गुरु आपको निराश नहीं करेगा, वह आपकी बुद्धि की क्षमता को देखते हुए आपकी साधना की व्यवस्था करेगा। उस साधना से अपने शरीर के मूल को खोज लेना, उसमें उसे कोई आपत्ति नहीं है; लेकिन अपने मूल को आप क्या खोजेंगे आप तो मूल के भी मूल हैं अर्थात् कारण के भी कारण हैं। मूल के भी मूल का तात्पर्य है कि आपके स्थूल शरीर का मूल है सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म का मूल है कारण, कारण का महाकारण, महाकारण का हंस और हंस का परमहंस तथा परमहंस का कैवल्य। इसप्रकार इन शरीरों के मूल होने से शरीर के मरणोपरान्त पुनः आप अव्यक्त ही हो जायेंगे। अव्यक्त से व्यक्त होनेवाला पुनः अव्यक्तरूप हो जाता है, जिसप्रकार दीपक के माध्यम से प्रकट होनेवाला प्रकाश, प्रकाश से ही आता है तथा प्रकाश में ही विलीन हो जाता है। आप एवं आपका शरीर ही क्यों, आपके स्वजन और सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ भी अव्यक्त से प्रकट होकर अव्यक्त में ही लीन हो रहे हैं। ये जो सारे शरीर दिखाई पड़ रहे हैं, अपने मूल में जाने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। आपके नहीं चाहने पर भी वे उधर जायेंगे ही जायेंगे। इनमें से कोई–कोई अपने प्राणस्वरूप बाल–बच्चों के लिए जीते हैं, कोई अपने पेट के लिए जीता है, कोई मान–सम्मान के लिए जीता है। ये लोग इन्हीं कारणों के लिए जी रहे हैं क्योंकि जो जिसके लिए जीता है, उसका वही प्राण कहा जाता है, ऐसे इन क्षुद्र प्राणियों जैसे जीनेवालों की आप चिन्ता करते हैं। हर रोज असंख्य कीड़े–मकोड़े मरते हैं, पशु–पक्षी मरते हैं; जो प्रकृति के स्वजन हैं, लेकिन आपको उनकी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि आप उन्हें अपना मानते ही नहीं हैं, जबकि उनके व्यवहार में तथा आपके स्वजनों के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है। ये सभी प्रकृति (माया) से प्रकट हुए हैं और प्रकृति में ही समा जायेंगे। ये सब कर्म से ही प्रकट होनेवाले हैं एवं कर्म को ही प्राप्त हो जायेंगे। पाप से प्रकट होनेवाले पाप को ही प्राप्त होते हैं और पुण्य से प्रकट होनेवाले पुण्य को। पापात्माओं का पाप एवं

पुण्यात्माओं का पुण्य ही उनका उद्‌गम है तथा यही उनका पर्यवसान है अर्थात् पापात्मा पापरूप कर्मफल नरक और पुण्यात्मा पुण्यरूप कर्मफल स्वर्ग को प्राप्त हो जायेंगे। इन सभी का कर्म–धर्म, एक–दूसरे के लिए अज्ञात है। ये सब चिन्तनहीन अपने मूल को क्या बल्कि अपने स्थूल शरीर के मूल पूर्वजन्म को ही नहीं जानते अर्थात् इनलोगों में से कौन किस योनि से मनुष्य बना हुआ है, यही नहीं जानते। कौन सर्पयोनि से आया हुआ है, कौन पशु–पक्षीयोनि से आया हुआ है, यह भी नहीं जानते। इनमें से कौन राक्षसयोनि से आया है, कौन गन्धर्वयोनि से आया है, कौन किन्नर, यक्षयोनि से आया है अथवा कौन देवलोक, पितरलोक एवं भूत–प्रेतलोक से आया है, यह भी नहीं जानते और न ही आप इनके शरीर के मूल को जानते हैं, फिर किस बात का शोक–सन्ताप!

भगवान श्रीराम ने भगवती तारा को तो स्थूल शरीर का मूल बता दिया अतः उसका समाधान मात्र मूल जान लेने से ही हो गया। प्रभु को तारा के करुण–क्रन्दन के साथ विलाप करने पर दया आ गयी। उन्होंने एक ही प्रश्न उससे किया कि तुम किसके लिए रो रही हो, जिसके लिए रो रही हो वह अधम शरीर तुम्हारे सामने पड़ा है। तुम इसके साथ रहती थी या जो इस शरीर में रहनेवाला था उसके साथ? वह आश्चर्य कर रह गयी, उसने मानो पूछा कि हे प्रभु! यह तो मैं पहली बार सुन रही हूँ, फिर आप ही बतावें कि रहस्य क्या है? प्रभु ने कहा– इसमें से जो चला गया वह है जीवात्मा, जिसको तुमने आजतक देखा नहीं है, जिसके निकल जाने से यह बाली नाम का तुम्हारा पति किसी काम का नहीं रह गया, वह जीवात्मा किसी की प्रतीक्षा नहीं करता; वह सर्वज्ञ है, नित्य है। यदि उसके शरणागत हो जाया जाय तो अपने स्वरूप का बोध भी करा देता है और नहीं तो अगला जन्म लेने के लिए इस शरीर को छोड़ देता है। उसने इस जन्म के पूर्व में किसी और शरीर से विषयों को भोगा तथा अब अगले जन्म में किसी अन्य शरीर से सुख–दुःखरूप विषय को भोगेगा। वह तो तुम्हारी चिन्ता कर नहीं रहा है लेकिन तुम रोये–धोये जा रही हो! इतना ही नहीं, यह शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच तत्त्वों से बना है, अब इन्हीं तत्त्वों में मिल जायेगा, यह भी तुम्हारी प्रतीक्षा नहीं कर रहा है। ऐसा कहते हुए प्रभु श्रीराम ने उसे आत्मज्ञान दे दिया। वह प्रसन्नवदन होकर आत्मलाभ कर, सुग्रीव के साथ चली गयी।

जबतक आप प्राणिपदार्थ एवं विषय–वस्तु के स्वरूप को नहीं जान जाते, तबतक ही खेद का अवसर सामने आता है। जैसे साधकों का मूल भगवान ने छठे अध्याय में बता दिया है कि वे बहुत से जन्मों से साधना करते चले आ रहे हैं, तभी इस जन्म में भी भगवद्भावना जगी है। यह भी अपने शरीर के अव्यक्त (मूल) को जानना ही हुआ और यदि साधना अधूरी रह गयी तो आगे योगियों एवं पुण्यवानों के घर में ही जन्म होगा, यह भी इस शरीर के भविष्य को जानना ही हुआ। अतः साधकों के लिए कहीं से कहीं तक शोक–सन्ताप का अवसर है ही नहीं।

अब पल भर के लिए युद्ध के मैदान में लौटें! भगवान मानो कह रहे हैं– ये सब तो अभी अव्यक्त हो ही जायेंगे, लेकिन तुम व्यक्त ही रहोगे, तुम सदा से व्यक्त थे, अभी भी व्यक्त हो और

आगे भी व्यक्त रहोगे। इस अन्तरिक्ष में खड़े हुए, मेरी युद्धरूप क्रीड़ा को देखने की कामना से आये हुए, ये दिव्य दृष्टिवाले सन्त, ऋषि, महर्षि, तुम्हारे एवं हमारे मूल को जानते हैं। हम दोनों के इस दिव्य, तेजोमय शरीर के मूल को भी जानते हैं। इतना ही नहीं, हम दोनों के कर्म के मूल को भी जानते हैं। इसीलिए ये सभी अन्तरिक्ष से हम दोनों को आश्चर्य की तरह देख रहे हैं। हम दोनों में भी तुम तो इन सबके लिए अति आश्चर्य के विषय बने हुए हो, अतः–

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

इस आत्मतत्त्व को कोई तो आश्चर्य की तरह देखता रह जाता है, कोई जब इसे देखता है तो इसके विषय में आश्चर्य की तरह बोलने लगता है तथा कोई इसके विषय में आश्चर्य की तरह सुनता रह जाता है एवं कोई तो इसके विषय में सुनने के उपरान्त कुछ भी समझ नहीं पाता है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! इनलोगों में से कोई तुम्हें आश्चर्य की तरह देख रहा है, कोई तुम्हारे विषय में आश्चर्य की तरह सुन रहा है, कोई तुम्हारे विषय में आश्चर्य की तरह बोल रहा है और कोई–कोई तुम्हारे विषय में सुनकर भी तुम्हें नहीं जान पा रहा है। हे पार्थ! ये जो अन्तरिक्ष में जमघट लगाये ऋषि, महर्षि, सिद्ध एवं देवगण हैं, जो मेरे दिव्य संवाद को श्रवणकर आनन्दित हो रहे हैं, जिनमें किसी–किसी को तो श्रवणमात्र से ही समाधि लग जा रही है, वे तुम्हें आश्चर्य की तरह देख रहे हैं। यही नहीं, वे आश्चर्य की तरह तुम्हारे विषय में कुछ कह भी रहे हैं। महात्मा अर्जुन ने मानो मन ही मन प्रश्न किया कि कैसा आश्चर्य माधव? प्रभु ने मानो कहा कि 'ये अर्जुन जो पूर्व में नर नामक ऋषि थे, जिन्होंने घोर तप करके सहस्त्रकवच नामक राक्षस को पराजित किया था, वे अपनी आत्मा नारायण को नहीं पहचान पा रहे हैं। अहो! कैसा खेद है, जो अति बुद्धिमान होकर भी स्वजनों के मोह में आकर अपने मूल स्वरूप को ही भूल गये हैं। अहो! आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है!!! ऐसा कहते हुए इनमें से कुछ सिद्धगण कह रहे हैं कि ऐसे महावीर पुरुष, जिनमें इन्द्र की सम्पूर्ण शक्ति समायी हुई है, नर के रूप में किये हुए घोर जप, तप से प्रकट हुई शक्ति ने जिनको वरण किया है, जिन्होंने अग्नि, वरुण आदि देवताओं के साथ–साथ जप, तप, योग द्वारा भगवान शंकर को भी प्रसन्न किया है, इतना ही नहीं, जिन्होंने भगवान शंकर को भी युद्ध में संतुष्ट किया है, वे ही आज नर नाम के ऋषि, जो अर्जुन नाम से विख्यात हैं, कायरता एवं मूढ़तारूप रोग से ग्रसित हो गये हैं। यही नहीं, इनमें से कुछ ऐसा भी कह रहे हैं कि जो जगत के नियन्ता हैं, अन्तर्यामी नारायण हैं, वही इन महात्मा अर्जुन के आज सारथि बने हुए हैं, वही इनके आग्रह पर सद्गुरु बनकर ब्रह्मज्ञानरूप ब्रह्मविद्या का दान दे रहे हैं, तो भी इन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा है, यही आश्चर्य है।' और हे पार्थ! कुछ ऋषि, महर्षि एवं देवताओं को तो विश्वास ही नहीं हो रहा है कि तुम्हें

इसप्रकार का मोह भी हुआ है। वे सोच रहे हैं कि ये नर–नारायण लीला–विनोद में ही ब्रह्मविद्या को प्रकट कर रहे हैं। हे पार्थ! तुम आश्चर्य हो, तुम्हारा कर्म–धर्म आश्चर्य है, तुम्हारी रहनी–सहनी आश्चर्य है। अतः अब तुम उठो तथा एक और आश्चर्य दिखा दो; वह यह कि गाण्डीव उठाओ, हुंकार भरो! महाराज युधिष्ठिर को अब विशेष प्रतीक्षा मत कराओ।

मानो भगवान कह रहे हैं– हे महावीर! तुम मौन क्यों हो? महाराज धृतराष्ट्र भी इस समय तुझ आश्चर्यमय पुरुष को आश्चर्य की तरह देख रहे हैं और संजय तो इतने आश्चर्य में डूब गये हैं कि वे कुछ कहने की स्थिति में ही नहीं हैं।

भगवान के द्वारा अपनी बड़ाई को सुनकर संजय अपनी प्रसन्नता को छिपा न सके और कहने लगे– सुन रहे हैं, राजन्!

"बोलो संजय! ", धृतराष्ट्र ने कहा।

भगवान मधुसूदन ने अभी–अभी आपको याद किया है राजन्!

मुझ जैसे भीतर–बाहर से अंधे को मधुसूदन ने कैसे याद कर लिया संजय!

इसलिए कि आप भी तो इस दिव्य संवाद को आश्चर्य की ही तरह सुन रहे हैं न!

चलो मैं तो आश्चर्य की तरह सुन रहा हूँ, लेकिन इस समय युद्ध में खड़े पक्ष–विपक्ष की कहानी क्या है?

हाँ राजन्! जो इस समय दोनों के संवाद को भगवान की ही कृपा से सुन रहे हैं, वे आश्चर्यचकित हैं। कोई–कोई भगवान के द्वारा अर्जुन को आलिंगन करते हुए देख रहे हैं और कोई–कोई महात्मा अर्जुन के द्वारा प्रभु के चरणों में दिव्य मुद्राओं के द्वारा प्रणाम करता देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं। यह एक ऐसी दिव्य झाँकी है कि जिसके पास आँख हो वही देखे।

चलो अब मुझ अभागे को छोड़ो! देखो कि अब मधुसूदन कह क्या रहे हैं!

युद्ध के मैदान में बह जाना महाराज की विवशता है। अतः जिन साधकों को महाराज का यह व्यवहार अच्छा न लगता हो, वे युद्ध की कहानी न पढ़ें, नर–नारायण की झाँकी न देखें बल्कि वे अपने विषय को ही देखें; क्योंकि आप सबका विषय तो महाराज ने अलग कर ही दिया है।

(आश्चर्यवत्पश्यति.....) मानो भगवान साधकों से कह रहे हैं कि आत्मजिज्ञासु जब सर्वप्रथम आत्मतत्त्व को देखते हैं तो उस समय वे देखते ही रह जाते हैं क्योंकि जिन दिव्य आँखों से वे देख रहे होते हैं, उनके (आँखों के) पास तो बोलने के लिए वाणी ही नहीं है और आश्चर्य तब होता है कि कोई–कोई सर्वप्रथम आत्मतत्त्व को देखते हैं तो वे बोलते ही रह जाते हैं। वे क्या बोलते रह जाते हैं? इसे यमन कल्याण राग में देखें–

अहो आश्चर्यमाश्चर्यं अहो आश्चर्यमाश्चर्यम्
अजानं यत् बहुः पूर्वे, अस्ति दृश्यमिदं जगत्,
अहं अधुनैव जानामि, अस्ति ब्रह्ममिदं ब्रह्मम्।। १ ।।
अहो आश्चर्यमाश्चर्यं.....

मत्वायत् अस्ति जगत् अहमगच्छं घोर नरके,
अदृष्टमस्य ब्रह्मरूपं, अमुक्तं घोर घोर बन्धं।। २ ।।
अहो आश्चर्यमाश्चर्यं.....

मत्वा अस्यजीवोऽहं, अभवं देहभावं मम्,
विदित्वा अहमेव ब्रह्मास्मि, अलुप्तं जीवभावं मम्।। ३ ।।
अहो आश्चर्यमाश्चर्यं.....

अधुनैवमहं अन्तः बहिः अन्तः बहिः अन्तः,
महाराजः बहिः अन्तः, व्याप्तमाश्चर्य माश्चर्यम्।। ४ ।।
अहो आश्चर्यमाश्चर्यं.....

अनुभवामि दया गुरुवः, स्मरामि कृपा गुरुवः,
पदं प्राप्तमिदम्येन् अहो आश्चर्यमाश्चर्यम्।। ५ ।।
अहो आश्चर्यमाश्चर्यं.....

भक्त ध्रुव ने जब सर्वप्रथम भगवान को देखा तो देखते ही रह गये और जब भगवान ने बोलने को कहा तो वे बोलते ही रह गये। वह बोल ही उनका गीत है, जिसका नाम है– 'केनोपनिषद्', जो वेद की ही एक शाखा है। सामवेद उन्हीं ऋषियों के द्वारा गाया गया है, जो सर्वप्रथम आत्मतत्त्व के विषय में बोलते रह गये थे। जो आत्मतत्त्व को देखकर आत्मरूप हुए इस आत्मतत्त्व के विषय में कहते रह गये थे, वैसे ही आत्मज्ञानी के द्वारा किया गया आत्मतत्त्व का विवेचन आत्मजिज्ञासु आश्चर्य की तरह सुनते रह जाते हैं और यही नहीं, वे आश्चर्य की तरह मानते–मानते आश्चर्यवत् ही हो जाते हैं और कितने जिज्ञासु तो उन आत्मवेत्ताओं के द्वारा आत्मतत्त्व के स्वरूप का विवेचन करने पर भी कुछ काल तक कुछ भी नहीं समझ पाते।

जिन्होंने आश्चर्य की तरह देखा उन्होंने क्या देखा? ऐसा भी प्रश्न खड़ा होता है। इसका उत्तर दिया जाता है कि उन्होंने आश्चर्य ही देखा। उसीप्रकार जो बोलते रह गये उन्होंने आश्चर्य ही बोला तथा जिन्होंने माना उन्होंने आश्चर्य ही माना और जिन्होंने सुना उन्होंने आश्चर्य ही सुना। इसप्रकार आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है!!! आत्मा आश्चर्य है! जो आश्चर्य की तरह देखते ही रह गये, बोल नहीं पाये। वे क्यों नहीं बोल पाये? वह इसलिए कि यदि वे बोलते हैं कि मैंने आत्मा को देखा तो वे अलग हो जायेंगे, आत्मा अलग हो जायेगा, जबकि आत्मा, आत्मरूप होकर ही देखा जाता है। यदि वे कहते हैं कि मैंने देखा तो वे इस बात को इसी शरीर की वाणी से बोलेंगे और यदि वे कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ तो इसे भी इसी वाणी से

कहेंगे। अतः इस वाणी से कहते ही मानो ब्रह्म में अशुद्धता आ जायेगी और वह विकारी ब्रह्म हो जायेगा। अतः आश्चर्य है! आश्चर्य है!! यही देखते रह जाते हैं, बोलते रह जाते हैं, मानते रह जाते हैं एवं सुनते रह जाते हैं।

एक दिन एक बालक ने एक संत से कहा कि यदि किसी सन्त की कही हुई बात पर विश्वास न होता हो तो भगवान से ही पूछना चाहिए। अतः भगवान से ही पूछने के लिए आप कोई मंत्र बतला दें। संत ने कहा– अर्जुन जैसा बन जाओ, उनके जैसा जितेन्द्रिय हो जाओ, निद्राविजयी हो जाओ, उनके जैसा घोर तपस्वी हो जाओ, उनके जैसा स्वर्गीय सुखों का त्याग कर दो, फिर भगवान आ जायेगा तो उससे सबकुछ पूछ लेना।

राजा जनक ने स्वप्न–जगत और जाग्रत् जगत में कौन सत्य है? यह प्रश्न खड़ा कर दिया था। तब गुरुदेव अष्टावक्र ने मात्र इतना ही कहा था कि न जाग्रत् जगत सत्य है न स्वप्नजगत सत्य है; सत्य तो इन दोनों से परे है और वह तुम हो। तुम ही आत्मा हो, तुम ही वह सनातन पुरुष हो, तुम ही सच्चिदानन्दरूप हो। राजा जनक ने गुरु की इतनी ही कही हुई बात मान ली और कुछ ही मास या वर्षों में सच्चिदानन्दरूप ही हो गये थे। उस राजा का विश्वास आश्चर्य है, वैसे ही कोई साधक अपने सद्गुरु के कहने से भी अपने को आत्मा नहीं मान रहा है यह उसका न मानना भी आश्चर्य ही है। यही नहीं, उनकी बात न मानने पर भी वह कहता है– ये मेरे गुरुदेव हैं, यह उसका उन्हें गुरु कहना भी आश्चर्य है। ऐसा ही नहीं, बल्कि गुरुदेव जानते हैं कि यह अपने को शरीर ही मान रहा है, मेरी बात नहीं मान रहा है तो भी उसका पीछा किये हुए हैं, यह उनका पीछा किये रहना भी आश्चर्य ही है।

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था– किमाश्चर्यं? आश्चर्य क्या है? तब महामना युधिष्ठिर ने कहा था कि 'सब जानते हैं कि कल हमें यहाँ से जाना है लेकिन कहाँ जाना है, यह पता ही नहीं है तो भी खाना–पीना अच्छा लग रहा है, यही आश्चर्य है। सब जानते हैं कि बच्चा, जवान, बूढ़ा, सब मरते हैं, कल मरनेवालों में मेरी भी गिनती है, फिर भी नींद आ रही है, विषय अच्छे लग रहे हैं, यही आश्चर्य है। सब जान रहे हैं कि कल हमारी मृत्यु आ जाय और सब जान भी जायँ तो भी कोई बचा नहीं सकता, तो भी उन्हीं को स्वजन मान बैठे हैं, यही आश्चर्य है।' चलें कोई अपने को शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा नहीं मानता तो कोई बात नहीं लेकिन वह अपने हृदय में ही बैठा हुआ ब्रह्म, अपनी प्रतीक्षा कर रहा है फिर भी उसके पास जाने का मन नहीं कर रहा है, यही आश्चर्य है। यही नहीं, उसे हृदय से बुलाने का भी मन नहीं कर रहा है, यह तो और भी आश्चर्य है। लोग कहते हैं भगवान इतना सस्ता है क्या कि बुलाने से आ जायेगा। इसप्रकार अपने तो बुलाना है नहीं और जो बुलाने की थोड़ी कामना भी करता है तो उससे कहते हैं– तपस्या करनी पड़ती है, यह कहना आश्चर्य ही है। फिर आपने ही तपस्या क्यों नहीं कर ली, क्या आपको भगवान कड़वा लगता है? अरे! जिनको मात्र बुलाने से ही आ गया है वे तो यही कहेंगे न कि बुलाने से आ जाता है!

कोई भाषा–विज्ञान को थोड़ा जाननेवाला इसे सुना कि ब्रह्म तो बुलाने से आ जाता है तो

वह भोग में ही योग के साथ बुलाने के लिए कहने लगा। इस तरह के बकवासी से कहा जाता है कि अरे! कम से कम तुम तो भोग में योग करके पहले बुला लो! जब भोग में योग करने से तुम्हारे पास आ जाय तो चिल्लाते रहना! यह कैसा आश्चर्य है कि जिस पुकार में, जिस बुलाने में सर्वस्व त्याग अपने–आप हो जाता है, सर्वस्व तप अपने–आप हो जाता है, सर्वस्व भोग अपने–आप छूट जाता है; उस बुलावे को, पुकार को, बिना मोल कोई बेचना चाहता है। यह कैसा आश्चर्य है कि ऐसे लोगों के हृदय में भी भगवान बैठा है! क्या चोर, क्या बदमाश, क्या साधु, क्या असाधु, क्या पशु, क्या पक्षी, क्या सिद्ध, क्या देवता; वह ब्रह्म (आत्मा) सभी में बैठा है। यह माना कि अन्य प्राणी तो नहीं बुला सकते, तो क्या आप भी नहीं बुला सकते? अच्छा! अपने हृदय में स्थित आत्मा को आप क्यों नहीं चाहते, इस आश्चर्य पर तो आप दो–चार दिन विचारकर लें।

(आश्चर्यवत्पश्यति.....) वह आपके हृदय में बैठा–बैठा स्वयं ही आपको आश्चर्य की तरह देख रहा है, आपके लिए आश्चर्य की तरह बोल रहा है, आपकी हर बात आश्चर्य की तरह सुनकर मान लेता है; तो भी आप ऐसे निष्ठुर हैं, आप ऐसे क्रूर, दयाहीन हैं कि उसपर दया ही नहीं आ रही? अरे! हे दया, धर्म का ढोंग रचनेवाले, पहले जो सर्वस्व बैठा है हृदय में, उसपर तो दया करें, उसका तो स्वागत करें, उसे तो कुछ खिलाएँ–पिलाएँ, उससे तो पूछें कि आप कैसे सन्तुष्ट होंगे? हर रोज ऐसा करें फिर देखें कैसे नहीं वह आश्चर्य आत्मा आपकी आत्मा बनता है? यदि आप आश्चर्य की तरह सुनकर भी समझ नहीं पा रहे हैं तो आपकी समझ को उसने कुपित होकर हरण कर लिया है। आप उससे प्रार्थना क्यों नहीं करते, वह तो एकमात्र प्रार्थना करने से ही आपकी समझ लौटा देगा।

सद्गुरु ही शिष्य को आश्चर्य की तरह देखता है कि ओह! कैसा यह सौभाग्यशाली है कि इस घोर कलियुग में जहाँ सभी विषय, विषय, विषय ही की माँग कर रहे हैं, वहाँ यह ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म की माँग करता हुआ चला आया है। अतः उसके सौभाग्य की सराहना करता हुआ ही वह उसके सामने आश्चर्य की तरह बोलने लगता है, आश्चर्य (आत्मा) के विषय में बोलने लगता है। अतः वह शिष्य भी उसकी बात को आश्चर्य की तरह सुनकर मान लेता है और कोई विषयी तो उसकी सुनकर भी कुछ समझता ही नहीं। किसी आत्मजिज्ञासु की जिज्ञासा पूरी होने पर ही तो उसने आश्चर्य की तरह गाया है–

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आप आत्मा हैं, अजर, अमर, शाश्वत, सनातन हैं; आप अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य हैं, तो भी अपने–आपको मरणधर्मा मान बैठे हैं। आप अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकारी तथा नित्य, सर्वत्रव्याप्त, अचल एवं सनातन हैं; किन्तु ठीक इसके विपरीत आप अपने को क्षुद्रप्राणी मान बैठे हैं; जबकि यह आपमें शोभा नहीं देता। आगे के मंत्र द्वारा भगवान पुनः कहते हैं–

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे पार्थ! सम्पूर्ण प्राणियों में जीवात्मा सर्वथा अवध्य है, इसलिए तुम सबके प्रति शोक–सन्ताप करने के योग्य नहीं हो।

भगवान मानो कह रहे हैं कि देही! देही! देही! आप देही (जीवात्मा) हैं। चलें, आप अपने को परमात्मा न मानें तो कोई बात नहीं लेकिन जीवात्मा तो मानें! देह (शरीर) में रहने के कारण आप देही कहे जाते हैं, देह पर शासन करने के कारण आप देही कहे जाते हैं। जब चाहें आप देह (शरीर) में आयें और जब चाहें निकल जायें। जैसे गृही (घर में रहनेवाला पुरुष) घर में आता है, उसमें विश्राम करता है, खाता, पीता, सोता है और आवश्यकतानुसार बाहर जाकर पुनः भीतर आ जाता है। घर पर उसका अधिकार है, घर में अन्य सदस्यों पर भी उसका शासन है। घर में कहाँ पर कौन खजाना है, वह जानता है तभी तो घर का स्वामी कहा जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो गृही नहीं कहा जा सकता। पंजाबी, गुजराती वही कहलाता है, जो पंजाब में रहता है, गुजरात में रहता है और अपने प्रदेश से बाहर जाकर पुनः प्रदेश में लौट भी सकता है। उसीप्रकार आप देह को भी समझें तथा आप देही (जीवात्मा) हैं, इसे भी समझें। 'तो क्या अन्य सारे लोग देही नहीं हैं? क्या वे देह में, शरीर में नहीं रहते हैं? क्या वे आकाश में रहते हैं?' इसका उत्तर है कि आकाश में तो वे क्या रहेंगे, हाँ आपकी और अपनी मूर्खता में रहते हैं, कल्पनाओं में रहते हैं, भोजन, वस्त्र में रहते हैं, मारने–मरने में रहते हैं, गरीबी–अमीरी की चिन्ता में रहते हैं, बाल–बच्चों की चिन्ता में रहते हैं, काम, क्रोध एवं लोभादि विकारों में रहते हैं, मेरा–तेरा कहने में रहते हैं, सोने–जागने और करने–धरने में रहते हैं। 'शरीर में रहते ही कहाँ हैं? यदि शरीर में रहें तो ध्यान–समाधि न लग जाय! इस शरीर में कौन सा जगत कहाँ है, कौन सी शक्ति कहाँ है, जब कुछ जानते ही नहीं, तो कैसे कहा जाय कि वे शरीर में रहते हैं? '

भगवान मानो कह रहे हैं– आप शरीरी (देही) हैं, इसलिए अपने शरीर में लौट आयें। जब दूसरे स्वयं अपने शरीर की चिन्ता नहीं कर रहे हैं, तो आप क्यों उनके शरीर की चिन्ता करेंगे। अरे! आप तो सभी शरीरों में रहनेवाले शरीरी हैं; इस आश्चर्य को देखना हो तो अपने शरीर में आकर देखें। स्वजनों की चिन्ता, घर–गाँव की चिन्ता, प्रदेश–देश की चिन्ता, विश्व की चिन्ता तथा इनमें रहनेवाले सभी प्राणिपदार्थ की चिन्ता करने को किसने कहा है? आप तो सर्वज्ञ जीवात्मा (देही) हैं, अपने शरीर में आकर तो देखें! आप अव्यक्त–अचिन्त्य देही हैं, देह में आकर तो देखें! कल्पना क्या करनी है, चिन्तन करना है, चिन्तन। 'आखिर इस देह (शरीर) में कैसे लौटें?' ऐसा कोई प्रश्न करता है तो इसका उत्तर है आत्मचिन्तन के द्वारा अहर्निश चिन्तन करें, अहर्निश चिन्तन करें, सबकी चिन्ता छोड़कर चिन्तन करें तो देखें कैसे देह में लौट आते हैं। एक बात जान लें कि जबतक आप देह से देही नहीं हो जाते, तबतक आपको अपनी अवध्यता, अदाह्यता का पता नहीं चलेगा। यही नहीं, आपका शरीर भी अवध्य नहीं हो सकता, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य नहीं हो सकता। और भी सुनें– जैसे ही आप अपने शरीर में आकर शरीरी (जीवात्मा)

हो जायेंगे, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों पर भी शासन करने लगेंगे, सभी प्राणिपदार्थ आपका कहना करने लगेंगे।

जिन्हें आप स्वजन कहते हैं, उनसे पूछें कि आप कौन हैं; तो पता चलेगा कि वे अपने को क्या मानते हैं। यदि आप उनसे कहें कि आप आत्मा हैं, शरीर के स्वामी हैं, तो कहेंगे– 'देखो! देखो! देखो! यह पगला गया है, कहता है कि आप आत्मा हैं, कल के दिन कहेगा कि आप परमात्मा हैं। अरे! यह कहाँ से नास्तिक आ गया? यह संन्यासी है कि सर्वनाशी है? भाग! भाग! भाग यहाँ से, तू तो कुल देवता–देवियों को, देवता–पितरों को रुठाने आया है। कौन सी विद्या कहाँ से पढ़–लिख लिया? किसने सिखाया तुम्हारे को, ऐसी मूर्खता किसने दे दी?' यदि होश में आयेंगे तो कहेंगे कि नहीं बेटे! नहीं! ऐसा नहीं कहना चाहिए, अपने कुलदेवी, देवता एवं भगवान को मानना चाहिए। आत्मा तो देवतागण हैं और परमात्मा भगवान शंकर, ब्रह्मा, विष्णु, श्रीराम प्रभु आदि हैं; मैं या तुम आत्मा कैसे हो सकते हैं? मैंने जीवन देखा है बेटे, देखते–देखते बूढ़ा हो गया, पढ़ते–पढ़ते बूढ़ा हो गया; अब तुम मुझे पढ़ाने आ गये, जाओ, खाओ–पीओ भगवान की आरती एवं पूजा–पाठ करो, इस तरह तो तुम किसी दिन पागल ही हो जाओगे। इसप्रकार कहते हुए वे किसी अन्य बेटे या भाई से कहेंगे– बुलाओ जी! ज्योतिषीजी को; इसका हाथ देखें, कहीं यह पगला तो नहीं रहा है। शनि और राहु की दशा जब एकसाथ पड़ती है तो बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है। जाओ! जल्दी करो, बुलाकर दिखाओ इसका हाथ।

आप खूब विचार करें, इन क्षुद्र जीवों पर खूब विचार करें। ये मोह से मारे हुए लोग हैं। पागल कहता है– सब पागल हैं। यदि वह विशेष पागलपन में आ जाता है तो डंडे से पिटाई का अधिकारी हो जाता है। शराबी यदि पेशाब कर दे किसी पर तो लोग उस समय ऐसा नहीं कहते कि छोड़ो यह शराबी है बल्कि पिटाई कर देते हैं और उसका होश ठिकाने आ जाता है। पागल यद्यपि अवध्य है लेकिन वह किसी का वध करने लगे तो फिर वह वध के योग्य हो जाता है। इसलिए यदि स्वजन या संसार के लोग विशेष पागलपन में जीते हों तो उनका त्याग कर देना चाहिए, वहाँ त्यागना ही धर्म हो जाता है।

लगभग सन् २००३ में दिल्ली के इन्डिया गेट की सड़क पर एक साँड़ पागल हो गया और एक व्यक्ति को मारने लगा तथा मार ही दिया। जो दो लोग बचाने गये, उसने उन्हें भी मार डाला। जब तीन के प्राण–पखेरू उड़ गये तो सरकार की ओर से साँड़ को गोली मारने का आदेश हो गया। वह गोली से मारा गया। यद्यपि साँड़ सनातनधर्म की आत्मा है, लेकिन वैसी विशेष परिस्थिति में उसका वध करना ही धर्म हो गया। उसीप्रकार माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं बाल–बच्चों का त्याग करना धर्म नहीं है बल्कि सेवा–शुश्रूषा करना धर्म है; लेकिन यदि वे विषय–वासना में पागल हो गये हैं तथा उनकी विषयता हमारे जीवन को भी पागल बनाये जा रही है, तो उनका त्याग कर देना ही धर्म माना जाता है। बहुत से शरीरों के साथ रहने से शरीरी होने में बाधा हो रही है तो सर्वप्रथम सब शरीरों को छोड़ना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि आप अन्य शरीरों को छोड़ नहीं सकते। जब आपमें आत्मजिज्ञासा जग गयी तो थोड़ा सा प्रयास

करेंगे और सब देहों को त्यागकर आप देही हो जायेंगे। अरे! आप घर छोड़कर ही तो विद्यालय में जाकर विद्यार्थी बनते हैं, वैसे ही समझ लेना चाहिए कि शरीरों को छोड़कर पहले शरीरी (जीवात्मा) बन जाता हूँ, फिर आता हूँ इनलोगों को भी बताने कि आप भी शरीरी बन सकते हैं। वैसे भी इनके शरीर में रहनेवाले देही को आप त्याग तो सकते नहीं; क्योंकि वह त्याग–ग्रहण से परे है तथा इनके शरीर को पकड़ सकते नहीं; क्योंकि शरीरी के निकल जाने पर तो यह भी २४ घण्टे के अन्दर सड़–गलकर अपने हाथ से निकल ही जाता है। इनके शरीर का देही समयानुसार शरीर को छोड़कर लोक–लोकान्तरों में जाकर इनको सुख–दुःखों को भोगने के लिए बाध्य कर देता है तथा यह स्थूल शरीर तो मरा हुआ ही है अर्थात् जीवात्मा के द्वारा त्यागा हुआ ही है, उस त्यागे हुए को ही तो त्यागना है? अतः कहीं से कहीं तक शोक–सन्ताप करने का अवसर है ही नहीं।

(देही नित्यमवध्योऽयं.....) आप देही (जीवात्मा) हैं; जब देह का त्याग कर देते हैं, तब वासनात्मक शरीर का त्याग करने की भी आपमें योग्यता आ जाती है और जैसे ही आप वासनामय शरीर को (जो लिंग शरीर कहा जाता है) त्यागते हैं, वैसे ही देह–देही से मुक्त होकर परम देही अर्थात् निर्विकार निराकार निर्मल अविनाशी शुद्ध साक्षी सर्वगत ब्रह्म हो जाते हैं।

(देही नित्यमवध्योऽयं.....) एक झलक युद्ध के मैदान में देखते हैं जहाँ भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ही परम देही अर्थात् परमात्मा हैं। उनकी अध्यक्षता में रहने के कारण महात्मा अर्जुन ही आत्मा (जीवात्मा) हैं। मानो भगवान कह रहे हैं कि तुम इन सम्पूर्ण कौरवों पर क्या, इस समय भूमण्डल पर शासन करनेवाले हो, इसलिए तुम देही (जीवात्मा) हो। ये सब जीने–मरने की कामनावाले होने से जीव हैं और तुम अवध्य होकर इनका वध करोगे, इसलिए आत्मा हो तथा मेरी अध्यक्षता तुम्हें प्राप्त है, इसलिए मैं ही परमात्मा हूँ। हे पार्थ! तुम इनकी आत्मा हो, अतः तुम्हारे जैसे आत्मा की अवहेलना करनेवाले इन अनात्माओं का तुम त्याग कर दो। जर्जर हुए शरीरों का कितने महापुरुषों ने त्याग कर दिया है। अपराध का प्रायश्चित तो करना ही चाहिए ऐसा सोचकर कितनों ने जलसमाधि ले ली, कितनों ने अग्नि समाधि ले ली, और कितनों ने थल समाधि ले ली। वैसे ही यह सेना एक देह (शरीर) है, जो जर्जर हो गयी है। अतः इस युद्धभूमिरूप अग्नि में इसकी आहुति दे दो, देर न करो, देर न करो, जल्दी करो। जो सद्गुरु की आज्ञा पालन करता है, वह भी देही है, उसका वध नहीं हो सकता। इस न्याय से भी क्योंकि मैं तुम्हारा सद्गुरु बन गया हूँ, तुम अब अवध्य हो गये हो। अतः अपने सेनारूप रोगी शरीर का वधकर ज्ञानाग्निरूप कुण्ड में डालकर जला डालो।

(देही नित्यमवध्योऽयं.....) देह (शरीर) में रहनेवाले को देही कहते हैं, जिसे वासनात्मक शरीर कहा जाता है। यह तीन मुखोंवाला है– प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण। इसी तीन मुखवाले प्रारब्ध नामक शरीर को लिंगात्मक शरीर भी कहते हैं। यह तीन मुखोंवाला पुरुष ही अवध्य है, जो जन्म–जन्मान्तरों में भ्रमण करता रहता है, जो लोक–लोकान्तरों में गमन करता रहता है। वर्तमान कालिक शरीर के द्वारा यही पुरुष सुख–दुःखरूप प्रारब्ध को भोगता है तथा संचित और

क्रियमाण से उत्पन्न होनेवाले सुख–दुःख को आगे आनेवाले जन्मों में भोगता है। इन तीनों कर्मों के स्वरूप तथा गति को तीन जन्मों की कल्पना करके समझा जा सकता है। इस जन्म से पूर्व के तीसरे जन्म में किये गये कर्म को प्रारब्ध कहते हैं, उस पूर्व के तीसरे जन्म में किये गये कर्म को उस समय क्रियमाण कहा जाता है। वह क्रियमाण कर्म दूसरे जन्म में संचित हो जाता है। इसीप्रकार इस जन्म से पूर्व के जन्म में किये गये कर्म को इस जन्म में संचित कर्म कहा जायेगा, जो अगले जन्म के लिए प्रारब्ध होगा।

कर्म की गति और कर्म का स्वरूप जानने में अति कठिनता होती है। इसे सुगमता से आपसब समझ सकें इसलिए सुगम सूत्र दिया जा रहा है–

तीसरे जन्म का क्रियमाण	–	वर्तमान जन्म का प्रारब्ध
दूसरे जन्म का संचित	–	वर्तमान जन्म का प्रारब्ध
वर्तमान जन्म का क्रियमाण	–	अगले जन्म का संचित

यह तीन मुखोंवाला कर्म नामक पुरुष आसक्त जीव को मोहित करता हुआ ही इस शरीर में रहता है और मोहित करता हुआ ही इस शरीर को छोड़कर चला जाता है। भगवान नारायण का यह दिव्य मंत्र विषयी पुरुषों के लिए अलग अर्थ देता है, जिज्ञासुओं, साधकों एवं सिद्धों के लिए अलग संकेत करता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आत्मज्ञानी के लिए वर्तमानकालिक शरीर और वासनात्मक शरीर, ये दोनों ही एक समान हैं। इन दोनों शरीरों का वह स्वयं शासक होता है, इसलिए वह अशरीरी इन शरीरों को कुछ समय के लिए स्वीकार करने के कारण से विलक्षण शरीरी कहा जाता है। विलक्षण शरीरी ही क्यों कोई अन्य क्यों नहीं? वह इसलिए कि बिना शरीर में रहे यह शरीरी भी कहा जाता है, इसलिए विलक्षण शरीरी कहा गया है। आत्मज्ञानी ही वह विलक्षण शरीरी है, जो इन शरीरों में नहीं बल्कि ये शरीर उसमें हैं। इसलिए भगवान ने अर्जुन से कहा कि तुम वही विलक्षण शरीरी हो। इसीप्रकार कोई भी साधक जब स्वयं को निराकार, निर्मल एवं अविनाशी के रूप में देखता है, तो शरीर में वह नहीं रहता बल्कि शरीर ही उसमें रहता है। इसप्रकार उस चेतन आत्मा को शरीर रहे या जाये, किसी भी काल में शोक–सन्ताप क्यों होगा। शोक–सन्ताप होने का तात्पर्य है– वह स्वयं को शरीर ही मान रहा है। संन्यास लेकर आनेवाले साधक भी पूर्वाश्रम के भाई–बान्धवों के साथ व्यवहार करते देखे जाते हैं, इसलिए वे देही ही कहे जायेंगे। अरे! संन्यासी तो अपने–आप ही पूज्य होता है। उसके लिए पूज्य और अपूज्य कौन है। शास्त्र कहता है कि जो संन्यासी आत्मरूप हो गया, वह सम्पूर्ण सृष्टि के द्वारा वन्दनीय हो जाता है। साधक का कर्तव्य है कि आत्मरूप होकर वह लोकहितार्थ अपने सम्पूर्ण शरीरों पर शासनकर प्रकृति को स्वीकार करे, जैसे कि भगवान दत्तात्रेय और शुकदेव आदि ने भी स्वीकार किया था।

इसप्रकार जो विलक्षण देही गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसके स्वधर्म का प्रतिपादन करने के दृष्टिकोण से भगवान नारायण अब आगे कहते हैं–

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ! यदि तुम अपने को क्षत्रिय ही समझते हो तो भी मुझे कुछ आपत्ति नहीं है। क्षत्रिय धर्म को देखते हुए भी तुम्हें विकम्पित (विकल) होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कोई दूसरा धर्म है ही नहीं। स्वर्ग का खुला हुआ द्वाररूप धर्मयुद्ध तो तुम्हारे जैसे भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं और भी सुनो–

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

यदि धर्मयुद्ध नहीं करते हो तो स्वधर्म तथा कीर्ति को खोकर, जिस पाप (स्वजन वध) से डरते हो, उस पाप से कहीं असंख्य गुना पाप लग जायेगा और उस अपकीर्ति को भी योद्धाओं के सहित सारे भूतल के मानव फैलाते ही रहेंगे एवं जो नहीं कहना चाहिए वह भी कहेंगे। इसप्रकार तुम्हारे जैसे सम्माननीय पुरुष की कीर्ति चली गयी तब तो सबकुछ चला गया, कीर्ति जाने से तो अच्छा है मर जाना। अब तुम सोच लो कि तुम्हें कैसे मरना है। इतना ही नहीं–

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

वे तो कहेंगे ही कहेंगे कि अर्जुन कर्ण से मन ही मन डरता था, इसलिए स्वजन वधरूप पाप का बहाना बनाकर युद्ध से भाग गया और यही बात वे भी कहेंगे, जिन विपक्षी वीरों में भी तुम्हारे आदर्श व्यवहार, आदर्श पराक्रम एवं शौर्य के प्रति मन में बड़ा आदर है। यही नहीं, तुम्हारे वैरियों को तो तुम्हें बहुत कुछ कहने का, तुम्हारी हँसी उड़ाने का, तुम्हारी अपकीर्ति फैलाने का इससे सुनहरा अवसर फिर–फिर नहीं मिलेगा। इसलिए–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

तुम या तो युद्ध में मरकर स्वर्ग प्राप्त कर लोगे या तो युद्ध विजेता होकर पृथ्वीपति हो जाओगे। इस कारण तुम युद्ध के लिए दृढ़ निश्चयी होकर तैयार हो जाओ। सुख–दुःख, जय–पराजय, लाभ–हानि की चिन्ता छोड़कर युद्ध करते हो तो पाप लगेगा ही नहीं।

(स्वधर्ममपि चावेक्ष्य.....) अभी युद्ध के मैदान में महाराज नहीं जायेगा, सर्वप्रथम साधकों की ही भूमि में रहकर प्रसंग पूरा करेगा फिर उधर की सुध–बुध लेगा।

जीवात्मा अवध्य है– यह प्रसंग चला आ रहा है। प्रभु ने साधकों पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि वे अपने स्वरूप को क्यों नहीं पहचानते और पहचानते नहीं तो पहचानने का प्रयत्न क्यों नहीं करते। यह ज्ञानयोग का प्रकरण चल रहा है। संन्यासाश्रमी साधक को ज्ञानयोगी होना है। वह ज्ञानयोगी यदि सद्गुरु के पास कर्मयोगी भी बन जाता है तो वह जगत–हितार्थ कर्म कहा जाता है, स्वजन–हितार्थ नहीं।

जिसप्रकार गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि श्रेणियाँ बँटी हुई हैं तथा उसी वर्णानुसार उनके स्वधर्म का निर्णय किया गया है, उसीप्रकार आध्यात्मिक साधकों में भी श्रेणियाँ हैं– इनमें कोई भक्तिपक्षवाला है, कोई ज्ञानपक्षवाला है, कोई कर्मपक्षवाला है कोई अष्टांगयोगवाला है तो कोई ध्यानयोगवाला है इत्यादि इत्यादि। यह ज्ञानयोग संन्यासाश्रमी एवं गृहस्थाश्रमी आत्मजिज्ञासुओं अर्थात् दोनों के लिए है लेकिन महात्मा अर्जुन के माध्यम से प्रभु ने सर्वप्रथम 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे (श्लोक ११)' से लेकर 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये (श्लोक ३९)' तक संन्यासाश्रमी साधकों के लिए उनके त्यागमय जीवन की प्रस्तावना की है। इसलिए कोई ऐसा न सोचे कि महाराज इन मंत्रों को संन्यासाश्रम की तरफ ही क्यों खींच रहा है।

साधक जान लें कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि जातियाँ नहीं हैं बल्कि मानवों में श्रेणियाँ हैं। यदि जाति की ही बात की जाय तो मनुष्य एक जाति है, पशु एक जाति है, पक्षी एक जाति है, वैसे ही देवता एक जाति है सर्प–बिच्छू, कीड़े–मकोड़े ये सब जातियाँ हैं। मानव मात्र में जाति का विभाग भगवान ने नहीं किया बल्कि कर्म का विभाग किया। जैसे कोई पिता अपने चार पुत्रों में एक पुत्र को अध्यापक बना देता है; क्योंकि उसकी बुद्धि अध्ययन–अध्यापन की योग्यता रखती है, किसी पुत्र को राजनेता बना देता है, किसी की बुद्धि की योग्यतानुसार खेती–बारी का काम सौंप देता है और किसी को मात्र इन तीनों बच्चों की देख–रेख, सेवा–शुश्रूषा का भार दे देता है; तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये चार जातियाँ हो गयीं। यह तो एक व्यवस्था है, जिससे जीवन भार न बने, सभी एक–दूसरे की अपनी शक्ति–सामर्थ्य से सेवा करते हुए अपने कर्मरूप यज्ञ को पूरा करें। ठीक इसीप्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी एवं देवता आदि जातियों में से मनुष्य का सर्वप्रथम स्वधर्म बनाया गया है– 'अपने स्वरूप को जानना या भगवान को जानना।' अब उस

आत्मस्वरूप को जानने के लिए साधक की योग्यतानुसार कर्म–धर्म का निर्णय किया गया है। जैसा कि इस दूसरे अध्याय में श्लोक ११ से ३६ तक ज्ञानयोगी संन्यासी के लिए, श्लोक ३६ से श्लोक ५३ तक ज्ञानयोगी गृहस्थ के लिए, अध्याय तीन और चार में गृहस्थाश्रमी कर्मयोगी के लिए, पुनः अध्याय चार से पाँच तक संन्यासी के लिए, अध्याय छः से आठ तक संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी के लिए, गीता अध्याय नौ में आधा भाग राजयोगी के लिए आधा भाग भक्तयोगी के लिए निश्चित किया गया है।

तो आयें अब संन्यासी के धर्म पर विचार करें। जब आपने आत्मजिज्ञासा को लेकर संन्यास ले लिया तो आपके लिए सर्वस्व त्याग से बढ़कर कोई अन्य धर्म है ही नहीं, इस बात को भारत के प्रायः सभी लोग जानते हैं। जब किसी का बच्चा संन्यासी हो जाता है तो प्रायः सभी आश्चर्य कर जाते हैं और साधुवाद देते हुए उसको प्रणाम करने लगते हैं। चाहे वह साधु ब्राह्मण घर का हो, क्षत्रिय घर का हो या वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ अथवा कोल–भील के घर का हो। भारतवर्ष में एक कहावत विख्यात है कि 'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। दे देंगे उस ज्ञान को, जिस विधि मिले भगवान।।' इसलिए भगवान उन उत्तम अधिकारी साधकों से कहते हैं, जिन्होंने अपने सद्गुरु को ही माता, पिता, गुरु, मित्र अर्थात् स्वजन एवं भगवान मान लिया है (यानी उन्होंने सम्पूर्ण नातों को एकमात्र सद्गुरु से ही जोड़ लिया है) कि 'तुम अव्यक्त अचिन्त्य अविकारी नित्य सर्वगत अचल एवं सनातन हो, अजर अमर शाश्वत हो, तुम्हीं वह निर्गुण निराकार साक्षी चेतन आत्मा हो तो वैसे विशुद्ध साधकों को ऐसा मानने तथा मानकर धारण करने जैसा अर्थात् अहर्निश आत्मचिन्तन करने जैसा कोई दूसरा धर्म नहीं है। यदि सद्गुरु कह रहा है कि अहर्निश आत्मचिन्तन ही करो, सम्पूर्ण स्वजनों तथा भूतप्राणियों की चिन्ता छोड़ दो, तो उनके द्वारा ऐसा करने से बड़ा कोई धर्म नहीं है। सद्गुरु कह दे कि अब पूर्व की सारी उपासनाओं को त्याग दो, देवपूजा, मंत्रपूजा आदि को छोड़ दो, अहर्निश जगत से मौनी होकर अपने–आप से, सद्गुरु से बोलते हुए आत्मचिन्तन करो; तो उन साधकों के लिए इस त्यागरूप धर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। यह उनका स्वधर्म सद्गुरु की आज्ञानुसार निश्चित किया गया है।' मोक्ष तो सद्गुरु की आज्ञा में रहता है। बाह्यत्याग सम्पूर्णता से करके आत्मचिन्तन के द्वारा अन्तर्त्याग में लगे रहना आपका धर्म है तथा इसमें आनेवाले विघ्नों को सहन करना आपका धर्म है एवं विघ्नों को परास्त करना, दूर करना सद्गुरु का धर्म है। आप अव्यक्त हैं, अचिन्त्य हैं; किन्तु जबतक आप जगत से, स्वजनों से अव्यक्त नहीं होते, जबतक उनके चिन्तन के घेरे से बाहर नहीं जाते, तबतक इस अव्यक्त पद को, अचिन्त्यपद को प्राप्त नहीं करते। माना कि आप नित्य हैं, सर्वगत हैं, अचल हैं और सनातन हैं, किन्तु जबतक आप अनित्य, अल्पगत, चंचलचित्तवाले तथा अशास्त्रीय पुरुषों का संसर्ग नहीं छोड़ते, तबतक नित्य सर्वगत अचलादि पद को प्राप्त नहीं होते।

यदि आप ऐसा नहीं करते तो सभी हँसी तो उड़ायेंगे ही उड़ायेंगे लेकिन यह भी कहेंगे कि काम से पराजित होकर चले आये न ये! जब काम ने नारदजी जैसे ऋषि को नहीं छोड़ा,

तो ये किस खेत की मूली हैं। काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओं की मार को सहन करना सबके वश की बात है क्या? यही नहीं, जो जहाँ बैठेंगे वहाँ सर्वप्रथम आपकी चर्चा करेंगे– अरे! जानते हैं, वह चला आया, उसको माँ याद आ गयी। क्या करे बेचारा माँ ने दूध पिलाया है न, उस दूध की लाज रखने आ गया, अपने पिता को राजपद देने आ गया, अपने बाल–बच्चों का भगवान बनकर आ गया। कोई कहेगा– अरे बेटे! मैं सोचता था कि संन्यास इतना सहज नहीं है, जितना तुम सहज मान रहे हो लेकिन जब तुमने संन्यास ले ही लिया था तो सद्गुरु के पास ही रहते, यहाँ क्यों आ गये? तुम्हारे माता–पिता तो अपने सौभाग्य की अब सराहना करने लगे थे; पहले तो बहुत रोये–गाये लेकिन सबने उनसे कहा– क्या वह चोर या बदमाश बन गया कि आप सब रो–गा रहे हैं, क्या वह कुछ दूसरा काम करने गया है कि आपलोग धैर्य खो रहे हैं? इसप्रकार सबसे तुम्हारे त्याग की प्रशंसा सुनते–सुनते वे अति सन्तुष्ट हो गये थे और तुम्हारी प्रशंसा तो वे स्वयं भी करने लगे थे, फिर तुम क्यों आ गये? बेटे! तुमने अपने कुल, परिवार, गाँव एवं प्रदेश की नाक कटा दी। छिः! छिः!! छिः!!! भगवान के लिए जाकर इसी नरक में चले आये! हम तो तुम्हारे से बहुत आशा लगाये बैठे थे कि तुम हम सबका उद्धार करोगे लेकिन तुम तो महाकायर, डरपोक एवं हिजड़े निकल गये। कोई कहेगा– अरे बेटे! तुम्हारे पिता–माता एवं कुल परिवार के वैरी भी तुम्हारी प्रशंसा करने लगे थे लेकिन वे तो अब इतनी हँसी कर रहे हैं मानो भगवान ने उनको समय बिताने का अवसर दे दिया है। वे जब किसी मित्र को पुकारते हैं तो तुम्हारी तरफ संकेत करते हुए कहते हैं– 'अरे आओ ना, ऐ साधु! क्या तुम भी उसके जैसा साधु हो गये हो, क्या संन्यास लेकर भागने की तैयारी में हो? देखा नहीं कि वह अपने माता–पिता, बाल–बच्चों का रक्षक अब आ गया।' 'अरे हाँ! तुम ठीक कह रहे हो, वह अवश्य वन में बैठा–बैठा हमलोगों के विषय में सोचता होगा कि अरे! वे सब हमारे आने के उपरान्त कहीं पिता एवं भाइयों को विशेष सताने न लगें, त्रास न देने लगें।' 'तो सुनो! अब यह यदि उनकी रक्षा में आया है तो सीधे मरकर यमपुरी में ही जायेगा, इसे तो स्वर्ग भी अब नहीं मिलेगा। तुमने सुना है न कि संन्यास लेकर घर आनेवाले को स्वर्ग क्या नरक में भी जगह नहीं मिलती? अरे! इस महापापी को क्या भगवान स्वीकार करेगा? कम से कम रावण भगवान के हाथ तो मरा, यह तो उसका भी अधिकारी नहीं है। अब हमलोगों के हाथों से ही मरने का अधिकारी है और यदि जीवित बचेगा तो शरीर में कीड़े पड़ेंगे, कीड़े।' 'अरे! मैंने तो सुना है, संन्यासी यदि घर–गाँव लौटता है तो उसे पीपल के वृक्ष में बाँधकर पत्थरों से मार–मारकर मार ही डालना चाहिए, तब उसका प्रायश्चित होता है?' 'हाँ, हाँ मैंने भी सुना है, लेकिन यह तो उसका भी अधिकारी नहीं है, कम से कम वैसा करने से उसका प्रायश्चित तो हो जाता है, इसका तो प्रायश्चित भी नहीं होगा। हमलोग इसे घायल पशु–पक्षियों एवं सर्प जैसा मरते देखेंगे।' 'अरे! जब बहुत बड़े साँप का एक अंश भी रक्त निकल जाय शरीर कटकर तो वहाँ चींटियाँ उसे जीने नहीं देती हैं, वह चाहे जितना छटपटाये पर मार ही डालती हैं; उसीप्रकार इस पापी की भी वही दशा होगी और हमलोग उस समय कहेंगे– कहो साधु जी! अच्छे हो न? ठीक–ठाक है न सब? तब वह बेचारा जैसा देखता रह जायेगा।' अतः भगवान कह रहे हैं–

(हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं.....) स्वजनोंसहित सम्पूर्ण मानवमात्र का त्याग कर दो। यदि आत्मचिन्तनरूप योग से आत्मरूपता को प्राप्त हो गये तो ठीक, नहीं तो कम से कम अगला जन्म तो ज्ञानियों के घर में मिल ही जायेगा, जहाँ बचपनावस्था से ही शुकदेव जैसे ज्ञानी बन जाओगे, संन्यासी बन जाओगे और सफल हो गये तो जगत का हित करोगे, निवृत्ति मार्ग का प्रदर्शनकर लोकसंग्रह से ज्ञानमार्गी साधकों का कल्याण करोगे।

(सुखदुःखे समे कृत्वा.....) आप आत्मा हैं, सुख–दुःख शरीर के विषय हैं, लाभ–हानि अहंकार के विषय हैं, जय–पराजय भी अभिमान के ही विषय हैं; इन सब बातों पर क्या ध्यान देना। आत्मा (आप) तक न दुःख जा सकता है न सुख, न लाभ न हानि, न जय न पराजय। ये सब शरीरगत, परिवारगत, क्षुद्र–जातिभावगत विडम्बनाएँ हैं; इसलिए इनको महत्त्व न देकर अपने त्यागरूप स्वधर्म का पालन करें। आप तथाकथित साधुवेश धारियों को देखें, जिन्होंने आप ही जैसा संन्यास ले लिया था। आपकी माँ जैसी माँ ने ही तो इनको पैदा किया है, लेकिन आज वे तप से दरिद्र हैं; जप, व्रत, योग से दरिद्र हैं; ज्ञान, ध्यान, विज्ञान से दरिद्र हैं; सद्गुरु की अध्यक्षता में भी मन नहीं लगता, वे भीख माँगते फिरते हैं। वह भिक्षा पेट से इतनी विशेष हो जाती है कि वे अपने घर–परिवार, बाल–बच्चों को देने लगते हैं। क्या आप उन्हीं के रास्ते की तरफ जा रहे हैं? तप और त्याग के साथ आत्मचिन्तन करने में माना कि कभी–कभी उच्चाटन बहुत होता है, लेकिन आप उसे सहन क्यों नहीं करते? ओह! लगता है, आपने अवश्य कहीं न कहीं संन्यासरूप स्वधर्म का परित्याग किया है। माना कि तप–त्याग के साथ अहर्निश आत्मचिन्तन करनेपर नित्यप्रति शरीर थक जाता है, इन्द्रियाँ थक जाती हैं, लेकिन आप यदि उच्चाटन को सहन करते हैं तो हर रोज योगनिद्रा से ये तन, मन, वचन शक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं और जगने पर पुनः दस गुने उत्साह के साथ तप, त्याग के साथ आत्मचिन्तन के लिए तैयार हो जाते हैं।

(सुखदुःखे समे कृत्वा.....) स्वधर्मरूप संन्यास से भागना नहीं चाहिए बल्कि संन्यास के बाह्य नियमों का कठोरता से पालन करते हुए आत्मचिन्तन करते रहना चाहिए। आप दीन–हीन न बनें, जो मिल जाय उसी में सन्तोष करें। एक हलवाहे को नमक–रोटी भी समय से नहीं मिलती लेकिन आपके लिए भगवान के सारे भोजन के भण्डार खुले हुए हैं, तीर्थों में तो जगह–जगह अन्नक्षेत्र खुले हुए हैं। भूख लगने पर दो–चार रोटी माँगकर खा लेना है। कहीं–कहीं तो माँगना भी नहीं है, पंगत में बैठकर प्रसाद पाना है और पुनः आकर ध्यान–चिन्तन में प्रवृत्त हो जाना है। वह दिन आपके जीवन में कब आयेगा, जब आप अहर्निश ध्यान एवं चिन्तन में लगे रहेंगे?

साधना के प्रथम चरण में जब आत्मचिन्तन भीतर प्रवेश करता है, तब कामचिन्तन बाहर निकलते समय साधक के चित्त को मथ देता है। यही नहीं, कभी–कभी तो वह इतने वेग से आक्रमण करता है कि साधक भय से या तो मैदान छोड़ कर भाग जाता है या दूसरी साधना पद्धति को अपनाने लगता है; जबकि किसी भी साधनपथ में काम, क्रोध, लोभ आदि के घेरे को पार करना ही होता है।

बारह साल से साधना में रत रहनेवाले एक उच्च कोटि के साधक ने काम की मार को

सहन न कर पाने से विवाह करने की आज्ञा माँगी। महाराज ने कहा– छः–सात महीना इस महापापी काम की मार को और भी सहन कर लें आप। आप अब अकाम होने जा रहे हैं न, इसलिए ही यह महापापी काम आपको मारता हुआ जाना चाहता है। छः–सात महीने के उपरान्त जब सहन हो ही नहीं, तो आपने अभी तो घर छोड़ा ही नहीं है, संन्यास लिया ही नहीं है, अतः शादी कर लेना लेकिन एक बात का ध्यान रखना कि शादी–विवाह कर लेने से आप निर्विषयी नहीं हो जायेंगे बल्कि और भी विशेष विषयी हो जायेंगे। किसी न किसी जीवन में सम्पूर्ण अकाम होने के लिए काम के वेग को सहन करना ही पड़ेगा। ऐसा सुनकर उन्होंने साधना प्रारम्भ कर दी और छः–सात महीने के उपरान्त आकर कहा– बड़ी शान्ति मिली महाराज! बड़ी शान्ति मिली!! अब तो मैं जीवनपर्यन्त शादी नहीं करूँगा। आज लगभग आठ–नव साल हो गये हैं, लेकिन वे साधना में मस्त हैं।

(स्वधर्ममपि चावेक्ष्य...नैवं पापमवाप्स्यसि) अब महाराज युद्धभूमि के उस मुहाने पर आकर खड़ा हो गया है, जहाँ से भगवान के द्वारा अर्जुन के प्रति पड़नेवाली डाँट–फटकार को और उनकी मधुर मुसकान को बता सकता है। भगवान मानो अर्जुन से हँसते हुए कहते हैं कि हे पार्थ! तुम स्वयं को क्षत्रिय समझते हो तो चलो यह भी स्वीकार किया मैंने, जबकि अब तुम क्षत्रियजाति के नहीं रहे, तुम मेरी जाति के हो गये हो। युद्ध के मैदान में आने के उपरान्त वीरों की कोई जाति नहीं होती। तुम अब मेरे शिष्य पहले हो और वीर बाद में हो लेकिन इसके बाद भी तुम महावीर ही हो, क्षत्रिय नहीं लेकिन चलो यदि तुम क्षत्रिय हो तो छत्र की लाज रखो। बहुत से क्षत्रियों ने तो अपने दुराचारी पुत्रों का वध स्वयं करा दिया है, तो तुम दुराचारी राजाओं का वध कर दो इसमें क्या बड़ी बात है? सूर्यवंशियों ने तो धर्मयुद्ध करते–करते भी ब्रह्मज्ञान पाया है, तो क्या उन क्षत्रियों में से तुम नहीं हो! तुम्हारे जैसा सौभाग्यशाली पुरुष कौन है, जिसको माँ कुन्ती ने, पितामह भीष्म ने, गुरु द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य ने इस धर्मयुद्ध को करने की आज्ञा दी है। यदि इतने पर भी तुम धर्मयुद्ध का त्याग करते हो तो निश्चितरूप से तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लग जायेगा।

प्रभु ने ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन को भयभीत करने का प्रयत्न किया है। भक्त अर्जुन के लिए इधर से भय, उधर से भय, भागने में भय, रोने में भय, हँसने में भय; सब ओर से भय ही भय दिखाकर भलीभाँति घेर दिया है। सब तरफ से भय से घिरे हुए महात्मा अर्जुन को उत्साहित करने के लिए प्रभु ने एक अद्भुत घोषणा कर दी है कि हे पार्थ! तुम्हारी कीर्ति भी मुझे अतिप्रिय है। तुम्हारी कीर्ति जायेगी तो मेरी भी कीर्ति जायेगी, वैसे ही मेरी कीर्ति जायेगी तो तुम्हारी भी गयी हुई ही समझो। तुम्हारी अपकीर्ति मेरे से देखी नहीं जायेगी। तुम एक ही तो मेरे शिष्य हो उसमें भी तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा! लोग कहेंगे कि 'कृष्ण, अर्जुन जैसे शिष्य को शोक से रहित न कर सके तो उन्होंने उसे शिष्य बनाया ही क्यों? वे बड़े विवेकी बनते थे, तभी तो गुरु बनने की लालसा हो गयी थी! ऐसा सद्गुरु कैसा जो शिष्य में गुरुता का संचार ही न कर सके, वह अग्नि कैसी जिसमें ताप नहीं, वह जल कैसा जिसमें शीतलता नहीं।' ऐसा

कहकर जब मेरे विरोधी हसेंगे तो मेरी बनी–बनायी प्रतिष्ठा सब बिगड़ जायेगी। यदि तुम्हें अपने कुटुम्बियों के वध से होनेवाले पाप से ही भय लग रहा है तो यह क्यों नहीं कहते कि मैं गुरुजनों से युद्ध नहीं कर सकता और अधर्म को भी देख नहीं सकता तथा संन्यास लेकर उनके राज्य में भी नहीं रह सकता; अतः चिता जलाकर मरने जा रहा हूँ। जब तुम जलकर मर जाओगे तो मेरा तो चक्र है ही। वह शिशुपाल वध के उपरान्त तो भूखा ही है, इन सबको ठिकाने लगाकर अपना पेट भर लेगा और यही नहीं, तुम यह भी जान लो कि ये सभी महारथी तुम्हें दयार्द्र चित्त के कारण नहीं बल्कि भयभीत होकर भागा हुआ मानेंगे और कहेंगे कि अरे! वह कायर था, भीरु था, हिजड़ा था। जबतक उसका सामना कर्ण जैसे महारथी से नहीं हुआ था, तभी तक वह डींग हाँका करता था। अब जब उसने जाना कि कर्ण के साथ–साथ अजेय द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म तथा कृपाचार्य आदि भी दुर्योधन के पक्ष से ही खड़े हो गये हैं, तब कुत्ते की तरह दुम दबाकर भाग गया। इसप्रकार वे सब तुम्हें भगोड़ा भी कहेंगे। मेरा नाम तो भगोड़ा (रणछोड़) पड़ा ही हुआ है, जिसे मैं तो प्रेमपूर्वक स्वीकार करता हूँ लेकिन तुम इस भगोड़े शब्द को सहन नहीं कर पाओगे।

(हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं.....) भगवान ने मानो पुनः शंख फूँक दिया हो। वे समझ रहे हैं कि जो भी कुछ कहना था मैंने कह दिया तथा इसने प्रेमपूर्वक सुनकर समझ लिया। इसलिए जल्दबाजी में कह रहे हैं– चलो अब जल्दी करो! युद्ध के लिए तैयार हो जाओ! आत्मतत्त्व को तुमने भलीभाँति समझ लिया है कि आत्मा सुख–दुःख, हानि–लाभ एवं जय–पराजय से परे है।

भगवान ने अर्जुन के कन्धे को झकझोरा और कहा– चलो! चलो! देर न करो, इन सबकी मनोकामना पूरी करो। समय का दुरुपयोग मत करो, जो समय की हत्या करता है, वह महाहत्यारा होता है। मैं सत्य कहता हूँ कि स्वजन वध से होनेवाला पाप तो तुमको स्पर्श कर ही नहीं सकता।

अर्जुन के मन में आया कि यदि पाप स्पर्श नहीं करेगा तो पुण्य भी स्पर्श नहीं करना चाहिए, फिर मरकर तुम स्वर्ग जाओगे, ये ऐसा बार–बार क्यों कह रहे हैं। एक तरफ कह रहे हैं कि आत्मा की पराजय होती नहीं और दूसरी तरफ कह रहे हैं कि स्वर्ग जाओगे या पृथ्वी का राज्य भोगोगे। ऐसा कहने से तो यह सिद्ध ही होता है कि विजय में तो इन्हीं को संदेह है। यदि संदेह नहीं होता तो ये संदेहास्पद बात क्यों करते?

भगवान ने यहाँ पर कौन्तेय कहकर पुकारा था ताकि ये शोक सन्तप्त अर्जुन, वीरांगना माँ के वीरोचित स्वभाव को यादकर हुंकार भरते हुए गाण्डीव उठा लें लेकिन महात्मा अर्जुन तो इतने गहरे में डूबकर सोच रहे हैं कि भगवान की बात सुनी–अनसुनी हो गयी और उनके विश्वास पर पानी फिर गया। प्रभु सोच रहे हैं कि खोदा पहाड़, निकली चुहिया। भगवान ने ब्रह्मराग तो खूब अलापा लेकिन अर्जुन की 'भैंस खड़ी पगुराय' वाली स्थिति हो गयी।

भगवान ने सोचा कि अबतक तो यह स्वर्ग की ही बात कर रहा था, इसके पितर,

पितरलोक से गिर रहे थे, इसके स्वर्गीय देवता स्वर्गलोक में दुःखी हो रहे थे और जब मैंने मरकर स्वर्ग में जाने की बात की तो इसका जगत लुट गया! मैंने इसे प्रकृति एवं पुरुष के गूढ़ात्मक रहस्य को बता दिया है तो भी इसे भगवती सती की भाँति मेरी बात पर विश्वास हो ही नहीं रहा है। मैंने तो इसे ज्ञान का ही अधिकारी समझा था, सोचा था इसे सर्वप्रथम आत्मज्ञानी बनाकर इससे युद्ध कराऊँगा; किन्तु अवश्य ही इससे कोई स्वधर्मपालन में बड़ी भारी भूल हो गयी है, जिससे कि यह सम्पूर्ण आत्मरूपता से अभी तक वंचित है लेकिन मैं इसका पीछा नहीं छोड़ूँगा। आत्मरूप होकर यह युद्ध नहीं कर पाया तो चलो भक्तरूपता देकर इससे युद्ध कराऊँगा। अद्वैत से काम नहीं बना तो चलो अब विशुद्ध द्वैत की ही स्थापना करता हूँ।

(सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ.....) महात्मा अर्जुन ने अभी प्रभु से सुना कि सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय को समान समझकर युद्ध करो, तो ऐसा सुनकर उन्होंने सोचा– ये मधुसूदन तो दोहरी बात कर रहे हैं, एक तरफ कह रहे हैं कि मैं तुम्हारे जीवनरथ पर भी बैठा हूँ, शोक–सन्ताप न करो, तुम युद्ध करो, पाप से लिपायमान नहीं होओगे और दूसरी तरफ कह रहे हैं कि हानि–लाभ, सुख–दुःख, जय–पराजय को समान समझते हुए युद्ध करो– इससे सिद्ध होता है कि सम एवं विषम दोनों ही परिस्थियों का सामना करना पड़ेगा। लगता है पराजय का मुँह भी देखना पड़ेगा, लगता है हानि भी सहन करनी पड़ेगी? ऐसा सोचकर वे मौन हैं।

त्रिकालदर्शी भगवान ने ऐसा कहकर सब रास्ता पहले ही साफ कर लिया है। वे जानते हैं कि युद्ध में सर्वप्रथम अभिमन्यु मारा जायेगा तो अर्जुन पूछेगा– यह क्या माधव? जिस दिन (एक दिन) कर्ण से भी पराजय होगी तो पूछेगा– यह क्या माधव? आचार्य द्रोण का धृष्टद्युम्न ध्यानावस्था में ही गला काट लेगा तो पूछेगा– यह क्या माधव? जब सारे बाल–बच्चे स्वाहा हो जायेंगे तो पूछेगा– यह क्या माधव? तो प्रभु कह देंगे कि मैंने तो पहले ही कह दिया था कि लाभ के साथ–साथ हानि भी होगी, जय के साथ–साथ पराजय भी होगी तथा सुख के साथ–साथ दुःख भी होगा।

ये सारे शरीर सप्तसुरोंवाली बाँसुरी हैं, उसीप्रकार श्रीकृष्ण नाम का शरीर भी एक दिव्य बाँसुरी ही है। इस बाँसुरी से अबतक भगवान ने ज्ञानयोगरूप राग गायी है, अब कर्मयोगरूप राग गाने जा रहे हैं। उनकी ज्ञानयोगरूप राग को सुनकर युद्ध के मैदान से लेकर पूरे ब्रह्माण्ड में कैसी स्थिति हो गयी, इसे मालगुंजी–राग में महाराज गा रहा है। तो आयें आप भी महाराज की राग में राग मिलावें–

मुरलिया बजाई, बजाई आज ऐसी।
ठिठुके से रह गये साधु संत सगरे, असुर नाग रह गये ठिठुके से मगरे।
ठिठुके से रह गये धनंजय को देखो, संजय की सुध–बुध बनी देखो कैसी।।
ठिठुके से रह गये भीष्म राग सुनके, देखो न दुर्योधना मन में तमके।
ठिठुके से रह गये धृतराष्ट्र सुनके, ज्ञानराग गायी माधव ने जैसी।।

ठिठुके करण द्रोण युयुत्सु भी ठिठुका, दुर्योधना पर वह वीर भड़का।
सेना महत् देखो ठिठुकी सी रह गयी, ठिठुकी सकल सृष्टि निर्गुण के जैसी।।
महाराज ठिठुका सकल शिष्य ठिठुके, सारे जगत से सदा से ये बिदुके।
महाराज माधव की ठिठुकन तो देखो, ठिठुकन है कैसी निराकार जैसी।।

मानो भगवान कह रहे हैं– जय–पराजय, हानि–लाभ, सुख–दुःख को समान समझते हुए, सूर्यवंशियों ने भी आत्मस्वरूप में स्थित होकर गुरुआज्ञा पालनरूप धर्मयुद्ध किया है, इसी से वे राजर्षि कहे गये हैं। इसीकारण से उन्होंने परम कैवल्यरूप महत् पद को भी प्राप्त किया है। अतः तुम भी उनलोगों का अनुसरण करो, गाण्डीव उठाओ और युद्ध करो!

महात्मा अर्जुन ऐसा सुनकर भी चुप्पी साधे रहे। पराजय के स्वाद को वे चखना नहीं चाहते लेकिन योद्धा उसे नहीं कहते जो पराजय से डरता है। चलने की कामनावाला बालक यदि गिरने से डरता है तो चलेगा कैसे? उसे तो बार–बार गिरना पड़ेगा। माँ की उँगली को, पिता की उँगली को, भाई–बान्धवों की उँगली को पकड़कर चलता हुआ बालक कभी–कभी गिर जाता है, वह अपने से भी दीवार के सहारे चलता हुआ या चारपाई को पकड़कर चलता हुआ भी बार–बार गिर–गिर जाता है, तो भी वह यदि प्रयासरत है तो कभी न कभी किसी काल में चलने ही लगता है। वैसे ही अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन को भगवान ने ज्ञानयोगरूप उँगली को पकड़कर चलाना चाहा लेकिन वे गिर–गिर जा रहे हैं, तो भी भगवान पीछे क्यों रहेंगे, वे तो उन्हें चला के मानेंगे। पुनः उसी ज्ञान की धारा को बहा रहे हैं लेकिन अर्जुन के लिए कर्मयोग की संज्ञा दे रहे हैं, बुद्धियोग की संज्ञा दे रहे हैं, समत्त्वयोग की संज्ञा दे रहे हैं। ये तीनों ही नाम– कर्मयोग, समत्त्वयोग, बुद्धियोग पर्यायवाची ही हैं, इसलिए कहीं अर्जुन जैसा आप भी झंझट में मत पड़ जाना। तो भगवान कह रहे हैं–

ॐ मासपारायण, चौथा विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, दूसरा विश्राम ॐ

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये
बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ
कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

यद्यपि अबतक मैंने जो कुछ भी कहा है वह ज्ञानयोग है जिसे तुम्हारी बुद्धि समझ नहीं पायी है तो कोई बात नहीं; अब कर्मयोग के मर्म को बता रहा हूँ जिसके द्वारा तुम कर्मबन्धन को काट ही डालोगे। एक विलक्षण बात है कि इस कर्मयोग रूप यज्ञ में यदि कुछ त्रुटि भी हो जाय

या अधूरा रह जाय तो भी उलटा दोष नहीं लगता बल्कि इस कर्मयोग का थोड़ा साधन भी जन्म–मृत्युरूप महान भय से मुक्त कर देता है।

चलो, तुमने निश्चितरूप से अशोच का शोच इतना कर दिया है, इतना कर दिया है, सामान्य धर्म, पौराणिक धर्म से तुम्हारी बुद्धि इतनी आहत हो गयी है, तुम्हारा चित्त इतना मोहित हो गया है कि ज्ञान उसे स्पर्श करके लौट जा रहा है। मानो वह मोह ही कवच का काम कर रहा है। यद्यपि अबतक तुम्हारे चित्त का समाधान हो जाना चाहिए था लेकिन तुम्हारे भीतर में कहीं न कहीं कोई न कोई कामना छिपी हुई है, वह कामना ही तो मोह है। अब वही मोह हमारे और तुम्हारे बीच में अवरोधक तत्त्व बनकर खड़ा हो गया है; लेकिन तो भी कोई बात नहीं, मैं तुम्हें एक ऐसा गोपनीय रहस्य बतला रहा हूँ, जिससे कि तुम यह भी नहीं कह पाओगे कि तुम कुछ कर रहे हो। तुमने जो कहा है कि 'कैसे करुँ माधव इनसों रार,' तो यह भी नहीं कह पाओगे। तुम गुरुजनों के साथ युद्ध तो करोगे, सम्भव है इन सबका वध भी हो, लेकिन तुम यह नहीं कह पाओगे कि इनका वधकर्ता मैं ही हूँ। युद्धोपरान्त तुम कहोगे कि हे माधव! यह युद्ध आपने किया, आपकी प्रकृति की ही ऐसी व्यवस्था थी; जिसप्रकार स्वप्न में सम्पूर्ण प्राणियों का संहार करने के उपरान्त जब स्वप्न का वह योद्धा विजयी होकर, विजय घोष सुनकर जैसे ही आनन्दित होता है और उसी समय वह जाग जाता है तो जगने के बाद कहता है कि अरे! मैंने तो युद्ध किया ही नहीं। तो ऐसा करना, अब तुम विशेष श्रद्धा से सुनना। ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता तो कम से कम बुद्धियोग तो प्राप्त कर लो!

अब साधकों के मैदान में आ जायें, जहाँ वे इन मंत्रों को अपने लिए सार्थक समझ रहे होंगे। तो सुनें– तन, मन, इन्द्रियों से होनेवाले कर्म को सकाम कर्म कहते हैं; क्योंकि तन और मन का योग होता है तो वहाँ सकामता प्रकट हो जाती है। जीव का जीव से योग होता है तो वहाँ सकामता प्रकट हो जाती है। माता–पिता यदि जीव हैं, अज्ञानी हैं और उनका बालक मातृ–पितृ भाव से ही आज्ञा पालन करता है, तो वह सकाम कर्म कहा जाता है। भाई–बान्धव, बाल–बच्चों के सुख की कामना से कोई कर्म करता है तो वह सकाम कर्म कहा जाता है लेकिन मैं निश्चित ही आत्मा हूँ, वह द्रष्टा मैं ही हूँ, वह सनातन पुरुष मैं ही हूँ, ऐसे सत्त्व में स्थित होकर, आत्मरूप होकर जो भगवत् आज्ञानुसार, सद्गुरु आज्ञानुसार, उसी की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है, तो वह कर्म समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग कहा जाता है।

अभी तक आप सबके सामने ज्ञानयोग की प्रस्तावना की गयी, जिसे आप सबने सुन लिया। महाराज कहता है कि यदि आज ही घर छोड़ दिया किसी ने भगवान के लिए तो आज ही से वह ज्ञानयोगी हो जाता है। यद्यपि वह ज्ञान में स्थित नहीं है, तो भी संन्यासीगुरु की आज्ञा से जप, तप, योग को निष्काम भाव से स्वीकार करता है, अतः वह संन्यासाश्रमी कर्मयोगी कहा जाता है। इसप्रकार दो प्रकार के साधक हुए– एक वे, जिन्होंने सब ब्रह्म ही है, ऐसा स्वीकार कर लिया और जप, तप, योग छोड़कर द्रष्टारूप हो गये; जैसे भगवान शुकदेव एवं भगवान दत्तात्रेय और दूसरे वे, जिन्होंने घर से संन्यास लेकर सद्गुरु आश्रम में उनकी आज्ञा से ब्रह्मचर्य व्रत धारणकर,

अपने को आत्मा मानकर चित्तशुद्धि के निमित्त जप, तप, योग को स्वीकार कर लिया है। ऐसे संन्यासाश्रमी कर्मयोगियों में सत्यकाम, आरुणि एवं उपमन्यु आदि की जीवनी विशेष सार्थक है।

(बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ.....) इस मंत्र में 'यया बुद्ध्या युक्तः' पद आया है। इसके द्वारा भगवान का आशय है कि मैं एक ऐसी बुद्धि दूँगा, जिसके द्वारा आप कर्म के बन्धन को तोड़ेंगे ही नहीं बल्कि कर्म की छाप भी आपके चित्त पर नहीं पड़ेगी। इससे स्पष्ट हो रहा है कि सामान्य बुद्धि एवं विशेष बुद्धि से भी कोई विलक्षण बुद्धि है; वह न लौकिक बुद्धि है, न पारलौकिक बुद्धि है। तो फिर कौन सी बुद्धि है? हाँ, वह ब्रह्म की बुद्धि है अथवा वह बुद्धि जो ब्रह्म के ही अति निकट है, उसी से जुड़ी हुई है, वह निःसन्देह कर्मबन्धन को काट डालेगी। तो ऐसी बुद्धि को समझने के लिए आप एक दृष्टान्त देखें, जिसे महाराज के गुरुदेव प्रायः दिया करते थे–

एक विनोदी संत चिलचिलाती धूप में पत्थर तोड़ते हुए मजदूरों की तरफ बढ़ गये। 'क्या कर रहे हैं आप'– एक मजदूर से उन्होंने हँसते हुए पूछा। अंधे हो क्या, दिखाई नहीं देता? साधु का वेश बना लिया, बिना करे–धरे खाना है और कह रहे हैं– क्या कर रहे हो! ऐसा झल्लाते हुए कहकर वह पुनः पत्थर तोड़ने लगा। संत आगे बढ़े, दूसरे से पूछा– क्या हो रहा है? धूप–धाप नहीं लग रही है? उसने कहा– बाल–बच्चे हैं, पेट भरना है न, इसलिए काम तो करना ही पड़ेगा! उसने थोड़ा गरम–नरम बोला। संत ने आगे बढ़कर तीसरे से पूछा– अरे भाई! खाना–पीना भी खाओगे या इस दुपहरी में पत्थर ही तोड़ते रहोगे? क्या करें बाबा! बाल–बच्चे हैं, समाज है, सबके साथ रहना है। उसी में कभी आप जैसे संत भी आ जाते हैं, आप–सबकी भी सेवा करनी है लेकिन आप इस तपती धूप में इधर कैसे चल पड़े! हम तो मर ही रहे हैं, आपको आने की क्या सूझी! तीसरे ने उत्तर देकर आदर–मान के साथ पूछा? बतायेंगे–बतायेंगे, आप तो पत्थर तोड़ें– ऐसा कहकर मुसकराते हुए संत चौथे के पास पहुँच गये और कहा– अरे! पत्थर ही तोड़ोगे कि इस जेठ की दुपहरी में विश्राम भी करोगे? मजूदर ने उन्हें देखा और छेनी हथौड़े को फेंककर बड़े आदर–मान के साथ प्रणाम करते हुए अपने गमछे को बिछाकर प्रेमपूर्वक बिठाया तथा पगड़ी बाँधनेवाले वस्त्र से उनको छाया करते हुए कहा कि 'प्रभु का मुझ दीन के पास आगमन कैसे हो गया? क्या मुझ सेवक की कुछ आवश्यकता है या दर्शनरूप वरदान ही देने आ गये हैं? तो आयें घर चलें! वहीं पर आप प्रसाद पायें और विश्राम करें!' 'फिर यह कर्म कौन करेगा– संत ने हँसते हुए पूछा?' मजदूर ने हँसते हुए कहा– 'कैसा कर्म? कौन कर्म? जिसके लिए कर्म करता हूँ, वह तो दरवाजे आ गया। रही बात कर्म करने की, तो हे प्रभु। मैं कहाँ कर रहा हूँ? शरीर बेचारा जड़ है, कर ही नहीं सकता। मैं साक्षी हूँ, चेतन आत्मा हूँ; इसलिए मैं कर ही नहीं सकता। शेष बचा प्रारब्ध तो वह बेचारा मुझ चेतन के अभाव में कुछ कर ही नहीं सकता। तो फिर क्रिया हो कहाँ रही है, यह तो आपका लीला–विनोद हो रहा है।' ऐसा सुनकर संत सन्तुष्ट होकर तथा वरदान देकर आगे बढ़ गये।

जो कर्म ब्रह्मबुद्धि के द्वारा होता है, उसे, इस दृष्टान्त से समझ गये होंगे। जिसप्रकार प्रभु श्रीराम के अस्त्र–शस्त्रों को विफल होते देख महर्षि अगस्त्य ने दिव्य कवच एवं दिव्यास्त्र दिये,

उसीप्रकार भक्त अर्जुन की जीवबुद्धि को कुण्ठित होते देख प्रभु ने अपनी ही बुद्धि यानी ब्रह्मबुद्धि अर्थात् बुद्धियोग देने का निश्चय किया है। मानो भगवान कह रहे हैं कि जिसप्रकार मेरे सुदर्शनचक्र की समानता कोई भी अस्त्र कर ही नहीं सकता उसीप्रकार मेरे पास कर्म करने की एक ऐसी युक्ति है कि कर्म से कर्म प्रकट होना तो दूर बल्कि पूर्व के भी सारे के सारे कर्म ही कट जायेंगे अर्थात् नष्ट हो जायेंगे। इस युक्ति का नाम भगवान ने बुद्धियोग दिया है। वह इसलिए कि बुद्धि ही सृजन करती है, वही संहार करती है तथा वही पालन करती है। कोई भी व्यक्ति बुद्धि से ही निर्णय करके कर्म के त्याग और ग्रहण में प्रवृत्त होता है। आत्मा के संसर्ग से प्राप्त होनेवाली बुद्धि को आत्मबुद्धि (ब्रह्मबुद्धि) कहते हैं एवं आत्मबुद्धि से किया जानेवाला कर्म बुद्धियोग कहा जाता है। जिसप्रकार भक्त अर्जुन के लिए भगवान की बुद्धि ही भगवद् बुद्धि है, उसीप्रकार शिष्य के लिए सद्गुरु ही भगवद् बुद्धि है। सात्त्विक, राजस एवं तामस भेदोंवाली जीव की तीन प्रकार की बुद्धि ब्रह्म से जुड़ जाती है तो अति प्रभावशाली हो जाती है। जैसे कुल्हाड़ी में लकड़ी का हत्था लगा देने पर पुरुष बड़े से बड़े पेड़ को धराशायी करने में समर्थ हो जाता है, उसीप्रकार अपनी बुद्धि को सद्गुरु की बुद्धि से जोड़कर साधक जो चाहिए वह सब कर लेता है।

प्रभु ने ज्ञानयोग देने के पूर्व इसकी महिमा तो गायी ही नहीं थी, सीधे–सीधे भला–बुरा कहते हुए ज्ञान देना ही प्रारम्भ कर दिया था, इसलिए अर्जुन के मन में ज्ञान के प्रति आध्यात्मिक श्रद्धा नहीं हो पायी। इसलिए भगवान सोच रहे हैं कि कहीं फिर वही कहानी न हो जाय, अतः कर्मयोग की अर्थात् बुद्धियोग की महिमा पहले ही गा रहे हैं। देखा नहीं आप सबने कि लंका में विभीषण के पास हनुमानजी ने प्रभु श्रीराम की ऐसी महिमा गायी, उनके गुणों का ऐसा बखान किया कि श्रीरामजी के ब्रह्म होने में उन्हें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहा। अतः प्रथम दर्शन में ही जीव और ब्रह्म मिलकर एक हो गये। किसी विषय–वस्तु को देने से पूर्व ही यदि उसकी प्रशंसा हो जाती है तो उसके प्रति व्यक्ति में सहज ही श्रद्धा–विश्वास जम जाता है। इतना ही नहीं, फिर तो यदि विषय–वस्तु में कोई दोष भी होता है तो दिखाई नहीं पड़ता।

लगभग सन् १९९८ में महाराज ने राठौरजी (शिमला) से कहा था कि आप एक घण्टा टहला भी करें और कुछ प्राणायाम भी करें। आप बचे हुए पूरे समय को ध्यान–भजन में ही न दें, प्राणायाम एवं टहलना भी भजन का ही एक अंग है लेकिन उन्होंने महाराज का कहना नहीं माना। किन्तु जब सन् २००१–०२ में पता चला कि शरीर में मधुमेह हो गया है, तब टी.वी में आसन–प्राणायाम की महिमा सुनकर श्रद्धा और विश्वास के साथ करने लगे। तो आयें अब भगवान के द्वारा सर्वप्रथम कर्मयोग की महिमा भी सुन लें–

(नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति.....) भगवान कहते हैं कि इस कर्मयोग द्वारा थोड़ा भी किया हुआ साधन इस महान दुःखरूप संसारसागर से पार करनेवाला हो ही जाता है। इस कर्मयोग में प्रतिष्ठित पुरुष का किया हुआ कुछ भी नाश नहीं होता, जबकि सकामकर्मी की साधना यदि बीच में खण्डित हो जाती है तो किया हुआ सबकुछ नाश तो हो ही जाता है, प्रत्यवाय दोष

अलग से लग जाता है। सकामकर्मी ने एक करोड़ गायत्री या महामृत्युञ्जय आदि मंत्रों के जप का संकल्प लिया हो और समय के पूर्व ही वह जप खण्डित हो जाय तो किये हुए जप का कुछ भी फल नहीं मिलता अपितु मन–नाश, बुद्धि–नाश या धन–नाश अथवा जन–नाश अवश्य हो जाता है।

यह लो! इस दिव्य मंत्र से आहुति देना, यदि आहुति पूरी हो जायेगी तो अग्नि देवता के द्वारा तुम्हें एक दिव्य रथ प्राप्त होगा। उस रथ पर बैठकर तुम किसी से भी युद्ध करोगे तो तुम्हारा वध नहीं होगा और यदि इस अनुष्ठान में विघ्न पड़ जायेगा तो तुम्हारी मृत्यु भी हो सकती है। भगवती निकुम्भिला के द्वारा ऐसा वरदान पाकर मेघनाद हर्षित हो गया। समयानुसार प्रभु श्रीराम एवं लक्ष्मण के वध के निमित्त जब वह इस अनुष्ठान को कर रहा था तो महात्मा विभीषण के द्वारा कहने पर लक्ष्मण, अंगद और हनुमान आदि ने उसके यज्ञ को विध्वंस कर दिया। जिसका परिणाम आप सभी जानते हैं कि उसी दिन मेघनाद लक्ष्मण के द्वारा मारा गया।

इसी प्रत्यवाय दोष के कारण सौ में निन्यानबे तांत्रिक विक्षिप्त होकर घूमते हुए पाये जाते हैं। तंत्र, समय एवं संख्या की अपेक्षा रखता है, यदि इसके विपरीत हुआ तो फिर आसुरी शक्तियाँ उसकी बुद्धि को छिन्न–भिन्न कर देती हैं। यही बात वैदिक यज्ञादि अनुष्ठानों में भी देखी जाती है लेकिन निष्काम कर्मयोगी 'त्रायते महतो भयात्'– महत् भय को पार कर जाता है। आसक्ति ही महाभय है, संसार ही महाभय है, दुःख ही महाभय है, सुख ही महाभय है, पाप ही महाभय है, पुण्य ही महाभय है, मान ही महाभय है, अपमान ही महाभय है, लाभ ही महाभय है, हानि ही महाभय है और जन्म तथा मृत्यु तो महाभय है ही। इसप्रकार महत् भय से पार हुआ वह संसारसागर से मुक्त हो जाता है। भगवत्प्राप्ति के निमित्त यदि उसने घर का परित्याग कर योग, जप, तप प्रारम्भ कर दिया है लेकिन उसका वह जप, तप, योग प्रमादवश अथवा किसी भी दोष के कारण खण्डित हो जाता है, यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी हो जाती है तो भी उसका इस जन्म का किया हुआ साधन अगले जन्म में स्वागत करता है और वहीं से पुनः उसकी साधना प्रारम्भ हो जाती है। तो क्या उसे एक ही जन्म में भगवद्सिद्धि प्राप्त नहीं होती? हाँ, कोई निश्चित नहीं है कि उसे एक ही जन्म में भगवद्सिद्धि प्राप्त हो जाय; क्योंकि उसका प्रारब्ध भी उसका पीछा करता है, बहुत बार साधक को पटकनी दे देता है, पराजित कर देता है। साधना के बीच में ही साधक अनजाने में सकामी भी हो जाता है, अनजाने में दयालु भी हो जाता है, कृपालु भी हो जाता है; जीवों पर दया कर जाता है, कभी वरदान, कभी शाप देने लगता है। लेकिन यदि सचमुच में घर छोड़ा है भगवान के लिए और कुछ काल तक भगवान के लिए ही जप, तप, योग किया है, इसके बाद सकामी हो गया जड़भरत की तरह, तो भी कोई बात नहीं– जिन्होंने मृग के बच्चे की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। उनका चित्त उसी के वशीभूत हो गया था। साधना छूट गयी, लालन, पालन, पोषण में लग गये। वे सकामी हो गये, वे यह नहीं जान पाये कि दया गृहस्थों के लिए साधक है और संन्यासियों के लिए महाबाधक है। अन्ततोगत्वा उसी में चित्त रमण करने के कारण से उनके प्राण–पखेरू उड़ गये। लोगों की

दृष्टि में उनका वह पूर्व का कर्मयोग नाश हो जाना चाहिए था लेकिन ऐसा हुआ नहीं, अगले जन्म में पुनः वे बचपन से ही संन्यासी हो गये, जिन्हें जड़भरत नाम से जाना गया तथा कालान्तर में जिन्होंने राजा रहूगण को आत्मज्ञान दिया।

भगवान नारायण ने सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी दोनों पर अहैतुकी कृपा की है, वह यह कि भगवान के लिए एकबार जो संन्यास लेकर चल पड़ा, यदि उससे कोई महादोष हो भी जाता है तो भगवान उसे दण्डित नहीं करते हैं बल्कि आज देनेवाली वस्तु को कल के लिए टाल देते हैं। अतः आप साधक हैं, इस ब्रह्मविद्या के गूढ़ात्मक रहस्य को आप भलीभाँति समझ सकें, इसके लिए एक जीती–जागती कथा को महाराज देता है; जिसे सावधान होकर साधक पढ़े तो साधनपथ में बड़ा बल मिलेगा। यही नहीं, वर्तमान समय में संन्यासी साधक मनगढ़ंत नियम भी बना लेते हैं, उसके भी परिणाम का पता चलेगा।

यह कथा है उस सन्त की जिसे आप 'स्वामी राम' नाम से जानते हैं। एक रात्रि उन्होंने अपनी धर्मपत्नी से कहा– जानती हो! कल सवेरा होगा और मैं इस जीवजगत से संन्यास ले लूँगा। 'तो फिर मैं भी आपके साथ चलूँगी– ऐसा धर्मपत्नी ने कहा।' ऐसा करना तो तुम्हारे लिए बड़ा कठिन हो जायेगा– स्वामी राम ने सहज ही कहा। तो क्या हुआ! आप जो साथ हैं– धर्मपत्नी ने कहा। मेरे साथ चलने के लिए तीन प्रतिज्ञाओं को पूरा करना होगा– स्वामी राम ने कहा। वे कौन सी प्रतिज्ञा हैं? धर्मपत्नी ने पूछा। अभी नहीं सवेरे पूछना। सवेरा हुआ। स्वामी राम ने कहा– दोनों बच्चों को लेकर बिना कुछ पैसा–कौड़ी लिए बाहर निकल कर दरवाजे पर खड़ी हो जाओ– यह पहली प्रतिज्ञा है। ऐसा ही किया उस माँ ने। अब घर का सामान उन्होंने गरीबों में बाँटकर, मकान की चाभी (चाबी) एक गरीब ब्राह्मण भक्त को देकर उस साध्वी माँ से कहा– अब कहो राम मर गया।(भारतीय नारी के लिए अपने पति का नाम लेना ही कठिन समस्या है, उससे कहीं असंख्यगुणा कठिन है अपने पति का नाम लेकर उसे अपने लिए मरा हुआ मान लेना यानी पति–पत्नी का नाता समाप्त कर लेना) उसने एकबार उनकी तरफ आश्चर्यचकित हो देखा और कहा कि मेरा राम मर गया। तुम्हारी एक प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब लाहौर के उस चौराहे पर आये जहाँ भीड़–भाड़ के कारण एक–दूसरे को पार करना बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसे चौराहे की एक गली के किनारे खड़े होकर धर्मपत्नी से कहा– ये लो! इतने पैसे राम ने बचा रखे थे, जितने में दो दोने जलेबी के आ जायेंगे। तो जाओ उस हलवाई की दुकान पर जलेबी खरीदकर इन दोनों भगवान की आत्माओं (बच्चों को) को दे देना और जब ये खाने में मस्त हो जायँ तो इनकी आँखों से छिपते हुए तुम मेरे पास चली आना। उसने उनकी आँखों में देखकर कौतूहल एवं भय से पूछा कि क्या इनको छोड़कर आ जाऊँगी? स्वामी राम ने कहा– हाँ, यह दूसरी प्रतिज्ञा है। मेरे साथ चलने के लिए यह भी करना पड़ेगा। रोती–कलपती उस माँ ने वैसा ही किया। जलेबी बच्चों के हाथ में देकर पाँच वर्ष से भी छोटे दोनों बालकों को एकबार भर पेट छाती से लगाया और गाय जैसा चूम–चाटकर बड़े प्यार से माथा सूँघा तथा हृदय पर हाथ रखकर आँसुओं को छिपाते हुए, उस भीड़ में छिपते हुए उस महात्मा के पास आकर खड़ी हो गयी। तीसरी प्रतिज्ञा

अभी सुन लो! स्वामी राम ने कहा– यदि तूने तीन बार उन बच्चों को मेरे पास याद किया, उनका नाम ले लिया तो मैं उसी समय तुम्हारा भी परित्याग कर दूँगा।

दोनों ही चल पड़े वनप्रदेश की ओर। जैसे–जैसे अन्धेरा होता गया वैसे–वैसे उस माँ की ममता, उसका वात्सल्य बाहर आता गया। कुछ दूर जाने के बाद प्रतिज्ञा भूल गयी और घोर आर्तनाद करती हुई, विलाप करती हुई– आईऽ! आई मेरे लाल, आई! आ गयी बेटे! आ गयी। ऐसे पागलों की तरह पीछे की तरफ दौड़ पड़ी यह कहते हुए कि मैं जानती हूँ कि तुम दोनों अपनी चाण्डालिनी माँ को याद कर रहे हो। तबतक स्मृति आ जाती है, प्रतिज्ञा याद आ जाती है। जहाँ की तहाँ ठिठक जाती है। फिर करुण क्रन्दन के साथ आकाश की तरफ देखते हुए यह कहती है– मत याद करो लाल! मत याद करो! अन्यथा मैं भी तुमलोगों जैसी परित्यक्ता हो जाऊँगी! ऐसा कहकर वह पुनः उस महापुरुष के पास लौट आती है। अभी दृष्टिपथ में पगडण्डी दिखाई पड़ रही है। स्वामी राम चले जा रहे हैं, कोई विशाल पेड़ आये; उसके नीचे विश्राम की प्रतीक्षा में हैं। थोड़ी देर के बाद पुनः वही करुण क्रन्दन, वही विलाप और वही भागना, पागलों की तरह पीछे लौटना, दौड़ना, विरहिणी माँ की तरह चिल्लाना। जैसे कोई शेर पकड़ ले अपने मुँह में गाय के बछड़े को और गाय दौड़ते हुए शेर से युद्ध करने का प्रयत्न करे। वैसे ही वह माँ दौड़कर उन बालकों को उन पुरुषों से छीन लेना चाहती है, जिन्होंने उस भीड़–भाड़ में रोते–कलपते उसके उन दोनों लालों को (बच्चों को) अपने अधिकार में कर लिया हो, वह मानो कहना चाहती हो– छोड़ो! ये मेरे बालक हैं! छोड़ो! ये मेरे लाल हैं! वह पुनः यह कहते हुए– आई लाल! आई! नहीं नहीं, आ गयी, ठहरो! अरे! अरे! ये क्या हो गया, मैं तो पुनः पागल हो गयी! मुझ जैसी पिशाचिनी को ऐसा ढोंग करना शोभा नहीं देता। पहले तो मैंने उन लालों को छोड़ दिया है और अब माँ बनने का ढोंग कर रही हूँ। नहीं–नहीं बेटे! तुम दोनों मुझे प्रिय नहीं थे, अतः मुझ अभागिनी को याद मत करो! ऐसा कहते हुए रोते–कलपते, स्वामी राम के पास लौट आती है। पीपल का वृक्ष आ गया, रात्रि यहीं विश्राम करते हैं, ऐसा कहकर उस संन्यासी ने अपनी भुजा को सिर के नीचे वर्तुलाकार करके अपने सिर को उसी पर रखते हुए सोने का नाटक किया, यह कहते हुए कि अब! एकबार शेष बचा है, सावधान हो जाओ! उन वासनाओं को याद मत करो! वे न तुम्हारे पुत्र हैं, न मेरे। वे बस, एकमात्र वासना हैं। भगवान चाहिए कि पुत्र, यह सोच लो। उस देवी ने कहा– भगवान की कामना से मैं आपके साथ नहीं आयी हूँ महाराज! मैं तो आपकी कामना से आई हूँ। मुझ जैसी अभागिनी को आप चाहिए, मुझ जैसी पापिनी के जीवन में भगवान कहाँ और वे मेरे लाल कहाँ! 'तो सो जाओ!' ऐसा कहते हुए स्वामी राम ने अपनी आँखें बन्द कर लीं; किन्तु उस माँ की आँखों में नींद कहाँ? थोड़ी ही देर में पुनः प्रतिज्ञा विस्मृत हो गयी और वह पागल माँ पुनः दौड़ती हुई, चिल्लाती हुई, वनप्रदेश को चीरकर भागती हुई, वस्त्रों को फाड़ती हुई, बालों को नोचती हुई, चीत्कार भरती हुई, 'आ गयी लाल! आ गयी।' ऐसा कहते हुए पुनः– हाय! अरे! मुझ अभागिनी को जगत में कौन माँ कहेगा? अरे! मेरे लाल! जब तुम दोनों बड़े होओगे तब मुझ पापिनी को क्या कहोगे? मैं कैसी माँ हूँ, जिसे पुत्र से प्रिय पति लग रहा है! इसप्रकार हृदय की नानाप्रकार की वेदनाओं से व्यथित होती हुई, पुनः हाय लाल

अब न पा सकूँगी तुमलोगों को– ऐसा विलाप करते हुए लौट आती है। रात्रि में किसी समय बच्चों के सपने में खो जाने पर, पलभर के लिए सो जाने पर, स्वामी राम ने यह देखा कि इसने तीन बार उन वासनाओं को याद कर लिया है, ऐसा सोचकर उस साध्वी धर्मपत्नी को भगवान के लिए त्याग दिया। महत् त्याग कर दिया उन्होंने, जिसके परिणामस्वरूप उस महत् त्यागी को हिमालय में भगवान श्रीकृष्ण साक्षात् दर्शन देते थे। उनके दर्शन देने पर वे कहते कि महत् कृपा की हे प्रभु! आपको प्रणाम है। बस, एक कृपा कर दें, उपनिषदों को दे दें। मेरी उन्हें पढ़ने की बहुत इच्छा है। प्रभु कृपा करते और कोई पुरुष उनके पास उपनिषद् लेकर पहुँच जाता। ऐसा महत् त्याग करनेवाले उस महापुरुष से एक दोष हो गया– टिहरी के राजा ने उनसे विश्वधर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधि बनकर जाने के लिए प्रार्थना की। यद्यपि वे महापुरुष जानते थे कि घर और विदेश जाना संन्यासी के लिए महापाप है, इसके प्रायश्चित के लिए मृत्युदण्ड के अतिरिक्त कोई दण्ड ही नहीं है लेकिन तो भी उन्होंने दया में भरकर उनके अनुनय–विनय को स्वीकार कर लिया। विदेश से लौटने पर कुछ समय के उपरान्त टिहरी में ही जहाँ वे रहते थे, वहाँ से गंगाजी में स्नान को उतर रहे थे, तो पाँव फिसला, गंगाजी ने उन्हें क्षमा नहीं किया और उनकी जल समाधि हो गयी अर्थात् प्राण–पखेरू उड़ गये। उस जन्म में ब्रह्मज्ञान से वंचित हो गये लेकिन प्रत्यवाय दोष तो हुआ ही नहीं, अगले जन्म में बचपन से ही संन्यास लेकर जड़भरत की तरह निकल गये और शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न होकर जगत का कल्याण करने लगे।

'आपने यह क्या कह दिया कि उनके पास हिमालय में भगवान दर्शन देने आते थे, लेकिन गंगाजी में भी डूब गये?' हाँ हाँ, तो क्या हुआ! भगवान जब आते थे, तब उन्हें ब्रह्मज्ञान माँगना चाहिए था! भगवान तो बहुतों के पास आये, तो क्या सब मुक्त ही हो गये क्या? जो माँगा, उन्होंने उसको वही दे दिया। की थी तो उन्होंने बड़ी भारी गलती लेकिन दण्ड थोड़ा ही तो मिला! जो बीस साल पहले ब्रह्मज्ञान मिलना था, वह बीस साल बाद मिला लेकिन मिला। साधक का अगला जन्म सो कर जागने जैसा है। मानो उन्होंने समाधि ली और पाँच–दस साल के बाद समाधि तोड़ दी। इसप्रकार सभी सन्तों का, शास्त्रों का कहना है कि आप भगवान के लिए घर से चल दिये हैं तो बीच में बाधायें आयेंगी लेकिन देर–सबेर वहाँ निश्चित पहुचेंगे। भगवान के लिए संसार का त्याग करना आपका काम है और आपके प्रारब्धों से आपके ही द्वारा युद्ध करता हुआ आपको अपने पास ले जाना, भगवान का काम है।

(नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति.....) जब निष्कामी साधक साधना कर रहा होता है तो उस समय उसकी पूर्व की सकामता के कारण से भी शब्द, स्पर्शादिरूप विषय तथा मान–सम्मान आते ही हैं, परन्तु जब वह उसका त्याग करता है, तब आत्मज्ञान के साधन आ जाते हैं।

महर्षि अगस्त्य के पास देवराज इन्द्र आ गये और कहा– हे महामना! आयें, इस विमान पर बैठें। स्वर्ग के सारे के सारे देवता आपकी प्रतीक्षा में हैं। वहाँ पर चलकर शोभा बढ़ायें। हे महर्षि! आपने अपने योग, जप, तप से महत् स्वर्ग पद को प्राप्त किया है। इस अद्भुत दृश्य को देखकर कुटिया के बाहर से लक्ष्मण ने पूछा– हे प्रभु! ये कौन हैं, जिनके पाँव धरती पर नहीं

स्पर्श कर रहे हैं? प्रभु श्रीराम ने कहा– ये देवराज इन्द्र हैं, जो देवताओं के साथ इस महर्षि से स्वर्ग में चलने की याचना कर रहे हैं। इन्होंने अपने योगबल से ऐसी सिद्धि प्राप्त की है कि सशरीर लोक–लोकान्तरों में भी आ–जा सकते हैं, स्वर्ग तो इनके लिए क्या बड़ी बात है। उधर महर्षि अगस्त्य ने कहा– हे देवराज! मेरे पास इस समय एक ऐसा अतिथि आनेवाला है, जो विश्वंभर कहा जाता है, सच्चिदानन्द कहा जाता है। मैं उसी का आतिथ्य करने में स्वर्ग के सुख का अनुभव करूँगा। आपका स्वागत है; हे देवराज! आपका स्वागत है! अब आप अपने लोक जा सकते हैं। उसी समय भगवान श्रीराम ने उस महर्षि की कुटिया में पदार्पण किया और दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। प्रभु श्रीराम के आने के पूर्व देवराज इन्द्र ने ऐसी ही परीक्षा शरभंग एवं सुतीक्ष्ण आदि संतों की भी ली थी। इसीप्रकार महर्षि भरद्वाज के द्वारा प्रकट की गयी सिद्धियों का महात्मा भरत ने भी तिरस्कार कर दिया था।

ब्रह्म के आने के पूर्व आपके पास दिव्य सुख आएगा अर्थात् माया आयेगी। साधक यदि निष्कामी है तो उसके पूर्व की सकामता सिद्धि बनकर आयेगी और जब वह उसका त्याग करेगा तो उसका भगवान आयेगा। महर्षि अगस्त्य एवं स्वामी राम तीर्थ में इतना ही अन्तर है कि महर्षि अगस्त्य ने पद–प्रतिष्ठा को देवराज इन्द्र के द्वारा बहुत कहने पर भी स्वीकार नहीं किया किन्तु स्वामी रामतीर्थ ने जिस समय ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने का समय आया, उसी समय भारत की तरफ से संतों का प्रतिनिधित्व स्वीकारकर विदेश जाना स्वीकार कर लिया।

अब आयें देखते हैं कि भगवान सकामियों के विषय में क्या कहते हैं–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधियते॥४४॥

इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है लेकिन सकामियों की तो अनेक बुद्धियाँ होती हैं अर्थात् अनेक सिद्धान्त होते हैं। जो विषयी हैं जो कर्मफल की ही स्तुति करनेवाले, वेदवाक्यों में ही विश्वास करनेवाले हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्रिय वस्तु है तथा जो स्वर्ग से बढ़कर कुछ है ही नहीं– ऐसा कहनेवाले हैं, वे मूढ़ पुरुष इसप्रकार की जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहा करते हैं, जो कि जन्मकर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करनेवाली है, उस वाणी द्वारा

जिसका चित्त हर लिया गया है, जो भोग एवं ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।

निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, इसका तात्पर्य है कि भक्तिपथवाला है, तो कहता है–

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।।२०४।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

अर्थात् वह जो भी कुछ जप, तप, योग, दान, धर्म करेगा, उसके बदले में एकमात्र भगवान को ही चाहेगा। यदि वह ज्ञानयोग के अन्तर्गत निष्काम कर्मयोगी है तो उसके पास एक ही निर्णय है कि मैं तो शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हूँ। मैं शरीर, वाणी, मन और बुद्धि के द्वारा गुरु आज्ञानुसार चित्तशुद्धि के लिए जप, तप, योग कर रहा हूँ, परन्तु सकामी के पास तो अनेकानेक सिद्धान्त होते हैं। वे मूर्ख कहते हैं कि जो सामने है, उसे देखना चाहिए; जो दिखाई नहीं पड़ रहा है, उसे किसने देखा है। जो निर्गुणब्रह्म, निर्गुणब्रह्म, निर्गुणब्रह्म चिल्ला रहे हैं, तो क्या वे निर्गुणरूप हो गये? किसने देखा कि वे निर्गुणरूप हो गए? स्वर्ग तो स्पष्ट ही दिखाई भी दे रहा है और अनुभव में भी आ रहा है। तंत्र, मंत्र, योग की सिद्धि सामने दिखाई पड़ती ही है। इसलिए वे अनेक लोकों की कल्पना कर उन्हीं लोकों में जाने के लिए बहुत से यत्न करते हैं। वे कहते हैं– (यामिमां पुष्पितां) स्वर्ग से परे भी कुछ होता है क्या? पूरे वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद स्वर्ग की महिमा गाते रहते हैं। यही नहीं, यदि उनके मंत्रों को शुद्ध वाणी से, शुद्ध उच्चारण से सिद्ध किया जाय तो वे स्वर्ग के प्रदाता भी हो जाते हैं। ऐसे वे मूढ़ उन दिखाऊ शोभायुक्त ताल एवं मात्राओं से आवाहन किये जानेवाले, चित्त को मोहित करनेवाले मंत्रों से प्राप्त होनेवाले स्वर्ग की कामना से आहत हुए चित्तवाले, आत्मज्ञान की साधना से वंचित रह जाते हैं। ऐसे दिव्य भोगों एवं ऐश्वर्यों में आसक्त चित्तवालों की कभी निश्चयात्मिका बुद्धि हो ही नहीं सकती कि मैं आत्मा हूँ। वे ऐसी घोषणा कर ही नहीं सकते। यही नहीं, वे जब आपत्ति–विपत्ति में फँस जाते हैं, तो पूरी तरह अपने भगवान के हो जाते हैं और जब काम निकल जाता है तो पुनः बाल–बच्चों, जाति–परिवार के हो जाते हैं। कभी तो अपने को देवताओं का भक्त समझ लेते हैं, कभी अपने को कुलगुरु का भक्त समझ लेते हैं और कभी अपने को महापापी समझ लेते हैं। दूसरे पर घोर आपत्ति–विपत्ति आने पर वे पण्डित बन जाते हैं तथा अपने ऊपर वैसी स्थिति आती है तो महामूर्ख बन जाते हैं। कभी तो कहते हैं कि मैं शरीर हूँ और कभी कहते हैं कि मेरा शरीर है, कभी तो कहते हैं कि मेरे शरीर में ज्वर हो गया है एवं कभी कहते हैं कि मुझे ही ज्वर हो गया है, कभी तो कहते हैं कि मेरा मन खराब है और कभी कहते हैं कि मैं स्वस्थ नहीं हूँ। वे स्वर्ग की कामना से इतने आहत हो जाते हैं कि त्रिशंकु जैसा अपने वसिष्ठ जैसे गुरु का अपमान कर देते हैं। यही नहीं, वेद का गायन करनेवाले भी जन्म–कर्म के फल को देनेवाली साधनाओं का ही उन मूर्खों के सामने गायन करते हैं। जबकि उस वैदिक साधना (कर्मकाण्ड) में विधि–निषेध की बातें भी बहुत हैं, लेकिन वे करें तो करें क्या? क्योंकि उनके

भीतर नानाप्रकार की कामनाओं ने जगह बना ली है। तामस, राजस एवं सात्त्विक भेद से उनके पास तीन प्रकार की बुद्धि तो पहले से ही है; किन्तु मनमाना व्यवहार करने से, मनमाना वेद, पुराण, शास्त्र पढ़ने से उनकी बुद्धि असंख्य हो गयी है, अतः वे स्वर्गीय सुख की कामना से जीवन–जीवन कर्मकाण्ड में ही लगे रहते हैं।

(बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन.....) इस कर्मयोग में.....। यहाँ 'इस' का क्या तात्पर्य है, क्या कोई और कर्मयोग है क्या? हाँ है, अभी तीसरे अध्याय का भी कर्मयोग है, जिस कर्मयोग की व्यवस्था गृहस्थाश्रमी साधकों के लिए है। यह कर्मयोग (इस अध्याय का) तो उन ब्रह्मचारियों के लिए है, जिन्होंने घर से तो संन्यास ले लिया है लेकिन कर्मवासना से मुक्त नहीं हो पाये हैं। उनके लिए गुरु आश्रम में गुरु आज्ञानुसार कर्म करने का विधान है। भगवान ने सांख्ययोग से अर्जुन के लिए एक सीढ़ी ही नीचे उतरने का मन बनाया है। सांख्ययोग अन्तिम सीढ़ी है, उसके नीचे विशुद्ध कर्मयोग दूसरी सीढ़ी है, तीसरे अध्याय का कर्मयोग तीसरी सीढ़ी है इत्यादि इत्यादि। भगवान ने पहले अन्तिम सीढ़ी से ही अर्जुन को बुलाया– आ जाओ! आ जाओ!! आ जाओ!!! कोई कठिन नहीं है आना। जब अर्जुन ने अपने को असमर्थ पाया तब दूसरी सीढ़ी से बुला रहे हैं– अब तो आ जाओ! तथा उनकी शक्ति–सामर्थ्य का बोध भी करा रहे हैं। भक्त अर्जुन के पाँव इस आध्यात्मिक मार्ग में धीरे–धीरे, गिरते–पड़ते चलनेवाले बालक के समान हैं। इसलिए दूसरी सीढ़ी पर जाने को भी वे मना कर देंगे। अतः भगवान पुनः एक सीढ़ी नीचे आकर उनको अपने पास आने के लिए बाध्य करेंगे। जब वे वहाँ भी आने में असमर्थता व्यक्त कर देगें, तब प्रभु सीढ़ी छोड़कर दिव्य विमान का प्रबन्ध करेंगे। नवम् अध्याय का राजयोग ही दिव्य विमान है। कृपालु भगवान नारायण स्वयं अर्जुन के पास आकर उन्हें विमान में बिठाकर ले जायेंगे।

अर्जुन संन्यासी बनना चाहते हैं तो ठीक है, लोग कहते ही हैं कि संन्यासी अर्थात् सर्वनाशी। भगवान पहले अर्जुन की द्वैतबुद्धि का नाश कर देंगे, फिर संन्यासी बनाकर युद्ध करायेंगे और युद्धोपरान्त बाहर का संन्यासी बनाकर हिमालय (बद्रीनाथ) भेज देंगे। मानो भगवान कह रहे हैं कि पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि बहुत सी बुद्धियाँ हैं; ये सबके सब एक–एक बुद्धि के सागर हैं, जिनमें सारे संसार के लोग फँसे हुए हैं। अपने ढंग से इनलोगों ने शास्त्र–पुराणों की व्याख्या करके अनर्थ पैदा कर दिया है। इनकी ऐसी दिव्य व्याख्या है कि अपनी झूठी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए ब्रह्म से भी युद्ध करने में संकोच नहीं कर रहे हैं! मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! ये लोग तुम्हारे नहीं बल्कि मेरे विपक्ष में खड़े हैं। मस्तभाष्य में एक बड़ा ही सटीक उदाहरण है कि 'एक बुढ़िया का पोता उसे गाली दिये जा रहा था और लोग हँसे जा रहे थे। किसी ने कहा– क्या सुन रही हो, लज्जा नहीं आती? बुढ़िया ने कहा– अपना है तभी तो गाली दे रहा है, दूसरा तो गाली देने नहीं आयेगा।' इस उदाहरण के अनुसार तो विपक्षी भगवान को गाली दिये जा रहे हैं तो भी पितामह भीष्म सोच रहे हैं कि धृतराष्ट्र तो मेरा पुत्र ही है, दुर्योधन मेरा पोता ही है। क्या करूँ अपनेवालों के साथ तो रहना ही पड़ेगा!

निश्चयात्मिका बुद्धि तो एक ही है कि ब्रह्म एक ही है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'– यह

निश्चयात्मिका बुद्धि है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि को प्राप्त करना ही मोक्ष प्राप्त करना है। भगवान के कर्मयोग से भी भगवान ही प्राप्त होते हैं। यह सभी जानते हैं कि आत्मा ही आत्मा को देखता है अर्थात् निर्विकार साधक ही इस मनुष्यलोक में आत्मा होने से निर्गुण–निराकार आत्मा की अनुभूति कर पाता है।

अर्जुन के मन में आया कि वेद तो ब्रह्म की वाणी है, फिर ये वेदों की आलोचना क्यों कर रहे हैं? भगवान ने उनके मन की बात का ही उत्तर दिया है कि सकामियों के लिए ही वेद ब्रह्म की वाणी है; किन्तु निष्कामियों के लिए तो सद्गुरु का वाक्य ही वेदवाक्य अर्थात् ब्रह्मवाणी है।

सकामियों की निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं हो सकती, भगवान मानो ऐसा कहकर अर्जुन को उलाहना दे रहे हैं कि तुम अभी तक अपने को आत्मा नहीं मान पाये हो। जब तुम्हारे जैसा निर्विकार शिष्य ही मुझ जैसे सद्गुरु का कहना नहीं मान पा रहा है तो औरों की तो बात ही क्या है! प्रभु ने पहले 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्.....' से गुरुमंत्र दे दिया है। गुरुमंत्र जापक को गुरु के सिद्धान्त को भी स्वीकार करना चाहिए, गुरु के व्यवहार को भी लेना चाहिए। ऐसा नहीं है कि उसने मंत्र दे दिया तो आप मंत्री हो गये, भक्त हो गये। गुरुनाम लेना और गुरुव्यवहार लेना ये दो बातें हैं; तब गुरुदीक्षा पूरी होती है। भगवान ने अपने शिष्य अर्जुन के प्रति दीक्षा देने के उपरान्त व्यवहार की बात करनी प्रारम्भ कर दी है। स्वयं महाराज के गुरुदेव कहा करते थे कि यदि अध्यात्मविद्या प्राप्त करने में बारह वर्ष लगे हैं, तो साधुव्यवहार सीखने में चौबीस वर्ष लगेंगे।

महाराज महात्मा अर्जुन की बात क्या करे, स्वयं उसे कभी–कभी अपनी मूर्खता पर हँसी आती है। सन् १९७५ में महाराज ने गुरुदेव से गुरुदीक्षा की माँग की तो गुरुदेव ने राजयोग दे दिया। महाराज ने सोचा कि इन्होंने कोई मंत्र तो दिया ही नहीं, अतः पूछा कि आपने तो कोई मंत्र दिया ही नहीं। तो गुरुदेव मौन थे, मानो कह रहे हों कि जो दिया है, उसी से जप, तप, योग का फल मिल जाएगा। कालान्तर में जब रहस्य समझ में आया, तब पता चला कि सद्गुरु के पास शिष्य से कहाँ–कहाँ, कैसी–कैसी भूल हो जाती है।

यदि आपका सद्गुरु आपको राजयोग का अधिकारी समझता है, किन्तु मूर्खतावश अपनी शक्ति–सामर्थ्य पर विचार नहीं करने से, उस राजयोग के प्रति आदरभाव नहीं रखते तो आप क्रिया में प्रवेश कर जायेंगे। आपने भक्त अर्जुन की तरह कई शास्त्र पढ़ लिए हैं। योगशास्त्र में तो आपने पढ़ा है कि मूलाधार चक्र पर धारणा करने से पृथ्वी में जो रहस्य छिपा हुआ है, वह विदित हो जाता है, स्वाधिष्ठान चक्र पर धारणा करने से जल में जो रहस्य छिपा हुआ है, उसका पता चल जाता है; पृथ्वी तत्त्व पर धारणा करने से गरिमा नामक सिद्धि मिल जाती है, वायु तत्त्व पर धारणा करने से लघिमा नामक सिद्धि मिल जाती है इत्यादि इत्यादि। वह मूर्ख साधक कहता है कि 'भगवान भले ही राजयोग का उपदेश करते रहें किन्तु क्या छः शास्त्र, अठारह पुराण लिखनेवाले मूर्ख थे क्या? क्या वे ऋषि, राजयोग का उपदेश नहीं कर सकते थे? 'महाराज उन दुराग्रही साधकों से कहता है कि ये सारी सिद्धियाँ तो राजयोग से भी मिलती हैं।

अन्तर इतना ही है कि क्रियायोग से सकामी को सिद्धियाँ ही मिलती हैं और राजयोग से सिद्धियों के अतिरिक्त ब्रह्मराज अर्थात् ब्रह्मज्ञान भी मिल जाता है। हाँ, यदि क्रियायोग भी किसी निष्कामी साधक को सद्गुरु से मिला है, तो वह भी तन, मन, वचन, हृदय को पवित्रकर ब्रह्मज्ञान देनेवाला ही होता है।

(यामिमां पुष्पितां वाचं.....) भगवान नारायण वेद की निन्दा कैसे कर सकते हैं; क्योंकि चारों वेद उन्हीं की वाणी हैं– अथर्ववेद उनकी वैखरी वाणी है, ऋग्वेद उनकी मध्यमा वाणी है, यजुर्वेद उनकी पश्यंती वाणी है, सामवेद उनकी परा वाणी है। अथर्ववेद गृहस्थाश्रम का, ऋग्वेद वानप्रस्थाश्रम का, यजुर्वेद ब्रह्मचर्याश्रम का तथा सामवेद संन्यासाश्रम का प्रतिनिधित्व करता है। मानो मूर्तिपूजन अथर्ववेद है, मातृ–पितृ एवं पितर पूजन ऋग्वेद है, कुलगुरु, पुरोहित एवं देवपूजन यजुर्वेद है और सद्गुरु पूजन (ब्रह्मपूजन) सामवेद है।

यदि किसी अबोध बालक की आँख में ऐसा रोग हो जाय, जिससे सूर्य का दर्शन करना उसके लिए मना हो जाय, लेकिन वह बालक माने ही नहीं तो ऐसी विषमावस्था में उस बालक से सूर्य भगवान की आलोचना इसप्रकार करनी ही पड़ जाएगी कि बेटे! इस समय मलमास चल रहा है, ऐसे में सूर्य भगवान का दर्शन नहीं करना चाहिए, नहीं तो अन्धे हो जाओगे (यह प्रसंग मात्र बच्चे को समझाने के लिए ही है)। इसीप्रकार जो मूर्तिपूजा में आसक्त हो गया है तथा माता–पिता की अवहेलना कर रहा है, तो उसके सामने मूर्तिपूजा का विरोध किया जायेगा तथा जो अज्ञानी माता–पिता में ही आसक्त है तथा कुलगुरु, पुरोहित आदि की निन्दा करता है तो उसके सामने माता–पिता की अपेक्षा कुलगुरु आदि की महत्ता स्थापित की जायेगी तथा जो भौतिक गुरु में आसक्त होकर सद्गुरु की ओर से उदासीन है, उसके सामने भौतिक गुरुओं की आलोचना की जायेगी वैसे ही जो सद्गुरु की भौतिक पूजा में ही आसक्त है, उसके सामने सद्गुरु स्वयं अपनी आलोचना करके अपने सिद्धान्त की प्रशंसा करेगा।

कुछ लोग सद्गुरु को मानते हैं, सद्गुरु के सिद्धान्त को नहीं मानते। वैसे लोगों के लिए सद्गुरु स्वयं कहता है कि मैं शरीर नहीं सिद्धान्त हूँ, मेरे सिद्धान्त की उपासना करो। कोई कहता है कि भौतिक गुरु में आसक्त चित्तवाले के पास सद्गुरु की प्रशंसा कर भौतिक गुरु की आलोचना की जायेगी, ऐसा क्यों? जो भौतिक गुरु में आसक्त होगा वह सद्गुरु के प्रति उदासीन क्यों होगा? क्यों नहीं होगा! जीवनपर्यन्त अर्जुन को भौतिक गुरुओं में आसक्ति के कारण सद्गुरु का स्मरण ही नहीं रहा जिसका परिणाम हुआ कि वे आध्यात्मिक विद्या से अछूते रह गये। जब भगवान नारायण ने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य की आलोचना की, तब उन्हें सद्गुरु की आवश्यकता प्रतीत हुई।

महात्मा अर्जुन की वेद के कर्मकाण्ड भाग में आसक्ति हो गयी थी। आध्यात्मिक वेद, जिसे सामवेद कहा जाता है, लगता है उसके विषय में वे कुछ जानते ही नहीं थे। इसलिए तीनों वेदों की आलोचना कर भगवान मानो कह रहे हों कि सामवेद भी तो है, उसे क्यों नहीं देखते हो? तुम तो अब उसके अधिकारी हो गये हो। भगवान द्वारा ऐसा कहना यह सिद्ध करता है कि

सकामियों को पहले प्रलोभन देकर देवपूजा में प्रवृत्त किया जाता है; किन्तु जब उनकी देवपूजा में आसक्ति हो जाती है तो उनसे देवपूजा की आलोचना करके उन्हें ब्रह्मपूजा में, फिर ब्रह्मपूजा (राम, कृष्ण आदि सगुण रूपों की पूजा) में आसक्ति होने पर उसकी आलोचना कर निर्गुणब्रह्म की प्रशंसा की जाती है। भगवान ने वेद की निंदा नहीं की है बल्कि वेद को कर्मकाण्ड से आगे बढ़ाया है अर्थात् ज्ञानकाण्ड की ओर अग्रसर किया है। बालक 'क' पढ़ने के बाद 'कृ–धातु' पढ़ेगा। इसलिए उसे 'क' से आगे बढ़ने का मार्ग दिया ही जायेगा।

आखिर इस रहस्यात्मक विषय को संजय ने धृतराष्ट्र को बता ही दिया कि तीनों वेद सकाम कर्म की उपासना के साधन होते हैं तथा सकामी की सकामता पूरी करते हैं। भक्तिपक्ष में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वेद तो मूर्खों की ही आत्मा होते हैं।

ऐसा सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा– तब तो संजय! ये जो महात्मा भीष्म हैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि हैं, जिन्होंने वैदिक मार्ग का ही अनुसरण किया है; फिर तो ये मूर्ख ही हैं क्या? संजय! कभी–कभी ये मधुसूदन बहुत तिरस्कार कर बैठते हैं और ऐसे में मुझ मूढ़मना को पुनः–पुनः इनमें दोषदृष्टि हो जाती है।

नहीं राजन्! नहीं! ऐसा न कहें। अभी आपने कहा था, "ओह संजय! मैं मारा गया। अब जब मधुसूदन प्रतिज्ञा के साथ अर्जुन से युद्ध करायेंगे ही, तब मेरे सारे के सारे पुत्र मारे जायेंगे। लेकिन चलो उस समय यह ज्ञान काम आएगा, जब मैं संन्यास लूँगा," किन्तु आपने पुनः मोह को स्वीकार कर लिया?

अच्छा चलो! अब आगे बढ़ो, देखो ये क्या कह रहे हैं?

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

(त्रैगुण्यविषया वेदा.....) हे पार्थ! वेद तीनों गुणों के विषय को ही देनेवाले हैं लेकिन तुम तो तीनों गुणों से रहित हो जाओ! राग–द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित नित्य ही अपने साक्षीरूप आत्मा में स्थित होकर योग और क्षेम को भी मत चाहो! जिसप्रकार सब ओर से परिपूर्ण जलाशय को पाकर अपने प्रयोजन को सिद्ध करनेवाले मनुष्य के लिये अन्य जलाशय की आवश्यकता नहीं होती, ठीक उसीप्रकार सम्पूर्ण वेदों की आत्मा ब्रह्म को जान लेने के उपरान्त वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं पड़ती।

भगवान मानो साधकों से कह रहे हैं कि अबतक वैदिक मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं आप, माँ के लिए, पिता के लिए, भाई–बान्धवों के लिए उसी (वेद) की आज्ञा का पालन करते रहे लेकिन अब चूँकि आपका सद्गुरु सामने है तो आप एकमात्र उसी (सद्गुरु) की आज्ञा का

पालन करें; क्योंकि वही वेद की आत्मा होता है, वेद से परे होता है। वेद उससे बहुत पीछे छूट जाता है; वह सामयिक उपदेश करता है, देश, काल, अवसर से उपदेश करता है। अतः अब आपके लिए वेदमार्ग नहीं है, वही मार्ग है, वही सनातन मार्ग है, उसी के अनुसार चलें। जैसा आपने पौराणिक मार्ग, वेदमार्ग के विषय में सुन रखा है, वैसा है नहीं; एक गूढ़ात्मक रहस्य है, जिसे वह समयानुसार आपके लिए बताता जायेगा। अभी तो आप मात्र वेद की अवहेलना कर दें, अभी तो इतना ही जान लें कि स्वर्ग से आगे अपवर्ग भी है, सनातन पद भी है जो निष्कामी को ही प्राप्त होता है, सकामी को प्राप्त नहीं होता। यदि आप कहते हैं कि हम वेद की अवहेलना नहीं कर सकते अर्थात् वेद से अनासक्त नहीं हो सकते तो यह आप जान लें कि वेद की निन्दा अथवा आलोचना की बात नहीं की जा रही है, बल्कि जब सद्गुरु सामने आ गया है, तब उससे (वेद से) अनासक्त होने की बात की जा रही है। आप अनासक्त हो सकते हैं, जैसे आप भगवती गंगा को प्राप्तकर किसी अन्य नदी की आवश्यकता नहीं समझते अथवा अथाह सरोवर को पाकर किसी अन्य ताल–तलइया के पास जाने की आवश्यकता नहीं समझते; उसीप्रकार सद्गुरु को प्राप्तकर वेद–पुराण, शास्त्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, वेद–पाठ की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, लेकिन एक बात आप और भी ध्यान में रख लेना, अपने हृदय को अच्छी प्रकार तौल लेना कि आप सद्गुरु को ही सगुण ब्रह्म, राम एवं कृष्ण की तरह देख रहे हैं कि नहीं। भगवान ने तो चौथे अध्याय में घोषणा कर ही दी है– 'तद्विद्धि प्रणिपातेन.....' अर्थात् सद्गुरु ही मेरा रूप है, उसी से वेद प्रकट होता है। अतः उसके सामने वेद की बात मत करना, वहाँ बकवास मत करने लगना, नहीं तो प्रत्यवाय दोष हो जाएगा। जब आप उसकी आज्ञानुसार निर्द्वन्द्व होकर निर्योगक्षेम होकर, अपने–आपके ही परायण हो जायेंगे अर्थात् अपने स्वरूप में ही स्थित हो जायेंगे, तो उसके तन, मन, वचन, हृदय का तथा आपके तन, मन, वचन, हृदय का मिलन हो जायेगा, योग हो जायेगा; फिर तो उसका वेद आपमें स्वतः ही प्रकट होने लगेगा।

पुष्करानन्द ने एक दिन पूछा कि वेदपाठ की फिर आवश्यकता है ही नहीं क्या? हाँ, साधक को बाहर के वेद की आवश्यकता नहीं होती। कबीर को वेद नहीं चाहिए, रैदास को वेद नहीं चाहिए, तुकाराम को वेद नहीं चाहिए, भगवद्भक्तों को वेद नहीं चाहिए; बल्कि भगवद्भक्तों के लिए तो सद्गुरु ही वेद है, अतः सद्गुरु ही चाहिए। महाराज के गुरुदेव ने कहा था– जब साधक के हृदय में ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा प्रकट हो गई तो वह संस्कृत क्यों पढ़ेगा? क्योंकि वेद तो उसके भीतर बसता है, बाहर तो वेद का अंश मात्र है। गुरुदेव की घोषणा सत्य हुई– संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ महाराज नर्मदा के किनारे बैठा था। अचानक महाराज के हृदय से वेद की ऋचायें प्रकट हुईं, जिसे आप 'गंगा स्तवनम्' कहते हैं। भैरवी राग से हुंकार भरता हुआ, गंगाजी का स्तवन प्रकट होने लगा और महाराज देखता का देखता रह गया। पुनः कुछ समय के उपरान्त दूसरा छन्द 'स्वरूपं दर्शनम्' प्रकट हुआ। 'भजु निज रूपं भजु निज रूपं भजु निज रूपं दूरं दूरम्। मायातीतं मायातीतं भजु निज रूपं दूरं दूरम्।' भैरव एवं भैरवी राग से मिश्रित यह छन्द मानो यह कहता हुआ प्रकट हुआ कि हे मायातीत! हे मायारहित! अब माया से दूर हो जाओ! दूर..., दूर..., दूर... होकर अर्थात् प्रवृत्ति का सम्पूर्णता से परित्याग कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ!

कुछ दिन के बाद तीसरा छन्द प्रकट हुआ, जिसे आप मायावाद का निषेध करनेवाला 'मिथ्यात्व निषेधं' नाम से जानते हैं। जो सोलह मात्राओंवाले त्रिताल पर नृत्य करता हुआ भैरवी, भैरव, ख्याल आदि बहुत सी राग–रागिनियों के द्वारा गाया जाता हुआ महाराज से बहुत कुछ कहकर चला गया।

ॐ सत्यं सत्यं सत्यं, वद सत्यं सत्यं सत्यम्;
ॐ जगभावं मिथ्यं मिथ्यं, जगभावं मिथ्यं मिथ्यम्।
ॐ ब्रह्म कथं कथ ब्रह्म कथं कथ, ब्रह्म कथं कथ ब्रह्म कथं कथ;
ॐ ब्रह्मित्थं इत्थं इत्थं, शृणु ब्रह्मित्थं इत्थं इत्थम्।।

ॐ से ही प्रकट होनेवाला ब्रह्मजिज्ञासु मानो पूछता है कि 'ब्रह्म कथं कथ ब्रह्म कथं कथ अर्थात् ब्रह्म के विषय में तो आप बतायें कि वह ब्रह्म कौन है? कहाँ रहता है? उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति क्या है?' इसके उत्तर में ॐ रूप हुआ तत्त्वज्ञानी कहता है– 'ब्रह्म इत्थं इत्थं इत्थं, शृणु ब्रह्म इत्थं इत्थं इत्थम्' अर्थात् यहाँ तो ब्रह्म ही है, इसमें माया ने तो आजतक प्रवेश ही नहीं किया। ऊपर, नीचे, दायें, बायें, सम्पूर्ण रूपों में, सम्पूर्ण कर्मों में, सम्पूर्ण गुणों में, सम्पूर्ण योग, जप, तप तथा मंत्रों एवं तंत्रों में अर्थात् कण–कण रूप में ब्रह्म ही तो है। इसीप्रकार और भी छन्द प्रकट हुए जिसे आप ब्रह्म स्तवनम्, समर्पणम् आदि नामों से जानते हैं।

(त्रैगुण्यविषया वेदा.....) आप यदा–कदा तीनों गुणों में आसक्त होने के कारण से वेदों की बात करते हैं, जबकि ये सात्त्विक, राजस एवं तामस विषय को ही देते हैं। आप इन्हीं वेदों से सात्त्विक, राजस एवं तामस यज्ञ करके अपने आत्मरूप के बदले कामरूप विषय को माँग लेते हैं। तंत्र भाग भगवान शंकर के द्वारा प्रकट होने के कारण से वेद का पञ्चम भाग कहा जाता है, जो साबर तंत्र नाम से विख्यात है। इस तामस वेद को भगवान ने असुरों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर उन्हें दिया था, जिसमें कम से कम उनकी भावना तामस ब्रह्म की तरफ ही सही लेकिन आकर्षित तो हो; कम से कम वे नास्तिक तो नहीं होंगे। वेद सकामी पुरुषों के लिए सार्थक होता है, निष्कामी पुरुषों के लिए नहीं। निष्कामी पुरुषों के लिए तो वेद की आत्मा सामवेद है, जिसमें ब्रह्म का स्तवन किया गया है, 'किस ब्रह्म का?' निर्गुण–निराकार ब्रह्म का, सगुण साकार ब्रह्म का। इस मनुष्यलोक में सद्गुरु ही उस निर्गुण–निराकार ब्रह्म का सगुण रूप है, अतः उसमें उसी का स्तवन है।

(...निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो.....) यदि सद्गुरु ने आपको कह दिया कि आप ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं तो आप नित्य सत्त्व में स्थित हो जायँ अर्थात् आत्मरूप हो जायँ; तो निश्चितरूप से आप निर्द्वन्द्वरूप हो ही जायेंगे, इच्छारहित हो ही जायेंगे। अरे! आत्मा किसी से क्या चाहता है, वह तो सभी का योग और क्षेम पूर्ण करता है; इस न्याय से सकामियों की सकामता आपसे पूरी होगी। अतः हे निष्काम! आपमें सामर्थ्य है कि वेदमत, लोकमत का त्याग कर सकते हैं। जब आप वसुन्धरा को धारण करनेवाली अर्थात् वसुन्धरारूप अपनी माँ का त्याग कर संन्यास ले सकते हैं, तो आप निर्द्वन्द्व होकर, निर्योगक्षेम आत्मवान होकर, निर्वेद होकर अपने

स्वरूप में स्थित भी हो सकते हैं। सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, राग–द्वेषादि द्वन्द्व तो शरीर एवं इन्द्रियों पर आघात करते हैं अर्थात् शरीर इन्द्रियों को ही स्पर्श कर पाते हैं, धीर पुरुष के तो मन को भी स्पर्श नहीं कर पाते– 'धीरस्तत्र न मुह्यति'; फिर आत्मा की तो बात ही दूर है। 'नित्यसत्त्वस्थः'– सत्त्व में प्रतिष्ठित होना, असत्त्व में प्रतिष्ठित होना ये दो बातें हैं। सारे जगत के प्राणियों के साथ–साथ स्वजन भी असत्त्व में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। 'मैं शरीर हूँ' इस असत्त्व भाव में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। यह मेरा है, यह उनका है; ये मेरे हैं, ये उनके हैं; ऐसे असत्त्व भावों में ही सब प्रतिष्ठित रहते हैं। आपने सत्त्व में प्रतिष्ठित होने के लिए संन्यास लिया है। मैं आत्मा हूँ, मैं सम हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं निर्विकार हूँ, 'निराकार निर्मल, अविनाशी हूँ' 'मैं दुःखहीन, आभासहीन, विकल्पहीन एवं व्यापक हूँ,' इस ब्रह्मभाव को स्वीकार करना ही सत्त्व में स्थित होना है। 'निर्योगक्षेम आत्मवान्'– इस स्थिति में होकर योग और क्षेम को चाहनेवाले आप मत बनें। मैं आत्मा हूँ, ऐसा स्वीकार करनेवाला योग–क्षेम को नहीं चाहता। जो नहीं है, उसकी प्राप्ति का नाम योग है और जो है उसकी रक्षा का नाम क्षेम है। 'आत्मा के पास क्या नहीं है? अतः शरीर के सुख को वह नहीं चाहता और न ही दुःख का निवारण चाहता है।' आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण से ही उसके शरीर का योग–क्षेम तो स्वतः वहन होता रहता है, प्रकृति उसका निरादर नहीं कर सकती। महाराज के गुरुदेव ने अपने गीता सुबोध नामक गीताजी के प्रथम भाष्य में कहा है कि जो साधक एक बार हृदय से कह दे कि मैं आत्मा हूँ तो उसके जन्म–जन्म के ब्रह्महत्या के पाप भी समाप्त हो जाते हैं।

(...निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो.....) जो स्वीकार कर लेता है कि मैं आत्मा हूँ तो सत्य उस आत्मा का वस्त्र हो जाता है, ऐश्वर्य उस आत्मा का वस्त्र हो जाता है, संकल्प उस आत्मा का वस्त्र हो जाता है, सम्पूर्ण सुख–सम्पत्तियाँ उस आत्मा का वस्त्र हो जाती हैं; क्योंकि सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं विभूतियाँ, सारा का सारा मान–सम्मान, पद–प्रतिष्ठा, सारी की सारी सुख–सम्पत्तियाँ, एकमात्र आत्मा के लिए ही हैं। भले ही वह अपने स्वभावानुसार उन सबसे अनासक्त रहे। इसलिए 'त्रैगुण्यविषया वेदा.....'– आप तीनों वेदों के फलरूप तीनों प्रकार के गुणों का त्याग कर दें, सात्त्विक, राजस एवं तामस विषय का त्याग कर दें।

(त्रैगुण्यविषया वेदा.....) माँ एक वेद है, पिता एक वेद है, भाई एक वेद है, पुत्र एक वेद है, पत्नी एक वेद है, जाति एक वेद है, परिवार एक वेद है, गाँव एक वेद है, क्षेत्र एक वेद है, देश एक वेद है, इसीप्रकार तीनों लोक एक वेद हैं। वैसे ही पृथ्वी एक वेद है, जल एक वेद है, अग्नि एक वेद है, वायु एक वेद है, आकाश एक वेद है, सूर्य एक वेद है, चन्द्रमा एक वेद है, नक्षत्र, ग्रह, तारे सब वेद हैं। योग, ग्रह, लग्न, वार और तिथि एक एक वेद हैं। उसीप्रकार शरीर एक वेद है, इन्द्रियाँ एक वेद हैं, मन एक वेद है, बुद्धि एक वेद है, चित्त एक वेद है, अहंकार एक वेद है, प्रकृति एक वेद है, वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग–द्वेष, छल–कपट ये सभी वेद हैं। इनमें से कोई यजुर्वेद है तो कोई अथर्ववेद है तो कोई ऋग्वेद है, अर्थात् ये सभी किसी न किसी वेद में प्रतिष्ठित हैं। साधकों को इस पर विचार करना चाहिए और उपरोक्त बातें सत्य जान पड़ें

तो निर्वेद होकर सद्गुरुरूप सामवेद में प्रतिष्ठित होना चाहिए अर्थात् निर्वेद होकर उसके पास आना चाहिए तथा निर्द्वन्द्व होकर उसके पास रहना चाहिए, उसका मंत्र एवं व्यवहार लेकर रहना चाहिए। उसके पास सर्दी–गर्मी का अवसर आता है, सुख–दुःख का अवसर आता है, मान–अपमान का अवसर आता है; कभी–कभी इसी कारण आपका मन भी विकल हो जाता है, अतः ऐसा न हो, इसलिए इस आध्यात्मिक भूमि में निर्वेद होकर नित्य सत्त्व में स्थित रहें। वहाँ तो सद्गुरु की आज्ञा ही सत्त्व है तथा उसका पालन ही नित्य सत्त्वस्थ होना है।

इस मंत्र से यह भी संकेत मिलता है कि भगवान जैसे सद्गुरु को पाकर आप योग–क्षेम की क्यों चिन्ता करते हैं, यदि आप स्वयं ही अपने योग क्षेम की चिन्ता करते हैं तो वह क्यों करने जायेगा? वह तो आपके योग क्षेम के वहन करने के लिए, आपके लिए ही प्रवृत्ति में आया है। इसलिए आप दोनों के दो धर्म हैं, आपका नित्य सत्त्वस्थ होना और उसका आपके शरीर की सुरक्षा करना। यदि ऐसा करके आप उसके शरणागत नहीं होते हैं, तो आप जैसे शिष्य को धिक्कार है, फिर तो आप पहले योग–क्षेम की चिन्ता पूरी करके ही घर से क्यों नहीं आते हैं? सद्गुरु को शरीर समर्पण और स्वयं आत्मरूप में स्थित होने जैसी कोई दक्षिणा नहीं है। कर्मकाण्डीय (वैदिक) मार्ग और आध्यात्मिक मार्ग ये दो मार्ग हैं। वैदिक मार्ग के देवता कुलगुरु (पुरोहित) होते हैं तथा आध्यात्मिक मार्ग का देवता सद्गुरुरूप में ब्रह्म ही होता है।

महाराज ने स्वयं अपने गुरुदेव को देखा है कि वे शिष्यों के योग–क्षेम को पूरा करने में कितना तत्पर रहते थे। आत्मानन्द की सेवा से तो वे इतने प्रसन्न हो गये थे कि प्रायः कहने लगे थे कि यह गर्भ से सन्त ही आया हुआ है। वे इनके योग–क्षेम को पूरा करते–करते भी अघाये नहीं, अन्ततोगत्त्वा एक दिन साधकों के सामने ही (शरीर छोड़ने के ढाई माह पूर्व) उन्होंने महाराज के कंधे को झकझोरा तथा आत्मानन्द की तरफ प्रेम में भरकर देखते हुए कहा–

दो०–सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग ॥८६॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

जानते हो! आत्मानन्द ने अपनी सेवा से मेरे हृदय को जीत लिया है, इससे मैं अति प्रसन्न हूँ। हाथ जोड़ा हुआ महाराज गुरुदेव के द्वारा ऐसे सर्वोत्तम वरदान को सुनकर गद्गद हो गया।

एक सन्त के पास उनका शिष्य चाहे जब कहता कि गुरुदेव! वेद तो यहाँ पर ऐसा कहता है, शास्त्र एवं पुराण तो यहाँ पर ऐसा कहते हैं। तो सन्त से किसी भक्त ने पूछा– आपको पाने के बाद भी ये वेद की ही बात करते हैं क्या? सन्त ने कहा– एक बालक पागल हो गया, वह जिस शब्द को पकड़ लेता उसी को रटता रहता। एक दिन माँ, माँ, माँ, कहता हुआ दरवाजा खुलवा रहा था। माँ ने दरवाजा खोल दिया। तो भी वह माँ, माँ, माँ, की रट लगाये रहा। वह कह रही थी कि अब तो मैं तुम्हारे सामने हूँ फिर क्यों माँ की रट लगा रहे हो? लेकिन वह तो पागल था, अतः अपनी इच्छा से ही वह माँ, माँ की रट बन्द करेगा। उसीप्रकार ये वैदिक परिवार

के थे न! इसलिए वेद, पुराण एवं शास्त्र की रट लगा रखे हैं। कुछ दिन में अपने–आप ब्रह्म–ब्रह्म की रट लगाने लगेंगे।

युद्धभूमि में देखने पर लग रहा है कि भगवान मानो अर्जुन से कह रहे हों कि हे पार्थ! अब तुम मेरी आज्ञानुसार सत्त्व में स्थित होकर (आत्मरूप होकर) युद्ध करो। तुम्हें स्वर्ग से अपवर्ग प्राप्त करने के लिए वेद को त्यागना ही होगा। इसलिए कि 'मैं निर्वेदरूप' तुम्हें प्राप्त हो गया हूँ। तुम समझ ही नहीं रहे हो कि मैं किस वेद को त्यागने की बात कर रहा हूँ। अरे! ये पितामह ही यजुर्वेद हैं, आचार्य द्रोण धनुर्वेद अर्थात् अथर्ववेद हैं, कृपाचार्य ऋग्वेद हैं, कर्ण सूर्यवेद है और दुर्योधन तो मूर्खवेद है ही, शकुनि छल एवं कपटवेद है तथा अश्वत्थामा द्वेषवेद है। इसीप्रकार यहाँ जो भी आये हुए हैं, वे सब किसी न किसी वेद में प्रतिष्ठित हैं। अतः इन वेदों को तुम त्यागकर (वधकर) सत्त्वरूप हो जाओ अर्थात् आत्मरूप हो जाओ। ऐसा नहीं करते हो तो प्रत्यवाय दोष हो जायेगा, इसलिए–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

इस युद्धभूमि में तुम्हें युद्धरूप कर्म करने का ही अधिकार है, जीतूँगा कि हारूँगा, स्वर्ग मिलेगा कि नरक मिलेगा; यह सोचने का अधिकार नहीं है। गृहस्थाश्रम में वेद की आज्ञा से कर्मरूप युद्ध करते आये हो; अब यह युद्धाश्रम है, यहाँ पर मुझ सद्गुरु की आज्ञा से युद्ध करो। घर में शरीररूप होकर माता–पिता एवं राजाज्ञा से युद्ध करते आये हो, वहाँ हानि–लाभ, जय–पराजय की कामना से युद्ध करते आये हो, लेकिन यहाँ पर सत्त्व में स्थित होकर, आत्मरूप होकर इस धर्मयुद्धरूप कर्म को करो। जय होगी कि पराजय होगी, इसमें समान भाववाले हो जाओ। इसी को समत्वयोग कहा जाता है।

अब साधकों की भूमि में आ जायँ, जहाँ यही बात गुरु आश्रम में सद्गुरु कहता है। यदि आपने आध्यात्मिक भूमि में प्रवेश कर लिया है अर्थात् संन्यास लेकर सद्गुरु के शरणागत हो गये हैं तो वहाँ पर एकमात्र आपको जो वह साधना दे दे, उसी को करने का अधिकार मिला है। मेरी साधना सिद्ध होगी कि नहीं होगी, यह सोचने का अधिकार नहीं मिला है। जबकि गृहस्थाश्रम में आपको विशेषाधिकार की प्राप्ति भी थी, वहाँ कभी आप माता–पिता, भाई–बान्धवों की आज्ञानुसार चलते थे और कभी वे आपकी प्रार्थनानुसार चलते थे। वहाँ पर आपको स्वजनों से अतिसंघर्ष, अतिसंघर्ष, अतिसंघर्ष करने का भी अधिकार मिला है, किन्तु सद्गुरु के पास मौनी होकर रहने का अधिकार मिला है। उसके पास आप कर्म में आसक्त होकर दीन–हीन नहीं बन सकते, वहाँ पर साधना करने में आसक्ति और साधना न करने में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा क्यों? इसलिए कि आपके शरणागत होते ही उसने आत्मज्ञान का उपदेश कर दिया है,

आत्मरूपता में स्थित कर दिया है। इसलिए आप ऐसा कह ही नहीं सकते कि मैं कर रहा हूँ। वहाँ पर (गृहस्थाश्रम में) सत्य–असत्य, पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, कर्म–अकर्म, भले–बुरे सबमें आसक्ति थी; इसलिए कि साम, दान, दण्ड, भेद इन चारों नीतियों के अनुसार चलने में, सत्य के साथ–साथ असत्य, धर्म के साथ–साथ अधर्म, कर्म के साथ–साथ अकर्म के साथ चलना पड़ता है; क्योंकि जिन लोगों की आज्ञा में रहते थे, वे कर्मों में ही आसक्त थे और आपको भी कर्मों में आसक्त रखकर कर्मसिद्धि चाहते थे। वे जय चाहते थे पराजय नहीं, लाभ चाहते थे हानि नहीं, स्वर्ग चाहते थे नरक नहीं। यदि उनके अनुसार बर्ताव नहीं करते तो वे कहते कि साधु बनना है तो वन को जाओ; हरिश्चन्द्र बनना है तो यहाँ तुम्हारी जगह नहीं है। आप देखते ही हैं कि आपके सत्यव्यवहार से लोग कहते ही हैं कि बड़े हरिश्चन्द्र बनते हो। वहाँ परिवार में स्थित होकर भी कर्म करना पड़ता है, जाति में स्थित होकर भी कर्म करना पड़ता है, गाँव में स्थित होकर भी कर्म करना पड़ता है। इसीप्रकार कभी प्रदेश में और कभी देश में स्थित होकर कर्म करना पड़ता है। ठीक इसके विपरीत गुरु आश्रम में एकमात्र गुरु आज्ञा से अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर ही कर्म करने का अधिकार है। वहाँ घर, परिवार, प्रदेश एवं देश की बात नहीं कर सकते। वहाँ बन्दरों की जाति नहीं है कि एकबार गिर जायेंगे (पराजित हो जायेंगे) तो निकाल दिये जायेंगे।

यहाँ पुनः आप ध्यान दें– आध्यात्मिक भूमि में सद्गुरु की आज्ञा पालन करने का ही अधिकार है। वहाँ साधना में भी आपको प्रीति नहीं होनी चाहिए। कभी–कभार साधना में प्रीति हो जाने से भी गुरुदेव का अनादर हो जाता है, जब साधना के प्रति दुराग्रही हो जाते हैं आप। आए दिन साधकों से कहता है महाराज– सद्गुरु के पास कैसे हो जाता है द्वेष आपको? वहाँ तो कोई आपका अपना–पराया है नहीं, अथवा कैसे हो जाता है राग वहाँ पर? वैसे ही काम, क्रोध, छल, कपट कैसे हो जाता है आपको? ये तो गृहस्थाश्रम के उपयोगी साधन हैं, गुरु आश्रम के नहीं। यहाँ तो मात्र उसकी आज्ञा पालन करने की ही सम्पूर्ण आचार्यों ने व्यवस्था दी है। यहाँ तो जो साधना सद्गुरु ने दे दी, उसे निर्बाधरूप से सत्त्व में स्थित होकर करता रहे, दूसरे को न देखे। वह ऐसा कर रहा है, वह ऐसा नहीं कर रहा है, वह सो रहा है, समय पर जाग ही नहीं रहा है, आवारा जैसा घूम रहा है, साधना तो करता ही नहीं, खाना– पीना, सोना ही है तो अपने घर क्यों नहीं चला जाता, व्यर्थ में गुरुदेव की रोटी क्यों तोड़ रहा है– ऐसा सोचने एवं कहने के पहले कम से कम आप यह विचार तो कर लें कि क्या गुरुदेव ने आपको ऐसा सोचने एवं कहने का अधिकार दिया है। अरे! हे दम्भी! हे पाखण्डी! आप किसके पास हैं, ये विचार नहीं करते कि जिसके पास आप हैं, उसके पास मानवों के साथ–साथ दानवों की, देवताओं की, हिंसक–अहिंसक पशु–पक्षियों की, यहाँ तक कि साँप–बिच्छुओं की भी जगह है। वह भगवान शिव है, शिव। उसके गले में मुण्डों की माला यही कहती है कि इसने मृतप्राय लोगों को अर्थात् विषयी लोगों को अपने गले का हार बनाया है। वे विषयी उसके दर्शनमात्र से कभी न कभी निर्विषयी हो जायेंगे, वे हिंसक कभी न कभी अहिंसक हो जायेंगे। आप उसके पास अधिकारी बनकर किसको दिखा रहे हैं कि सद्गुरु मुझे ही चाहता है और अन्यों से घृणा करता

है? उसको व्यर्थ में पक्षपाती क्यों सिद्ध कर रहे हैं? छिः! धिक्कार है आपके इस दंभ को जो कभी न कभी आपके माता–पिता, परिवार एवं गाँव को लज्जित करके मानेगा। यदि पूर्व के पुण्य के कारण किसी बड़ी गद्दी पर बैठे हैं, जिस गद्दी का सम्बन्ध पूरे भारतवर्ष से है तो आपका वह दम्भ कभी न कभी भारत की नाक काटेगा। किन्तु कट जायेगी नाक, कट जायेगी, नाक आपकी ही कटेगी, भारतभूमि की नाक तो आप जैसे पाखण्डी नहीं काट सकते क्योंकि इसकी प्रतिष्ठा को तो आर्ष ऋषियों ने, संत एवं साधकों तथा भक्तों ने इतना बढ़ा दिया है कि आपके घिनौने व्यवहार से साधु, संत एवं ब्रह्मचारी वेश में भी विलासी जीवन जीने से भी घटनेवाली नहीं है।

महाराज के पास आकर भी आपके घिनौने व्यवहार को देखकर एक दिन महाराज ने सूअर से पूछा– 'आज तो बहुत बड़ा भण्डारा है, पूड़ी, खीर, हलवा तुम्हारे को भी मिलेगा लेकिन तुम यहाँ भी आकर मैला ही खा रहे हो, क्या बात है?' सूअर ने कहा– 'क्या करूँ, मैला खाने का स्वभाव लेकर आया हूँ और यहाँ अभी भोजन मिलने में देर है, तबतक मैला खाकर ही अपनी भूख की तपन मिटा रहा हूँ।' महाराज ने पुनः कहा– 'अच्छा तो लो! ये आ गया भण्डारे का प्रसाद! खाओ! भरपेट खाओ!' वह सूअर सूँघकर दो–चार ग्रास खाया फिर चलता बना। महाराज ने आश्चर्य से पूछा– 'क्यों! किसी ने हट–हट भी नहीं कहा, किसी ने डंडा भी नहीं दिखाया, किसी ने कुछ कहा भी नहीं, तो ऐसे अनमने होकर क्यों जा रहे हो?' वह बोला– 'न इसमें सुगन्ध है न स्वाद है। मेरे मैले में जो स्वाद है, उसे स्वाद कहते हैं! यह तो मिट्टी खाना है? छिः आपके भण्डारे को! ऐसे धिक्कारते हुए सूअर ने अपना रास्ता लिया।'

महाराज की बात का बुरा न मान लेना अन्यथा यह सिद्ध हो जायेगा कि निश्चित ही आप इसी व्यवहारवाले हैं। जब आप एक आँख के काने हैं नहीं, तो ऐ काने! ऐसा सुनकर आप क्यों उधर देखेंगे? आप तो यही सोचेंगे कि यह कोई अपने काने मित्र को बुला रहा है।

(कर्मण्येवाधिकारस्ते.....) 'ये क्या कर रहे हैं आप मिट्टी के साथ–साथ पैसों को, सोने की अँगूठियों एवं जंजीरों को गंगाजी में फेंक रहे हैं? क्या किसी गरीब को नहीं दिया जा सकता?' स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव के इस व्यवहार में मानो हस्तक्षेप किया, पूछा। गुरुदेव ने कहा– 'अरे! यहाँ गरीब कौन है? यदि कोई है तो आकर मेरी माई (काली माई) से माँग ले, वह तो सोने, हीरे–जवाहरात का खजाना ही दे देगी। रही बात गंगाजी में डालने की तो देखा कि लोग अपने अहंकार को न चढ़ाकर ये मिट्टी ही चढ़ा जाते हैं, क्या मैं या मेरी माई इस मिट्टी को ही खायेंगे? मिट्टी, पत्थर से ही निकला हुआ सोना–चाँदी मिट्टी ही तो कहलाता है। अतः वहाँ मेरे कमरे में इसका ढेर लग गया था, इसलिए सोचा इस कूड़े–कचरे को तुमलोग तो फेंकोगे नहीं, मैं ही फेंक देता हूँ। परन्तु ये बताओ! तुम्हें मेरे व्यवहार को देखने का अधिकार दिया किसने? तुमने यह क्यों नहीं पूछा कि गुरुदेव ऐसा करने में क्या रहस्य है?' स्वामी रामकृष्ण ने विवेकानन्द से पूछा। 'हे प्रभु! क्षमा करें! मुझ मूर्ख के अपराध को क्षमा करें! आज से मैं रहस्य को ही पूछूँगा।' ऐसी प्रार्थना कर स्वामी विवेकानन्द अपने गुरुदेव के चरणों

में गिर पड़े।

सद्गुरु की अध्यक्षता में आत्मरूप होकर अत्यन्त सजगतापूर्वक अपनी साधना में ही रहने का अधिकार है, चाहे वह साधना झाड़ू लगाने या बर्तन माँजने की ही क्यों न हो। इसी को समत्वयोग अर्थात् भगवत् कर्म भी कहा जाता है। भगवत् कर्म एवं भगवत् धर्म दोनों भिन्न–भिन्न होते हैं– सद्गुरु आज्ञानुसार फल की चाहना–अचाहना से परे होकर कर्म करना, भगवत् कर्म है और मैं निर्विकार आत्मा हूँ, इस भाव में रहना यह भगवत् धर्म है; दोनों को साथ लेकर चलना होगा। 'मैं आत्मा हूँ' यह परम भाव ही आत्मा है और भगवत् कर्म ही उसका शरीर है। एक ऐसे दिव्य शरीर की आप कल्पना करें, जिसमें भौतिक शरीर, मन, बुद्धि ये सभी विलीन हो जायँ, समता में, समत्व में आप स्थित हो जायँ। 'मैं आत्मा हूँ', यह शरीर हो गया और गुरु की अध्यक्षता अर्थात् उसका 'आश्रम' इस शरीर की भूमि हो गयी तथा सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, सिद्धि–असिद्धि में समान भाववाला होकर गुरु आज्ञानुसार किया हुआ कर्म, उस शरीर का वस्त्र हो गया। वैसे ही नानाप्रकार के अवसरों पर प्रयोग में आनेवाले आध्यात्मिक झूठ, छल, कपट, धोखा आदि ही वहाँ दिव्यास्त्र हैं। जैसे संन्यासी ब्रह्मचारी को स्वजनों से छिपना भी पड़ता है। छिपने के लिए जगत में झूठ भी बोलना पड़ता है, नाम, गाँव, जाति को छिपाना भी पड़ता है, अपनी साधना को छिपाना भी पड़ता है, इत्यादि इत्यादि।

(कर्मण्येवाधिकारस्ते.....योगस्थः कुरु कर्माणि.....) कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं, ऐसा क्यों? हाँ, इसलिए कि सकाम कर्म का आधार प्रारब्ध है तथा निष्काम कर्म का आधार भगवद्कृपा। यदि प्रारब्ध साथ देता है, तभी तो कोई सकाम जप–तप सफल होता है, अन्यथा नहीं; इसीप्रकार भगवद्कृपा होती है, तभी निष्काम जप, तप होता है, अन्यथा नहीं। निष्कामी के पास भी जब भगवान चाहेगा, तभी आयेगा। जिसप्रकार हाथ, मुँह जूठा है तो संत आपके हाथ का कैसे खाएगा, उसीप्रकार मन तो बाल–बच्चों, स्वजनों एवं पद–प्रतिष्ठारूप फल को खा–खा कर जूठा हो गया है; अतः आपके उस जूठे मन में भगवान कैसे आएगा? इसलिए फल को फेंककर मन को जप, तप, योग आदि से धोकर फिर भगवान की प्रतीक्षा करें तब फिर देखें कि भगवान कैसे नहीं आता। आप कहते हैं कि हम भगवान को चाहते हैं परन्तु भगवान भी हमको चाहे तभी तो बात बनेगी। साधना के प्रारम्भिक चरण में महाराज ने भी सोचा कि मैं तो भगवान को चाहता हूँ लेकिन कोई प्रमाण भी तो चाहिए कि भगवान भी मुझे चाहता है। अतः वह भी मुझे चाहे इसके लिए प्रार्थना किया राग 'जोग' से–

जानिये जगदीश हमको जानिये
कोमल चित्त कृपालु कहाते, कहना मेरी मानिये॥१॥
अन्तर माँझ विराजो सबके, भव सागर से उधारिये॥२॥
तुम हो एक अनाथ नाथ प्रभु, मन में मैल न धारिये॥३॥
युग युग की यह प्रेम कहानी, मधुर मिलन यह मानिये॥४॥
महाराज कहत कर जोरें, अब मत ताना मारिये॥५॥

(अर्थात्) हे प्रभु! मैं तो अब आपको मानने लगा हूँ तथा यह भी जान गया हूँ कि अब आपके अतिरिक्त मेरा कोई उद्धारक है ही नहीं, किन्तु हे जगत्पते! मुझे भी तो पता चले कि आप मुझे मान रहे हैं, स्वीकार कर रहे हैं.....।

साधकों को यह विचार करना चाहिए कि अपनी निष्कामता की जाँच में भी लम्बा काल लग जाता है। जिस दिन आप सम्पूर्ण निष्काम हो जायेंगे उस दिन सम्पूर्ण भगवान आ जायेगा। एक बात ध्यान देना कि कर्म में प्रीति भी न हो जाय अन्यथा कर्म प्रधान दिखाई पड़ने लगेगा तथा भगवान गौण हो जाएगा। जो आलसी हैं, प्रमादी हैं, अकर्मण्य हो गये हैं उनके लिए यही कहा जाता है–

करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।।

किन्तु योगस्थ साधक से अर्थात् आत्मरूप हुए साधक से ऐसा नहीं कहा जाएगा; क्योंकि उसे भगवत् फल के अतिरिक्त किसी अन्य फल को चखना ही नहीं है। फल की कामनावाले सकामी साधकों के लिए तो फल को दृष्टिपथ में रखकर ही जप, तप, योग के प्रति उत्साहित किया जाएगा। जैसे गोस्वामीजी ने कहा है–

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।।
करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी।।
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।।
तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता।।
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा।।
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि का तप ही आधार है। तप के बल पर ही सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों के पूज्य बने हुए हैं और तपोबल के आधार पर ही भगवान विष्णु सम्पूर्ण प्राणियों का पालन करते हैं इत्यादि इत्यादि।

यदि भगवान चाहे तो कर्म के शुभाशुभ फल को मिटाकर स्वयं ही फल बन सकता है। जैसे अर्जुन के लिए भगवान फल बन गये हैं, मानो कह रहे हैं कि इन फलों (स्वजनों) को मत चाहो अन्यथा मैं दूसरे भक्तों के पास फल बनकर चला जाऊँगा।

यदि सद्गुरु ही आपका फल बन गया है तो उसकी आज्ञा के अनुसार कर्म करना। उसके पास भी आप जाकर चिन्ता करते हैं कि योग, जप, तप, सिद्ध नहीं हो रहा है! अरे! उसके पास आप जप, तप, योग सिद्ध करने आये हैं या आत्मस्वरूप की सिद्धि के लिए आये हैं? यदि आप कहते हैं कि सिद्धि इसलिए चाहते हैं कि संतोष हो जायेगा कि सही मार्ग पर जा रहे हैं, तो आप दूसरे को दिखाने के लिए सिद्धि चाहते हैं कि देखो! मैं सही मार्ग पर चल रहा हूँ। अरे! ढोंग मत करें, ढोंग मत करें; बहाना मत बनायें, बहाना मत बनायें। भगवान तो स्वयं सिद्ध है और आप

भगवान के लिए स्वयं सिद्ध हैं तो बीच में तीसरी सिद्धि बाधक बन जायेगी। इसलिए महाराज के गुरुदेव ने आध्यात्मिक साधना का एक क्रम दिया है–

नेम जगावे प्रेम को, प्रेम जगावे जीव।
जीव जगावे सुरति को, सुरति मिलावे पीव।।
(मेरा लक्ष्य)

(...मा फलेषु कदाचन.....) यहाँ 'कदाचन' पद आया है अर्थात् फल को कभी मत चाहना। कभी मत चाहना का तात्पर्य है– जाग्रत् में क्या स्वप्न में भी नहीं; क्योंकि स्वप्न में भी देवी–देवता या स्वयं सद्गुरु ही वरदान देने आ सकते हैं, तो कहीं ऐसा मत कह देना कि योग, जप, तप, ध्यान में तो मेरा मन ही नहीं लग रहा है अथवा अपनी दीनता–हीनता की बात मत करने लगना। यदि ऐसा हो ही जाय तो जान लेना कि अभी तक मैं सकामी ही हूँ।

चिरकुण्डा (बिहार) की एक माँ के पास उसके गुरुदेव ने सपने में आकर वरदान माँगने को कहा तो उसने उनसे रोते हुए कहा– आप तो देख ही रहे हैं कि हमलोग समस्याओं से घिर गये हैं, आप तो इन समस्याओं का समाधान कर दें! जब उसका सपना टूटा तो उसने महाराज से कहा– बाबा! आज मैं बाजी हार गयी। महाराज ने कहा– नहीं! तुम समझो कि बाजी जीत गयी; क्योंकि कम से कम यह तो पता चला कि तुम भगवान से भगवान को ही नहीं चाहती हो। यदि तुम्हें यह पता चल गया कि तुम सकामी हो तो सर्वप्रथम यह बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी। इस सिद्धि के मिले बिना तो कोई साधक निष्काम हो ही नहीं सकता। तुम कहती हो कि एक मिनट भी ध्यान नहीं लगता! माँगती हो धन और ध्यान लगने की बात करती हो! एक समय में तो एक ही होगा, या तो ध्यान में धन आयेगा या भगवान आयेगा! कुछ दिनों के उपरान्त उसके सपने में फिर गुरुदेव आ गये। उसने पुनः वही दीनता करुणा रो दी। अरे! भगवान तो तुम्हारे अन्तर की जानता है, वैसे भगवतरूप गुरुदेव की शिष्या होकर रोना रोती हो, जिसने रामरूप होकर अहिल्या को पुनः पत्थर से अहिल्या बना दिया, जिसने शबरी एवं गिद्ध आदि को भी परमगति दे दी। क्या वे भगवान वनप्रदेश में संकल्पबल से प्रकट करके खीर–पूड़ी, मलाई नहीं खा सकते थे।

इसप्रकार काम–क्रोध, राग–द्वेष, छल–कपट तो गृहस्थाश्रमी विषयी पुरुषों के साधन हैं। निर्विषयी का स्थान तो सद्गुरु आश्रम में है; जहाँ इन सबकी आवश्यकता ही नहीं है। अतः आपके लिए जो सद्गुरु ने साधन दे दिया, वह सत्त्व में स्थित होकर, आत्मरूप होकर निर्बाधरूप से करते रहें। फिर तो आप कुछ ही दिन में देखेंगे कि आपने कभी किसी काल में कुछ किया ही नहीं है। रामानन्द को भक्ति भाव में बिना आसन सिद्ध किये ही समाधि लग जाती है। उसे अनाहद नाद एवं ब्रह्मज्योति को हटाना पड़ता है, इसलिए वह तो यही कहेगा कि क्या हाथ–पाँव तोड़कर बैठे हो, हृदय से भगवान के लिए रो लो फिर देखो समाधि कैसे नहीं आती। इसी रहस्य को खोलते हुए भगवान ने पुनः कहा–

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम॥५०॥

बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है धनञ्जय! अतः तुम इसी योग का आश्रय लेकर युद्ध करो। फल की आशा से कर्म करनेवाले जैसा तो कोई दीन–हीन है ही नहीं। यह तुम जान लो कि बुद्धियोग से युक्त पुरुष इसी लोक में पुण्य एवं पाप दोनों का त्याग कर देता है (अर्थात् दोनों से अनासक्त होकर मुक्त हो जाता है)। इसलिए तुम अभी से ही समत्वरूप योग में लग जाओ; क्योंकि कर्म में कुशलता ही योग है।

आयें अब साधकों के बीच चलते हैं– भगवान मानो कह रहे हैं कि बुद्धियोग में स्थित होकर भी भौतिकफल की चाहना करनेवाले अति दीन–हीन होते हैं। यह उनका कैसा कर्मयोग है, यह उनका कैसा साधु वेश है, यह उनका कैसा त्याग है? बहुत से साधक कहते हैं कि जो मन की बात जानता है, वही साधु कहलाता है, जो एक से अनेक रूप हो जाता है, जो मरे हुए को जीवित कर देता है तथा जीवित को मार देता है, वही संत कहलाता है। महाराज को मन में बहुत हँसी आयी जब एक ब्रह्मज्ञानी संत शरीर छोड़ रहे थे, तब परस्पर में उनके एक शिष्य ने दूसरे से कहा– हाय! जाओ, एक रामजी की बड़ी तस्वीर लाकर इनके सामने दीवार पर लगा दो। अरे! लाओ जी, दौड़ो गंगाजल ले आओ! तुलसीदल ले आओ! डालो जल्दी करो! महाराज देखता रहा, मन ही मन हँसता रहा कि इनका वश चले तो इनके लिए राम नाम का जप भी करने लगें। अरे! ये क्या? अब तो वह भी प्रारम्भ हो गया, सब राम–राम जपने लगे। कहने लगे– हे प्रभु! इनके घोर संकट को दूर करो, इनकी आत्मा को शान्ति दो! महाराज तो मन ही मन उस संत से कह रहा था कि हे प्रभु! आपने क्या गुप्तराग गायी कि इन भक्तों ने भी आपकी राज नहीं जान पायी। अब तो आपकी रक्षा के लिए ये किसी अन्य भगवान को पुकारने लगे हैं जिन भगवानों की आप रक्षा करते हैं लेकिन कोई बात नहीं, यह तो आपके और इनके बीच का मामला है, आपने ऐसी लीला क्यों रच दी इनके सामने, यह तो आप ही जानें। महाराज का तो बस, प्रणाम स्वीकार करते जाना।

सन्त किसे कहते हैं, लगता है अज्ञानी ही भलीभाँति जानते हैं। अरे! साधकों से महाराज कहता है कि 'इन तथाकथित गुरु को मानने एवं जानने का ढोंग करनेवाले लोगों के बीच मौनी होकर क्यों नहीं रहते? इनको दिखाने के लिए, इनको रिझाने के लिए नानाप्रकार की सिद्धियों की कामना क्यों करते हैं?' कितने साधक पूछते हैं कि 'मेरा कुम्भक प्राणायाम कितने दिन में सिद्ध हो जायेगा, वह दिन कब आयेगा जब मैं सशरीर आकाश में सिद्धों जैसा विचरण करूँगा, वह समय कब आयेगा जब मैं विज्ञान को चुनौती देते हुए कहूँगा कि देखो, मेरा अध्यात्म आपके विज्ञान से कितना बड़ा है।' अरे! जो समयसीमा की बात करता है साधना के अन्तर्गत, उसकी

साधना कैसे सिद्ध होगी? कहीं असिद्धि की सिद्धि होती है? जो अपने–आप में असिद्ध है, उसकी साधना कैसे सिद्ध होगी? आप समयसीमा की बात करते हैं, बारह साल, बीस साल या जीवन भर! भगवान मानो कह रहे हैं– यह कोई साधना की बात है क्या? यह कोई साधना नहीं है। उसके लिए सम्पूर्ण जीवन–जीवन को ही दाव पर लगा दिया जाता है, जीवन को ही अर्पित कर दिया जाता है। भगवान अपना सर्वस्व देने के लिए आपसे आपका सर्वस्व जीवन माँगता है। वह तो जीवन माँगता है परन्तु आप तो एकमात्र बारह साल देना चाहते हैं। उसके सामने भी आप ज्ञानी बनना चाहते हैं। वह सर्वज्ञ है तो आप उसके भी पास सर्वज्ञ बनकर ही जाना चाहते हैं, वह अन्तर्ध्यान होकर रहता है, तो लगता है आप भी अन्तर्ध्यान की कला सीखकर उससे अन्तर्ध्यान हो जाना चाहते हैं, रावण एवं मेघनाद की तरह। वे श्रीराम प्रभु एवं लक्ष्मण के पास से अन्तर्ध्यान होकर मानो भगवान को डराना चाहते थे। प्रभु श्रीराम एवं लक्ष्मण ने पूरे संग्राम में कभी भी अन्तर्ध्यान होने की नहीं सोची। उन मूर्खों ने युद्धभूमि में विष्ठा, मूत्र, रक्त, पीब तक की बरसात की लेकिन भगवान मुसकराते रहे। मानो साधकों को संदेशरूप उपदेश दे रहे हों कि ऐसी सिद्धि के लिए यत्न मत करना अन्यथा सद्गुरु के पास तो तुम रावण बन ही जाओगे।

अरे! कुछ जप–तप हुआ नहीं और सिद्धि की बात करने लगे। भगवान तो तपयोग इसलिए करा रहा है कि वह आपके पास आये तो आप उसके तेज को, प्रताप को, उसकी शक्ति–सामर्थ्य को पचा सकें। उसको पाकर आप सम शान्त हो सकें, लेकिन पहले ही आपको सिद्धि की कामना हो गयी। अरे! आप तो अति दीन हैं, तुच्छ हैं, विक्षिप्त हैं, मूढ़ हैं; आप जैसे का ही मन सदा उच्चाटन को प्राप्त होता रहता है। आप ही जैसा मूढ़ सिद्धियों की खोज में इधर–उधर भटकता फिरता है।

(...कृपणाः फलहेतवः) कंजूसों का अपना संसार होता है, अतः वे तो अपने शरीररूपी फल को तो भगवान को देने से रहे; किन्तु यदि कोई अपने शरीर को भगवान को देना चाहता है तो वे उसमें अवरोध पैदा करना चाहते हैं। वे शरीररूपी फल को भगवान को चढ़ायेंगे ही क्यों, उलटे दिव्य भोगों को भोगने के लिए स्वर्गीय शरीर की माँग करेंगे। अरे! जिसने फल चढ़ाया है, उसी का तो भगवान भोग लगायेंगे तभी तो वह प्रसाद बनेगा! वे मूर्ख तो बिना भगवान को चढ़ाये ही ग्रहण करते हैं, तभी तो उनका कर्म अति तुच्छ हो जाता है। व्यक्ति का अपना मौलिक अधिकार होता है, वह उसे चाहे तो स्वयं को, माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं स्वजनों को दे सकता है; वह चाहे तो जाति, समाज, गाँव, प्रदेश एवं देश को भी दे सकता है और चाहे तो उन्हें न देकर सम्पूर्णता से भगवान के लिए भी दे सकता है। यद्यपि उसका शरीर स्वजनों के लिए एक तुच्छ फल बना हुआ है, उसी को वह जब सद्गुरु को दान कर देता है तथा अपने सत्त्व में स्थित हो जाता है, तब वही फल (शरीर) दिव्य फल बन जाता है। 'दूरेण ह्यवरं'– वर एवं अवर का तात्पर्य होता है– श्रेष्ठ और कनिष्ठ। कहने का तात्पर्य यहाँ पर यह है कि निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है तथा सकाम कर्म ही तुच्छ है। 'फिर अपने मौलिक अधिकारों को जाननेवाला पुरुष श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं करेगा, तुच्छ कर्म क्यों करेगा?' यदि अर्जुन अपने मौलिक अधिकारों

से परिचित रहते तो निश्चितरूप से चीरहरण के समय ही विद्रोह कर दिये होते। मानो भगवान यहाँ उनसे मधुर व्यंग्य भी बोल रहे हैं कि हे पार्थ! तुमने इस शरीररूपी दिव्य फल को महाराज युधिष्ठिर को भेंट कर दिया था, लेकिन उन्होंने तो उस फल को जूए में दाव पर ही लगा दिया, फिर इस दिव्य फल को दुर्योधन के हाथों से कल्याणी द्रौपदी ने छीन लिया। तुम्हारा यह शरीररूपी दिव्य फल तो उसी दिन युधिष्ठिर, भीष्म, द्रोणाचार्य आदि के हाथों से निकलकर मेरे हाथ में आ गया था। अब इस अर्जुन नामक दिव्य शरीररूपी फल का उपयोग मैं चाहे जैसे करूँ, यह मेरा अधिकार है। तुम इस शरीर के अधिकारी कैसे हो गये? किन्तु चलो कोई बात नहीं, अब तो तुम जान ही गये कि तुम कौन हो, शरीर क्या है और शरीर को किसे देना चाहिए।

(बुद्धियुक्तो जहातीह.....) पूर्वकृत 'पाप एवं पुण्यरूप' कर्मों से पाप और पुण्यरूप दो फल मिलते हैं। साधकों को जानना चाहिए कि संसार में जिन–जिन शरीरों से अपने शरीर का सम्बन्ध है, वे सारे शरीर या तो पुण्यफल हैं या पापफल हैं। माँ एक फल है, पिता फल है, स्वजन तथा भाई–बान्धव एवं सुहृद फल हैं। वैरी तो अपना पापकर्मरूपी फल है ही लेकिन माता–पिता, भाई–बान्धव आदि भी अपने साधनपथ में बाधा बनते हैं तो पापरूपी कर्मों के ही फल हैं। यदि ऐसा है तो भले एवं बुरे दोनों प्रकार के स्वजनरूपी फलों को आप त्याग दें। जब उग्रसेन ने जाना कि कंस मेरे पापरूपी कर्मों का फल है तो उसके माँगने पर भी उन्होंने राज्य नहीं दिया, भले उसके द्वारा संग्राम में पराजित होकर बन्दी बना लिए गये। उन्होंने उसका त्याग ही कर दिया। ऋषि विश्रवा ने जब जाना कि रावण, कुम्भकर्ण एवं खर, दूषण आदि मेरे पापरूपी कर्मफल हैं, तो सदा–सर्वदा के लिए इन कुपात्रों का परित्याग ही कर दिया और उन्होंने एक आश्चर्यमय कर्म किया कि रावणरूपी पाप के साथ–साथ विभीषणरूपी पुण्य फल का भी परित्याग कर दिया। अर्थात् महात्मा विभीषण से भी वे अनासक्त हो गये। पाप एवं पुण्यरूपी फलों को छोड़ने का तात्पर्य है, उनसे अनासक्त होना। साधनपथ में उतना पापरूपी फल बाधक नहीं होता जितना कि पुण्यरूपी फल बाधक होता है।

'योगः कर्मसु कौशलम्'– अरे! तुम तो गो हत्यारे हो! अच्छा! अब तुम घर में मत जाना, जबतक इसका प्रायश्चित न कर लेना। 'क्यों? मैंने तो गोवध किया ही नहीं?' कैसे नहीं किया, तुम्हारी ही गाड़ी की टक्कर से तो गिरकर गाय मरी! हाँ! हाँ! हाँ! अवश्य! बालक ने कहा अवश्य मेरी गाड़ी से गाय मरी लेकिन मैंने तो नहीं मारा? पाप लगे गाड़ी को, मुझे आप सब गो हत्यारा क्यों कहते हैं? किन्तु गाड़ी तो तुम्ही चला रहे थे? ब्राह्मणों ने कहा। बालक ने कहा– 'यदि ऐसा है तो गोवध मेरे पिता ने किया है, मैंने नहीं; क्योंकि मेरे शरीररूपी गाड़ी को तो वही चला रहे थे? शास्त्र कहता है कि पुत्र का शरीर माता–पिता गुरुजनों का हथियार है या गाड़ी है। इस शरीररूपी गाड़ी पर पिता की आज्ञा सवार थी, उनकी आज्ञा से ही मैं सामान लेने जा रहा था; तो ऐसा करें आयें पिताजी के पास चलते हैं। पिता से कहने पर उन्होंने कहा– 'आप सब शास्त्र के पास जायें; क्योंकि शास्त्र कहता है कि धर्मात्मा पुत्र को पिता उचित आज्ञा दे सकता है, अतः मैंने उचित ही आज्ञा दी है, अनुचित नहीं।' ऐसा सुनकर वे ब्राह्मण वहाँ से

हाथ मलते हुए अपने अपने घर लौट गये। इसप्रकार साधक कर्म में कुशलता क्या है समझ ही गये होंगे।

मानो भगवान भी यही कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम आत्मरूप में स्थित हो जाओ और शरीर द्वारा मेरी आज्ञानुसार कर्म करते जाओ अर्थात् युद्ध करते जाओ, फिर तुम्हें कर्तापने का दोष नहीं लगेगा। आज्ञा तो मेरी है न! और मैं ब्रह्महत्या आदि दोषों से मुक्त हूँ। प्रभु ने पुनः इसी का विस्तार करना प्रारम्भ किया–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

योगयुक्त हुए मनीषीगण कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को त्याग कर जन्म–मृत्युरूपी बन्धन से अच्छीप्रकार मुक्त होकर अनामयपद को प्राप्त कर जाते हैं।

जो मननशील पुरुष हैं, वे योगयुक्त होकर कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को तो त्याग ही सकते हैं। कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर अर्थात् कौसल्या जैसी माँ का त्याग कर, राजा दशरथ जैसे पिता का त्यागकर, अयोध्या जैसी प्रजा का त्यागकर, लव–कुश जैसे पुत्रों का त्यागकर, सीता जैसी धर्मपत्नी का त्यागकर, विभीषण जैसे भक्त का त्यागकर, सुग्रीव जैसे मित्र का त्यागकर; अनामय अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त कर जाते हैं। ये माता–पिता, भाई–बान्धव, मित्र आदि कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल हैं; इनमें जो अपने अनुकूल होते हैं, वे अपने पुण्यकर्म के फल हैं तथा जो अपने प्रतिकूल होते हैं, वे अपने पाप कर्म के फल हैं। यही नहीं, बल्कि घर–परिवार, गाँव, सुहृद, सुख–दुःख, मान–अपमान; ये सब भी कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल ही हैं, और आगे देखें– काम, कर्म का फल है; क्रोध, कर्म का फल है; राग–द्वेष, छल–कपट, पाखण्ड ये सब कर्म के फल हैं और अब अन्तिम चरण में पहुँचकर आप देखेंगे कि आपका शरीर ही सम्पूर्ण कर्मों का फल है। इसप्रकार अब कर्म से उत्पन्न होनेवाले अपने शरीररूपी फल के साथ–साथ उपरोक्त कहे जानेवाले सम्पूर्ण फलों को सत्त्व में स्थित होकर चिन्तनशील पुरुष त्याग देते हैं अर्थात् इन सम्पूर्ण फलों से अनासक्त हो जाते हैं। हाँ, तो प्रश्न खड़ा होता है कि किस फल को कहाँ त्यागते हैं? इसका उत्तर है कि कर्म से उत्पन्न होनेवाले शरीररूपी फल को सद्गुरुरूप ब्रह्म को दे देते हैं और अन्यान्य उपरोक्त फलों से अनासक्त हो जाते हैं– क्योंकि उन फलों को कोई दे ही नहीं सकता, जिसपर किसी का अधिकार है ही नहीं। ये सारी बातें उस ब्रह्मचारी के लिए कही जा रही हैं, जिसने सम्पूर्णता से घर से संन्यास ले लिया है। 'तो फिर वह सद्गुरु को शरीररूपी फल देकर करे क्या?' वह क्या करेगा! वह तो आत्मरूप हो ही गया। अब वह स्वयं देखेगा कि समर्पित किये हुए अपने तन, मन, वचन, हृदय से उसके गुरुदेव क्या कराते है; जप, तप, योग अर्थात् स्थूल कर्मयोग या ज्ञान, ध्यान, विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म कर्मयोग?

भगवान ने यहाँ पर इस सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले की महिमा भी गा दी कि यह विलक्षण बात है कि जिस दिन सम्पूर्णता से शरीररूप फल का समर्पण हो जायेगा, उसी दिन

वह अनामयपद को प्राप्त हो जायेगा, परमपद को प्राप्त हो जायेगा।

(कर्मजं बुद्धियुक्ता हि.....) आप ऐसा क्यों नहीं सोचते कि घर–परिवार एवं स्वजनों को त्यागकर संन्यास लेने मात्र से ही आप मनीषी हो गये, ऋषि–महर्षि हो गये। भगवान महात्मा अर्जुन को भी मनीषी इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उन्होंने उर्वशी जैसे दिव्य कर्मफल का त्याग किया था, उत्तरा जैसी शिष्या को जो उन्हीं को वरण करना चाहती थी, उसके प्रति स्त्रीभावरूप फल आने भी नहीं दिया था; इसलिए भी मनीषी कह रहे हैं। जो सदा चिन्तनशील पुरुष हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं। आपने भी तो ऐसा ही किया है क्योंकि ऐसा नहीं है कि आपके जीवन में उर्वशी या उत्तरा जैसी प्रेमदान माँगनेवाली न आयी हो। महाराज सच कहता है कि आपने उन फलों का त्याग किया है तभी आपमें संन्यास की भावना जगी, अतः आप संन्यास ले पाये। इसलिये आप सच में साधु पुरुष हैं, जितेन्द्रिय पुरुष हैं। महाराज यह भी कहता है कि जिन्होंने अपने स्थूल इन्द्रियरूप स्वजनों को, सुहृदों को त्याग दिया है, वे ही पुरुष जितेन्द्रिय हैं, और जब आपमें इतनी सामर्थ्य है तो फिर कर्म से उत्पन्न होनेवाले इस शरीररूप दिव्य फल को भी आप सद्गुरु को दानकर इस शरीर से संन्यास ले सकते हैं। देनेवाले आत्मजिज्ञासुओं ने देते, देते, देते अपने इस शरीररूपी दिव्य वस्त्र को (जिसे फल की संज्ञा दी गयी है, जिसे वे अपना सर्वस्व मानते थे) सद्गुरु को दे ही दिया। अब आप खड़े हो जायँ, अलग हो जायँ इस शरीर से। जानते हैं! महामायारूपी होलिका आपके शरीररूप वस्त्र को जलाना चाहती है परन्तु यदि आप इसे सद्गुरु को दे देते हैं तो वह वासनारूपी होलिका ही जल जायेगी। सत्त्व में स्थित होकर मातृभक्त एवं पितृभक्त नहीं बना जाता, भाई–बान्धव एवं मित्रभक्त तथा स्वजनभक्त नहीं बना जाता। छोटा सा तिनका यदि आँख में पड़ जाता है तो पूरा हिमालय दीखना बन्द हो जाता है, उसीप्रकार छोटा सा दोष 'स्वजन मोह' आपके तप, त्याग एवं आत्मचिन्तनरूपी आध्यात्मिकफल को खाये जा रहा है। आप नहीं देखते कि जो सत्त्व में स्थित हैं, आत्मरूप हैं, वैसे सद्गुरु के लिए शरीर मात्र एक वस्त्र है। उनके शरीररूपी वस्त्र को उनके भक्त ही स्नान कराया करते हैं, खिलाया–पिलाया करते हैं और वे ही इस वस्त्र में छिपे हुए ब्रह्म से समयानुसार वरदान प्राप्त कर लेते हैं। उस ब्रह्म को इस वस्त्र की आवश्यकता नहीं होती तो भी आप अपने इस दिव्य शरीररूपी वस्त्र को जो आपके लिए फल बना हुआ है दे दें। प्रभु ने एक समय में ज्ञानियों के लिए यह शरीर वस्त्र है– 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय.....' कहकर आपके लिए उपयोगी सिद्ध कर दिया है, भक्तों के लिए भी सार्थक बना दिया है।

आगे चलकर भगवान थोड़ी ही देर में (पाँचवें अ० में) कहेंगे– 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी। नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।' अर्थात् जो आप्तकाम नहीं हैं किन्तु निष्कामी हैं, वे इस शरीर की उस अवस्था में देही (जीवात्मा) कहे जाते हैं तथा न करते हुए, न करवाते हुए सुखपूर्वक सद्गुरु के पास जाकर इस नव दरवाजेवाले पुर में रहते हैं। तब उनसे सद्गुरु कहता है कि इस पुर में क्या बैठे हो, बैठने से काम नहीं चलेगा– 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' मेरी बुद्धि से चिन्तन करो, मेरी आँख से देखो, मेरे मन से मनन करो मेरी वाणी से जगत–हितार्थ

जप, स्वाध्याय करो, इस शरीर से जगत–हितार्थ तप करो। आप जानते हैं कि महर्षि वाल्मीकि को आवश्यकता नहीं थी तप करने की तो भी उन्होंने तप का परित्याग नहीं किया था। 'नवद्वारे पुरे देही'– उस अवस्था में वे देही कहे जाते हैं, यह देह एक महल कहा जाता है, वस्त्र नहीं कहा जाता। महल में जबतक प्रयोजन पूरा नहीं हो जाता, तबतक ही रहा जाता है। विद्यार्थी जबतक अपनी विद्या का उपार्जन नहीं कर लेता, विद्या में पारंगत नहीं हो जाता, तबतक विद्यालय में रहता है, उसके उपरान्त विद्यालय को छोड़ देता है। उसीप्रकार वह देही तबतक इस नव दरवाजेवाले पुर में रहता है, जबतक कि इस महल को छोड़ने की सामर्थ्य उसमें नहीं आ जाती। छोड़ने–पकड़ने की सामर्थ्य आते ही उसके लिए यह, वस्त्र हो जाता है। आगे कुछ ही समय में भगवान कहेंगे (तेरहवें अध्याय में)– 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' अर्थात् यह शरीर एक खेत है। ऐसा भगवान गृहस्थाश्रमी योगियों के लिए कहेंगे; क्योंकि वहाँ पर जो भी अपने स्वजन होते हैं वे काम, क्रोध, लोभ, ममतारूपी बीजों को अपने एवं दूसरों के हृदय में भी बोते रहते हैं; लेकिन वे कर्मयोगी सद्गुरु से जाकर आध्यात्मिक बीज लायें तथा अपने हृदयरूपी खेत में बो दें। यदि अपने से बोने की सामर्थ्य नहीं है तो सद्गुरु से ही अपने अनुकूल जप, तप, योग, ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूपी बीज को बोआ लें और समयानुसार निर्मल भक्ति एवं वैराग्य को पाकर, बाहर के महल को त्यागकर संन्यास ले लें।

आपको एक जगह विशेषाधिकार प्राप्त है वह यह कि जबतक सद्गुरु नहीं मिला है तबतक गृहस्थाश्रम में शास्त्रीय कर्म करते हुए रहें और जब निर्मल वैराग्य हो जाय, ब्रह्म की कामना जाग जाय तथा जब माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे बाधा बन रहे हों तो उनका त्याग कर दें, उसके उपरान्त सद्गुरु की शरण में आ जायँ। वहाँ पर अब आपका विशेषाधिकार छीन लिया जाता है। एक जगह (गृहस्थाश्रम में) जहाँ विशेषाधिकार के अधिकारी होते हैं वहीं सद्गुरु के आश्रम में आकर किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते। हाँ, एक जगह मनमानी करने की छूट होती है, वह यह कि घर को आप त्याग सकते हैं, दूसरी जगह मनमानी नहीं कर सकते अर्थात् सद्गुरु आश्रम से मनमाना इधर–उधर आ–जा नहीं सकते। मनमाना करे कब? जब सद्गुरु ऐश्वर्य दे तब अर्थात् वहाँ ऐश्वर्य न ले।

अरे! सब तो तकिया लगा के सो रहे हैं, तुम बिना तकिये के सो रहे हो? लाओ जी! इसके पास तकिया ही नहीं है! एक सद्गुरु ने अपने शिष्य के लिए कहा। वह शिष्य उठ खड़ा हुआ और कहा– गुरुदेव! यह आपने क्या किया? संत ने कहा– इतने गम्भीर कैसे हो गये तुम? शिष्य ने कहा– आश्चर्य है गुरुदेव, आश्चर्य है! मैं यह नहीं जानता था कि सद्गुरु के पास तकिया, गद्दे मिलते हैं। मैं नहीं जानता था कि सद्गुरु उसके वस्त्र की चिन्ता करता है, उसके मकान की चिन्ता करता है। यही मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है। कामना कौन है और क्या वस्तु मिल रही है। जिस वस्तु को मैं आपसे माँगने का अधिकारी हूँ और माँग रहा हूँ, उसे तो आप दे नहीं रहे हैं तथा तकिया, गद्दे की चिन्ता करने लगे! यह आपका काम नहीं था गुरुदेव! यह मेरा काम था। यदि मुझे आवश्यकता होती तो जो ये गुरुभाई व्यवस्था में हैं, उनसे माँग लेता। अतः मैं

समझता हूँ कि आप मेरे विषय में कुछ अन्यथा सोच रहे हैं। संत ने कहा– नहीं नहीं, ऐसा मत सोचो। उस दिन के बाद उस संत ने उस शिष्य से खाना, कपड़ा, मकान को नहीं पूछा। इसप्रकार जब सद्गुरु ऐश्वर्य दे तो उसका त्याग कर दें, वहाँ भी यह विशेषाधिकार है। उससे अपनी प्रिय वस्तु आत्मज्ञान माँगने के लिए अड़े रहें, यह विशेषाधिकार है। बालक तो अपनी प्रिय वस्तु माता–पिता से रोकर माँगता है, अनशन करके माँगता है। वह जानता है कि माँ दे सकती है, अतः रोना, अनशन करना उसका विशेषाधिकार है।

(कर्मजं बुद्धियुक्ता हि.....) कर्मफल को आप अच्छीप्रकार से समझ लें, जिससे कहीं आप धोखा न खा जायँ।

एक साधक ने महाराज से कहा– गुरुजी! घर पर मेरी दादी मेरे साधनपथ में बड़ा सहयोग करती थी। वह कहती थी कि 'तुम्हारा मन संन्यास लेने को हो गया तो ले लो, भले ही ये घर–परिवारवाले चाहे जितना विरोध करें, करने दो! संन्यास की कामना तो मेरे में भी थी लेकिन स्त्री होने के नाते मेरी संन्यास की कामना मन में ही रह गयी अन्यथा कभी का संन्यास ले ली होती।' उस साधक के लिए वह दादी माँ कर्म की फल नहीं अपितु ब्रह्मफल थी।

इस मंत्र के द्वारा यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल के अतिरिक्त कोई और भी फल है? हाँ, हाँ; यह तो स्पष्ट ही है कि कर्मफल के अतिरिक्त भगवत्कृपा फल भी है जिसे ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाला फल कहा जा सकता है। जैसे सद्गुरु, संत एवं भक्त ये कर्म के फल नहीं अपितु भगवत्कृपा के फल हैं। विभीषण ने भी हनुमानजी से कहा–

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

इस मंत्र के द्वारा तो हरिकृपा की बात देखने को मिली। अब ठीक इसके विपरीत कर्मफल के विषय में सूरदासजी क्या कहते हैं, इसे देखें–

तजो मन हरि विमुखन्ह को संग।।
जाके संग कुमति उपजत है, परत भजन में भंग।

अर्थात् वे सगे–सम्बन्धी कर्म के फल हैं, जो भगवत्पथ में बाधा बनने का प्रयास करते हैं। जो मोह–ममता के द्वारा साधनपथ में बाधा बनते हैं वे अपने राजस, तामस कर्मफल हैं और जो प्रेम के द्वारा बाधा डालते हैं, वे राजस एवं सात्त्विक कर्म के फल हैं। यदि घर में ही भक्ति जग गयी है और संन्यास लेने का मन नहीं कर रहा है तो गाँव में अथवा गाँव के पड़ोसवाले गाँव में जो भगवद्भक्त हों उनका संग करना। उनको भी कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल समझकर त्याग मत देना; क्योंकि वे तो ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाले फल हैं। जिस भोजन–प्रसाद को पाकर भजन–ध्यान में मन लगता हो, वह प्रसाद ही ब्रह्मफल है। प० पू० मस्तराम बाबा कहा करते थे

कि गंगाजल को कर्मफल मत समझ लेना, यह तो ब्रह्मफल ही है और संतों तथा भक्तों के लिए तो साक्षात् ब्रह्म ही है; गो माता का दूध, दही, घी आदि ब्रह्मफल ही है।

जिस घर में संत का बसेरा नहीं, वह घर तो कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल है, जिस गाँव में साधक, भक्त एवं संत का डेरा नहीं, वह गाँव तो कर्म का फल है, जिस प्रदेश में संत का बसेरा नहीं, वह प्रदेश तो कर्म का फल है, जिस देश में संत नहीं, वह देश तो कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल है। अतः ऐसे घर–गाँव, देश–प्रदेश का त्याग कर देना चाहिए। यही कारण है कि साधक, संत एवं भक्त आदि के लिए शास्त्र में विदेश जाना मना किया गया है। किसी–किसी को ब्रह्मफलरूप में पिता मिल जाता है, माँ मिल जाती है अथवा पुत्र, पत्नी, भाई–बान्धव मिल जाते हैं। इसप्रकार के फल को त्यागने का विधान नहीं है। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मफल प्रह्लाद को अपने दुष्कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल मान लिया था। वह कहता था कि अरे! इसे जला डालो, जल में डुबो दो; यह मेरा महापाप ही है, जो पुत्ररूप में आ गया है।

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं खदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात्॥३७॥
(श्रीमद्भागवत–महापुराण)

कोई दूसरा भी यदि औषधि के समान भलाई करे तो वह एक प्रकार से पुत्र ही है, पर यदि अपना पुत्र भी अहित करने लगे तो रोग के समान वह शत्रु है। अपने शरीर के ही किसी अंग से सारे शरीर की हानि होती हो तो उसको काट डालना चाहिए; क्योंकि उसे काट देने से शेष शरीर सुख से जी सकता है।

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम्॥३८॥
(श्रीमद्भागवत–महापुराण)

यह स्वजन का बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है। जैसे योगी की भोगलोलुप इन्द्रियाँ उसका अनिष्ट करती हैं, वैसे ही यह मेरा अहित करनेवाला है। इसलिये खाने, सोने, बैठने आदि के समय किसी भी उपाय से इसे मार डालो।

महाराज को तब बहुत हँसी आती थी, जब एक उच्चकोटि के भगवद्भक्त बालक के प्रति उसका पिता कहता था– ओह! मैं तो मारा गया। यह कहाँ से कुलकलंक पैदा हो गया, मेरी सारी इज्जत धूल में मिला दिया। सारे लोग हँसकर कहते हैं कि इनका बेटा सधुवा गया है, ऐसा सुन–सुनकर मेरा लज्जा से सिर झुक जाता है। अरे! जब इसका सबकुछ भगवान ही है तो यहाँ खाता क्यों है? इसका भगवान ही भोजन लाके क्यों नहीं दे देता इत्यादि इत्यादि।

कैसी विडम्बना थी उस पिता की कि उसका पुत्र ब्रह्मफल बन कर आया था और वह पहचान नहीं पा रहा था। मन्दोदरी, विभीषण तो ब्रह्मफल ही थे लेकिन रावण के लिए वे कर्मफल ही बन गये थे, तभी तो वह उनका दुरुपयोग करता था। अरे! कैसे नारकीय लोग हैं,

जो कर्म के फल के साथ–साथ ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाले फल को भी अपना ही फल मान लेते हैं, धिक्कार है उन लोगों को! यह सबको जान लेना चाहिए कि यह भारतभूमि भगवान की भूमि है। यहाँ भगवद्लीला करने के लिए प्रभु किसी का भाई, किसी का पुत्र, किसी का पिता बनता रहता है; किन्तु मूर्खों के पास वह आँख नहीं है, इसलिए भगवान सावधान करते हैं कि घर में कोई भक्त बालक या बालिका हो जाय तो उसका सहयोग करना यह सोचकर कि चलो हम भगवान के नहीं हो पा रहे हैं तो यह ही सही, इसी के नाते भगवान हमारा उद्धार कर देगा।

ऐसी मातायें भी ब्रह्मफल ही हैं, जिन्हें साधकों एवं भक्तों में दोष दिखाई ही नहीं देता। कमरऊ (हिमाचल) में पन्द्रह–सोलह साल से दो सन्त आया करते हैं। वे गाँव में जैसे ही प्रवेश करते हैं तो परस्पर में मातायें, बहन, बेटियाँ कहती हैं– राम–लक्ष्मण आ गये! ऐसी मातायें, बहन, बेटियाँ कर्म की फल नहीं, ब्रह्म की फल होती हैं।

(कर्मजं बुद्धियुक्ता हि.....) महात्मा अर्जुन की चुप्पी को देख अन्तर्यामी भगवान नारायण ने कहा– हे पार्थ! अब जब मैंने तुमसे सबकुछ कह दिया, फिर भी तुम्हारी स्मृति अभी तक योगमय नहीं हो पायी है, अभी तक तुम्हारा मन स्वस्थ नहीं हो पाया है तो ऐसी क्या बात है? लगता है तुम्हारे बुद्धिरूपी पाँव को मोहरूप महाग्राह ने पकड़ रखा है। आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है पार्थ!!! कि मेरे द्वारा यथार्थ कह दिये जाने पर भी तुम मौन हो।

भगवान की अन्तःपुकार को महाराज ने पद रूप में गाया है। अतः गाने में संकोच न हो तो आप भी यमन कल्याण राग से साथ दें–

आज तू मौन क्यों युवराज ।
जाग जाग अब जग से जाग, भाग भाग भव मग से भाग।।

छोड़ छोड़ तू मोह राग, सब गा रहे हैं मारुराग।
उठ रथ से उतर गाण्डीव ले, मत गा न अब विराग राग।।

अब तो सुना दी ज्ञान राग, निष्काम राग है ब्रह्मराग।
अब तो छोड़ दे तू जीव राग, आ जा अलाप तू शीवराग।।

मेरी बाँसुरी को देख तू, यह गा रही है त्यागराग।
भैरव भैरवी भर रहे, ललकार राग ललकार राग।।

गाने दे तू न भीष्म को, अब द्रोण को ही मोहराग।
गाने दे तू अब कर्ण को ही, जीवराग अरु मित्रराग।।

देख तू दुर्योधना को, गा रहा वह मृत्युराग।
महाराज अब माधव की गाता, है सदा अध्यात्मराग।।

इतने पर भी जब महात्मा अर्जुन की चेतना नहीं जाग पायी, तब प्रभु ने जैसे हनुमानजी

ने लंकिनी को घूसे से प्रहार करके प्रबुद्ध किया था, वैसे ही एक बाण मारकर जगाना चाहा। वह बाण क्या है इसे देखें–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

हे पार्थ! जब तेरी मोहरूपी दल–दल में फँसी हुई बुद्धि अच्छीप्रकार उससे निकल जायेगी तब तुम अबतक के सुने हुए एवं आगे भी सुने जाने योग्य विषय से वैराग्य को प्राप्त हो पाओगे; क्योंकि वेद एवं पुराण–शास्त्रों के गलत अर्थ करने या गलत विवेचन सुनने से विचलित हुई बुद्धि जब आत्मरूप हो जायेगी और तुम भी सत्त्वस्थ हो जाओगे तभी तुम्हारा और मेरा योग हो पायेगा अर्थात् तभी तुम ब्रह्मरूप हो पाओगे।

यह 'मोह कलिल' है क्या? ऐसा कौन सा कीचड़ है जो ऐसी जगह लिपटा हुआ है, जिसकी सफाई किये बिना यथार्थ दिखाई नहीं पड़ सकेगा?' हाँ; यह 'मैं' और 'तू', 'मेरा' और 'तेरा' भाव ही मोहरूपी कीचड़ है। शास्त्रीयज्ञान ही महा दलदल है, जिसमें अपनी प्रज्ञा ही फँस गयी है। द्रष्टा एवं स्रष्टा के बीच में मानो वह दलदल आ गया है– वह है पौराणिक मत, लोकमत एवं पारिवारिक मत, सामाजिक मत। इन सबके अनुसार चलना ही मोहरूपी दलदल में फँसना है। इस दलदल को वही पार कर पायेगा जो इन मान्यताओं का परित्याग कर देगा, तभी वह सद्गुरु की मान्यता, उसका सिद्धान्त सुन सकेगा तथा उसकी आज्ञा भी मान सकेगा, अन्यथा नहीं।

एक सामवेदीय आचार्य के पास वीणा सीखने का जिज्ञासु पहुँचा। प्रार्थना किया कि 'गुरुदेव मुझे भी वीणा सिखा दें, इस विषय का अपना शिष्य बना लें।' 'पहले कुछ बजाया है तूने?' गुरु ने पूछा। बालक ने कहा– 'जी! सरगम निकाल लेता हूँ, कुछ राग–रागिनियाँ भी निकाल लेता हूँ, कुछ इसपर भजन भी गा लेता हूँ।' 'तो बारह साल लगेंगे'– गुरुजी ने कहा। 'ठीक है'– शिष्य ने कहा। उसी समय एक दूसरा जिज्ञासु आया, कहा– 'शिष्य बना लेंगे मेरे को?' 'क्यों नहीं! लेकिन पहले से भी कुछ बजाना जानते हो क्या?' गुरुजी ने वही प्रश्न दूसरे बालक से भी किया। उसने कहा– 'नहीं, अभी वीणा के तार पर हाथ नहीं गये हैं।' गुरुजी ने कहा– 'सोच लो?' कहा– 'क्या?' 'यही कि तीन वर्ष लग जायेंगे?' बारह वर्षवाले बच्चे ने कहा– 'तीन साल और बारह साल! यह तो बहुत बड़ा अन्तर है, जबकि मैं कुछ बजाना भी जानता हूँ', 'यह क्या पहेली है गुरुदेव!' 'हाँ! यह एक अद्भुत पहेली है कि जो तुम अबतक जानते हो उसे नकारना पड़ेगा, उसे नकारने में ही बहुत समय लग जायेगा। उसे जब नकार दोगे तभी मैं तुम्हारे लिए सार्थक हो पाऊँगा।'

(श्रुतिविप्रतिपन्ना ते.....) कहीं कुछ सुन लिया, कहीं कुछ सुन लिया और उस सुने हुए के दलदल में फँस गये! उपनिषद् कहता है कि वेद, पुराण, शास्त्र एक अद्भुत कटीली झाड़ी है, जिसमें फँस गये तो निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। काशी से वेद, पुराण, शास्त्र पढ़कर बालक लौटा है। ब्रह्मज्ञानी पिता के पास बिना प्रणाम किये सहज में बैठ गया। विद्या के मद में चूर–चूर होकर बैठा है मस्ती में। 'अरे बेटे! तूने मुझे प्रणाम किया ही नहीं!' बेटे ने कहा– पिता जी! ब्राह्मणों में वही श्रेष्ठ होता है, जो वेदों का सम्पूर्ण ज्ञाता है। मैं तो समझता था कि इस न्याय से मेरे को तो आप ही प्रणाम करने के अधिकारी हैं। 'तुम वेद ही जानते हो या वेद की आत्मा को भी जानते हो?' पिता ने पूछा। पुत्र ने कहा– वेद की आत्मा भी होती है क्या? 'हाँ! क्यों नहीं? वेद की आत्मा भी होती है'– पिता ने कहा। फिर यह तो मैं नहीं जानता। आप ही बताएँ कि वेद की आत्मा क्या है? पुत्र ने पूछा। अरे! वेद की आत्मा तो ॐ है, क्या तुम 'ॐ' को जानते हो? पिता ने कहा। नहीं, मैं नहीं जानता हूँ, ये लें मेरा प्रणाम स्वीकार करें और वेद की आत्मा ॐ को जानने के लिए मुझे आज्ञा दें कि कहीं सद्गुरु के पास इसे भी जान लूँ। ॐ क्या है? इसके विषय में देखें महाराज के गुरुदेव कह रहे हैं–

ओऽम् ओऽम् ध्वनि हो रही ब्रह्मरूप ओंकार।
ॐ जगत का बीज है ॐ सकल व्यवहार॥

सब वर्णों में ओऽम् है शब्द शब्द में ओऽम्।
वाक्य ओऽम् में रम रहे जिमि त्वचा में रोम॥

शब्द ओऽम् में ओऽम् शब्द में शब्द जगत का बीज।
शब्द रूप में रूप शब्द में मिलकर बनती चीज॥

शब्दे माया जग उपजाया शब्द ही दृश्य अनोखा।
शब्द ही जीवन शब्द ही भक्ति शब्द ही ज्ञान झरोखा॥

शब्द ही आदि मध्य है शब्द ही अंतर्याया।
जितने जग में रूप बने हैं सबमें शब्द समाया॥
(मेरा लक्ष्य)

किसी के लिए वेद ही दलदल है, किसी के लिए शास्त्र एवं पुराण ही दलदल हैं, किसी के लिए जप, किसी के लिए (शम्बूक जैसे के लिए, रावण, कुम्भकरण आदि के लिए) तप ही दलदल है, कंस, भस्मासुर, जरासंध, शिशुपाल आदि के लिए वरदान ही दलदल है; किसी के लिए काम, किसी के लिए क्रोध, किसी के लिए लोभ और किसी के लिए राग–द्वेष, छल–कपट, पाखण्ड ही दलदल हैं (कीचड़ हैं)। गीताजी का पाठ मनमाना तो कर ही सकते हैं लेकिन इसका चिन्तन दलदल बन जायेगा यदि सद्गुरु के अनुसार न करें तो। यदि गीताजी में श्रद्धा है तो आप शुद्ध पढ़ें या अशुद्ध, भगवान को इससे कुछ लेना देना नहीं है, वह तो भाव को देखकर आपको किसी भी दलदल से निकाल देता है।

कोई मोहरूप दलदल में फँसा है तो कोई शारीरिक दुःखरूप दलदल में फँसा है, कोई परिवाररूप दलदल में तो कोई जातिरूप दलदल में, कोई गाँव, प्रदेश एवं देशरूप दलदल में फँसा हुआ है–

दलदल में फँसे सब हैं पर जानते नहीं हैं, सद्गुरु बता रहा है पर मानते नहीं हैं।।
नहिं मानते हैं तो भी वह निकालता है, डालते हैं उसपे कीचड़ पर दुख न मानता है।।
काम उसका जो है करता वह रहेगा, मान दें अपमान दें सहता ही वह रहेगा।।

ओह! आप यहाँ बैठे हैं गंगा किनारे? क्या यहाँ दलदल नहीं है? गाँव क्षेत्र के लोगों ने पूछा। नहीं, नहीं, आओ रहकर देखो, फिर जान लोगे कि यहाँ से तो जो दलदल में फँसे हैं, उन्हें निकाला जाता है– अरे! भगवान बचाये सबको राजनीति के दलदल से। मैं तो अब मुक्त हो गया, मुक्त हो गया, मुक्त हो गया, ऐसा कहते हुए मानो खगेन्द्रानन्द ने कहा–

राजनीति के दलदल में, अब न कहो आने को।
ज्ञान ध्यान की धुनि रमाऊँ, अब न कहो जाने को।।

'अरे! तुम केकड़ों को ले जा रहे हो टोकरी में लेकिन उसे ढके तो हो नहीं।' मल्लाह ने कहा– 'ये सब जानेवाले नहीं हैं; क्योंकि मैं जानता हूँ कि एक निकलने का प्रयास करेगा तो दूसरा उसकी टाँग खींच लेगा।' यही बात मायारूपी दलदल में फँसे हुए लोगों की भी है।

ऐसा लोग कहते पाये जाते हैं कि 'ऐसा मैंने सुना है तथा और भी इसके विषय में सुनूँगा'– जब इस सुनने की जिज्ञासा से मन उपराम हो जाता है, तभी आप सद्गुरु की बात सुन पाते हैं। इसलिए मानो भगवान कह रहे हैं कि जगत में आपको जो कुछ सुनना है सुन लें, जो जानना है जान लें, तभी सद्गुरु के पास जायँ अन्यथा वह आपके मान्यतारूपी कीचड़ को धो नहीं पायेगा। नारदजी ने सम्पूर्ण वेद–वेदांगों को आत्मसात् कर लिया था लेकिन शान्ति नहीं मिली थी। ब्रह्माजी से पूछने पर उन्होंने कहा था कि हे वत्स! अभी तुमको ब्रह्म प्राप्त नहीं है न, इसीलिए शान्ति नहीं है।

यदि किसी को अशान्ति है तो वह जान ले कि कहीं न कहीं मोहरूपी दलदल में वह फँसा हुआ है। समस्या तब होती है, जब आपका वह दलदल सद्गुरु को तो दिखाई पड़ता है, पर आपको दिखाई ही नहीं पड़ता; तब उसे आपको निकालने में बड़ा समय लग जाता है।

(तदा गन्तासि निर्वेदं.....) भगवान ने यहाँ बहुत बड़ी बात कह दी कि जिन सिद्धान्तों को आपने सुनकर सत्य मान लिया है, उन्हें सर्वप्रथम सद्गुरु के पास रखकर उनसे पूछें कि मैं तो इन सिद्धान्तों को सत् जानता था, किन्तु आप ही बतायें कि ये सत् हैं या असत्। आप देखें तो– वानप्रस्थाश्रम श्रीराम प्रभु के लिए सत् है किन्तु लक्ष्मण के लिए असत् है, अन्यथा वे भी उर्मिला को लेकर साथ जाते लेकिन वह वानप्रस्थाश्रम उनके लिए ब्रह्मचर्याश्रम के रूप में सत् है। इसलिए भलीप्रकार से अपने मोहरूप कलिल का निराकरण सद्गुरु से कराते रहना।

(श्रुतिविप्रतिपन्ना ते.....) आपने जो सुना है आजतक, उसे अनसुना कर दें। दूसरे से भी जो सुनना था, उसे भी आप मना कर दें; क्योंकि सुनने का समय नहीं रहा। इसलिए कि समय जा रहा है। गपरूप कीचड़ से होली खेलते–खेलते जीवन बीत जाता है लेकिन पेट नहीं भरता। इसलिए एक जगह आकर आप होली न खेलें, वहाँ आप केवल अपने ऊपर रंग पड़ते हुए देखें; वह जगह है– सद्गुरु! वह ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूप जल से आपका सारा मोहरूप कीचड़ धो डालेगा।

(यदा ते मोहकलिलं.....श्रुतिविप्रतिपन्ना ते.....) मानो भगवान कह रहे हैं– पार्थ! मैं एक विशाल नदी के किनारे दलदल में फँसे हुए कुछ हाथियों को देख रहा हूँ। बहुत प्रयत्न करने के उपरान्त भी उन्हें कोई भी निकाल नहीं पाया है। अब तो उनमें कीड़े पड़ गये हैं, तड़प रहे हैं। तो अब तुम बताओ कि तुम्हारे पास कुछ उपाय है निकालने का? मानो महात्मा अर्जुन ने कहा– हाँ, हे प्रभु! है। किसी भी उपाय से उनका वध कर दिया जाय अन्यथा ये तो महीनों छटपटाते ही रहेंगे। भगवान ने मानो गाण्डीव की तरफ इशारा किया और हँसते हुए कहा– उठाओ पार्थ! उठाओ! गाण्डीव को उठाओ और महामोहरूप दलदल में फँसे हुए इन पितामह भीष्म एवं आचार्य द्रोण आदि को स्वर्ग भेजो। ये वही हाथी हैं, जिनके विषय में अभी तुमने वध करने को कहा है। मैंने इन्हें मोहरूप दलदल से निकालने का पूरा प्रयास किया था लेकिन सारे के सारे प्रयास असफल रहे। अब तो गाण्डीव ही एकमात्र समाधान है, जिसके द्वारा इनका उद्धार हो सकता है।

संजय की श्वास चलने लगी। लग रहा था कि इनकी श्वास दब सी गयी थी लेकिन अब जान में जान आ गयी। उन्होंने भगवान व्यास की आज्ञा का पालन किया और जिसप्रकार भगवान ने अर्जुन से पूछा था, वैसे ही संजय ने धृतराष्ट्र से पूछा कि हे राजन्! दलदल में बहुत दिन हो गये हाथियों को, उनमें कीड़े पड़ गये हों, छटपटा रहे हों, उन्हें निकालने के सारे के सारे प्रयास असफल हो गये हों तो वैसी अवस्था में आपके मत से क्या करना चाहिए।

उनका वध कर देना चाहिए संजय! वध कर देना चाहिए!

धृतराष्ट्र के उत्तर को सुनकर संजय ने कहा– तो फिर यही होगा महाराज। ये पितामह और आचार्यद्रोण आदि ही विशाल हाथी हैं, जो मोहरूप दलदल में संशयरूप कीड़े लगने से छटपटा रहे हैं। भगवान ने समाधान ढूँढ़ लिया है। इसीलिए वे अर्जुन से कह रहे हैं– उठाओ पार्थ! उठाओ गाण्डीव उठाओ! अब देर न करो!

धृतराष्ट्र के गम्भीर होने पर संजय ने उन्हें बिना आदर–मान दिये भगवान की तरफ देखा कि प्रभु तो गाण्डीव उठाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु बात कुछ बनती हुई नहीं दीख रही है। यद्यपि उनपर व्यंग्यबाणों की बहुत मार पड़ रही है, वे बहुत घायल भी होते चले जा रहे हैं लेकिन फिर भी क्षुद्र कल्पनाएँ उनका पीछा नहीं छोड़ रही हैं।

उत्तम अधिकारी के लिए घोर प्रायश्चित नहीं कराया जाता बल्कि कुछ भला–बुरा कहकर,

अपने व्यंग्यात्मक बाणों से घायलकर उसके दोष का परिमार्जन कर दिया जाता है। वही न्याय यहाँ भगवान, अर्जुन के साथ कर रहे हैं। इधर महात्मा अर्जुन के मन में नानाप्रकार की ऊहा–पोहरूप कल्पनाओं में से एक कल्पना सामने आकर नाचने लगी कि ये मधुसूदन करते तो ज्ञान की बात हैं और लगाते कर्म में हैं। बातें तो करते हैं स्थितप्रज्ञ पुरुष की और कहते हैं युद्ध करो! यह इनका कैसा शास्त्र है?

लगता है, भक्त अर्जुन के मन में अभी भी कुछ अंशों में संत बनने की कामना रह ही गयी है; क्योंकि ऐसे समय में अब प्रश्न करने का कोई औचित्य नहीं था। यही तो कारण है कि वे अभी तक गाण्डीव उठाकर हुंकार नहीं भर रहे हैं। निश्चितरूप से श्रुति भी एक योग है और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ सद्गुरु की वाणी सुनना भी एक योग है, जिसमें सम्पूर्ण योगों का उपसंहार होता है लेकिन आध्यात्मिक श्रद्धा और विश्वास के अभाव में वे अबतक ज्ञानयोग या कर्मयोग में स्थित नहीं हो पाये हैं; जबकि भगवान के पास उनके लिए कहने को कुछ शेष नहीं रहा। अहो! लगता है इनका मोह, गरुड़ के मोह से भी बढ़ा–चढ़ा है। इनके माध्यम से ही यह पता चलता है कि जब सद्गुरु के पास शिष्य उपदेष्टा बन जाय तो जान लेना चाहिए कि उसमें महामोह प्रकट हो गया है। तो आयें देखते हैं कि ये माया के वशीभूत हुए कौन सा प्रश्न कर रहे हैं–

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

अर्जुन कहते हैं कि हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुष का लक्षण क्या है जिससे कि उसे पहचाना जाय। वह स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?

यहाँ दो बातें हैं– अपने स्वरूप को प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ पुरुष का लक्षण क्या है तथा उसका व्यवहार क्या होता है? स्थितप्रज्ञ तो अहिंसक होता है, महात्मा अर्जुन ने ऐसा सुन रखा है। वे सोच रहे हैं कि ये माधव यदि ऐसा स्वीकार कर लेते हैं, तब मैं बाल–बाल बच जाऊँगा युद्ध करने से; क्योंकि फिर तो ये मुझसे युद्ध करने को कहेंगे नहीं। यही नहीं, जब ये कह ही रहे हैं कि 'जब तुम सुने हुए का तिरस्कार कर दोगे और सुनने की जिज्ञासा भी समाप्त हो जायेगी जगत में, तब तुम्हें मेरी बातें समझ में आयेंगी' तो सुनने की जिज्ञासा तो अभी है ही फिर दूसरे से सुनने की अपेक्षा इन्हीं से मैं क्यों न सुन लूँ। सद्गुरु तो बना ही लिया है मैंने।

तो क्या सुनने की जिज्ञासा थी? यही कि दुर्वासा जैसे ऋषि ने हम पाण्डवों को अपमानित करने का प्रयास किया था, उस समय बड़ा भय का अवसर आ गया था। एक वे भी तो स्थितप्रज्ञ पुरुष हैं! तो फिर दुर्वासा बनकर ही मैं इनलोगों को दण्ड क्यों न दूँ तथा उन्हीं जैसा शक्ति से सम्पन्न होकर इन कौरवों को राज्य से च्युत क्यों न कर दूँ! और यदि ऐसा नहीं है तो अपने

को भी ये स्थितप्रज्ञ सिद्ध कर रहे हैं, अतः स्थितप्रज्ञ पुरुष युद्धभूमि में हिंसात्मक व्यवहार की आज्ञा नहीं देगा, यदि फिर भी युद्ध की आज्ञा देते हैं तो यह सिद्ध हो जायेगा कि ये स्थितप्रज्ञ हैं ही नहीं। अबतक समाधि में स्थित दिव्य प्रज्ञा से सम्पन्न पुरुष की जो परिभाषा सुन रखी है महात्मा अर्जुन ने, उस परिभाषा से अर्थ का अन्यथा अर्थ निकल गया है। मोह में आसक्त चित्तवाले को अर्थ का अनर्थ निकालते हुए देखा ही जाता है। राम कहने पर कामी को काम सुनाई पड़ जाता है। एक साधक को महाराज ने कहा– उन्हें कह दो वे आयें। उसने जाकर कहा कि महाराजजी कह रहे हैं– आप जायें। इसप्रकार अर्थ का अनर्थ निकलते हुए देखा जाता है। महाराज तो देख रहा है कि जगत में ब्रह्मनाद ही हो रहा है लेकिन उसमें किसी–किसी को छोड़कर कोई स्थित नहीं हो पा रहा है। सर्वत्र सब रूपों से ब्रह्म ही बोल रहा है लेकिन उसकी वाणी समझ में नहीं आ रही है। महात्मा अर्जुन सोच रहे हैं कि स्थितप्रज्ञ तो स्थितप्रज्ञता देता है। इन्होंने तो अपने को स्थितप्रज्ञ सिद्ध करके अस्त्र–शस्त्र त्याग दिया है और मुझे कहते हैं– युद्ध करो। अपने तो शक्ति से सम्पन्न हैं तथा मुझ शक्तिहीन से कहते हैं कि युद्ध करो। इन्हें तो मुझे अपने जैसा शक्तिमान बना करके तब युद्ध करने की आज्ञा देनी चाहिए। अतः भगवान से कहते हैं– पहले आप स्थितप्रज्ञ के लक्षण बता दें और उसका व्यवहार बता दें तब विचार करूँगा कि युद्ध करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए।

अभी तो भगवान की भाषा से स्पष्ट है कि वे अपने को अर्जुन के सामने संत, सद्गुरु एवं भगवान सबकुछ सिद्ध कर रहे हैं; किन्तु महात्मा अर्जुन शक्तिमान के सिवा उन्हें कुछ भी मानने को राजी नहीं हैं। हाँ, उन्हें संत मानने की स्थिति में आ रहे हैं। अतः स्वाभाविक है कि संत के सभी लक्षण एवं व्यवहार उनसे जान लें।

महात्मा अर्जुन को मानो मन ही मन हँसी आ रही है कि ये संत तो लग रहे हैं लेकिन न तो दुर्वासाजी की ही श्रेणी में आ रहे हैं, न तो शुकदेवजी की ही श्रेणी में आ रहे हैं। अतः चलो इन्हीं से पता चल जायेगा कि ये किस श्रेणी के संत हैं। यहाँ पर हे केशव! ऐसा सम्बोधन करके अर्जुन ने भगवान नारायण को सर्वश्रेष्ठ शक्तिमान होने का संकेत तो दे ही दिया है, किन्तु भगवान को घेरने का भी खूब प्रयत्न किया है। इधर प्रभु को उनका युद्ध न करना अभी तक बहुत महँगा पड़ रहा है लेकिन जगत को बड़े सस्ते में गीताजी जैसा अद्भुत ग्रन्थ मिल रहा है इसीलिए उन्हें भी युद्ध की कोई जल्दी नहीं दीख रही है। जब–जब भगवान को घेरा गया है तब–तब जगत को बहुत कुछ मिला है। असुर घेरें या देवता किन्तु भगवान पर इससे कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, उनको तो बस कुछ देना है। भरी सभा में जब दुर्योधन ने घेरा तब जगत को विश्वरूप भगवान की झाँकी मिल गयी, देवताओं ने घेरा तब नरसिंह, वराह आदि दिव्य अवतार मिल गये, रावण तथा कैकेयी आदि ने घेरा तब रामायण तथा श्रीरामचरितमानस जैसे दिव्य ग्रन्थ मिल गये। तो आयें देखें– अभी महात्मा अर्जुन के घेरने पर हम सबको संत का किस–किस भाँति का व्यवहार एवं लक्षण मिल रहा है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥५४॥

(महात्मा अर्जुन के मन को सन्तुष्ट कर दिया भगवान ने, उनके मन में मन को आरोपित कर दिया। लगता है वे सन्तों से कह रहे हैं कि उन्हें अपने शरणागत हुए ब्रह्मचारी के पास जाकर बैठ जाना चाहिए अथवा उसे उठाकर कन्धे पर बिठा लेना चाहिए। वह बहुत छोटा होता है और संत बहुत बड़े होते हैं। संत आकाश में है तो वह पाताल में है; जब इतनी दूरी है तो संत को पाताल में जाकर बैठना होगा और वहाँ से धीरे–धीरे, धीरे–धीरे कन्धे पर बिठाकर लाना होगा अपने पास। तब कहीं बात बन पायेगी।)

भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर वह अपनी आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है। यही कारण है कि उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

ऐसा सुनकर मानो महात्मा अर्जुन ने सोचा– मन से प्रकट होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर दिया तब तो आत्मरूपता ही आ जायेगी। फिर तो यह बड़ा सहज है, बात तो मेरी बनती सी दिखाई पड़ रही है। जबकि भगवान कह रहे हैं कि वह अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं का तो त्याग कर देता ही है तथा औरों की भी कामनाओं का त्याग कर देता है परन्तु अपनी आत्मा की कामना का त्याग नहीं करता। उसकी आत्मा कौन है? हाँ; उसकी आत्मा तो सद्गुरु ही है, उसके अनुसार तो वह चलता ही है। वह माँ की कामना के अनुसार नहीं चलता, पिता की कामना के अनुसार नहीं चलता, धर्मपत्नी एवं बाल–बच्चों की कामना से नहीं चलता, मित्र या शत्रु की कामना से नहीं चलता, शिष्य एवं सेवक के मन के अनुसार नहीं चलता, मन से उत्पन्न होनेवाली कामनाओं के अनुसार नहीं चलता; अर्थात् आप जान लें कि मन के दोनों भागों से उठनेवाली कामनाओं के अनुसार भी नहीं चलता। मन के दो भाग होते हैं– निर्गुण एवं सगुण। मन से जो भी कामनाएँ आती है, वे बाहर की कामनाओं से ही बाहर आती हैं, जैसे जबतक बाहर का सगुण काम सामने नहीं आता तबतक निर्गुण काम प्रकट नहीं होता, जबतक वैरी सामने नहीं आता तबतक क्रोध नहीं भड़कता अथवा जबतक विशेष पैसा नहीं दिखाई पड़ता तबतक लोभ का पता नहीं चलता।

किसी ने कहा– मैं चोरी नहीं कर सकता। महाराज ने कहा– अभी रास्ते में एक लाख रुपये दिखाई पड़ जाय तब इनका पता चलेगा कि ये बात सही कह रहे हैं या गलत। काम, क्रोध, लोभ को मानो कामना होती ही नहीं लेकिन जब उनका सगुण स्वरूप बाहर आता है तो वे बलाबल से सम्पन्न हो जाते हैं। छोटे शिशु के भीतर भी काम रहता है किन्तु सोया–सोया रहता है; क्योंकि वह नैसर्गिक होता है परन्तु क्रोध, लोभ, मोह आदि कृत्रिम होते हैं अर्थात् ये विकार सामाजिक एवं पारिवारिक होते हैं। सारे के सारे प्राणी काम से प्रकट होने के कारण से काममय ही होते हैं। इसलिए भगवान ने कहा कि जो भीतर की कामनाओं को त्यागकर अपने

आत्मस्वरूप में ही सन्तुष्ट रहता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहने का तात्पर्य वह अपने सद्‌गुरु की आज्ञा में ही सन्तुष्ट रहता है। तो फिर उसके सद्‌गुरु किसमें सन्तुष्ट रहते होंगे? ऐसा प्रश्न होने पर कहा जायेगा कि वे भी तो सद्‌गुरु के अनुसार ही आत्मरूपता का लाभ प्राप्त किये! अतः उनके पास भी जो व्यवहार होगा, उनके आत्मज्ञानी गुरु का ही होगा। सब तो जानते ही हैं कि व्यवहार सबके पास अपने–अपने सद्‌गुरु का ही होता है, भले ही आत्मरूपता सबकी एक होती है। वह शिष्य भी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, जो अपने व्यवहार को सद्‌गुरु के व्यवहार में और अपने स्वरूप को सद्‌गुरु के स्वरूप में आरोपित कर देता है। बात व्यवहार की ही की जाती है, साधना की ही की जाती है, ग्रहण–त्याग की ही की जाती है; आत्मरूपता अथवा आत्मा की नहीं की जाती है। यदि भगवान के विषय में कहते कि वह मात्र अपने–आप से ही अपने–आप में सन्तुष्ट रहता है, तब तो अर्जुन के मन की ही हो जाती और उसी समय वे भगवान से कहते कि 'बस–बस, हे माधव! बस; मैं तो वही करने जा रहा हूँ, सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर अपने–आप में ही स्थित होने जा रहा हूँ। आपने कहा ही है कि तुम आत्मा हो, शरीर नहीं हो।' लेकिन आप सब को जानना चाहिए कि भगवान ने यहाँ पर 'प्रजहाति' (छोड़ देता है) पद का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि अर्जुन जैसे साधक के लिए विशेष संकेत है– वहाँ पर भगवान सम्पूर्णता से अपने–आप में स्थित हैं, यदि मन की सम्पूर्ण वृत्तियों का त्यागकर अर्जुन भगवान के शरणागत हो जाते हैं तो उनकी सगुण समाधि स्वतः ही लग जाती है। अतः यहाँ कहा गया है कि वह आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। ऐसा कहने से स्पष्ट हो रहा है कि सद्‌गुरु ही निर्विकार आत्मा है। यदि शिष्य भी अपने सम्पूर्ण व्यवहारों को त्यागकर सद्‌गुरु के व्यवहार के अनुसार ही चलने लगता है तो वह भी निर्विकार आत्मा ही है। आप जानते ही हैं कि चोर के अनुसार चलनेवाला चोर और आत्मज्ञानी के अनुसार चलनेवाला आत्मज्ञानी कहा जाता है।

कोई कहता है कि आपने इस मंत्र में कामनाओं के साथ–साथ काम (मैथुन) की भी व्याख्या क्यों कर दी? वह इसलिए कि भगवान ने मन से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागने के लिए कहा है। सम्पूर्ण कामना का तात्पर्य बाहर–भीतर की कामना से है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भीतर की कामना काम है और बाहर की कामना क्रोध, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार हैं।

(प्रजहाति यदा कामान्.....) सम्पूर्ण कामनाओं को तो त्यागने की बात आपने की लेकिन त्यागें कैसे? हाँ, इसका सुगम उपाय है कि भीतर में ब्रह्मभावना से और बाहर में त्याग से इन कामनाओं को त्यागा जाता है अर्थात् अनासक्त हुआ जाता है। छिन्नमस्तिका देवी की उपासना नहीं करनी है, क्योंकि भीतर में वह आदिशक्ति के रूप में है और बाहर में भिन्न–भिन्न रूपों में है। बाहर में वह किसी की बेटी, किसी की माँ, किसी की बहन और किसी की बूआ बनी हुई है; किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई आदि बनी हुई है। माँ गंगा राजर्षि शान्तनु से भले ही शादी कर लें लेकिन संत उन्हें माँ के ही रूप में देखेंगे। इतना ही नहीं, शान्तनु भले

ही समझते रहें कि मैंने गंगा से शादी की है, लेकिन वह तो नकली गंगा थी अर्थात् गंगा की छाया थी। जैसे रावण भले ही समझता रहे कि मैं तो जनक नन्दिनी सीता को ले आया, लेकिन वह तो भगवती सीता की छाया थी।

अर्जुन ने सोचा था कुछ और किन्तु हो गया कुछ और। भगवान भी पीछा छोड़नेवाले नहीं हैं, अतः पुनः कह रहे हैं–

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

वह दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख में आसक्त नहीं होता है तथा राग, भय एवं क्रोध का अवसर आने पर भी वह रागी, भयभीत या क्रोधित नहीं होता है। इसलिए वह संत स्थितप्रज्ञ पुरुष कहा जाता है। इतना ही नहीं, वह सर्वत्र स्नेह से रहित शुभाशुभ व्यवहार को पाकर भी न उसका स्वागत करता है न द्वेष करता है। उसके इस लक्षण से समझा जाता है कि उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

साधकों के मन में भी कौतूहल हो सकता है कि ऐसे महापुरुष के पास दुःख क्यों आयेगा? जबकि संत कहते हैं कि ऐसे महापुरुष के पास ही तो दुःख आयेगा। यदि विश्वामित्र के यज्ञ में मारीच, सुबाहु, ताड़का नामक दुःख नहीं आया होता तो वे श्रीराम प्रभु को लाकर उन असुरों के साथ–साथ अहल्या का उद्धार कैसे कराते, महाराज जनक का दुःख–दर्द कैसे दूर कराते? महापुरुष के ऊपर आया हुआ दुःख जगत के दुःख का निवारण करने के लिए होता है। हाँ, इस मंत्र के द्वारा यह स्पष्ट है कि वह दुःख में दुःखी नहीं होता, तभी तो उसके दुःख से भगवान दुःखी हो जाता है। विश्वामित्र असुरों के दुःख से दुःखी हुए होते तो हुंकार भरकर स्वयं भस्म कर देते। एक बात और स्पष्ट है कि दुःख से वह दुःखी नहीं होता, अतः दुःख से भागता भी नहीं। जब आप ऐसा कह रहे हैं तो वह दुःख का सामना तो करता ही होगा? नहीं, नहीं, सामना भी नहीं करता है बल्कि जैसे सर्दी–गर्मी को वह शरीर तक सीमित समझता है, वैसे ही स्वयं द्रष्टारूप हुआ वह उसे दुःख की आत्मा का भावविकार समझता है। फिर दुःख की आत्मा कौन? जो समझता है कि मैं इन्हें दुःख दे रहा हूँ, उस पुरुष का वह भावविकार समझता है। एक बात और जान लें कि सामान्य लोगों के दुःख और उसके दुःख में अन्तर है– सामान्य लोगों का दुःख उनका कहना नहीं मानता, भगाने से नहीं भागता, किन्तु आत्मज्ञानी के ऊपर आया हुआ दुःख आत्मज्ञानी की प्रतिष्ठा बढ़ाने आता है; जबकि आत्मज्ञानी इतना सामर्थ्यवान होता है कि वह दुःख से जाने को कह दे तो वह दुःख चला जाता है।

हनुमानजी के पास सुरसा का आना बड़े भारी दुःख का आना था; किन्तु सभी जानते हैं

कि वहाँ पर उनका व्यवहार क्या था। उनके व्यवहार से प्रसन्न होकर सुरसा नामक दुःख उन्हें वरदान देकर चला गया। यही नहीं रावण ने भी उन्हें दुःख देना चाहा था लेकिन उस दुःख ने उसी की लंका जला डाली।

तांत्रिक ने जड़भरत की, अपनी देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि देनी चाही, लेकिन उन्होंने उसका प्रतिकार एक अंश भी नहीं किया था जिसका परिणाम हुआ कि भगवती ने प्रकट होकर तांत्रिक का वध कर डाला और जड़भरत को वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गयी।

आप सबके मन में विचार आ सकता है कि ऐसी सिद्धि किस काम की जो समय पर काम न आवे। कुत्ता भी बलवान हो तो उसे कोई मारने का साहस नहीं करता और यहाँ तो कहा जा रहा है कि कोई दुःख देगा, सतायेगा, अपमानित करेगा लेकिन वह कुछ भी प्रतिकार नहीं करेगा, प्रतिकार करना तो दूर, बल्कि दुःख से दुःखी भी नहीं होगा। कहीं लोगों के द्वारा पूजित हो जाएगा और प्रसन्न भी नहीं होगा तो ऐसा ज्ञान किस काम का? हाँ, आपके प्रश्न करने से ही पता चलता है, आपकी ऐसी सोच बता रही है कि लगता है, आप जितेन्द्रिय तो हैं, बाहर के विषयों से वैरागी भी हैं, किन्तु स्वजनों और अपने शरीर में रागी भी हैं। अतः जबतक ऐसी स्थिति बनी रहेगी तबतक दुःख पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप ऐसा समझते हैं कि आप संन्यासी होकर दुःखरहित हो गये तो ऐसी भूल में मत रहें; क्योंकि इस अवस्था में दुःख और भी घेर लेता है। सद्गुरु की आज्ञा की अवमानना करनेवाले साधकों ने कभी सिद्धिलाभ नहीं किया है। दो प्रकार के आध्यात्मिक योद्धा होते हैं– एक गृहस्थाश्रमी और दूसरे संन्यासाश्रमी। यदि संन्यासाश्रमी साधक के व्यवहार को गृहस्थाश्रमी स्वीकार कर ले तो कर्म में संकरता आ जाती है। आप यदि संन्यासाश्रमी हैं तो भगवान दत्तात्रेय एवं महात्मा शुकदेव के आदर्श से ही चलकर अपने मौलिक स्वरूप में स्थित रह सकते हैं। संत दुःख में दुःखी एवं सुख में सुखी इसलिए नहीं होते; क्योंकि वे दोनों के मूल को जानते हैं और जो मूल को जानता है, वह उसके स्वरूप को भी जानता है। आप सोच सकते हैं कि जब ऐसा है तो संत की उपासना का लाभ ही क्या है? भगवान इसके विषय में कहते हैं–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

भले ही वह मूकद्रष्टा बना रहे लेकिन भीतर में वह सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न रहता है। जिसप्रकार विषयनिवृत्ति के उपरान्त कछुआ अपने अंगों को अन्तर में समेट लेता है तथा प्रवृत्तिकाल में उन्हीं अंगों से विषयों का सेवन करता है, वही स्थिति आत्मज्ञानी की होती है। वह भौतिक विषयों से तो अपनी इन्द्रियों को सदा–सर्वदा के लिए संकल्पबल से रोक ही लेता है और आध्यात्मिक विषयों को समयानुसार जगत–हितार्थ उपयोग में लेता है, इसी से तो वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

ऊपर के मंत्रों द्वारा कोई समझ सकता है कि भगवान ने स्थितप्रज्ञ पुरुष को एकदम

जड़वत् बना दिया! उसका समाधान करते हुए भगवान ने कहा कि आप यह मत भूलें कि वह आत्मबल से सम्पन्न रहता है। हाँ, यह बात अलग है कि आत्मज्ञान होने से विषयी पुरुषों से सदा उदासीन रहता है। उसका जीवन तो भगवद्भक्तों के लिए ही होता है, उसकी कोई अपनी वासना नहीं होती। जिसप्रकार सूर्य के प्रवृत्तिकाल में कमल अपने–आप विकसित हो जाते हैं और निवृत्ति काल में कमल की पंखुड़ियाँ सिमट जाती हैं, उसीप्रकार इस जीवजगत में आत्मज्ञानी की उपस्थिति भी भक्तों एवं साधकों रूपी कमलों के खिलने हेतु सूर्य के समान होती है। उसके पास सभी दिव्यास्त्र होते हैं। नहीं सुना आपने कि ब्रह्मदण्ड को सामने खड़ा कर दिया था ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने तो विश्वामित्र जैसे योगी–तपस्वी को धूल चाटना पड़ा था। इस धोखे में मत रहना कि ब्रह्मज्ञानी युद्ध नहीं करता अपितु युद्ध तो ब्रह्मज्ञानी ही करता है, केवल द्रष्टा हो के वह नहीं जीता; आततताइयों को शाप तथा भक्तों को वरदान देता है। अब जब कोई वरदान एवं शाप का अधिकारी नहीं है तो वहाँ तो द्रष्टा ही होकर रहेगा। उसके लिए तो सम्पूर्ण प्राणी–विषयी मनुष्य से देवता तक, चींटी से हाथी तक, साँप से बिच्छू तक, मच्छर–मक्खी के ही समान हैं। अतः इन सबके द्वारा प्राप्त हुए दुःख को मच्छर–मक्खी के ही समान मानता है। इसलिए वह मच्छर–मक्खी को भी क्यों मारे और उनके द्वारा किये गये स्वागत को क्या महत्त्व दे। सकामी भक्तों की तो कामना उसके दर्शनमात्र से ही पूरी हो जाती है और जघन्य अपराधी उसके शाप के अधिकारी हैं नहीं। अतः वह उनके बीच वरदान एवं शाप से उदासीन होकर सम शान्त बना रहता है। रही बात निष्कामी भक्त की तो वह उनके लिए ही शरीर धारण किये रहता है।

एकबार कंस ने गर्ग ऋषि के सामने प्रभु का कृष्ण नाम रखने पर उनका अपमान कर दिया था। वे भगवान का अपमान सहन न कर सके और उसके दरबार से यह कहते हुए उठकर चले गये कि अरे दुष्ट! तू तो शाप का भी अधिकारी नहीं है; क्योंकि शाप देने के उपरान्त कभी शरणागत होने पर तुझे वरदान देना ही पड़ जायेगा।

स्वयं महात्मा अर्जुन ने भगवान का ही बड़ा भारी तिरस्कार कर दिया है। बार–बार अवहेलना पर अवहेलना किये जा रहे हैं और वे उन्हें ब्रह्मज्ञान दिये जा रहे हैं। महात्मा अर्जुन ने मानो सोच रखा था कि संन्यास लेकर, घोर तपस्या कर भगवान परशुरामजी की तरह ही मैं इन नराधम कौरवों का और उसके सहयोगियों का सर्वनाश कर डालूँगा; अतः प्रभु ने उनके मनमाने तप का खण्डनकर उन्हें संन्यास से विमुख करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए अगले मंत्र में कहते हैं–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

हे पार्थ! जो हठयोगी हठपूर्वक विषयों का परित्याग कर देते हैं उनका विषय तो छूट जाता है किन्तु विषयों के प्रति जो राग होता है अर्थात् विषयों में जो प्रीति होती है वह बनी रह जाती है, ठीक इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो अपने स्वरुप में स्थित हो जाने के उपरान्त विषयों

से आसक्ति भी समाप्त हो जाती है।

हे पार्थ! कुछ साधक मनमाना तप करने वन को चले जाते हैं और वहाँ हठयोग को धारण कर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का त्याग कर देते हैं, भीषण गर्मी के दिनों में पञ्चाग्नि तापते हैं, घोर बरसात में आकाश के ही नीचे पड़े रहते हैं, अनशन करके बैठ जाते हैं। कुछ तप से प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त हो जाती हैं लेकिन विषय का राग अर्थात् विषय की प्रीति समूल नष्ट नहीं होती। इसलिए कि वे आत्मरूप होकर, अनासक्त होकर योग, जप, तप नहीं करते हैं बल्कि 'देहिनःभाव' में अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' इस भाव में ही कठोर जप–तप करते हैं लेकिन जो सत्त्व में स्थित होकर योग, जप, तप करते हैं, उनका तो अपने स्वरूप में स्थित हो जाने के उपरान्त सदा–सर्वदा के लिए विषयों का राग भी चला जाता है।

इस मंत्र में 'देहिनः' पद अपने को शरीर ही माननेवाले पुरुष के लिए आया है न कि जीवात्मा के लिए; जबकि अब के पूर्व जहाँ–जहाँ देही अथवा देहिनः पद आया है, वहाँ–वहाँ जीवात्मा के लिए ही आया है। यहाँ देहिनः शब्द को व्यंग्यात्मक अर्थ में लेना चाहिए। जो 'गृह' में आसक्त है उसे 'गृहस्थ' कहते हैं और जो 'देह' में आसक्त है उसे 'देही' कहते हैं। ऐसे ही जड़वत् पुरुषों के लिए गोस्वामीजी ने कहा है–

नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

आप सब ने देखा होगा कि कच्चा आम जब सम्पूर्ण यौवन में नहीं होता तो तोड़कर पकाने पर पक तो जाता है किन्तु वह स्वाद नहीं आता जो अपने–आप पके हुए आम में आता है। उसीप्रकार जो साधक लड़ाई–झगड़ा करके क्रोधावेश में घर छोड़कर साधु बन जाते हैं या बहुत प्रयत्न करने पर भी जब दरिद्रता पीछा नहीं छोड़ती, यही नहीं, उनका बाल–बच्चों सहित सबकुछ नाश हो जाता है; फिर दीन–हीन अवस्था में लोक–लाज से बचने के लिए साधु तो बन जाते हैं लेकिन उनके मन में विषय प्राप्ति की कामना बनी रह जाती है। ऐसे लोग घोर जप–तप लगभग घर, गाँव, नगर के बीच में करते हैं, ताकि सर्वप्रथम उन्हें मान–सम्मान प्राप्त होता रहे और कालान्तर में भक्तों के द्वारा पूजा, भेंट पाकर पुनः विषयी हो जाते हैं। भगवान ने यह प्रसंग यहाँ पर इसलिए दिया कि अर्जुन का संन्यास लेने का हार्दिक मन नहीं है, यह तो भय एवं मोह के कारण से है, इसके लिए पहले से उनकी एक अंश भी तैयारी नहीं है। अतः वे वनप्रदेश में जब जप, तप, योग एवं ध्यान में प्रवृत्त होंगे तो ये सभी विपक्षी मन में विषय बनकर नाचते रहेंगे और उनके मन को नचाते रहेंगे। इस रहस्य को भलीभाँति जाननेवाले भगवान ने मानो उन्हें सावधान किया। जलाहार व्रत के दिनों में लोग कहते हैं कि जागने में तो मन से पूड़ी–पकवान खाते ही हैं लेकिन स्वप्न में भी मन से खाना–पीना ही चलता रहता है। वह इसलिए कि एक साथ घर–बार एवं भोजन छोड़ना पड़ जाता है। यदि धीरे–धीरे छोड़ा जाता तो ऐसी स्थिति नहीं बनती, क्योंकि पहले से उसकी भूमि तैयार हो जाती है।

एक संत ने महाराज से अपने एक शिष्य के विषय में कहा कि इसने संन्यास तो ले लिया है लेकिन घर के प्रति इसकी विशेष प्रीति है; क्योंकि जब इसके घर की बात की जाती है तो इसका चेहरा खिल जाता है। इससे पता चलता है कि संन्यास लेने के पूर्व उसकी भूमिका अच्छीप्रकार इसके द्वारा नहीं बन पायी थी।

इस मंत्र के विषय में महाराज को एक कथा याद आती है– एकसाथ तप करते हुए चार साधकों के पास भगवान प्रकट हुए। पहले साधक से प्रभु ने कहा– क्या माँगते हैं आप? उसने प्रार्थना की– हे प्रभु! आप तो मुझे सर्वगुणसम्पन्न अति सुन्दरी धर्मपत्नी दे दें, जिसको देखकर मेरी पहली कर्कशा धर्मपत्नी सदा जलती रहे। एवमस्तु! वरदान देकर भगवान ने दूसरे से कहा– आपको क्या चाहिए? उसने प्रार्थना की कि हे जगत्पते! आप तो मुझे कामरहित (मैथुनरहित) होने का वरदान दे दें; क्योंकि मेरी धर्मपत्नी मुझे विषयी कहकर सदा मेरा उपहास किया करती है। ठीक है ऐसा ही होगा– ऐसा कहकर प्रभु ने तीसरे साधक से वरदान माँगने को कहा, तो उसने प्रार्थना की कि हे सनातन पुरुष! मैं संत बन गया था, सब लोग मेरा उपहास किया करते थे कि कुछ जानते भी हो कि साधु बनकर केवल ढोंग कर रहे हो? अतः मैं उन सबकी वाणी को बन्द कर सकूँ, इसके लिए मुझे तो आप अष्टसिद्धि एवं नवनिधि का वरदान दे दें! ठीक है ऐसा ही होगा– प्रभु ने ऐसा कहकर चौथे से कहा– आप क्या चाहते हैं? उसने प्रार्थना की– हे अन्तर्यामी! मुझे तो आप अपने को ही दे दें। सुना है मैंने कि आपके सगुण एवं निर्गुण दो रूप हैं, मुझे सदा–सर्वदा के लिए इन दोनों रूपों का बोध हो जाय।

इसप्रकार आप सब जान गये होंगे कि विषयरस की प्रीति अन्तःकरण में किस तरह छिपी रहती है तथा अवसर पर कैसे प्रकट होती है।

(विषया विनिवर्तन्ते.....) जो सत्त्व में स्थित नहीं हैं, वे यदि घोर जप–तप करते हैं तो उनका विषय तो निवृत्त हो जाता है लेकिन विषय से राग निवृत्त नहीं हो पाता। इसविषय में एक अद्भुत कथा आती है जिसके द्वारा इस मंत्र का आशय स्पष्ट हो जायेगा–

सौभरि ऋषि ने बारह साल के लिए जल के भीतर संकल्पवत् समाधि ले ली थी लेकिन निर्विषयी नहीं हुए थे, जबकि वे स्वर्ग प्रदाता भी थे। कुछ मछुआरों के जाल में मछली की जगह वे ही फँसकर बाहर आ गये। यह देख मछुआरे अति भयभीत होकर उनके चरणों में गिर पड़े और कहा– हे प्रभु! हमसब निरपराधी हैं, जाल तो डाला था मछलियों के लिए लेकिन साथ में आप भी आ गये; अतः हमपर आप कृपा करें। किन्तु यह क्या! उस ऋषि ने तो जाल में फँसी हुई मछलियों को तड़पते हुए देखकर उन्हें स्वर्ग भेज दिया और मछुआरों को भी स्वर्गीय सुख का वरदान देकर एक राजा के पास आ गये और कहा– हे राजन्! आपसे तो मैं दानस्वरूप एक कन्या माँगने आया हूँ, जिससे पाणिग्रहणकर मैं गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँगा। राजा ने मन में सोचा– इन साठ–पैंसठ वर्षीय ऋषि को मैं कन्या कैसे दान कर दूँ, लेकिन यदि कन्या को भेंट नहीं करता हूँ तो पता नहीं क्या शाप दे बैठेंगे। अतः उनसे कहा– हे प्रभु! आप महल में जायँ, मेरी सात कन्यायँ हैं, जो कन्या आपके साथ जाना चाहे उसे आप ले जायँ। ऋषि ने राजा की

चालाकी समझ ली और महल में प्रवेश करते समय उन्होंने एक दिव्य स्वरूप धारण कर लिया जो देखने में १८–२० वर्ष का प्रतीत हो रहा था। अरे! ये क्या! ऋषि का प्रस्ताव सुनकर सभी कन्याओं ने कहा– आपको मैं वरण करती हूँ, आपको मैं वरण करती हूँ, आपको मैं वरण करती हूँ। ऋषि सातों कन्याओं को लेकर वन की ओर चलते बने और राजा देखते रह गये। कुछ समय के उपरान्त राजा ने वन में जाकर अपनी प्रथम कन्या के पास रोना रोया। कन्या ने कहा– पिता जी! शोक–सन्ताप करने जैसी यहाँ कोई बात नहीं है। ये ऋषि आपको वृद्ध दिखाई पड़ते हैं; किन्तु हमलोगों को एक देवपुरुष जैसे दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अपने संकल्प से सात महल प्रकटकर आपकी हम सातों पुत्रियों को एक–एक महल दे दिया है। दिव्य सुख एवं ऐश्वर्य तो आपके यहाँ से भी यहाँ हजारों गुना विशेष है। बस, एक ही बात का मुझे भी बहुत दुःख है कि ये जबसे यहाँ आये हुए हैं, तब से मेरे ही महल में रह रहे हैं। मेरी अन्य बहनें तो मुझे ही दोष दे रही होंगी; लेकिन मैं कहती भी हूँ तो मानते ही नहीं हैं। विशेष कहूँ तो शाप का भय लगा रहता है। राजा ने जब अन्य बेटियों के पास पूछा तो सबके पास यही कहानी थी। राजा उस ऋषि के शरणागत हो गये और नगर को चलते बने।

इस कहानी से इस मंत्र का रहस्य तो आप भलीभाँति जान गये होंगे। रामानन्द ने एक दिन पूछा था कि इतने शक्तिमान होने पर भी ऋषि के मन में काम वासना रह ही गयी थी, ऐसा क्यों? महाराज ने कहा– इसलिए कि घर छोड़ते समय वे आध्यात्मिक हुए ही नहीं थे। उन्होंने सिद्धि की कामना से घोर जप–तप करने के लिए घर छोड़ा था, अतः वह पूरी हो गयी।

साधनाकाल में काम एवं क्रोध के वशीभूत हुए विश्वामित्र को कौन नहीं जानता। वे भी क्या कम निराहारी थे! लेकिन रस की निवृत्ति हुई ही नहीं थी। रस की निवृत्ति तो गुरु–विरोधी की होती ही नहीं, भले ही वह आकाश एवं पाताल में गमन करनेवाला हो जाय। हाँ, योगस्थ की रस निवृत्ति हो जाती है। 'मैं आत्मा हूँ', इस भाव में स्थित होकर जप, तप, योग करनेवाले की ही रस निवृत्ति होती है। 'परं दृष्ट्वा निवर्तते'– उत्तम अधिकारी सद्गुरु का दर्शन करते ही निर्विषयी हो जाता है, उसका विषय–राग जाता रहता है। ये तो सारे साधकों की अनुभूति है कि जिन साधकों को सद्गुरु में ही ब्रह्मभावना है, उनका बाहर का विषय सद्गुरु का दर्शन करते ही समाप्त हो जाता है। अब शेष बचता है भीतर के विषयरस का राग (आसक्ति), तो वह सद्गुरु की आज्ञानुसार तप–त्याग के साथ आत्मचिन्तन करने पर सद्गुरु–कृपा से निवृत्त हो ही जाता है। प्रथम अवस्था में जब ब्रह्मचारी सद्गुरु के पास आते हैं तो उन्हें कभी–कभी कामी, क्रोधी, रागी एवं द्वेषी होते देखा ही जाता है; लेकिन बाहर की पञ्चाग्नि (काम, क्रोध आदि) को तापना छोड़कर सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रहरूपी दिव्य पञ्चाग्नि को तापते हैं, तब विषय–विकाररूप राग जाता रहता है। कालान्तर में उनका काम, राम बनते देखा जाता है। आध्यात्मिक पञ्चाग्नि तापनेवाले साधकों को ही सद्गुरु आज्ञारूपी ब्रह्माग्नि की प्राप्ति होती है। जैसे ही वह ब्रह्माग्नि में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही विषय तो उसको स्पर्श ही नहीं करते! भगवती सीता जबतक प्रभु श्रीराम एवं लक्ष्मण की आज्ञारूप ब्रह्माग्नि में

स्थित थीं, तबतक रावण उनका स्पर्श भी नहीं कर पाया लेकिन जब जीव की अग्नि में प्रवेश कीं, तब घोर संकट आ गया और रावण ने उनका अपहरण कर लिया। वैसे ही यदि साधक सद्गुरु की आज्ञारूप अग्नि से बाहर जाते हैं तो जीव की काम, क्रोध, लोभादिरूपी अग्नि में जल जाते हैं, फिर वे क्षुद्र प्राणियों जैसा ही भिखारी का जीवन जीते हैं। भिखारी को कभी भगवान को ही भिक्षा के रूप में माँगते देखा नहीं गया है।

'परं दृष्ट्वा निवर्तते'–भगवान ने स्पष्ट कह दिया कि वह परम (ब्रह्म) को देखकर परम ही हो जाता है। स्वाभाविक ही कामी, कामिनी को देखकर काममय हो जाता है; लोभी, धन को देखकर धनमय हो जाता है; क्रोधी, वैरी को देखकर क्रोधमय हो जाता है; वैसे ही निर्विकार आत्मा परमात्मा को देखकर परमात्ममय हो जाता है। महाराज ने ऐसा न देखा न सुना कि यदि किसी ने सद्गुरु को ब्रह्मरूप देखा हो तो उसे घोर जप–तप करना पड़ा हो। दूसरे अर्थों में आप देखें– 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभूति ही परम (ब्रह्म) है। इस परम को देखकर अर्थात् अनुभवकर वह आत्मरूप हो जाता है। और भी सूक्ष्मता से देखें– 'मैं' ही 'परम' है, वही 'निर्विकार आत्मा' है। अतः उसी को देखकर अर्थात् अनुभवकर भीतर–बाहर से वह निर्विषयी, 'निर्विकार परमरूप' ही हो जाता है।

(यदा संहरते चायं.....) भगवान शंकर समाधिस्थ हैं। जब वे समाधि से विरत होते हैं तो दण्डकवन में अगस्त्य ऋषि के पास जाकर विषय स्वीकार कर लेते हैं और ब्रह्मविषयी बन जाते हैं। विषय की प्रवृत्ति काल में अपनी आँखों को खोल देते हैं अर्थात् प्रज्ञा को खोल देते हैं, पुनः भगवत्कथा पान करके समाधिस्थ हो जाते हैं। विषय की प्रवृत्तिकाल में भगवती सती ने उनसे कुछ पूछा ही नहीं, लेकिन जब वे निर्विषयी होने जा रहे थे कैलास पर तो भगवद्विषय से विषयाकार चित्तवाले भगवान शिव ने भगवती सती को अधिकारी पाकर उस विषय को प्रस्तुत कर दिया कि हे देवि! ये मेरी आत्मा हैं, ये प्रभु श्रीराम जगत की भी आत्मा हैं, ये ही निर्गुण–निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं और ऐसा कहकर भगवान के विषय में बहुत कुछ कह दिया। इसप्रकार भगवान ही जिसका विषय है, वह बोलता है तो भगवान ही उसकी वाणी बन जाता है। इसप्रकार भगवद्वाणी ही उसका एक विषय है, सुनता है तो भगवान का चरित्र उसका कान बन जाता है, अतः भगवद्चरित्ररूप कान उसका एक विषय है; भगवत्स्वरूप को देखता है तो भगवत्रूप ही उसका नेत्र बन जाता है, अतः भगवत्रूप नेत्र ही एक विषय है; चलता है तो भगवत् पाँव उसके विषय बन जाते हैं, अतः भगवत् पाँव है तो सर्वत्र परम ही दिखाई पड़ने लगता है। इस भगवत्कथारूप परम को भगवान शंकर से सुनकर काकभुशुण्डि परम (ब्रह्म) ही हो गये। यद्यपि कछुवे की तरह ही भगवान शंकर ने इस कथारूप परम को ताण्डवरूप नृत्य में बाँध रखा था और उसी परमरूप कथा को, ताल–मात्राओं से व्यवस्थित ब्रह्मराग को जिसे श्रीरामचरितमानस कहा जाता है, जब गाया तो उसी राग को लेकर अष्टावक्र ने भरद्वाज के पास गाया। इसप्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष ब्रह्मविषय को प्रवृत्तिकाल में अपने अंगों को बहिर्मुख करके दे देता है। पुनः समझें आप– ब्रह्मविषय को आत्मसात् कर लेने के बाद अपनी

अन्तःइन्द्रियों को मस्तिष्क में समेट लेता है और पुनः जब वह इस जीवजगत में से शिष्य को ढूँढ़ लेता है अर्थात् प्रकट कर लेता है, तब उसके उपरान्त उसके बाह्य तथा अन्तर्चित्त को ब्रह्म में व्यवस्थित भी कर देता है। इसप्रकार ब्रह्मविषय की प्रवृत्तिकाल में अपनी अन्तर्चेतना को शिष्य के पास खोल देता है। ऐसा नहीं कि मूक द्रष्टा ही बना रह जाता है।

वह स्थितप्रज्ञ पुरुष सृजन, संहार एवं पालन की शक्ति, परम अधिकारी शिष्य को पाकर दे देता है। जैसे चकवा काम पीड़ा से व्यथित होकर जब आँसू बहाता है तो काम पीड़िता चकवी प्रेम में भरकर उसके आँसुओं को पी लेती है; मात्र इतने ही से उसका गर्भ ठहर जाता है। वैसे ही जब ब्रह्मजिज्ञासु शिष्य प्रेम में भरकर अपने भगवान को, अपने इष्ट को, अपने सद्गुरु को अर्थात् उस स्थितप्रज्ञ पुरुष को देखता है, तो मानो उसका आँसू बह पड़ता है तब उसके आँसुओं को सद्गुरु पी लेता है और उसे ब्रह्मविद्या बनाकर कालान्तर में उसी शिष्य को दे देता है, जिसमें सारी की सारी आध्यात्मिक सिद्धियों का वास होता है। इसप्रकार तबतक उसकी प्रज्ञा अपने स्वरूप में स्थित रहती है, जबतक कि उसके पास कोई अधिकारी शिष्य अथवा भगवद्भक्त नहीं आ जाता। जब सामने उसकी आत्मा होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ भी रहता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी।

(विषया विनिवर्तन्ते.....) मानो भगवान कह रहे हैं—हे पार्थ! तुम तो जन्म—जन्मान्तर से ही निर्विषयी हो, यही कारण है कि तुम्हारा परम (ब्रह्म) तुम्हारे सामने है। तुम जैसे ही पहचानते हो अपने परम को वैसे ही परमरूप ही हो जाते हो। अतः तुम विचार करो। यदि विचार नहीं करते हो तो—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

हे कौन्तेय! साधकों के द्वारा बहुत प्रयत्न करने के उपरान्त भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ मन को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं; जैसा कि इस समय तुम्हारे साथ हो गया है। तुम्हारे सामने परम (ब्रह्म) के रहते हुए भी स्वजनरूप इन्द्रियों ने तुम्हें अपनी तरफ खींच लिया है। इसलिए जिसप्रकार मेरे आश्रित होकर साधकगण सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमित कर लेते हैं, उसीप्रकार तुम भी मेरे शरणागत होकर इन बाह्य इन्द्रियों पर संयम करो। जिसप्रकार जिस साधक की इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसी की प्रज्ञा ब्रह्म में प्रतिष्ठित मानी जाती है; उसीप्रकार जब तुम स्वजनरूपी बाह्य इन्द्रियों को संयमित कर दोगे, तभी तुम्हारी प्रज्ञा अपने—आपमें प्रतिष्ठित हो सकती है।

विषय बह रहा है— आँखों से, कानों से, नाकों से, जिह्वा से, हाथों से, पाँवों से, मन से, बुद्धि से; इतना ही नहीं, रोम—रोम से। साधक चाहें तो बहते हुए विषय को रोक सकते हैं। जैसे

खेत से अनवरत बहते हुए (उगते हुए) घास–फूस को किसान हल चलाकर रोक देता है और उसी जगह बीज बो देता है। वैसे ही साधक भी भगवान (सद्गुरु) के आश्रित होकर भगवत् चिन्तनरूप विषय की धारा बहा सकता है।

'तानि सर्वाणि इन्द्रियाणि संयम्य'– सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयम करने का तात्पर्य भीतर और बाहर की इन्द्रियों से है। भीतर की इन्द्रियाँ भी दस हैं और बाहर की इन्द्रियाँ भी दस हैं। भीतर की इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा बाहर की इन्द्रियाँ अर्थात् 'जननी, जनक, बन्धु, सुत, दारा, तन, धन, भवन, सुहृद, परिवारा' भी दस ही हैं।

महाराज के अनुसार 'तानि सर्वाणि संयम्य...।।६१।।' मंत्र के उपरान्त 'इन्द्रियाणां हि चरतां...।।६७।।' तथा 'तस्माद्यस्य महाबाहो...।।६८।।' मंत्र ही आने चाहिए थे, ये तीनों साथ–साथ होने चाहिए थे।

तो क्या हुआ तुम तीनों को एक साथ जोड़कर अर्थ कर दो।

आप दुःखी तो नहीं होंगे?

नहीं नहीं! इसमें दुःख की बात क्या है! यह तो अच्छी ही बात है कि पिता ने कोई वस्तु दूर रख दी हो, जहाँ छोटे पुत्र का हाथ न जाता हो तो वह उसे उठाकर अपने पास रख ले। पिता का बड़ा हाथ है, इसलिए अपनी सुविधा के अनुसार उसे दूर रख दिया था तथा अपने जैसे हाथवालों की ही सुविधा का ध्यान रखा।

तो आपने पहले ही वहीं क्यों नहीं रखा कि सबके हाथ वहाँ पहुँच जायँ?

किया तो ऐसा ही है, तभी तो तुम्हारी दृष्टि वहाँ पहुँच गयी।

जी! तो आप क्षमा करें, यह नहीं कहना चाहिए था कि इस मंत्र को इन मंत्रों के साथ रहना चाहिए था; बल्कि इन तीनों को एकसाथ रखकर अर्थ ही कर लेना चाहिए था।

हाँ, यह बात तो तुमने ठीक कही; क्योंकि तुम्हारे गुरुदेव तथा आद्यगुरु शंकराचार्य ने भी भाष्य के समय ऐसा कहा न सोचा। तुम उनसे बड़े तो हो नहीं गये हो। सद्गुरुकृपा से थोड़ा अर्थ आने लगा तो जान लिए कि मेरे जैसा विद्वान तो कोई है ही नहीं। बस! बोलने की आवश्यकता नहीं है, जैसा अर्थ करना है करो!

तो आयें इस विषय का मंत्र संख्या ६७–६८ द्वारा पुनः विस्तार देखें–

(इन्द्रियाणां हि चरतां.....तस्माद्यस्य महाबाहो.....) यदि सम्पूर्ण इन्द्रियों पर संयम न किया जाय तो फिर इन्द्रियों के विषयों में विचरनेवाला मन किसी एक इन्द्रिय में भी आसक्त रह गया तो वह एक इन्द्रिय ही पुनः सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का कारण बन जायेगी। जैसे कुशल नाविक के अभाव में नौका को हवा विपरीत दिशा में बहा ले जाती है अथवा जिसकी नौका पर सारे के सारे संसाधन उपलब्ध नहीं हैं, जिससे कि वह वायु के थपेड़ों को सहन कर

सके, ऐसे निर्बल नाविक की नाव विपरीत दिशा में भागती जाती है।

नाव की संज्ञा यहाँ पर आपके शरीररूपी इन्द्रिय के लिए है, आँखरूप इन्द्रिय के लिए, कानरूप इन्द्रिय के लिए है अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों के लिए है। यदि आपका कहा हुआ मन नहीं मानता तो आप निर्बल नाविक हैं; अतः विषय आपपर भारी पड़ जाता है। इस भवसागर में विषय की बयार चलती है, विषय का तूफान चलता है और इन्द्रियोंसहित आपका मन उधर ही बहता हुआ चला जाता है। थोड़ा सा भी प्रमाद घातक हो जाता है। यदि संयम करने में प्रमाद के कारण कोई एक इन्द्रिय भी असंयमित रह गयी तो वह उच्छृंखल हो जायेगी, उद्दंड हो जायेगी फिर वही इन्द्रिय मन को उसके विषयों की तरफ बरबस खींच लेगी। अतः सद्गुरुरूपी कुशल नाविक को लायें और अपनी नौका का खेवनहार बना लें, जो स्वयं प्रकृतिविजेता है और आपको भी प्रकृतिविजेता बना सकता है।

महर्षि दुर्वासा की साधनावस्था में अहंकाररूपी इन्द्रिय के द्वारा जो उत्पात होता था, उससे सभी परिचित हैं– जब चाहे शाप देना, जब चाहे शाप दे देना और अपनी घोर तपस्या को नष्ट कर देना। उनका मानो यह स्वभाव बन गया था। उस समय आकाशवाणी होती थी– याद करें महर्षि याद करें, अपने स्वरूप को याद करें। ये क्या किया आपने? आप नहीं जानते कि अहंकार एक इन्द्रिय है, चित्त ही एक इन्द्रिय है, बुद्धि ही एक इन्द्रिय है, मन ही एक इन्द्रिय है, रजोगुण ही एक इन्द्रिय है, तमोगुण ही एक इन्द्रिय है और सतोगुण ही एक इन्द्रिय है। अतः आप इन इन्द्रियों पर तो ध्यान दें, सर्वप्रथम इनपर शासन करें।

अब पुनः सावधान होकर इन्द्रियों के सगुण एवं निर्गुणरूप को देखें– एक तरफ माँ है जो अपान नामक इन्द्रिय है, दूसरी तरफ पिता है जो प्राण नामक इन्द्रिय है, तीसरी तरफ भाई है जो समानरूपी इन्द्रिय है, चौथी तरफ पुत्र है जो उदानरूपी इन्द्रिय है, पाँचवीं तरफ स्त्री है, जो व्यानरूपी इन्द्रिय है। इसप्रकार प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये ही पाँच प्राण हैं। छठी तरफ नाग नामक इन्द्रिय है। मानो नाग नामक इन्द्रिय अपना शरीर है, कोई इसके लिए जीता है। देवदत्त नामक सातवीं इन्द्रिय धन है– कोई धन के लिए जीता है। धनंजय नामक इन्द्रिय है, वह अपना महल (मकान) है– कोई महल के लिए जीता है, यह आठवीं इन्द्रिय है। कूर्म नामक नवीं इन्द्रिय है, वह सुहृद ही है, जो बिना उपकार के ही भलाई करता रहता है तथा कृकल नामक दसवीं इन्द्रिय है, वह दशम् इन्द्रिय परिवार है। इसप्रकार दस प्राण ही दस इन्द्रियाँ हैं तथा ये ही दस विषय भी हैं। यदि इन दसों में से मन किसी एक की तरफ भी आसक्त होता है तो वह बलात् सभी की तरफ खिंचा चला जाता है। यह इनका स्थूलरूप है।

अब इसी को अन्य प्रकार से भी समझें– अविद्या ही माँ है, अविद्या से उत्पन्न होनेवाला मोह ही पिता है। अविद्या बाहर की माँ है, वह बच्चों का लालन, पालन, पोषणकर, चाट–चूटकर बड़ा करती है, उसके लिए जो पुरुष धनोपार्जन करके लाता है, वह उसका पति है। वह कहती है– बेटे! यह तुम्हारे पिता हैं, यह भाव ही मोह है। अविद्या ममता है, ममता से मोह उत्पन्न होता है। ममता ही आसक्ति है, आसक्ति से मोह उत्पन्न होता है इसलिए माँ ममता नामक इन्द्रिय है,

पिता मोह नामक इन्द्रिय है, पुत्र राग नामक इन्द्रिय है तथा भाई द्वेष नामक इन्द्रिय है, जो भौतिक सम्पत्ति में बँटवारा करने आ गया और धर्मपत्नी लोभ नामक पञ्चम इन्द्रिय है, जो माँग भराने आ गयी। आप समझते हैं कि आपने माँग भर दी, किन्तु जिसकी माँग कोई भर ही नहीं सकता, जो जीवनपर्यन्त माँग ही करती रहती है। किसकी? गहनों की, कपड़ों की, मकान की; इसप्रकार माँग करते–करते आपके सारे के सारे जप, तप, योग को माँग लेती है। यही नहीं, इन सारे पुण्यों को वह निगल जाती है। वह महाविकराल, लोभरूपी मुख को फैलाये आपके सम्मुख सदा खड़ी रहती है। षष्ठम् इन्द्रिय शरीर है जो रागरूप इन्द्रिय है। सारे के सारे प्राणी सर्वप्रथम अपने तन की सुरक्षा करते हैं, उसके बाद चाहे जो भी हो। लोग कहते भी हैं कि प्राण है तो संसार है।

ओह! महाराज! आँत निकली जा रही है। अब आप ही रक्षा करें! ऐसा कहता हुआ एक भक्त माघ के महीने में भी पसीने से तर–बतर, काँपता हुआ आकर बोला– अब तो आप ही रक्षा करें महाराज! आप ही रक्षा करें! महाराज ने कहा– अरे! बाल–बच्चों की तो चिन्ता करें आप! वे कहाँ हैं? वे तो घर पर ही हैं लेकिन मैं अपनी चिन्ता करूँ कि उनकी चिन्ता करूँ। पता चला है कि गाँव के किनारे तक डकैत आ गये हैं, मेरे घर पर ही आक्रमण करनेवाले हैं। कुछ देर के बाद पता चला कि डकैत बिना डकैती डाले ही चले गये; किन्तु इस घटना ने यह बता दिया कि व्यक्ति को अपना शरीर ही प्रिय है।

सातवीं इन्द्रिय धन है, जिसके लिए आप अपने सम्पूर्ण जीवन को दाव पर लगा देते हैं। यही नहीं, आप अपने निर्मल जप, तप, योग को भी कौड़ी के मोल बेच देते हैं। मकान के लिए तो आप बहुत प्रयत्न करते हैं, दूसरे की जमीन दबाते चले जाते हैं। आप समझते हैं कि मैं उसके जमीन की चोरी कर रहा हूँ, भगवान कहता है कि आप मेरे जमीन की चोरी कर रहे हैं। इसप्रकार यह मकान ही आठवीं इन्द्रिय है। सुहृद नवीं इन्द्रिय है, जो आपसे बिना कुछ अपेक्षा किये ही भलाई करता रहता है। अतः सुहृद ही प्राण नामक नवीं इन्द्रिय है। हर इन्द्रियों का भोजन है लेकिन प्राणों को तो आप कुछ देते ही नहीं हैं। चाहे आप उसे कुछ दें, न दें तो भी जबतक शरीर की अवधि है तबतक वह उसमें रहता है। हर अंग–उपांग, रोम–रोम, शरीर और शरीर के करण–उपकरण ये सारे के सारे परिवार हैं। बाहर का परिवार भीतर भी समाया हुआ है, यही दशम इन्द्रिय है। इसप्रकार सब ओर से इन इन्द्रियों को संयमित करें अर्थात् इनसे अनासक्त हो जायँ; क्योंकि यदि एक भी इन्द्रिय से असावधान हो गये तो वही इन्द्रिय आपको पराजित कर देगी।

गुरुदेव ने कहा था– जब साधनाकाल में एक आसन–पद्मासन, सिद्ध हो गया तो मैंने सोचा कि कहीं बायें पैर में रोग हो गया तो? क्योंकि वह नीचे रहता है और दायाँ ऊपर रहता है। फिर दायें पैर को नीचे रखकर और बायें पैर को ऊपरकर पद्मासन सिद्ध किया लेकिन फिर सोचा 'सर्वशः'– सब ओर से कहा गया है। पद्मासन में घुटनों में बल विशेष पड़ता है। यदि मनोरथ पूरा होने के पहले ही घुटनों में रोग लग गया तो? सिद्धासन भी सिद्ध होना चाहिए

क्योंकि उसमें बैठने पर घुटनों में बल विशेष नहीं लगता, इसलिए सिद्धासन भी सिद्ध कर लिया। कहीं सिद्धासन में बैठने पर एड़ी में रोग हो गया तो? क्योंकि वह शिश्न और गुदा के मध्य में स्थापित रहती है, इसलिए स्वस्तिकासन भी सिद्ध कर लिया। इसमें भी विषमता आ गयी तो? ऐसा विचारकर ताड़ासन सिद्ध किया अर्थात् खड़े होकर भी ध्यान किया। नेत्र खोलकर भी ध्यान सिद्ध किया, बन्द कर भी ध्यान सिद्ध किया।

सम्पूर्ण इन्द्रियों में कभी न कभी किसी न किसी रोग के होने की सम्भावना रहती है तथा उसकी निवृत्ति के लिए भी कोई उपाय अवश्य है। इसलिए सब ओर से इन्द्रियों का संयम करें, बाहर से भी, भीतर से भी और बाहर–भीतर के मध्य से भी। माता–पिता, भाई–बान्धव आदि बाहर की इन्द्रियाँ हैं, आँख, कान, नाक, त्वचा आदि ये भीतर की इन्द्रियाँ हैं और मन, बुद्धि, चित्त भीतर से भीतर की अर्थात् अन्तःइन्द्रियाँ हैं।

(तस्माद्यस्य महाबाहो.....) इसलिए सब ओर से सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमित कर लें अर्थात् इनसे अनासक्त हो जाएँ, अन्यथा एक इन्द्रिय में भी आसक्ति रह गयी, तो जीवन में पराजय के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगना है। इतना ही नहीं, जो तामसी एवं राजसी विचार अपने साधनपथ में विपक्ष में खड़े हैं, इनका संयम होते ही सर्वप्रथम तो सतोगुण की वृद्धि हो जायेगी; जो आध्यात्मिक साधना की भूमि है। यही नहीं बल्कि इतना होते ही शान्ति की बरसात तो प्रारम्भ हो ही जायेगी। फिर तो साधना निर्बाधरूप से बढ़ती रहेगी और स्थितप्रज्ञता आने में देर नहीं होगी।

एक बार युद्ध की तरफ भी देख लें कि इन मंत्रों से वहाँ के लिए क्या अर्थ निकलता है और भगवान संकेत से क्या कह रहे हैं। मानो वे कह रहे हैं कि देखो अर्जुन! देखो! पितामह भीष्म एक पुरुष हैं, जो इन्द्रिय तथा उसके विषय के साथ मोहरूपी नदी में बहे जा रहे हैं। उनके पिता शान्तनु ही उनकी एक इन्द्रिय हैं। उस पितारूपी इन्द्रिय की प्रसन्नता के लिए उनके द्वारा की गयी प्रतिज्ञा ही उस इन्द्रिय का विषय है। आज उस एक पितारूप इन्द्रिय में आसक्त होने के कारण ये मेरे विपक्ष में ही खड़े हैं; इसी कारण इनकी पराजय सुनिश्चित है। ये द्रोणाचार्य एक पुरुष हैं, अश्वत्थामा ही उनकी एक इन्द्रिय है; उसकी प्रसन्नता ही उस पुत्र नामक इन्द्रिय का विषय है। देखो न क्या आश्चर्य है कि वे इस पुत्र नामक इन्द्रिय की प्रसन्नतारूप विषय के लिए अपने शिष्य से ही युद्ध कर रहे हैं। जानते हो? इनका क्षत्रिय बनना इनके लिए बड़ा महँगा पड़ेगा। यह पुत्र नामक इन्द्रिय ही इनके सर्वनाश का कारण बनेगी। इस नराधम कर्ण को तो देखो! यह दानवीर अपनी दुर्योधन नामक इन्द्रिय को उसके सिंहासनरूप विषय को देने में धराशायी हो जायेगा। यह मित्र नामक इन्द्रिय को संयम नहीं कर पाने से अर्थात् इससे अनासक्त नहीं हो पाने से तुम्हारे जैसे शिकारी के द्वारा शिकार की तरह मारा जायेगा। इस असुरराज महामूर्ख दुर्योधन को तो देखो जो राजसिंहासन नामक इन्द्रिय तथा राजपद नामक विषय में आसक्त है, जो इस युद्धभूमि में कुत्ते की भाँति मारा जाकर तड़पता हुआ प्राण छोड़ेगा। दुःशासन ही एक पुरुष है, जो दुर्योधन नामक भाईरूप इन्द्रिय की प्रसन्नता के लिए सदा तत्पर रहता है। वह इस मूर्ख दुर्योधन की सुहृद नामक इन्द्रिय बना हुआ है, जिसकी भुजाओं को

उखाड़कर भीम उसकी छाती का रक्त पीयेंगे, फिर काली बनकर सारे रथी–महारथियों को सकते में डाल देंगे। यह विकर्ण कैसे आ गया यहाँ पर? यह तो तुमलोगों का शुभचिन्तक था। अरे! यह पुरुष, परिवार नामक इन्द्रिय के प्रतिष्ठा नामक विषय को देने में लगा हुआ है। यह क्या जानता है कि भीम इसे भी छोड़नेवाले नहीं हैं। यह शकुनि इस दुर्योधन की धन नामक इन्द्रिय है, जिसे सहदेव छोड़नेवाले नहीं हैं, जिसमें अब थोड़ी ही देर में आग लगनेवाली है। यह घोड़े की तरह हिनहिनानेवाला अश्वत्थामा, उसकी शरीर नामक इन्द्रिय बन गया है, जिसकी तुष्टि–पुष्टिरूप विषय को देने के लिए हर सम्भव प्रयास कर रहा है। इस बेचारे ब्राह्मणवेश में आये हुए म्लेच्छ को क्या पता है कि अब दो–चार दिनों में इसके अंग–अंग में गलित कुष्ठरोग होकर पीब बहनेवाला है। इसप्रकार स्वर्ग भी एक इन्द्रिय है पार्थ! इस स्वर्ग नामक एक इन्द्रिय में आसक्त होने के कारण ये सभी रथी–महारथी तथा सैनिक धर्म–अधर्म को ताख पर रखकर इस मेरे नरमेध यज्ञ में बलि का बकरा बनने आये हुए हैं; लेकिन निश्चितरूप से इन सबकी स्मृति छिन्न–भिन्न हो जायेगी और ये कुछ दिन स्वर्ग में रहकर पुनः नरकगामी हो जायेंगे।

ॐ मासपारायण, पाँचवाँ विश्राम ॐ

इसप्रकार उपरोक्त न्याय से इन्द्रियों पर संयम नहीं किया गया तो कौन सा अनर्थ हो जायेगा? इस विषय में प्रभु कहते हैं–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

इन्द्रियों से पराजित पुरुष के द्वारा विषयों का चिन्तन स्वाभाविक होता है। विषय का चिन्तन करने से उसमें आसक्ति होती है। आसक्ति होने के उपरान्त काम, काम में बाधा पड़ने पर क्रोध तथा क्रोध के उत्पन्न होने पर स्मृति का छिन्न–भिन्न हो जाना एवं उसके उपरान्त बुद्धि का नाश होना स्वाभाविक है और बुद्धि का नाश हो जाने पर फिर पुरुष तो पुरुष रह ही नहीं जाता।

संयम करके यदि साधक अपने आत्मस्वरूप में स्थित नहीं होता अथवा सद्गुरु के परायण नहीं होता तो उसके जीवन में एक विषाक्त वातावरण निर्मित होता है। वह यह कि हर पल, हर क्षण वह इन्द्रियों के विषयों का ही चिन्तन करता है। उसकी उन विषयों में इतनी आसक्ति हो जाती है, इतनी आसक्ति हो जाती है कि कुछ महीनों, वर्षों में उसके भीतर से महापापी काम प्रकट हो जाता है। फिर तो वह साधक यदि आसुरी प्रकृति का है तो रावण बन जाता है और सात्त्विक प्रकृति का है तो राजा ययाति बन जाता है। रावण की कहानी सब जानते हैं लेकिन राजा ययाति के काममय जीवन से प्रायः लोग अपरिचित हैं। इस मूढ़ राजा ययाति ने काम की पूर्ति के लिए अपने प्रियपुत्र पुरु की जवानी माँग ली थी; परन्तु जब अपने पुत्र की

जवानी लेकर भी बहुत वर्षों तक काम से तृप्त नहीं हुआ तो उस विषयी पिता ने अपने निर्विषयी पुत्र पुरु को जवानी लौटाते हुए कहा कि लो बेटे! अपनी जवानी ले लो और अब तुम इस जवानी से कामसुख भोगो! मैं तो वन को जा रहा हूँ, घोर जप–तप कर सशरीर स्वर्ग में जाकर वहीं काम की तपन मिटाऊँगा। विषयी पिता को लाज नहीं आती, वह निर्लज्ज अपने पुत्र को भी काम की ही शिक्षा–दीक्षा देता है। वह इतना विषयी हो जाता है, इतना विषयी हो जाता है कि यदि पुत्र भी उसके काम में बाधा बनता है तो वह पिता उसका वैरी ही हो जाता है। पुत्र के काम में यदि पिता बाधा बनता है तो उसका पिता ही वैरी हो जाता है, माँ के काम में यदि पुत्र–पुत्री बाधा बनते हैं तो पुत्र–पुत्री ही वैरी हो जाते हैं और पुत्र–पुत्री के काम में यदि माता–पिता बाधा बनते हैं तो वे पुत्र–पुत्री या तो अपने शरीर में आग लगा लेते हैं या जहर खा लेते हैं। यही नहीं 'कामात्क्रोधोऽभिजायते'– राजा ययाति की कामपूर्ति के लिए जब अन्य तीन पुत्रों ने अपनी जवानी देने से मना कर दिया तो उस मूर्ख राजा ने क्रोधावेश में आकर उन्हें धन–सम्पति एवं राज्य से बहिष्कृत कर दिया। ओह! जगत में ऐसे निर्लज्ज पिता भी पाये जाते हैं। धिक्कार है ऐसे पिता को, माता को, पुत्र को, पुत्री को एवं भाई–बान्धवों को!

(क्रोधाद्भवति सम्मोहः.....) गृहस्थाश्रम में ही ऐसी बात पायी जाती है सो बात नहीं, वानप्रस्थाश्रम एवं ब्रह्मचर्याश्रम में भी यह कहानी देखने को मिलती है।

हरियाणा में लाडवा के पास एक गाँव में कई वर्ष पूर्व एक तथाकथित साधक रहता था। उसकी बात सुनकर महाराज की तो छाती ही धड़कने लगी और आत्मानन्द से कहा– चलो, चलो, भागो! अब हिमालय भागो। कलियुग ने अब साधु–आश्रमों में भी जाने का अपना मन बना लिया है। उस मूढ़ पापात्मा तथाकथित साधु ने (जो गेरू वस्त्र में था) कहा था– महाराज! मैं अब आश्रम बनानेवाला हूँ, जहाँ सर्वप्रथम पन्द्रह–बीस चेलियों को रखकर अपने काम को तृप्त करूँगा, क्योंकि मेरा विषयी मन साधना नहीं करने दे रहा है। जब मन काम से तृप्त हो जायेगा तब योग–साधना करूँगा। महाराज ने कहा– कहाँ से पढ़ लिया आपने ऐसा? किस ग्रंथ में लिखा है कि काम तृप्त भी होता है? कहीं अग्नि ईंधन से कभी तृप्त होती है! वह हें–हें, हें–हें हँसने लगा। उस मूर्ख के पास उत्तर भी क्या था। महाराज ने अकेले में आत्मानन्द से कहा कि 'इस राक्षस का निमन्त्रण क्यों स्वीकार कर लिया हमलोगों ने? जल्दी चलो!' अतः उस मूर्ख से बहाना बनाकर वहाँ से जल्दी से चलते बने। वर्ष भर बाद पता चला कि उसकी मृत्यु ही हो गयी।

काम में बाधा पड़ने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, उस क्रोध में बाधा पड़ने पर मूढ़ता उत्पन्न होती है और मूढ़ता के उत्पन्न होने पर आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। ऐसा उत्पात न हो जीवन में इसलिए भगवान अब दिव्य संदेशरूप उपदेश देते हैं–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

प्रभु कहते हैं कि राग और द्वेष से अच्छीप्रकार से मुक्त हुई इन्द्रियों के द्वारा स्वाधीन अन्तःकरणवाला साधक विषयों को स्वीकार करता हुआ भी हृदय की स्वच्छता एवं निर्मलतारूपी प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है और उस हृदय की प्रसन्नतारूपी निर्मलता के प्राप्त होने पर थोड़े ही महीनों या वर्षों में सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस मंत्र के द्वारा बहुत साधक अपने साधनपथ से हटकर विषयी होते देखे जाते हैं। वह कैसे? हाँ, इस मंत्र का अपने अनुरूप अर्थ करके। वे कहते हैं कि 'भगवान तो यहाँ स्पष्ट कह रहे हैं कि विषयों को भोगने में आसक्ति न हो तो उन्हें भोगने में कोई आपत्ति नहीं है।' 'नहीं, नहीं, उन मूर्खों के द्वारा किये गये अर्थ को ऐसे स्वीकार नहीं करना चाहिए, वे तो हाथी कहने पर साथी सुनते ही हैं और माई कहने पर बाई (दाई) सुनते हैं। जब पूर्व के मंत्रों में स्पष्ट कह ही दिया गया है कि किसी भी इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषयों में साधक आसक्त होता है तब पुनः–पुनः विषयी ही होता रहता है। इसलिए काम, क्रोध, लोभरूपी विषयों को तो स्वीकार करने की बात की ही नहीं गयी है। रही बात आँख, कान, नाक, जिह्वा इत्यादि इन्द्रियों के विषय सेवन की, तो इसमें भी राजस, तामस विषयों का सेवन करने को स्पष्ट मना कर दिया गया है।'

ऐसा सुनते ही मानो अर्जुन के मन में विचार आ गया कि ये माधव तो स्वयं दिनभर खाते रहते हैं और अन्य आत्मज्ञानियों को उपदेश दे रहे हैं कि संयम बरतें। प्रभु ने मन की बात जानी और कहा– नहीं पार्थ! नहीं! अब मैं आत्मज्ञानियों की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि आत्मज्ञानियों की आज्ञा में प्रतिष्ठित हुए साधकों की बात कर रहा हूँ।

अभी पूर्व के मंत्रों के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि आत्मरूप होने के प्रयत्न में लगा हुआ साधक भगवत् विषय अर्थात् कथा–वार्ता को राग–द्वेष से रहित होकर भोगे; क्योंकि यदि उसमें भी आसक्ति हो जाय तो परिणाम घातक हो सकता है। इसीलिए ज्ञानयोगी और अष्टांगयोगी के लिए अहर्निश अपने ध्यान, ज्ञान, विज्ञानरूप साधना में लगे रहने को कहा गया है। कैसे? भगवान शंकर जैसे, शुकदेव जैसे, भरद्वाज जैसे और गृहस्थाश्रम में महात्मा भरत जैसे, सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसे, राजा जनक जैसे। भगवान शंकर को कथा सुनने की जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने तो इसप्रकार का व्यवहार करके साधकों को मानो उपदेश दिया है कि चित्त अपने स्वरूप से बहिर्मुख हो तो वह अपने सद्गुरु के पास ही सत्संगरूप विषय को स्वीकार करे लेकिन उसी में आसक्त होकर आत्मचिन्तन का परित्याग न कर दे। भगवान शंकर को यदि प्रभु श्रीराम की कथा में आसक्ति होती तो कथा के अनुसार श्रीराम प्रभु की आलोचना करनेवाली सती पर कुपित हो सकते थे, जबकि उन्होंने सहजभाव से कहा कि जाकर परीक्षा ही कर लो कि वे ब्रह्म हैं या नहीं। सती के द्वारा ऐसा करने के उपरान्त झूठ बोलने पर वे वर्षों–वर्षों के लिए चेतन समाधि में प्रतिष्ठित हो गये। इससे सिद्ध होता है कि वे कथा में भी आसक्त नहीं थे।

साधक अपने नित्य के व्यवहार से अपनी इन्द्रियों में छिपे हुए राग और द्वेष को पहचान सकते हैं। आत्मस्वरूप का चिन्तन करनेवाले साधक का अपने विषय से बहिर्मुख होने पर स्वाध्याय एवं सत्संग विषय है। अब वह देखे कि स्वाध्याय और सत्संग में बाधा पड़ने में द्वेष या क्रोध होता

है कि नहीं? यदि नहीं होता है तब तो ठीक है, यदि द्वेष हो रहा है तो उसमें आसक्ति है।

महाराज ने एक अच्छे साधक को देखा जिन्हें सत्संग में जाने की लगन लगी रहती थी, सत्संग के प्रताप से उन्होंने संन्यास ले लिया। उनके आचार्य ने कहा कि देख लो आप घर–बार में नहीं जा सकते, लेकिन उन्होंने नहीं माना और गेरूवस्त्र माँग ही लिया। वे जिस सत्संग से जुड़े हुऐ थे उसमें आसक्ति थी ही, अतः उनके द्वारा प्रार्थना करने पर उन्हें उनके आचार्य सत्संग के लिए भेज देते थे। वे सत्संग जाते और वहीं से अपने बाल–बच्चों के पास चले जाते थे। यदि उन्हें सत्संग में जाने से मना किया जाता था तो मन भारी हो जाता था, क्योंकि उसमें आसक्ति थी। अरे! ऐसा कैसा सत्संग जो बन्धन में डालता है और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करा देता है। उनके गुरु इसलिए सत्संग के लिए छूट दे रखे हैं कि कहीं इन्हें दोषदर्शन न प्रारम्भ हो जाय कि इतना बन्धन तो मुझे घर में भी नहीं था।

विषयी का विषय एवं साधक का विषय– ये दो प्रकार के विषय हैं। यहाँ इस मंत्र में साधक के भगवत् विषय को भोगने की बात कही गयी है। गुरुजी आये कहीं से, सभी साधकों ने आकर प्रणाम किया। पूछा उन्होंने– कहाँ है वह? साधकों ने कहा– ध्यान कर रहे हैं। गुरुजी ने ध्यानकक्ष के बाहर जाकर एक पत्थर दूसरे पत्थर पर रगड़ना शुरु किया। भीतर से आवाज आयी– कौन हो तुम? अरे! कौन हो तुम? अरे! कौन हो तुम? सुनाई नहीं पड़ता क्या? गुरुजी पत्थर घिसते रहे, मुसकराते रहे। अरे! बहरे हो क्या, जो सुनाई नहीं पड़ता? नहीं जानते हो कि यह ध्यानकक्ष है? फिर भी आवाज नहीं आयी। अब साधक ने यह कहते हुए आसन छोड़ दिया कि देखता हूँ कौन है, न अपने ध्यान करता है, न मुझे करने देता है। अरे! ये क्या! गुरुदेव! आप? मैंने तो अनजाने में बहुत कुछ कह दिया है, अब क्या होगा? गुरुदेव आप बतायें कि आप क्या कर रहे हैं? 'यही तो मैं पूछ रहा हूँ कि तुम क्या कर रहे हो?' 'मैं तो ध्यान कर रहा था– शिष्य ने उत्तर दिया।' 'फिर मैं भी अपने ढंग का ध्यान कर रहा हूँ– गुरुजी ने कहा।' 'तो क्या पत्थर पर पत्थर रगड़ने से ध्यान होता है? शिष्य ने पूछा।' 'क्यों नहीं जब तुम दो विचारों को परस्पर में झगड़ते देख रहे हो और कह रहे हो कि मैं ध्यान कर रहा हूँ तो मैं हाथों के द्वारा दो पत्थरों को रगड़ते देख रहा हूँ फिर यह ध्यान क्यों नहीं कहलायेगा? पहले तो यह बताओ कि तुम्हारे ध्यान में मैंने बाधा नहीं डाली तो तुमने मेरे ध्यान में क्यों बाधा डाली? शिष्य ने कहा– क्षमा करें गुरुदेव! क्षमा करें! अपराध को क्षमा करें! मैं समझ गया कि ढोंग किसे कहते हैं। मैं समझ गया कि मैं ध्यान नहीं ढोंग कर रहा था। मुझ मूढ़ को इसीप्रकार के ध्यान में आसक्ति हो गयी थी। यही नहीं, इसी में आसक्त होकर मैं आपका स्वागत भी न कर सका।' 'ऐसा कैसा ध्यान, जप, तप, योग जो आत्मस्वरूप में स्थित होने से वंचित कर देता है?'

स्पष्ट कहा है कि ज्ञानयोगी साधक अहर्निश आत्मचिन्तन में लगा रहे। आत्मचिन्तन का तात्पर्य यही नहीं कि मैं आत्मा हूँ, आत्मा हूँ चिल्लाता रहे। 'मैं आत्मा हूँ' का चिन्तन नहीं होता बल्कि उसका तो प्रयोग होता है। चिन्तन तो जीवरूपता मुझमें क्यों आ गयी, इसका होता है; माया ने, 'मैं' और 'तू' ने, 'मेरे'–'तेरे' ने; मुझ आत्मा को कैसे पकड़ रखा है; चिन्तन तो इसका

होता है। मैं क्यों कहता हूँ कि मैं खाता–पीता, सोता–जागता हूँ अर्थात् कर्म करता हूँ, चिन्तन इसका होता है। सुख–दुःख, राग–द्वेष, काम–क्रोध का उद्गम एवं पर्यवसान क्या है, चिन्तन इसका होता है।

यदि वानप्रस्थी ऋषियों की बात की जाय तो ब्रह्मर्षि वसिष्ठ एवं अत्रि आदि ऋषियों ने राग–द्वेष से रहित होकर ही जगत–हितार्थ सौ–सौ पुत्रों को जन्म दिया है। वे प्रत्येक पुत्र जगत के लिए विभूति हुआ करते थे। महर्षि अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय, दुर्वासा तथा वसिष्ठ के पुत्र नक्षत्र को कौन नहीं जानता। विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के सारे पुत्रों को सोये हुए में मार डाला तो भी उनके मन में लेशमात्र भी द्वेष नहीं हुआ, वहीं महर्षि अत्रि के सारे पुत्र संन्यास लेते रहे तो स्वप्न में भी उनमें एक अंश विकलता नहीं हुई। इसलिए कि वे सब ऋषि उन आत्माओं को अपना मानते ही नहीं थे। पूर्व के राजर्षि राग–द्वेष से रहित होकर ही प्रजापालनरूप विषय को स्वीकार करते थे और समयानुसार संन्यासरूप प्रसाद प्राप्त कर लेते थे। जितेन्द्रिय पुरुष महात्मा भरत ने राग–द्वेषरहित होकर चौदह वर्ष अयोध्या पर शासन किया था। उस समय भी बहुत लोग यह कहनेवाले थे कि राम के आने पर ये भरत क्या राम को राज्य दे देंगे? पर देखा गया कि प्रभु श्रीराम के आने पर चौदह वर्ष में चौदह गुनी बढ़ाई हुई सम्पत्ति के साथ उन्होंने राज्य को श्रीराम प्रभु के चरणों में सहर्ष रख दिया और स्वयं दासत्व स्वीकार कर लिया। राजर्षि हरिश्चन्द्र को तो स्वप्न में ही विश्वामित्र को राज्य दान करते देखा गया है। यदि किञ्चिन्मात्र भी राजर्षि में राग रहता तो ऐसा करना असम्भव था।

सन् १९७८ में एक गृहस्थाश्रमी साधक ने इस मंत्र (रागद्वेष....) का उलटा ही अर्थ लगा लिया था। उसने कहा कि भगवान ने तो कहा ही है कि जैसे मैं सोलह हजार गोपियों के साथ होकर और दिन भर खाकर आनन्दित रहता हूँ, उसीप्रकार साधक भी राग–द्वेषरहित हो सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का सेवन कर सकता है। महाराज ने कहा कि मंत्र पर ध्यान दो– यहाँ साधक से कहा जा रहा है, सिद्ध से नहीं। इस स्थितप्रज्ञ प्रकरण में आत्मज्ञानी के स्वरूप का वर्णन करने के लिए मात्र चार–पाँच मंत्र दिये गये हैं तथा तुमने यह कैसे मान लिया कि भगवान विषयी थे? अरे मूर्ख! इस भारतभूमि में अनेक साधक, सिद्ध सन्त; माताओं के बीच रहते देखे जाते हैं। उन माताओं के धर्मपतियों को जितना स्वयं पर विश्वास नहीं है, उतना संतों पर है और फिर भगवान तो भगवान ही हैं। आज भी जिस भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द की पत्थर की मूर्ति को देखकर कामिनी माताओं का काम जाता रहता है तो फिर भगवान तो वहाँ प्रत्यक्ष ही थे। ऐसी शंका तो जो महाविषयी और महाकामी हैं उन्हीं को होती है। तो फिर किस अवस्था में किन विषयों के सेवन को भगवान कह रहे हैं? 'प्रभु प्रसाद को' सद्गुरु जिस समय जिस प्रसाद को जितना खाने को कहे उतना खाओ, जिस ग्रन्थ को जिस समय जितना पढ़ने को कहे उतना पढ़ो, जिस समय जिस कथा को जितना सुनने को कहे उतना ही सुनो इत्यादि इत्यादि।

(रागद्वेषवियुक्तैस्तु.....) यदि ज्ञानमार्गी साधक है तो वह अन्तःइन्द्रिय के द्वारा समाधिरूप सात्त्विक विषय को अनासक्त होकर भोगे, जैसा कि भगवान शुकदेव भोगते हैं। उनका आत्मरूप

होना आत्मप्रसादरूप लाभ है और उनकी समाधि लोकसंग्रहरूप प्रसाद है। आत्मरूपता उनकी स्वयं की सिद्धि है एवं समाधि भगवद्भक्तों के लिए सिद्धि है, जैसे समयानुसार सुमेरु पर्वत से महाराज परीक्षित के पास भगवान शुकदेव का प्रकट हो जाना और भगवत्कथा से उनका उद्धार करना तथा भविष्य के लिए महर्षि व्यास के द्वारा उनके द्वारा प्रकट हुई भगवत् कथा को संकलित करना। अब आप सब समझ गये होंगे कि उनकी आत्मरूपता, उनका आत्मबोध, उनका आत्मज्ञान तो उनके काम आया लेकिन उनके जप, तप, योग से प्राप्त सिद्धिरूप विषय जगत के काम आया। उनके लोकसंग्रहरूप व्यवहार से भी उनकी अनासक्ति का पता चलता है– महाराज परीक्षित के लिए लोकदृष्टि में आना और भगवत् विषय को दानकर पुनः अन्तर्ध्यान हो जाना। इसप्रकार राग–द्वेष से रहित होकर भगवत् विषय को अन्तर इन्द्रियों से भोगने का प्रमाण इससे विलक्षण क्या होगा। ठीक इसके विपरीत महाराज जनक द्वारा आत्मरूप होकर अपने सद्गुरु ब्रह्मर्षि अष्टावक्र के चरणों में अपने शरीरसहित पूरे राज्य को समर्पित कर देना तथा राग–द्वेष से रहित होकर गुरुदेव द्वारा दिये गये प्रजापालनरूप सेवासहित आत्मज्ञानी के व्यवहार में भी प्रतिष्ठित होना, उनकी अनासक्ति का अनूठा प्रमाण है।

(प्रसादे सर्वदुःखानां.....) भगवान अभी पाँचवें अध्याय में कहनेवाले हैं– (कायेन मनसा बुद्ध्या.....) शरीर से, वाणी से, मन–बुद्धि आदि से निष्काम कर्मयोगी चित्तशुद्धि के निमित्त जप, तप, योगरूप कर्म या सद्गुरु की आज्ञानुसार जो भी कर्म मिले उसे करते हैं। उस कर्म से चित्तशुद्धिरूप प्रसाद प्राप्त होता है। चित्तशुद्ध होते ही अपने–आपमें निर्विकारता उतरनी प्रारम्भ हो जाती है और जैसे–जैसे निर्विकारता, आत्मरूपता, उतरती जाती है, वैसे–वैसे आसक्तिरूप दोष समाप्त होता जाता है; जो सम्पूर्ण दुःख–दोषों का कारण है, सम्पूर्ण दुःखों की हानि हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि तन, मन, धन, मान, सम्मान में जहाँ भी आसक्ति है, वहाँ–वहाँ से सम्पूर्ण आसक्तिरूप दोष समाप्त हो जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में भगवान ने कहा है कि 'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा' अर्थात् जो मान एवं मोह से रहित हो गये हैं तथा आसक्तिरूप दोष को जीत लिए हैं। इस मंत्र में भी आसक्ति को ही दोष कहा गया है। इस न्याय से ही महाराज ने उपरोक्त मंत्र के द्वारा आसक्तिरूप दोष की हानि दर्शायी है। आजतक जहाँ भी जो अनर्थ हुआ है अथवा हो रहा है अथवा आगे होगा, उसका मूल कारण आसक्ति है। इसी से भगवान ने सम्पूर्ण अध्यायों में अनासक्तिरूपी सिद्धि को सर्वोपरि स्थान दिया है।

विलक्षण बात कह दी भगवान ने यहाँ पर कि आसक्तिरूप दोष की हानि होते ही हृदय से प्रसन्नतारूपी प्रसाद की बाढ़ सी आ जाएगी, जिसमें सम्पूर्णता से शोक, मोह, भ्रम आदि दोष बह जायेंगे। साधकों को तो यहाँ स्पष्ट संकेत मिल ही गया कि चित्त को प्रसन्नतारूपी प्रसाद यदि प्राप्त नहीं हो रहा है तो वे कहीं न कहीं भौतिक जगत में आसक्त हैं।

(प्रसादे सर्वदुःखानां.....) इस परम प्रसाद को पाकर बुद्धि, ब्रह्म की बुद्धि बन जाती है, ब्रह्म की प्रज्ञा कहलाती है वह। जो जितेन्द्रिय साधक होते हैं, वनप्रदेश में वे सद्गुरु की आज्ञा से ही इस परम प्रसाद को पाते हैं तथा राग–द्वेष से रहित होकर ही वे जप, तप, योग को स्वीकार करते हैं। यही नहीं, सद्गुरु के द्वारा प्राप्त जप, तप, योग, ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूप विषय को

राग–द्वेषरहित होकर उपभोग भी करते हैं किन्तु जगत में उसका प्रदर्शन नहीं करते। फिर वे इसका उपभोग कैसे करते हैं? ऐसे कि वे जप, तप, योगादि करके गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर देते हैं और उसके बदले में भगवत् प्रसाद को माँग लेते हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या को माँग लेते हैं तथा उस ब्रह्मविद्यारूपी महाप्रसाद को पाकर जन्म–मृत्युरूप महादुःख को भी पार कर जाते हैं।

लगता है– दिव्य भावना से भावित रहनेवाले महात्मा अर्जुन इस समय भावनाहीन हो गये हैं; क्योंकि श्रद्धा, विश्वास तथा भाव के अभाव में सम्पूर्णता से अभाव ही अभाव प्रकट हो जाता है। आप सब देखें कि भगवान अगले मंत्र से उनकी श्रद्धा, विश्वास तथा भावना को पुनः जगाने का कैसे प्रयत्न कर रहे हैं–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

हे पार्थ! जो अयुक्त है, उसमें सद्गुरु के प्रति आस्तिकभाव अर्थात् ब्रह्मभाव नहीं होता। अतः उस मूर्ख को उनकी बात पर सम्पूर्णता से विश्वास हो ही नहीं पाता और न ही दिव्य श्रद्धा एवं भावना हो पाती है। अतः श्रद्धा एवं भावना के अभाव में साधना तो हो ही नहीं पाती। ऐसी स्थिति में वैसे नराधम को जब यहाँ ही (इस लोक में) शान्ति नहीं है तो परलोक में क्या शान्ति मिलेगी।

अयुक्त उसे कहते हैं, जो ब्रह्म में स्थित नहीं है। चलो ब्रह्म में स्थित नहीं है तो योग में स्थित है उसे भी युक्त कहते हैं परन्तु जो योग में भी स्थित नहीं है, उसे तो अयुक्त ही कहते हैं। चलो जो योग में स्थित नहीं है, तो गुरुयोग में स्थित होना चाहिए; क्योंकि उसे भी युक्त कहते हैं लेकिन गुरुयोग में भी स्थित नहीं है फिर तो उसे अयुक्त ही कहते हैं और उसी को नास्तिक भी कहा जाता है। उस नास्तिक को आध्यात्मिक बुद्धि प्राप्त नहीं होती, इसी कारण उसे भगवद्भाव की प्राप्ति भी नहीं होती, भगवद्भाव तो छोड़ें, उसे सद्भाव भी प्राप्त नहीं होता बल्कि उसे तो दुर्भाव ही प्राप्त होता है। उसे जब जहाँ देखा जाता है, जिस अवसर पर देखा जाता है, उसके अंग–प्रत्यंग से दुर्भावना बरसती रहती है। उस मूढ़मना को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

मानो इस मंत्र के द्वारा भगवान का यह संकेत है कि जो स्वजनों में आसक्त हैं, वे ही अयुक्त एवं भावनाहीन हैं, जो भगवद्भक्ति से विमुख हैं वे ही अयुक्त हैं। जिनका चित्त अति संकुचित हो गया है, जिनके हृदय में 'मैं' और 'मेरे' का वास है, 'तू' एवं 'तेरे' का वास है; उनमें भक्त, भगवान तथा सद्गुरु का वास कैसे हो सकता है?

अर्जुन भी कुछ कम नहीं हैं, वे मन ही मन सोच रहे हैं कि चलिए मैं तो आपकी बात नहीं मान रहा हूँ, क्योंकि जब समझ में आये तभी तो मानूँ; किन्तु आपने कब, किसकी बात मानी है? माँगते रह जाते हैं योगी, जपी, तपी और भक्त आपको, लेकिन युग बीत जाता है तो भी आप आते

नहीं।

तो क्या अर्जुन ने भगवान को भगवान मान लिया? लगता तो ऐसा ही है! भीतर में भगवद्भाव प्रकट हो रहा है। जब मूर्च्छित बालक की चेतना पलभर के लिए आती है और वह माँ को पहचान लेता है तो वही बात बड़ी मानी जाती है। ऐसी ही स्थिति महात्मा अर्जुन की हो गयी है। ये भगवान हैं, ऐसा हृदय में इनके आ तो बहुत बार गया है; किन्तु माया की ऐसी मार पड़ रही है कि कुछ का कुछ दिखने में और बोलने में आ रहा है। अयुक्तों में न बुद्धि होती है, न भावना होती है तो होता क्या है?

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथ रत परिवार विरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

इतना तुम जान लो कि जैसे नाविक के प्रमाद या अकुशलता के चलते वायु उसकी नाव को विपरीत दिशा की ओर लेकर चली जाती है, वैसे ही विषय को ही चाहनेवाली इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है। अतः हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषयों से भलीभाँति रोक ली गयी हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

साधकों को सावधान कर रहे हैं भगवान यहाँ पर। मानो वे कह रहे हैं कि आप प्रमादी क्यों बन रहे हैं। शरीररूपी नौका को आप इस भवसागर में अपने अनुसार ले जा सकते हैं। हाँ, आवश्यकता है आप अपने मन को इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषयों से संकल्पबल द्वारा उदासीन कर दें। इतना आप जान लें कि न चाहते हुए भी आपका हर पग संकल्प से ही गमन कर रहा है। जब ऐसा है तो फिर आप संकल्प क्यों नहीं करते कि हे मन! अब मैं तुम्हें विषयी नहीं बनने दूँगा, तुम्हे निर्विषयी बनाकर मानूँगा; क्योंकि निर्विषयता तुम्हारा सहज स्वरूप है। तुम निर्विकार आत्मा ही हो, निर्दोष आत्मा ही हो। अतः तुम भी अपने स्वरूप में स्थित होने की कामना क्यों नहीं करते हो? ताकि मुझे तुम्हें बलपूर्वक न रोकना पड़े। मैंने तो अपने–आपको सद्गुरु के कहने मात्र से ही जान लिया कि शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ। अब तुम्हारी बारी है कि तुम मेरे कहने से अपने–आप को शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा मान लो।

भगवान अब साधकों को और भी सावधान करते हुए आगे कहते हैं–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

जानते हो पार्थ! जो सम्पूर्ण भूतों की रात्रि है, उस रात्रि में संयमी पुरुष जागता है और जिसमें सम्पूर्ण भूत जागते रहते हैं, उसमें संयमी पुरुष सोता रहता है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! संयमी पुरुषों की 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अनुभूति ही विषयी पुरुषों के लिए रात्रि के समान है, जिसकी तरफ से वे सदा–सर्वदा उदासीन बने रहते हैं। ठीक इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ पुरुष उन विषयी पुरुषों के 'मैं' और 'तू', 'मेरा' एवं 'तेरा' रूप मायामय रात्रि से सर्वथा उदासीन रहते हैं। हे महाबाहो! इस रहस्य को न जानने के कारण ही मुझ ब्रह्मरूप दिन को ही ये विपक्षी वीर रात्रि मानकर सो रहे हैं, मेरी तरफ देख नहीं पा रहे हैं, इन्हें नींद आ गयी है। ये तो मात्र मानुषरात्रि, देवरात्रि, असुररात्रि में ही जागनेवाले हैं। काम ही इनका दिन है, क्रोध ही इनका दिन है, लोभ ही इनका दिन है, राग–द्वेष, छल–कपट, पाखण्ड ही इनका दिन है; जिसमें ये जागते रहते हैं लेकिन ठीक इसके विपरीत जो सन्तजन हैं, वे मायामय विकाररूपी रात्रि में सोते रहते हैं अर्थात् उदासीन रहते हैं। यह मोहमय रात्रि भीतर भी है, बाहर भी है। 'मैं शरीर हूँ' और 'यह मेरा है'–यही भीतर–बाहर की रात्रि है; जिसमें संत प्रवेश ही नहीं करते। हे पार्थ! तुम पाँचों (पाण्डव) तो इस मोहमयी रात्रि से सदा उदासीन रहते आये हो सदासजग, सदा से सजग रहते आये हो। आज कैसी थकान हो गयी कि तुम इस मायामय रात्रि में सोना चाहते थे। तामस रात्रि, राजस रात्रि एवं सात्त्विक रात्रि– ये तीन प्रकार की रात्रियाँ होती हैं। इस सात्त्विक रात्रि में ही महाराज युधिष्ठिर के पक्ष से, युद्ध की कामना से आये हुए ये सारे महारथी वीर जाग रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि तुमलोगों की विजय सुनिश्चित है। दैवी प्रकृतिवाले पुरुष सात्त्विक रात्रि में अर्थात् शुभरात्रि में जागते हैं और आसुरी प्रकृतिवाले अशुभरात्रि में जागते हैं। इसप्रकार कोई शुभ में जागता है तो कोई अशुभ में जागता है।

अब युद्ध की तरफ देखें कि भगवान का व्यंग्यबाण कहाँ किसपर चोटकर रहा है– मानो प्रभु कहरहे हैं कि माँ गान्धारी शुभरात्रि में जागी, आँखें बन्द कर उसपर काली पट्टी बाँध ली; माँ अनसूया की नकल की है (लगता है भगवान ने अब माँ गान्धारी पर आक्षेप किया है)। संजय अति सावधान होते हैं। (प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा बहुतों पर लक्ष्य साधा है।) अंधे धृतराष्ट्र के लिए माँ गान्धारी को पितामह ने माँगा, किन्तु उसका भाई शकुनि उसे देना नहीं चाहता था, लेकिन वह तो शुभरात्रि में जाग रही थी, इसलिए सर्वप्रथम उसने अपनी आँखों पर काली पट्टी बाँध ली; क्योंकि उसने सोचा कि अन्धे में सुन्दरता होने पर भी सहज ही कुरूपता होती है, आँखें अपने–आप में सम्पूर्ण सौन्दर्य की जननी हैं। कहीं पराया पुरुष न याद आ जाय, भीतर में मोह न आ जाय, अतः आँखों पर पट्टी बाँधे हुए ही पितामह भीष्म के पास उसने आकर कहा था कि पितामह! भाई और पिता के मना करने पर भी मैं अपने मौलिक अधिकार का त्याग नहीं कर सकती। आप जैसा जितेन्द्रिय पुरुष मुझे माँगने आ गया है, अतः हे महाभाग! चलें! वे (धृतराष्ट्र)

तो अन्धे ही हैं, यदि आप हिजड़े के लिए भी मुझे माँगते तो आप जैसे याचक की झोली में मैं आती। हे पार्थ! शुभरात्रि में जागनेवाली उस माँ गान्धारी ने जब देखा कि यह (धृतराष्ट्र) तो बाहर से ही नहीं भीतर से भी अन्धा है, तो फिर उसे (गान्धारी को) आँखों से पट्टी खोल देनी चाहिए थी और धृतराष्ट्र तथा अपने लिए मेरा दर्शन करना चाहिए था। ऐसा नियम है पार्थ कि जब स्वामी सो रहा होता है तो उसका दास बाहर से जागता है। यदि माता–पिता अन्धे हैं तो पुत्र जागता है, पति अन्धा है तो धर्मपत्नी जागती है। जब ब्रह्मचारी सोता है तो सद्गुरु जागता है। जिस 'मैं शरीर हूँ', इस मोहरूपी रात्रि में सब जागते हैं, उसमें महापुरुष सोता है अर्थात् उसकी अवहेलना कर देता है। माँ गान्धारी ने शुभरात्रि में जागने का प्रयास तो बहुत किया, बहुत किया; किन्तु जाग नहीं पायी। पति देवता होता है, इस देवभाव को ही धारण किये रहने से वह माँ इस शुभरात्रि में जागती रह गयी और उस माँ से उसके जीवन का यही सबसे बड़ा अपराध बन गया। इसी एक अपराध के कारण से यह जानते हुए भी कि ये द्वारिकाधीश ही साक्षात् नारायण हैं, तो भी अपनी भौतिक आँखों से भी मुझे देखने का प्रयत्न नहीं किया। पतिव्रत धर्म में अन्य पुरुषों को नहीं देखा जाता, पर ब्रह्म को तो देखा ही जाता है। इस एक अपराध के कारण से ही वह भगवती माँ गान्धारी मेरे पर चिढ़ जायेगी, जो मेरे प्रति महद्बुद्धि रखती है; जैसा कि आज तुम मेरे पर चिढ़ गये हो। तुम भी मेरे प्रति कम महद् बुद्धि नहीं रखते थे। आज के पूर्व तुमने जगत से आँखें बंद कर ली थी, तब तुझे मैं ही मैं दिखाई पड़ रहा था और अब जब तुमने आँख खोल ली स्वजनों के लिए तो मैं दीखना बन्द हो गया। इसलिए उठो! हे महावीर! उठो! और अपने बाणों से मोहरूपी रात्रि में सोये हुए इन महारथियों को सदा–सर्वदा के लिए जगाकर स्वर्ग और नरक की यात्रा के लिए भेज दो।

(या निशा सर्वभूतानाम्.....) सुना होगा आपलोगों ने– जागु, जागु, जीव जड़! जोहै जग–जामिनी। कभी–कभी गुरु सो जाते हैं तो उत्तमशिष्य जगा देता है। किंपुरुष प्रदेश में मत्स्येन्द्रनाथ नामक, जो महात्मा गोरखनाथ के सद्गुरु होते हैं, गंधर्विणियों से जिन्होंने शादी कर ली थी, उनके पास जाकर कहा था– जाग मच्छिन्दर गोरख आया। कामरूपी रात्रि में मत्स्येन्द्रनाथ तो सोये हुए थे। कामरूपी रात्रि में जब गुरु सोने लगता है, यदि वह गुरु ही है, सद्गुरु नहीं, तब शिष्य उसे जगाता है। अपनी भाषा में गीत गाता हुआ शिष्य उनके सिंहासन के पास चला गया। गुरु जान गया कि अब तो जगना ही पड़ेगा लेकिन तो भी उन्होंने अपने शिष्य गोरखनाथ से कहा– लो, इस मेरे पुत्र का मैला साफ करके आओ, जिसने मेरी गोद ही गंदी कर दी है। बाहर सरोवर है, जहाँ धोबी कपड़े धोते हैं, पत्थर रखा हुआ है। गोरखनाथ ने ले जाकर उस बालक को जल में डुबो–डुबोकर, पत्थर पर पीट–पीटकर धो डाला (मार डाला)। अच्छीप्रकार सफाई कर दी और आकर कहा– बालक को धो डाला गुरुदेव! धो डाला!! अब उस कपड़े को सुखा रहा हूँ। गुरु ने कहा– चलो, देखते हैं। शिष्य ने कहा– आप प्रतिज्ञा करें कि मेरे एवं आपके सिवा कोई दूसरा नहीं जायेगा, सभी सभासद यहीं रहेंगे। गुरु ने कहा– ठीक है। शिष्य उन्हें वहाँ ले आया, जहाँ शरीररूपी कपड़ा सूख रहा था। शिष्य ने कहा– गुरुदेव! यह कपड़ा तो सूख गया, अब चलें, मैं आपको जगाने आया था। दोनों ही योगबल से

वहाँ से चलते बने।

गुरु तो सोते देखे जाते हैं, लेकिन सद्गुरु कभी सोता ही नहीं है। भगवान भी मानो ऐसा कह रहे हैं कि इन्हें बाणों से जगाओ! सोते हुए पति को साध्वी माताओं ने जगाया है। राजा शिखिध्वज सो गये तो उनकी योगिनी धर्मपत्नी चूडाला ने जगाया है। राजा पद्म सो गये तो उनकी साध्वी धर्मपत्नी लीला ने जगाया है।

सम्पूर्ण भूतों की जो रात्रि है–काम, क्रोध, राग, द्वेष, छल, कपट एवं पाखण्ड, उसमें निर्विषयी जागते हैं। वे जागते–जागते ब्रह्म के लिए जागरण करने लगते हैं। वे वहाँ सजग–अति सजग होते हैं, वह अति सजगता ही उनका जागरण है। वे जागकर ब्रह्ममुहूर्त में संध्या करते हैं, सद्गुरु ही ब्रह्ममुहूर्त है। उसी की अध्यक्षता में वे 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप संध्या करते हैं। जीवजगत जिस रात्रि में जाग रहा है, वहाँ से ब्रह्मचारी भाग खड़े होते हैं। जहाँ बहुत से लोग सो रहे हैं, वहाँ कोई जाग नहीं पायेगा। ये सारे के सारे लोग सो रहे हैं, ये इन्द्रियों के सेवक हैं। इन्द्रियों की ही ये आत्मा हैं और इन्द्रियाँ ही इनकी आत्मा हैं, विषयी ही इनकी आत्मा हैं। ऐसे विषयी पुरुष सोने को ही जागना समझ रहे हैं! सोते हुए विषयी पुरुषों में से, विषयी जीवों में से मुझे निकलना चाहिए ऐसा निर्णय करके जहाँ सदा–सर्वदा जागता रह सकता है वह ब्रह्मचारी, वैसे आत्मज्ञानी की शरण में चला जाता है। सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु, शबरी, मीरा; ये सभी सोये हुए विषयी पुरुषों का विरोध करते हुए आ गये, जहाँ संत ब्रह्म में जाग रहे हैं उस भूमि में प्रवेश कर जाते हैं। जागते हुए के पास कोई सो नहीं सकता। जहाँ सब जागते हैं, वहाँ संयमी पुरुष संयम से भी नहीं सो सकता, शील–संकोच से भी नहीं सो सकता। जिस ममता–मोह एवं विषय–वासनामय रात्रिरूपी शय्या पर सारा जगत जागता है, वहीं संयमी उस ममतारूपी शय्या पर सोता रहता है और जिस ब्रह्मरूपी रात्रि में सब सोते हैं, उसमें वह आत्मजिज्ञासु जागता है। जगत में जितने भी संत हैं वे ही ब्रह्मरात्रि हैं, वहीं पर साधक जाकर विश्राम लेता है। वहाँ जाना ही विश्राम प्राप्त करना है। वह संत ही ब्रह्ममुहूर्त है। मानुषरात्रि, देवरात्रि, प्रेतरात्रि, ब्रह्मरात्रि; इन चार प्रकार की रात्रियों को तो आप जानते ही हैं– शाम छः बजे से नौ बजे तक मानुषरात्रि कहलाती है, रात्रि नौ बजे से बारह बजे तक देवरात्रि कहलाती है, रात्रि बारह बजे से तीन बजे तक प्रेतरात्रि कहलाती है, रात्रि तीन बजे से भोर छः बजे तक ब्रह्मरात्रि कहलाती है। वैसे ही दिन का भी गणित कर लेना चाहिए। साधक इन सारी ब्रह्मरात्रियों को एक कर देता है। अष्टांगयोगी शाम को ब्रह्ममुहूर्त से ध्यान प्रारम्भ करता है और सवेरे तक करता है। वहीं ज्ञानयोगी भोर में तीन बजे उठ खड़ा होता है और स्नान, शौच करने के उपरान्त बाह्य पवित्रता से सम्पन्न होकर चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में बैठ जाता है। अब उस ब्रह्मरात्रि को आगे बढ़ाता है– एक महीने के बाद पाँच बजे तक, दूसरे महीने में छः बजे तक, तीसरे महीने में सात बजे तक, चौथे महीने में आठ बजे तक, पाँचवे महीने में नौ बजे तक, छठे महीने में दस बजे तक, सातवें महीने में ग्यारह बजे तक, इसप्रकार क्रमानुसार महीने में एक–एक घण्टा संयम करता हुआ रात्रि आठ बजे, दस बजे तक ध्यान–चिन्तन कर लेता है। शरीर पर

जब शासन कर लेता है तब इन्द्रियों पर और मन, बुद्धि पर प्रशासन करने का उसको अधिकार प्राप्त हो जाता है; जब शरीर पर वह शासन करता है तब इन्द्रियों पर अनुशासन करने की क्षमता आ जाती है, इन्द्रियों पर जब अनुशासन करने की क्षमता आ जाती है तब अन्तःइन्द्रियों पर अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार पर प्रशासन का अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार प्रशासन का मूल होता है वह।

(या निशा सर्वभूतानाम्.....) जब सम्पूर्ण भूतों की मानुषरात्रि अर्थात् छः बजे से नौ बजे तक लोग खाते, पीते, जागते समय बिताकर नौ बजे रात्रि को शय्या पर चले जाते हैं, तब साधक ब्रह्मरात्रि (शाम की संध्या) में बैठ जाने के कारण से ब्रह्मरात्रि को आगे बढ़ाते हुए मानुषरात्रि को अपने में विलीन कर लेता है। ब्रह्मरात्रि में बैठ जाने के कारण वह जबतक बैठा रहता है तबतक ब्रह्मरात्रि ही कही जाती है। इसप्रकार ब्रह्मरात्रि में मानुषरात्रि, पुनः मानुषरात्रि में देवरात्रि, देवरात्रि में प्रेतरात्रि तथा प्रेतरात्रि में पुनः ब्रह्मरात्रि को विलीन कर देता है, एकाकार कर देता है। इसप्रकार सम्पूर्ण रात्रि ब्रह्मरात्रि ही हो जाती है। कर्मकाण्ड की भी यही परम्परा है। यदि दिन में बारह बजे से किसी ने यज्ञशाला में प्रवेश किया और शाम तक यज्ञ पूरा नहीं हुआ तो फिर रात्रि में किये जानेवाले यज्ञ का दोष उसे नहीं लगेगा। क्यों? क्योंकि अभिजित मुहूर्त में बैठा है, बारह बजे दिन में यज्ञ में बैठा है, अतः मानुषरात्रि में तथा देवरात्रि में भी वह यज्ञ करेगा और आश्चर्य की बात तब होती है, जब वह प्रेतरात्रि में भी यज्ञ करता रह जाता है। इसप्रकार अभिजित मुहूर्त में प्रारम्भ किया हुआ देवयज्ञ भी दिन–रात अखंड कर सकता है।

इसीप्रकार योगी जागते हुए पहली ब्रह्मरात्रि (शाम की संध्या) को व्यापक बनाकर दूसरी अर्धरात्रि (जिसमें प्रभु प्रकट होते हैं) से सम्पुट कर देता है, इन दोनों का योग कर देता है! दोनों रात्रियाँ एक कर देता है और आगे बढ़ता है। एक–एक महीने में एक–एक घण्टे आगे बढ़ाता हुआ फिर वह प्रातः के ब्रह्ममुहूर्त को संध्या के ब्रह्ममुहूर्त में विलीन कर देता है। इसप्रकार चारों रात्रियों को एक कर देता है अर्थात् ब्रह्मरात्रि बना देता है। इसप्रकार ब्रह्मरात्रि में शाम से सवेरे तक बैठनेवाला (एक आसन से) साधक मानुषरात्रि, देवरात्रि तथा प्रेतरात्रि को ब्रह्मरात्रि ही बना देता है। वैसे ही ब्रह्मरात्रि में शाम से सवेरे तक बैठनेवाला (एक आसन से) साधक एक संकल्प को प्राप्त कर लेता है। सवेरे उठता है और जो संकल्प करता है वही होता है।

क्यों जागता है, उसे क्या प्राप्त होता है, इसपर भगवान कहते हैं कि

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं –
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥७१॥

जैसे सम शान्त सागर में (जो सब ओर से जल से परिपूर्ण है) चंचल नदियाँ दौड़ती–धूपती, वेग से गमन करती हुई, विलाप करती हुई, करुण क्रन्दन करती हुई, गर्जना करती हुई (जैसे कोई बच्ची अपने ससुराल को जा रही हो) अपने नाम एवं रूप को विलीन कर देती हैं; ठीक उसीप्रकार नित्यप्रति ब्रह्ममुहूर्त में अर्थात् सन्ध्या में बैठनेवाला साधक जब भोर के ब्रह्ममुहूर्त तक बैठा ही रह जाता है अथवा नित्यप्रति साधक (ज्ञानयोगी) भोर के ब्रह्ममुहूर्त में बैठकर शाम के ब्रह्ममुहूर्त (संध्या) तक आत्मचिन्तन में ही बैठा रह जाता है, तो सम्पूर्ण भीतर की क्षुद्र कामनायें ब्रह्मकामना में विलीन हो जाती हैं अर्थात् काम राम में विलीन हो जाता है; क्रोध बोध में विलीन हो जाता है, वैसे ही लोभ निर्लोभ में, राग अराग में और द्वेष प्रेम में विलीन हो जाता है। अचल प्रतिष्ठावाले उस साधक के लिए जो ब्रह्म में ही स्थित है 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'द्रष्टा हूँ', इस महासमुद्रमय स्थिति में सम शान्त बैठा है, 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वाहमस्मि' रूप महावाक्यमय हो गया है वह, इसप्रकार परम द्रष्टा एवं परम चेतनरूपता ही उसका समुद्र होना है। उसमें नानाप्रकार की कामनायें अपने नाम–रूप को खोकर ब्रह्मरूप हो जाती हैं अर्थात् नींद जाग्रत् बन जाती है, जाग्रत् सुषुप्ति बन जाती है, सुषुप्ति तुरीया बन जाती और तुरीया तुरीयातीतरूप उस आप्तकाम पुरुष में विलीन हो जाती है।

(आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं.....) श्रुतिफल की बात भी करनी चाहिए। मानो भगवान नारायण ने कहा– जो सम्पूर्ण क्षुद्र कामनाएँ हैं, जो भौतिक प्राणियों की कामनाओं से उठनेवाली कामनाएँ हैं, जो राजस, तामस एवं सात्त्विक संस्कार से प्रकट होनेवाली कामनाएँ हैं, वे ब्रह्मकामना में विलीन हो जाने के कारण से ब्रह्मफल बन जाती हैं। जैसे कूड़ा–करकट गड्ढे में डालने पर खाद बन जाता है; वैसे ही जब सारा जगत विषय में सोता है तो उस विषय में सजग रहनेवाला साधक जागता है, उसके पास ब्रह्म का जागरण प्रकट होता है। ब्रह्म के जागरण काल में यदि हिरण्याक्षरूपी महापाप प्रकट होता है, पाप–उपपापरूप चण्ड–मुण्ड एवं रक्तबीज नामक राक्षस प्रकट होते हैं तो जो आदिकाल अर्थात् पुरातन सृष्टि के उद्भव के समय की स्थिति में उनके द्वारा उत्पात होने की परम्परा शास्त्रों में देखी गयी है, वह प्रारम्भ हो जाती है लेकिन वे सारे के सारे उत्पात साधक की संकल्पशक्ति नामक शक्ति से स्तम्भित हो जाते हैं। आप सब की भाषा में उनका सर्वनाश हो जाता है; जबकि वे रूपान्तरित होकर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। 'न कामकामी'– लेकिन जो काम को ही चाहनेवाला है, उसका संयम तो काम ही देनेवाला होता है। घोर जप, तप करनेवाले साधकों की तो स्वर्ग तक ही गति होती है। क्यों? इसलिए कि वे कामना से सम्पन्न होते हैं। यहाँ तो निष्कामी साधक की बात है। वह निष्कामी है, इसलिए उसकी सारी कामनाएँ उस समय उसके द्रष्टापना में ही विलीन हो जाती हैं।

(विहाय कामान्यः सर्वान्.....) सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर देनेवाला साधक जो ममता और मोह से रहित है, वही परम शान्तिरूप लाभ को प्राप्त करता है अर्थात् वह शान्ति जो भगवत् शान्ति कही जाती है, जिसे उपनिषदों में, सामवेदीय मंत्रों में, 'ॐ आनन्दमय ॐ शान्तिमय' नाम दिया गया है, वह उस आनन्द और शान्तिरूप परम लाभ को प्राप्त कर लेता

है। इस मंत्र में भगवान नारायण ने उस साधक को निःस्पृह पुरुष कहा है तथा 'निर्ममो निरहंकारः पुमांश्चरति' कहकर व्यवहार के अर्थ में प्रयोग किया है। अर्थात् गृहस्थाश्रमी, वह निष्कामी साधक देश, काल, अवसर के आने पर सद्गुरु अथवा संत की आज्ञा से जघन्य अपराधियों से, असुरों से युद्ध करके हिंसा को स्वीकार करके उनको खूब हिंसित कर देता है, खूब हिंसित कर देता है। यहाँ तक कि हिंसित करते–करते मार ही डालता है, तो भी वह आप्तकाम ही बना रहता है; क्योंकि उसका मनोरथ पूरा नहीं हुआ, वहाँ तो संत एवं सद्गुरु का मनोरथ पूरा हुआ। जो संत एवं सद्गुरु की आज्ञा से ऐसा करता है, वह स्थितप्रज्ञ ही कहा जाता है। यह न भूलें कि इस न्याय से उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है; क्योंकि उसे तो ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जाता है। सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य ये चार प्रकार की मुक्ति होती है। बड़ी पैनी दृष्टि से भगवान नारायण ने यहाँ पर वैसे साधक से यह कहने का प्रयत्न किया है कि सामीप्य मुक्ति उसके चरणों को चूमना चाहती है। जब सद्गुरु के घर में बसेरा होता है शिष्य का अर्थात् सद्गुरु का शासन होता है उसपर और सद्गुरु एवं शिष्य का मिलन होता है जिस दिन, उस दिन सामीप्य मुक्ति मिल जाती है। सामीप्य बन्धन से सामीप्य मुक्ति हो जाती है। जीव से जब जीव का मिलन होता है तब सामीप्य बन्धन होता है, जीव से जब जीव का मिलन होता है तब सारूप्य बन्धन होता है अर्थात् क्रमशः वे एक–दूसरे के रूप को प्राप्त कर लेते हैं। जब पिता–पुत्र का मिलन होता है तब सालोक्य बन्धन होता है, अर्थात् पिता के लोक को पुत्र और पुत्र के लोक को पिता प्राप्त कर जाता है, इसी को सालोक्य बन्धन कहते हैं। सायुज्य की यहाँ पर बात नहीं की जायेगी, जिज्ञासु के पास चार मुक्ति की बात की जायेगी। अतः उठें, आप भी उठें; जागें, आप भी जागें। आपको सामीप्य मुक्ति प्राप्त है; क्योंकि सद्गुरु की निकटता है। वह आपमें और आप उसमें हो जायें, इसे सामीप्य मुक्ति कहते हैं। आपके मन में दूसरा तो आ ही नहीं सकता। जैसे सर्वप्रथम तो आग लगती नहीं है किन्तु जब आग लग जाती है, लू चल रही हो, उस समय झोपड़ी में आग लग गयी तो कोई बुझा नहीं सकता, प्रचण्ड दावानल प्रकट हो गया वनप्रदेश में तो वर्षा ही बुझायेगी। वैसे ही पहले तो सद्गुरु पकड़ता ही नहीं है और जब पकड़ लेता है तो छोड़ता ही नहीं बल्कि आपके राग–द्वेष, काम–क्रोधादिरूपी आग को बुझा के मानता है। इस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में उसे आपने गुरु बनाया है। अब चूँकि जब आपने अपना बना लिया है तब पराया नहीं कर सकते। आपके अन्य स्वजन हैं तो आप भी उसके स्वजन हैं। वह आपका है, वह आपके संकल्प से प्रकट हुआ है। शिष्य का सद्गुरु ही संकल्प होता है उसके उपरान्त शिष्य भी उसका वरदपुत्र हो जाता है; क्योंकि वह भी गुरु के संकल्प से प्रकट होता है। अतः आप उसकी आत्मा हैं, जैसे पिता का पुत्र उसके लिए आत्मा होता है।

(विहाय कामान्यः सर्वान्.....) अतः छोड़ें, सारी कामनाओं को छोड़ें! वही आपकी कामना है। सामीप्य मुक्ति बाहर से हो गयी है, उसे भीतर उतार लें तो सारूप्यता हो जायेगी। 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है), जब आप कहेंगे तो सारूप्यता हो जायेगी। सामीप्यता, सामीप्यता के बाद सालोक्यता, सालोक्यता के बाद सारूप्यता तथा आगे बढ़ेंगे तो सर्वाहमस्मि अर्थात् सायुज्य की प्राप्ति हो जायेगी। प्रथम अवस्था, द्वितीय अवस्था, तृतीय अवस्था में भाव बदलते जाते हैं,

प्रज्ञा प्रकट होती जाती है। जिज्ञासु की प्रज्ञा, सिद्ध की प्रज्ञा, संत की प्रज्ञा अर्थात् आत्मज्ञानी की प्रज्ञा प्रकट होती है। वह जैसे ही 'सर्वाहमस्मि' कहता है वैसे ही उसे ब्रह्मशक्ति प्राप्त हो जाती है, आप उसकी सम्पूर्ण शक्ति के अधिकारी होते हैं। इन सम्पूर्ण लोकों पर, ब्रह्माण्डों पर आपका शासन होता है। आप जानते हैं कि आपके सद्गुरु का सम्पूर्ण लोकों पर शासन है, अतः उन लोकों पर आपका भी शासन हो जाता है। 'सालोक्य'– उसका लोक आपका लोक बन जाता है। उसके उपरान्त शरीर छोड़ते समय वह सद्गुरु निर्वाणमय हो जाता है, सर्वत्र व्यापक हो जाता है, सर्वत्र व्यापक हो जाता है.....। अब तो अपने भक्तों के आवाहन से ही कभी प्रकट होता है अन्यथा सम्पूर्ण भूतमय ही होकर रहता है। सम्पूर्ण भूतों के भीतर–बाहर भी होकर रहता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् यही आत्मरूपता है, जिसे प्राप्त होकर वह शरीर से प्राणों के प्रयाण करते समय भी मोहित नहीं होता। अर्थात् वह ऐसा नहीं समझता कि मैं प्राण छोड़ रहा हूँ या मेरे प्राण छूट रहे हैं बल्कि वह निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

भगवान मानो कह रहे हैं कि यह तो ब्रह्मज्ञानी का लक्षण है। जिसकी तरफ तुम्हारी भी गति हो रही है। तुम कहीं ऐसा न समझ लेना कि आत्मज्ञानी सम शान्त होकर कुछ करता ही नहीं।

अन्तकाल में वह शरीर छोड़कर निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या ज्ञान होते ही वह निर्वाणरूप नहीं हो जाता? नहीं, नहीं; ऐसी बात नहीं है, वह ब्रह्मरूप तो शरीर रहते ही हो जाता है; इसीलिए तो वह सगुणब्रह्म कहा जाता है। निर्वाण का तात्पर्य है कि वह पुनः शरीररूप से जन्म नहीं लेता। 'शरीररूप से जन्म नहीं लेता,' यह कहना भी तो औपचारिकता मात्र ही है, किन्तु जो अधेड़ श्रोता हैं, जिन्होंने कभी आध्यात्मिक भाषा सुनी ही नहीं है तथा जिन्होंने जीवन में मात्र मरने–जीने तथा स्वर्ग–नरक की बात ही सुनी हो, उनके पास इसप्रकार कहने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है। अतः साधकगण विचार करें कि वे कामनारहित ही होकर रहना चाहते हैं या कामरहित भी। यदि वे इनदोनों विकारों से रहित होना चाहते हैं तो स्थितप्रज्ञ प्रकरण के पूर्व 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं..... (मंत्र सं.११)' से लेकर 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि.....(मंत्र सं.५१)' तक गहन चिन्तन और मनन करें तथा तदनुरूप व्यवहार भी करें। यदि आपको अपने स्वरूप का और स्वरूप में सदा स्थित रहने का सिद्धान्त पता चल जाय तो फिर प्रयोग ही शेष रहता है। अतः गप–शप छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाएँ। अब पुनः एकबार युद्ध के मैदान में प्रभु की छवि को निहार लें और देखें कि वे अर्जुन से क्या कहना चाहते हैं।

मानो प्रभु कह रहे हैं– तुम निष्कामी हो पार्थ, निष्कामी हो। सम्पूर्ण कामनाएँ इस समय

तुम्हारे में विलीन हो गयी हैं। उठो पार्थ! उठो! देखो! युद्ध का बिगुल बज उठा है लेकिन दुर्योधन का साहस नहीं हो पा रहा है कि वह कुछ बकवास कर सके। इस समय, 'समय' पर भी तुम्हारा ही शासन है; जबकि इस समय, 'समय' पर तो भीष्मपितामह का शासन होना चाहिए था। नियम कहता है कि जब बिगुल बज जाय, शंखनाद हो जाय, फिर बकवास न करे लेकिन अब इस युद्ध के मैदान में तुम्हारा नियम चलेगा, तुम्हारा! ये सारे के सारे योद्धा, इस समय तुम्हारी ही बाट जोह रहे हैं कि तुम किस मार्ग पर चलते हो– त्याग पर या ग्रहण पर; तुम संन्यास लेते हो या गाण्डीव उठाते हो। यदि गाण्डीव उठाते हो तो सारे के सारे रथी–महारथी वीर अपने धनुष–बाण उठा लेंगे और यदि संन्यास लेते हो तो सारे के सारे घर में दुबक जायेंगे। तुम आत्मा हो पार्थ! तुम आत्मा हो। माँ के गर्भ से लेकर अबतक तुम्हारे में ऐसा कोई व्यवहार नहीं देखा गया कि तुम 'स्थितप्रज्ञ' नहीं हो। तुम्हारे जैसे निष्कामी के पास ही सकामियों की सकामता पूरी होती है। तुम्हारे जैसे निष्काम महारथी को पाकर भारतवर्ष के सकाम महारथी वीरों की सकामता पूरी होगी। हे पार्थ! अन्तरिक्ष में ये साधक, सिद्ध, महर्षि एवं देवगण प्रतीक्षारत हैं कि कब तुम बाण उठाओ और इनके मनोरथ को पूरा करो, इन आततायी असुरों का वध करो। अतः अब तुम जल्दी करो, इन्हें निराश मत करो! हे महावीर! युद्धोपरान्त तेरा और मेरा चरित्र जब गाया जाएगा तो सकामी निष्कामी बन जायगा, पुत्रहीन को पुत्र तथा धनहीन को धन प्राप्त हो जाएगा, भक्त को भक्ति तथा आत्मजिज्ञासु को आत्मज्ञान मिल जायेगा।

महात्मा अर्जुन इस दिव्य आख्यान को सुनकर क्षणभर के लिए वैसे ही जाग गये हैं, जिसप्रकार श्मशान में जाकर लोग क्षणभर के लिए जाग जाते हैं। साधकों के लिए यह दिव्य संदेशरूप उपदेश है कि किसी भी कामना को लेकर सद्गुरु के डेरे में डेरा न डालना, जहाँ न शाम, न सवेरा होता है। वहाँ तो केवल ब्रह्ममुहूर्त होता है।

महाराज धृतराष्ट्र गम्भीरता के साथ शोक मुद्रा में बैठे हुए हैं। संजय ने एकबार फिर कहा कि राजन्! जिसप्रकार संयमी पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों पर संयम करता है, उसीप्रकार आप भी अपने इन्द्रियरूपी पुत्रों पर संयम करें! राजा भगवान का प्रतिनिधि होता है, अपने स्वरूप को याद करें! आप में भगवत्ता समायी हुई है। इसप्रकार शोक में बैठे रहना भगवान का निरादर है। यह हस्तिनापुर का सिंहासन नहीं है राजन्! यह तो भगवान का सिंहासन है।

'हाँ संजय! तुम ठीक कह रहे हो, लेकिन मैं कायरों का कायर और हिजड़ों का हिजड़ा हो गया हूँ। अब मेरे वश की बात नहीं है संजय! बहुत दूर, बहुत दूर चला गया है दुर्योधन। संजय! सुना है कंस बहुत दूर चला गया था अपने पिता से। जब उसके पिता ने शासन करना चाहा तो पिता को युद्ध करना पड़ा, फिर बन्दी होना पड़ा। यह कंस की तरह ही हो गया है। इसकी यात्रा बहुत दूर तक हो गयी है। अब यह संयम में नहीं आयेगा संजय! नहीं आयेगा। कहीं मुझे भी कारागार न जाना पड़े! मधुसूदन जो करेंगे, वह मेरे हित में ही करेंगे; कारागार से तो वन में जाना अच्छा है। अच्छा! एकबार उन दोनों की झाँकी की प्रस्तावना कर दो!

संजय ने कहा– हे नरेश! जैसे पशु चारा खाकर जुगाली करता है, वैसे ही महात्मा

अर्जुन ने इस दिव्य संवाद को जो प्रभु से सुना है, सुनकर पागुर (जुगाली) करना शुरु कर दिया है अर्थात् उन्होंने भगवान से जिन महावाक्यों को सुना है, लगता है उन्हीं पर चिन्तन करने लगे हैं और यह भी सोच रहे हैं कि कोई संकल्प प्रकट हो तब तो फिर मैं कुछ करूँ; किन्तु जिस गम्भीरता से भगवान उन्हें देख रहे हैं उससे लगता है कि भगवान उनका पीछा छोड़नेवाले नहीं हैं। अर्जुन अन्तरिक्ष की तरफ देख रहे हैं तो भगवान नारायण आश्चर्य की तरह उनकी तरफ देख रहे हैं। दोनों ही की दृष्टि अपने–अपने लक्ष्य पर ही है राजन्! कभी–कभी भक्त अर्जुन भगवान की तरफ भी देख लेते हैं। मानो वे पूछ रहे हों–

प्रभु मोहें जग में क्यों जनमायो।
जब मोहें मिल्यो माधव सों सद्गुरु धीरज तोउ न पायो।।
जुग बीते जगजनमि जनमिकर कबहुँ न ब्रह्म को पायो।
अब चाहूँ संन्यास परमपद सद्गुरु ने भरमायो।।
दुःख दुविधा दयार्द्रचित्त अर्जुन महाराज कथ गायो।।
(राग–भैरवी)

भगवान ने महात्मा अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखा और कहा– कहाँ खो गये हो, बोलो! क्या सोच रहे हो?

(आयँ! मैं कहाँ खो गया था।) प्रकट में– क्या माधव? महात्मा अर्जुन ने पूछा ।

क्या सोच रहे हो तुम? प्रभु ने फिर पूछा।

यही कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते.....।।' महात्मा अर्जुन ने उत्तर दिया।

महाराज तो भक्त अर्जुन एवं प्रभु की झाँकी को देखकर बस बारम्बार प्रणाम करता है। यह दिव्य आख्यायिका (ब्रह्मविद्या) जिसे महाराज ने अपने परम पूज्य गुरुदेव से प्राप्त किया था, उसे आप सबको जप, तप, योग में प्रतिष्ठित जानकर तथा इसका अधिकारी जानकर प्रदान कर रहा है। विश्वास है कि इसे आप सब ब्रह्मचिन्तन का आलम्ब बनायेंगे। यह ब्रह्मविद्या आप सबकी आत्मा बने, प्राण बने, आँख बने, कान बने, नाक बने, जिह्वा बने, स्थूल तथा सूक्ष्म इन्द्रियाँ बनें; इसी कामना के साथ महाराज इस ब्रह्मविद्या को आप सबके इष्ट को समर्पित करता है।

महाराज ने इस दूसरे अध्याय को पद के रूप में भैरवी राग से गाया है, जिसे हर रोज गानेवाले को दूसरे अध्याय के पाठ का फल मिल जायेगा। तो आयें आप सब भी गायें–

पण्डित बन्यो पार्थ, मूरख सों करे बात।।
पण्डित न करे शोक, मरे जीये सब लोक।
पण्डित को आत्मलोक, प्रकटत है दिन रात।।
पण्डित बन्यो पार्थ.....

पण्डित को आत्मलोक, छिंदति न शस्त्रलोक।

पण्डित को आत्मलोक, दाहे न अग्निलोक।।
पण्डित बन्यो पार्थ.....

पण्डित को आत्मलोक, मारे न जललोक।
पण्डित को आत्मलोक, मारे न जगबात।।
पण्डित बन्यो पार्थ.....

पण्डित को आत्मलोक, जन्मे मरे नाहीं।
पण्डित को आत्मलोक, निज रूप सुनो तात।।
पण्डित बन्यो पार्थ.....

पण्डित को आत्मलोक, शाश्वत सनातन।
पण्डित को आत्मलोक, सबके है गात गात।।
पण्डित बन्यो पार्थ.....

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

इसप्रकार श्रीमद्भवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप साङ्ख्ययोग नामक द्वितीय अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ तृतीयोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनर्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

महात्मा अर्जुन ने प्रार्थना की– हे जनार्दन! हे केशव! अबतक आपने जो कहा है, उससे लगता है कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। अतः जब आपकी ही दृष्टि में ऐसा है तो फिर मुझे स्वजनवधरूपी घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं और यदि ऐसा नहीं है तो आप ज्ञान एवं कर्म को मिला–जुलाकर क्यों कह रहे हैं? मेरे लिए जो श्रेष्ठ है, वही क्यों नहीं कहते?

'तत्किं कर्मणि घोरे'– घोरे का तात्पर्य यहाँ पर अघोर कर्म मानना चाहिए– जो घोर से भी घोर हो, उसे कहते हैं अघोर। अघोर का अर्थ है– तामस एवं राजस कर्म। जो तांत्रिक हैं, वे तामस साधना करते हैं; वे ही मारण, उच्चाटन एवं विद्वेषणरूप अघोर कर्म किया करते हैं। क्रोध के आवेग में वे ही स्वजनों तक का वध कर देते हैं। इसलिए तामस आहार एवं व्यवहार करने के कारण से वे ही अघोरी कहे जाते हैं। यहाँ 'घोरे' शब्द का तात्पर्य बहुत गहरे से लेना चाहिए (अर्जुन मन ही मन सोच रहे हैं कि कहीं ये स्वजनों का वध कराकर मुझे अघोरी तो नहीं बनाना चाहते?) ये ऐसा सोचें भी तो क्यों नहीं, क्योंकि स्वजनों से तो इन्होंने कभी युद्ध किया ही नहीं, इसलिए कि इससे पूर्व इसप्रकार के युद्ध करने का अवसर आया ही नहीं था। यहाँ तक कि जब भगवती द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था, तो भी इन्होंने युद्ध नहीं किया, जबकि उन दुष्टों से, नीचों से, युद्ध करने का सुनहरा अवसर था; किन्तु स्वजन होने के कारण से ही उन लोगों को इन्होंने छोड़ दिया था। महात्मा अर्जुन के हृदय में सन्देह हो जाना स्वाभाविक है कि ये माधव स्वयं तो युद्ध कर नहीं रहे हैं, इसलिए कि अपने को ये महत् बुद्धिवाले अर्थात् सांख्ययोगी समझ रहे हैं। अब सांख्य योगी धनुष–बाण उठाये कैसे! वह तो युद्ध करता ही नहीं; इसलिए इन्होंने युद्ध न करने का संकल्प ले लिया है। इनके मत में ज्ञान श्रेष्ठ है तभी तो इन्होंने सम्पूर्णता से ज्ञानयोग को स्वीकार कर लिया है। लगता है पितामह (भीष्म) को भी ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ मान्य है लेकिन वे स्वजन मोह के कारण से अधूरे ज्ञानी होकर रह गये, इसलिए आधा युद्ध

कर रहे हैं। वे हमलोगों को मारेंगे ही नहीं और युद्ध करेंगे। अरे! यह ऐसा कैसा युद्ध है?

महात्मा अर्जुन के मन में अब उथल–पुथल होने लगी है। उन्होंने संन्यासियों की बड़ी कहानी सुन रखी है कि वे आग नहीं छूते, कर्म नहीं करते, चाहे जिस घर से भी रोटी माँगकर खाना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। यही नहीं, प्रभु ने अभी–अभी स्थितप्रज्ञ संन्यासियों की भूरि–भूरि प्रशंसा अर्जुन के समक्ष कर दी है। अतः इस कारण से भी उनके मन में संन्यासी बनने की विशेष कामना हो गयी है।

किसी को भी मोह हो जाता है तो उसके मन में दोषदर्शन की सम्भावना विशेष हो जाती है। यही कारण है कि वे भगवान में ही दोषदर्शन करने लगे हैं कि अपने तो युद्ध न करने का बहाना बना लिए और मेरे को कहते हैं कि युद्ध करो! इससे सिद्ध होता है कि यह धर्मयुद्ध नहीं है बल्कि अर्धमयुद्ध है। यदि धर्मयुद्ध होता तो ये राजा के पद पर हैं, अपने को दो भागों में क्यों कर लिए? नारायणी सेना को उधर कर दिये और अपने इधर हो गये। यह तो कोई धर्म की बात नहीं बनती कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। फिर आप आये क्यों? चलो मैंने आप को माँग लिया, वह बात अलग है, आपके हाथ में चक्र है यह भी बात अलग है लेकिन मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा कहने से तो यही सिद्ध होता है कि आप पाप से डर रहे हैं कि कहीं माँ गान्धारी शाप न दे दें, कहीं बड़े–बुजुर्ग आदि शाप न दे दें। यदि इनके अनुसार हमलोग सम्पूर्ण सही होते तो राजधर्म के नियमानुसार ये सेनासहित हमारे पक्ष में होते। यह तो यही बात हुई कि आधा तुम सही हो, आधा दुर्योधन सही है; अतः मैं दो भागों में बँट जाता हूँ। इनके द्वारा ऐसा करना तो मनमाना कर्म–धर्म माना जायेगा।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

महात्मा अर्जुन भी नारदजी जैसा ही सोचने लगे हैं। नारदजी ने सोचा था कि इन्होंने (भगवान ने), भगवान शंकर शादी करना नहीं चाहते थे, उनकी शादी करा दी तथा स्वयं तो लक्ष्मी लेकर घूम ही रहे हैं और जब मैं शादी करने चला तो बन्दर का मुँह ही बना दिया। ये कैसे भगवान हैं? वैसे ही अर्जुन के मन में भी द्वन्द्वयुद्ध हो रहा है कि अपने तो युद्ध कर नहीं रहे हैं और मेरे ऊपर शासक बन बैठे। मुझे इस घोर कर्म में फँसाये जा रहे हैं और स्वयं को बाल–बाल बचाये जा रहे हैं। इससे तो अच्छा होता कि ये और पितामह दोनों ही संन्यास ले लेते। आज ये रथ पर नहीं रहते तो कम से कम युद्ध तो नहीं करना पड़ता। लगता है इसी चालाकी को देखते हुए इनके बड़े भाई बलरामजी ने इस युद्ध से संन्यास ले लिया है। मिली–जुली हुई बात कहने का क्या प्रयोजन है? खिचड़ी पकाकर परोस देना! अरे! जिसके पास रोटी खाने की सामर्थ्य है वह खिचड़ी क्यों खायेगा? कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन्होंने मुझे तुच्छ समझ रखा है। क्या मैं महत् बुद्धिवाला नहीं हूँ? कहने को तो ये एक तरफ हे महाबाहो! हे परन्तप! कह रहे हैं तथा दूसरी तरफ तुम युद्ध करो ऐसा भी कह रहे हैं, ये दोनों बातें विरोधी हैं। ये मुझे घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं; जबकि स्वयं तो ये घोर कर्म से दूर जाकर सारथि

बनकर बैठ गये, इसलिए कि सारथि युद्ध से बाल–बाल बचा रह जाता है। (बहुत सी शंकाओं का जन्म हो चुका है, महात्मा अर्जुन के मन में।) वे मानो कह रहे हैं कि जैसे हंस दूध को अपने अम्लमय होठों से फाड़कर उसका रस (सारभाग) ग्रहण कर लेता है, वैसे ही आप चाहें तो कर्म और ज्ञान को पृथक्–पृथक् करके मेरे लिए निश्चित कह सकते हैं कि 'तुम लो! इसी के अधिकारी हो।'

अब युद्ध के मैदान से साधकों के बीच चलते हैं, जहाँ वे इस मंत्र के माध्यम से अपने मन से भी उठनेवाली ऊहा–पोहरूपी कल्पनाओं को जानना चाहते हैं। सद्गुरु के पास आने पर वहाँ साधना का दो भाग देखकर तथा अपने लिए मनचाही साधना को न पाकर ब्रह्मचारी के मन में भी कल्पनायें उठने लगती हैं कि मेरे साथ गुरुदेव ऐसा क्यों व्यवहार कर रहे हैं, मुझे ये भोजन–प्रसाद बनाने, झाड़ू लगाने की ही सेवा क्यों दे रहे हैं; जबकि इनके यहाँ कोई ध्यान कर रहा है, कोई योग कर रहा है, कोई स्वाध्याय कर रहा है, तो क्या मैं उन साधनाओं में से किसी का भी अधिकारी नहीं हूँ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये मुझे तुच्छ समझ रहे हैं, इसलिए झाड़ू लगाने, बर्तन माँजने का काम दे रहे हैं? यदि यही कर्म मुझे करना था, तब तो मैं घर में ही अच्छा था। महाराज के पास भी रहनेवाले एक साधक को ध्यान ही करना अच्छा लगता है। ध्यान करने से भी इनको महाराज के साथ रहना अच्छा लगता है, जबकि इनका शरीर न ध्यान के योग्य है, न महाराज के साथ रहने योग्य। इसलिए महाराज ने उनसे कहा कि महाराज के साथ रहना तो आपके लिए कठिन हो जायेगा। महाराज जहाँ जायेगा, वहाँ जो भी कुछ मिलेगा खाना पड़ेगा। महाराज की व्यवस्था अलग हो एवं आपकी व्यवस्था अलग, ऐसा नहीं हो सकेगा, इसलिए सर्वप्रथम शरीर को स्वस्थ बनायें। उन्होंने कहा कि ऐसा कैसे हो सकेगा? क्यों नहीं हो सकेगा– कुछ भण्डार में काम कर लें, कुछ झाड़ू लगा लें, कुछ बर्तन माँज लें। उन्होंने कहा– यदि भण्डार में जाऊँगा तो सबलोग दिनभर काम करायेंगे। महाराज ने कहा– वहाँ विशेषाधिकार का प्रयोग करना, कहना कि 'मैं तो आटा गुनने (गुँथने/मलने) आया हूँ।' आटा मलते–मलते शरीर की मलाई हो जायेगी। उसके उपरान्त थोड़ा झाड़ू लगा देना। उसमें स्वतः ही सिंहासन हो जायेगा तथा डण्ड–बैठकी भी लगाना प्रारम्भ कर दो। जिस दिन सुबह–शाम मिलाकर सौ–डेढ़ सौ डण्ड और बैठक हो जायेगा, उस दिन से शरीर स्वस्थ हो जायेगा। आपका शरीर वायु प्रधान हो गया है। जब वात, पित्त एवं कफ ये तीनों असंतुलित हो जाते हैं तो ऐसे साधक के लिए निश्चितरूप से कर्म करना चाहिए। उसके शरीर की ऐसी दुर्दशा इसलिए हो गयी है कि जब सोने का समय नहीं था तब सोया, जब खाने का समय नहीं था तब खाया एवं कर्म करने के समय अकर्मण्य होकर रहा है, जबकि उसे कर्म करना चाहिए था और अब! जब साधना का समय आया तो शरीर रोगी हो गया। अब ऐसे साधक के मन में गुरु के प्रति दोषदर्शन हो जाय तो गुरु क्या करे।

एक दिन एक हरियाणा के भक्त ने कहा कि आप मुझे संन्यास दे दें। महाराज ने कहा– यह तो महाराज के मन में भी आना चाहिए कि आपको संन्यास दिया जाय! उन्होंने कहा कि

मैंने तो आपसे पहले भी कहा था। महाराज ने कहा कि आप तो धर्मपत्नी को ही साथ ले के चले आये। परशुरामजी यदि धनुष–बाण लेकर आयेंगे तो लक्ष्मण कैसे जानेंगे कि ये ब्रह्मर्षि हैं। वे तो यही समझेंगे कि ये वानप्रस्थी क्षत्रिय हैं, जो तपस्वी भी हैं और योद्धा भी। उन्होंने कहा– मैं इन साधकों का नियम पालन नहीं कर सकता क्या? महाराज ने कहा– क्यों नहीं, क्यों नहीं; किन्तु उसके लिए आपको वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा दी जायेगी, जहाँ आप दोनों एकसाथ जप–तप करके भगवान को प्राप्त करेंगे। तबतक वहीं खड़े–खड़े बात सुन रहे, एक गृहस्थाश्रमी भक्त ने कहा– बाबा यह कैसा संन्यास है कि धर्मपत्नी मरती रहे और कोई संन्यास लेकर वन को चल दे? महाराज ने कहा– ऐसा ही संन्यास है। पत्नी मरे, बच्चे मरें, भाई–बान्धव, हित–मित्र मरें। अरे! चीटियाँ मरती हैं, कीट–पतिंगे मरते हैं, उनकी तो चिन्ता करते नहीं। यही नहीं, जो स्वयं भगवान को नहीं जानता वह भी मरा ही हुआ है। एक समय था कि उस मरे हुए पुरुष ने स्त्री को स्वीकार कर लिया और जब सही अर्थों में जीने की कामना हो गयी है तो फिर वह उसे त्यागेगा! पत्नी को कहेगा– तुम भी संन्यास लो, मैं भी संन्यास लेता हूँ और यदि वह संन्यास नहीं लेती तो पुत्रों के बीच धक्के खाये वहाँ पुरुष का कोई भी कर्तव्य नहीं बचता। उसका पति तपस्या करे एवं धर्मपत्नी उसकी सेवा करे, नियम तो यही है। यदि ऐसा भी वह नहीं कर सकती तो इसका क्या उपाय है? शास्त्र यह बात एकमात्र पुरुष के लिए ही नहीं कहता वह तो मीरा जैसी साध्वी से भी कहता है कि जिस दिन निर्मल वैराग्य हो जाय वह अपने पति एवं घरबार का त्यागकर संन्यास ले ले। इसी से शास्त्र ने कहा है कि जिस दिन निर्मल वैराग्य हो जाय, उसी दिन वह पुरुष या स्त्री संन्यास ले ले, बाल–बच्चों की चिन्ता न करे। जब भीतर में कामना हो गयी ब्रह्म पाने की तो उस समय आपका कोई कर्तव्य शेष नहीं बचता। भक्त अर्जुन को ब्रह्म पाने की कामना से संन्यास लेने की कामना नहीं हुई अपितु मोह से हुई थी।

एक माक नाम के साधक से महाराज ने पूछा– सोलह साल से तपस्या क्यों कर रहे हैं आप, ध्यान क्यों कर रहे हैं? कुछ देर मौन होने के उपरान्त कहा कि जो मैं उत्तर दूँगा, उससे आप सन्तुष्ट नहीं होंगे; क्योंकि उस उत्तर से मैं ही सन्तुष्ट नहीं हो पा रहा हूँ। ध्यान तो मैं शान्ति के लिए कर रहा हूँ लेकिन आप बतायें, किसके लिए करना चाहिए? महाराज ने कहा– स्वयं की प्राप्ति के लिए, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए या चित्त शुद्धि के लिए। जब 'मैं कौन हूँ?' इसका पता चल जायेगा तो शान्ति मिल ही जायेगी, ब्रह्म प्राप्त होगा तो शान्ति मिल ही जायेगी, चित्त शुद्ध होगा तो शान्ति मिल ही जायेगी।

(ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते...व्यामिश्रेणेव वाक्येन...) अर्जुन जैसे शिष्य के द्वारा आक्षेप हो गया है कि मिले–जुले हुए से वचनों को आप कह रहे हैं, यह आपमें शोभा नहीं देता। वे दोनों शिष्य–गुरु एक ऐसे युद्ध के मैदान में हैं, जहाँ एक कहता है कि तुम धर्म युद्ध करो, अनार्यों की सी बात क्यों कर रहे हो, ये बातें तुम्हारे में शोभा नहीं दे रही हैं, यह तुम्हारा व्यवहार न स्वर्ग को देनेवाला है न कीर्ति को। उसका प्रतिकार दूसरे ने (अर्जुन ने) कर दिया कि मिले हुए से वचनों को आप कह रहे हैं, अतः आपमें यह बात शोभा नहीं दे रही है।

जब शिष्य अपने आपको समर्पित कर देता है, वह सद्गुरु के पास प्रस्ताव रख देता है कि मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए तो सद्गुरु ज्ञान के साथ कर्म का योग लगा देते हैं। मानो वे कहते हों कि 'ज्ञान और कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।' सहसा यही बात समझ में नहीं आती है। महात्मा अर्जुन ने यहाँ सामयिक प्रश्न किया है, इसमें अन्यथा दोष नहीं है। वे कहते हैं– 'स्वजनवध से होनेवाले उत्पात से मेरी बुद्धि तो पहले ही भ्रमित है और आप अलग से भ्रमित कर दे रहे हैं, यह अच्छी बात नहीं है। इतना आप जान लें कि जितना इस युद्ध का भागीदार मैं हूँ, उतना ही आप भी होंगे।' ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन ने भगवान के चारों तरफ घेरा डाल दिया। वे घेरा डालकर भगवान को बाँधना चाहते हैं। महत् बुद्धि का यही लक्षण है। वे विवेकवान एवं चिन्तनशील शिष्य हैं। वे कहते हैं कि 'आप मुझे पीठपर लेकर गमन करना चाहते हैं या कन्धे पर, कोई एक तो बात करें? हाथी के पीठ पर बैठूँ या उसकी गर्दन पर, यह तो महावत ही निर्णय करेगा। जो प्रथम बार ही हाथी पर बैठेगा, वह क्या निर्णय कर पायेगा कि मुझे हाथी के सूँड़ के द्वारा गर्दन या पीठ पर बैठना चाहिए या हाथी की पूँछ पकड़कर। महावत को तो उसने आगे से, पीछे से, दायें–बायें, अगल–बगल, सब ओर से बैठते देखा है। इस न्याय से महात्मा अर्जुन का प्रश्न शास्त्रीय है, युक्तियुक्त है, न्यायसंगत है।

भगवान ने अच्छीप्रकार से भाँप लिया कि बात तो यह ठीक कह रहा है। इसलिए पहले की तरह आक्षेप करते हुए (भला–बुरा कहते हुए) उत्तर देने का मन नहीं बनाया। यद्यपि अर्जुन के मन में भगवान के प्रति दोषदर्शन भी हो गया है; किन्तु भगवान जीव की कमजोरी को जानते हैं, जीव की विवशता को भी जानते हैं। इसलिए वह दोष उन्हें नहीं दिखाई पड़ रहा है। उन्हें तो मात्र यही दिखाई पड़ रहा है कि चलो, यह दोनों (ज्ञानयोग और कर्मयोग) में से एक की आज्ञा पालन करने को तो तैयार हुआ। अतः प्रभु ने बड़े आदर–मान के साथ उत्साहित करते हुए उत्तर देना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम॥ ३॥

हे अनघ! हे निष्पाप अर्जुन! पुरातन काल से ही मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठायें दी गयी हैं; क्योंकि ज्ञानियों की श्रद्धा ज्ञानयोग में और कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग में होती है।

यहाँ अनघ (निष्पाप) कहकर महात्मा अर्जुन को भगवान ने सम्बोधित कर दिया। अनघ अर्थात् जिसमें पाप है ही नहीं। जो सर्वथा अघरहित है, वही है अनघ। इसके पहले प्रभु ने कायर, डरपोक, नपुंसक आदि कहकर बहुत लताड़ा था; किन्तु अब उनका हृदय लगता है दया से भर गया है। उन्हें यह संतोष हो गया है कि मेरी आज्ञा से यह घोर कर्मयोग में भी उतर सकता है।

इसीप्रकार यदि कोई शिष्य सद्गुरु की सहर्ष आज्ञा पालन करता है तो वह भी अनघ हो जाता है। भगवान ने तो गीताशास्त्र में जगह–जगह कहा है कि एक बार कोई आकर कह दे कि हे प्रभु! 'मैं आपका हूँ', तो वह इतना कहने मात्र से ही अनघ हो जाता है। अर्जुन ने यहाँ संकेत कर दिया है कि 'मेरा किसमें कल्याण होगा, उस एक निर्णय को कहें; मैं आपकी आज्ञापालन करूँगा।' इतना ही कहनेमात्र से प्रभु ने, हे अनघ! ऐसा कहकर पुकारा।

संसार में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं– एक सामान्य और दूसरा बौद्धिक अर्थात् एक मनोगत दूसरा बुद्धिगत। शरीर, प्राण और मन, इन तीनों के योग से कर्म करनेवालों को सामान्य बुद्धिवाला अर्थात् मनोगत कर्म करनेवाला कहा जाता है और बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन तीनों के योग से कर्म करनेवाले को बौद्धिक कहा जाता है। महाराज के पास जब कोई साधक आता है तो उसकी पहचान वह सामान्य बुद्धिवाला है या बौद्धिक बुद्धिवाला है, प्रश्नों से ही कर लेता है। किसी से पूछता है कि माँ और वेश्या में समानता है या कोई अन्तर है, बताओ? कोई दूसरा पुरुष आता है तो उससे पूछता है कि वेश्या और माँ में क्या अन्तर है? कुछ लोग कहते हैं कि ये दोनों तो प्रश्न एक ही हैं? जबकि महाराज कहता है कि नहीं, नहीं, ये दो प्रश्न हैं। किसी अन्य पुरुष की परीक्षा लेने के लिए महाराज पूछता है कि कोई कहता है कि गोवध नहीं होना चाहिए तो दूसरा कहता है कि हाँ, हाँ कहते तो तुम ठीक हो लेकिन गोवध के साथ–साथ बकरावध, सूअरवध आदि भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाय की आत्मा में और इन जीवों की आत्मा में क्या अन्तर है? पहला कहता है– मैं तुमसे तर्क नहीं करना चाहता, मैं तो इतना ही जानता हूँ कि गोमाता ब्राह्मी शक्ति से सम्पन्न है, उसके दूध में ब्रह्मविद्या का वास है, गोमूत्र में गंगाजी का वास है तथा गोबर में लक्ष्मीजी का वास है, उसकी वाणी में 'ॐ' एवम् 'अम्बा' का वास है। यही नहीं, उसके प्रत्येक अंग में किसी न किसी देवी–देवता का वास है; इसलिए उस गोमाता का वध नहीं होना चाहिए तो बताओ इन दोनों में सही कौन कह रहा है? इसप्रकार साधकों के सामान्य एवं विशेष बुद्धि की जाँच उनके द्वारा दिये जानेवाले उत्तर से हो जाती है।

भगवान मन ही मन मुसकरा रहे हैं कि अच्छा घेरा डाला इसने। यदि मैं कहता हूँ कि तुम कर्म के अधिकारी हो तो फिर यह (अर्जुन) सोचेगा कि मैं अनघ कहाँ हुआ, महत् बुद्धिवाला कहाँ हुआ तथा कह देता हूँ कि तुम ज्ञान के अधिकारी हो तो कहेगा कि फिर मुझे भी मुरली बजाने दें। जबकि भगवान के अन्तर की बात कुछ और ही है, वे चाहते हैं कि अर्जुन को जप, तप, योग की साधना न करनी पड़े, यह तो मेरा काम करे और मैं इसका काम करूँ अर्थात् इसे मुक्ति दे दूँ।

तत्त्वज्ञ अष्टावक्र ने जब अपनी दूसरी धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा कि अरे! मैत्रेयी! कात्यायनी को भी साथ लाओ और मेरे सामने ही इस भौतिक सम्पत्ति को बाँट लो; क्योंकि मैं तो अब संन्यास लेनेवाला हूँ, कहीं मेरे जाने के उपरान्त तुम दोनों में विवाद न हो जाय। मैत्रेयी ने कहा– हे महामना! आप बतावें कि इस भौतिक सम्पत्ति एवं आध्यात्मिक सम्पत्ति में कौन श्रेष्ठ है? जिससे मैं किस सम्पत्ति में बँटवारा करना चाहिए यह निर्णय कर सकूँ? महामनस्वी अष्टावक्र ने

कहा कि श्रेष्ठ तो आध्यात्मिक सम्पत्ति ही है मैत्रेयी! तो हे महाभाग! इस भौतिक सम्पत्ति को इस कात्यायनी को दे दें, मैं तो आपकी आध्यात्मिक सम्पत्ति में बँटवारा करूँगी– ऐसा मैत्रेयी ने कहा। तो फिर आओ! लो मेरी आध्यात्मिक सम्पत्ति में ही बँटवारा कर लो! तुमने तो इस तत्त्व की माँगकर मेरे हृदय को अति संतुष्ट कर दिया है, अतः अब मैं तुम्हें आत्मज्ञान से सम्पन्न करके ही संन्यास लूँगा।

स्वयं अष्टावक्र नहीं चाहते हैं कि मैत्रेयी जैसी समर्पित, आत्मजिज्ञासु को गार्गी एवं चूडाला जैसा घोर तप–त्याग एवं योग करना पड़े। उन्होंने महत् कृपा कर दी अपनी प्रिय साधिका मैत्रेयी पर जो उनकी छाया बनकर उनका अनुगमन करती थी। वैसे ही भगवान भी कुछ ही समय में महात्मा अर्जुन को राजयोग देनेवाले हैं, अतः वे सहसा नहीं कह पा रहे हैं कि तुम कर्मयोग के अधिकारी हो। जो राजयोग का अधिकारी है उसे कर्मयोगी बना दें, तब तो उसका अपमान हो जायेगा। इसलिए प्रभु कह रहे हैं– हे अनघ! पुरातन काल से ही संन्यासमार्ग एवं कर्ममार्ग, इन दो मार्गों का निर्णय किया गया है। अर्जुन ने कहा फिर कहते क्यों नहीं, आप भुलावे में क्यों डाल रहे हैं? लेकिन भगवान बिना बोले अपनी ही धारा बहाये जा रहे हैं, ज्ञान और कर्म की अपने ही ढंग से मीमांसा कर रहे हैं। भगवान को जल्दबाजी है। वे अभी मानो अर्जुन से बच निकलना चाहते हैं। दो बुद्धिमानों का वहाँ मिलन है, दोनों ही सूक्ष्म रहस्य के ज्ञाता हैं, दोनों ही एक–दूसरे के स्वभाव को जानते हैं, अतः दोनों ही एक–दूसरे की मार नहीं खाना चाहते। एक प्रश्न करने में कुशल है तो एक उत्तर देने में कुशल है, एक भागने में कुशल है तो एक पकड़ने में कुशल है तथा एक युद्ध करने में कुशल है तो एक युद्ध कराने और बाँसुरी बजाने में कुशल है। तो आयें, देखते हैं कि इस विषय में किसी और ने भी अपनी हृदयरूपी बाँसुरी से इस ज्ञान और कर्म के विषय में कोई राग अलापी है? हाँ, हाँ; क्यों नहीं! परम पूज्य मस्तराम बाबा ने इसी सन्दर्भ में एक अद्‌भुत मंत्र गाया है–

योगो ज्ञानेन स्याद्युक्तो ज्ञानं योगेन संविशेत्।
भूर्भुवोवच्च सर्वत्र प्रश्नात् तयोर्व्यवस्थितिः॥
(गीतागुह्यम्)

उनके इस गीत का सारांश है कि कर्मयोगी को ज्ञान के साथ कर्म का सम्पादन करना चाहिए और वैसे ही ज्ञानयोगी को सर्वप्रथम कर्मयोग का आश्रय लेना चाहिए। जिसप्रकार पृथ्वी और आकाश का परस्पर में विनियोग है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान और कर्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। माना कि हवाई जहाज के द्वारा आप आकाश में उड़ रहे हैं; किन्तु वह उड़ा तो पृथ्वी से ही है। उसीप्रकार ज्ञानयोगी की आधारशिला कर्मयोग ही तो है।

(लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा.....) श्रीभागीरथी धाम में हरिओम नामक ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) ने रोते हुए प्रश्न किया कि मैंने यहाँ सात साल सन्तों की सेवा की है लेकिन तो भी आपने मुझे व्यापारी बना दिया और अभयानन्दजी, जो सहज ही आपके दर्शन को आये थे, न उन्होंने सन्तों की सेवा की थी, न उनमें ब्रह्म पाने की कामना थी तो भी उनके आते ही आपने उन्हें संन्यासी

बना दिया, तो फिर क्या मैं ही जगत में घोर पापी हूँ कि मुझे आपने संन्यासी नहीं बनाया? महाराज ने कहा– महाराज से तुम संन्यास का प्रस्ताव आज रख रहे हो। यदि तुमने उसी दिन कह दिया होता, जिस दिन तुम व्यापारी बनाये जा रहे थे, तो उसी दिन तुम्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त हो गया होता लेकिन यदि ऐसी बात है तो अभी से तुम सम्पूर्ण संन्यास पाने की प्रतीक्षा करो। अभयानन्द ने तो आते ही एक वाक्य कहा था कि अब मैं आपकी ही आज्ञा में रहूँगा। महाराज ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि महाराज की आज्ञा में रहनेवाले तो संन्यास लेते हैं, तो क्या तुम संन्यास ले लोगे? उसने कहा– 'जी!' महाराज ने कहा– तो लो ये गेरूवस्त्र, आज से तुम संन्यासी हो।

'आज से मैं आपकी ही आज्ञा में रहूँगा।'– इस एक वाक्य के कहने मात्र से ही अभयानन्द अनघ (निष्पाप) हो गया था। आज उसे पाँच साल संन्यास लिए हो गये लेकिन पीछे मुड़कर नहीं देखा। देवगुरु बृहस्पतिजी ने भी अपने पुत्र कच से कहा था– हे पुत्र! तुम कर्म में प्रवेश मत करो, तुम्हारे लिए त्याग ही कर्म है, संन्यास ही कर्म है, अतः तुम त्याग से ही ब्रह्म की कामना करो। महर्षि व्यास ने भी अपने महात्मा पुत्र शुकदेव से कहा था– हे पुत्र! तुम्हारे लिए त्याग ही कर्म है, त्याग ही योग है, त्याग ही जप है। तुम इसी के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हो। ठीक उसीप्रकार जो शिष्य अपने सद्गुरु के पास जाकर कहता है कि 'हे प्रभु! मैं आज से आपका हूँ' तो उसी समय वह संन्यासी ही हो जाता है, अनघ ही हो जाता है।

भगवान ने भी अर्जुन पर घेरा डालना प्रारम्भ कर दिया है। आयें देखते हैं कि घेरा डालने में किन–किन उपायों का आश्रय ले रहे हैं–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

हे पार्थ! कोई भी पुरुष बिना निष्काम कर्म प्रारम्भ किये नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् निष्काम कर्मयोगी नहीं बन सकता और न ही, कर्मों के केवल त्यागमात्र से सांख्ययोग को ही प्राप्त कर सकता है। अरे! ऐसा कैसे हो सकता है? क्योंकि कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षण मात्र भी कर्म किये बिना तो रहता नहीं, यह देखा ही जाता है कि प्रकृति के वशीभूत होकर सभी कर्म करते ही हैं।

प्रभु ने यहाँ कन्नी काट ली। उन्होंने कहा कि ज्ञान तो श्रेष्ठ है ही लेकिन कर्म उसकी आधारशिला है। वह कर्म अकर्मण्यता से प्राप्त नहीं होता तथा कर्म के स्वरूप को जाने बिना उसमें भलीप्रकार प्रतिष्ठित हुए बिना, कुछ कालोपरान्त उस कर्मविपाक से निर्मोह हुए बिना अकर्तापना आयेगा ही नहीं। अकर्तापना दो अर्थों में प्रकट होता है– एक उस समय जब आप माता–पिता, भाई–बान्धवों से

लड़ाई–झगड़ा करके विक्षिप्त हो जाते हैं और कह देते हैं कि आज से मैं कर्म करूँगा ही नहीं, इसप्रकार अकर्मण्य हो जाते हैं, खाना–पीना छोड़कर बैठ जाते हैं; भीतर द्वेष चल पड़ता है एवं बाहर से आप अकर्ता हो जाते हैं। कदाचित् उसी अकर्तापने में यदि आप संन्यास ले लेते हैं तो कभी अकर्ता नहीं हो सकते अर्थात् संन्यासी नहीं हो सकते। यद्यपि ऐसा संन्यास भी शास्त्रों में मान्य है, किन्तु वैसे भक्त को सद्गुरु आश्रम में जाकर कर्म का शोधन करना ही पड़ता है। कर्म से भागे हुए को कर्म में ही प्रतिष्ठित करना होगा, तभी वह कर्म, योग बनेगा तथा कर्मयोग कहा जायेगा।' अर्जुन का संन्यास इसी विक्षिप्तता की भूमि पर खड़ा है, जबकि भगवान अभी थोड़ी ही देर में बहुतबार कहनेवाले हैं कि यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि क्रियाओं को किसी भी काल में त्यागना ही नहीं चाहिए, अन्यथा नैष्कर्म्यता आ ही नहीं सकती।

कुछ साधक देखा–देखी ध्यान में तो बैठ जाते हैं और दो–चार मिनट के बाद ही नींद का भोजन करने लगते हैं। महाराज कहता है– यह भी तो एक भोजन है, यह भी तो एक फल है, आप स्वीकार मत करें। नींद आ रही है, आप झूम रहे हैं। लोग समझ रहे हैं कि आप ध्यान में हैं लेकिन आप जैसा तो कोई ढोंगी है ही नहीं। नींद का भोजन आप करते हैं, विचारों का भोजन आप करते हैं, विचार आये जा रहे हैं आप खाये जा रहे हैं, विचार आये जा रहे हैं आप खाये जा रहे हैं और कह रहे हैं कि मैं विचारों का, नींद का द्रष्टा बन गया हूँ। इसप्रकार डेढ़–दो घण्टे में या तो विचारों का या तो नींद का ही भोजन करते–करते आप ध्यान से उठ खड़े होते हैं और कहते हैं कि विचार आयेंगे ही, तो हम क्या करें? तो ये मंत्र उसी का उत्तर दे रहे हैं कि जबतक आप सुविचार नहीं करेंगे, सुचिन्तन नहीं करेंगे, तबतक न नींद आपका कहना मानेगी और न ही विचार आपका कहना मानेंगे। निर्विचाररूप होने के लिए सुविचाररूप भूमि चाहिये ही चाहिये, द्रष्टारूप होने के लिए स्रष्टारूप भूमि चाहिए ही चाहिए, अकर्मरूप होने के लिए कर्मरूप भूमि चाहिये ही चाहिये। भौतिक जगत में भौतिक समस्याओं का उपाय आप खोजते ही खोजते हैं, उसके समाधान के लिए आप विचार करते ही करते हैं और समाधान मिलता ही मिलता है। उसीप्रकार तामस विचारों की काट राजस विचार हैं तथा तामस एवं राजस विचारों की काट आत्मचिन्तन है ही। शरीर का भोजन अलग है, मन का भोजन अलग है, बुद्धि का भोजन अलग है। ध्यानकाल में नींद एवं अनाप–शनाप विचारों का उत्पात यह सिद्ध करता है कि आप ध्यान में बैठते ही अकर्तारूप हो गये। जबकि ध्यान में बैठते ही सर्वप्रथम कर्तारूप होना है अर्थात् हृदय से दो–चार मिनट प्रार्थना किया, उसके उपरान्त दिन भर के कर्मों पर दृष्टिपात किया और खोज किया कि कहाँ मेरे तन, मन, वचन से अहिंसामय, सत्यमय, अस्तेयमय, ब्रह्मचर्यमय एवं अपरिग्रहमय कर्म हुए तथा कहाँ ठीक इसके विपरीत हुए, कहाँ मेरे तन, मन, वचन, हृदय से कौन पीड़ित हुआ और कहाँ किसी के द्वारा मैं पीड़ित हुआ। इसकी खोजकर पुनः अपनी आसक्ति एवं अनासक्ति की खोज करें। ऐसा करते–करते फिर आत्मचिन्तन करें, इसी को कहते हैं, कर्म से अकर्मरूप होना; साधक के लिए यही आध्यात्मिक भोजन है। भौतिक भोजन से नींद आती है तथा आध्यात्मिक भोजन से ध्यान। यदि आपने चिन्तनरूपी कर्म प्रारम्भ नहीं किया और नींद प्रारम्भ हो गयी तो उसे हटाना आपके लिए समस्या बन जायेगी, आपको बहुत संघर्ष करना

पड़ेगा। उसीप्रकार यदि आप ध्यान में बैठते ही अकर्मरूप हो गये और कुचिन्तन चल पड़ा, राजस विचार चल पड़े तो फिर वैसी अवस्था में उन्हें हटाना आपके लिए दूभर हो जायेगा। उस काल में वे आप पर भारी पड़ जायेंगे। इसलिए सर्वप्रथम कर्म, उसके उपरान्त अकर्म, उसके उपरान्त नैष्कर्म्य। इसप्रकार भगवान ने आत्मरूप होने के लिए एक क्रम दिया है।

महात्मा अर्जुन के पास भगवान यही तो कह रहे हैं कि तुम युद्धरूप कर्म करते–करते आये हो, तो युद्ध करते–करते ही तुम संन्यास में भी जाओगे। वह कैसे? हाँ ऐसे कि अबतक उन्होंने राजाज्ञा के द्वारा युद्ध किया था, महात्मा युधिष्ठिर एवं भीम, सहदेव आदि की प्रसन्नता के लिए युद्ध किया था, अबतक माँ कुन्ती की प्रसन्नता के लिए युद्ध किया था, अबतक उन्होंने कुल–परिवार की मर्यादा के लिए युद्ध किया था और अब वे सद्गुरुरूप ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए युद्ध करेंगे। प्रथम चरण में अबतक उन्होंने जो भी कुछ किया वह जीवकर्म ही कहा जायेगा तथा अब जो वे करेंगे वह ब्रह्मकर्म कहा जायेगा। इसप्रकार ब्रह्मकर्म ही अकर्मरूपता की आधारशिला है। इसप्रकार धर्मयुद्ध जो इनके द्वारा पूर्व में हुआ, वही (न कर्मणामनारम्भान्) कर्मारम्भ हुआ तथा अब जो विकर्ममय युद्ध करेंगे वही कर्म की समाप्ति होगी, जो संन्यासयोग को देनेवाली होगी। इसप्रकार–

धर्मयुद्ध	+	विकर्मयुद्ध	=	संन्यास
कर्म	+	विकर्म	=	संन्यास
शास्त्रीय कर्म	+	कर्मयोग	=	संन्यासयोग

अब आप इस मंत्र का अर्थ समझ गये होंगे कि बिना उपरोक्त योग प्राप्त किये आत्मस्वरूप की सिद्धि कहाँ, और बिना आत्मस्वरूप की सिद्धि प्राप्त किये शान्ति कहाँ?

(न कर्मणामनारम्भान्.....) संन्यास पद यदि आप चाहते हैं तो सकाम कर्म को त्यागकर निष्काम कर्म करना ही होगा। क्यों? इसलिए कि सकाम कर्म में वेग था न, अतः वह पूर्व का वेग तो अपना काम करेगा ही करेगा; उस वेग को शान्त करने के लिए ही निष्काम कर्म करना होगा। कैसे? जैसे आपने सम्पूर्णगति में गाड़ी चला रखी है और विचारों में खो गये हैं, तबतक निर्गमन आ गया अर्थात् जहाँ जाना है, वह स्थान आ गया; फिर आप होश में आये, मित्र सामने खड़ा है, यदि उसे देखकर आपने गाड़ी में ब्रेक दिया तो वह पलटी खा जायेगी। इसलिए सर्वप्रथम गाड़ी रोकने के लिए एक्सिलेटर को छोड़ना होगा और जब पूर्व का वेग कम होने लगे तो धीरे–धीरे ब्रेक दिया जायेगा। उसीप्रकार सकाम कर्म करते चले आ रहे हैं, सकाम कर्म करते चले आ रहे हैं और सहसा प्रभुकृपावश भगवत्कामना जाग गयी तो उसी कर्म को निष्काम होकर किया जायेगा। जिन कर्मों को अपने बाल–बच्चों की सुख–सुविधा के लिए किया जा रहा था, ऐश्वर्य की कामना के लिए किया जा रहा था; उन्हीं कर्मों को अर्थात् यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं को प्रभुकामना से करना होगा। इसप्रकार कर्मों को प्रभुकामना से करते–करते कभी अकामना प्रकट हो ही जाती है अर्थात् कर्मों में प्रीति नहीं रह जाती है।

एक साधक ने कर्मों की संगति बिठाने की एक घटना बतायी। उसने कहा– सन् १९७१ के पूर्व भी वह माता–पिता आदि की सेवा किया करता था लेकिन उस सेवा में न श्रद्धा थी न भाव था। अचानक एक दिन श्रीराम प्रभु का आदर्श याद आया और उसी दिन से उसने माँ को देवी एवं पिता को देवता मान लिया। उसने कहा कि मुझे यह विचार नहीं आया कि ये देवी–देवता तो हैं नहीं; मैं तो बस, लगन से सेवा करता रहा। वह प्रतिदिन की भाँति एक रात्रि पिता के शरीर को तेल लगा रहा था, वे खर्राटे की नींद लेने लगे और वह तेल लगाता ही रह गया। मुर्गे ने बाँग दी और पिता जग गये। उन्होंने कहा– भोर हो गया क्या? उसने सिर झुका लिया। पिता ने कहा कि जाओ! जाओ! जाओ! सो जाओ! ऐसा प्रायः कभी एक घण्टा, कभी दो घण्टे, कभी तीन घण्टे विशेष हो जाया करता था। सोचता था कि सगुण देवता तो सामने हैं, इनकी अनुचित आज्ञा मानूँ चाहे न मानूँ, लेकिन सेवा करना तो मेरा धर्म है। इसप्रकार माता–पिता की सेवा करता गया। जिसका परिणाम हुआ कि नौ महीने होते–होते बहुत कुछ उपलब्धि हो गयी। डेढ़–दो साल में साधना के अन्तर्गत बहुत उन्नति हो गयी। तीन साल में तो कहना ही क्या था! वे वरदान देने की सामर्थ्यवाले तो थे नहीं, अतः सेवा होती थी उनकी और प्रसन्न होता था मेरा भगवान। वह ऐसा प्रसन्न हुआ, ऐसा प्रसन्न हुआ कि सहजता से संन्यास दे दिया, फिर–फिर मैंने घर–बार की तरफ मुड़कर नहीं देखा।

कोई यह निश्चित नहीं है कि सेवा से जीव (माता–पिता) प्रसन्न ही हो जायेगा। हाँ, भगवान अवश्य प्रसन्न हो जायेगा; क्योंकि मौलिक रूप में उनकी आत्मा वही तो है। इसप्रकार जिस कर्म को आप विवशतावश करते आये हैं, स्वार्थवश करते आये हैं, उसी कर्म को भगवान की कामना से करने लगें तो कुछ ही वर्षों में या तो घर में ही ज्ञानयोग की प्राप्ति हो जायेगी या संन्यासाश्रम में संन्यास फलित हो जायेगा।

(न च सन्न्यसनादेव...) यदि आपने मोहवश कर्म का त्याग कर दिया है तथा संन्यासी बन गये हैं तो वह संन्यास फलित नहीं होगा। बाहर से भले ही आप संन्यासी बन गये हैं लेकिन भीतर से आप गृहस्थ ही हैं।

महाराज से एक साधक मिला। देखने में लगता था कि कितना बड़ा संन्यासी है। उसने कहा कि किसी तांत्रिक ने मेरे ऊपर जादू–टोना कर दिया है। महाराज ने कहा– कैसे जाना आपने? उसने कहा– ज्योतिषी ने बताया। महाराज ने कहा– अरे, राम, राम! अब तो हिमालय ही भागना होगा। अरे! आत्मानन्द! रामानन्द! अरे आओ सब! इधर देखो! गंगाजी के किनारे रहनेवाले संन्यासी को भूत लग गया है। इनके भूत को भगाओ, ये कर्मकाण्ड से भूत को भगाना चाहते हैं। संन्यासी और भूत? संन्यासी और ऐसी विडम्बना? उस साधक से महाराज ने कहा कि हे संन्यासी देवता! आपने तो एक झटके में सद्गुरु एवं माँ गंगा की शक्ति–सामर्थ्य को भूत के सामने किनारे कर दिया। इनसे तो आपका भूत ही बलवान हो गया। ऐसा सुनकर तो लाज को भी लाज आ जायेगी। अरे! इस गंगा माँ से क्यों नहीं कहते कि तेरे दर्शन से ही मुक्ति हो जाती है जबकि मैं तो रोज स्नान भी कर रहा हूँ। अतः यह भूत का बन्धन कहाँ से आ गया? मेरी

मति मारी कैसे गयी?

(न हि कश्चित्क्षणमपि.....प्रकृतिजैर्गुणै:.....) इस मंत्र के द्वारा प्रकृति का अर्थ निकलता है– रजोमय, तमोमय एवं सतोमय। ये आपके प्रारब्ध की तीन धारायें हैं, जो अनवरत प्रवाहित होती रहती हैं अर्थात् शुभ–अशुभ एवं मिश्रित विचारों के अनुसार तीन प्रकार के कर्म होते ही रहते हैं। शुभ विचार देवलोक देता रहता है, अशुभ विचार नरकलोक देता रहता है तथा शुभ–अशुभ मिश्रित विचार मनुष्यलोक (कर्मलोक) देता रहता है। ये ही तीन प्रकार के कर्मानुसार फल हैं। ये ही तीन प्रकार के कर्म अहर्निश आपके चाहने न चाहने पर भी होते ही रहते हैं। जैसे पृथ्वी से फूल, काँटे एवं फलदार वृक्ष उगते अर्थात् प्रकट होते रहते हैं। यह क्रम पुरातन काल से ही चला आ रहा है। किसान का काम है कि वह खेत की जुताई करे फिर बीज की बुआई करे, समयानुसार फसल से घास–फूस की निराई (निदायी) करे और फसल पकने पर उसे काट ले, निकाल ले, घास–फूसों की चिन्ता न करे; क्योंकि वे तो नैसर्गिक हैं, उनको जड़–मूल से समाप्त करना चाहेंगे तो पहले तो वे समाप्त होंगे नहीं, यदि किसी जहरीली दवा से आपने उसके बीज को नष्ट कर दिया तो वह मिट्टी ऊसर हो जायेगी, फिर उसमें से कोई फसल आप ले ही नहीं सकते, कोई बीज अंकुरित होगा ही नहीं। उसीप्रकार जाग्रत् क्या स्वप्नलोक में भी कर्म तो होते ही रहते हैं, उन कर्मों को आप रोक नहीं सकते। हाँ, प्राकृतिक कर्म अपना काम करे और किसान की तरह आप अपना काम करें अर्थात् अपना स्वाभाविक धर्मरूप कर्म करते रहें। वह धर्मरूप कर्म ही एक दिन अकर्म होकर नैष्कर्म्यसिद्धि दे जायेगा।

सम्पूर्ण भूतप्राणी अनवरत अपने–अपने कर्मों में ही स्वाभाविक लगे रहते हैं। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे आदि खाने, पीने, सोने में लगे रहते हैं। यही नहीं, सभी एक–दूसरे के लिए काल भी हैं। आप चाहे भले अकर्मण्य हो जायँ लेकिन आपका शरीर तो बड़ा–छोटा, दुबला–पतला, जवान–बूढ़ा होता ही रहता है, वह बैठा कहाँ है? नींद आ रही है, वह बैठी नहीं है, जाग्रदवस्था बैठी नहीं है, सुषुप्ति अवस्था बैठी नहीं है, विचार बैठे नहीं हैं, तो फिर आप ही बैठने का ढोंग क्यों कर रहे हैं? आपका बैठना भी तो कर्म करने जैसा ही है? ऐसा समझ–बूझकर आप आत्मचिन्तनरूप कर्म में लग जायँ। और भी इन्हीं मंत्रों को भगवान विस्तार से बता रहे हैं–

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते॥ ६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते॥ ७॥

कर्मेन्द्रियों को रोककर जो शब्द, स्पर्शादि विषयों का सेवन मन से करता रहता है, वही पाखण्डी एवं ढोंगी कहा जाता है। ठीक इसके विपरीत जो मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अर्थात् इनसे अनासक्त होकर समस्त इन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्म करता है वही बुद्धिमान पुरुष सर्वश्रेष्ठ कर्मयोगी कहा जाता है।

कर्मेन्द्रियों में यहाँ, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को लेना चाहिए। साधना के चार चरण होते हैं, जिसमें भगवान प्रथम चरण में कर्मों को शरीर से नहीं मन से ही करने को कह रहे हैं। यह दैवी शरीर दो भागों में बँटा हुआ है– एक स्थूल एवं दूसरा सूक्ष्म। स्थूल इन्द्रियों सहित स्थूल शरीर एक भाग तथा मन सहित बुद्धि, चित्त और अहंकार मिलाकर दूसरा भाग। सभी जानते हैं कि आँख का काम है देखना, कान का सुनना, नाक का सूँघना, जिह्वा का रस लेना, त्वचा का सर्दी–गर्मी का अनुभव करना (स्पर्श करना); इसीप्रकार मन का मनन करना, बुद्धि का चिन्तन करना, चित्त का ध्यान करना, अहंकार का 'मैं' और 'मेरा', 'तू' एवं 'तेरा' रूप अशुद्धज्ञान को स्वीकार करना अर्थात् अज्ञान को धारण करना। जिस दिन से आपमें आत्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट हो जाए, चाहे किसी संत के संसर्ग से या सहज ही अपने–आप हृदय से, तो किसी के पास उसे प्रकट न करें। यदि संत के माध्यम से प्रकट हुई है जिज्ञासा तो उनसे भगवत्–चिन्तन या भगवन्नाम ले लें और स्वयं से जिज्ञासा हुई है तो उसके पूर्व जिस भगवान के नामरूप में श्रद्धा हो, उसी को मन में धारण कर लें। जैसे किसी को राम, किसी को कृष्ण, किसी को शिव, किसी को विष्णु, किसी को दुर्गा, किसी को गुरु में प्रीति स्वाभाविक होती है। अतः जिसको जिसमें प्रीति हो उसी के नाम का मन से स्मरण करना प्रारम्भ कर दे अर्थात् धीरे–धीरे जप प्रारम्भ कर दे। जप से थकान हो, उबान हो तो उसी नाम एवं रूप का चिन्तन करें। यदि उससे उच्चाटन हो तो उसी के रूप को, उसकी लीला को, स्मरण करें तथा मैं उन्हीं का हूँ, अब किसी का मैं न पुत्र हूँ, न पिता हूँ, न मित्र हूँ, न वैरी हूँ, सब भगवान के हैं और मैं भी भगवान का ही हूँ; इसप्रकार मन–बुद्धि, चित्तादि का कर्म चाहें तो आप करते भी रहें और कोई जाने भी नहीं। सौ में से पंचानबे (९५) कर्म ऐसे हैं, जिनमें मन, बुद्धि, चित्त की उपयोगिता है ही नहीं, जैसे खाना–पीना, सोना–जागना, गप करना, हँसी करना, समाचार पूछना, रोटी पकाना, चारा काटना, हल जोतना, गाड़ी चलाना, कसरत करना, नहाना–धोना, शौच करना, बर्तन माँजना, झाड़ूँ लगाना, तेल–साबुन लगाना, कंघी करना, किसी बड़े–बुजुर्ग एवं माता–पिता की सेवा करना, कहीं यात्रा करना इत्यादि–इत्यादि। अतः आँख, कान, हाथ, पाँव आदि से इन कर्मों को करते रहें तथा मन में भगवान के नाम का जप करते रहें, किसी को जनाएँ नहीं, बतावें नहीं, फिर देखें कुछ महीने में जप स्वाभाविक हो जायेगा। जब मन का पेट जप से भरेगा तो उस रूप का चिन्तन स्वाभाविक होगा। कुछ महीने में वह रूप सपने में भी आना प्रारम्भ कर देगा। उसके उपरान्त तो एक ऐसा दिव्य चमत्कार होगा कि आप देखते रह जायेंगे? वह क्या? सद्गुरु मिल जायेगा उसके उपरान्त तो भगवान से विशेष प्रीति हुई कि माता–पिता एवं अन्यान्य स्वजनों से बिना प्रयास मोह (राग) समाप्त हो जायेगा। अब सद्गुरु से प्रेम होते ही उससे आत्मचिन्तन की कला सीख लें तथा उसी की अध्यक्षता में आत्मचिन्तन का प्रयोग प्रारम्भ करें।

आत्मचिन्तन का प्रयोग क्या है यदि ऐसा आप पूछते हैं तो देखें– जब उसने बता दिया कि आप आत्मा हैं, आप अकर्ता हैं, प्रारब्ध (प्रकृति) ही इन्द्रियों द्वारा कर्म करता रहता है तो बस आप वहाँ भी प्रथमावस्था में स्थूल इन्द्रियों से कर्म होने दें और ऐसी धारणा बना लें कि मैं तो

कर्ता हूँ ही नहीं। यही नहीं, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान को सहन करने का प्रयत्न करें तो थोड़ी सी सजगता में ये सब शरीर के बाहर–बाहर काम करते हुए प्रतीत होंगे। इसप्रकार करते–करते जब कुछ वर्ष बीत जायें तब आप लोगों की दृष्टिपथ में आते हैं तो हानि नहीं है। कैसे? ऐसे कि उस समय स्थूल कर्मों से अरुचि स्वाभाविक ही होगी, वैसी अवस्था में व्यवहार में कमी भी आयेगी लोग फिर चिढ़ें तो चिढ़ते रहें, दुःखी हों तो दुःखी होते रहें, अब तो ज्ञान–ध्यान और विज्ञान की बरसात प्रारम्भ हो जायेगी लेकिन जबतक यह सिद्धि न मिल जाय तबतक आप प्रकट ही न करें कि मैं जप, तप, योग भी करता हूँ, अन्यथा प्रारम्भ में ही आपने प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया तो हाय लग जायेगी, नजर लग जायेगी, फिर तो आप बातूनीज्ञानी होकर ढोंगी–पाखण्डी हो ही जायेंगे। आध्यात्मिक साधना में प्रदर्शन ही तो बाधक है। जबतक आप अपनी निष्कामता की स्वयं परीक्षा नहीं कर लेते तबतक आप कैसे कह सकते हैं कि मैं भगवान का हूँ। उसकी जाँच कैसे होगी? यदि ऐसा पूछते हैं तो इसका उत्तर है कि आपका प्रिय असमय में मरेगा लेकिन आपके चित्त में अंशमात्र भी विषाद नहीं होगा, आपकी प्रिय वस्तु का नाश होगा किन्तु थोड़ा भी विषाद नहीं होगा, आपका अकारण अपमान होगा परन्तु झुँझलाहट नहीं आयेगी, कोई–कोई आपको सतायेगा पर आपको उनसे द्वेष नहीं होगा। जब ऐसी सिद्धि मिल जाय तब घोषणा कर दें कि मैं एकमात्र भगवान का हूँ, फिर भगवान आपको ढोंगी, पाखण्डी नहीं कहेंगे।

महाराज के गुरुदेव प्रायः एक कथा कहा करते थे। इस कथा से ढोंग एवं पाखण्ड क्या है, इसे समझने में सुगमता हो जायेगी। एक मंदिर में एक पुजारी नित्यप्रति भगवान का पूजा–पाठ किया करता था, आरती उतारा करता था। ठीक मंदिर के सामने ही कुछ दूरी पर वेश्या का मकान था जिसके पास चाहे जब उसके ग्राहक आया–जाया करते थे। उसके उन ग्राहकों को उसके पास जाते हुए पुजारी देखता था। देखते–देखते उसके मन में वेश्या याद आने लगी। वह सोचने लगा कि ओह! आज इस भगवान की मूर्ति का पुजारी नहीं होता तो मैं भी इस वेश्या का भक्त होता, ग्राहक होता। उधर जब भगवान की आरती होती, घड़ी, घण्टा, नगाड़े बजते तो वेश्या खिड़की के पास से देखकर आनन्दमग्न हो जाती, आँखों से आँसू बह चलते और सोचती– ओह! मैं भी क्या अभागिन हूँ! इस दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं है! आज वेश्या नहीं होती तो मैं भी भगवान के सामने जाकर उनकी आरती उतारती। यही मन से सोचने का नित्य का क्रम दोनों का हो गया था। संयोग ऐसा आया कि दोनों के प्राण–पखेरू एक ही दिन, एक ही मुहूर्त में उड़ गये, निकल गये। दोनों का सोलहवें दिन भण्डारा हुआ, भण्डारे के समय एक सिद्ध संत आये और वेश्या के भण्डारे की तरफ जाने लगे। लोगों ने कहा– महाराज! महाराज! आपका भण्डारा यहाँ मंदिर के पास है। संत ने पूछा– क्यों? लोगों ने कहा– इसलिए कि पुजारीजी का यही भण्डारा है। संत ने पूछा– कैसा पुजारी? कौन पुजारी? इस मंदिर का पुजारी– लोगों ने कहा। संत ने कहा– इस मंदिर के भगवान की पुजारिन तो वह थी, जिसे आप सब वेश्या समझते हैं। बहुत तर्क करने पर संत ने दोनों पक्षों के एक–एक व्यक्ति को ध्यान में बिठाकर योगबल से दिखाया कि 'वेश्या स्वर्ग में एक सिंहासन पर बैठी है, दिव्य देवतागण

उसका स्वागत कर रहे हैं, सम्पूर्ण ऐश्वर्य वहाँ उपस्थित हैं। वहीं एक कोने में सामने ही नरक–कुण्ड में पुजारीजी गोते लगा रहे हैं। दोनों भक्तों का ध्यान टूटा और उन्होंने संत से पूछा– ये क्या महाराज! ये क्या है! संत ने कहा– हाँ! वेश्या नित्य मन से भगवान के पास रहती थी, तन से विवशतावश वेश्यावृत्ति करती थी, बाद में तो उसने वेश्यावृत्ति भी छोड़ दी थी। तथा ये पुजारीजी मन से वेश्यागामी ही हो गये थे, जिसका परिणाम आप सबके सामने है।

स्वयं महाराज सन् १६६३ में अपने गुरुदेव के साथ गाड़ी (कार) द्वारा हिमाचल से सासाराम (बिहार) जा रहा था। रास्ते में अयोध्या में विश्राम हुआ। सुबह जल्दी चलना था, स्नान आदि के उपरान्त गुरुदेव ने कहा– जल्दी चलना है न! इसलिए यहाँ मंदिर आदि जाना है तो जाकर देख आओ। अतः लाओ आज गीताजी का पाठ मैं ही कर देता हूँ। तब महाराज ने हँसते हुए गुरुदेव से कहा– गुरुदेव! पाठ तो हो गया! उन्होंने पूछा– कब! किसने किया? महाराज ने कहा– मैंने। शौच, मंजन एवं स्नान करते–करते लगभग गीताजी का पूरा पाठ हो गया। गुरुदेव! यह पाठ आज सबके बदले मान लिया जाय। गुरुदेव ने प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लिया।

भगवान को आपके तन से क्या लेना–देना है। उन्हें तो सर्वप्रथम आपका मन चाहिए, जिसका खुलासा भगवान ने पूरी गीताजी में जगह–जगह किया है। अरे! देवमंत्र, देवीमंत्र जैसे महामृत्युञ्जय, गायत्री, नवार्ण एवं वैदिक मंत्रों का जप ही तो शरीर की शुद्धि की अपेक्षा रखता है, पुराण एवं वेद ही तो पाठ करते समय आसन, अशन, वसन की शुद्धि चाहते हैं! भगवान का नाम एवं भगवत् चरित्र का गायन करनेवाले ग्रन्थ जैसे– रामचरितमानस, वाल्मीकि रामायण, योगवासिष्ठ, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता और पुराणों में श्रीमद्भागवत महापुराण आदि तो शरीर की शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते। इन्हें आपके शरीर से क्या लेना–देना? आपके शरीर की अपवित्रता से ये तो कभी अपवित्र होते ही नहीं न! लेकिन शुद्धि–अशुद्धि के विषय में सोच–सोचकर ही तो बहुमूल्य समय बीता जा रहा है।

संन्यासाश्रम में भी आकर किसी साधक को चमकीले एवं भड़कीले वस्त्रों को पहनने का मन क्यों करता है? इसलिए कि घर में उसके पास वस्त्रों का अभाव था। आश्रम में भी उसे चरपरे, चटकदार तथा खीर–पूड़ी एवं हलवा खाने का मन क्यों करता है? इसलिए कि घर का वह भुक्खड़ था तथा आश्रम में आकर वह कमरे में जप, तप, योगादि क्यों करना चाहता है? इसलिए कि उसके पास कमरों का अभाव था। इतना ही नहीं, बल्कि आश्रम में खाना, कपड़ा एवं मकान के लिए छीना–झपटी होते देखकर लगता है, यह ढोंगियों की टोली है, अवश्य इन्होंने घर में योग, जप, तपादि का दिखावा किया है, ढोंग किया है। यदि ऐसा नहीं होता तो उनके मन का वैराग्य बाहर तन से बरसता हुआ दिखाई देता।

दो मित्र एक संत के पास ठहरे हुए थे। संत ने एक कम्बल एक मित्र को उठाकर दे दिया। पाँच–सात मिनट के बाद दूसरे कम्बल को उठाकर उसके दूसरे मित्र को दे दिया। बाहर जाने पर पहले मित्र ने दूसरे से पूछा– क्या तूने इस कम्बल की इच्छा की थी। दूसरे ने कहा– इच्छा की तो नहीं थी; हाँ, जब तुम्हारे को यह कम्बल मिला तो मुझे लगा कि ये एक कम्बल

मेरे को देने के लिए रखे हैं, ऐसा मन में आते ही उन्होंने कम्बल मुझे भी दे दिया। पहले मित्र ने कहा कि यदि तुम्हारे लिए रखा होता तो तुम्हारे आते ही तुम्हें कम्बल दे दिये होते। पाँच–सात मिनट बीतने का मतलब है कि इस कम्बल को उन्होंने किसी दूसरे को देने के लिए रखा था। देखना, यह कम्बल तुम्हारे काम नहीं आयेगा। सच में उसने पुनः मिलने पर अपने प्रथम मित्र को बताया कि तुमने ठीक ही कहा था। वह कम्बल अपने तो गया ही गया, साथ में दूसरा कम्बल भी लेकर चला गया। उसने बताया कि कहीं जीप से जा रहे थे। पीछे कम्बल रखा था, वह कब और कहाँ दूसरे कम्बल के साथ गिर गया, पता ही नहीं चला। जबकि उसे संत से कहना चाहिए था कि प्रभु! मेरे पास तो कम्बल पर्याप्त हैं, इसे किसी और को दे दें। हाँ, यदि वे कहें कि नहीं, यह तो आपके लिए ही रखा था, तब तो कोई बात ही नहीं थी।

आपके पास विषय आते हैं तो क्या प्रमाण है कि वे आपके निमित्त ही हैं। अतः सावधानी बरतनी होती है। उचित तो यही होता कि आप मन में उठनेवाली वासनाओं, विषयों को स्वीकार नहीं करते तथा मन से प्रभुनाम या रूप स्मरण करते तथा तन से परिवार के आदर्श के अनुरूप व्यवहार करते।

उपरोक्त मंत्र गृहस्थाश्रमी भक्त के लिए अति सार्थक है; क्योंकि वहाँ तो अपने तन पर माता–पिता का, बाल–बच्चों का, भाई–बान्धवों का, हित–मित्रों का तथा समाज का, गाँव का, क्षेत्र का, अतिथि का, भिखारी का, कुलगुरु (पुरोहित) आदि सबका अधिकार है। यदि भगवान का काम पूरा हुए बिना, भगवान के ध्यान में पूरा मन लगे बिना उनकी सेवा–शुश्रूषा को छोड़ देते हैं तथा जप, ध्यान के समय विचारों का, विषयों का चिन्तन करते हैं तो निश्चित ही आप ढोंगी या मिथ्याचारी कहे जाते हैं।

अब आगे इसका पुनः विस्तार देखें–

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

(नियतं कुरु कर्म त्वं.....) हे कौन्तेय! अपने लिए नियत किये गये स्वधर्मरूप कर्म को ही करना चाहिए, अज्ञानता में कर्म त्यागने की अपेक्षा ज्ञानमय कर्म करना श्रेष्ठ है। (जबतक ज्ञानमय ध्यान, जप, तप, योग में मन उतर न जाये तबतक एक ग्रास खाने का भी किसी को अधिकार नहीं है) ऐसा नहीं करने से शरीर का निर्वाह भी तो अच्छी तरह से नहीं हो सकेगा। यही नहीं, तुम जो समझते हो कि बन्धन का कारण तो कर्म ही है, तो ऐसी बात नहीं है, यज्ञभाव से विपरीत किया हुआ कर्म ही बन्धन कारक होता है। इसलिए मुक्ति की चाहना करनेवाले को सर्वप्रथम यज्ञभाव से कर्म करना ही चाहिए।

जिसकी जो वस्तु है, उसको समर्पित कर दें– सर्वप्रथम तो सबके लिए यही कर्म नियत किया गया है। तो कौन सी वस्तु किसके लिए है? हाँ, स्थूल इन्द्रियों सहित शरीर तो माता–पिता एवं घर, परिवार, समाज का है लेकिन मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भगवान के हैं। तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि शरीर को भगवान ने नहीं बनाया? नहीं, नहीं! ऐसा नहीं है। शरीर को, इन्द्रियों को बनाया तो भगवान ने ही लेकिन इसका लालन, पालन, पोषण किया इन लोगों ने। मात्र इतना ही करने से इस शरीर पर सर्वप्रथम इनका अधिकार हो जाता है। हाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि पर इनका अधिकार है ही नहीं; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त को तो बनाया भगवान ने और बिगाड़ा इन्होंने। जितनी लगन, निष्ठा एवं मोह के साथ ये लोग शरीर को बनाने में लगे रहे, उतनी ही लगन एवं निष्ठा के साथ मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार को बिगाड़ने में भी लगे रहे। यदि इन्होंने मन, बुद्धि, चित्त आदि को सँवारा होता तो सर्वप्रथम शैशवावस्था से ही बच्चे को आत्मबोध से सम्पन्न कराते। माँ मदालसा, देवहूति एवं माँ अनसूया जैसी माताओं जैसा कहते कि शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि तात, किं रोदसि! तुम तो शुद्ध हो, बुद्ध हो, साक्षी हो, चेतन हो, आत्मा हो; क्यों रोते हो! इसप्रकार हलराते–दुलराते एवं प्यार करते हुए भौतिक विद्या के साथ–साथ आध्यात्मिक विद्या को पढ़ने के लिये भी सद्गुरु के पास भेजते लेकिन इन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः अपने शरीर पर इनका तबतक अधिकार है जबतक मन, बुद्धि, चित्त आदि का मुख भगवान की तरफ नहीं हो जाता अर्थात् जबतक अहर्निश भगवान ही याद आने नहीं लगता। फिर तो वैसी अवस्था में तन भी सम्पूर्णता से भगवान का हो ही जायेगा, इनके घेरे से बाहर हो ही जायेगा; क्योंकि नियम है कि सम्पूर्णता से मन जिधर चला जाता है, उधर ही तन भी चला जाता है तभी तो मन अज्ञानावस्था में सम्पूर्णता से स्वजनों की तरफ है, जिसका परिणाम है कि तन भी उन्हीं का होकर रह गया है। अब ठीक इसके विपरीत तन, मन से पूरी तरह भगवान का होना है तो सर्वप्रथम मन को भगवान से जोड़ना होगा और वह भी चुपके–चुपके। तन का नियत कर्म अलग निर्णय किया गया है एवं मन का अलग। शरीर को पूरी तरह माता–पिता, भाई–बान्धवों की उचित सेवा में लगा दें, उसमें प्रमाद न करें; उनको खिला के खायें, सुला के सोयें, स्नान करा के स्नान करें। घर में झाड़ू लगाने से लेकर हल चलाने आदि तक अपने अधिकार में जो भी कर्म दिया गया है, उसे निष्ठा के साथ करें और मन ही मन उनके प्रति देवभावना करते रहें, उनको निमित्त समझ लें, भगवान को कारण समझ लें। ऐसा समझें कि मैं इनके द्वारा भगवान की प्रसन्नता के लिए ही कर्म कर रहा हूँ। जैसे महात्मा अर्जुन ने पूरी निष्ठा के साथ माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं गुरुजनों की सेवा–शुश्रूषा तप और त्याग के साथ की थी, गुडाकेश होकर की थी अर्थात् निद्रा, आलस्य, प्रमाद को त्यागकर की थी; यही नहीं जितेन्द्रिय होकर की थी, वैसे ही आप भी करें। परिणाम होगा कि जिस समय उनका ऋण उतर जायेगा उसी दिन आपको भगवान या तो संन्यासी बना देगा या तो राजा जनक बना देगा। इस बात को भी आप अच्छीप्रकार जान लें कि जिन स्वजनों को महात्मा अर्जुन ने सम्पूर्णता से अपना तन–मन दे दिया था उन्हीं स्वजनों का प्रभु ने अर्जुन के माध्यम से तन ही ले लिया था अर्थात् युद्ध में अर्जुन के माध्यम से ही मरवा डाला था। अतः ऐसा जानकर आप अपने नियत किये हुए

स्वधर्म को क्यों नहीं करते हैं? अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों से विरोध क्यों करते हैं? यदि वे विरोध के ही अधिकारी हैं तो आप के बदले भगवान स्वयं आकर विरोध करेगा। यदि कोई कहता है कि अत्याचार करनेवाले की अपेक्षा अत्याचार सहनेवाला अधिक पापी होता है तो भक्तिपक्ष में ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ध्रुव, प्रह्लाद ने स्वयं अत्याचार सहन किया है। उन्होंने भगवान का भजन किया है अपने मन से और माता–पिता तथा स्वजनों की सेवा की है उनके मन से। यदि आपके तन का कोई दुरुपयोग करता है तो कितने दिन कर पायेगा, प्रभु उस दुरुपयोगी का तन ही आकर कभी छीन लेगा। महात्मा अर्जुन के तन का मानो कौरवों के साथ–साथ गुरुजनों ने भी खूब दुरुपयोग किया, तभी तो भगवान ने आकर अर्जुन के ही तन के माध्यम से उनलोगों के तन को धराशायी करा दिया। यही नहीं, प्रभु ने देखा कि इस जितेन्द्रिय महावीर को अपने धर्म में रहनेवाले परम त्यागी पुरुष को उसके बाल–बच्चे भी खूब सतायेंगे, उसके तन का खूब दुरुपयोग करेंगे; अतः अभिमन्यु के साथ–साथ उसके सारे पुत्रों के तन को भी छीन लिया तथा उसको ऐसी भूमि पर लाकर खड़ा किया जहाँ उसका दुरुपयोग करनेवाला कोई नहीं था। परिणाम हुआ कि अन्तिम चरण में महाराज युधिष्ठिर के साथ ही उसने सदा–सर्वदा के लिए संन्यास ले लिया।

अपने प्रति निश्चित किये हुए कर्तव्य कर्म का अध्ययन करना चाहिए। कहीं आप पिता हैं, किसी के पास आप पुत्र हैं, किसी के पास आप शिष्य हैं तो किसी के स्वामी भी हैं; अतः पिता, पुत्र, शिष्य, स्वामी आदि सबका स्वधर्म क्या है, यह जानना होगा। मनमाना तो आप को करने की छूट दी ही नहीं गयी है। गृहस्थाश्रम में रहना भी टेढ़ी खीर ही है, तभी तो राजर्षि हरिश्चन्द्र, रघु, रन्तिदेव, युधिष्ठिर आदि महात्माओं पर भारी दुःख आ पड़ा था। हाँ, यह बात अलग है कि नियत कर्म एवं स्वधर्म को वे सब जानते थे, अतः उन्होंने उस दुःख को दुःख नहीं समझा। यदि आप अपने धर्म के अनुसार नहीं रहते हैं, तो आप ही पाखण्डी एवं ढोंगी हैं। किसी गेरू वस्त्रधारी से प्रारब्ध की विवशतावश कोई अपराध हो जाये तो सब चिल्ला पड़ते हैं और कहते हैं कि कैसा ढोंगी था, साधुवेश बना रखा था और असाधु का कर्म करता था लेकिन भगवान तो आपको भी कहीं उस साधु से विशेष गया–गुजरा मानते हैं; क्योंकि वह तो कभी–कभार असफल हो जाता है, परन्तु आप तो अभी भगवान के विद्यालय में नाम ही नहीं लिखाये हैं और कहते फिरते हैं– मैं ब्राह्मण हूँ। मुर्गीशाला खोल रखे हैं, गोवध हो रहा है, भक्त सताये जा रहे हैं तो भी बिल्ली की तरह घर में बैठे रहते हैं और कहते हैं मैं क्षत्रिय हूँ। चोरी करके खाते हैं तो भी कहते हैं कि मैं वैश्य हूँ। कहते हैं– मैं शूद्र हूँ परन्तु भिक्षा माँगकर जीविका चलाते हैं। यह आपका कैसा धर्म है?

श्यामानन्द ने कहा– गुरुजी! इनकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गयी है। महाराज ने कहा– नहीं, नहीं ये पागल हो गये हैं। उसने कहा– कैसे? इसलिए कि बक–बक किये जा रहे हैं। जिस युवक के विषय में श्यामानन्द कह रहा था वह वहीं बैठा था। उसने कहा– मैं नौ वर्ष से गायत्री का जप कर रहा हूँ। महाराज ने कहा– अच्छा, अच्छा, अच्छा! इसी से पागल हो गये

हो! इसी से नींद नहीं आ रही है! इसी से तुम कह रहे हो कि घोर अशान्ति हो गयी है! किस गुरु से तुमने गायत्री मंत्र की दीक्षा ली थी? उसने कहा– टी. वी. के सिरियल में देखा था। महाराज ने कहा– तो टी.वी. से पूछो कि 'मैं पागल क्यों हो रहा हूँ, नींद क्यों नहीं आ रही है, अशान्ति क्यों हो रही है?' लहसुन–प्याज खाते हो? होटल में खाते हो? उसने कहा– जी! महाराज ने कहा– तो अभी तक तुम्हारा सिर फटा नहीं? गायत्री जपने से तो पागलपन चला जाता है, नींद आने लगती है, सारे दुःख दूर हो जाते हैं लेकिन तुम्हारे साथ सबकुछ उलटा ही हो गया? अरे मूर्ख! सामान्य देवी–देवताओं की पूजा–पाठ करना–कराना होता है तो उस दिन लहसुन–प्याज नहीं खाते हैं लोग किन्तु तुम गायत्री जैसे मंत्र का जप कर रहे हो तथा जो नहीं खाना चाहिए वह खाते हो, जहाँ नहीं खाना चाहिए वहाँ खाते हो तो बात बने कैसे? पुनः महाराज ने पूछा– तुमने जप किया है क्या? उसने कहा– हाँ। पुनः पूछा– तुम श्वास लेते हो? उसने कहा– हाँ। महाराज ने कहा– डेढ़–दो मिनट श्वास रोको। उसने कहा– यह तो रुकेगी नहीं। तब महाराज ने कहा– अरे! फिर तुम श्वास कहाँ ले रहे हो? श्वास तो आ–जा रही है। अच्छा बताओ– सोते हो तुम? कहा– जी। फिर वही बात। अरे! तो जागते क्यों नहीं रहते हो? उसने कहा– ऐसा तो होगा ही नहीं! महाराज ने कहा– जब ऐसा होगा नहीं, तो झूठ क्यों बोलते हो कि मैं सोता हूँ? अच्छा बताओ कि खाते–पीते हो? उसने कहा– जी! महाराज ने कहा– अरे भले आदमी! भूख न लगे, प्यास न लगे तो कैसे खाओगे–पीयोगे? पुनः पूछा– विचार करते हो? कहा– जी! फिर तुमने झूठ बोला। यदि ऐसा है तो विचारों को रोको एक–दो मिनट? उसने कहा– ये तो रुकेंगे ही नहीं। तब महाराज ने कहा– फिर क्यों बक–बक करते फिर रहे हो कि मैंने गायत्री जप किया, मेरी कुण्डलिनी शक्ति जग गयी है। अब जाओ! अन्तर्यामी भगवान जो तुम्हारे एवं सबके हृदय में वास करता है, उससे हर रोज प्रार्थना करो कि 'हे प्रभु! आज तक तो मैंने कुछ नहीं किया, जप, तप, योग भी नहीं किया, मैं तो केवल देखनेवाला हूँ, प्रमादवश अपने को कर्ता मान लिया था। अतः हे जगत्पते! हे शरणागत रक्षक! मेरे पर दया करें, दया करें, दया करें! मुझ अहंकारी के अपराध को क्षमा करें!' पुनः उससे पूछा कि तुम शरीर हो? कहा– जी! फिर नींद में क्यों नहीं कहते कि 'मैं शरीर हूँ' या जगने के बाद भी क्यों नहीं कहते कि मैं स्वप्न का शरीर हूँ? इसप्रकार भगवान से कहना कि हे प्रभु! मैं तो शरीर भी नहीं हूँ, एक मात्र द्रष्टा हूँ; क्योंकि मैं तो इस शरीर को, इसकी क्रियाओं को, इन्द्रियों को, उनके विषयों को, मन की चंचलता को, विकारों को तथा अपनी असमर्थता को देख रहा हूँ। अतः हे प्रभु! मैंने तो न गायत्री का जप किया है, न खाया, पीया और सोया ही है। यही नहीं, मैं तो शरीर भी नहीं हूँ। अतः हे जगत्पते! अब आप ही इन रहस्यों को बताएँ– ऐसी प्रार्थना करो, दो–चार दिन में शान्ति मिल जायेगी, फिर आना। उसने कहा– शान्ति तो अभी ही मिल गयी है, दिमाग हल्का हो गया है। महाराज ने कहा– तो जाओ! थोड़ा अभी एक–दो घण्टे सो जाओ, फिर आना। इतना ही नहीं, तुम तो सोने के उपरान्त चले ही जाना। वहाँ ऐसे ही ध्यानरूप अभ्यास करना और जब शान्ति पूरी मिल जाय यानी बकवास समाप्त हो जाय तो आ जाना; फिर विशेष साधना बतायी जायेगी। जप व्यवस्थित होना चाहिए, चिन्तन व्यवस्थित होना चाहिए, मन व्यवस्थित होना चाहिए, इन्द्रियाँ

व्यवस्थित होनी चाहिएँ। मन जब व्यवस्थित होगा तभी उसमें जप व्यवस्थित होगा, तभी उसमें ध्यान व्यवस्थित होगा, तभी उसमें ज्ञान व्यवस्थित होगा, तभी उसमें योग व्यवस्थित होगा और तभी उसमें समाधि व्यवस्थित होगी तथा जब समाधि व्यवस्थित होगी तब उसमें ब्रह्म व्यवस्थित होगा। बिना इस क्रम के इन सबकी व्यवस्था होगी कैसे?

(नियतं कुरु कर्म त्वं.....) भगवान मानो कह रहे हैं कि अपने नियत कर्म को यदि आप नहीं करते तो एक ग्रास भी आप खाते हैं तो वही ग्रास आपको असुर बना देगा। सद्‌गुरु के पास किसी भी कामना के साथ न रहे, अन्यथा वह कामना ही काम बन जायेगी। वहाँ साधकों के तन, मन एवं बुद्धि की योग्यता को देखकर ही साधना भी नियत (निश्चित) की जाती है; क्योंकि स्थूल तन ,मन, बुद्धिवाले साधकों के लिए स्थूल कर्म नियत करना पड़ेगा और सूक्ष्म तन, मन, बुद्धिवालों के लिए सूक्ष्म कर्म नियत करना पड़ेगा। यदि ऐसा आप स्वीकार नहीं करते हैं तो आपके शरीर की यात्रा भी व्यवस्थित नहीं हो पायेगी, आपका जीवन आपके लिए ही भार बन जायेगा। साधकों को कितना खाना–पीना चाहिए, कितना सोना चाहिए, कितना कर्म करना चाहिए– सद्‌गुरु नियत कर देता है।

सन् २००५ अगस्त में डाक्टर कंचनजी (दुबई) अपने बाल–बच्चों तथा चित्रामाई (बाम्बे) को लेकर महाराज के साथ अमरनाथ भगवान का दर्शन करने चले। बालटाल (कश्मीर) से छोटे वायुयान (हेलीकॉप्टर) द्वारा अमरनाथ भगवान की गुफा तक जाना था। महाराज ने एकान्त में डाक्टरजी से कहा– हवाई जहाज, हेलीकॉप्टर में जाना महाराज को शोभा नहीं देता। महाराज संन्यास आश्रम के बाह्य नियमों का भी पालन करना चाहता है, क्या आप सहयोग करेंगे? उनका मन भारी हो गया; क्योंकि महाराज के बिना वे किसी भी तीर्थ में जाना पसन्द नहीं करते। फिर महाराज ने कहा– आप एक गुप्त बात प्रेमपूर्वक सुन लें फिर जैसा आप चाहेंगे महाराज वैसा ही करेगा। महाराज ने कहा– इतना आप जान लें कि जैसा महाराज करेगा लगभग सभी साधक वैसा ही करेंगे। महाराज एक बार हेलीकॉप्टर एवं हवाई जहाज पर चढ़ता है तो साधक हजार बार उसपर चढ़ेंगे यानी यात्रा करेंगे; यदि महाराज वायुयान से यात्रा करेगा ही नहीं, तो साधक भी उससे यात्रा न करने का संकल्प ले लेंगे। आज आपके लिए आत्मानन्द, अभयानन्द को हेलीकॉप्टर से भेज ही तो रहा है। एक बात और है कि ऐसी कोई आपत्ति–विपत्ति भी नहीं आयी है कि जल्दी जाना है, इसलिए इसके द्वारा यात्रा करना अनिवार्य है! महाराज यदि अपने नियत कर्म में रहेगा तो अमरनाथ भगवान (शंकरजी) स्वयं महाराज के पास आयेंगे। अरे! पैदल इतनी यात्रा करने की सामर्थ्य है नहीं, घोड़े पर भी चलने में परेशानी है तो क्या भगवान शंकर महाराज की विवशता को नहीं समझेंगे! डाक्टरजी ने सहर्ष बात मान ली और वे लोग भगवान का दर्शन करके चले आये; महाराज वहीं बालटाल में ठहर गया था।

एक दिन एक भक्त ने कहा– अब मेरा छोटा बच्चा भी मुझे धक्के देकर निकालना चाहता है। महाराज ने कहा– अच्छा ही तो है! तभी तो आपको नियत कर्म याद आयेगा! आत्मानन्द ने कहा– आपके लिए रास्ता खोला भगवान ने इस बुढ़ापे में। कम से कम आपने संन्यास नहीं

लिया तो आकर यहाँ संतों के बीच सेवा करते हुए रहना चाहिए; ऐसा तो करते नहीं आप और बाल–बच्चों पर शासन कर रहे हैं! भगवान ने आपके लिए नियत किया है कि जब बच्चे बुद्धिमान हो जाएँ तब घर–बार, भाई–बान्धवों, हित–मित्रों का भार उनपर सौंपकर सन्तों की सेवा करें, वहाँ जप–तप और सत्संग के माध्यम से समय बितायें। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो वही बच्चे आपका काल बन जायेंगे, जो अमृत है वही विष बन जायेगा, शरीर की यात्रा पूरी नहीं हो पायेगी। बच्चे ने निकाल दिया घर से अब तो और भी यात्रा पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके ही दुराचार को सबसे कहते फिरेंगे आप। अरे! सामर्थ्य है तो अपनी सम्पत्ति को घर–बार को अपने पास रख लें और उस धुन्धुकारी जैसे बच्चे को घर से निकाल दें या तो आप ही निकल जाएँ दो रास्ते बचे हैं। यदि ऐसा करने से भी शान्ति नहीं मिलती तो इससे सिद्ध होता है कि आप अपने नियत कर्म से अलग हट गये हैं।

किसी की भी यात्रा को, व्यवहार को, यात्रा एवं व्यवहार की संज्ञा नहीं दी जायेगी, जबतक कि आध्यात्मिक गुरु के शरणागत होकर कोई नियत कर्म नहीं करता। ऐसा माना जायेगा कि उसने गमन किया ही नहीं बल्कि वह पीछे की तरफ गिरता चला जा रहा है; इसीलिए तो 'निगुरा मरा तो जग जीया'– ऐसा राजस्थान के लोग कहते हैं अर्थात् सद्गुरु के अनुसार ही कोई कर्म करता है तो उसे कर्ता कहते हैं, महाकर्ता कहते हैं, तभी उसके शरीर का निर्वहन होता है। कैसा निर्वहन? महाराज युधिष्ठिर जैसा, धर्मात्माओं जैसा, महात्माओं जैसा निर्वहन। वैसी अवस्था में उसके मन में कोई शोक–सन्ताप नहीं होता, तभी कहा जाता है कि निर्बाध यात्रा सम्पन्न हो रही है। यदि अज्ञानी एवं विषयी माता–पिता, बाल–बच्चों एवं स्वजनों के माध्यम से जीवन यात्रा हो रही है तो उसे यात्रा नहीं कहते बल्कि इसे तो आसुरी यात्रा कहते हैं, अतः आसुरी लोगों के अनुसार होती हुई यात्रा को यात्रा नहीं कहा जाता।

(यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः.....) यज्ञ के ही निमित्त किये जानेवाले कर्म को कर्म कहा जाता है, यज्ञभाव से रहित कर्म को भगवान कर्म कहते ही नहीं हैं। यहाँ तक कि प्रभु तो भगवद्भाव से भगवत्प्रसन्नता के निमित्त किये जानेवाले कर्म को ही यज्ञ की संज्ञा देते हैं। वे तो सकाम देवयज्ञ को भी यज्ञ नहीं कहते चाहे भले ही वह अश्वमेध यज्ञ ही क्यों न हो। भगवती कौसल्या ने अपने हाथों से घोड़े की बलि दी है। यदि एक जीव की हत्या करने से असंख्य जीवों का कल्याण होना है तो उस हिंसा को, हत्या को, हत्या नहीं कहते, हिंसा नहीं कहते। उस अश्वमेध यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ से भगवान श्रीराम को प्रकट होना है, जिनके शासन काल में मनुष्यों के साथ–साथ हाथी–घोड़े आदि पशु तथा अन्यान्य प्राणी भी अभय होकर विचरेंगे। उसीप्रकार प्रभु की प्रसन्नता या प्राप्ति के निमित्त किये जानेवाले कर्म, धर्म, जोग, जप, तपादि को ही कर्म, धर्म, जोग, जपादि कहा जाता है, अन्य को नहीं।

(तदर्थं कर्म कौन्तेय.....) इसलिए जगत से अनासक्त होकर सद्गुरु में आसक्त हो जायँ तथा उन्हीं की आज्ञा का अनुसरण करें; क्योंकि इस मनुष्यलोक में वे ही साक्षात् नारायण हैं, ब्रह्मा हैं, शिव हैं और विष्णु हैं। सारा विश्व जिसमें वास करता है, उसे विष्णु कहते हैं। सारे

जगत का संचालन उनके हाथ में ही होता है। वे जो निर्णय करते हैं, वही निर्णय विधायिका में भी अपने–आप लागू हो जाता है, अतः इस कर्मरूप यज्ञशाला में उन्हीं की आज्ञा को आप आज्ञा मानें और उनके लिए ही आप कर्म करें। वह कर्म क्या है? हाँ; यदि आप ब्रह्मचारी हैं तो आपके लिए आध्यात्मिक साधना ही नियत कर्म है। अतः आपके साधनपथ में यदि स्वजन बाधा बनते हैं तो उनको त्याग देना आपके लिए नियत कर्म है। आपके लिए वह त्यागरूप कर्म बन्धनकारक नहीं होगा।

(नियतं कुरु कर्म त्वं.....यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र.....) उधर युद्ध के मैदान में मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! तूने आज से पूर्व में भी गुरु द्रोणाचार्य की प्रसन्नता के लिए भौतिक शिष्य के लिए जो नियत किया गया कर्म है, उसे किया है। यदि तुम्हारे मन में आ रहा है कि ऐसा मैंने कब किया, तो याद करो– जब तुमने राजा द्रुपद को बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के सामने लाकर खड़ा कर दिया था। क्या वे तुम्हारे वैरी थे? वे तो तुम्हारे पूज्य थे! तुमलोगों के वे तो शुभ चिन्तक थे, तभी तो इस समय तुम्हारे पक्ष से होकर युद्ध के मैदान में आये हुए हैं। जब भौतिक आचार्य (द्रोणाचार्य) की प्रसन्नता के लिए तुम राजा द्रुपद से युद्ध कर सकते हो, तो मेरे जैसे सद्गुरु की प्रसन्नता के लिए तुम इन द्रोणाचार्य से युद्ध नहीं कर सकते हो? इन्होंने तुमसे दक्षिणा स्वरूप राजा द्रुपद को युद्ध में पराजित कर बन्दी बनाकर लाने को माँगा था, अब तुम्हारे से मैं भी गुरुदक्षिणा में 'इन सबसे भी युद्ध करो' ऐसा माँगता हूँ। महात्मा अर्जुन के मौन ही रहने पर प्रभु ने कहा– तुम्हें मैं ही इस युद्ध को करने को कह रहा हूँ, सो बात नहीं हैं; तुम्हारे नियत कर्म का बोध मैं ही करा रहा हूँ, सो बात नहीं है, बल्कि–

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

कल्प के आदि में यज्ञसहित (कर्मसहित) प्रजा को रचकर प्रजापति ब्रह्म ने उनसे कहा था कि आप सब इस यज्ञ द्वारा हरतरह से समृद्धि को प्राप्त होवें तथा यह यज्ञ आप सब के इच्छित भोगों को प्रदान करनेवाला होवे, आप सब इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करें और वे सब आप सब की उन्नति करें; इसप्रकार निःस्वार्थ भाव से एक–दूसरे की उन्नति करते हुए आप सब परम कल्याण को प्राप्त होवें।

इन मंत्रों के द्वारा सृष्टि रचना के समय ब्रह्म के द्वारा जो भी कुछ उपकार होता है, उसी विषय में संकेत किया गया है। गर्भस्थ शिशु को गर्भ में ही भगवान आत्मज्ञान का उपदेश कर देते हैं, जिसका स्पष्टीकरण चौथे अध्याय में किया जायेगा। यहाँ तो मात्र इतना ही बताना है कि भगवान ने आपसे माँ के गर्भ में ही क्या धर्म है, क्या अधर्म है, क्या पाप है, क्या पुण्य है, क्या कर्म है, क्या अकर्म है, क्या बन्धन है, क्या मोक्ष है, बता दिया है। आप गर्भ से बाहर संसार

में जाकर किन–किन को क्या समझेंगे और समयानुसार उनके साथ क्या व्यवहार करेंगे यह स्पष्ट कर दिया है। इसी से कहा जाता है कि बालक तीन–चार महीने तक भूत, भविष्य और वर्तमान को जानता रहता है लेकिन अज्ञानियों के बीच में रहते–रहते उसके ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है तब वह अज्ञानियों जैसे ही व्यवहारवाला हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि गर्भ में प्रजापति ब्रह्म ने एकमात्र मनुष्यों के लिए ही उनके कर्म–धर्म का उपदेश किया है या अन्य प्राणियों के लिए भी? कुछ टीकाकारों ने प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा से लिया है किन्तु यहाँ पर प्रजापति ब्रह्म का तात्पर्य निर्गुण–निराकार ब्रह्म को ही समझना चाहिए; क्योंकि तिर्यग्योनियाँ उसी ब्रह्म के संकल्प हैं। 'देवता'–'मनुष्य', 'पशु–पक्षी' एवं 'कीट–पतिंगे' ये ही तीन प्रकार के प्राणी कहे जाते हैं, जिनमें सतोगुण से सम्पन्न मनुष्य, देवता कहे जाते हैं, सतोगुण एवं रजोगुण मिश्रित प्राणियों को मनुष्य कहा जाता है तथा तमोमय प्राणियों को पशु–पक्षी, साँप–बिच्छू, कीट–पतिंगा कहा जाता है। इनमें जहाँ सतोगुण प्रधान मनुष्यों के लिए योग, जप, तपरूप कर्म के द्वारा ही जगत में अनासक्त होकर जीवन व्यतीत करने को कहा है, वहीं सतोगुण एवं रजोगुण मिश्रित मनुष्यों को निष्काम यज्ञ, दान, तप करते हुए जीवन यात्रा करने को कहा और तामस तथा राजस मिश्रित पुरुषों को उपरोक्त दोनों प्रकार के साधकों की (मनुष्यों की) सेवा–शुश्रूषारूप कर्म से प्रभु को प्रसन्न करने को कहा है। मनुष्यों के लिए जहाँ भगवान ने योग, जप, तप में कर्म एवं धर्म के साथ रहने का निर्णय किया, वहीं पर पशु–पक्षियों के लिए खाद्य–अखाद्य का निर्णय किया, इसलिए कि प्रभु की यह सृष्टि यज्ञमय है। उसके यज्ञ की पूर्णाहुति अहर्निश हो रही है, वैसे ही यज्ञ पूर्ति का भण्डारा भी अहर्निश चल रहा है, जिस भण्डारे को पाने के अधिकारी मनुष्यों के साथ–साथ कीड़े–मकोड़े एवं पशु–पक्षी भी हैं। भगवान के इस दिव्य भण्डारे में बलिवैश्वदेव की भी व्यवस्था है, जिसके अधिकारी शेर–चीते, सर्प, छिपकली कीट–पतिंगे एवं पशु–पक्षी आदि भी हैं। भगवान ने तो शेर–चीते, साँप आदि मांसाहारी पशुओं से कह दिया है कि 'आप सब मांस ही खाना, लेकिन मनुष्यों का मांस मत खाने लगना अन्यथा वे मनुष्य आप सब के काल बन जायेंगे।' आप सभी जानते हैं कि ये सब भले ही भूखे मर जायें लेकिन मांस के अतिरिक्त अन्न या फल–फूल नहीं खा सकते और न ही बिना आक्रमण किये मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। इसीप्रकार शाकाहारी पशु–पक्षी के लिए विधान कर दिया कि भूखे मर जाना पर मांस मत खाना।

मनुष्यों में भी जिज्ञासु क्या खायें, साधक क्या खायें तथा विषयी क्या खायें, यह भी नियत कर दिया। यही नहीं, किसके साथ क्या व्यवहार कब करें, यह भी निश्चित कर दिया। यहाँ आत्मज्ञान के निमित्त कर्मयोग का प्रकरण चल रहा है, इसलिए मनुष्यों के विषय में ही कहना है। मानव शरीर एक सृष्टि है, जिसमें आँख, कान, नाक, त्वचा आदि प्रजा हैं। शरीररूपी सृष्टि के अन्तर्गत रहनेवाली आँख से अर्थात् आँख में रहनेवाले प्रारब्धों से कहा– तुमलोग आँखों के द्वारा किसी में दोष मत देखना, अशुभ मत देखना; कान के प्रारब्धों से कहा– अशुभ मत सुनना, दूसरे की निंदा मत सुनना, सत्संग सुनना; नाक से कहा– भगवान पर चढ़े हुए फूलों की

ही सुगन्ध लेना; जिह्वा नामक देवता से कहा– तुम प्रभु को स्मरण करके ही खाना; हाथ से कहा– किसी भी प्राणी को मत सताना; पाँव से कहा– अशुभ जगह मत जाना; वाणी से कहा– झूठ मत बोलना, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं प्रणवादि मंत्रों का जप करना। ऐसा नहीं करने से इन इन्द्रियों के देवता कुपित होकर इन इन्द्रियों की शक्ति–सामर्थ्य को समाप्त कर देते हैं। सूर्य के कुपित होने पर आँख अंधी हो जाती है, दिक्पाल के कुपित होने पर कान बहरे हो जाते हैं, सरस्वती के कुपित होने पर वाणी गूँगी हो जाती है, वायु के कुपित होने पर लकवा लग जाता है, अग्नि के कुपित होने पर मंदाग्नि हो जाती है आदि आदि।

यह अत्यन्त गूढ़ात्मक विषय है इसलिए इसे अच्छीप्रकार समझना चाहिए। आँख, आँख के देवता सूर्य तथा सूर्य भगवान की अध्यक्षता में देखनेवाले प्रारब्ध, ये तीन हैं। कान, कान के देवता दिक्पाल तथा दिक्पाल की अध्यक्षता में सुननेवाले संस्कार ये तीन हैं; नाक, नाक के देवता अश्विनीकुमार तथा इनकी अध्यक्षता से नाक द्वारा गन्ध ग्रहण करनेवाले प्रारब्ध ये तीन होते हैं। इसीप्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों के देवता तथा उसमें रहनेवाले प्रारब्ध होते हैं। इतना आप जान लें कि देवता सतोमय होते हैं तथा इन इन्द्रियों में रहनेवाले प्रारब्ध सत्, रज एवं तम तीन प्रकार के होते हैं, जिनमें सतोगुण प्रधान प्रारब्ध सोया सा रहता है और रजोगुण तथा तमोगुणमय प्रारब्ध जगा सा रहता है लेकिन यदि आप इन्द्रिय नामक सृष्टि में रहनेवाले देवताओं को साफ–सुथरा एवं उचित आहार देते हैं तो ये देवता (इन्द्रियाँ) तबतक साथ नहीं छोड़ते जबतक कि भगवान प्राप्त नहीं हो जाता, किन्तु इनको उचित आहार–व्यवहार के साथ न रखा जाए तो ये साधना के बीच में भी साथ छोड़ सकते हैं। इन आध्यात्मिक देवताओं (इन्द्रियों) की सन्तुष्टि के लिए ही है– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि (पातञ्जलयोग दर्शन)। यदि इन प्रारब्धों को भी भगवद्विषय दिया जाय तो ये भी अपने अनुकूल व्यवहार करने लगेंगे। जैसे– वाणी से कुछ साल सत्य बोला जाय तो वाणी नामक देवता प्रसन्न हो जायेगा, जिसका परिणाम होगा कि आप जो भी वाणी से कहेंगे वह पूरा हो जायेगा। कुछ साल तक आप किसी की निंदा न सुने, सत्य ही सुनें तथा कथा–सत्संग ही सुनें तो कुछ सालों में आपके कानों में रहनेवाले संस्कार अनर्गल सुन ही नहीं सकते। यदि नेत्र से कुछ वर्षों तक बुरा देखा ही नहीं तो नेत्रगत देखनेवाले प्रारब्ध बुरा देख ही नहीं सकते। ऐसे ही अन्यान्य इन्द्रिय एवं प्रारब्ध नामक देवताओं के विषय में निर्णय कर लेना चाहिए। आँख नामक देवता तथा आपका निकट का सम्बन्ध है। यदि इस देवता का संयम किया जाय तो नेत्रों द्वारा देखकर किसी के तन, मन, वचनादि में शक्तिपात किया जा सकता है। कान के द्वारा दूरश्रवण, नाक द्वारा दिव्यगन्ध, अन्तर में दिव्यस्पर्शादि सिद्धियाँ इन देवताओं के सन्तुष्ट होने पर स्वाभाविक मिलती हैं। आप सब तो जानते ही हैं कि माँ गान्धारी ने नेत्र–संयम से ही प्राप्त हुई शक्ति से दुर्योधन का शरीर वज्र का बना दिया था। इसप्रकार इन आध्यात्मिक इन्द्रियरूप देवताओं को प्रसन्न (संयम) करना आपके लिए धर्म है। ऐसा करने से वे प्रसन्न हैं तो आप प्रसन्न हैं। वे इन्द्रियाँ, इन्द्रियों में रहनेवाले देवता तथा उनके द्वारा बाह्य विषयों एवं पदार्थों का सेवन करनेवाला प्रारब्ध अर्थात् इन्द्रियाँ, देवता एवं प्रारब्धों को उनका उचित विषय देकर उन्हें आप प्रसन्न करें और

समयानुसार वे भी आपके अभीष्ट मनोरथ को पूरा करें।

(सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा.....) गर्भस्थ शिशु को जिसप्रकार आत्मा आत्मज्ञान देता है, कर्म–धर्म का निर्णय देता है, उसीप्रकार सद्गुरु भी आश्रम में आये हुए ब्रह्मचारियों के शरीर की, तन, मन, वचन एवं बुद्धि की अलग से रचना करता है, जिसे प्रायः साधक नहीं जान पाते। यद्यपि उसके पास आप आत्मज्ञान चाहते हैं तो भी वह उसके पूर्व सामान्य ज्ञान एवं विशिष्टज्ञान को धारण करने की क्षमता देगा। उसके लिए सर्वप्रथम वह आपके लिए कर्म की भूमिका बनायेगा। जबतक शास्त्रीय कर्म की भूमिका आपके पास नहीं होगी, तबतक ज्ञान की भूमिका नहीं प्राप्त हो सकती तथा जबतक ज्ञान की भूमिका नहीं बनेगी, तबतक ध्यान की भूमि तैयार नहीं हो सकती और जबतक ध्यान की भूमि नहीं बनेगी, तबतक समाधि प्रकट नहीं हो सकती। तभी तो कहा जाता है कि आप अपने धर्म–कर्म में नहीं हैं, इसलिए आपके लिए देवता भी अपने कर्म–धर्म में नहीं हैं। आपको अपना अभिलषित पदार्थ एवं विषय अपने–आप प्राप्त नहीं हो रहा है तो देववर्ग कुपित है। गर्भस्थ शिशु सम शान्त रहता है, समुद्रगत मछली सम शान्त बनी रहती है लेकिन आप अशान्त हैं; कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपसे आपका देववर्ग ही अशान्त हो गया है और उसकी अशान्ति से आप भी अशान्त हो रहे हैं? उसीप्रकार सद्गुरु में कहीं दोषदर्शन तो नहीं है, जिस कारण वह आपको नियत कर्म–धर्म नहीं दे रहा है?

प्रायः महाराज कहा करता है कि आप आसन सिद्ध करने के चक्कर में न रहें बल्कि कर्म सिद्ध करने की चेष्टा करें। सर्वप्रथम स्थूल कर्म सिद्ध होगा, फिर तो सूक्ष्म कर्म को सिद्ध करने की योग्यता अपने–आप आ जायेगी।

महाराज के गुरुदेव ने कहा– यह पात्र (पीतल का पतीला) हवा से हिलता हुआ ढक–ढक कर रहा है, इसलिए इसे दीवार पर से उतार कर नीचे ईंटों से जमा दो। महाराज ने पात्र को दो दीवारों के बीच (कोने में) दोनों ईंटों को रखकर उसीपर रख दिया। वह तो वहाँ पर भी ढक–ढक करने लगा। गुरुदेव ने कहा–'ऐसे नहीं! ऐसे!' ऐसा कहकर कोने में थोड़ी जगह छोड़कर दोनों ईंटों को चूल्हे जैसा रखकर उनके बीच में पात्र को जमा दिया। अब ढक–ढक करना बन्द हो गया। महाराज ने अतिप्रसन्न होकर हँसते हुए गुरुदेव से कहा– गुरुदेव! मैं असफल हो गया। मेरी बुद्धि सूक्ष्म नहीं हो पायी है, अन्यथा आपके संकेत को समझ लेती।

स्थूल कर्म जबतक आपका व्यवस्थित नहीं होता, तबतक सूक्ष्म कर्म में मन नहीं लगेगा। वह व्यवस्थित होगा कैसे? ऐसे कि कर्म भी ब्रह्म ही है, ऐसी ब्रह्मदृष्टि के साथ उसे करने की श्रद्धा प्रकट होगी, फिर सूक्ष्म कर्म जप भी ब्रह्म है, तप भी ब्रह्म है, योग भी ब्रह्म है एवं समाधि भी ब्रह्म है ऐसी चित्त में व्यवस्था हो जायेगी। कौन सा कर्म, धर्म, जप, तप योगादि ब्रह्म है? ऐसा प्रश्न करने पर स्पष्ट किया जाता है कि सद्गुरु द्वारा आपके लिए नियत किया हुआ ही कर्म–धर्म, जप–तपादि ब्रह्म है।

भगवती शबरी का सर्वप्रथम कर्म था झाड़ू लगाना, दूसरा कर्म था भंडारा में प्रवेश करना, तब तीसरा कर्म मिला सेवा–शुश्रूषा, सत्संग आदि; अर्थात् श्रीराम प्रभु ने शबरी माँ के बहाने साधना का क्रम सजाया है, जो भक्तियोग के अन्तर्गत आता है। उन्होंने कहा– प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा.....मंत्र जाप मम.....नवम सरल सब सन छलहीना.....। आप यदि कर्म को व्यवस्थित कर रहे हैं, देवताओं को सन्तुष्ट कर रहे हैं तो सर्वप्रथम आपको संत मिल गया। इतने से तो बात बननेवाली नहीं है। तो कहते हैं– उसके कहे हुए वचनों में प्रीति हो जायेगी, यदि ऐसा हो रहा है तो समझा जायेगा कि संत मिल गया। इस जीवजगत में वही परम देवता है, उसी को सन्तुष्ट करने के लिए सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवताओं तथा प्रारब्धों को सन्तुष्ट करना होता है। उस संत के चरणों में प्रीति हो जायेगी उसके उपरान्त निष्कपट होकर सेवा अपने–आप होने लगेगी। यही नहीं, वह जो कुछ बतायेगा धर्म–कर्म एवं भगवत् मर्म, तो वह पचेगा तथा बाहर में फैलेगा; क्योंकि ब्रह्म फैलता है एवं जीव घटता है। आपके दादे–परदादे को कोई नहीं जानता घट गये वे; आप ही उनके नाम को तो जानते होंगे, कभी स्वप्न की याद की तरह वे याद आ जाते होंगे लेकिन उनके व्यवहार को आप भी नहीं जानते। परन्तु श्रीराम प्रभु, भगवान श्रीकृष्ण एवं वेद–पुराण और शास्त्र तथा आत्मज्ञानी संत बढ़ते जा रहे हैं और बढ़ते ही रहेंगे, जबतक सृष्टि प्रकट रहेगी तबतक वे बढ़ते ही रहेंगे। इसप्रकार शिष्य उनके चरित्र को गाता फिरेगा। वह जहाँ जिनलोगों के बीच बैठेगा, वहाँ उसी संत की बातें बतायेगा। तो फिर क्या होगा? यही कि संत (सद्गुरु) जो जप के लिए नाम देगा, उस जप में सहज ही प्रीति हो जायेगी। इतना ही नहीं, 'नाम' ही उसे स्वीकार कर लेगा; फिर इन्द्रियों का दमन करने की शक्ति प्राप्त होगी अर्थात् उनसे अनासक्त हो जायेगा, कर्मों से प्रीति (रुचि, इच्छा) हट जायेगी, उसके उपरान्त तो उसे संतों, साधकों एवं भक्तों में ही रहने का मन करने लगेगा। नाम को जैसे ही आपने धारण किया कि छठी भक्ति आपको वरण कर लेगी।

सन् १९८७ में चन्द्रग्रहण के दिन पुरुषोत्तमजी (आम्बाचन्दन, इन्दौर) के कुएँ पर थे। उस दिन हीरालाल पटेल (आँजना), हरीश नारोलिया, बने सिंह आदि ने कहा– आज हमलोग मंत्रजाप करते हुए जागरण करेंगे। आत्मानन्द भी जागरण करने लगे। उनलोगों के बीच में वे शाम को बैठे एवं सवेरे उठे। उनलोगों ने पूछा– यह क्या? इन्हें तो हमलोगों ने विशेष साधना करते कभी देखा नहीं, ये तो आपकी सेवा ही करते रहते हैं, फिर एक आसन से रातभर बैठे कैसे रह गये? महाराज ने कहा– साधना के लिए बैठते तो रोज हैं रात्रि में, लेकिन डेढ़–दो घण्टे, परन्तु शास्त्र कहता है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी की यदि संत सेवा में, सत्संग में प्रीति हो गयी है, तो शक्ति उसका अनुगमन करेगी। इसी से तो महाराज कहता रहता है कि आसन सिद्धि की आप चिन्ता न करें बल्कि भावसिद्धि, कर्मसिद्धि की चिन्ता करें। भाव सिद्ध है तो कर्म सिद्ध होगा, कर्म सिद्ध है तो सब सिद्ध होगा। इन्द्रियाँ अपने–आप सम शान्त हो जायेंगी, फिर सातवीं भक्ति आपको वरण करेगी। उसका परिणाम होगा कि आप सभी में अपने इष्ट (भगवान) को ही देखने लगेंगे लेकिन तो भी भगवान से भी बड़ा आपको संत ही दिखाई पड़ेगा। फिर तो जो कुछ भी आपको मिल जायेगा उसे आप प्रसादरूप ही मानने लगेंगे, दिव्य सन्तोष प्रकट हो जायेगा, स्वप्न

में भी किसी में दोषदर्शन नहीं होगा। इसका परिणाम होगा कि आपको नवीं भक्ति स्वीकार कर लेगी अर्थात् आप संत से ही क्या, सम्पूर्ण जीवों से छलरहित, कपटरहित व्यवहार प्रारम्भ कर देंगे और वैसी अवस्था में एकमात्र भगवान के ही आश्रित होकर आप रह जायेंगे। अपने भाग्य एवं कर्म से विश्वास हट जायेगा, तन, मन, वचन एवं हृदय में समता प्रकट हो जायेगी। यही भक्तिपथ की साधना का क्रम है। इस भक्तियोग को संक्षिप्त में ऐसे समझ लें– संत का संग मिला, उसके द्वारा दिये हुए सत्संग में प्रीति हुई, उसकी सेवा–शुश्रूषा में मन लगा, चौथा– उसके सिद्धान्त का प्रचार–प्रसार होने लगा, पाँचवाँ– जप ने उसे स्वीकार किया, छठा– इन्द्रिय दमनता आयी, सातवाँ– सारे जगत के प्राणिपदार्थों में भगवद्दर्शन होने लगा, आठवाँ– संतुष्टि मिल गयी। अब किसी में दोषदर्शन करने की सम्भावना समाप्त ही हो गयी तथा नवाँ– सबके सामने छलरहित होकर, अभय होकर समर्पित हो गये।

(देवान्भावयतानेन.....) सम्पूर्ण इन्द्रियों पर, शरीर के अंग–प्रत्यंगों पर देवताओं का वास है, उन्हीं इन्द्रियों में आपके कर्मों (प्रारब्ध) का निवास है, जिसे आप दैव भी कहते हैं। एक तरफ आपका भाग्य है, दूसरी तरफ सौभाग्य है यानी प्रारब्ध के भी दो पहलू हैं– दुर्भाग्य एवं सौभाग्य। कभी सौभाग्य आता है तो सुखों की बरसात प्रारम्भ हो जाती है और कभी दुर्भाग्य आता है तो दुःख सब ओर से नाचते हुए आपको दुःख में नचाने लगता है। कभी उन्हीं इन्द्रियों से (देवताओं से) आपको दुःख मिलता है तो कभी उन्हीं से सुख। जिन आँखों से कभी आप प्रिय वस्तु को देखते हैं, तो रोग लग जाने पर उन्हीं आँखों के कारण से आप कराहते रहते हैं; जिन कानों से मधुर स्वर सुनते हैं, यदि उनमें रोग लग जाता है तो स्वर का सुख जाता रहता है, जिन हाथ–पाँवों से बहुत कुछ करने का गुमान रहता है, यदि लकवा मार दे तो उन्हीं से दुःख–दर्द की प्राप्ति भी होने लगती है तथा आप कराह उठते हैं। इसीप्रकार यह सौभाग्य एवं दुर्भाग्य सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा आपको नचा–नचाकर मारते रहते हैं। यह प्रारब्ध ही इन्द्रियों में रहनेवाला प्रमुख देवता है। वह कुपित तभी होता है, जब आप उसकी यानी इन्द्रियों के देवताओं की खुराक पूरी नहीं करते।

माता–पिता, गुरु, अतिथि आदि ही इन्द्रियों के अधिष्ठित देवता हैं, ये ही घर में पंच देवता कहे जाते हैं। गृहस्थाश्रम में पंच महायज्ञ आदि से इन्हें संतुष्ट करना होता है। शुद्ध धन का उपार्जनकर, इन्हें खिलाकर खायें, इन्हें सुलाकर सोयें, किसीप्रकार का कष्ट न दें। यदि वे अपनी मूर्खतावश कष्ट का अनुभव करते हैं तो उसकी चिन्ता न करें। जबतक आप गृहस्थाश्रम में रहते हैं तबतक उनकी सम्पत्ति तो उनकी है ही, आपके द्वारा उपार्जित सम्पत्ति भी उन्हीं की होती है। अतः जबतक वे हैं, तबतक उनकी सम्पत्ति में छीना–झपटी न करें, बाँट–बूँट न करें अन्यथा भगवान कुपित हो जाता है; इसलिए कि वे आपकी इन्द्रियों के अधिष्ठित देवता हैं। सगुणब्रह्म के पाँच मुख हैं अर्थात् पाँच अंग हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश। अब इन भगवान के पाँच मुखों को आप खिला–पिला के कैसे संतुष्ट करेंगे; क्योंकि वे मुख तो दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। यही नहीं, ये भगवान के पाँच अंग भी हैं, जिनकी सेवा आप कैसे करेंगे? अतः

माता–पिता, गुरु आदि भगवान के ही पाँच सगुण अंग हैं। अपनी माँ ही पृथ्वी का प्रतिनिधित्व कर रही है, अतः वह पृथ्वीरूप है। पिता जल का प्रतिनिधि है, वैसे ही कुल–पुरोहित एवं अध्यापकगण ही अग्निदेवता हैं, अतिथि ही वायु देवता का रूप है तथा आकाशचारी पक्षी एवं दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षी, कुत्ते आदि ही आकाश नामक देवता हैं। आप सब ने सुना होगा कि विश्वरूप भगवान का पृथ्वी ही पाँव है, नाभि के नीचे वस्ति का भाग ही जल है, पेट ही अग्नि है, छाती ही प्राण है तथा मस्तिष्क ही आकाश है। इसप्रकार ये पंच देवता हैं, जिनसे भगवत् साधना की जाती है। साधना के पूर्व में अथवा साधना काल में यदि आपके पाँव ने आपका साथ छोड़ दिया अर्थात् पाँव में कोई भयंकर रोग लग गया तो यह सिद्ध होता है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर आपने पंचमाताओं में से किसी एक माता का तिरस्कार अवश्य किया है। वे पंचमाताएँ हैं– अपनी माँ, पिता की माँ, पत्नी की माँ/पति की माँ, मित्र की माँ और गुरु की माँ। यदि साधनावस्था के पूर्व ही या साधनावस्था में नाभि के नीचे (वस्ति भाग में) कोई रोग लग गया तो पंचपिताओं में से किसी एक पिता या दो पिता या सभी पिताओं का आपने अपमान कर दिया है। ये पंचपिता हैं– अपना पिता, पिता का पिता, पत्नी का पिता, मित्र का पिता तथा गुरु (पुरोहित) का पिता। यदि साधना के पूर्व या साधनावस्था में आपके पेट में रोग लग गया, जिससे कि साधना ही छूट गयी तो आपने पंचपुरोहितों में से किसी एक का या सबका ही तिरस्कार कर दिया है। ये पंच पुरोहित हैं– अपना पुरोहित, गाँव का पुरोहित (गाँव के मुख्य मंदिर का पुजारी), पत्नी का पुरोहित, मित्र का पुरोहित और पुरोहित का पुरोहित। वैसे ही यदि साधनावस्था में हृदयरोग हो जाता है, वायु रोग हो जाता है या लकवा मार देता है तो पंच अतिथियों में से आपने किसी न किसी अतिथि का अवश्य तिरस्कार किया है। वे पंच अतिथि हैं– अपना अतिथि, माँ का अतिथि, पिता का अतिथि, पुरोहित का अतिथि, मित्र का अतिथि। उसीप्रकार यदि साधनावस्था में अथवा उसमें प्रवेश करने के पूर्व ही आपकी स्मृति छिन्न–भिन्न हो गयी है, आपके मस्तिष्क में रोग लग गया है, तो आपने अवश्य ही पंचपशु–पक्षियों में से किसी न किसी का अपमान कर दिया है। वे पंचपशु–पक्षी हैं– गाय, कुत्ता, आकाशचारीपक्षी (गिद्ध, बाज, उल्लू आदि को छोड़कर), चींटी आदि कीड़े–मकोड़े तथा पालतू जीव–जन्तु। इसीप्रकार अन्यान्य तत्त्वों को भी जान लेना चाहिए। अब पुनः ध्यान दें कि आपके पुत्र ने आपका साथ छोड़ दिया है तो आप जान लें कि आपने पंचपिताओं में से किसी न किसी पिता का अपमान किया है। यदि पुत्री साथ छोड़ दे तो जान लेना कि आपने पंचमाताओं में से किसी न किसी माता का अपमान किया है। यदि आपका मित्र साथ छोड़ दे तो जान लेना कि आपने पंचमित्रों में से किसी न किसी का अपमान किया है। इसीप्रकार माता–पिता, पुरोहित और पशु–पक्षी आपका साथ छोड़ दें तो जानना चाहिए कि आपने पंच माताओं, पिताओं, पुरोहितों एवं पशु–पक्षियों आदि में से किसी न किसी को निराश किया है। इतना ही नहीं, आकाश के प्रतिनिधि, आकाशचारी पशु–पक्षी कुपित हो जाते हैं तो आकाश नामक देवता के विकार– काम, क्रोध, लोभ आदि आप पर शासन करने लगते हैं। आकाश को सप्त ऋषियों में से एक ऋषि की भी संज्ञा दी गयी है। यदि आप सप्त ऋषियों की संख्या करते हैं तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु,

आकाश, सूर्य एवं चन्द्रमा; ये ही पुरातन सप्तऋषि हैं, जिनमें आकाश के कुपित होने पर शान्ति नहीं मिलती, सूर्य के कुपित होने पर नेत्र आपका साथ छोड़ देते हैं, चन्द्रमा के कुपित होने पर मन आपका साथ छोड़ देता है और सद्गुरु के द्वारा त्याग दिये जाने पर तो अपनी बुद्धि ही आपका साथ छोड़ देती है।

इसप्रकार भगवान के कहने का आशय तो यह है कि आप कुछ करते ही नहीं हैं लेकिन आपको करने का भाव जगता ही है तो आप आँखों से बुरा न देखें, कानों से बुरा न सुनें, हाथों से किसी की हत्या न करें, पाँवों से वेश्या, जूए एवं शराब की गली में न जायें, वाणी से किसी का अपमान न करें तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों का उचित भाग उन्हें देते जायें। दो प्रकार के देवता तो हैं ही–एक सूक्ष्म, एक स्थूल। महात्मा लक्ष्मण ने सूक्ष्म देवताओं से कहा था कि हे आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी! हे सूर्य एवं चन्द्रमा तथा नक्षत्र–ग्रह, तारागण एवं हे आकाशचारी ऋषि महर्षि, सिद्धगण एवं दिक्पाल! आप सब धैर्य पूर्वक अपनी–अपनी जगह स्थित रहें; क्योंकि प्रभु श्रीराम अब भगवान शंकर के धनुष को उठाकर इसके द्वारा बाण संधान करना चाहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि वे जब इस धनुष पर बाण स्थापित कर दें तो वह अमोघ बाण सृष्टि विनाशक बन जाये; क्योंकि वे एक बार जिस बाण को प्रत्यञ्चा पर धारण कर लेते हैं, तो पुनः वे उसे तरकश में नहीं रखते। उसीप्रकार दूसरा देवता है आपका प्रारब्ध, जिसे आपको उचित दिशा देनी है, जो बहिर्मुख होकर विषयी हो गया है, उसे भगवान का विषय देकर निर्विषयी बनाना है। इन प्रारब्धों को निर्विषयी बनाने के लिए ही वेदों में मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, भूतदेवो भव कहकर इनकी उपासना का विधान किया गया है। भगवान ने गर्भ में आपके तन, मन, वचनसहित बुद्धि की रचनाकर आपसे इस मंत्र को भी कहा था कि ये पाँच देवता हैं, अतः भगवान नहीं देवता ही मानकर इनकी सेवा करना, माँ, पिता, गुरु आदि मानकर सेवा मत करना, अन्यथा आसक्ति होकर मोह हो जायेगा। स्पष्ट देखा ही जाता है कि सूर्य, चन्द्रमा, आकाश आदि देवताओं से न आसक्ति है, न मोह है, जबकि इनके प्रति पूज्यभाव होता है। भगवान ने इन्हें अपना मानने को क्यों नहीं कहा? इसलिए कि 'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।।' अर्थात् पञ्चदेवता, पञ्च अतिथि, पञ्चपशु–पक्षी आदि अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर ही अपनी सेवा–शुश्रूषा करते देखे जाते हैं। माता–पिता आदि के द्वारा, पुत्र–पुत्रियों की सेवा–शुश्रूषा, लालन–पालन करना उनकी विवशता है, क्योंकि उन्हें मोह है। वे अपना मानकर सेवा कर रहे हैं। वे यह समझ रहे हैं कि ये हमारे बाल–बच्चे बड़े होकर हमारा मान बढ़ायेंगे, वृद्धावस्था में अथवा रोगी होने पर हमारी सेवा–शुश्रूषा करेंगे और मरणोपरान्त हमारे उद्धार के लिए जलदान देंगे। आपने देखा होगा कि अपवाद को छोड़कर प्रायः सभी माता–पिता और मित्र आदि तथा भाई–बान्धव, जब आप कर्मपथ का त्यागकर संन्यासपथ की तरफ अग्रसर होते हैं तो विरोध में खड़े हो जाते हैं, जबकि उनका क्षुद्र स्वार्थपना उस समय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः भगवान ने कहा– जब देवता मानकर इनकी सेवा–शुश्रूषा की जायेगी तब इनके प्रति भी मोह नहीं होगा, जैसे किसी अन्य के माता–पिता, बाल–बच्चों के मरने से, दुःखी होने से चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अरे! आप स्वयं देखते

हैं कि मन्दिर के देवताओं से कहाँ मोह होता है। मन्दिर एवं मन्दिर में रहनेवाले देवी–देवताओं की मूर्तियाँ टूटी–फूटी तो उनका जीर्णोद्धार कर दिया जाता है लेकिन उनके प्रति कोई मोह नहीं होता। उसीप्रकार गृहस्थाश्रम एक मन्दिर है और उपरोक्त पञ्चदेवता ही इसमें देवता हैं, जो अपने द्वारा सेवा–शुश्रूषा एवं आदर–मान के पात्र हैं; भगवत् जिज्ञासु को उनके प्रति इतना ही भाव रखना चाहिए, इससे विशेषभाव रखने पर वे अपने लिए घातक हो जायेंगे। भगवद्भक्त से भी वे सेवा के पात्र तो हैं लेकिन अशुभ आज्ञा मनवाने के पात्र नहीं हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर में मन्दिरों की परम्परा बहुत कम देखने को मिलती है, एकमात्र शिव (शिवलिंग) तथा दुर्गा एवं विष्णु आदि मुख्य देवताओं के ही मन्दिरों के होने के कहीं–कहीं संकेत मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि माता–पिता, गुरु–अतिथि आदि ही देवता के रूप में पूजे जाते थे। आज भी हिमाचल में पिता–माता और गुरु–अतिथि के प्रति देवभाव सजीव है। जहाँ भारत के मैदानी भाग में पुत्र–पुत्रियों के द्वारा माता–पिता की सम्पत्ति का उनसे बँटवारा कर लिया जाता है, वहीं पर वहाँ के पिता जिस पुत्र को अपनी सम्पत्ति दे दें, वही पुत्र उनकी सम्पत्ति का स्वामी होगा।

महाराज ने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि इन्दर सिंह (कमरऊ–हिमाचल प्रदेश) को उनके पिता ने राम जैसा वनवास दे दिया, वे अपने ससुराल चले गये। प्रभुकृपावश चार–पाँच साल में ही वे अति धनवान हो गये और पिता अपने अन्य बच्चों के साथ अति गरीब हो गये। ऐसे पिता एवं भाइयों के द्वारा अपमानित किये जाने पर भी उन्होंने माता–पिता को लाकर देवता जैसी अपने घर में सेवा की तथा अपने भाइयों का भी सम्पूर्ण भार अपने कन्धे पर उठा लिया। जब उनके पिता कभी–कभार कुछ भला–बुरा बोलने का साहस करते तो इन्दर सिंह कहते कि पिताजी! अब आप केवल खाना–दाना एवं अन्य सेवा–शुश्रूषा लेने के ही अधिकारी हैं, कुछ बोलने–चालने अथवा आज्ञा देने के अधिकारी नहीं हैं। आज्ञा देने के लिए तो मेरे गुरुदेव आ ही गये हैं।

भगवान की सन्तान को आप अपनी सन्तान मान लेते हैं, भगवान की सन्तान को माता–पिता, भाई–बान्धव मान लेते हैं, भगवान की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति मान लेते हैं; यही तो भारी दोष आ गया है। इसीलिए भगवान इन सब को देवता ही मानने को कह रहे हैं। महाराज को हँसी आ रही है कि लगता है, भगवान डर गये हैं कि जैसे अर्जुन अपने माता–पिता, भाइयों एवं अन्यान्य स्वजनों के सामने मुझे उनसे विशेष महत्त्व नहीं देता है, मुझ भगवान को शक्तिमान, देवता तथा स्वजनों को भगवान मान बैठा है; वैसे ही कलियुग में सभी माता–पिता कहेंगे कि बेटे पहले हमारी तो पूजा–पाठ कर लो, हमें तो प्रसन्न कर लो, पहले तो हम ही तुम्हारे लिए भगवान हैं; जब हम प्रसन्न नहीं होंगे तो तुम्हारा भगवान कैसे प्रसन्न हो जायेगा, क्या भगवान अपने माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा नहीं करते थे? क्या उनकी आज्ञा नहीं मानते थे? इसके उत्तर में मानो भगवान कह रहे हों कि मानते थे, तभी तो अपने पिता दशरथ को रोते–बिलखते छोड़कर वन को चले गये तथा मरणोपरान्त उनके श्राद्ध में भी सम्मिलित नहीं हुए। मानते थे, तभी तो राजा दशरथ के ऐसा कहने पर कि हे राम! तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं

रह सकता हूँ, इसलिए तुम वन को मत जाओ लेकिन तो भी प्रभु श्रीराम ने उनकी एक नहीं मानी और कहा– 'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।' अर्थात् पिता के शरीर से बढ़कर पुत्र का धर्म बड़ा होता है, मैं अब अपने धर्म का कहना मानूँगा अब मोह से ग्रसित पिता का कहना नहीं मानूँगा। इसलिए इसी का विस्तार करते हुए भगवान कहते हैं–

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देवता तो बिना माँगे ही आवश्यक विषयों को निश्चय ही देते हैं लेकिन इनके द्वारा दिए हुए विषयों को जो उन्हें बिना सन्तुष्ट किये ही स्वयं भोगता है, वह निश्चय ही चोर है। यही नहीं, जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाते हैं, वे भक्त एवं साधक सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं लेकिन जो अपने पेट के लिए पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।

गृहस्थाश्रमी साधकों से मानो भगवान कहते हैं कि आप खाना, कपड़ा, मकान भगवान से माँगते हैं, यह शोभा नहीं देता। अरे! वह भले ही आपके प्रारब्ध में नहीं है लेकिन आप अपने लिए नियत किये गये कर्म को विधिवत् पूरा करते हैं तो देवतागण बिना माँगे ही आपकी उपयोगी वस्तुओं को एवं विषयों को देते रहते हैं लेकिन उनके द्वारा प्राप्त पदार्थों एवं विषयों को यदि उन्हें भेंटकर आप उपयोग में नहीं लेते तो आप जैसा कोई चोर भी नहीं है। यदि उन्हें देकर आप विषयों को भोगते हैं तो न आप देवताओं के पास सकामी हुए न भगवान के पास। आपकी सकामता स्वयं ही पूरी होती गयी और आपकी निष्कामता बढ़ती गयी, बढ़ती गयी, बढ़ती गयी; वह इतनी बढ़ गयी कि आप्तकामता आ गयी। शुद्ध सकामता की सीमा है निष्कामता और निष्कामता की सीमा है आप्तकामता।

यह देखा ही जाता है कि जो पुत्र–पुत्री; माता–पिता एवं गुरुजनों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लेते हैं अर्थात् चुरा लेते हैं तो वे देवता भीतर–भीतर कलपते रहते हैं। वे जैसे–जैसे आहें भरते जाते हैं, वैसे–वैसे उनके चोर बाल–बच्चे अशान्त होते जाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ ही वर्षों में वे राजा से रंक होते देखे जाते हैं; उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति में, ऐश्वर्य, मान–सम्मान में चारों तरफ से आग लग जाती है। इसीप्रकार के चोरों के लिए सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि आदि देवगण तथा इन्द्र, उपेन्द्र, वरुण एवं दिक्पाल आदि देवता, सात्त्विक राजस एवं तामस शक्तियाँ मौन द्रष्टा होकर देखती रहती हैं और प्रारब्ध ही उनका कचूमर निकालता रहता है।

एक बार महाराज से एक बच्ची ने पूछा– मैंने अपनी सास का निरादर कर दिया है, उसका परिणाम क्या मुझे मिलेगा? महाराज ने कहा– क्यों नहीं! उनका अपमान करने का तुम्हें

क्या अधिकार है? हाँ, यदि तूने उनकी अनुचित आज्ञा नहीं मानी है तो वे भले ही अपना अपमान हुआ मानती रहें, तुम्हारे लिए चिन्ता की बात नहीं है लेकिन जब वे क्रोधावेश से मुक्त हों तो आदर–मान देकर अपनी बात को स्पष्ट कर देना। एक माँ ने कहा कि गीताजी में भगवान कहते हैं कि देवताओं को खिला के खाना और आप कहते हैं कि माता–पिता, पत्नी, पुत्र, पति आदि सब देवता हैं। मैं तो यदि इन सब को खिलाकर (पुत्रों को छोड़कर के) खाती हूँ तो मर ही जाती हूँ, यह तो मेरे वश की बात ही नहीं है; क्योंकि इन लोगों में से कोई तो खाता है दस बजे, बारह बजे, दो बजे और मुझे भूख लग जाती है सवेरे–सवेरे। महाराज ने कहा– नहीं–नहीं, ऐसी स्थिति में तो भोजन करना तुम्हारी विवशता हो जायेगी अतः वह धर्म ही कहा जायेगा। अरे! इन देवताओं को खिलाने के लिए, इनकी सेवा करने के लिए भी तो शक्ति चाहिए। अतः उस शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु का स्मरण कर तुम प्रसाद पा लिया करो, ताकि उनके आने पर सेवा–शुश्रूषा में किसीप्रकार का आलस, प्रमाद एवं कमजोरी न हो।

महाराज एक भक्त के यहाँ ठहरा हुआ था। वह तीन–चार बजे शाम को कहीं बाहर से आया, अपने कमरे में गया तो धर्मपत्नी कमरे में पलंग पर लेटी हुई थी और हाय, हाय, करते हुए कह रही थी– हाय! उठने का मन नहीं कर रहा है, ये नौकर–चाकर किसी काम के नहीं हैं, किसी नौकरानी को आवाज दो ना, वह भोजन ले कर आये। पति हँसते हुए महाराज के पास आया और बोला– बाबा! आप कमरे में आयें एक नाटक दिखाता हूँ। महाराज को देखकर धर्मपत्नी पलंग से उठ गयी और पलंग पर बिठाकर कहा– हाय बाबा! अब मेरे में शक्ति नहीं है बाबा! मैं तो मर–मर जाती हूँ। मैंने इनसे कहा कि नौकरानी से मँगाकर खाना खा लो। तबतक नौकरानी ने आवाज लगायी– दीदी! आपके माता–पिता दरवाजे पर आये हुए हैं। वह ऐसा सुनते ही अति उत्साह एवं भाव के साथ उठी एवं यह कहते हुए कि हाय बाबा! यह क्या भाग्य है! आप कमरे में आये और माता–पिता आ गये! ऐसा कहते हुए, सीढ़ियों पर छलांग लगाते हुए, ऊपरी मंजिल से नीचे दरवाजे पर आ गयी और माता–पिता को आदर–मान देते हुए, हँसते हुए ऊपर ले आयी। महाराज देखता सा रह गया कि वह थकान क्या हो गयी? दो–तीन घण्टे उनकी सेवा में लगी रही लेकिन थकान गयी सो गयी, चेहरे पर शिकन भी नहीं आयी।

आपकी क्षुद्रता आपके पग–पग पर आड़े आती है, आपके हृदय की मलीनता आपको निष्क्रिय बना देती है और आपका दुर्भाव पग–पग पर काँटे की तरह चुभकर आपको व्यथित करता रहता है। यद्यपि आपका हृदय अथाह प्रेम का सागर है, जिसमें पूरा जगत समा सकता है लेकिन वह इतना क्षुद्र हो गया है कि उसमें पाँच देवता भी नहीं समा पाते? संत के हृदय में मनुष्यों के साथ–साथ सारे प्राणिपदार्थों के लिए भी जगह है लेकिन आपके हृदय में माता–पिता, गुरु, अतिथि एवं दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षियों के लिए भी जगह नहीं है। आप कहते हैं– मैं ध्यान में बैठता हूँ तो मन बाहर भागता है और महाराज कहता है– मन बाहर भागकर आपको पागल नहीं बनाया आजतक? अच्छा! अच्छा!! अच्छा!!! महाराज भी समझता है कि भगवान ने

कलियुग में हजारों गाली देने की छूट दे रखी है, इसलिए कि यदि इतनी गाली देते हुए भी आप माता–पिता, गुरुजनों को डण्डे से भी मारेंगे तो वे कहते रहेंगे कि हे प्रभु! यह बालक ही तो है, क्षमा करो। द्वापर में सौ गाली देने के उपरान्त शिशुपाल के लिए सुदर्शनचक्र चल पड़ता है और 'ठहरो!' ऐसा कहकर गला काट लेता है तथा कलियुग में सुदर्शनचक्र रुकता हुआ आगे बढ़ता है; इसलिए कि ये माता–पिता, गुरु आदि देवता उसे रोकते रहते हैं लेकिन तो भी आप इनका विशेष अपमान कर देते हैं तो भगवान कह ही उठता है–

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होई श्रुतिमारग मोरा।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

इतना कहकर सुदर्शनचक्र चला देता है तथा आप जैसे पापमय अन्न खानेवाले को कहीं का भी नहीं रहने देता लेकिन इन देवताओं के लिए भी भगवान ने नियम बनाया है कि यदि ये सब भी भक्त बालक–बालिकाओं को विशेष सताते हैं तो हजारों अपराध के उपरान्त इनके लिए भी ब्रह्मास्त्र चल ही पड़ता है। भगवान मानो कह रहे हैं कि आपको जब देवताओं से मोह नहीं होता तो पंचदेवताओं से भी प्रेम न होकर मोह क्यों होता है? इसी एक दोष के कारण आप पददलित होते जाते हैं, आपको आत्मशक्ति से ही विरक्ति होती जाती है। आप इतने कायर एवं निर्बल हो जाते हैं कि आप पिता की थोड़ी सी सम्पत्ति की ही आस लगाये रह जाते हैं, उनकी विरासत को ही लेने के लिए आप सम्पूर्णता से उन्हीं के ही साथ हो लेते हैं, जबकि वैसे विषयी देवताओं से मन में उदास रहने को भगवान ने कहा एवं स्वयं (भगवान) से ही सम्पूर्ण आस लगाने को कहा। जगत में सद्गुरु को छोड़कर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसे आप सम्पूर्णता से हृदय दे दें। सद्गुरु के पास ही आप हृदय से कह सकते हैं कि

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

यही घोषणा करके आपलोग जीवन को यज्ञमय बना सकते हैं, इसप्रकार भगवान में आपकी प्रतिष्ठा हो सकती है। भीतर में भगवान है, बाहर में ये देवता हैं। शक्ति बाहर में कवच का काम करती है और शक्तिमान भीतर से। यदि विषयी माता–पिता, गुरु आदि का साथ छोड़ देते हैं तो शक्तिमान ही पुनः भीतर से बाहर भी फैल जाता है।

(यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो.....) यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को अन्न नहीं कहते, वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है, उसे खाते जायें और विमल भक्ति, वैराग्य एवं ज्ञान, ध्यान, विज्ञान पाते जायें। सृष्टि रचना के समय भगवान ने एक सूक्ष्म जगत की भी रचना की है जो सबके हृदय में ही रहता है, उसका नाम है स्वर्ग। उन स्वर्गीय देवताओं का भोजन है आज्य (घी) एवं हविष्यान्न। भगवान ने सद्गृहस्थों से कहा कि आप सब नित्यप्रति इनके भी भाग को हवन के द्वारा देते रहना तो वे सूक्ष्म जगत के देवता भी आपके लिए दिव्य भोगों को देवप्रसाद के रूप में देते रहेंगे। ये स्वर्गीय देवता हैं– इन्द्र, वरुण, कुबेर, दिक्पाल, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, गणेश, सरस्वती तथा इन

देवताओं के देवता हैं– ब्रह्मा, विष्णु, महेश। इन देवताओं के ही अंग–उपांग हैं– ग्रह, नक्षत्र, तिथि एवं मातृकाएँ आदि, जिनके हविष्य का अनुपात लगभग इसप्रकार है–

सौ ग्राम तिल है तो पचास ग्राम चावल, २५ ग्राम जौ वैसे ही गुड़, पञ्चमेवा तथा घी एवं औषधियों का अनुपात दिया गया है। अग्नि में इन्हीं देवताओं को इनके नाम के द्वारा आहुति देकर, इन्हें प्रसन्न करने का विधान किया गया है। वैदिक संहिताओं में सम्पूर्ण देवताओं के आवाहन के लिए मंत्र दिये गये हैं, वे देवता, आसन, अशन एवं वसन की शुद्धि तथा मंत्रशुद्धि एवं संख्या की भी अपेक्षा रखते हैं। यज्ञ की परम्परा पुरातन काल से ही चली आ रही है। बहुत से साधकों, सन्तों, ऋषि–महर्षियों ने देवमंत्रों के द्वारा देवताओं को प्रकटकर अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त कर लिया है।

ॐ मासपारायण, छठा विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, तीसरा विश्राम ॐ

उपरोक्त मंत्र के द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि घर में प्रसाद भगवद्भाव से साधु–सन्तों एवं अतिथियों को ध्यान में रखकर ही बनाना चाहिए।

अब भगवान अगले मंत्रों से सम्पूर्ण कर्म ही यज्ञमय है, इसी को स्पष्ट कर रहे हैं–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

सम्पूर्ण भूत–प्राणी अन्न से जीते हैं, वह अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है तथा यज्ञ कर्म से प्रकट होता है, वह कर्म वेद से प्रकट होता है एवं वह वेद अक्षर, अविनाशी परमात्मा से प्रकट होता है। इसप्रकार वह अंतर्यामी ब्रह्म सम्पूर्ण कर्मरूप यज्ञों में नित्य ही प्रतिष्ठित है।

सर्वप्रथम इन मंत्रों के द्वारा युद्ध के मैदान की तरफ दृष्टि ले चलते हैं जहाँ भगवान अर्जुन से क्या कहना चाहते हैं यह देख लें– मानो वे कह रहे हैं कि हे महाबाहो! इन कौरवों के अत्याचार से यह पृथ्वी कुपित होकर बोये हुए बीजों को पौधा नहीं बनने दे रही है, जैसे गोमाता ग्वाले के अत्याचार से बछड़े के लिए दूध चुरा लेती है, वही स्थिति इस समय पृथ्वी की हो गयी है। ब्राह्मण यज्ञ को श्रद्धा से नहीं कर रहे हैं; क्योंकि इन्हें धर्मात्मा युधिष्ठिर जैसा राजा चाहिए। क्षत्रियों की स्थिति तो तुम देख ही रहे हो, वे ब्राह्मणों भक्तों एवं संतों की सुरक्षा क्या करेंगे बल्कि वे तो ब्राह्मण एवं भक्तों की सम्पत्ति के चोर हो गये हैं, वैश्य उनके डर से आतिथ्य नहीं कर पा रहे हैं और भी कहाँ तक कहा जाय पार्थ! द्वापर में कलियुग का साम्राज्य हो गया है। दूषित अन्न खाकर पितामह जैसे ब्रह्मचारी की बुद्धि भी अपवित्र हो गयी है। इनके उत्पात से कुल देवता, कुल देवियाँ, नगर देवता, नगर देवियाँ आदि देवलोक को चले गये हैं। पुत्र का यज्ञ धर्मात्मा

माता–पिता की सेवा करने से पूर्ण हो जाता है, धर्मपत्नी का यज्ञ धर्मात्मा सास–ससुर एवं धर्मात्मा पति की सेवा करने से पूर्ण हो जाता है, माता–पिता का यज्ञ पुत्र को भगवद्भक्त बनाने से पूर्ण हो जाता है; किन्तु यहाँ तो अंधों के शासन में भयभीत होकर सभी अंधे हो गये हैं, इसलिए सत्कर्म के अभाव में समय पर वर्षा नहीं हो रही है। अरे! कहाँ तक कहा जाये, इन दुराचारियों के राज्य में सभी जीव–जन्तु, भूख–प्यास से पीड़ित हैं। जानते हो महाबाहो! जिस दिन मेरी बात को भरी सभा में इस मूर्ख दुर्योधन ने नहीं माना था, उस दिन महात्मा विदुर के घर में मैंने विशेष कुछ खाने को नहीं देखा, यह नराधम उस महात्मा को गुप्तरूप से सता रहा था। उस महात्मा की साध्वी धर्मपत्नी के पास एक ही वस्त्र था। इस दुष्ट ने उन्हें अपनी ओर से पूर्णतया भिखारी बनाने का प्रयत्न किया था। न जाने तुम कैसे इन लोगों को क्षमा करने की बात कर रहे हो जबकि तुमने दूषित अन्न तो खाया ही नहीं है। अच्छा–अच्छा! तो तुमने इन लोगों को अपना स्वजन मान लिया है, इसी से तुम्हारे में यह दोष आ गया है।

(अन्नाद्भवन्ति भूतानि.....) इन मंत्रों से भगवान ने अन्न, कर्म एवं यज्ञ का भी व्यापक रूप दिया है। सारे भूत–प्राणी अन्न से ही प्रकट होते हैं, अन्न से ही जीते हैं; लेकिन भगवद्भक्त प्रभुप्रसादरूप अन्न से शरीर को जिलाते हैं तथा स्वयं अपने स्वरूप में या भगवान के स्वरूप में जीते हैं। सम्पूर्ण भूतप्राणी अन्न से ही प्रकट होते हैं, अन्न से ही जीते हैं, जबकि शेर, चीते, साँप आदि तो मांस से जीते हैं, मांस से ही जन्म लेते हैं और मांस ही खाते हैं, फिर कैसे कहा जाय कि सभी अन्न से ही जीते हैं? इसके उत्तर में सम्पूर्ण शास्त्रों ने स्पष्ट कह दिया है कि जीव ही जीव का भोजन है, जिस प्राणी के लिए जो पदार्थ खाने के लिए बनाया गया है उसके लिए वही अन्न है। इस न्याय से मांसाहारी प्राणियों के लिए मांस अन्न है एवं शाकाहारी प्राणियों के लिए चावल, गेहूँ, दूध फलादि अन्न हैं, देवताओं के लिए घी और हविष्य ही अन्न हैं। इसीप्रकार यमदूतों के लिए पापात्मा ही अन्न हैं तथा भगवान के लिए भक्तों, साधकों एवं संतों का शुभ–अशुभरूप कर्म ही अन्न है, जिसे समर्पित कर देने के उपरान्त वह अपने कालमुखों द्वारा ग्रसन कर जाता है।

भगवान ने यहाँ पर अन्न उत्पत्ति के निमित्त वर्षा हो, इसके लिए देवयज्ञ का विधान नहीं किया है बल्कि देवयज्ञ करना तो (जिसमें मंत्र एवं आहुति की प्रधानता होती है) वैदिक ब्राह्मणों का कर्मरूप धर्म है। इसीलिए यहाँ पर कोई उन्हीं के द्वारा किये जानेवाले यज्ञ को अपने लिए भी कर्तव्य कर्म न मान ले। भगवान ने यहाँ स्पष्ट कहा– 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' अर्थात् आध्यात्मिक यज्ञ तो कर्म से प्रकट होता है और वह ब्रह्मभाव से किया जानेवाला कर्म ज्ञानमय शास्त्रों से प्रकट होता है तथा वे ज्ञानमय शास्त्र (वेद) मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म की साक्षात् वाणी हैं; जिसे ऋषि–ब्रह्मर्षियों ने लिपिबद्ध करके रख दिया है। इसप्रकार इस न्याय से आपके प्रत्येक कर्म में, जैसे– खाने–पीने, सोने–जागने, हाथ–पाँव से कर्म करने, वाणी से बोलने, मन से मनन करने, बुद्धि से चिन्तन करने तथा चित्त से ध्यान करने आदि सबमें (सर्वत्र) ब्रह्म समाया हुआ है। ये सम्पूर्ण कर्म भगवत् भावना एवं भगवत् कामना से किये जाते हैं, तो ये यज्ञमय ही हैं।

सन् १६७८ ई० में महाराज ने एक ऐसी जगह लघुशंका (पेशाब) की जहाँ गड्ढे में बिल (कोल) था, जिसे हल्के कूड़े–करकट से ढके रहने के कारण से महाराज नहीं जान पाया। जैसे ही लघुशंका का जल बिल में गया वैसे ही एक विषधर साँप उसमें से थोड़ा सा बाहर निकलकर तीन बार फूफकार मारकर पुनः बिल में चला गया। महाराज को अपनी असावधानी का पता चला, विचार आया कि यह पृथ्वी नामक देवता सम्पूर्ण प्राणियों को आश्रय देता है, इसलिए शौच, स्नानादि भी अहिंसात्मक हो, यज्ञमय हो, इसका ध्यान देना चाहिए।

आपको विचार करना चाहिए कि आप किसके लिए सोते हैं– सुख के लिए या शरीर की थकान मिटाने के लिए। यदि सुख एवं शक्ति प्राप्ति के लिए सोते हैं तो आपका सोना यज्ञमय नहीं हुआ। भगवद्भक्त तो जप करता हुआ या आत्मचिन्तन करता हुआ ही रह जाता है और शरीर सो लेता है, सवेरे पुनः शक्ति से सम्पन्न हो माता–पितादि एवं बड़े–बूढ़ों की सेवाकर अपने नियत कर्मरूप यज्ञ में लग जाता है। गृहस्थाश्रम में देवयज्ञ पहले है और ब्रह्मयज्ञ बाद में, इसलिए उनकी सेवा–शुश्रूषा करके, स्वयं स्नान आदि से निवृत्त हो, जप एवं ध्यान करें। कर्म के प्रति आपकी उपेक्षा है इसलिए आप कहते हैं– कर्म तो कर्म ही है, वह ध्यान कैसे हो जायेगा, वह यज्ञ कैसे हो जायेगा, वह जप, तप, योग कैसे हो जायेगा! ऐसा इसलिए सोचते हैं आप क्योंकि आपने अच्छीप्रकार से कर्म के स्वरूप को सुना नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो महात्मा भरत के व्यवहार को ही जपयज्ञ की संज्ञा दी है।

दो०– समन अमित उतपात सब भरतचरित जपजाग।
कलि अघ खल अवगुन कथन ते जलमल बग काग।।४१।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

इसीप्रकार आपका व्यवहार भी किसी के लिए जपयोग हो जायेगा, किसी के लिए तपयोग, व्रतयोग और किसी के लिए ध्यानयोग हो जायेगा। यही कारण है कि प्रभु श्रीराम एवं भगवान श्रीकृष्ण आदि का सम्पूर्ण जीवनचरित्र भक्तों के लिए ज्ञानयोग बन जाता है।

सन् १६७७ ई० में एक बारह–तेरह वर्ष के भक्त बालक ने कहा कि आज मुझे एक बहन बड़े प्यार से देखने लगी तो मेरा भी मन उसकी तरफ खींचा चला गया। ऐसा क्यों हुआ, मैं तो ऐसा चाहता नहीं था? महाराज ने कहा– ऐसा क्यों हुआ इसका उत्तर बाद में दिया जायेगा अभी तो ऐसा उपाय लो जिससे माँ, बहनों को देखने से मन में विकार न आये। अच्छा बैठो तो! पाँच मिनट के लिए आँख बन्द करो। अब कल्पना करो कि रास्ते पर माताएँ एवं बहनें जा रही हैं और तुम उन्हें लक्ष्मी, दुर्गा एवं सरस्वती के रूप में देख रहे हो। पुनः कल्पना करो कि ये तो साक्षात् देवी के ही भिन्न–भिन्न रूप हैं जो मेरी परीक्षा के लिए बाहर–बाहर कामभाव से मुझे दीखती हैं। 'अरे! भगवान ने जब विश्वमोहिनीरूप बनाया था तो भस्मासुर उन्हें कामिनी के रूप में देखकर काम में पागल हो गया। परिणाम सभी जानते हैं कि स्वयं अपने सिरपर हाथ रखकर नाचते हुए भस्म हो गया। ना, ना, ना! हे प्रभु! तुम ऐसी कृपा करो कि मैं इन्हें लक्ष्मी, दुर्गा एवं सरस्वती आदि के रूप में ही देखूँ, ऐसा मन में कहकर पुनः मन से ही सजी हुई आरती को लेकर

उन माताओं–बहनों की आरती करो और फिर प्रणाम करके वहाँ से चल दो। महाराज ने कहा कि अब जाओ हररोज पन्द्रह मिनट चौराहे पर बैठना एवं मन के द्वारा ऐसी ही आरती–पूजा करना तथा इस गुप्त मानसिक पूजा को किसी के सामने प्रकट न करना। उस विद्यार्थी ने नित्यप्रति ऐसा ही किया और एक माह होते–होते उसने बताया कि अब सपने में भी बहन–बेटियों को देखता हूँ तो भगवती समझकर प्रणाम कर लेता हूँ।

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि.....) महाराज एक संकेत कर रहा है, जिसे आप ध्यान से देखें कि भाव कैसे रक्षा करता है और दुर्भाव कैसे हनन करता है– माघ का महीना है घर में गरीबी है, दो ही पलंग हैं, दो ही कमरे हैं एवम् दो जोड़े ही रजाई गद्दे हैं। एक कमरे में माता–पिता सो जाते हैं एवं दूसरे कमरे में एक ही पलंग पर बीस वर्ष की बहन और चौबीस वर्ष का भाई सो जाता है। रात बीत जाती है, जैसे मानो वे महायोगी हैं। इसप्रकार जाड़े के तीन महीने एक साथ सोते हुए बीत जाते हैं लेकिन दोनों के भीतर स्वप्न में भी वह कामरूप शत्रु प्रकट नहीं होता, जो सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है; किन्तु वे ही यदि गाँव की गली में जाते हैं तो अपने आप को खो बैठते हैं। वही युवक जब किसी एकान्त गली में पड़ोस की बहन–बेटी को देखता है तो वह अपने–आप में नहीं रहता, इस कुभाव में कि यह दूसरे की लड़की है, ऐसा सोचते ही वह सम्पूर्णता से कामी हो जाता है। दृष्टि में ही तो भेद होता है। इसलिए साधना के प्रथम चरण में भगवान ने सम्पूर्ण पुरुषवर्ग को देवता और स्त्रीवर्ग को देवी मान लेने को कहा है।

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि.....) कुलपरम्परा के अनुसार भी कर्म किये जाते हैं, सामाजिक परम्परा के अनुसार भी कर्म किये जाते हैं, जिनको कि कर्म नहीं कहा जाता, बल्कि जो ऋषि–महर्षियों द्वारा दी हुई आचार संहिता है, उसके द्वारा किया हुआ कर्म है, वही ब्रह्मकर्म कहा जाता है; क्योंकि ऋषि–महर्षियों के हृदय द्वारा ब्रह्म से ही कर्मयोग प्रकट हुआ है। इसप्रकार जप, तप, योगादि की आधारशिला कर्मयोग है, कर्मयोग की आधारशिला भगवद्भाव है, भगवद्भाव की आधारशिला जिज्ञासा है तथा जिज्ञासा की आधारशिला आप हैं। इस क्रमानुसार आपको अपने स्वरूप तक गमन करना है और कालान्तर में अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना है। आप पराये कर्म में स्थित होकर ही पराये में स्थित हो गये हैं, आपके मन, बुद्धि चित्त सब पराये में स्थित हो गये हैं। आपके स्वजन ही तो पराये हैं, जब आपका शरीर ही अपना नहीं है तो ये आपके कैसे हो सकते हैं? इतना जान लें कि पराये कर्म में, पराये स्वरूप में स्थित होने पर क्षणिक सुख तो मिल सकता है लेकिन शान्ति नहीं मिल सकती। सारी विडम्बना निमित्त को कारण समझ लेने से ही हो रही है; स्वजन निमित्त हैं वे कारण नहीं हो सकते, वे सर्वस्व नहीं हो सकते। आप साधक हैं, भक्त हैं जबकि वे जीव हैं, इसलिए आप स्वयं को और स्वयं के सर्वस्व को (अपनी आत्मा, अपने हृदय को) ही उन्हें न दे दें, नहीं तो जीती हुई बाजी आप हार जायेंगे। जब आप किसी अधमयोनि में थे तब आपने परम प्रभु से माँगा था कि हे प्रभु! इस योनि से मुझे मुक्त करें, मनुष्य योनि दे दें, वहाँ पर मैं एकमात्र आपका ही होकर रहूँगा, आपके लिए जीऊँगा और आपके लिए मरूँगा, सदा–सर्वदा आपके लिए ही भजन करूँगा। ऐसी प्रार्थना करने से वहाँ

पर आपने बाजी जीत ली और प्रभु ने आपकी प्रार्थना सुनी तथा महत् कृपा करके आपको मनुष्य योनि दे दी; किन्तु आपने उनके वचन की एवं अपनी प्रतिज्ञा की लाज नहीं रखी, जिसका परिणाम हुआ कि आप विषयी देवताओं (स्वजनों) के ही जाल में फँसकर रह गये। उन्होंने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा पद–प्रतिष्ठारूप जाल को फेंका लेकिन आप पहचान नहीं पाये।

यह प्रसंग उनके लिए कहा जा रहा है, जिन्हें अपनी भूल पर घोर पश्चात्ताप हो रहा है। देवता (स्वजन) कर्मरूप हैं, ये कर्म के सगुणरूप हैं जो कई रूपों में विभाजित हैं। माँ एक कर्म है, पिता एक कर्म है, भाई एक कर्म है, पुत्र एक कर्म है, स्त्री एक कर्म है, मित्र एक कर्म है, हित–मित्र एवं वैरी एक कर्म हैं, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे कर्म हैं, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेतादि कर्म हैं। इन कर्मों से उदासीन होते–होते आप अपने शरीर से भी उदासीन हो जाना; क्योंकि वह भी एक कर्म ही है। आप ये न भूलें कि आप ब्रह्मजिज्ञासु हैं, अतः आपको हर पहलू पर चिन्तन करना होगा। ये स्वजन या पशु–पक्षी, देवता आदि भी कर्म क्यों हैं? इसलिए कि इनके तन, मन, वचन से कर्म की ही तो बरसात हो रही है। बादल को जल का वाष्पित रूप कहा जाता है; क्योंकि उससे जल की ही बरसात होती है, रक्त की नहीं। उसीप्रकार जिससे जो प्रकट हो रहा है, उसका वही रूप माना जायेगा। यदि स्वजनों से विषयता ही प्रकट हो रही है तो यह कहने या समझने में क्या आपत्ति है कि ये शरीर कर्म के संघटितरूप हैं, जो अहर्निश पिघल रहे हैं। बर्फ पिघलते–पिघलते जल ही हो जाती है, उसीप्रकार स्वजन पिघलते–पिघलते कर्मरूप ही हो जाते हैं। यद्यपि यह बात कड़वी लग सकती है किन्तु भगवान ने कहा है तो कहना ही पड़ेगा न? विषयी स्वजनों से अपने मन की चोरी कर लेना। साथ में तो उनके रहना लेकिन मन भगवान को दिये रहना। ऐसा करना महत् त्याग है, महत् तप है, महत् व्रत है, महत् योग है, महत् ध्यान है, महत् समाधि है।

यदि कौसल्या, सुमित्रा, मंदोदरी, तारा जैसी कोई माँ है तब तो त्याग–ग्रहण की बात ही नहीं है। वह अपने पुत्र–पुत्रियों से स्वयं कहेगी कि तन मुझे दे दो लेकिन मन मुझे मत देना, यह मन मुझे देना तुम्हारे लिए घाटे का सौदा होगा, तुम मन दोगे लेकिन मैं तुम्हें मन नहीं दे पाऊँगी; क्योंकि सर्वप्रथम तो मैं एक जगह मन देकर पश्चात्ताप कर रही हूँ, वह जगह है पति। अब वहीं से मन को निकालने में लगी हूँ। वैसे ही पिता की भावना भीतर करनी है तो अत्रि, पराशर, व्यास, कर्दम, रघु, दिलीप, हरिश्चन्द्र आदि जैसों के प्रति पिताभाव हो तो कोई आपत्ति नहीं है परन्तु वे तो बेटों से कहेंगे ही नहीं कि तुम हमें अपना मन दे दो बल्कि उनको (बालकों को) स्वयं से संन्यासी बना देंगे। उसीप्रकार लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, व्यास, पराशर आदि जैसे पुत्र को पुत्र मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

आज मैं माँ हो गयी बेटे! इसके पहले तो मैं अपने को माँ मानती ही नहीं थी। अतः जाओ–जाओ! श्रीराम के साथ जाओ! उन्हीं के लिए जीयो और उन्हीं के लिए मरो! तुमने अपना मन राम को दे दिया है, अतः मैं धन्य हो गयी। जिस गर्भ से भगवद्भक्त प्रकट होता है, वही माँ कहलाती है बेटे! अन्यथा वह बाँझ कही जाती है; किन्तु एक बात का ध्यान रखना कि अब मैं

तुम्हारी माँ नहीं रही, जगत की माँ हो गयी। तुम्हारी माँ तो आज से जनकनन्दिनी सीता हैं एवं पिता राम हैं। यदि वन में तुम मुझे याद करोगे तो श्रीराम और सीता की सेवा नहीं कर सकोगे। उनकी ऐसी सेवा करना, ऐसी सेवा करना बेटे! कि चौदह वर्ष के लिए वे दोनों अयोध्या भूल जायें।

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ।।७४।।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई।।
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

ठीक इसके विपरीत अहंकारी माता–पिता कहते हैं कि कुत्ता भी बैठे–बैठे नहीं खाता, तू बैठकर कैसे खा रहा है? माता–पिता की सेवा से बढ़कर आँख मूँदकर राम–राम कहना श्रेष्ठ है क्या? अभी तो भजन के लिए समय ही समय है, भजन तो बुढ़ापे के लिए बनाया गया है। ऐसा कहनेवाले अहंकारी एवं विषयी के लिए अपना बहुमूल्य जीवन कौड़ी के मोल नहीं बेचना चाहिए। जिनका शासन अपने तन, मन, वचन, हृदय पर ही नहीं है, उनके शासन में क्या रहना। सेवा करना अलग बात है, किन्तु समर्पित होना अलग बात है। समर्पित तो भगवान के लिए ही होना चाहिए, परन्तु यदि सद्गुरु मिल जाये तब तो सेवा और समर्पण दोनों ही सद्गुरु के प्रति होना चाहिए तथा ऐसे अहंकारियों की सम्पत्ति को त्यागकर सद्गुरु के शरणागत हो जाना चाहिए, यही ब्रह्मकर्म है।

आध्यात्मिक रणभूमि में साधक कायर एवं डरपोक होकर प्रवेश नहीं करता। यह महात्यागियों और महावीरों की भूमि है, अतः वह साधक घर में रहे अथवा बाहर, पर उसके ऊपर एकमात्र सद्गुरु का ही शासन होता है।

जब आत्मानन्द पन्द्रह वर्ष के थे, तब दिल्ली के एक अस्सी वर्षीय वृद्ध ने कहा था– इसी अवस्था में संन्यासी बन गये? तब आत्मानन्द ने उत्तर दिया कि जब आप जैसे वृद्धगण संन्यास नहीं ले रहे हैं तो फिर क्या करें, हमें संन्यास लेकर आपलोगों का उद्धार तो करना ही पड़ेगा!

आजकल घरों में वृद्धों को उनके पुत्र–पौत्रादि धक्के मारते रहते हैं तो भी वे घोर अपमानित होकर भी घर में ही आहें भरते रहते हैं। यह अपनी संस्कृति को छोड़ने तथा सनातन धर्म से दूर हटने का ही परिणामरूप फल है। भगवद्भक्तों को यह विचार कर सजग हो जाना चाहिए कि वृद्धावस्था में कहीं हमारी भी ऐसी ही दशा न हो जाये। गृहस्थाश्रम एक दिव्य रणभूमि है, जिसमें आये दिन युद्ध का अवसर आता ही रहता है, अतः इस युद्धभूमि में युद्ध करते हुए ही आगे बढ़ा जा सकता है। आप अपने नख, दाढ़ी, बाल काटते ही हैं, क्या यह व्यवहार प्रकृति के विरुद्ध नहीं है! ठीक इसीप्रकार जो अपने भक्तिपथ में बाधा बनता है, उससे कुशलतापूर्वक युद्ध करते हुए ही आगे बढ़ा जा सकता है।

(अन्नाद्भवन्ति भूतानि.....कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि.....) अब इस मंत्र के द्वारा युद्ध की कहानी भी

देख लेते हैं– भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! ये पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि भी तुमलोगों के लिए तामस देवता ही हैं। यद्यपि तुम पाँचों ने इनलोगों को खिलाके ही खाया है, सुला के ही सोया है, इनके लिए प्राण देकर जीया है; किन्तु ये तो ऐसे कृतघ्नी निकले कि बिना युद्ध किये सूई की नोक के बराबर भी भूमि न देनेवाले का साथ दे रहे हैं, ऐसे कृतघ्नियों से तो सचमुच ही संन्यास ले लेना चाहिए। तूने मुझे सद्गुरु बनाकर ठीक ही किया, क्योंकि मैं तुमको संन्यासी बना ही दूँगा, बिना संन्यासी बनाये तो तुमसे युद्ध कराऊँगा नहीं। हे पार्थ! मैं ऐसे पाप खानेवालों को क्षमा नहीं करता। अब तुम एक आध्यात्मिक योद्धा हो, इसलिए ये तुम्हारे लिए बाधक संस्कार माने जायेंगे। संन्यासी का अपना कोई नहीं रहना चाहिए। शास्त्र कहता है कि संन्यासी के जीवनपथ में यदि कोई बाधक बनकर आये तो उसका त्याग कर देना चाहिए। अब जगत में ऐसा कौन संन्यासी है, जो इनके राज्य का अन्न खायेगा? तुम इनका वधकर, महाराज युधिष्ठिर को राज्य देकर, संन्यासी बनकर, सुख पूर्वक रोटी खाते फिरना।

धृतराष्ट्र मन ही मन सोच रहे हैं कि लगता है कुछ विशेष बात हो गई है, जो मेरे सुनने योग्य नहीं है, इसी से संजय मौन है।

संजय ने उनके मन की बात को जानकर कहा– आपका गणित ठीक ही है राजन्! ये बातें आपके सुनने योग्य तो नहीं हैं लेकिन तो भी सुनें– यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को भक्त प्रसादरूप से खाता है; लेकिन यहाँ तो उलटा ही हो रहा था राजन्! तामसी देवगण तेरह वर्ष तक खाते रह गये और भक्त भूखे रह गये! कैसी विडम्बना है अन्नदाता! कि कभी पुत्र पिता से, शिष्य गुरु से चोरी कर लेता है, ऐसा सुना गया है लेकिन यहाँ तो पिता एवं गुरुजन ही पुत्र तथा शिष्यों की चोरी करते–करते उन्हें कंगाल बना दिये हैं। अब तो मैं सोच रहा हूँ राजन्! कि कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन युद्ध करने में देरी करें तो भगवान इनलोगों पर ही सुदर्शनचक्र चला दें, फिर बाद में वह चक्र कौरवों एवं पाण्डवोंसहित सम्पूर्ण सेना को धराशायी कर दे। मैं तो देख रहा हूँ राजन्! कि इनलोगों का कर्म वेद से प्रकट नहीं हुआ है बल्कि क्षुद्र मन से प्रकट हुआ है, वहीं पाण्डवों का कर्म वेद से प्रकट हुआ है इसलिए वे ब्रह्मकर्मा हैं। अच्छा! थोड़ी प्रतीक्षा करें राजन्! भगवान की बात सुनने दें, वे कुछ कह रहे हैं।

भगवान अब धिक्कारते हुए कहते हैं–

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

हे पार्थ! जो मेरे सिद्धान्त के अनुसार, इस सृष्टिचक्र के अनुसार नहीं चलता, अपने नियत कर्म का पालन नहीं करता; वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

इस मंत्र में 'अघायु' पद आया हुआ है अर्थात् जिसका पूरा जीवन पापमय है, वही अघायु है। वह कौन है? विषयी अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों में रमण करनेवाला, इन्द्रिय सुख के

लिए ही जीनेवाला। मानो भगवान कह रहे हैं– छिः! छिः!! धिक्कार है उसके जीवन को, वह पापात्मा, मूढ़, विषयी इस जगत में जीता क्यों हैं, मर क्यों नहीं जाता? वह पृथ्वी पर भारस्वरूप हुआ मेरे हृदय को दुःख क्यों देता है?

साधकों को इस मंत्र पर विचार करना चाहिए। भगवान ने धृतराष्ट्र, शकुनि, कर्ण एवं दुर्योधन आदि कौरवों के साथ–साथ पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य को भी अघायु तथा विषयी कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि फिर आप किन स्वजनों की तरफ देख रहे हैं? क्या माता–पिता, भाई–बान्धवों की तरफ? यदि वे विषयी हैं तो अघायु हैं, यदि वे विषयी हैं तो व्यर्थ जीते हैं। भगवान के अनुसार उन्हें जीने का अधिकार नहीं है। जब वे भगवान के नियमानुसार चलेंगे ही नहीं, उसप्रकार चलने में उनकी प्रतिष्ठा जाती है, उनका मान–सम्मान, सुख एवं ऐश्वर्य जाता है तो फिर आप ही क्यों नहीं चेतते? यदि एक अंश भी उनकी तरफ आपकी दृष्टि है तो फिर सम्पूर्ण अंशों में भगवान के आप नहीं हो पायेंगे। अतः एक बात पर आप ध्यान दें कि यदि आप भगवान के हैं अथवा भगवान का होना चाहते हैं तो भगवान आपको उन विषयी स्वजनों जैसा जीने नहीं देगा। तो फिर आप क्या देख रहे हैं– उठें, जागें और आध्यात्मिक रणभूमि में कूद पड़ें। आप इतना जान लें कि विषयी के साथ रहनेवाला विषयी होता है, विषयी की हाँ में हाँ मिलानेवाला विषयी होता है, विषयी के द्वारा विरासत में प्राप्त धन, ऐश्वर्य, मान–सम्मान आदि लेनेवाला विषयी होता है, विषयी पर दया करनेवाला विषयी होता है, विषयी की विषयता का अनुमोदन करनेवाला विषयी होता है। यदि ऐसा है तो आप अपनी विषयता को दूर करने के लिए तैयार हो जायँ–

ऐ निर्विषयी ! विषयी के संग रह मत रह मत रह मत।
विषयी की तू विषय मार को सह मत सह मत सह मत।।

विषयी को तू विषयी सही है कह मत कह मत कह मत।
विषय विषयता पनपे रे तू चर मत चर मत चर मत।।

कभी–कभार साधक महात्मा अर्जुन की तरह अति विनम्रता एवं शीलता में मारा जाता है। आत्मानन्द ने एक बार कहा– मेरी जैसी विनम्रता एवं शीलता तथा संकोच भगवान किसी भी साधक को न दे। आये दिन देखा ही जाता है कि अति शील एवं संकोच के वशीभूत हुए आप घर, परिवार एवं समाज में सत्य को भी नहीं कह पाते। इसप्रकार के ही भीरु साधक (डरपोक) क्षुद्र औपचारिकता को धारण करने के कारण से भक्ति नहीं कर पाते, जिनमें समय पर हिजड़ापन प्रशस्त हो जाता है, रोम–रोम से कायरता बरसती रहती है। ऐसे लोगों के पास भगवान कभी भी अपनी भगवत्ता प्रकाशित नहीं कर सकता। भगवान ऐसे साधक को इसलिए धिक्कारते हैं कि भीतर–बाहर सच्चिदानन्दघन परमात्मा के रहते हुए भी वह तन, मन, वचन, हृदय से निष्क्रिय होकर रह रहा है। यह तो सत्य ही है कि जब चोर का बच्चा चोर जैसा व्यवहार कर सकता है, सज्जन का बच्चा सज्जन जैसा व्यवहार कर सकता है तो फिर आप भगवान के वरदपुत्र होकर भगवान जैसा या भगवान के कहे हुए जैसा व्यवहार क्यों नहीं कर सकते? भगवान का

वह कौन सा कर्म है जिसे आप कर रहे हैं? जब स्पष्ट ही हो गया कि भगवान के अनुसार व्यवहार नहीं करने पर भगवान के मन में पीड़ा होती है, उनके हृदय में क्षोभ होता है तो उनके कहे के अनुसार क्यों नहीं चलते? आप स्वयं से प्रश्न करें कि किसे प्रसन्न करना चाहिए– भगवान को या स्वजनों को? विषयी स्वजनों को प्रसन्न करते हैं तो वे और आप, दोनों नरक में जाते हैं तथा भगवान को प्रसन्न करते हैं तो आप और आप के स्वजन, दोनों ही भगवान की तरफ जाते हैं। अतः भगवान के अनुसार चलना ही परम कल्याण का हेतु है। आप ये न भूलें कि आप अपने पुत्र–पुत्रियों से तभी प्रसन्न रहते हैं, जब वे आपके अनुसार चलते हैं। फिर भगवान आपको अपना वरदपुत्र मानकर अपने अनुसार नहीं चलने पर आपको बहुत धिक्कारता है तो आपको इसपर ध्यान देना चाहिए। आप के दुःख–दर्द को जितना भगवान जानता है उतना तो आप भी नहीं जानते तथा स्वजन तो एक अंश भी नहीं जानते। इसलिए भगवान की वेदना पर आप ध्यान दें। भगवान तो चेतावनी दे रहे हैं कि आप, अभी भी मान जायें, नहीं तो शिशुपाल की तरह आपकी भी दुर्दशा होने में कोई देर नहीं होगी।

उत्तम शिष्य के लिए सद्गुरु की वाणी ही साधन एवं साध्य दोनों होती है, इस न्याय से अर्जुन को तो ज्ञान हो ही जायेगा। भगवान ने इस पक्ष पर भी ध्यान दिया और सोचा कि यह ज्ञानस्वरूप होकर अपने स्वरूप में रमण ही न करने लगे, फिर मेरे नरमेध यज्ञ का क्या होगा? अथवा यह ब्रह्मविद्या सुनते–सुनते बहुत वर्षों के लिए समाधिस्थ न हो जाये, नहीं तो सारी योजना विफल ही हो जायेगी और जगत में हँसी अलग से होगी।

महाराज का हृदय भी भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द की इस वात्सल्यमयवृत्ति को स्वीकारते हुए लीला को देखकर अत्यन्त आत्मविभोर हो गया है। तो आयें! देखते हैं कि अर्जुन की समाधि लगने की आशंका से डरे हुए भगवान अब किस युक्ति का प्रयोग कर रहे हैं–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥

हे पार्थ! जो अपने आत्मस्वरूप में ही रमण करनेवाला है, आत्मस्वरूप में ही तृप्त होनेवाला, आत्मस्वरूप में ही सन्तुष्ट होनेवाला है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है, उसके लिए कोई वैदिक नियम नहीं है। वैसे महापुरुष का इस मनुष्यलोक में कर्म करे, न करे, इससे कोई लेना–देना नहीं है; क्योंकि किसी से भी उसे कुछ स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए हे पार्थ! तुम आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर अपने लिए नियत कर्म को करते रहो; क्योंकि अनासक्त हुआ

पुरुष कर्मों को करता हुआ भी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता।

बहुधा ऐसा देखा जाता है कि आत्मचिन्तन एवं सत्संग द्वारा जब अपने आत्मस्वरूप की झाँकी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाती है तो साधक तप एवं त्याग को छोड़ बैठते हैं, जबकि तप और त्याग लोकसंग्रह के लिए करते रहना परम कर्तव्य है। माना कि उनके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं है लेकिन शरीर तो खाता, पीता, सोता एवं जागता ही है, फिर क्यों न तप और त्याग भी उसका स्वाभाविक धर्म बना दें। आपके लिए कोई धर्म तो है नहीं लेकिन यदि गृहस्थाश्रम में हैं तो गृहस्थाश्रम का धर्म, ब्रह्मचर्य आश्रम में हैं तो ब्रह्मचर्याश्रम का धर्म, वानप्रस्थ में हैं तो वानप्रस्थाश्रम का धर्म एवं संन्यास आश्रम में हैं तो संन्यासाश्रम धर्म का निर्वहन करने में क्या आपत्ति है? हनुमानजी जैसा कौन आत्मज्ञानी है, उनके जैसा सिद्ध कौन है? तो भी वे इस ब्रह्माण्ड में तो आज भी तप एवं त्याग के साथ रहते हुए भगवद्भक्तों का कल्याण कर ही रहे हैं तथा महात्मा अर्जुन के रथ की ध्वजा पर आकर आसीन (बैठना) हो ही गये। शुकदेवजी जैसा भी आत्मज्ञानी कौन था; किन्तु जब राजा परीक्षित ने संन्यास लिया तो वैसे अद्‌भुत मुमुक्षु के पास आकर तथा भगवत् चरित्र सुनाकर उन्हें मुक्त कर ही दिये। विश्वामित्रजी को तो ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति हो ही गयी थी तो भी उन्होंने (लोकसंग्रह के लिए) जगत उद्धार के लिए, घोर जप, तप एवं योग का त्याग नहीं किया। वे जगत के कल्याण के लिए ही यज्ञ कर रहे थे। जब ताड़का, सुबाहु एवं मारीच ने बार–बार यज्ञ में विघ्न डालना प्रारम्भ किया, तब उन्होंने प्रभु श्रीराम को लाकर इन असुरोंको मरवा डाला। जितने भी ऋषि–महर्षि हुए हैं उन्होंने अपना कल्याण हो जाने के उपरान्त जगत का कल्याण किया ही है। जब ब्रह्मर्षि वाल्मीकि आत्मरूप हो गये, ब्रह्मरूप हो गये, तब भक्तों के हितार्थ अपने योगबल से प्रभु श्रीराम का चरित्र देखकर रामायण लिख ही दिये। जब आत्मज्ञान हो जाने के उपरान्त ब्रह्मकर्म करने में अपने आत्मरूपता की हानि है ही नहीं, तो फिर पत्थर की तरह जड़ जैसा शरीर को जिलाता रहे, यह कौन सा धर्म है? सचपूछा जाय, तो इस मंत्र के द्वारा भगवान के कहने का आशय है कि सर्वप्रथम अपने आत्मरूप की आध्यात्मिक गुरु से प्रतिष्ठा करा लेनी चाहिए फिर जगत–हितार्थ घोर जप–तप करना चाहिए।

जगत में दो प्रकार के साधक होते हैं–एक वे जो ब्रह्मजिज्ञासा को लेकर घोर जप, तप, ध्यान में प्रवृत्त हो गये और अपने आत्मसंयम के कारण अष्टसिद्धि एवं नवनिधियों से सम्पन्न होकर तब आत्मज्ञानरूप परम लाभ को प्राप्त किये, जैसे वाल्मीकि तथा दूसरे वे जो आत्मरूप होकर तप, त्याग एवं ध्यान–समाधि में प्रवृत्त हो गये, जैसे भगवान शुकदेव। जहाँ ब्रह्मर्षि वाल्मीकि को भगवत्प्राप्ति के निमित्त जपयोग में प्रवृत्त किया गया, वहीं भगवान शुकदेव को आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए महाराज जनक के पास भेज दिया गया, जहाँ आत्मज्ञानरूप परम लाभ को प्राप्तकर लोकहितार्थ वे सुमेरु पर्वत पर तप, त्याग एवं ध्यान–समाधि में प्रवृत्त हो गये।

आज साधक पुस्तकीय ज्ञान से ही सन्तुष्ट होकर अपने को आत्मज्ञानी मान लेते हैं

लेकिन उनके तन, मन, वचन से त्याग की जगह विषयता बरसती रहती है। उनके संन्यासी वेश में गृहस्थाश्रमी व्यवहार कतई शोभा नहीं देता किन्तु क्षुद्र प्रज्ञावादिता तो अपना काम करेगी ही करेगी। भगवान का इस मंत्र से एक और भी दिव्य सन्देश मिलता है कि जितना जप, तप, योग, ध्यान, समाधि का अभ्यास आत्मज्ञान लाभ करके सुगमता से हो सकता है, उतना अज्ञानता में अर्थात् मुमुक्षुता में नहीं। देखा गया है कि आत्मज्ञान से सम्पन्न हुए बिना जप–तप, योगादि से उच्चाटन भी हो जाता है अथवा बहुत लम्बा काल लग जाता है आत्मरूप होने में लेकिन सद्गुरु से सत्संग द्वारा आत्मज्ञान लाभ करके जप, तप, योगादि में प्रवृत्त होने में सहजता हो जाती है, जैसे चूडाला एवं राजा शिखिध्वज। ये दोनों पति–पत्नी हैं, दोनों में से एक चूडाला को आत्मजिज्ञासा पहले हो गयी और उसने आत्मज्ञानियों का सत्संग लाभ कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया तथा आत्मरूप होकर जगतहितार्थ योगसाधना द्वारा अष्टसिद्धियों और नवनिधियों को तीन साल में ही प्राप्त कर लिया, जिसका उपयोग समय–समय पर आत्मजिज्ञासुओं के कल्याणार्थ किया। वहीं जब राजा शिखिध्वज को वैराग्य होता है, आत्मजिज्ञासा होती है तो चुपके से आधीरात को नगर छोड़कर बहुत दूर वनप्रदेश को चले गये और अठारह साल व्यतीत होने पर भी पल्ले कुछ नहीं पड़ा, न सिद्धि, न ज्ञान। तब चूडाला ने किसी अन्य वेश में उन्हें आत्मज्ञान दिया, जिसका विधिवत् प्रसंग आगे नवम् अध्याय में दिया गया है। महाराज के गुरुदेव भी प्रायः कहा करते थे कि आत्मशक्ति से सम्पन्न हुए बिना बातूनी ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है। अतः महाराज भी कहता है कि वह सरिता किस काम की जिसका जल पीया न जाय, वह वृक्ष किस काम का जिसका फल खाया न जाय, वह ज्ञान किस काम का जो दिया न जाय, वह ध्यान किस काम का जिससे ज्ञान लिया न जाय और वह ज्ञान किस काम का जिससे परमानन्द परम शान्ति प्राप्त की न जाय।

उपरोक्त तीन मंत्र संन्यास आश्रमी साधकों एवं सन्तों के लिए उपदेश दे रहे हैं और अब आगे के मंत्र गृहस्थाश्रमी साधकों, सन्तों एवं आत्मज्ञानियों के लिए इसीप्रकार का सन्देश रूप उपदेश देने जा रहे हैं–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥२१॥

इतना ही नहीं, गृहस्थाश्रम में रहनेवाले आत्मज्ञान से सम्पन्न अर्थात् आत्मरूप हुए जनकादि ज्ञानी अनासक्त हुए कर्म द्वारा ही परम सिद्धिरूप आत्मतत्व को प्राप्त कर लिए हैं। इसलिए जगत–हितार्थ तुम्हें अपने कर्तव्य कर्म को करना ही चाहिए। यही नहीं, यह तो देखा ही जाता है कि जैसा श्रेष्ठपुरुष आचरण करते हैं वैसा ही सामान्य जन भी करने लगते हैं। वे जो भी नियम बनाते हैं उसी के अनुसार अन्यलोग भी चलने लगते हैं।

प्रभु ने अपनी ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत महाराज जनक को आदर–मान और सम्मान के साथ जगह दिया है। वे ऐसा करें भी क्यों नहीं; क्योंकि वे गृहस्थाश्रमी गुरु बन गये हैं तथा गृहस्थाश्रमी शिष्य को अति विमोह हो गया है। अतः उसके सामने संन्यास आश्रमी आत्मज्ञानियों की कहानी कहेंगे तो शिष्य बिदक (चौंकना, भड़कना, चिढ़ना) जायेगा, फिर तो इनके लिए बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जायेगी। भगवान तो अर्जुन को यह भी संकेत कर रहे हैं कि तुम्हें आत्मज्ञान के लिए किसी संन्यासी गुरु के पास नहीं जाना पड़ेगा। तुम चिन्ता न करो महाराज जनक को भी ऐसा ही सद्गुरु (अष्टावक्र) मिला था, जिसके पास गृहस्थाश्रम में दो धर्मपत्नियाँ थीं, जिसने राजा जनक को आत्मज्ञानी बनाकर संन्यास लिया। मैं तो तुम्हें आत्मज्ञानी बनाकर थोड़े ही समय के उपरान्त जगत से ही संन्यास ले लूँगा। जब गीताजी बोलने ही लगेगी घर–घर में, तो फिर मुझे कौन पूछेगा?

महाराज जनक की अनासक्ति के बहुत प्रमाण हैं, जिनमें एक तो बहुत ही विख्यात है। एक बार कुछ दिनों के लिए ज्ञानयज्ञ का सत्र चलाया गया। नगर के बाहर ही उसकी व्यवस्था थी जहाँ राजा के साथ प्रजावर्ग के श्रोता एवं बनवासी साधक भी आ सकें। प्रायः राजा जनक के आने के उपरान्त ही अष्टावक्र ज्ञानगंगा बहाते थे। बहुत से श्रोताओं के मन में इसे लेकर ऊहा–पोह की कल्पना उठने लगी थी अष्टावक्रजी पर। उनपर इतनी उँगली उठ गयी कि इन्हें राजा से दक्षिणा विशेष मिलती है न, इसलिए इनका ध्यान पहले रखते हैं। अष्टावक्र ने लोगों के मानसिक द्वन्द्व को दूर करने के लिए एक घटना प्रस्तुत की। उन्होंने अपने योगबल से नगर में मायामय आग लगा दी। एक प्रहरी दौड़ता हुआ आया और जोरों से (घबराते हुए) चिल्लाते हुए बोला– हे राजन्! आप कथा सुन रहे हैं, जबकि पश्चिम दिशा की तरफ से आग नगर की तरफ बढ़ती आ रही है। महाराज जनक ने कहा– अभी नगर में तो आग ने प्रवेश नहीं किया? तबतक दूसरे प्रहरी ने कहा– लग गयी महाराज! महल में आग लग गयी। उन्होंने कहा– अन्तःपुर में आग लगी नहीं न! तबतक तीसरे ने कहा– वहाँ भी आग पहुँच गयी महाराज! घर–परिवार, बाल–बच्चों एवं स्वजनों से अनासक्त उस राजा जनक ने कहा कि अब विशेष समाचार देने की किसी को आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मेरे हृदय में आग नहीं लगी है, अतः मैं तो पूरी कथा सुनकर ही उठूँगा। यहाँ तक होते–होते गृहस्थाश्रमी श्रोताओं से पण्डाल खाली हो गया। तबतक एक साधक आकर सन्तों से कहता है कि आप सब यहाँ कथा सुन रहे हैं और वहाँ सारी कुटियों में आग लग गयी है। सभी साधक दौड़ पड़े लेकिन वह तो मायामय आग थी, वहाँ कुछ जला ही नहीं था। न महल में आग लगी थी, न झोपड़ी में बल्कि आग तो उन सभी श्रोताओं के मन में लगी थी। सभी पुनः अपनी–अपनी जगह आकर बैठ गये। सबको यह समझते देर न लगी कि गुरुदेव ने हमलोगों को गहरी चोट दी है।

राजा जनक की अनासक्ति का दूसरा प्रमाण है कि उस राजा ने श्रीरामजी द्वारा निष्कासित कर दिये जाने पर भी भगवती सीता को अपने यहाँ जनकपुरी में नहीं बुलाया, न ही कुछ प्रभु श्रीराम पर एवं अयोध्या की प्रजा पर आक्षेप किया। उसने यदि भगवती सीता एवं

उर्मिला को अपनी बेटी माना होता तो लक्ष्मण के वन–गमन के उपरान्त उर्मिला को अपने यहाँ बुला लिया होता और भगवती सीता को भी वन से यह कह करके ले आता कि बेटी! तुम्हारे पति एवं प्रजा ने तुम्हें त्यागा है, पर मैंने तो त्यागा नहीं है, आपत्ति–विपत्ति में माता–पिता, भाई–बान्धव भी तो काम आते हैं। लेकिन यह सब आडम्बर उसने कुछ भी नहीं किया। इतना ही नहीं, उस महापुरुष को भाग्य एवं भगवान पर इतना विश्वास था कि भगवती सीता के लिए स्वयंवर ही रच दिया। ऐसा स्वयंवर नहीं, जिसमें बच्चे एवं बच्ची स्वयं एक–दूसरे का चुनाव करें बल्कि शक्तिपरीक्षण के साथ वह स्वयंवर था। सालभर तक असुरों ने उसकी सीता जैसी बेटी को प्राप्त करने के लिए कईबार उसके नगर पर आक्रमण किया लेकिन वह आत्मस्वरूप में स्थित रहता हुआ ही उन आसुरी प्रकृति के राजाओं से घोर युद्ध करता रहा। वाल्मीकीय रामायण एवं अन्यान्य रामायणों में इन सब घटनाओं को सम्पूर्णता से खोला गया है। किसी के द्वारा भी धनुष उठाकर प्रत्यञ्चा चढ़ाने की सामर्थ्य को न देखकर उस महापुरुष द्वारा विकल होना मात्र एक नाटक था। वह भलीभाँति जानता था कि राम ही मेरी पुत्री के योग्य वर हैं और वे ही इसका वरण करेंगे। आत्मज्ञान होने के उपरान्त भी उस महापुरुष ने गृहस्थाश्रमोचित कर्तव्य कर्मों का परित्याग नहीं किया था। इतना ही नहीं, नित्यप्रति राजकार्य चलाने के पूर्व उस राजा ने राजसभा में सर्वप्रथम साधकों, सन्तों, सिद्धों एवं गुरुजनों से आधा–एक घण्टा सत्संग सुनने की परम्परा बना रखी थी। इसके बाद उनसब को विदा कर राजकार्य में प्रवृत्त हो जाता था। उस राजा ने सद्गृहस्थों के लिए भी संदेशरूप उपदेश दिया कि सर्वप्रथम ज्ञान लेना, फिर कर्म करना। यही नहीं, आत्मज्ञानरूप हो जाने के उपरान्त भी उसने ज्ञानयज्ञ रूप कर्म प्रजा के हितार्थ जारी रखा। उसकी आदर्श परम्परा को आदर्श गृहस्थ 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में देखें और तदनुरूप व्यवहार करें।

गोस्वामीजी ने भी स्पष्ट कहा है–

अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

अर्थात् चींटी तो नदी को पार कर ही नहीं सकती लेकिन जब उसपर पुल का निर्माण हो जाता है तो सबकी तरह उसके लिए भी पार जाना सहज हो जाता है। यहाँ पर वैसा ही संकेत है कि यदि आपको अष्टावक्र जैसा सद्गुरु मिल गया और आप गृहस्थाश्रम में हैं तथा उसके सत्संग एवं कृपा द्वारा आपको आत्मज्ञानरूप परम लाभ की प्राप्ति हो गयी तो आप राजा जनक के आदर्श व्यवहार का त्याग न करें, यज्ञ, दान एवं तपरूप स्वधर्म को लोकहितार्थ करते रहें। जिस पद पर जो रहता है, उस पद के अनुरूप ही उसमें कर्म शोभा देता है। महाराज जनक ने आत्मज्ञान होने के उपरान्त अतिथि–अभ्यागतों की सेवा पूर्व की अपेक्षा विशेष करनी प्रारम्भ कर दी थी। इन मंत्रों के पूर्व जिन पञ्चमहायज्ञों की बात महाराज ने की है, उन्हें पूरा करने में उन्होंने कोई कोर–कसर नहीं रखी। आप आत्मज्ञान का ढोंग करते हुए दीन–दुखियों, साधक,

सिद्ध एवं सन्तों का अपमान मत करें। ऐसा न कहें कि जब आत्मज्ञान घर में ही मिल जाता है तो इनलोगों ने पलायन करने का ढोंग क्यों किया? यदि आप ऐसा करते हैं तो निश्चितरूप से बातूनी ज्ञानी हैं अर्थात् प्रज्ञावादी हैं। सर्वथा निर्दोष होकर कोई दूसरे में दोष कैसे देख सकता है? आत्मज्ञानी होते हुए भी राजा जनक ने ब्रह्मचारी वेश में आये हुए आत्मजिज्ञासु महात्मा शुकदेव का जो मान–सम्मान एवं उनकी अर्चना–वन्दना की है, वह देखते ही बनती है। एकमात्र उसका एक ही कारण था कि वे गृहस्थाश्रम में थे। अतः संन्यासपद को प्रतिष्ठित करना उनका परम धर्म हो जाता है।

(यद्यदाचरति श्रेष्ठः.....) यदि आप संन्यास आश्रम में हैं तो उसके बाह्य नियमों का सांगोपांग पालन करें; क्योंकि ये न भूलें कि आपके पीछे चलनेवाले भी बहुत से संन्यास आश्रमी साधक हैं, जो आपके व्यवहार की ही नकल करेंगे। भले ही पूर्व के आचार्यों ने भलीभाँति त्याग एवं तप का खूब प्रदर्शन किया हो लेकिन आपके पीछे चलनेवाले साधक आपके ही व्यवहार को प्रमाण मानेंगे। वर्तमान का व्यवहार जो देखने में आता है, जितना प्रभाव चित्त पर वह डालता है, उतना अतीत का नहीं। इसलिए ऐसा त्यागमय व्यवहार करें कि पूर्वाचार्यों का जप, तप, योग, त्याग, वैराग्यादि प्रत्यक्ष दीखने लगे। आपके व्यवहार को देखकर आपके अनुयायी पूर्वाचार्यों के तप एवं त्याग की हँसी न करें। अब आगे देखें कि भगवान कैसी गोपनीय बात खोल रहे हैं–

न में पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

आत्मज्ञानियों की कहानी कहते–कहते प्रभु ने अपनी कहानी कहनी शुरु कर दी। वे सद्गुरु हैं, अतः अपने शिष्य को अन्धेरे में क्यों रखेंगे। वे यह बता रहे हैं कि मैं तो आत्मरूप ही हूँ। मेरे लिए तो जगत में कोई वस्तु, विषय एवं पदार्थ अप्राप्त नहीं है तो भी तो गृहस्थाश्रमी जीवन जी ही रहा हूँ। यही नहीं, मैं तो अति सावधानीपूर्वक अपने स्वरूप को छिपाते हुए व्यवहार कर रहा हूँ। यदि कर्मों को त्यागकर सदा अपने स्वरूप में रहकर ज्ञानसमाधि में पड़ा रहूँ तो सभी मेरा अनुसरण करने लग जायेंगे। हे पार्थ! मैं यदि गृहस्थाश्रम धर्म के अनुरूप व्यवहार न करूँ तो सभी छिन्न–भिन्न हो जायेंगे और वर्ण संकरता का करनेवाला एवं प्रजा को नष्ट करनेवाला माना जाऊँ।

जिसप्रकार 'माँ जब बेटे के प्रेम में आती है तो उसके स्तनों से दूध बरसने लगता है ठीक उसीप्रकार सद्गुरु जब प्रेम में भर जाता है तो वह आत्मज्ञानी होने की घोषणा शिष्य के सामने

कर बैठता है।' वही स्थिति यहाँ भगवान की हो गयी है। भक्त अर्जुन के प्रेम में आकर वे अपने को छिपा नहीं पाये, अतः कह बैठे कि मुझ ब्रह्म को तो देखो कि जिसे कुछ करना शेष नहीं है वही (साक्षात् परम पुरुष) तुम्हारा सारथि बन बैठा है।

भगवान का आदर्श जीवन सद्गृहस्थों के लिए चुनौतीपूर्ण है। भगवान की गोपनीयता को आप सबने जान ही लिया है। यहाँ तक कि बलरामजी भी उन्हें नहीं पहचान सके और उनमें दोष–दर्शन करके तीर्थाटन के लिए निकल गये। प्रभु की नारायणी सेना का सामना करने की सामर्थ्य तीनों लोकों में किसी के पास नहीं थी, इसलिए कि उसका गठन उन्होंने स्वयं किया और धर्मयुद्ध के नियमों का सांगोपांग उपदेश दिया तथा पालन भी करवाया; किन्तु बड़े भाई बलराम ने इस युद्ध के प्रारम्भ में ही उन्हें त्यागकर उनका मानो वध तो कर ही दिया था। इस घटना को कौन नहीं जानता है कि प्रभु के धर्म पर अड़े रहने के कारण से उनके भाई ने उनका साथ छोड़ दिया था। यद्यपि वे संकल्प से उनकी बुद्धि को अपने अनुकूल बना सकते थे, किन्तु उनके साथ भी उन्होंने अज्ञानी जैसा ही व्यवहार किया। यदि वे सारा कार्य अपने योगबल से ही करने लगते तो सारे लोग जप, तप, योग की तरफ ही बह जाते, इस कारण से कर्म संकरता प्रकट हो जाती। ऐसा करने पर स्वधर्म भी छूटता एवं योग की प्राप्ति भी नहीं होती; क्योंकि जप, तप, योगादि की योग्यता तो किसी विरले में ही होती है।

सच तो यह है कि गोवर्धन पर्वत को प्रभु ने अपने ही योगबल से उठाया था, किन्तु ग्वालबाल इस रहस्य को न जानने पायें, इसलिए उसे उठाते समय उन्होंने चिल्लाकर कहा था– अरे! लाठी का सहारा दो, लाठी का सहारा दो! कंस ने बहुत से असुरों को भगवान के वध के लिए भेजा, लेकिन उनका वध कर देने के उपरान्त उसका श्रेय देवी–देवताओं को दिला दिया। अतः भगवान कहते हैं–

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

हे भारत! कर्मासक्त अज्ञानी जिसप्रकार कर्मों को करते हैं, उसी कर्म को अनासक्त पुरुष लोकसंग्रह को दृष्टिपथ में रखकर करें। इतना ही नहीं, आत्मस्वरूप में स्थित हुआ पुरुष अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम पैदा न करे बल्कि इसके विपरीत समस्त शास्त्रीय कर्मों को भलीभाँति करता हुआ उनको भी ऐसा ही करने की प्रेरणा दे।

भगवान ने सर्वप्रथम अव्यवस्थित कर्म को व्यवस्थित करने को कहा है। सदा सोते रहने से तो कर्म करना अच्छा है, मांस–मदिरा खाने–पीने से अर्थात् तामस भोजन करने से राजस भोजन ही अच्छा है। तामसी पुरुष को कोई चाहे कि बिना उसे राजस बनाये हुए सात्त्विक बना

दें, तो ऐसा असम्भव है। जिसको तम्बाकू खाने का खूब अभ्यास हो गया है, यदि उससे तम्बाकू छुड़वाना है तो उसे लौंग खाने को कहना पड़ेगा; क्योंकि सहसा तम्बाकू छोड़ने से तो उसका पेट ही खराब हो जायेगा। जर्दा मिश्रित पान खानेवाले को लौंग और इलायची मिश्रित मीठा पान खाने को कहना पड़ेगा। जो उपन्यास पढ़ने का आदी है, उसे रघुवंश महाकाव्य पढ़ने को कहना पड़ेगा। शृंगारिक बातों को काटने के लिए भगवत् शृंगारमय ग्रंथ तो हैं ही। अशुद्ध आसक्ति को शुद्ध आसक्ति से और शुद्ध आसक्ति को विशुद्ध आसक्ति से काटा जा सकता है। आसक्ति की काट अनासक्ति तो है लेकिन आसक्ति और अनासक्ति के बीच में शुद्ध, विशुद्ध एवं परम शुद्ध आसक्ति की व्यवस्था करके तब अनासक्ति की बात की जायेगी। माता–पिता के प्रति क्षुद्रजीवभाव हो गया है तो यही कहना पड़ेगा कि ये तो देवता ही हैं। उनके प्रति देवभाव में आसक्ति हो जाय तो कहना पड़ेगा, ये तो भगवान के ही पाँच मुख हैं, पाँच अंग हैं। यदि ऐसी आसक्ति हो जाय तो कुछ महीनों, वर्षों के उपरान्त कहना पड़ेगा कि ये साक्षात् ब्रह्म के सगुण रूप हैं। हाँ, यह बात अलग है कि ब्रह्म के तामस, राजस एवं सात्त्विक रूपों में से विषयी होने से कहना पड़ेगा कि ये तामस ब्रह्म हैं या राजस ब्रह्म हैं। यदि माता–पिता आध्यात्मिक साधक हैं तो उनके लिए कहना होगा कि ये ब्रह्म के सात्त्विक सगुणरूप हैं। जब इस सात्त्विक सगुणरूप में आसक्ति हो जाय तो उस विशुद्ध आसक्ति की काट के लिए कहना पड़ेगा कि ब्रह्म के सात्त्विकरूप की ही उपासना करते रहोगे? तो जिज्ञासु के द्वारा कौतूहल से पूछने पर कि फिर मैं किसकी उपासना करूँ? तो वहाँ कहना पड़ेगा कि निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करो। जब निर्गुण निराकार ब्रह्म में बुद्धि स्थित हो गयी तो कहना पड़ेगा कि वह परब्रह्म परमात्मा, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परम चैतन्य आत्मा तुम ही हो। इस ढंग से असाधक को साधक बनाया जा सकता है, साधक को सिद्ध बनाया जा सकता है तथा सिद्ध को परम सिद्ध बनाया जा सकता है। कोई कुएँ में गिर गया तो उसे रस्सी डालकर निकालना पड़ेगा। उसीप्रकार अज्ञानी का तन, मन, वचन, हृदय मोहरूपी गहरे गड्ढे में गिर गया है, तो उसे निकालने के लिए स्वयं मोह का प्रदर्शन करना होगा।

एक दिन हीरालाल पटेल (अम्बाचन्दन) से पूछा– कभी संन्यास लेने के लिए मन किया? क्योंकि बाल–बच्चे तो अब बहुत सुखी हैं, किसी बात का अभाव नहीं है? तो उन्होंने कहा– इस पचास साल की उम्र में भी कभी संन्यास की कामना नहीं हुई। महाराज ने कहा– अपने खेत पर झोपड़ी बनाकर रहिये और वहीं पर अपने बच्चों के फसल की रखवाली करते हुए भजन करिये। भजन करते–करते ही बीच–बीच में ओंकारेश्वर या ऋषिकेश चले जाया करें, वहाँ जबतक मन लगे तबतक रहें और पुनः जब विशेष बाल–बच्चे याद आयें तो लौट आया करें। जब वे कुछ विशेष राय लें तो दे दिया करें और नहीं तो साधन–भजन करते रहें। इसप्रकार धीरे–धीरे या तो घर में ही संन्यासी बन जायेंगे या निवृत्तिमार्गीय संन्यासी बन जायेंगे।

(सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो.....न बुद्धिभेदं....) पक्षी भी अपने बच्चों को धीरे–धीरे आकाश में उड़ाने का प्रयत्न करते हैं, उसीप्रकार ज्ञानी को चाहिए कि लोगों को धीरे–धीरे भक्त बनाये–

सर्वप्रथम मातृभक्त, फिर पितृभक्त, फिर क्रमशः गुरु, अतिथि एवं नृभक्त बनाते–बनाते सम्पूर्ण भूत–प्राणियों का भक्त बनाकर, अच्छीप्रकार अहिंसक बनाते हुए आत्मज्ञान का उपदेश करे। श्रीराम प्रभु सम्पूर्ण वेद–शास्त्रों के ज्ञाता हैं तो भी नित्यप्रति वेद, पुराण, शास्त्रों को गुरुजनों से इसलिए ही सुनते हैं क्योंकि उनके साथ–साथ बहुत से अज्ञानी श्रोता सुन लेंगे। आजकल तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, शौच, सन्तोष आदि नियम तथा अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों को बिना पालन कराये ही सीधे ध्यानयोग की लोग बात करने लगे हैं, इसी को कहते हैं– बुद्धि में भ्रम पैदा करना।

एक प्रवक्ता मंच पर चिल्ला–चिल्लाकर कह रहे थे कि मुझे तो गुरुजी ने कुछ ही दिन में आत्मज्ञान दे दिया। उसी आत्मज्ञान को मैं इस मंच से आपलोगों को दे रहा हूँ। उस आत्मज्ञान को मैं राजयोग के द्वारा दूँगा। आप खूब खायें, पीयें, सोयें, जागें, ऐशो–आराम से रहें, लेकिन राजयोग में प्रतिष्ठित हो जायें, जिस राजयोग में जप, तप, योग करना ही नहीं पड़ेगा। उस प्रवक्ता को जानना चाहिए कि जिस अर्जुन को भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने राजयोग दिया है वे महात्मा अर्जुन जितेन्द्रिय थे, निद्राविजयी थे, परम तपी, परम व्रती तथा परम त्यागी थे। क्या वे श्रोता उन्हीं की तरह जोगी, जपी, तपी, व्रती एवं जिज्ञासु हैं क्या? अरे! ऐसा कहकर क्यों बुद्धि में भ्रम डाल रहे हैं? भगवान की बात पर तो थोड़ा ध्यान दें!

इन दोनों मंत्रों से यह संकेत मिलता है कि भगवान ने सम्पूर्णता से आत्मज्ञान से सम्पन्न पुरुष के लिए यह उपदेश नहीं दिया है, बल्कि जो आत्मज्ञान से सम्पन्न तो है लेकिन आत्मशक्ति से सम्पन्न नहीं है, उस ज्ञानी से कहा है। दूसरे अध्याय में ज्ञानयोग की प्रस्तावना करने से महात्मा अर्जुन ने अपनी सूक्ष्मबुद्धि से आत्मतत्त्व को कुछ हद तक पकड़ लिया है, अतः उनके मन में स्वाभाविक ही कल्पनाएँ उठ रही हैं कि यहाँ तो मरने–जीने और मारने–मरवाने से तो कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं, फिर यह युद्धरूप महाघोर कर्म किया ही क्यों जाय? इसी पर भगवान कहते हैं कि अज्ञानी तो इस बात को नहीं समझेंगे, उनके लिए तो धर्मयुद्ध की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।

जबतक कोई आत्मशक्ति से सम्पन्न नहीं हो जाता, तबतक अज्ञानियों के बीच रहकर अज्ञान का ही प्रदर्शन करता रहे, ताकि उसके आध्यात्मिक पथ में नजर न लग जाय। भगवान का प्रयास है कि आप अपने को छिपा कर चलें, अपने आत्मज्ञान को छिपाकर चलें तथा अपनी आत्मचिन्तनरूपी साधना को छिपाकर चलें। गृहस्थाश्रम एक अद्‌भुत साधनास्थली है। सारे के सारे घर, परिवार, गाँव, हित–मित्रादि इस साधनास्थली के अंग–उपांग हैं। सभी आपके जीवन से कहीं न कहीं जुड़े हुए रहते हैं। यदि आप केवल आत्मज्ञानी ही हैं, आत्मशक्ति से सम्पन्न नहीं हैं तो भी आप घर के अभिभावक हैं, तो घर के पूरे सदस्यों के आचार–विचार, व्यवहार को व्यवस्थित करने का उत्तरदायित्त्व आप पर ही होता है। यदि आपका तन, मन, वचन, हृदय अपने–आप में व्यवस्थित है तो उनका भी तन, मन, वचन, हृदय धीरे–धीरे व्यवस्थित होगा लेकिन यदि आपका जीवन असंयमित है तो उनका भी जीवन अस्त–व्यस्त हो जायेगा।

गृहस्थाश्रम एक ऐसी नदी है, जिसमें मोहरूपी जल बह रहा है, उसमें काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सररूप मगरमच्छ अर्थात् हिंसक प्राणी निवास करते हैं। इसके किस भाग में इनका वास है, आपको यह भी जानना चाहिए। यदि आपके पास ऐसी पुण्य की पूँजी है कि अष्टावक्र के जैसा ब्रह्मज्ञानी गुरु आपके गाँव के निकट वास करे, जो इस नदी को पार करने की दिव्य नौका हैं तो भी तैरने की बहुत सी कलाओं को सीखना ही होगा; क्योंकि परिवार के सारे सदस्य तो आपकी ही नकल कर रहे हैं; आप डूबे तो सब डूबे।

एक साधक ने अपने विद्यार्थी जीवन की कहानी बतायी कि हम बहुत से साथियों ने गंगाजी को तैरकर पार जाने का मन बनाया। बक्सर (बिहार) के पास बाढ़ के दिनों में दोनों किनारों के बीच की दूरी लगभग आधा किलोमीटर की होती है। बीस–पच्चीस विद्यार्थियों में से गंगाजी के बीच में जाते–जाते लगभग मेरे साथ दो विद्यार्थी बच गये थे; वे भी अकारण मगरमच्छ के भय से काँप उठे। उसमें से एक ने कहा– ऐसे में ही मगरमच्छ होते हैं! हाय! मैं तो मारा गया– ऐसा कहते ही वह डूबने लगा, तो मैंने जल्दी से उसके कंधे में हाथ लगाया। तबतक दूसरे ने भी कहा– अब मैं भी गया! मैंने उसके भी कंधे में हाथ लगाकर पैरों से तैरना प्रारम्भ किया तथा उन दोनों से कहा– अपने शरीर को शिथिल छोड़ दो और धारा में बहने दो। मेरे पास तैरने की अनेक कलाएँ थीं, जैसेः– खड़े होकर, खड़े–खड़े दोनों हाथों को ऊपर उठाकर, पीठ एवं पेट दोनों के बल लेटकर और अगल से तथा बगल से। मैंने कहा– मैं एक भजन गाता हूँ, तुमलोग ध्यान देकर सुनते रहो। उनसे ऐसा कहकर मैंने अपने इष्ट का एक भजन गाया, फिर पूछा– चित्त स्वस्थ हो गया? उन दोनों ने कहा कि अभी नहीं। तो लो एक और सुनो– ऐसा कहकर पैरों से बड़े आहिस्ते–आहिस्ते तैरते हुए और उनलोगों को तैराते हुए दूसरा भजन गाया। उसके उपरान्त कहा– आगे चलें या पीछे। उनलोगों ने कहा– पीछे। तो मैंने कहा– अच्छा तो अब धीरे–धीरे अपने से तैरो, डरोमत, डरने से आत्मबल चला जाता है, जहाँ थक जाना वहाँ बोल देना। इसप्रकार तैरते–तैरते बहाव की तरफ मुख्य घाट से एक किलोमीटर दूर जाकर किनारे की तरफ लग गये।

(न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां.....) ठीक इसीप्रकार आपके अनुगामी सदस्यों की प्रकृति अलग–अलग होती है। आपको चाहिए कि ऐसा आदर्श प्रस्तुत करें कि वे भगवत् प्रकृति की तरफ चलने के लिए बाध्य हो जायें। वंशानुगत प्रकृति की परम्परा विशेष देखी जाती है। यदि आप चाहते हैं कि मेरे बाल–बच्चे, अनाप–शनाप न खायें पीयें, तो सर्वप्रथम वैसा आपको करना होगा। ऐसा देखा जाता है कि वेश्यागामी पिता के बच्चे वेश्यागामी, चोर के चोर तथा भगवद्भक्त के भगवद्भक्त होते हैं। यदि आप भगवद्भक्त बालक को छोड़कर अन्य बच्चों से सुख–शान्ति की कामना करते हैं तो मानो आकाश से दूध दुहना चाहते हैं। जैसा राजा वैसी प्रजा की कहावत तो विख्यात ही है। राजा जनक की नगरी में भिखारी भी ब्रह्मज्ञान की ही बात करते थे। यदि आप भगवान के नहीं हैं तो बच्चा आपका कैसे हो जायेगा! यदि आप ही भगवान के ऋण को पूरा नहीं कर रहे हैं तो बच्चे से मातृऋण, पितृऋण को पूर्ण करने की अपेक्षा किस आधार पर कर रहे हैं? बच्चा

आपकी आज्ञापालन नहीं करता तो आप विचार करें कि क्या आपने अपने अभिभावकों की उचित आज्ञा का पालन किया है? क्या आपने संतों की, शास्त्रों की, भगवान की आज्ञा मानी है? यदि नहीं, तो कर्म संकरता एवं वर्ण संकरता के मुख्य कारण आप ही हैं। इसी प्रमाद के कारण से तो भाषा संकरता, संस्कृति संकरता आदि भी होती है। जब अन्तर्जातीय विवाह होने लगता है, तो उसे वर्ण संकरता कहते हैं, जब नियत कर्म के साथ–साथ पराये कर्मों को भी करने लगते हैं तो कर्म संकरता होती है, जब अपनी भाषा में पूरी पकड़ नहीं होने से दूसरे की भाषा का आश्रय लेना पड़ता है, तो उसे भाषा संकरता कहते हैं। यदि कोई आर्य संस्कृति के साथ अनार्य संस्कृति को स्वीकार कर लेता है तो वहाँ पर संस्कृति संकरता हो जाती है।

उत्तर प्रदेश में देवबन्द (सहारनपुर) के पास मिरगपुर नामक क्षत्रियों का एक गाँव है जहाँ कि आबादी सम्भवतः पाँच हजार की होगी। लगभग चार सौ–वर्षों से उस गाँव में लहसुन, प्याज, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, मांस, शराब, आदि नहीं आया है, जबकि गाँव के बहुत से लोग सेना में तथा अन्य सरकारी नौकरियों में भी हैं; फिर भी कभी किसी ने उपरोक्त पदार्थों में से एक का भी सेवन नहीं किया है। चार सौ वर्ष पहले वहाँ फकीरा बाबा हुए थे, जिनको गाँव के लोग अपना इष्ट मानते हैं और उन्हीं की आज्ञानुसार आज तक वे सात्त्विक आहार करते चले आ रहे हैं। इस न्याय से तो आप जगे सब जागेंगे, आप भगे सब भागेंगे।

जो आप बाँटते हैं वही तो मिलता है। सूर्योदय के पश्चात् भी आप सोये रहते हैं और बच्चों को जागने के लिये चिल्लाते रहते हैं, यह कैसे सम्भव है? बच्चे ने आपसे ही तो सीखा है कि सूर्योदय के पश्चात् सो सकते हैं! उसने तो आपसे ही सीखा है कि सन्ध्या में, खा–पी सकते हैं, सो सकते हैं और जो मन चाहे कर सकते हैं। महाराज ने प्रत्येक घर में देखा है कि परस्पर में न प्रेम है, न सौहार्द्र है, न शान्ति है और जो दो दिन का इन्द्रिय सुख है, उसका तो पता ही नहीं है कि कब वह लुप्त हो जायेगा। पिता–माता अपने पुत्र से राम जैसा आदर्श चाहते हैं लेकिन स्वयं दशरथ एवं कौसल्या नहीं बनते, बड़ा भाई छोटे भाई से लक्ष्मण जैसा तथा छोटा भाई बड़े भाई से राम जैसा व्यवहार चाहता है किन्तु स्वयं राम–लक्ष्मण तो बनते नहीं।

(न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां.....) माना कि यदि ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं है तो जो भी कुछ प्राप्त है वह अल्प ही है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि ब्रह्मविद्या की स्थापना करने के लिए सगुणोपासक भक्त की विद्या का खण्डन कर दिया जाय। वह कहता है– देखा! बिहारीजी कैसी प्रेमदृष्टि से मुझे निहार रहे हैं, क्या ठाट–बाट हैं इनके तथा जगन्नाथपुरी में तो भगवान लकड़ी में ही छिप गये हैं और हर प्रकार के मेवा–मिष्ठान्न खाते हैं। निर्गुणी कहते हैं कि तुम कैसे महामूर्ख हो! बिहारीजी तो पत्थर की मूर्ति का नाम है, पत्थर की मूर्ति को कहीं दिखाई पड़ता है? लकड़ी काटकर एक मूर्ति की आकृति दे दी गई और उसी में तुम जगन्नाथ भगवान को देखकर कैसा ढोंग कर रहे हो? महाराज तो कहता है कि ऐसे लोगों से भगवान बचाये। अरे! हे निर्गुणी! कम से कम आप इतना तो देखें कि वह तो पत्थर और लकड़ी में भी भगवान को देख लेता है किन्तु आप तो अपने बाल–बच्चों में भी क्रोध, लोभ, मोह ही देखते हैं। आपका निर्गुण ब्रह्म कैसा है

जो न आपके बाल–बच्चों में ही है और न मिट्टी, पत्थर तथा लकड़ी की मूर्ति में ही है? पहले घर–घर में ठाकुरजी का मन्दिर होता था, जहाँ भगवान के निमित्त ही प्रसाद बनाया जाता था, जिस प्रसाद को पाकर सबकी बुद्धि भगवन्मय हो जाती थी लेकिन आज घर–घर से ठाकुरजी की मूर्ति को हटाकर निर्गुण गुरु का चित्र रख लिया गया है। यह कैसा ढोंग है जो कहते हैं कि मूर्ति में भगवान है ही नहीं जबकि स्वयं गुरु की मूर्ति एवं चित्र में गुरु को देखकर माल्यार्पण करते हैं, प्रणाम करते हैं आरती एवं पूजा–पाठ करते हैं?

भक्त उद्धव ने भी अपने ज्ञानयोग के द्वारा गोपियों के मन में भ्रम पैदा करना चाहा था। हाँ, यह बात अलग है कि गोपियों के द्वारा उन्हीं की बुद्धि भ्रमित हो गयी। भगवान का यहाँ संकेत है कि यदि आत्मजिज्ञासु बन जाना तो अपनी जिज्ञासा को माता–पिता, भाई–बान्धवों के सामने भी मत कहना बल्कि जबतक आत्मबल न आ जाय तबतक अपनी भक्ति को छिपाना। ध्रुव, प्रह्लाद ने भगवान से यह नहीं कहा कि हे प्रभु! चलकर हमारी माँ को दर्शन दे दें। द्रोणाचार्य ने भी एकलव्य के पास मूर्ति पूजा का खण्डन नहीं किया। उन्होंने उससे यह नहीं कहा कि अरे! मूर्ख! तुम्हें मेरी मूर्ति की स्थापना न करके भगवान शंकर की मूर्ति की स्थापना करनी चाहिए थी; क्योंकि वे अच्छीप्रकार से जानते थे कि भक्त की श्रद्धा एवं विश्वास में ही शक्ति का वास होता है।

सन् १९७५ में एक साधक ने अपनी माँ से पूछा तुम कौन–कौन से व्रत करती हो? माँ ने कहा–एकादशी, प्रदोष, शुक्रवार और रविवार। संयोगवश कुछ ही दिनों में ये चारों व्रत एक साथ आ गये। साधक को महीनों निर्जल व्रत करना था लेकिन माँ से बोला कि तुम्हारे ये चारों व्रत जो लगातार आये हुए हैं, उन्हें मैं भी कर लूँ क्या? माँ ने कहा– कर लो! क्या आपत्ति है? साधक ने कहा– ये ही आपत्ति है कि तुम तो फलाहार करोगी परन्तु मैं तो फलाहार भी नहीं करूँगा। हाँ, भूख लगेगी तो फलाहार कर लूँगा। माँ को ऐसा झूठा आश्वासन देकर साधक ने एकान्त में निर्जल व्रत प्रारम्भ कर दिया। माँ ने बारहवें दिन उसके व्रत को जान लिया; क्योंकि शरीर में मांस था ही नहीं। उसके पहले से ही व्रतों के कारण से शरीर कृश तो था ही, अब केवल हड्डी दिखाई पड़ने लगी। माँ ने कहा कि क्या कर रहे हो? साधक ने कहा– भूख और प्यास की खोज कर रहा हूँ, जिस दिन भूख एवं प्यास लगेगी, उस दिन खा–पी लूँगा लेकिन साधक ने अपने व्रत के उद्देश्य को माँ से नहीं बताया और न ही उसने माँ की मूर्तिपूजा पर किसीप्रकार का आक्षेप किया, न ही उससे यह कहा कि तुम इतने देवी–देवताओं के नाम का जप एवं व्रत क्यों करती हो, अपने हृदय में भगवान को क्यों नहीं देखती हो।

एक भक्त नित्यप्रति गीताजी का पाठ किया करता था। सपने में एक–दो बार भगवान की झाँकी भी मिल गयी थी; तबतक किसी विद्वान ने कहा– गीताजी का अशुद्ध पाठ कर रहे हो, लाभ की जगह हानि हो जायेगी। उसने तथाकथित विद्वान की बात पर विश्वास कर के गीतापाठ छोड़ दिया अतः उस भक्त का गीतापाठ भी गया और भगवान की झाँकियाँ भी गयीं। शास्त्रों में साफ कहा गया है कि जब योग, जप, तप में भ्रम हो जाय तो उसका समाधान संत

से करायें, चलते–फिरते प्रज्ञावादियों पर विश्वास न करें।

महाराज तो स्वयं भगवान को ही देख रहा है कि इन्होंने इस ब्रह्मविद्या को पितामहभीष्म जैसे ब्रह्मचारी को भी नहीं दिया, द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य की तो बात ही क्या है; जबकि ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले गृहस्थाश्रम में विरले पाये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि संन्यास आश्रमी ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए है और इनका ब्रह्मचर्य पिता की प्रसन्नता के लिए है तथा इनके पास शास्त्र, पुराण एवं वेद की परिभाषा अपनी है इसलिए प्रभु ने इनको छेड़ा ही नहीं। भगवान असुरों से गोपनीय बने रहे किन्तु इन्हें तो बता भी दिया था कि मैं ही ब्रह्म हूँ तो भी उनसे ब्रह्मविद्या गोपनीय ही रखी। यही नहीं, ब्रह्मजिज्ञासु की तरह शरणागत नहीं होने से तथा विषयी कौरवों का साथ देने से इन्हें विषयी होने का और भगवती द्रौपदी के चीरहरण के समय हिजड़े की तरह बैठे रहने से इन्हें हिजड़ा होने का एवं कुछ नहीं बोलने के कारण गूँगा होने का पाप भी लग गया है, इसलिए भी भगवान इनकी सराहना तो करते रहे लेकिन समयानुसार उन्हें ठिकाने भी लगा दिया।

(न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां.....) अब थोड़ा युद्ध के मैदान में चलते हैं, जहाँ देखें कि भगवान क्या कह रहे हैं। मानो भगवान ने कहा– हे पार्थ! गधे को लाठी से हाँका जाता है, हाथी को अंकुश लगाया जाता है, घोड़े को चाबुक से इशारा किया जाता है, बच्चे को वाणी से डाँटा–फटकारा जाता है, धर्मपत्नी को आँख दिखाकर सावधान किया जाता है, माता–पिता, बड़े–बूढ़ों की अनुचित आज्ञा की अवहेलना करके अवज्ञा कर दी जाती है, ध्यान के अनाधिकारी को ध्यान देकर, जप के अनाधिकारी को जप देकर, तप तथा योग के अनाधिकारी को तप एवं योग देकर बुद्धि में भ्रम पैदा कर दिया जाता है; वैसे ही तुम्हारे द्वारा धर्मयुद्ध का त्याग अज्ञानियों में भ्रम पैदा करनेवाला होगा। सहज में ही वे सब कहेंगे कि अर्जुन जैसे महावीर योद्धा ने जब धर्म का त्याग कर दिया और उन्हें पाप नहीं लगा तो हमें ऐसा करने में क्या पाप लगेगा? ऐसा सोचकर वे सब स्वर्ग से वंचित रह जायेंगे। यहाँ पर ऐसा कौन योद्धा है जो यह नहीं जानता कि युद्धभूमि में शरीर त्यागने से वीरगति (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है। इन सब ने इसप्रकार के धर्मयुद्ध की अपने इष्ट से कामना की है, इनके इस अधिकार को छीनने की चेष्टा क्यों कर रहे हो? तुम पाँचों महादाता हो। दुर्योधन ने भिक्षा में ही तुमलोगों से इस युद्ध को माँगा है तो उसकी कामना पूरी करो। अधर्म को ही तुमने धर्म समझ लिया है। इस समय इस युद्ध में तुम्हारे जैसा तो कोई शोक संतप्त है ही नहीं। इसलिए ऐसा कोई योद्धा नहीं है जो तुम्हारे इस कायरतारूप दोष पर हँसी न उड़ाये। अतः तुम शोक–संताप त्याग दो; क्योंकि इस धर्मयुद्ध में इन सब को स्वर्ग मिलेगा और तुमको अक्षय कीर्ति मिल जायेगी। आनेवाली पीढ़ियाँ अनन्तकाल तक तुम्हारे चरित्र को गाते हुए यही कहेंगी कि महात्मा अर्जुन ने धर्म–रक्षार्थ अपने स्वजनों तक का वधकर भगवान को प्रसन्न कर लिया तथा प्रभु को अपना सर्वस्व देकर कुछ माँगा भी नहीं और मेरे विषय में लोग कहेंगे कि वंशीवाले श्याम भी कहीं पीछे नहीं रहे। उन्होंने अर्जुन के नहीं चाहने पर भी अपना सर्वस्व (ब्रह्मविद्या) दे दिया।

यथार्थ ब्रह्मतत्त्व को जानते हुए भी दूसरों को क्यों न बताये, इसको भगवान पुनः विस्तार के साथ बता रहे हैं–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्म तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किये जाते हैं; किन्तु जो मोहित चित्तवाले मूर्ख तथा अहंकारी हैं, वह 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसा मानते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत हे महाबाहो! कर्म एवं तत्त्वविभाग को जो आत्मज्ञानी जानता है, वह सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझता हुआ कर्मों में आसक्त नहीं होता।

मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! प्रकृति के द्वारा होते हुए कर्मों में मूर्ख ही अपने को कर्ता मान लेते हैं। धृतराष्ट्र ही यहाँ पर अशुद्ध प्रकृति हैं। उस प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला अशुद्ध अहंकार ही दुर्योधन है। इस अशुद्ध अहंकार से उत्पन्न होनेवाली अशुद्ध बुद्धि ही पितामहभीष्म हैं। द्रोणाचार्य अशुद्ध मन, शकुनि एवं कर्ण ये दोनों ही अशुद्ध आँखें हैं। कृपाचार्य और अश्वत्थामा ये दोनों ही अशुद्ध कान हैं। अशुद्ध लोभ ही इनकी (धृतराष्ट्र की) जिह्वा है। इनके पक्ष की सारी सेना ही इनका अशुद्ध शरीर है, युद्ध की चाहना ही कर्तापना है। इसप्रकार तुम इस युद्ध के कर्ता कहाँ हो? युद्ध के कर्ता तो ये हैं। अतः स्वजनवध से होनेवाला महापाप उन्हें ही लगेगा, तुम्हें नहीं; क्योंकि युद्ध ये लोग चाहते हैं तुम नहीं। इनके द्वारा यह तो वही कहानी हो रही है कि 'आ बैल मुझे मार।' तो मारो अब देर क्यों कर रहे हो?

अब साधकों के बीच में आ जायें कि उनके लिए भगवान क्या कहना चाहते हैं–

(प्रकृतेः क्रियमाणानि.....) प्रारब्ध (प्रकृति) के द्वारा कर्म होते हुए भी, जो मूर्ख हैं वे कहते हैं कि मैं ही खाता–पीता, सोता–जागता हूँ अर्थात् कर्म का कर्ता हूँ। जो भक्त हैं, वे कहते हैं कि भगवान की कृपा से मैं खा–पी रहा हूँ, कर्म कर रहा हूँ। इससे भी आगे जो विवेकवान भक्त होते हैं, वे कहते हैं कि संस्कार ही खा–पी रहा है और मैं तो एकमात्र देख रहा हूँ तथा देखने की शक्ति–सामर्थ्य भी भगवान ने दी है। प्रभु का यह अत्यन्त गूढ़ात्मक रहस्य है, इसे सूक्ष्मता से पुनः समझें– जब आप स्वयं को कर्ता समझेंगे तो भगवान आपके लिए द्रष्टा हो जायेगा। इतना ही नहीं बल्कि शरीररूप होकर कर्ता समझते ही आपका अता–पता नहीं चलेगा; क्योंकि किसी काल में आप कर्ता हो ही नहीं सकते, इसलिए कि आप शरीर हैं ही नहीं लेकिन जैसे ही आप कर्ताभावरूप मूर्खता के वशीभूत होते हैं, वैसे ही आपके शरीर के भीतर–बाहर प्रारब्ध (प्रकृति) नृत्य करने लगता है तथा आपके सम्पूर्ण अंगोपांगों को अपने वशीभूत करके जैसा चाहता है, वैसा कराने लगता है। किन्तु यदि आप स्वयं को कर्ता नहीं मानते और द्रष्टा होकर

भगवान का आवाहन करते हैं, पुकारते हैं कि हे प्रभु! आप ही मेरे कर्ता–धर्ता हैं, मेरी मूर्खता को क्षमा करें और मुझ शरणागत की रक्षा करें। तो ऐसा सुनकर भगवान व्यक्तिगतरूप से आपका कर्ता बन जाता है। वहाँ प्रारब्ध (संस्कार) मौन हो जाता है। इसके ठीक विपरीत आपत्ति–विपत्ति पड़ने पर या अपनी मूर्खता पर आप चिन्ता करते हैं तो प्रभु आपकी चिन्ता नहीं करता और कहता है– तुम्हें जितनी चिन्ता करनी हो कर लो, जितना रोना धोना हो रो–धो लो, जिस तंत्र, मंत्र, योग के पास जाना है जाओ, मरना है मरो, जीना है जीओ; जब तुम्हें दिखाई पड़ जायेगा कि मेरा रक्षक भगवान के सिवा अब कोई नहीं है उस समय जब त्राहि माम्–त्राहि माम् करोगे तब मैं तुम्हारे लिए कर्ता एवं स्रष्टा दोनों बन जाऊँगा।

अब महाराज आपसे एक प्रश्न कर रहा है, इस प्रश्न का उत्तर आपके साथ–साथ छोटे बालकों से लेकर वृद्धों के पास भी है, भारत में इसका उत्तर न दे सकनेवाला कोई है ही नहीं। वह प्रश्न है कि भगवान कहाँ रहता है? इसका उत्तर आप देते हैं– भगवान सबके हृदय में रहता है, भगवान सर्वत्र रहता है। महाराज पूछता है वह भगवान हृदय में क्या मौनी होकर बैठा ही रहता है कि कुछ खाता–पीता एवं करता भी है? आप जैसा कोई सत्यवादी भी नहीं होगा कि जो कहता है कि भगवान मेरे हृदय में है, भगवान सर्वत्र है; किन्तु उस भगवान से कुछ कराते ही नहीं हैं! कोई ज्योतिषी कह दे कि घर में अमुक जगह खजाना है तो दरवाजा बंद करके खोदने लगेंगे, उस समय आपको न भूख–प्यास लगेगी, न किसी भाई–बान्धव से मिलने का मन करेगा, बस दिन–रात खोदो... खोदो... खोदो..., ऐसा लगा रहेगा लेकिन हृदय के भगवान को खोजना तो दूर, उसका स्मरण भी नहीं करते। दरवाजे से आप चिल्लाते हैं– माँ! तो ऐसा सुनते ही माँ दरवाजा खोलने के लिए दौड़ी चली आती है। पिता, भाई, मित्र आदि को पुकारते हैं तो वे भी चले आते हैं। आपका पालतू कुत्ता भी आप पुकारते हैं तो आकर लगता है कि सर पर ही बैठ जायेगा, लेकिन आपका भगवान पुकारने पर आता ही नहीं! आपका भगवान कुत्ते से भी मूर्ख है क्या? कुत्ते के पास आपकी भाषा समझने की सामर्थ्य है, जबकि क, च, ट, त, प, उसने सीखा ही नहीं है लेकिन पुकारते ही वह अपने–आपको समर्पित कर देता है, किन्तु आपका भगवान कैसा बहरा है कि उसका नाम पुकारे जा रहे हैं, रटे जा रहे हैं, फिर भी वह आपके पास आने का नाम ही नहीं लेता। जानते हैं क्यों? इसलिए कि आप अपने को कर्ता धर्ता मानते हैं, जबकि कर्ता धर्ता मानने से आप कर्ता धर्ता तो होते नहीं बल्कि आपके संस्कार (प्रारब्ध) ही आपके शरीर एवं इन्द्रियों के द्वारा कर्ता हो जाते हैं। आपकी आँखों से बारी–बारी से पाप एवं पुण्य देखने लगते हैं, कान से पाप एवं पुण्य सुनने लगते हैं, वाणी से पाप एवं पुण्य कभी झूठ एवं कभी सच बोलने लगते हैं। आपके नहीं चाहने पर भी वे अपशब्द बोल जाते हैं अर्थात् किसी को गाली दे जाते हैं, ऐसे ही अन्यान्य इन्द्रियों के द्वारा व्यर्थ के कार्य होते रहते हैं। आपके शरीर को जिधर ये पुण्य एवं पाप चाहते हैं, उधर ले जाते हैं और आप जैसा कर्ता होने का दम्भ भरनेवाला हाय–हाय करता हुआ रह जाता है। आपके वश में तो एक श्वास भी नहीं है तो भी आप कहते हैं कि मैं कर्ता हूँ। न आपमें सोने की सामर्थ्य है, न जागने की सामर्थ्य है– सोनेवाला प्रारब्ध सोता है, जागनेवाला प्रारब्ध जागता है, यदि वह दस दिन न सोये–जागे तो आप पागल

ही हो जाते हैं। स्वप्न देखना तथा सुषुप्तिरूप हो जाना भी आपकी विवशता है। आये दिन सुख–दुःख, मान–सम्मान बलात् आते हैं, जिन्हें आपके द्वारा स्वीकार करना विवशता हो जाती है, इसलिए कि एकमात्र आपमें यही मूर्खतापूर्ण समझ है कि मैं कर्ता हूँ। अतः भगवान आपके लिए मौन हो जाता है। भगवान का कहना है कि अपने दुःखों के एकमात्र कारण आप ही हैं। कम से कम भगवान की एक बात तो आप स्वीकार कर लें कि मेरे तन, मन, वचन, हृदय से प्रारब्ध ही कर्ता है, इसी से मुझमें न सुख है, न शान्ति है, न सन्तोष है बल्कि मैं तो सुख, शान्ति, सन्तोष आदि से परे हूँ। प्रारब्ध का तात्पर्य होता है प्रकृति, संस्कार, दैव; जिसके ये दो–दो रूप हो जाते हैं– पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, कर्म–अकर्म, सत्य–असत्य; जो चित्त के कोश में प्रतिष्ठित हैं, जमा हैं। वे ही सारे के सारे संस्कार समय–समय पर जैसे ट्रेन के यात्री अपने–अपने स्टेशन को देखकर बिना ड्राइवर के कहे ही उतर जाते हैं। उसीप्रकार देश, काल, अवसर के आने पर वे संस्कार तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों से प्रकट होते रहते हैं, जिन्हें आप जान नहीं पाते। 'फिर क्या करें?' ऐसा आप कह सकते हैं। अरे! अब कुछ करना भी शेष बचा है क्या? यदि करना ही है तो प्रभु से प्रार्थना करें, किन्तु आपको तो प्रार्थना भी करनी नहीं आती। तो लें महाराज बताये देता है कि प्रार्थना कैसे की जाती है–

'हे प्रभु! आप सबके हृदय में रहते हैं, अब मुझे विश्वास हो गया है। यह सत्य ही है कि भ्रमवश मैंने मान लिया था कि 'मैं कर्ता हूँ', इसी मूर्खता के कारण से आप मेरे हृदय में मौनी होकर बैठे रह गये और प्रतीक्षा करते रह गये कि यह मूर्ख कब बुलाये तो मैं बोलूँ, कब कराये तो करूँ; किन्तु मैं अविवेकी आपके इस रहस्य को न समझ सका। इसलिए न आपको बुला सका न आपसे कुछ करा सका। जिसका परिणाम हुआ कि मेरी कर्तापने की मूर्खता को देखकर प्रारब्ध मेरी आँखों से देखने लगा, मेरे कानों से सुनने लगा, मेरी वाणी से बोलने लगा, वह मन से मनन करने लगा, बुद्धि से चिन्तन करने लगा और मैं इन सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता स्वयं को मानकर अपनी सामर्थ्य को कोसने लगा। अतः हे जगत्पते! जब प्रारब्ध का किया हुआ मुझे ही अच्छा नहीं लग रहा है, तो आपको क्या अच्छा लग रहा होगा! मेरी मूर्खता पर ध्यान मत दें नाथ! अब मेरे इस शरीर को आप अपना बना लें तथा इन आँखों से आप ही देखें, कानों से आप ही सुनें, वाणी से आप ही बोलें, मन एवं बुद्धि से आप ही मनन एवं चिन्तन करें तथा अब मेरे लिए जो भी कुछ करना हो करें। मेरी शरणागति को स्वीकार करें। हे नाथ! अब क्षमा करें! क्षमा करें!! क्षमा करें!!!'

महाराज कहता है कर्म के पहले प्रार्थना, जप के पहले प्रार्थना एवं योग, तप, ध्यान के पहले भी प्रार्थना करें, फिर प्रभु की महत् कृपा को देखें। जब महाराज जैसे अधम का उद्धार एकमात्र प्रार्थना से ही हो गया है तो आपका क्यों नहीं होगा।

प्रभु भी कहते हैं कि स्मरण और कर्म, स्मरण और युद्ध अर्थात् सर्वप्रथम आप भगवान का स्मरण करें फिर कर्म प्रारम्भ कर दें। यदि आप ज्ञानयोगी हैं तो सर्वप्रथम अपने आत्मरूप को स्मरण करें और फिर कर्म करें! दर्जी को कपड़ा दे दिया जाता है, वह आपके शरीर को माप लेता है, फिर आपके लिए युद्ध प्रारम्भ कर देता है, वह आपके कपड़े को काट–छाँटकर, सिलाई

करके आपके योग्य बना देता है। चाहे जितना भी कीमती वस्त्र हो, उसे पहले काटा ही जाता है, वैसे ही आप स्वयं को चाहे जितना बुद्धिमान एवं ज्ञानी समझें, किन्तु सद्गुरु के पास आपके तन, मन, वचन एवं हृदय की कटाई–छटाई होकर ही रहेगी, तभी आप अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हैं।

(तत्त्ववित्तु महाबाहो.....) जो आत्मज्ञ हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, वे गुण एवं कर्म को विभाजित करना जानते हैं तथा वे यह भी जानते हैं कि गुण ही गुणों के द्वारा व्यवहार कर रहे हैं, फिर 'मैं कर्ता हूँ', इस क्षुद्र मूर्खता को क्या धारण करना! इसप्रकार साधक का भी कर्तव्य है कि वह अज्ञानियों के व्यवहार की तरफ न देखे।

भगवान ने उपरोक्त विषय का ही यहाँ विस्तार किया है। सांख्यमत के अनुसार यह दृश्य जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है। गुणों के अनुसार ही सात्त्विक, राजस एवं तामस ये तीन प्रकार के संस्कार हैं, जो परस्पर में करते–कराते रहते हैं। यह देखा ही जाता है कि सजातीय वृत्तिवालों का ही परस्पर में सम्बन्ध होता है– चोर का चोर के साथ, सज्जन का सज्जन के साथ, ज्ञानी का ज्ञानी के साथ, भक्त का भक्त के साथ; क्योंकि दोनों एक–दूसरे की उपासना करते रहते हैं। इसप्रकार भक्त का कर्ता उसका भावमय भगवान बन जाता है और अज्ञानी का कर्ता गुणों के अनुसार उसका क्षुद्र अहंकाररूप प्रारब्ध बन जाता है तथा ज्ञानी का तो कोई कर्ता होता ही नहीं, वह तो प्रारब्ध (प्रकृति) को अपने अनुसार चलाते–चलाते एक समय चलाना भी छोड़ देता है। अतः उसकी प्रकृति से वही कर्म होता है जो होना चाहिए। उसके कर्म को कर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आपने देखा होगा कि रोनेवाले को देखकर रोना आ जाता है, हँसनेवाले को देखकर हँसना आ जाता है, सोते हुए को देखकर सोना आ जाता है तथा जगनेवाले को देखकर जगना आ जाता है। सूर्य भगवान मानो जागते हैं (आते हैं) तो सब जाग जाते हैं और वे मानो सोते हैं तो सब ही सो जाते हैं। हँसना रजोगुणरूप प्रारब्ध है। जब हँसता हुआ किसी का प्रारब्ध प्रकट होता है तो आपके भीतर का भी रजोगुणरूप प्रारब्ध हँसने लगता है। रोना तमोगुणरूप प्रारब्ध है, अतः जब किसी के माध्यम से रोता हुआ प्रारब्ध प्रकट होता है तो आपके माध्यम से भी रोता हुआ प्रारब्ध प्रकट हो जाता है; इसी को गुणों का गुणों में बरतना कहते हैं। एक बात और जान लेनी चाहिए कि यह रोना–हँसना, देखना–सुनना तथा कामिनी को देखकर काम जगना, वैरी को देखकर वैर जगना, धन को देखकर लोभ होना एवं रागी को देखकर राग और द्वेषी को देखकर द्वेष होना, एकमात्र 'मैं शरीर हूँ'– इस भावरूप माया से ही होता है। मैं शरीर नहीं हूँ, सर्वत्र हूँ, साक्षी हूँ, चेतन हूँ, आत्मा हूँ, ऐसा लम्बे काल के अभ्यासोपरान्त ये रो रहे हैं, गा रहे हैं, खा–पी, सो रहे हैं– ऐसी कुभावना होती ही नहीं है तथा जिसका तन, मन, वचन अकर्तापने के निरंतर अभ्यास से निर्दोष हो गया है, वह तो सभी के साथ परस्पर में होती हुई सम्पूर्ण राजस, तामस एवं सात्त्विक क्रियाओं को भाव (माया) से होता हुआ ही देखेगा। सभी का भावरूप कर्म एक–दूसरे से जुड़ा हुआ है, जैसे– तामसी पुरुष की मैत्री तामसी से ही होती है; क्योंकि तामसगुणकृत् प्रारब्ध तामसगुणकृत् प्रारब्ध की तरफ ही बहता है। एक बात और

ध्यान देना कि गुण के साथ कर्म एवं कर्म के साथ गुण का निकटतम सम्बन्ध है। जैसे किसी भी पौधे का मिट्टी से निकटतम सम्बन्ध रहता है। पौधा ऊपर बढ़ेगा और मिट्टी उसके साथ सूक्ष्मरूप से चलेगी ही चलेगी अथवा दूध में दही, छाछ, मक्खन, घी आदि सबकुछ है लेकिन इसका विभाग करना सबके वश की बात नहीं है, इसीप्रकार गुण एवं कर्म एकसाथ प्रकट होते हैं लेकिन ज्ञानीजन गुणकृत् प्रारब्ध का मन्थनकर, गुण और कर्म को पृथक्–पृथक् कर, गुण को तो निर्गुण बना देते हैं तथा कर्म को ब्रह्मकर्म कर देते हैं। जैसे निर्गुण ब्रह्म सतोगुण से ढका हुआ है तो निर्गुण को गुण मान लें और सतोगुण को कर्म। उसीप्रकार, सतोगुण (वैष्णवी शक्ति) को गुण मान लें तो रजोगुण को कर्म, रजोगुण को गुण मान लें तो तमोगुण को कर्म, तमोगुण को गुण मान लें तो शब्द को कर्म, शब्द को गुण मान लें तो आकाश को कर्म, आकाश को गुण मान लें तो वायु को कर्म, वायु को गुण मान लें तो अग्नि को कर्म, अग्नि को गुण मान लें तो जल को कर्म, जल को गुण मान लें तो पृथ्वी को कर्म, पृथ्वी को गुण मान लें तो वनौषधियों, पेड़–पौधों को कर्म। इसीप्रकार इस जगतरूप माया को गुण मान लें तो पशु–पक्षी, मनुष्य एवं देवता आदि को कर्म। इनमें भी मनुष्य को गुण मान लें तो उसके द्वारा प्रकट होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओं को कर्म। इसप्रकार गुण को गुणरूप और कर्म को कर्मरूप देखते हुए तत्त्वदर्शी अपने गुण एवं कर्म से मिश्रित शरीर से भी सदा–सर्वदा के लिए अनासक्त हो जाते हैं। पुनः इसी गुण एवं कर्म के तत्त्व को भलीभाँति समझाने के लिए भगवान कह रहे हैं कि

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

प्रकृति के गुणों से अत्यन्तमोहित हुए तथा इन प्रकृति के गुणों में ही आसक्त मूर्ख अज्ञानियों को प्रकृति के रहस्य को जाननेवाला तत्त्ववेत्ता विचलित न करे बल्कि स्वयं प्रकृति के गुणों से अनासक्त हुआ, आध्यात्मिक चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को आशारहित, ममतारहित तथा सन्तापरहित होकर करे।

इन मंत्रों के द्वारा भगवान ने गुण और कर्म के विभाग को अच्छीप्रकार जाननेवाले तत्त्ववेत्ताओं से स्पष्ट कह दिया है कि वे अज्ञानियों के उद्धार के चक्कर में न पड़ें बल्कि स्वयं अपने गुणकृत् कर्मों (प्रारब्धों) को अपने इष्ट को, अपने भगवान को समर्पित करते हुए ममता, आसक्ति एवं शोक–सन्तापरहित हो नियत कर्म करते रहें। वे एकमात्र प्रारब्ध के स्वरूप को जानकर 'पूरा जान लिया मैंने', ऐसा न सोचें। आध्यात्मिक यात्रा बड़ी लम्बी है जबतक वह पूरी न हो जाय, जबतक प्रारब्धों से यहाँ तक कि शरीर से पूरी तरह अनासक्ति न हो जाय, तबतक दूसरों के उद्धार की चिन्ता न करें। जन्म के पहलेवाले लोक से लोगों को छोड़कर अकेले आयें और यहाँ से भी यदि आत्मस्वरूप में पूर्णतया प्रतिष्ठा नहीं हुई तो अकेले ही अपनी भौतिक यात्रा

के लिए निकल पड़ेंगे। साथ में एकमात्र स्वजनों का रोना–धोना ले जायेंगे। जो इस समय आपके बड़े शुभचिन्तक बन रहे हैं, वे मृत्यु के समय मुँह लटकाये रह जायेंगे, थोड़े आपके गुणों का बखान कर लेंगे तथा वैरी कह लेंगे कि बड़ा अपने को बुद्धिमान समझता था, चली गयी बुद्धिमानी इसकी। वे आपस में कहेंगे– जाओ पापी मरो, नरककुण्ड में ही जाओगे।

'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा' का तात्पर्य 'अपने सद्गुरु से पूछ–पूछकर कर्मों को अपने स्वरूप में रहकर करते रहना है', यही आध्यात्मिक चित्त से कर्मों का करना कहा जाता है। 'मैं शुद्ध, साक्षी, चेतन आत्मा हूँ,' यही आध्यात्मिक चित्त है। यदि आप अपने स्वरूप में स्थित होकर सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म करते रहे तो न ममता होगी न आसक्ति और न ही शोक–सन्ताप होगा। मानो प्रभु ने 'मयि सर्वाणि कर्माणि.....चेतसा.....विगतज्वरः' मंत्र में ऊपर के आधे मंत्र से (आधी पंक्ति से) कर्म करने की आज्ञा दी है और नीचे की आधी पंक्ति से उस कर्म का फल कह दिया है। वैसे तो गीताजी के प्रत्येक मंत्र में कई प्रश्न हैं तथा उन्हीं मंत्रों में उन प्रश्नों के उत्तर हैं लेकिन आप श्रद्धा से पाठ कर रहे हैं तो इन मंत्रों के अर्थ लिखे नहीं जा सकते हैं, बल्कि देखे जा सकते हैं। जब आप नित्य श्रद्धा से पाठ करते हैं तो ये मंत्र मूर्तिमान होकर स्वयं अपना भाष्य करने लगते हैं। मानो भगवान कह रहे हैं कि डूबते हुए को अच्छा तैराक ही बचा सकता है। यदि तैरने की कला सम्पूर्णता से नहीं आती तो डूबनेवाला अपने हाथों से पकड़कर आपको भी डुबो देगा। मृत्यु के समय किसी में भी बहुत बल आ जाता है। जहाँ जल चक्राकार घूमता रहता है, जिसमें नवसिखुए तैराक फँसकर डूब जाते हैं, उसको जल का भँवर कहा जाता है। जिसमें से कुशल तैराक तैरकर निकलने की कला को सीख लेते हैं। महाराज से एक संत ने पूछा था कि आप भँवर में फँसे हुए को कैसे निकालेंगे? तो महाराज ने कहा था– डूबकी लगाकर भँवर के नीचे से उसका पाँव खींचकर उसे सम शान्त जल में ले आयेंगे या देखेंगे कि भँवर सामान्य है या विशेष, उसके अनुसार कला का प्रयोग करेंगे। उसीप्रकार यह भवसागर है, इसमें चाहे जिस विषम परिस्थिति में भी सम शान्त बना रहनेवाला सन्त ही इससे निकाल सकता है। प्रभु श्रीराम से भरत ने पूछा– राजनीति का एक अंग भी मैं नहीं जानता, फिर राज्य कैसे चलाऊँगा? प्रभु ने कहा जो पूरे ब्रह्माण्ड का राज चला रहे हैं, वे गुरुदेव ब्रह्मर्षि वसिष्ठ अयोध्या के बाहर झोपड़ी में ही रहेंगे और राज्य भी चलायेंगे, तुम तो एकमात्र निमित्त हो, उनसे पूछ–पूछकर काम करते रहना। प्रजा की विषम से विषम परिस्थिति का भी ये समाधान करने की सामर्थ्य रखते हैं फिर तुम चिन्ता क्यों करते हो?

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः'– एक संकेत प्रभु यह भी कर रहे हैं कि सद्गुरु की आज्ञा तभी पालन कर सकते हैं, जब आपकी ममता जगत में किसी से भी नहीं होगी बल्कि सद्गुरु के वचनों में अर्थात् उसकी आज्ञा में होगी। दूसरी बात कि जब सद्गुरु से किसीप्रकार की भौतिक कामना नहीं होगी तथा तीसरी बात कि सद्गुरु के अनुसार चलने में भी प्रारम्भ में भौतिक हानि हो सकती है लेकिन तो भी आपको शोक–सन्ताप नहीं करना होगा। यदि ऐसी स्थिति में होकर आप उसकी आज्ञानुसार कर्म करते हैं तो प्रभु कहते हैं–

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

तत्त्वज्ञानियों की तो बात ही क्या है, बल्कि जो अभी जिज्ञासु है ही नहीं फिर भी स्वाभाविक ही सद्गुरु की सेवा–शुश्रूषा प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक करता है तथा उन्हीं के आज्ञानुसार जगत में व्यवहार करता है तो वह भी तत्त्ववेत्ता होकर कालान्तर में आत्मशक्ति से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाता है।

आत्मशक्ति से आपका तात्पर्य क्या है? हाँ, यही कि शरीर एवं संसार से अनासक्ति ही आत्मशक्ति है। बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' अर्थात् श्लोक १३ से लेकर १६ तक जितने आध्यात्मिक गुण हैं, वे सब आत्मशक्ति हैं।

भगवान नारायण ने यहाँ सद्गुरु के अनुसार चलने का, व्यवहार करने का फल भी बता दिया कि जो मनमाना करना बन्द कर दिया है, मनमाना खाना, पीना, सोना, जागना, पढ़ना, लिखना, जप, तप, योग करना बन्द कर दिया है और इन सम्पूर्ण कर्मों को जैसे राजा जनक गुरुजी से पूछ–पूछकर करते थे वैसे ही पूछ–पूछकर करता है तो वह भी भले ही तत्त्ववेत्ता न हो लेकिन कालान्तर में प्रारब्धों के पाश से मुक्त हो ही जायेगा।

इस मंत्र में भगवान ने कर्म (प्रारब्ध) को बंधन कहा है जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। उनका कहना है कि निष्काम कर्म से सकाम कर्म के बन्धन को तोड़ा जाता है तथा अपने स्वरूप में स्थित होकर निष्काम कर्म के घेरे से स्वतः ही छूट जाना होता है। प्रभु ने यहाँ एक विलक्षण बात कही है कि सकाम कर्म को छोड़ना पड़ता है जबकि निष्काम कर्म कालान्तर में अपने–आप ही अपने को छोड़ देता है।

सावधान! मन (प्रारब्ध) के अनुसार तो चलना आपने सर्वथा बन्द ही कर दिया है लेकिन सद्गुरु के अनुसार भी जो कर्म कर रहे हैं उसे भी उसी को समर्पित करते चलें क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि पुनः कर्तापने का अहंकार हो जाय। महाराज ने आत्मानन्द, रामानन्द, अभयानन्द, अशोकानन्द, शेषानन्द आदि साधकों से कहा कि पैंतीस वर्ष के आध्यात्मिक जीवन में दो–चार साधकों ने ही प्रकृति के मोर्चे में से पहला मोर्चा तोड़ा है। प्रकृति ने साधकों को कई घेरों से घेर रखा है। उन घेरों में पहला घेरा है– गृहस्थाश्रम, दूसरा घेरा है गुरु आश्रम, तीसरा घेरा है– जप, तप, योगादि की साधना तथा चौथा घेरा है– शरीर। प्रथम घेरे को चाहे गृहस्थाश्रम में ही त्याग दिया है अथवा शरीर से भी घर–बार त्यागकर संन्यास ले लिया है। साधकों ने कहा कि यह बात तो हमारी समझ में नहीं आ रही है। तब महाराज ने कहा– राजा जनक जैसा अथवा महात्मा शुकदेव जैसा। रामानन्द ने झट कहा कि आपका गृहस्थाश्रम में एक भक्त तो है राधेश्याम, जिसने घर में रहकर ही घर से संन्यास ले लिया है। महाराज ने कहा कि जिसका तुम नाम ले रहे हो, उसमें अभी ऐसी सामर्थ्य नहीं है। तब रामानन्द ने कहा– ऐसा हो ही नहीं सकता। महाराज ने कहा– अभी परीक्षा कर लेते हैं। उसने कहा– ठीक है। महाराज ने उस साधक से

कहा कि बोलो तुम घर से संन्यास लोगे? महाराज जहाँ भेजेगा वहाँ सदा–सर्वदा के लिए संन्यास लेकर चले जाओगे? उसने कहा– जी गुरुदेव! ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या है! महाराज ने कहा– धर्मपत्नी का क्या होगा? बच्चे तो तुम्हारे व्यवस्थित हो ही गये हैं! तब उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि गुरुदेव! अब धर्मपत्नी को क्या देखना। जब आपकी आज्ञा मिल जाय तो किसी की आज्ञा में रहने का अधिकार नहीं होता; क्या पत्नी की व्यवस्था देखना और क्या पुत्र की व्यवस्था देखना। रामानन्द उसकी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हो गया, मानो उसके अनुभव की विजय हो गयी। महाराज ने राधेश्याम से पुनः कहा– तो फिर किसी भी दिन संन्यास के लिए तैयार रहो। ऐसा कहकर महाराज ने एकान्त में अभयानन्द, शेषानन्द, अशोकानन्द आदि से कहा कि राधेश्याम बिना विचारे बोल रहा है, तुमलोग देखना कि वह असफल हो जायेगा। सन्ध्या होते–होते राधेश्याम ने अपना अस्त्र–शस्त्र डाल दिया और कहा कि गुरुदेव! मैं असफल हो गया। जैसे–जैसे समय बीतता गया वैसे–वैसे मेरी अशान्ति बढ़ती गयी और अब शाम तक तो बहुत अशांति हो गई है कि कहीं सचमुच में गुरुदेव मुझे कहीं जाने को न कह दें। महाराज ने कहा कि तुम्हारी परीक्षा हो रही थी। राजा जनक अपने गुरुदेव अष्टावक्र के कहने से ही गृहस्थाश्रम में रह रहे थे, अन्यथा वे तो बहुत पहले ही सम्पूर्ण राज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर संन्यास ले रहे थे; किन्तु उनके गुरुदेव ने कहा कि अब यह राज्य मेरा है और तुम इसमें मेरे प्रतिनिधि के रूप में कार्य करो। महाराज ने रामानन्द को बुलाकर कहा कि अब क्या कहते हो तुम्हारा अनुभव गलत सिद्ध हुआ? तब उसने अपना माथा ही पकड़ लिया और कहा– अब क्या बोलूँ महाराजजी! बात समझ में नहीं आ रही है।

इसमें संदेह नहीं है कि राधेश्याम बहुत हद तक सुलझा हुआ साधक है और शीघ्रातिशीघ्र संन्यासपद को भी प्राप्त होनेवाला है; किन्तु उस कृपा की प्राप्ति में थोड़ी देर है।

प्रकृति का पहला घेरा भी प्रभु इच्छा से ही टूटता है। महाराज का भी पहला घेरा प्रभु इच्छा से टूटा था। सन् १९७२ में भक्ति प्रकट हुई, सन् १९७४ में घर से संन्यास लेकर सन् १९७७ तक संन्यास का नियम नहीं जानने के कारण गाँव के बाहर ही गुफा एवं झोपड़ी बनाकर रहा। उसके पश्चात् सन् १९७७ के अन्त में ही मध्यप्रदेश के जंगलों में चला गया। वहाँ पर सन् १९७७ से लेकर सन् १९८४ तक यदा–कदा गहरे मोह के साथ माँ की याद आती रही, सात वर्षों का समय एक लम्बा काल है। यद्यपि मोह के आवेग में भी महाराज वहाँ नहीं गया लेकिन इन सात वर्षों में महाराज को अपने संन्यास से सन्तुष्टि नहीं थी, जबकि गीताजी में इसे संन्यास ही कहा गया है। (विषया विनिवर्तन्ते.....)– गीता अध्याय २ के अनुसार संन्यास लेने के उपरान्त भी साधक के मन, बुद्धि, चित्त में घर–बार, भाई–बान्धव के प्रति मोह निष्क्रियावस्था में रहता है अथवा अर्द्धसुषुप्तावस्था में रहता है, जो ज्ञानोपरान्त सदासर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है। किसी का यह पहला घेरा घर में ही टूट जाता है और किसी का संन्यास लेने के उपरान्त टूटता है। यदि इसमें भी अहंकार हो जाय तथा भगवान की कृपा की अनुभूति न हो तो वह घेरा टूटा हुआ नहीं माना जायेगा।

(मयि सर्वाणि कर्माणि.....) अतः भगवान से हररोज सोते समय कहें कि 'हे प्रभु! आज दिनभर जो मेरे मन, वचन, कर्म तथा इन्द्रियों आदि से शुभ एवं अशुभ कर्म हुए हैं, उन्हें मैं आपको समर्पित करता हूँ।' पहले समर्पण का नकल ही करना पड़ेगा और कालान्तर में वही समर्पण असल में होने लगेगा।

भगवान नारायण ने अर्जुन से कहा था कि 'हृदय में मुझे बैठा लो और शरीर से मेरे लिए युद्ध करो।' आखिर क्यों? वह इसलिए कि आप सब जानते ही हैं कि एक बार महाभारत युद्ध के मध्य महावीर कर्ण के घमासान युद्ध को देखकर अर्जुन के मन में भगवान के प्रति सन्देह हो गया था। अर्जुन को लगा कि आज तो ये मेरे ऊपर भारी पड़ रहा है। इतना सन्देह होना था कि भगवान उनके हृदय से निकल गये। परिणामस्वरूप कर्ण ने उनके हाथों को ध्वजा में बाँध दिया। वध करने जा ही रहा था तो देखा कि सूर्यास्त हो गया है। तब उसने अर्जुन को यह कहते हुए छोड़ दिया कि जाओ युद्ध की कला सीखकर आओ। यदि भगवान हृदय में भी उस समय बैठे रहते तो निश्चितरूप से उस दिन भी उनकी पराजय नहीं हुई होती।

(युध्यस्व विगतज्वरः.....) अतः शोक–सन्ताप का त्याग करके आप गुरु आज्ञा का पालन करें। उसमें त्रुटि होगी, भूल होगी, तो भी इन सारे दोषों के होते हुए भी ईश्वर आपका समर्पण स्वीकार करेगा। जैसे अर्जुन के दोषयुक्त होते हुए भी भगवान ने उनकी रक्षा की।

उपरोक्त दोनों ही दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि जबतक आप नित्य समर्पण नहीं करते तो आपका भ्रम आपको कभी भी धोखा दे सकता है। भगवान ने गीता अध्याय तीन में श्रुतिफल तीन–चार बार बताये हैं।

अब पुनः सावधान कर रहे हैं–

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

किन्तु जो मूर्ख मेरे में दोषदर्शन करते हुए मेरी आज्ञा का पालन नहीं करता वह तो सर्वथा नष्ट ही हो जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्णज्ञानी समझ लिया है अपने को। इसलिए इस समझ ने ही उसे मूर्खराज बना दिया है।

भगवान मानो आवेश में आ गये हों, कुपित हो गये हों और अर्जुन से ही कह रहे हों कि यदि तुम मेरी बात पर विश्वास नहीं करते हो, विश्वास के साथ युद्धरूप कर्म को नहीं करते हो तो तुम भी इन्हीं कौरवों जैसे नष्ट–भ्रष्ट हो जाओगे। भगवान श्रीराम ने भी सुग्रीव के लिए लक्ष्मण से कहा था–

जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड)

लक्ष्मण जाओ, उस कृतघ्नी सुग्रीव से कह दो कि राम ने जिस बाण से बाली को मारा

था, उसी बाण को निकाल लिया है तुम्हारा वध करने के लिए। जिस वाणी से सन्त वरदान देता है, उसी वाणी से वह शाप भी देता है। यही कहानी यहाँ भी हो गयी है। हे परंतप! हे गुडाकेश! हे जितेन्द्रिय! हे कौन्तेय! हे महाबाहो! कहनेवाले भगवान ने अब अर्जुन को पुनः मूर्खों का सिरमौर अर्थात विमूढ़ात्मा कहकर भयभीत करने का प्रयत्न किया है। सच ही कहा गया है कि भय बिनु होइ न प्रीति।

महाराज ने स्वयं अपनी आँखों से एक सन्त को अपने शिष्य को मधुरता से डाँटते हुए देखा है। उस शिष्य ने उनकी घोर निन्दा प्रारम्भ कर दी थी। जब उन्होंने सुना कि यह मेरी निन्दा कर रहा है तो हँसते हुए उससे कहा– 'तरबूज से चाकू पर वार करो तो तरबूज ही कटेगा, न कि चाकू। तुम्हारे द्वारा निन्दा करने से मेरा क्या बिगड़ा, दो–चार दिनों के लिए मेरा व्यवहार गया लेकिन तुम्हारा तो अध्यात्म ही चला गया।' इसलिए सद्गुरु की आज्ञा का पालन उसे ब्रह्म समझकर करें तो अति उत्तम है। प्रारब्ध बलवान हो जाता है, जब आपकी आध्यात्मिक श्रद्धा बिखरती है। इसलिए आप सब भी जान गये होंगे कि आप सब को क्या करना चाहिए। सबकी मूर्खता पर हँसते हुए भगवान कहते हैं–

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

आत्मज्ञानी भी प्रारब्ध के अनुसार ही कर्मों को करता है। यही नहीं, उसकी प्रकृति (शरीर) भी पाँच तत्त्वों में ही तो मिलती है, फिर प्रारब्ध से बचने का हठ क्यों कर रहे हो?

आप सब ने सुना है कि जितने भी राजर्षि हुए हैं, उन सब ने प्रारब्ध को भोगा ही भोगा है। राजर्षि हरिश्चन्द्र ने वर्तमान जीवन में कोई भी अपराध नहीं किया था लेकिन प्रारब्धानुसार उन्हें अपने बाल–बच्चों सहित अपने को बेचकर महान दुःख को भोगना पड़ा। अन्तर इतना ही है कि वह दुःख उनके मन में प्रवेश नहीं कर पाया, शरीर तक ही रह गया। महाराज युधिष्ठिर भी भगवती द्रौपदी एवं अन्य भाइयों के साथ बारह वर्ष वन–वन भटकते रहे तथा एक वर्ष राजा विराट के पास दास बनकर रह गये लेकिन वह दुःख का पहाड़ उनके शरीर तक ही रह गया मन तक प्रवेश नहीं किया। संन्यासाश्रमी आत्मज्ञानी संतों को भी शरीर के द्वारा प्रारब्ध को भोगते देखा गया है। महाराज ने अपनी आँखों से एक संत को पाँच–छः महीने बिस्तर पर पड़े हुए देखा। शरीर में असाध्य रोग हो चुका था, मांस गलकर मात्र अस्थिपंजर हो गया था, तो भी वह भारी दुःख उनके मन, बुद्धि, चित्त को स्पर्श तक न कर सका। उस महापुरुष ने लाख प्रयत्न करने पर भी दवा की एक गोली तक नहीं ली। वैसी अवस्था में भी आँखों से भक्तों के लिए पूर्व जैसा ही ब्रह्मवात्सल्य बरस रहा था। अन्तिम चरण तक वरदानमयी वाणी से वरदान बरस रहा था, न उनके पास उँह की जगह थी न टूँह की, न आह की, न ओह की, न हाय की, न माय की, न बाप की। पूर्व की भाँति ही आकाशरूपी छत के नीचे, पृथ्वीरूपी बिस्तर पर प्रारब्धरूपी शरीर का तिरस्कार करते हुए मानो साधकों, सन्तों एवं भक्तों को यह उपदेश दे रहे

हों कि शरीर का पीछा आप सब क्यों कर रहे हैं, शरीर तो स्वयं पिछलग्गू है। जब यह पीछा करते–करते आपके चित्त को स्पर्श नहीं कर पायेगा तो हारकर इसी शरीर की भाँति आपका भी शरीर सड़–गलकर जिन–जिन तत्त्वों से प्रकट हुआ है, उन्हीं–उन्हीं तत्त्वों में लीन हो जायेगा। उनके अस्थिपंजर को देखते हुए यह प्रतीत हो रहा था कि मानो वे कह रहे हों कि हे इन्द्र! कहाँ छिपे हो? आओ! दधीचि की तरह ही मैं अपनी हड्डियों को तुम्हें दान दे रहा हूँ, इसका वज्र बनाकर भारतभूमि को असुरों से मुक्त करो।

इसीप्रकार बहुत से सन्तों की ऐसी ही कहानी आप तो सुनते ही रहते हैं, फिर जीवनपर्यन्त आप अपने प्रारब्धों से क्यों जूझते रहते हैं? प्रारब्ध अपना काम करे और आप गुरु का काम करें, इतनी ही सी तो बात है; क्योंकि उसके पास शरीर है लेकिन शरीर की सत्ता नहीं है, इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है, इनमें छिपे हुए संस्कार हैं किन्तु उन संस्कारों की उसके पास सत्ता नहीं है। वह जानता है कि सोना–जागना, खाना–पीना, बढ़ना–घटना, दुःखी–सुखी होना; यह सब शरीर का धर्म है। वह तीन प्रकार के संस्कारों (प्रकृति) में से सतोगुणी संस्कार (वैष्णवी शक्ति) को जगतहितार्थ ही स्वीकार करता है। इसलिए आप भी उसी की आज्ञा का अनुसरण कर उसी के रूपवाले, उसी की शक्ति–सामर्थ्यवाले क्यों नहीं बन जाते। फिर प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब तो काम–क्रोध, लोभादि विचाररूप संस्कार भी उसकी इन्द्रियों में होंगे ही होंगे? इसका उत्तर भगवान ने दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण में दे दिया है। अतः अब अगले मंत्र से देखें कि भगवान नारायण उत्तमाति उत्तम साधकों के लिए कौन सा संदेशरूप उपदेश देते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

प्रत्येक इन्द्रियों में इन्द्रियों के विषय बैठे हुए हैं। उन विषयों में इन्द्रियों को भी राग–द्वेष हो गया है लेकिन साधकों को तो इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषयों में राग–द्वेष नहीं होना चाहिए; क्योंकि साधनपथ में राग एवं द्वेष ये दोनों ही महान शत्रु हैं।

साधकों को काम, क्रोध, लोभ आदि विकार दिखाई पड़ते हैं लेकिन उन विकारों के उद्गम का पता नहीं चलता। कहाँ पर राग (मोह, आसक्ति) हो गया कि ये शत्रु प्रकट हो गये, सर्वप्रथम इसको देखना है। यह शरीर मेरा है तथा ये स्वजन मेरे हैं– इस स्वजनभाव में ही सर्वप्रथम राग प्रकट हो गया, यह पदार्थ अशुभ है, ये मेरे वैरी हैं– इस भावना में द्वेष प्रकट हो गया। बस, यहीं से राग एवं द्वेष जन्म लेते हैं और वे तबतक पीछा करते रहते हैं जबतक मैं शरीर हूँ, ये मेरे स्वजन हैं; ऐसी क्षुद्र भावना को आप त्याग नहीं देते। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों में प्रीति है लेकिन उस प्रीति (राग) को आप अपना मान लेते हैं। यहीं से आपकी मूर्खता प्रारम्भ हो जाती है। अब देखें कि इन्द्रियों को अपने–अपने विषय में राग और द्वेष कैसे होता है। आप अपनी जगह से एक किलोमीटर बिना इधर–उधर देखे

जाकर चले आने का संकल्प करें। छः–सात फूट की दूरी पर आँखों से रास्ते को देखते हुए आगे बढ़ते रहें, कुछ ही दूर चलने पर सिर इधर–उधर कब घूम जायेगा, आप नहीं जान पायेंगे। जब आँखें अपने दृश्यरूप विषय को देख लेंगी, तब याद आएगा कि अरे! यह क्या हो गया? अच्छा! जब यह पता चल जाय तो फिर प्रतिज्ञा करें कि अच्छा! अब आँखों को ऐसा नहीं करने दूँगा, इधर–उधर नहीं जाने दूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करने के उपरान्त भी कुछ ही दूर जाने के उपरान्त सिर किसी न किसी तरफ मुड़ जायेगा और आँखें अपने विषय को अर्थात् सुन्दरतालाभ को, (वन–पर्वत को, सुन्दर महल को) देखकर लौट आयेंगी। यही नहीं, यदि उन्हें वैरी दिखाई पड़ता है तो वैरी में प्रीति न होकर द्वेष हो जायेगा, अतः वहाँ से झट लौट जायेंगी। इसप्रकार स्पष्ट हुआ कि आँखों को अपने अनुकूल विषय में राग है तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष है। विषय ही विषय को देखता है। पूर्व का विषय वर्तमान के विषय को देखकर इन्द्रियों के द्वारा भोगना चाहता है, जिसे आप समझते हैं कि आप ही भोगना चाहते हैं। अब कान को देखें– आप ध्यान में बैठें। आप चाहते हैं कि मैं कुछ भी न सुनूँ लेकिन साधनपथ में आने के पूर्व आपने सुन्दर भजन गाया और सुना है तो उसका संस्कार कानरूप इन्द्रियों में बैठ गया है। आपकी ध्यानावस्था के समय यदि कोई कानों में छिपे हुए संस्कार के अनुरूप ही शास्त्रीय भजन गा रहा है तो कान में बैठा हुआ संस्कार उसे प्रेमपूर्वक सुनेगा ही सुनेगा, आप भले ही न सुनना चाहें। वहीं पर यदि कोई आपके स्वभाव के प्रतिकूल अनर्गल गीत गाने लगे तो कानों का वही संस्कार उस अनर्गल गीत से द्वेष कर जायेगा तथा आप समझेंगे कि यह द्वेष मैं कर रहा हूँ। उसीप्रकार जिह्वा के सामने उसके अनुकूल पदार्थ आने पर जिह्वा में बैठे हुए संस्कारों का उसे खाने का मन कर ही जायेगा लेकिन उसी संस्कार के प्रतिकूल कोई पदार्थ आये और मुँह में डाल भी दिया जाये तो जिह्वा आपके नहीं चाहने पर भी उसे बाहर फेंक देगी। आप नहीं देखते कि नींद में भी हाथ–पाँव चल पड़ते हैं, कोई बड़बड़ाता भी है– वह इसलिए कि स्थूल इन्द्रियों में रहनेवाले संस्कार अनवरत गमन करते रहना चाहते हैं। यदि आप सुखपूर्वक एक घण्टा बैठने में समर्थ हैं तो बीच में कई बार उठने का मन करेगा। इसलिए कि पाँव चलना चाहता है, चलना उसका विषय है, हाथ करना चाहता है, करना उसका विषय है। अपने विषय में उन्हें राग है और आप उनके विरुद्ध आसन जमाके बैठ जाते हैं तो उन्हें बैठने से द्वेष हो जाता है। उसीप्रकार आपके मन को अपने अनुसार संकल्प–विकल्प करना ही अच्छा लगता है अतः जब आप कोई संकल्प करते हैं तो वह उत्पात मचा देता है। महात्मा अर्जुन के साथ भी तो यही हुआ है। जबतक उनके मन के अनुकूल युद्धरूप विषय मिलता रहा तबतक वह शान्त रहा लेकिन जब उसके प्रतिकूल स्वजनों से ही युद्ध करने का अवसर आया तब वह उत्पात मचा बैठा। उसके उत्पात से आप स्वयं ही अपने–आपको उत्पाती मान बैठते हैं। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में प्रसन्न एवं अप्रसन्न मन होता है। लेकिन उसकी प्रसन्नता, अप्रसन्नता को आप अपना मान लेते हैं; जबकि आपका विषय तो भगवद्चिन्तन है, आपका विषय तो आत्मरूप में स्थित रहना है जो आपके लिए स्वाभाविक भी है लेकिन यहाँ तो 'अनभ्यासे विषम विद्या' वाली कहावत चरितार्थ हो गयी है। जो भगवान अपना था वह पराया हो गया तथा जो स्वजन पराये थे वे अपने हो गये, जिसका

परिणाम हुआ कि जो अपनी आत्मरूपता थी वह शरीररूपता में बदल गयी। इसप्रकार अपनी आत्मरूपता तुच्छ हो गयी और शरीररूपता सर्वस्व हो गयी, इसी कारण से इन्द्रियों में बैठे हुए संस्कारों के राग–द्वेष अपने प्रतीत होने लगे।

ध्यान एवं नींद को छोड़कर जब आपका शरीर कर्म–विपाक के अन्तर्गत प्रतिष्ठित होता है तब आप देखेंगे कि आँख की पुतलियाँ स्थिर नहीं रहतीं। यही नहीं, पलकें भी पल–पल बदलती रहती हैं। इसका कारण है कि नेत्रों में रहनेवाले विचार आन्दोलित होते रहते हैं और उन विचारों से पुतलियाँ तथा पलकें आन्दोलित होती रहती हैं। आपको भले ही पता न चले लेकिन पृथ्वी आन्दोलित हो रही है, शरीर आन्दोलित हो रहा है, बच्चा आन्दोलित होते–होते जवान हो रहा है। इस आन्दोलन में इतना वेग है, इतना वेग है कि बचपनावस्था कब युवावस्था में बदल गई, युवावस्था कब वयस्कता में और वयस्कता से कब वृद्धावस्था आ गई, इसे आप जान ही नहीं पाते। इसलिए कि आप भी विषयों की तरह एक विषय होकर, संस्कारों की तरह एक संस्कार होकर रह गये हैं। आप नहीं देखते कि जैसे ही कच्चे आम की याद आती है तो जिह्वा के अन्तर्गत छिपा हुआ आम के रस को लेनेवाला संस्कार गुनगुना उठता है, अतः वहाँ जिह्वा से एक प्रकार का लार निकल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उसमें उस रस के प्रति प्रीति है। यही बात काम, क्रोध आदि के विषय में भी जान लेनी चाहिए।

भगवान ने बड़ी पैनीदृष्टि से आपको इस राग–द्वेष से पृथक् रहने का सन्देशरूप उपदेश दिया है। मानो वे कह रहे हैं कि आप अपनी भूल को याद करें कि जब आप शरीर ही नहीं हैं तो राग एवं द्वेष आपके कैसे हैं? सारे विकार आपके कैसे हैं? जो विषय जिसका है उसके पास ही रहने दें और आप निर्विषयी होकर आत्मरूप में रहें, यही आपका परम धर्म है।

आप एक बार राग–द्वेष के मूल को पुनः स्पष्ट करें? महात्मा अर्जुन के मन में इस कल्पना के उठते ही भगवान ने कहा–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥

दूसरे के विशिष्ट धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी अति उत्तम है। दूसरे का धर्म तो भय को ही देनेवाला है, जबकि अपने धर्म में मरना भी परम कल्याणकारक है।

मानो भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! स्वधर्म का त्याग कर देने से ही राग–द्वेष अपने प्रतीत होने लगे हैं। यह अपने पराये का भाव होना ही पराये धर्म को अर्थात् आसुरी एवं पाशविक धर्म को स्वीकार करना है। तुम इन पराये धर्मों को क्यों स्वीकार कर रहे हो? तुम तो अपने धर्म में मरना एवं जीना सीखो, जो परमपद तक को देनेवाला है। भगवान यहाँ सावधान कर रहे हैं कि आप पराये धर्म में क्यों हैं, अपने धर्म में क्यों नहीं आ जाते? पराये धर्म का तात्पर्य आप दूसरे को देख रहे हैं। दूसरे को देखना ही पराये धर्म को स्वीकार करना है। दूसरे के धर्म को देखने का आपको क्या अधिकार है? चाहे आप घर में हैं या बाहर, चाहे आप ब्रह्मचारी हैं या गृहस्थ;

आपके लिए तो सद्गुरु के अनुसार ही करना स्वधर्म होता है। यह सद्गुरु का धर्म है कि वे अपने सारे शिष्यों की रहनी–सहनी, कथनी–करनी को देखें, उनके हाव–भाव एवं व्यवहार को देखें, उनकी सद्भावना–दुर्भावना एवं साधना को देखें। वितण्डावाद तब खड़ा होता है जब आप दूसरे के स्वभाव की तरफ देखते हैं। आप अपने स्वाभाविक धर्म एवं कर्म को देखें तो आप कुछ ही दिनों, महीनों, वर्षों में अपने–आप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। महाराज अपने–आप के साथ बीती हुई घटना से साधकों को स्वधर्म एवं परधर्म को बताने का प्रयास कर रहा है–

सन् १९७६ से सन् १९९२ तक जब–जब महाराज अपने गुरुदेव के पास जाता था, तब तब वे एकान्त पाकर महाराज से कहते कि 'अमुक शिष्य ऐसा है, अमुक शिष्य वैसा है। देखा! अमुक साधक साधना के लिए घर छोड़ा किन्तु वह ढोंग करता है।' वे ऐसा कहते रहते थे और महाराज भी जी! जी!! जी!!! कहता रहता था। फिर वे कहते– तुम्हारे प्रति अमुक–अमुक साधकों की नीयत अच्छी नहीं है; क्योंकि जब मैं तुम्हारे प्रति उनका भाव क्या है, इसे देखने के लिए तुम्हारी आलोचना करता हूँ तो उनके हृदय में जो तुम्हारे प्रति द्वेष का घाव पककर पिलपिलाता रहता है, वह फूट जाता है और वे तुम्हारी निन्दा प्रारम्भ कर देते हैं। महाराज ने आत्मानन्द को चुपके से बता दिया था कि गुरुदेव नाटक करते रहते हैं, तुम केवल 'जी हाँ! जी हाँ! करते रहना।' सद्गुरु के पास दोषदृष्टि से रहित होकर रहनेवाली विद्या को महाराज ने अपनी माँ से सीखा था। बहुत वर्षों बाद एक बार गुरुदेव के साथ महाराज बोकारो (बिहार) गया हुआ था। वहाँ भी गुरुदेव ने पूर्व की ही भाँति परीक्षा लेनी शुरु कर दी। महाराज ने गुरुदेव से कहा– क्षमा करें गुरुदेव! आज मैं आपसे एक प्रार्थना करना चाहता हूँ। उन्होंने कहा– बोलो, बोलो! महाराज ने कहा– 'गुरुदेव वाणी तो एक ही है न! गुरुदेव ने कहा– हाँ, हाँ, क्यों नहीं। महाराज ने कहा– तो फिर, जिस वाणी से आप सन् १९७६ से आज बीस वर्ष तक यदा–कदा मेरे से कहते हैं कि अमुक शिष्य ऐसा है, अमुक शिष्य वैसा है, इसकी जगह आप उस एक ही वाणी से ऐसा भी तो कह सकते हैं कि जितने भी शरणागत शिष्य हैं, उन सबका कल्याण हो जाए?' हे प्रभु! आपकी शक्ति–सामर्थ्य को आपकी कृपा से ही मैं जानता हूँ। आप जिस दिन चाहें उसी दिन हम सब आपके योग्य हो सकते हैं। गुरुदेव! हम भले हैं चाहे बुरे हैं, हैं तो आपके ही? अतः गुरुदेव अब ऐसा न करें, दया करें, हम सबकी मूर्खता पर ध्यान न दें। ऐसा कहकर महाराज के भीतर से भैरवीराग से एक प्रार्थना प्रकट हुई। जिस प्रार्थना को (पद को) आप देशी–राग से भी गा सकते हैं।

दयानिधि हम पर दया करिये।
हमबालक तेरे उदर से जनमें, ऐसा न भूलो अपने मन में।
पावनहु को पावन कर दे, हम पर क्रोध न करिये॥१॥
गीताघाट सुघाट गोद में, जल पी–पीकर भय प्रमोद में।
वनप्रदेश में लालन पालन, करके हमें न विसरिये॥२॥

भले बुरे हम चाहे जैसे, तूने जनमाये क्यों ऐसे।
सर्वविदित यह करनी तेरी, नैन मूँदि मत रहिये॥ ३॥
महाराज नाम रख मेरे, लगे कलंक न माथे तेरे।
झूठ नाम मत करना स्वामी, पुत्र भाव में धरिये॥ ४॥
दयानिधि हम पर दया करिये।

इसके उपरान्त फिर–फिर गुरुदेव ने अपने किसी शिष्य की आलोचना महाराज से नहीं की। महाराज जानता था कि उनके हृदय में सभी शिष्यों के प्रति समान जगह है। यह आलोचना तो एकमात्र विनोद करने के लिए है।

इसप्रकार यदि ब्रह्मचर्य आश्रम में आप हैं और वहाँ किसी भी साधक की आलोचना करते हैं तो वह परधर्म है अर्थात् सद्गुरु के धर्म को आप छीनना चाहते हैं। अरे! सद्गुरु ने चाहे भले या बुरे या मिश्रित, चाहे जिसप्रकार के साधक अपने पास रखे हैं, उससे आपको क्या लेना–देना? यह तो गुरुरूप महादेव की बारात है। इस बारात में जितनी कीमत वीरभद्र की है, उतनी ही कीमत नन्दी एवं साँप–बिच्छुओं की, भूत–प्रेतों तथा देवताओं की भी है। आप उसकी बारात में भगवान विष्णु के अंश होकर क्यों नहीं रहते? भगवान ने फूल एवं काँटे उपजाये, कहीं फूल की उपयोगिता है तो कहीं काँटे की। वैसे ही दैवी एवं आसुरी प्रकृति के लोगों को भी भगवान ही उपजाये हैं, आप तो दैवी प्रकृति का उपयोग करें, भगवान तो आसुरी प्रकृति का भी उपयोग कर लेगा। वैद्य के लिए सर्प का विष उपयोगी है, किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए मृत्युकारक है। किसको क्या ग्रहण करना है, भगवान ने पूर्व में निर्धारित कर रखा है। जिन प्राणिपदार्थों से, जिन विषय–वस्तुओं से आपके तन, मन, वचन का उत्थान होता है, उसे ग्रहण करने का विधान है तथा जिससे पतन होने की सम्भावना होती है, उसे त्यागने का विधान है। जब आप अभय होकर जीवनरथ पर सद्गुरु को बिठा लेते हैं तब शास्त्रीयधर्म, कुलधर्म, लोकधर्म एक तरफ और शिष्यधर्म एक तरफ होता है। इसप्रकार शिष्य धर्म में रहना ही स्वधर्म है। शिष्य का धर्म है अपने भौतिक शीश (सिर) को, अपने शरीरभाव को, मैं एवं मेरे भाव को सद्गुरु को दे दे, उसके उपरान्त आत्मरूप होकर उसकी आज्ञानुसार तन, मन, वचन से उसकी आज्ञा का पालन करता रहे।

(श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः.....) शरीर का धर्म है जन्मना–मरना, बढ़ना–घटना, भूख लगना, प्यास लगना। वैसे ही जीव का धर्म है हँसना–रोना, अपने को शरीर मानना, मैं और तू की भावना करना लेकिन आपका धर्म है अपने–आप को सम शान्त ब्रह्म समझना, अजर अमर शाश्वत सनातन पुरातन अव्यय अविनाशी एवं घट–घटवासी ब्रह्म समझना, इन्द्रियों में छिपे हुए राग–द्वेषादिरूप शत्रु से अनासक्त रहना। जैसे आँखों से देखना, देखनेवाले संस्कारों का धर्म है; वैसे ही कानों से सुनना, जिह्वा से रस लेना, हाथ से लेना–देना सब कर्म करना, पाँव से चलना, मन से मनन करना, बुद्धि से निश्चय करना भावरूपी प्रारब्ध का धर्म है। आप उन संस्कारों के

धर्म को अपना धर्म मान बैठे हैं। आप उनके धर्म को लौटा दें, फिर देखें कि आप अपने धर्म में स्थित होते हैं कि नहीं होते हैं।

'शरीर, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय तथा आप', ये चार भाग हो गये। आप की अध्यक्षता में ये तीनों चेतन से दिखाई पड़ रहे हैं, यदि आपकी अध्यक्षता नहीं है तो ये तीनों अनित्य एवं परिणामी हैं। आपके कारण से जड़ शरीर भी चेतन सा दिखाई पड़ता है। शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ विशेष चेतन हो गयी हैं तथा इन अन्तःइन्द्रियों की अपेक्षा प्रारब्ध (संस्कार) चेतन हो गया है। इसप्रकार परम चेतन होते हुए भी आपने इस अचेतन प्रकृति को अपना रूप मान लिया है, यही पराये धर्म को स्वीकार करना है।

पिता का धर्म अलग होता है, पुत्र का अलग होता है, पत्नी का अलग होता है, माँ का अलग होता है, हित–मित्रों का धर्म अलग होता है, जाति–समाज का धर्म अलग होता है लेकिन जिस समय, जिस पद पर आप हैं, उस पद के अनुरूप वही धर्म होता है। आप उन–उन पदों के अनुरूप अनासक्त होकर धर्म का पालन कर दें, बस आप प्रकृति विजेता हो गये ऐसा आप स्वयं से देखेंगे।

महाराज ने देखा– एक मूर्ख पुत्र ने अपने धर्मात्मा पिता से कहा– पिताजी! धर्मपत्नी का माँ से बनाव नहीं हो पा रहा है, हररोज कलह, हररोज कलह से मैं तो तंग आ गया हूँ। आप देख ही रहे हैं कि आपके पोते भी आपसे घृणा कर रहे हैं, मैं तो न मरने में हूँ न जीने में हूँ। यदि आप सम्पत्ति बाँटकर मेरे हिस्से को मुझे दे देते हैं तो आप दोनों भी सुख–शान्ति से जीते हैं और मैं भी आप दोनों की तरफ से चिन्तामुक्त हो जाता हूँ। स्वधर्म का पालन करनेवाले उस धर्मात्मा पिता ने कहा– नहीं, नहीं बेटे! पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पुत्र का ही अधिकार होता है। यदि मैं राजा होता और तुझ कंस जैसे पुत्र से प्रजा त्रासित हो रही होती तो मैं उग्रसेन की तरह तुम्हारे से युद्ध करता, भले तुमसे पराजित होकर कारागार में बन्द हो जाता, लेकिन यह तो लोकतंत्र है न बेटे! इसमें तो तुम्हारा विशेष अधिकार है। संसद में तो अब नियम बनने जा रहा है कि पुत्र अपने माता–पिता के लिए गुजारा–भत्ता देंगे। इसलिए मैं ऐसे घिनौने लोकतंत्र के नियम का त्याग करता हूँ। अब तो अपनी धर्मपत्नी के साथ किसी तीर्थ में संत के शरणागत होने जा रहा हूँ, अपना खाना–दाना वहाँ रखा है बेटे! तुम चिन्ता मत करो। हाँ, एक काम करना– इस गोपनीय बात को तुम अपनी धर्मपत्नी एवं बाल–बच्चों से मत कहना। 'कल की शाम में तो किसी संत के चरणों की मेरे द्वारा पूजा हो रही होगी'– ऐसा कहकर वह महात्मा पुरुष सनातन आदर्श परम्परा के अनुसार दूसरे दिन ब्रह्ममुहूर्त में वन की तरफ चल पड़ा।

इसप्रकार शास्त्रों में जगह–जगह स्वधर्म की व्याख्या हुई है। उस व्याख्या से और भगवान की इस व्याख्या से आप अच्छीप्रकार अपने स्वधर्म की व्याख्या कर लें। लगता है महात्मा अर्जुन को स्वधर्म की व्याख्या सुनकर बहुत हद तक संतुष्टि एवं शान्ति मिली है। इन्द्रियों में संस्कार हैं, वे ही राग–द्वेष से सम्पन्न हैं, उनके राग–द्वेष को अपना राग–द्वेष मान लिया गया है, ऐसा सुनकर उनकी आँखें खुल गयी हैं लेकिन तो भी उनके हृदय से

जगतहितार्थ एक प्रश्न खड़ा हो ही जाता है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

हे वार्ष्णेय! यदि ऐसा है तो वह कौन सी शक्ति है अथवा कौनसी आत्मा है अथवा कौन सा पाप है, जो मनुष्यों को उनके नहीं चाहने पर भी बलात् पापरूप कर्म करने के लिए विवश कर देता है। यही नहीं, वह कौन है जो मुझे आपकी आज्ञा का पालन करने नहीं दे रहा है?

यहाँ पर महात्मा अर्जुन ने वार्ष्णेय कहकर अति मान–सम्मान द्वारा प्रभु को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया है। भगवान वृष्णिवंश में अवतरित हुए हैं, इसलिए संतों ने इन्हें वार्ष्णेय कहकर भी पुकारा है। मानो वृष्णिवंश की ये आत्मा हैं, इसीलिए महात्मा अर्जुन ने वार्ष्णेय! कहकर प्रभु का स्तवन किया है। यही नहीं, भगवान को प्रसन्न करने के लिए हे वार्ष्णेय! कहकर उन्होंने वृष्णिवंश को ही नमन किया है। मानो भगवान से ही वे कह रहे हैं कि हे प्रभु! मैं वृष्णिवंश के आदिपुरुष से लेकर अबतक की संतानों को भी प्रणाम कर रहा हूँ, जिन्होंने युग–युग तक घोर जप, तप, योग कर मेरे उद्धार के लिए आपको अपने कुल में प्रकट होने के लिए बाध्य कर दिया है।

(अथ केन प्रयुक्तोऽयं.....) आप सब का भी कहना है कि नहीं चाहते हुए भी हमारे से पाप क्यों हो जाता है? नहीं चाहते हुए भी हम झूठ क्यों बोल देते हैं? नहीं चाहते हुए भी हम बाल–बच्चों के सामने कुत्ते की तरह भूँकने क्यों लगते हैं? नहीं चाहते हुए भी हम सवेरे सोये क्यों रह जाते हैं? जगना चाहते हैं किन्तु जग नहीं पाते। भोर में जगकर हम कुछ भगवान के लिए साधन–भजन करना चाहते हैं लेकिन चाहकर भी ऐसा नहीं कर पाते। नहीं चाहकर भी हम अखाद्य को खा लेते हैं, अपेय को पी लेते हैं तो फिर हमसे यह सब करानेवाला कौन है? ऐसा प्रश्न करके महात्मा अर्जुन ने सबपर महति कृपा की है। स्वयं महाराज महात्मा अर्जुन को साधुवाद दे रहा है इसलिए कि इस प्रश्न के कारण से भगवान नारायण से भी महात्मा अर्जुन विशेष उपादेय हो गये हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि गाय से विशेष महत्त्व उस ग्वाले का होता है जो हरी–हरी घासों को खिलाकर, समयानुसार जल पिलाकर तथा उसकी भरपूर सेवाकर उसे विशेष दूध देने के लिए बाध्य कर देता है। यही बात महात्मा अर्जुन के लिए भी समझनी चाहिए।

राजा जनक ने अपने गुरुजी से वरदान माँगा था कि आप जैसे प्रभु के सामने सूक्ष्म प्रश्न करने की योग्यता मुझे प्राप्त हो। उस महापुरुष को उनके गुरुदेव ने वरदान दे भी दिया था। वैसे ही वे महात्मा अर्जुन भी दूरदर्शी हैं, जिन्होंने यह जान लिया था कि कलियुगी शिष्य अपने सद्गुरु के पास शील–संकोच एवं मोहवश आध्यात्मिक प्रश्न नहीं कर पायेंगे। इतना ही नहीं बल्कि वे तो भौतिक कामना में इतने आसक्त होंगे कि आध्यात्मिक कामना ही उनकी सो जायेगी,

अतः वे प्रश्न करेंगे भी तो कहाँ से? इसलिए इस महापुरुष ने ऐसा प्रश्न करके भगवद्भक्तों पर महति कृपा कर दी है।

इस शरीर में राग एवं द्वेष के पूर्व भी कोई है क्या? यहाँ पर ऐसा कौतूहल होना स्वाभाविक है। राग और द्वेष का कोई मूल है क्या? ऐसे प्रश्नों के माध्यम से संधि की वेला प्रतीत हो रही है अर्थात् संध्या की। राग–द्वेष तो राग और रागिनी, दिन एवं रात, पाप तथा पुण्य की तरह एक–दूसरे के विरोधी प्रतीत हो रहे हैं। प्रेम जहाँ है, वहाँ द्वेष है तो प्रेम और द्वेष के बीच में लगता है कोई कड़ी है अथवा कोई शक्ति है या आत्मा है, जो कभी प्रेम को स्वीकार करता है तो कभी द्वेष को, कभी पाप को स्वीकार करता है तो कभी पुण्य को, कभी हर्ष को स्वीकार करता है तो कभी विषाद को। तो फिर वह कौन है? हे प्रभु! आप बताएँ– ऐसी महात्मा अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं।

तीसरे अध्याय में तृतीय चरण पूरा होते–होते महात्मा अर्जुन अब साधकराग गाने लगे हैं। प्रथम अध्याय में उन्होंने जीवराग गायी थी, दूसरे अध्याय में भी मूर्खराग के साथ–साथ, अधकचरी शिष्यराग गायी थी। अब तो वे मुमुक्षुराग गाने लगे हैं। प्रभु ने अति प्रसन्न होकर कहा– हे पार्थ! वह है काम....! काम.....!! काम.....!!!

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥३९॥

वह काम है पार्थ! काम, जो छेड़ने पर क्रोध रूप बनकर आनेवाला (प्रकट होनेवाला) रजोगुण से उत्पन्न होता है। अरे! हे पार्थ! यही महापेटू है, जिसका काम से कभी पेट नहीं भरता। यही महापापी, साधकों का नित्यवैरी है। जिसप्रकार धुएँ से आग छिपी रहती है, मैल से दर्पण छिपा रहता है अथवा जैसे जेर से शिशु ढका रहता है, उसीप्रकार इसी महापापी के द्वारा जिज्ञासुओं का जिज्ञास्य अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है। यही अग्नि के समान सदा भूखा रहता है। अतः सर्वप्रथम तुम इसी के स्वरूप को जान लो।

अब भगवान का संकेत देखें कि वे इस मंत्र के द्वारा युद्ध के मैदान में महात्मा अर्जुन से क्या कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे पार्थ! यह निराकार से साकार होनेवाला काम देखो तो यहाँ किस रूप में है! दुर्योधन ही यहाँ पर काम है पार्थ! कर्ण ही क्रोध है, शकुनि ही लोभ है,

द्रोणाचार्य ही मोह हैं, पितामह ही अहंकार हैं, धृतराष्ट्र ही अज्ञान हैं। हे महात्मा! इस महापापी दुर्योधन का पेट तो आज तक भरा ही नहीं, इस क्रोधी कर्ण की भी तृप्ति नहीं हुई, दुःशासन की भुजा में अब फिर से बल आ गया है; अतः अब तुम गाण्डीव उठाओ और कर्ण के मस्तिष्क को विदीर्ण कर दो; क्योंकि मस्तिष्क में ही क्रोध रहता है, भीम अपनी प्रतिज्ञानुसार विशाल गदा से दुर्योधन की जाँघों को विदीर्ण कर इसके प्राण को काल के हवाले कर दें तथा दुःशासन की भुजाओं को उखाड़कर, उसकी छाती को चीरकर उसका गरम–गरम रक्त पीयें तथा कुछ रक्त बचाकर कल्याणी द्रौपदी को दे दें, जिससे उसे अपने बाल धोने का सौभाग्य प्राप्त हो। हिजड़े को हिजड़ा मारता है पार्थ! पितामह को द्रौपदी चीरहरण के समय हिजड़ा होने का पाप लग गया है, अतः इन्हें शिखण्डी ही मारेगा। यहाँ तुम जान लो कि तुम्हारे साधनपथ में ये सभी बाधक हैं।

मानो महात्मा अर्जुन के मन में आया कि मैं तो साधक नहीं हूँ। प्रभु ने मन की बात जानकर मानो कहा– मुझे सद्गुरु बना लिया है तूने और साधक नहीं हो, ऐसा कैसे सोच रहे हो?

(काम एष क्रोध एष.....) भगवान ने इस महापापी काम को साधकों एवं आत्मजिज्ञासुओं का ही महावैरी बताया है। इससे सिद्ध होता है कि काम अज्ञानियों का, विषयी स्त्री–पुरुषों का परम मित्र है। वह काम नैसर्गिक अर्थात् प्राकृतिक है जो मनुष्यों को छोड़कर सभी प्राणियों में बिना सीखे–सिखाये आता है। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे तो कामरूप ही हैं, इसलिए कि उनका काम अपनी माँ, बहन, बेटी को नहीं देखता। गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं देवताओं की आत्मा तो काम ही है, काम नहीं तो वे नहीं, काम है तो वे हैं। विषयी पुरुष भी अपने सम्पूर्ण जीवन को दाव पर लगा बैठे हैं। काम पूर्ति के लिए ही वे सब जीवन को दाव पर लगा बैठे हैं, उस काम की पूर्ति के लिए नानाप्रकार के यत्न किया करते हैं। उसी की पूर्ति के लिए चोरी–चमारी, छल–कपट आदि सब करते हैं। उसी काम की पूर्ति के लिए राजा नहुष एवं बेन की तरह गुरु से विरोध कर बैठते हैं, संत से एवं साधु प्रकृति के माता–पिता से भी विरोध करते हैं। राजा मांधाता ने किसी नास्तिक से सुन लिया कि काम को भोग लेने से निर्मल वैराग्य होकर भगवान के ध्यान–भजन में मन लग जायेगा, अतः एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी शादी करते हुए हजार शादी कर गये, किन्तु काम बढ़ता गया, बढ़ता गया, यौवन जाता रहा, वयस्कता आती रही। उन्होंने देखा अब तो मैं बुढ़ापे में प्रवेश कर गया लेकिन यह महापापी काम तो बढ़ता ही जा रहा है। अरे! मैंने किसकी बात सुन ली! धोखा! धोखा!! धोखा!!! मेरे साथ तो धोखा हो गया। शास्त्र तो कहते हैं कि अग्नि में जितना ईंधन डालो उतनी ही बढ़ती है, वैसे ही काम में काम देने से काम बढ़ता है, जितना ही काम का उपयोग किया जाता है उतना ही काम व्यापक होता है। ओह! नहीं, नहीं, नहीं! हे मन! आज से तुम्हारा कहना नहीं मानूँगा, अब मैं तुम्हारा कहना नहीं मानूँगा। इसप्रकार प्रतिज्ञा करते हुए कि काम से काम बढ़ता है तथा त्याग से काम शिथिल होता है, उस महापुरुष ने भगवत्कामना से आधी रात को संन्यास ले लिया। राजा ययाति के काम ने तो अपने पुत्र की जवानी ही ले ली। कुछ ऐसे लोग पाये जाते हैं संसार

में जो असुरों के सिद्धांत का वैष्णव मत कहकर प्रचार–प्रसार करते हैं। वह काम ही है, जो पुत्री को नहीं देखता, माँ को नहीं देखता, बहन को नहीं देखता। आज काम के कारण से ही बहन–बेटियाँ अपने होनेवाले पति से प्रतिज्ञा कराती हैं कि तुम कहो कि मैं तुम्हें अपने माता–पिता के साथ नहीं रखूँगा, तब यह मेरी सुन्दरता तुम्हारे लिए समर्पित होगी, अन्यथा इस सौंदर्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं होगा। इस नैसर्गिक काम को यदि संत दिशा न दें तो वही आपके लिए महाकाल बन जाता है तथा आपके दिव्य जीवन को जिसमें भगवान समाया हुआ है, छिन्न–भिन्न कर देता है। परिवार में आपका वैरी कोई और होता है, समाज में वैरी कोई और होता है, किन्तु भगवान उसे वैरी नहीं मानते। अध्यात्मपथ में तो वे आपके परम मित्र हैं; क्योंकि वे जितनी ही आपकी निन्दा करते हैं, उतनी ही आपकी साधना निर्विघ्न चलती रहती है लेकिन यह महापापी काम तो निश्चित ही आपका महावैरी है, जो आपके पीछे ही लगा हुआ है। यही आपके पुण्यों का अपहरण कर रहा है तथा सारे पुण्यों को खाकर पुनः आपको नरक के द्वार पर ले जाकर धक्का दे देता है, जहाँ से आप पुनः बहुत सी योनियों में जाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। वहाँ कभी सर्प बनेंगे तो कभी बिच्छू बनेंगे, कभी पेट के बल चलनेवाले बनेंगे तो कभी पीठ के बल चलनेवाले बनेंगे, कभी पाँव के बल चलनेवाले बनेंगे तो कभी सिर एवं हाथ के बल चलनेवाले बनेंगे, कभी नाले के कीड़े, कभी गोबर के कीड़े तो कभी विष्ठा के कीड़े बनेंगे। वह काम ही है जो कि जितना आपमें है उतना ही पशु–पक्षी कीट–पतिंगों में है तथा उतना ही गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस एवं देवताओं में है। इतना ही नहीं, नालों, सरोवरों, वृक्षों एवं लताओं में तथा उतना ही पहाड़–पहाड़ियों में है। इतना ही नहीं, जो काम आप बड़े यत्न से प्राप्त करते हैं, वह तो अधम योनियों को बिना प्रयत्न के ही प्राप्त है, जिसके लिए अपने दिव्य जीवन को दाव पर लगा बैठे हैं, दिन–रात एककर अरबपति–खरबपति एवं त्रिलोक के स्वामी बनने के सपने देखते रहते हैं। आप ही विचार करें कि वे पशु–पक्षी अर्थात् अधमयोनियाँ इस विषय में श्रेष्ठ हैं या आप श्रेष्ठ हैं? उन्होंने अपनी आत्मा काम को नहीं भुलाया और आपने इस काम के चक्कर में अपनी आत्मा अर्थात् अपने स्वरूप को ही भुला दिया। आपसे महाराज पूछता है कि आप कौन हैं, आप कहाँ से आये, कहाँ जायेंगे, इसका उत्तर देने की सामर्थ्य नहीं है। किसलिए आये, तो आप कहते हैं– इन सब बातों को जानने का समय नहीं है!

मानो अर्जुन ने भगवान से पूछा कि तो क्या मैं इस काम के लिए भाग रहा था? भगवान मानो कह रहे हैं कि नहीं, नहीं, तुम नहीं भाग रहे हो बल्कि यह काम भागने के लिए विवश कर रहा है। वह सोच रहा है कि जब इस युद्ध के मैदान में सब धराशायी ही हो जायेंगे तो मेरा क्या होगा? क्योंकि मैं तो मान में, सम्मान में, वैरी में, मित्र में सबमें हूँ, चाहे जहाँ से आक्रमण करता रहता हूँ, पर यहाँ कोई रहेगा ही नहीं तो आक्रमण किसपर और कहाँ से करूँगा।

भगवान ठीक ही कह रहे हैं। इस महापापी काम ने अयोध्या नरेश को अपने वश में करके इतना प्रमादी बना दिया कि उन्होंने कैकेयी को अपना सर्वस्व देने का आश्वासन दे दिया; फिर

तो उस साध्वी ने उनसे राज्य ही छीन लिया। उसने सोचा कि निर्विकारी राम को, अकामी राम को, अपने जैसा ही समझ रहे हो? अरे! यह तो काम का दमन करने के लिए आया है, रावण जैसे कामी को पहले मारेगा, सर्वप्रथम त्रिलोकी को वह मुक्त करेगा फिर अयोध्या में रामराज्य की स्थापना कर प्रजा के भी काम को मार डालेगा तथा सभी लोग इसके साथ ही साकेत धाम को चले जायेंगे। यह वही महापापी काम है, जो उर्वशी जैसी देव अप्सरा का मान मर्दन करनेवाले जितेन्द्रिय अर्जुन के पास मोह बनकर खड़ा हो गया और कहा– हे महावीर अर्जुन! तुमने एकबार उर्वशी के रूप में मुझे पराजित कर अपने यश–प्रताप को विश्वामित्र से भी विशेष बढ़ा लिया था, देवर्षि नारद को लज्जित होने के लिए बाध्य कर दिया था, अब आओ, आओ! हे कामविजेता! मैं मोह बनकर आ गया हूँ, इसरूप में मेरा त्याग करो तब बहादुर मानूँ।

महाराज ने कहा– हे काम! तुम इतनी क्या डींग हाँक रहे हो, ठहरो थोड़ी देर और ठहरो! अभी तो ये भक्तों, सन्तों एवं साधकों के लिए ब्रह्मविद्यारूप दूध दुह रहे हैं, जब दूध दुह लेंगे तो इनके गाण्डीव की हुंकार से तुम्हारे छक्के छूट जायेंगे, फिर–फिर तुम्हारा अता–पता नहीं चलेगा। अरे मूर्ख! तुम नहीं देख रहे कि इन्होंने ऐसे अकामी को अपना सद्गुरु एवं जीवन सारथि बना लिया है, जिसने सोलह हजार गोपियों के साथ रहकर भी अपने तन, मन, वचन एवं हृदय में तुम्हें जगह नहीं दी है।

तो क्या हुआ, अभी तो मैं इन्हें रुला ही रहा हूँ– मानो काम कह रहा है। महाराज कह रहा है कि छिः छिः! धिक्कार, धिक्कार है तुम्हें! अरे मूर्खराज! तुम इनके रोने को रोना कहते हो, जिस रोने में ब्रह्मविद्या बसती है? अरे! क्या तुम माँ अंजनी के काम को काम कहोगे, जिस साध्वी माँ के काम में हनुमान बसते हैं? उस वसुदेव और देवकी के काम को तुम काम कहोगे, जिसके काम में असुरों का तथा स्वयं तुम्हारा भी मानमर्दन करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण बसते हैं? हे काम! वह काम नहीं, ब्रह्म का संकल्प है, संकल्प।

तो क्या ये जो रोना रो रहे हैं, यह सब दिखावा है? काम ने पूछा। हाँ, हाँ क्यों नहीं! ज्ञानोपरान्त अर्जुन कहेंगे कि हे माधव! उस समय मैं नहीं रो रहा था, बल्कि यह रोये, शोक–सन्ताप करे, तो मैं इसे ब्रह्मविद्यारूप दिव्य वस्तु देकर मनाऊँ, ऐसा सोचकर आपने रुलाया था। काम ने कहा– तो हे महाराज! मैं इस जगह से भागता हूँ। मैं तो समझ रहा था कि ये मेरे कारण से रो रहे हैं। आपका कल्याण हो महाराज! आपका कल्याण हो। ऐसा कहता हुआ काम वहाँ से भागने लगा। महाराज ने उस महापापी काम को भागते हुए देखकर कहा– भाग! भाग!! तू भाग!!! यह युद्धलीला है, रासलीला नहीं। अरे! तुम्हें तो प्रभु ने मधुवन में जब महारास रचाया था, तब भी जगह नहीं दी थी। उस रास में तो भगवान शंकर अपने–आप सम्मिलित हो गये थे तथा साधक, सिद्ध, संत एवं देवता अन्तरिक्ष से उसका दर्शन कर रहे थे। हे काम! तुम्हारी जगह तो 'मैं' और 'तू', 'मेरा' और 'तेरा' रूप मैला खानेवाले विषयी स्त्री–पुरुषों के पास है। अतः जा! जा! भाग जा! भागते–भागते काम भाग गया और महाराज भगवान को भक्त अर्जुन के साथ खेलते हुए दिव्य होली की तरफ देखकर एक दिव्य होली ही 'रसिया राग' में गाने

लगा–

होरी खेलत आज माधव रसिया, आओ देखो ना।

मैं तू की पिचकारी बनावत, अर्जुन तामें विषादरंग डालत।
बोरत–बोरत सबै तन बोरत, माधव की तब जाय हँसिया।।

मायामय पिचकारी बनावत, क्रोधरंग भरि प्रभु तब मारत।
ऐ हिजड़े तू भाग कहाँ पर, जाय वहाँ भी मारे रसिया।।

ज्ञानरंग प्रभु जब–जब डारत, अज्ञानरंग अर्जुन बरसावत।
त्यागरंग जब माधव डारें, ग्रहणरंग की डारें फँसिया।।

राग द्वेष रंग अर्जुन डारत, कर्म नियम रंग से प्रभु मारत।
प्रश्न रंग अर्जुन बरसावत, कामरंग की फाड़े छतिया।।

महाराज भाष्यरंग बरसे, साधक सिद्ध संत तब हरसे।
विस्मयरंग चहुदिश दरशे, महाराज भरि आवे छतिया।।

(काम एष क्रोध एष.....) काम ही क्रोध बनकर आ जाता है, काम ही लोभ, छल–कपट बनकर आ जाता है। यदि आप इससे युद्ध करेंगे तो अपना वेश बदल–बदलकर आक्रमण करता रहेगा।

एक कामी पिता ने कहा– बेटे! सरकार कितना देती है? पुत्र ने कहा– दस हजार। पिता ने झुँझलाकर कहा– अरे! ऊपर–झापर भी कुछ है क्या? यानी चोरी करने का रास्ता है उसमें? नहीं पिताजी नहीं। तो पेट कैसे भरोगे बाल–बच्चों का, माँग कैसे भरोगे स्त्री की? शृंगार कैसे करोगे उसका, पचास साड़ी कैसे खरीदेगी वह? स्नो–पाउडर के दाम ही कितने बढ़ गये हैं। अरे मूर्ख! दस हजार में तो उसका शृंगार ही हो पायेगा तो खाओगे–खिलाओगे कहाँ से? यह काम बोलता है पिता नहीं, जो पिता होगा वह ठीक इसके विपरीत बोलेगा। काम का पेट इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि उसमें भगवान की, साधु–संत की, कोई जगह ही नहीं है।

महाराज ने एक परिवार में कहा– आपके बेटे को दस लाख मिलेंगे दहेज में, शादी करेंगे? उसकी दादी माँ वहीं बैठी थी, कहा– दस लाख में मारवाड़ी की शादी होती है बाबा! महाराज ने कहा– नहीं, नहीं, तुम ठीक कह रही हो। कितने वर्ष की उम्र हो गयी तुम्हारी? उसने कहा– सत्तर वर्ष की बाबा! मैं सत्तर वर्ष की हो गयी। महाराज ने कहा– तो सत्तर वर्ष में तुम्हारा पेट नहीं भरा? बीस लाख भी लोगी और पुत्रवधू को हररोज काल बनकर खाओगी भी, रोज ताने भी मारोगी? अरे! दो में से एक काम करो– जब बीस, तीस, पचास करोड़ लेकर भी बहू को सताना ही है, उसे मार–मारकर अपनी काम–क्रोध एवं लोभ की तपन बुझानी ही है तो उससे पैसे मत लो, आधा ही पाप करो। कम से कम नरक में जाओ, जीवन–जीवन को नारकीय क्यों बना रही हो? अरे! तुम कैसी राक्षसी हो, जो बेटी भी लेती हो और उसके पिता से पैसे भी लेती हो? तो

ऐसा करो– फिर बहू तुम्हारे घर क्यों आयेगी, तुम्हारे बेटे को ही क्यों न अपने घर बुला लेगी? जब उसके पिता ने तुम्हारे बेटे को खरीद ही लिया है तो किस मुँह से तुम उसे अपना बेटा कहोगी। छिः छिः छिः! तुम्हारी तो छाया भी नहीं देखनी चाहिए। अच्छा! घबराओ मत, महाराज ही क्या कोई भी सन्त तुमलोगों के घरों में अब आनेवाले नहीं हैं। कुछ तो हिमालय में छिप गये हैं, कुछ भिखारीवेश बना लिए हैं और जो शेष बचे हुए हैं, वे भी जल्दी ही तुमलोगों के देश से किंपुरुष प्रदेश में अज्ञात हो जानेवाले हैं। अच्छा! तो ये बात है! महाराज कभी–कभी सोचता था कि हनुमानजी ने तो शरीर छोड़ा नहीं है, फिर क्यों नहीं इस भारतभूमि में दिखाई देते हैं; जबकि जगह–जगह उनकी प्रतीक्षा में मंदिर पर मंदिर बनते जा रहे हैं किन्तु उनका आना तो दूर बल्कि उनकी आने की झाँकी भी नहीं मिल रही है? लेकिन आज उत्तर मिल गया– जिन्होंने माँ कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी, भगवती सीता, उर्मिला, माण्डवी एवं श्रुतिकीर्ति जैसी साध्वी माताओं का परोसा हुआ प्रसाद पाया है, वे तुम्हारी जैसी राक्षसियों के हाथ का परोसा हुआ पाप (काम) क्यों खायेंगे? बेटी बेचनेवाला ब्रह्महत्यारा है, बेटा बेचनेवाला ब्रह्महत्यारा है, ब्रह्महत्यारों का यहाँ जमघट लगा है। अरे हे मन! भागो! भागो!! भागो!!! हनुमानजी की तरह भागकर कहीं कन्दरा में छिप जाओ या भिखारी का वेश बना लो! गुफा में छिपने से अच्छा है भिखारी–वेश में रहना; क्योंकि ये ब्रह्महत्यारे वहाँ भी पाप का प्रायश्चित करने, तिलक, दहेज का अन्न खिलाने पहुँच जायेंगे। लगता है इन बेटीबेचों एवं बेटे के खरीददारों से तंग आकर ही कुछ बाल–बच्चे प्रेम–विवाह (गन्धर्व विवाह) करके इन तथाकथित माता–पिताओं की नाक–कान काटने में लगे हुए हैं।

(धूमेनाव्रियते वह्निः.....) जिसप्रकार धुएँ से आग, मैल से दर्पण एवं जेर से शिशु ढका रहता है, उसीप्रकार इस महापापी काम से ज्ञानियों का ज्ञान ढका हुआ है, ऐसा कहकर प्रभु ने मानो साधकों, भक्तों को लिखित सन्देश दिया है कि जैसे धुएँ को फूँक–फूँककर, हवा देकर, जल्दी आग को प्राप्त कर लेते हैं, मिट्टी एवं सोडे से दर्पण की मैल साफ कर लेते हैं, वैसे ही निश्चितरूप से इस महा अघोरी कामरूप मैल को हटाकर ही आप ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इतना ही नहीं, जैसे कोई भी माँ शिशु के जेर को हटाकर नाड़ा काट देती है तो बच्चा उसके सामने स्वयं ही श्वास लेने लगता है, रोने–हँसने लगता है, दूध पीने लगता है अर्थात् बाललीला उसके लिए सुलभ हो जाती है; उसीप्रकार आप भी इस कामरूप जेर को हटायें, फिर तो आत्मज्ञान आपके लिए आपके सामने आपके दिव्य अनासक्ति, दिव्य विरक्ति, दिव्य आत्मरति को लाता हुआ प्रकट होगा? क्या आप बतायेंगे कि वह जेर एवं नाड़ा क्या है? क्यों नहीं, क्यों नहीं, स्वजन ही जेर हैं तथा ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, यही नाड़ा है। इसप्रकार स्वजनरूप जेर को हटायें और मैं, तू, मेरा, तेरा रूप नाड़े को काटें। अरे! काटेंगे कैसे, क्या बच्चा अपने से काटेगा? बात तो सही ही कह रहे हो तो देखो, अर्जुन का जेर कौन हटा रहा है एवं उनका नाड़ा कौन काट रहा है। भगवान ही तो सद्गुरु बनकर उनको जेर एवं नाड़े से मुक्त कर रहे हैं! तो क्या आप सद्गुरु के पास जाकर अपना जेर एवं नाड़ा हटा–कटा नहीं सकते?

अच्छा तो! काम का ठौर ठिकाना बतायेंगे आप? क्योंकि चोर के ठौर–ठिकाने का पता चल जाय तो चाहे जिस उपाय से उसे मारा जा सकता है। भगवान ने कहा– क्यों नहीं, तो लो सुनो– इन्द्रियों में (बाह्य इन्द्रियाँ एवं अन्तर् इन्द्रियाँ) ही इस महापापी का वासस्थान है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

हे पार्थ! इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ही इस कामरूप शत्रु के वास स्थान कहे जाते हैं। यह महापापी काम इन्हीं का आश्रय लेकर ज्ञान को ढककर निर्विकार आत्मा को मोहित करता रहता है। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ! तुम पहले इन इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान–विज्ञान का नाश करनेवाले महापापी काम को मार डालो।

वह काम आपकी हर इन्द्रियों में वास करता है, बाहर तो बसता ही बसता है लेकिन भीतर सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंगों में भी बसता है। आँख में, कान में, जिह्वा में, त्वचा में, नाक में, मन में, बुद्धि में, चित्त आदि में भी वास करता है। यही नहीं, वह हाथ में, पाँव में, पेट में, पीठ में, रक्त में, मांस में, हड्डी में अर्थात् रोम–रोम में वास करता है। माँ भी एक इन्द्रिय है, पिता भी एक इन्द्रिय है, पुत्र भी एक इन्द्रिय है, धर्मपत्नी भी एक इन्द्रिय है, भाई भी एक इन्द्रिय है, मित्र भी एक इन्द्रिय है, महल भी एक इन्द्रिय है, सम्पत्ति भी एक इन्द्रिय है तथा आप यदि विषय चाहते हैं तो आप भी एक इन्द्रिय हैं; जबकि आप निर्विकार आत्मा हैं लेकिन आत्मज्ञानी संतों के लिए आप एक इन्द्रिय होकर रह गये हैं। आपको बुरा न लगे; क्योंकि ऐसा भगवान कह रहे हैं, महाराज तो केवल उनकी बात को आपके सामने रख रहा है। अतः पुनः पुनः देखें कि बेटे–बेटी, माता–पिता के लिए इन्द्रिय हैं तथा माता–पिता, बेटे–बेटी के लिए इन्द्रिय हैं। इसीप्रकार सभी एक–दूसरे के लिए इन्द्रिय होते हैं। कोई बेटा संध्या में भोजन माँगता है तो माँ कहती है– संध्या में भोजन नहीं करना चाहिए बेटा! मानो वह बेटे नामक इन्द्रिय पर संयम कर रही है। पहले की परम्परा थी कि संध्या में कोई भी माँ अपने बाल–बच्चों को भोजन के लिए मना करती थी। अब पता नहीं क्या हो गया है कि क्यों उस संयम को त्याग दिया गया। अरे! बेटा ठहरो! दीपक जल जाने दो, तारे उग आने दो, इस समय तो जो खाओगे वह विष बन जायेगा, संध्या में राक्षस खाते हैं। पता नहीं, ऐसा कहनेवाली मातायें कहाँ चली गयीं? आज तो संध्या में ही खाने का उपयुक्त समय हो गया है। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता तथा अन्यान्य बड़े शहरों में बारह बजे रात्रि में ही भोजन–पानी लेने का समय निर्धारित हो गया है। बारह बजे रात्रि में तो भूत–प्रेत खाना प्रारम्भ करते हैं। निश्चितरूप से उस समय आपके पेट में प्रेत प्रकट हो जाता होगा और वही खाकर नौ–दस बजे तक भरपेट सोता होगा, खिलाओ और खाओ– प्रेत रात्रियों में। आप ऐसा कर रहे हैं तो आप अपने एवं अपने बाल–बच्चों में प्रेतकाम जगा रहे हैं। जब बेटे का वह काम

जागेगा तो वह आपको धक्का देकर काम (स्त्री) को ही स्वीकार कर लेगा। भले ही आप राम एवं सीता हों, लेकिन बाल–बच्चों को अनर्गल काम देते हैं, अशुद्ध काम देते हैं तो निश्चितरूप से वे कामरूप होकर आपका त्याग कर ही देंगे। यह भारतभूमि है, यहाँ सभी एक–दूसरे के लिए इन्द्रिय हैं, इसलिए एक–दूसरे पर शासन करें। बेटे को सद्गुरु मिल गया है तथा वह शक्तिमान हो गया है तो माता–पिता पर शासन करे और यदि माता–पिता सद्गुरु प्राप्त कर शक्ति से सम्पन्न हो गये हैं तो कुशलता से बाल–बच्चों पर शासन करें। उसीप्रकार धर्मपत्नी आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न है तो अपने कामरूप पति पर शासन करे। इसीप्रकार पति पत्नी पर, मित्र मित्र पर, भाई भाई पर अपने तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र कर शासन करें, तब कहीं परस्पर में सामंजस्य बन पायेगा, अन्यथा नहीं।

(तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ.....) एक भक्त ने कहा– आओ बाबा आओ! आपको एक नाटक दिखाता हूँ। महाराज को कमरे में ले जाकर कहा कि बाबा! आप इससे (धर्मपत्नी से) पूछिये कि नई साड़ी पहनकर, शृंगार करके कहाँ जा रही हो? महाराज ने पूछा तो वह बोली कि बाजार जाना है बाबा! बाजार। तो बाजार के लिए इतना शृंगार, यह कैसा शृंगार है? महाराज ने पूछा। इसके पूर्व जो तुम्हारा शृंगार और साड़ी थी, क्या उसी में बाजार जाकर सामान नहीं ला सकती थी? वहाँ बाजार में यह शृंगार किसको दिखाओगी? यह शृंगार तो पति के लिए किया जाता है, ऐसा धर्म कहता है। बाजार जाते समय तो दिव्य साड़ी खोल दी जाती है तथा सामान्य साड़ी पहन ली जाती है, ताकि किसी की दृष्टि न पड़े।

ऐसी तो आपकी नियति हो गयी है! काम बाहर फैल गया है– वस्त्र में, साबुन–तेल में, मिर्च–मसाले में, दिखावे में। आप सामंजस्य चाहते हैं– पति आपको प्यार करे, पत्नी आपको प्यार करे, गुरु आपको प्यार करे, उसके बाद ध्रू अर्थात् भगवान आपको प्यार करे; लेकिन जब आप भगवान के कहे अनुसार चलेंगे तब तो ऐसा सम्भव हो सकेगा! आप कहते हैं कि मैं इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकता, तो फिर आप अपने को मनुष्य क्यों कहते हैं? अपने को माँ कहते हैं, अपने को पिता कहते हैं और क्षुद्र इन्द्रियों पर शासन नहीं है, तो किस बात के माता–पिता हैं आप? कौन सी शक्ति से आप अपने को माता–पिता कहते हैं? किसी योद्धा के पास अस्त्र–शस्त्र है ही नहीं, फिर भी वह कहे कि मैं योद्धा हूँ, तो किस बात का वह योद्धा है?

एक बार रामानन्द ने कहा कि महाराजजी! अरुणजी ने टी.वी. भेजा है दान में। और तुमने ले लिया? महाराज की तरफ नहीं देखा– उससे महाराज ने हँसते हुए कहा। अरे! यह टी.वी. दान, रेडियो दान, सैंडिल दान, बिस्कुट दान, केक दान, यह कैसा दान है? यह तो महाराज पहली बार सुन रहा है। आश्रम में टेलीविजन आया– इसका तात्पर्य गन्धर्वलोक आ गया! अच्छा! तो महाराज अब चला यहाँ से। तब उसने कहा– नहीं, नहीं! हमलोग इसे लौटा देंगे। बस, नवरात्रि में आये हुए भक्तों को, जो व्रत में हैं, उन्हें महाभारत और रामायण देखने दीजिये; साधक न वहाँ बैठेंगे, न देखेंगे। महाराज ने हँसते हुए कहा कि तुम ठीक ही कह रहे हो, यह संतों का आश्रम तो है नहीं; है तो यह वैष्णवलोक, शैवलोक एवं शाक्तलोक; जिसे वैष्णव, शैव

एवं शाक्तमत को माननेवाले सद्गृहस्थों ने विशेष पर्वों पर जप, तप, योग करने के लिए, अपने लिए ही बनाया है। पर्वों पर ही वे लोग आते हैं, इसलिए अन्य समय में उनके इस लोक को आध्यात्मिक साधक अपनी साधनास्थली भी बना लेते हैं। तो चलो ठीक ही है, इसे कभी अपना आश्रम मत मान लेना, अन्यथा प्रत्यवायदोष हो जायेगा। जब सद्गृहस्थ के आश्रम को साधक अपना आश्रम मान लेता है तो उसके लिए वह वैकुण्ठलोक, गन्धर्वलोक, असुरलोक, प्रेतलोक एवं शूर्पणखालोक बन जाता है। दिव्य महल साधक के लिए शूर्पणखा ही तो है, जबकि सद्गृहस्थों के लिए यह एक दिव्य यज्ञशाला है। तुम ठीक ही कह रहे हो, महाराज तो आश्रम में रहता ही नहीं, दुबई की रेखामाई के मकान में रहता है। महाराज का इन्दरजी, चतरजी, चूहीरामजी (हिमाचल प्रदेश) के मकान में चार–पाँच महीने रहना देखकर डॉ. कंचनजी (दुबई) अपने यहाँ ले जाकर दुबई में रखने को तरस–तरस कर रह जाते थे। कहते थे– महाराजजी! जैसी ये लोग सेवा करते हैं, वैसी तो हमलोग कर ही नहीं पायेंगे। रेखा माई (डॉ. जी की धर्मपत्नी) कहती कि महाराजजी! हमारे पास दुबई में लगभग भारत के जितने प्रवचन कर्ता हैं, साधु–संत हैं, वे सब पहुँच जाते हैं लेकिन जब आप ही वहाँ पर नहीं आते तो फिर सबका आना नहीं आने के बराबर है। ये लीलावती, सैन्यावती एवं धर्मावती यहाँ अपने घर में रखकर भी सेवा कर लेती हैं और ऋषिकेश आश्रम में भी जाकर सेवा कर लेती हैं; फिर तो सबसे दुर्भाग्यशाली मैं ही हूँ। कुछ ही महीनों के बाद इनलोगों ने ऋषिकेश में वैकुण्ठलोक, शिवलोक, भागीरथीलोक (श्री भागीरथी धाम) बनाकर महाराज को दोनों नवरात्रि एवं गुरुपूर्णिमा आदि पर्वों पर यहाँ रहने के लिए आग्रह किया। जब महाराज उनके बनाये हुए आश्रम में पहुँचा तो रेखामाई से कहा– जानती हो महाराज कहाँ रह रहा है? उसने पूछा– कहाँ रह रहे हैं? महाराज ने कहा– दुबई में! दुबई में!! दुबईवाले तुम्हारे मकान में। अब किसे कहते हैं तुम्हारे मकान में रहना? ऐसा सुनते ही उसके आँखों से प्रेम के आँसू छलक पड़े।

महाराज प्रायः साधकों से कहा करता है कि यह डॉ. जी (दुबई), इन्दरजी, चतरजी, चूहीरामजी, तपेन्दरजी (हिमाचल प्रदेश) का वैकुण्ठलोक है न। यदि तुमलोगों ने इसे अपना माना तो तुमलोगों के लिए यह शूर्पणखालोक बन जायेगा और वासना बनकर आक्रमण करने में देर नहीं करेगा।

(इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः.....ज्ञानविज्ञाननाशनम्) यहाँ तक आप सब ने जान लिया कि प्रारब्ध (संस्कार) ही इन्द्रियों के द्वारा अज्ञानावस्था में सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है तथा उन कर्मों का मूल है काम। वह काम बुद्धि तक फैला हुआ है, जिसने आपको ही मोहित कर लिया है। इसलिए सर्वप्रथम शरीरसहित इन्द्रियों पर, मन पर, बुद्धि पर संयम करके, इस महापापी काम को आप मार डालें। भगवान ने यहाँ पर यह भी संकेत कर दिया है कि आप इसे मार सकते हैं, आपको भ्रम है कि यह बलवान है। सर्वप्रथम आप स्थूल इन्द्रियों से अनासक्त होकर देखें, जिन्हें महाराज ने स्वजन की संज्ञा दी है उनको तो अपना मानना छोड़ें। उनको अपना मानना छोड़ते ही वह काम बारह आना निर्बल हो ही जायेगा। शेष चार आना बचेगा, उसे आप कैसे मार सकते

हैं, इसके लिए भगवान ने कहा–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

शरीर से बलवान इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से बलवान इन्द्रियों में रहनेवाला विषय है, विषय से बलवान विषय को स्वीकार करनेवाला मन है, मन से बलवान तुम्हारी बुद्धि है तथा बुद्धि से बलवान तो आत्मा है। वह आत्मा तुम ही हो। इसप्रकार अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अध्यात्मचिन्तनरूप ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों में फैले हुए इस महापापी अपने घोर शत्रु दुर्जय काम को मार डालो।

भगवान नारायण ने महति कृपा करके आत्मजिज्ञासुओं को संदेशरूप उपदेश दिया है कि आप घबराते क्यों हैं? सर्वप्रथम अपने–आपको आत्मरूप में तो स्वीकार करें, फिर आत्मचिन्तनरूप तलवार से इसका छेदन करने का प्रयत्न करें, फिर देखें कि यह कैसे नहीं मरता है।

महाराज की स्वयं की अनुभूति है कि साधकों में स्वयं की शक्ति नहीं होती, अपितु सद्गुरु की आज्ञा में शक्ति होती है। अतः जब वह आपको अपने स्वरूप में स्थित होकर आत्मचिन्तन के द्वारा उस कामरूप शत्रु को मार डालने को कहे तो आप ये समझ लें कि अब मेरा जीवन–जीवन का शत्रु मारा ही जायेगा; क्योंकि गुरुदेव की आज्ञा मिल गयी। आप यह जान लें कि आप शुद्ध, साक्षी, चेतन आत्मा हैं, आप निर्विकार आत्मा हैं, आपके संकल्प से ही बुद्धि प्रकट होती है, मन प्रकट होता है, विषय प्रकट होते हैं, इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं और फिर शरीर प्रकट होता है। जो जिससे प्रकट होता है, वह उसका कहा हुआ तो मानता ही है और यदि ऐसा नहीं है अर्थात् वह आपका कहा नहीं मानता तो निश्चितरूप से आपकी संकल्पशक्ति बिखरी हुई है। आप यह न भूलें कि काम को मारने का तात्पर्य होता है अनासक्त होना। यद्यपि काम नैसर्गिक है, किन्तु मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ– इस सत्य को स्वीकार कर शरीर से अनासक्त हो जाने के उपरान्त वह नैसर्गिक रहेगा ही नहीं; क्योंकि जब सर्ग (प्रकृति) ही नहीं रहेगा तब वह नैसर्गिक कहाँ से रहेगा। जिसप्रकार सूर्य आया तो अंधकार गया, उसीप्रकार आप आये तो माया गयी अर्थात् आपके आत्मस्वरूप होते ही कामरूपी विचारों की सत्ता समाप्त हो जायेगी। इस कामरूपी शत्रु को मारने के लिए घेरा बनाना पड़ता है। शरीररूपी इन्द्रिय से पार होने के लिए सद्गुरु के शरीर को आगे कर दें, इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषयों से पार हो जाने के लिए सद्गुरु के प्रसाद को स्वीकार करें अर्थात् जो वह खाने–पीने को कहे उसी को खायें–पीयें, जैसा वस्त्र पहनने–ओढ़ने को दे उसी को स्वीकार करें। मनरूपी इन्द्रिय से आगे जाने के लिए जो वह मनन करने को कहे वही मनन करें, जो वह पढ़ने को कहे वही पढ़ें, बुद्धिरूपी इन्द्रिय से पार जाने के लिए जिसप्रकार का आध्यात्मिक चिंतन दे उसी का चिंतन करें और इतना करा के जब वह कहे

कि तुम ऐसा न समझ लेना कि यह सब तुमने किया है तो फिर आप उसी की बात मान लें और अपने को भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, सर्वत्र विद्यमान आत्मा जान लें। इस कामरूप शत्रु को घेरने के लिए कितनी सजगता बरतनी चाहिए, इसे एक घटना के माध्यम से महाराज बतायेगा लेकिन उसके पहले आप महाराज की कुछ बातें सुनें– बचपनावस्था में महाराज एक बूढ़ीमाई को देखता था जो चौबीस घण्टे अकेले कमरे में रहा करती थी। सवेरे–शाम जब कुएँ पर स्नान करने आती तो उसकी बाल्टी एवं रस्सी से किसी की बाल्टी और रस्सी छू भी जाती तो वह उस बाल्टी को माँजती थी, रस्सी को धोती थी। जब कोई जल निकालता, तो वह नहीं निकालती। कभी कोई उसके पास किसी काम के लिए जाता तो कहती– वहीं खड़े रहो, वहीं से बोलो, क्या बोलना चाहते हो! महाराज इसको छुआछूत की बीमारी मानता था। कुछ लोग कहते थे कि कैसा ढोंग है ये? महाराज भी अब ऐसा सोचता है कि पवित्रता की इतनी अति भी नहीं करनी चाहिए, किन्तु कुछ तो सावधानी बरतनी ही चाहिए। जिसके विषय में महाराज आप बीती एक घटना बता रहा है, जिससे यह पता चल जायेगा कि काम किसप्रकार कपड़े में, भोजन में, जल में, बिस्तर में, मकान एवं कमरे में फैला हुआ है। सन् १९८४ में एक रात्रि महाराज को नींद नहीं आयी। बार–बार विचार किया कि नींद क्यों नहीं आ रही हैः बिस्तर भी वही है, वस्त्र भी वही है, भोजन–पानी भी वही है तथा भोजन–पानी बनानेवाले भी वे ही हैं, तो फिर बात क्या है? सुबह होने पर आत्मानन्द से कहा कि समझ में नहीं आ रहा है कि आज रात को नींद क्यों नहीं आयी? आत्मानन्द ने स्नान कराने के बाद लंगोटी को धोते समय कहा कि यह लंगोटी तो आपकी है ही नहीं। महाराज ने पूछा– तो लंगोटी किसकी है? आत्मानन्द ने उस व्यक्ति का नाम बताया तो महाराज ने कहा– अरे! राम! राम!! राम!!! ओह! तभी तो नींद नहीं आ रही थी, क्योंकि उसके विचार बड़े गन्दे हैं, वह राजसी एवं तामसी वृत्ति का है। उससे कह दो अपना वस्त्र यहाँ मत फैलाया करे।

अब तो आप समझ ही गये होंगे कि साधना के पथ में कितना सजग रहना चाहिए। आप ट्रेन या बस में जा रहे हैं तथा यदि वहाँ सभी सो रहे हैं तो आप जाग नहीं सकते, क्योंकि वहाँ नींद के परमाणु फैल गये हैं, वैसे ही यदि सभी जाग रहे हैं तो आप जल्दी से सो नहीं सकते; किन्तु आप जहाँ सब सो रहे हैं वहाँ पर आत्मचिन्तन करने लगते हैं तो फिर वहाँ आपको नींद नहीं आयेगी; क्योंकि ब्रह्म और माया दोनों एक साथ नहीं रह सकते। ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार अग्नि की शक्ति है उष्णता, वैसे ही आत्मा की शक्ति है आत्मचिन्तन। इसप्रकार आप मोहरूपी रात्रि से जागें तथा हाथ में आध्यात्मिक चिन्तनरूपी खड्ग को लें और उस महापापी काम के मान का मर्दन करके दमन कर दें।

(एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा.....) अब युद्ध के मैदान की तरफ थोड़ा आप सब रुख करें और देखें कि वहाँ भगवान महात्मा अर्जुन के पास काम की क्या व्याख्या कर रहे हैं। मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! इस विषमस्थल में, धर्मयुद्ध के विरुद्ध तुम्हारी दया, शीलता, विनम्रता, संकोच एवं भय ये सब काम ही हैं। पितामहभीष्म की प्रतिज्ञा काम है, आचार्य द्रोण का पुत्रमोह

काम है। यही नहीं, पितामहभीष्म का शास्त्रों, वेदों, पुराणों का ज्ञान भी काम है, धृतराष्ट्र का राजपद भी काम है, कृपाचार्य का कुलगुरुपद भी काम है तथा कर्ण का अङ्गदेश का राजपद पाना भी काम ही है। हे जितेन्द्रिय! सबरूपों में दिखाई देनेवाला एवं सर्वरूपों में फैला हुआ काम, अब तुम्हारे ऊपर भी आक्रमण कर रहा है, जबकि वह मुझसे बहुत डरता है; किन्तु एकबात जान लो कि अभी तक उसने महात्मा युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव पर आक्रमण नहीं किया है।

महात्मा अर्जुन मानो मन ही मन कह रहे हैं कि बात तो ये ठीक ही कह रहे हैं, मेरे भाइयों पर तो इसने आक्रमण किया ही नहीं है।

भगवान ने उन्हें झकझोरा और कहा– वह इसलिए कि इस युद्ध के तुम ही तो प्राण हो, युधिष्ठिर अपान हैं, भीम समान हैं, सहदेव उदान हैं तथा नकुल व्यान हैं। अरे! प्राण गया तो ये चारों स्वतः चले जाते हैं। इसीलिए तुम्हारे द्वारा यह बहुत बार पटकनी खानेवाला निर्लज्ज काम अब मोह बनकर आया है लेकिन कोई बात नहीं है; क्योंकि यह मेरे द्वारा मरकर परमपद को पा जायेगा। यह बड़ा सौभाग्यशाली भी है पार्थ! इसलिए कि यह मरकर ब्रह्मविद्या नाम से विख्यात हो जायेगा।

भगवान नारायण इतना कहकर मौन होकर गाण्डीव उठाने की प्रतीक्षा में अर्जुन की तरफ देखने लगे लेकिन महात्मा अर्जुन तो बैठे–बैठे अति गम्भीर चिन्तन के साथ पुनः पृथ्वी की तरफ देखने लगे। भगवान मधुसूदन खड़े ही खड़े मानो विचार कर रहे हैं कि लगता है बात अभी बनी नहीं है। अच्छा तो देखता हूँ कि इसके अज्ञानरूप तरकश से अब कौन सा बाणरूपी प्रश्न निकलता है। उधर संजय अवसर पाकर अपने अन्धे राजा से कह रहे हैं कि हे राजन्! भगवान का दाव पुनः खाली चला गया आपके अनुज पुत्र ने प्रश्न का उत्तर भी पा लिया लेकिन गाण्डीव नहीं उठाया तो नहीं उठाया।

तो प्रश्न का उत्तर उन्होंने क्या दिया, यह बताओगे! धृतराष्ट्र ने पूछा।

हाँ पृथ्वीनाथ! संजय ने कहा। ये सारे के सारे लोग जो पक्ष–विपक्ष में खड़े हैं, ये सभी शुद्ध–अशुद्ध कामरूप ही हैं, ये आपके स्वजन नहीं हो सकते। यथार्थ में स्वजन तो अपना सद्गुरु ही होता है और जब वही सद्गुरु आत्मचिन्तन बन जाता है, तब शिष्य ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न हो जाता है; फिर उसके लिए जगत में कोई शत्रु रहता ही नहीं। यदि कोई शत्रु बनकर आता है तो उसके संकल्पबल से मारा जाता है।

तो क्या अर्जुन श्रीकृष्ण बन गये हैं? धृतराष्ट्र ने पूछा।

नहीं राजन्! नहीं। संजय ने कहा। आप डरें नहीं! सुदर्शनचक्र तो भगवान मधुसूदन के पास ही रहेगा।

मैं उनके चक्र से डरुँ चाहें न डरुँ लेकिन तुम तो मुझे डरा ही रहे हो। अच्छा तो चलो, देखो कि उधर क्या स्थिति बन रही है।

धृतराष्ट्र के व्यंग्यबाणों को सुनकर मन ही मन संजय हँसते हुए भगवान एवं अर्जुन की तरफ देखने लगे।

अब आप सबके लिए गीतापाठ का सुगम रास्ता महाराज ने निकाला है। वह यह कि आप प्रत्येक अध्याय को पद के रूप में, चाहे जिस अवस्था में गा लें, आपको पाठ का फल मिल जायेगा। तो लें इस तीसरे अध्याय को भी राग–विभाष में गावें।

ज्ञान कर्म महुँ को प्रभु भावत।।

ज्ञान कर्म दोऊ उद्धारक, ऋषि मुनि सबरे गावत।
दोऊ महँ कोऊ एक को धारे, सोई परम पद पावत।।

ज्ञान कर्म महुँ.....

इन्द्रिन्ह मारि विषय मन सेवत, उन्ह कहँ ढोंगी बतावत।
मन प्रभु सुमिरे कर्म करे तन, उन्ह कहुँ भक्त जतावत।।

ज्ञान कर्म महुँ.....

देवकर्म सुनु कर्म से उपजत, कर्म वेद से आवत।
येहि विधि सों सब कर्म ब्रह्मवत, अंतहु ब्रह्म दिलावत।।

ज्ञान कर्म महुँ.....

करत प्रकृति पर मूढ़ न मानत, तन अपने को जानत।
गुण गुण महँ सब बरतें पारथ, भाव सुगम यह तारत।।

ज्ञान कर्म महुँ.....

बसत काम भाव इन्द्रिन्ह महँ, ब्रह्मभाव महुँ नासत।
महाराज प्रभु भक्त की चर्चा, मानि परम पद पावत।।

ज्ञान कर्म महुँ.....

ॐ मासपारायण, सातवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः।। ३।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप
योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादरूप
कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

पतझड़ हो गया है, अब लगभग सारे के सारे वृक्षों में कोपलें आनी शुरू हो गयी हैं। तीन महीने पहले से ही पेड़ों से पत्ते अपने–आप गिरते जा रहे थे। क्रमशः एक के बाद एक, एक के बाद एक पत्ते गिरते हुए ढाई, पौने तीन, तीन महीने में बड़े–बड़े विशाल वृक्षों को उन पत्तों ने गिरकर मानो वीरान कर दिया है। बसन्त ऋतु का आगमन होता है तो सारे के सारे पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, जिसे आप पतझड़ कहते हैं। प्रतिवर्ष यह घटना आपके सामने घटित होती है। एक आश्चर्य आप देखें कि संक्रान्ति के बाद से पतझड़ होना प्रारम्भ होता है और होली तक सारे पत्ते गिर जाते हैं, पेड़ एकदम ठूँठा लगने लगता है लेकिन एक ऐसी पहेली है जिसे सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि ढाई महीना, पौने तीन महीना, तीन महीना पहले जिस टहनी से, जिस डाली से पत्ता गिरा है उसमें भी आज ही कोपलें आयेंगी (आज ही का तात्पर्य आगे पीछे, सुबह से शाम तक आज से कल तक, आज से परसों तक)। इसीप्रकार एक सप्ताह से दस दिन के अन्दर सारी की सारी कोपलें आकर पेड़ को आच्छादित कर लेंगी। पौने तीन महीना पहले जो पत्ता जिस जगह से गिरा वहाँ भी कोपलें आज ही आयेंगी, दो महीना, ढाई महीना पहले जहाँ से पत्ता गिरा वहाँ पर भी कोपलें आज ही आयेंगी तथा दस दिन पहले जहाँ से पत्ता स्थान छोड़ चुका था, उस जगह में भी कोपलें आज ही आयेंगी। इस प्राकृतिक घटना पर आप सब ने गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया होगा। प्रभु ने मौन हुए महात्मा अर्जुन के माध्यम से तथा मौन हुई इस प्रकृति के माध्यम से फिर इस दिव्य घटना से हम सबको पुरातनयोग का सन्देशरूप उपदेश दिया है। जितेन्द्रिय महावीर अर्जुन के जीवन में भी यह पहला अवसर है, जब संशय, शोक, मोहरूपी पत्तों का पतझड़ होकर उनके मन, बुद्धि, चित्त में आध्यात्मिक विचाररूपी दिव्य पत्ते लहलहायेंगे। फिर तो क्या, आँखें रहेंगी वे ही पर दिव्यता से देखेंगे, कान होंगे वे ही पर दिव्यता से सुनेंगे, नाक होगी वही पर दिव्यता से सूँघेंगे, वाणी रहेगी वही पर दिव्यता से बोलेंगे, हाथ होंगे वे ही पर दिव्यता से करेंगे। मन से मनन करेंगे दिव्य, बुद्धि से दिव्यता लिए सोचेंगे, चित्त में धारण करेंगे दिव्यता को, सबके लिए वे होंगे दिव्य। तो आएँ उस दिव्य पुरुष की दिव्य झाँकी को देखें कि वह झाँकी कहती क्या है–

भगवान नारायण ने देखा कि यह तो मौनी बाबा बन गया है, इस दिव्य ज्ञान का कुछ भी महत्त्व ही नहीं समझ रहा है। अतः अब क्या करना चाहिये! इससे पहले तो इसने एक–दो प्रश्न भी किया था, किन्तु अब प्रश्न करना तो दूर, पूरा जड़वत् ही हो गया है। अच्छा तो इसे मैं यह

बताऊँ कि इस ब्रह्मविद्या को मैंने सर्वप्रथम किसे दिया था, जिससे इसके मन में इसे सुनने की कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा जाग उठे। यह अपने स्वरूप को तो भलीभाँति भूल ही गया है; इतना ही नहीं, अपनी सामर्थ्य को भी स्मरण नहीं कर पा रहा है। जैसे हनुमानजी को जामवन्तजी ने अपने स्वरूप एवं कर्तव्य का बोध कराया था वैसे ही अब मैं भी वही प्रयोग करूँगा। ऐसा सोचकर प्रभु ने अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखकर कहा कि हे पार्थ! देखो! इधर देखो!

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

इस अविनाशी योग को जिसे मैंने अभी तुमसे कहा है और पुनः कहने जा रहा हूँ, सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम इस भास्कर को अर्थात् तेजोमय सूर्य भगवान को दिया था। इन्हें मैंने ब्रह्मज्ञानी बनाकर ही इस सर्वश्रेष्ठ पद पर बिठाया था तथा इन्होंने भी प्रमाद नहीं किया और मेरी तरह ही इस ब्रह्मविद्या को अपने संकल्पवत् पुत्र मनु को दान कर दिया। इस भूमण्डल के आदि पुरुष मनु ने भी इस ब्रह्मविद्या को अपने पास ही तक सीमित नहीं रखा बल्कि अपने ब्रह्मजिज्ञासु पुत्र इक्ष्वाकु को दे दिया। इसप्रकार वे सूर्यवंशी राजर्षि क्रमशः अपने–अपने पुत्रों को इस ब्रह्मविद्यारूप दिव्य ज्ञान का दान देते रहे लेकिन द्वापर युग के प्रारम्भ के पूर्व ही प्रकृति ने उन सूर्यवंशियों को आमलोगों के दृष्टिपथ से ओझल कर दिया। अब उसी दिव्य ज्ञान को, पुरातनयोग को मैं तुम्हारे जैसे मोहग्रसित अपने परम प्रिय भक्त एवं सखा को दे रहा हूँ।

सूर्यवंशियों को प्रकृति ने छिपा लिया– ऐसा सुनकर तो आपलोगों को कौतूहल हो गया होगा, लेकिन आप सब को कौतूहल नहीं होना चाहिये क्योंकि इसी भूमण्डल में ऐसे–ऐसे लोक (देश–प्रदेश) हैं, जो आमलोगों के दृष्टिपथ में आजतक नहीं आये। भले ही लोग चन्द्रलोक, मंगललोक, ध्रुवलोक पर जाने की बात करें, परन्तु संतों की दृष्टि में उसका कुछ विशेष अर्थ नहीं है। द्वारिका एवं लंका आज भी है, किन्तु संतों एवं सिद्धों को छोड़कर कोई आजतक उन लोकों को देख नहीं पाया है। लोग कहते हैं– द्वारिका डूब गयी, जबकि ऐसा नहीं है। डूब जाने का तात्पर्य होता है– आँखों से ओझल हो जाना। एक जादूगर भी आपकी दृष्टि को स्तम्भित कर देता है, जिसे आप नजरबन्द करना कहते हैं। उस समय पदार्थ रहता है, अभीष्ट दृश्य भी रहता है लेकिन दिखाई नहीं पड़ता। वैसे ही द्वारिका, लंका और अन्यान्य तेजोमय लोकों के विषय में भी जानना चाहिये।

भगवान यहाँ संकेत कर रहे हैं– सूर्यवंशियों के प्रकाश में नहीं रहने के कारण से यह ब्रह्मविद्या गृहस्थाश्रम से प्रायः लुप्त सी हो गयी, अतः क्यों न इस चंद्रवंशी अर्जुन को इसे दे दिया जाय, जिससे कि पुनः यह पुरातनयोग गृहस्थाश्रम में प्रकट हो जाय। इस न्याय से संतों की दृष्टि में आप सब चंद्रवंशी हैं। चंद्रवंशी सकामी होते हैं अर्थात् स्वर्ग की कामनावाले होते हैं तथा जो ब्रह्म को चाहते हैं वे सूर्यवंशी होते हैं। त्रेतायुग तक ब्रह्म की चाहनावाले ही विशेष हुआ करते थे, किन्तु द्वापर प्रारम्भ होते ही स्वर्ग चाहनावालों की संख्या विशेष हो जाती है; स्वर्ग मिले, राजपद मिले, चाहे पुत्र भले ही अपने पिता उग्रसेन का वध करे अथवा कारागार में डाल दे। आप सब उन्हीं चंद्रवंशियों के अंश होने से सकामी हैं। आज ऐसा कौन पुत्र होगा जो चाहता होगा कि मेरे माता–पिता मेरे साथ रहें? ऐसी कौन बहू होगी जो चाहती होगी कि सास–ससुर मेरे साथ रहें? ऐसा कौन भाई होगा जो चाहता होगा कि मेरे सब भाई मेरे साथ रहें? अब तो कुछ माता–पिता भी सोचने लगे हैं कि अपनी डफली अपना राग गाओ चाहे लगे बेराग। कोई एक–दो पिता होंगे, कोई एक–दो माँ होंगी, कोई एक–दो पुत्र–पुत्री होंगे, कोई एक–दो बहू होंगी, जो सनातन योग से चलना चाहते हों। इसलिए महाराज कह रहा है कि आप सब चन्द्रवंशी हैं। यह तो भगवान की महति कृपा है कि जिन्होंने अर्जुन के माध्यम से इस ब्रह्मविद्या को गृहस्थाश्रम में दे दिया जिसके चलते आप सूर्यवंशी हो गये। यह वही ब्रह्मविद्या है जो आप सब के हाथों में श्रीमद्भगवद्गीता नाम से विख्यात है। जिस ब्रह्मविद्या को महाराज ने सन् १९७५ में अपने गुरुदेव से प्राप्त किया था, अब उसी ब्रह्मविद्या को महाराज चाहता है कि आप सब भी महाराज के माध्यम से प्राप्त करके इसे आत्मसात करें। मात्र सात सौ मंत्रों के द्वारा इस ब्रह्मविद्या को दिया गया है। इतना तो आप जान ही लें कि इन्हीं सात सौ मंत्रों में आपका जीवन समाया हुआ है। आपकी सकामता, निष्कामता बन जाय, आपका ज्ञान परम ज्ञान बन जाय, यह ऐसा ही पुरातनयोग है। संतों के पास सिमटकर रह जानेवाली यह ब्रह्मविद्या गृहस्थाश्रम में जाने में मानो कतराती थी, अतः संतों एवं भक्तों के आवाहन करने से भगवान नारायण ने गृहस्थाश्रम में ही अवतार लेकर गृहस्थों को भी इसका अधिकारी बना दिया ।

तो फिर आप इस गोपनीय विद्या को मुझे क्यों दे रहे हैं? मेरे में क्या आपने ऐसी विशेषता देखी जो मुझे आप दे रहे हैं? मैंने तो इस आध्यात्मिक विद्या की माँग भी नहीं की है! शान्ति की माँग तो की है लेकिन यह तो मैं नहीं समझ पाया कि शान्ति के बदले आप ब्रह्मज्ञान ही देने लगेंगे! मैंने तो सोचा था कि धर्म–अधर्म की, कर्म–अकर्म की, स्वर्ग–नरक की पहेली को बुझा देंगे, बता देंगे कि मैं गलत हूँ कैसे जबकि शास्त्र की ही बात की है मैंने, ज्ञान दे देंगे कुछ और भी और शान्ति मिल जायेगी लेकिन अब तो मुझे वह विद्या आप देने जा रहे हैं, जिसे सप्तर्षियों में एक कहे जानेवाले भगवान सूर्य को, विश्वरूप भगवान की कही जानेवाली आँख भगवान भास्कर को, आपने दिया था। फिर ऐसे महत्त्व की मेरे में क्या बात है? ऐसी विशिष्टता मेरे में क्या देखी आपने, जो इसे आप मुझे दे रहे हैं? महात्मा अर्जुन के द्वारा ऐसी प्रार्थना को सुनकर भगवान मानो कह रहे हों कि ये भगवान भास्कर महातेजस्वी हैं, महादाता हैं, महातपस्वी हैं जो सदा–सर्वदा तप में लगे रहते हैं, वैसे ही तुम भी महातेजस्वी, महातपी, महायोगी, महादाता एवं

परम प्रिय भक्त हो। तुमने निद्रा जैसे सुख का त्याग करके गुडाकेश नाम पाया है, तुम्हारे घोर तप से भगवान शंकर प्रसन्न हो चुके हैं। अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि ने भी तुम्हारे घोर तप एवं त्याग को देखकर वरदान दे रखा है। उन्हीं की प्रसन्नता के कारण तुम्हारे दिव्य व्यवहार को देखकर आज मेरा हृदय तुम्हारे पर आह्लादित हो चुका है, मैं तुम्हारे पर अति प्रसन्न हूँ; अतः यही कारण है कि यह भगवान सूर्य को दिया हुआ पुरातनयोग अब तुम्हें दे रहा हूँ।

ऐसा कहने से स्पष्ट होता है कि भगवान चाहते हैं कि अर्जुन में इस ब्रह्मविद्या के प्रति उत्सुकता बढ़े, कौतूहल हो, आश्चर्य हो, जिज्ञासा हो। सद्गुरु जब देता है तो आँखों से पीया जाता है, कानों से सुना जाता है, लेकिन यहाँ तो सिर झुका हुआ है, शोक–सन्ताप जा नहीं रहा है। सारे ऋषि–महर्षि अन्तरिक्ष से इस दिव्य संवाद को सुनकर 'आश्चर्य है! आश्चर्य है!' ऐसा कहते हुए साधुवाद दे रहे हैं। इतना ही नहीं धृतराष्ट्र जैसे मोह से ग्रसित पुरुष को भी 'यह कैसा दिव्य संवाद है संजय!' ऐसा कहते पाया जा रहा है किन्तु महात्मा अर्जुन का आह्लादित होना तो दूर बल्कि 'हे प्रभु! सुनने में अति प्रीति हो रही है', ऐसा वाक्य भी उनके मुख से नहीं निकल रहा है। केचुल से लिपटा हुआ सर्प चलने में जैसे असमर्थ होता है वही कहानी इनके साथ भी हो रही है। ये महातपस्वी अर्जुन, जिन्होंने सदा–सर्वदा धर्म का ही पालन किया, स्वप्न में भी कोई अनैतिक काम नहीं किया है, कभी भी अपने से पूज्यजनों का, गुरुजनों का तथा अपनी प्रजा का अनादर नहीं किया है, अपने सामान्य कुलधर्म को सामने खड़ा देख, उसका भेदन नहीं कर पा रहे हैं। भगवान तो भी प्रसन्न हैं और वे (अर्जुन) अति दुःखी हैं।

यह पतझड़ कह रहा है कि यह आपका शरीर भी एक पुरातन दिव्य वृक्ष है, जिसमें काम, क्रोध, राग, द्वेष, संशय, शोक, मोहरूपी पत्ते लगे हुए हैं। जबतक ये पत्ते नहीं गिरते हैं तबतक न नये पत्ते आते हैं और न ही आध्यात्मिक फल लगता है। इन सारे पत्तों का जन्मदाता स्थूलरूप से अज्ञान ही है। जैसे शरीर में अन्न जाता है तो नींद आती है, नींद के उपरान्त रजोगुण आता है, रजोगुण के उपरान्त उत्पात मच जाता है; उसीप्रकार अज्ञान का भोजन करने से जीववृत्ति प्रकट हो जाती है। एक तरफ महात्मा अर्जुन हैं तो दूसरी तरफ आप सब हैं। भगवान उत्साहित हैं लेकिन महात्मा अर्जुन हतोत्साहित हैं; क्योंकि वे प्रमाद के कारण से मोह से आच्छादित हैं। वैसे ही आप सब भी प्रमादी हो गये हैं, मोह–माया से आच्छादित हो गये हैं। उनके पास तो सुनने की स्वाभाविक आत्मजिज्ञासा नहीं थी, किन्तु आपके पास तो जिज्ञासा है, आप तो माया को छोड़ना चाहते हैं। महात्मा अर्जुन में और आपमें कोई अन्तर नहीं है। महाराज को मन ही मन हँसी आ रही है, सम्भव है आप ऐसा कहेंगे कि कहीं ऐसा न हो कि महाराज ने माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं स्वजनों को छोड़ने की बात कही है। यदि आप ऐसा सोचते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं आपको उनमें आसक्ति अवश्य है। भक्त अर्जुन की भी यही दुर्दशा हो रही है, धृतराष्ट्र की चेतना आ–जा रही है। एक तरफ उनका पुत्र दुर्योधन है, जिसकी तरफ वे देख रहे हैं तो दूसरी तरफ दिव्य संवाद है, जिसे वे सुन रहे हैं। देख रहे हैं जीव को, सुन रहे हैं भगवान की। प्रायः महाराज कहा करता है कि मातृभक्त प्रमादी नहीं होता, पितृभक्त प्रमादी नहीं होता। ऐसे मातृ–पितृ एवं गुरुभक्त को संशय, शोक एवं मोह नहीं होता, जिन्होंने अतिथि

को भगवान शंकर का रूप समझकर स्वागत किया है, उन्हें प्रमाद नहीं होता, दरवाजे पर आये हुए भिखारी का कभी अपमान नहीं किया है जिसने, उसे प्रमाद नहीं होता। तो फिर महाराज का अनुभव यहाँ गलत क्यों हो रहा है? जितेन्द्रिय अर्जुन तो मातृ–पितृभक्त, गुरुभक्त, अतिथिभक्त, भिखारीभक्त और प्रजाभक्त भी हैं, फिर उन्हें प्रमाद क्यों हो गया? अरे! आप जानते ही हैं कि महात्मा भरत तो जागते ही रहे लेकिन अपने सौत के पुत्र (प्रभु श्रीराम) को अपनी आत्मा समझने वाली, अपना जीवन समझने वाली माँ कैकेयी को प्रमाद हो गया और वह प्रमाद भी ऐसा कि उसने ब्रह्म का परित्याग कर दिया; लेकिन जागनेवाले महात्मा भरत ने कैकेयी का ही त्याग कर दिया और ब्रह्म को पकड़ लिया। जो सोता है वह ब्रह्म का त्याग करता है, जो जागता है वह अपने विषयी माता–पिता एवं स्वजनों का त्याग करता है। नहीं–नहीं महाराज का अनुभव गलत नहीं है क्योंकि अर्जुन ने सबको पकड़कर भगवान को छोड़ दिया, इसी से प्रमाद हो गया। सबकी भक्ति करनेवाले अर्जुन, भगवान के सामने आने पर भी सबकी भक्ति ही करते रह गये, इसीलिए प्रमाद हो गया। इस भाष्य को पढ़ते समय यदि आपको प्रमाद हो तो जान लेना कि आप या तो सद्गुरु को जीव मान रहे हैं या तो स्वजनों में अज्ञानियों जैसे आसक्त हैं। तो चलें, अब आगे बढ़ें, अपने प्रमाद को छोड़ें! बसन्त ऋतु का आगमन होता है, सारे पेड़ों के पत्ते गिर जाते हैं पुनः नये पत्तों के आने के उपरान्त फूल खिल आते हैं फिर फल लग जाते हैं। इसप्रकार ये सारे वृक्ष कहते हैं कि प्रतिवर्ष हम आपको फल देते हैं किन्तु आप किसको क्या देते हैं? आपमें तो ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का फूल लगता ही नहीं, तो फिर ब्रह्मफल लगे कहाँ से? भक्ति और ज्ञान फल हैं, उसके पहले सभी साधन फूल हैं। ये सब पेड़ ज्ञान दे रहे हैं कि प्रकृति हमारे पत्तों को धीरे–धीरे छीनती है और एक दिन ऐसा आता है कि पता भी नहीं चलता कि हममें पत्ते भी थे और हम ठूँठ से प्रतीत होते हैं। तो भी हम घबराते नहीं; क्योंकि यही हमारे फूल एवं फल की तैयारी है। इसीप्रकार भगवान आपके विचाररूपी पत्तों को धीरे–धीरे छीनते हैं, आपका तामसी मन छीनते हैं, आपकी तामसी बुद्धि छीनते हैं, आपके तामसी विचार को छीनते हैं अर्थात् सकामी मन, सकामी बुद्धि आदि छीन लेते हैं; क्योंकि ये ही पत्ते हैं इतना ही नहीं बल्कि देवपूजा से प्राप्त होनेवाले स्वजनों एवं बाल–बच्चों को छीन लेते हैं। भले ही आप भयभीत हों लेकिन वे देवसम्पत्ति इसलिए छीनते हैं क्योंकि उन्हें अपने–आपको देना है, अपनी सम्पत्ति को देना है, अपने ऐश्वर्य को देना है आपके लिए। उन्होंने रावण से देवसम्पत्ति छीनी तो ब्रह्माजी देखते रह गये, भगवान शंकर देखते रह गये और बड़े आदर, मान, सम्मान के साथ महात्मा विभीषण की झोली में डाल दी। एक से छीनना और दूसरे को देना ही उनका काम है लेकिन आपसे महाराज कहता है कि माया को देना और ब्रह्म को लेना अर्थात् आप अपने 'मैं' और 'तू' को दे दें तथा 'ब्रह्मज्ञान' को ले लें– यही पुरातनयोग है।

(इमं विवस्वते योगं.....) अब इसका आध्यात्मिक अर्थ भी आप जान लें। भगवान तो निर्गुण–निराकार होकर बोल रहे हैं, मानो वे कह रहे हों कि बुद्धि ही सूर्य (जीवात्मा) है, मन ही मनु है तथा इच्छाएँ ही इक्ष्वाकु हैं। जब जीवात्मा गर्भ में आता है तो वह कौतूहल से देखता रह जाता है, मानो वह अज्ञान से आच्छादित होकर ही प्रकट हुआ है, जैसे शिशु जेर से

आच्छादित रहता है। गम्भीर विषय होने से आप ध्यान दें! आप जो जानना चाहते हैं, महाराज उसी को जनायेगा, लेकिन पहले घेरा तो डालना ही पड़ेगा, तब तो महाराज सृष्टि–उपक्रम को बता पायेगा! तो ध्यान दें– जीवात्मा गर्भ में अज्ञानमय वृत्ति को लेकर प्रकट होता है। जब वह कौतूहलवश इधर–उधर देखता है तो परमात्मा उसी गर्भ में ही सम्पूर्ण आत्मज्ञान को उसके सामने प्रकट कर देता है, सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यात्मक तत्त्वों (तथ्यों) से लेकर ब्रह्मतत्त्व तक का गूढ़ात्मक रहस्य सविस्तार प्रकाशित कर देता है। यही कारण है कि बहुधा लोग कहते हैं कि सालभर तक बालक सिद्धावस्था में रहता है, भूत, भविष्य, वर्तमान को जानता रहता है। कहीं–कहीं ऐसी परम्परा भी है कि कोई नया काम करने के लिए छोटे शिशु के पास लाल एवं हरी गोटी रख देते हैं; यदि वह लाल गोटी उठाता है तो काम नहीं होगा, ऐसा मानते हैं तथा यदि हरी गोटी उठाता है तो काम होगा, ऐसा मानते हैं अर्थात् उसकी सारी प्रक्रिया सिद्ध की प्रक्रिया होती है। जैसे–जैसे उसके चित्त पर 'मैं' और 'मेरे' की, 'तू' और 'तेरे' की मैल जमती जाती है, वैसे–वैसे उसकी प्रज्ञा निष्क्रिय होती जाती है अर्थात् वह असिद्धावस्था को प्राप्त होता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि अज्ञानी हो जाता है। भगवान मानो महात्मा अर्जुन के पास कह रहे हों कि मैंने तुम्हारे को यह पुरातनयोग तो गर्भ में ही दे दिया था, अब उसी पुरातनयोग को पुनः सद्गुरुरूप में तुम्हें याद दिला रहा हूँ।

ठीक इसीप्रकार साधक साधना करते–करते इसी 'मैं' और 'तू' रूप मैल को दूर करते–करते उसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जिसे सिद्धावस्था कहते हैं। कोई–कोई साधक साधना करते हैं सुबह से शाम तक तथा कोई शाम से सुबह तक– इसप्रकार कोई साधक लम्बे काल (एक साल, दो साल, तीन साल, चार साल) तक बैठता है तो वह गर्भ में प्रवेश कर जाता है अर्थात् जिस समय उसका शरीर गर्भस्थ था, शिशु था, जेर में था उस अवस्था को प्राप्त कर जाता है। अर्थात् वह अवस्था क्या थी, कैसी थी, वह उस समय क्या सोचता था, क्या समझता था, उसकी प्रतिक्रिया क्या होती थी, यह सब संकल्प से दिखाई पड़ जाता है। इतना ही नहीं, एक ऐसी अवस्था आती है, जब समाधि में दिव्य संवाद होता है, जिसे दिव्य सम्भाषण कहते हैं। उच्चकोटि के साधक इस रहस्य को जानते हैं। पहले आपको भी कभी होता होगा सपने में। देवी–देवताओं के सपने होते हैं, उसमें पितर कुछ कह जाते हैं, देवता कुछ कह जाते हैं, देवी कुछ कह जाती है, उनसे आप भी कुछ कह लेते हैं; वैसे ही साधक समाधिस्थ होता है और अन्तर गर्भ में पहुँचता है तो एक दिव्य सम्भाषण होता है जीवात्मा (बुद्धि) और आत्मा का। साधकों को वह सम्भाषण पहले स्वप्न में होता है जिसे स्वप्नसिद्धि कहते हैं और स्वप्न के उपरान्त समाधि में होने लगता है और वही दिव्य सम्भाषण तो है जो सद्गुरु के पास प्रकट होता है! गर्भस्थ शिशु जब बाहर आता है तो भले वह चोर हो जाय, राक्षस हो जाय, ऊपर से भले ही ऐसा प्रारब्ध लेकर आया हो, लेकिन उसको भी परमात्मा गर्भ में ही इस पुरातनयोग को दे दिये रहता है। अतः वही आत्मज्ञान सद्गुरु के पास पुनः प्रकट होता है जो आपके भीतर रहता है। आपने देखा होगा– जब नलकूप का वासर ढीला हो जाता है तो लोग बाल्टी में जल भरकर उसमें गोबर घोल देते हैं और पाइप में डाल देते हैं तथा ऊपर से जल भरते जाते हैं। जब पाइप में पूरा जल भर जाता

है तब बटन दबाते ही ऊपर के जल के माध्यम से नीचे का जल ऊपर आ जाता है। उसीप्रकार जो आपके भीतर है, उसी को सद्गुरु बाहर लाने का प्रयत्न करता है, ऐसा नहीं कि सद्गुरु अपनी वस्तु देता है। जो वस्तु आपके पास है वही सद्गुरु के पास है, जो सद्गुरु के पास है, वही आपके पास है, उसी का आपको अनुभव करा देता है।

माँ ने कहा– बेटे आग देना! बालक देखता है तो वहाँ राख है। कहता है– यहाँ आग तो है ही नहीं! माँ कहती है– उस राख को प्यार से हटाओ तो! बेटा राख हटाता है और देखता है– उसमें तो आग ही आग है। वह आग को निकाल लेता है– यही पुरातनयोग है, यही गीताजी का योग है। अतः हटायें, हटायें, मैल को हटायें, पतझड़ होने दें। जो आपने स्वीकार कर लिया है, उसे अस्वीकार कर दें, उसको अस्वीकार कर दें। अज्ञानियों से जो स्वीकार किया है आपने, ज्ञानी के पास उसे अस्वीकार कर दें, यही पुरातनयोग है। क्या अस्वीकार कर दें? इस भाव को अस्वीकार कर दें कि मैं शरीर हूँ, मैं खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, जागता हूँ, इस भाव को अस्वीकार कर दें कि मैं शरीर हूँ, मैं ही कर्मों का कर्ता हूँ, ये मेरे हैं, ये तेरे हैं। यही अज्ञानमयभाव भीतर में राख की तरह जम गया है, लेकिन जब आप संकल्प के साथ 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा करते हैं, तब आप सम्पूर्णता से अज्ञानमय भावरूपी राख को हटाने में सफल होते हैं। इसप्रकार सद्गुरु से प्राप्त हुए इस पुरातनयोग से पुनः मन ब्रह्म का बन जाता है, बुद्धि ब्रह्म की बन जाती है, प्रज्ञा ब्रह्म की बन जाती है अर्थात् वह जो पूर्व का मन है, पूर्व की इच्छाएँ हैं, पूर्व की बुद्धि है, वह पुनः प्रकट हो जाती है और आप अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। यही पुरातनयोग है।

(इमं विवस्वते योगं.....) वह आपका पुरातनयोग अज्ञानी के संसर्ग में आने से छिन्न–भिन्न सा हो गया है। आप कहते हैं –यह क्या है? तो माँ कहती है– चंदा मामा हैं। बस! कौतूहल समाप्त हो गया। हर बच्चे में कौतूहल होता है, हर शिशु देखता है, उसके हर देखने में, हर दृष्टि में उसका प्रश्न होता है; किन्तु कोई मदालसा जैसी ही माँ होती है कि जब शिशु देखता है तो कहती है– 'शुद्धोऽसि तात।' ऐसा सुनते ही बालक की बहिर्मुखता अन्तर्मुख हो जाती है। भगवान नारायण, वैसे ही मूक हुए अर्जुन को बार–बार झकझोरते हैं और कहते हैं– 'शुद्धोऽसि तात', 'बुद्धोऽसि तात्', 'तत्त्वमसि तात्'– तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, तुम आत्मा हो! हे प्रिय! तुम आत्मा हो! हे पार्थ! तुम आत्मा हो। ऐसी कोई माँ होती है, मदालसा जैसी जिसने सारे के सारे बच्चों को ऐसे ही कहते हुए उनके कौतूहल को शान्त कर दिया था। वे पाँच से आठ वर्ष के होते–होते संन्यास ले लेते थे।

जब पूर्व की सारी कल्पनाओं को धीरे–धीरे त्याग देते हैं, तब आप योग में प्रतिष्ठित होते हैं। किस योग में? गुरुयोग में। गुरु और शिष्य का योग होता है, वह गुरु एवं शिष्य का योग ही पुरातनयोग है, जिस पुरातनयोग से यह ब्रह्मविद्या प्रकट होती है। उसके पूर्व तो आप स्वजनयोग में प्रतिष्ठित थे। पिता–पुत्र का योग होता है, माँ और पुत्र का योग होता है; ऐसे ही जाति से, समाज से तथा गाँव से योग होता है। कहीं न कहीं आप इन क्षुद्रयोगों में प्रतिष्ठित

होते हैं, जिसकारण से गुरुयोग में प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। अतः ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट हो तो कैसे? जबतक सारे सिद्धान्तों को, सारी मान्यताओं को आप त्याग नहीं देते तबतक सद्गुरु का सिद्धान्त आपको प्राप्त नहीं होता। तो धीरे–धीरे त्यागें उन क्षुद्रयोगों को जिससे पुरातनयोग प्रकट हो, यह साधना का प्रारम्भिक चरण है।

(भक्तोऽसि मे सखा चेति.....) तुम मेरे भक्त और सखा हो, इसलिए भी यह पुरातनयोग मैं तुम्हें दे रहा हूँ। भगवान के ऐसा कहने पर महात्मा अर्जुन ने मानो मन ही मन सोचा कि मैंने इनकी पूजा तो की नहीं और न ही इनकी भक्ति ही की है, फिर ऐसे ही बिना मेरे पूछे मुझे अपना भक्त क्यों बना रहे हैं? अच्छा! अच्छा! हो सकता है कि मैंने इनको सद्गुरु बना लिया है इसलिए मुझे भक्त कह रहे हों; क्योंकि शिष्य भी सद्गुरु को भगवान मानकर ही सेवा–शुश्रूषा करता है। प्रभु ने मानो मन की बात जानकर ही ऐसा कहा है कि तुम मेरे भक्त और सखा भी हो, पुरातन काल में तूने सम्पूर्ण भक्ति के अंगों से मेरी भक्ति की है। तुम उन जन्मों को नहीं जानते जिन जन्मों में तुम मेरे मुख्य अंग बनकर मेरा काम करते आये हो। मैंने भी उस समय तुम्हें ही निमित्त बनाया था। पूर्वजन्मों की भक्ति से प्रसन्न होकर ही मैंने तुम्हें यह ब्रह्मविद्या प्रदान की है। जब तुम नर थे तो मैं नारायण था। उस समय जबकि तुम भी मेरी तरह तप में ही रहते थे, किन्तु तुमने मेरी सेवा–शुश्रूषा नहीं छोड़ी। मानो भगवान कह रहे हैं कि इस समय में भी तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो। गृहस्थाश्रम में मैत्री–धर्म से प्रायः सभी परिचित हैं। दुरात्माकर्ण को तो देखो, उसने मैत्री–धर्म को ध्यान में रखते हुए नीच दुर्योधन के लिए अपना जीवन दाव पर लगा दिया है। मैंने तुम्हारे लिए अपने जीवन को दाव पर लगाया या नहीं यह तो तुम जानो, परन्तु मित्र का कर्तव्य है कि जब अपना मित्र घोर संकट में चारों तरफ से घिर जाय तो उस आपत्ति–विपत्ति से उसे मुक्त करे। अतः अब मेरे लिए वही समय आ गया है कि मैं तुम्हारा उद्धार करूँ।

अबतक यह साधकों को पता चल गया होगा कि सद्गुरु और शिष्य का कितना निकट का सम्बन्ध है। अन्य सारे के सारे सम्बन्ध स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। आज जो पुत्र है अगले जन्म में मनुष्यरूप में जन्म लेगा या पशु–पक्षीरूप में, या मनुष्य रूप में ही जन्म लेगा तो अपने पिता का ही पिता बनकर आयेगा या स्वामी बनकर या वैरी बनकर आयेगा, इस बात का किसी को पता नहीं है। यही नहीं, वह अगले जन्म में स्त्री बनेगा या पुरुष, देवता बनेगा या राक्षस, साँप बनेगा या बिच्छू, यह किसी को पता नहीं है; लेकिन शिष्य और सद्गुरु बहुत जन्मों से शिष्य एवं सद्गुरुरूप में ही प्रकट होते रहते हैं। जबतक शिष्य का उद्धार नहीं होता तबतक उसके लिए सद्गुरु जन्म लेता रहेगा भले वह किसी अन्य नाम और रूपवाला ही क्यों न हो। यही तो कारण है कि कोई भी सद्गुरु अपना नाम, गाँव एवं जाति नहीं बताते; क्योंकि उनके पूर्व जन्मों के शिष्य किसी भी प्रदेश या देश में किसी भी गाँव–जातियों में जन्म लेकर उनके पास आ सकते हैं। इतना ही नहीं, पिता–माता एकमात्र अपने पुत्र–पुत्री के लिए ही नहीं जीते, वे तो अपनी सुख–सुविधा, मान–सम्मान के लिए भी जीते हैं; लेकिन सद्गुरु मात्र अपने शिष्य एवं भक्तरूपी आत्मा के लिए ही जीता है, उसका सम्पूर्ण जप, तप, योग का उत्तराधिकारी वही शिष्य ही तो होता है! आत्मा–जीवात्मा के रूप में तो एक–दूसरे के मित्र वे रहते ही हैं। उनका जीवन

एक–दूसरे के लिए ही समर्पित रहता है, अतः एक–दूसरे में मित्रता भी प्रशस्त होती ही है।

महात्मा अर्जुन सचमुच में उपरोक्त बातें सुनकर आश्चर्य से भर गये। अब तो अपना मूल न जानकर भगवान के ही मूल को जानने चल पड़े। अबतक बहुत सी कल्पनायें उठ खड़ी हुई हैं। किसी जन्म में लगता है मैंने इनकी भक्ति की है तभी तो ऐसा कह रहे हैं। सर्वप्रथम मैं इन्हीं की जीवन–कहानी इन्हीं से जान लूँ, इन्हीं की गोपनीयता को जान लूँ, फिर तो जो होगा सो देखा जायेगा। अतः वे भगवान से पूछ बैठते हैं–

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे प्रभु! आपका जन्म तो अभी हाल ही में हुआ है और सूर्यदेव का जन्म बहुत ही पुराना है, वे आदिपुरुष हैं; फिर मैं आपकी इस बात को कैसे स्वीकार कर लूँ कि आप ही ने कल्प के आदि में इनसे यह पुरातनयोग कहा था।

मानो भक्त अर्जुन कह रहे हों– आपका जन्म तो अभी–अभी माँ देवकी के गर्भ से हुआ है, माँ यशोदा ने लालन–पालन किया, अपनी शक्ति–सामर्थ्य से आपने अपने मामा कंस का वध कर डाला। आपके चरित्र को तो यहाँ सभी जानते हैं और आप कह रहे हैं कि मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं तो फिर मैं आपकी इस बात को कैसे मान लूँ? मेरे पास तो कोई प्रमाण भी नहीं है और न ही आपने अबतक कोई प्रमाण दिया है। आपने यह भी कह दिया कि मैंने इस पुरातनयोग को सृष्टि के आदिपुरुष भगवान सूर्य से भी कहा था। आपके द्वारा ऐसा कहना मेरे लिए तो बड़े आश्चर्य का विषय बन गया है। कहाँ भगवान सूर्य और कहाँ आप? भला आपकी इस बात को कौन मानेगा? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपकी इन्हीं बातों को सुनकर पितामहभीष्म, गुरुदेव द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य आदि चक्कर में पड़ गये हों और आपकी बातें एकमात्र एक शक्तिमान पुरुष की बातें लग रही हों, जिससे अब वे विशेष आपको महत्त्व न दे रहे हों?

जितेन्द्रिय अर्जुन का मन बहका–बहका सा लग रहा है। जब चित्त ठिकाने में नहीं रहता तो व्यक्ति अपने पूज्यजनों को भी बहुतकुछ कह जाता है, लेकिन वह स्वयं नहीं जान पाता कि मैं क्या कह रहा हूँ। रजोगुण–तमोगुण मिश्रित माया की मार ऐसे ही लोगों को नचा–नचाकर मारती है। जो साधक अपने सद्गुरु से देवी–देवताओं को ही विशेष महत्त्व देते होंगे, वे तो कहेंगे ही कि अर्जुन ने क्या बड़ी बात पूछ दी थी। जब भगवान सूर्य की उपासना प्रभु श्रीराम करते हैं तो ये मधुसूदन उनके गुरु बन जायें, उपदेष्टा बन जायें, ऐसा कौन मान लेगा? लेकिन जो आध्यात्मिक जिज्ञासु होंगे वे तो प्रभु के अथाह सागररूप हृदय को देखकर आश्चर्य ही कर जायेंगे। क्या महत् गोपनीयता है कि जो भगवान सूर्य का उपदेष्टा है, वह सामान्य पुरुषों जैसा व्यवहार करते–करते जीवन व्यतीत कर देता है और कोई उसे पहचान नहीं पाता है। जब अपने

पुरातन एवं सनातन शिष्य तथा भक्त को बताने भी चला कि मैं सूर्य की भी आत्मा हूँ तो वह उपहास कर बैठा कि आपकी इस बात को कौन मानेगा? मानो वह शिष्य (अर्जुन) कह रहा हो कि मेरे पास तो आपने कह दिया, कोई बात नहीं, कहीं अन्य जगह आप मत कह देना।

बड़ी विचित्र कहानी है यहाँ पर, सारी रामकथा हो गयी और किसी ने पूछा कि राजा दशरथ के पुत्र राम थे या रावण? उसीप्रकार भगवान अबतक प्रत्येक मंत्रों के द्वारा स्वयं के साथ–साथ महात्मा अर्जुन को भी आत्मा ही सिद्ध करते चले आ रहे हैं, किन्तु प्रभु अभी उन्हें माँ देवकी के पुत्र ही दिखाई पड़ रहे हैं। भगवान भी ऐसे के पाले पड़े हैं कि वह खोद–खोदकर उनके सारे रहस्य को जान लेना चाहता है। महाराज को भी हँसी आ रही है कि भगवान सोच रहे होंगे कि 'पहला ही है चेला और मार रहा है ढेला।' वे सोच रहे होंगे कि मेरी बाँसुरी की तान पर सारा जगत बेसुध हो जाता है, किन्तु यहाँ तो इसकी अज्ञानराग पर मैं ही बेसुध हुआ जा रहा हूँ; लेकिन अब वे करें तो करें क्या! अर्जुन के विकल्प के रूप में दूसरा चेला तो बनाया ही नहीं और बनायेंगे भी नहीं; क्योंकि कहीं वह इससे भी गया–गुजरा न निकल जाय। फिर तो जगत के लोग कहेंगे कि बनाओ चेला! आये हो गृहस्थ बनकर और चेला बना रहे हो! चेला बनाने का अधिकार तो गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण को दिया गया है। वे कान फूँकते ही रह जाते हैं और शिष्य के कान में मैल जमी की जमी रह जाती है।

वहाँ पर तो मात्र अर्जुन की यह कहानी थी, किन्तु वर्तमान में तो सभी चेलों की यही कहानी है। सब यही सोचते हैं कि हम तो गुरुदेव के नाम, गाँव, जाति आदि को जानते ही हैं, इनका योग, जप, तपरूप व्यवहार भी जानते हैं तो फिर इनको भगवान कैसे मान लें? लगता है अर्जुन के समय से ही शिष्यों के द्वारा सद्गुरु की परीक्षा लेने की परम्परा प्रारम्भ हुई है। नींव तो भगवान के द्वारा ही डाली गयी है। भगवान ने गुरुजनों को संदेशरूप उपदेश दिया है कि केवल आत्मज्ञान से ही नहीं आत्मशक्ति से भी सम्पन्न होकर चेले बनाना अन्यथा चेलों के खेल झमेले पैदा कर देंगे और अर्जुन का शिष्यों के प्रति संदेशरूप उपदेश है कि मेरे जैसा योगी, जपी, तपी, महाव्रती तथा गुडाकेश बनकर सद्गुरु की शरण में जाना अन्यथा जीवन बीत जायेगा सद्गुरु अपना राज नहीं बतायेगा।

एक दिन पुष्करानन्द ने कहा था कि गुरुजी! यह बात द्वापर के लिए थी किन्तु अभी तो कलियुग है! इसपर महाराज ने कहा– यह बात द्वापर के लिए कैसे हो जायेगी? यदि द्वापर के लिए होती तो द्वापर के प्रारम्भ में ही भगवान का अवतार हो गया होता, जबकि उपदेश देते समय स्पष्टतः कलियुग की छाया पड़ गयी थी। तुम नहीं देख रहे हो कि आजकल संत तो स्वयं के ब्रह्मज्ञानी होने की घोषणा नहीं कर रहे हैं, जबकि गृहस्थ स्वयं के ब्रह्मज्ञानी होने की घोषणा कर रहे हैं!

महात्मा अर्जुन के इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए भगवान सोच रहे हैं कि चलो अब अपना राज खोल ही देता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं, जिसे मैं भलीभाँति जानता हूँ लेकिन तुम मेरा तो छोड़ो, अपने ही जन्म को नहीं जानते हो।

प्रभु ने जान लिया कि यह गर्भ की दिशा में नहीं जा पा रहा है, बल्कि बाहर–बाहर से पूछ रहा है। अतः जन्म के गर्भ में ले जाने का प्रयास करनेवाले भगवान ने राज को खोलते हुए अपनी सर्वज्ञतारूप सिद्धि को यहाँ खोल दिया और स्पष्ट कह दिया कि मैं तो अपने क्या, सबके जीवन–जीवन को जानता हूँ। मानो भगवान यहाँ चुनौती दे रहे हों कि यदि किसी जन्म की बात तुम जानना चाहते हो तो मैं जना भी दूँगा। उधर अर्जुन के मन में मानो यह विचार चल रहा है कि यदि मैंने पूर्व के दो–चार जन्मों को जानना चाहा, देखना चाहा तो कहीं ये सच में दिखाकर यह न कह दें कि अब युद्ध करो! तुम्हारा कहना कर दिया, अब मेरा कहना करो!

महाराज से एक दिन एक साधक ने अपनी साधना की बात बतायी, उसने कहा कि एक दिन समाधि के अन्तर्गत मेरा सूक्ष्म शरीर अन्तर्यात्रा पर निकला हुआ था जो न पृथ्वी पर था और न ही बहुत ऊँचाई पर आकाश में था, बल्कि मध्य में बैठा हुआ राकेट की भाँति लोक–लोकान्तरों को देखता हुआ गमन कर रहा था। समाधि टूटने के पूर्व देखा कि वह सूक्ष्म शरीर आकाश से नीचे उतरते हुए किसी अन्य लोक के एक शरीर में प्रवेश किया जो ठीक इसी शरीर जैसा था तथा वह लोक भी ठीक इसी लोक जैसा था। मात्र दोनों शरीरों के समाधि में बैठने के स्थान में अन्तर था। यह शरीर एक गुफा में बैठा था और समाधि में देखा हुआ शरीर इस शरीर की जन्मभूमि में अपने घर के बैठके में था। जब सूक्ष्म शरीर ने उस शरीर में प्रवेश किया तब दोनों ही शरीरों की समाधि टूट गयी। साधक ने पुनः बताया कि मैं उस दिन आश्चर्य की तरह देखता ही रह गया। बार–बार विचार आता था कि सूक्ष्म शरीर एक और स्थूल शरीर दो! यह क्या रहस्य है? जब रहस्य का पता चला तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उस दिन जब आध्यात्मिक वैराग्य प्रकट हुआ तब पता चला कि निर्मल वैराग्य किसे कहते हैं।

आप सब के सामने इस रहस्य को समझने के लिए एक पहेली बुझाई जाती है, जिससे बहुतकुछ पता चल जायेगा जन्मान्तर की कहानी का। यदि आप साधनपथ में हैं, ब्रह्मजिज्ञासु हैं तो आप यहाँ पर यदि ५० वर्ष के हो गये तो जिस लोक (मृत्यु के उपरान्त) से आप आये हैं उस लोक में अभी आपकी मृत्यु के मात्र ५ या ६ दिन ही हुए हैं बीते हुए। बाल–बच्चों में हाय मची हुई है, जलदान दिया जा रहा है, अभी श्राद्ध होना बाकी है तथा जहाँ श्राद्ध होना बाकी है उस लोक में जिस लोक से मृत्यु के उपरान्त आये हैं यदि आपने वहाँ ८० वर्ष का होकर शरीर छोड़ा है तो वहाँ अभी १८–१६ दिन ही बीते हैं। इसप्रकार आप विचार करते रहें कि आप कितने वर्ष के हुए हैं।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि दो स्थूल शरीर पर एक सूक्ष्म शरीर, ये क्या पहेली है? बात तो समझ में आ रही है, लेकिन थोड़ा और भी स्पष्ट करना चाहिये। तो देखें, आप यदि ध्यान से पढ़ेंगे तो रहस्य स्पष्ट हो ही जायेगा। जिस नाम, रूप एवं गुणवाले इस लोक में हैं आप; उसी नाम, रूप, गुणवाले होकर आप अनेक ब्रह्माण्डों में घूम रहे हैं। जैसे आपके दादा ने शरीर छोड़ा, वे मृत्यु के उपरान्त पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे अथवा देवता नहीं बने तो उस समय उनकी वासना इसीप्रकार के एक मृत्युलोक की रचना कर लेती है। वह कैसे? वह ऐसे कि जैसे आप इधर सोते हैं और उधर आपकी वासना स्वप्नलोक बन जाती है। आप सभी जानते हैं कि जिस रंग–रूपवाले आप यहाँ पर हैं, उसी रंग–रूप, आकार–प्रकारवाले आप स्वप्नलोक में भी होते हैं। भले ही आप उसे स्वप्नलोक कहते रहें, भले ही सांख्यवादी उसे प्रकृति का साम्राज्य कहते रहें, लेकिन वह भी आपका ही साम्राज्य होता है। 'परन्तु सांख्यमत तो कहता है कि यह जाग्रत् का शरीर पाँच तत्त्वों से बना है; अतः इसको मृत्युलोक जानना चाहिए लेकिन आप कह रहे हैं कि स्वप्नजगत का शरीर एकमात्र वासनामय है वैसे ही मृत्युलोक भी वासनामय ही है। जबकि स्वप्न शरीर तो पाँच तत्त्वों से बना है नहीं, फिर आप कैसे कह रहे हैं कि वह स्वप्नलोक भी मृत्युलोक ही है?' हाँ, प्रश्न तो आपका ठीक ही है लेकिन आप जाग्रत्–लोक से स्वप्नलोक और स्वप्नलोक से जाग्रत्–लोक प्राप्त तो करते रहते हैं, किन्तु इस लोक से स्वप्नलोक में कैसे उतर गये यह तो आप नहीं जानते, कितना समय लगा उस लोक में प्रकट होने में यह तो आप नहीं जानते? ऐसा नहीं होता कि लेटे और स्वप्न प्रारम्भ हो गया बल्कि जाग्रत् से स्वप्नलोक में जाने के पूर्व यदि पलभर का भी समय लगता है अर्थात् दस सेकेण्ड का भी समय लगता है तो वह दस सेकेण्ड वहाँ के दस साल के बराबर है। यदि एक मिनट समय लगता है तो वहाँ के साठ वर्ष के बराबर होता है। जाग्रत् एवं स्वप्न के बीच में वासनात्मक शरीर उस लोक की माँ के गर्भ में रहता है और एक ऐसा आश्चर्य है कि उसी समय में गर्भ में रहना, गर्भ से बाहर आना, बाल्यावस्था बीत जाना और एकसाथ युवावस्था का स्मरण करना, वहाँ खाना, पीना, सोना, जागना आपकी दृष्टिपथ में आना आपके अनुभव में आने लगता है। यदि आप मृत्युलोक में वृद्ध हैं तो स्वप्नलोक में बचपन, युवा एवं वयस्क अवस्था बीत गयी रहेगी और आप अपने को वृद्ध समझते हुए ही वहाँ सब कर्म करते हुए पायेंगे। यदि आप बालक हैं तो स्वप्न में आप अपने को १०–१२ वर्ष के बालकरूप में ही देखेंगे, गर्भ से लेकर १० वर्ष तक का जीवन स्मृतिपथ में किसी घटना के साथ याद आयेगा। प्रायः इसप्रकार के स्वप्न साधकों को हुआ करते हैं, जब वे स्वप्नलोक में भी अपनी शैशवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक की कहानी को याद करते हैं। आमलोग तो मृत्युलोक के बाद स्वप्नलोक में व्यवहार करते ही अपने को पाते हैं तथा वे कभी भी वहाँ की अन्य अवस्थाओं से परिचित नहीं हो पाते। यही नहीं, जैसे आप यहाँ पर सांख्यमत का अवलम्बन लेकर शरीर को पाँच तत्त्वोंवाला जानते हैं वैसे ही वहाँ पर भी पाँच तत्त्वोंवाला ही अपने शरीर को जानते हैं; क्योंकि वहाँ भी आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तो हैं ही। हाँ सूर्य एवं चन्द्रमा का अभाव है; क्योंकि वहाँ आत्मज्योति का प्रकाश रहता है, कभी–कभार सूर्य और सूर्य की धूप दिखाई पड़ती है या चन्द्रमा का दर्शन हो जाता है जो जाग्रदवस्था के लिए

संकेत होता है। इसीप्रकार वहाँ से (स्वप्नलोक से) यहाँ पर जग गये तो ऐसा ही न सोचें कि वहाँ की कहानी समाप्त हो गयी, बल्कि वहाँ के भाई–बान्धवों की हालत देखते बन रही होगी। वे तो हाय–हाय मचाकर आपके उस शरीर की अर्थी निकाल रहे होंगे, वहाँ भी दशगात्र मनाया जा रहा होगा। इस रहस्य को कोई संकल्पसिद्ध साधक अपने संकल्प से देख सकता है। ठीक इसीप्रकार यह आपका मृत्युलोक किसी सोये हुए पुरुष की वासना है जो जीव–मरकर अपने लोक को तो चला गया या चला जायेगा लेकिन उसकी वासना ने अनेकों रूप धारण कर लिया है। अनेकों रूप ही क्यों; बल्कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि भी उसी की वासना है। हाँ, उस पुरुष की यह वासनात्मक सृष्टि ऐसी है, जिसमें उसकी वासना ने सूर्य एवं चन्द्रमा तथा नक्षत्र–तारों का भी रूप धारण कर लिया है। आपका वासनात्मक (स्वप्न) जगत उतना तेजोमय नहीं है। जैसे आपका स्वप्नजगत रजोमय होगा तो बालक का स्वप्न तमोमय और साधक का स्वप्न सतोमय तथा सिद्ध का स्वप्न अति सत्त्वप्रधान दिव्य तेजोमय होगा। इसप्रकार जब आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी ही स्थूल नहीं हैं तो आपका यह शरीर भी स्थूल कैसे होगा? स्वप्नजगत में जब दिव्य सम्भाषण प्रकट होता है तो उस समय इस आपके मृत्युलोक को वहाँ पर स्वप्नलोक कहा जाता है। इसप्रकार आपके लिए अज्ञानवश वह स्वप्नलोक है और स्वप्नलोक के पुरुषों के लिए यह जगत स्वप्नलोक है। फिर सांख्यमत का भगवान ने आश्रय क्यों लिया है इस गीता शास्त्र में? क्यों नहीं सीधे–सीधे राजयोग की बात करते हैं? हाँ, आपका कहना तो ठीक ही है लेकिन जो अभी महाराज ने कहा है पहले इसी को तो आपकी बुद्धि पकड़ ले! जब इसी विषय को बुद्धि नहीं पकड़ पायेगी तो राजयोग का सूक्ष्म तत्त्व क्या समझ पायेगी? इसलिए प्रभु सांख्ययोग से प्रारम्भ कर सर्वप्रथम आपकी मैली बुद्धि को साफ–सुथरा बनाते हैं, फिर जब बुद्धि अति निर्मल हो जाती है तब राजयोग देने लगते हैं। यही तो कारण है कि भगवान जन्म–जन्मान्तर की कहानी को महात्मा अर्जुन के पास छिपा लेते हैं; क्योंकि उस समय की बात समझ में आयेगी ही नहीं। अतः स्वयं की जीवन–जीवन की जीवनी बताना प्रारम्भ कर देते हैं।

तो आयें सर्वप्रथम पूर्वोक्त आपके दादा के मरने की कहानी चल रही थी उस पर ध्यान केन्द्रित करें। मृत्यु के समय जब प्राण नाड़ियों को अवरुद्ध करते हुए ऊर्ध्वगामी होते हैं, ऊपर की तरफ खिंचते हैं, खिंचते हुए इकट्ठे होते हैं तो उस समय असह्य वेदना होती है, पीड़ा होती है शरीर में। उस पीड़ा को सहन न कर पाने के कारण वे मूर्च्छित हो जाते हैं और जब मूर्च्छित हो जाते हैं तो जैसे नींद आने के उपरान्त वासना ही बनते–बनते स्वप्नजगत बन जाती है, वैसे ही वहाँ भी एक लोक का निर्माण हो जाता है। चेतन से अचेतन में जीव उतरता है, पुनः चेतन में (जगत में) प्रकट हो जाता है। यह जो चेतन से अचेतन की अवस्था होती है, उसी अवस्था में सृष्टि प्रकट होने का क्रम घटित हो जाता है। इसप्रकार जैसे ही आपके दादा मूर्च्छित होते हैं वैसे ही दूसरे लोक में अपने–आपको देखते हैं। वहाँ भी अपनी वासना के अनुरूप ही इस मृत्युलोक के भाई–बान्धवों, बाल–बच्चों के साथ–साथ आपको भी देखते हैं। इसीप्रकार आपके गाँव, घर, हित–मित्र या वैरी आदि जो भी शरीर छोड़ते हैं, यदि वे भूत–प्रेत या देवता नहीं बने

तो वहाँ अपने–अपने लोकों में आपको भी इसीप्रकार साधुवेश में साधना करते हुए देखेंगे। अतः अब आप समझ गये होंगे कि आप इसी नाम, रूप, रंग, आकार, प्रकार एवं इसी कर्मवाले कितने लोकों में होंगे। इतना ही नहीं, आप निर्णय भी नहीं कर पायेंगे कि आप यहाँ के स्वजनों से प्रेम करें या उन–उन लोकों के माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं हित–मित्रों से प्रेम करें।

जब एक सामान्य साधक की यह कहानी है तो भगवान की बात ही कुछ और है। भगवान ऐसी पहेली को क्या बतायें क्या समझायें अर्जुन को? वे तो मात्र इतना ही कह रहे हैं कि तेरे–मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, जिन्हें मैं देख रहा हूँ किन्तु तुम नहीं देख पा रहे हो। इतना ही कहकर भगवान वहाँ पर मौन नहीं होते बल्कि वार्ता की दिशा बदल देते हैं और रहस्यात्मक विषय को छिपा लेते हैं। यह बात अलग है कि जैसे–जैसे अर्जुन का कौतूहल बढ़ता जायेगा वैसे–वैसे वे राज को बताते जायेंगे। प्रभु ने महात्मा अर्जुन को अतीत में ले जाना चाहा था लेकिन अर्जुन अतीत में नहीं जा सके, इसलिए प्रभु ने ज्ञान की दिशा बदल दी और भक्तिपथ में उतरकर अब सान्त्वना देना चाह रहे हैं। अब उन्होंने मैदान में आकर स्वयं के निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म होने की घोषणा प्रारम्भ कर दी। माँ अपने बेटे–बेटियों के पास अपने जीवनचरित्र तथा रूप को छिपा नहीं पाती, मित्र भी मित्र से अपने सभी रूपों को बता ही देता है, सद्गुरु भी अपनी सम्पूर्ण जीवनी को अपने प्रियपात्र को पाकर प्रकट कर ही देता है, प्रकृति अपने गोपनीय रहस्यों को योगियों के पास प्रकाशित कर ही देती है। वैसे ही अब भगवान ने भी मन बना लिया कि छिपने से काम बननेवाला नहीं है। यदि इससे गाण्डीव उठवाना है तो अपने राज के राज को तबतक खोलते रहना पड़ेगा जबतक यह युद्ध के लिए तैयार न हो जाये–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

प्रभु कहते हैं– यद्यपि तुम नहीं जानते हो किन्तु अजन्मा हूँ पार्थ! मैं अजन्मा हूँ। मैं अव्यय आत्मा एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपने भक्तों के विशिष्ट प्रयोजन से अपनी वैष्णवी शक्ति को अपने आश्रित करके एक मानवी प्रकृति की रचना करता हूँ तथा समयानुसार गर्भ से बाहर प्रकट हो जाता हूँ। ऐसा करता हूँ कब? समष्टि वेदना होती है जब। जब यह सृष्टि असुरों एवं दानवों के उत्पात से क्षुब्ध हो जाती है, जब अधर्म की वृद्धि हो जाती है और धर्म कराह उठता है, जब संत, भक्त और गो, ब्राह्मण उनके द्वारा सताये जाने लगते हैं वैसी अवस्था में वे जब विकल होकर मुझे पुकारते हैं तो मैं भी विकल हो जाता हूँ, तब मेरे से निर्गुण–निराकाररूप में रहा नहीं जाता तथा उसी क्षुब्धावस्था में उन सबका उद्धार करने के लिए एवं पुनः धर्म की

स्थापना करने के लिए मैं युग–युग में किसी तपस्विनी, भक्त माँ की गोद से प्रकट हो जाता हूँ।

इन मंत्रों से यह अच्छीप्रकार स्पष्ट हो गया कि सामान्य मानव मृत्यु एवं जन्म की अवस्था से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है तथा उसकी वासना उसे कहाँ ले जाती है, किस ढंग से ले जाती है वह इस रहस्य को भी नहीं जान पाता; लेकिन भगवान के जन्म और मरण (अन्तर्ध्यान) की कहानी कुछ और ही है। रज और वीर्य के संयोग से जीव की उत्पत्ति होती है लेकिन भक्तों एवं संतों, साधकों, सिद्धों, देवताओं, धर्मात्माओं तथा गो, गंगा आदि शक्तियों के प्रेमपूर्वक आवाहन से ब्रह्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् वह उनके प्रेम में प्रकट होता है। यदि ऐसा है तो फिर बिना रज और वीर्य के उनके आँख, कान, नाक, मुख, हाथ, पाँव आदि का निर्माण होगा कैसे? हाँ, ऐसा प्रश्न आप इसलिए कर रहे हैं क्योंकि आपको आध्यात्मिक विज्ञान का पता अंशमात्र भी है ही नहीं। अरे! जिसके संकल्प से सम्पूर्ण रंग–रूप, आकार–प्रकार प्रकट होते हैं, उसके लिए शरीररूप में आने के लिए किसी रज और वीर्य की क्या आवश्यकता है! सभी साधक जानते हैं कि 'हितानाड़ी' में सम्पूर्ण स्वप्नजगत है, वही चिदाकाश में प्रकट होता है और लीन होता रहता है। तो क्या ब्रह्म किसी माँ के चित्त को मोहितकर गर्भ से बाहर नहीं आ सकता? जब वैदिक मंत्रों के द्वारा धृष्टद्युम्न एवं भगवती द्रौपदी अग्निरूपी गर्भ से बिना वीर्य एवं रज के प्रकट हो सकते हैं तो क्या वह ब्रह्म भक्तों के संकल्प से किसी माँ के गर्भ से प्रकट नहीं हो सकता? यदि ऐसा है तो वे माँ देवकी के गर्भ से क्यों आये, आकाश से ही प्रकट हो गये होते? आप मूर्खतापूर्ण प्रश्न कर रहे हैं, लेकिन तो भी कोई बात नहीं है, जिज्ञासा तो जिज्ञासा होती है। हाँ, आये तो वे आकाश से ही हैं किन्तु संतों, भक्तों को छोड़कर माया द्वारा भ्रमित बुद्धिवाले यह नहीं जान पाते। प्रभु को तो असुरों एवं राक्षसों को यह जनाना ही है कि मैं गर्भ से आया हूँ, तभी तो उनका प्रयोजन पूर्ण होगा! असुर एवं राक्षस ही क्यों, बल्कि संत एवं भक्तों को छोड़कर सामान्य जन भी इस रहस्य को नहीं जान पाते। जब एक तांत्रिक अपने तंत्र बल से जहाँ जल है, वहाँ पर्वत और जहाँ पर्वत है वहाँ जल दिखा सकता है तो प्रभु अपने को गर्भ से आता हुआ दिखा दें तो इसमें क्या बड़ी बात है।

इसप्रकार वह अव्यय, अजन्मा, शाश्वत, सनातन, परम पुरुष, परमात्मा असुरों को मोहित करते हुए किसी भगवती माँ की कोख (गर्भ) से प्रकट होता है, जिसे कौसल्या और देवकी भी कहते हैं, वैसी माँ को देवहूति एवं अनसूया भी कहते हैं। वह ब्रह्म कभी प्रह्लाद के लिए खम्भे से प्रकट हो जाता है, कभी मछली बनकर आता है, मानो जल ही उसका गर्भ है, तो कभी अन्तरिक्ष से देवताओं के लिए वराह बनकर आता है, मानो आकाश ही उसका गर्भ है और कभी भगवती द्रौपदी के लिए साड़ी बन जाता है, मानो उस भगवती द्रौपदी की पुकार ही उसका गर्भ है। कहाँ तक कहा जाय, वह मंत्र से, योग से, जप से, तप से, कहाँ से प्रकट नहीं होता? ऐसे ब्रह्म के लिए तो वीर्य एवं रज से प्रकट होने की बात कल्पना में भी नहीं सोचनी चाहिये।

समष्टि एवं व्यष्टि दो अवतार होते हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द का अवतार समष्टि है, प्रभु श्रीराम का अवतार समष्टि है, भगवान दत्तात्रेय एवं भगवान कपिल का अवतार समष्टि है। ये अवतार बहुत कालतक जगत में रहकर साधकों, संतों एवं भक्तों को अपने लीलामय चरित्र

से उन्हें आनन्दित करते हुए, असुरों का दमन कर सनातन धर्म की स्थापना करते हैं तथा पुनः निर्गुण–निराकाररूप हो जाते हैं। दूसरा व्यष्टि अवतार है, जिसे प्रह्लाद ने अवतार लेने के लिए विवश कर दिया। वह ऐसा अवतार जिसे जगत का कोई भी प्राणी देख न सके, देवता भी काँपते हुए भाग खड़े हुए, भगवती लक्ष्मी का भी उनके पास आने का साहस नहीं हुआ। एकमात्र भक्त प्रह्लाद ही हाथ जोड़, आनन्दित होते हुए खड़े रहे। दूसरा व्यष्टि अवतार जिसे असुर नहीं जान पाये, वे समझते रहे कि लगता है कि इसने कोई जादू पढ़ा है– जब भगवान भगवती द्रौपदी की साड़ी बन गये। आपस में कहते रहे कि यह जादू पढ़ रही है; इसी से वे सब भयभीत नहीं हो रहे हैं। यदि भयभीत हो गये होते तो कुछ बात ही नहीं बनती भगवान की। यद्यपि माँ गान्धारी ने आकर यह सिद्ध कर दिया कि यह जादू नहीं जानती बल्कि यह तो एक दैवी शक्ति है, यह शाप देना जानती है। अभी चाहे तो सभी असुरों को भस्म कर दे। यदि किसी कामना से कोई भक्त जप, तप, योग कर रहा है तो भगवान किसी न किसी रूप में आकर उस भक्त के पाप का छेदन कर देता है जो पाप उस भक्त के मनोरथ को पूरा होने देने में बाधा बनता है। हाँ, अन्तर इतना ही है कि वह भक्त उस भगवान को देख नहीं पायेगा; क्योंकि उसका संकल्प इतना ही है कि मेरी कामना पूरी हो, अब कैसे पूरी हो, इससे उसको लेना–देना कुछ नहीं है। कभी–कभी तो भगवान किसी व्यक्ति के माध्यम से भक्त की सुरक्षा कर लेता है, लेकिन वह भक्त निमित्त को पकड़ लेता है तथा भगवान की भगवत्ता और उसके प्रताप को जानने से वंचित रह जाता है।

आजतक महाराज से लगभग सभी कहते हैं कि मैंने तो किसी के साथ छल–कपट ही नहीं किया फिर मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों हुआ? उन्होंने मेरे साथ छल–कपट क्यों किया? लेकिन महाराज कहता है कि आप छल–कपट करते हैं। आप स्वयं खोज करें कि आप छल–कपट करते हैं कि नहीं करते? आप तो अन्याय पर अन्याय करते हैं। आप स्वयं इसकी खोज करें कि आप अन्याय करते हैं कि नहीं करते? आप झूठ बोलते हैं, आप खोज करें कि ऐसी बात है या नहीं? आप चोरी करते हैं। चोर की चोरी दिखाई पड़ती है आपको बस आपकी चोरी दिखाई नहीं पड़ती लेकिन चोर से कहीं विशेष चोर हैं आप। यदि आप चोर नहीं होते, झूठे नहीं होते, आप में चतुरता नहीं होती, आप में असुरता नहीं होती तो अभी तक आपके पास किसी न किसी रूप में आ गया होता भगवान और आपको अपने आने की अनुभूति भी करा जाता कि मैं ही था भगवान। चोर, बदमाश, छली–कपटी, रागी–द्वेषी, ढोंगी–पाखंडी के पास भगवान नहीं आता, इस बात को तो आप सबसे कहते ही हैं। फिर आपके पास भगवान नहीं आया तो आप अपने को क्या समझेंगे भक्त? नहीं, नहीं आप इस धोखे में ना रहें बल्कि अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानें।

चारों तरफ से दीनता घेरी हुई है और आप कहते हैं कि हम सत्यवादी हैं; चारों तरफ से दुःखों से घिरे हुए हैं आप तथा कहते हैं कि हम झूठ नहीं बोलते, छल नहीं करते, कपट नहीं करते; फिर भगवान आपके पास आया क्यों नहीं? पाण्डवों के पास दुःख आया तो उनके पास दुःख झेलने भगवान आ गया। उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि यह दुःख आया क्यों, बल्कि दुःख का सामना किया। भक्त सुदामा, द्रौपदी, गज आदि के पास दुःख आया लेकिन उन्होंने यह नहीं

कहा कि दुःख आया क्यों, हमने ऐसा क्या कुकर्म किया? बल्कि भगवान आये तो उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहा कि हमने ऐसा क्या किया कि आप हमारे पास आ गये?

केवल आरती, पूजा–पाठ कर लेने से कोई भक्त नहीं कहलाता। भक्त का व्यवहार और स्वभाव कुछ और होता है, जिसकी सुरक्षा में बिना बुलाये भगवान उसके पास आता रहता है। पग–पग पर भक्त की वह सुरक्षा करता रहता है। सताये जाते हैं भक्त तो भगवान वहाँ होता है, भक्त दुःख में हँसता है तो भगवान वहाँ रोता है। भगवती द्रौपदी सतायी गयी– दुर्योधन ने सताया, दुःशासन ने सताया, कर्ण–शकुनि ने सताया, गुरुजनों ने सताया, पितामह ने सताया। अब तो हे प्रभु! महर्षि दुर्वासा सताने आ गये। ऐसा सुनते ही भगवान प्रकट हो गये। कहा– कल्याणि! भूख लगी है, मटका लाओ। भगवान ने चिपके हुए दो दानों को खाया, उधर शिष्योंसहित दुर्वासाजी का इतना पेट भर गया, इतना भर गया कि पेट फटने के भय से भाग खड़े हुए।

(यदा यदा हि धर्मस्य.....) उसी समय आपकी सुरक्षा होती है जिस समय आप सताये जाते हैं, यदि सच में आप धर्म में हैं तो। सन् २००० में अशोकानन्द ने कहा– महाराजजी! घरवाले पीछा कर रहे हैं। महाराज ने कहा कि तो क्या हुआ, तुम भाग क्यों रहे हो? क्या तुम्हारा भगवान उनसे कमजोर है? वे लोग तुम्हारा पीछा कर रहे हैं, उनका पीछा भगवान करने लगेगा यदि सच में तुम भगवान को ही चाहते हो तो। जाओ उनके साथ जाओ और चिन्तन करना कि हे प्रभु! आपने चौथे अध्याय (गीताजी) में कहा है कि 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्.....' मैं दुष्टों का दमन कर अपने भक्तों की रक्षा करता हूँ। लेकिन एक बात कहना कि ये लोग तो दुष्ट नहीं हैं, दुष्ट तो मैं ही हूँ कि पाँच वर्ष की अवस्था में ही आपकी शरण में न आकर २० वर्ष की अवस्था में आ रहा हूँ और हे जगत्पते! मेरे चलते इन्हें कष्ट न देना। यदि सच में आपका भक्त हूँ तो इनकी बुद्धि को भगवद्बुद्धि बना देना। उसने जाकर ऐसी ही प्रार्थना प्रारम्भ की, परिणाम हुआ कि कुछ ही दिनों में अर्थात् १५–२० दिनों में ही भगवान ने उसे संन्यासी बना दिया। अब वे ही लोग उसकी प्रशंसा करते थकते नहीं हैं।

महाराज तो कहता है कि भगवान का अवतार मात्र अन्तरिक्ष, जल, पृथ्वी आदि से ही नहीं बल्कि भक्त के मन, बुद्धि तथा विचारों से भी होता है। यहाँ तक कि भक्त की नींद में भी भगवान का अवतार होता है। आप अपने पापों के परिणाम से भीतर–बाहर से सताये जाते हैं। चाहे अस्त्र–शस्त्रों की मार से या मान–अपमान की मार से, चाहे चोर–बदमाशों की मार से या पुत्र–पुत्रियों की मार से, चाहे माता–पिता की मार से या हित–मित्रों की मार से, चाहे जहाँ भी सताये जाते हैं, वहाँ पर आपका पाप ही कारण होता है। यदि उनके द्वारा भगवान के कारण से सताये जाते हैं तो वहाँ पर भगवान अवश्य आता है। अब दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का भगवान विस्तार कर रहे हैं जिसे आप देखें–

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

हे पार्थ! इसप्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को जानता है, वह दिव्य भाव वाला शरीर को छोड़कर पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता बल्कि वह भी दिव्यजन्मा एवं दिव्यकर्मा हो जाता है।

इस सृष्टिरूप में ब्रह्म दिव्यजन्मा है। उसके आदि, अन्त और मध्य को आप नहीं जानते, इसलिए आप मूर्खजन्मा हैं, क्षुद्रजन्मा हैं। वह आकाशरूप में दिव्यजन्मा है। वह सबके लिए अपने में अवकाश रखता है इसलिए वह दिव्यकर्मा है लेकिन आपमें स्वजनों के सिवा किसी के लिए अवकाश नहीं है इसलिए आप क्षुद्रकर्मा हैं। वह वायु बना, अग्नि बना, जल बना, पृथ्वी बना लेकिन वह कुछ कहता ही नहीं, वह सम शान्त बना रहता है, अतः दिव्यजन्मा है लेकिन आप आजतक कुछ भी नहीं बन पाये फिर भी कहते हैं– हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं, शूद्र हैं, हम शरीर हैं, हम फलाने–ढेकाने हैं, अतः आप क्षुद्रजन्मा हैं। वह वायु बनकर आपको जीवन देता है, अग्नि बनकर भोजन पचाता है, जल बनकर लार, पित्त, कफ बनाता है, पृथ्वी बनकर आपको आश्रय देता है तो भी आपके हृदय में वह सम शान्त बना रहता है, अतः दिव्यकर्मा है लेकिन आपने लेने के सिवा किसी को कुछ दिया ही नहीं। आप सबका जीवन लेते रहते हैं और कहते रहते हैं कि मैं अपने स्वजनों का पालन करता हूँ, मैंने इतनी कमाई की और भी कमाऊँगा इसलिए आप मूर्खकर्मा हैं, क्षूद्रकर्मा हैं। सूर्य के रूप में वह दिव्यजन्मा है, नदी–सरोवरों के रूप में, पेड़–पौधों के रूप में वह दिव्यजन्मा है; इन रूपों में वह स्वयं न खा–पीकर सबको खिलाता–पिलाता रहता है, प्रकाशित करता रहता है, अतः वह दिव्यकर्मा है; लेकिन आप अपने और स्वजनों के पेट के लिए कमाते रहते हैं, अतः आप क्षुद्रकर्मा हैं। वह जपरूप में आता है, तपरूप में आता है, योगरूप में आता है और जप, तप, योगरूप में आकर आपके तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र बनाकर चला जाता है, अतः इस न्याय से वह दिव्यजन्मा एवं दिव्यकर्मा है; लेकिन उसके जप, तप, योग, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान को अपना ही जप, तप, योग, मान लेते हैं, इसलिए आप क्षुद्रजन्मा एवं क्षुद्रकर्मा हैं। महाराज को हँसी आ रही है; क्योंकि उस समय अर्जुन के मन में आ रहा था कि भगवती माँ गंगा के गर्भ से प्रकट होने के कारण से ये पितामहभीष्म भी तो दिव्यजन्मा हैं तथा परशुरामजी जैसे ब्रह्माण्ड विजेता से इन्होंने लोहा लिया है, उन्हें बड़ी गहरी चोट दी है इन्होंने, अतः ये दिव्यजन्मा के साथ–साथ दिव्यकर्मा भी हैं। महाराज कह रहा है कि अर्जुन को भगवान के मन की भी बात जाननी चाहिये। भगवान मानो कह रहे हैं कि माना कि ये दिव्यजन्मा हैं लेकिन दिव्यकर्मा तो हैं ही नहीं। यदि ऐसी विषम परिस्थिति में इन्होंने संन्यास ले लिया होता, तब तो ये भी दिव्यकर्मा बन जाते। अतः इन्होंने चाहे जैसे भी जन्म लिया हो लेकिन हैं क्षुद्रकर्मा। यदि ऐसे क्षुद्रकर्मा की छल से भी पिटाई हो तो वह भी दिव्य कर्म ही कहा जायेगा। यदि ये पितामह दिव्यजन्मा होते तो निश्चितरूप से मुझ दिव्यजन्मा को भलीभाँति जानकर दिव्यकर्मा हो ही गये होते; लेकिन ये ऐसा न कर सके, अतः दिव्यजन्मा होते हुए भी क्षुद्रजन्मा हो गये हैं।

महाराज प्रायः कहा करता है कि एक दिव्य जन्म हो रहा है– माँ के गर्भ से आपका शरीर आता है शिशु के रूप में, जिसके कर्ता–धर्ता आप नहीं हैं, अतः वह दिव्य जन्म नहीं है

क्या? प्रत्येक शिशु भूत, भविष्य, वर्तमान को जानते रहते हैं लेकिन आप उसे दिव्य नहीं समझ पाते। अतः वह दिव्यजन्मा आपके लिए क्षुद्रकर्मा बालक बन जाता है; फिर वह दिव्यजन्मा, दिव्यकर्मा नहीं होता, बल्कि मूर्खकर्मा हो जाता है। गर्ग ऋषि ने कहा– ये दिव्यजन्मा हैं यशोदा! इसलिए मैंने इनका नाम कृष्ण रखा हैं। कहीं इनको तुम सामान्य जन्मा मत मान लेना। सच में उस भगवती माँ यशोदा ने गुरुजी का कहना सिर–आँखों पर रख लिया और दिव्यजन्मा भगवान को भगवान समझने के कारण से ही उसने उस ब्रह्म से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ली। भगवद्भक्त सूरदास ने इस भगवती माँ यशोदा का चरित्र–चित्रण करते हुए एक बड़ा ही मधुर पद गाया है। इस पद के माध्यम से आप समझ जायेंगे कि उस भगवती ने सद्गुरु का कहना कितना माना। अपनी पैनीदृष्टि से भक्तिभाव से सम्पन्न सूरदास ने दिव्य दृष्टि से एक झाँकी देखी– माँ यशोदा बड़े प्यार से भगवान को पालने में सुलाना चाहती है लेकिन देखते–देखते उनके नहीं चाहने पर भी उनके भीतर से मातृता प्रकट हो जाती है। वह दिव्य वात्सल्यमयी माँ भगवान को उठाकर कभी चूमती है, चाटती है, कभी माँ बन जाती है, कभी भक्त बन जाती है, कभी आओ मेरे लाल! कह जाती है और अपनी भूल का पश्चात्ताप करके कहती है कि ना ना ना, क्षमा कर देना! आप मेरे लाल नहीं हैं, मैं ही आपकी लाली हूँ। दिव्यजन्मा के पास दिव्य वात्सल्य तो प्रकट होना ही है। कभी मन में सोचती है– हैं तो भगवान ही आप लेकिन जब बालक बनके आये हैं तो माँ तो मुझे बनना ही पड़ेगा न! ऐसा सोचकर धीरे–धीरे भगवान को पालने में लिटाकर झूले जैसा झुलाना प्रारम्भ करती है। स्वाभाविक ही माँ अपनी भाषा में एक लोरी गाती है। उस लोरी का संकेत है कि वह नींद का आवाहन करती है– हे निद्रादेवि! आओ मेरे लाल को सुला दो। कुछ देर में जब सजग होती है तो कहती है कि ना, ना, ना! कहीं ऐसा न हो कि तुम इस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को ही सुलाकर चली जाओ। वह एक नजर भगवान की तरफ देखती है और कहती है– हे प्रभु! आप मत सो जाना। निद्रादेवी को मैंने बुलाया है, वे आने ही वाली हैं। यदि आप सो गये तो ब्रह्माण्ड सो जायेगा, महाप्रलय हो जायेगा। उस प्रलय में मैं बह जाऊँगी, आप बच जायेंगे तो क्या ये आपको अच्छा लगेगा?

यशोदा हरि पालने झुलावें,
हलरावें दुलरावें जोइ सोइ सो गावें;
मोरे लाल को आऊ निदरिया, काहे न आनि सुलावे।।

झुला रही है भगवान को, सुला रही है बेटे को, यह कैसी अद्भुत झाँकी दी सूरदासजी ने। निश्चितरूप से यह उनकी कल्पना नहीं है बल्कि दर्शन है। महर्षि वाल्मीकि ने रामचरित्र को रामावतार के पूर्व ही देखकर काव्य का रूप दे दिया, उसका नाम है 'वाल्मीकीय रामायण' और भगवद्भक्त सूरदास ने कृष्णावतार के बाद अभी–अभी कुछ सौ वर्षों पूर्व भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द के सम्पूर्ण जीवनचरित्र को देखा और उसे भक्तों के हितार्थ पद की रचना करके दे दिया, जिसका नाम है– सूरसागर, सूरकवितावली, सूरपदावली आदि आदि।

यशोदा हरि पालने झुलावें, इसका पाठान्तर होना चाहिये राग–जयजयवंती में मानो वह

माँ कह रही हो–

प्रभु तोरी दासी आज सुलावे।
प्रभु तोरी चेरी आज सुलावे, प्रभु तोरी भगतिन्ह आनि सुलावे;
बुरा न मानो यह हलरावे, दुलरावे तोहे सहलावे।
मोरे लाल को आऊ निदरिया, काहे न आनि सुलावे।।

पद की प्रथम पंक्ति में जो भाव है वह पराभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्तियोग की पराकाष्ठा है। ठीक दूसरे पल में दूसरी पंक्ति– *'मेरे लाल को आऊ निदरिया, काहे न आनि सुलावे।'* यहाँ पर विवेक काम कर जाता है। भक्ति के साथ जब विवेक का योग हो जाता है, उसी को पराभक्ति, दिव्य भक्ति कहते हैं। दिव्यजन्मा के पास दिव्य भाव होंगे, दिव्यकर्मा के पास दिव्य भाव होंगे, तभी उसे दिव्य सफलता प्राप्त होगी। *'मोरे लाल को आऊ निदरिया, काहे न आनि सुलावे'*– इस मंत्र के आधे चरण में नींद का आवाहन है लेकिन जब नींद के आने में देर हो रही है तो आने में देर करने पर नींद से ही उलाहना है; किन्तु भगवद्भाव से भावित उस माँ को यह समझते देर न लगी कि नींद क्यों नहीं आ रही है। नींद तो माँ यशोदा का कहना भी नहीं टाल सकती और भगवान की इच्छा के विरुद्ध भी नहीं आ सकती। अतः झट से माँ यशोदा ने कहा– अच्छा–अच्छा! हे निद्रा देवि! आओ मेरे लाला को सुला दो। ऐसा सुनते ही नींद को रास्ता मिला और भगवान को भी विश्राम करने का अवसर मिल गया। रामानन्द ने एक दिन कहा कि दस साल साधना करना और सद्गुरु के पास दस बार रोना, मैं समझता हूँ कि बात बराबर है। मानो इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि साधक की साधना में अहंकार की दुर्गन्ध आती है लेकिन रोने में समर्पण की सम्पूर्ण झाँकी प्रकट हो जाती है। यह भाव ही दिव्य साधक का दिव्य कर्म है। भगवती देवकी को ही यह प्राप्त होना चाहिये था– भगवान की बाल्यावस्था का सुख, वह लाड़–प्यार, वह दुलार, माँ को हृदय से लगाकर चूमने–चाटने की जो दिव्य ममता का सुख प्राप्त होता है, वह भगवती देवकी को प्राप्त होना चाहिये था; लेकिन दिव्यजन्मा, दिव्य भाववाले के पास चला जाता है, दिव्यकर्मा, दिव्यकर्मा के पास चला जाता है। तो क्या भगवती देवकी से माँ यशोदा विशेष दिव्य भाववाली थी, दिव्यकर्मा थी? इसका उत्तर तो भगवान ही जानें, महाराज तो बस इतना जानता है कि यदि आप दिव्य भाववाले होते हैं, दिव्यकर्मा होते हैं तो आपके पास दिव्यजन्मा आपको उतना ही नहीं देता कि जितना आप उससे माँगते हैं; बल्कि वह तो आपको अपने–आपको ही दे देता है। माताएँ तो हररोज बालरूप भगवान को, बालिकारूप देवी को हलराती हैं, दुलराती हैं, पालने में झुलाती हैं लेकिन माँ यशोदा का दिव्य भाव उनमें कहाँ हो पाता है। दस दिन वैसा दिव्य भाव करके बाल–बच्चों के प्रति देखें कि आप दिव्य भाववाली कैसे नहीं होती हैं।

हे नचिकेत! अब तुम तीसरे वरदान को माँग सकते हो। हे प्रभु! यदि ऐसा है तो मैं ब्रह्मज्ञान ही माँगता हूँ। यमराज से दिव्य भाववाले नचिकेता ने कहा। नहीं नहीं, ऐसा मत करो! तुम बालक हो, माँगो जो पद माँगना हो माँग लो, ब्रह्मा का पद, विष्णु का पद, शिव का पद अथवा अन्य

कोई भी पद माँग लो लेकिन ब्रह्मज्ञान मत माँगो। यमराज के ऐसा कहने पर नचिकेता वहाँ उन पर बहुत हँसा, बहुत हँसा, उनकी बहुत हँसी उड़ाई। भक्त भगवान को भी पराजित कर देता है दिव्य त्याग एवं दिव्य भाव से। दिव्य भाव की बात हो रही है यहाँ यमराज जैसे दिव्यजन्मा के पास दिव्य भाव होना चाहिये। दिव्य भाव से सम्पन्न नचिकेता ने कहा– हे प्रभु! ये पद मैं कैसे माँगू? मैं तो आपके दरवाजे पर जैसे ही आया वैसे ही रात्रि के ब्रह्ममुहूर्त में ब्रह्मदेवता (ब्रह्मा जी) आये और कहा– आओ बेटे! आओ! तुम्हारा ब्रह्मलोक में स्वागत है, दूसरी रात्रि भगवान शिव आये उन्होंने शिवलोक देने की बात की तथा आज की रात्रि भगवान विष्णु आये हुए थे और उन्होंने वैकुण्ठलोक ले जाने का भरसक प्रयत्न किया; लेकिन मैंने उन तीनों देवताओं से कहा कि आप जायें! आपका स्वागत है! सर्वप्रथम मैं जिसके पास आया हूँ, उसका दर्शन करूँगा। ऐसा तुमने क्यों कहा– यमराज ने पूछा। इसलिए कि मेरे पिता ने मुझे आपको दान दिया है। दूसरी बात कि यदि वे रात्रि में आकर इन लोकों को नहीं दिये होते तो भी आपके दर्शन से ही मुझे ब्रह्माण्ड का सारा का सारा पद, सारा का सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो गया है। यह मेरे कर्मों का फल नहीं है बल्कि आपके दर्शन का फल है। अतः तीसरे वरदान के रूप में मैं तो आपसे केवल ब्रह्मज्ञान लूँगा। ऐसे दिव्य भाववाले नचिकेता पर प्रसन्न होकर यमराज ने ब्रह्मज्ञान देकर उसे सन्तुष्ट कर दिया।

इसप्रकार दिव्यजन्मा के पास कोई दिव्य भाववाला हो तो बिना माँगे उसकी सारी कामनाएँ पूरी होती हैं। दिव्यजन्मा गीताजी के प्रत्येक मंत्रों से यह स्पष्ट संकेत मिल रहा है कि चींटी भी दिव्यजन्मा है, हाथी भी दिव्यजन्मा है, सर्प, बिच्छू आदि ये सभी दिव्यजन्मा हैं, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी ये सभी दिव्यजन्मा हैं; क्योंकि ये सब ब्रह्म के ही अंग–उपांग हैं। ये सभी कहीं न कहीं भगवान के काम आ ही जाते हैं। संत तो इन सबसे शिक्षा–दीक्षा लेते रहते हैं। यही नहीं, ये सभी किसी न किसी रूप में भगवान के अंगरूप में भी विद्यमान हैं। इनमें से कोई ब्रह्म का बाण है तो कोई ब्रह्म का अन्य अस्त्र–शस्त्र, कोई ब्रह्म की भुजा है तो कोई ब्रह्म का पाँव है, कोई ब्रह्म का पेट है तो कोई ब्रह्म का मुख है। संत ब्रह्म की वाणी है तो कभी आपकी वाणी भी सन्त की वाणी बन जाती है। दिव्यजन्मा प्रभु श्रीराम मिले सुग्रीव को तो वे कह उठे–

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

दिव्य भाववाले हनुमानजी का सुग्रीव आधा ही कहना माने तो भी भौतिक राजा बन ही गये, लेकिन विभीषण जैसे आध्यात्मिक राजा नहीं बन पाये। उन्होंने तो कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि वे राजा बन जायेंगे, लेकिन दिव्यकर्मा, दिव्यजन्मा भगवान का योग मिला और राजा बन बैठे। माँ का शरीर एक ही है लेकिन बेटे के लिए वह दिव्यजन्मा है तथा पुत्र उसके लिए दिव्यकर्मा है। पिता कहता है यह मेरी धर्मपत्नी नहीं है, यह मेरी वासना है, यह भाव ही क्षुद्रजन्मा है और पुत्र उसी की गोद में जाकर दूध पीने लगता है। एक ही शरीर है माँ का जो एक के लिए दिव्यजन्मा है और दूसरे के लिए अदिव्यजन्मा है। चींटी चाहे जहाँ भी दुर्गन्ध होगी,

सुगन्ध होगी, वहाँ चली जायेगी, कुत्ता आपके पदचिन्हों को सूँघकर जहाँ आप जायेंगे वहाँ चला जायेगा। इसप्रकार सभी प्राणियों में कोई न कोई अलौकिक शक्ति देख रहे होंगे आप। अतः स्वयं को भले ही वे क्षुद्रजन्मा एवं क्षुद्रकर्मा मान लेते हैं लेकिन हैं वे दिव्यजन्मा ही। यह मानव तन भी तो दिव्यजन्मा ही है, क्योंकि कहाँ से प्रकट हुआ और कहाँ जाकर विराम लेगा आप तो जानते ही नहीं हैं। भले ही इसे आप जड़ कहते रहें लेकिन सम्पूर्ण चेतन तो वह अपने को ही मानता है।

जिस दिन से भगवान के लिए ही जीने का संकल्प ले लिया आपने उसी दिन आप दिव्यजन्मा आत्मा हो गये, जिस दिन स्वजनों से अनासक्त हो गये या संन्यास ले लिया उसी दिन आप दिव्यजन्मा हो गये, सद्गुरु के शरणागत हुए जिस दिन आप उसी दिन दिव्यजन्मा हो गये। नवधा भक्ति प्रकट हो गई आप जैसे निर्विकार भक्तों के पास, अतः आप दिव्यजन्मा हो गये। अष्टांगयोगी के रूप में दिव्यजन्मा हो गये आप या ज्ञानयोगी के रूप में दिव्यजन्मा हो गये।

नहीं, नहीं मैं आपको शिष्य नहीं बनाऊँगा; क्योंकि आपके रोम–रोम से शराब बहती है– एक संत ने ऐसा कहा। भक्त ने कहा– बाबा! जैसे ही आपके पास मेरा जन्म होगा, वैसे ही मैं दिव्यजन्मा हो जाऊँगा। डाक्टरों को कहने दें कि ये शराब छोड़ेंगे तो मर जायेंगे, अब तो जितना जीवन शेष है उसमें थोड़ी–थोड़ी लेनी ही पड़ेगी। बाबा! आप तो अपना पुत्र बनाकर देखें। संत ने उसे अपना शिष्य बनाया। सालभर के उपरान्त भी उसने शराब नहीं पीया और सदा–सर्वदा के लिए पीना ही छोड़ दिया। संत के पास वह दिव्यजन्मा हो गया। भक्ति बढ़ती गयी, बढ़ती गयी और अब तो उसके जीवन के हर पल में बाबा है।

अरे! यह दिव्यजन्मा है क्या? यह दिव्यजन्मा है क्या? परस्पर में सभी एक–दूसरे से कहने लगे। दक्षिण भारत के एक गाँव में आद्यगुरु शंकराचार्य पधारे हुए थे। एक पागल युवक संस्कृत के दिव्य स्तोत्रों द्वारा उनका स्तवन करने लगा। आद्यगुरु ने कहा गाँववालों से कि ये पागल वेश में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। ये तो गर्भ से ही सिद्ध हैं। इसप्रकार दिव्य भाववाले के पास तो कभी न कभी दिव्यजन्मा आयेगा ही आयेगा। उसी दिव्यजन्मा संत को भगवान शंकराचार्य ने अपने चार पीठों में से एक पीठ का स्वामी बना दिया।

(जन्म कर्म च मे दिव्यं.....) प्रभु ने स्वयं कहा– मेरे दिव्य जन्म तो प्रतिपल हो रहे हैं, ऐसा नहीं है कि मैं अभी प्रकट हुआ हूँ। भक्त जब चाहते हैं जहाँ चाहते हैं जिसकारण चाहते हैं तब वहाँ उसीकारण से प्रकट हो जाता हूँ और उनका खाना, कपड़ा, मकान भी मैं बनता हूँ। वे तो प्रतिपल मेरे दिव्यजन्मों को ही देख रहे हैं। स्वयं महाराज के गुरुदेव ने कहा है कि दिव्यजन्मा को प्राप्त करने के लिए दिव्य भाव ही चाहिए, उसके उपरान्त दिव्य कर्म स्वाभाविक होने ही लगते हैं। वे मस्ती से इस दिव्य भाव की प्रस्तावना गाते हैं–

जीवन में सुख सिन्धु का भाव एक आधार।
भाव रहित संसार में जीना भी बेकार।।

भाव बिना बाजार की वस्तु न मिलती मोल।
भाव बिना हरि ना मिलें भाव सहित हरि बोल।।

भाव मनुष्य को दीन बनाता भाव करे अज्ञानी।
मनुज भाव से मुक्ति पाता वेद विदित जग जानी।।

चतुर भाव ही करे मनुज को करता वह व्यभिचारी।
भाव सिखाता अनासक्ति है भाव ही करे भिखारी।।

भाव बनाता दम्भी जन को भाव करे गुणग्राही।
भाव भगत को भक्ति देता शीतलता मन चाही।।

भाव प्रेम में उन्मत्त करता भाव सिखावे नीति।
भाव भेद का मर्म जो जाने तिनहीं बाजी जीति।।

भाव मनुष्य को दिव्य बनाता भाव स्वर्ग पहुँचावे।
भाव मनुष्य से पशु बनाता भाव नरक ले जावे।।

भाव भेद से गुण भी दुर्गुण बनते पाप पहाड़।
भाव शुद्ध से निज हृदय के खुलते बन्द किवाड़।।

(मेरा लक्ष्य)

माँगें! माँगें! माँगें! क्या चाहते हैं आप? मनु महाराज मन में सोचने लगे– ओह! इन्हीं जैसा मेरा पुत्र होता तो मेरा जीवन धन्य हो जाता। एक ऐसी अवस्था आती है भक्त की, तपस्वी की कि जब वह तपस्या करता रहता है तब एक समय उसके हृदय से वात्सल्य प्रकट होता है और सम्भव है उसको प्रभु के प्रति भी मोह हो जाय, जैसे गुरु के प्रति मोह हो जाता है। महाराज कहता है कि मोह तो सद्गुरु के प्रति ही होना चाहिये, माता–पिता, भाई–बान्धवों के प्रति तो प्रेम होना चाहिये; लेकिन लोगों में उलटा ही हो गया है। मोह और प्रेम दोनों ही स्वजनों के प्रति ही हो गया और भ्रम हो गया कि हम भगवान से प्रेम करते हैं। तो दोनों को ही यानी महाराज मनु एवं देवी शतरूपा को भगवान ने पुनः चेतन किया, कहा– माँगें! माँगें! मौन क्यो हो गये आप? संकोच क्यों कर रहे हैं? लगता है माँगना चाहते थे कुछ और तथा अब चाह रहे हैं कुछ और? यदि ऐसा ही है तो कहें–कहें! संकोच न करें। उस महात्मा ने कहा– हाँ! हे प्रभु! माँगने आये थे आपको और जब दर्शन हो रहा है तो माँगने का मन कर रहा है आप जैसे पुत्र को। तो क्या हुआ? आया! मैं आया! आप चलें प्रतीक्षा करें, पुत्र बनकर ही मैं आऊँगा। इसप्रकार दिव्य भाववाले के द्वारा दिव्य कर्म, निष्काम कर्म, निष्काम जप, तप, योग स्वाभाविक होता है, भगवान उनके लिए चाहे जो कुछ भी बनने को राजी है। यह कैसी पहेली है कि दिव्य भाव में दिव्यजन्मा भगवान पुत्र बनकर दिव्य कर्म करने लगता है। धिक्कार है! धिक्कार है! जो क्षुद्रभाव से जगत में जीते हैं आप। जागें! जागें! जागें आप! और दिव्य भाव लेकर दिव्यजन्मा को अपने लिए प्रकट कर लें। आप अनन्त शक्ति–सामर्थ्यवाले हैं, आप भगवान के वरद पुत्र हैं। अपने को

क्षुद्रप्राणी क्यों समझते हैं? जब महाराज जैसा क्षुद्रकर्मा, दिव्य भाव से आपके लिए दिव्यकर्मा एवं दिव्यजन्मा हो सकता है तो आप क्यों नहीं हो सकते ऐसा? महाराज की बचपनावस्था से आपकी बचपनावस्था कहीं कम पवित्र नहीं होगी बल्कि विशेष ही होगी। हाँ आपकी जवानी से महाराज की जवानी पवित्र हो गई, वह इसलिए कि इस मूर्खराज को दिव्यजन्मा सद्गुरु मिल गया। उसके उपरान्त तो महाराज की बचपनावस्था, जवानी और वृद्धावस्था सब मिलकर एक ही दिव्यावस्था हो गई। इसलिए वह आपसे गाते हुए कहता है–

भजु निजरूपं भजु निजरूपं भजु निजरूपं दूरं दूरं।
मायातीतं मायातीतं भजु निजरूपं दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

गृहात्दूरं ग्रामात्दूरं नगरात्दूरं दूरं दूरं।
स्वजनात्दूरं परात्दूरं वर्णात्दूरं दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

कर्मात्दूरं धर्मात्दूरं शुभात्दूरं अशुभात्दूरं।
भद्रात्दूरं क्रूरात्दूरं असुरात्दूरं दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

कामात्दूरं क्रोधात्दूरं लोभात्दूरं दूरं दूरं।
रागात्द्वेषात्दूरं दूरं भयात्मोहात्दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

मंत्रात्दूरं जंत्रात्दूरं तंत्रात्दूरं दूरं दूरं।
भोगात्दूरं योगात्दूरं रोगात्दूरं दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

वेदाद्दूरं यज्ञाद्दूरं तपात्दूरं दूरं दूरं।
व्रताद्दूरं देहाद्दूरं देहाद्दूरं दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

शीताद्दूरं उष्णात्दूरं मानापमानाद् दूरं दूरं।
सुखाद्दूरं दुःखाद्दूरं महाराज भजु दूरं दूरं।।
भजु निजरूपं.....

(राग–भैरवी)

इस छन्द को संयुक्त 'त्द' गाने में परेशानी होती हो तो उसे हलन्त (त्) के साथ गायें । जैसे–

भजु निजरूपं भजु निजरूपं.....

गृहात्दूरं ग्रामात्दूरं नगरात्दूरं दूरं दूरं
स्वजनात्दूरं परात्दूरं वर्णात्दूरं दूरं दूरं
कर्मात्दूरं.....
कामात्दूरं.....
मंत्रात्दूरं.....

यहाँ दूरं दूरं का तात्पर्य संन्यासी साधकों के लिए तो कुछ और है, वह यह कि वे जगत का त्याग कर सर्वप्रथम मौनी होकर अपने स्वरूप में भलीभाँति स्थित हो जायें। उनका अपने स्वरूप में स्थित रहना ही दिव्य कर्म है तथा गृहस्थाश्रमी साधकों से कहना है कि आप सबसे अनासक्त हो जायँ और अपने स्वरूप में या भगवान के स्वरूप में आसक्त हो जायँ। जगत से मोह न हो और अपने से या भगवान से वियोग न हो, बस बिगड़ा काम बन जायेगा।

दिव्य भाव के अभाव में आपका दिव्यजन्मा जीवन क्षुद्रजन्मा जीवन बन जाता है तथा दिव्य भाव प्रकट होते ही वह पुनः दिव्यजन्मा ही हो जाता है। माँ कुन्ती के दिव्य भाव में दिव्यजन्मा देवता ही आकर उसके पास दिव्यकर्मा हो गये। यदि एक भी दिव्य पुत्र किसी माँ के गर्भ से प्रकट हो जाता है तो वह अपने दिव्य भाव एवं दिव्य कर्म के द्वारा क्षुद्रकर्मा माता–पिता का भी उद्धार कर देता है ।

(त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म.....) इसप्रकार दिव्य भाव एवं दिव्य कर्म में रमण करते–करते दिव्य परम भाव– 'मैं शरीर नहीं हूँ, किसी घर, गाँव, जाति का नहीं हूँ, बल्कि मैं तो अजन्मा शाश्वत सनातन आत्मा ही हूँ' प्रकट हो ही जाता है। इसी परम भाव में शरीर त्याग कर वह परम पावन आत्मा परमात्मरूप ही हो जाता है। दिव्य भाव से किये हुए कर्म का परिणामरूप फल क्या होता है, अब इसे देखें–

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

इस परम भाव को धारण करने मात्र से पहले भी मेरे आश्रित हुए बहुत से भक्त मेरी कृपा से राग, भय और क्रोधादि से रहित होकर मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अनुभूति को सहज में ही प्राप्त हो चुके हैं; क्योंकि यह नियम है कि जो मुझे जिस रूप में याद करता है, मैं भी उसे उसी रूप में याद करता हूँ अर्थात् मुझे सगुणरूप में याद करता हैं तो सगुणरूप में आता हूँ, निर्गुणरूप में याद करता हैं तो निर्गुणरूप में आता हूँ।

'अहं ब्रह्मास्मि' ही आपका अपना भाव है, अपना रूप है। मैं शरीर हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ,

अमुक जाति का हूँ– यह पराया भाव है अर्थात् जीवभाव है। 'मैं आत्मा हूँ'– यह ब्रह्मभाव है, परमात्मा का भाव है।

'वीतरागभयक्रोधा'– यदि आप भयभीत होते हैं तो आपके पास जीवभाव है। भीरु (डरपोक) इस ब्रह्मभाव को स्वीकार नहीं कर सकता। स्वार्थ पूरा न होने पर सदा क्रोध में रमण करनेवाला जो मृत्युमय रहता है, वह भी इस दिव्य भाव को स्वीकार नहीं कर सकता। मोह से ग्रसित मूढ़ इस परम भाव को स्वीकार नहीं कर सकता और जन्म–जन्मांतर में घोर अज्ञानरूप तप अर्थात् अशास्त्रीय तप तपनेवाला कभी भी भगवत् सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है। सुन लिया है उसने कि कठोर तप से भगवान प्राप्त होता है, अतः इस सुने हुए क्षुद्रभाव में ही जीवन–जीवन मरता रहता है लेकिन ठीक इसके विपरीत 'अहं ब्रह्मास्मि'– रूप ज्ञानतप से अर्थात् ज्ञानयोग से परम पवित्र हुए ज्ञानीजन ब्रह्मरूप होते देखे गये हैं।

हनुमानजी को आप गहरे में उतर कर देखते हैं तो उन्हें एकसाथ ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी के रूप में देखते हैं। वे लंका से आये, भगवती सीता का सन्देश सुनाया, भगवान अति गद्गद हो गये और हनुमानजी को गले लगाकर पुनः कंधे को पकड़कर उनकी आँखों में झाँककर पूछा– हे हनुमान! मैं जानना चाहता हूँ कि तुम कौन हो? हनुमानजी ने भी हाथ जोड़कर प्रभु की छवि को एकबार हृदय भरकर देखा और कहा– हे प्रभु! यदि जीवभाव से पूछते हैं, शरीरभाव से यदि आप पूछते हैं तो मैं आपका दास हूँ, मैं केवल आपका दास हूँ, मैं केवल आपका हूँ तथा आत्मभाव से पूछते हैं तो हे जगत्पते! मैं आपकी आत्मा हूँ और ज्ञानभाव से पूछते हैं तो हे शरणागत रक्षक! जो आप हैं, वही मैं हूँ। भगवान शंकर ने इस झाँकी को भगवती पार्वती के पास प्रस्तुत करते हुए कहा– हे देवि! हनुमानजी के द्वारा ऐसा सुनते ही प्रभु श्रीराम को समाधि लग गई और थोड़ा विश्राम करने के उपरान्त प्रभु ने यह घोषणा कर दी कि हे हनुमान! तुम मेरी आत्मा हो, तुम मेरी आत्मा हो।

श्रीराम प्रभु ने हनुमान जैसी आत्मा को पा लिया और उस वीतरागी को, काम, क्रोध, लोभ विजेता को सदा–सर्वदा के लिए अपनी आत्मा बना लिया। अतः महाराज भी घोषणा करता है कि आप भी वीतरागी होकर, जगत से अनासक्त होकर, जगत से अभय होकर, जगत से क्रोधरहित होकर, एकबार सद्गुरु के पास जाकर कहें कि 'हे प्रभु! मैं आपका हूँ' फिर आपको उसने स्वीकार कर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप दीक्षा से दीक्षित कर दिया तो आप देखें कि इस ज्ञानरूपी तप से कैसे नहीं आपका तन, मन, वचन पवित्र होता है। यदि थोड़ा भी आप अपने को चिन्तनशील समझते हैं, बौद्धिक समझते हैं तो ज्ञानरूपी तप से विशेष तप आपके लिए कुछ है ही नहीं। यदि आप कहते हैं कि मोह, भय, काम, क्रोध को त्याग दो तो ये कोई वस्तु तो है नहीं कि हाथ में है, जिसे फेंक दिया जाय। अरे! नहीं, नहीं, नहीं, भगवान ऐसा नहीं कह रहे हैं। आप काम, क्रोध, राग, द्वेष को फेंक तो सकते नहीं लेकिन अस्वीकार तो कर ही सकते हैं। अस्वीकार कर दिया माता–पिता, भाई–बान्धवों के द्वारा दिये हुए ज्ञान और अज्ञान को, अस्वीकार कर दिया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भाव को; बालक हूँ, जवान हूँ, वृद्ध हूँ– इस भाव को; यह मेरी धर्मपत्नी है,

ये मेरे बाल–बच्चे हैं, यह मेरा मित्र है, यह मेरा वैरी है– इस भाव को त्याग दिया, त्याग दिया। त्याग दिया इन कुभावनाओं को और स्वीकार कर लिया आत्मरूपता को, तो इसी को कहते हैं ब्रह्म के आश्रित होना और ज्ञानरूप तप को तपना।

(वीतरागभयक्रोधा.....) इस मंत्र में सर्वप्रथम कहा गया है कि रागरहित हो गये हैं आप अर्थात् मोहरहित हो गये हैं आप तो भयरहित होंगे ही होंगे। भयरहित हो गये तो काम, क्रोध, लोभरहित होंगे ही आप। सारी की सारी अज्ञानमय कहानी अपने को शरीर मानने से ही प्रारम्भ होती है। 'मैं शरीर हूँ', इस भाव में ही भय होता है कि कोई मुझे मार न दे, मेरा वैरी न मार दे, कहीं मुझे जल न मार दे, अग्नि न मार दे, कहीं मुझे भूकम्प न मार दे, कहीं मुझे गरीबी न मार दे, अमीरी न मार दे। यह भय शरीर मानने में ही व्यापक हो गया है। ऐ ढोंगी! साधु बनते हो? ऐसा सुनते ही आप आग–बबूले हो जाते हैं, इसलिए कि साधु मान बैठे हैं आप अपने को। अन्धे का अन्धा होता है– ऐसा सुनकर सच में दुर्योधन अन्धा हो गया। उसने सोचा– मेरे पिता के साथ–साथ मुझे भी अन्धा बना दिया तो मैं अन्धा ही बन जाता हूँ। ये मेरे माता–पिता, भाई–बान्धव हैं, इन्हें कोई कुछ कहके तो देखे, प्राण ले लूँगा मैं– ऐसा क्रोध बरसता रहता है। यह मेरी स्त्री है, यह कामिनी है, यह वेश्या है– इस भाव में काम बरस जाता है और यह मेरी सम्पत्ति है– इस भाव में लोभ बरस जाता है; लेकिन 'मैं आत्मा हूँ' और 'ये सारे प्राणिपदार्थ मुझ आत्मा की सगुण साकार प्रतिमूर्तियाँ' हैं– इस ज्ञानरूपी तप में निर्मोहता, अभयता, अक्रोधता तथा अकामता बरस जाती है। भगवान मानो संकेत कर रहे हैं कि भले ही आपके लिए अनशन करके शरीर सुखाना सहज हो गया है लेकिन सहज तो ज्ञानरूपी तप है, जिसमें मान्यता को त्यागना है और सद्गुरु के अनुसार 'मैं ही आत्मा हूँ' इस ज्ञान को धारण करना है। भगवान ने यहाँ एक बात और भी स्पष्ट कर दी है कि है तो ज्ञानरूपी तप बड़ा ही सरल, लेकिन जो ज्ञानरूप तप बड़ा ही सरल है आप चाहें कि अज्ञानियों के बीच यह सरल हो जायेगा, सो बात नहीं है। यह ज्ञानरूपी तप तो मेरे आश्रित हो के तपना होगा, मेरे आश्रित होकर ही तपना होगा, पराये के आश्रित तो बड़ा ही कठिन हो जायेगा।

स्वजनों के शरणागत हुए महात्मा अर्जुन को तो आप देखें कि भगवान कहे जा रहे हैं कि तुम आत्मा हो लेकिन अबतक उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। एक तरफ भगवान कह रहे हैं उनसे कि तुम आत्मा हो, दूसरी तरफ भगवान की ही सुनकर संजय कह रहे हैं धृतराष्ट्र से कि आप आत्मा हैं। एक शुभ में बँध गया है तो दूसरा अशुभ में बँध गया है, एक शील–संकोच में अपने को आत्मा नहीं मान रहा है इसलिए कि वह सोचता है कि गुरुजनों से युद्ध करना पड़ जायेगा तो दूसरा पुत्रमोह में स्वीकार नहीं कर पा रहा है कि मैं आत्मा हूँ; क्योंकि पुत्र को ही त्यागना पड़ जायेगा। आये दिन आपके साथ भी ऐसी ही घटनायें घटती रहती हैं। शील–संकोच में भी आप गुरु की आज्ञा का पालन नहीं कर पाते। माँ कुछ कहती है, गुरु कुछ कहता है, आप झंझट में पड़ जाते हैं कि किसका कहना मानूँ? माँ कहती है– तुम अपने को शरीर मानो अपनी जाति को पहचानो, घर–बार को पहचान कर रहो। गुरु कहता है कि तुम शरीर कैसे हो सकते हो, आत्मा हो, इसलिए अपनी आत्मरूपता को जानकर रहो। यदि आप अज्ञानमय तप तप रहे

हैं तो गुरुदेव से कहेंगे कि आप तो आप ही हैं गुरुदेव! आप तो ज्ञानी ही हैं। यदि आपकी बात नहीं मानूँगा तो आप मेरी विवशता को अच्छीप्रकार से पहचान जायेंगे लेकिन यदि माँ की बात नहीं मानूँ तो वह तो पागल ही हो जायेगी तो आप यह बतावें कि मैं क्या करूँ? गुरुदेव विवशतावश कह देंगे– मानो, तुम अपने को ब्राह्मण मानो, क्षत्रिय मानो, वैश्य मानो, शूद्र मानो, हिजड़ा मानो, कायर मानो; लेकिन तुम यह सब हो नहीं, हो तो तुम आत्मा ही। भगवान मानो कह रहे हैं– अरे! आत्मा मान लेने में क्या तुम्हारा शरीर छीन लिया जायेगा? उस अवस्था में तो संग्राम होगा लेकिन हनुमानजी का संग्राम होगा। क्रोध होगा लेकिन हनुमानजी का क्रोध होगा आपके पास। असुरों को सतायेंगे आप लेकिन माता–पिता को नहीं सतायेंगे। क्रोध तो रहेगा लेकिन बोध के साथ प्रकट होगा। उस क्रोध में, लोभ में ही धर्म की स्थापना होती है। धर्मपत्नी के पास, पुत्र के पास, माता–पिता, भाई–बान्धवों के पास भी क्रोध करने का अवसर आता है; लेकिन वह क्रोध, बोध के साथ आता है, बोध के साथ आता है, बोध के साथ आता है।

(बहवो ज्ञानतपसा.....) शरीर स्वस्थ है तो अष्टांगयोग का सम्पादन होता है, स्मृति स्वस्थ है तो ज्ञानयोग का सम्पादन होता है। कर्मकाण्ड का विशेष अनुष्ठान करना है तो शरीर को स्वस्थ रखना है। भाव की स्वच्छता में भक्तियोग का सम्पादन होता है, इसमें प्रेम की आवश्यकता होती है; वैसे ही ज्ञानयोग में श्रद्धा और समर्पण की तथा त्याग की आवश्यकता होती है। यदि आपसे कह दिया जाय कि तीन घण्टे बैठकर जप करें, योग करें तो सहसा आप नहीं कर पायेंगे लेकिन यदि आप बौद्धिक हैं और आपसे कह दिया जाय कि तीन घण्टे चिन्तन करें तो सुगमता से कर सकेंगे; क्योंकि ज्ञानयज्ञ में किसी नियम का महत्त्व नहीं है। वैसे ही भक्तियोग में प्रेम की आवश्यकता है; हाँ, साधना के प्रथम चरण में कुछ नियमों की बात कर दी जाती है। भगवान ने इस मंत्र में भय, क्रोध तथा मोह को त्यागने को कहा है अर्थात् अस्वीकार करने की बात की है, लेकिन काम को त्यागने की बात नहीं की। जिस काम को अभी कुछ समय पूर्व उन्होंने महाशत्रु बताया है, उसी काम के प्रति अभी मौन हैं। इसलिए कि जिसको आपने पकड़ रखा है उसे ही छोड़ सकते हैं लेकिन जिसने आपको ही पकड़ रखा है, उसे कैसे छोड़ सकते हैं। यही बात आपके और काम के बीच की है। सर्वप्रथम आपने अपने शरीर की सृष्टि के समय काम को स्वीकार किया, न कि क्रोध, मोह, लोभ और भय को। अतः वह काम नैसर्गिक सा हो गया है। माना कि सर्वप्रथम उसे आपने पकड़ा लेकिन जीवन–जीवन से फिर उसी ने आपको पकड़ रखा है; अतः जबतक मैं शरीर हूँ यह भाव आप नहीं छोड़ते तबतक काम आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। इसीलिए मानो भगवान ने कहा– कोई बात नहीं, जिसे आपने ऊपर–ऊपर पकड़ रखा है, उस क्रोध, भय एवं लोभादि को त्याग दें, उसके उपरान्त तो आपके काम का वध करना मेरा काम है। आप सबने देखा होगा– रावण और कुम्भकर्ण का वध भगवान ने किया और मेघनाद का वध जितेन्द्रिय लक्ष्मण ने किया। ऐसा क्यों? इसलिए कि रावण काम का प्रतीक है, कुम्भकरण लोभ का एवं मेघनाद क्रोध का। इसप्रकार यह स्पष्ट हो रहा है कि काम का लोभ से निकट का सम्बन्ध है। काम पूर्ति के लिए धन का होना अनिवार्य है लेकिन क्रोध की पूर्ति के लिए धन रहे न रहे, इससे कुछ लेना–देना नहीं है। आप ब्रह्मचारी के वेश में हैं, ज्ञानतप कर

रहे हैं, उस अवस्था में आप मोह, भय एवं क्रोध को चाहे तो त्याग सकते हैं; क्योंकि ये कृत्रिम हैं लेकिन आपने जब एकबार काम को अर्थात् स्त्रीभाव को ग्रहण कर लिया तो जबतक ब्रह्मभाव की सिद्धि नहीं हो जाती तबतक वह पीछा नहीं छोड़ेगा। इसलिए आप अपने–अपने अधिकारानुसार अपनी सम्पूर्ण शक्ति–सामर्थ्य लगाकर मोह, भय एवं क्रोध को त्याग दें। फिर आप देखें कि आपके काम का सद्गुरु कैसे छक्का छुड़ाता है।

आध्यात्मिक मार्ग में तो गुरु–आज्ञा ही काम करती है। इसी से भगवान कह रहे हैं कि आज्ञा तो मेरी है युद्ध करने की, इसलिए युद्ध तो मैं करूँगा, तुम क्यों शोक–सन्ताप करते हो? युद्ध करने का यदि भ्रम नहीं होता अर्जुन को तो वही ज्ञानतप कहा जाता। यह तो श्रद्धावानों का विषय है, इसमें साधना की आश्यकता नहीं होती। एक दिन चतुर्वेदीजी (बनारस) ने पूछा कि हम अपने को आत्मा कैसे मान सकते हैं? क्योंकि यदि अपने को आत्मा मान लेते हैं तो व्यवहार कैसे हो पायेगा? महाराज आपसे पूछता है कि शरीर मान लेने पर व्यवहार कैसे हो रहा है? जिन संतों के पास आप जाते हैं तो वे भी तो आत्मरूप होकर ही व्यवहार करते हैं? सीधी सी बात है कि पत्नी के पास जाते हैं तो पतिभाव हो जाता है, मित्र के पास जाते हैं तो मित्रभाव हो जाता है, पिता के पास जाते हैं तो पुत्रभाव हो जाता है, सेवक के पास जाने पर स्वामीभाव हो जाता है, वैसे ही स्वामी के पास सेवकभाव, गुरु के पास शिष्यभाव, शिष्य के पास गुरु भाव बिना प्रयत्न के स्वाभाविक ही होता है; उसीप्रकार सद्गुरु को यदि आप आत्मा समझ लेंगे तो आपके द्वारा कौन सा व्यवहार कब होना चाहिये, कैसे होना चाहिये, यह सबकुछ अपने–आप ही समझ में आयेगा। इतना ही नहीं, यदि इससे भी आगे बढ़कर सबको आत्मरूप ही समझ लेते हैं फिर तो देखेंगे कि ब्रह्मकर्म अपने–आप कैसे हो रहा है तथा जीवकर्म कैसे समाप्त हो रहा है। यहाँ कुशलता के साथ प्रभु ने कर्म को ज्ञान में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। आपके भाव को ज्ञान में प्रतिष्ठित कर दें और आपके ज्ञान को कर्म में प्रतिष्ठित कर दें, यह प्रभु का प्रयास है। कहीं न कहीं आप ज्ञानी हैं, अपने बाल–बच्चों एवं मित्रों में तो ज्ञान बघारते हैं, इसी से भगवान आपके पास ज्ञान की बात करते हैं। पाँच वर्ष के बच्चे के लिए दस वर्ष का बच्चा ज्ञानी है, आप देखें उसके ज्ञान की बात। दस वर्ष के बच्चे के लिए बीस वर्ष का बच्चा ज्ञानी है, बीस वर्ष के बच्चे के लिए तीस वर्ष का युवक ज्ञानी है, तीस वर्ष के युवक के पास पचास वर्ष का वयस्क ज्ञानी है और पचास वर्ष के व्यक्ति के पास सत्तर वर्ष का वृद्ध कहता है कि दुनियाँ देखी है मैंने, तुम तो अभी पचास साल के हुए हो, बातें क्यों बघार रहे हो? इसप्रकार कौन यहाँ ज्ञानी नहीं है, सभी एक–दूसरे के लिए ज्ञान बघारते हैं। अतः क्यों नहीं आप अपने लिए ज्ञान को बघारें– ऐसा महाराज भी कह रहा है।

संजय ने मौका पाकर धृतराष्ट्र से चुटकी ली और कहा– हे राजन्! अब प्रभु ने ज्ञानयोग की विलक्षण बात कर दी है, वे युद्ध तो करेंगे लेकिन ज्ञानयोगी भी कहे जायेंगे। अब महात्मा अर्जुन को जो कौतूहल हो गया था साधना के प्रति वह कौतूहल समाप्त सा दिखाई पड़ रहा है। वे समझ बैठे थे कि जप, तप, योग इत्यादि कर्म करने पड़ेंगे, बिना इसके शांति नहीं मिल सकती, इसलिए वे संन्यास ले रहे थे पर अब उन्हें संन्यास नहीं लेना पड़ेगा। उन्होंने स्पष्ट कह

दिया है अर्जुन से कि भय, क्रोध एवं राग को तुम त्याग सकते हो, इसलिए तुम त्याग दो और काम की चिन्ता मत करो। अतः हे राजन्! आपको जो पुत्रमोह है, जिसके चलते आप छीना–झपटी में लगे हुए हैं फिर भी कुछ चेतना नहीं आ रही है बल्कि उसके विपरीत क्रोध ही उत्पन्न हो रहा है। आपसे कठोर साधना नहीं हो सकती राजन्! इसलिए युद्ध के मैदान से ही मानो प्रभु ने संदेश भेजा है कि आप अभी भी सावधान हो जायें और इस ज्ञानयोगरूपी तप को स्वीकार कर लें। यह महति कृपा है भगवान की राजन्! कि अभी से आपको जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन स्वीकार करना न करना आपके ऊपर निर्भर करता है। (हताश धृतराष्ट्र ने मौन अवस्था को ही धारण किये रखा।)

व्यक्ति के हाथ में यदि मीठा लगा हुआ है तो स्वाभाविक है कि हाथ में मक्खियाँ लगेंगी। उसीप्रकार आत्मा ने यदि 'मैं और तू', 'मैं और मेरा' रूपी विष्ठा का अपने ऊपर लेपन स्वीकार कर लिया है तो स्वाभाविक है कि भय, क्रोध तथा आसक्तिरूपी मोह वहाँ आयेंगे ही आयेंगे। गन्दी जगह में सूअर नहीं रहेंगे तो रहेंगे कहाँ? इसलिए प्रभु ने कहा कि मेरे आश्रित होकर पहले मेरे स्वरूप को धारण करें फिर मेरे व्यवहार को स्वीकार करें। इतना करने मात्र से ही भय, क्रोध आदि वृत्तियाँ सदा–सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेंगी।

भारतवर्ष में घर–घर में साधक पाये जाते हैं किन्तु वर्तमान में उन्हें शुभ वृत्तियों ने बाँध रखा है, इसलिए वे अध्यात्म में छलांग नहीं लगा पा रहे रहे हैं। जम्बूद्वीप की इस आर्यभूमि में ऋषियों ने आध्यात्मिक यज्ञ करने का विधान बनाया है; किन्तु उनकी दिव्य संस्कृति में यह विकृति आ गई है। यहाँ तक कि आर्य–संस्कृति का मौलिक मंत्र मानो सब भूल चुके हैं कि–

ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(ईशावास्योपनिषद्)

जगत में जो भी कुछ स्थावर जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है अर्थात् जो भी कुछ है वह सब ईश्वर ही है। अतः त्याग भाव से उसे स्वीकारते हुए अपने स्वरूप में रहो। किसी के धन पर अर्थात् भगवान के धन पर स्वत्व मत जमाओ।

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते.....) जीव की दशा ऐसी ही है कि जो जिसको जितना भजता है, वह उसे उतना ही भजता है। यह अदला–बदली का व्यवहार मानो भगवान से ही चला है। यह बात तो जीव, जीव से कह सकता है, भगवान ने ऐसा क्यों कह दिया? जब माँ ही अपने पुत्र के प्रति यह घोषणा नहीं करती कि तुम जितना चाहोगे, उतना ही मैं भी चाहूँगी तब भगवान ऐसी घोषणा कैसे कर देंगे? जगत के प्राणियों में माँ ही एक ऐसी है कि भले ही उसके बाल–बच्चे उसको धक्के दें, धक्के खाकर बाहर हो जायेगी लेकिन उनको अपना मानना नहीं छोड़ेगी; हाँ, कोई कुतिया जैसी, सर्पिणी माँ हो तो अलग बात है। आप लोगों ने देखा होगा कि जब कुतिया बच्चे जनमाती है तो भूख से इतनी व्याकुल होती है कि अपने बच्चों को ही खाने लगती है। जब क्षुधा की तृप्ति हो जाती है तो जो शेष बच्चे, बचते हैं वह उन्हीं को प्यार करती

है। वैसे ही सर्पिणी अपने अण्डों को खा जाती है तथा जो अण्डे बच जाते हैं, वे ही सर्प होते हैं। अतः ऐसी करोड़ों में कोई एक राक्षसी माँ हो तो उसकी बात महाराज नहीं करता। भारतीय माँ कहती है– बेटे–बेटी मुझे मानें या न मानें, मैं तो उन्हें मानती ही रहूँगी। माँ कौसल्या एवं सुमित्रा जैसी माताएँ कहती हैं कि हम तो भगवान की प्रतिज्ञा को स्वीकार नहीं करतीं। वे प्रतिज्ञा करते रहें कि जो मुझे जितना चाहता है, मैं उसे उतना ही चाहता हूँ, जो मुझे जितना देता है, मैं उसे उतना ही देता हूँ, लेकिन हमसब ऐसा नहीं करेंगी। इसलिए भगवान ने उन माताओं को मान देने के लिए उनके गर्भ से अवतार लेना शुरू कर दिया।

फिर भगवान का हृदय माँ के हृदय से छोटा है क्या? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है बल्कि प्रभु ने तो यहाँ युद्धभूमि में हँसी की है, विनोद किया है; क्योंकि विषादी अर्जुन के मन को आन्दोलित करने के लिए कुछ इसप्रकार की तो बातें करनी ही पड़ेंगी। यदि यह बात भगवान की विनोदमय नहीं मानी जायेगी तो–

गई बहोर गरीब नेवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

अर्थात् एकबार कोई कह देता है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारा हूँ तो भगवान उसे अपना ही मान लेता है, भले ही वह भगवान को मानकर जीव को मानने लगे। प्रभु ने कहा भी है– जो मुझे एकबार याद करता है उसे मैं हजारों बार याद करता हूँ। मानसकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।।
(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

अर्थात् भगवान बिना कारण ही रीझ जाता है। सभी संतों ने यही कहा है कि उसके पास घुनाक्षरन्याय होता है। यदि ऐसा है तो भगवान यहाँ पर ऐसा क्यों कह रहे हैं कि जो मुझे जितना भजता है मैं उसे उतना ही भजता हूँ? हाँ निश्चितरूप से यहाँ भगवान ऐसी बात सकामी के लिए कह रहे हैं; क्योंकि सकामी के पास ही भगवान का अदला–बदली का व्यवहार चलता है। जितना सकामी पुरुष भगवान के नाम का जप, तप, योग करता है, उसी के अनुपात में वे उसकी कामना पूर्ति कर देते हैं। इसके विपरीत निष्कामी जब सम्पूर्ण निष्कामता के साथ समर्पित होता है तब भगवान उसके लिए सम्पूर्ण निष्कामी बन जाते हैं। निष्कामी भक्त भगवान को उन्हीं की वस्तु तन, मन, धन लौटाकर जब आत्मरूप हो जाता है तब भगवान उसके लिए अहर्निश जीने लगता है।

स्पष्ट है कि भगवान कह रहे हैं– लेने की भावना से जो मुझे देता है, उसप्रकार के सकामी के प्रति मुझमें दिव्य भाव नहीं जगता; क्योंकि वह मुझे अपने बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों से विशेष नहीं मानता। हाँ, इन सबसे मुझे जानता तो विशेष है लेकिन मोह के वशीभूत होने से विशेष मान नहीं पाता। प्रभु ने ऐसा कह करके मानो महात्मा अर्जुन को कुछ डराने का भी प्रयत्न किया है।

मानो वे कह रहे हों कि यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो मैं भी तुम्हारी बात क्यों मानूँगा, मैं भी तुम्हारा सारथित्व क्यों स्वीकार करूँगा? इतना ही नहीं, भले तुम मुझे सद्गुरु बना लो लेकिन मैं तुम्हारे शिष्यत्व को स्वीकार क्यों कर लूँगा? जब तुम अपने स्वजनों के लिए जी रहे हो तो मैं भी अपने भक्तों के लिए जीऊँगा, तुम्हारे लिए क्यों जीऊँगा। अरे! तुम भाग तो सकते नहीं, चाहे भागने का कितना भी ढोंग कर लो। उस अवस्था में मैं तुम्हारा मात्र सारथि बनकर रह जाऊँगा, तुम्हारी बुद्धि का सारथि नहीं बनूँगा। अबतक तुमने जितनी मेरी साधना की है, उसका बदला सारथि बनकर चुका दूँगा अन्यथा मेरा कहना करो और इन कौरवों को तुम उतना ही महत्त्व दो, जितना ये तुमको दे रहे हैं। जीवों के साथ जैसा व्यवहार मैं करता हूँ वैसा ही तुम इनलोगों के साथ करो। मेरे दिये हुए आँख, कान, वाणी का जो दुरुपयोग करता है, उसे मैं अन्धा, गूँगा, बहरा बना देता हूँ। उसीप्रकार इनलोगों ने तुमलोगों की सम्पत्ति का घोर दुरुपयोग किया है, अतः तुम मेरे सामर्थ्य के द्वारा इनलोगों से वह सम्पत्ति छीन लो। जब मैं नहीं था तब छल करके इनलोगों ने तुम सबको तेरह वर्षों के लिए वनवास दे दिया था अब मेरी आज्ञा है कि तुम इनलोगों को जन्म–जन्म के लिए नरकवास दे दो।

भगवान का ऐसा कहना साधकों एवं भक्तों के लिए संदेशरूप उपदेश है कि साध्वी माँ को छोड़कर अन्य स्वजनों के साथ साधक को उपरोक्त नियम ही लागू करना चाहिये कि जो उसे जिस भाव से देखता है, वह भी उसे उसी भाव से देखे; जो जिस वस्तु के लिए उसका स्मरण करता है, वह भी उसी वस्तु के लिए उसका स्मरण करे। माता–पिता, भाई–बान्धव साधक से विषय चाहते हैं तो वह भी उन्हें माता–पिता अथवा देवता क्यों समझेगा, उन्हें विषय ही क्यों न समझ ले। जो भगवान को नहीं चाहता, वह प्रतिकूलता में अपना भी त्याग कर सकता है, कुतिया एवं सर्पिणी जैसे ये अपना जीवन भी खा सकते हैं; अतः वह साधक सावधान हो जाय।

अरे! आत्मानन्द! देखो, देखो, देखो! ये कुत्ते एवं कुतिया भण्डारे से भोजन करके आये हैं और अपने बच्चों के पास उस भोजन को उल्टी कर दिया है जिसे इनके बच्चे खा रहे हैं। आत्मानन्द ने कहा– ये तो मैंने देखा ही है, कई बार। तो इसमें आश्चर्य क्या है? महाराज ने कहा कि कितनी विचित्र जीव दशा है! जब जीव मोह में होता है तब खून–पसीना एक कर देता है किन्तु प्रतिकूलता में जीवन ही ले लेता है।

आप सब भी देखते होंगे कि आप जिन पशु–पक्षियों से प्रेम करते हैं वे भी आपसे प्रेम करते हैं और जिनसे आप उदासीन रहते हैं, वे भी आपसे उदासीन रहते हैं। आप नहीं देखते कि शेर, चीते, भालू और साँप आदि हिंसक प्राणी भी अपने स्वामी से अत्यन्त प्रेम करते हैं। यह ब्रह्म का स्वभाव है जो सर्वत्र फैला हुआ है लेकिन जिज्ञासु, साधक और सिद्ध तो जबतक अपने मौलिक स्वरूप में नहीं आ जाते तबतक तो उपरोक्त व्यवहार ही करना चाहिये।

आप स्वयं विचार करें कि आप भगवान को कितना मानते हैं। आप वैसी जगह खड़े होकर देखें, जहाँ से दिखाई पड़े कि आप भगवान को कितना भजते हैं। पुत्र कहीं बिना बताये चला जाता है अथवा उसका अपहरण हो जाता है तो आप इतने विकल हो जाते हैं कि भूख–प्यास

चली जाती है, नींद चली जाती है, मूर्च्छा आते–आते स्मृति छिन्न–भिन्न हो जाती है; इसप्रकार आपकी दुर्दशा देखते बनती है। वह जबतक नहीं आ जाता, तबतक आपके नेत्रों के आँसू सूखते नहीं हैं। पति जाता है, आप विरहिणी बन जाती हैं, शोक–सन्तप्त हो जाती हैं, यहाँ तक कि जहर भी खा लेती हैं। आपकी पत्नी चली जाती है तो आप व्याकुल हो जाते हैं, उसी के गुणों का बखान करते रहते हैं और राम की दुहाई देते हैं कि राम ने भी तो यज्ञशाला में सीता की सोने की मूर्ति बनवाई थी। इसप्रकार एक–दूसरे के अभाव में जीवन दूभर हो जाता है किन्तु भगवान ने आपको छोड़ दिया है, भगवान आपसे छिप गया है तो भी उसके बिना आपका जीवन दूभर नहीं हुआ, आप शोक–सन्ताप से पीड़ित नहीं हुए? उसके अभाव में भी आप प्रेम से खाते–पीते, सोते–जागते हैं! उसे खोजना तो दूर, कभी याद भी नहीं आती कि भगवान ही मेरी आत्मा है, भगवान ही मेरा जीवन है। ओह! धिक्कार है आपके जीवन को, आपकी सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्य को, जो भगवान के अभाव में भी आपका साथ दे रहे हैं। महाराज ने खूब खोज की है कि भगवान ने आपसे ऐसा क्यों कहा कि आप जितना मुझे चाहते हैं, मैं भी आपको उतना ही चाहता हूँ। भगवान ने इसलिए भी ऐसा कहा कि आप भ्रम में न रहें कि आप भगवान को चाहते हैं और भगवान आपको चाहता है।

यह स्पष्ट हो गया कि वह सकामियों से ही कहता है कि जो मुझे जितना भजता है, मैं भी उसे उतना ही भजता हूँ। सद्गुरु (ब्रह्म) कहता ही नहीं कि जो मुझे जितना भजता है, मैं भी उसे उतना ही भजता हूँ; इसीकारण वह शिष्य के स्वभाव, प्रकृति एवं प्रारब्ध में भी हस्तक्षेप करता है। आपने सुना होगा कि सद्गुरु का अपमान कर दिया एक शिष्य ने– उज्जैनी नगरी में महाकाल के मन्दिर में बैठा हुआ शिष्य सद्गुरु के आने पर प्रणाम नहीं किया। सद्गुरु ज्ञानी थे, संत थे, महत् शीलवान थे। जैसे माँ को विचार नहीं आता बेटे के द्वारा मैला कर दिये जाने पर, वह उसे साफ–सुथरा कर देती है, वैसे ही गुरुता से सम्पन्न भगवत्ता से सम्पन्न सन्त के भीतर कोई विकार नहीं आता। अतः उसके ऊपर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया, जबकि ध्यान करने का ढोंग कर रहा था वह ताकि गुरुदेव जानें कि ध्यान लग गया है। अब भगवान शंकर से नहीं रहा गया। उन्होंने हुंकार भरते हुए ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया, कहा– अरे! अरे नीच! तेरे गुरुदेव आये. .....। अरे दम्भी! पाखण्डी! तेरे गुरुदेव आये और इस साधु पुरुष को तूने उठकर प्रणाम भी नहीं किया! ऐ अजगर की तरह बैठे रहनेवाले! जाऽऽ.....तू अजगर ही हो जा। हजारों जन्म तू भटकता रह। वाणी गूँजने लगी– अरे नीच! अरे पापी! यदि मैं दण्ड नहीं देता हूँ तो मेरी शाश्वत परम्परा की हानि होती है। इधर सद्गुरु ने भगवान शंकर के इस व्यवहार में हस्तक्षेप कर दिया। उनकी भी वाणी गूँज उठी– ठहरें प्रभु! ठहरें! नमामीशमीशान निर्वाणरूपं.....। अरे! यह कैसा आश्चर्य है, आप तो निर्वाणरूप हैं, आप तो मोक्षरूप हैं, फिर आप जैसे मोक्षरूपवाले में बन्धन कहाँ से आ गया? जो निःशोक है, उसमें शोक कहाँ से आ गया? जो बोधमय है उसमें क्रोध कहाँ से आ गया और क्यों आ गया? जिससे शांति ही बरसती रहती है, उससे अशांति क्यों बरसने लगी? ऐसा कहते हुए सद्गुरु ने ब्रह्म के कर्तव्य–अकर्तव्यों की दुहाई देकर कहा– हे प्रभु! आपको क्रोध करने का अधिकार नहीं था। यदि मैं आपसे इस विषय में क्षोभ प्रकट करता, इससे मैं अति

पीड़ित होकर आपकी पुकार करता तभी आपको आने का अधिकार था। जहाँ–जहाँ पुकार हुई है वहीं–वहीं आप आये हैं, मैंने आपको पुकारा नहीं है, अतः आप आये कैसे और आये तो वरदान की जगह शाप कैसे दे दिया? हे प्रभु! आपने अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार किया है। यह अबोध शिशु (शिष्य) चाहे जैसा है, लेकिन मेरा है। अतः अपना शाप वापस कर लें। हे नाथ! इस पर दया करें! दया करें!! दया करें!!!

महाराज ने भी जब श्रीरामचरितमानस में पढ़ा कि

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि।।
(उत्तरकाण्ड)

ब्रह्म का हृदय तो वज्र से भी कठोर है और फूल से भी कोमल है, उसके हृदय को कोई क्या जान पायेगा, अतः ऐसा देखकर सोचा कि वह कौन पुरुष है जो कभी कठोर होता ही नहीं, जिसका हृदय कभी कठोर होता ही नहीं, जिसके पास मैं अपनी वेदना को रखूँ। विचार में आया कि वह है सद्गुरु। अतः महाराज भागा भगवान को छोड़कर सद्गुरु के पास। बालक बुद्धि थी, वह क्या जाने कि निर्गुण ही सगुणरूप में सद्गुरु बना हुआ है, अतः वहाँ जाकर कहा–

दयानिधि हम पर दया करिये।
हम बालक तेरे उदर से जन्में, ऐसा न भूलो अपने मन में।
पावनहु को पावन कर दे, हम पर क्रोध न करिये।।१।।

ऐसा सुनते ही उसने स्वीकार कर लिया कि इस जीव जगत में एक माँ और एक सद्गुरु ही हैं, जो कहते हैं कि जो हमें जितना प्यार करता है हम उसे उतना ही प्यार नहीं करते।

व्यंगात्मक प्रसंग है ये, भगवान ने यह कह दिया अर्जुन से कि मेरा स्वभाव तो तुम देख ही रहे हो, अच्छा हुआ तूने मुझे सद्गुरु बना लिया। प्रथम अवस्था में सद्गुरु के रूप में देखा और द्वितीय अवस्था में दशम् अध्याय तक जाते–जाते महात्मा अर्जुन ने कहा– जिसे मैंने सद्गुरु बनाया था, वे तो साक्षात् नारायण ही हैं। बड़ी मूर्खता हुई कि अबतक मैंने इन्हें भाई के रूप में, सिद्ध महात्मा के रूप में, शक्तिमान के रूप में, द्वारकाधीश के रूप में, सामर्थ्यशाली के रूप में देखा लेकिन ये तो भगवान ही हैं। भगवान ने मन ही मन सोचा कि अच्छा हुआ कि तुमने सीधे मुझ भगवान की तरफ गमन नहीं किया और सद्गुरु रूप में देख लिया। सद्गुरु ही नहीं कहता– ये यथा मां प्रपद्यन्ते.....। विनोदी स्वभाववाले भगवान ने फिर व्यंग्य बोल दिया कि

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

जानते हो पार्थ! जो मुझे जितना भजता है, मैं भी उसको उतना ही भजता हूँ तथा यह भी पता नहीं है कि मैं कब प्रसन्न होऊँगा। मेरे इसप्रकार के स्वभाव को देखकर ही लोग डर

के मारे मेरा ध्यान, भजन छोड़कर देवी–देवताओं की उपासना करने लगते हैं, मंत्र, तंत्र, यंत्र का आवाहन करने लगते हैं।

भगवान ने अब व्यंग्यबाण मारना प्रारम्भ कर दिया है। मानो वे कह रहे हैं कि तुमने इस जीवजगत में स्वयं ही अनुभव किया है कि देवसिद्धि शीघ्रातिशीघ्र हो जाती है। स्वयं तुम्हें ही भगवान शिव, अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न करते देर न लगी, किन्तु मैं तो तुम्हारी दृष्टि में देवता भी नहीं हूँ। तुम्हारी दृष्टि में तंत्र, मंत्र, यंत्र सिद्ध कर लिया है मैंने, इसी से तुमने तांत्रिक, मांत्रिक, यांत्रिक समझकर मेरी अवहेलना कर दी है और मित्र तथा भाई मान लिया है। जब उपरोक्त देवता तुम्हारी बात मानते हैं तो तुम मेरी बात कैसे मानोगे?

विकल होते हुए शोक–सन्तप्त महात्मा अर्जुन को भगवान कभी क्षोभ से, कभी रोष से, कभी विनोद से, कभी प्यार से तो कभी दुलार से अपने स्वरूप में स्थित कर देना चाहते हैं। प्रभु, 'जब तुम मेरे सखा हो'– ऐसा स्मरण कराते हैं तो अर्जुन वर्तमान काल की मैत्री न समझ लें इसपर भी ध्यान दे रहे हैं। मानो वे तो पुरातन एवं सनातन मैत्री की तरफ संकेत कर रहे हैं। जीवात्मा और आत्मा ये दोनों एक–दूसरे के मित्र होते हैं, बर्फ और जल एक–दूसरे के मित्र होते हैं। समुद्र का ऊपरी भाग जब जम जाता है तो वह पिघलते–पिघलते कभी बर्फ की चट्टान बनकर तैरने लगता है। तैरती हुई बर्फ की चट्टान और समुद्र के जल में कोई अन्तर नहीं है, इसप्रकार वे एक–दूसरे की आत्मा हैं। भगवान ने उस अव्यय, अविनाशी मैत्री को हृदय में रखकर 'हे सखे!' सम्बोधन किया है। मानो वे कह रहे हों कि उठो पार्थ! उठो, अब देर हो रही है, गाण्डीव उठाओ!

आध्यात्मिक रणभूमि में भी मानो भगवान व्यंग्य ही कर रहे हों। यह आख्यायिका भक्तों से साधकों से कहती है कि कहीं आप भी भूल मत कर जाना, धर्मात्मा मत हो जाना, निष्कामी मत हो जाना, भक्त मत हो जाना अन्यथा भगवान की भगवत्ता आपमें आ जायेगी, भगवान का व्यवहार आपमें आ जायेगा और जैसे भगवान ने द्वारिकावासियों को क्षमा नहीं किया वैसे ही आप विषयी माता–पिता, भाई–बान्धवों के उत्पात को, हित–मित्र, सुहृदों के उत्पात को क्षमा नहीं कर पायेंगे। वहाँ पर आप विरोध कर देंगे; क्योंकि वहाँ विरोध करना ही आपका धर्म हो जायेगा। इतना आप जान लें कि जब आप अधर्मी स्वजनों से विरोध करते हैं, तभी आप भगवान की आत्मा होते हैं, भगवान के सखा होते हैं; चक्रव्यूह में फँस जाने के उपरान्त संग्राम करना ही पड़ता है। यह जगत एक चक्रव्यूह ही है। यह एक भयंकर नदी है, जिसमें काम नाम का एक भयंकर भँवर है। भँवर जानते हैं आप? नदी में वह स्थान जहाँ जल चक्राकार घूमता रहता है, वहाँ यदि नौका भी जाती है तो फँस जाती है, समुद्र में जहाँ यह स्थान होता है, वहाँ समुद्री जहाज भी फँस जाता है। इसीप्रकार काम के साथ–साथ क्रोध, राग, द्वेष, लोभ आदि भी भँवर हैं और इन्हीं भँवरों में आप फँसे हुए हैं। आप देवी–देवताओं एवं तंत्र–मंत्रों की उपासना इसलिए करते हैं कि ये सब आपको इन भँवरों से निकाल देंगे! अरे! ये सब देवता ही इसमें फँसे हुए हैं, ये क्या आपको निकालेंगे! एक बात और भी आप जान लें कि यदि कामरूपी भँवर में आप फँस

गये हैं तो देवता आपको निकालने नहीं आयेंगे क्योंकि वे तो स्वयं विषयी हैं और इस भँवरचक्र में उन्होंने ही तो फँसाया है आपको। आपने तंत्रयोग, मंत्रयोग या अष्टांगयोग सिद्धि की कामना से किया है तो वे एक–एक देवता ही तो हैं। इनके भँवरचक्र में फँस जाने के उपरान्त आपको सद्गुरु के बिना निकालेगा कौन? यद्यपि अर्जुन भी इस भँवर में फँस गये हैं लेकिन भगवान के विरुद्ध काम नहीं कर रहे हैं, अतः भगवान ही उन्हें निकालने आ गये हैं। इस भँवरचक्र में फँस जाने के उपरान्त तंत्र, मंत्र, योग, स्वाध्याय यह कुछ भी काम नहीं आता, वहाँ तो भक्तिपथ से भगवान की प्रार्थना काम आती है या आत्मचिन्तन काम आता है।

इस मंत्र का कोई यह अर्थ न लगा ले कि भगवान देवी–देवताओं एवं वैदिक मंत्रों का विरोध कर रहे हैं, बल्कि भगवान का आशय मात्र इतना ही है कि उनकी उपासना सकाम भाव से की जाती है। यही नहीं, इनकी उपासना करते–करते अपना मन एवं अपनी बुद्धि भी तंत्र अथवा मंत्रमय हो जाती है, जिसका परिणाम घातक होता है। वह यह कि उन साधकों के हृदय में भगवत् साधना अर्थात् भगवन्नाम जप, भगवद्रूप ध्यान गौण हो जाता है। महाराज स्वयं इन्दौर के एक भक्त को देख रहा है जो पच्चीस–तीस वर्षों से गायत्री मंत्र की उपासना कर रहा है। प्रत्येक नवरात्रि में इस मंत्र को सिद्ध करने का उपाय पूछता है और उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता है; जबकि आजतक वह इस मंत्र को सिद्ध नहीं कर सका है। महाराज ने एक दिन पूछा– भगवान को पाने का मन नहीं करता? उसने प्रेमपूर्वक हँसते हुए कहा– नहीं, बस यही मन करता है कि यह मंत्र सिद्ध हो जाये, इस मंत्र से ध्यान–समाधि लग जाये। महाराज जब पूछता है– तो उस ध्यान–समाधि से क्या माँगेंगे आप? तो हँसकर रह जाता है, मानो वह कहना चाहता है कि विश्वामित्र की तरह मैं भी एक स्वर्ग का निर्माण करना चाहता हूँ!

पुरातन काल से असुर एवं मनुष्य तंत्र एवं मंत्र का ही पीछा करते चले आ रहे हैं, जिनमें असुरों ने तामस तंत्रों को अपनी आत्मा बनाया तथा मनुष्यों ने राजस एवं सात्त्विक मंत्रों को अपने जीवन जीने का आधार बनाया। कभी तो तंत्रों के बल से असुरों ने मनुष्यों पर राज किया और कभी मनुष्यों ने मंत्र के बल पर असुरों पर आधिपत्य जमा लिया। वही कहानी आजतक चलती चली आ रही है। आज भी साबर तंत्र की सिद्धिवाले हजारों मिलेंगे, मंत्रसिद्धिवाले हजारों मिलेंगे, योगसिद्धिवाले पचासों मिलेंगे लेकिन भगवद्सिद्धि एवं ज्ञानसिद्धिवाले विरले मिलेंगे। भगवान मानो अर्जुन से संकेत कर रहे हैं कि इस समय तुम पाँचों भगवद्भक्त हो, भगवद्साधनावाले हो लेकिन इस युद्धभूमि में अन्य सारे के सारे लोग मांत्रिक या तांत्रिक हैं। पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य को अपने मंत्रों पर बड़ा भरोसा है, कर्ण को इस भगवान भास्कर पर और दुर्योधन को अपने तंत्रों पर बड़ा विश्वास है। इन्हीं के तंत्रों, मंत्रों पर तुम्हें भी बड़ा विश्वास हो गया है। तुम्हें उनके तंत्रों–मंत्रों के सामने महाराज युधिष्ठर के सत्य पर और अपनी जितेन्द्रियता पर अब विश्वास नहीं रह गया है; जबकि सम्पूर्ण सत्य में प्रतिष्ठित पुरुष को यदि ये सभी तांत्रिक, मांत्रिक एकसाथ आक्रमण करके मारना चाहें, तो भी वे सफल नहीं हो पायेंगे बल्कि पराजित ही हो जायेंगे। तुमने तो स्वयं देखा ही है कि विराट नगर में उत्तर जैसे सामान्य राजकुमार को सारथि बनाकर तुमने इन सभी तांत्रिकों एवं मांत्रिकों को पराजित कर दिया था।

आज वह तुम्हारा विश्वास कहाँ चला गया है?

इस मंत्र से प्रभु ने यह सिद्ध करना चाहा है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा नवधाभक्ति के नौ अंग ब्रह्मरूप ही हैं, जिनकी सिद्धि देर से होने के कारण से लोग इनकी उपासना नहीं कर पाते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इनकी सिद्धि करने चलने पर राजस एवं तामस संस्कार विघ्न डालने के लिए कमर–कसकर साधक के सामने चले आते हैं। ठीक इसके विपरीत राजस तंत्रों एवं मंत्रों की साधना करनेवाले साधकों का वे सहयोग करते हैं। स्वयं महाराज देख रहा है कि आध्यात्मिक साधकों में भी तंत्र एवं मंत्रों की तरफ अब रुझान विशेष होने लगा है। वे तंत्र–मंत्र से ही आसन सिद्ध करना चाहते हैं तथा समाधि लगाकर जनता–जनार्दन के बीच में सम्मोहन, मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि का प्रदर्शन करना चाहते हैं। निःसन्देह भक्तिपथ, ज्ञानपथ, योगपथ की निष्कामता सर्वप्रथम विषवत् प्रतीत होती है, किन्तु कालान्तर में अमृत का आधार तो वही बनती है।

अत्यन्त कुशलता के साथ भगवान ने महात्मा अर्जुन के चित्त में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया है। इतना ही नहीं, प्रभु ने यह घोषणा कर दी है कि मैं देवताओं का भी देवता और मंत्रों का भी मंत्र हूँ। ऐसा सुनकर धीरे–धीरे महात्मा अर्जुन की आँखें खुलती जा रही हैं अब और भी गोपनीय रहस्यों को खोलने के दृष्टिकोण से प्रभु ने पुनः कहा–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

हे पार्थ! गुण और कर्मों के अनुसार चारों वर्णों की रचना मेरे से ही हुई है, तो भी अव्यय, अविनाशी होने के कारण मुझ कर्ता को भी अकर्ता ही जानो। एकबात तुम जान लो कि मुझे कर्मफल की इच्छा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म नहीं बाँधते। इसप्रकार जो अपने को भी आत्मा ही समझता है, वह भी कर्मों से बँधता नहीं है। अतः पूर्व के आत्मजिज्ञासुओं ने इस रहस्य को जानकर ही कर्म किया है। वे कर्म से उदासीन नहीं हुए; अतः तुम भी पूर्व में हुए राजर्षियों के द्वारा किये जानेवाले कर्मों को करो।

हे पार्थ! द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण हैं, कर्ण की जाति का अता–पता तो है ही नहीं, अतः मैं इनलोगों के साथ युद्ध कैसे करूँगा? ऐसा सोचकर शोक–सन्ताप न करो; क्योंकि सप्तऋषियों के माध्यम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों की स्थापना मैंने

गुण एवं कर्म के द्वारा की है। यह युद्धभूमि है, इसमें वर्ण व्यवस्था की बात करोगे तो मारे जाओगे। यह तुम्हारा घर नहीं है, जहाँ इन वर्णों को जातिभाव से देखा जाता है। गुण एवं कर्म के भेद से विभाग करने के कारण से मैं वर्णकर्ता के कर्तारूप दोष से दूषित नहीं हूँ बल्कि आत्मा ही हूँ। इन चारों वर्णों का सृजन करना फिर विभाग करना तथा इनके कर्मरूपी दोष से दूषित न होना, यही तो लोगों से मेरे में विलक्षणता है। पिता ने पुत्र को जन्माया तो वह पुत्र के गुण, दोष तथा उसके कर्म से लिपायमान होता ही है, जैसे यदि पुत्र ने किसी का वध कर दिया तो उसका दण्ड माता–पिता को भी भोगना पड़ता है लेकिन मेरा उन कर्मों एवं उनके दोषों से कुछ सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिए मैं इनका कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूँ। यही रहस्य जानकर जो पूर्व में भी मुमुक्षुजन थे, उन्होंने निष्कामकर्म का त्याग नहीं किया। इसलिए तुम भी उन्ही के मार्ग का अनुसरण करते हुए मेरी आज्ञानुसार कर्म करो।

गृहस्थभूमि, वानप्रस्थभूमि, ब्रह्मचर्यभूमि (ब्रह्मचर्याश्रम) तथा संन्यासभूमि ये हैं तो चार ही, किन्तु इन्हीं में से अन्यान्य भूमियाँ प्रकट होती हैं, जैसे सामवेदीयभूमि (जहाँ संगीत आदि का आयोजन होता है.....) मल्लविद्याभूमि, क्रीड़ाभूमि इत्यादि। रहस्यात्मक विषय तो यह है कि गृहस्थाश्रम को छोड़कर अन्य किसी भी भूमि में जाति की बात नहीं की जाती है। इस न्याय से भक्तभूमि में, ब्रह्मचर्यभूमि में, संन्यासभूमि में कोई जाति नहीं होती। यदि यहाँ आप स्वजनभाव एवं गुरुजनभाव से देखेंगे तो भगवान के धर्म का विरोध हो जायेगा और जब ब्रह्मभाव से त्याग करेंगे तो स्वजन एवं गुरुजनों (पुरोहितों) के सिद्धान्त के त्याग से अर्थात् उनकी आशा के विरूद्ध चलने से होनेवाला पाप आपको स्पर्श नहीं करेगा।

इस मंत्र के द्वारा स्पष्ट हो गया कि भक्त अवर्णा (बिना जातिवाला) है, संगीतज्ञ अवर्णा, खिलाड़ी आदि अवर्णा हैं। इन अवर्णों में जो विलक्षण अवर्णा है वह है संत, वह है साधक, वह है भक्त। सन्त भगवान का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए अवर्णा है। अब थोड़ा आध्यात्मिक वर्ण व्यवस्था की बात देखें– आकाश ही ब्राह्मण है, वायु ही क्षत्रिय है, अग्नि ही वैश्य है, जल ही शूद्र है, पृथ्वी ही मूलप्रकृति अर्थात् अवर्णा है। इसी क्रम से आकाशचारी देवता ब्राह्मण हैं, अतिथि ही क्षत्रिय हैं, आपका पुरोहित ही वैश्य है, जो आपके लिए वेदमंत्रों के द्वारा यज्ञादि कर्म–धर्म का उपार्जन करता है, स्वर्गीय सुखों का साधन उपलब्ध कराता है, अतः वह पुरोहित ही आपका पेट है। आपका पिता जो आपकी सेवा करता है वही शूद्र है, आपका वही सेवक है, आपकी सेवा–शुश्रूषा के लिए ही वह जीता है। यह वर्ण व्यवस्था एक पहेली है। यह भी एक अद्भुत चक्रव्यूह है, जिससे निकलने में बहुत समय लग जाता है। पृथ्वी मूलप्रकृति है, इसका प्रतिनिधित्व माँ कर रही है, वही ब्रह्म की योनि है, जिस योनि से ब्रह्म भी कभी अवतार लेता है। इस न्याय से ब्रह्म को धारण करनेवाली माँ भी अवर्णा है।

आप देखते ही हैं कि पुत्र प्रह्लाद भक्त कहलाते हैं और पिता हिरण्यकशिपु राक्षस कहलाता है। वह पिता शूद्र है, वह एक वर्ण है जो जल का प्रतिनिधित्व कर रहा है, अतः जल ही शूद्र है। वरुण नामक जल का देवता शूद्र है। समुद्र ने स्वयं प्रभु श्रीराम से कहा था–

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

हम सब ताड़ना के अधिकारी हैं। हे राम! प्रेम से, कला से, युक्ति से, समझबूझ कर हम पर शासन करते हुए काम लिया जाता है। दरवाजे पर कुलगुरु के अतिरिक्त भी ब्रह्मचारीगण, देवगण किसी न किसी रूप में आ जाते हैं, पशु–पक्षियों के रूप में भी भगवान आते रहते हैं– इन्हीं कारणों से इन प्रतिनिधियों की बात की गई है, किन्तु ये सब बाते हैं गृहस्थाश्रम के लिए। आध्यात्मिक योद्धा के लिए तो विलक्षण परिभाषा है– जो चारों वर्णों को पहचान कर स्वधर्म में स्थित हो जाता है, वही अपने को और ब्रह्म को पहचान पाता है। आप जब पिता की बात करते हैं, स्वजन की बात करते हैं तो आपके जैसे अवर्णा साधक के मुँह से मानो दुर्गन्ध निकलती है। अरे! आप ये क्यों नहीं देखते कि आपके विपक्ष में आपके स्वजन ही चमार के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं, जो चमड़े की उपासना करता है वह चमार ही तो कहलाता है। बाल–बच्चे, भाई–बान्धव आदि चमड़े ही तो हैं, आपके दादा–परदादा शूद्र की जगह हैं। उन्हें अपने पुत्रों में, परिवार में मोह है तो फिर शूद्र ही तो कहे जायेंगे। जो कोई जिस समय जो कर्म करता है वह उसी संज्ञा से विभूषित होता है। पुरोहितवर्ग की (कुलगुरुओं की) पुरोधा तो बहुत पहले ही समाप्त हो गयी– जबसे इनलोगों ने आपके भक्तिभाव एवं साधना की हँसी उड़ाई; जबकि यह तो माता–पिता, भाई–बान्धवों को उपदेश देकर उनके मोह का निवारण कर सकते थे। आप पितरों की बात करते हैं साधकभूमि में आकर तो शोभा नहीं देता, क्योंकि उनका तो आपकी साधना से उद्धार होना चाहिये। यदि वे पितर आपके भाई–बान्धवों एवं स्वजनों का ही समर्थन करते हैं तो एकबार नहीं हजार बार करें, आपका समर्थक तो भगवान है!

हव्य से देवता एवं कव्य से पितर प्रसन्न होते हैं, किन्तु यह बात 'मानुषे लोके' (मनुष्य लोक) के लिए है; संन्यास लोके, भक्त लोके, ब्रह्मचर्य लोके अर्थात् भक्त के लिए, साधक के लिए नहीं है; 'मनुष्य लोके' का तात्पर्य है गृहस्थाश्रम में। यदि इस आश्रम में देवता प्रसन्न हो गये, पितर प्रसन्न हो गये तो क्या कर लेंगे वे प्रसन्न होकर, जब सद्गुरु ही प्रसन्न नहीं रहेगा?

खगेन्द्रानन्द के पिता (पितर) कुछ माह पूर्व शरीर छोड़कर गुरुलोक चले गये। जाते समय कह गये कि लोगों की सन्तुष्टि के लिए एकबार सांसद का चुनाव लड़ लो। महाराज से भी इनको लोगों ने माँगा। महाराज ने भी इन्हें दे दिया फिर तो वे अति व्याकुल हो गये, रोने– कलपने लगे कि गुरुदेव मैं तो गुरुलोक में आ गया था, ऐसा कौन सा अपराध किया कि आप पुनः नरकलोक में भेज रहे हैं। महाराज ने कहा– आप ही तो कहते हैं कि मरते समय पिता भी कह गये थे, अतः यह देन तो आपके पिता की है महाराज की नहीं। आप ऐसे पिता की क्यों बार–बार प्रशंसा करते हैं जो अपने तो मृत्यु के समय कहा कि मैं गुरुलोक जा रहा हूँ और बेटा जो सशरीर गुरुलोक आ गया है, उसे कह गया कि एकबार मानुषलोक में चले जाना। अच्छा! अब तो महाराज ने जो वचन दे दिया उसको वापस नहीं कर सकता तो आप ऐसा करें कि अभी गंगाजी में स्नान कर पिता को जलदान देकर यही बात कहें कि आपने किस जन्म का बदला

लिया है जो जाते–जाते इस चक्रव्यूह में फँसा गये? उसके उपरान्त माँ गंगा से कहें– हे माँ! हे देवि! यदि सच में मेरी संन्यास लेकर भगवान का भजन करने में प्रीति है, यदि मेरे में गुरुभक्ति है, यदि मेरा घर त्याग करना धर्म है तो मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो! भगवती माँ गंगा की ऐसी कृपा हुई कि इन्हीं के मित्र में भगवती माँ गंगा ने प्रेरणा कर दी और उसने कहा– यदि वे नहीं चुनाव लड़ रहे हैं तो उस सीट से मैं ही लड़ लेता हूँ। क्या कर पाये इनके पितर (पिता)? पुत्र के सत्य के सामने असत्य पिता की पराजय हो ही जाती है भले ही वह पितर बना हो या देवता बना हो।

पितर शूद्र होते हैं क्योंकि जलदान लेते हैं, कव्य लेते हैं और बदले में थोड़ा आशीर्वाद दे देते हैं, थोड़ा सुख दे देते हैं; लेकिन गुरुभक्त को क्या देंगे, भगवद्भक्त को क्या देंगे, बल्कि उसकी तपस्या की तरफ आशा लगाये रहेंगे। अतः लेने के सिवा वे देंगे क्या! कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड; ये भगवान की उपासना के तीन अंग हैं। जो शूद्र जातीय हैं, वे कर्मकाण्ड से ब्रह्म की उपासना करते हैं लेकिन वे कर्मकाण्ड से भगवान को पकड़ नहीं पाते। जो ब्राह्मण जातीय हैं, वे वेदमंत्रों से ब्रह्म की उपासना करते हैं लेकिन वेदमंत्रों से भी भगवान को पकड़ नहीं पाते, लेकिन जो क्षत्रिय हैं वे सन्त की सुरक्षा कर, उनकी आज्ञा पालन कर भगवान को प्राप्त कर राजर्षि कहे जाते हैं और जो साधक हैं, भक्त हैं, वे ज्ञान से ब्रह्म की उपासना करते हैं और आत्मा को पाकर आत्मरूप हो जाते हैं। 'मैं आत्मा हूँ' यही ज्ञान है तथा ठीक इसके विपरीत 'मैं शरीर हूँ'– यह भाव ही शूद्र है। 'मैं ब्राह्मण हूँ'– ऐसा कहते ही आप शूद्र हो जाते हैं, 'मैं क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ'– यह कहते ही आप शूद्र हो जाते हैं तथा आप अपने को 'मैं आत्मा हूँ' कहते ही आप आत्मा कहे जाते हैं। भगवान ब्राह्मण को, क्षत्रिय को, वैश्य को एवं शूद्र को नहीं मिलता बल्कि जब जिसने कहा– मैं आत्मा हूँ या मैं भगवान का हूँ तब भगवान प्राप्त हो गया। उपनिषद् भी कहता है– आत्मा ही आत्मा को प्राप्त करता है।

(चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं.....) यह सब आध्यात्मिक परिभाषा है। चार प्रकार के वर्ण हैं जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है। ग्रीवा के ऊपर का भाग मस्तिष्क, जिससे आप पुत्र को ज्ञान देते हैं, वह ब्राह्मण है; भुजाओं से बाल–बच्चों की, भक्त–सन्तों आदि की सुरक्षा करते हैं इसलिए भुजाएँ ही क्षत्रिय हैं; यह पेट ही वैश्य है जो अन्न का भण्डार कर आवश्यकतानुसार पाँव से सिर तक पहुँचाता रहता है तथा पाँव ही शूद्र है जो अपने सहित इन तीनों की सेवा करता है, यही इन तीनों का मानो स्तम्भ है। व्यावहारिक जीवन में आप इससे घृणा करते हैं, यदि आपकी यज्ञशाला की पहरेदारी यह नहीं करेगा तो क्या कुत्ता करेगा?

(गुणकर्मविभागशः.....) सन्त और भगवान किसी भी युग में गुण और कर्म के आधार पर ही प्रयाणकाल का निर्णय लेते हैं। जाति की वर्णसंकरता को लोग विशेष महत्त्व देते हैं, जबकि गुण की वर्णसंकरता और कर्म की वर्णसंकरता न हो, इसी के लिए भगवान ने सत्ययुग के तृतीय चरण में वर्ण व्यवस्था ऋषियों के माध्यम से स्थापित की। वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप है जाति व्यवस्था, जबकि वर्ण व्यवस्था कर्मकाण्डीय साधना के क्षेत्र तक ही सीमित रही। वैदिक,

यज्ञादिक तथा विवाह आदि व्यवहार में ही वर्णव्यवस्था व्याप्त थी, किन्तु आज उसमें बहुत विकृति आ गयी है। बहुधा लोग यह कहते पाये जाते हैं कि वर्ण विभाजन, वेद–पुराण, शास्त्रादि तथा ब्राह्मणों का अलाप–प्रलाप मात्र है। इन मंत्रों में इसी बात का तो भगवान के द्वारा खण्डन हुआ है। भगवान तो सर्वप्रथम गुण एवं कर्म से आध्यात्मिक साधकों को व्यवस्था देते हैं, किन्तु गृहस्थाश्रम में वर्ण, गुण और कर्म तीनों पर ध्यान देते हैं। कोई यह न भूले कि वेद, शास्त्र, पुराण एवं इनकी शाखाओं की रचना भगवान की वाणी है जो ऋषि–महर्षियों के हृदय से प्रकट हुई है। पूर्व में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्ययुग के द्वितीय चरण तक वर्ण व्यवस्था नहीं थी, किन्तु जब मनमानी प्रकृति में विकृति आयी तब भगवान ने वर्ण विभाजन करके उनके स्वधर्म का भी निर्णय कर दिया। आज भी मौलिकरूप में वर्ण विभाजन नहीं है। वर्ण विभाजन साधना की वह पृष्ठभूमि है, जिसमें आसीन होकर पिता–पुत्र, स्वामी एवं सेवक सहज साधना को स्वीकार करते हैं। यदि कोई आदर्श पुत्र अपने पिता को सम्मान देते हुए, उसके समकक्ष न बैठकर नीचे धरती पर बैठे तथा उसकी धर्मपत्नी एवं सेवक भी इसीप्रकार नीचे ही बैठे हैं तो वह पिता ब्राह्मण तो नहीं हो गया? विश्व में ऐसा कौन सा परिवार होगा, जिसमें यह व्यवस्था नहीं पायी जाती? आज भी आदर्श माताएँ अपने पति को भूल से भी अपना जूठा नहीं खाने देतीं, चाहे वे किसी भी वर्ग की हों। ग्रामीण क्षेत्रों में (भारतवर्ष में) तो आज भी यह आदर्शसंस्कृति सम्पूर्णता से जीवित है। वर्तमान में तो गुणों एवं कर्मों की संकरता हो चुकी है, इसीलिए योग, तंत्र, मंत्र की प्रधानता नहीं रह गयी है। ऐसी अवस्था में भक्ति प्रधान हो जाती है। संन्यास आश्रम में यदि सद्गुरु की अध्यक्षता है तो विशेष योग, ध्यान, ज्ञान प्रधान होता है। जो शिष्य सद्गुरु के द्वारा डंडा मारकर भगाये जाने पर भी न भागे, वह ध्यान, ज्ञान, विज्ञान का अधिकारी होता है। ठीक इसके विपरीत जो साधक, जो शिष्य (साधक) सद्गुरु की आज्ञा सम्पूर्णता से पालन नहीं कर सकता उसके लिए सद्गुरु उसके स्वभावानुसार साधन–भजन की व्यवस्था करता है, अपने स्वभाव गुण और कर्म को उनमें आरोपित नहीं करता। जो संत हैं वे गुण और कर्म से (अपवाद साधक को छोड़ करके) किसी भी विषय का विभाग करते हैं। आत्मानन्द ने पूछा था कि जो विद्वान हैं उन पर तो भगवान विशेष कृपा करेगा? महाराज ने कहा कि नहीं; क्योंकि भगवान के पास विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं है, उसके पास तो श्रद्धा और समर्पण का मूल्य है। ईशावास्योपनिषद् में ऋषियों का कहना है कि

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।।

अर्थात् जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे (अविद्यारूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं।

जो मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं, उनका उद्धार सम्भव है; क्योंकि ये कुछ भी जानते ही नहीं। इसलिए जब उन्हें भगवान को जानने की जिज्ञासा होगी, तब सद्गुरु की हर बात आँख बंद

करके मान लेंगे, किन्तु जिन्होंने बहुत सी पुस्तकों, ग्रन्थों को पढ़ लिया है, उनके द्वारा गुरु–आज्ञा पालन करना कुछ कठिन सा हो जाता है। यदि साधक साधनपथ में नहीं उतरा, प्रयोग में नहीं आया तो भौतिक विद्या बन्धन कारक होती है, उसको जानने का अहंकार हो जाता है।

(चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं.....) वर्णव्यवस्था साधना के लिए बनायी भगवान ने लेकिन यदि कोई अपने को सदा–सर्वदा के लिए एक ही जातिवाला मान ले तो वह भगवान की आत्मा हो ही नहीं सकता। चमड़े का पुजारी तो मायाचक्र तोड़ना नहीं जानता– वर्तमान में वैश्य तो खाना जानता है वह क्या मायाचक्र को तोड़ेगा; क्षत्रिय तो अहंकार में युद्ध करना जानता है, उसके लिए मायाचक्र को तोड़ना अति कठिन हो गया है। ब्राह्मण शराब पीकर वेद गा रहा है, वह इस माया का उल्लंघन कैसे कर सकता है? हाँ, वह एक पुरुष है, जो मायाचक्र का उल्लंघन करने में समर्थ होता है, वह है 'गुरुभक्त' जिसकी कोई जाति ही नहीं होती। किसी जातिवाले ने आजतक तप किया ही नहीं है; क्योंकि यदि जातिवाला तप करता है तो जाति में ही समा जाता है, भगवान में प्रवेश नहीं पाता। हाँ, जिन्होंने अपने–आपको भगवान की ही जातिवाला माना एवं जाना है, उन्हीं को आध्यात्मिक योग, जप, तप ने स्वीकार किया है। महात्मा प्रह्लाद, ध्रुव, भगवती शबरी, मीरा, सूरदास, कबीर और भी अन्यान्य संतों ने जाति–पाति की व्यवस्था से नहीं बल्कि भगवान की व्यवस्था से भगवान को प्राप्त किया है। आप सभी जानते हैं कि संन्यासी जब अज्ञात हो जाते हैं तो वे अपना भौतिक परिचय देते ही नहीं, वे यह नहीं कहते कि मैं किस जाति का हूँ, कहाँ का रहनेवाला हूँ, किस प्रदेश या गाँव का रहनेवाला हूँ; बल्कि वे कहते हैं कि मैं भगवान की जातिवाला हूँ, इसीकारण से सर्वत्र विचरता रहता हूँ। शास्त्रों, पुराणों में बहुत से ऐसे महात्मा हैं जिनके नाम, गाँव आदि का कुछ पता है ही नहीं– जो ऋषि पीपल का फल खाकर उपासना करते थे वे पिप्पलाद नाम से विख्यात हुए, जो खगवृत्ति को धारण कर खेतों से चुने हुए अन्न के दाने खाकर साधना किये वे कणाद कहलाये, जो खप्पर में खाये खपड़िया बाबा, जो हँड़िया में खाये हँड़िया बाबा कहलाये इत्यादि। इनलोगों के नाम–गाँव आदि का पता है ही नहीं। आजतक किसी जाति को भगवान नहीं मिला; क्योंकि जाति को तो देवता स्वीकार करते हैं, पितर स्वीकार करते हैं, भगवान तो एकमात्र भक्त को स्वीकार करते हैं।

प्रभु का इन मंत्रों से संकेत है कि कभी–कभार इन चारों वर्णों के कारण से आप अपने मौलिक वर्ण को भूल जाते हैं। जब आपको अपना मौलिक वर्ण याद आता है तो आप इतने प्रबल सामर्थ्यशाली हो जाते हैं कि अपने त्याग एवं वैराग्य से विषयी माता–पिता, भाई–बान्धवों को पराजित कर देते हैं। जीवन में वह क्षण कभी आता है कि जब आप एकमात्र सद्गुरु के होकर अपने बाल–बच्चों को त्याग कर प्रकृति को पराजित कर देते हैं लेकिन यदि वह क्षण सदा बना रहे तो फिर वह दिन दूर नहीं कि जिस दिन आप सदा–सर्वदा के लिए भगवान के ही हो जायें।

इतना सुनने के उपरान्त भी महात्मा अर्जुन ने चुप्पी नहीं तोड़ी। यद्यपि भगवान ने गुण और कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था की बात कहकर यह सिद्ध कर दिया कि इस युद्ध के मैदान में

द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य क्षत्रिय हैं ब्राह्मण नहीं, पितामहभीष्म एकमात्र योद्धा हैं, तुम्हारे दादा या परदादा नहीं; इसलिए तुम्हें इनलोगों के साथ युद्ध करने से कतराना नहीं चाहिये लेकिन महात्मा अर्जुन के मन में मौन प्रश्न तो खड़ा हो ही गया और वे कहते हैं कि मैं इस बात को नहीं मानता कि आपने वर्ण–व्यवस्था की होगी; क्योंकि जो कर्म करता है वह कर्म बन्धन से बँधता ही है, कर्म का फल अवश्यम्भावी है। आपने यदि कर्म किया है तो निश्चितरूप से वह कर्म ही आपके लिए बन्धनकारक हुआ है, तभी आप मुझे युद्ध के लिए ललकार रहे हैं। प्रभु ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं.....।

(न मां कर्माणि लिम्पन्ति.....) आयें अर्जुन के प्रति भगवान का मधुर आक्षेप भी देखते चलें, मानो भगवान कह रहे हैं कि मुझे कर्म नहीं बाँध सकते। तब अर्जुन ने पूछा– क्यों, आपमें ऐसी बात क्या है कि आपको कर्म नहीं बाँध सकते? प्रभु ने कहा– वह यही कि मुझे कर्म में प्रीति नहीं है। मैं अपनी इच्छा से कर्म नहीं करता। मैं दूसरे की इच्छा से खाता–पीता, सोता–जागता हूँ। जिसप्रकार तुम्हारी इच्छा से तुम्हारा सारथित्व स्वीकार किया है, उसीप्रकार भक्तों, साधकों की इच्छा से ही उनके जीवनरथ पर आसीन हो जाता हूँ। मैं महत् बुद्धिवाला भी तो हूँ, जिस बुद्धि से यह निर्णय हुआ ही नहीं कि मैं कर्मों का कर्ता हूँ, इसलिए कर्तापन का भाव आजतक मुझे स्पर्श न कर सका। भगवान ने ऐसा कहते–कहते अब भक्तों, साधकों एवं संतों को आज्ञा भी दे दी। 'वह क्या?' 'इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते'– जो इस रहस्य को जानता है, वह भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता अर्थात् कर्म उसे बाँध नहीं सकते। इतना ही नहीं–

(एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म.....) पूर्व में भी जो मुमुक्षु हुए हैं, उन्होंने भी मेरे जैसा ही उदासीन होकर कर्म किया है, कर्मफल को न चाहते हुए ही कर्म किया है; अतः उनके लिए कर्म बन्धन कारक नहीं हुआ, वे माया के चक्रव्यूह में नहीं फँसे। उन्हीं मुमुक्षुओं को तुम्हें आदर्श बनाना चाहिये; क्योंकि तुम एक मुमुक्षु भी हो। तुमने अभी कहा था कि हे माधव! मैं आपका शिष्य होता हूँ। अतः शिष्य को ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है। उपदेश देने के उपरान्त उसके पद पर उससे कर्म कराया जाता है। इस न्याय से अब तुम अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर मेरी आज्ञानुसार युद्ध करो। तुम्हारे जीवनरथ पर मैं आसीन हूँ, अतः महारथी तो मैं हूँ। कौन कहता है कि तुम महारथी हो? तुम्हारे पूर्वजों ने भी अपने गुरुजनों के अनुसार ही आत्मपद में आसीन होकर धर्मयुद्ध किया है, अतः उन्हीं का अनुसरण तुम्हें भी करना चाहिये।

अब आयें साधना की भूमि में लौट आयें– गृहस्थाश्रमी मुमुक्षुओं के आदर्श सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी हैं, जिन्होंने आत्मस्वरूप होकर समयानुसार धर्मयुद्ध किया ही है, जिसे सभी जानते हैं। राजर्षि रघु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, दशरथ, जनक, उग्रसेन, पाण्डु आदि राजर्षियों में से किसने धर्मयुद्ध नहीं किया है, सबने तो धर्मयुद्ध किया ही है, इसी से तो वे धर्मात्मा पुरुष राजर्षि कहलाये। जो राजा भी हैं और मुमुक्षु भी हैं, वे ही तो राजर्षि कहलाते हैं। भगवान जिसके पीछे खड़े हैं, आगे खड़े हैं, ऊपर–नीचे, दायें–बायें खड़े हैं, वे ही तो राजर्षि हैं, एकमात्र उन्हें पहचानना ही तो शेष है।

महाराज भी आपसे पूछता है– आप क्यों जीते हैं? आप मर क्यों नहीं जाते? मरने का तो बड़ा ही सुगम साधन है। यदि आप पाशविक जीवन, दानवी जीवन, आसुरी जीवन जी रहे हैं तो भगवान उसका विरोध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि मुमुक्षु को ही जीने का अधिकार है, जो मुमुक्षु नहीं है उसे तो मरने का ही अधिकार है। भगवान ने भीष्मपितामह जैसे पुरुष को जो एकमात्र अपने पिता के राज्य की सुरक्षा के लिए जीता है, उसे जीने नहीं दिया, एक हिजड़े से मरवा डाला। उसीप्रकार द्रोणाचार्य जैसा महारथी मरने का ही अधिकारी है, जो एकमात्र अपने बच्चे के लिए ही जीता है, जिसे भगवान ने क्षमा नहीं किया और धृष्टद्युम्न से धराशायी करा दिया। आप स्वयं से पूछें कि क्या भगवान के अनुसार आप इस पृथ्वी पर जी रहे हैं? भगवान के अनुसार तो पहले भगवान को चाहकर तब बच्चे की चाह की जाती है, भगवान को चाहकर तब धन की चाह की जाती है, भगवान को चाहकर तब पद–प्रतिष्ठा, मान–सम्मान, ऐश्वर्य की चाह की जाती है, भगवान को चाहकर तब विषयों की चाह की जाती है; उसीप्रकार पहले भगवान को चाहकर तब अष्टसिद्धियों एवं नवनिधियों की चाह की जाती है। आप स्वयं से पूछें, मुमुक्षुता की बात छोड़ दें तो क्या आप धर्म के साथ जीते हैं? इसलिए कि धर्म ही ब्रह्म है, धर्म ही आत्मा है। यदि धर्म प्रसन्न है तो ब्रह्म प्रसन्न है, ब्रह्म प्रसन्न है तो आत्मा प्रसन्न है। आप स्वयं से पूछें कि क्या कभी आप अधर्म का साथ नहीं देते? यदि नहीं तो निश्चितरूप से आपमें मुमुक्षुता है, आप उसे पहचाने और भगवान के लिए जीने लगें। भगवान के अनुसार जीना तभी माना जाता है, जब आप सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म करने लग जाते हैं।

सन् १९९१ में आत्मानन्द के पिता ने उनके छोटे भाई को भी लाकर महाराज को दे दिया और कहा कि या तो आप इसे मेरे घर के योग्य बना दें, इसका व्यवहार घर के अनुकूल कर दें और या तो आत्मानन्द की भाँति इसे साधु बना दें। महाराज ने वैसा ही किया, उनके छोटे भाई (हिम्मत) को वर्ष भर अपने साथ रखकर सम शान्त बनाकर घर भेज दिया। जगत में ऐसे पुरुष भी हैं, जो स्वयं तो धर्मात्मा हैं ही तथा चाहते हैं कि हमारे पुत्र–पुत्री भी धर्मात्मा ही हों।

एक संत की माँ उनके छोटे भाई को लेकर नित्यप्रति उनके दर्शन को जाती थी। एक दिन संत ने कहा– माँ! इसे यहाँ मत लाया करो, अन्यथा यह भी साधु बन गया तो? ऐसा सुनते ही उस साध्वी माँ की आँखें भर आयीं और उसने कहा– बेटा! मैं इतनी सौभाग्यशालिनी कहाँ हूँ कि मेरे सभी बच्चे तेरी तरह साधु बन जायें।

एक वृद्ध साधक ने पूछा कि क्या मैं भगवान के लिए मर सकता हूँ? 'क्यों नहीं मर सकते आप?' महाराज ने कहा। लेकिन अभी तो आप जीने योग्य हैं, जबतक भजन हो सके तबतक तो जीयें। हाँ, जब शरीर बिल्कुल साथ छोड़ दे, भयंकर रोग–व्याधि से जर्जर हो जाय, तब भगवान से कह दें कि प्रभु! आपके भजन बिना मैं रह नहीं सकता अतः या तो मेरे शरीर को स्वस्थ करें या तो इसे छोड़ने की प्रेरणा दें।

शास्त्रों, पुराणों आदि में प्रायश्चित स्वरूप मृत्यु का विधान बताया गया है। पाशविक जीवन जीने से तो भगवान के नाम पर मरना ही अच्छा माना जाता है। रावण ने मन में सोचा

कि ऐसी असुरता आ गई है कि मैं मर भी नहीं सकूँगा, अतः जब मारकर तारनेवाला प्रभु ही दरवाजे पर आ गया है तो अब देर कैसी? तो क्यों न उसके ही हाथ मर जाऊँ! ऐसा सोचकर उसने जो किया उसे आप सब जानते हैं। उसने उचित ही सोचा, निश्चितरूप से वह आप सब से कहीं अधिक बुद्धिमान था जो भगवान के हाथों, भगवान के लिए ही मरना चाहता था। आप सब भी तो जानते ही हैं कि गंगा में डूबकर मरनेवाला अधोगति को नहीं जाता, जबकि कहीं अन्यत्र डूबकर मरनेवाला अधोगति को चला जाता है; तो आप भी अपने विषय में विचार करें। भगवान के अनुसार तो आप मुमुक्षु होकर ही जीयें अन्यथा पृथ्वी के भार ही आप हैं, ऐसा समझ लें और कालदण्ड की प्रतीक्षा करें, वह शीघ्र ही आपकी तरफ आनेवाला है।

इतना सुनकर भी जब महात्मा अर्जुन ने कुछ भी नहीं कहा, तब भगवान ने पुनः कर्म–अकर्म की बात प्रारम्भ कर दी–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

हे पार्थ! कर्म–अकर्म क्या है, अब मैं तुम्हें इसका स्वरूप भली–प्रकार बताता हूँ, जिसे जानकर तुम अच्छीप्रकार इस मायामय अशुभ संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाओगे। जो बुद्धिमान पुरुष कर्म–अकर्म के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं, वे भी कभी–कभार कर्म–अकर्म के चक्र में फँसते देखे जाते हैं। इसलिए तुम्हारे जैसे मुमुक्षु को कर्म–अकर्म के साथ–साथ विकर्म को भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्म का स्वरूप अतिगहन है।

(किं कर्म किमकर्मेति.....) यह तो आम व्यक्ति की कहानी है कि समय पर वह बात करने में चूक जाता है, कर्म करने में चूक जाता है और बाद में कहते पाया जाता है कि मैं तो चूक गया, वहाँ ऐसी बात नहीं करनी चाहिए थी अथवा वैसा कर्म नहीं करना चाहिए था। ऐसा क्यों? इसलिए कि प्रारब्ध उसके पीछे पड़ा हुआ है, उसके तन, मन, वचन से वह कब क्या कर बैठेगा उसे वह जान ही नहीं पाता। इसी से गोस्वामीजी ने कहा है– *'भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाईं'* अर्थात् प्रारब्धवश सज्जनों से भी चूक होती रहती है। भगवान के अनुसार वह चूक, वह भूल इसीलिए होती रहती है क्योंकि वह कर्म–अकर्म और विकर्म के स्वरूप को भलीभाँति नहीं जानता। जब भगवान कहते हैं कि बुद्धिमान भी कर्म–अकर्म के स्वरूप में मोहित हो जाते हैं तो अन्य दूसरों की तो बात ही क्या है? यह तो स्पष्ट ही है कि भरी सभा में भगवती द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे पाया था। यहाँ तक कि महात्मा विदुर के ललकारने पर पितामहभीष्म ने जो उत्तर दिया वह उत्तर नहीं देने के बराबर था। स्वयं अन्तर्यामी भगवान उनके उत्तर से प्रसन्न नहीं हुए, तभी तो वे साड़ी बनकर उत्तर दे बैठे! उस समय एक ऐसे पुरुष के विषय में कुछ कहना था– जिसने कभी असत्य वाणी का, दृष्टि का, कर्म का आश्रय लिया ही

नहीं, वह है महाराज युधिष्ठिर। यदि कोई कहता है कि जब ये हार चुके हैं तो फिर द्रौपदी को दाव पर लगाने का क्या अधिकार था? तो ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने असत्य मार्ग का अनुसरण किया एवं असत्य कर्म ही किया है और उत्तर नहीं देने पर भी अपराध ही होता है, परिणाम हुआ कि एक महात्मा विदुर और दूसरा दुर्योधन का छोटा भाई विकर्ण कहते रहे कि युधिष्ठिर जैसे महापुरुष को द्रौपदी को दाव पर रखने का अधिकार नहीं था, वह कोई वस्तु नहीं थी। रही बात अर्धांगिनी होने की तो उस न्याय से भी उसे दाव पर रखने का अधिकार उन्हें नहीं था; क्योंकि वह कुछ काल के लिए अर्धांगिनी होती है, न कि सदा–सर्वदा के लिए। विवाह के पूर्व तो वह बहन ही होती है तथा मृत्यु के उपरान्त भी वह परायी हो जाती है या आत्मा ही हो जाती है। इतना ही नहीं वह वामांग होकर भी अपने मौलिक अधिकार को सुरक्षित रखती है, तभी तो चाहे जब वह भी पति से संन्यास लेने का अधिकार रखती है। महाराज युधिष्ठिर ने तो उसके मौलिक अधिकार का ही हनन कर दिया जो उनके द्वारा महा–अपराध माना गया है, जिसका दंड प्रकृति ने खूब दिया है। वह क्या? यही कि कौरवों के ही नहीं बल्कि पाण्डवों के भी बाल–बच्चे काल के गाल में समा गये। अतः भगवान ने यह कहकर महात्मा अर्जुन को सावधान करना चाहा है कि

(कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः.....) कर्म को भी सद्गुरु से ही जानना चाहिये, अकर्म तथा विकर्म को भी सद्गुरु से ही जान लेना चाहिये; क्योंकि कर्म की गति अति गहन है। जो कर्म की गहनता को लाँघ कर आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वही समयानुसार कर्म की गति को, स्वरूप को बता सकता है। विकर्म की बात भगवान ने इसलिए भी खड़ी की है, क्योंकि शास्त्र संकेत करता है उसके संकेत को सभी तो समझ सकते नहीं, अतः सद्गुरु उस संकेत को खोलकर स्पष्ट कर देता है। आपके साथ भी कोई विषम परिस्थिति आ जाये जिसका उत्तर शास्त्र–पुराण में अवश्य होगा, लेकिन आप उसे जान नहीं पायेंगे। वैसी अवस्था में सद्गुरु द्वारा दिया हुआ निर्णय काम आ जायेगा। आश्चर्य की बात तो लगभग सबके लिए है कि जिसप्रकार सभी पुरुषों का स्वरूप अलग है, वाणी अलग है, उसीप्रकार सच्ची घटनाएँ अलग–अलग घटती हैं किसी भी घटना का स्वरूप पूर्व की घटित घटनाओं के साथ ही नहीं होता। हाँ! पूर्व की घटना की छाया अवश्य रहती है। जैसे कोई अपने कुलपुरोहित को यह समझकर त्याग दे कि अर्जुन ने भी तो अपने कुलगुरु का त्याग कर दिया था तो ऐसा सोचना महामूर्खता होगी; क्योंकि यह भी देखना होगा कि आप अर्जुन हैं या नहीं तथा गुरुदेव आपके असुरों के साथ हैं या नहीं। यदि ऐसा नहीं है तो अपने साथ हुए कुछ दुर्व्यवहार को देखकर उनका त्याग नहीं कर सकते। तो क्या कर सकते हैं? इसी का उत्तर अब महात्मा अर्जुन माँग रहे हैं।

ॐ मासपारायण, आठवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, चौथा विश्राम ॐ

अर्जुन के मन में आया कि ये कर्म तथा अकर्म की बात तो कहते आ रहे हैं लेकिन विकर्म

की बात तो कर ही नहीं रहे हैं कि वह क्या है, उसका स्वरूप क्या है? अतः भगवान ने देर नहीं की, विकर्म की परिभाषा देनी प्रारम्भ कर दी–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त : कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

हे पार्थ! जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान है उसी के लिए यह निश्चितरूप से कहा जायेगा कि सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता तो वही है। अतः जिनके सम्पूर्ण कर्म निष्काम ही प्रारम्भ होते हैं तथा इसीकारण ज्ञानाग्नि के द्वारा जिनके सम्पूर्ण कर्म भस्म भी हो जाते हैं, सन्तजन उन्हें ही बुद्धिमान पुरुष कहते हैं। इसके विपरीत जो भी लोग हैं वे तो मूर्ख ही हैं।

भगवान को अर्जुन की ऐसी स्थिति को देखकर क्षोभ नहीं हो रहा है क्योंकि जब कर्म–अकर्म के निर्णय से भीष्मपितामह जैसा पुरुष भी मोहित हो सकता है तो अन्य की विसात ही क्या है? इसलिए भगवान ने कर्म–अकर्म के साथ–साथ विकर्म को भी दिया है।

महात्मा अर्जुन ही क्या, 'विकर्म' का नाम तो स्वयं महाराज ने भी गीताजी में ही देखा। यद्यपि विकर्म की परिभाषा सम्पूर्ण शास्त्रों, पुराणों में दी ही गयी है, लेकिन जिस ढंग से प्रभु ने कर्म–अकर्म से पृथक् कर उसका नाम विकर्म रखा है, यह तो देखते ही बनता है। कर्म एवं अकर्म को आप सब ने जाना, शास्त्रों, पुराणों से, लेकिन अब विकर्म को सुन रहे हैं भगवान से। भले ही आप सब ने कर्म और अकर्म के स्वरूप को सुना तथा पढ़ा है, किन्तु कर्म एवं अकर्म की आत्मा विकर्म को तो जान ही नहीं पाये हैं, जिसे भगवान कर्म एवं अकर्म का ही मंथन करके हमसब के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। जो कर्म एवं अकर्म के मध्य कड़ी का काम करता है, जो कर्म–अकर्म के मध्य खड़ा होता है, दोनों को जोड़ता है, दोनों का समन्वय करता है। जहाँ पेट समाप्त होता है, वहीं से पीठ प्रारम्भ होती है और जहाँ पीठ समाप्त होती है, वहीं से पेट प्रारंभ होता है, दोनों का केन्द्रबिन्दु नाभि है; यही प्राण है, यही मुख्य बिन्दु है। मानो प्राण ही स्थूल एवं सूक्ष्मशरीरों को परस्पर में जोड़ता है। ठीक इसीप्रकार कर्म एवं अकर्म को विकर्म जोड़ता है, जो विकर्म बिना सद्गुरु के प्राप्त नहीं होता।

महात्मा अर्जुन के कर्म–अकर्म की परिभाषा को भगवान ने खूब अच्छीप्रकार सुन लिया है (प्रथम अध्याय में भगवान नारायण से महात्मा अर्जुन ने स्थूल कर्म का अच्छीप्रकार से सांगोपांग विवेचन कर दिया है)। उन्होंने कर्म–अकर्म क्या है, इसकी व्याख्या कर दी है। उनकी व्याख्या क्या है अकर्म की? यही कि स्वजनों से युद्ध नहीं करना चाहिये। उनके कर्म का स्वरूप क्या है? हाँ, यही कि जो स्वजन नहीं हैं, उनसे युद्ध करना चाहिये अर्थात् जो महापापी हैं, जघन्य अपराधी हैं, उन पराये लोगों से ही तो युद्ध करना चाहिये लेकिन भले ही अपना पिता पापी है,

माँ पापिनी है, भाई जघन्य अपराधी है, पुत्र अशास्त्रीय है तो भी उनसे युद्ध नहीं करना चाहिये।' ऐसी तो उनके कर्म–अकर्म की परिभाषा है, यह उनकी ही परिभाषा नहीं बल्कि आप सब की भी यही परिभाषा है। तो चलें भगवान आप सब का भी समर्थन करते हैं; क्योंकि आप सब को लगता है कि यदि भगवान के लिए हमने स्वजनों का त्याग कर दिया तो उनका सर्वनाश हो जायेगा, हमारे पितर कुपित हो जायेंगे, पिण्डदान नहीं देने से हमारे पितरों का पतन हो जायेगा। क्योंकि लगता है कि वे तो आपके ही तप से जी रहे हैं, जैसे कोई पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति से ही जी रहा होता है अथवा कोई पिता अपने पुत्र की सम्पत्ति से जी रहा होता है वैसे ही आपके पितर आपके कुलधर्म से ही प्रतिष्ठित हैं, जिसका परित्याग कर देने पर उनका पतन हो जायेगा, वे नरकगामी हो जायेंगे, तो चलें भगवान इसको भी स्वीकार करते हैं। आप सबने पढ़ ही लिया है कि माता–पिता का त्याग कर देने से उनका शाप लग जाता है, अधर में लटके हुए बाल–बच्चों का त्याग कर देने से महापाप लग जाता है। तो चलें कोई बात नहीं प्रभु इसे भी स्वीकार करते हैं लेकिन इतना जान लें कि मूर्खता की भी अपनी सीमा होती है! यद्यपि धिक्कार है आपकी सोच को, आपकी परिभाषा को, क्योंकि आपका स्वजन तो कोई है ही नहीं, स्वजन तो सब भगवान के हैं।

मानो भगवान कह रहे हैं कि आपने उपजाये क्या माता–पिता, बाल–बच्चों एवं स्वजनों को जो वे आपके हो गये? इन्हें उपजाया तो मैंने है, अतः ये स्वजन तो मेरे हुए, आपको भ्रम हो गया है। कैसे भ्रम हो गया है? ऐसे कि मूर्खों के बीच में रहने से मूर्खता आ गयी, अज्ञानियों के बीच में रहने से अज्ञानता आ गयी, पाखण्डियों के बीच में रहने से पाखण्ड आ गया, पण्डितों के बीच में रहने से पाण्डित्य आ गया और उनके जैसा बकवास करने लगे। अरे! पण्डित तो उसे कहते हैं जो आत्मज्ञानी है। चाहे माँ मर रही हो, पिता मर रहा हो, चाहे भाई–बान्धव मर रहे हों, लेकिन उनके लिए शोक–सन्ताप नहीं करता। वह जानता है कि अभी तक इनसे हमारा निकट का सम्बन्ध तो था लेकिन इन्हें भगवान उपजाये हैं, अतः ये उनकी वस्तु हैं वे इन्हें लेकर जा रहे हैं, इसलिए शोक–सन्ताप की तो बात ही नहीं है; ऐसा विचार करना विकर्म है। कर्म स्वतन्त्र नहीं है तथा स्वतन्त्र अकर्म भी नहीं है। जो नहीं करना चाहिये, वह भी कभी करना पड़ जाता है और जो करना चाहिये उसे भी कभी विवशतावश नहीं करना पड़ता है। ये दोनों बातें देखी जाती हैं। स्वजनों का परित्याग तो नहीं ही करना चाहिये लेकिन भगवत्प्राप्ति की उत्कट जिज्ञासा हो गयी है, निर्मल वैराग्य हो गया है, वैसी अवस्था में इनका त्याग तो करना ही चाहिये, यही 'विकर्म' है। चाहे भले ही उनका त्याग करने से वे भूखे मरनेवाले हों या रोग अथवा किसी दुःख–दोष के कारण तड़प–तड़पकर मरनेवाले हों, लेकिन वैसी अवस्था में भी उनका त्याग करना विकर्म ही है। जब पूर्व जन्म की साधना वर्तमान जन्म में प्रकट होती है तो आपकी भूख, प्यास, नींद खा जाती है। वैसी अवस्था में आप स्वयं पागल होने की स्थिति में आ जाते हैं। एक तरफ भगवान होता है, दूसरी तरफ स्वजन। यदि आप कुलधर्म, सामाजिक धर्म की तरफ देखते हैं तो भगवान को छोड़कर अपने माता–पिता, बाल–बच्चों के बीच पागल हो जाते हैं। अतः उन्हीं स्वजनों से पूछना चाहिये कि हमारे नहीं रहने पर या पागल हो जाने पर तो आप

मात्र भूखों मरते हैं, कुछ कष्टों में घिर जाते हैं, लेकिन पागल तो नहीं होते! यदि आप पागल भी होते हैं तो कुछ महीनों, सालों के बाद होते हैं, किन्तु मैं तो आज ही पागल हो रहा हूँ। भूख और दुःख से पीड़ितावस्था में आपको मुझ पागल को भी संभालना पड़ जायेगा, वैसी अवस्था में आप सोचेंगे कि अच्छा ही था जब ये भगवान के पास जा रहा था; तो मुझे इसे जाने देना चाहिए था। इसप्रकार की सोच ही विकर्म है।

जिस वैराग्य की भूमि पर आप खड़े हैं, वहाँ से आप चाह कर भी भाग नहीं सकते। जैसे भगवान महात्मा अर्जुन के पीछे पड़ गये हैं, उसीप्रकार आपका भगवान आपका पीछा कर रहा है, वह महादाता है। आप जिज्ञासु हैं, अतः वह आपके लिए करता रहता है। उसने यदि आपको एकबार भी अपना बना लिया तो फिर आप भाग नहीं सकते। मानो भगवान कह रहे हों कि सद्गुरु के पास सोच–समझकर जाना, वहाँ जाने के पूर्व वहाँ के नीति–नियमों को, वहाँ के आचार–व्यवहार को जान लेना, कहीं उसने आपको अपना बना लिया तब आप वहाँ से भी भाग नहीं सकते। माता–पिता, बाल–बच्चे ही जब अपना मान लेते हैं तो वहाँ से आप नहीं भाग पाते हैं जबकि वह तो सगुण ब्रह्म ही है। शादी के पूर्व पहले पति के धर्म को जानना होता है, जिसे ब्राह्मणगण बताते हैं, वैसे ही उसके (सद्गुरु) पास रहने के नीति–नियमों को तो संत ही बताते हैं। इतना आप जान लें कि जभी आप संकल्परहित होते हैं, तभी आपमें विकृति आती है, तभी आप हिजड़े होते हैं, कायर होते हैं। जब बार–बार संकल्प, विकल्प रूप में बदलता रहता है, तब आप भी विकल्परूप ही हो जाते हैं। आपने प्रतिज्ञा कर ली है कि नवरात्रि के दिनों में फलाहार करूँगा लेकिन माँ ने कह दिया कि इसी समय तो बहुत विशेष काम पड़ेगा, व्रत में समस्या हो जायेगी, तो आप कहते हैं कि चलो छोड़ो! अगला व्रत कर लूँगा। लगन लगी प्रतिज्ञा कर ली आपने कि कल गुरुदेव का दर्शन करने जाऊँगा लेकिन पिता ने कह दिया कि बेटे दस दिन बाद चले जाना, अभी अमुक–अमुक काम कर लेते हैं, फिर तो जाना ही जाना है, अब चाहे जब आओ, तो शील–संकोच में आकर आप कहते हैं– ठीक है तो नहीं जाऊँगा। प्रतिज्ञा करने के पूर्व सोचना चाहिये कि यह प्रतिज्ञा पूरी करना क्या मेरे वश में है? प्रतिज्ञा तो आपके वश में तभी होगी जब आप संसार के किसी भी प्राणी के वश में नहीं होंगे! एकमात्र सद्गुरु का ही आप पर शासन होगा, तभी आप सबकी आज्ञा का उल्लंघन करके उसके पास जा सकेंगे। इसलिए आपको विकर्म को जानना होगा। माना कि आप कर्म और अकर्म को भलीभाँति जानते हैं, लेकिन आप जबतक कर्म–अकर्म की आत्मा विकर्म को नहीं जानते, तबतक कर्म को जानना भी नहीं जानने के बराबर है। जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिये, यह अकर्म है लेकिन विकर्म के बिना यह परिभाषा स्वतन्त्र नहीं है; क्योंकि किसी काल में किसी जीव की हत्या करनी पड़ जाये तो? यदि गोमाता की रक्षा में शेर को मारना पड़ जाये तो? अथवा शेर आ रहा है गाय की तरफ और आपने गाय की सुरक्षा में अपने पालतू कुत्ते को छोड़ दिया शेर की तरफ, शेर ने कुत्ते को मारा और लेकर चलता बना तो? हो सकता है कि कोई मूढ़ मानव आपको हत्यारा कहे लेकिन भगवान जानता है कि आप महापुण्यात्मा हैं, यही विकर्म है। हत्या तो करना ही नहीं चाहिये लेकिन धर्मरक्षा के लिए यदि हत्या करनी पड़े तो उसे ही विकर्म कहते हैं।

माता–पिता, बाल–बच्चों का त्याग तो करना ही नहीं चाहिये, लेकिन जब अपने को जानने की, प्रभु को जानने की उत्कट जिज्ञासा हो ही गयी तो उस अवस्था में इन सबका त्याग कर एक भगवान की शरण में चले जाना, संन्यास ले लेना, यह परम धर्म है अर्थात् विकर्म है। उस वैराग्यावस्था में यदि एक अंश भी मोह आड़े आ रहा है और वैसी अवस्था में यह सोच रहे हैं कि माता–पिता ने मुझे जन्माया, दादा–दादी ने हलराया–दुलराया तथा असमय में भाई–बान्धवों, मित्रों ने मेरा साथ दिया तथा कुलगुरुओं ने पढ़ाया–लिखाया, इन सबका तो मेरे पर बहुत बड़ा ऋण है, यदि मैं इनका उपकार नहीं मानता हूँ तो मुझे कृतघ्नता का दोष लग जायेगा, मैं कृतघ्नी कहलाऊँगा, कृतघ्नी का मरणोपरान्त मांस गिद्ध भी नहीं खाता, तो इसप्रकार की सोच ही महापाप है; क्योंकि इन स्वजनों पर तो सर्वप्रथम भगवान का ऋण है, क्योंकि इन सबको तो भगवान ने ही जन्माया। इनलोगों ने भी तो उनका ऋण नहीं चुकाया! अतः इस न्याय से तो ये स्वजन ही कृतघ्नी हैं; क्योंकि न इन्होंने प्रभु के उपकार को माना न आपको मानने दे रहे हैं, अतः इनकी तरफ न देखना ही, न सोचना ही, विकर्म कहा जाता है। यदि माता–पिता में दोष है और वह पुत्र को दिखायी दे रहा है, यदि कुलगुरु (पुरोहित) में दोष है और शिष्य को दिखाई पड़ रहा है और वहाँ पुत्र या शिष्य के द्वारा निवेदन किया जा रहा है कि आपमें यह दोष है, इसे हटायें तो ऐसी प्रार्थना करना ही विकर्म है। महात्मा प्रह्लाद ने पिता एवं गुरुजनों से स्वयं कहा था कि आप सब में जो कुछ भी थोड़ी शक्ति–सामर्थ्य है, वह आप सब की नहीं, प्रभु के होने से और प्रभु के देने से है। प्रायः लोग कहते हैं कि माता–पिता बड़े–बूढ़ों एवं भौतिक गुरुजनों में दोष देखना ही नहीं चाहिये लेकिन जब उनमें सचमुच में दोष है और दिखाई पड़ रहा है, तो क्या करें वहाँ पर? क्या मन ही मन उनसे ईर्ष्या करते रहें? क्या उनसे इस सत्य को बता देना गलत है? यदि पिता–माता के चेहरे पर दाग है तो यह कहना कि चेहरे पर दाग लग गया है– गलत है? सद्गुरु को भी शिष्य में दोष दिखाई पड़ जाता है, भगवान को भी भक्तों में दोष दिखाई पड़ जाता है और लोग कहते हैं कि माता–पिता, गुरुजनों में दोष दिखाई ही नहीं पड़ना चाहिये, यह कहाँ की बात है?

एक अवस्था आती है जब दोष, दोष जैसा नहीं दिखाई पड़ता लेकिन अशुद्ध संस्कार को दोष ही बताना पड़ता है। हाँ, महाराज जनक जैसे पिता में यदि दोष दिखाई पड़ रहा है, माँ कौसल्या, सुमित्रा जैसी माँ में यदि दोष दिखाई पड़ रहा है तो वह दोष उनमें नहीं अपने में है, उनमें दोष दीखना विकर्म नहीं अपितु अकर्म है। इसप्रकार के माता–पिता की आज्ञा पालन करना ही धर्म है तथा इनका आदर्श व्यवहार अनुकरणीय है लेकिन कैकेयी जैसी माँ में भरत जैसे पुत्र को तथा महाराज दशरथ जैसे पिता में लक्ष्मण जैसे जितेन्द्रिय पुत्र को दोष दिखाई पड़ जाय तो वह विकर्म है। कभी–कभी दोष न दिखाई पड़ना भी अधर्म हो जाता है। जैसे महात्मा अर्जुन को आचार्य द्रोण एवं पितामहभीष्म में दोष दिखाई ही नहीं पड़ रहा है तो यह विकर्म नहीं अकर्म ही है अर्थात् उनका दुर्व्यवहार दिखाई पड़ना ही चाहिए था। यह तो भगवान की महति कृपा है कि उन्होंने नवम अध्याय में कहा कि तुम दोषदृष्टि से रहित के प्रति मैं राजयोग दूँगा; लेकिन स्वयं भगवान इन आचार्यों एवं पितामहभीष्म के दोष को अर्जुन से बताते चूकते नहीं हैं। यहाँ

तक कि 'ऐसे दोषी आचार्य एवं पितामह आदि को छलपूर्वक त्याग देना चाहिए'– ऐसा प्रभु ने हुंकार भरते हुए जगत के भक्तों को सन्देशरूप उपदेश दिया है।

नामधारीजी (इन्दर सिंह नामधारी– झारखण्ड विधानसभा अध्यक्ष) अपनी पुस्तक 'बाबा अब न बसौं एहि गाँव' में लिखते हैं कि युद्धस्थल में युधिष्ठिर द्वारा 'अश्वत्थामा हतो' कहने के तुरन्त बाद ही भगवान श्रीकृष्ण के इशारे पर शंखों एवं नगाड़ों का इतना तुमुलनाद हुआ कि 'नरो वा कुंजरो' सुना ही नहीं जा सका और वाक्य के पहले अंश को सुनकर ही आचार्य के प्राण पखेरू उड़ गये। अब विचारणीय बिन्दु ये है कि क्या भगवान कृष्ण का यह कदम न्यायोचित था? यह प्रश्न प्रागैतिहासिक काल से एक यक्ष प्रश्न बना हुआ है जिसका उत्तर आज की पीढ़ी भी पूछती है।'

महाराज के अनुसार इसका उत्तर नामधारीजी के साथ–साथ भगवान ने आज की पीढ़ी को भी इसी अध्याय (चौथे अध्याय) के मंत्र १६ से १७ तक में दे दिया है। भगवान तो भविष्य द्रष्टा भी हैं न! इसलिए वे जानते थे कि मेरे अलौकिक दिव्य व्यवहार पर भी लौकिक पुरुषों द्वारा उँगली उठायी जायेगी, छीटाकशी की जायेगी। प्रश्नकर्ताओं को जान लेना चाहिये कि युधिष्ठिर के सत्य की स्थापना करनेवाले, भगवान बुद्ध के सिद्धान्त को आदि गुरु शंकराचार्य ने भारत से निष्कासित ही कर दिया। आप सबको यह भी जान लेना चाहिये कि सत्य मूल में तो एक है लेकिन व्यवहार में भिन्न–भिन्न रूपोंवाला हो जाता है। जैसे भगवान मूल में एक है लेकिन वह भस्मासुर को भस्म करने के लिए विश्वमोहिनीरूप भी धारण करता है, वह हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए नरसिंहरूप भी धारण कर लेता है। क्या नरसिंह, वराह, विश्वमोहिनी आदि रूपों में आकर असुरों को मोहित कर मार डालना असत्य नहीं है? यदि यह व्यवहार असत्य नहीं है तो भगवान का सत्यवादी युधिष्ठिर से अश्वत्थामा मारा गया, ऐसा कहने के लिए बाध्य करना भी असत्य नहीं है बल्कि वैसी परिस्थिति में छल न करना, झूठ न बोलना ही तो असत्य है तभी तो विकर्म की परिभाषा पूरी होगी! मायावी को माया से मारा जाता है, छली एवं कपटी को छल–कपट से मारा जाता है, चोर को चोर की तरह होकर भी मारा जाता है इसमें हानि क्या है? यह आप सबको नहीं भूलना चाहिये कि युद्ध की नीति बनाते समय भगवान श्रीकृष्ण ने पितामहभीष्म से कहा था कि जब आपकी तरफ से इस युद्ध में छल–कपट प्रारम्भ हो जायेगा तो पाण्डव भी छल–कपट का आश्रय लेने के लिए बाध्य हो जायेंगे। भगवान द्वारा की गई इस घोषणा को पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य एवं अन्याय कौरवों ने सहर्ष स्वीकार किया था।

आश्चर्य की बात तो तब है जब सभी जानते हैं कि प्रभु की सम्पूर्ण लीला छल से युक्त है तो भी गोकुल में कंस के द्वारा भेजे गये सम्पूर्ण असुरों को छल से धराशायी करा डालना, कालयवन को छल से मुचुकुन्द ऋषि से भस्म करा देना, जरासन्ध को छल से भीम के द्वारा मरवा डालना, दुर्योधन को छल से 'माँ के पास तुम्हारे जैसे प्रौढ़ पुत्र को निर्वस्त्र नहीं जाना चाहिये' ऐसा उपदेश करना, छल से भैया बलराम को युद्ध से बाहर रखना, छल से शल्य के द्वारा कर्ण को व्यंगबाणों से आहत कराते रहना और फिर छल से ही पितामहभीष्म और

आचार्यद्रोण, कर्ण एवं दुर्योधन का वध करा देना, तो भी भगवान का किसी के द्वारा बाल–बाँका न होना, यह सिद्ध करता है कि उनके सम्पूर्ण व्यवहारों में एक भी ऐसा व्यवहार नहीं है जो धर्मसंगत न हो। इसी से भगवान कहते हैं– (कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं.....) अर्थात् कर्म–अकर्म के साथ–साथ विकर्म को भी जानना चाहिए। असत्य कब कहाँ, किस पात्र के पास सत्य कहलाता है यह भी जानना चाहिये, वैसे ही अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य भी कब, कहाँ, किन–किन पात्रों के पास हिंसा, स्तेय, परिग्रह तथा अब्रह्मचर्य हो जाते हैं, इसे भी जानना चाहिए। इसे जानना ही विकर्म कहा जाता है। जो कर्म–अकर्म को जानता है लेकिन विकर्म को नहीं जानता, वह भगवद्भक्त हो ही नहीं सकता; क्योंकि बिना विकर्म को जाने माया अर्थात् प्रारब्ध का उल्लंघन किया ही नहीं जा सकता है। गृहस्थाश्रम में आये दिन पिता, माता एवं बड़े–बूढ़ों से तथा बाल–बच्चों तथा स्वजनों से युद्ध का अवसर आता रहता है। यदि विकर्म का बोध न हो तो अपना मौलिक अधिकार सभी के द्वारा छीन लिया जायेगा, जिसका परिणाम होगा कि मौलिक अधिकार छिनते ही व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाता। गोस्वामीजी ने भी स्पष्ट कहा है–

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज–बनितन्हि भये मुद मंगलकारी।।
(विनयपत्रिका)

इस पद में जो–जो भी पात्र हैं उन्होंने तो आप सब की दृष्टि में सत्य ही किया है। यदि सत्य ही किया है तो भगवान का युधिष्ठिर से अश्वत्थामा मारा गया ऐसा असत्य कहने के लिए बाध्य करना सत्य ही है। भगवान जो कहता है वही सत्य है, भगवान जो करता है वही सत्य है, भगवान जो व्यवहार करता है वही सत्य है, इस न्याय से भी वह असत्य नहीं बल्कि सत्य ही है। कहा भी है–

नामाऽपिते च मधुरं मधुरं स्वरूपं, कर्माऽपिते च मधुरं मधुरा स्मृतिश्च।
बुद्धिं प्रबोधय प्रभो मधुबोधशक्तिं, भक्तिं प्रयच्छ परमां परिभावयामि।।

इस छन्द के द्वारा सम्पूर्ण मधुर अर्थात् सत्य ब्रह्म से असत्य व्यवहार हो ही नहीं सकता। लोग तो उस समय भी कराह उठते हैं, जब द्रोणाचार्य ने एकलव्य से गुरुदक्षिणा में उसके दायें हाथ का अँगूठा ही माँग लिया था जबकि वहाँ उन्होंने उसे चोरी करने का दण्ड दिया था। वह चोरी से उनकी धनुर्विद्या देखता था फिर उनकी मूर्ति के सामने अभ्यास करता था, जिसका उल्लेख इसी भाष्य में विस्तार पूर्वक किया गया है। लोग तो उस समय भी हृदय को थाम लेते हैं, जब द्रोणाचार्य के सेनापतित्व काल में स्वयं आचार्यद्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, दुःशासन, दुर्योधन, कृपाचार्य आदि महारथियों ने अभिमन्यु को एकसाथ छल करके मार डाला था। यदि इसप्रकार के छली सेनापति का छल से ही वध किया या कराया जाये तो वह अधर्म कैसे है? सच तो यह है कि युधिष्ठिर को बिना भगवान के कहे ही स्वयं से इस विकर्म को स्वीकार करना

चाहिए था कि अश्वत्थामा मारा गया। यदि नामधारीजी या कोई अन्य व्यक्ति कहता है कि इस एक असत्य के कारण से सत्यवादी युधिष्ठिर के पैर का अँगूठा गल गया तो यह कम ही दण्ड मिला। अरे! उनका तो पूरा पैर ही गल जाना चाहिये था, उनकी तो वाणी ही गल जानी चाहिए थी; क्योंकि उन्होंने अश्वत्थामा मारा गया, ऐसा कहने में बहुत देर कर दी थी। यही नहीं, जब बोला तो यह जानते हुए कि अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया है तो भी 'नरो वा कुंजरो' कह दिया। एक तरफ तो महाराज युधिष्ठिर भगवान को साक्षात् भगवान के रूप में भी देखते हैं और दूसरी तरफ अर्जुन की तरह ही कहते हैं कि झूठ बोलना तो पाप है माधव! पाप है! फिर तो उनकी दृष्टि में भगवान झूठे हैं? छिः! धिक्कार है उस सत्य को जो कि भगवान में असत्य देखता है, धिक्कार है उस सत्यवादी को जो शिशुपाल की तरह ही भगवान को युद्ध के मैदान में असत्य सिद्ध करना चाहता है लेकिन असत्य सिद्ध न कर सका बल्कि स्वयं असत्य सिद्ध हो गया। 'नरो वा कुंजरो', 'नरो वा कुंजरो', 'नरो वा कुंजरो.....' कहकर अपने को सत्यवादी सिद्ध करनेवाला ऐसा सत्यवादी कैसा जो किसी के दबाव में आकर असत्य बोल दे। यह भी जान लेना चाहिये कि जो विकर्म को नहीं जानता, उसका सत्य कभी न कभी असत्य होकर रहेगा, उसकी अहिंसा, कभी न कभी हिंसारूप होकर रहेगी। हिरण्यकशिपु के दबाव में प्रह्लाद ने तो असत्य स्वीकार नहीं किया, जबकि उसने उनका वध करने के लिए क्या–क्या प्रयत्न नहीं किया? भक्त प्रह्लाद एक असत्यवादी पिता के कहने से दबाव में आकर असत्य नहीं बोलते लेकिन महाराज युधिष्ठिर भगवान के दबाव में आकर असत्य बोल दें तो यह कहाँ की बात सिद्ध होती है? उनसे विशेष सत्यवादी तो महात्मा अर्जुन निकले, जिन्होंने स्वजनों से युद्ध करना भी महापुण्य है, ऐसा भगवान से जब सिद्ध करा लिया तब युद्ध किया और उस महापुरुष का सम्पूर्ण प्रश्न आज मानवमात्र की आत्मा बना हुआ है। यदि भगवान असत्य थे तो अर्जुन की तरह युधिष्ठिर नट क्यों नहीं गये? कम से कम नट गये होते कि 'अश्वत्थामा मारा गया', यह कहना सत्य कैसे है? तो इसके लिए भगवान विस्तार से बताते, जो गीताजी का ही दूसरा भाग कहलाता लेकिन वह तो सर्वथा सत्य ही था क्योंकि श्रीरामचरितमानस में स्पष्ट कहा गया है कि चौदह पुरुष मरे हुए की गिनती में आते हैं–

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।।
सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी।।
तनु पोषक निंदक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी।।
(लंकाकाण्ड)

अतः भगवान ने बहुत सूक्ष्म दृष्टि से कहा था कि अश्वत्थामा मारा गया। कह दें महाराज! कह दें आचार्य से कि हे आचार्य! जिस पुत्रमोह में आकर आप अपने ब्राह्मण धर्म को भूलकर, आचार्य धर्म को भूलकर हमारे जैसे अपने चरणों के अनुरागी शिष्यों से युद्ध कर रहे हैं, वह अश्वत्थामा तो मर ही गया है फिर आप किसे सन्तुष्ट करने के लिए युद्ध कर रहे हैं। नहीं, नहीं ऐसे मरे हुए पुत्र से आप मोह न करें और युद्ध का परित्याग कर लौट जायें।

यहाँ तक थोड़े में ही आप सब का तथा नामधारीजी का उत्तर दिया गया, जिसपर पुनः–पुनः भलीभाँति चिन्तन कर, विचार कर युधिष्ठिर के सत्य को नहीं बल्कि भगवान के सत्य को स्वीकार करें। भगवान बुद्ध एवं युधिष्ठिर का सत्य जो गृहस्थाश्रम के लिए कभी–कभी असत्य है, उसे स्वीकार करने से ही आज सदियों से यह आर्यभूमि अनार्यों की भूमि सी प्रतीत हो रही है। आज तथाकथित युधिष्ठिर घर–घर में सत्य की दुहाई देते फिर रहे हैं लेकिन वे भगवान श्रीराम को भी बाली के वध को लेकर, शंबूक नामक तपस्वी के वध को लेकर, भगवती सीता के वनवास को लेकर कटघरे में खड़ा करने से चूकते नहीं हैं। जबकि कभी किसी काल में भी प्रभु द्वारा किया हुआ वह कृत्य निन्दनीय नहीं है, जिसका समाधान इसी गीताभाष्य में जगह–जगह पर किया गया है। आप सभी को इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए या तो सांगोपांग महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों को स्वाध्याय के रूप में पढ़ना चाहिये या आप्तकाम संतों से सत्संग द्वारा समाधान करा लेना चाहिये।

(कर्मण्यकर्म यः पश्येद्.....) अब इस मंत्र के द्वारा हमसब युद्ध के मैदान में चलकर यह देखें कि भगवान अपने परम प्रिय शिष्य से क्या कहना चाहते हैं। प्रभु कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम कर्म और अकर्म के स्वरूप को भलीभाँति जानते हो, अतः विकर्म को भी भलीभाँति जान लो। माँ कुन्ती तो विकर्म को भी भलीभाँति जानती है इसी से तो उसने स्वयं मुझसे भी कहा कि हे माधव! इन पाँचों (पाण्डवों) को तो आप जन्माये हैं, अतः आप यह ध्यान देना कि ये स्वजनों, गुरुजनों तथा पितामहों को विपक्ष में खड़े देखकर कहीं मोह या शील–संकोचवश युद्ध से भाग न खड़े हों। हे पार्थ! तुम पितामह और गुरुजनों का उपकार मान रहे हो! क्या ये लोग नहीं रहते तो तुमलोगों को अस्त्र–शस्त्र की विद्या नहीं मिलती? अभिमन्यु को तो अस्त्र–शस्त्र की विद्या मैंने ही दी है, तो क्या तुमलोगों को नहीं दे सकता था? क्या उपकार कर दिया इनलोगों ने तुम्हारा। रोटी–पानी तो ये हस्तिनापुर से पाते थे, अतः शिक्षा–दीक्षा देना इनका परम कर्तव्य हो जाता है। अरे! तुम इनके उपकार को तो पैनी दृष्टि से देखो जो अपकार का भी अपकार है। इनलोगों ने एक ऐसे साम्राज्य का गठन किया जिसका राजा महामूर्ख, महादुष्ट एवं महापापाचारी, दुरात्मा दुर्योधन है। अतः पितामहभीष्म ने हस्तिनापुर की सुरक्षा करके भी असुरक्षा ही की है, फिर भी इनके द्वारा हुए अकर्म को कर्म ही देख रहे हो? यह राजतन्त्र की विडम्बना ही है कि धृतराष्ट्र जैसे दृष्टिहीन राजा ने अपने पुत्र दुर्योधन को अंगदेश ही दे दिया था, जिसे अवसर पाकर उसने कर्ण को दे दिया। इस साम्राज्य में छीना–झपटी तो पहले से ही होती आयी है, जिसे इन गुरुजनों तथा पितामह ने भर पेट अपनी आँखों से देखा है। बहुत उपकार कर दिया है तुमलोगों का इनलोगों ने? अरे! इन्होंने कुछ भी नहीं किया है, जो किया है वह तो करना ही नहीं चाहिये था। अतः इनके कर्म से उपकार नहीं हुआ बल्कि हानि, हानि, हानि, इनके कर्म से तो हानि ही हुई है, धर्म की स्थापना तो हुई ही नहीं है और जिस कर्म से धर्म की स्थापना नहीं हुई वह कर्म कर्म नहीं अकर्म है। अर्थात् इन्हें तो कुछ करना ही नहीं चाहिये था, बल्कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन के नहीं मानने पर वन को चले जाना चाहिये था। हे पार्थ! सच पूछो तो जो महाराज शान्तनु ने किया वही पितामहभीष्म ने किया। जब जीव किसी जीव की प्रतिज्ञा में

आबद्ध रहता है तो ब्रह्म की प्रतिज्ञा उसे प्राप्त नहीं होती। भगवती गंगा से प्राप्त हुए पुत्र (भीष्म) के यौवन के साथ जो खिलवाड़ काम में आसक्त होकर शान्तनु ने किया कि इन पितामह जैसे पुत्र के जीवन की तरफ भी नहीं देखा और न ही हस्तिनापुर के भविष्य की तरफ देखा, ठीक वही खिलवाड़ हस्तिनापुर के साथ पितामहभीष्म ने भी किया है। तुम नहीं देख रहे हो कि आज ये दुराचारियों के पक्ष में खड़े हो गये हैं! पिता ने पुत्र की जवानी से खेला तो पुत्र ने हस्तिनापुर से खेला। इन दोनों में क्या अन्तर है? अतः हे महाबुद्धिमान! तुम इनके सम्पूर्ण कर्म को अकर्मरूप (अधर्म) ही देखो और विकर्म के लिए खड़े हो जाओ। इनको इनके सम्पूर्ण कुकृत्यों के लिए दण्ड देना ही विकर्म का पालन करना है। यदि तुम सोचते हो कि महात्मा विदुर जो महाकर्ता हैं, महाबुद्धिमान हैं, वे दरवाजे पर धनुष–बाण रखकर वन को क्यों चले गये? तो इसका उत्तर है कि वे मुझे पाकर मेरी प्रेरणा से वन को चले गये, समझाते–बुझाते, समझाते–बुझाते इनलोगों के नहीं मानने पर अपने धर्म को देखते हुए ही वन को चले गये। उन्होंने अपने पद के अनुरूप ही काम किया है और एक ये हैं कृपाचार्य जो कुलगुरु के पद पर रहते हुए भी यज्ञ करने–कराने की जगह धनुष–बाण उठा रखे हैं। हे पार्थ! ये सब कर्ता नहीं हैं। इनलोगों को तो कर्ता न कहकर दुष्कर्म का कर्ता ही कहा जायेगा अर्थात् इनके कर्म का कोई अर्थ ही नहीं है।

किन्हीं–किन्हीं विद्वानों ने ऐसा अर्थ किया है कि 'जो कर्म नहीं करना चाहिये फिर भी जो उसे करता है तो अकर्ता होने का फल उसे नहीं मिलता अर्थात् मानो उसने कुछ कर्म किया ही नहीं' इस न्याय से तो उसे हिजड़ापन का दोष लग जायेगा, इस न्याय से भी पितामहभीष्म को नपुंसक होने का दोष लग गया है। यह मंत्र बड़ा ही गूढ़ार्थ लिए हुए है। अतः ब्रह्मजिज्ञासुओं को सावधानी पूर्वक इसके स्वरूप पर चिन्तन करना चाहिये। पुनः एकबार इसे देखें–

कर्म – शास्त्र जिसे करने को कहता है उसे कर्म कहते हैं।

अकर्म – शास्त्र जिसे करने को मना करता है उसे अकर्म कहते हैं।

विकर्म – शास्त्र और समाज जिस कर्म को करने से मना करते हैं और उसी कर्म को सद्गुरु या आध्यात्मिक शास्त्र समयानुसार करने को कहते हैं उसे विकर्म कहते हैं।

कर्म–अकर्म की आत्मा है विकर्म। विकर्म देवत्व से भी आगे है। विकर्म की परिभाषा जाननेवाले मुमुक्षु होते हैं, अतः जो मुमुक्षु हैं उन्हें विकर्म को भलीभाँति जानना होगा। जो शास्त्रीय एवं पौराणिक सकामी हैं, उनकी गति कर्म–अकर्म अर्थात् देवयज्ञ तक ही रहती है, लेकिन जो धर्मात्मा हैं अर्थात् जो गुरु आज्ञा के अनुसार ही कर्म करनेवाले हैं, यदि वे मुमुक्षु नहीं भी हैं तो भी उन्हें मुमुक्षु बना लिया जाता है, अतः उनके कर्म की गति ब्रह्म तक होती है। सभी देख रहे हैं कि महात्मा अर्जुन मुमुक्षु नहीं थे, ब्रह्मजिज्ञासु नहीं थे, तो भी प्रभु ने उन्हें कृपा और करूणावश मुमुक्षु बना ही लिया। अपने पुत्र–पुत्रियों के मुमुक्षु नहीं होने पर भी बहुत से माता–पिताओं ने उन्हें मुमुक्षु बना ही लिया था। माँ मदालसा ने, रघुवंशियों ने तथा अन्यान्य आत्मज्ञानियों ने अपने–अपने पुत्र–पुत्रियों से कहा है कि मोक्ष की चाहना करनी चाहिये, ब्रह्म

की ही चाहना करनी चाहिये, स्वयं को ही पहले जानने की चाहना करनी चाहिये।

सृष्टि प्रकरण में भगवान ने कहा है कि आत्मा से बुद्धि प्रकट होती है लेकिन जब वही आत्मा बुद्धि को स्वीकार कर लेता है तो जीवात्मा कहलाता है। उसके पूर्व जबतक वह बुद्धि को स्वीकार नहीं करता अर्थात् बुद्धि ही जीव है, जीव को जबतक स्वीकार नहीं करता अर्थात् बुद्धि ही सूर्य है, जबतक वह सूर्य को स्वीकार नहीं करता अर्थात् बुद्धि ही सृष्टि है, जबतक वह सृष्टि को स्वीकार नहीं करता अर्थात् बुद्धि ही रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण है, जबतक वह इन तीनों सृष्टियों को (गुणों को) स्वीकार नहीं करता तबतक वह परम कर्ता, परम द्रष्टा है और जब प्रकृति को स्वीकार कर लेता है, अज्ञान को स्वीकार कर लेता है तब वह उपद्रष्टा हो जाता है। वैसी अवस्था में माया ही कर्ता एवं दृश्य दोनों बन जाती है और वह आत्मा एकमात्र मूक द्रष्टा बनकर रह जाता है। इस रहस्य को भलीभाँति जानना विकर्म कहलाता है। कोई भी योगी, यति, ब्रह्मचारीगण विकर्म में स्थित होकर ही अपने एवं दूसरे के जन्मान्तर के विभाग को जानते हैं। वे विकर्म में स्थित होकर ही ध्यान दृष्टि के द्वारा देख लेते हैं कि शरीर या जगतरूपी सृष्टि की रचना के पूर्व एकमात्र परमाकाश, ब्रह्माकाश ही था। उस समय स्वयं से ही हमने संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ– ऐसा संकल्प करते ही सर्वप्रथम जीवरूप (बुद्धि) की सृष्टि हुई, जब उस सृष्टि को स्वीकार किया तब कौतूहलवश मैंने इधर–उधर देखा। उस अवस्था में जो इन आँखों से देखे नहीं जा सकते, इसप्रकार के सारे शरीर के अंगोपांग थे अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म थे, तेजोमय थे, एक ऐसा विग्रह था जो आकाशवत् था किन्तु फिर भी उसमें आँख, कान, नाक, जिह्वा, मुख, हाथ–पाँव तथा पेट–पीठ आदि सब दिखाई पड़ रहे थे। जैसे स्वप्न के शरीर सूक्ष्म होते हैं, इन आँखों से दिखाई नहीं पड़ते केवल कल्पना से दिखाई पड़ते हैं लेकिन स्वप्नावस्था में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, उससे भी विलक्षण स्थिति वहाँ होती है। वैसी अवस्था में वहाँ मैंने स्वयं से संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँगा लेकिन उन अनेक रूपों को भी एक रूप में देखूँगा और अपना–पराया समझकर अपने–आपको माया में फँसने नहीं दूँगा। लेकिन लम्बे काल से बहुत सी योनियों में भ्रमण करते–करते हमारी स्मृति पटल पर बहुत ढेर सारे कर्मविपाक के आवरण पड़ गये हैं। जैसे कोई बनियान पहनता है, उसके ऊपर कुर्ता, कुर्ते के ऊपर जर्सी, जर्सी के ऊपर कोट पहनता है। इसप्रकार बहुत से वस्त्रों के आवरण हो जाते हैं, जिन्हें धीरे–धीरे उतारते–उतारते उतार दिया जाता है, तब मूल शरीर दिखाई पड़ता है; ठीक उसीप्रकार ध्यान अर्थात् चिन्तनरूप संकल्प से स्थूलशरीर को, सूक्ष्मशरीर को, कारण, महाकारण, हंस, परमहंसशरीर को उतार दिया जाता है। उसके उपरान्त अन्तिम चरण में कैवल्यशरीर को उतारा जाता है; जो आत्मा का अन्तिम आवरण है। इस अन्तिम आवरण में आकर इस आवरण को भी संकल्प से त्याग दिया जाता है। इसको कैवल्य मुक्ति कहते हैं।

इसप्रकार की स्थिति जिसकी नहीं हुई है वह विकर्म को नहीं जानता। भले ही वह व्यावहारिक हो, नैतिक हो, मर्यादित हो, लेकिन वर्णगत धर्म को स्वीकार कर लेने मात्र से ही कर्म की सम्पूर्ण परिभाषा को परिभाषित नहीं मान लेना चाहिये। जब कोई परिवारवाद, जातिवाद, वर्णवाद अर्थात् 'मै' और 'तू'– वाद से आगे बढ़ता है, तब ब्रह्मवाद में प्रवेश करता है,

तभी वह मुमुक्षु कहलाता है। वही कर्म में अकर्म देखता है और जैसे ही कर्म में अकर्म को देखते, देखते, देखते विकर्म को धारण करता है, वैसे ही उसे ज्ञानाग्नि प्राप्त हो जाती है, जिसे आगे के मंत्र में प्रकाशित किया जायेगा।

(कर्मण्यकर्म यः पश्येत्.....) यहाँ कर्म में ज्ञानदृष्टि को पिरोने का भगवान का प्रयास है, ध्यान के साथ वैराग्य भी प्रकट हो, भगवान का ऐसा प्रयास है। आप सब भी उसी घेरे में हैं यदि सन्त और सद्गुरु का कहना नहीं मान रहे हैं तो। कर्म में अकर्म देखना विकर्म है, प्रकृति के द्वारा होते हुए कर्म में अपने को अकर्ता समझना ही विकर्म है। पूर्व में भगवान ने कहा भी है– 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म में कुशलता ही योग है यानी विकर्म है और जो अकर्म में भी कर्म देखता है, वह भी विकर्म ही है। जैसे वर्तमान जन्म में कर्ण के द्वारा जो अशास्त्रीय कर्म दीख रहा है तो इसका तात्पर्य कि उसने पूर्वजन्म में अशास्त्रीय कर्म किया है। इस जन्म में छल से मारा गया, इसलिए कि पूर्व के जन्म में उसने स्वयं छल कर दिया था। वह यह कि नर–नारायण से युद्ध करते हुए युद्ध के मैदान से भागकर सूर्य भगवान के पास छिप गया था। इसीप्रकार महात्मा अर्जुन से शास्त्रीय कर्म ही हो रहा था, इसलिए कि जन्म–जन्म से वे भगवान के पास ही रहते आये थे, अतः सदाचार ही होते आ रहा था। अतः निमित्त को न देखकर कारण को ही देखना चाहिये। स्रोत के मूल को देखना ही तो विकर्म है। अतः महाराज कहता है मस्ती में कि–

ऐ विकर्म! खो गये कहाँ तुम,
यह वही तो भूमि है जिस पर
भगवान ने उतारा था तुमको।
क्या उनकी बात भी नहीं मानोगे!
क्या गीता में ही छिपे रहोगे तुम?
नहीं नहीं ऐसा न करो,
तुम तो आत्मा हो भक्तों की संतों की,
और प्राण हो जिज्ञासुओं की,
तुम्हारे बिना तो वे खोज नहीं पायेंगे,
अपनी अन्तरात्मा को अतः आओ!
कृतार्थ करो उनको,
भगवान की दुहाई है तुम्हें नहीं आने पर,
फिर तो रूक नहीं पाओगे क्योंकि
प्रभु तुम्हारी भी आत्मा हैं।
तुम्हारे बिना घर सूना वन सूना,
लोग सूने पर साधक सूना भक्त सूना!
ओह! फिर तो तुम भी सूने हो जाओगे,
नहीं नहीं ऐसा न करो आओ,

हे कर्म प्राण! हे धर्म प्राण! हे अकर्म प्राण!
हे प्राण प्राण हे त्राण त्राण!
तुम तो राजयोगियों की नाक हो,
वे चाहे वन में हों घर में हों
या खेत खलिहान में हों
रणभूमि में चलाते हों बाण वैरियों पर,
या स्वजनों से युद्ध करते हों,
पर तुम्हारे बिना वे होते मृतप्राय हैं,
अतः आओ महाराज भी बुलाता है तुमको,
इस भाष्य की श्वास तो हो ही,
इतना भी जान लेना कि हर वाक्य में
द्वारिकाधीश हैं तो हर सन्दर्भ तुम्हारे
बिना खाली नहीं है।
तो आ गये! ठीक है स्वागत है तुम्हारा,
अब तुम जिसकी आत्मा हो,
उस कथा को लाकर खड़ा करता है
जिसे जानकर लोग तुम्हें निश्चित ही पूछेंगे।

(कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं.....) भगवान की आज्ञा है आप सभी को कि बिना विकर्म को जाने आप सबकी यात्रा अधूरी की अधूरी रह जायेगी, अतः महाराज एक कथा को लाकर खड़ा करता है जिससे आप सब विकर्म को भलीभाँति जान जायेंगे।

अरे रमेश!

हाँ, मित्र बोलो! कैसे फोन कर लिया आज तूने अपने मित्र को?

अरे! बातें मत बनाओ! पागल! तुम्हारे पिता ने इस चौराहे पर एक बच्ची को प्रेम में छेड़ दिया है किन्तु वह तो बुरा मान गयी और अपने घरवालों को फोन करके बुला लिया है। अरे! ये क्या! अब तो बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी है, सारी भीड़ तुम्हारे पिता की पिटाई करना चाहती है। मैं तो अकेला कुछ भी नहीं कर पाऊँगा। अरे ये क्या! तुम्हारे पिता भीड़ से भाग चले। सारी भीड़ उनके पीछे हो ली। मैं तो कुछ दूरी से यह दृश्य देख रहा हूँ। अब तुम्हारे पिता अपनी गली की तरफ ही गये हैं लगता है घर की तरफ ही जा रहे हैं चाहे तुम किसी तरह उनको बचा लो, नहीं तो आज ये लोग उन्हें छोड़ेंगे नहीं।

अरे! कहाँ जा रहे हो बेटे लाठी लेकर! माँ ने पूछा रमेश से। लेकिन रमेश दौड़ा गली में, देखा कि बहुत लोगों ने हाथ में लाठी–डंडा ले रखा है। यदि मैं उनका सामना करता हूँ तो हम दोनों आज बच नहीं पायेंगे। अतः ऐसा सोचकर उसने प्रभु को याद किया। याद करते ही युक्ति सूझी और वह दौड़कर अपने पिता पर ही टूट पड़ा। लाठियों की बरसात कर दी उसने। सारी

भीड़ छिः छिः करते हुए पीछे लौट गयी कि अब इससे बड़ा दण्ड इस पापी के लिए क्या हो सकता है जिसका पुत्र ही लाठी से पिटाई कर रहा हो। भीड़ के लौटने पर उस दृश्य को देखने वाली रमेश की माँ ने कहा– ये क्या किया बेटे! क्या ऐसे दिन देखने के लिए ही मैंने तुम्हें जन्माया था? तुम्हें कहाँ तो रक्षा करनी चाहिए थी तो तुम इनकी पिटाई ही करने लगे? लज्जा एवं शोक से सिर झुकाये हुए पिता की तरफ इशारा करते हुए रमेश ने कहा– माँ! आज मेरी फटी लाठी नहीं होती तो ये तुम्हारे सामने नहीं होते बल्कि ये देखो माँ! लाठी देखो! यह फटी लाठी है। पूछो पिता जी से कि चोट लगी है? यह तो मैंने इन्हें पीटने का एक बहाना बनाया था। इतने ही से इनका जीवन बच गया। रही बात मेरी, तो सुन लो! उस भीड़ का सामना करता तो हम दोनों सुरधाम चले जाते और तुम हाय, हाय करके छाती पीट–पीटकर रोती रहती। अतः ये बताओ माँ! कि भीड़ का सामना करना ठीक था या दिखावे के लिए पिता जी को पीटना ठीक था? माँ ने बेटे को गले लगाया, धन्यवाद दिया और पूछा– यह युक्ति आयी कहाँ से बेटे!

भगवान ने दी माँ! भगवान ने दी!

माता–पिता दोनों ही अति प्रसन्न हो गये। यही विकर्म है। आज भक्तों, साधकों, जिज्ञासुओं को, माताओं, पिताओं तथा बाल–बच्चों को इसी विकर्म की आवश्यकता है। ऐसे इसका प्रयोग किया जाता है। जिसे इसका प्रयोग करना आ गया, उसका जीवन धन्य हो गया।

कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना ही विकर्म है, भगवान को यह कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी? हाँ, इसलिए कि इस युद्धभूमि में यह सब होनेवाला था– कर्ण को रथहीन होने पर निहत्था मारना था, द्रोणाचार्य को छल द्वारा युद्ध से विमुख कर ध्यानावस्था में उनका वध कराना था, पितामहभीष्म और दुर्योधन को भी छल से ही मरवाना था। अतः वैसी स्थिति में कहीं अर्जुन एवं युधिष्ठिर भगवान से विरोध न कर दें कि हम ऐसा अधर्म युद्ध नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, ऐसा कहकर भगवान ने साधकों एवं सिद्धों को सावधान किया है कि वे वर्तमान के शुभ या अशुभ कर्म को देखकर ही किसी को भला–बुरा न कहें। जैसे कोई साधक संन्यास ले रहा हो अथवा भगवान के लिए जीने का मन बना रहा हो तो उसके स्वजन हो सकता है उसका विरोध करें। यद्यपि उनका विरोध करना अशास्त्रीय है अर्थात् अकर्म है, तो भी साधक समझता है कि ये लोग विरोध नहीं कर रहे हैं बल्कि ये लोग तो मेरी अशुभ वासना के सगुण स्वरूप हैं, अतः अशुभ वासना तो विरोध करने को विवश है ही अथवा इनके द्वारा मेरा पूर्वजन्म का पाप ही बाधा डाल रहा है, जिस पाप के कारण से मेरी साधना अधर में लटकी रह गई थी; इसप्रकार देखना विकर्म कहलाता है, अथवा भक्तिपथ से ऐसा समझता है कि शास्त्रों में जो देवताओं के द्वारा बाधा डालने की बात कही गई है, ये सब वही देवता हैं जो बाधा डाल रहे हैं। देवताओं को विषय चाहिये! उत्तरकाण्ड श्रीरामचरितमानस में गोस्वामीजी ने बड़ी मधुर झाँकी प्रस्तुत की है–

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।

पूर्व में भी कहा गया है कि माँ पृथ्वी है, पिता वरुण है, गुरु अग्नि है, अतिथि वायु एवं दरवाजे पर आये हुए पक्षी आकाश नामक देवता हैं। ये ही बाह्य इन्द्रियाँ हैं जो आध्यात्मिक पथिक की निर्विषयता को सहन नहीं कर पाते– इस भाव से, इस दृष्टि से साधक का देखना ही अकर्म में कर्म देखना है। ठीक इसके विपरीत यह सोचना कि अभी छोड़ो, ये रोते–कलपते रहेंगे तो साधना कैसे होगी, बाद में वृद्धावस्था में संन्यास ले लेंगे या बाद में ही भजन में पूरा मन लगायेंगे तो वह मूर्खतापूर्ण सोच ही कर्म में अकर्म देखना है।

ग्राम पचोखरा (दतिया, म०प्र०) के भगवद्भक्त गुलाब सिंह ने संन्यास लेने की कामना की। महाराज ने स्वीकार कर लिया, किन्तु उनकी माँ ने संन्यास का विरोध कर दिया और वे भी शील–संकोचवश माँ के विरोध का विरोध न कर पाये। अतः संन्यास लेने का निर्णय बदल दिया। वर्ष भर के बाद गुलाबजी एक कुएँ पर स्नान कर रहे थे, वहीं बिजली (करंट) लगने से उनका प्राणान्त हो गया। सबने एक स्वर से कहा– ओह! कितना अच्छा हुआ होता कि ये गत वर्ष संन्यास ले लिए होते।

ठीक इसीप्रकार गृहस्थाश्रमी कर्मयोगी साधक के पास भी कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की योग्यता आ जाये तो वह दिन दूर नहीं, जिस दिन वह विकर्म के साथ कर्मयोग का सम्पादन करे। महाराज जनक, संत तुकाराम, रैदास आदि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हुए ही तो रहते थे। अब प्रभु ने कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने का तथा विकर्म के द्वारा कर्म करने से क्या फल मिलता है, इसपर प्रकाश डालना प्रारम्भ किया।

(यस्य सर्वे समारम्भाः.....) बड़ी भूमिका बनाई भगवान ने इस मंत्र को देने के पूर्व, विलक्षण बात कह दी प्रभु ने कि जैसे अग्नि में ईंधन डालते ही वह जलकर आग ही हो जाता है और यही नहीं, उस अग्निपुञ्ज के पास कोई दूसरा ईंधन का ढेर लगा हुआ है तो उसमें भी आग की चिनगारियाँ उड़ने से आग लग ही जाती है। उसीप्रकार जिसका सम्पूर्ण जीवन भौतिक कामनाओं से अछूता है और जो अपने–आपके स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया है अथवा जिसके हृदय से ज्ञानाग्नि की लपटें अनवरत प्रवाहित हो रही हैं, उस ज्ञानाग्नि में उस साधक के सम्पूर्ण कर्म भस्म हो ही जाते हैं। ज्ञानाग्नि, कामाग्नि, क्रोधाग्नि, रागाग्नि, द्वेषाग्नि इत्यादि अग्नियों के नाम हैं। ज्ञानाग्नि को छोड़कर अन्य अग्नियों में इच्छाएँ प्रदीप्त होती हैं, अर्थात् काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि और भी प्रचण्डरूप धारण कर लेते हैं। मातृ, पितृ, भ्रातृ आदि भाव ही प्रचण्ड अग्नि हैं, जिनके संसर्ग से मोहाग्नि बढ़ती है। वैरी ही एक प्रचण्ड अग्नि है, जिसके सामने आने पर द्वेषाग्नि भभक उठती है। ठीक इसीप्रकार सद्गुरु ही ज्ञानाग्नि का पुञ्ज है, जिसके निकट जाने पर अपनी ज्ञानाग्नि धधक उठती है। दो पुञ्ज हैं अग्नि के, एक तरफ सन्त सद्गुरु ज्ञानाग्नि के पुञ्ज हैं तो दूसरी तरफ माता–पिता, पुत्र–पत्नी, भाई–बहन आदि ही मोहाग्नि, ममताग्नि, लोभाग्नि, कामाग्नि, रागाग्नि इत्यादि के पुञ्ज हैं। जो अकर्म में ही कर्म को देखने लगता है अर्थात् किसी के द्वारा कर्म तो हो ही नहीं रहा है तो भी वह कहता है कि उन्होंने कर्म किया–

मेरी माँ ने जन्माये, पिता ने जन्माये, इन्होंने दाल–रोटी दी, भाई–बान्धवों ने सुरक्षा की, तो यह भाव ही क्षुद्राग्नि कहलाता है। कर्म करने की जो अभिव्यक्ति हो गई है जीव में, अभिव्यक्ति होने से उपकार की जो भावना हो गई है कि हमारे प्रति इनका बड़ा उपकार हो गया है, हम इनके ऋणी हो गये हैं, अतः हमें भी इनका बदला चुकाना चाहिये, ऐसी क्षुद्र अवधारणा होने से क्षुद्र संकल्पाग्नि प्रकट हो जाती है। वैसी अवस्था में ज्ञानाग्नि के तो प्रकट होने का प्रसंग ही नहीं है, तो कर्म जले कैसे! कर्म और अकर्म की गति तो देवत्व तक ही है, जीवत्व तक ही है। इसी का ही तो उत्तर प्रभु ने दिया है कि विकर्म को भी आप जान लें, क्योंकि उसकी गति ब्रह्मत्व तक है। इसलिए कि विकर्म का पालन करने से ही ज्ञानाग्नि प्रकट होती है और ज्ञानाग्नि के प्रकट होते ही सारे कर्म एवं कर्मभाव जल जाते हैं अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाते हैं। जीवभाव का चला जाना ही सम्पूर्ण कर्मों का जल जाना है, ज्ञानदृष्टि ही ज्ञानाग्नि है। ज्ञानदृष्टि क्या है?– 'अहं ब्रह्मास्मि'– 'मैं ब्रह्म ही हूँ, यही ज्ञानदृष्टि है, ब्रह्मरूप होने से मैंने कभी जन्म लिया ही नहीं, फिर मरूँगा कैसे, यही ज्ञानदृष्टि है।' 'फिर ये जन्मने–मरने की प्रक्रिया दिखाई कैसे पड़ रही है?'– हाँ, वासना के संसर्ग से, वासनाग्नि के संसर्ग से वासना मरती और जीती हुई सी प्रतीत होती है, आती और जाती हुई सी प्रतीत होती है। पुत्र ही काम है, पिता ही काम है, माँ ही काम है, बाल–बच्चे, भाई–बान्धव अर्थात् स्वजन ही काम हैं। इन्हीं के लिए आपने अपने अमूल्य जीवन को दाव पर लगा दिया है। ठीक इसके विपरीत यदि आप इन कामों को त्याग कर ब्रह्म के लिए जीवन को दाव पर लगा दें तो सारे काम भस्म हो जाते हैं। आप नहीं देखते कि जब आप जप, तप, योग में बैठते हैं, तब विचार कहाँ से आते हैं? पुत्र की चिन्ता सताती है, पत्नी के प्रति विचार आते हैं, माता–पिता, भाई–बान्धव एवं वैरी के प्रति विचार आते हैं, धन, मान, सम्मान के प्रति विचार आते हैं। गरीबी कैसे जाये, अमीरी की सुरक्षा कैसे हो? यही सब विचार आते हैं। ये ही सब चारो तरफ से घेरा डाले हुए हैं। ये सारे के सारे कामरूपी विचार आत्मचिन्तनरूपी संकल्प अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि के जलते ही विदा हो लेते हैं। मुमुक्षु ही कर्म में अकर्म देखता है, यही ज्ञानाग्नि है। मैंने कुछ किया ही नहीं है, यही ज्ञानाग्नि है। आगे चलकर जब 'मैं ही एक से अनेक हो गया हूँ', ऐसी अनुभूति होती है तो वह साधक मन में विचार करता है कि मैं ही अपने संकल्प से एक से अनेक होता रहा और मैं ही नानाप्रकार की योनियों में भ्रमण करते–करते, विषयों को धारण करते–करते, इस जन्म को प्राप्त कर गया हूँ; अतः इस जन्म में ब्रह्मज्ञानी गुरु का योग प्राप्त कर मैं पुनः अनेक से एक हो जाऊँगा। ऐसा सोचकर वह मुमुक्षु सद्गुरु की खोज करता है और जब सद्गुरु प्राप्त हो जाता है तो वह उसे देखता ही रह जाता है। उसकी रहनी–सहनी, कथनी–करनी को देखकर उसे पता चलता है कि ये तो एक ही हैं, अर्थात् साक्षात् ब्रह्म ही हैं। अतः उसे ब्रह्मरूप में देखकर सहसा उसमें प्रवेश कर जाने का मन कर जाता है, उसके स्वरूप को प्राप्त कर जाने का मन कर जाता है। वह साधक उनसे पूछता है कि 'आप अपने स्वरूप में हैं और मैं पराये स्वरूप में हूँ, यह कैसे हुआ? तथा अब मैं अनेक से एक कैसे होऊँगा?' आप सम्पूर्ण कर्मों में अकर्ता कैसे बने हुए हैं तथा जो व्यावहारिक अकर्ता की भावनावाले हैं, उन अकर्ताओं में आप कर्ता की भावना कैसे देख रहे हैं? अब मैं भी पराये स्वरूप

से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होऊँगा कैसे? तब वह सद्गुरु आपको विकर्म के माध्यम से ज्ञान में प्रतिष्ठित करता है। वैसी अवस्था में आपके सारे कर्म निष्काम होने ही लगते हैं। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो कर्म में भलीभाँति प्रतिष्ठा नहीं हुई है। आप एक अज्ञान की भूमि में प्रतिष्ठित हैं, अतः वेदमत, लोकमत तथा सन्तमत की मतसंकरता हो गई है। जब आप सद्गुरु के प्राप्त होने पर लोकमत और शास्त्रमत का त्याग करते हैं, तब संतमत में प्रतिष्ठित होते हैं। संतमत को स्वीकारते ही आप मुमुक्षु होते हैं अथवा यों कहें कि संतमत वही स्वीकारता है जो मुमुक्षु होता है।

अरे! तुम नींद का भोजन क्यों कर रहे हो? ध्यान में ध्यान का भोजन करो। अरे! तुम विचार क्यों खाये जा रहे हो? तुम भोजनमय हो जा रहे हो, तुम माया के विषय हुए जा रहे हो! एक संत अपने ध्यान में बैठे हुए साधकों में से किन्हीं–किन्हीं साधकों को सावधान किये जा रहे थे। वे कह रहे थे– तुम तो महाद्रष्टा हो, महाकर्ता हो, अतः आत्मचिन्तनरूपी अग्नि को जला लो, फिर देखो वह ज्ञानाग्नि किसप्रकार नींद और विचार को निगल जाती है। प्रकृति के इन क्षुद्र कर्मों को अस्वीकार कर दो। इन कर्मों को तुम्हारे में अस्वीकार करने की क्षमता है, अतः उसका प्रयोग करो।

महाराज भी उस संत का समर्थन करता है और कहता है कि आप चाहें तो आत्मचिन्तनरूपी अग्नि (ज्ञानाग्नि) जलाकर स्वयं अपनी प्रकृति की धारा को बदलकर ब्रह्म की धारा की तरफ बहा सकते हैं। आप अपने सद्गुरु की आज्ञा पर तो विचार करें; वे स्वयं चाहते हैं कि आप अपनी धारा को बदल दें। ज्ञानमय ध्यान भी एक प्रयोग है, वह प्रयोग सम्पूर्ण द्रष्टापना में ही होता है, किन्तु आपका आत्मचिन्तनरूप कर्तापना गुरु की आज्ञा में ही प्रशस्त हो जाता है, तब आप कर्म में अकर्म देखने ही लग जाते हैं। वैसी अवस्था में ज्ञानाग्नि प्रकट हो ही जाती है और तब उस ज्ञानाग्नि में नींद या विचार को आप चाहें तो जला सकते हैं। आपको भ्रम हो गया है कि नींद या विचार आपसे बलवान हैं, जबकि ऐसी बात नहीं है। सामर्थ्यवान तो आप हैं और नींद एवं नानाप्रकार के क्षुद्र विचार तो आप की ज्ञानाग्नि के लिए एकमात्र ईंधन हैं। आप चाहें तो इन्हें जला सकते हैं। आप हुंकार भरते हुए चिन्तन करें कि नींद को मैंने जन्माये, विचारों को तो मैंने ही जन्माया, ये सब तो मेरे ही संकल्प हैं, मैंने चाहा तो मेरे सामने आ रहे हैं, मैं नहीं चाहूँ तो कैसे आयेंगे? जब चेतन का संयोग नहीं होगा, हमारी कामना का संयोग नहीं होगा, हमारे प्रमाद का संयोग नहीं होगा तो फिर यह नींद क्या कर सकती है! विचार क्या कर सकते हैं; क्योंकि ये तो जड़ हैं, मुझ चेतन के बिना ये क्या कर सकते हैं, फिर तो एकमात्र ये सब अकर्ता हैं। जब मैं स्वयं से स्वयं का कर्ता हूँ तो मेरे सामने कोई दूसरा कर्ता कैसे हो सकता है। यही तो प्रकृति के द्वारा होते हुए कर्म में अकर्म देखना है। प्रकृति मेरे बिना कर ही नहीं सकती कुछ, प्रारब्ध कुछ कर ही नहीं सकता, इसलिए कि मैं शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ।

इसप्रकार ज्ञानाग्नि को जलाकर आप सर्वप्रथम महाकर्ता होकर अकर्ता हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत जब कोई प्रकृति का द्रष्टा होता है तो वह द्रष्टापना शरीरगत ही होता है, वह

शुद्ध द्रष्टा नहीं होता। वह दो–चार मिनट में ही विषयों को भोगने लगता है, विचारों एवं नींद का भोजन करने लगता है। बहुत से लोगों ने एकमात्र द्रष्टापने का ही उपदेश दिया है जबकि साधना के प्रथम चरण में एकमात्र द्रष्टा होना खतरे से खाली नहीं है। आत्मा साक्षी तो है इसमें सन्देह नहीं लेकिन बिना आत्मचिन्तन के सम्यक् साक्षित्व उतर नहीं सकता। सभी देखते हैं कि गिद्ध आकाश में उड़ने की चाहना से पहले पृथ्वी से पंखों को हिलाता–डुलाता हुआ, वेग भरता हुआ, ऊपर की ओर गमन करता है। वह वायु प्रदेश को चीरता हुआ, आकाश मण्डल में इतना दूर निकल जाता है कि उसके शरीर का भार वायु के भार से इतना कम हो जाता है कि वह बिना पंखों के हिलाये–डुलाये मनोवेग से ऐसे तैरता है जैसे जल पर नौका तैरती है। जबतक गिद्ध के शरीर के भार से हवा का भार कम है तबतक गिद्ध पंखों को बिना हिलाये–डुलाये पृथ्वी पर गिर सकता है। ठीक उसीप्रकार यदि साधक में द्रष्टापना का भाव कम है तो वहाँ पर प्रकृति के कर्तापने में द्रष्टापना प्रकृतिमय बन जायेगा, लेकिन यदि आत्मचिन्तनरूपी पंखों से प्रकृति के स्तरों को चीरता हुआ आगे बढ़ता है तो एक न एक दिन ऐसा आता है कि वह एकमात्र साक्षी होकर रह जाता है। यही नहीं, वह प्रकृति का साक्षी भी होता है तथा प्रकृति पर शासन भी करता है। वैसी अवस्था में नींद वहाँ गौण हो जाती है, विचार वहाँ गौण हो जाते हैं, प्रारब्ध वहाँ गौण हो जाता है, पुण्य–पाप वहाँ गौण हो जाते हैं तथा वहाँ कर्म और अकर्म गौण हो जाते हैं, फिर वहाँ विकर्म अपने–आप प्रकट हो जाता है। इसके उपरान्त तो ज्ञानाग्नि धधकने ही लगती है। जैसे पिता–माता के संयोग से पुत्र उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार मुमुक्षु एवं विकर्म का जब योग होता है तो उससे ज्ञानाग्नि अवश्य प्रकट होती है। फिर तो वह देखता है कि कर्ता कोई है ही नहीं बल्कि ब्रह्म ही कर्ता है। यह एक मधुर पहेली है– साधकगण इस पर ध्यान दें कि जब ब्रह्म महाकर्ता होता है तो प्रकृति मात्र मूकद्रष्टा होकर देखती रह जाती है। जैसे जब जादूगर कर्ता होता है तो देखनेवाले एकमात्र द्रष्टा होते हैं लेकिन जब जादूगर का भी जादूगर यानी उसका गुरु आता है तो वहाँ स्वयं जादूगर भी द्रष्टा हो जाता है। उसीप्रकार जब परम जादूगर– भगवान आता है तो सभी जादूगर एकमात्र मूकद्रष्टा होकर रह जाते हैं। निश्चितरूप से प्रकृति आपके लिए जादूगर है, लेकिन आप ये न भूलें कि आपका आत्मचिन्तन (ज्ञानाग्नि) आपकी प्रकृति को भी नचानेवाला है। जिसप्रकार सामान्य सिद्धिवाले की सिद्धि को विशेष सिद्धिवाला खण्डित कर देता है, छिन्न–भिन्न कर देता है; उसीप्रकार विकर्म से प्राप्त होनेवाली ज्ञानाग्नि, नींद, आलस्य, प्रमाद, संशय, शोक, सन्ताप आदि वृत्तियों को छिन्न–भिन्न करके रख देती है। प्रकृतिवादी बुद्धिमान और आध्यात्मिक बुद्धिमान दो हैं। घर–परिवार एवं समाज में बुद्धिमान पाये जाते हैं, मूर्खों में, छलियों एवं कपटियों में भी बुद्धिमान पाये जाते हैं, चोर–डकैतों में भी बुद्धिमान पाये जाते हैं। इसप्रकार प्रकृतिवादी बुद्धिमानों का जमघट लगा हुआ है। वे अपने–आपको बुद्धिमानों में भी बुद्धिमान समझते हैं। वे सब कहते हैं कि हम ही कर्म के कर्ता हैं। कौरवों में शकुनि बुद्धिमान था, उसने सबको नचा–नचा के मारा। एक समय ऐसा आया कि रघुवंशियों की दासी यानी मन्थरा बुद्धिमानों की बुद्धिमान बन गई, उसने कैकेयी को कहीं का नहीं रहने दिया। आपको स्वयं देखना होगा कि कहीं आप शकुनि और मन्थरा जैसे बुद्धिमानों

के चक्रव्यूह में तो चकरा नहीं गये हैं। लेकिन जो सच में बुद्धिमान हैं, वे तो ज्ञानाग्नि के द्वारा सम्पूर्ण संशयों को भस्म कर देते हैं। 'मनुष्य, पशु–पक्षी ही क्या, कर्मों के कर्ता तो देवता भी नहीं हैं' उनके द्वारा तो उनकी प्रकृति ही करती है। जब वे प्रकृति के कर्तापने को देखकर मनुष्य के कर्तापने को नकार देते हैं, तब वे कर्तापने में अकर्तापने को देखने लगते हैं, ऐसा देखना ही तो ज्ञानाग्नि का जलना है। उस अवस्था में प्रकृतिवादी कर्तापने का अहंकार करनेवाला अध्यात्मवादी कर्ता के पास अस्तित्वहीन हो जाता है, क्योंकि अध्यात्मवादी पुरुष द्रष्टा पहले है कर्ता बाद में; क्योंकि वह कहता है कि 'मेरी अध्यक्षता में प्रकृति कर्ता है।'

मानो भगवान यहाँ कह रहे हैं कि हे पार्थ! इस न्याय से तुम कुछ भी नहीं करोगे और न ही तुम्हारे ये विपक्षी ही कुछ करेंगे। यहाँ तो प्रकृति का योग बना हुआ है, अपने–आप काल चक्र आकर खड़ा हो गया है; क्योंकि मैंने तो संकल्प कर लिया है, प्रतिज्ञा कर ली है कि इन सबका सर्वनाश करके मानूँगा, यह सृष्टि मेरी है। जैसे बागवानी में पहले–पहल बीज को माली छिड़क देता है, बहुत सारे, ढेरों पौधे उग आते हैं, लेकिन कुछ ही दिनों में वह स्वस्थ पौधों को रहने देता है और अस्वस्थ पौधों को निकाल फेंकता है। वही काम मुझे करना है, इस समय। 'अतः उठो! जागो! जगने के समय में सोया नहीं जाता'। प्रमाद के घेरे में घिरे हुए महात्मा अर्जुन को भगवान वैसे ही जगा रहे हैं, जैसे कोई सद्गुरु आध्यात्मिक विषय देते हुए किसी बार–बार झपकी लेनेवाले शिष्य से कहता है– क्यों सो रहे हो तुम? तुम्हें ही सुनना चाहिये और तुम सो रहे हो। भगवान के पास महात्मा अर्जुन सो रहे थे और तुम मेरे पास सो रहे हो। नींद बाधा बनती है इसलिए कि नींद को तुम नींद समझते हो। नहीं–नहीं, वह नींद नहीं पाप है, पाप। इस पाप को समझो और मुद्रा को बदल दो। तुम्हारे लिए ही मैं यहाँ पर आया हूँ, मेरे आने का महत्त्व समझो। सावधानी बरतो और खड़े होकर सुनो, बैठे रहने पर यह पाप सुनने नहीं दे रहा है। महात्मा अर्जुन भी धनुष–बाण फेंककर रथ के पिछले भाग में बैठ गये थे, उन्हें भी यह नींद सुनने नहीं दे रही थी। यह बात अलग है कि भगवान ने उन्हें पकड़ते–पकड़ते पकड़ लिया था। समझ में बात नहीं आ रही इसलिए नींद आ रही है। अरे! दो–चार, पाँच–छः वाक्य समझ में नहीं आयेंगे। हो सकता है कि पाँच–दस मिनट समझ में नहीं आयें लेकिन उसके उपरान्त एक ऐसा वाक्य आयेगा कि पाँच–दस मिनट का सम्पूर्ण समय उसमें समा जायेगा और सारी बात समझ में आ जायेगी। साथ में रहनेवाले साधकों को भी हिमालय की एक गुफा में महाराज ने भोर (सुबह) में गाकर जगाया था। वही नींद आपको भी परेशान करती है तो आपसे भी महाराज कहता है 'भैरवी' में कहें–

निंदिया को छोड़ योगी, निंदिया को छोड़

बीति सारी रात भयो सुप्रभात
ब्रह्म बेला जात अपने मन को मोड़।।१।।
निंदिया को छोड़ योगी.....

प्रगटे दिनेश ऐ रे सुदेश
स्वप्नलोक छोड़ अपने कर को जोड़॥२॥
निंदिया को छोड़ योगी.....

जोगिया जगे सारे, भोगिया भोगें भारे
संत तरे तारें, लाख न करोर॥३॥
निंदिया को छोड़ योगी.....

जगा महाराज जगावे वो सबको
मार तू प्रमाद बड़ा भारी चोर॥४॥
निंदिया को छोड़ योगी.....

उस सन्त की बात से महाराज भी सहमत है। क्षुद्र कल्पनाग्नि के कारण से ज्ञानाग्नि की बात समझ में नहीं आती तो प्रमाद आ जाता है, वह प्रमाद ही नींद है। यदि आप उस प्रमादरूप नींद को नकार देते हैं, चाहे भले ही जिस मुद्रा से नकारें, तो सद्गुरु के द्वारा आध्यात्मिक विषय सुनने में समझ में भले ही न आवे लेकिन कौतूहल होगा अवश्य कि 'यह मैं क्या सुन रहा हूँ! समझ में बात क्यों नहीं आ रही है?' नींद तब आती है जब आपका विषय नहीं हो रहा होता है। बालक की राग–रागिनी से हटकर जब कोई अपनी राग–रागिनी को अलापने लगता है तो समझ में नहीं आने पर उसे नींद आती है या खेलने का मन करता है। वैसे ही आपको यदि आध्यात्मिक विषय सुनने या पढ़ने में नींद आती है तो इससे सिद्ध होता है कि आप आध्यात्मिक विषय के जिज्ञासु नहीं हैं, आपको भ्रम है कि आप ब्रह्मजिज्ञासु हैं। महाराज परीक्षित जब ब्रह्मजिज्ञासु होते हैं तो उन्हें नींद नहीं आती है लेकिन आपको नींद आती है तो यही प्रमाण है कि आप ब्रह्मजिज्ञासु नहीं हैं। जब अपनी प्रिय वस्तु सामने आ जाती है तो नींद नहीं आती है। कामी का काम और लोभी का लोभ जब उसके सामने आ जाये अर्थात् कामी के पास अप्सरा और लोभी के पास अपार धन आ जाये तो उन्हें नींद नहीं आती। इसीप्रकार आत्मजिज्ञासु के पास आत्मविषय आ जाये तो उसे नींद कैसे आयेगी? ब्रह्मजिज्ञासु के पास नींद? यह विरोधी बात है। इससे सिद्ध होता है कि आपने ज्ञान की कामना नहीं की है बल्कि आपने ज्योतिर्मयध्यान की कामना की है और ध्यान की वस्तु आपको नहीं दी जा रही है, ज्ञान की वस्तु दी जा रही है। कर्म की भी आपने अवहेलना की है, कर्म की परिभाषा आप नहीं जानना चाहते, ध्यान की परिभाषा जानना चाहते हैं, समाधि की परिभाषा जानना चाहते हैं। ध्यान, ध्यान, ध्यान; अरे! ध्यान तो फूल है और समाधि फल है, जिसका विकर्म से प्रकट होनेवाली ज्ञानाग्नि बीज है। बीज का भी बीज ज्ञान है, विकर्म की भी आत्मा ज्ञान है। विकर्मरूप ज्ञान बीज है, कालान्तर में वही पेड़ बन जाता है। उसमें शाखाएँ प्रतिशाखाएँ, प्रतिशाखाओं में टहनियाँ, टहनियों में डालियाँ, डालियों में पत्ते प्रकट होते रहते हैं। इसप्रकार जब वह पेड़ प्रबुद्ध होता है, अपने यौवन को प्राप्त होता है तो उसमें समय पाकर आध्यात्मिक चिन्तनरूपी पुष्प प्रकट होता है, खिलता है, फिर आत्मज्ञानरूपी फल अर्थात् समाधि लग जाती है। यही इस साधना का क्रम है। आम का इच्छुक आम के पौधे की सुरक्षा के लिए

घेरा देता है, सिंचाई करता है, बहुत सावधान रहता है, दिन–रात एक किये रहता है; क्योंकि उसमें उसकी प्रीति है लेकिन अकर्मण्य एवं प्रमादी पुत्र को पिता बार–बार धक्के देकर कहता है– 'बेटे! जाओ, खेत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, सावधानी बरतो! कहीं पशु उसे चर न जायें।' अतः आत्मचिन्तन में अनात्मचिन्तन की धारा बहने लगे तो जान लेना कि हमें ज्ञान की जिज्ञासा नहीं है।

महाराज ने भी अपने गुरुदेव से कहा था कि गीताजी पढ़ने में मन नहीं लगता, आप क्यों दे रहे हैं? गुरुदेव ने कहा– 'आज्ञा है न!' महाराज ने जान लिया कि सद्गुरु की इच्छा है कि यह गीता पढ़े। 'आज्ञा है न!' ऐसा सुनकर महाराज को आश्चर्य हो गया, मन में सोचा– 'आज्ञा मिली जीवन मिला, आज्ञा मिली आँख मिली, आज्ञा मिली कान मिला, आज्ञा मिली वाणी मिली, आज्ञा मिली हाथ–पाँव मिले, आज्ञा मिली मन मिला, आज्ञा मिली बुद्धि मिली, आज्ञा मिली सब मिला, आज्ञा मिली सब मिला।' फिर–फिर जीवन में कभी प्रमाद नहीं हुआ गीता पढ़ने में। गीता पढ़ते–पढ़ते स्वयं गीता ही महाराज को पढ़ने लगी। ध्यान, ध्यान, ध्यान; ध्यान के प्रति बहुत उत्सुकता हो गयी थी, बड़ा समादर भाव हो गया था। क्या पता था कि ध्यान भी एक सतोगुणी अग्नि है, ध्यान भी एक काम है, जिसे गुरुदेव ज्ञानाग्नि के द्वारा भस्म करना चाहते हैं लेकिन ध्यान से भी महाराज को विशेष प्रीति थी गुरुदेव की आज्ञा पालन करने में । अतः क्षुद्रजीवन में गीतारूपी ज्ञानाग्नि के द्वारा दिव्य जीवन का संचार होता गया, होता गया, होता गया और आज उसी दिव्य जीवन की झाँकी को महाराज, इस 'महाराजभाष्य–गीता' के द्वारा आप सबको दे रहा है। महाराज चाहता है कि महाराज जैसी भूल आप न कर देना, बल्कि ज्योतिर्मयध्यान से ज्ञानमयध्यान को विशेष महत्त्व देना। ज्ञानमयध्यान ही आपकी प्रिय वस्तु है, ज्ञान ही आपका स्वजन है, ज्ञान ही आपकी आत्मा है, प्राण है, जीवन है।

यदि इसकी चाहना है तो मन में अपने लिए सामाजिक भाषा बदल दें। मुझे नींद आ रही है ऐसा न कहें और आत्मचिन्तनरूपी अग्नि जला लें फिर कहें– शरीर में नींद प्रकट हो रही है, आलस्य प्रकट हो रहा है, प्रमाद प्रकट हो रहा है, बुद्धि में संशय, भ्रम प्रकट हो रहा है, मन में शोक–सन्ताप प्रकट हो रहा है। नहीं, नहीं, नहीं, मैं अब इन्हें स्वीकार नहीं करूँगा। एक तरफ शरीर और ये सब विकार हैं जो शरीर के अंग–उपांग हैं तो दूसरी तरफ मैं हूँ। एक तरफ स्थूलशरीर है, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर, महाकारणशरीर, हंसशरीर और परमहंसशरीर है तो दूसरी तरफ मैं द्रष्टारूप शरीरवाला हूँ। अतः अब मैं आत्मचिन्तनरूपी अग्नि में सम्पूर्ण प्रकृतिवाद को जला डालूँगा।

जब आप क्षुद्रकल्पनाओं से समझेंगे कि नींद मुझे आ रही है, शोक–सन्ताप मुझे हो रहा है तो फिर आप आत्मचिन्तनरूपी ज्ञानाग्नि नहीं जला पायेंगे और जीवन–जीवन प्रकृति आपके लिए कर्ता बनी रह जायेगी। न आप द्रष्टा के साथ कर्ता बन पायेंगे और न आपका इष्ट ही द्रष्टा के साथ कर्ता बन पायेगा।

(.....कामसङ्कल्पवर्जिताः) वह ब्रह्मजिज्ञासु काम से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण संकल्पों से

रहित होता है। 'तो फिर वह काम क्या है?'– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही काम है, शुभ–अशुभ, सुख–दुःख की कामना ही काम है, सर्दी–गर्मी, राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों से बचने की कामना ही काम है लेकिन जिनकी सभी इच्छाएँ संकल्पवत् होती हैं अर्थात् ब्रह्म के लिए ही प्रकट होती हैं तो क्षुद्र इच्छाएँ स्वतः ही जल–भुन जाती हैं। इसे पुनः दूसरे अर्थों में देखें–

(यस्य सर्वे समारम्भाः.....) जिनके सारे के सारे कर्म एकमात्र शब्द, स्पर्शादि तथा मान–सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए ही प्रारम्भ होते हैं, उन्हें वे भगवत् संकल्प से त्याग देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि ये मुझे नहीं चाहिये अथवा जिनके सारे के सारे सत्कर्म, काम की कामना से ही होते हैं, उन्हें वे भगवत् कामना से ही करने लगते हैं। क्योंकि ऐश्वर्य की कामना ही काम है, विभूति की कामना ही काम है। जिस ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए कंस ने अपने पिता का त्याग कर दिया था, रावण ने गुरुजनों का त्याग कर दिया था, वह ऐसा काम है। ऐसे काम के लिए ही वे सारे के सारे यत्न करते हैं, उसके लिए कुछ भी कीमत चुकाते हैं, चोरी–चमारी, शैतानी आदि आसुरी कर्म को भी स्वीकार करते हैं। आपको काम प्रिय है, अतः शुभ और अशुभ दोनों संकल्पों को स्वीकारते हैं; क्योंकि आसुरी काम, शुभ और अशुभ दोनों के संयोग से प्राप्त होता है। शुभ से शुभ और अशुभ से अशुभ तो प्राप्त होता ही है लेकिन ये न भूलें कि अशुभ की प्राप्ति में भी शुभ ही आधार है। जब आप चोरी–चमारी में सफल होते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि पूर्व का कोई शुभ कर्म आपका सहयोग कर रहा है। यही कारण है कि पापात्मा पापकर्म में सफल होकर अहंकार और दम्भ में अति सन्तुष्ट हो जाता है और कहता फिरता है कि यदि मैं असत्य होता तो सफल क्यों होता? इसप्रकार वह अपने तो मोहित होता ही है, अपने स्वजनों को भी मोहित करता रहता है।

साधक ये न भूलें कि उनके सारे के सारे स्वजन किसी न किसी कामरूपी प्रतिज्ञा में बँधे हुए हैं। ऐसा नहीं है कि पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, शकुनि आदि ही किसी न किसी कामरूपी प्रतिज्ञा में बँधे हुए थे; बल्कि आप अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों तथा वृद्धजनों से पूछें कि आप भगवान के लिए क्यों नहीं जी रहे हैं? या भगवान को जान गये हैं, इसलिए नहीं जी रहे हैं या भगवान के लिए जीना ही नहीं चाहिये, इसलिए नहीं जी रहे हैं? तो वे किसी न किसी प्रतिज्ञा की दुहाई अवश्य देंगे, किसी न किसी काम की दुहाई अवश्य देंगे; क्योंकि सब किसी न किसी काम में ही प्रतिष्ठित हैं। आप भी यदि मर्यादा में प्रतिष्ठित हैं तो मर्यादा भी काम ही है, शील–संकोच भी काम ही है। जड़भरत की तरह आपके लिए तो दया ही काम है। गृहस्थाश्रम में दया शुभ काम है तो आप जैसे मुमुक्षु के लिए दया अशुभ काम है। गृहस्थाश्रम लंका है, यदि उसमें भगवद्भावना से न रहा जाय, भगवत् साधना से न जीया जाय तो। उसीप्रकार साधक की शीलता, विनम्रता, मर्यादा भी काम है, औपचारिकता में जब साधक जीता है तो वह काम का उपभोग करता है; अतः औपचारिकता स्वयं में एक काम है; क्योंकि इससे साधक के अहं की पुष्टि होती है। जिस–जिस विषय से जब–जब, जिस–जिस अवस्था में आपको अति प्रसन्नता होती है, अति सन्तुष्टि होती है तो उस–उस अवस्था में प्राप्त होनेवाले वे–वे विषय सब काम के ही स्वरूप हैं। विभिन्न रूप हैं काम के, अतः साधकों की जानकारी के

लिए उनका विवेचन किया जा रहा है–

'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः'– बहुतबार भगवान ने पण्डित की परिभाषा दी है। जो आत्मा को जानता है, वह पण्डित है; जो स्वयं को जानता है, वह पण्डित है; जो जीने–मरनेवालों के लिए हर्ष–शोक नहीं करता, वह पण्डित है; जो सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान, राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों में सम बना रहता है, वह पण्डित है; जो ब्रह्म को ही चाहता है, वह पण्डित है, 'जो असत् का अस्तित्व है ही नहीं, सत्य का अभाव है ही नहीं', ऐसा जानता है, वह पण्डित है, 'शरीर सहित सम्पूर्ण दृश्यवर्ग विनाशी हैं और इन सबमें व्याप्त आत्मा अविनाशी है, इस आत्मा को काल भी नहीं मार सकता', ऐसा जो जानता है, वह पण्डित है। 'आत्मा को अस्त्र–शस्त्र नहीं मार सकते, जल गीला नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकता, वह स्वयं से प्रकट है, सदा से प्रकट है और सदा प्रकट ही रहेगा, वही–वही है, जगत तो है ही नहीं', ऐसा जो जानता है, वह पण्डित है। इसप्रकार कहाँ तक कहा जाये, भगवान ने तो दूसरे अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक जगह–जगह पण्डित की ही परिभाषा दी है। लगता है भगवान को पण्डित शब्द से बड़ी प्रीति है। ऐसा हो भी क्यों न; क्योंकि यथार्थ में आत्मज्ञानी को ही तो पण्डित कहते हैं और आत्मज्ञानी भगवान को अपने प्राणों से प्रिय है ही। प्राणों से प्रिय ही क्या, भगवान ने तो सातवें अध्याय में जाकर स्पष्ट कह दिया है कि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। तो आयें अब चौथे अध्याय के माध्यम से पण्डित किसे कहते हैं, पुनः सुनें। भगवान ने यहाँ पर कहा– 'जो क्षुद्र कामनाओं को स्वीकार नहीं करता, भगवान ही कामना बन गया है जिसकी, उसे पण्डित कहते हैं।' भगवान ने बहुत बड़ी बात कह दी यहाँ पर। वे कहते हैं कि 'आत्मज्ञानी ही पण्डित नहीं हैं बल्कि जिनकी ज्ञान की तरफ गति है, वे भी पण्डित हैं अर्थात् बुद्धिमान हैं।' पण्डित का तात्पर्य ज्ञानी, विवेकी, बुद्धिमान, योगी एवं भक्त भी है। जो भगवान को चाहता है वह भी पण्डित है जो भगवत् प्राप्ति की साधना में लग गया है वह भी पण्डित है और जिन्होंने ज्ञानाग्निरूपी आत्मचिन्तन के द्वारा सम्पूर्ण कामनारूप आसक्ति को भस्म कर दिया है अर्थात् त्याग दिया है, वे तो पण्डित हैं ही। जैसे बहुत दिनों से सेना में काम करनेवाला तो सैनिक है ही लेकिन यदि कोई सेना में आज ही भर्ती हुआ है तो वह आज से ही सैनिक कहा जाता है, भले ही उसे हाथ में अस्त्र–शस्त्र लेने की कला का भी पता नहीं है। उसीप्रकार आज ही जो मुमुक्षु हुआ और सद्गुरु की आज्ञानुसार निष्काम कर्म करने लगा तो वह भी पण्डित है, यद्यपि वह आत्मा को नहीं जानता, शेष कुछ करने को है उसे। तो क्या शेष है? हाँ, त्याग शेष है। किसका त्याग शेष है? मन में विषय के प्रति जो राग है उसका त्याग अभी शेष है।

(यस्य सर्वे समारम्भाः.....) सारे के सारे काम को त्याग दें और ज्ञानाग्नि जला लें! तभी तो आप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकते हैं। शुभ वृत्ति भी काम है, राजस वृत्ति भी काम है, सात्त्विक वृत्ति भी काम है। आगे चलकर जब साधक में ब्रह्मजिज्ञासा की पराकाष्ठा प्रकट होती है, तब योगसमाधि का त्याग करके वही ब्रह्मज्ञानी गुरु के सत्संग को प्राप्त करता है, जो ब्रह्मज्ञान का हेतु है, जो चित्त में आध्यात्मिक आह्लाद पैदा करनेवाला होता है किन्तु सतोगुण से

प्रकट होनेवाला ध्यान जो वैष्णवी शक्ति से सम्पन्न है, वह तो सात्त्विक सुख एवं सात्त्विक ज्ञान में ही बाँधनेवाला होता है। उसमें भी तो कामना होती ही है कि मुझे समाधि प्राप्त हो। कौन समाधि प्राप्त हो? जो दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्यश्रवण, दिव्यरस आदि देनेवाली है, दिव्य सिद्धियों को देनेवाली है, अष्टसिद्धियों एवं नवनिधियों को देनेवाली है। आप धर्म में और आपके स्वजन अधर्म में बँधे हुए हैं, बात तो बराबर है? अतः धर्म–अधर्म दोनों का त्याग करनेवाला सर्वारम्भत्यागी कहा जाता है। सर्वारम्भत्यागी का तात्पर्य सकाम कर्मों को भी त्याग देना होता है। यह सर्वारम्भत्यागी शब्द द्वादश अध्याय में भी आयेगा। बहुत बार एक ही बात को कहा भगवान नारायण ने, इसीलिए कि आपने जो स्वीकार किया है, उसे कई बार सुनने पर अस्वीकार कर पायें।

भगवान नारायण ही ज्ञानाग्नि हैं और महात्मा अर्जुन सात्त्विक कामाग्नि हैं और जो विपक्षी हैं, वे राजस कामाग्नि में प्रतिष्ठित हैं, लेकिन भगवान महात्मा अर्जुन की सात्त्विक कामाग्नि को अपनी ज्ञानाग्नि के द्वारा इसलिए भस्म कर देंगे, क्योंकि पुरातन काल से ही उनका अर्जुन से आत्मीय सम्बन्ध है तथा इसलिए भी दूर करेंगे कि प्रभु को महात्मा अर्जुन ने सद्गुरु बना लिया है। ध्यान रहे– सद्गुरु पीछा नहीं छोड़ता। यदि कोई एकबार कह देता है कि आपका मैं शिष्य हूँ, आप ही मेरे सद्गुरु हैं तो उसका यह समर्पण, सम्पूर्ण आत्मतत्त्व को देकर ही रहेगा। कम से कम भगवान को महात्मा अर्जुन ने भगवान के रूप में तो स्वीकार नहीं किया है लेकिन सद्गुरु के रूप में तो स्वीकार कर ही लिया है। तभी तो भगवान के हृदय में उनके लिए दिव्य वात्सल्य विशेष प्रकट हो गया है। जैसे माँ बेटे के बार–बार मल कर देने के उपरान्त भी उसे धोती ही रहती है, उसीप्रकार दिव्य वात्सल्य के कारण से ही प्रभु महात्मा अर्जुन के द्वारा बहुत से अज्ञानमय प्रश्न करने के उपरान्त भी, जबकि प्रश्न करने का समय नहीं है तो भी भगवान हुंकार भरते हुए उनके प्रश्नों के द्वारा ही उनके शोक–सन्तापरूप मल को धोये जा रहे हैं, धोये जा रहे हैं, धोये जा रहे हैं अर्थात् समाधान करते जा रहे हैं। यह भगवान के द्वारा दी हुई ज्ञानाग्नि आप सबके लिए भी है। महात्मा अर्जुन के पास ज्ञानाग्नि नहीं है लेकिन भगवान सद्गुरुरूप में उनके पास ज्ञानाग्नि बन ही गये हैं, इससे सिद्ध होता है कि सद्गुरु ही बाहर की ज्ञानाग्नि है। बाहर की ज्ञानाग्नि से शिष्य के भीतर की ज्ञानाग्नि भड़क उठती है। अपने घर में आग नहीं है तो पड़ोसी के घर से जाकर माँग ली जाती है, अपने दरवाजे पर यदि आग का पुञ्ज नहीं है तो पड़ोसी के घर पर जाकर आग तापा जाता है, अपनी आँख में यदि कमजोरी है तो चश्मा लगाया ही जाता है, अपना विवेक यदि धूमिल हो गया है तो सद्गुरु के विवेक से काम लिया जाता है। उसीप्रकार अपने पास ज्ञान नहीं है तो सद्गुरु की ज्ञानाग्नि से अपनी कामाग्नि को भस्म कर दिया जाता है।

महात्मा अर्जुन मुमुक्षु नहीं हैं लेकिन इतने सौभाग्यशाली हैं कि भगवान उन्हें मुमुक्षु बना रहे हैं। यद्यपि इन्होंने मोक्ष की कामना से कर्म नहीं किया है लेकिन इनसे मोक्ष के योग्य ही कर्म हुआ है। ऐसे साधक विरले होते हैं, जो भगवत् कामना से संतों, सद्गुरुओं की आज्ञा का पालन नहीं करते लेकिन उनसे तो स्वाभाविकरूप में ही सद्गुरु की आज्ञापालन ही होता रहता

है। वे तो यह भी नहीं जानते कि हम भक्त भी हैं, लेकिन सच्चे अर्थों में वे ही भक्त होते हैं। उन्हीं के लिए कहा गया है कि

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकई हरि भगति बिहाई॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

सारे के सारे संकल्पों का त्याग कर दें, सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर दें। अरे! कहीं ऐसा करनेवाला जड़ अथवा पागल तो नहीं हो जायेगा; क्योंकि पागल के पास ही संकल्प या विचार नहीं होते? दो प्रकार के पागल होते हैं एक जड़ और दूसरा उच्छृंखल। जड़ पागल को तो चेतन बनाया जा सकता है लेकिन उद्दण्ड पागल का चित्त इतना बहिर्मुख हो जाता है कि जल्दी उसका समाधान नहीं मिलता। गुरुकुल में गुरुजन (ऋषिजन) ब्रह्मचारियों से पूछते थे कि अब आप सबने व्याकरण तथा शास्त्रों को सम्पूर्ण अंगों सहित विधिवत् पढ़ लिया, अतः आपलोगों में जो गृहस्थाश्रम में सहर्ष प्रवेश करना चाहते हैं वे सहर्ष जा सकते हैं और जो संन्यास आश्रम में रहना चाहते हैं वे सहर्ष संन्यास ले सकते हैं। ऐसा सुनकर जो राजस एवं तामस प्रकृति के ब्रह्मचारी हुआ करते थे, वे कहा करते थे कि गुरुदेव आप हमारी गृहस्थाश्रम में व्यवस्था कर दें और जो चेतन ब्रह्मचारी हुआ करते थे वे कहते थे कि गुरुदेव हम तो संन्यास ही लेते हैं, हम तो ब्रह्म आश्रम में ही रहेंगे।

बड़ा भ्रम हो गया है अर्जुन को कि हम राज्य के लिए युद्ध कर रहे हैं जबकि भगवान कह रहे हैं कि राज्य के लिए युद्ध नहीं किया जा रहा है बल्कि पृथ्वी पर जघन्य अपराधियों का जमघट लगा हुआ है, इनका सर्वनाश कर धर्म की स्थापना करनी है, युद्ध इसके लिए किया जा रहा है। अर्जुन की तरह ही आम लोगों को भ्रम हो गया है कि गृहस्थाश्रम विषयभोग के लिए है। वे सकामी कहते हैं कि 'ऋषियों ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की जो व्यवस्था बनाई है तो क्या वह गलत है?' गलत तो नहीं है किन्तु ऋषियों ने तो ऐसा कहा ही नहीं है। उनका कहना ऐसा नहीं है कि एकमात्र पुत्र, पत्नी, बाल–बच्चों एवं स्वजनों के ही होकर रह जायें। ऋषियों के द्वारा दिया हुआ शास्त्र का मुख तो भगवान की ओर है, जो उनके अनुसार चलेगा उसका मुख भगवान की ओर हो जायेगा। अशुद्ध काम, शुद्ध काम– दो काम होते हैं। अशुद्ध काम से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और शुद्ध काम से भगवान की प्राप्ति होती है। शुद्ध काम को काम नहीं कहते, शुद्ध काम (कामना) को राम अर्थात् पूर्णकाम कहते हैं, उसे धर्म भी नहीं कहते। काम की शुभ–अशुभ दो धाराएँ बहती हैं। मूलतः काम एक ही है किन्तु बड़ी कुशलता के साथ ऋषियों ने काम को ही राम की ओर दिशा देने का निर्देश दिया है। गृहस्थाश्रमी राजसी एवं तामसी भक्त वेश्या के पास न जा सकें, उच्छृंखल न हो सकें, इसलिए एक धर्मपत्नी की व्यवस्था कर उनके काम को घेरने का प्रयत्न किया है। वेश्या के पास जाने से मना कर दिया और धर्मपत्नी के पास जाने की विधि दे दी। एक को दूर से त्यागने की बात कह दी और दूसरी को नियम से ग्रहण करने को कह दिया। इतना ही नहीं, पुरुष से कहा कि तुम पत्नीव्रता होकर

रहना और स्त्री से कहा कि तुम पतिव्रता होकर रहना। इसप्रकार पत्नीव्रता और पतिव्रता का नियम देकर ऋषियों ने काम की शुद्ध परिभाषा दे दी, जबकि वह भी काम ही है। यदि राजसी एवं तामसी गृहस्थ भक्त शुद्ध काम को स्वीकारते हैं तो जीवन में कभी न कभी अध्यात्म में उनकी भी छलांग लग ही जाती है। शास्त्र भले ही मुमुक्षु के लिए अलग कहता हो लेकिन विषयी से जो कुछ भी कहा है, मुमुक्षु बनाने के लिए ही कहा है। कामाग्नि, क्रोधाग्नि, द्वेषाग्नि, मोहाग्नि आदि को किसप्रकार ब्रह्माग्नि बनायें, इसी युक्ति को भगवान ने इन मंत्रों के द्वारा स्पष्ट किया है।

कौरवों के द्वारा पाँच गाँव भी नहीं देने पर युद्ध का बिगुल बज उठा है। कौरवों ने उनके साथ अत्याचार पर अत्याचार किया है, प्रजा में भी त्राहि–त्राहि मच गयी है। भगवान ने कह दिया है अर्जुन से कि मेरी प्रसन्नता के लिए तुम युद्ध करो। राजा जनक की तरह तुम मेरी कृपा से सिंहासन पर बैठे–बैठे ही आत्मज्ञानी हो जाओगे। इतना सुन लेने के उपरान्त भी वे युद्ध के लिए तैयार नहीं हो पा रहे हैं, इसी से सिद्ध होता है कि वे अबतक मुमुक्षु नहीं हैं। यद्यपि भगवान अब उन्हें मुमुक्षु बना देंगे। मूल को देखा जायेगा; संग्राम किसलिए हो रहा है, आप सबने भी इस पर विचार नहीं किया होगा। युद्ध क्यों हुआ, इसपर आप विचार करते रहें, किन्तु महात्मा अर्जुन को भगवान ने विषादी क्यों बना दिया इस रहस्य को तो आप जान ही लें। प्रभु ने उन्हें विषादी इसलिए बनाया कि वे विवश हैं महात्मा अर्जुन को राज्य देकर ज्ञान देने के लिए। इसलिए कि जाने–अनजाने में उन्होंने भगवान की ही भक्ति की है, अतः निष्काम भक्ति का फल कैवल्य मुक्ति तो मिलनी ही है। महाराज को हँसी तब आती है जब कोई बच्चा संन्यास लेकर गुरु के पास पहुँचता है और उसके माता–पिता अति विकल हो जाते हैं, जबकि मूल में उसके माता–पिता ने ही जाने–अनजाने में कभी न कभी किसी न किसी जीवन में भगवान की निष्काम भक्ति की है, जिसके परिणामस्वरूप पुत्र के माध्यम से ही उन्हें मुक्ति मिलनी है।

(ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं.....) सारे के सारे शुभ और अशुभ कर्म दग्ध हो जाते हैं, जल जाते हैं अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं, निष्प्रयोजन हो जाते हैं, उनका प्रयोजन पूरा नहीं होता, यदि अकाम सामने आ जाता है। अकामी के पास भक्तों का अपना काम पूरा होता है। कौन सा काम पूरा होता है? यही कि राम मिल जाता है। अकामी तो स्वयं भगवान है, अकामी स्वयं सद्गुरु है। सद्गुरु के पास से अकामता आती है अर्थात् अकामी ब्रह्म आता है। इतना ही नहीं, सद्गुरु के निकट 'सर्वारम्भवर्जिताः' निष्काम कर्म अपने–आप प्रकट होता है। यदि उसके पास जाने पर ऐसा नहीं हो रहा है तो यह जान लेना कि या तो वह सद्गुरु नहीं है या तो मैं शिष्य नहीं हूँ। हाँ, सद्गुरुरूपी ज्ञानाग्नि के दर्शन से शान्ति ही नहीं मिलती, क्योंकि शान्ति तो विषय से भी मिलती है बल्कि उसका सद्व्यवहार भी मिलता है। यदि उसका व्यवहार भी मिलता है तो जान लेना कि ये सद्गुरु हैं। सद्गुरु ही सर्वारम्भ, कामसंकल्पवर्जिता है। यदि ऐसा सचमुच में है तो उसके तन, मन, वचन एवं हृदय के व्यवहार से आप्तकामता ही बहती है। परिणामस्वरूप आप भी आप्तकामता की तरफ बहते चले जाते हैं।

प्रभु श्रीराम ने बाल्यावस्था में कहा– गुरुदेव! तीर्थयात्रा की कामना हो रही है। गुरुजी ने कहा– जाओ राम! जाओ! प्रभु श्रीराम जाकर लौट आये, गुरुजी का दर्शन किया और बस दर्शन ही करते रह गये, महल में बन्द कर लिया अपने को। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया? कौन आया? किसलिए आया? ऐसी निष्कामता की तरफ गति होने लगी। महर्षि विश्वामित्र के आने पर गुरु वसिष्ठजी ने कहा कि 'हे राजन्! आप राम को बुलायें! राम, राम है, वह चाहता है कि जिसका सद्गुरु आप्तकामी है, उसका शिष्य भी आप्तकामी क्यों नहीं है।' प्रभु श्रीराम बुलाये गये, सद्गुरु ने ज्ञानाग्नि जलाई और इक्कीस–बाईस दिन में ही शिष्य राम की अज्ञानाग्नि को भस्म कर दिया।

गुरु एवं शिष्य दोनों में यदि विरोधी तत्त्व हैं तो या तो शिष्य में कमी है या तो सद्गुरु में कमी है। यदि सद्गुरु का व्यवहार शिष्य को प्राप्त नहीं होता तो दोनों में से किसी एक में कमी है। महात्मा अर्जुन के रथ पर आप्तकामी भगवान बैठे हुए हैं, इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन जाने–अनजाने में कम से कम निष्कामी तो होंगे ही होंगे। वे युधिष्ठिर के रथ पर क्यों बैठेंगे! क्योंकि सत्य के प्रति वे सकामी तो हैं ही, तभी तो आप्तकामी भगवान के द्वारा अश्वत्थामा मारा गया कहने के लिए आज्ञा देने पर भी वे हिचकते से रह गये। आप्तकामी गुरु के पास कम से कम शिष्य तो निष्कामी होगा, तभी तो दोनों में सम्बन्ध हो पायेगा अन्यथा सम्बन्ध होगा कैसे? यह सभी जानते हैं कि परस्पर में सजातीय वृत्तिवालों में ही सम्बन्ध होता है, सकामी, निष्कामी और आप्तकामी ये तीन पहलू हैं। सकामी होकर कर्म करना और निष्कामी होकर कर्म करना, तदुपरान्त आप्तकामी हो जाना अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाना– इसप्रकार का क्रम देखा जाता है।

प्रभु इस मंत्र के द्वारा मानो अर्जुन से कह रहे हों कि तुझे तो मुझे देखकर कामनारहित हो ही जाना चाहिये था। तुम पहचान नहीं रहे हो कि तुम्हारे सामने आप्तकामी बैठा है, सर्वारम्भ परित्यागी बैठा है और एक तुम हो कि निष्कामी भी नहीं हो पा रहे हो, यह कैसी विडम्बना है? अरे! ये कौरव तथा इनके सहयोगी अशुद्ध काम की प्रतिमूर्ति हैं, ये अपने–आप में कामाग्नि हैं। अतः यह अवसर मोहाग्नि, शोकाग्नि, विषादाग्नि को जलाने का नहीं है बल्कि ज्ञानाग्नि जलाने का है। तो लो, इस ज्ञानाग्नि से इनके मूल स्रोत को देखो और हुंकार भरो ।

प्रभु ने इस मंत्र से दो अग्नियों की प्रतिष्ठा की– एक तरफ कामाग्नि है तो दूसरी तरफ ज्ञानाग्नि। मानो वे दो प्रकाश पुंजों की बात कर रहे हों– एक तरफ सूर्य को खड़ा कर दिया तो दूसरी तरफ चन्द्रमा को। पूर्णिमा का चन्द्रमा तो दिनभर भी रहता है लेकिन सूर्य के प्रकाश में उसका प्रकाश ओझल हो जाता है, वह तो दिखाई पड़ता है लेकिन उसका प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता। ठीक उसीप्रकार ज्ञानाग्निरूप प्रकाश के प्रकाशित हो जाने के उपरान्त कामाग्निरूप प्रकाश का अस्तित्त्व दिखाई नहीं पड़ता, अतः साधकों को इसपर विचार करना चाहिये।

(यस्य सर्वे समारम्भाः.....) ये तीन–चार मंत्र एक–दूसरे के पूरक हैं। स्वतन्त्र होते हुए भी एक–दूसरे के लिए परतन्त्र भी हैं और परतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्र भी हैं। जो ज्ञानाग्नि में स्थित

होकर कर्म करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म दग्ध हो जाते हैं, जल जाते हैं अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं रहता। तो फिर किसका अस्तित्त्व रहता है? हाँ, जो ज्ञान में स्थित होकर किया हुआ कर्म है, उसका अस्तित्व रहता है। ज्ञान में स्थित होने के पूर्व जो पशुवत् एवं आसुरी तथा मानवीय कर्म हो गया है, उनका अस्तित्व नहीं रहता। वे कौन से कर्म हैं? यही कि आपकी आँखों से प्रारब्ध ने देखा लेकिन आपने सोचा कि मैंने देखा, आपके कानों से प्रारब्ध ने सुना लेकिन आपने समझा कि मैंने सुना, इसीप्रकार मन एवं बुद्धि से प्रारब्ध ने मनन एवं चिन्तन किया लेकिन आपने समझा कि यह सब मैंने किया, इत्यादि इत्यादि। अतः अज्ञानावस्था में ऐसा सोचने के कारण आपको कर्म का फल मिल गया। 'क्या फल मिला?' सुख भी और दुःख भी। अज्ञान में स्थित होकर किये गये कर्म का फल कभी तो सुख तो कभी दुःख भी देनेवाला होता है। बड़े–बूढ़ों एवं गुरुजनों की सेवा कर दी आपने तो वह सुख देनेवाला हो गया और उन्हीं का कभी आपने अपमान कर दिया तो वह अपमान ही दुःख देनेवाला हो गया। अज्ञान में स्थित होकर 'अन्धे का अन्धा होता है'– हँसी कर दी भगवती द्रौपदी ने, अतः दुर्योधन पहले से कुपित तो था ही और भी कुपित होने का अवसर मिल गया। उसने सोचा– 'पिता को इसने अन्धा बना दिया, मुझे अन्धा बनाया होता तो कोई बात नहीं थी, अतः अब अन्धा बनके दिखाऊँगा।' वही हुआ, अन्धे को दिखाई तो पड़ता नहीं, इसीलिए उसे लाज नहीं आती, वह चाहे कुछ भी बोलेगा, देखेगा, क्योंकि लाज तो आँखों में होती है। बस उस अन्धे ने उस माँ की लाज ही ले लेनी चाही, यह बात अलग है कि भगवान ने उसी की लाज ले ली। इसप्रकार अज्ञान में स्थित पुरुष से पुण्य भी होता है और पाप भी होता है। 'मैं शरीर ही हूँ'– यही अज्ञान में स्थित होना कहा जाता है। सर्वप्रथम अज्ञानमय स्थिति को आप समझें कि वह अज्ञानमय स्थिति है क्या– हाँ जब भीतर–बाहर अर्थात् सर्वत्र रहनेवाला आत्मा भीतर–बाहर न रहकर मध्य में रहने लगता है अर्थात् शरीरमय हो जाता है, उसी को अज्ञानमय स्थिति कहते हैं। उस अवस्था में वह दृश्य ही बन जाता है अर्थात् शरीर ही बन जाता है। जैसे ही अपने को शरीररूप समझने लगता है, वैसे ही संस्कार (प्रारब्ध) अपना काम करने लगते हैं। इतना ही नहीं, वे बड़े ही प्रबल हो उठते हैं। शरीररूप हो जाने पर भी चेतना तो बनी ही रहती है, तभी तो उसी चेतना के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर सम्पूर्ण इन्द्रियों में वास करनेवाले काम, क्रोध, राग, द्वेष तथा यज्ञ, दान, तपरूप दोनों प्रकार के शुभ एवं अशुभ प्रारब्ध अपना–अपना काम करने लगते हैं। इसप्रकार कभी इन्द्रियों से पाप कर्म होते हैं तो कभी पुण्य कर्म होते हैं, लेकिन जैसे ही आप ज्ञान में स्थित होते हैं वैसे ही जो सुख एवं दुःख देने के लिए कर्म प्रवृत्त हो चुके हैं वे अपना काम तो करते हैं लेकिन उससे आपका चित्त प्रभावित नहीं होता। 'मैं शरीर हूँ' यह अज्ञानमय स्थिति है और 'मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि अजर–अमर आत्मा हूँ' यह ज्ञानमय स्थिति है। इस ज्ञानमय स्थिति में स्थित होकर आप कहते हैं कि सुख–दुःख, सर्दी–गर्मी, मान–अपमान शरीर के धर्म हैं मेरे नहीं। 'स्थूल स्मृति और सूक्ष्म स्मृति' (जिनके द्वारा सर्दी–गर्मी, मान–अपमान और सुख–दुःख का अनुभव किया जाता है) तथा 'प्रारब्ध' और उस 'प्रारब्ध का द्रष्टा' ये तीन भाग हैं। जिसमें प्रकृति के दो भाग हैं– 'स्मृति और प्रारब्ध' तथा 'पुरुष' (द्रष्टा) तीसरा भाग है। तीसरे अध्याय में आपने देखा ही है कि शरीर को इन्द्रियाँ देखती हैं, इन्द्रियों को मन, मन को बुद्धि, बुद्धि को आत्मा देखता

है अर्थात् आत्मा सबको देखता है। इन्द्रियों में जो प्रारब्ध है वही मन कहलाता है और उस प्रारब्ध को देखने की क्षमता बुद्धि में है तथा बुद्धि पर शासन करने की क्षमता आत्मा में है। जो ऐसा जानता है, वह ज्ञानाग्नि में स्थित है। प्रारब्ध ने शरीर को, इन्द्रियों को, बुद्धि को, चित्त को, मन को, सबको बाँध लिया है लेकिन जैसे ही साधक ज्ञान में स्थित होता है वैसे ही यह प्रारब्ध छोड़कर भागता है; किन्तु भागते–भागते वह अपना कार्य भी करता जाता है, साधक की पिटाई भी करता जाता है यानी दुःख भी देता जाता है, जिसे वह द्रष्टा भोग लेता है। किसके माध्यम से भोगता है? तो कहते हैं कि वह मन के माध्यम से ही भोगता है। वह कहता है कि मैं नहीं भोग रहा हूँ बल्कि मन ही भोग रहा है (यह अज्ञानियों से मात्र कहने के लिए है)। वह अपने–आप से तो देख ही रहा है कि मैं नहीं भोग रहा हूँ बल्कि मेरी अध्यक्षता में मन भोग रहा है। यहाँ स्थूल स्मृति को मन कहा गया है, जैसे सोते समय स्थूल शरीर को छोड़कर वासना जब सूक्ष्म शरीर को धारण कर लेती है तब भी तो बुखार बहुत जोरों का रहता है, किन्तु स्थूल स्मृति के रहते हुए भी मन भोगता हुआ सा प्रतीत नहीं होता। इसलिए मात्र अज्ञानियों से यही कहा जाता है कि द्रष्टा मन के माध्यम से सुख–दुःख का भोक्ता है। ऐसी ज्ञानावस्था में सारे के सारे कर्म अस्तित्वहीन हो जाते हैं। 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं'– ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जला देती है। तो कौन कर्म जल जाते हैं और कौन शेष रहते हैं? इस विषय में कहा जाता है कि ज्ञान में स्थित होने के उपरान्त उस समय आपके द्वारा जो कर्म होगा जलता जायेगा अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करेगा। जैसे हवा में किसी ने लकीर खींची लेकिन लकीर दिखाई नहीं पड़ी, उसीप्रकार ज्ञानावस्था में प्रारब्ध करता रहेगा लेकिन पुरुष समझता रहेगा कि यह कर्म अपने–आप हो रहा है, अतः कर्म का फल उसे नहीं मिलेगा। 'तो क्या उसके तन, मन, वचन से बुरे कर्म भी होते हैं?' नहीं, नहीं, उन कर्मों पर उसका शासन भी होता है। चूँकि वह ज्ञान में स्थित हो गया है, अतः ज्ञानमय कर्म ही होंगे अज्ञानमय कर्म नहीं होंगे। तो फिर उसके द्वारा होते हुए कर्म की परिसमाप्ति कहाँ होगी, वे कहाँ जाकर विलीन हो जायेंगे? हाँ, उसकी उपासना करनेवालों में, उसकी सेवा–शुश्रूषा करनेवालों में जाकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। उसके द्वारा हुए कर्मों को न पुण्य कहते हैं, न पाप कहते हैं बल्कि उन्हें तो ब्रह्मकर्म कहते हैं। ब्रह्मकर्म कभी जलता नहीं, अतः वह ब्रह्मकर्म ज्ञान में स्थित होने के उपरान्त सर्वप्रथम तन, मन, वचन, इन्द्रियों को परम पावन बना देता है, उसके उपरान्त होनेवाले कर्म भक्तों के तन, मन, वचन को परम पावन बना देते हैं। 'किन्तु जो शेष कर्म रह गया, उसका क्या होगा? क्योंकि इस मंत्र में तो ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जला देती है, ऐसा कहा गया है। तो क्या संचित और प्रारब्ध भी जल जाते हैं?' नहीं नहीं, प्रारब्ध तो उसका शरीर है ही, जो निश्चित समय पर जाकर अपने कारण में विलीन हो जाता है और जो संचित कर्म है, वह तो ज्ञानमय हो ही जाता है, ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इसीकारण वह दूसरे जन्म का हेतु नहीं बनता।

(यस्य सर्वे समारम्भाः.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! ज्ञानाग्नि से कर्मों को जलाकर श्रद्धाग्नि से प्राप्त हुए अन्न का उपभोग करो, पलायनवादी न बनो, मेरे लिए सम्पूर्ण कामाग्नियों की ज्ञानाग्नि में आहुति दे दो, तुम काम एवं संकल्पों का सर्वथा त्याग कर दो। जिन

लोगों के लिए तुम युद्ध नहीं करना चाहते हो, यदि वे लोग तुम्हें चाहियें ही चाहियें, तो तुम निष्कामी कैसे हुए? संन्यास तो निष्कामी पुरुष लेता है। राज्य अपने लिए चाहो या उनके लिए चाहो बात बराबर है। तुमने कहा– मैं भिक्षा माँगकर जीना चाहता हूँ, लेकिन रक्त से सने हुए धन का उपभोग नहीं करना चाहता, तो क्या रक्त से सने हुए धन को खाकर उन्हें जीने का अधिकार है? क्योंकि ये कौरव भी तो तुम्हारे धन को छीनकर ही जी रहे हैं! क्या ऐसे में वर्णसंकरता नहीं होगी?

भगवान ने पैनी दृष्टि से यहाँ पर महात्मा अर्जुन को प्रबोधित किया है। (असावधानी में व्यक्ति बहुत कुछ कह जाता है लेकिन उसके मूल को नहीं जानता; भगवान उसी मूल को बता रहे हैं।) मानो वे कह रहे हैं– तुम कहते हो कि भिक्षा का अन्न खाकर अर्थात् संन्यासी बनकर जीना चाहता हूँ और ये कौरव सुखपूर्वक ऐसे ही जीयें तो फिर तुमने पहले युद्ध क्यों किया? वे सब भी तो जी ही रहे थे? जब तुम्हारी सम्पत्ति को छीनकर ये रक्त का ही पान करेंगे तो इनकी बुद्धि तो और भी भ्रमित हो जायेगी। ये घोर पापाचारी तो हैं ही, फिर और भी अत्याचारी हो जायेंगे। ऐसे अत्याचारियों के वीर्य से प्रकट होनेवाले बालक स्वभाव से ही अत्याचारी होंगे, अतः स्वतः ही वर्णसंकरता प्रशस्त हो जायेगी। फिर तो ये भी जीने के अधिकारी नहीं है, लेकिन तुम कौन होते हो यह कहनेवाले? इन क्षुद्र कामाग्नियों में अपने हृदय को क्यों जला रहे हो? ज्ञानाग्नि जलाओ और तब तुम कह सकते हो कि ये जीयें चाहे न जीयें लेकिन मैं जीऊँगा। मोहाग्नि के कारण से तुम उलटी बात मत करो।

महात्मा अर्जुन ने भगवान के प्रति बहुत सा अपराध किया है, बहुत सी गालियाँ दी है, बहुत सा उपदेश दिया है प्रभु को। यदि गिनती की जाय तो अर्जुन के द्वारा भगवान को सैकड़ों गालियाँ दी गई हैं। महाराज का प्रयास है कि उन गालियों को खोले, फिर गिनती की जायेगी कि कितनी गालियाँ दी गई हैं। दूसरे अध्याय के 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से लेकर 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्' तक भगवान ने अर्जुन को जो भी कुछ कहना था कह दिया था, लेकिन तो भी अर्जुन भगवान को पहचान नहीं पाये और प्रथम अध्याय की तरह अन्यान्य अध्यायों में भी प्रश्नों के माध्यम से प्रकट तथा अप्रकटरूप में गालियाँ देते रहे। भगवान भी उनसे कहीं कम नहीं हैं, वे भी प्रत्येक उत्तर ऐसा दे रहे हैं, मानो परमाणु बम फेंक रहे हों। इसलिए हो सकता है कि महाराज के द्वारा किये हुए भाष्य को साधकों एवं भक्तों को छोड़कर अन्य जो भी पढ़ें, वे महाराज को गाली ही देते रह जाएँ लेकिन गाली देनेवालों को यह जान लेना चाहिये कि महाराज की इसमें अपनी बात एक भी नहीं है, जो कुछ भी है भगवान की है। अतः बुरा न मानें अन्यथा आपके द्वारा दी गई वह गाली भगवान को लग जायेगी।

मानो प्रभु कह रहे हों कि तुम कहते हो कि इन आततायियों को, जघन्य अपराधियों को जीने दिया जाय! एक तो तुम जी नहीं रहे हो, मरने के लिए ही सही युद्ध नहीं कर रहे हो और दूसरी तरफ इन्हें जीने दिया जाय, यह माँग कर रहे हो! ऐसा कहना महा अपराध है।

भगवान की बात तो काँटे की लग रही है। महात्मा अर्जुन तो मानो कह रहे हों कि चोर

को चोरी करने दिया जाय, स्वजन यदि महापापी हैं तो उसे पाप करने दिया जाय, यदि माँ वेश्या है तो वेश्यागामी को उसके पास जाने दिया जाय। वे कहते हैं कि इन कौरवों को पृथ्वी का उपभोग करने दिया जाय; जिस पृथ्वी को भगवान ने बनाया, उसका उपभोग कौरव करें– ऐसा अर्जुन कहनेवाले होते कौन हैं? स्वयं तो उपभोग करना नहीं और चोरों, छलियों, कपटियों के लिए प्रार्थना करना! अरे! ऐसा करना तो महा अपराध है। यह तो वही बात हो गई कि लक्ष्मण और भगवती सीता श्रीराम प्रभु से कहें कि 'जयन्त के अपराध को क्षमा कर दिया जाये, रावण के अपराध को क्षमा कर दिया जाये।' यदि अर्जुन ऐसे पापाचारियों का साथ देते हैं, उनके लिए प्रार्थना करते हैं तो उन्हें भगवान ही क्या महात्मा युधिष्ठिर भी जीने नहीं देंगे। ज्ञानाग्नि वैसे ही कामाग्नि को जला देती है, जैसे पुरुष काँपता हुआ आग के पास जाता है तो ठंड चली जाती है। अर्जुन को जानना चाहिये कि भगवान का दर्शन करने मात्र से ही महात्मा युधिष्ठिर की सम्पूर्ण कामनायें चली गई हैं, किन्तु ज्ञानाग्नि स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को देखकर भी इन कौरवों का काम नहीं जा रहा है। जब बुखार हो जाता है तब सूर्य के ताप में भी ठंड लगने लगती है। तपता हुआ सूर्य भी ज्वर से ग्रसित व्यक्ति को ताप नहीं पहुँचा सकता। वैसे ही ये इतने जघन्य अपराधी हैं, इतने पापाचारी हैं कि प्रभु को पाकर भी इनका कामरूपी पाप नहीं जा रहा है। भक्त अर्जुन की भी यही कहानी है। कौरव अधर्मरूपी काम में प्रतिष्ठित हैं और वे धर्मरूपी काम में प्रतिष्ठित हैं। धर्म भी तो एक दिव्य ज्वर ही है, जिसने उन्हें ग्रसित कर लिया है। जिसका उपचार धर्म–अधर्म से परे, प्रभु ने करना प्रारम्भ कर दिया है।

पुनः इसी मंत्र के द्वारा ज्ञानाग्नि की सिद्धि होती कैसे है? इसको उद्घाटित करने के लिए प्रभु ने अगले मंत्रों से खुलासा किया है–

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

उसके उपरान्त अपने स्वरूप से तृप्त हुआ पुरुष निरालम्ब हुआ कर्मफल और उसकी आसक्ति को त्यागकर स्वाभाविक कर्तव्य कर्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता। इतना ही नहीं, वह किसी से कुछ चाहता ही नहीं और जीते हुए मनवाला वह सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर देता है। अतः शरीर, मन, वाणी द्वारा होते हुए कर्म से उसे आसक्तिरूप दोष स्पर्श नहीं करता।

ज्ञान में स्थित हुआ साधक निष्काम कर्म भी करता है और पूर्व के कर्मफल का त्याग भी करता है। ये दोनों बातें उसमें सहज देखी जाती हैं। ये दोनो बातें उसमें सहज कैसे देखी जाती हैं? ऐसे कि ज्ञानाग्नि के द्वारा कामाग्नि जल गई है न उसकी, अतः नित्यतृप्ति हो जाने के कारण से अब वह कर्म के आश्रित नहीं होता बल्कि कर्म ही उसके आश्रित हो जाता है। वह तो

न कर्म के आश्रित होता है न जप के, न तप के, न योग के बल्कि वह स्वयं के ही आश्रित हो जाता है; लेकिन ऐसी अवस्था में वह कर्म को ही त्याग देता है ऐसा क्यों नहीं कहा भगवान ने? इसलिए कि ज्ञान के साथ कर्मयोग का प्रकरण चल रहा है। अच्छा! अच्छा! तो अपने स्वरूप में स्थित होकर कौन सा कर्म करेगा? हाँ, वह फल का त्यागकर सद्गुरु के द्वारा निर्धारित कर्म को करेगा। कर्म का फल क्या है, जिसे वह त्यागेगा? यह तो स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है कि माता–पिता, धर्मपत्नी, पुत्र, भाई–बान्धव, मित्र, कुल–परिवार, मकान, धन–सम्पत्ति, आदि सारे के सारे कर्म के फल हैं; इन्हीं से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मान–सम्मान तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, इसकारण से ये कर्म के फल हैं। माता–पिता, बाल–बच्चे, भाई–बान्धव, हित–मित्र, आदि प्रेम करते हैं और वैरी द्वेष करता है, ये दो प्रकार के फल हैं। कभी–कभी जिन लोगों से प्रेम मिलता है उन्हीं से द्वेष भी मिलने लगता है। ये भी कभी शुभ फल के दाता होते हैं तो कभी अशुभ फल के दाता होते हैं। अतः भगवान ने कहा– कर्मफल से अनासक्त होकर कर्म करना। इन स्वजनों से मन से अनासक्त हो जाना अर्थात् मन से इन्हें अपना मत मानना। मन में तो समझना कि ये कर्म के फल हैं न कि ये माता–पिता, भाई–बान्धव हैं। ऐसी स्पष्ट समझ रखने से इनसे आसक्ति हो ही नहीं सकती। बहुत से भक्त कहते हैं कि परिवार जनों से आसक्ति जाती ही नहीं, अतः भगवान में आसक्ति कैसे हो? अरे! कर्मफल को ही आप माता–पिता तथा परिवार मान लेंगे तो आसक्ति जायेगी कैसे? आप अज्ञान में भी स्थित रहें और ममता भी न रहे, ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं, उसके लिए तो 'निराश्रयः'– अज्ञान का आश्रय छोड़ना होगा और ज्ञान का आश्रय लेना होगा। आप विचार तो करें कि आप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं? क्या आप अपने–आप से नित्यतृप्त हो गये हैं, अति संतुष्ट हैं? यदि हाँ, तो स्वजनों से अनासक्ति आपके चरणों को नित्य ही चूमेगी, यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो आपका ज्ञान थोथा है, झूठा है।

प्रारब्ध के दो भाग होते हैं– स्थूल एवं सूक्ष्म (सगुण एवं निर्गुण)। जो निर्गुण संस्कार भीतर में दिव्य शब्द सुननेवाला बैठा है, वह सगुण साकाररूप किसी पुरुष के द्वारा दिव्य गीत गाये जाने पर सुनेगा। जो गा रहा है, वह भी सुन रहा है और जो नहीं गा रहा है, केवल सुन ही रहा है, वह तो केवल सुन ही रहा है। दोनों ही पुरुषों में श्रोता एक ही है। दिव्य गीत सुनने के उपरान्त जो आह्लाद गानेवाले के भीतर हो रहा है, वही आह्लाद सुनने वाले के भीतर भी हो रहा है उस आह्लाद (आनन्द) में तो कोई अन्तर है ही नहीं। इससे स्पष्ट हो गया कि दिव्यशब्द से आनन्द प्राप्त करनेवाला जो निर्गुण पुरुष भीतर है, वही सगुण होकर गा रहा है। माँ अपने बेटे को दिव्य व्यंजन, दिव्य रस खिला रही है, जबकि वह भी खानेवाली है। तो जो बेटे के भीतर बैठा हुआ निर्गुण पुरुष दिव्य रस खा रहा है, वही सगुणरूप माँ होकर खिला भी रहा है। 'जो बाहर है वही भीतर है'– यह मधुर पहेली है, जिसे सूक्ष्म हुई बुद्धि के द्वारा उच्चकोटि के साधक समझेंगे। अतः जो बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को देते हैं, वैसे लोगों से अनासक्त हो जायें। इसलिए कि अनासक्त होते ही वे जो निर्गुणरूप में भीतर बैठे हुए हैं, वे अपने सगुण आत्मा के अभाव में मृतप्राय हो जायेंगे। इस गूढ़ात्मक तत्त्व को आप फिर से समझें– अज्ञानावस्था में

आप जिन्हें माता–पिता, भाई–बान्धव, समझते थे, उन्हीं को आप अर्धज्ञानावस्था में देवता समझ लेते हैं तथा साधना की गहराई में उतरने पर उन्हीं को आप कर्मफल के रूप में देख लेते हैं। वैसी अवस्था में मन से इनका त्याग करना सुगम हो जाता है। कर्मयोगी सर्वप्रथम मन से ही कर्म के फलों का त्याग करता है, जबकि सम्पूर्ण ज्ञानयोग में तो उनके शरीर को ही त्याग दिया जाता है। सम्पूर्ण संन्यासयोग में भी जगत के लोग तो देवता बनकर आयेंगे ही विषय देने के लिए, संन्यासी भले उसे स्वीकार करे, न करे।

अरे मूसा! इसप्रकार क्यों बैठे हो यहाँ? नारदजी ने विनोद करते हुए मूसा नामक संन्यासी से पूछा। मूसा ने पूछा– 'आप कहाँ जा रहे हैं?' भगवान के पास जाता रहता हूँ न, वहीं जा रहा हूँ। नारदजी ने कहा। तो बताओ ऐसे तुम क्यों बैठे रहते हो? नारदजी ने फिर पूछा। और आप दौड़ते क्यों रहते हैं? मूसा ने पूछा। 'मन नहीं मानता भगवान के पास गये बिना न!' नारदजी ने कहा। मूसा ने कहा– 'बस, बस, बस, मन नहीं मानता न मेरा बैठे बिना! बैठा रहता हूँ चलने का मन ही नहीं करता।' तो ठीक है तुम्हारी मस्ती है, बैठे रहो अजगर की तरह। ऐसा कहकर नारदजी चलते बने। ठहरें! हे देवर्षि! ठहरें!! जाएँ, भगवान के पास जा रहे हैं तो एक संदेश लेते जाएँ। आप सबकी प्रार्थना को लेकर जाते हैं, कोई कुछ माँगता है, कोई कुछ माँगता है, सबकी बात कह देते हैं तो मेरी बात भी कह देंगे? विनोद करते हुए मूसा ने पूछा। क्यों नहीं! क्यों नहीं!! आपकी बात भी अवश्य कहेंगे। नारदजी ने स्वीकृति दे दी। मूसा ने कहा– 'कहना उस भगवान से कि जो मूसा नाम का पागल बैठा है न रास्ते में, अब वह आपकी नगरी में नहीं रहना चाहता। दूसरी बात कहना कि वह मेरे पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध क्यों भेजता है? मैं उसके द्वारा भेजे हुए किसी भी प्रकार के फल को नहीं लेना चाहता। तीसरी बात कहना कि मैं अब उसे भगवान नहीं मानता।' नारदजी ने कहा– यह तो तुमने बड़ी बात कह दी। भगवान को नहीं मानोगे तो फिर किसको मानोगे? मूसा ने कहा– आप घबराते क्यों हैं? ऐसा तो है ही नहीं कि मैं आपको नहीं मान रहा हूँ। मैं आपसे कह रहा हूँ कि भगवान से कह रहा हूँ? नारदजी आश्चर्यचकित हो भगवान के पास जाकर दूसरे दिन मूसा के पास लौट आये और कहा– लौट आया मूसा! लौट आया! भगवान के पास से लौट आया! तो क्या कहा आपके भगवान ने? मूसा ने पूछा। हाँ, भगवान ने आपके लिए कहा है कि वे संत हैं, पागल नहीं हैं, हे देवर्षि! वे पागल नहीं हैं। मुझे मानें न मानें, यह तो उनकी बात है। मैं जितना मानूँगा, वे मुझे उतना मानेंगे, यह तो परस्पर का आदान–प्रदान है। मुझे भगवान मानें या जीव मानें, मेरे पर तो उसका प्रभाव कुछ पड़ता नहीं है। उनका यह प्रस्ताव मुझे स्वीकार है। उनका दूसरा प्रस्ताव भी मुझे स्वीकार है कि यदि वे मेरे मृत्युलोक में नहीं रहना चाहते हैं तो जाएँ अपने द्वारा निर्मित किये हुए अमृतलोक में जाएँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं। वे अपनी धरती, अपना आकाश, अपना लोक बना लें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, मैं कोई हस्तक्षेप करूँगा ही नहीं। लेकिन तीनों में से जो एक बात है, जिसमें उन्होंने कहा है कि भगवान मेरे पास कुछ न भेजे, मैं कुछ लेना नहीं चाहता, यह अस्वीकार है। यदि वे अपनी दूसरी सृष्टि की रचना करके उसमें चले जाएँ तो भी मैं उनके पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान–सम्मान, पद–प्रतिष्ठा आदि तो भेजूँगा। इसलिए कि उनके द्वारा पहले दी

हुई वस्तु तो मेरे पास सुरक्षित है न! मैं तो उनकी एक वस्तु को हजार गुनी बनाकर लौटाऊँगा ही लौटाऊँगा। मैं विवश हूँ, उनकी वस्तु को लौटाने के लिए। चाहे वे स्वीकार करें या न करें, यह तो उनके अधिकार की बात है। मैं कब चाहता हूँ कि वे स्वीकार ही करें, यह तो उनकी इच्छा है।

उपरोक्त दृष्टान्त से पता चलता है कि कर्मफल को त्याग करने में आप स्वतन्त्र हैं, किन्तु कर्म को त्याग करने में अभी स्वतन्त्र नहीं हैं। हाँ, एक समय आता है कि कर्म ही आपका त्याग करता है। इसीलिए साधना के प्रथम चरण में भगवान ने कहा कि कर्म के फल को आप त्याग सकते हैं। जैसे माँ को फल समझकर तो त्याग कर सकते हैं लेकिन माँ को माँ समझकर त्याग नहीं कर सकते, स्वजनों को स्वजन समझकर त्याग नहीं कर सकते, हाँ उन्हें फल समझकर त्याग कर सकते हैं। माँ कहती है कि बेटा मैं तुम्हारी माँ हूँ और आपको बोध हो गया कि यह माँ नहीं, मेरे पुण्य का फल है तो वैसी अवस्था में उससे संन्यास लिया जा सकता है, ऐसा करने से पाप नहीं लगता। लोग कहते हैं कि 'माता–पिता, बाल–बच्चों के त्याग का परिणामरूप फल दुःख तो भोगना ही पड़ता है, उनकी आह शाप होकर लगती है।' इसपर भगवान ने कहा कि जो अन्धे होते हैं, अविवेकी होते हैं, वे ही ऐसा कहते हैं। उन्हें तो अपना पुण्य और पाप ही माता–पिता, भाई–बान्धवों जैसा दिखाई पड़ता है, वे क्या करें! यदि वे उन्हें छोड़ते हैं तो आह तो लगेगी ही लगेगी लेकिन जो मुमुक्षु हैं, जिज्ञासु हैं, जिन्हें उनके भीतर भगवान दिखाई पड़ रहा है तथा ऊपर से उनका शरीर पुण्य और पाप का फल दिखाई पड़ रहा है, तो शरीररूपी फल को त्यागकर उसमें रहनेवाली आत्मा को स्वीकार करेंगे। इसप्रकार उनकी वेदना, उनकी आह, उनका शाप संन्यासी तक नहीं पहुँच पाता।

कभी–कभार बीच–बीच में युद्ध के मैदान की तरफ भी हमसब झाँक लिया करें! तो आयें, देखें कि भगवान अर्जुन से क्या कह रहे हैं। मानो प्रभु कह रहे हैं कि हे पार्थ! ये सब देवता ही नहीं हैं, ये तुम्हारे पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य एवं अन्यान्य स्वजन देवता ही नहीं हैं (तीसरे अध्याय में स्वजनों को भगवान ने देवता की संज्ञा दी थी) बल्कि पुण्य और पापरूप फल हैं, जिन्हें तुम अज्ञानावस्था में अपना स्वजन ही मान बैठे थे। हस्तिनापुर भी एक फल है, अतः इन स्वजनरूपी फलों को तुम त्यागने में समर्थ हो, इसलिए त्याग दो। (यहाँ पर भी सहजता से भगवान नारायण ने फल की अवहेलना करने की बात की है।) हे पार्थ! फल यदि अपनी तरफ त्यागने पर भी आता है तो उसे किसी पशु को खिला देना चाहिये। उसीप्रकार ये तुम्हारे गुरुजन तथा स्वजन तुम्हारे नहीं चाहने पर भी तुम्हारी तरफ फल के रूप में आ ही रहे हैं और तुम नहीं खाना चाहते हो तो फिर इन फलों को मुझे ही खिला दो, मैं इन्हें खा जाऊँगा। ऐसा फल खाने के लिए तो मैं भूखा हूँ। तो जल्दी करो, देर न करो, इन्हें मेरे मुख में डाल दो (बड़ी तुच्छ दृष्टि से भगवान नारायण ने देखा उनलोगों को। जो निर्मल वैराग्यशील एवं मुमुक्षु होता है, वह स्वजनों को फल समझकर बड़ी हेय दृष्टि से देखकर त्याग देता है।) हे पार्थ! किये हुए वमन को कोई देखता नहीं है, यदि फल खा लिया और जी मचलाने लगा तो उल्टी कर दिया जाता है। यही नहीं, यदि किसी फल को खाया और वह प्राणघातक होने लगा तो जल पीकर उल्टी

कर दिया जाता है। वैसे ही पहले तुमने गुरुजनों एवं स्वजनों को खा लिया (स्वीकार कर लिया), लेकिन अब जब तुम्हारे लिए ये प्राणघातक हो रहे हैं तो इन्हें उल्टी कर दो, निकालो, त्यागो, वध करो!

हे पार्थ! फल बड़े प्रीतिकर होते हैं लेकिन भगवत् फल को प्राप्त करना है तो कर्म के फल का त्याग करना ही होगा। भगवत् फल को प्राप्त करना है तो प्रेतफल, पितरफल, देवफल, मानुषफल आदि को त्याग करना होगा, उनकी उल्टी करनी होगी। अतः तुम देर क्यों कर रहे हो? तुम मारते जाओ, मैं खाता जाऊँगा। ये पके हुए फल हैं, अब गिरने ही वाले हैं। जानते हो पार्थ! यह पुरातन वृक्ष है, जिसे तुम संसार कहते हो, इस वृक्ष में तीन प्रकार के फल लगे हुए हैं– तामस, राजस एवं सात्त्विक। तामस फल कीट–पतिंगे, पशु–पक्षी हैं, इनको त्याग करने की आवश्यकता ही नहीं है; इन्होंने तो तुम्हारे को ही त्याग कर दिया है। सात्त्विक फल जो देव प्रकृति के लोग हैं, वे भी इस युद्धभूमि में नहीं आये हैं और आयेंगे भी नहीं, उन्होंने तो स्वयं तुम्हारा त्याग कर दिया है तथा ये जो तुम्हारे स्वजन एवं विपक्षी राजालोग हैं, ये राजस फल हैं जो यहाँ आये हुए हैं। जो ऐश्वर्य की कामना से, मान–सम्मान, पद–प्रतिष्ठा की कामना से स्वयं जीते हैं और अपने बाल–बच्चों को भी उसीप्रकार जीने की प्रेरणा देते हैं, वे (राजस फल) उसी कोटि के तो हैं लेकिन पक गये हैं। इन्हें झकझोरो! गाण्डीव उठाओ! तरकस से बाण निकालो! टंकार करो! शब्द सुनकर ये सारे के सारे भरभरा कर गिर जायेंगे। नहीं देखते हो! बिजली कड़कती है फल गिरते हैं, आँधी चलती है फल गिरते हैं। अतः हुंकार भरो ये गिर जायेंगे। माना कि तुम्हारे को इनसे मोह हो गया था, आसक्ति हो गई थी, लेकिन अब तो तुम जान ही गये कि ये मेरे संसाररूपी वृक्ष के राजस फल हैं। अब सड़ांध पैदा होनेवाली है इनसे, दुर्गन्ध आनेवाली है। नियम है कि टोकरी में यदि एक फल सड़ गया है तो उसे निकालकर फेंक दिया जाता है ताकि फल और न सड़ें, वही काम अब तुम्हें करना है। इनके आचार–विचार और व्यवहार को सुनने एवं देखने से दुर्गन्ध आ रही है। हे महावीर! दुर्गन्ध तो तुमको भी आ रही है, तुमने भी तो कहा ही है कि हे प्रभु! मैं इन जघन्य अपराधियों को आततायियों को कैसे मारूँ? ये तो स्वयं मरे हुए हैं, मरे हुए को मारकर अपने को क्या प्रीति होगी? मैं तो तुमसे पूछता हूँ कि क्या मरे हुए लोगों को सड़ने दिया जाये, उनसे दुर्गन्ध फैलने दिया जाये? सच पूछो तो दुर्गन्ध तो तुमको भी आ रही है, लेकिन मोह है न! जर्जर शरीर से जर्जरित होते हुए पितामह के शरीर के प्रति भी तुम्हें मोह है, लेकिन तुम्हारे मन में यह बात आती ही है कि आज नहीं तो ये कल जाएँ।

प्रत्येक घर में ऐसी भावना रहती है। जब वृद्ध पुरुष अत्यन्त जर्जर हो जाते हैं तो उनके बाल–बच्चे कहते हैं कि हे प्रभु! इनको ले जाएँ, ये भीतर से अत्यन्त जर्जर हो चुके हैं, पापरूपी कीड़े ने इनकी बुद्धि को खा लिया है। हे पार्थ! तुम भी ऐसी ही स्थिति में अब इनके विषय में ऐसा कहने ही वाले हो। अतः अब इनका आश्रय मत लो, अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ! तुम नित्यतृप्त हो, तुम ऐसा कर सकते हो।

संजय के द्वारा स्वजनों के लिए फल की संज्ञा सुनकर धृतराष्ट्र विकल हो गये हैं। वे कह रहे हैं– संजय! यह तुम क्या सुना रहे हो? क्या भगवान इतने निर्दयी हो गये हैं कि ऐसी अवहेलनापूर्ण भाषा का प्रयोग कर रहे हैं?

हाँ राजन्! इसे आप अतिशयोक्ति ही क्यों समझते हैं, जो यथार्थ है उसे स्वीकार क्यों नहीं करते? राजन्! विडम्बना तो यह है कि इतना होने पर भी आपकी बुद्धि कुछ भी नहीं समझ पा रही है।

धृतराष्ट्र तो नहीं समझ पायेगा संजय! तुम ही समझ लो! लेकिन मधुसूदन के द्वारा ऐसा कहना शोभा नहीं देता! ऐसी तुच्छ दृष्टि से जितेन्द्रिय वीर पितामहभीष्म को देखते और ऐसी संज्ञा से विभूषित करते देख, इन्हें कौन भला कहेगा। क्या, ये गुरुजन इसप्रकार के फल हैं, जिनमें दुर्गन्ध आने लगी है!

हे राजन्! आप अपने सारथि संजय की बात पर विश्वास करें तो भगवान मधुसूदन आपको भी सड़ा हुआ फल ही बता रहे हैं! आप उन सड़े हुए फलों में से अपने को क्यों अलग कर लेते हैं?

अच्छा, तो ये बात है.....!! तुम भी उन्हीं की भाषा बोलने लगे हो! (आहें भरते हुए, अपनी वेदना को प्रकाशित करते हुए) अच्छा तो चलो! कोई बात नहीं, अब आगे पता नहीं कौन–कौन सी संज्ञाएँ प्राप्त होंगी!

हाँ राजन्! अभी तो भगवान कह रहे हैं अर्जुन से कि तुम नित्यतृप्त, निराश्रय हो और कुछ ही देर में सुनेंगे आप कि अर्जुन ही कहेंगे कि हे प्रभु! मैं अब आपके ही आश्रित हूँ।

बहुत देर हो गयी युद्ध की झाँकी को देखते हुए। अतः पुनः साधकों की युद्धभूमि में महाराज लौट रहा है, जहाँ इस मंत्र के माध्यम से उनसे बहुत कुछ बातें करनी हैं। (त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं.....) कर्मफल से अनासक्त होने में साधकों को भय लगता है, क्योंकि न वे अपने आश्रित रहते हैं और न सद्गुरु के आश्रित रहते हैं। हाँ, स्वजनरूपी फल के आश्रित रहने का भ्रम हो गया है, लेकिन तो भी तो उनके मन में उच्चाटन है ही, फिर स्वजनरूपी फल के भी आश्रित कहाँ हैं? भगवान तो मात्र इतना ही कहते हैं कि पहले आप अपने आश्रित हो जायँ अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' इस भाव के आश्रित हो जाएँ, फिर देखें कि आपको नित्यतृप्तता कैसे नहीं प्राप्त होती है।

महाराज ने एक संत के व्यवहार को देखा कि उनके साथ पाँच साल रहनेवाला साधक रहते–रहते ऊब गया अर्थात् उसके मन में उच्चाटन हो गया। संत देख रहे थे कि सेवा–शुश्रूषा से इसके तन, मन, वचन, हृदय में सतोगुण की बाढ़ आ गयी है, जिसे यह पचा नहीं पा रहा है। संत की दृष्टि में वह एकान्त में रहने का अधिकारी नहीं था। अतः उन्होंने कहा– पहले तो तुम ये निर्णय कर लो कि तुम अपने मन की आज्ञा से जा रहे हो या तुम्हारा कोई अपना भगवान है, उसकी आज्ञा से जा रहे हो। यदि तुम्हारे भगवान ने आज्ञा दे दी हो सपने में या किसी अन्य संकेत से या तुम्हें ऐसी आज्ञा की अनुभूति हो गयी हो, तब तो तुमको सहर्ष जाना ही चाहिये,

लेकिन यदि ऐसा नहीं है तो तुम विश्वास करो कि अभी सतोगुण की बाढ़ आ गयी है। यहीं पर पाँच–पाँच घण्टे ध्यान में बैठो; गृहस्थों के पास साथ में मत चलना कुछ ही दिनों में पता चल जायेगा कि तुम्हारा नित्य वैराग्य है या सतोगुण का आवेग है लेकिन तो भी उसकी उदासी नहीं गयी। तब संत ने कहा कि ऐसा करो– अपने ही इष्ट का स्मरण करके ध्यान में पूछो, पाँच–छः दिन में प्रेरणा हो जाएगी कि तुम्हारा जाना सही है या गलत, फिर जैसी प्रेरणा हो वैसा करना। उस साधक ने उन संत के इतना कहने पर भी कुछ नहीं किया। तब संत ने उसकी दयनीय स्थिति को देखकर कहा– 'तो जाओ! अपने ही आश्रम पर जाओ! कम से कम आधी आज्ञा मानो! अन्तिम सीढ़ी से एक ही सीढ़ी नीचे आओ! जप, तप, योग आदि सीढ़ियों से चढ़ते–चढ़ते कोई अन्तिम सीढ़ी सद्गुरु को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि आत्मज्ञान तो उन्हीं से मिलना है। अतः जप, तप, योग भी उन्हीं को प्राप्त करने के लिए किया जाता है और वे तुम्हारे को पूर्वजन्म की तपस्या एवं शरणागति के चलते इस जन्म में सहज ही प्राप्त हैं, फिर भी तुम उनका महत्त्व नहीं समझ पा रहे हो तो जाओ आश्रम पर साधना करो और मन ऊबे तो चले आना। उसने अपने गुरु से कहा कि बारह साल आपके साथ रहने का मेरा संकल्प था, यदि आश्रम पर मैं रहता हूँ तो फिर मेरा वह संकल्प खण्डित तो नहीं होगा, आपके साथ रहने का फल मिलेगा? तब उसके सद्गुरु ने कहा– मैं जाने की आज्ञा ही कहाँ दे रहा हूँ? मैं तो आश्रम पर घूमने की आज्ञा दे रहा हूँ। यदि साथ में हो और पाँव टूट जाय तो दो–तीन महीने तो मुझे ही सेवा करनी पड़ेगी लेकिन साथ में रहने का फल तो मिलेगा ही मिलेगा। उसीप्रकार तुम्हारा मन अभी विशेष घायल हो गया है, सतोगुण ने उसकी खूब पिटाई कर दी है, आश्रम पर रह लोगे तो कुछ दिन या महीनों में मन का घाव भर जायेगा। महाराज उस शिष्य की मूर्खता को देखकर मन ही मन हँस रहा था यह सोचकर कि इस मूर्ख ने तो अपने सद्गुरु को भी स्वजनों की ही तरह सामान्य फल ही समझ लिया है। लगता है इस मंत्र का इसने उलटा अर्थ लगा लिया है, जबकि सद्गुरु तो साक्षात् सगुण ब्रह्म ही है, वह तो अमृतफल ही है। वह तो स्वयं शिष्य के लिए अमृतफल बनकर, उसे अमर बनाकर जगत के लिए उपयोगी बनाकर छोड़ देता है। प्रथमावस्था में जगत को छोड़ना पड़ता है और सद्गुरु को पकड़ा जाता है और द्वितीयावस्था में सद्गुरु शिष्य को वैसे ही छोड़ता है जैसे पक्षी अपने बच्चे के पंख उग जाने पर, उन्हें आकाश में उड़ना सिखाकर छोड़ देते हैं। महाराज एकबार एक आश्रम में ठहरा था कमरे में दो–चार चिड़ियों के बच्चे थे, नर–मादा उनके लिए चारा चुगने गये हुए थे। तबतक जिनके दोनों पंख यौवन को प्राप्त नहीं हुए थे, वे बच्चे फुदक–फुदककर जल्दी में आकाश में उड़ने की कामना से घोंसले से कूद ही गये और उड़ न सकने के कारण से धरती पर गिरते ही कौवे के ग्रास बन गये। ठीक यही बात सतोगुण के आवेश में बहकर सद्गुरु का संसर्ग त्याग करनेवाले साधकों की होती है।

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' से कोई साधक यह न समझ ले कि भगवान सद्गुरु को भी कर्म का फल समझकर त्याग करने को कह रहे हैं; क्योंकि इसी अध्याय के चौतीसवें मंत्र में आत्मजिज्ञासु को सद्गुरु के ही शरणागत होकर रहने की प्रभु ने आज्ञा दी है। इतना तो साधकों को जान ही लेना चाहिये कि जिसप्रकार हनुमानजी बन्दर नहीं हैं, गंगाजी नदी नहीं हैं, कल्पवृक्ष

पेड़ नहीं है, उसीप्रकार सद्गुरु किसी कर्म का फल नहीं है बल्कि वह तो साक्षात् सगुण ब्रह्म ही है, जिसका प्यार तो प्यार है ही दुत्कार भी परम प्यार है। सत् अपने–आपमें सत् होता है, उसका सानिध्य चाहे जिसप्रकार हो, सत् बनानेवाला ही होता है। हनुमानजी की सानिध्यता को लंकिनी ने पलभर पाया था और वह भी उनके घूसे के माध्यम से। सत् ने ऐसा घूसा मारा कि उसका राक्षसपना रक्त के माध्यम से निकल गया और वह सत् ही हो गयी। लंकिनी ने हनुमानजी को लंका में जाने से रोका था और यहाँ अर्जुन ने भगवान को हस्तिनापुर में जाने से रोक दिया है। वहाँ घूसे की मार थी तो यहाँ व्यंग्यबाणों की मार है। भगवान का एक–एक व्यंग्यबाण वैसे ही महात्मा अर्जुन को गर्त के गड्ढे से निकालने में सफल हो जायेगा जैसे द्रोणाचार्य ने कुएँ में गिरी हुई गेंद को सींक के बाणों से क्रमशः बाणों पर मारकर निकाल लिया था। एकतरफ महात्मा अर्जुन भगवान परशुराम जैसे के शिष्य पितामहभीष्म जैसे बलाबल से सम्पन्न दिव्य पौरूषमय पुरुष से मन ही मन काँप रहे हैं तो दूसरी तरफ भगवान की दिव्य हृदयरूपी बाँसुरी से ज्ञानाग्निरूप राग सुनकर धीरे–धीरे भयवृत्ति से जाग रहे हैं। आध्यात्मिक युद्धभूमि में साधक भी कभी इसीप्रकार विषम रोगों से काँप जाता है और कभी मोहरूपी वृत्ति से संकोच में आ जाता है। रामानन्द कहता है– अरे! राम, राम, राम! मेरे से तो कभी इस जीवन में अखण्ड पन्द्रह–सोलह घण्टे एक आसन से बैठा ही नहीं जायेगा। तो महाराज कहता है कि तुम्हें एक आसन से अखण्ड बारह–पन्द्रह घण्टे बैठने को कहता भी कौन है! तुम्हारे जैसा श्रद्धा एवं भक्ति से सम्पन्न साधक तो कर्मफलरूपी भक्त समुदाय का त्यागकर आज यहाँ कल वहाँ रहता हुआ परिव्राजक बन जाय तो चौबीसों घण्टे एक आसन से बैठने का फल मिल जायेगा। जिसे सद्गुरु के द्वारा प्राप्त हुई ज्ञानाग्नि से अनुसन्धान करने पर यह पता चल गया है कि 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' अर्थात् जो भी कुछ है ब्रह्म ही है जगत भाव तो मिथ्या ही है, तो उसके लिए उसका प्रयोग शेष रहता है न कि ध्यान।

(.....नित्यतृप्तो निराश्रयः.....) ऐसा कहने से स्पष्ट अर्थ निकल रहा है कि या तो कर्मफल को त्यागकर अपने आश्रित हो जायँ या अपने आश्रित होकर कर्मफल को त्याग दें। आत्मरूप में स्थित हो जाते हैं तो भी कर्मफल (स्वजनों) के त्याग में सुगमता हो जाती है और कर्मफल को ही पहले त्याग देते हैं तो आत्मरूप होने में सहजता हो जाती है, यह पहली बात है; दूसरी बात– नित्यतृप्तता तभी प्राप्त होती है, जब आत्मरूपता प्रकट होती है। बहुत से आश्रय होते हैं जिनमें साधक जाने–अनजाने में स्थित रहता है– माँ का आश्रय, पिता का आश्रय, पुत्र का आश्रय, पत्नी का आश्रय, भाई का आश्रय, जाति का आश्रय, कुल–परिवार का आश्रय, मित्र–सुहृद का आश्रय, योग का आश्रय, जप का आश्रय, तप का आश्रय, ये सब आश्रय ही तो हैं। साधक खोज करे कि इन आश्रयों में अवश्य ही उसने किसी न किसी का आश्रय ले रखा है, तभी तो स्वयं के आश्रय में नहीं रह पा रहा है। इतना ही नहीं वह नित्यतृप्त अर्थात् नित्यसंतुष्ट भी नहीं हो पा रहा है, इसलिए कि वह अनित्यतृप्तों के संसर्ग में है। सारे स्वजन कभी सन्तुष्ट होते हैं, कभी असंतुष्ट होते हैं, कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, यही अनित्यतृप्तता है। नित्यतृप्तता तभी आती है जब या तो नित्यतृप्त (सद्गुरु या संत) का संसर्ग और सत्संग प्राप्त

हो या आत्मरूपता अखण्ड बनी रहती हो। अनित्यतृप्त साधक की व्यथा को देखते बनता है।

महाराज ने एक साधक से कहा– आप कैसे असन्तुष्ट हैं? अतृप्तता कैसे आपमें आ गयी, आपने तो बहुत बड़ा त्याग किया है? जिस पद के लिए मान–सम्मान के लिए लोग प्रयत्न करते रहते हैं, उसे आपने त्याग दिया फिर भी आप नित्यतृप्त न हुए? उसने कहा– गुरुदेव! मेरे में दो दोष हैं– एक तो कभी मैं अव्यवस्थित रहा ही नहीं, पचास वर्ष की अवस्था तक किसी बात का अभाव नहीं रहा इसलिए अव्यवस्थित होने पर चित्त विकल हो जाता है; दूसरा किसी साधक में जब दोष दिखाई पड़ता है तो चित्त विकल हो जाता है। महाराज ने कहा– आपने यह कैसे सोच लिया कि घर छोड़ देने के बाद भी सम्पूर्ण व्यवस्था व्यवस्थित रहेगी? उच्चकोटि का साधक तो अपने पास अव्यवस्था बनाके रखता है तथा दूसरी बात कि दोष देखना तो गृहस्थाश्रमियों का धर्म है। क्या आप नहीं जानते थे कि संन्यास लेने के उपरान्त अपने दोष को देखा जाता है और दूसरे के गुण को देखा जाता है? आप गीताजी के सूत्रों को लेकर प्रयोग क्यों नहीं करते? तब उसने कहा– अति कठिन है, अति कठिन है, अति कठिन है! गुरुदेव! अति कठिन है! तब महाराज ने कहा– अति सरल है, अति सरल है, अति सरल है! दूसरे में गुण ही देखना और अपने अवगुणों को ही देखना अति सरल है।

महाराज कभी–कभार सोचता है कि भगवान का हो जानेवाला भगवान को ही चाहनेवाला, भगवान के लिए घर–बार छोड़ देनेवाला साधक परम महारथी है लेकिन अर्जुन जैसा महावीर महारथी, शील–संकोच एवं मोह के वशीभूत होकर जैसे अपने स्वरूप को भूल गया था, वैसे ही इन साधकों की भी कभी–कभार मूर्खता के आश्रित होने से बुद्धि सठिया जाती है।

नित्यतृप्त दो पुरुष होते हैं– एक वे जो सद्गुरु के आश्रित हैं, दूसरे वे जो आत्मभाव में स्थित हैं। बहुधा लोग भौतिक गुरु को ही सद्गुरु मान लेते हैं जो बदले में कुछ लेकर भौतिकविद्या का दान देता है। यद्यपि वह पूज्य है लेकिन विषयी होने से ग्राह्य नहीं है। ठीक इसके विपरीत जो बदले में कुछ लेता ही नहीं लेकिन सबकुछ दे देता है अर्थात् आत्मज्ञान को ही दे देता है, वह सद्गुरु कहलाता है, वही निर्विषयी है, ब्रह्मरूप है। ऐसे सद्गुरु के आश्रित होकर किये गये कर्म से फल की प्राप्ति नहीं होती बल्कि अपने स्वरूप की ही प्राप्ति हो जाती है।

(.....कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि) आत्मस्वरूप में स्थित होकर कर्म करनेवाले पुरुष के कर्म को कर्म कहा ही नहीं जाता बल्कि ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है। यही नहीं, सद्गुरु अथवा भगवान सपने में, जाग्रत् में जिस कर्म को करने को कह दें तो वह भी ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है जब प्रारब्ध का त्याग किया जाता है, कर्मफल का त्याग किया जाता है; क्योंकि वह मन, बुद्धि, चित्त में वास करता है। वह सुनने ही नहीं देता, समझने ही नहीं देता। लम्बेकाल तक सत्संग की आवश्यकता पड़ती है, तब कहीं सुनाई पड़ता है, तब कहीं समझ में आता है। प्रारम्भिक चरण में तो आप समझते हैं कि हम सुनते हैं, लेकिन सुनता है प्रारब्ध। अतः बीच–बीच में विडम्बना होती रहती है।

इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझें– अर्जुन से युद्ध करते समय कर्ण ने अपने तरकस से एक बाण अर्जुन पर छोड़ दिया। वह क्या जानता था कि मेरे तरकस में अर्जुन से बदला लेने के लिए एक सर्प ही बाण बनकर आ गया है लेकिन प्रभु कृपा से अर्जुन ने उस सर्पास्त्र को देख, अपने सिर को झुका लिया अतः उसका सर संधान विफल हुआ। उस सर्पास्त्र ने पुनः लौटकर कर्ण से कहा– हे महावीर! एकबार और संधान करो मेरा, इसबार तो अर्जुन का प्राण ले ही लूँगा मैं। कर्ण ने कहा– कौन हो तुम? उसने कहा– अर्जुन का परम वैरी हूँ मैं। कर्ण ने कहा– अब तुम्हारे लिए मेरे तरकस में जगह नहीं है। एक बाण को दुबारा संधान करना कर्ण का स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार जबतक आप अपने स्वरूप में अच्छीप्रकार स्थित नहीं हो जाते तबतक सद्गुरु के द्वारा सुनते हुए आपके कानों में धोखे से प्रारब्ध सुनने लगता है। प्रारब्ध सुनता है तभी तो आपको उस समय नींद आ जाती है अथवा तभी तो आपको विचार आकर बाधा डालता है, प्रमाद आ जाता है, असावधानी आ जाती है? बड़ी सजगता की जरूरत होती है ब्रह्मविद्या के श्रवण में, मनन में, चिन्तन में। ब्रह्मविद्या श्रुति है, श्रुति का तात्पर्य होता है कि जो सुनने मात्र से सम्पूर्ण आसक्तिरूपी दोषों का नाश कर दे। अन्य सारी की सारी क्रियाएँ कर्मसाध्य हैं, क्रियासाध्य हैं, श्रमसाध्य हैं, प्रयत्नसाध्य हैं, लेकिन जो सद्गुरु की वाणी को सुनता है वह मुक्त हो ही जाता है क्योंकि मुक्ति कृपासाध्य है।

'नैव किञ्चित्करोति सः'– अति विलक्षण बात कह दी भगवान ने कि जो आत्मरूप होकर, कर्मफल को त्यागकर, लोकहितार्थ कर्म करता है तो मानो वह कुछ करता ही नहीं। यही नहीं, क्रिया तो उसके तन, मन, वचन से हो जाती है लेकिन वह यह नहीं मानता कि मैं कर्ता हूँ।

भगवान विनोदी भी हैं, मानो महात्मा अर्जुन से व्यंग्य बोल रहे हैं कि हे पार्थ! कहीं तुम मुझे भी कर्मफल न समझ लेना, कहीं तुम यह न समझ लेना कि यदि द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और पितामहभीष्म आदि कर्म के फल हैं तो ये माधव कर्म के फल क्यों नहीं हैं? इस आधार पर तो इन्हें भी त्याग देना चाहिए। इसीलिए इस मंत्र को बोलते समय भगवान अत्यन्त सावधानी बरत रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे लिए मैं अमरफल हूँ और ये विषफल हैं।

प्रश्न उठता है कि कोई साधक सबका आश्रय छोड़कर स्वयं के आश्रय में नहीं रह पा रहा है तो फिर किसके आश्रय में रहे? इसका उत्तर इसी मंत्र में भगवान ने दिया है कि नित्यतृप्त के आश्रय में वह रहे। सद्गुरु एवं संत ही नित्यतृप्त हैं, वह उन्हीं के आश्रित रहे!

(निराशीर्यतचित्तात्मा.....) भगवान इस मंत्र के द्वारा कुछ त्याग की बात कर रहे हैं। प्रभु के द्वारा दिये गये मंत्र का एक पद क्रिया वाचक है तो दूसरा पद फल वाचक। जैसे 'निराशीर्यतचित्तात्मा.....' यह पद क्रिया वाचक है तो 'शारीरं केवलं कर्म.....' यह दूसरा पद फल वाचक है। जैसे ही आप आशारहित होते हैं वैसे ही आप जितात्मा कहे जाते हैं, जीते हुए मनवाले, जीती हुई बुद्धिवाले, जीते हुए शरीरवाले, जीती हुई इन्द्रियोंवाले होते हैं आप, अर्थात् इन सबों पर आपका शासन हो जाता है। यदि आप सम्पूर्ण जीवों की आशा छोड़ देते हैं, उनसे

किञ्चित् मात्र भी कुछ नहीं चाहते, तो आप मनोजयी होते हैं, बुद्धिजयी होते हैं। 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'– जब सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना ही है तो आप किसी से कुछ चाहेंगे भी क्यों? अतः वैसी अवस्था में 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'– शरीर के द्वारा कर्मों के होने पर भी आप आसक्तिरूपी दोष से दूषित नहीं होते हैं। 'यतचित्तात्मा'– अर्थात् जीते हुए मनवाले आप होते हैं। हनुमानजी के लिए भी वाल्मीकिजी ने ऐसे ही विशेषणों का प्रयोग किया है–

मनोजवं मारूततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥

एकमात्र श्रीराम प्रभु को अपने हृदय में धारण करने से वे मनोजयी हो गये हैं, मन के वेग की तरह उनका वेग हो गया है। अर्थात् स्वामी की आज्ञा में वे इतने तत्पर हैं कि जैसे जीव का मन उसको अधोगति या सद्गति में ले जाने के लिए तत्पर है, उसके पाप–पुण्य जितना जागते रहते हैं उसे ले जाने के लिए, जितना तत्पर रहते हैं, उनसे भी कहीं विशेष सजगता एवं तत्परता प्रभु की आज्ञापालन करने में हनुमानजी की है; अतः वे मनोजयी कहे जाते हैं। यह सिद्धि उन्हें कब मिली? जब उनमें भगवान बसा। हनुमानजी ने दो बार ब्रह्मविद्या सुनी है, एक बार भगवान सूर्य से तो दूसरी बार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से। भगवान सुना रहे थे अर्जुन को लेकिन सुन रहे थे हनुमानजी। ध्वजा पर विराजमान थे वे, तेजोमय ब्रह्मविद्या के प्रकाश से बारम्बार आह्लाद कर जाते। संजय की दृष्टिपथ में हनुमानजी भी थे। अतः वे दिव्य दृष्टि से हनुमानजी के क्रियाकलाप को देखकर मूर्ख राजा धृतराष्ट्र को भी सुना रहे थे। संजय कह रहे थे– हे राजन्! भगवान मानो हनुमानजी से भी संकेतरूप में कह रहे हैं कि जिसप्रकार आप मनोजवं हैं, अब वैसे ही अर्जुन भी मनोजवं हो जायेंगे; जैसे आप जगत से आशारहित होकर ब्रह्मविद्या की आशावाले हो गये थे, उसीप्रकार अब अर्जुन भी जीव जगत से आशारहित होकर ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु हो जायेंगे। 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'– युद्धोपरान्त वे आपकी तरह ही सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागकर संन्यास ले लेंगे। भगवान के मन में हनुमानजी भी हैं, अर्जुन भी हैं। भगवान के लक्ष्य तो पितामह भी हैं, धृतराष्ट्र भी हैं, कर्ण एवं द्रोणाचार्य भी हैं। भगवान की वाणी कभी–कभी इनलोगों के कानों तक भी पहुँच जाती है। महर्षि व्यासजी की दृष्टि तो भगवान की वाणी पर है ही; भगवान बोले जा रहे हैं, वे लिखे जा रहे हैं। मानो भगवान विपक्ष के महारथियों को सुनाकर अर्जुन को कह रहे हैं कि 'निराशीर्यतचित्तात्मा'– यदि तुम सबकी आशा छोड़ देते हो तो मनोजयी अर्थात् जीते हुए चित्तवाले हो जाओगे और वैसी अवस्था में तुम्हारे लिए जीतने के लिए कोई शत्रु ही नहीं बचेगा। भगवान श्रीराम ने भी कहा कि जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, उसके लिए कोई ऐसा शत्रु नहीं होता जिसपर कि उसे विजय प्राप्त न हो।

(त्यक्तसर्वपरिग्रहः.....) 'इस युद्ध के मैदान में अपरिग्रह की बात भगवान ने क्यों कर दी है? यह अपरिग्रह व्रत तो संन्यासी और ब्रह्मचारी के लिए कहा जाता है। युद्ध के मैदान में तो कुछ है ही नहीं तो अर्जुन ने किस विषयवस्तु का परिग्रह कर लिया है, जिससे भगवान ने अपरिग्रह शब्द का प्रयोग किया?' क्यों नहीं है? भले ही उनके पास अधर्म का संग्रह नहीं है,

किन्तु धर्म का संग्रह तो है ही– मातृधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म, स्वामीधर्म, सेवकधर्म, स्वजनधर्म तथा कुलधर्म; इन सब धर्मों का संग्रह तो इन्हीं के पास है, जबकि उस समय इन सब धर्मों का त्यागकर एकमात्र वीरोचित धर्म को स्वीकार करना चाहिए।

भगवान यहाँ उनके माध्यम से साधकों को भी संदेशरूप उपदेश दे रहे हैं कि साधक विचार करें कि उन्होंने अधर्म को तो त्याग ही कर दिया है लेकिन धर्म के किस पहलू को स्वीकार कर रखा है, जिससे वे मनोजयी अर्थात् मन, बुद्धि चित्त विजेता नहीं हो पा रहे हैं। भगवान ने एक क्रम दिया है, जिसे आप सब देखें– निराशीः + त्यक्त परिग्रहः = यतचित्तात्मा = शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

सम्पूर्ण जगत से आशारहित होकर + सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग कर देनेवाले का मन पर विजय प्राप्त हो ही जायेगी = उसके उपरान्त शरीर के द्वारा जो भी क्रिया होगी सर्वथा दोषरहित होगी।

शरीर के द्वारा कर्म करता हुआ भी वह पाप से लिपायमान नहीं होता तो फिर किसको प्राप्त होता है? अपने–आपको ही प्राप्त हो जाता है। पुनः भगवान ने यह फलश्रुति दे दी है– आपको शारीरिक कर्म करने का पाप तो लगेगा ही नहीं, इसलिए एक काम आप करें, अन्य सारे काम भगवान कर देगा। वह एक काम क्या है जो करना है? यही कि आप सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों से कुछ भी न चाहें, इतना ही नहीं, किसी भी कामना से आप कर्म करें ही नहीं, फिर तो अपने सम्पूर्ण कर्म हुए ही जानें। यह तो आप भलीभाँति जान ही गये हैं कि भक्त का काम उसके भगवान की सत्ता से होता रहता है और ज्ञानयोगी का काम उसके स्वरूप की सत्ता से होता है। इसप्रकार भगवान कहते हैं कि इतना करने से मैं उस साधक को जितात्मा बना दूँगा, महात्मा बना दूँगा। जो जितात्मा होता है, वही महात्मा होता है। यहाँ पर 'यतचित्तात्मा' पद है, यहाँ आत्मा का तात्पर्य है– शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि। इन सब का योग होने के कारण से पद की रचना को देखते हुए आत्मा कह दिया गया है। सद्गुरु के सामने उपस्थित रहनेवाले आत्मजिज्ञासु शिष्य को भी आत्मा कह दिया जाता है। जब शिष्य द्रष्टा होता है तब उसका सद्गुरु कर्ता होता है, तब भी वह आत्मा कहलाता है। इसी न्याय से भक्त अर्जुन को भगवान जितात्मा, महात्मा, आत्मा आदि उपाधियों से विभूषित कर रहे हैं। इस मंत्र में 'किल्बिषम्' पद आया हुआ है, किल्बिष कहते हैं– पाप को। पाप की बात की है महात्मा अर्जुन ने प्रथम अध्याय में, उन्होंने कहा है– स्वजनों का वध करने से महापाप लग जाएगा, ब्रह्महत्या का पाप लग जाएगा। अतः मानो भगवान कह रहे हैं कि ब्रह्महत्या की तो बात ही छोड़ो तुम्हें तो पाप भी नहीं लगेगा। पाप की भी क्यों बात करें! तुम्हें तो सामान्य दोष भी नहीं लगेगा। अतः तुम इन सब की आशा छोड़ दो सामान्य धर्म का भी परित्याग कर दो; क्योंकि सामान्य धर्म में ही तुम आबद्ध हो, जबकि जबतक सद्गुरु नहीं मिला है तबतक ही व्यावहारिक धर्म का पालन किया जाता है। अब चूँकि मैं मिल गया हूँ तुम्हारे को; अतः भागवत् धर्म स्वीकार कर लो, सामान्य धर्म का परित्याग कर दो! ऐसा करने से पाप नहीं लगेगा, पाप नहीं लगेगा, पाप नहीं लगेगा।

महात्मा अर्जुन की ही भाँति दिव्य गुणों से सम्पन्न साधक भी स्वजन त्यागरूपी मनगढ़ंत पाप की आशंका से भयभीत रहते हैं, जबकि उपरोक्त न्याय से उनके लिए भय का कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि सद्गुरु मिला व्यवहार गया या भगवान मिला सब धर्म गया। इसलिए साधकों को भगवान उत्साहित करते हुए कहते हैं–

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥

जो सर्दी–गर्मी, राग–द्वेष तथा ईर्ष्या आदि द्वन्द्वों से रहित है, अपने–आप प्राप्त हुए पदार्थ एवं विषयों में सन्तुष्ट है, वह ज्ञानस्वरूप में स्थित हुआ पुरुष सिद्धि–असिद्धि को समान समझनेवाला ब्रह्मकर्म करता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं होता। यही नहीं, उसके वे सम्पूर्ण कर्म ज्ञानस्वरूप ही होते जाते हैं।

(यदृच्छालाभसन्तुष्टो.....) लाभ होगा कि हानि होगी, जय होगी कि पराजय होगी, साधना सिद्ध होगी कि नहीं होगी, इसप्रकार की क्षुद्र कल्पनाओं के आन्दोलन से आन्दोलित होते हुए चित्तवाले साधकों को भगवान ने झकझोरा है। फलश्रुति की बात कहकर उन्हें निराश भी नहीं किया है, बल्कि ढाढ़स बँधाया है। बिना किसी से आस लगाये अपने–आप आकाशवृत्ति से जो प्राप्त हो जाय, वह प्रभु का प्रसाद है। प्रभु का प्रसाद थोड़ा होता है लेकिन फल बहुत ज्यादा मिलता है। आप सर्व का त्याग करके देखें, निश्चित ही आप जितेन्द्रिय, मनोजयी तथा बुद्धिजयी बना दिये जायेंगे। जितना प्रभु दे रहा है उतने में संतुष्ट रहना। यह तो प्रभु की महति कृपा है कि आप एकमात्र त्याग कर रहे हैं और भगवान सबकुछ दे रहा है। आप सबसे आशा लगाये हुए हैं, कुछ न कुछ किसी न किसी से आप चाहते रहते हैं, भगवान को यह अच्छा नहीं लगता। यह कैसी विलक्षण बात है कि जिस दिन आपका सर्वत्याग सफल होगा उस दिन वह आपको सबकुछ दे देगा अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही दे देगा। यह तो आश्चर्य ही है कि किसी भक्त को भगवान पाने की कामना हो गयी या किसी आत्मजिज्ञासु को ब्रह्मज्ञान पाने की कामना हो गयी तो भी वह उसे थोड़ा ही लाभ मान रहा है? कैसी मूर्खता है यह! उन्हें लग रहा है कि भगवत् कामना से मैंने सर्वत्याग कर दिया और भगवान मिला नहीं या आत्मज्ञान हुआ नहीं, थोड़ा सा सत्संग और ज्ञान मिल जाने से क्या हो जाता है! मैंने तो माता–पिता, भाई–बान्धव एवं बाल–बच्चों को छोड़ दिया और यहाँ पर कुछ हो ही नहीं रहा है। बड़ी अवहेलना करते हैं गृहस्थ ऐसे ही साधकों की, वे उन्हें बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं– क्या पाया इन्होंने! थोड़ा सा ज्ञान पा लिया और भिखारी हो गये। जो भगवद्भक्त होते हैं, वे ही उन्हें थोड़ा शुभ दृष्टि से देखते हैं, अन्यथा सब समझते हैं– गरीबी आ गयी तो साधु बन गये, काम करने में मन लगा नहीं इसलिए साधु बन गये।

दिल्ली के अरुणजी ने अपने रिश्तेदार से कहा– अब तो क्या है! आपको पेंशन मिल रही है, बच्चों को दो मंजिला मकान बनाकर दे ही दिया, अब आप दोनों पति–पत्नी आश्रम में रहकर विशेष भजन करें। महाराज के सामने ही उस सज्जन ने अरुणजी से अवहेलना करते हुए कहा– यार! तूने मुझे क्या समझ लिया है? भिखारी हूँ क्या जो आश्रम में रहूँगा? भगवान ने पेंशन दे रखी है ऐशो–आराम के साथ रहने के लिए और तुम कहते हो कि आश्रम में चले जाओ! क्यों जाऊँगा मैं आश्रम में, क्या कमी है हमारे पास कि मैं जाऊँगा वहाँ पर? बाल–बच्चे मेरे राम हैं, शादी करके बहू लाऊँगा, ठाट–बाट से रहूँगा। एक तो थोड़ा सा जीवन सुखपूर्वक रहने के लिए मिला है और इसी में तुम कहते हो कि आश्रम में जाओ! अरुणजी ये बातें सुनकर बहुत दुःखी हुए। महाराज ने कहा कि 'आप दुःखी क्यों होते हैं? गृहस्थाश्रम में भी साँप बसते हैं, वे संत के सामने आने पर ऊपर–ऊपर से मान–सम्मान देते हैं और अवसर आने पर काट खाते हैं। ऐसे लोग ही तो डकैत हैं, इन्हीं डकैतों एवं चोरों ने भगवान की आत्माओं को अपना पुत्र–पुत्री मान लिया है, जबकि उन्हें राम एवं कृष्ण तथा देवी के रूप में देखना चाहिये। इन्हीं मूर्खों ने भगवान की आत्माओं को स्त्री एवं धर्मपत्नी मान लिया है, जबकि लक्ष्मी मानना चाहिये। इन्हीं चोरों ने भगवान के द्वारा दिये हुए मन्दिर को अपना महल मान लिया है। अतः आप दुःखी क्यों हो रहे हैं, आप तो अपनी तैयारी करें।

लगता है भगवान ने संतों को भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करने से इसीलिए मना कर दिया है, क्योंकि कलियुग में गृहस्थाश्रम में चोर बसेंगे; अतः 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः'– आकाशवृत्ति से जो भी कुछ फल–फूल, अन्न–वस्त्र मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट होकर साधन भजन करना।

एक जगह एक समय चार संत गाँव के रास्ते कहीं जा रहे थे। किसी बुद्धिमान ने कहा– क्या मुचण्डे जा रहे हैं! घी–दूध खा–खाकर तोंद निकली हुई है, फल–फूल कचर रहे हैं। बड़े मजे हैं इनके, न बाल–बच्चों की चिन्ता, न देश–प्रदेश की चिन्ता बस खाओ पीओ सोओ और सबको उल्लू बनाते रहो।। तबतक बड़े जोरों का एक चाँटा जड़ते हुए दूसरे पुरुष ने कहा– तेरी रोटी खाकर मोटे हुए हैं ये? कभी रोटी खिलायी है तूने इनको? चाँटा खानेवाले ने क्रोधावेश में आकर कहा– तेरे बाप लगते हैं कि तुझे दुःख लग रहा है? ऐसा सुनते ही लात–मुक्कों से धुनाई करते हुए उस धर्मरक्षक ने कहा– बाप नहीं लगते बल्कि बाप के भी बाप लगते हैं!

(.....द्वन्द्वातीतो विमत्सरः.....) इसप्रकार जगत में मान–अपमान का भी अवसर आयेगा, द्वेष–ईर्ष्या का भी अवसर आयेगा, लेकिन आप तो संतुष्ट रहना। आप यदि सन्तुष्ट रहेंगे तो आपसे जो असंतुष्ट हैं, कभी न कभी उनकी धुनाई हो ही जायेगी। आपको कुछ गाली मिल जाएगी तो क्या हो जाएगा? आपको तो वह स्पर्श ही नहीं करेगी और भगवान को स्पर्श करेगी तो कुछ गालियों की गिनती करने के उपरान्त वे अपना सुदर्शनचक्र चला ही देंगे लेकिन सुदर्शनचक्र चले इसके लिए आप प्रतीक्षा मत करने लगना, अन्यथा आपकी संतुष्टि बिखर जायेगी फिर आप द्वन्द्वातीत एवं विमत्सर नहीं हो पायेंगे।

'कृत्वापि न निबध्यते'– करते हुए भी वह नहीं बँधता, करते हुए भी वह नहीं बँधता, करते

हुए भी वह नहीं बँधता। तो फिर वह क्या करता है? तो उसका करना देखें अपने–आप प्राप्त हुए भगवत् प्रसाद से वह संतुष्ट रहता है, यही उसका करना है; सर्दी–गर्मी, राग–द्वेष, सुख–दुःख को सहन करता है, यही उसका करना है; किसी से घृणा या ईर्ष्या करता ही नहीं, यही उसका करना है; साधना पूरी हो, अधूरी हो या नहीं हो, उसमें वह सम बना रहता है, यही उसका करना है; आशारहित होना ही उसका करना है, परिग्रह का त्याग करना ही उसका करना है, किसी के आश्रित न रहना ही उसका करना है और इस करने के उपरान्त भी जो फल मिले उससे अनासक्त रहना ही उसका करना है। इतना ही नहीं, ज्ञान में स्थित रहना ही उसका करना है। 'अरे! यह कैसा करना है?' हाँ, हाँ, जिसमें कुछ करना ही नहीं है, वही करना है न! वह भगवान की आत्मा भी है और उसे करना भी पड़े! यह भगवान को अच्छा नहीं लगता। राजा का राजकुमार झाड़ू लगावे यह उसे अच्छा नहीं लगता। 'यह आप क्या कह रहे हैं? कर्म करना झाड़ू लगाना है क्या? क्या जो भी कर्म कर रहे हैं, वे झाड़ू लगा रहे हैं?' हाँ, हाँ, तो क्या कर रहे हैं वे? भगवान की पूजा कर रहे हैं क्या! जो जीवनपर्यन्त बाल–बच्चों के लिए, परिवार के लिए मर मिटते हैं, उन्हें ज्ञान हो जाता है क्या? जिस कर्म से ज्ञान नहीं होता भगवान नहीं मिलता, वह कर्म झाड़ू लगाने जैसा नहीं है तो है कैसा? भगवान तो स्पष्ट ही कह रहे हैं कि 'ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञायाचरतः कर्म' अर्थात् ज्ञान में स्थित होकर जगत–हितार्थ भगवत् कर्म करने को ही कर्म कहा जाता है। वही कर्म जीवन–जीवन के श्रम को दूरकर सम्पूर्ण भ्रम का निवारणकर परम ज्ञान या परम ब्रह्म को देनेवाला होता है। अतः सारे कर्म झाड़ू लगाने के बराबर ही हैं।

'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः'– साधनाकाल में राग–द्वेष की भी मार पड़ती है, ईर्ष्या की भी मार पड़ती है। यदि थोड़ा सा प्रसाद ले लें तो जीवन धन्य हो जाय। सद्गुरु की आज्ञा ही प्रसाद है। अतः जब वह कहे कि ज्ञान में स्थित हो जाओ तो देर मत करना, ज्ञान में स्थित हो जाना, योग में, जप में, तप में स्थित मत रह जाना। वह कौन सा ज्ञान? भगवान शुकदेव का ज्ञान, महाराज जनक का ज्ञान, वह ज्ञान जिसका जप, तप, योग अपने–आप अनुगमन करते हैं, वह ज्ञान जो निर्विषयी बना देता है। 'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः'– ईर्ष्या भी, जो घुन का काम करती है, यदि मन में लग जाती है तो साधक आगे नहीं बढ़ पाता। अतः वह ऐसा ज्ञान कि जो ईर्ष्यारहित बना देता है, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से अतीत कर देता है। लाभ होगा कि हानि होगी, सिद्धि मिलेगी कि नहीं मिलेगी ऐसा भाव छोड़कर आप अपने–आप पर छोड़ दें, आप विश्वास करें कि आप सिद्धि–असिद्धि आदि से परे हैं। आप यह जान लें कि कभी सिद्धि, असिद्धि हो जाती है; राग, द्वेष बन जाता है; द्वेष, राग बन जाता है, लेकिन आप सदा–सर्वदा एक रस रहनेवाले हैं।

'ओह! देखो–देखो, ये हत्यारा मछली मार रहा है, महापापी लग रहा है ये। तुम क्या कह रहे हो?' गुरुजी ने अपने दो शिष्यों में से एक शिष्य से पूछा। शिष्य ने कहा– 'सच में गुरुदेव यह राक्षस है, इसे तो स्वर्ग क्या नरक में भी जगह नहीं मिलेगी।' गुरुजी ने मन में कहा– इसे तो चाहे जो भी कुछ मिले लेकिन तुम्हारे को अभी अवश्य एकबार नरक मिलेगा। दूसरे शिष्य

की तरफ सद्गुरु ने दृष्टि की और पूछा– 'तुम कुछ बोल नहीं रहे हो, तुम्हें दया भी नहीं आ रही है क्या? मछलियाँ तड़प रही हैं, वह मार रहा है, मेरे इस परम प्रिय शिष्य को दया आ रही है और तुम्हें दया ही नहीं आ रही है? दूसरे शिष्य ने गुरुदेव के चरणों को पकड़ लिया और उनकी आँखों में देखकर कहा– 'दया आप करें, गुरुदेव! दया आप करें और जिसने बनाया वह दया करे, वही जाने कि मछुवारा पाप कर रहा है या पुण्य कर रहा है। दया मुझे क्यों आयेगी, गुरुदेव! अभी तो मैंने अपने पर ही दया नहीं की है तो दया मुझे क्यों आयेगी।' गुरुदेव ने परीक्षा में सफल हुए उस शिष्य को उठाकर गले लगाया, माथा सूँघा तथा अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति उसे दे दी और पहले शिष्य से कहा– तुम अभी दोषदर्शन से रहित होने का प्रयत्न करो, तुम्हें ही कहीं नरक में न जाना पड़े, मछुवारा तो बाद में जायेगा।

यह विश्वास हो गया कि मैं आत्मा हूँ, फिर भी आप सोचते हैं कि सफल होऊँगा कि नहीं। प्रकृति विजेता होऊँगा कि नहीं, केवल अपने को आत्मा मान लेने से कोई प्रकृति विजेता हो कैसे जायेगा? कुछ साधक भी महाराज से पूछते हैं कि 'केवल अपने–आपको आत्मा मान लेने से हम जितेन्द्रिय, सर्वज्ञ कैसे हो जायेंगे?' अरे! प्रकृति विजेता तो हो ही गये आप। विश्वास हो गया है कि मैं आत्मा हूँ, यह बड़ी विजय नहीं है क्या? किसी सकामी से, अज्ञानी से आप कहें कि तुम आत्मा हो तो चाँटे मारकर बात करेगा। वह कहेगा– खाते हो, पीते हो, सोते हो, मलाई कचरते हो, बाल–बच्चों को गोद में खेलाते हो और कहते हो कि मैं आत्मा हूँ! अरे मूर्ख! क्या आत्मा तुम्हारे जैसा होता है? सबके भीतर–बाहर वास करनेवाला आत्मा तुम्हारे जैसा टट्टी–पेशाब करेगा, सोयेगा–जागेगा? इसप्रकार आप प्रकृति विजेता तो हो ही गये। प्राकृत पुरुष अपने को आत्मा मान ही नहीं सकते। रही बात सर्वज्ञता की और जितेन्द्रियता प्राप्ति की, तो इन मंत्रों में जो–जो भी भगवान ने व्यवहार की बात की है, त्याग की बात की है, वैसा व्यवहार एवं त्याग करके देखें, अर्थात् सबसे अनासक्त होकर देखें, द्वन्द्वों से अतीत होकर देखें, आकाशवृत्ति से जीवन यापन करके देखें, दोषदर्शनरूप दृष्टि का त्याग करके देखें, हानि–लाभ, जय–पराजय की भावना छोड़कर देखें तथा ज्ञान में स्थित होकर एकमात्र गुरु की आज्ञा पालन करके देखें कि जितेन्द्रियता आपको कैसे नहीं गले लगाती, सर्वज्ञता कैसे नहीं वरण करती, सिद्धावस्था कैसे नहीं आती। सद्गुरु की शरण में आये हुए ब्रह्मचारी जीव जगत में अकेले रहकर देखें तो पता चल जायेगा कि वे कितने पानी में हैं। प्रथम लाभ तो यही है, जो अन्तिम लाभ (परम लाभ) की आधारशिला है। ब्रह्मचारियों ने अनुभव किया है कि सद्गुरु की शरणागति होते ही काम का अता–पता ही नहीं चलता जो कि साधक के साधनपथ में महाशत्रु है। वहाँ पर क्रोध, लोभ, राग–द्वेष, छल–कपट सब रहता है लेकिन काम नहीं रहता। वहाँ सद्गुरु के पास ब्रह्मचारियों में बालकों जैसी रोज लड़ाई हो सकती है, राग–द्वेष हो सकता है लेकिन बहन–बेटियों के वहाँ आने पर भी काम विकार नहीं आता। वे ब्रह्मचारी बहन–बेटियों की तरफ देखते ही नहीं हैं, सम्भव है बहन–बेटियाँ उनकी तरफ देखती हों तो यह क्या जितेन्द्रियता नहीं है? सिद्धि की शुरूआत तो प्रथम चरण से ही हो जाती है।

ब्रह्मचारियों की तो बात ही छोड़ दें, एक गृहस्थ भक्त ने महाराज से बताया कि 'हमारे यहाँ हम सबके गुरुदेव प्रत्येक साल आते हैं और हम पति–पत्नी उनके आते ही स्वाभाविक ही भाई–बहन जैसा रहने लगते हैं, पता भी नहीं चलता कि हम पति–पत्नी हैं। उनके जाने के उपरान्त भी हमारे ऊपर एक–डेढ़ महीने तक सत्संग का भूत सवार रहता है। उसके उपरान्त हम पति–पत्नी भी हो जाते हैं।' महाराज पूछता है कि यह सिद्धि नहीं है तो और क्या है? ज्ञान में स्थित होकर कर्म करना या सद्गुरु की आज्ञा में स्थित होकर कर्म करना, बात बराबर है; लेकिन यह न भूल जाना कि ये बातें ब्रह्मजिज्ञासु के लिए कही जा रही हैं।

'समः सिद्धावसिद्धौ च'– सिद्धि का आश्रय छोड़कर, ज्ञान में स्थित होकर सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म करते ही पहली सिद्धि मिलती है, वह है– 'जितेन्द्रियता'। ऐसा करने पर महापाप तो क्या पाप भी नहीं लगेगा। काम ही महापाप है, जैसे भूत–प्रेत, डाकिनी–पिशाचिनी लगती है, वैसे ही काम भी लगता है। काम भी एक प्रेत है, जो न मन में, न बुद्धि में, न चित्त में लगेगा बल्कि कहीं चिदाकाश में दुबककर रह जायेगा। जब साधक के मन, बुद्धि, चित्त में सद्गुरु की आज्ञा बैठ जाती है, तब वह काम उसका आसन बन जायेगा। वह आत्मजिज्ञासु उस कामरूपी आसन पर बैठकर शरीर पर, मन पर, बुद्धि पर, चित्त पर, शासन, अनुशासन तथा प्रशासन करता है अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त में रहनेवाले काम पर शासन करता है। जब वह कामरूप आसन पर बैठ गया तो फिर किस काम पर शासन करता है? हाँ, वह क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, छल, कपट, पाखण्डरूपी काम पर शासन करता है, क्योंकि ये काम की सेना हैं।

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

इसप्रकार इन सारे सदस्यों पर शासन करता है। अतः ज्ञान में स्थित होकर गुरु–आज्ञानुसार कर्म करते ही उसे यह लाभ तो तत्काल ही मिल जाता है। महाराज ने देखा है कि सद्गुरु की अध्यक्षता में से भी साधक ऊबकर भागते हैं, वे जान लें कि उन्हें काम ले जाता है। उनके पास से हटते ही वे काम के घेरे में तो हो ही जाते हैं। एक बात और जान लें आप कि भले ही प्रथम अवस्था में ज्ञान में भलीभाँति प्रतिष्ठा न हो पाये लेकिन सद्गुरु में ही अच्छीप्रकार प्रतिष्ठा हो जाये तो फल ज्ञान में प्रतिष्ठा होने का ही मिलेगा।

अपने–आप जो प्रभु प्रसाद प्राप्त है, उसमें अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाला, प्रभु की कृपा का पात्र है। प्रभु प्रसाद किसी को कर्मयोग के रूप में तो किसी को ज्ञानयोग के रूप में प्राप्त होता है। इसलिए कि कोई कर्म का अधिकारी है तो कोई ज्ञान का अधिकारी है लेकिन कोई कर्मयोगी ज्ञान को छोटा समझनेवाला है तो वह मूर्ख है और कोई ज्ञानयोगी, कर्मयोग को छोटा समझता है तो वह धूर्त है। यदि अपने से प्राप्त प्रसाद को, कोई लाभ नहीं मानता तो उसे संतुष्टि नहीं हो सकती और न ही वह द्वन्द्वों से परे हो सकता है। परस्पर में एक–दूसरे के प्रति तुच्छ और उदात्तभावना होने से ईर्ष्या बनी रहेगी, अतः न कर्म में और न ज्ञान में स्थिति हो पायेगी। ज्ञान

अपने लिए विशेष है, यदि सद्गुरु ने उसी की प्रस्तावाना की है, वह सिद्ध हो चाहे न हो, इससे क्या लेना–देना, बस ज्ञानयोग को स्वीकार कर लेना है। सिद्धि–असिद्धि तो भगवान के ऊपर निर्भर करता है कि वह कब दे। ऐसा करने से ज्ञान कर्म न बनकर ब्रह्म ही बन जाता है। सद्गुरु की आज्ञा में जिनकी प्रीति नहीं है, वे दूसरे की देखा–देखी करते हैं। सुन्दर गानेवाले को देखकर उनका गाने का मन हो जाता है, वेद पढ़नेवाले को देखकर उनकी वेद पढ़ने की इच्छा हो जाती है, तंत्र उपासना करनेवाले को देखकर तंत्र के प्रति भी उत्सुकता हो जाती है, मंत्रसिद्धिवाले को देखकर मंत्रजापक बनने का मन कर जाता है, योगसिद्ध को देखकर योगी और ज्ञानसिद्ध को देखकर ज्ञानी बनने का मन कर जाता है। वे जिसे देखते हैं, उसी की नकल करने लगते हैं। इसप्रकार हाथ कुछ लगता नहीं, बुद्धि में भ्रम होने से चित्त छिन्न–भिन्न होता रहता है। इसलिए भगवान नारायण ने कहा–

(गतसङ्गस्य मुक्तस्य.....) जो आसक्ति से रहित है, वह तो ज्ञान में स्थित हुआ पुरुष मुक्त ही है। किससे मुक्त है? तो कहते हैं– कर्म बन्धन से मुक्त है, कर्म फल से मुक्त है। क्यों मुक्त है? इस पर कहते हैं कि वह ज्ञान में स्थित है इसलिए मुक्त है। ज्ञान में क्यों स्थित है? क्योंकि वह मुमुक्षु है, आत्मजिज्ञासु है। मुमुक्षु को भी ज्ञानी कहा गया है; क्योंकि ज्ञान की तरफ गमन करनेवाले, ब्रह्म की चाहना करनेवाले को भी ज्ञानी कहते हैं। कालान्तर में वही आत्मज्ञानी, परम ज्ञानी, आप्तकाम आदि नानाप्रकार की संज्ञाओं से विभूषित होता है। दीमक जो भी कुछ खाता है वह मलरूप में मिट्टी ही करता जाता है, उसीप्रकार ज्ञान में स्थित हुए ब्रह्मकर्म करनेवाले ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्म भी ब्रह्म में विलीन ही होते जाते हैं अर्थात् ब्रह्म ही होते जाते हैं। आप स्वयं देख ही रहे हैं कि पृथ्वी ज्ञान में ही स्थित है, इसीलिए तो उसमें उत्पन्न होनेवाले कर्मरूप धन–धान्य, फल–फूल आदि उसे अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर पाते। अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण से ही पृथ्वी इन धन–धान्यों के गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होती। जल भी ज्ञान में ही स्थित है, तभी तो जल के जीव परस्पर में लड़ते–झगड़ते रहते हैं, एक–दूसरे के आहार भी बनते रहते हैं, लेकिन उनके उत्पातों से जल यह नहीं समझता कि मेरे में कुछ उत्पात हो रहा है; क्योंकि उसे उनसे कुछ लेना–देना ही नहीं है। अग्नि ज्ञान में ही स्थित है, उसमें भले–बुरे ईंधन को डाल दें तो भी वह उनके गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होता बल्कि वे उसी का रूप बनते जाते हैं। वायु की ज्ञानमय स्थिति को देखें कि वह मनुष्य, पशु–पक्षी, यक्ष–राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, नाग और भले–बुरे सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन बना हुआ है लेकिन सबके हृदय में रहते हुए किसी के साथ नहीं रहता, वह अपने–आपमें रहता है। आकाश की ज्ञानावस्था तो सर्वविदित है ही इसकी समशान्तता देखते बनती है। वह मानो हतोत्साहित हुए ज्ञान में स्थित होने की कामनावालों से कह रहा हो कि मुझे तो देखें, असंख्य ब्रह्माण्ड मेरे से प्रकट होते हैं, वे सात्त्विक, राजस, तामस ब्रह्माण्ड अपने आधार मुझ आकाश को न देखते हुए अपने–आपकी ही शक्ति–सामर्थ्य की डींग हाँका करते हैं। आकाश मानो आत्मजिज्ञासुओं से चुनौती के साथ कहता है कि 'ऐ आत्मजिज्ञासुओ! एकबार मेरी तरफ भी तो देखो कि मेरे में तान्त्रिकों, मांत्रिकों तथा योगियों की, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा योगिनियों, यहाँ तक कि भूत–प्रेत और

राहु–केतु की भी जगह सुरक्षित रहती है लेकिन मेरे लिए किसी भी यज्ञशाला में कोई भी जगह नहीं दी जाती। आजतक सभी मेरा उपहास करते चले आ रहे हैं लेकिन तो भी मैं सम शान्त बना रहता हूँ। सबके भीतर–बाहर, ऊपर–नीचें, दायें–बायें, सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी मैं सर्वथा सबसे अनासक्त बना रहता हूँ।' (इसी से तो उपनिषदों में निर्गुण–निराकार ब्रह्म का दूसरा नाम आकाश भी है।) भले किसी ने मुझे नहीं पूछा लेकिन ब्रह्म ने मेरे नाम को अपना नाम बना लिया, मुझे अपना चित्त बना लिया, मुझे अपनी बुद्धि बना लिया जबकि मैंने तो यह भी कामना नहीं की थी। मुझे तो ज्ञानस्वरूप में रहने में ही प्रीति रहती है लेकिन ब्रह्म ने मुझे अपना रूप ही बना लिया तो अब मैं क्या करूँ।

'ज्ञानावस्थितचेतसः'– जो ज्ञान में स्थित हो गये हैं लेकिन शक्ति में स्थित हैं ही नहीं। ज्ञान में स्थित होना और शक्ति में स्थित होना ये दो बाते हैं– कोई तो शक्ति में ही स्थित रहते हैं ज्ञान में नहीं और कोई तो ज्ञान में ही स्थित रहते हैं शक्ति में नहीं। हाँ, कोई–कोई होते हैं जो ज्ञान और शक्ति दोनों में स्थित होते हैं, वे जगत के लिए बड़े सार्थक होते हैं। तंत्रशक्ति, मंत्रशक्ति, योगशक्ति, यज्ञशक्ति ने जगत में बड़ी प्रसिद्धि पायी है लेकिन वह शक्ति क्षणिक है, अनित्य है। अतः उस शक्ति में स्थित हुआ पुरुष शक्ति का ह्रास होने पर पुनः उसी जगह खड़ा हो जाता है, जहाँ से शक्ति में स्थित होने की कामना को लेकर चला था। अतः वैसे पुरुष के लिए भी भगवान बिना ज्ञान में स्थित हुए व्यवहार में प्रवृत्त होने को मना करते हैं; क्योंकि ज्ञानहीन शक्तिमान पुरुष से हानि विशेष है, लाभ बहुत कम है। महर्षि विश्वामित्र, दुर्वासा, सौभरि आदि ऋषि साधनाकाल में मंत्रशक्ति में स्थित हो गये, जिसका परिणाम क्या–क्या हुआ सभी जानते हैं लेकिन जब वे ही ज्ञान में भी स्थित हो गये तो उनके द्वारा होता हुआ सुखद परिणाम भी सभी जानते हैं। अतः भगवान के अनुसार व्यवहार में वही संत प्रवेश कर सकता है जो शक्तिमान है। ज्ञानशक्ति से सम्पन्न जो लीला कर सकता है, वही प्रवृत्ति को स्वीकार करे। जिसमें ऐसी शक्ति–सामर्थ्य नहीं है, इतना ही केवल बोध हुआ है कि मैं आत्मा हूँ, तबतक वह गुप्त रहे जबतक सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति उसे स्वीकार न कर ले। शक्ति प्राप्त होने के उपरान्त जैसी शक्ति की माँग हो वैसा वह करे। चाहे हनुमाजी की तरह गुप्त रहते हुए जगत का कल्याण करे या अवधूत वेश में अवधूत वृत्ति में प्रत्यक्ष रहे। ज्ञान में स्थित होने पर शक्ति अपने–आपको वरण कैसे करती है, इस विषय में अब भगवान अगले कुछ मंत्रों के द्वारा बता रहे हैं–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥

जिस ज्ञानयज्ञ में जिससे आहुति दी जाती है वह स्रुवा भी ब्रह्म है, हवन किया जाने योग्य द्रव्य (हवि) भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूपी कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूपी अग्नि में जिन–जिन करणों–उपकरणों

तथा मंत्रों से आहुति देनारूप क्रिया सम्पन्न होती है, वे भी ब्रह्म हैं तथा उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहनेवाले ब्रह्मरूपी कर्ता द्वारा प्राप्त किया जानेवाला फल भी ब्रह्म ही है। इसीप्रकार दूसरे योगीजन ज्ञान में स्थित होकर देवपूजनरूपी यज्ञ को ही भलीभाँति करते हैं और कुछ ज्ञानयोगी ज्ञानाग्नि के द्वारा आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।

इस अध्याय में प्रभु ने बहुत से यज्ञों की तरफ संकेत किया है, जिन यज्ञों को जानने, सुनने एवं करने की आपमें बड़ी उत्सुकता बनी रहती है, लालसा बनी रहती है। चूँकि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसलिए आध्यात्मिक अर्थ ही विशेष प्रकाशित किया जायेगा। सामान्य अर्थ देना यहाँ अभीष्ट नहीं है, तो भी सामान्य अर्थ की तरफ भी कुछ संकेत किया जायेगा। इस अध्याय में प्रभु ने दस–बारह यज्ञों की तरफ संकेत किया है, जिनका आध्यात्मिक रहस्य महाराज उद्घाटित करने का प्रयास करेगा। इन यज्ञमय मंत्रों के पूर्व तेइसवें मंत्र में भगवान ने 'ज्ञानावस्थितचेतसः' कहा है अर्थात् मुमुक्षु ज्ञान में स्थित होकर यज्ञमय कर्मों का सम्पादन करता है। इससे सिद्ध होता है कि यज्ञमय सम्पूर्ण मंत्रों के पूर्व तेइसवें मंत्र के 'ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञायाचरतः कर्म' इस पद का आश्रय लिया जायेगा। जिसप्रकार सम्पूर्ण मंत्रों के पूर्व 'ॐ' को आधार बनाया जाता है, उसीप्रकार प्रभु ने चौबीसवें मंत्र से लेकर तीसवें मंत्र तक के पूर्व इसी पद को आधार बनाने का संकेत किया है। इससे सिद्ध होता है कि तेइसवाँ मंत्र, चौबीसवें मंत्र की भी आधारशिला है तथा पच्चीसवें से लेकर तीसवें मंत्र तक की भी आधारशिला है। इस गीतारूपी ब्रह्मविद्यामय शास्त्र में प्रभु ने ज्ञान की ही भूमि बनाकर कर्मरूपी बीज बोने की आज्ञा दी है। भगवान ने इन मंत्रों के पहले तेइसवें मंत्र को देकर यह सिद्ध किया है कि इस मंत्र के अभाव में अर्थात् ज्ञान के अभाव में आपका सम्पूर्ण यज्ञ अधूरा है, वह एकमात्र कुछ काल के लिए आपको शक्तिमान कर पुनः शक्तिहीन कर रख देता है। अतः आयें इन यज्ञों पर विचार करें।

इन यज्ञमय मंत्रों में 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः.....ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह पहला मंत्र है। यह ऐसा दिव्य मंत्र है, जिसने एक ही समय में दो स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया है, दो महापुरुषों का विवेचन किया है, दो मुमुक्षुओं का जीवनदर्शन इसमें छिपा हुआ है– एक तरफ महाराज जनक हैं तो दूसरी तरफ भगवान शुकदेव, एक राजर्षि हैं तो दूसरे ब्रह्मर्षि, एक राजयोगी हैं तो दूसरे ब्रह्मयोगी। दोनों के अपने–अपने आचार्य हैं। गुरुदेव अष्टावक्र महाराज जनक से कहते हैं कि 'सर्वं ब्रह्म' सब ब्रह्म ही है तथा भगवान शुकदेव से भी उनके पिता व्यासजी (जो उनके गुरु भी हैं) कहते हैं कि 'सर्वं ब्रह्म' सब ब्रह्म ही है। एक का सद्गुरु ब्रह्मज्ञानी पिता है तो दूसरे के सद्गुरु ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र हैं। 'सब ब्रह्म है', ऐसा सुनकर भगवान शुकदेव ने सुमेरु पर्वत पर ज्ञानसमाधि ले ली। दूसरे ने अर्थात् महाराज जनक ने भी सुना कि सब ब्रह्म है तो कहा– गुरुदेव अब मैं संन्यास लेता हूँ, तब गुरुदेव अष्टावक्र ने कहा कि सब ब्रह्म है तो क्या राजसिंहासन ब्रह्म नहीं है? क्या इस सिंहासन को, महल को, नगर को, अपने को और प्रजा को तूने जन्माया है? नहीं, नहीं, नहीं, तुम्हारे सहित राज्य और प्रजा को ब्रह्म ने जन्माया है, अतः ये सब ब्रह्म हैं। इस आकाश को किसी ने प्रकट नहीं किया है, अतः अपने–आपसे प्रकट होने के कारण से निश्चिरूप से यह साक्षात् ब्रह्म ही है। आकाशरूप ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाला वायु भी अपने–आप उत्पन्न होने के

कारण से ब्रह्म ही है, वायुरूप ब्रह्म से अपने–आपसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि भी ब्रह्म ही है, अग्नि नामक ब्रह्म से प्रकट होने के कारण से दिव्य रूप धारण करनेवाला उसके विपरीत स्वभाव और गुणवाला, जल भी ब्रह्म ही है तथा ठीक इसके विपरीत तरल से ठोसरूप में प्रकट होनेवाली, अपनी शक्ति–सामर्थ्य एवं प्रभुता से सम्पन्न पृथ्वी भी साक्षात् ब्रह्म ही है। ठीक इसीप्रकार पृथ्वी नामक ब्रह्म से प्रकट होनेवाले धन–धान्य, ऐश्वर्य, प्राणिपदार्थ ये सब ब्रह्म ही हैं। यह तो सभी जानते हैं कि जो जिससे प्रकट होता है वह उसी का स्वरूप होता है। गाय से गाय प्रकट होती है, शेर से शेर, कीड़े से कीड़ा तथा मनुष्य से मनुष्य प्रकट होता है। उसीप्रकार ब्रह्म से ब्रह्म ही प्रकट होता है। यदि कोई पूछता है कि गाय से गाय ही, शेर से शेर ही, मनुष्य से मनुष्य ही प्रकट होता है, लेकिन ब्रह्म से ब्रह्म ही न उत्पन्न होकर आकाश उत्पन्न हो गया? उसीप्रकार आकाश से आकाश न प्रकट होकर वायु प्रकट हो गया, वायु से वायु न प्रकट होकर अग्नि प्रकट हो गयी, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट हो गयी? हाँ, इसका उत्तर है कि गाय, मनुष्य, शेर आदि एक ही रूपवाले हैं। इसलिए उनके द्वारा उन्हीं के नाम, गुण और धर्मवाली आत्मा उत्पन्न होती है, लेकिन ब्रह्म तो अनन्त रूपोंवाला है, इसलिए वह अनन्त रूप–नामोंवाला होकर प्रकट होता है। देवता, मनुष्य, आदि नाम तो व्यवहार को सम्पन्न करने के लिए कहा जाता है, अतः सब ब्रह्म ही है, किसी ने बनाया ही नहीं किसी को। एक तिनका भी नहीं बनाया किसी ने, वह अपने–आप प्रकट हुआ है, अतः वह ब्रह्म ही है। हे राजन्! यह राजसिंहासन भी तूने नहीं बनाया। यह पुरातन काल से चला आ रहा है जो सप्तर्षियों के माध्यम से अपने–आप प्रकट हुआ है। सप्तऋषि ब्रह्म के संकल्प होने से ब्रह्म हैं, अतः इनके संकल्प से स्थापित राजा एवं राजतंत्र तथा प्रजा ये सब ब्रह्म ही हैं। अतः तुम भी ब्रह्म हो। तुझ ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा राजधर्मरूपी स्रुवा के माध्यम से प्रजारूपी ब्रह्माग्नि में सेवारूपी हवि एवं ब्रह्मभावरूपी मंत्र के द्वारा ब्रह्मकर्मरूपी सेवा भी ब्रह्म ही है। इसप्रकार तुम ब्रह्म से पृथक् देखते हो तो मृत्यु ही देखते हो, काल ही देखते हो और जब सबको ब्रह्मरूप देखते हो तो ब्रह्मरूप ही हो जाते हो। इसलिए प्रवृत्तिमार्ग को, यज्ञमार्ग को प्रशस्त करने के लिए तुम मेरी आज्ञानुसार राजसिंहासन स्वीकार कर लो।

सौ अश्वमेध यज्ञ किया है तूने राजन्! परिणामस्वरूप तुम्हारे स्वागत में देवराज इन्द्र भी आये हुए थे और उनके दिव्य लोक ले जाने के प्रस्ताव को तुमने अस्वीकार कर दिया था। तुम वही हो जब तुम अपने महल के ऊपरी भाग में टहल रहे थे तो सप्तर्षि तुम्हारे लिए ब्रह्मविद्या का गायन करते चले जा रहे थे। इसप्रकार तो तुम दिव्य भाववाले हो। अतः अब तुम मन को स्रुवा बना लो तथा बुद्धिरूपी हाथ के द्वारा उसे पकड़ लो और 'मैं–तू', 'मेरा–तेरा' को हविष्य समझकर स्रुवा के माध्यम से ब्रह्मदर्शनरूपी अग्नि में हवन कर दो। फिर तो कुछ ही समय में तुम सर्वत्र देखोगे कि ब्रह्म ही ब्रह्म के द्वारा एक मधुर क्रीड़ा, एक मधुर विनोद कर रहा है। इसप्रकार ज्ञान में स्थित हुआ कर्मयोगी देवताओं को भी ब्रह्म ही समझ लेता है। ब्रह्म के संकल्प होने से स्रुवा, मंत्र एवं अग्नि ब्रह्म ही हैं, इस अभेददर्शन के कारण से उसका वह यज्ञ भी ब्रह्मरूप ही हो जाता है। वैसी अवस्था में उसके द्वारा देखना–सुनना, खाना–पीना, सोना–जागना ब्रह्मदृष्टि के कारण से ब्रह्मरूप ही होता है। पूर्व में महाराज जनक ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे। जिस

समय अपने गुरुदेव के कहने से सम्पूर्ण देवभावना से किये हुए यज्ञों को ब्रह्मरूप समझकर समर्पित कर दिया, तो परिणाम हुआ कि वे उसी समय ब्रह्मरूप होकर आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। उन्होंने सोचा– अरे! मैंने देवभावना से यज्ञ किया था, लेकिन अब तो दिखाई पड़ रहा है कि यहाँ सगुण ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, नानात्व है ही नहीं। इसप्रकार कालान्तर में वे ही गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी विदेह कहलाये।

एक तरफ यह ब्रह्मविद्यामय मंत्र महाराज जनक को लाकर खड़ा कर देता है, जो निष्काम कर्मयोगी कहे जाते हैं तथा दूसरी तरफ आप हैं, जो इस मंत्र के माध्यम से ब्रह्मरूपता की तरफ गमन करेंगे। एक उदाहरण देता है महाराज जिससे आप भलीभाँति जान जायेंगे कि ब्रह्मरूपकर्ता के द्वारा किया हुआ कर्म ब्रह्म ही कैसे हो जाता है।– 'अरे! यह तो स्वप्नजगत है', एक याज्ञिक अर्थात् देवयज्ञकर्ता अग्नि में आहुति देते समय भगवत् कृपा से जानकर ऐसा सहसा सोच बैठता है। वह कहता है कि यह तो स्वप्न है, मेरा असली शरीर तो कहीं अन्य लोक में सोया हुआ है तथा यह सूक्ष्म शरीर स्वप्नजगत में हवनरूप क्रिया करने के लिए उद्यत है। यह जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी है उसी की तो वासना है। अतः यह वासना भले ही यहाँ पर सगुण साकार दीख रही हो लेकिन जब मेरा स्थूल शरीर जगेगा तो मैं सहसा कह बैठूँगा कि आज मैंने सपना देखा कि वहाँ देवयज्ञ कर रहा था, इतनी आहुति दी, देवतागण प्रसन्न हो गये, विशाल भण्डारा किया, लोग जय–जयकार मनाकर जाने लगे इत्यादि, इत्यादि। अरे! जगने के बाद जब मैं कहूँगा ही कि मैंने सपना देखा तो इस स्वप्न को अभी ही सपने की तरह क्यों न देखूँ? तो ठीक है, मैं सभी को निर्गुण निराकर ब्रह्म के रूप में ही देखता हूँ। मेरी वासनाएँ चित्तमय ही हैं और वह चित्त भी ब्रह्म से प्रकट होने के कारण से ब्रह्म ही है। अतः यहाँ पर भले ही सगुण जैसा दिखाई पड़ रहा हो लेकिन सगुण कुछ भी नहीं है बल्कि सब चित्तरूप ही है, चिदाकाशरूप अर्थात् ब्रह्मरूप ही है। मेरे पूर्व के शरीर से प्रकट होनेवाली वासना ही ब्रह्मचित्त को प्राप्तकर नानाप्रकार की आकृति को धारण कर रही है। अब यह निश्चित हो गया है कि स्रुवा, हवि, अग्नि, मंत्र आदि निर्गुण–निराकार ब्रह्म होने से मुझे न देवपद मिलेगा, न कोई स्वर्ग ही मिलेगा बल्कि अब शीघ्रातिशीघ्र अपने पूर्व का शरीर ही प्राप्त हो जायेगा। अब निश्चित ही जगने के बाद उस शरीर को भी किसी अन्य शरीर का स्वप्न शरीर मानकर शरीरसहित उस जगत को भी निर्गुण–निराकार ब्रह्म के रूप में देखता रह जाऊँगा। अरे! राम, राम, राम, राम! मैं तो नानाप्रकार की उहापोहरूप कल्पनाओं में असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानकर व्यर्थ ही वासनारूप हो गया था। अरे! ये क्या! वह काला नाग फुफकार भरता हुआ मेरी तरफ आ रहा है, कहीं काटने तो नहीं आ रहा है? छिः! छिः! छिः! छिः! यह मैंने क्या सोच लिया। यह शरीर मेरा तो है नहीं, यह शरीर भी निर्गुण–निराकार ब्रह्म है और यह सर्प भी निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है। जब स्वप्न टूटेगा तो मेरा न इस शरीर से कोई सम्बन्ध होगा और न ही इन दोनों की कुछ सत्ता ही होगी। अच्छा! तो फिर न मैं इस शरीर के माध्यम से भागूँगा और न ही इस सर्प का सामना करूँगा, बल्कि जो होगा वह देखूँगा। अच्छा तो यह सर्प आ ही गया! लो, काटकर चलता बना! अब विष चढ़ने लगा, कमर के नीचे का भाग सुन्न हो गया है,

अब गले तक का सुन्न हो गया, अब आँखें भारी हो रही हैं। लो, ये बन्द हो गयीं। अरे! ये क्या सपना टूट गया। मैं तो मरा ही नहीं और वे दोनों वासनात्मक शरीर (मानव एवं सर्प शरीर) चिदाकाशरूप हो गये। अच्छा, तो इस स्वप्नजगत में भी सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को अग्नि, वायु, आकाश, जल, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, तारों आदि को भी ब्रह्मरूप ही देखूँगा। अतः वह दिन दूर नहीं कि ब्रह्मदर्शन मात्र से ही मैं अपने निर्गुण–निराकाररूप को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लूँगा।

यहाँ तक इस मंत्र का भाव समझ गये होंगे। जिसप्रकार पाँच घण्टे का स्वप्न पाँच मिनट में समाप्त हो गया, उसीप्रकार ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा क्रिया, करण, उपकरण, दृश्य, द्रष्टा आदि को भी ब्रह्म समझ लेने से वह दिन दूर नहीं जब जीवरूपता सदा–सर्वदा के लिए ब्रह्मरूपता में विलीन हो जायेगी। सबको ब्रह्मरूप समझना, मानो जगत से आँख बन्द करना है। इसप्रकार इस मंत्र के माध्यम से संन्यासयोग तो सम्पूर्णता से सम्पन्न होता ही है लेकिन निष्काम कर्मयोग भी शीघ्रातिशीघ्र संन्यासरूप ही हो जाता है।

आत्मवेत्ता महर्षि व्यास ने अपने ब्रह्मचारी शिष्य (पुत्र) शुकदेव से कहा– 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप भाव से भावित ब्रह्मरूप साधक त्यागरूपी ब्रह्म के द्वारा (निवृत्ति मार्ग को प्रशस्त करने के लिए) जिन माता–पिता, भाई–बान्धवों का त्याग करता है, वे भी ब्रह्म ही हैं तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि ज्ञानयोग के संसाधन भी ब्रह्म ही हैं। अतः सबको ब्रह्मरूप देखता हुआ वह ब्रह्मरूप जगत में परिव्राजक होकर भक्तों एवं साधकों के हितार्थ भ्रमण करता रहता है। ऐसा सुनकर महात्मा शुकदेव ने सबको ब्रह्मरूप देखा और सुमेरू पर्वत पर जाकर ज्ञानसमाधि ले ली।

संन्यासाश्रम में क्रिया को ब्रह्म समझकर त्याग करने का विधान है और गृहस्थाश्रम में क्रिया को ब्रह्मरूप समझकर धारण करने का विधान है। एक (संन्यासाश्रम) में सगुण ब्रह्म (कर्म) का त्याग करना है तो दूसरे में सगुण ब्रह्म (कर्म) को ग्रहण करना है। संन्यासी समझता है कि सब ब्रह्म ही है तो क्या करना! ऐसा सोचकर अपने स्वरूप में समाधिस्थ हो जाता है। उसकी दृष्टि ही ब्रह्मकर्म है, उसका दर्शन ही ब्रह्मकर्म है अर्थात् ब्रह्मयज्ञ है। इस सिद्धान्त में अद्वैत का सम्पादन है, इसमें किसीप्रकार भी द्वैत की स्थापना नहीं है।

सगुण उपासना करनेवाले भी 'सब ब्रह्म है', ऐसा ही मानते हैं, लेकिन अपने को भक्त (जीव) और भगवान को भगवान समझते हैं। इस मंत्र के द्वारा इस द्वैत सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ पर तो मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ और शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि भी सगुण ब्रह्म (अपरब्रह्म) हैं। 'अहं' पद तो ब्रह्म है ही तथा 'अहं' पद से निकलनेवाला, 'अहं' व्याहृति से निकलनेवाला सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण भी ब्रह्म ही है। इसप्रकार यहाँ पर भक्तिपक्ष के माध्यम से राम एवं कृष्ण आदि अवतारों को नहीं लेना चाहिये; क्योंकि यहाँ अद्वैत मत के अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ का प्रतिपादन किया जा रहा है। महाराज के द्वारा किसी समय गाये हुए एक पद के द्वारा इसका भाष्य देखें–

जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है, जहाँ देखता हूँ वहीं आत्मा है।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

न पूछो कि मुझसे कहाँ आत्मा है, जहाँ देखते हो वहीं आत्मा है ।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

जो पूछता है कहाँ आत्मा है, वही आत्मा है वही आत्मा है ।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

वही दृश्य द्रष्टा दरश आत्मा है, जिसे देखते हो वही आत्मा है ।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

विविध नाम रूपों में वह आत्मा है, विषय वासनामय वही आत्मा है ।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

रज्जु में जैसे कभी सर्प दीखे, जगत ब्रह्म में भी वही आत्मा है ।।
जिधर देखता हूँ उधर आत्मा है.....

(ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही कर्ता है। उसका 'एकोऽहं बहुस्याम्' रूप सत्यसंकल्प ही ब्रह्ममंत्र है। उसका आकाश ही स्रुवा है, जिससे हवा, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा 'सूर्य एवं चन्द्रमा' (प्रकाश) आदि हविष्य से अपनी मनुष्य, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे तथा देवतारूपी प्रजा को अपना रूप समझकर ही आहुति दे रहा है। अतः उसकी ब्रह्मरूपता विखण्डित नहीं होती। उस दिव्य ब्रह्मकर्ता के द्वारा दिव्य आहुति देने की परम्परा को देखकर ही भगवान मानो सभी को संदेशरूप उपदेश दे रहे हैं कि इसप्रकार के भावनारूप दिव्य मंत्र से ब्रह्माग्नि में हवन करने से ही आप सभी अपनी ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर सकते हैं।

अब पुनः कर्मयोग के अन्तर्गत इस मंत्र की स्थापना की जा रही है– माता, पिता इस मंत्र के माध्यम से अद्वैतमय ब्रह्मयज्ञ कैसे करें, थोड़ा इसे देखें– वे चिन्तन करें कि हम ब्रह्म हैं, मन, वाणी एवं शरीर स्रुवा हैं; बाल–बच्चे, कुलगुरु, अतिथि तथा दरवाजे पर आये हुए आकाशचारी पक्षी ही ब्रह्माग्नि हैं, इनकी सेवा–शुश्रूषा करना ही हविष्य है। ये सब ब्रह्मरूप ही हैं, इनकी सेवा करना, सुरक्षा करना हमारा परम धर्म है, इस ब्रह्मभावना से सेवा करने का फल ब्रह्म ही होता है।

पुत्र इस मंत्र के माध्यम से अद्वैतमय ब्रह्मयज्ञ कैसे करे, इसे देखें– वह चिन्तन करे कि मैं ही ब्रह्म हूँ, अन्तःइन्द्रियों सहित मेरा शरीर ही स्रुवा है, माता–पिता, अतिथि, कुलगुरु एवं पशु–पक्षीरूपी पञ्चाग्नि ही ब्रह्माग्नि है, सेवारूपी क्रिया ही हवि है तथा इनकी सेवा करना मेरा परम धर्म है, ऐसा भाव ही दिव्य मंत्र है। इसप्रकार सेवा–शुश्रूषा आदि करने से जो फल प्राप्त होता है, वह ब्रह्म ही होता है।

एक ब्रह्मचारी ब्रह्मयज्ञ कैसे करे इसे देखें– मैं ब्रह्म हूँ, शरीर ही मेरी भुजा है, वाणी ही स्रुवा है, पाठ्यक्रमरूपी विषय ही हविष्य है, चित्त ही ब्रह्माग्नि है। विद्याध्ययनरूपी ब्रह्मक्रिया को

करना परम कर्तव्य है, इस भावना से अध्ययन करना ब्रह्मफल देनेवाला होता है।

आचार्य ब्रह्मयज्ञ कैसे करे, इसे देखें– मैं ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ, मेरा शरीर ही भुजा है, वाणी स्रुवा है, विद्या हविष्य है, ब्रह्मचारीगण (विद्यार्थी) ब्रह्माग्नि हैं, इन्हें प्रेमपूर्वक विद्यारूपी हविष्य की आहुति देना मेरा परम कर्तव्य है। इस ब्रह्मभावनारूपी मंत्र से विद्यादान का फल ब्रह्म ही होता है।

एक योद्धा ब्रह्मयज्ञ कैसे करे, इसे देखें– वह चिन्तन करे कि धनुष ही स्रुवा है, बाण ही मंत्र हैं, विपक्षी वीरयोद्धा ही हवि (द्रव्य) हैं, धर्मरक्षार्थ युद्ध करना ब्रह्माग्नि है। इसप्रकार धनुषरूपी स्रुवा के द्वारा बाणरूपी मंत्रों से विपक्षी वीररूपी हविष्य को 'धर्मरक्षार्थ युद्धरूपी' ब्रह्माग्नि में आहुति देना ही ब्रह्मकर्म है और वह ब्रह्मफल देनेवाला होता है।

एक हलवाहे (किसान) का ब्रह्मयज्ञ देखें– वह विचार करे कि मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ, हल ही स्रुवा है, बीज ही ब्रह्मरूपी हवि है, खेत ही ब्रह्माग्नि है। इसप्रकार खेती करना ही मेरा परम धर्म है, इस स्वधर्मरूपी ब्रह्ममंत्र से खेती करने का फल ब्रह्म ही होता है।

मातायें या जो भी प्रसाद (भोजन) बनाये, वह ब्रह्मयज्ञ कैसे करे, इसे देखें– मैं शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, शरीर भुजा है, हाथ स्रुवा है, अन्न (आटा, चावल, दाल, सब्जी आदि) ही हविष्य है। पति, बाल–बच्चे, अतिथि एवं दरवाजे पर आये हुए दीन–दुःखी एवं ब्राह्मण ही ब्रह्माग्नि हैं। इसप्रकार ब्रह्मदर्शन एवं समझ के साथ उपरोक्त ब्रह्माग्नि में प्रसादरूपी भोजन की आहुति देना ब्रह्मफल ही देनेवाला होता है।

सेवक ब्रह्मयज्ञ कैसे करें, इसे देखें– मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ, शरीर ही मेरी भुजा है, मन, बुद्धि, चित्त एवं वाणी ही स्रुवा है, मैं निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ सेवा–शुश्रूषारूपी हविष्य से उसकी (स्वामी की) आज्ञारूपी ब्रह्माग्नि में आहुति दे रहा हूँ। इसप्रकार ब्रह्मभावना से भावित होकर सेवा–शुश्रूषारूपी ब्रह्मक्रिया का फल ब्रह्मरूपता को ही देनेवाला होता है।

आयें! अब एकबार पुनः युद्ध के मैदान की झाँकी देखें! जहाँ इस ब्रह्मयज्ञमय मंत्र से भगवान, महात्मा अर्जुन के पास किस ढंग से हुंकार भरते हुए ब्रह्मनाद कर रहे हैं। प्रभु ने तीसरे अध्याय में महाराज जनक का स्तवन किया है; क्योंकि अपने परम प्रिय शिष्य महात्मा अर्जुन को भी उन्हीं के स्थान पर बिठा देना चाहते हैं। महाराज जनक को भगवान ने यों ही याद नहीं कर लिया, बल्कि उनके द्वारा जिन–जिन को याद किया गया, उन–उन को याद करने का कुछ विशेष प्रयोजन है। मानो भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! यदि तुमने मुझे सद्गुरु के रूप में देखा ही है तो अब राजा जनक की जगह बैठ जाओ। 'ज्ञानावस्थितचेतसः'– ज्ञान में स्थिति हो गयी है जिनकी, वैसे महाराज जनक ने गुरु की आज्ञा से कर्म का त्याग नहीं किया था। वे जो भी करते जाते थे, वह ब्रह्म ही होता जाता था। यह न्याय ही है कि ब्रह्मदर्शी जिसे देखता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, जो कर्म करता जाता है, वह ब्रह्म होता जाता है। अतः तुम उठो और गाण्डीवरूपी ब्रह्म को उठाओ, प्रत्यञ्चारूपी ब्रह्म पर बाणरूपी ब्रह्म को रखो जो दिव्य स्रुवा है

तथा विपक्षी वीरों के बलिरूप हविष्य को मेरी मुखाग्निरूपी ब्रह्माग्नि में हवन कर दो। मैं महाकाल हूँ पार्थ! महाकाल हूँ। यह तुम्हारा दिया हुआ हविष्य ब्रह्मरूप ही हो जायेगा और उसके उपरान्त अर्थात् यज्ञ पूर्णाहुति के उपरान्त तुम ब्रह्मरूप होकर विचरण करोगे अर्थात् संन्यासी बन जाओगे, आज संन्यासी मत बनो। ये सारे वीर, योद्धा मेरे ही उपजाये हुए हैं, अतः अपरब्रह्म हैं, इस न्याय से मैं ही अर्जुन हूँ, मैं ही पितामहभीष्म हूँ, द्रोणाचार्य हूँ, कृपाचार्य हूँ, मैं ही दुर्योधन हूँ, शकुनि हूँ, कर्ण हूँ। भले ही तुम्हारे सहित ये सभी अपने–आपको पृथक् मानें, लेकिन पृथक् तो हो नहीं जायेंगे। मैं इन रूपों को रखूँ या न रखूँ, यह मेरा काम है तुम्हारा नहीं। तुम्हें तो इस समय एक ऐसा समष्टियज्ञ करना है जो पुरातन काल से आजतक कभी भी नहीं हुआ है। हे पार्थ! यह पहला युद्धरूपी यज्ञ होगा और अन्तिम होगा। तो उठो पार्थ उठो! मुझे इस दिव्य यज्ञ से संतुष्ट करो।

महात्मा अर्जुन मौन हैं, जबकि यहाँ पर उन्हें गाण्डीव उठा लेना चाहिये था। वे मन ही मन सोच रहे हैं कि 'जब सब ब्रह्म है तो ये स्वजन भी तो ब्रह्म ही हैं फिर इन्हें पृथक् करके मेरे से इनकी आहुति देने को क्यों कहते हैं। इस न्याय से तो इन्हें सर्वप्रथम हम पाँचों की बलि ले लेनी चाहिये; क्योंकि कौरवों के द्वारा आजतक जो भी कुछ उत्पात हुआ, हम पाँचों के मौन रहने से हुआ!' धृतराष्ट्र ने जो प्रश्न किया था संजय से, उसी प्रश्न को महात्मा अर्जुन ने मानो मूक होकर कर दिया। धृतराष्ट्र ने कहा था संजय से– क्या ये पितामह ब्रह्मोपासक नहीं हैं, क्या जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी नहीं हैं? क्या द्रोणाचार्य देवोपासक नहीं हैं, गुरु उपासक नहीं हैं? कृपाचार्य याज्ञिक नहीं हैं, वैदिक नहीं हैं? इसीप्रकार की कल्पनायें महात्मा अर्जुन के मन में उठ रही हैं जिसे प्रभु ने जान लिया और कहा– नहीं, नहीं, नहीं, पार्थ! नहीं बल्कि–

(दैवमेवापरे यज्ञं.....) कुछ योगीजन देवयज्ञ करनेवाले होते हैं, लेकिन यदि ज्ञान में स्थित होकर माता–पिता, गुरु, अतिथि आदि को जो देवता कहे जाते हैं, उनकी ब्रह्मरूप समझते हुए ही सेवा–शुश्रुषारूप कर्म करते हैं, तो मानो वे ब्रह्मयज्ञ ही करते हैं ।

भगवान ने यहाँ भक्त अर्जुन के भ्रम की अद्भुत गुत्थी खोली है, इतना ही नहीं इस सन्दर्भ से ब्रह्म उपासना के अनूठे रहस्य का भी पता चलता है। सच में सदन कसाई ने अपने माता–पिता की ब्रह्म समझकर ही सेवा–शुश्रुषा की थी, जबकि वे पुराणों में देवता माने जाते हैं। जिसका परिणाम हुआ कि वे गृहस्थाश्रम में ही ब्रह्मरूप हो गये। तुलाधार वैश्य एवं भक्त रैदास ने बाल–बच्चों के साथ–साथ अपनी दुकान पर आये हुए ग्राहकों से भी ब्रह्म समझकर ही व्यवहार किया। परिणामस्वरूप वह ब्रह्मकर्म उन्हें ब्रह्मफल देनेवाला हो गया। ये सम्पूर्ण यज्ञ ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत ही आ रहे हैं, अतः इन्हें भलीभाँति जानना चाहिये। भले ही युद्ध का मैदान है लेकिन महात्मा अर्जुन के मन में बहुत से प्रश्न खड़े हो रहे हैं, जिन्हें प्रकाशित नहीं किया जा रहा है; किन्तु जो आगे आनेवाले साधक, संत एवं सिद्ध होंगे, वे उन्हें कुछ–कुछ प्रकाशित करते जायेंगे। जबतक सृष्टि रहेगी तबतक गीताजी पर भाष्य होता रहेगा तथा महात्मा अर्जुन के प्रश्न भी तबतक सबके द्वारा कुछ न कुछ प्रकाशित होते जायेंगे। भगवान ने देवयज्ञ को ब्रह्मयज्ञ में

विलीन करने का प्रयत्न किया है। अंश से अंशी को पकड़ लिया जाता है। आपने देखा होगा कि किसी के कपड़े का एक टुकड़ा अथवा किसी के चरणों की धूलि का थोड़ा सा अंश तांत्रिक ले ले और जाकर वहाँ कपड़े या धूल पर ही मारण मंत्र का प्रयोग करे तो उसके प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। ठीक इसीप्रकार इस जीवजगत में प्रारम्भिक चरण में सबको ब्रह्म समझ लेने के उपरान्त भी आप सभी की ब्रह्मरूप में सेवा नहीं कर सकते, लेकिन माता–पिता, गुरु या इन्द्र, उपेन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं में से किसी एक की भी ब्रह्म समझकर उपासना करते हैं तो वह ब्रह्मकर्म ब्रह्मरूपता प्रदान करनेवाला होता है। आप सभी जानते हैं कि महाराष्ट्र के संत महात्मा पुण्डलीक ने भी अपने माता–पिता को ब्रह्म का अंश समझकर ब्रह्मप्राप्ति की कामना से सेवा की थी, परिणामस्वरूप उनके यहाँ सचमुच में भगवान आ गये। आश्चर्य की घटना तो तब देखी गयी, जब भगवान के आने के पहले ही वे आत्मज्ञानी हो गये थे। माँ अनसूया, मन्दोदरी, तारा आदि माताओं ने अपने–अपने पति को ही ब्रह्म समझकर तदनुरूप ब्रह्म व्यवहार करने से ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लिया था। ब्रह्मद्रष्टा को कोई यदि ब्रह्म नहीं समझता तो उसका हनन हो जाता है, उसकी बलि स्वयं भगवान लेता है। माँ मन्दोदरी ने रावण को ब्रह्म समझा लेकिन उस मूर्ख ने उसका समादर नहीं किया। जबतक तो उस ब्रह्म–विदुषी का कहना मानता रहा तबतक तो अभय होता रहा, यहाँ तक कि जगत विजेता हो गया। माँ मन्दोदरी की लाज रखने के लिए सारे के सारे देवता, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष तथा मनुष्य आदि पराजित होते रहे पर भगवती माँ मन्दोदरी के पास से किसी के द्वारा रावण छीना न जा सका, लेकिन जब भगवती सीता का उस मूर्ख के द्वारा अपहरण कर लिया गया तो भगवती माँ मन्दोदरी ने कहा कि अब मैं आपको ब्रह्मरूप में नहीं देखूँगी; क्योंकि आप जैसा अपरब्रह्म इस धरा पर रहने का अधिकारी नहीं है। ब्रह्म की शक्ति का अपहरण करनेवाला ब्रह्म नहीं होता बल्कि ब्रह्म से शक्ति को माँगनेवाला होता है, अतः आपके इस कुकृत्य की मैं सम्पूर्णता से भर्त्सना करती हूँ। उस भगवती के द्वारा रावण का विरोध कर दिये जाने पर भगवान उसका काल बन गये और स्वयं से उसकी बलि ले ली। इसप्रकार जब विरोध कर दिया भगवती तारा ने बाली का तब प्रभु उसके काल बन गये और बलि ले ली। देवयज्ञ को ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दे दी भगवान ने, इसलिए कि देवताओं को ब्रह्मरूप में देखने के कारण से वह देवयज्ञ ब्रह्मयज्ञ ही हो जाता है। पंच कन्याओं के रूप में देखी जाती हैं, भगवती तारा, मन्दोदरी, सीता, सावित्री एवं द्रौपदी। इन्हें शक्ति के रूप में भी देखा जाता है। माँ द्रौपदी तो पाँच पतियों की पत्नी होकर अविवाहिता मानी जाती है; क्योंकि उसकी दृष्टि में कभी द्वैत ने प्रवेश ही नहीं किया। अतः अभेददृष्टि होने से वह अभेद हो गई।

'सत्य ही ब्रह्म है' इस भाव से महाराज युधिष्ठिर ने सत्यब्रह्म की उपासना की, जब भलीभाँति सत्यब्रह्म में उनकी प्रतिष्ठा हो गई तो प्रभु की इनमें प्रतिष्ठा हो गई। सत्य ही इनका धर्म था, सत्य ही इनका जीवन था, सत्य ही इनका प्राण था। सत्य सत्य ही है अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना की उन्होंने। सत्य की उपासना लोगों की प्रसन्नता के लिए नहीं वरन ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए की थी इसलिए ब्रह्म ही उनके लिए आ गया।

महात्मा लक्ष्मण ने अपने बड़े भ्राता श्रीराम को भ्राता समझकर नहीं बल्कि ब्रह्म समझकर उपासना की है। एक पहरेदार को महीने का मात्र चार–पाँच हजार वेतन मिलता है लेकिन महात्मा लक्ष्मण को बारह साल की पहरेदारी ने ब्रह्मज्ञान दे दिया। सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु आदि शिष्यों ने अपने–आपको आत्मा और सद्गुरु को परमात्मा मानकर सेवा की, जिसका परिणाम हुआ कि वे आत्मरूप हो गये। जिनकी दृष्टि में कोई परमात्मा नहीं है बल्कि सद्गुरु ही परमात्मा है, ऐसे आध्यात्मिक शिष्यों के द्वारा सद्गुरुरूपी ब्रह्माग्नि में ब्रह्मभाव की आहुति दी जाती है तथा ब्रह्मकामना से ही सेवा–शुश्रूषा करके वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जैसे वनप्रदेश में पगडण्डी मिल जाती है और लालटेन मिल जाती है तो लोग सूर्य के अभाव में भी अपने गन्तव्य को प्राप्त कर लेते हैं, ठीक उसीप्रकार कुछ मुमुक्षु ब्रह्म के किसी एक अंश को पकड़कर ही ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं।

एक साधक ने बताया कि तीसरी कक्षा से आठवीं कक्षा तक सूर्य देवता की ही भगवान समझकर मैंने उपासना की। उन्होंने अपने आत्मज्ञानी शिष्य हनुमानजी का स्वप्न में दर्शन करा दिया। तब तो मैं हनुमानजी को ही ब्रह्म समझकर उनकी उपासना शुरू कर दिया। हनुमानजी ने आत्मज्ञानी गुरु के पास भेज दिया तथा सद्गुरु ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के पास भेज दिया। इसप्रकार मुमुक्षुता होने के कारण से देवयज्ञ ब्रह्मयज्ञ बनकर ब्रह्मफल देनेवाला बन गया।

रामानन्द ने बतलाया कि मैं बचपन में भगवान शंकर की ब्रह्म समझकर पूजा किया करता था। उन्होंने प्रसन्न होकर वैष्णव गुरु के पास भेज दिया। तब मैंने गुरु आदेशानुसार 'ॐ नमः शिवाय' का जप छोड़कर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' को ही ब्रह्म समझकर अखण्ड जप प्रारम्भ किया, इस मंत्र ने सद्गुरु के पास भेज दिया और सद्गुरु ने 'सोऽहम्' का बोध करा दिया। कोई साधक ब्रह्म की कामना से गायत्री को ही ब्रह्म मन्त्र समझकर उपासना करते हैं, कोई महामृत्युंजय को ही ब्रह्म मन्त्र समझकर उपासना करते हैं, कोई नवार्ण मंत्र को ही ब्रह्म समझकर उपासना करते हैं तो इनका फल होता है कि ब्रह्मज्ञानी सद्गुरु मिल ही जाता है, जिनके द्वारा कालान्तर में ब्रह्मरूपता प्राप्त हो ही जाती है। राजा बलि ने दान को ही ब्रह्म समझकर ब्रह्म प्राप्त कर लिया था। इसप्रकार देवयज्ञ भी ब्रह्मभाव से किया जाये तो वह भी आत्मज्ञान देनेवाला बन जाता है।

(ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं.....) ब्रह्मरूपी अग्नि में कोई योगी यज्ञ करता है अर्थात् हवन करता है तो कालान्तर में वह ब्रह्म ही हो जाता है। तो वह ब्रह्मरूपी अग्नि क्या है तथा वह ब्रह्मरूपी कर्ता कौन है जो उस ब्रह्मरूपी अग्नि में स्वयं आहुति बन जाता है? हाँ, वह ब्रह्मरूपी अग्नि सद्गुरु ही है तथा अपने–आपको उसमें समर्पित कर देनेवाला शिष्य ही है, जो अपने–आपको यज्ञ के द्वारा परम पवित्र बनाकर ब्रह्माग्निरूपी सद्गुरु में आहुति दे देता है। अग्नि का वाचक तो सभी सद्गुरु को ही मानते एवं जानते हैं, ज्ञानमय होने के कारण से वह साक्षात् ब्रह्म ही कहा जाता है। अतः किन्हीं–किन्हीं शिष्यों के द्वारा, जो अपने को ही जानते हैं कि हम आत्मा हैं और मेरे गुरुदेव ही साक्षात् परमात्मा हैं, इसप्रकार के आध्यात्मिक शिष्यों के द्वारा सद्गुरुरूपी ब्रह्माग्नि

में ब्रह्मभाव के द्वारा ही आहुति दी जाती है। जब सूखे हुए ईंधन का दहकती हुई अग्नि से सम्बन्ध होता है तो ईंधन को भी अग्निरूप होते देर नहीं लगती। निर्विकार तथा निर्दोष आत्मा के संसर्ग में निर्विकार आत्मा (शिष्य) की निकटता, निर्विकारता ही प्रदान करती है। एक (सद्गुरु) ब्रह्मरूप होने से निर्दोष है तो दूसरा सद्गुरु को निर्दोष ब्रह्मरूप देखने से निर्दोष है। अतः शिष्य के द्वारा, ब्रह्मभाव के द्वारा अपने–आप की समर्पणरूपी आहुति देने से वह ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा हवन करनेवाला कहा जाता है।

मानो भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हों कि अबतक तूने देवयज्ञ ही किया है, माता–पिता, भाई एवं गुरुजनों की देवता समझकर ही पूजा की है; अतः मैं तुम्हारे पर अति प्रसन्न हूँ। धर्म तो मेरी आत्मा ही है और तुमने तो सपने में भी धर्म का विरोध नहीं किया है। अब भी तुम धर्म की ही बात कर रहे हो, तुम्हारी दृष्टि में स्वजनों का घात करना अधर्म ही है– ऐसा तुम्हारे द्वारा समझना मैं अन्यथा दोष में नहीं ले रहा हूँ। इसी धर्म के कारण से तो मैं अति प्रसन्न होकर तुमको देवयज्ञ तक ही सीमित नहीं रखना चाहता बल्कि ब्रह्माग्नि में ही तुम अपने–आप की आहुति दे दो, ऐसा चाहता हूँ। इसलिए चलो तुम सबको ब्रह्मरूप में नहीं देख सकते तो कोई बात नहीं लेकिन कम से कम तुमने मुझे अपना सद्गुरु तो बना ही लिया है। अतः तुम मुझ ब्रह्माग्नि की प्रसन्नता के लिए अपने पापात्मा स्वजनों से युद्ध करो ।

आगे के मन्त्रों में पुनः देखें कि भगवान क्या कह रहे हैं–

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥

कितने साधक श्रोत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमाग्नि में हवन किया करते हैं और कितने साधक शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नियों में आहुति दिया करते हैं। उसीप्रकार कुछ साधक इन्द्रियों तथा प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं।

कोई–कोई योगी आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। इसका तात्पर्य है कि इन्द्रियों को भी आत्मरूप समझकर ही इनपर संयम करना चाहिये; क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी तो स्वयं आत्मा की ही संकल्प हैं। अतः जबतक वे अपने को आत्मरूप नहीं समझते तबतक उनके द्वारा इन्द्रियाँ सर्वथा संयमित नहीं हो सकतीं; क्योंकि अपना आत्मा ही अपना कहना मानता है, दूसरा तो मान ही नहीं सकता। इन्द्रियाँ भी जानें कि हमारी आत्मा ही हमारे पर शासन करना चाहती है, जैसे पुत्र–पुत्री ही माता–पिता के कहने के अनुसार सर्वथा चल सकते हैं, दूसरों के बाल–बच्चे अपना कहना क्यों करेंगे? जब आप अपने को योगी समझकर, संत समझकर उन्हें वश में करना चाहेंगे तो सदा–सर्वदा के लिए आपके वश

में नहीं रह सकेंगे, जैसे ही आप असंयमी होंगे, वैसे ही वे भी असंयमी हो जायेंगे। इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नि में आहुति देने का तात्पर्य होता है कि आज से मैं किसी की निन्दा नहीं सुनूँगा, आँखों से किसी में दोष नहीं देखूँगा, जिह्वा से अखाद्य पदार्थ नहीं खाऊँगा इत्यादि इत्यादि। यह देखा भी गया है कि कोई बारह साल वाणी पर संयम करे अर्थात् बारह साल झूठ न बोले तो वह वाणी से जो भी कुछ कह देगा, वह पूरा हो जायेगा; यानी वरदान देगा तो वरदान पूरा हो जायेगा, शाप देगा तो शाप पूरा हो जायेगा। यदि वह कानों से भगवत्कथा ही सुने तो भक्तिरूप हो जायेगा और ज्ञान चर्चा ही सुने तो ज्ञानरूप हो जायेगा। महाराज परीक्षित का सात दिन का शापयुक्त जीवन इसके लिए उपयुक्त उदाहरण है। उन्होंने 'सातवें दिन मेरी मृत्यु हो जायेगी', ऐसा सुनते ही घर से तत्काल संन्यास ले लिया और प्रतिज्ञा की कि आज से कानों से सत्संग ही सुनूँगा, नेत्रों से संतदर्शन ही करूँगा, अन्य समय में भगवान्नाम जप और आत्मचिन्तन ही करूँगा तथा भोजन, जल और नींद को स्वीकार ही नहीं करूँगा। अतः उन्हीं जैसे कुछ साधक प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि मैं इन कानों से कभी किसी काल में जीव की गाथा नहीं सुनूँगा। भौतिक विज्ञान पढ़ना और इतिहास पढ़ना, जीव की गाथा सुनना है, उपन्यास पढ़ना जीव की गाथा सुनना है, वैसे ही लोगों के संसर्ग में रहना जीव की गाथा सुनना है। अतः वे प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि वाणीरूपी अग्नि में आत्मचिन्तनरूपी हविष्य की आहुति दूँगा, पैरों से संतों एवं सद्गुरुओं के पास जाऊँगा, हाथों से उन्हीं की सेवा करूँगा इत्यादि–इत्यादि।

(.....शब्दादीन्विषयानन्य.....) कुछ ऐसे भी योगिजन होते हैं जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को इन्द्रियों का ही विषय मानकर उनकी तरफ देखते भी नहीं हैं। शब्दादि विषयों को इन्द्रियों में ही आहुति देने का तात्पर्य शुभाशुभ विषयों की तरफ से सर्वथा उदासीन हो जाना होता है। अतः इसप्रकार के जिज्ञासु प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि जबतक मैं अपने–आपको नहीं जान लूँगा तबतक किसी भी क्रिया को स्वीकार नहीं करूँगा, न किसी से बोलूँगा, न किसी की सुनूँगा, न देखूँगा, न किसी से व्यवहार रखूँगा। ऐसा सोचकर वे एकान्त प्रदेश में जाकर अज्ञात हो जाते हैं तथा एकमात्र द्रष्टा हो जाते हैं, न अन्तःइन्द्रियों को देखते हैं, न बाह्य इन्द्रियों को देखते हैं, न अन्तर्वृत्तियों की तरफ देखते हैं, न बाह्य वृत्तियों की तरफ देखते हैं, न भगवन्नाम का जप करते हैं, न किसी रूप का ध्यान करते हैं बल्कि अपने को द्रष्टा मानकर संतों की तरह सम शान्त हो जाते हैं। खाना–पीना छोड़कर तबतक के लिए द्रष्टारूप होकर निर्विकल्प ध्यान में बैठ जाते हैं, जबतक कि वे अपने आत्मस्वरूप में स्थित नहीं हो जाते हैं। सबीज और निर्बीज ये दो प्रकार के ध्यान होते हैं। भक्तिपथ में वाणी से जप तथा मन से रूप का ध्यान, सबीज ध्यान कहलाता है तथा ज्ञानमार्ग में आत्मचिन्तन के साथ ध्यान सबीज ध्यान कहलाता है तथा जिस ध्यान में नाम, रूप एवं आत्मचिन्तन का भी प्रयोग अर्थात् बुद्धि का भी प्रयोग नहीं होता उसे निर्बीज ध्यान कहते हैं लेकिन निर्बीज ध्यानवाले को भी द्रष्टापना का बोध रहता है। मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि निश्चितरूप से द्रष्टा हूँ क्योंकि दृश्य दिखाई पड़ रहा है, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख के साथ–साथ भूख–प्यास दिखाई पड़ रही है, अतः मैं शरीर और शरीर का विकार हो ही नहीं सकता; लेकिन जितना मैं हूँ उतना तो हूँ ही। तो उतना क्या हूँ? हाँ, उतना मैं द्रष्टा हूँ। इस ज्ञान में, बोध में वे

शरीर को सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन अर्थात् किसी एक आसन में बैठाकर अपने मौलिक स्वरूप की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

अपने को द्रष्टा या आत्मा मान लेने मात्र से तो संतुष्टि होती नहीं, जबतक कि आत्मसत्ता, आत्मशक्ति, आत्मसामर्थ्य आ नहीं जाती। कुछ ऐसे साधक होते हैं, जो ज्ञान में स्थित हो जाते हैं लेकिन शक्ति में स्थित होने के पूर्व ही व्यवहार में आकर 'पुनर्मूषको भव' कहावत के अनुसार पुनः अज्ञान में ही स्थित हो जाते हैं; कुछ ऐसे भी होते हैं, जो तंत्र, मंत्र, योग के द्वारा कुछ समय शक्ति में स्थित होकर पुनः व्यवहार जगत में शक्ति बिखेर कर मोह में स्थित हो जाते हैं– लेकिन एक तीसरे प्रकार के साधक होते हैं जो ज्ञान और शक्ति दोनों में ही स्थित होकर जगत हितार्थ व्यवहार जगत में प्रवेश करते हैं, जो भक्तों एवं आत्मजिज्ञासुओं के लिए अति सार्थक होते हैं। सभी संत इस विषय में एक मत हैं कि सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न आत्मज्ञानी ही प्रकृति को स्वीकार करने के अधिकारी हैं। आत्मबोध से सम्पन्न लेकिन संकल्पशक्ति से हीन साधक तबतक जगत से अज्ञात होकर मौनी एवं अन्धा बना रहे, जबतक कि वह सर्वशक्तिमान नहीं हो जाता। आप सबने सुना ही है कि माँ गान्धारी ने एकमात्र नेत्रेन्द्रिय पर ही संयम किया था, उसी संयम से प्राप्त हुई शक्ति के द्वारा शक्तिपात करके उसने दुर्योधन के शरीर को वज्र बना दिया था। ठीक उसीप्रकार यदि आत्मजिज्ञासु सम्पूर्ण इन्द्रियों पर संयम कर दें तो एक समय ऐसा आयेगा कि वे आत्मसंकल्प से आत्मज्ञानरूप ही हो जायेंगे।

(सर्वाणीन्द्रियकर्माणि.....) कोई साधक पूछता है गुरुदेव से कि मैं आत्मा हूँ गुरुदेव! आपके आध्यात्मिक विषय के श्रवण मात्र से मैंने आत्मस्वरूप को जान लिया लेकिन आत्मशक्ति को नहीं जाना; अतः अब आप ही बतायें कि मेरे लिए आप क्या आज्ञा देते हैं? गुरुदेव मानो बताते हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राणों के व्यवहार को, ज्ञान से प्रज्वलित हुई आत्मसंयमरूपी अग्नि में आहुति दे दो। ऐसा सुनकर वह साधक चेतन ध्यान अर्थात् चिन्तन के साथ ध्यानयोग में प्रवृत्त हो जाता है (जिसका सविस्तार वर्णन छठें अध्याय में किया गया है)।

ॐ मासपारायण, नवाँ विश्राम ॐ

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥

हे पार्थ! कुछ योगी द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ तपयज्ञ करते हैं, कुछ अष्टांगयोग करते हैं, कुछ यतिजन (संन्यासी) तीक्ष्ण व्रतों के द्वारा स्वाध्यायमय ज्ञानयज्ञ करते हैं। वे ज्ञाननिष्ठा से सम्पन्न कालान्तर में इन्हीं यज्ञों के द्वारा ज्ञानरूप होते देखे जाते हैं।

'द्रव्ययज्ञाः'– भगवत् प्राप्ति के संसाधनों में प्रभु ने धन के दान को भी सम्पूर्ण साधन माना है और यह एक विलक्षण बात है। बहुत से साधकों एवं भक्तों ने एकमात्र धनदान से ही अपने

तन, मन, वचन, हृदय को पवित्रकर भगवान को प्रसन्न कर लिया है। महात्मा राजा बलि उन्हीं साधकों में से एक हैं। उन्होंने भगवत्प्राप्ति के साधनों में धनदान को ही अपने लिए सर्वश्रेष्ठ साधन माना एवं जाना था। साधकों के अपने–अपने भगवत्प्राप्ति की निष्ठा के साधन होते हैं। रावण ने तो भगवत्प्राप्ति का साधन भगवान के हाथों मरना ही मान लिया था। उसने सोचा था कि अब तो मैं निष्काम जप, तप, योग कर ही नहीं सकता, अतः क्यों न प्रभु के हाथों मरकर अबतक के कुकृत्यों का प्रायश्चित भी कर लूँ और सामीप्य मुक्ति भी प्राप्त कर लूँ; सभी जानते ही हैं कि ऐसा ही हुआ भी था। राजा बलि ने भी यही सोचा था कि निष्काम जप, तप, योग हमारे से तो हो ही नहीं सकता, लेकिन दानरूपी यज्ञ तो हो सकता है, अतः इसी दानमय यज्ञ को मैं प्रभु प्राप्ति का साधन बनाता हूँ। ऐसा सोचकर वे प्रजा से प्राप्त हुए सम्पूर्ण धन को देकर अश्वमेधादि यज्ञों के द्वारा देवताओं को आहुति से तथा संतों, साधकों एवं भक्तों तथा ब्राह्मणों को दानरूपी सेवा से संतुष्ट करने लगे। 'दान ही ब्रह्म है'– इस भावना से अपने दरवाजे से कभी किसी को खाली हाथ जाने नहीं देते। जो अपने दरवाजे से कभी किसी को खाली हाथ जाने नहीं देता, उसे महादाता कहते हैं। सब देखते ही हैं कि संत अपने पास आये हुए भक्तों को कुछ देकर ही भेजता है। यदि वनप्रदेश में उसके पास कुछ देने को नहीं है तो 'प्रेम' तथा 'हरि ॐ' का दान तो कर ही देता है। उसीप्रकार जिस सद्गृहस्थ भगवद्भक्त के दरवाजे से कोई खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे महादाता के पास कभी भगवान ही माँगने आ जाते हैं। महात्मा बलि ने इतना दान किया, इतना दान किया कि उसने सोचा कि अन्न में और शरीर में तो अन्तर ही नहीं है, अन्न तो अन्न है ही शरीर भी अन्न है। 'अन्न का उपार्जन जो करता है उसके लिए अन्न प्राण है और शरीर का जिसने उपार्जन किया उसके लिए शरीर प्राण है'– इस न्याय से तो जिस शरीर को मैं अपना मानता हूँ, वह भगवान का उपार्जन किया हुआ है, अतः यह शरीर भगवान का अन्न है। अवश्य मेरे दरवाजे कभी न कभी इन्हीं माँगनेवालों में से भगवान भी कभी माँगने आ जायेंगे। उस महात्मा ने यजमान, ब्राह्मणों एवं ब्रह्मचारियों को दक्षिणा से, याचकों को मुँह माँगे दान से एवं प्रजा को प्रसाद से इतना संतुष्ट कर दिया कि उस दानरूपी भगवान से भगवान ही ब्रह्मचारी के वेष में उसके दरवाजे पर याचक बनकर आ गये। जब प्रभु के माँगने पर महात्मा बलि ने एक पग धरती के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वीरूपी अन्न को ही दान कर दिया, दूसरे पग में अपने स्वर्गलोकरूपी अन्न को ही दान कर दिया अर्थात् जब दूसरे पग में अन्तरिक्ष से पाताल को भी प्रभु ने नाप लिया' तब प्रभु के द्वारा ऐसा पूछने पर कि तीसरे पग के रूप में क्या देते हो? तो उस महात्मा ने कहा कि हे प्रभु! यह शरीर भी आपका ही उपजाया हुआ है, अतः आपके लिए अन्न है, अब मैं इसी को देता हूँ। ऐसा कहकर राजा बलि ने अपने सिर को आगे कर दिया। सुना जाता है कि तब प्रभु ने उन्हें पाताल लोक का स्वामी बनाकर एक संकल्पवत् दिव्य राजमहल, जिसमें दसों दिशाओं के अनुरूप दस दरवाजे बनाये गये हैं, उसे देकर कहा– तुम जिधर से भी निकलोगे, जिस दरवाजे से भी निकलोगे, उसी दरवाजे पर मेरा साक्षात् दर्शन करोगे। इसप्रकार ब्रह्मकर्ता के द्वारा जो क्रिया की जाती है, उसका फल ब्रह्म ही होता है स्वर्ग नहीं होता। स्वर्ग तो जहाँ ब्रह्म रहता है, वहाँ वास करता ही है, लेकिन उसकी आत्मा स्वर्ग न होकर ब्रह्म ही हो जाती है। राजा बलि आज भी किंपुरुष प्रदेश में वास करते हैं, जो उनका पाताललोक कहा

जाता है। वे चिरंजीवी महात्मा जिस दिशा में गमन करते हैं, सर्वप्रथम भगवान का ही दर्शन करते हैं। तात्पर्य यह है कि यह शरीर भी दस दरवाजोंवाला एक दिव्य महल कहा जाता है, अतः वे दसों इन्द्रियों के द्वारा ब्रह्म की ही अनुभूति करते हैं। किष्किन्धाकाण्ड 'श्रीरामचरितमानस' में लिखा हुआ है–

जिमि इन्द्रिय गन उपजें ग्याना।

अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के उपरान्त आँख ज्ञानमय हो जाती है, कान ज्ञानमय हो जाता है, नाक, जिह्वा, हाथ, पाँव, शिश्न, गुदा आदि सभी इन्द्रियाँ ज्ञानमय हो जाती हैं, मन, बुद्धि, चित्त– सभी ज्ञानमय हो जाते हैं, कहाँ तक कहा जाये, सारी वृत्तियाँ ज्ञानमय हो जाती हैं। कान से जो शब्द सुनाई पड़ता है, वह उसके लिए ब्रह्मनाद हो जाता है; जो रूप दिखाई पड़ता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है; जिह्वा के द्वारा पाये जानेवाले सारे के सारे रस ब्रह्मरस हो जाते हैं इत्यादि इत्यादि।

जिसप्रकार हनुमानजी के अंग–अंग में भगवान बैठे हैं, उसीप्रकार राजा बलि के दसों इन्द्रियों में भगवान बैठे हैं। वे जब चाहें तब इस शरीर को प्रभु दर्शन कर छोड़ सकते हैं।

'द्रव्ययज्ञाः'– इस आख्यायिका के द्वारा तो आप सबको जान ही लेना चाहिये कि आप सबका शरीर भगवान के द्वारा ही उपार्जित किये जाने के कारण से उनके लिए अन्न ही है। अतः भले ही आप भगवान को इस शरीररूपी अन्न को सर्वथा न दे पायें, तो भी कोई बात नहीं, इस शरीर से अन्न का उपार्जन कर कम से कम दस प्रतिशत ही सही लेकिन दान देने का स्वभाव बनावें। दरवाजे पर आये हुए संतरूपी अग्नि को, ब्रह्मचारीरूपी अग्नि को, ब्राह्मणरूपी अग्नि को, याचकरूपी अग्नि को, अतिथिरूपी अग्नि को तथा आकाशचारी पशु–पक्षीरूपी अग्नि को निराश न जाने दें। आप सभी देखते ही हैं कि शरीररूपी अन्न को आप सबके नहीं चाहने पर भी भगवान कालरूप बनकर तो ले ही जाता है, लेकिन भगवान आपके लिए काल बनकर नहीं अमृत बनके आये इसके लिए आप दान देने का स्वभाव बनायें। कतरायें नहीं, अभी से देने की तैयारी करें, जिससे जब शरीररूपी अन्न को माँगने भगवान ही आयें तो आप सहर्ष उसे दे सकें।

'तपोयज्ञास्तथापरे'– कितने ही साधक भगवान की प्रसन्नता के निमित्त तपरूपी अग्नि में अपने शरीररूपी हविष्य की आहुति दे देते हैं। भक्त ध्रुव एवं भगवती पार्वती आदि ने इसी तपरूपी अग्नि में अपने शरीररूपी हविष्य की आहुति दे दी थी, परिणामरूप फल हुआ कि उन्हें भगवान ही मिल गये थे। यद्यपि ये सगुणोपासक भक्त थे, जबकि निर्गुण–निराकारोपासक भी तपयज्ञ को स्वीकार करते हैं।

'योगयज्ञास्तथापरे'–कुछ ऐसे भी साधक होते हैं, जो ज्ञान में स्थित होकर अष्टांगयोग को धारण करते हैं। योग शब्द भी बहुवाची है, इस मंत्र में द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ के साथ–साथ स्वतंत्ररूप से योगयज्ञ की बात भी कही गयी है, इसलिए यहाँ पर निश्चितरूप से समझा जाता है कि भगवान के द्वारा यहाँ अष्टांगयोग की तरफ ही संकेत है। महर्षि पतञ्जलि के द्वारा मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए दिये जानेवाले 'पातञ्जल योगदर्शन' के अन्तर्गत साधनपाद में वर्णित यह

योग अति प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। आठ अंगों से सम्पन्न होनेवाला यह योग थोड़े ही वर्षों में दिव्य सिद्धियों से सम्पन्न कर ब्रह्म साक्षात्कार करानेवाला होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यही योग के आठ अंग हैं। यम, नियम के अंतर्गत ही दस अणुव्रत हैं, जिनका अच्छीप्रकार पालन किये बिना अन्य छः अंग भी बन्धन कारक ही सिद्ध होते हैं। यम, नियम का पालन करने से अन्य अंग जहाँ चेतनसमाधि की तरफ ले जाते हैं, जो महत् चित्तशुद्धि कराकर ज्ञान देनेवाले होते हैं, वहीं यम–नियम का भलीभाँति अनुष्ठान नहीं करने से अन्य अंग जड़समाधि की तरफ ले जाकर अज्ञान का हेतु बनकर थोड़े ही समय के लिए थोड़ी सिद्धि देनेवाले होते हैं। आसन ब्रह्म है, प्राणायाम ब्रह्म है, प्रत्याहार ब्रह्म है, धारणा ब्रह्म है, ध्यान ब्रह्म है और समाधि ब्रह्म है– इसप्रकार की भावनावाले को यम–नियम के अंग भी ब्रह्म ही हैं, ऐसा समझना होगा तभी अन्य अंगों की आधारशिला तैयार होगी। यम–नियम के वे दस अंग इसप्रकार हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (इन अंगों का सविस्तार वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायेगा)।

'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च'– कितने ही साधक कठोर चान्द्रायण व्रत आदि के द्वारा स्वाध्यायसहित ज्ञानयज्ञ करनेवाले होते हैं। ब्रह्मयज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ में तो कुछ अन्तर है ही नहीं, फिर भगवान ने यहाँ इन्हें पृथक् क्यों किया? हाँ, इसलिए कि यहाँ 'स्वाध्याय' विशेषण है। कुछ साधक गुरु आदेशानुसार 'मैं आत्मा हूँ'– ऐसा स्वीकार तो कर लेते हैं किन्तु चौबीसों घण्टे आत्मरूप होकर के विचरण करने में असमर्थ होते हैं, अतः वे सद्गुरु आश्रम में रहकर कठोर तप एवं त्याग के साथ गुरु आदेशानुसार आध्यात्मिक ग्रन्थों (गीता, उपनिषद्, योगवासिष्ठ आदि) का सुबह से शाम तक स्वाध्याय (पाठ) करते हैं एवं संध्याओं में अपने स्वरूप का ध्यानकर, रात्रि में दिन के किये गये स्वाध्याय का चिन्तन करते हैं। उसके उपरान्त रात्रि के तृतीय पहर में दिव्य स्वप्नोंवाली निद्रा को लेकर पुनः चौथे पहर में शौच–स्नान कर चिन्तनमय ध्यान को एक–डेढ़ घण्टे स्वीकार कर लेते हैं। पुनः नित्य के स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाते हैं। स्वाध्याय के अंतर्गत आये हुए संशय एवं भ्रम का निवारण हररोज सद्गुरु से कराते रहते हैं।

ज्ञानयोगी साधक के लिए 'यतयः संशितव्रताः' विशेषण भी दिया गया है। ज्ञानयोगी को सर्वप्रथम निद्रा पर विजय प्राप्त करनी होती है, अतः उसके लिए अति सूक्ष्म (हल्का) आहार करते हुए चान्द्रायणव्रत के साथ स्वाध्याय करने का विधान किया गया है। साधक अपने भोजन को छोटे–छोटे तीस ग्रासों में बाँट देते हैं और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक ग्रास कम करते हुए अमावस्या को पूरा उपवास करते हैं। पुनः शुक्लपक्ष की ही प्रतिपदा से एक ग्रास बढ़ाते हुए अमावस्या को पूरा भोजन करते हैं। इसप्रकार छह महीने या सालभर में शरीर को तपोमय बनाते हुए तीन–तीन दिन के उपरान्त हल्का आहार लेते हुए तीसरे साल में पाँच–पाँच दिन या सात–सात दिन पर फलाहार लेते हुए ज्ञानसमाधि को विशेष प्रतिष्ठित करते जाते हैं। वे तबतक ज्ञानसमाधि का प्रयोग करते हैं, जबतक सम्पूर्णता से ज्ञानरूप नहीं हो जाते।

चान्द्रायणव्रत की दूसरी सरल विधि इसप्रकार है–

कुछ साधक अपने भोजन को पन्द्रह ग्रासों में बाँट देते हैं तथा शुक्लपक्ष की प्रतिप्रदा से एक–एक ग्रास कम करते हुए पूर्णिमा को चौबीस घण्टे उपवास करते हैं तथा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से एक–एक ग्रास बढ़ाते हुए अमावस्या तक पन्द्रह ग्रास यानी पूरा भोजन कर लेते हैं। जैसे–जैसे शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ तपोमय होती जाती हैं, वैसे–वैसे अन्न से शाक–सब्जी पर उतर आते हैं अर्थात् शाक–सब्जी तथा फल–फूल ही खाने लगते हैं। शाक–सब्जी को भी चौबीस घण्टे में दो बार से एक बार, पाँच–छः महीने में हर तीसरे दिन एकबार, सालभर होते–होते हर चौथे रोज एक बार शाक–सब्जी, फल–फूल खाते हुए, फिर भूख लगने पर ही हल्का आहार (फलाहार) लेते हैं। उस अवस्था में लगभग स्वाध्याय एकमात्र चिन्तन में बदल जाता है। फिर तो कभी ऐसा भी समय आता है कि आमरण अनशन भी कर बैठते हैं अर्थात् प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि जबतक आत्मशक्ति से सम्पन्न मैं अपने आत्मरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तबतक जल के सिवा कुछ ग्रहण ही नहीं करूँगा। विशेष क्या कहना, यह तो साधक जब स्वाध्यायमय ज्ञानयज्ञ में भलीभाँति प्रतिष्ठित रहता है, तो अपने–आप उसे प्रेरणा प्राप्त होती रहती है कि अब क्या करना चाहिये। यदि कोई साधक जल्दीबाजी न करे तो कुछ ही सालों में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

यदि कोई साधक धैर्य एवं कुशलता के साथ पहले दिन से ही अखण्ड बारह घण्टे स्वाध्यायमय ज्ञानयज्ञ करना चाहे तो उसके लिए भी यही नियम है कि सुबह चार बजे से पाँच बजे तक शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर पाँच से सात या बारह–पन्द्रह नाड़ी शोधन के साथ रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम कर चिन्तनमय ध्यान करे। फिर सात से ग्यारह बजे तक योगवासिष्ठ या ज्ञानकाण्ड के उपनिषद् या सद्गुरु के द्वारा लिखित ग्रन्थों का स्वाध्याय (पाठ) करे। उसके उपरान्त ग्यारह से बारह बजे हल्का आहार करे। फिर स्नान कर एक से दो बजे तक ध्यान करे, दो से तीन बजे तक गुरुदेव के पास बैठकर सत्संग का लाभ ले (उनके अभाव में उच्चकोटि के साधकों के साथ सत्संग करे)। तीन से छः बजे तक पुनः स्वाध्याय, छः से साढ़े सात बजे तक नित्यकर्म एवं ध्यान करे। पुनः हल्का आहार लेकर दिनभर में किये गये स्वाध्याय का रात्रि दस बजे तक चिन्तन करे, इसके बाद निद्रा को स्वीकार करे। एक–एक महीने में दिन के स्वाध्याय को बढ़ाता जाय तथा रात्रि के चिन्तन को भी एक–एक घण्टा बढ़ावे। इसप्रकार सालभर होते–होते सात बजे सुबह से लेकर छः–सात बजे शाम तक अखण्ड स्वाध्याय (पाठ) कर सकता है। ऐसी अवस्था में रात्रि आठ बजे ही हल्का आहार लेने में सुगमता होती है। डेढ़–दो साल होते–होते जैसे–जैसे आत्मचिन्तन की धारा प्रकट होती जायेगी, वैसे–वैसे पाठ की जगह अखण्ड चिन्तन प्रारम्भ होता जायेगा। वैसे ही रात्रि में चिन्तन की जगह ज्ञानमय ध्यान जगह लेता जायेगा अर्थात् प्रारम्भ होता जायेगा।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥

कुछ योगीजन प्राणवायु को अपानवायु में हवन करते हैं और कुछ तो अपानवायु को ही प्राणवायु में हवन करते हैं तथा कुछ संयमी पुरुष प्राण एवं अपान की गति को रोककर केवली कुम्भक के आश्रित हो जाते हैं। ये सभी साधक यज्ञों के द्वारा अपने सम्पूर्ण पापों का क्षय कर देनेवाले तथा यज्ञों के जाननेवाले होते हैं।

सर्वप्रथम इन मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ देखें– कोई संन्यास का इच्छुक साधक जो अपने माता–पिता तथा बाल–बच्चों को प्राण समझता है, वह अपने भाई–बान्धवरूपी अपान का आश्रय छोड़कर संन्यास ले लेता है तो कोई साधक सगे–स्नेही, भाई–बान्धवरूपी अपान को माता–पितारूपी प्राण के आश्रित करके वन को चल देता है। कोई पुरुष अपने धर्मपत्नीरूपी प्राण को अपने समर्थ पुत्ररूपी अपान के आश्रित छोड़ भगवद्भजन के लिए घर से निकल पड़ता है तो कोई पुरुष अपने असमर्थ बाल–बच्चेरूपी अपान को समर्थ धर्मपत्नीरूपी प्राण के आश्रित कर संन्यास लेता है तो कोई धर्मपत्नीरूपी प्राण एवं पुत्र–पुत्रीरूपी अपान को कुलगुरु के आश्रित कर दोनों का संयम कर वन–प्रदेश को चल देता है।

प्रभु श्रीराम ने अपनी प्रजारूपी अपान को ब्रह्मज्ञानी गुरु महर्षि वसिष्ठरूपी प्राण के आश्रित कर वानप्रस्थ को स्वीकार कर अयोध्या को त्याग दिया था, तो महात्मा भरत ने प्रभु श्रीराम की चरणपादुकारूपी प्राण को तथा गुरुदेव वसिष्ठरूपी अपान को एककर अर्थात् इन दोनों का योगकर मानो केवली कुम्भक के द्वारा अपने तन, मन, वचन एवं प्रजारूपी शरीर पर शासन किया था। ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ने अपनी प्रिय धर्मपत्नी मैत्रेयीरूपी अपान को आत्मज्ञानरूपी प्राण के आश्रित कर संन्यास ले लिया था। भगवान आद्यगुरु शंकराचार्य ने अपनी माँरूपी अपान को 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' रूपी प्राण के आश्रित कर संन्यास ले लिया था। भगवती शबरी ने अपने तन, मन, वचनरूप अपान को नवधा भक्तिरूप प्राण में आहुति दे दिया था। कितने साधक अपने तन, मन, वचनरूपी अपान को अष्टांगयोगरूपी प्राण में हवन करते हैं तो कुछ साधक अपने मायामय शरीररूपी अपान को ज्ञानरूपी प्राण में हवन कर देते हैं; तो कुछ साधक अपने मन, बुद्धि, चित्तसहित शरीररूपी अपान को सद्गुरुरूपी प्राण में हवन कर देते हैं तो कोई–कोई अपने शरीररूपी अपान और सद्गुरुरूपी प्राण, इन दोनों का योग कर सद्गुरु की आज्ञारूपी केवली कुम्भक के आश्रित हो जाते हैं। उसीप्रकार कोई–कोई शुभकर्मरूपी प्राण और अशुभकर्मरूपी अपान इन दोनों को छोड़कर संन्यास ले लेते हैं। उसीप्रकार कोई–कोई शुभवृत्तिरूपी प्राण और अशुभवृत्तिरूपी अपान इन दोनों पर संयमकर अर्थात् इन दोनों को त्यागकर शुद्ध, साक्षी चेतनरूपी केवली कुम्भक के आश्रित हो जाते हैं। इसप्रकार कोई–कोई साधक शरीररूपी अपान को संसाररूपी प्राण में हवन करते हैं तो कोई–कोई संसाररूपी प्राण को शरीररूपी अपान में ही समर्पित हुआ जानते हैं तथा कोई–कोई शरीर और संसार को एक–दूसरे का अंग–अंगी मानकर इन दोनों से उदासीन होकर सम शान्त एवं सच्चिदानन्दघनरूपी केवली कुम्भक में परम विश्राम

करते हैं। इसप्रकार ज्ञान में स्थित होकर एकमात्र सर्वस्वत्याग से ही आत्मशक्ति में स्थित हो जाते हैं; किन्तु सौ में निन्यानबे साधकों को यह विश्वास ही नहीं होता कि ज्ञान में स्थित होकर केवल त्यागवृत्ति से आत्मशक्ति में स्थित हुआ जा सकता है। अतः इसप्रकार के साधकों के लिए अब इस मंत्र का महाराज भौतिक अर्थात् स्थूल अर्थ दे रहा है जिस पर ध्यान दें–

'अपाने जुह्वति प्राणं'– स्वयं को शुद्ध साक्षी आत्मा माननेवाले साधकों में से कुछ साधक आत्मशक्ति में स्थित होने के लिए प्राण को अपान में हवन करते हैं अर्थात् केवल अन्तर्कुम्भक करते हैं, उसकी विधि देखें–

जब नाड़ीशोधन प्राणायाम करते–करते दोनों स्वर ध्यान के लिए बैठते ही पाँच मिनट के अन्दर खुल जायँ तब बाहर की वायु को भीतर गुदा तक भर लें और भृकुटि में मन को केन्द्रित कर यथा सामर्थ्य वायु को रोकते हुए ध्यान करते रहें। जब थोड़ा मन घबराने लगे तब सम्पूर्ण वायु को बाहर फेंककर पुनः पुर्ववत् बाहर की वायु को गुदा तक भरकर रोके रहें। इसप्रकार पाँच से सात प्राणायाम एक सप्ताह तक करके ध्यान किया करें। पुनः क्रमशः प्रति सातवें दिन एक प्राणायाम बढ़ाते हुए ध्यान करते रहें, जबतक कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत न हो जाय। लगभग पच्चीस से तीस प्राणायाम हो जाने के उपरान्त, बीस–पच्चीस दिन तक उतना ही प्राणायाम करते हुए ध्यान करें। पुनः प्रति सप्ताह एक प्राणायाम बढ़ाना प्रारम्भ करें और लगभग साठ प्राणायाम तक जाकर एक महीने तक उतना ही प्राणायाम करते हुए ध्यान करें। पुनः प्रति सप्ताह एक प्राणायाम बढ़ाना प्रारम्भ करें, अब नब्बे प्राणायाम पर लगभग एक महीने के लिए प्राणायाम बढ़ाना बन्द कर दें और लगभग सवा महीने तक नब्बे प्राणायाम करते हुए ही ध्यान करें। उसके उपरान्त पुनः प्रति सप्ताह एक प्राणायाम बढ़ाना प्रारम्भ करें और सवा सौ तक ले जाकर प्राणायाम बढ़ाना बन्द करें तथा दो महीने तक सवा सौ प्राणायाम करते हुए ध्यान करें। इसीप्रकार सात दिन में एक प्राणायाम को बढ़ाते हुए ध्यान करते रहें। कोई दिन ऐसा आयेगा कि कुण्डलिनी शक्ति सहसा वैसे ही प्रकाशित हो जाएगी जैसे फूँकते–फूँकते–फूँकते आग धधक जाती है, अर्थात् प्रज्वलित हो उठती है। जब सम्पूर्णता से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तब नित्यप्रति जितना प्राणायाम करने पर शक्ति जागृत हो जाती है, उतना ही प्राणायाम करके ध्यान में बैठने का प्रयत्न करें। यह अन्तःकुम्भक प्राणायाम जिसमें प्राणों को अपान में लीन किया जाता है, पित्त एवं कफ प्रधान प्रकृतिवाले साधकों के लिए विशेष सार्थक होता है। ठीक इसके विपरीत कुछ साधक–

'प्राणेऽपानं तथापरे'– अपान को प्राण में हवन करते हैं अर्थात् गले से नाभि तक की सम्पूर्ण वायु को बाहर फेंक कर स्मृति को (मन को) भृकुटि में केन्द्रित कर ध्यान में मग्न हो जाते हैं। इस प्राणायाम का क्रम पूर्व के प्राणायाम से सर्वथा भिन्न है। जिसकी विधि इसप्रकार है–

उदर की सम्पूर्ण वायु को बाहर फेंककर मन को भृकुटि में केन्द्रित कर गुदा का संकुचन करें (जिसे 'अश्विनीमुद्रा' कहते हैं), गुदा का संकुचन करते रहें। नित्यप्रति आठ–दस प्राणायाम के उपरान्त गुदा का मुख ऊर्ध्वगामी होकर मूलबन्ध लग जाता है। इसी को बाह्यकुम्भक

प्राणायाम कहते हैं। इस बाह्यकुम्भक में प्राणवायु को भीतर न रोककर बाहर फेंककर स्तम्भन किया जाता है। यह प्राणायाम विशेष कठिन भी है; क्योंकि बाहर फेंकने के उपरान्त प्राणवायु प्रथम चरण में मात्र बीस–पच्चीस सेकेण्ड रुक पाती है, जबकि अन्तःकुम्भक में प्राणवायु प्रथम चरण में ही एक मिनट तक रुक जाती है। यह आठ–दस प्राणायाम से प्रारम्भ कर प्रत्येक पाँचवें दिन एक प्राणायाम बढ़ाते हुए पचास प्राणायाम पर जाकर प्राणायाम बढ़ाना छोड़ दें तथा एक महीने तक पचास प्राणायाम करते हुए ही ध्यान करें। एक महीने के उपरान्त पुनः प्रति पाँचवें दिन एक प्राणायाम बढ़ाते हुए नब्बे प्राणायाम पर प्राणायाम को रोके रहें और एक माह तक नब्बे प्राणायाम करते हुए ध्यान करें। तत्पश्चात् सवा सौ, डेढ़ सौ, पौने दो सौ, दो सौ तक इस प्राणायाम को बढ़ाते हुए ध्यान तबतक करते रहें, जबतक कुण्डलिनी शक्ति जागृत नहीं हो जाती है। एक बात का ध्यान रखें कि दोनों प्राणायामों में किसी की कुण्डलिनी शक्ति पचास–साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे या सौ तक करते ही जग जाती है तो उनके लिए विशेष प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है। वे उतना ही प्राणायाम नित्य प्रति करें, जबतक वे ध्यानस्थ न हो जाएँ। अथवा कोई नाड़ीशोधन करने के उपरान्त बीस–इक्कीस कुम्भक प्राणायाम करते–करते ही ध्यानस्थ हो जाता है उसके लिए भी विशेष प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो इतने ही प्राणायाम के उपरान्त आठ–दस या बारह घण्टे ध्यान में बैठ लेता है उसे दो सौ, तीन सौ, केवली कुम्भक प्राणायाम करने का फल मिल जाता है।

प्रभु ने एक तीसरे प्राणायाम की तरफ संकेत किया है, वह है– 'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।' जिसकी विधि का सविस्तार वर्णन महाराज ने आठवें अध्याय में किया है।

ध्यान रहे कि प्राणायाम अभ्यासी साधकों को जलनेति एवं सूत्रनेति को हररोज कर लेना चाहिये। दो–तीन मिनट नौली भी हररोज कर लेना चाहिये तथा चौथे दिन वस्ति तथा सातवें दिन नेति, जल धौति; वस्ति एवं गजकर्णी विधिवत् कर लेनी चाहिये। इतना ही नहीं, प्रारम्भिक चरण में एक महीने में एकबार शंखप्रक्षालन करना चाहिए तथा एक सौ की संख्या से प्राणायाम आगे बढ़ने पर प्रति पन्द्रहवें दिन विधिवत् शंखप्रक्षालन एवं गजकर्णी करना चाहिए। शंखप्रक्षालन के बाद दिनभर सम्पूर्ण विश्राम करना चाहिये। विश्राम का तात्पर्य यह नहीं कि दिन में सोने ही लगें; हाँ प्राणायाम, ध्यान आदि न करें, रात्रि से प्रारम्भ करें। एक बार और ध्यान दें कि जो बारह–बारह घण्टे, पन्द्रह–सोलह घण्टे ध्यान में बैठ लेते हैं उन्हें प्रत्येक आठवे दिन शंख प्रक्षालन करके उस दिन दिनभर विश्राम करना चाहिए।

(अपरे नियताहाराः.....) कुछ ऐसे साधक होते हैं, जो प्राणों को ही प्राणों में हवन करते हैं। भीतर का प्राण बाहर के सगुण प्राणों से विशेष स्थूल होता है, अन्न ही सगुण प्राण है। अतः इसप्रकार जाननेवाले साधक शरीर को इतना सूक्ष्म आहार देते हैं, जिससे कि वे ब्रह्म चिन्तन कर सकें। सूक्ष्म आहार करते–करते सतोगुण इतना बढ़ जाता है कि प्राणायाम की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वयं महाराज ने एक साधक को ऐसा प्रयोग करते देखा है– पहले उसने चौबीस घण्टे में एक समय हल्का सात्त्विक आहार लिया, उसके उपरान्त तीन–तीन दिन के अन्तर पर एकबार

हल्का आहार लेना प्रारम्भ किया। पुनः कुछ समय के उपरान्त क्रमशः पाँच–पाँच, छः–छः, सात–सात दिन पर हल्का सात्त्विक आहार लेता हुआ एकान्त स्थान में आध्यात्मिक चिन्तनसहित ध्यान करता रहा। उसके उपरान्त उसने जल और अन्न का भी परित्याग कर दिया और सोचा कि अब भूख–प्यास लगने पर ही अन्न एवं जल लिया जायेगा। ईक्कीस दिन बिना अन्न तथा जल के बीत गये, फिर भी उसे भूख–प्यास का पता नहीं चला लेकिन प्राण एवं मन के उद्‌गम का तथा स्वरूप का उसे पता चल गया। बाहर से शरीर भले ही कृशकाय हो गया था लेकिन अन्दर ही अन्दर दिव्यानन्द की बाढ़ आ गयी थी। उसने देखा कि जल और अन्न से ही स्थूल प्राणों की रचना होती है तथा तमोगुणी एवं रजोगुणी वृत्तियों का उत्पात भी जल एवं अन्न से ही विशेष होता है। अन्न एवं जल के अभाव में इन दोनों वृत्तियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाने से तन, मन, वचन सतोमय हो जाते हैं। उस अवस्था में सारे के सारे प्राण मुख्य प्राण का अनुगमन करने लगते हैं इसलिए उन प्राणों एवं वृत्तियों का उत्पात नहीं होने से ब्रह्मचिन्तन में बाधा नहीं आती। अतः साधक शीघ्रातिशीघ्र आत्मसत्ता, आत्मशक्ति, आत्मसामर्थ्य और आत्मस्वरूप में सहज ही स्थित हो जाता है।

(सर्वेऽप्येते यज्ञविदो.....) उपरोक्त सारे साधक यज्ञों एवं यज्ञों के स्वरूप को जाननेवाले होते हैं, फिर भी उनके लिए सद्‌गुरु इन यज्ञों में से जिस यज्ञ को दे देता है, उसी यज्ञ को धारणकर वे निष्पाप हो जाते हैं।

प्रभु ने अबतक जिन यज्ञों का वर्णन किया है, उनका नाम भले ही कुछ और हो, किन्तु ब्रह्म के निमित्त किये जाने के कारण से अथवा चित्तशुद्धि के निमित्त किए जाने के कारण से सब ब्रह्मयज्ञ ही कहे जायेंगे। इन यज्ञों की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए भगवान कह रहे हैं–

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञ से बचे हुए अमृत का पान करनेवाला पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त कर लेता है; लेकिन यज्ञरहित पुरुष के लिए तो यह लोक ही सुखदायक नहीं है तो परलोक में सुख की कामना क्यों करता है!

रणभूमि में सर्वप्रथम देखकर तब आगे बढ़ा जायेगा– प्रभु ने यहाँ महात्मा अर्जुन को कुरुश्रेष्ठ शब्द से सम्बोधित कर उनके तपोमय जीवन की तरफ संकेत किया है। इन यज्ञों में से देवयज्ञ, द्रव्ययज्ञ तथा तपयज्ञ महात्मा अर्जुन के जीवन का अंग रहा है। प्रभु मानो यह संकेत देना चाहते हैं कि हे पार्थ! तुम्हारा जीवन तो तपोमय है ही, अतः तुम्हें सुख, शान्ति एवं विजय नहीं मिलेगी तो फिर किसे मिलेगी? इन यज्ञों में से किसी एक यज्ञ से बहुत से साधक पवित्र होते देखे गये हैं, पवित्र ही क्यों अमृतमय भी होते देखे गये हैं, फिर तुम तो इन यज्ञों में से बहुत से यज्ञों की आत्मा भी हो और वे यज्ञ तुम्हारी भी आत्मा हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! तुम अपने को याद करो! वर्तमान के कुरुवंशियों में तो तुम्हारे से श्रेष्ठ तपस्वी मुझे नहीं दिखाई पड़ रहा है। अब तो

तूने यज्ञ सम्पन्न कर लिया, अतः यज्ञ से बचे हुए अर्थात् यज्ञ से प्राप्त हुए पृथ्वी के स्वामीपने को, धन–धान्य ऐश्वर्य एवं विभूतियों को ज्ञानरूप होकर जगत हितार्थ स्वीकार करो। अब तुम शोक–सन्ताप छोड़ो और सर्वत्र अमृत का अनुभव करो।

अब आते हैं साधकों की भूमि में– इस मंत्र के पूर्व के मंत्र में कहा गया है कि इन यज्ञों को करनेवाले, यज्ञों के सम्पूर्ण स्वरूप को जाननेवाले होते हैं अर्थात् प्रयोग में लानेवाले होते हैं। यज्ञ ही ब्रह्म है, इस समझ से यज्ञ को धारण करनेवाले ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। इस मंत्र के द्वारा यज्ञ से शेष बचे हुए अन्नरूप प्रसाद को खानेवाला सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है– ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए; बल्कि ज्ञान में स्थित होकर इन यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाला साधक अमृत का अनुभव कर अर्थात् ज्ञानरूप होकर सनातन ब्रह्मरूप परमपद को प्राप्त कर जाता है– ऐसा अर्थ करना चाहिए। प्रभु ने ज्ञान में स्थित हुए याज्ञिकों की इसप्रकार कहकर स्तुति ही की है। इतना ही नहीं, वह अमृतरूप हुआ पुरुष जीवजगत में जिज्ञासुओं के लिए अमृतपद तक देनेवाला हो जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनका जीवन यज्ञमय नहीं है, जो पशुवत्, नारकीय एवं आसुरी जीवन जीनेवाले हैं, वे किसी भी काल में परलोक में सुख की कामना क्यों करते हैं? इस संसार को 'इहलोक' तो कहा ही जाता है, लेकिन आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए स्वप्नलोक को ही परलोक कहा जाता है। स्पष्ट देखा जाता है कि चोर चोरी का ही स्वप्न देखता है, साधु साधुता का ही स्वप्न देखता है, देवी–देवताओं का ही स्वप्न देखता है। चोर पुलिस से भागता हुआ, पिटाई खाता हुआ एवं पकड़कर जेल जाता हुआ स्वप्न देखता है तथा संत यज्ञ करता हुआ, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का सम्पादन करता हुआ तथा लोगों के द्वारा अर्चना, वन्दना तथा पूजा पाता हुआ, अपने को देखता है। शराबी, शराब पीकर अपने को नाली में पड़ा हुआ देखता है तो जुआरी स्वप्न में ही सबकुछ हारकर, भिखारी बनकर गलियों में भीख माँगता हुआ अपने को देखता है। वेश्यागामी वेश्या के पास जाने के लिए धर्मपत्नी की पिटाई करता हुआ, अपने कपड़े को नोचता हुआ, पैसे के अभाव में वेश्या के पास न जा पाने के कारण से अपना सिर फोड़ता हुआ स्वप्न देखता है, तो हत्यारा यमदूतों से तेल के कड़ाहे में डाल दिये जाते हुए तथा उनके द्वारा भाले–बर्छे से प्रहार करने पर आह–आह चिल्लाते हुए स्वप्नों को टूटते हुए देखता है। भीरु (डरपोक) सपने में सबसे डरता हुआ अपने को पाता है। अतः जिनका जीवन आसुरी एवं पाशविक है, वे इहलोक और परलोक में सुख एवं शान्ति की कामना क्यों करते हैं, क्योंकि पूर्व के पुण्यों के प्रताप से उनके पास आया हुआ सुख भी अतिवेग से जा रहा है तथा कुछ नारकीय प्राणियों के पास तो अंश मात्र भी सुख–शान्ति है ही नहीं। ठीक इसके विपरीत जिनका जीवन यज्ञमय है, वे भी सुख की कामना करते ही क्यों हैं, क्योंकि सुख–शान्ति, समृद्धि एवं ऐश्वर्य इत्यादि उनके पास बिना बुलाये ही आते हैं। जो ज्ञान में स्थित होकर, सिद्धि–असिद्धि में समान होकर सद्गुरु के द्वारा बताये हुए यज्ञों को करता है, ऐश्वर्य एवं विभूतियाँ तो उसके चरणों को चूमती रहती हैं अर्थात् उसके चरणों की दासी बनी रहती हैं।

डा. कंचन (दुबई) तो अपना पूरा भविष्य स्वप्न से ही देख लेते हैं। यदि वे अपने सपनों को लिपिबद्ध करें तो स्वप्न संकेतों को प्रकाशित करनेवाला एक ग्रन्थ बन जायेगा। जप, तप, ध्यान

लम्बेकाल से करते–करते उनकी बुद्धि लगभग बहुत से स्वप्न–संकेतों को स्पष्ट समझ लेती है। प्रायः वे कहते हैं कि महाराजजी मैं तो समाधि की भी सारी बातें खोलूँगा, जिससे बहुत से साधकों का भला होगा। महाराज मन ही मन हँसकर कहता है कि समाधि तो आपके सामने खड़ी प्रतीक्षा कर रही है किन्तु इसी एक संकल्प के कारण से आप हर रोज समाधि से वंचित हो जाते हैं। इसप्रकार उत्तम साधक अपने इहलोक के कर्म से स्वप्न का और स्वप्नलोक के व्यवहार से भविष्य का लेखा–जोखा कर लेता है।

अब भगवान इन सम्पूर्ण यज्ञों के उत्पत्तिस्थान तथा इन यज्ञों में से भी ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, जो ब्रह्मफल को देनेवाला है, इसका स्तवन कर रहे हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥३३॥

हे पार्थ! यद्यपि मैंने कुछ ही यज्ञों का वर्णन यहाँ पर किया है लेकिन और भी बहुत से यज्ञ वेदों में सविस्तार दिये गये हैं। उन सभी को तन, मन, धन तथा इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा ही सम्पन्न होनेवाला जान। अतः अब तुम इनके स्वरूप को तथा क्रियाओं के द्वारा ही कठिनता से सम्पन्न होनेवाला जानकर इनसे मुक्त हो जाओगे अर्थात् इनसे उदासीन हो जाओगे, तब निश्चित ही इन यज्ञों (जिनमें द्रव्य एवं कर्म, दोनों की ही प्रधानता है) की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को ही सर्वश्रेष्ठ समझकर उसी को तुम धारण करोगे। क्योंकि हे परन्तप! सम्पूर्ण संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्म ज्ञान में ही विलीन हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञ में ही वे समाप्त हो जाते हैं।

यद्यपि प्रभु ने ज्ञान में स्थित होकर द्रव्ययज्ञ एवं शरीर, इन्द्रियों एवं मन के द्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञों का वर्णन कर दिया है लेकिन आत्म–जिज्ञासुओं से वे स्पष्ट कर रहे हैं कि इन यज्ञों में से ज्ञानयज्ञ ही ऐसा यज्ञ है, जिसमें धन की तथा शरीर, इन्द्रियों एवं मन के क्रियाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती। वेद का तो स्वभाव है कि वह पाशविक, आसुरी एवं दैवी पुरुषों के लिए भी उनकी योग्यतानुसार यज्ञ का विधान करेगा ही करेगा, लेकिन जिज्ञासुओं का कर्तव्य है कि उन यज्ञों में से अपनी बुद्धि की शक्ति–सामर्थ्य को देखते हुए सहज में ही ज्ञान को प्रकाशित करनेवाले किस यज्ञ का चुनाव करे। प्रभु ने तो आत्मजिज्ञासुओं को चुनाव करने का भी अवसर नहीं दिया है, बल्कि स्वयं से ही उनके लिए ज्ञानयज्ञ का स्तवन कर उसकी सर्वश्रेष्ठता का बखान कर दिया है। मानो महात्मा अर्जुन ने मौन प्रश्न किया हो कि आपने बहुत से यज्ञों को तो प्रकाशित कर दिया लेकिन इन यज्ञों में से भी सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कौन है, जो सुखसाध्य हो, क्रियाहीन हो? निश्चितरूप से श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ का ही वरण करेगा, इसलिए भी महात्मा अर्जुन ने यहाँ 'सम्पूर्ण यज्ञों में से श्रेष्ठ यज्ञ कौन है', ऐसा प्रश्न किया है। माना कि द्रव्ययज्ञ करनेवाले भी द्रव्य को ब्रह्म ही समझते हैं, लेकिन जिसके पास दान देने के लिए, धन

से सेवा करने के लिए धन ही न हो अथवा अष्टांगयोग आदि कठोर क्रियाओं को करने के लिए स्वस्थ शरीर न हो (धन पाप के द्वारा अपहरण कर लिया गया हो और शरीर योग से छिन्न–भिन्न हो गया हो) लेकिन उसमें आत्मज्ञान की जिज्ञासा हो तो फिर वह क्या करे? अथवा महाराज परीक्षित जैसा जो शापित हो गया हो, जो न जप, तप, योग ही कर सकता हो और जिसके पास जीवन भी बहुत कम बचा हो लेकिन आत्मजिज्ञासु हो तो वह क्या करे? उसी के लिए प्रभु ने उत्तर दिया है कि वह पुरुष ज्ञानयज्ञ का सम्पादन करे। सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त हो जाते हैं– भगवान के ऐसा कहने से स्पष्ट है कि वेद में चाहे जितने भी यज्ञों की बात की गयी हो उन सम्पूर्ण यज्ञों का फल एकमात्र ज्ञानयज्ञ से ही प्राप्त हो जाता है। यहाँ भगवान ने उन कर्मवादी (क्रियावादी) साधकों पर गहरी चोट की है जो समझते हैं कि बिना प्राणायाम अथवा ध्यान–समाधि के अष्ट सिद्धियाँ और नौ निधियाँ मिलती ही नहीं हैं। महाराज को मन में हँसी तब आती है जब योगवासिष्ठ में वर्णित चूडालोपाख्यान की याद आती है। चूडाला को गुरुकृपा से सत्संग करते–करते आत्मज्ञान हो गया, लेकिन वह तत्काल ही आत्मशक्ति से सम्पन्न नहीं हो पायी। अतः लीला–विनोद के लिए ऋद्धि एवं सिद्धि की प्राप्ति हेतु गुरुजनों से यौगिक क्रियाओं में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ कुम्भक प्राणायाम माँग लिया। तत्पश्चात् दो–चार वर्षों में ही अणिमा, लघिमा, गरिमा, वसिता, उसिता तथा अन्य सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त कर लिया। यदि उस आख्यायिका को कोई आत्मजिज्ञासु पढ़े तो वह निश्चितरूप से यही समझेगा कि बिना यौगिक क्रियाओं के आत्मशक्ति, सत्ता एवं सामर्थ्य की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् ऋद्धि–सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। आश्चर्य की बात तो वहाँ देखने को तब मिलती है जब वनप्रदेश में संन्यास लेकर रहनेवाले अपने पति शिखिध्वज को उसने जप, तप, योगरूप क्रियाओं से विरत कर दिया है। वहाँ स्पष्ट ही देखने को मिलता है कि चूडाला के द्वारा बताये हुए 'आत्मचिन्तन' से ही वे कालान्तर में आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, बहुत बार तो उसने रात्रि में आकर उन्हें ज्ञानमय समाधि से जगाने का हर सम्भव प्रयास किया है अर्थात् चेतन समाधि से विरत करने का पूरा प्रयास किया है। चौबीस–चौबीस घण्टे समाधि के नहीं टूटने पर उसने उन्हें अपने योगबल से समाधि से विरत किया है। जबकि उस महात्मा पुरुष ने यौगिक क्रियाओं का एक अंग भी स्पर्श नहीं किया था अर्थात् प्राणायाम एवं ध्यान का अभ्यास नहीं किया था। इतना ही नहीं, उस राजा शिखिध्वज की सर्वज्ञता को देखकर तो आश्चर्य ही हो जाता है, जब उन्होंने संकल्प बल से ही अपनी धर्मपत्नी चूडाला के द्वारा यौगिक क्रियाओं के द्वारा ऋद्धि–सिद्धि प्राप्त करना, भेष बदलकर, देवदूत बनकर आकाश मार्ग से उनके पास प्रकट होना तथा अपनी धर्मपत्नी के द्वारा ही देवदूत के रूप में आत्मज्ञान दिया जाना, यह सबकुछ जान लिया। भगवती चूडाला ने भी उस समय अवश्य सोचा होगा कि जिस ऋद्धि–सिद्धि एवं नव निधियों को मैंने कठिन यौगिक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त किया, उन्हीं सिद्धियों को इन महापुरुष ने केवल ज्ञान में स्थित होकर प्राप्त कर लिया है।

भले ही योगिनी चूडाला ने आत्मज्ञान होने के उपरान्त, आत्मशक्ति प्राप्त करने के निमित्त कठिन यौगिक क्रियाओं का आश्रय लिया हो लेकिन यदि वह इन यौगिक क्रियाओं को नहीं भी

करती तो भी ये सम्पूर्ण सिद्धियाँ कुछ ही वर्षों में अपने–आप उसके पास प्रकट हो जातीं। श्रीमद्भागवत महापुराण में स्पष्ट ही देखा जाता है कि भगवान ऋषभदेव के द्वारा (जो अपने काल में सम्पूर्ण भूमण्डल के स्वामी होते हैं) सम्पूर्ण राजपद त्यागकर संन्यास लेकर वनप्रदेश में चले जाने के उपरान्त कुछ ही वर्षों में सम्पूर्ण सिद्धियों ने उनको वरण किया है। भले ही उन महापुरुष ने अपने या पराये के लिए उन ऋद्धि–सिद्धियों का उपयोग नहीं किया है।

प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का फल केवल ज्ञानयज्ञ में ही भलीप्रकार प्रतिष्ठित हो जाने से प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहकर निश्चितरूप से अपने आत्मजिज्ञासुओं को परम विश्राम देने का प्रयत्न किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि भगवान ने वेद से प्रकट हुए सम्पूर्ण यज्ञों को द्रव्ययज्ञ की ही संज्ञा दे दी अर्थात् ज्ञानयज्ञ को छोड़कर सम्पूर्ण यज्ञों को अत्यन्त तुच्छ करके रख दिया। इसलिए कि वे सम्पूर्ण यज्ञ आसन, अशन, वसन, देश, काल, अवस्था, शुद्धि–अशुद्धि तथा विधि–निषेध की अपेक्षा रखनेवाले तथा अति कठिनता से ब्रह्मफल को देनेवाले होते हैं; किन्तु ज्ञानयज्ञ एकमात्र सद्गुरु की अपेक्षा रखने से अति सुखसाध्य एवं शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मफल को देनेवाला होता है।

तीसरे अध्याय में महात्मा अर्जुन का प्रश्न था कि ज्ञान और कर्म में श्रेष्ठ कौन है तो प्रभु ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि कर्मयोग से ज्ञान ही श्रेष्ठ है क्योंकि सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति ज्ञानयोग में ही होती है। अब यह बात अलग है कि इस ज्ञानयोग में 'जिसने साधु पुरुष का सेवन नहीं किया है, जिसे सद्गुरु प्राप्त नहीं है, जिसने पूर्वजन्मों में ज्ञान का साधन नहीं किया है,' उसके लिए यह श्रेष्ठ होते हुए भी श्रेष्ठ नहीं है। जैसे सूर्य सबके लिए सुखदायक है लेकिन जिसे बुखार लगा है उसके लिए तो दुःखदायक ही है। प्रभु ने कहा कि ज्ञान में स्थित होकर करोगे कर्म और फल होगा ब्रह्म, गुरु–आज्ञानुसार करोगे ज्ञानयज्ञ फल मिलेगा ब्रह्म। महात्मा अर्जुन ने कौतूहलवश पूछा कि जिस ज्ञानयोग की श्रेष्ठता आप बता रहे हैं, वह कहाँ प्राप्त होता है, किस अवस्था में तथा किस काल में प्राप्त होता है? इसके उत्तर में प्रभु ने कहा–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

हे पार्थ! वह ज्ञान, तत्त्वज्ञानी सद्गुरु के पास जाकर मिलता है। उनके यहाँ जाकर सम्पूर्ण सिद्धान्तोंसहित अपने–आपको समर्पित कर भलीभाँति निष्कपटभाव से सेवा–शुश्रूषा करते हुए वास करो तथा उनके प्रसन्न होने पर आध्यात्मिक प्रश्न समर्पित करो, जिससे वे सद्गुरु निश्चितरूप से तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसे जानकर तुम पुनः इसप्रकार मोह को प्राप्त नहीं हो सकोगे। इतना ही नहीं, इस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतों को सम्पूर्णतया पहले अपने में और फिर मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखोगे।

प्रभु ने इन दो मंत्रों के द्वारा बड़ी ही कुशलता से अर्जुन के हृदय में व्यंग्यात्मक चोट देकर लज्जा का संचार करना चाहा है। महात्मा अर्जुन ने प्रभु को तो सद्गुरु बना ही लिया है, फिर भी यह ज्ञान कहाँ, किसके द्वारा, किस अवस्था में प्राप्त होगा– ऐसा पूछना शोभा नहीं देता है। लेकिन वे मोह से घायल चित्तवाले करें भी तो क्या?

नारदजी की बन्दर के जैसी मुखाकृति को देखकर भगवान शंकर के दो गण मधुर व्यंग्य के द्वारा परस्पर में विनोद किये जा रहे थे– ओह! क्या छवि है, क्या सुन्दरता है! देख रहे हो मित्र!' 'क्यों नहीं, क्यों नहीं! सृष्टि में ऐसी सुन्दरता तो भगवान विष्णु की भी सुनी नहीं जाती। अतः विश्वसुन्दरी क्या, विश्वसुन्दरी की आत्मा भी इनके गले में जयमाला डाल देगी।' उनके द्वारा अपनी व्यंग्यात्मक प्रशंसा को सुनकर भी उसे सच मानकर नारदजी उचक–उचक जाते थे। 'ओह! प्रभु की माया की मार भी कैसी है, जिसने नारदजी जैसे वेद–वेदांगों के ज्ञाता तथा योगी, जपी, तपी के चित्त को भी अपने अधीन कर लिया था, जिससे वे व्यंग्यमय विनोद को भी समझ नहीं पा रहे थे। ठीक वही कहानी अर्जुन जैसे महायोद्धा एवं परम तपस्वी की हो गयी है। भगवान भी सोच रहे हैं कि किसके पाले आज पड़ा मैं कि पहले तो इसने गुरु बना लिया और जब मैं आत्मज्ञान की गंगा बहाने लगा, तब पूछ रहा है कि वह ज्ञानयोगरूपी गंगा कहाँ मिलेगी? भगवान को विवश होकर उपहास भी करना पड़ रहा है कि किसी ज्ञानीगुरु के पास जाओ, जहाँ वह तुम्हें आत्मज्ञान का उपदेश कर देगा, जिससे इसप्रकार की अज्ञानता को तुम पुनः स्वीकार नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, वह स्वयं बता देगा कि तुम्हारे सहित यह सारा संसार कृष्ण में है और तुम्हारा कृष्ण तुम्हारे सहित संसार और संसार के सम्पूर्ण प्राणियों में समाया हुआ है।

अब साधक इस मंत्र का स्वयं के लिए गूढ़ात्मक तत्त्व देखें– भगवान ने आत्मजिज्ञासुओं को उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए, जिस ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् सम्पूर्ण कर्म ज्ञान बन जाते हैं, ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाकर प्राप्त करने के लिए संदेशरूप उपदेश दिया है। जिसके पास जाकर आप निष्कामी हो जाते हैं, सम्पूर्ण सिद्धान्तरूपी अलाप–प्रलाप छोड़ देते हैं, मौनावस्था उतर जाती है आपमें, जगत से तथा भगवान के पास वाचाल होते जाते हैं उसकी सन्निधि मात्र से तो जान लेना कि वह ब्रह्मज्ञानी है। यदि सचमें आप मुमुक्षु हैं, जिज्ञासु हैं तो सहज ही आपके साथ ऐसी घटना घटेगी। उसके पास क्या लेकर जाएँ? क्योंकि एक वेश्या के पास जाने के लिए कामी पुरुष बहुत से अर्थ (धन) को लेकर जाता है, जिस अर्थ को बहुत प्रयत्न से उपार्जन करता है, तभी वह वेश्या को प्रिय होता है। ठीक उसीप्रकार भले ही प्रभु ने अर्थ, धर्म और कामरूपी द्रव्य (धन) को छोड़कर जाने को कहा है लेकिन मन में वास करनेवाली आध्यात्मिक सम्पत्ति को साथ ले जाने को कहा है। यदि आप आत्मजिज्ञासु हैं तो शम, दम, उपरति, तितिक्षा और आध्यात्मिक श्रद्धा इन पाँच सम्पत्तियों के साथ सद्गुरु के पास जाते हैं तो आपकी जिज्ञासा का समाधान अवश्य होता है। यह छठी सम्पत्ति ही है समाधान। शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा श्रद्धा, इन पाँच चरणों के साथ जब आप सद्गुरु के पास जाते हैं तो उसके हाथों से, उसकी आँखों से, उसकी वाणी से आपके लिए समाधान बरसता है। यदि उसके पास

जाते ही आपका मन सम शान्त हो जाता है तो आपकी इन्द्रियों में दम (इन्द्रियों का अपने अधिकार में हो जाना) प्रकट हो जाता है तथा दम से तितिक्षा प्रकट हो जाती है, तितिक्षा के उपरान्त वैराग्य की स्थिति हो जाती है, फिर तो आध्यात्मिक श्रद्धा प्रकट हो ही जाती है। फिर तो जैसे साँप के पास जाने पर भय बरसता है, वेश्या के पास काम बरसता है, उसीप्रकार आपके लिए भी उसके पास आप्तकामतारूप समाधान बरसने लगता है।

प्रभु ने एक तरफ सम्पूर्णता से ज्ञान को प्रतिष्ठित किया है तो दूसरी तरफ सम्पूर्ण काम को ज्ञान में ही लीन कर दिया है। इसलिए कि कर्म की गुत्थी को सुलझाते–सुलझाते उसे वे ज्ञान का रूप देना चाहते हैं। जिसप्रकार झाड़ियों में उलझ जाने पर, फँस जाने पर आप धीरे–धीरे ही निकल पाते हैं, उसीप्रकार आप अज्ञानरूपी वन में नानाप्रकार के सिद्धान्तरूपी कटीले पौधों में, झाड़ियों में फँस गये हैं तो सद्गुरु ही धीरे–धीरे वहाँ से निकालता है। अज्ञानमय प्रश्न आपके मन के चारों तरफ घेरा डालकर बैठे हुए हैं। वे ही अज्ञानरूपी असंख्य परदे हैं जो सद्गुरु के द्वारा सुने जाते हुए आध्यात्मिक ज्ञान से ही गिरते जाते हैं, छिन्न–भिन्न होते जाते हैं।

'क्या साधन लेकर जायें वहाँ पर, क्योंकि सद्गुरु के पास जाने के लिए कुछ भेंट भी चाहिए उसके चरणों में चढ़ाने के लिए? तो मानो भगवान कहते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है कि धन लेकर जाएँ आप उसके पास। यदि गृहत्यागी ब्रह्मचारी हैं आप तब तो सबकुछ त्याग करके एकमात्र शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा आध्यात्मिक श्रद्धा लेकर जाएँ और यदि गृहस्थाश्रमी आत्मजिज्ञासु हैं आप, तो तन, मन, धन एवं बाल–बच्चों में से भी कुछ बचाकर मत रखना; क्योंकि ये सब धन ही तो हैं। कहीं ऐसा मत सोच लेना कि दस प्रतिशत दान देनेवाले धन में से ही कुछ धन लेकर उसके पास चलूँ, बल्कि इन सबको ही समर्पित कर देना। राजा जनक ने दस प्रतिशत में से उन्हें कुछ नहीं दिया अपितु अन्तिम चरण में प्रश्न का उत्तर पाकर चाभी (चावी) ही दे दी राज्य की गुरुदेव के चरणों में और 'राज्यसहित राजा जनक गुरुदेव के चरणों में समर्पित होता है'– ऐसा कहते हुए अपना सर्वस्व भेंट कर दिया। राजा होने का स्वाभिमान होता है, जीव का सर्वस्व स्वाभिमान ही तो है। अतः उस महापुरुष ने अपने स्वाभिमानरूप सर्वस्व को ही दान कर दिया और कुछ ही दिनों में विदेह हो गया वह। द्रष्टापना सध गया, कोई चिन्ता नहीं रही। घोषणा कर दी उसने कि गुरुदेव चाहे इस शरीर से जो भी कुछ करावें, वाणी से जो भी कुछ बुलवावें, यह तो अब उनका विषय है। ऐसा संकल्प करके तन, मन, धन, राज्य समर्पित करता है वह और विदेहता उसे प्राप्त हो जाती है। आप भी महाराज जनक जैसे या भगवान शुकदेव जैसे सद्गुरु के पास जाते हैं तो निश्चितरूप से विदेह होते हैं।

उस सद्गुरु के पास जाकर जो बहुत कुछ जानते हैं, वे भी कहते हैं कि गुरुदेव हम कुछ भी नहीं जानते। बहुत से सिद्धान्त हैं– लोकमत और वेदमत; दोनों मतों को अच्छीप्रकार जाननेवाला साधक यह कहता है कि 'हे प्रभु! अबतक मैंने जो जाना है या जान रहा हूँ, उससे शान्ति नहीं मिल रही है; इससे सिद्ध होता है कि मेरा जानना नहीं जानने के बराबर है।

विवेकख्याति होना तो दूर, परम अनुभूति होना तो दूर बल्कि वह जानकारी और भी बन्धनकारक हो रही है; इससे सिद्ध होता है कि मैंने जो जाना है, वह असत्य जाना है। अतः उस असत्य को अर्थात् जानने के अहंकार को मैं आपको समर्पित करता हूँ– इसी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करना कहते हैं। साष्टांग दण्डवत् का तात्पर्य होता है– सम्पूर्ण अंगों से समर्पण और सम्पूर्ण अंगों का तात्पर्य होता है– अबतक सुने हुए, माने हुए, पढ़े हुए, अनुभव में आये हुए सम्पूर्ण सिद्धान्त। इसप्रकार साधक कहता है कि गुरुदेव! अब मुझे जो जानना चाहिये वही जनावें, जो मुझे मानना चाहिए वही मनावें, जो मुझे कहना चाहिये वही कहलावें। अब रक्षा करें गुरुदेव! रक्षा करें!! मुझ शरणागत पर अब कृपा करें! कृपा करें!! जैसे महात्मा लक्ष्मण ने प्रभु श्रीराम से तेरहवें साल में अध्यात्मज्ञान की माँग माँगी थी, वैसे ही आप जल्दबाजी वहाँ न करें, जल्दीबाजी करना भी तो क्यों है; जब सबकुछ दे ही दिया उन्हें तो फिर उनकी सेवा–शुश्रूषा करते हुए, उनकी प्रसन्नता की प्रतीक्षा करें। जब लम्बे काल तक उनकी प्रसन्नता आपके लिए बरस रही हो तो आप जान लें कि कभी न कभी वे पूछनेवाले हैं कि 'तुम चाहते क्या हो?' वैसे अवसर को पाकर आप उनके चरणों को पकड़ लें या हाथ जोड़े हुए प्रार्थना करें कि जो मुझे चाहना करनी चाहिए मैं वही आपसे चाह रहा हूँ।

हे प्रभु! आप सच में बतायें,
कि मैं कौन हूँ?
ब्रह्म क्या है माया क्या है जीव क्या है,
बन्धन और मोक्ष की पहेली क्या है?
पाप क्या है पुण्य क्या है,
दोष और निर्दोष की कहानी क्या है?
आसक्ति और अनासक्ति को जनादें,
कर्म और अकर्म को बतादें।
ज्ञान और अज्ञान को सुनादें,
यह जगत है या कुछ और है?
माया की इस पहेली को बुझादें,
सनातन हैं, पुरातन हैं आप!
आपकी कृपा से ही जानता हूँ मैं।
हे अजन्मा अविनाशी प्रभु मेरे!
अब मुझे भी बतावें
कि मैं कौन हूँ?
ब्राह्मण तो हूँ नहीं, क्षत्रिय तो हूँ नहीं,
वैश्य और शूद्र भी तो हो सकता नहीं।
क्योंकि यह सब मानने से तो,
मूर्खता ही आती गयी मेरे में।

अतः बता दें हे प्रभु!
कि मैं कौन हूँ?
माता है कौन सच में, पिता को भी बता दें,
भाई–बान्धव की पहेली फिर से बुझा दें।
बुझा दें बाल–बच्चों की पहेली को,
कि सचमुच में यह सब क्या है?
घर–गाँव कौन मेरा है?
देश भी नहीं जानता मैं
फिर परदेश की कहानी को
सच–सच बता दें।
जन्म क्या है, मृत्यु क्या है,
यह मरता–जीता कौन है?
जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति
होती कैसे है?
तुरीया की कहानी तो मेरे लिए मौन है!
देवता गन्धर्व किन्नर यह क्या बला है?
योग लग्न ग्रह वार तिथि,
यह कला कैसी है?
सच है या झूठ का पुलिन्दा है?
इसे भी बताकर बतावें,
कि मैं कौन हूँ?
सत्युग त्रेता द्वापर कलियुग की कहानी को,
बताकर बतावें कि मन्वन्तर क्या है?
क्या सच में मैं और तू है?
मेरा और तेरा है?
यदि नहीं, तो फिर बतावें
कि मैं कौन हूँ?
जो पूछा है मैंने उसको तो बता ही दें,
पर जो पूछा नहीं मैंने लेकिन पूछना चाहिए था,
जिसे जानते हैं आप, बतावें उसे भी,
यह सब पहेली बुझाकर बतावें कि,
मैं कौन हूँ?
भक्त भी होते हैं क्या,
जो भगवान खड़ा करते हैं।

कुछ तो कहते हैं कि भगवान तो है ही नहीं,
सांख्यमतावलम्बी तत्त्व का बखान कर
प्रकृति की सत्ता बताते हैं,
अणुवादी तो अणु का जोड़ ही ब्रह्म है,
ऐसा ही सुनाते हैं।
शक्ति के उपासक बतावें ब्रह्म शक्ति को,
शैव शिव ब्रह्म हैं,
ऐसा ही कहते हैं।
वैष्णव के मत से विष्णु ही ब्रह्म हैं,
वे कहते हैं चराचर जगत
उन्हीं का रूप है।
क्या सच है क्या झूठ है यह सब जानते हैं आप,
अतः सच–सच बताकर बतावें,
कि मैं कौन हूँ?
निर्गुण है या सगुण है,
सगुण है या निर्गुण है कि दोनों ही नहीं है,
या दोनों ही हैं या यह कुछ है ही नहीं।
तो फिर क्या है इसे भी बताकर बतावें
कि मैं कौन हूँ?
पहले तो आप ये बतायें कि
मैंने देर क्यों की आपके चरणों में आने में,
चलें मैं तो नहीं आया,
मेरी मूर्खता ही थी पर
आप क्यों नहीं आये मुझ पर दया करने को,
क्योंकि आप तो सबकुछ जानते थे कि
वह मारा मारा फिर रहा है।
दिन मास वर्ष बीते बहुत पूछते पूछते उसको,
फिर आप मौन क्यों थे देखते हुए भी।
हे प्रभु! इसे भी बतावें, फिर बतावें कि
मैं कौन हूँ?

अब इन्हीं प्रश्नों को आयें राग–चन्द्रकोष में गायें–

मैं कौन हूँ गुरुदेव, दया करके बता दो ना।
मैं तू की पहेली क्या, कृपा करके जता दो ना।।

ब्रह्म क्या है जीव क्या है, जगतस्रष्टा जगत क्या है।
नाम और नामी की कहानी क्या है, सुना दो ना।।

विष्णु ब्रह्मा शिव क्या है, देवों की नगरी क्या है।
क्या सच में है नरक, स्वर्ग की पहेली सुना दो ना।।

जन्म क्या है मृत्यु क्या है, बन्धन और मुक्ति क्या है।
मन बुद्धि क्या है, यदि है तो जता दो ना।।

माया त्रिगुण क्या है, सभी मोहित हुए जिससे।
यदि माया की नगरी में फँसा हूँ, तो छुड़ा दो ना।।

महाराज क्या जाने कि सगुण है वो कि निर्गुण है।
जो सच में है वो तो सच में है उसे सच में बता दो ना।।

ध्यान रहे कि जबतक वह सम्पूर्णता से अपना न हो जाय अर्थात् ऐसा लगने न लग जाय कि गुरुदेव ने भी मुझे स्वीकार कर लिया है, तबतक प्रश्न करने एवं उत्तर पाने में जल्दबाजी मत करना।

सन् १९८४ में एक साधक ने अपने गुरुदेव से पूछा कि गुरुदेव! संन्यास लेते समय माँ से आज्ञा ली थी मैंने, तो माँ ने आज्ञा देते समय वचन ले लिया था कि जब–जब चाहूँगी, जब–जब बुलाऊँगी, तब–तब आ जाओगे न? तो मैंने कह दिया कि हाँ मैं आ जाऊँगा जबकि अब देख रहा हूँ कि संन्यास का मौलिक तत्त्व कुछ और ही है, संन्यास का व्यावहारिक नियम कहता है कि संन्यासी को गाँव, घर, क्षेत्र जाना तो दूर किसी से भी नाम, गाँव, घर, जाति, क्षेत्र बताना भी नहीं चाहिए। उस समय इस रहस्य को मैं जानता भी नहीं था, अतः अनजाने में मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि हाँ जब–जब चाहोगी, तब–तब मैं आ जाऊँगा। यद्यपि उसने अभी तक नहीं बुलाया है और विश्वास भी है कि माँ कौसल्या तथा माँ मदालसा की आदर्शवाली वह माँ मुझे बुलायेगी भी नहीं, किन्तु कदाचित् वह बुलावा भेज भी दे तो मुझे क्या करना चाहिये? गुरुदेव ने कहा बतायेंगे। सालभर के उपरान्त पुनः एकदिन उसी समय में पूछा कि गुरुदेव! आपसे मैंने एक प्रार्थना की थी कि माँ के बुलाने पर मुझे जाना चाहिये कि नहीं। गुरुदेव ने कहा– हाँ याद है। वह साधक फिर–फिर गुरुदेव से इस प्रश्न को नहीं पूछा। उसने सोचा– जब इनको याद ही है और ये बता ही देंगे तो फिर क्या पूछना। लम्बेकाल के उपरान्त जब गुरुदेव ने बताया तो वही बताया जो वेद और पुराणों ने बताया है, जो उस साधक के हित में था, जगत के हित में था, वही बताया, अपनी सनातन परम्परा से हटकर नहीं बताया। वे अन्यथा बताते भी क्यों, क्योंकि स्वयं उन्होंने अपनी जाति, घर, नाम, गाँव, जिला, प्रदेश नहीं बताया था। जब उन्होंने अपने को जनाया ही नहीं किसी को तो कैसे कहें कि तुम अपने को जनाओ। क्या गुरुदेव की माँ से अपनी माँ विशेष है! माँ के पास ही क्यों, किसी के पास भी क्यों जायेंगे? साधक का कर्तव्य है कि वह पहले अपने स्वरूप में स्थित हो, फिर संकल्प बल से यह देखे कि उस जीवात्मा का और मेरा सम्बन्ध किस जन्म का, क्यों और कैसे था। इस रहस्य को देखने के उपरान्त, यदि अपना उद्धार

हो गया है और वह आत्मा मुक्ति की पात्र है, तो अपने संकल्पबल से उसका उद्धार कर दे और वैसी पात्रता उसमें नहीं है तो उसे उसके भगवान पर छोड़ दे। अरे! इतना तो सभी ही जानते हैं कि कोई साधक भलीभाँति आत्मस्वरूप में स्थित हो गया है तो उसके निकटस्थ स्वजनों का अधोगति से उद्धार हो ही जाता है।

इसप्रकार सद्गुरु के पास प्रश्न का उत्तर माँगने में भी जल्दबाजी न करे, वहाँ जाकर पूर्व के जप, तप, योग को भी त्याग दे और गुरुदेव जो साधन बतायें वही करे तथा उतना ही करे।

महाराज के पास भी एक साधक कुछ सालों से साधना करता है, शान्ति नहीं मिलने पर विकल है। महाराज पूछता है– आप विकल क्यों होते हैं, ज्ञान की प्रतीक्षा करने में यह विकलता कहाँ से आ गयी? कहीं न कहीं मन में कोई भौतिक कामना तो नहीं छिपी हुई है, उसकी भी आप खोज करें। यदि आप आत्मजिज्ञासु हैं तो ज्ञान का सगुणरूप (सद्गुरु) तो मिल ही गया है, अब धीरे–धीरे पिघलता हुआ वह आपके हृदय में मन, बुद्धि, इन्द्रियों में, पिघल–पिघल कर ज्ञानरूप से उतर ही जायेगा। अतः वह जो करावे वह करें, जो खिलावे वह खायें। जैसे रखे वैसे रहें, उसके पास जाकर सर्वप्रथम यह कह दें कि गुरुदेव! आपके पास मैं नववधू की तरह हूँ। जैसे ससुराल में नयी बहू कुछ नहीं जानती– उस परिवार की परम्परा को, व्यवहार को तथा उसे वहाँ का व्यवहार जानने और सीखने में बहुत समय लग जाता है, वही कहानी मेरी भी है। अतः जब जहाँ पर मेरे से गलती हो रही हो, भूल हो रही हो, जिसे आप देख रहे हों और मुझे नहीं दिखायी दे रहा हो तो कृपया आप बता देंगे ताकि मैं वैसा व्यवहार न कर सकूँ।

(यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं.....) इसप्रकार समर्पण भाव से रहने पर तथा उनके साथ दिव्य व्यवहार के साथ रहते हुए सेवा–शुश्रूषा करने पर वे ऐसा परम ज्ञान देंगे, जिसको जानकर कुछ जानना शेष नहीं रहेगा। 'वह कौन सा ज्ञान है, जिसको जानकर कुछ जानना शेष नहीं रहता है? हाँ, वह स्वरूपज्ञान है, आत्मज्ञान है, जिसको जानकर कुछ जानना शेष नहीं रहता है। वैसी अवस्था में आपका बिखरा हुआ मन, बिखरी हुई स्मृति तथा बिखरी हुई बुद्धि, ये सब आत्मरूप ही हो जायेंगे। उस अवस्था में संकल्प–विकल्प सदा–सर्वदा के लिए तिरोहित हो जाते हैं, सम्पूर्ण प्रकृति आत्मरूप होकर अपने ही संकल्प के अधीन हो जाती है; वैसी अवस्था में न शरीर रहेगा न संसार केवल आप होंगे, केवल आप। इतना ही नहीं, आत्मस्वरूप होकर सर्वप्रथम सम्पूर्ण भूतों को आप अपने–आप में देखेंगे। 'सम्पूर्ण भूतों को?' हाँ, हाँ, सम्पूर्ण भूतों को। 'ये कैसी पहेली बुझा रहे हैं आप?' हाँ, हाँ, यह पहेली ही ऐसी है। अभी तो आप ऐसी ही कल्पना कर रहे हैं कि भगवान मेरे शरीर में है, किन्तु आत्मज्ञानोपरान्त ठीक इसके विपरीत ही सारी बातें दिखाई देंगी। 'क्या दिखाई देंगी?' यही कि न मैं शरीर हूँ, न शरीर में ही भगवान है, बल्कि मैं ही वह शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ तथा सम्पूर्ण शरीर मेरे में हैं, इन्द्रियाँ मेरे में हैं, प्राण मेरे में हैं, बुद्धि मेरे में है; पृथ्वी मेरे में है, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आकाश में प्रकट होनेवाले अन्यान्य ब्रह्माण्ड ये सब मेरे में हैं। इतना ही नहीं, सबमें मैं ही हूँ, सबके भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें तो मैं ही मैं हूँ। जिसप्रकार आकाश में बादल आते हैं, जाते हैं अर्थात्

प्रकट होते हैं, लीन हो जाते हैं, लेकिन आकाश से पूछें कि बादल कब आये, कितने आये तो वह कहेगा– अयँ.....! बादल! कैसा बादल? कौन बादल? मैं तो अपने–आप के सिवा किसी को देखता ही नहीं। ऐसा इसलिए कहेगा क्योंकि वह बादल के भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें सर्वत्र व्याप्त है लेकिन फिर भी उसका बादलों से किसीप्रकार का सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा विश्वास है तो फिर मस्ती से त्रिताल दादरा में गायें–

आओ न सद्गुरु के डेरा, जहाँ साँझ न सबेरा॥
भले बुरे की न बातें जहाँ पर, तार दिये पापिन्ह घनेरा॥
कर्म भाग्य की न सत्ता जहाँ पर, महत् ज्ञानयोग का बसेरा॥
जप तप व्रत योग का बहाना बनावें, वरदहस्त शीशन्ह पर फेरा॥
महाराज देखे अर्जुन के सिर पर, प्रभु ने वरदहस्त फेरा॥

सद्गुरु द्वारा प्राप्त हुए परम ज्ञान का फल क्या होगा, इस पर भगवान कहते हैं–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तसिष्यसि॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे पार्थ! यदि तुम अपने को सम्पूर्ण पापियों में से भी विशेष पापकर्मा मानते हो तो भी इस ज्ञाननौका द्वारा संसाररूपी सागर को सहज में पार कर जाओगे। ओह! हे महावीर! इस ज्ञान की महिमा कहाँ तक कहूँ! जिसप्रकार अग्नि सम्पूर्ण ईंधन को जला डालती है, उसीप्रकार दिव्य ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों (संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण) को सहज ही जला डालती है।

हे पार्थ! यदि तुम स्वजनवध से होनेवाले ब्रह्महत्यारूपी पाप से बहुत भयभीत हो गये हो तो मेरे द्वारा दिये गये इस ज्ञान पर पुनः–पुनः विचार करो। यह दिव्य ज्ञानरूपी नौका तुम्हें इस पापरूपी सागर से अवश्य ही पार कर देगी। अरे! तुम जब पाप करनेवाले होगे, तभी तो पापरूपी सागर को पार करने की बात आयेगी! जब तुम पाप करोगे ही नहीं, जब दिखाई ही पड़ेगा कि तुमने इन्हें मारा ही नहीं, बल्कि ऐसी प्रकृति की व्यवस्था ही थी, फिर मन में शोक–सन्ताप रहेगा ही कहाँ? वैसी अवस्था में कैसी नौका और कैसी मोहरूपी नदी? यह तो औपचारिकतामात्र ही है, जो मैं तुम्हारे से कह रहा हूँ कि ज्ञानरूपी नौका से पापरूपी नदी को पार कर जाओगे। हे पार्थ! मैं तो यह कह रहा हूँ कि जिसप्रकार ईंधन को अग्नि जला डालती है, उसीप्रकार मेरे द्वारा प्राप्त ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती है यानी जला डालती है।

भयवृत्ति अति गहरे में होती है, वही भयवृत्ति महात्मा अर्जुन के सामने प्रकट हो गयी है। वे पापकर्म होने की आशंका से इतने भयभीत हैं, इतने भयभीत हैं कि भगवान को किसी भी ज्ञानमय सिद्धान्त को देकर यह कहना पड़ रहा है कि तुम्हें पाप नहीं लगेगा। प्रत्येक अध्यायों

में भगवान को यह वाक्य जगह–जगह कहना ही पड़ता है। धर्मात्मा सोचता है कि कहीं स्वप्न में भी पाप न हो जाय और पापात्मा सोचता है कि धर्मात्मा बच न जाय। दोनों की दो प्रकार की सोच है। दुर्योधन को पाण्डव ही अपने पापरूप कर्म का फल दिखाई पड़ रहे हैं। अतः जल्दी से जल्दी वह, उन्हें इस धरा से सदा–सर्वदा के लिए समाप्त कर देना चाहता है। रावण, विभीषण को ही पापरूपी फल समझकर अपने देश से ही निष्कासित कर देता है। कंस, अपने महात्मा पिता को अपना पाप समझकर कारागार में डाल देता है। उन असुरों की दृष्टि में उनके स्वच्छन्द जीवन जीने में, ये धर्मात्मा पुरुष ही बाधक दिखाई देते थे। वही कहानी महात्मा अर्जुन की हो गयी है। उन्हें भी शील–संकोच एवं भौतिक मर्यादा के कारण से महत् पापात्मा गुरुजन भी पुण्यात्मा की तरह दीख रहे हैं। इसलिए वे उन्हें पुण्यात्मा समझकर उनका वध करना नहीं चाहते। यद्यपि महात्मा अर्जुन को पाप स्पर्श नहीं करेगा लेकिन तो भी भगवान कह रहे हैं कि माना कि गुरुजनों के वध से होनेवाली पापरूपी नदी तुम्हें आगे बढ़ने से रोक देगी, तुम स्वयं से तैरकर उसे पार नहीं कर पाओगे, लेकिन मेरी इस दिव्य ज्ञानरूपी नौका पर तुम बैठ जाओ, फिर देखो कि तुम सहज में ही कैसे पार कर जाते हो। लगता है महात्मा अर्जुन को यह युक्ति जँची नहीं। वे तो मन में सोच रहे हैं कि मुझे तो पाप लगे ही नहीं, ये ऐसा उपाय क्यों नहीं बताते? इसीलिए प्रभु ने अगला मंत्र– 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः' कहकर उन्हीं के मन की बात कर दी है। प्रभु ने स्पष्ट कह दिया कि चाहे किसी भी प्रकार का कर्म हो, यदि अपने पास ज्ञानाग्नि है तो वह उसे वैसे ही जला देती है, जैसे अग्नि ईंधन को।

ऐसा आप क्यों कह रहे हैं क्योंकि 'भगवान के ऐसा कहने से तो यह सिद्ध होता है कि किसी के पास ज्ञानाग्नि है तो वह भले चोरी, चकारी, बदमाशी करे, उसे पाप स्पर्श करेगा ही नहीं?' नहीं, नहीं; भगवान का कहना तो ऐसा है ही नहीं, बल्कि उनका कहना है कि आत्मजिज्ञासु कर्मयोगी या ज्ञानयोगी के द्वारा जाग्रत् ही क्या, स्वप्न में भी पापकर्म तो होगा ही नहीं और जो कुछ भी होगा, उससे एक आदर्श परम्परा की स्थापना होगी। आजतक ऐसा देखा ही नहीं गया कि किसी निष्काम कर्मयोगी या ज्ञानयोगी के द्वारा पापकर्म हुआ हो।

(अपि चेदसि पापेभ्यः.....) भगवान मानो कह रहे हैं कि आप विवशतावश बहुत से पापों और पुण्यों को करते हुए ही घर से अशान्त होकर सद्गुरु के पास पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ पहुँचते ही आप अब पापी न रहे। भगवान ने सद्गुरु के पास जाने का फल ही इन मंत्रों के द्वारा प्रकाशित किया है। मानो वे कह रहे हों कि सद्गुरु मिल गया तो अपने को आप पापी मत समझना, नहीं तो अन्यथा दोष हो जायेगा; क्योंकि पापी एवं पापी का तथा पापी एवं पुण्यात्मा का मिलन तो होता है, लेकिन पापी और परमात्मा का मिलन नहीं होता। आप देखते ही हैं कि पापी और पुण्यात्मा एकसाथ रह लेते हैं। कैसे? जैसे बेटा चोर है और माँ साध्वी है, बेटा राक्षस है और माता–पिता संत हैं, लेकिन तो भी साथ–साथ रह लेते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि पिता शराबी है, जुआरी है, वेश्यागामी है और पुत्र जितेन्द्रिय है, ब्रह्मचारी है, साधु स्वभाव का है तो भी एकसाथ रह लेते हैं लेकिन पापी और परमात्मा को एकसाथ रहते नहीं देखा गया।

उसीप्रकार पापात्मा शिष्य और सद्गुरु को एकसाथ रहते नहीं देखा गया। इसी न्याय से आत्मजिज्ञासा को लेकर आप जैसे ही सद्गुरु के पास जाते हैं तो आप महापुण्यात्मा होते हैं, भक्त होते हैं सन्त होते हैं।

धर्मात्मा महाराज दशरथ के साथ प्रभु श्रीराम हैं तथा श्रीराम प्रभु के साथ महाराज दशरथ हैं, जबकि प्रभु श्रीराम ब्रह्म हैं तथा महाराज दशरथ जीव हैं। कभी जीवन में अधर्म नहीं किया महात्मा दशरथ ने, अतः वे प्रभु श्रीराम के साथ हैं। उसीप्रकार भगवती कौसल्या, सुमित्रा तथा सारे के सारे अयोध्यावासी प्रभु श्रीराम के साथ हैं, सारे के सारे पुण्यात्मा हैं। उनका समर्पणमय जीवन ऐसा है कि सद्गुरु (ब्रह्मर्षि वसिष्ठ) उन सबके जीवन में जीते हैं। अतः वे सभी महात्मा हो जाते हैं, जीवनमुक्त हो जाते हैं।

पुण्यात्मा पुरुष यदि अपने पुण्य को, सुख को समर्पित करता है, अपने सद्गुरु के पास जाकर तो सर्वप्रथम यह फल दिखाई पड़ता है कि जो उसकी अतीत की वृत्तियाँ हैं, काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि, वे उसको मार नहीं पातीं, पीड़ा नहीं दे पातीं; क्योंकि वह उनके वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है। माना कि वहाँ भी मन में माता–पिता, भाई–बान्धवों, बाल–बच्चों के प्रति मोह की वृत्तियाँ प्रकट हो जायेंगी, लेकिन वे प्रकट हो–होकर पुनः अपने कारण में वैसे ही विलीन होती जायेंगी जैसे बादल आकाश में प्रकट हो–होकर विलीन होते जाते हैं अथवा (यथैधांसि समिद्धोऽग्निः.....) जैसे ईंधन को अग्नि में डाल देनेपर अग्नि जला डालती है, वैसे ही काम, क्रोध, राग, द्वेष, मोह, ममता, भय, छल, कपट, दम्भ, पाखण्डरूपी ईंधन को ज्ञानाग्नि जला डालती है अथवा जैसे ही आपने 'शरीररूपी ईंधन को', 'मन, बुद्धि चित्तरूपी ईंधन को', 'विचार एवं सिद्धान्तरूपी ईंधन को', सद्गुरुरूपी ज्ञानाग्नि को देते हैं, वैसे ही तन, मन, वचन एवं हृदय में ज्ञानाग्नि की आग लग जाती है और वह ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण विकाररूपी दोषों को जलाकर तन, मन, वचन तथा इन्द्रियों को निर्दोष बना देती है। जबतक इनमें निर्दोषता नहीं आती तबतक आपकी समष्टिचेतना नहीं आ पाती। जैसे आपने देखा ही होगा कि बिजली के तार जो ताँबे के होते हैं, यदि उनपर कार्बन जम जाता है तो बिजली प्रवाहित नहीं होती।

एक साधक ने कहा– मन तो लगता ही नहीं, ध्यान, भजन में बैठने पर। तो महाराज ने कहा– 'ज्ञानाग्नि का दीपक जला दें; जब मन न लगे फिर भी आप बैठे रहें, उसी को तो बैठना कहते हैं। सद्गुरु के पास भी मन नहीं लगता तो भी बैठे रहें। विचारों का पतझड़ होता है न, जन्म–जन्मान्तर के सिद्धान्तों का पतझड़ होता है न! सामान्य पेड़ों के पतझड़ में तीन महीने लगते हैं तो जन्म–जन्मान्तर के विचारों एवं सिद्धान्तों का पतझड़ होने में दस–बारह साल भी लग जायें तो क्या बड़ी बात है, बीस साल भी लग सकते हैं, जीवनभर भी लग सकता है। जब सारे सिद्धान्तरूपी पत्ते गिर जायेंगे, तभी तो भगवत् सिद्धान्तरूपी पत्ते आयेंगे और तभी तो उसमें ज्ञानरूपी फूल और समाधिरूपी फल लगेंगे!'

उच्चकोटि के आत्मजिज्ञासुओं ने देखा है कि सद्गुरुरूपी परम ज्ञानाग्नि के पास जाते ही माँ भाव की, पिता भाव की, स्वजन भाव की सामर्थ्य नहीं रह जाती; क्योंकि ये सामान्य भाव,

ज्ञानाग्नि के लिए ईंधनरूप हैं। यदि कोई सच में आत्मजिज्ञासु है तो उस परम ज्ञानाग्निरूपी सद्गुरु को पाकर अपने सम्पूर्ण पापरूपी ईंधन को जला ही डालता है। बाहर की ज्ञानाग्नि सद्गुरु है, भीतर की ज्ञानाग्नि उसकी अनुभूति है। इसप्रकार भीतर–बाहर ज्ञानाग्नि के जलने से संचित एवं क्रियमाण कर्म भुने हुए बीज की तरह निष्क्रिय हो जाते हैं तथा प्रारब्ध भी ज्ञानरूप हो जाता है। इसी को कर्मों का भस्म होना कहते हैं।

एक शिष्य ने अपने सद्गुरु से कहा कि जब–जब हम आपके पास ध्यान मैं बैठते हैं तो राजस एवं तामस विचारों का उत्पात होता ही नहीं है, लेकिन जब आपके पास नहीं बैठते तब रजोगुणी एवं तमोगुणी वृत्तियों की बाढ़ आकर मन, बुद्धि, चित्त को अपनी ओर बहा ले जाती है। तब सद्गुरु ने कहा कि जब इतनी श्रद्धा आ ही गयी है और दिखाई पड़ गया कि ऐसी बात है तो अब तुम सदा साथ रहो। साथ में एक घण्टा बैठना और अन्य जगह पाँच घण्टे बैठना, बराबर होगा और साथ रहने पर भी एक घण्टा सुबह–शाम ध्यान में बैठने का समय तो मिल ही जायेगा।

जिन्हें सद्गुरु की बात जँचती है, उन्हें *'दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना।।'* श्रीरामचरितमानस के इस सूत्र के अनुसार सद्गुरु के दर्शन का फल अलग मिलता है, स्पर्श अर्थात् सेवा–शुश्रूषा का फल अलग मिलता है, मज्जन अर्थात् ज्ञान, ध्यान, विज्ञान में गोते लगाने का फल अलग मिलता ही है तथा पाना अर्थात् नित्य आत्मानुभूति होती ही रहती है। भीतर की ज्ञानाग्नि, बाहर की ज्ञानाग्नि– दो अग्नियाँ होती हैं। बाहर से सद्गुरुरूपी ज्ञानाग्नि है और भीतर में आत्मचिन्तनरूपी ज्ञानाग्नि जल रही है। इसप्रकार भीतर से आत्मचिन्तनरूपी ज्ञानाग्नि और बाहर से सद्गुरुरूपी ज्ञानाग्नि ने मानो साधक के चारों तरफ सुरक्षाकवच का घेरा बना रखा है, ताकि बाहर से काम, क्रोध, राग, द्वेषादिरूपी वृत्तियाँ आक्रमण करें या भीतर से, दोनों ही ओर से जल–भुन जाएँ। कभी–कभार तो भले ही साधक के भीतर ज्ञानाग्नि सम शान्त बनी रहती है, लेकिन सद्गुरुरूपी ज्ञानाग्नि कभी प्रमाद नहीं करती। वह तो साधक के पापों को धू–धू कर जलाती ही रहती है।

एक साधक ने कहा कि घर का एक ऐसा अशुभ समाचार सुना कि जिसे सुनकर मेरी नींद ही उड़ गयी थी, मन करता था कि पंख होते तो उड़कर घर पहुँच जाता। यदि मेरे गुरु की आँच नहीं होती तो मैं अबतक घर में होता।

जिसप्रकार लक्ष्मणरेखा भगवती सीता की सुरक्षा कर रही थी, उसीप्रकार साधक की सुरक्षा सद्गुरु नामक ज्ञानाग्नि करती रहती है। आप सब तो जानते ही हैं कि जब महात्मा विभीषण प्रभु श्रीराम की शरण आये, तब प्रभु श्रीराम ने क्षणभर में उनके पापरूपी रावण और उसकी सेना को जला डाला। आप देखते ही हैं कि उत्तम अधिकारी जब सद्गुरु के पास आते हैं तो उन्हें स्वजन याद आते ही नहीं तथा काम तो तत्काल कहीं चिदाकाश में दुबक ही जाता है। दुबकने को भी जलना ही कहते हैं; क्योंकि आग लग गयी है तो कभी न कभी वह जल ही जायेगा न। सद्गुरु बाहर से शिष्य के पाप एवं पुण्य को जलाता रहता है अर्थात् खाता रहता

है और भीतर की ज्ञानाग्नि भीतर से। बाहर से सद्गुरु इतना सावधान रहता है कि उत्तम अधिकारी शिष्य की कोई आरती नहीं उतार सकता, वह ऊपर–ऊपर उसकी आलोचना करता हुआ मानो उसका पुण्य खाता रहता है। पाप तो उसके पीछे ही खड़ा रहता है लेकिन सद्गुरु की टेढ़ी दृष्टि को देखकर शिष्य पर आक्रमण नहीं कर पाता। 'वे सदा ही अपने परम प्रियशिष्य की आलोचना क्यों किया करते हैं?' क्योंकि उसके स्वजनरूपी शत्रु उसका पीछा कर रहे हैं न; ताकि वे यह न जान पायें कि मेरा बेटा सिद्ध हो गया, मेरा भाई सिद्ध हो गया, मेरे गाँव का, क्षेत्र का साधक सिद्ध हो गया। इसलिए जबतक वह परम सिद्ध नहीं हो जाता तबतक गुरुदेव उसकी अवहेलना करते रहते हैं।

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय।।

सद्गुरु देखता है कि यह तो अपनी निंदा कराने की कोई योजना बना ही नहीं रखा है, इसलिए वह अधिकारी शिष्य का सबसे बड़ा आलोचक होता है। कोई उसके जैसा उसके शिष्य की घोर आलोचना नहीं कर सकता, वैसे ही जैसे महात्मा अर्जुन को हिजड़ा तथा कायर कोई नहीं कह सकता था, केवल भगवान ने ही कहा। वैसे ही जब निकट का सम्बन्ध सद्गुरु से होता है तो वह शिष्य के पुण्य को उसकी निंदा करके खा जाता है। 'उसका पुण्य क्या है?' उसका तेज ही उसका पुण्य है। जब उत्तम अधिकारी शिष्य सद्गुरु के पास तन, मन, वचन, हृदय से समर्पित होकर अहर्निश भीतर–बाहर से ज्ञानाग्नि जलाये रहता है तो उसके तन, मन, वचन एवं हृदय से एक दिव्य तेज प्रकट हो जाता है। सद्गुरु के पास उनके आनेवाले भक्तों को लगता है कि अरे! यह तो उनका शिष्य तेजोमय लग रहा है, अतः उसके पास लोग आकर्षित होकर आने जाने लगते हैं। तब सद्गुरु किसी युक्ति से हस्तक्षेप करता है, यह मधुर युक्ति ही है कि वह उस शिष्य का आलोचक हो जाता है। जिसप्रकार सामान्य लकड़ी हो चाहे चन्दन की लकड़ी, दोनों ही अग्नि के लिए ईंधन ही हैं, उसीप्रकार पुण्य और पाप दोनों ही ज्ञानाग्नि के लिए ईंधन ही हैं। एक अवस्था में पुण्य आवरण है ब्रह्म और साधक के बीच में, पहली अवस्था में तो पाप ही आवरण रहता है भगवान और जीव के मिलन में, शिष्य और सद्गुरु के मिलन में तथा दूसरी अवस्था में सामान्य पुण्य ही आवरण होता है, जो मातृधर्म कहलाता है, पितृधर्म कहलाता है, भौतिक शिष्यधर्म कहलाता है, स्वजनधर्म कहलाता है, कुलधर्म कहलाता है, लेकिन सद्गुरु एवं शिष्य के मिलन में यही अवरोधक तत्त्व है जो मिलन होने नहीं देता। अतः सद्गुरु पाप को तो खाता ही है पुण्य को भी खा जाता है, ज्ञानाग्नि पुण्य और पाप दोनों को खा जाती है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! ये सब तो मरे हुए ही लोग हैं, इन तुम्हारे विपक्षियों का वध करना तो एक विनोद करना है। इनलोगों की मृत्यु तो तभी हो गयी थी, जब इनलोगों ने तुमलोगों को राज्य से निष्कासित कर दिया था। अरे! तुम कैसे कहते हो कि स्वजन से होनेवाले घात को ब्रह्महत्या का पाप कहते हैं? तुम समझते हो कि बड़ा भारी पापी हो जाऊँगा,

लेकिन मैं कहता हूँ कि ऐसा हो ही नहीं सकता। यदि तुम मुझे सचमुच में सद्गुरु मानते एवं जानते हो तो मेरी आज्ञानुसार तुम्हारे से हुआ महापाप भी पुण्य ही हो जायेगा। अतः तुम शोक–सन्ताप क्यों करते हो? उठो! गाण्डीव उठाओ और युद्ध करो।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

इस संसार में ज्ञान के समान तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र करनेवाला अन्य साधन कोई भी नहीं है। उस ज्ञान को बहुत काल से ज्ञान में स्थित होकर किये हुए कर्मयोग के द्वारा साधक अपने–आप ही आत्मा में प्राप्त कर लेता है। इस परम ज्ञान को सदा–सर्वदा तत्परता के साथ ज्ञानप्राप्ति के साधन में लगा हुआ जितेन्द्रिय एवं श्रद्धावान साधक ही प्राप्त करता है। इसप्रकार वह परम ज्ञान प्राप्त कर परम शान्ति एवं परम निर्वाण को अविलम्ब प्राप्त कर जाता है।

भगवान मानो कह रहे हैं कि इस ज्ञान का जो गूढ़ात्मक रहस्य तुमको दे रहा हूँ, यह तुमको ही दे रहा हूँ। तुमसे मैंने इसे पुरातन काल में गर्भ में ही कह दिया था, जब तुम्हारे तन, मन, वचन, हृदय की आदि सृष्टि हुई थी। जन्म–जन्म से किसी विशेष कारण से मैं मौन हो गया था, अब पुनः वह योग आ गया है, इसलिए अब मैं तुम्हारे लिए फिर वक्ता बन गया हूँ और उसी दिव्य ज्ञान को पुनः दे रहा हूँ। तुम चाहे स्वीकार करो न करो लेकिन मेरे प्रति तुम्हारे मन में अति प्रीति उत्पन्न हो गयी है, इसीलिए मेरा भी परम ज्ञानमय हृदय तुम्हें परम ज्ञान देने के लिए बाहर आ गया है। अतः उठो, जागो और ज्ञान में स्थित होकर इस युद्धरूपी कर्मयोग में प्रवृत्त हो जाओ! मैं समझता हूँ कि तुम्हारे लिए इस दिव्य कर्मयोग से बढ़कर कोई अन्यसाधन नहीं है जो तुम्हें स्वर्ग से परे, अपवर्ग दे सके।

(न हि ज्ञानेन सदृशं.....) पवित्र साधन और अपवित्र साधन ये दो बातें हो गयीं, जिसे भलीभाँति समझना होगा। सकाम जप, तप, योग ही अपवित्र साधन है तथा सद्गुरु की अध्यक्षता में रहकर ज्ञान में स्थित होकर उनकी आज्ञानुसार कर्मयोग या ज्ञानयोग का साधन, परम पवित्र कहलाता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान में स्थित होकर अथवा ज्ञान के जिज्ञासु के द्वारा स्वजनों का त्याग पवित्र साधन है और ठीक इसके विपरीत अज्ञान में स्थित होकर स्वजनों के हितार्थ ही जप, तप, योग करना अपवित्र साधन है। इसमें संदेह नहीं कि स्वजनों का त्याग सकामी एवं निष्कामी भी करते हैं, अन्तर इतना ही है कि सकामी स्वजनों की सकामता के लिए त्याग करता है और निष्कामी आत्मजिज्ञासारूप निष्कामता के लिए त्याग करता है। रावण, कुम्भकर्ण, कंस, बाणासुर, जयद्रथ आदि ने भी तप के लिए कुछ वर्षों के लिए घर का त्याग कर दिया था लेकिन उनके उद्देश्य और गति को सभी जानते हैं। वहीं भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, आद्यगुरु शंकराचार्य, भगवान दत्तात्रेय, भगवान शुकदेव आदि का त्याग निष्कामता, आप्तकामता तथा

जगत–हितार्थ था। अतः रावण, कुम्भकर्ण आदि का साधन पवित्र माना जायेगा क्योंकि कुछ समय के लिए ही वह स्वर्गादि सुख को देनेवाला है पुनः तो वह दुःख का ही हेतु बन जाता है तथा ध्रुव, प्रह्लाद आदि महात्माओं का साधन परम पवित्र स्वीकार किया जायेगा। इसप्रकार जो परिणाम में दुःख ही देनेवाला है, वह साधन चाहे भले ही जप, तप, योग ही क्यों न हो, पवित्र साधन ही कहा जायेगा। ठीक इसके विपरीत जो परिणाम में परमपद तक देनेवाला हो, वह साधन भले ही हिंसा से ही युक्त क्यों न हो लेकिन गुरु–आज्ञानुसार वह किया जा रहा है तो परम पवित्र माना जायेगा। जैसे अर्जुन के द्वारा भौतिक गुरुजनों का वध करना देखने में अपवित्र साधन लगता है लेकिन चूँकि ज्ञान में स्थित होकर सद्गुरुरूपी भगवान की आज्ञा द्वारा किया जानेवाला है, अतः परम पवित्र साधन है। महात्मा भरत का राम–विरोधी माँ का त्याग कर देना परम पवित्र साधन माना गया है, महात्मा प्रह्लाद के द्वारा ब्रह्म–विरोधी पिता का त्याग करना परम पवित्र साधन माना गया है। ज्ञान में स्थित हुई भगवती गोपियों के द्वारा भगवान–विरोधी अपने पतियों का त्याग कर देना परम पवित्र साधन माना गया है। भगवती मीरा के द्वारा भगवान–विरोधी स्वजनों का त्याग करना परम पवित्र साधन माना गया है। जिनलोगों ने भी ज्ञान में स्थित होकर आत्मस्वरूप की स्थिति को प्राप्त किया है, निश्चितरूप से उनके लिए आत्मचिन्तन सर्वश्रेष्ठ साधन रहा है। आत्मचिन्तन के अभाव में तो भक्ति को भी लंगड़ी की ही संज्ञा दी गयी है। *'यद्यपि भाववस्य भगवान सुखनिधान करूणा भवन'*– रूपी सूत्र श्रीरामचरितमानस में दिया गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं मान लेना चाहिये कि वह भाव ज्ञान से रहित है। जिसप्रकार 'ॐ' सम्पूर्ण वेदों की आत्मा है, सम्पूर्ण मंत्रों की आत्मा है, उसीप्रकार भगवान ने मानो यहाँ पर ज्ञानयोग को सम्पूर्ण साधनों की आत्मा बताया है। ज्ञान के समान पवित्र साधन कुछ है ही नहीं, भगवान के द्वारा ऐसा कहना बहुत बड़ी बात है। हो सकता है कि भक्तिपथ के पथिक भगवान के इस मंत्र पर आक्षेप भी करें लेकिन उन्हें जानना चाहिये कि आजतक कोई भी भक्त अविवेकी नहीं हुआ। भक्तिपथ के अलौकिक पथिक भगवती शबरी, सरभंग, सुतीक्ष्ण आदि भी ज्ञान में स्थित होकर ही भक्तिपथ का अनुसरण कर रहे थे। कोई भी भक्त सर्वप्रथम भलीभाँति अपने तन, मन, वचन एवं हृदय के बन्धन को अच्छीप्रकार चिन्तन के द्वारा देख ही लेता है, तभी वह संसार को छोड़कर सद्गुरु के पास जाने की कामना करता है। अब वह सद्गुरु के पास जाकर भले ही ज्ञानयोग का पथिक बने या कर्मयोग का, यह उसके एवं गुरु के बीच की बात है। इस मंत्र से यह भी जान लेना चाहिये कि ज्ञान में स्थित होकर जप करना, ज्ञान में स्थित होकर तप करना, ज्ञान में स्थित होकर योग करना, ज्ञान में स्थित होकर दान करना, ज्ञान में स्थित होकर व्रत करना, ज्ञान में स्थित होकर यज्ञ करना तथा ज्ञान में स्थित होकर सेवा–शुश्रूषा अर्थात् कर्मयोग करना; ये सभी परम पवित्र साधन हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो महात्मा अर्जुन से भगवान यह नहीं कहते कि तुम अच्छीप्रकार इस ज्ञान को धारण करो जिस ज्ञान के द्वारा कालान्तर में तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को अपने में और अपने को सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में देखोगे। इसके उपरान्त तो यह धर्मयुद्ध तुम्हारे लिए ज्ञानरूप ही दीख पड़ेगा, तुम ऐसा नहीं समझ पाओगे कि मैं युद्ध का कर्ता हूँ अथवा स्वजनों का वध करनेवाला हूँ।

(तत्स्वयं योगसंसिद्धः.....) सद्गुरु एवं शिष्य का मिलन होता है तो पुरातन योग आकर वहाँ पर खड़ा हो ही जाता है। लम्बी यात्रा होती आयी है शिष्य की, बहुत जन्मों से गुरु एवं शिष्य का योग होता आया है। शिष्य जब ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास मुमुक्षु होकर जाता है, जिज्ञासु होकर जाता है तो बहुत से जन्मों से उसका सम्बन्ध होता है तभी मुमुक्षु होकर जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह सद्गुरु के पास भी सकामी होकर ही जाता है, पुत्र की, धन की, ऐश्वर्य आदि की कामना से ही वह वहाँ जाता है। यदि आप सद्गुरु के पास मुमुक्षु होकर गये हुए हैं तो आप अपने पुरातन योग को याद करें– भगवान का यहाँ ऐसा भी संकेत है। स्वजन त्याग से बढ़कर आपके लिए परम पवित्र साधन भी क्या होगा? मानो भगवान का यहाँ ऐसा भी संकेत है। यह संन्यास का मौलिक मंत्र है कि जबतक आप सम्पूर्णता से प्रिय–अप्रिय स्वजनों का त्याग नहीं करते, उनसे अनासक्त नहीं होते, तबतक आपके लिए सद्गुरु सार्थक नहीं होता, आपके लिए ज्ञान सार्थक नहीं होता।

खगेन्द्रानन्द से महाराज ने कहा कि जप, तप, योग से तन, मन, वचन जबतक थक न जाय तबतक सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये, हररोज नये उत्साह से प्रयत्न करना चाहिये, तब कहीं जाकर ज्ञान की पात्रता प्राप्त होती है। नित्यप्रति अपनी शारीरिक शक्ति, मन की शक्ति, बुद्धि की शक्ति को दाव पर लगाकर देखें कि कुछ ही दिनों में प्रभु का चमत्कार कैसे नहीं होता।

अब महाराज एक आख्यायिका देता है, जिस पर आप सब ध्यान दें– 'अपने महल में रहना बेटे, फूलों की शय्या पर सोना, अमृत का पान करना और नवयुवती का संग करना', ऐसा महात्मा भगीरथजी की माँ ने उन्हें तप के लिए आज्ञा देते समय कहा। 'यह क्या कह रही हो माँ!' तप में तो ये विरोधी बाते हैं? हिमालय में तो मैं किसी के घर–मकान में रहूँगा ही नहीं, किसी से गद्दे, तकिये माँगूँगा ही नहीं और किसी से भी भोजन की भिक्षा भी नहीं करूँगा। आकाशवृत्ति से कन्द मूल, फल, फूल, जो मिल जायेगा, उसी प्रसाद को पाकर मैं तप करूँगा तथा नवयुवती के संग की तो बात ही नहीं है, वह तो मेरे तप में साधक न बनकर बाधक ही बनेगी। ऐसा भगीरथजी ने माँ से कौतूहलवश पूछा। माँ ने कहा– 'तुम समझ नहीं पाये बेटे! तो सुनो– महल में रहते–रहते महलरूपी वासना अपने मन में उतर जाती है, अतः प्रतिकूलता के आने पर अयोध्या का महल तुम्हें याद आने लगेगा, वैसी स्थिति में तुम यह भी सोच सकते हो कि इसप्रकार की घोर तपस्या तो मैं अपने महल में ही कर सकता था; क्योंकि उस महल में मेरे तप की हर तरह से सुरक्षा होती और निर्बाध मेरी तपस्या पूरी हो जाती, जबकि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। अतः आज से ही तुम अयोध्या के महल को छोड़कर नौ दरवाजोंवाले अपने शरीररूपी महल में स्थित हो जाओ। जिसे तुमने अपना शरीर मान लिया है, वह तुम्हारा शरीर तो है नहीं, यह तो भगवान का दिव्य मन्दिर है। तुम इसी मन्दिर में रहकर भगवान के नाम का जप करना, उन्हें पुकारना, अयोध्या, अयोध्या के महल तथा अयोध्यावासियों का स्मरण मत करना। 'नवयुवती का संग करना' अर्थात् हिमालय तक जाने में, तुम जहाँ तपस्या करोगे वहाँ तक जाने में कुछ दिन, महीने लग जायेंगे; क्योंकि हरिद्वार तक तो रथ जा सकता है लेकिन

मैं तुम्हें रथ से नहीं जाने दूँगी। भगवान के पथिक को भगवान के लिए रथ पर जाना शोभा नहीं देता। अतः तुम मार्ग में पैदल जा रहे हो और कहीं सामान्य से सामान्य भगवद्भक्त कथा कह रहा हो तो तुम भी वहाँ बैठकर आदर, मान, सम्मान एवं प्रेम के साथ कथा को ध्यान से सुन लेना। यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम वेद–वेदाङ्गों के ज्ञाता हो लेकिन ज्ञान का अभिमान मत करना, सुन लेना। भगवत्कथा सुनने से नित्यप्रति तन, मन, वचन, हृदय को दिव्य शक्ति प्राप्त होती रहेगी। इसी को नवयुवती का संग करना कहते हैं। 'फूलों की शय्या पर सोना' अर्थात् जब हिमप्रदेश में चले जाना, जहाँ तुम्हें भगवती गंगा को प्राप्त करना है, भगवान शिव की आराधना करनी है तो वहाँ गुरुदेव ने जो तुम्हें जप करने का मंत्र दिया है, उसे खड़े–खड़े ही जप करना, आसन सिद्धि की कामना मत करना; पता नहीं कब आसन सिद्ध होगा, कब नहीं होगा। इसलिए खड़े होकर जप करना और जब शरीर थककर चूर–चूर हो जायें, बैखरी एवं मध्यमा वाणी भी जप करते–करते थककर सम शान्त हो जायँ, नींद के वेग से शरीर गिर–गिर पड़े; उस अवस्था में जब पत्थर की चट्टान पर सोओगे, तब फूलों की शय्या जैसी प्यारी नींद आयेगी। तीन–चार घण्टे की नींद भी तन, मन, वचन को शक्तिमान कर देनेवाली होगी, जगते ही तेजस्विता एवं दिव्य चेतना की अनुभूति होगी। 'अमृत का भोजन करना' अर्थात् जब तप करते–करते भूख उत्पात मचा दे, इतनी कमजोरी हो जाय कि खड़े न रह पाओ तो कन्द–मूल, जंगली फल–फूल भी खाकर जब झरने का जल पीओगे तो दिव्य व्यंजन (दिव्य भोजन) करने जैसी संतुष्टि होगी; इसी को कहते हैं अमृत का पान करना।' महात्मा भगीरथ ने अपनी साध्वी माँ की आज्ञा का पालन किया और सभी जानते हैं कि सफलता ने उनके चरणों को चूम लिया, माँ गंगा वैकुण्ठलोक से पृथ्वी पर उतर आयीं।

इस आख्यायिका से महाराज भी कहना चाहता है कि आप भी ज्ञान में स्थित होकर जप, तप, योग से अपने तन, मन, वचन, हृदय को हररोज थक जाने दें। चौबीस घण्टे की समय–सारणी इसप्रकार बना लें कि आप सब को गप–शप का समय ही न मिले। क्योंकि स्वयं भगवान ने कहा है–

(श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं.....) इसमें सन्देह ही नहीं कि श्रद्धावान को ही ज्ञान प्राप्त होता है लेकिन उसे संयमी भी होना होगा अर्थात् जितेन्द्रिय होना होगा और सद्गुरु के पास सदा तत्पर रहना होगा; क्योंकि पता नहीं कि कब ज्ञान की गंगा बहाने लगे। महात्मा भरत के आर्तभाव को देखकर अपने प्रति समर्पित हुए प्रियपुत्र भरत के लिए दिव्य वात्सल्यमयी माँ कौसल्या के स्तनों से तेरह–चौदह वर्ष का सूखा हुआ दूध टपकने लगा। उसीप्रकार आध्यात्मिक स्तनोंवाला सद्गुरु आपके आत्मसमर्पण से दिव्य वात्सल्य में भरकर कब आपको दिव्य ज्ञानमय दूध का पान कराने लगे, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। वह ही क्यों, स्वयं आप कब महात्मा अर्जुन की तरह विषादी हो जायें, जिस विषाद रूप जेर से वह आत्मज्ञान प्रकट करने लगे, इसे भी नहीं कहा जा सकता। अतः चौबीसों घण्टे वहाँ आपको सजग रहना होगा, चौकन्ना रहना होगा। पता नहीं आपके भोजन करते समय ही वह आकर आपको ज्ञान देने लगे, आप उसकी याद में जल पी

रहे हों और वह उसी समय आपको ज्ञान देने लगे, आप उसकी याद में सो रहे हों और वह उसी समय आकर ज्ञान देने लगे, आप उसका स्मरण कर झाड़ू लगा रहे हों, बर्तन माँज रहे हों, भोजन बना रहे हों और वह आपको आकर ज्ञान देने लगे, आप जप, तप, योग कर रहे हों और वह उसी समय आकर आपको ज्ञान देने लगे तो आप उसका स्वागत करना, उस समय यह मत कह देना कि गुरुदेव आप चलें मैं दस–पन्द्रह मिनट में काम करके आया, अन्यथा बड़ी हानि हो जायेगी आपके लिए। उसके लिए तो पता नहीं वह दस–पन्द्रह मिनट कब आयेगा। आप क्या जानेंगे उसके हृदय की बात को कि वह आपके आत्मसमर्पण में आपको ज्ञान देने के लिए कब पागल हो जायेगा। गाय का बछड़ा अन्य बछड़ों के साथ भले ही खेल–कूद में मस्त रहे लेकिन गाय माता के स्तनों में जब दूध भर जाता है तथा जब दूध टपकने लग जाता है तब वह दूध पिलाने के लिए डकारने लगती है ॐ, ॐ की ध्वनि से बछड़े को पुकारने लगती है। अतः आप ये न भूलें कि जितना आप सद्गुरु से आत्मज्ञान लेने में पागल हैं, उससे कहीं हजार गुना वह देने में पागल है।

आत्मज्ञान देने में आतुर सद्गुरु ने शिष्य की गुफा पर आवाज लगा ही दी– क्या कर रहे हो, देर है क्या आने में? जी गुरुजी! पन्द्रह–बीस मिनट में जप पूरा हो जायेगा! ऐसा शिष्य ने उत्तर दिया। ज्ञान देने की कामना से आया हुआ पागल सद्गुरु अपने आनन्द की मस्ती में यह कहते हुए लौट गया कि

तू घायल कि मैं घायल, घायल मनकी घायल जाने।
तू नहीं घायल मैं ही घायल, पागल मेरा मन पहचाने।।

(श्रद्धावाँल्लभते.....तत्परः संयतेन्द्रियः) इस मंत्र में 'तत्परः' पद आया है। इसका तात्पर्य है कि चाहे कुछ भी करते रहना लेकिन कान और मन उसके पास रखना; क्योंकि उसके चलने की आहट होती है, मनकी आहट होती है, बुद्धि की आहट होती है। वह तन से तो चलता ही है, मन से, बुद्धि से भी चलता है, वाणी से भी चलता है, आँखों से भी चलता है, कानों से भी चलता है, सूक्ष्मशरीर से भी चलता है, कारण, महाकारण, हंस, परमहंस एवं कैवल्यशरीर से भी चलता है। अतः उसके चलने की गति को पहचानना होगा; क्योंकि वह आपके जाग्रत् में ही नहीं, स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी आ जायेगा ज्ञान देने के लिए, क्योंकि वह गाय माँ की तरह ज्ञान देने के लिए पागल हो गया है न! पागल को समय का भान नहीं होता। वह परम पागल ज्ञान का दान दिन में भी देता है, रात में भी देता है, चलने में भी, बैठने में भी देता है, हँसने में, रोने में भी देता है, हँसी में तथा गम्भीरता में भी देता है। यह सब उसकी सजगता मानना, इसलिए प्रमाद न कर जाना। महात्मा अर्जुन रोने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे बकबक बकने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे खींझने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे भागने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे पाप से डरने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे अज्ञान देने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे धर्म की दुहाई देने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे बहाना पर बहाना बनाने लगे वह आत्मज्ञान देने लगा, वे कृष्ण–कृष्ण कहते रहे वह आत्मज्ञान देता रहा, वे माधव, यदुवंशी,

ग्वाल–बाल, सखा–स्नेही समझते रहे, वह आत्मज्ञान देता रहा। क्यों? इसलिए कि वह देने में पागल था, पापरूपी जेर खाने में पागल था, पाप खाने में पागल था, पुण्य खाने में पागल था, प्रेम पाने में पागल था, प्रेम पाने में पागल था, प्रेम पाने में पागल था।

'तत्परः' का तात्पर्य कठिन श्रम एवं कर्म से न जान लेना तथा उसके पास प्रमाद न कर देना; क्योंकि वहाँ आपका प्रमाद करना ही मृत्यु है। सजग रहना, बस इतने से इन्द्रियाँ सजग हो जायेंगी, इसलिए कि वह आत्मज्ञान उन्हें भी चाहिए। लोलुप न हो जाना, मन का कहना न करने लगना अन्यथा मन में वह आकर ज्ञान नहीं दे पायेगा, अपनी बुद्धि का कहना मत मान लेना अन्यथा वह बुद्धि में आकर ज्ञान नहीं दे पायेगा, इन्द्रियों का कहना मत मान लेना अन्यथा इन्द्रियों में आकर ज्ञान नहीं दे पायेगा। श्रद्धारूपी (विश्वासरूपी) मुख फैलाये रहना उसकी तरफ ताकि वह उस आध्यात्मिक श्रद्धा में प्रवेश कर जाय। कहीं आपकी श्रद्धा में माँ न हो, पिता न हो, मित्र न हो, बाल–बच्चे न हों, भाई–बान्धव न हों, स्वजन न हों, जाति न हो, प्रदेश एवं देश न हो अन्यथा वह आपकी श्रद्धा में प्रवेश कैसे कर पायेगा? आप अकेले हों, वह अकेला हो तब तो बनेगी बात, नहीं तो धोखा हो जायेगा आपके साथ और प्रतीक्षा लम्बी पर लम्बी होती जायेगी। सद्गुरु के द्वारा बताये हुए जप, तप, योग में तत्पर तो रहना लेकिन उसमें आसक्त न हो जाना; क्योंकि आसक्तिरूपी गर्भ से ही प्रमादरूपी मृत्यु का जन्म होता है। उसके द्वारा बताये हुए कर्मों को अनासक्त होकर करना और आसक्त होना उसके आने की प्रतीक्षा में। भगवती शबरी की तरह झाड़ू लगाना, सफाई करना लेकिन प्रतीक्षा करते रहना उसके आने की। भोजन प्रसाद बनाना लेकिन मन और कान रखना उसके आने की प्रतीक्षा में। भगवान ने स्पष्ट कहा कि तुम युद्ध करो मैं मुक्ति दूँगा। तुम मेरा काम करो मैं तुम्हारा काम कर दूँगा अर्थात् मुक्ति दे दूँगा। कर्म को सर्वस्व न मान लेना बल्कि कर्म की आज्ञा देनेवाले उस सद्गुरु को सर्वस्व मान लेना। उसका हर वाक्य ज्ञानमय होता है, वह खाता नहीं बल्कि खाते हुए ज्ञान दे रहा है। अतः उसे खाते हुए ध्यान से देखना, उसे जलपीते हुए ध्यान से देखना, उसे चलते हुए, उठते हुए, बैठते हुए, नींद लेते हुए, नींद छोड़ते हुए ध्यान से देखना; क्योंकि असजग होकर देखने में यह सब उसकी क्रिया दीखेगी लेकिन सजग होकर देखने में क्रिया की जगह ज्ञान झरता हुआ दीखेगा। उसका हर व्यवहार दर्शनीय है। आप उसे देखकर तो देखें, कुछ ही दिनों में पायेंगे कि वह एक ज्ञान का पुंज है जिसके तन, मन, वचन एवं क्रियाओं के द्वारा ज्ञान ही बरस रहा है।

(श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं.....) सद्गुरु के प्रति यदि सगुण ब्रह्म की भावना है तो उसके प्रति अपने हृदय से आध्यात्मिक श्रद्धा प्रकट होती है। उसी श्रद्धा में सद्गुरु और सद्गुरु की गुरुता प्रतिष्ठित है, उसी में उसकी शक्ति प्रतिष्ठित है, उसी में उसकी भक्ति एवं जगत से अनासक्ति प्रतिष्ठित है, उसी श्रद्धा में आध्यात्मिक जप, तप, योग प्रतिष्ठित है; उसी में ज्ञान, ध्यान, विज्ञान प्रतिष्ठित है और उसी श्रद्धा में आत्मचिन्तनरूपी समाधि भी प्रतिष्ठित है। ज्ञानयज्ञ आप नहीं करते, शरीर नहीं करता, माँस एवं हड्डी नहीं करते, प्राण नहीं करता, मन, बुद्धि, चित्त नहीं करते;

ज्ञानयज्ञ तो आध्यात्मिक श्रद्धा ही करती है। श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं, श्रद्धावाँल्लभते धनं, श्रद्धावाँल्लभते ऐश्वर्यं, श्रद्धावाँल्लभते सर्वं, श्रद्धावाँल्लभते सर्वं– जिस काल में जिसको जो भी कुछ प्राप्त होता है, उस काल में वह श्रद्धावान ही रहता है। रावण, कुम्भकर्ण, बाणासुर, कंस आदि असुरों ने भी अपने इष्ट के प्रति श्रद्धावान होकर ही घोर तप तपा है, भले ही वरदान पाने के उपरान्त उनमें असुरता आ गयी। श्रद्धा ने सबको अपने घेरे में कर रखा है, अन्तर इतना ही है कि किसी की अज्ञान के प्रति श्रद्धा है तो किसी की ज्ञान के प्रति श्रद्धा है। यदि आप सद्गुरु के प्रति श्रद्धावान हैं तो आपकी श्रद्धा को महाराज प्रणाम करता है और आपको साधुवाद देता है। निश्चितरूप से आप पूर्वजन्म के योगी हैं, जपी हैं, तपी हैं, जो ऐसे कलिकाल के वातावरण में, जहाँ मानसिक प्रदूषण पूरी तरह से व्याप्त है, ऐसी अवस्था में भी आप आत्मजिज्ञासु हैं, मुमुक्षु हैं। माता–पिता, भाई–बान्धव, गाँव–घर के लोग विषयी हैं, सकामी हैं तो भी उनका कोई किशोर बालक आत्मजिज्ञासु बन जाता है, सद्गुरु की शरण में चला जाता है तो यह श्रद्धा की पराकाष्ठा है। इसप्रकार के विद्वानों की श्रद्धा का स्तवन तो भगवान ने भी किया है और प्रभु की देखा–देखी महाराज भी उस श्रद्धा का स्तवन कर रहा है। जबतक आप संकल्पवान नहीं होते, दृढ़प्रतिज्ञ नहीं होते, तबतक आप किसी भी अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकते। सारे के सारे कर्म दुःखसाध्य हैं, लेकिन वे ही कर्म श्रद्धा के होने से सुखसाध्य हो जाते हैं। ज्ञान तो कृपासाध्य ही है; यदि सद्गुरु मिल गया, उससे प्रीति हो गयी और उसके प्रति श्रद्धा उमड़ गयी तो। अन्यथा उसके उपरान्त अन्य जो कुछ भी है, वह सब दुःखसाध्य है। चोरों के बीच में रहना, चोरी न करना; कामिनियों के बीच में रहना, कामी न बनना; शराबियों के बीच में रहना, शराब न पीना; जुआरियों के बीच में रहना, जूआ न खेलना; यह बहुत बड़ी बात है। बिना श्रद्धा के तो ऐसा हो ही नहीं सकता। जो इसप्रकार के स्वभाववाला है, अवश्य ही वह श्रद्धावान है। कितने भारतीय पुरुष भी गाँजा, बीड़ी, सिगरेट पीते हैं, लेकिन उनकी मातायें, बहन–बेटियाँ तो यह सबकुछ करती ही नहीं हैं; यह उनकी महत् उपलब्धि है। कोई भारतीय पुरुष शराब पीता है और धर्मपत्नी उसका स्वागत करती है, प्याले में शराब भरकर उसे देती है लेकिन स्वयं नहीं पीती। भारतीय पुत्र ऐसे होते हैं, जो शराबी पिता को शराब तो पिलाते हैं लेकिन स्वयं नहीं पीते। यह भारतीय आदर्श संस्कृति का दिव्य स्वरूप है। भारतीय माताओं, बहन, बेटियों तथा यहाँ के पुरुषों की श्रद्धा ही भूमि होती है, वही श्रद्धा उन्हें सद्गुरु एवं सन्त तक ले जाती है। इसी को अहैतुकीकृपा कहते हैं, महति कृपा कहते हैं।

मार्कण्डेय ऋषि ने एक गीत गाया, उस गीत में उन्होंने जो भी कुछ कहा है, यदि वही वस्तु आपको भी मिल जायेगी तो आप भी वैसा ही गीत गायेंगे। वह गीत है–

या देवि सर्वभूतेषु विष्णुमायेति संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

या देवि सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

इसप्रकार गाते–गाते फिर गाया–

या देवि सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

अरे! यह श्रद्धा कैसे आ गयी मेरे में, जिस श्रद्धा में तुम उतर आयी हो। हे देवि! यह श्रद्धा भी तुम्हीं हो।

अपने आसन को देवी–देवता स्वयं सजाते हैं, उनके आसन को आप नहीं बना सकते न सजा सकते हैं। सिंह की सवारी, चूहे की सवारी, बैल की सवारी, मगरमच्छ की सवारी को देवताओं ने स्वयं से ही स्वीकार किया है; लेकिन यह गूढ़ात्मक रहस्य है कि भक्त के हृदय में देवी सिंह की सवारी से नहीं आती बल्कि उसकी श्रद्धा की सवारी से आती है। वह अपनी सवारी को छोड़ देती है, जब आपकी श्रद्धारूपी सवारी उसके सामने पहुँचती है। वह सिंह पर से अवरोहित होती हुई, उतरती हुई आपकी श्रद्धारूपी सवारी से हृदय में पहुँच जाती है। जो भगवान ने कह दिया है, वही मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है। भगवान ने कहा– आपका सद्गुरु आपकी श्रद्धारूपी सवारी पर चढ़कर आपके तन, मन, वचन, हृदय में उतर जाता है और वहाँ जाकर आत्मज्ञानरूप बन जाता है लेकिन ठीक इसके विपरीत अश्रद्धावाँल्लभते अज्ञानं अर्थात् अश्रद्धावान तो अज्ञान को ही प्राप्त करते हैं, दुःख–दर्द को ही प्राप्त करते हैं, शोक–सन्ताप को ही प्राप्त करते हैं। मानो भगवान संकेत कर रहे हों कि अश्रद्धावान धृतराष्ट्र की फली–फूली बागवानी में अब आग लग जायेगी और उसके पुत्ररूपी सारे के सारे पेड़–पौधे जलकर राख हो जायेंगे। अब उनके पुत्रों के सारे रास्ते बन्द हो गये हैं, वे कहीं भाग नहीं सकते। यह देखा जाता है कि जब सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं तो भी भगवान का रास्ता खुला रहता है, लेकिन मूर्ख कौरवों के लिए तो सर्वप्रथम भगवान का ही रास्ता बन्द हुआ, उसके उपरान्त सारे रास्ते बन्द हो गये।

कलकत्ता में महाराज ने आत्मानन्द को एक झाँकी दिखायी। एक ही बेटा है माता–पिता का; ब्याह कर लायी गयी बहू ने उत्पात मचा दिया। उसने कहा– मैं तुम्हारे माता–पिता के साथ नहीं रह सकती। बेटे के पास दुविधा है, उसके माता–पिता के पास भी दुविधा है। बेटा सतयुगी है तो बहू कलियुगी आ गयी। यदि बेटा माता–पिता के साथ रहता है तो बहू उत्पात मचाती है, थाने में जाती है, झूठा केस करती है, जहर खाने की धमकी देती है। बेटा सोचता है कि वृद्ध माता–पिता को कैसे छोड़ूँ और इसके साथ नहीं रहता तो सम्भव है, यह कारागार में बन्द करा दे। माता–पिता चरणों में गिरकर रोते हैं महाराज के पास और कहते हैं कि हमारे जैसा कोई दुर्भाग्यशाली नहीं होगा महाराज! बेटा मन में सोचता है कि 'अकेले इसके साथ रहता हूँ तो यह सबकुछ नाश कर देगी, इतना भी नहीं बचेगा कि मैं माता–पिता की सेवा कर सकूँ।' सारे रास्ते बन्द हैं, रोज कलह, रोज कलह, रोज कलह। भगवती द्रौपदी की कहानी अब सबकी कहानी हो गयी है। सौ घरों में से पाँच घरों को छोड़कर अन्य घरों में कोई द्रौपदी है

तो कोई सुदामा है। चीरहरण बालक कर रहा है, बेटा कर रहा है माँ का, चीरहरण बहू कर रही है माँ का, कहीं चीरहरण माँ–बेटी मिलकर कर रही हैं बहू का, चीरहरण पुत्र कर रहा है पिता का तो कहीं पिता ही कर रहा है बेटे का, चीरहरण भाई कर रहा है भाई का तो कहीं मित्र कर रहा है मित्र का। सारे के सारे रास्ते बन्द हैं आपके उस चीरहरण में। आप जैसी द्रौपदी और सुदामा जहर खाते हैं, भगवान को नहीं पुकार पाते हैं और न ही श्रद्धावान बनकर श्रद्धा के साथ सद्गुरु की शरण में आ पाते हैं। चीर बढ़े तो बढ़े कैसे, लाज बचे तो बचे कैसे? हाय–हाय, कर रोना तो समस्या का समाधान नहीं होता। उसका समाधान तो श्रद्धा के साथ भगवान के शरण में जाने से होता है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं', ऐसा कहकर भगवान ने संकेत किया है कि श्रद्धा के साथ आत्मजिज्ञासु सद्गुरु के पास ज्ञानलाभ कर सकता है तो उसी श्रद्धा के साथ आप उसके शरणागत होकर धन, सुख, शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते? क्या आप कंस जैसे पुत्र से, कैकेयी जैसी माँ से, रावण जैसे भाई से वहाँ पर सुरक्षित नहीं हो सकते?

संत डोंगरेजी ने नर्मदा के किनारे मालसर (बड़ौदा) में एक वृद्धाश्रम खोल रखा है। महाराज, आत्मानन्द के साथ उसमें घूमने चला गया और वृद्धों से बारी–बारी से पूछने लगा– 'आप कौन हैं, कहाँ से आये, क्यों आये हैं यहाँ पर? क्या बेटे–बहू नहीं हैं घर में? एक वृद्ध से इतना पूछना हुआ कि उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली, सम्पूर्ण वेदना फूट पड़ी। चरणों में गिरकर वह वृद्धपिता आर्तनाद कर बैठा– मत पूछें महाराज! मत पूछें, मेरी कहानी मत पूछें! यहाँ के सारे के सारे लोग जानते हैं कि मैं यहाँ पर छिपा हुआ हूँ। अहमदाबाद में लोग मुझे अरबपति जानते हैं लेकिन मुझ अरबपति की कोठी में मेरे लिए कोई कमरा नहीं है। यदि अलग रहता हूँ तो प्रतिष्ठा जाती है और यदि साथ रहता हूँ तो बहू–बेटे के द्वारा लात–मुक्का खाता हूँ। हररोज वे धक्के देते हैं, सहा नहीं जाता इसलिए यहाँ आ गया। यह कहानी कहीं मत कहना महाराज! मैं तो दिन बिताने आ गया हूँ।

आज के सुदामा वृद्धाश्रम में शरण लेते हैं, उस समय का सुदामा भगवान की द्वारिका जाता है। आज बहुत से ऐसे सुदामा हैं जो तीर्थों में वास कर रहे हैं, संतों के पास वास कर रहे हैं लेकिन उनकी गिनती कम है। महाराज इसप्रकार के सुदामा एवं द्रौपदी से कहता है कि 'आप गीताजी के चौथे अध्याय के इस दिव्य मंत्र– 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं.....' पर ध्यान क्यों नहीं देते? क्या आप श्रद्धा से भी गरीब हो गये? आपको जानना चाहिये कि सद्गुरु की जिस शरणागति को पाकर आत्मजिज्ञासु ब्रह्मपद तक को प्राप्त कर लेता है, उसी के शरणागत होकर आप अपनी लाज नहीं बचा सकते? इतना आप जान लें कि जो आपकी आज की दुर्दशा है, वह आपकी अश्रद्धारूप मूर्खता का ही परिणाम है। अतः आज भी आप सद्गुरु के प्रति श्रद्धावान हो जायें, सबकी आशा का परित्याग कर शीघ्रातिशीघ्र उसके शरणागत हो जाएँ। 'तत्परः संयतेन्द्रियः' का तात्पर्य यह है कि जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी विषयी पुरुषों का साथ छोड़ दें, फिर देखें आपकी श्रद्धा कितनी बलवती होती है। मस्तराम बाबा ने एक बड़ी गूढ़ बात कही है कि 'सद्गुरु मिला तो जीवन का आधा काम पूरा हो गया, अब जीवन का आधा काम बचा तो आप उसकी आज्ञा पालन करते रहें, अपने–आप पूरा हो जायेगा।' अब प्रश्न उठता है

कि 'जीवन का वह आधा काम क्या है, जो सद्गुरु मिलते ही पूरा हो जाता है?' हाँ, वह आधा काम है खाना, कपड़ा, मकान का मिल जाना। यदि कोई श्रद्धा से सम्पन्न, सद्गुरु का दरस, परस, मज्जन एवं पान करता है तो उसे भौतिक सम्पत्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह तो उसके दरस, परस, मज्जन आदि का फल है। अब जीवन का आधा काम बचा, वह क्या है?– हाँ, वह है आत्मज्ञान की प्राप्ति, ब्रह्मपद की प्राप्ति। तो उसके लिए भी प्रयत्न नहीं करना है– सद्गुरु जो कहता जाय, उसे श्रद्धा के साथ सुनते जायँ और जो करने को कहे वह श्रद्धा के साथ करते जायें। इस मंत्र को तथा इसके परिणाम को सूत्र रूप में देखते चलें–

(श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं.....) श्रद्धावान् + तत्परः = संयतेन्द्रियः

श्रद्धावान् + संयतेन्द्रियः = तत्परः

श्रद्धावान् + तत्परः + संयतेन्द्रियः = आत्मज्ञान

अर्थात् यदि श्रद्धावान साधक सद्गुरु के पास सजग है तो वह जितेन्द्रिय हो ही जायेगा अथवा श्रद्धावान साधक यदि इन्द्रिय संयमी है अर्थात् इन्द्रियों से अनासक्त है तो उसमें तत्परता अर्थात् सजगता आ ही जायेगी और वह श्रद्धावान भी है, तत्पर भी है तथा इन्द्रियों से अनासक्त भी है तो वह दिन दूर नहीं कि जब वह अपने–आपको ब्रह्मपद में स्थित हुआ देखेगा, परम शान्ति एवं परम ज्ञान में प्रतिष्ठित अपने–आपको देखेगा।

सद्गुरु में भी अश्रद्धा होती देखी जाती है, इसलिए यह मंत्र साधक को सदा सावधान रहने के लिए कहता है। जब महात्मा अर्जुन जैसे श्रद्धावान की श्रद्धा भगवान की तरफ से बिखर सकती है, तब आप अपनी श्रद्धा पर पूरा का पूरा विश्वास न करें; क्योंकि प्रतिकूलता की बाढ़ आने पर ही श्रद्धा के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। भगवान ने इस मंत्र में सर्वप्रथम श्रद्धावान कहा क्रियावान नहीं, क्योंकि गुरु के प्रति जो ब्रह्मभावना है वह बिखर न जाय। महाराज ने अपनी आँखों से एक आत्मज्ञानी संत के पास देखा कि किसी अपवाद शिष्य को छोड़कर सारे के सारे शिष्यों में क्रमशः उनके प्रति दोषदर्शन होता गया और वे सभी बिखरते गये; जबकि किसी साधक ने वहाँ बारह वर्षों तक कठोर सेवा की थी, किसी–किसी ने तो बीस–पच्चीस वर्षों तक कठोर सेवा की थी। वहाँ साधकों की असजगता में माया की मार पड़ती देखकर महाराज आश्चर्यचकित हो जाया करता था। इसलिए भगवान यहाँ साधकों को सावधान करते हैं कि वे सच्चे अर्थों में देख लें कि क्या वे मुमुक्षु हैं, आत्माजिज्ञासु हैं? यदि हैं तो प्रमादरहित होकर गुरुदेव की भीतर तथा बाहर से वैसी ही पूजा करे, जैसी भक्त भगवान की करता है।

यदि उपरोक्त मंत्र के अनुसार नहीं चलते हैं तो अब आगे देखें कि भगवान क्या कह रहे हैं–

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

हे पार्थ! जो अविवेकी है, सद्गुरु के प्रति श्रद्धाहीन है; वैसा संशयात्मा पुरुष निश्चित ही नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मूर्खों के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न उनके लिए सुख–शान्ति ही है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि जिन्हें सद्गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, जिन्हें वह साक्षात् सगुण ब्रह्मरूप नहीं दिखाई पड़ता; उनके लिए तो न ज्ञानयोग है, न कर्मयोग। उनके लिए इस लोक में ही जगह नहीं है तो परलोक की बात क्या करनी। वे जड़ हैं, मूर्ख हैं; उनके साथ आत्मजिज्ञासु साधकों को रहना तो दूर, उनकी छाया भी नहीं देखनी चाहिये। 'उनके लिए न यह लोक है, न परलोक है'– जब भगवान ऐसा कह रहे हैं तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसे लोगों को सर्वप्रथम उनके बाल–बच्चे ही त्याग देते हैं, फिर उनके भाई–बान्धव उन्हें त्याग देते हैं; उसके उपरान्त तो हित–मित्र, घर–गाँव के लोग भी उनसे और उनके व्यवहार से घृणा से भरकर उन्हें त्याग ही देते हैं। यह भारतवर्ष संतों की भूमि है, इसलिए यहाँ सन्तों का ही साम्राज्य रहना चाहिये। राजतंत्र में यही कारण है कि राजा का सद्गुरु ही आत्मा हुआ करता था। वैसी शास्त्रीय आदर्श परम्परा का त्याग कर देनेवाला मूर्ख यहाँ दिन–रात दुःख–दर्द से कराहता हुआ आहें नहीं भरेगा तो कौन भरेगा? स्वयं तो वह सद्गुरु, संत के प्रति समर्पित है नहीं और चाहता है कि बाल–बच्चे उसके प्रति समर्पित रहें, ऐसा कैसे हो सकता है? वह संशयात्मा पुरुष तो कहता है कि 'ये संत एवं सद्गुरु के वेश में पृथ्वी पर भार स्वरूप हैं। ऐसे अपाहिजों को जो बैठे–बैठे मालपुए, पूड़ी, खीर, कचर रहे हैं, भारतभूमि पर रहने का अधिकार नहीं है।' यही कारण है कि वृद्धावस्था आने पर उन मूर्खों के बाल–बच्चे भी ठीक यही बात उनके लिए कहा करते हैं कि 'क्या बक–बक कर रहे हो? न आँख से दीखता है, न कान से सुनाई पड़ता है, तो भी बकरे की तरह मैं–मैं करते रहते हो! पृथ्वी के भार हो गये हो लेकिन तो भी अपने को बड़ा बुद्धिमान समझ बैठे हो! करना–धरना कुछ है नहीं, बल्कि करने–धरने में कुछ बाधा ही डालना है। यदि इतने ही बुद्धिमान रहते तो उल्लू की तरह दिनभर क्यों बैठे रहते; कोई तो आकर पास बैठता? कोई तो आकर अपनी समस्या का समाधान कराता! पाप करते–करते दिन–रात बीत गया, इसलिए भगवान का नाम भी आपको स्वीकार नहीं कर रहा है।' इसप्रकार ऐसे लोगों को जाग्रत् में क्या स्वप्न में भी सुख–शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जब युद्ध भूमि में देखते हैं तो भगवान मानो महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि हे पार्थ! ये पितामहभीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य आदि संशयात्मा पुरुष हैं। तुम्हारी ही तरह इनके मन में मेरे प्रति संशय बना का बना रह गया। मेरे ही प्रति क्यों! इनलोगों ने तो अपने सद्गुरु भगवान परशुराम से भी अपने संशय का निवारण नहीं कराया। संशय का निवारण कराना तो दूर, इन स्वाभिमानियों ने भगवान परशुराम की बातों पर विश्वास भी नहीं किया। जब मैं तुमलोगों का दूत बनकर धृतराष्ट्र की सभा में उपस्थित हुआ तो भगवान परशुराम ने तो स्वयं वहाँ प्रकट होकर धृतराष्ट्र से कहा था कि 'हे राजन्! आपके पास जो दूत बनकर आये हैं, वे देवकीनन्दन, यशोदानन्दन तथा द्वारिकाधीश तो कहने मात्र को हैं, ये तो शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं,

अन्तर्यामी नारायण हैं। जगत हितार्थ प्रकट होनेवाले नित्यानन्द का आप हृदय से स्वागत करें। स्वागत ही क्यों! हे राजन्! आप तो इनके शरणागत ही हो जाएँ। ये शरणागत रक्षक हैं, ये अब भी आपके अपराधों को क्षमा कर सकते हैं।' हे पार्थ! भगवान परशुराम के इस संदेशरूप उपदेश को धृतराष्ट्र के साथ–साथ इन महानुभावों ने भी सुना था तो भी इनका संशय निवारण न हो सका और आज ये तुम्हारे विपक्षी नहीं, हमारे विपक्षी होकर सामने खड़े हैं। अतः यदि तुम भी इन्हीं लोगों जैसी मूर्खता को स्वीकार करते हो तो सुख–शान्ति जाग्रत् में क्या स्वप्न में भी नहीं मिलेगी। इसलिए–

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

हे धनंजय! अपने इस नाम को भी सार्थक करो! भौतिक धन से तो तुम धनवान हो ही, अब आध्यात्मिक धन से भी धनवान् हो जाओ और जो मैंने आत्मचिन्तन दिया है, उस ज्ञान से संशय को छिन्न–भिन्नकर, सकाम कर्मों को त्यागकर योग में स्थित होकर युद्ध करो। क्योंकि हे पार्थ! आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म नहीं बांध सकते। इसलिए हे भारत! हृदय में स्थित अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले संशय को परम ज्ञानरूपी तलवार द्वारा छेदन कर विकर्मरूप कर्मयोग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

(योगसन्न्यस्तकर्माणं.....) 'वे कौन से कर्म हैं, जिन्हें योग में स्थित होकर त्यागना है?' हाँ, वे सकाम कर्म हैं; वे स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के हैं अर्थात् सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। सकामी स्वजनों से ही सकाम कर्म की उत्पत्ति होती है, अतः वे ही स्थूल कर्म हैं। इसलिए उनसे और उनकी आज्ञारूप कर्म दोनों से अनासक्त होकर, गुरु–आज्ञानुसार योग में स्थित होकर कर्म करें, ऐसा यहाँ संकेत है। ज्ञानाग्नि जब प्रकट होती है तो ये ही स्वजन ईंधनरूप दिखाई पड़ते हैं, जिसका पूर्व के मंत्रों में संकेत किया गया है। दो प्रकार की आग है– जिससे काम, क्रोध, लोभ आदि अग्नियाँ प्रकट होती हैं, वे ही भौतिक आग हैं। स्त्री ही कामाग्नि है, जिससे काम प्रकट होता है; वैरी ही क्रोधाग्नि है, जिससे क्रोध प्रकट होता है, धन ही लोभाग्नि है, जिससे लोभ प्रकट होता है; उसीप्रकार स्वजन ही मोहाग्नि हैं, जिनसे मोह प्रकट होता है। इन्हीं अग्नियों से अनासक्त होने पर ज्ञानाग्नि प्रकट हो जाती है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण; ये सम्पूर्ण कर्म जलकर राख हो जाते हैं। आप देखते हैं कि अग्नि वहाँ जल रही है और ताप यहाँ हो रहा है। उसीप्रकार स्वजन चाहे जितनी दूर हों लेकिन काम, क्रोध एवं मोहरूपी ताप यहाँ प्रकट हो रहा है। जिसका समाधान आत्मचिन्तनरूपी तलवार से ही हो सकता है। जब–जब अज्ञानरूपी वृत्तियाँ उठें, तब–तब आप ज्ञानरूपी तलवार से उनका छेदन करते हैं। इसप्रकार वे अज्ञानमय कर्मरूपी वृत्तियाँ आपके मन, बुद्धि, चित्त को बाँधना तो दूर स्पर्श भी नहीं कर पायेंगी बल्कि आप

ही उन कर्मों को चाहें तो वश में कर सकते हैं।

यहाँ धनंजय नाम प्रभु ने आत्मजिज्ञासु के लिए भी दिया है, क्योंकि उसने सद्गुरुरूपी परम धन पर ही अधिकार कर लिया है। जिस धन से सारे के सारे धन अस्तित्ववान होते हैं, जिस परम सम्पत्ति से सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं, वही सम्पत्ति, वही धन उसके पास आ गया; इसलिए वह धनंजय कहा जाता है।

'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'– जैसे ही आप जानते हैं कि आप आत्मा हैं, वैसे ही इस ज्ञान से अज्ञानमय कर्म छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, आप सद्गुरु की भी आत्मा हैं, इसलिए कि आप शरीर नहीं हैं। यही तो कारण है कि वह आपके तन, मन, वचन पर शासन करता है अर्थात् संयम में रखता है। आत्मवन्त होकर ज्ञानयोगी तो स्वयं अपने तन, मन, वचन पर शासन करता है लेकिन निष्काम कर्मयोगी के तन, मन, वचन पर सद्गुरु ही शासन करता है अर्थात् संयम करता है। तन, मन, वचन सहित कर्मयोग में प्रतिष्ठित शरीर भी संयमित माना जाता है। उसके उपरान्त 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं'– उसे परम ज्ञान की प्राप्ति होकर परम शान्तिरूपी लाभ मिल जाता है। आप ये न भूलें कि आत्मवन्त दोनों ही हैं– ज्ञानयोगी भी और कर्मयोगी भी, इसीलिए इन दोनों को ही कर्म नहीं बाँधते। जो ज्ञानस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं, वे तो आत्मवन्त हैं ही लेकिन वे भी आत्मवन्त ही हैं जो आत्मज्ञानी गुरु के आश्रित हैं। भले ही उन्हें अभी आत्मज्ञान न हुआ हो, लेकिन वे कर्मबन्धन में नहीं पड़ सकते।

इस मंत्र के द्वारा भगवान ने ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में प्रतिष्ठित साधकों को दो अधिकार दिये हैं– पहला, वे कर्मों को त्याग सकते हैं तथा दूसरा, वे कर्मों को छिन्न–भिन्न भी कर सकते हैं अर्थात् स्थूल कर्म के उद्गम स्वरूप स्वजनों को त्याग दिये लेकिन उनको त्यागने के उपरान्त भी उनके प्रति पूर्व की आसक्ति के कारण से एकान्त में भी मोह की वृत्तियाँ प्रकट होती रहती हैं, जिन्हें आत्मचिन्तन के द्वारा वे छिन्न–भिन्न कर सकते हैं, अस्तित्त्वहीन कर सकते हैं अर्थात् मार सकते हैं। जिस भगवान ने दूसरे अध्याय में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अर्थात् कर्म करने में अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं' कहा है, उसी प्रभु ने यहाँ पर कर्म करने और फल प्राप्त करने, इन दोनों में ही वह अधिकारी है, ऐसा सिद्ध कर दिया है।

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

(बालकाण्ड)

रामचरितमानस के इस सूत्र के अनुसार प्रभु ने महात्मा अर्जुन जैसे अधिकारी के पास इस गूढ़ तत्त्व को प्रकाशित कर दिया है। वह क्या है? यही कि ज्ञानस्वरूप में स्थित हुआ साधक फल का भी सृजन कर सकता है अर्थात् संशय को छिन्न–भिन्न कर आत्मरूप में स्थित होना, फल का सृजन ही तो करना है। भगवान ने साधकों को निराश होने का कहीं से कहीं तक एक अंश भी अवसर नहीं छोड़ा है। एक बात पर उन्होंने विशेष ध्यान देने को कहा है, वह यह कि सद्गुरु को सगुण ज्ञान का पुञ्ज मान लेना, फिर उसकी अध्यक्षता में स्थित होकर स्वजनों की

अध्यक्षता का त्याग कर देना, तत्पश्चात् आत्मरूप होकर अहर्निश चित्त से उठनेवाली सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियों को, कल्पनाओं को ज्ञान के द्वारा ही छिन्न–भिन्न करते रहना। भगवान ने एक गूढ़ात्मक तत्त्व की घोषणा की है कि यदि आप सम्पूर्णता से आत्मवन्त अर्थात् आत्मरूप हो जाते हैं, फिर तो कर्म आपको बाँधेंगे ही क्यों, बल्कि स्वयं कर्म भी आपके लिए ज्ञानरूप होते जायेंगे। इसलिए–

'तस्मादज्ञानसम्भूतं' भगवान मानो कह रहे हैं– हे भारत! उठो और हृदय में स्थित संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट डालो, उसके उपरान्त युद्धरूप कर्मयोग करो। अब कुछ देर हो चुकी है लोगों को अच्छा नहीं लग रहा होगा, इसलिए उठो और गाण्डीव उठाओ तथा इन संशयात्माओं का विनाश कर दो। तुम्हें शान्ति पता नहीं कब मिलेगी लेकिन मुझे तो संतुष्टि अभी हो जायेगी।

निश्चितरूप से मुमुक्षुओं में ऐसा करने की सामर्थ्य है तभी भगवान ऐसा कह रहे हैं। ज्ञान को तो लगभग सभी ज्ञान समझ सकते हैं लेकिन कर्म को ज्ञान समझ लेना, कर्म को ज्ञानरूप में देखना, एकमात्र ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी साधक के सामर्थ्य की ही बात है। जिसप्रकार कोई मकान की ऊपरी मंजिल पर जा रहा है तो भी यह नहीं कहता कि मैं सीढ़ियों पर चढ़ रहा हूँ बल्कि वह कहता है कि मैं ऊपर जा रहा हूँ। वह सीढ़ी को छत से पृथक् नहीं देखता; उसीप्रकार मुमुक्षु भी निष्काम कर्मयोग को ज्ञान से पृथक् नहीं देखता।

(तस्मादज्ञानसम्भूतं.....) आत्मजिज्ञासुओं को यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना चाहिये कि जितने भी भावविकार हैं, उनका जन्मदाता अज्ञान ही है भगवान नहीं। तो वह अज्ञान क्या है? हाँ, मैं शरीर हूँ' यह क्षुद्रभाव ही अज्ञान है। इसी अशुद्धभावरूप अज्ञान से यह मेरा है वह तेरा है, मैं ज्ञानी हूँ वे अज्ञानी हैं या मैं अज्ञानी हूँ वे ज्ञानी हैं, वे सुखी हैं मैं दुःखी हूँ या मैं सुखी हूँ वे दुःखी हैं, मैं संत हूँ वे असंत हैं या मैं असंत हूँ वे संत हैं, मैं पुत्र हूँ ये पिता हैं या मैं पिता हूँ ये पुत्र हैं, मैं पति हूँ ये पत्नी है या मैं पत्नी हूँ ये पति हैं, मैं पुरुष हूँ यह स्त्री है या मैं स्त्री हूँ ये पुरुष हैं, मैं इनका भाई हूँ ये मेरे भाई हैं, यह मेरा मित्र है मैं इसका मित्र हूँ, ये मेरे कुटुम्बी हैं, ये पराये कुटुम्ब के हैं; मैं ब्राह्मण हूँ, ये क्षत्रिय हैं; मैं क्षत्रिय हूँ, ये वैश्य हैं; मैं वैश्य हूँ, ये शूद्र हैं; मैं शूद्र हूँ, ये कोल–भील हैं; मैं कोल–भील हूँ, ये चाण्डाल हैं; मैं चाण्डाल हूँ, ये म्लेच्छ हैं; ये मेरे वैरी हैं, मैं इनका वैरी हूँ; यह धन–सम्पत्ति मेरी है और वह धन सम्पत्ति उनकी है, मैं खाता–पीता, सोता–जागता हूँ और ये (संत) तो खाते–पीते, सोते–जागते हुए भी कहते हैं कि मैं कुछ भी नहीं करता, यह कैसे हो सकता है? मैंने जन्म लिया, अब जवान हूँ, बूढ़ा हूँ और कुछ ही दिनों, महीनों, वर्षों में मर जाऊँगा; यह मृत्युलोक है और अब मैं स्वर्ग या नरक में जाऊँगा या भगवान जहाँ ले जाएँ वहाँ जाऊँगा; मैं जी रहा हूँ ये मर रहे हैं, मैं भला हूँ ये बुरे हैं, मैं बुरा हूँ ये भले हैं, ये गरीब हैं मैं अमीर हूँ, मैं अमीर हूँ ये गरीब हैं, मैं बुद्धिमान हूँ, ये मूर्ख हैं, मैं मूर्ख हूँ ये बुद्धिमान हैं, ये मेरे गुरु हैं लिखाये हैं पढ़ाये हैं इनका उपकार मेरे पर है अतः इनका ऋण

उतारूँगा; मैंने इनका उपकार किया है लेकिन ये तो अपकार ही कर रहे हैं; मैंने कौन सा पाप किया कि मैंने जिस–जिस का भला किया, वे सब मेरा बुरा कर रहे हैं; मेरे साथ ही ऐसा क्यों हो रहा है; मैं कुछ बुराई नहीं कर रहा हूँ लेकिन सब संकट मेरे पर ही हैं; ये तो चोरी, चमारी, बदमाशी करते रहते हैं लेकिन तब भी बहुत फल–फूल रहे हैं– इसप्रकार क्षुद्र अहंकार एवं शोक, संताप तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं संशय–भ्रम होते रहते हैं। इसी क्षुद्र अहंकार से यह सात्त्विक वासना प्रकट होती रहती है कि मैं जीव हूँ, कभी न कभी ब्रह्म को प्राप्त करूँगा; मैं भक्त हूँ, कभी न कभी भगवान को प्राप्त करूँगा, मैं घोर, जप, तप, योग करके ब्रह्म को प्राप्त करके मानूँगा।

प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा शुभ–अशुभ दोनों ही वासनाओं से अनासक्त होने को कहा है। यदि सद्गुरु ने आपसे 'तत्त्वमसि' कह दिया, 'सर्वाहमस्मि' कह दिया, 'अहं ब्रह्मास्मि' कह दिया तो इसी 'अहं ब्रह्मास्मिरूप' अनुभूतिमय ज्ञान से दोनों ही वासनाओं से प्रभु ने अनासक्त होने को कहा है। दूसरे अध्याय में इसी बात को प्रभु ने पैंतालिसवें मंत्र में कहा है– 'त्रैगुण्यविषया वेदा. .....'– हे पार्थ! तुम आत्मस्वरूप में स्थित होकर राजस, तामस एवं सात्त्विक इन तीनों ही प्रकार की वासनाओं को त्याग दो। 'मैं शरीर हूँ'– इस क्षुद्र भावरूप अज्ञान को 'मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ', मुझ आत्मा के संकल्प से ही यह सारा दृश्यवर्ग प्रकट हुआ है', इस ज्ञानरूपी तलवार से छिन्न–भिन्न कर दो। इस न्याय से साधक को विचार करना चाहिये कि जिस अज्ञान से स्वजनरूप वासनाओं को मैंने स्वीकार किया है, उसे मैं आत्मरूप होकर अब सर्वथा त्याग करता हूँ। अब वासना को वासनारूप में ही देखूँगा, न कि स्वजनरूप में। जिसप्रकार छाया कभी छाहीं (शरीर) नहीं बन सकती उसीप्रकार आत्मा की वासना कभी आत्मा नहीं बन सकती।

आप यदि ज्ञानरूप तलवार उठा लें तो आपको स्वजनरूप वासना से अनासक्त होने में कोई विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा। पूर्व में भी बहुत से महापुरुषों ने अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर स्वजनरूपी वासनाओं का त्याग किया है। राजर्षि उग्रसेन ने देखा कि यह कंस मेरा पुत्र नहीं बल्कि अशुद्ध (तामस) वासना ही है अवश्य ही प्रमादवश मेरा इसकी माँ से सन्ध्या में सम्बन्ध हो गया था, जिसका परिणाम है कि यह असुर ही मेरे पुत्र के रूप में आ गया है। अतः उन्होंने कंस को उसके राज्य माँगने पर भी नहीं दिया था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यह राजसिंहासन ब्रह्मसम्पत्ति है, जिसका अधिकारी कोई ब्रह्मपुत्र अर्थात् भगवद्भक्त ही होगा। उसकी खोज भले ही मुझे अपनी प्रजा में ही करनी पड़े, प्रजा में से ही किसी धर्मात्मा बालक को लेकर राजतिलक करना पड़े लेकिन तुम्हारे जैसे जघन्य अपराधी, ब्रह्महत्यारे, असुर को मैं राज्य नहीं दे सकता। यद्यपि कुपित होकर दुरात्मा कंस ने अपने धर्मात्मा पिता को युद्ध के लिए ललकार दिया तो भी उस पिता ने उससे धर्मयुद्ध किया, भले ही पुत्र के द्वारा बन्दी बना लिया गया। उसने यह सब स्वीकार किया लेकिन अपने हाथों उसे राज्य नहीं दिया।

गोपियों ने एकबार एकस्वर से भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से कहा था कि हे प्रभु! हमें पति का परित्याग कर आपके साथ चलने में किञ्चित् मात्र भी दोष नहीं लगेगा; क्योंकि हमने

अज्ञानावस्था में इन्हें पति माना एवं जाना था। चूँकि अब आप पतियों के भी पति अर्थात् परम पति मिल गये तो अज्ञानावस्था के पाणिग्रहण को ज्ञानावस्था में अस्वीकार करना पाप नहीं बल्कि महत् पुण्य कहा जायेगा।

ठीक इसीप्रकार विचारकुशल साधक चिन्तन करें कि अबतक इस शरीर को हम अपना समझते थे जबकि यह ब्रह्म की सम्पत्ति है; जिसे हमने अज्ञानावस्था में स्वीकार किये हुए स्वजनों को ही दान कर दिया था। अब जब समझ गये कि स्वजन तो एकमात्र सद्गुरु ही है, भगवान ही है तो आज से इन स्वजनरूपी वासनाओं का त्यागकर इस शरीर को भगवान को ही दान करते हैं अर्थात् इससे अनासक्त होकर सद्गुरु की आज्ञानुसार ही तन, मन, वचन से कर्म करते हैं।

इसप्रकार ज्ञान में स्थित होकर निवृत्तिमार्गीय साधक, स्वजन एवं कर्मरूपी वासना का सर्वथा त्याग कर सदा–सर्वदा के लिए परिव्राजक होकर भगवान शुकदेव जैसा ज्ञान समाधि लगा लेता है या राजा जनक की तरह देह, गेह, स्वजन, राज्य एवं प्रजा से अनासक्त होकर गुरु–आज्ञानुसार शरीर, वाणी एवं मन के द्वारा कर्मयोग करता है।

(तस्मादज्ञानसम्भूतं.....) आप सब पूछते हैं कि ज्ञानरूपी तलवार क्या है? आत्मचिंतनरूपी शस्त्र क्या है? तो पुनः इसपर ध्यान दें। आत्मजिज्ञासु आसन लगाकर बैठ जाते हैं या खड़े हो जाते हैं या शरीर की सामर्थ्य के अनुसार उन्हें जैसी सुविधा होती है वैसे ही इसप्रकार चिन्तन प्रारम्भ करते हैं– अहो! आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है!!! यह क्या हो गया? आज तो गुरुदेव ने बता दिया कि तुम शरीर हो ही नहीं, तुम किसी के पुत्र हो ही नहीं, तुम किसी के पुत्र या पिता हो ही नहीं, तुम्हारा कोई स्वजन है ही नहीं और न ही कोई घर–गाँव, देश–परदेश है। अरे! अबतक मैं समझता था कि मेरा नाम अमुक है, मेरे अमुक भाई–बहन हैं; मेरे अमुक पिता हैं, मेरी अमुक माँ है, मेरा अमुक गाँव है, लेकिन आज गुरुदेव ने कहा कि ना, ना, ना, ना; न तुम शरीर हो, न तुम्हारा कोई शरीर है, बल्कि तुम तो शरीरसहित सम्पूर्ण दृश्य के द्रष्टा हो। स्पष्ट करके गुरुदेव ने दिखा भी दिया कि भूख तो तुम ला ही नहीं सकते, प्यास को तो तुम ला ही नहीं सकते; भूख आती है तुम देखते रह जाते हो, प्यास आती है तुम देखते रह जाते हो, विचार आते हैं तुम देखते हो, नींद आती है तुम देखते हो, जाग्रदवस्था आती है तुम देखते हो; तो तुमने किया ही क्या? इसके पूर्व भी तुमने देखा, आज भी तुम देख रहे हो; इसलिए तुम एकमात्र शुद्ध द्रष्टा हो।' अच्छा, अच्छा, अच्छा! इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि मैं द्रष्टा हूँ, फिर तो जिसको मैं माता–पिता समझता था, वे भी कर्ता कैसे हो सकते हैं? मुझमें भेदबुद्धि थी, मूढ़ बुद्धि थी; उसी के द्वारा मैं सोचता था कि उन्होंने जन्माया, लालन, पालन, पोषण किया। कहाँ जन्माया? कहाँ पालन–पोषण किया? शरीर का जन्म हुआ, मेरा तो जन्म हुआ नहीं। एक बीज से दूसरा बीज प्रकट होता है, यह प्रकृति का नियम है; एक पेड़ दूसरे पेड़ को जन्माते समय यह नहीं कहता कि मैंने तुझे जन्माया, एक औषधि दूसरी औषधि को जन्माती है, लेकिन यह नहीं कहती कि मैं तुझे जन्माती हूँ; एक मछली दूसरी मछली को, एक पशु दूसरे पशु को, एक पक्षी

दूसरे पक्षी को अर्थात् मनुष्य को छोड़कर सभी एक–दूसरे को जन्म दे रहे हैं, लेकिन वे यह नहीं कहते कि हमने तुम्हें जन्माया है। जैसे वे बड़े होते हैं, वैसे ही आगे बढ़ जाते हैं। चलो! इनकी तो तामस सृष्टि है, आगे–पीछे की कुछ भी नहीं सोच पाते; आखिर ये सोचें भी क्यों? क्योंकि यहाँ कोई उपकार की तो बात ही नहीं है, एकमात्र मेरा ही पूरा समय उपकार–उपकार, 'उपकार उन्होंने किया, इन्होंने किया, मैं ऋण से बँधा हुआ हूँ, उनके प्रति मेरा कर्तव्य बनता है कि मैं भी कुछ करूँ; इसी सोच में बीता चला जा रहा था। अरे! मैं द्रष्टा हूँ तो वे भी द्रष्टा हैं, फिर उपकार की बात कहाँ आती है? यदि माता–पिता, गुरु, भाई–बान्धव आदि की ही परिभाषा देखी जाय तो जिसमें भगवत् मातृता होती है, उसे माँ कहते हैं, जैसे माँ मदालसा, माँ सुनीति, माँ देवहूति आदि; जिन्होंने अपने भगवद्भक्त पुत्रों को ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि की शिक्षा–दीक्षा देकर संन्यासी बना दिया। वैसे ही ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, अत्रि, जमदग्नि एवं वेदव्यास आदि ने अपने सभी पुत्रों को ब्रह्म के लिए ही जीने की प्रेरणा देकर संन्यासी बना दिया था। इसीप्रकार अन्य स्वजनों के विषय में भी विचार कर लेना चाहिये। विषयी माता–पिता, भाई–बान्धवों को तो माता–पिता आदि कहा ही नहीं गया है। अरे! ना, ना, ना, ना, आज से मैं जिन्हें माता–पिता, भाई–बान्धव मानता था, उन्हें माता–पिता आदि नहीं मानूँगा। जब मैं ही शरीर नहीं हूँ तो वे सब मेरे माता–पिता या स्वजन कैसे हो सकते हैं? वासना से वासना प्रकट होती है। जिसप्रकार अग्नि से ताप, जल से शीतलता प्रकट होती है, उसीप्रकार इनलोगों से विषय ही प्रकट हो रहा है। ताप प्रकट होते हुए अग्निपुञ्ज को अग्नि कहते हैं, उसीप्रकार विषय प्रकट होते हुए विषयी शरीर को विषयी कहते हैं। अहो! आज यह कैसा आश्चर्य देख रहा हूँ कि स्वजनों से एवं जगत के लोगों से विषय बह रहा है और सद्गुरु से निर्विषयता बह रही है। अतः निश्चितरूप से यदि कहना ही है तो माँ तो गुरुदेव ही हैं, पिता तो गुरुदेव ही हैं, गुरु तो ये हैं ही किन्तु भाई–बान्धव, स्वजन भी यही हैं, जिन्होंने मेरे स्वरूप का मुझे दर्शन कराया है। अब अपने आत्मस्वरूप में होकर बाहर के कर्म एवं भावविकारों को बाहर ही छोड़ दूँगा। गुरुदेव ने कह दिया है कि तुम्हारा अपना कोई घर–गाँव नहीं है, अतः आज से उस गाँव को अपना गाँव नहीं मानूँगा, उस जिले को अपना जिला नहीं मानूँगा, उस देश को अपना देश नहीं मानूँगा। नहीं, नहीं, आज से मेरा गुरु ही गाँव होता है, गुरु देश है, गुरु घर है, सम्पूर्ण नाते मेरे गुरुदेव से ही हैं। मैं उन्हीं के चरणों में सारी की सारी दुर्भावनाओं को, सारे के सारे स्थूल कर्मविपाकों को, सारी की सारी काम, क्रोध आदि वृत्तियों को, समर्पित करता हूँ। वे मेरे विषय–विकार को ले लें और बल दें ताकि अब मैं ज्ञानमय चिन्तन कर सकूँ।

अहो! यह कैसा आश्चर्य है! यह कैसा आश्चर्य है कि अब के पूर्व मुझे कुछ का कुछ दिखाई पड़ रहा था। यहाँ तक कि मुझे यह शरीर ही अपना रूप दिखाई पड़ रहा था! लेकिन अब तो स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है कि यह शरीर अलग है और मैं अलग हूँ, हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा तथा प्राण एवं विचार आदि सब दिखाई पड़ रहे हैं और मैं देख रहा हूँ– चमड़े के भीतर रक्त है, रक्त के भीतर वीर्य है, वीर्य के भीतर मज्जा है, मज्जा के भीतर हड्डी है और इन सब के भीतर प्राण है; तो वह मन कहाँ है, जिसने अबतक दिनोंरात उत्पात मचा रखा था!

अच्छा तो अब मैं मन की ही खोज कर रहा हूँ, इस शरीर में कि वह कहाँ है– पैर के अँगूठे, अंगुलियों में तो मन दिखाई नहीं पड़ रहा है, तलवे में मन है नहीं, जानु में, जाँघों में, घुटने में तो मन है नहीं, शिश्न, गुदा, कमर, पेट एवं नाभि में तो मन दिखाई नहीं पड़ रहा है, छाती में, गर्दन में, होठों में ठुड्डी में, मुख में, वाणी में, कानों में, आँखों में, नाकों में, ललाट में, सिर में भी मन दिखाई नहीं पड़ रहा है। अरे! ये विचार कहाँ चले गये, जो पलभर के लिए भी रुकते नहीं थे, वे अब खोजने से भी दिखाई नहीं पड़ रहे हैं और न ही अबतक इन अंगों में मन ही दिखाई पड़ा। मन चमड़े से प्रकट नहीं हो रहा है, रक्त से, मांस से एवं वीर्य से भी प्रकट नहीं हो रहा है। जिस मन से बड़ा परेशान था मैं, अब मैं उस मन को ही देखूँगा, जो मेरा पीछा कर रहा था अब मैं उसी का पीछा करूँगा। पहले मैं उसी का उद्‌गम देखूँगा। तो देखता हूँ श्वासों में मन को (एक मिनट श्वासों को देखना); अरे! यह तो केवल श्वास है आ रही है, जा रही, केवल आरोह–अवरोह हो रहा है, अतः मन यहाँ भी नहीं है। तो फिर! अच्छा तो अब मैं भीतर चलता हूँ, बुद्धि की खोज करता हूँ, मन तो मिला नहीं! जिस बुद्धि ने यह निर्णय किया था कि यह शरीर है, यह संसार है, वह बुद्धि कहाँ है? (एक दो मिनट सम शान्त होकर बुद्धि के आने की प्रतीक्षा करना) अरे! यह कैसा नाटक है, वह बुद्धि कहाँ चली गयी, जिसने यह निर्णय किया था कि 'यह संसार है! अच्छा, अच्छा, अच्छा तो मैंने ही अज्ञान में निर्णय किया था कि यह संसार है, मैं शरीर हूँ, ये मेरे भाई–बान्धव, बाल–बच्चे हैं, यह मेरा गाँव है?' अब मैं ही ज्ञान में स्थित होकर कहता हूँ कि न यह संसार है, न मैं शरीर हूँ, बल्कि मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा की यह सब वासना है। यही नहीं, मैं गुरुदेव की ज्ञानदृष्टि से स्पष्ट देख रहा हूँ कि न वह क्षुद्र अहंकार ही है, न वह चित्त ही है, जिसमें कि नानाप्रकार की आकृतियाँ, वृत्तियाँ छिपी रहती हैं। सुना है मैंने कि एक अज्ञान का कोश है, जिसमें नानाप्रकार के राजस, तामस एवं सात्त्विक विचार भरे रहते हैं। अब मैं उन विचारों की भी खोज करता हूँ। (दो–तीन मिनट विचारों की सम शान्त होकर प्रतीक्षा करना) अरे! बात क्या है, कहीं ऐसा तो नहीं है कि विचार ही मन हैं, क्योंकि जब मैं उनकी खोज कर रहा हूँ उन विचारों पर चिन्तन कर रहा हूँ तो विचार आ ही नहीं रहे हैं? इस समय मैंने शरीर को छोड़ दिया है, किसी भी दृश्य को नहीं देख रहा हूँ। ओह! यह क्या! अबतक तो मैं समझता था कि मैं शरीर हूँ लेकिन यह क्या दिखाई पड़ रहा है? अब तो इस शरीरसहित पूरा ब्रह्माण्ड ही मेरी अनुभूति में आ रहा है। तो ठीक है, अब मैं कुछ देर इसी अवस्था में अपने–आपको स्थित करता हूँ। (पाँच–छः मिनट बाद में सहसा मित्र की याद आना) अच्छा, अच्छा, अच्छा, तो तुम आ गये, तो तुम्हीं विचार हो, तुम्हीं मन हो, तुम्हीं बुद्धि हो, तुम्हीं मेरे मित्र हो? नहीं, नहीं, नहीं, हट जाओ यहाँ से! नव दरवाजोंवाले पुर (शरीर) को अब मैं शरीर नहीं मानूँगा। स्वयं तुम तो द्रष्टा हो और द्रष्टा को तो मित्र मानने की बात ही नहीं आती तथा शरीर तो जड़ ही है, यह तो मित्र हो ही नहीं सकता। रही बात भीतर की अज्ञानरूप वासना की तो वह तो कभी, किसी भी काल में मित्र हो ही नहीं सकती। तुझ द्रष्टा और मुझ द्रष्टा में कोई अन्तर है ही नहीं। तुम भी इस समय कर्ता नहीं हो और मैं भी कर्ता नहीं हूँ। तुम्हारे भीतर से वासना ही मुझे शरीर के माध्यम से मित्र समझती है, अतः आज से उसके भाव–विकारों को

मैं त्यागता हूँ। बहुतबार मैंने सुना था मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के विषय में, माया के विषय में लेकिन आज स्पष्ट हो गया कि अज्ञान ही मन है, बुद्धि है, चित्त है, अहंकार है। इसप्रकार मान्यता का नाम ही मन है, मान्यता का नाम ही बुद्धि है, मान्यता का नाम ही चित्त और अहंकार आदि है। अब तो मुझे स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है कि विचारों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) का केन्द्र (उद्‌गम) माँ भाव ही है, पिता भाव ही है, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे, हित–मित्र, वैरी, घर–गाँव, जाति कुल–परिवाररूप भाव ही हैं। अतः आज से इन सम्पूर्ण भाव–विकारों का मैं त्याग करता हूँ, त्याग करता हूँ, त्याग करता हूँ।

इसप्रकार ज्ञानमय चिन्तन करते हुए पाँच–दस मिनट के लिए सम शान्त होकर आप शुद्ध–साक्षीरूप हो जाएँ तथा जब–जब भाव–विकारों की याद आये अर्थात् स्वजन, कुल, परिवार आदि याद आयें, तब–तब ज्ञानरूपी तलवार से उनका छेदन कर दें। 'कैसे? वैसे जैसे बिल में साँप हो और आपके पास सामर्थ्य नहीं है उसे मारने की तो आप क्या करेंगे? अपने से बलवान को बुलायेंगे और उसके हाथ में लाठी दे देंगे तथा उसे बिल के पास खड़ा कर देंगे, उसके उपरान्त आप बिल में जल डालेंगे, झटके से जल डालकर आप दूर किनारे खड़े हो जायेंगे, जल से घबराकर साँप बाहर आयेगा और आपका साथी उसे मार डालेगा। ठीक उसीप्रकार आप वैराग्यमय चिन्तनरूपी जल को चित्त में डालें, त्यागरूपी जल को चित्त में डालें, फिर दस–पाँच मिनट के लिए साक्षीरूप हो जाएँ उसके उपरान्त अज्ञानरूपी साँप, संशय, शोक, मोह, विक्षिप्ततारूपी साँप निकलकर आक्रमण करता हुआ दिखाई पड़ेगा। उस अवस्था में मैं सम शान्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ, साक्षी आत्मा हूँ, इस परम ज्ञानरूपी तलवार से उनका छेदन कर दें अर्थात् उन्हें त्याग दें, उन्हें नकार दें।

अब युद्ध के मैदान में देखते हैं कि भगवान महात्मा अर्जुन के साथ क्या क्रीड़ा कर रहे हैं–

मानो भगवान कह रहे हैं– 'उठो पार्थ, उठो! मैं समझता हूँ कि तुम्हारा शोक–सन्ताप अब दूर हो गया होगा। गाण्डीव को उठाओ और आग्नेयास्त्र से इस सारे ईंधन में आग लगा दो। ठण्ड लग रही है, मुझे भरपेट ताप लेने दो। तुम्हारी ठण्ड तो राज्य मिलने पर जायेगी लेकिन मेरी ठण्ड तो युद्ध प्रारम्भ होते ही, आज ही चली जायेगी। अरे! ये क्या, अभी तुम्हारा चित्त स्वस्थ नहीं हुआ! ऐसा कहकर प्रभु ने एकबार फिर अर्जुन की तरफ घोर दृष्टिपात किया।

संजय के आश्चर्यचकित होते ही धृतराष्ट्र ने पूछा– क्या हुआ संजय? सहसा बोलना क्यों बन्द कर दिये? कुछ आश्चर्य सा देख रहे हो क्या?

हाँ राजन्! प्रभु ने महात्मा अर्जुन से सबकुछ कह दिया है। वे ऐसा समझ रहे हैं कि निश्चितरूप से अब अर्जुन का शोक, मोह, भ्रम सब दूर हो गया होगा। अतः इसी आशा और विश्वास से भरकर 'उठो पार्थ उठो! जल्दी करो!' ऐसा भगवान कह रहे हैं। संजय ने कहा।

और अर्जुन? धृतराष्ट्र ने पूछा।

कुछ चेतना आयी है महाराज! कुछ आँखों में प्रकाश सा आ गया है। संजय ने कहा।

अयँ! आँखों में प्रकाश आ गया है? तो क्या प्रबुद्धता भी आ गयी है! धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– प्रबुद्धता पूरी तरह से तो आयी हुई नहीं लग रही है राजन्! यही नहीं, लगता है कुछ प्रश्न करने को उद्यत हो रहे हैं, इनकी मुद्रा से तो यही प्रतीत हो रहा है।

अब पुनः प्रश्न करेंगे? धृतराष्ट्र ने चकित होकर कहा। संजय! आज जो माधव ने ज्ञान दिया है, उस ज्ञान को तो सुनकर मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।

तो क्या कहते हैं राजन्? संजय ने पूछा।

कह तो कुछ नहीं पा रहा हूँ संजय! बस कृतकृत्य हो गया हूँ। धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया।

संजय ने कहा– तो चलें, आज नहीं कल, कभी न कभी तो सम्पूर्णता से कृतकृत्य हो ही जायेंगे आप!

लेकिन एक बात तो अवश्य है संजय! आज माधव ने जो भी कुछ कहा, वह एक चमत्कार है, अद्भुत योग है! इतना सुनने के बाद मुमुक्षु के पास तो किसीप्रकार का शोक–सन्ताप रहेगा ही नहीं, उसे तो समाधि लग जायेगी संजय! धृतराष्ट्र ने कौतूहलवश कहा।

संजय ने कहा– हाँ राजन्! पुत्र में आसक्त चित्तवाले आप ही केवल समाधिस्थ नहीं हो पा रहे हैं, अन्यथा जिन–जिन लोगों ने इस दिव्य संवाद को सुना है, वे हतप्रभ से हो गये हैं। आकाशचारी सिद्धों में बहुतों को समाधि लग गयी है, बहुत से लोग स्तम्भित से हो गये हैं। एक अद्भुत चमत्कार दीख रहा है, राजन्।

क्या संजय? धृतराष्ट्र ने आश्चर्यचकित हो पूछा (सेना में कुछ खलबली तो नहीं मची?)।

संजय ने कहा– आप खलबली मचने की बात कर रहे हैं राजन्! इतनी भारी भीड़ है, अठारह अक्षौहिणी सेना है, पर यदि आकाश से एक सूई भी गिरे सेना के मध्य भाग में तो शब्द हो जायेगा और सबको सुनाई पड़ जायेगा। भगवान नारायण ने मानो सबको स्तम्भित कर दिया है राजन्! सारे अश्वारोहियों को, गजारोहियों को, सारे रथी–महारथियों को, जड़ता सी आ गयी है। कभी–कभी प्रभु कृपा कर देते हैं तो उनका यह दिव्य संवादरूप परम ज्ञान सबके कानों में चला जाता है और कभी–कभी समेट लेते हैं अपनी योगमाया से तो बस महात्मा अर्जुन ही सुनते रह जाते हैं। कभी–कभी भीष्मपितामह को भी नहीं सुनने देते हैं। इसलिए कि कहीं उन्हें अतिग्लानि न हो जाय। प्रभु जब इनकी अवहेलना करते हैं अर्जुन से तो फिर वहाँ पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि नहीं सुन पाते हैं, केवल अर्जुनसहित चार पाण्डव ही सुनते हैं। इतना ही नहीं, कभी–कभार तो जो उत्साहित करनेवाले वाक्य हैं, उसे एकमात्र पाण्डवों की सेना सुनती है और जब पाण्डवों के विजेता होने का संकेत करते हैं कि 'ये सारे के सारे ईंधन हैं, जल्दी आग लगा दो, तापने दो मेरे को उस समय तो सारी सेना सुनती है तथा सुनकर काँप जाती है।

गम्भीर मुद्रा के साथ धृतराष्ट्र ने कहा– चलो, चलो; तुम ठीक कह रहे हो, अब आगे बढ़ो! मेरा अनुज पुत्र अर्जुन अगला प्रश्न क्या कर रहा है, सुनकर मुझे सुनाओ!

चौथा अध्याय यहीं पर विराम दिया जाता है।

जिस साक्षात् नारायण ने इस दिव्य अमृतमय वाणी की प्रस्तावना की है, मुमुक्षुओं एवं जिज्ञासुओं के पास; उसी अन्तर्यामी के लिए आज आप सब के सामने महाराज के द्वारा भी इस प्रस्तावना को समर्पित किया जाता है।

इस चौथे अध्याय को महाराज ने तोड़ी राग में पद के रूप में गाया है, जिसे आप भी गायें–

हे अर्जुन हौं भक्तन्ह रखवारो।।
असुर समूह सतावहिं जब जब, तब तब आई उद्धारौं।
युग युग यह क्रम सब भक्तन्ह हित, दिव्य दिव्य अवतारो।।
हे अर्जुन हौं.....

जप तप योग यज्ञ को साधन, शास्त्रन्ह बहुत उजियारो।
तिन्ह महँ ज्ञानयज्ञ की महिमा, सबसों श्रेष्ठ उचारो।।
हे अर्जुन हौं.....

परमज्ञान सद्गुरु मुख बरसत, पीवत शिष्य हजारो।
ज्ञान अगिनि महँ कर्म शुभाशुभ, इन्धन सों सब वारो।।
हे अर्जुन हौं.....

तत्पर रहत करत चित्त संयम, श्रद्धावान हमारो।
महाराज प्रभु की यह कथनी, सिर माथें सों धारो।।
हे अर्जुन हौं.....

ॐ मासपारायण, दसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, पाँचवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गतब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

यद्यपि अब कुछ बोलने को नहीं रह गया भगवान के पास, क्योंकि प्रभु ने भक्त अर्जुन को स्पष्ट आज्ञा दे दी है कि ज्ञानरूपी तलवार से मोहरूपी अज्ञान का छेदनकर तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ लेकिन चुप्पी साधे हुए भक्त अर्जुन की ओर वे ऐसे देख रहे हैं जैसे मानो वे पूछ रहे हों कि 'तुम मौन क्यों हो?' प्रभु ने अपनी दृष्टि से महात्मा अर्जुन को छेड़ा, उधर महात्मा अर्जुन को समझते देर न लगी कि 'मेरी चुप्पी इन्हें खल रही है, ये जानना चाहते हैं कि मैं गाण्डीव उठाने में देर क्यों कर रहा हूँ।' तो ठीक है इसका उत्तर दूँगा, पहले मैं पुनः इनसे कर्म एवं संन्यास की कनिष्ठता एवं श्रेष्ठता के विषय में भलीभाँति जान लूँ। यद्यपि महात्मा अर्जुन की उत्सुकता तो प्रश्न करने की थी ही नहीं बल्कि पलायन की थी, भागने की थी। वे सोच रहे थे कि कोई बहाना मिले और मैं भाग जाऊँ, कोई बहाना मिले और मैं संन्यासी बन जाऊँ, कोई बहाना मिले और मैं भिक्षुक बन जाऊँ। उनकी चेतना ज्ञानमय नहीं हो पा रही है और न कर्ममय ही तथा न योगमय ही हो पा रही है लेकिन भगवान को मौन प्रश्न का तो उत्तर देना ही है न! अतः उन्होंने वैसा ही प्रश्न कर दिया जैसा दो–चार मिनट पहले (तीसरे अध्याय में) किया था–

अर्जुन उवाच

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

हे कृष्ण! यदि आपके मतानुसार ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो फिर मुझे इस वीभत्स (डरावने) कर्म में क्यों लगाते हैं? 'कर्म' और 'ज्ञान' इन दोनों में से किसी एक को जो मेरे लिए कल्याणकारक हो उसे क्यों नहीं कहते? नहीं, नहीं, आप ऐसा न करें बल्कि ठोस निर्णय करके मुझे आज्ञा दें कि मैं क्या करूँ?

मानो महात्मा अर्जुन कह रहे हों कि हे प्रभु! अबतक जो भी कुछ आपने कहा है, उससे तो स्पष्ट झलक रहा है कि ज्ञान ही श्रेष्ठ है। हाँ, कभी–कभार कर्मयोग की श्रेष्ठता की भी झलक मिल जाती है, थोड़ा–मोड़ा ऐसा भी लग जा रहा है कि निष्काम कर्मयोग भी कल्याणकारक है। मिश्रित बातें करते हैं आप, मेरे जैसे घायल बुद्धिवाले के पास तो इसप्रकार की मिली–जुली बात आपको नहीं ही करनी चाहिये। मैंने आपको समर्पित कर दिया है अपने–आप को, फिर आप मिले हुए से वचनों को क्यों कहते हैं? कभी तो आप ज्ञान की प्रशंसा

के पुल बाँध देते हैं और कभी कर्मयोग की प्रशंसा करने लग जाते हैं, तो ऐसा आप क्यों कर रहे हैं, आपका प्रयोजन क्या है? गाय माता दूध देती है और कुशल मातायें उस दूध को पकाकर उसमें जामन डालकर दही, मक्खन, छाछ एवं घी को अलग–अलग कर लेती हैं, कुछ छेना भी फाड़ लेती हैं; बहुत से रूप उसमें छिपे हुए हैं। अतः वे उन्हें पृथक्–पृथक् कर लेती हैं तथा जो जिस पदार्थ का अधिकारी होता है, उसे वही पदार्थ दे देती हैं लेकिन हे माधव! मेरी बुद्धि ऐसी तो है नहीं, बल्कि इस समय अति आहत है, चित्त अति घायल है। अतः मेरे जैसे को तो आपको पृथक्–पृथक् करके ही समझाना चाहिये और पृथक्–पृथक् कर आपको स्पष्ट कहना चाहिये कि तुम्हारे लिए तो यही श्रेष्ठ है– कर्मयोग या संन्यासयोग, ताकि मैं साहस के साथ आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँ। माना कि अबतक मैंने आपकी आज्ञापालन करने की उत्सुकता नहीं जतायी है, परन्तु अब लग रहा है कि आपकी आज्ञापालन कर सकता हूँ, अतः आप छिपायें नहीं स्पष्ट आज्ञा करें।

धृतराष्ट्र की भी उत्सुकता बढ़ गयी है, यह जानने की, कि मौन हुए अर्जुन ने मधुसूदन को संतुष्ट किया या नहीं। इसी बात को संजय से पूछ दिया कि संजय! जो मेरे अर्जुन की चुप्पी सधी हुई थी, क्या वह खुल गयी?

संजय ने कहा– हाँ राजन्! हाँ! अभी दो–चार मिनट पहले जो उन्होंने प्रश्न किया था और जो प्रश्न अभी कर रहे हैं, इन दोनों ही प्रश्नों में हदतक समानता है, लेकिन इस प्रश्न से ऐसी ध्वनि निकल रही है कि अब वे भगवान नारायण की आज्ञापालन करेंगे। इसके पूर्व तो पाण्डुनन्दन अर्जुन ने कहा था कि हे गोविन्द! मुझे युद्ध करने की आज्ञा मत देना किन्तु अब वे कह रहे हैं कि दोनों में से मेरे लिए जो कल्याणकारी मार्ग हो वहीं बतायें, जिससे मैं आपकी आज्ञापालन कर सकूँ।

ऐसा सुनते ही हाथ मींजते हुए मन ही मन आहें भरते हुए धृतराष्ट्र को यह समझते देर न लगी कि ये मधुसूदन निश्चितरूप से युद्ध कराना ही चाहते हैं, अतः वे कर्मयोग की ही आज्ञा करेंगे लेकिन देखें– जीव को मोहित करता हुआ राम रोता है, जीव को मोहित करता हुआ राम वनप्रदेश को चल देता है, जीव को मोहित करता हुआ राम भगवती सीता को वनवास दे देता है, जीव को मोहित करता हुआ राम अग्निपरीक्षा की दुहाई देता है। यद्यपि वह प्रभु है, साक्षात् नारायण है परन्तु, जीव को मोहित करता रहता है। मानो वह कहता है कि मोह में आसक्त हुए चित्तवाले के पास सहसा ज्ञान की बातें मत करना– 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् (गीता अ० ३, २६)।'

जो कर्म में आसक्त हैं उनके पास सर्वप्रथम निष्काम कर्मयोग की प्रस्तावना करना और जब वे कर्मयोग में भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाएँ तब ज्ञान की बातें करना। यद्यपि गायमाता ब्रह्मविद्या को ही देनेवाली है तो भी दूध ही देती है; ऐसा नहीं है कि वह दूध की जगह घी नहीं दे सकती, दही, छाछ या मक्खन नहीं दे सकती, बल्कि वह तो पृथक्–पृथक् करके भी सबकुछ दे सकती है फिर भी ऐसा क्यों नहीं करती? इसलिए कि किसी के लिए दूध ग्राह्य है, किसी के

लिए दही, किसी के लिए छाछ तो किसी के लिए मक्खन और किसी के लिए घी ग्राह्य है। जो वातरोग से पीड़ित हैं उनके लिए दही, छाछ अनुकूल होता है, जो पित्तरोग से पीड़ित हैं उनके लिए दूध और घी अनुकूल है, जो कफरोग से पीड़ित हैं उनके लिए छेना अनुकूल पड़ता है तथा जो मल्लविद्या (पहलवानी) के जानकार हैं तथा कठिन श्रम करनेवाले हैं, उनके लिए तो समयानुसार ये सबकुछ ग्राह्य है; ब्रह्मविद्या को चाहनेवाले भक्तों एवं साधकों को दूध एवं घी दोनों ही ग्राह्य हैं, इसलिए प्रभु ने ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से मिश्रित ब्रह्मविद्या को देना प्रारम्भ किया है। यह बात अलग है कि भक्त अर्जुन समयानुसार ज्ञान एवं कर्म का विभाजन नहीं कर पा रहे हैं। यद्यपि भगवान आगे चलकर उनकी प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर यह भी बता देंगे कि उनके लिए कौन श्रेष्ठ है। भक्त अर्जुन को तो यह भी लग रहा है कि ये कृष्ण ज्ञान और कर्म से मिश्रित बात करके मुझे भुलावे में रखना चाह रहे हैं, परन्तु मैं इनके भुलावे में आनेवाला नहीं हूँ; इनसे स्पष्ट कराके मानूँगा कि मेरे जैसे साधक के लिए इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है।

महाराज अब साधकों के बीच आता है, जहाँ वे प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि महाराज कबतक युद्ध के मैदान में रहेंगे, यहाँ युद्ध तो हो नहीं रहा है, उन्हें तो हमलोगों से ही बात करनी चाहिये; किन्तु महाराज तो ऐसा है कि

युद्ध की कहानी से महाराज बोलता है।
इस युद्ध की कहानी से सब पोल खोलता है।।

आप और अर्जुन में भेद देखता नहीं,
घेरे हुए है युद्ध वही आपको है हर कहीं।
वह कृष्ण ही है आप से हर श्वास बोलता है,
इस युद्ध की कहानी से सब पोल खोलता है।।

धृतराष्ट्र है अज्ञान मोह कर रहा है जीव से,
वह मूर्ख नहीं कर रहा है प्रेम अपने पीव से।
सत्कर्म ही है संजय जो सत्य बोलता है,
इस युद्ध की कहानी से सब पोल खोलता है।।

यह युद्ध का बहाना है जीवनी है आपकी,
घबड़ा रहे क्यों देखने से यह छवि है आपकी।
सम–शान्त आत्मा हो भगवान बोलता है,
इस युद्ध की कहानी से सब पोल खोलता है।।

चलें आप चाहे जो भी कुछ समझें लेकिन यह आम साधकों की बात है। लगभग सभी साधक सुनी–सुनायी बात से, देखा–देखी बात से मोहित होते रहते हैं। प्रथम चरण में गुरुदेव से कथा सुनते हैं तो मोह हो ही जाता है; क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप होते हैं। अतः उनसे कथा के बहाने ज्ञानयोग की विशेष बरसात होती रहती है। इतना आप जान लें कि जो स्वयं संन्यासी

है, उससे गृहस्थी की बात तो छेड़ने से ही मिलेगी।

एक दिन एक माँ ने कहा– महाराजजी! मेरी बेटी की शादी हो जाय। ऐसी कृपा करें कि 'कहीं आप ही इसके योग्य एक वर देख दें।' वहीं राठौरजी (शिमला) बैठे थे। उन्होंने हँसते हुए कहा कि 'अरे! सन्तों ने तो स्वयं शादी नहीं की तो उनसे क्यों कहती हैं कि शादी करा दें? ये लोग तो साधु बनानेवाले हैं न!' राठौरजी ने सच ही कहा; क्योंकि जब महाराज भी अपने गुरुदेव के पास पहुँचा तो उनके बाह्य व्यवहार को, उनकी जीवनी को, रहनी–सहनी को देखकर सर्वप्रथम उन्हीं के व्यवहार को लेने का मन कर गया, वैसा ही जीवन जीने का मन कर गया लेकिन फिर सोचा कि यह जीवन तो बाहर से नहीं भीतर से आता है न, इस ज्ञान, तप तथा त्यागमय जीवन का आधार तो योग, जप, तप ही है! अतः उनसे पूछा था कि आप चौबीसों घण्टे इस ढंग से कैसे रह लेते हैं, आकाश की तरह सम शान्त कैसे बैठे रहते हैं, सूर्य की तरह अहर्निश ज्ञान, ध्यान, विज्ञान को कैसे देते रहते हैं, वायु की तरह सभी साधकों एवं भक्तों का प्राण बनकर आप निर्लेप कैसे रह जाते हैं; पृथ्वी की तरह बहुतों के द्वारा किये जाते हुए उत्पातों को उदासीन की तरह आप कैसे देखते रह जाते हैं? उन्होंने सहजभाव से कह दिया– आगे तुम्हें पता चल जाएगा।

संत जब गृहस्थों के बीच होता है तब निष्काम कर्मयोग की बात करता है, जब ब्रह्मचारियों के बीच होता है तब ब्रह्मचर्य के नियमों की बात करता है, ज्ञानयोगियों के पास रहता है तो ज्ञानयोग की भूमिका ऐसी देता है जिससे लगता है कि कर्म की आवश्यकता है ही नहीं तथा वैसे ही अष्टांगयोगी के पास तो लगेगा कि धारणा, ध्यान, समाधि की गुत्थी सुलझाने लगा है। कृपानन्द तो हररोज कहते हैं कि 'आज आपने ऐसा कह दिया, कल आपने ऐसा कहा था; जब आप कर्मयोग की बात करते हैं तो लगता है कि मैं ज्ञानयोग में बहता जा रहा था और जब ज्ञानयोग की बात करते हैं तब कर्मयोग की धारा में बहने की मूढ़ता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।' सच्चिदानन्द कहते हैं कि गुरु मिल गया तो अब कुछ करना क्या है? अभयानन्द योग, जप, तप की विशेष प्रशंसा करते हैं तो अशोकानन्द कहते हैं कि मुझे तो ज्ञानयोग ही अच्छा लगता है, खगेन्द्रानन्द तो माथा पीटते हुए हँसी करते हैं कि बड़ा कठिन है, बड़ा कठिन है, बड़ा कठिन है, समझ में आकर भी कुछ समझ में नहीं आता। तब महाराज कहता है कि 'अरे! इतना क्या कम है कि समझ में आकर समझने जैसा नहीं लग रहा है! सर्वप्रथम इसी को तो समझ कहते हैं। भगवान तो उसी के लिए विशेष सार्थक होता है जो कहता है कि समझ में आकर भी समझ में नहीं आ रहा है। उसके द्वारा ऐसा कहना यह सिद्ध करता है कि जबतक समझा हुआ प्रयोग में न आ जाय, तबतक समझा हुआ वह नहीं माना जाएगा।' पुष्करानन्द ज्ञानयोग की बातें सुनकर तो सीधे शुकदेव की तरह सुमेरु पर्वत पर ज्ञानसमाधि में लीन हो जाना चाहते हैं; कभी कहते हैं– गुरुजी! आज पता चल गया कि रहस्य क्या है और दूसरे ही क्षण में कहते हैं कि गुरुजी! छः महीने में भगवान मिल जाता है क्या? फिर कहते हैं– मैं जब आत्मा हो ही गया तो किस भगवान को खोजना तथा कुछ पल के बाद कहते हैं कि गुरुजी! बतायें न, कि भगवान

छः महीने में कैसे मिलता है! ध्रुवजी को कैसे मिल गया गुरुजी! कहाँ मिला था? तो महाराज कहता है कि घोर जप, तप करने से उन्हें मधुवन में मिला था। तब वे कहते हैं कि ठीक है तो मैं मधुवन में ही जाता हूँ, वहीं घोर जप, तप करके भगवान प्राप्त करूँगा, फिर कहते हैं– गुरुजी! इस जन्म में भगवान मिलेगा कि नहीं? इसप्रकार कभी ज्ञान, कभी कर्म, कभी त्याग, कभी वैराग्य, कभी भक्ति की श्रेष्ठता की कहानी साधकों के मन में चलती रहती है।

सन् १९८३ में महाराज के गुरुदेव के पास एक साधक ने पूछा– बाबा! ये नौली, बज्रौली, नेति, धौति, बस्ति आदि क्रियाओं को मुझे भी करना पड़ेगा क्या? गुरुदेव ने सहज ही कहा कि 'नहीं, नहीं तुम्हारे लिए तो सारी क्रिया मैं ही हूँ।' भगवती पार्वती कहती हैं, भगवान शंकर से कि आप दिन–रात राम–राम की रट क्यों लगाये रखते हैं, जब राम–राम ही रटना है तब आँखें क्यों मूँद लेते हैं? हे प्रभु! आप बतायें कि भगवान के नाम का जप करना और उनकी कथा सुनना श्रेष्ठ है या समाधि लगाना? भगवान शंकर मन ही मन हँस पड़ते हैं तथा कहते हैं– 'जिसे जनावे वही जाने।'

इसप्रकार ज्ञान श्रेष्ठ है या कर्म, इस प्रश्न से यह संकेत मिलता है कि साधकों में अपनी पूर्व की साधना के प्रति अवश्य ही कहीं न कहीं दुराग्रह छिपा हुआ रहता है, तभी वे गुरुदेव से अपने मन के अनुकूल साधना चाहते हैं। अतः एक बात का ध्यान रखना कि जब आप ऐसा प्रश्न कर देंगे तो उत्तर पाने में कुछ समय लग जाएगा। इसीलिए तो भगवान चौथे अध्याय के चौतीसवें मंत्र में कहते हैं कि सर्वप्रथम सद्गुरु के पास जाकर आत्मजिज्ञासु उनकी सेवा–शुश्रूषा करके उन्हें प्रसन्न करे, फिर जब वे प्रसन्न हों तब अध्यात्मविद्या की माँग करे। आपके पास भले ही आँख न हो लेकिन उसके पास तो आँख है, इसलिए जितना चिन्तित नहीं हैं आप अपने विषय में, उससे कहीं विशेष वह चिन्तित है आपके विषय में। आप कहते हैं कि क्या श्रेष्ठ है– ज्ञान या कर्म? किन्तु वह तो आपके लिए जो श्रेष्ठ होगा वह करा ही लेगा। महाराज के गुरुदेव ने कहा– एक घण्टा सवेरे योगासन भी किया करो, जबकि महाराज को योगासनों में अभिरुचि नहीं थी; लेकिन उनकी दृष्टि में योगासन महाराज के लिए हितकर था, इसलिए महाराज ने ऐसा सोचकर इस आज्ञा को भी स्वीकार कर लिया। अब सच में अनुभव हो रहा है कि यदि उस समय महाराज ने आसनों को स्वीकार नहीं किया होता तो कभी का लँगड़ा हो गया होता। बहुत से साधक महाराज की भी देखा–देखी करने लगते हैं, ऐसा देखकर महाराज को स्वयं पर ही हँसी आती है। 'वह क्यों?' इसलिए कि गुरुदेव हर रोज सवेरे दो–चार नीबू का रस पीते थे; महाराज भी देखा–देखी नीबू का रस पीने लगा, जबकि शरीर कफ प्रधान था। साधना में तो पता नहीं चला लेकिन लगभग बीस–पच्चीस वर्ष नीबूरस पीने के उपरान्त जब कफ की वृद्धि हुई, तब पता चला कि कफ और पित्तप्रधान साधक के लिए हररोज नीबू की जगह नीम के पाँच पत्ते लेना हितकर है। अब यदि उस समय गुरुदेव से पूछा गया होता कि मेरे लिए क्या श्रेष्ठ है तो वे कहते कि यदि कफ एवं पित्त प्रधान शरीर है तो नीम के पत्ते लो और वातप्रधान शरीर है तो नीबू लो।

भक्त अर्जुन की तो बात ऐसी है कि गुरुजी के ऊपर कोई कीचड़ फेंक रहा है और शिष्य पूछ रहा है कि गुरुदेव! यहाँ मेरा क्या कर्तव्य है? महात्मा अर्जुन ने जीवन में प्रश्न नहीं किया था युधिष्ठिर से कि किससे युद्ध करूँ, किससे न करूँ? क्योंकि वहाँ उनका विवेक काम कर जाता था, लेकिन यहाँ उनका विवेक कुण्ठित हो गया, इसलिए कि सामने युद्ध करने के लिए स्वजन ही ललकार रहे हैं। सच है कि जब विषमस्थल में स्वजन सामने होते हैं तो वहाँ विवेक कुण्ठित हो ही जाता है। निश्चितरूप से वह पुत्र महत् सौभाग्यशाली है जो धर्मात्मा पिता की आज्ञा का सहर्ष पालन करना जानता है। वह पूछता नहीं कि मेरे लिए क्या करना श्रेष्ठ है; क्योंकि वह जानता है कि जब आज्ञा पिता ने दे दी तब आज्ञापालन करना ही श्रेष्ठ है, जबकि भगवान ने यहाँ युद्ध की आज्ञा दे दी तो भी महात्मा अर्जुन पूछ रहे हैं कि क्या करना श्रेष्ठ है। युद्ध करने की आज्ञा मिलने के उपरान्त ऐसा प्रश्न करना कि कर्म श्रेष्ठ है या ज्ञान, यही भगवान के लिए गाली है। अरे! अब तो यही कहना बाकी है न कि हे प्रभु! 'आप बात को छिपा रहे हैं, मैं तो समझ गया कि कर्म से ज्ञान ही श्रेष्ठ है, अतः मुझे स्वजनों से युद्ध करने के लिए न कहें।' इस प्रश्न को बार–बार करने से तो ऐसा ही लगता है कि यदि अर्जुन को भगवान के चक्र से भय नहीं रहता तो वे कभी के भाग लिये होते।

सद्गुरु के पास साधक आते हैं और दो दिनों में ही पूछने लगते हैं कि मेरे लिए आप श्रेष्ठ साधन बतावें। उनका ऐसा कहना यह सिद्ध करता हैं कि गुरुदेव मैं श्रेष्ठ हूँ, आप मुझे कनिष्ठ न समझ लें, अतः श्रेष्ठ साधना ही देना। छिः! छिः!! छिः!!! साधक अपने सद्गुरु से ऐसा कैसे पूछ लेते हैं कि मेरे लिए क्या करना श्रेष्ठ है? लगता है उनके पास वह आँख ही नहीं है, जिससे कि वे देख सकें कि सद्गुरु आश्रम में आकर क्या करना चाहिये एवं कैसे रहना चाहिये? अरे! जब पूछना ही है तो इतना पूछ लें कि मुझे किन–किन साधकों के साथ व्यवहार करना चाहिये तथा किन–किन से उदासीन रहना चाहिये, तथा यह कहना चाहिये कि हे प्रभु! मेरे से जब–जब, जहाँ–जहाँ भूल हो, वहाँ–वहाँ, तब–तब आप मुझे बता दें; क्योंकि यहाँ के नियम से, यहाँ के व्यवहार से मैं सर्वथा अपरिचित हूँ।

प्रभु ने भक्त अर्जुन के दुराग्रह पर ध्यान न देकर इस प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया। वह उत्तर अर्जुन के लिए ही नहीं, अपितु जगतहितार्थ साधकों के लिए भी है, जिसपर आप ध्यान दें–

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

हे पार्थ! कर्म का संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग ये दोनों ही निश्चितरूप से श्रेष्ठ हैं लेकिन देहाभिमानियों के द्वारा ज्ञानयोग की साधना करना अति कठिन है; क्योंकि वे मान ही नहीं सकते कि हम शरीर नहीं हैं, अतः उनके लिए निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

प्रभु ने यहाँ सबकुछ कह भी दिया और छिपा भी लिया। भगवान के इतने ही संकेत से सबकुछ स्पष्ट है, अतः अर्जुन को इतने में सबकुछ समझ लेना चाहिए था। भगवान का आशय है कि जबतक श्रेष्ठ–कनिष्ठ दिखाई पड़ रहा है, तबतक तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि संशय से ग्रसित बुद्धिवाले को जल्दबाजी होती है फल पाने की। मनमाना भी करना और फल की चाहना भी करना, ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं। प्रथम अवस्था में तो कर्मयोग से ही ज्ञानयोग की भूमिका तैयार होती है। कर्म को छोड़ना और कर्म का छूट जाना ये दो बातें होती हैं। कर्म छोड़ने में प्रीति नहीं है, तभी तो ऐसा प्रश्न खड़ा होता है, यदि कर्म के प्रति आग्रह नहीं होता तो ऐसा प्रश्न खड़ा नहीं होता। नारदजी जैसे सद्गुरु से ध्रुव जैसा साधक नहीं पूछेगा कि कर्म श्रेष्ठ है कि ज्ञान, जप श्रेष्ठ है कि ध्यान; बल्कि वह तो यह पूछेगा कि गुरुदेव! भगवान मुझे कैसे मिलेगा और कहाँ मिलेगा? उसके पास किसी बात का झंझट ही नहीं रहता। यदि सद्गुरु ने उससे बता दिया कि जप करो तो जप करने लग जायेगा, तप करने को कहेगा तो तप करने लग जायेगा, ध्यान करने को कहेगा तो ध्यान करने लग जायेगा, योग करने को कहेगा तो योग करने लग जायेगा, ज्ञानयोग करने को कहेगा तो ज्ञानयोग करने लग जायेगा, सर्वत्याग करने को कहेगा तो सर्वत्याग कर देगा। इसप्रकार उस साधक के पास किसीप्रकार का झंझट नहीं है। अधकचरा साधक ही पूछता है कि कर्म श्रेष्ठ है कि ज्ञान, घर में रहना श्रेष्ठ है कि संन्यास लेना। आजतक ऐसा पूछनेवाला साधक सफल नहीं हुआ। ऐसा पूछना सिद्ध करता है कि घर के प्रति मोह शेष है। अतः ऐसे साधक से कहा जायेगा कि घर में रहना श्रेष्ठ है। यद्यपि संन्यास तो संन्यास है लेकिन आप जैसे साधक के लिए राजा जनक के जैसा घर में रहना श्रेष्ठ है।

मोहनलाल जी, हीरालालजी (इन्दौर–अम्बाचंदन) जब उठेंगे (जब उनको वैराग्य होगा) तो पूछेगें कि गुरुजी! हम नर्मदा परिक्रमा कर लें? तो गुरुजी कहेंगे कि हाँ, हाँ क्यों नहीं, परिक्रमा कर सकते हैं लेकिन आप दोनों में से एक का शरीर परिक्रमा के योग्य है और एक का नहीं, क्योंकि उसमें रोग लग गया है, इसलिए प्रकृति ने मना कर दिया है परिक्रमा करने को और कह दिया कि आपलोग आकर आश्रम में रहें। जब यहाँ पर मन ऊबे तो घर एवं घर पर मन ऊबे तो आश्रम आते–जाते रहें। वैसे ये लोग नर्मदा परिक्रमा के लिए इसलिए कहते हैं क्योंकि वहाँ किसी की आज्ञा में नहीं रहना पड़ेगा जबकि आश्रम में तो संत की आज्ञा में रहना पड़ेगा न! जिन्होंने सदा–सर्वदा अपने बालबच्चों को आज्ञा में रखा है, उनपर शासन किया है, वे संत की आज्ञा में, उसके शासन में कैसे रहेंगे?

महाराज इस मंत्र के माध्यम से दोंनों ही गुरु–चेलों की (भगवान श्रीकृष्ण–और अर्जुन की) चालाकी को खोलता है; क्योंकि ये दोनों ही अद्भुत जुआरी हैं, अपना–अपना पासा फेंक रहे हैं। इसबार का पासा तो आश्चर्य ही आश्चर्य कह रहा है, अतः इन दोनों मंत्रों पर थोड़ा विशेष ध्यान दें–

प्रथम मंत्र के प्रथम चरण में महात्मा अर्जुन के द्वारा प्रश्न में ही चालाकी से उत्तर दे दिया जा रहा है, इसलिए वे कह रहे हैं कि 'सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण' और तब दूसरे चरण में कह रहे

हैं– 'पुनर्योगं च शंससि।' ठीक उसीप्रकार भगवान भी अपने उत्तर में कह रहे हैं कि 'सन्न्यासः' और तब कहते हैं– 'कर्मयोगश्च।' इतना ही नहीं, मंत्र के तृतीय चरण में सर्वप्रथम कह रहे हैं– 'कर्मसन्न्यासात्' और तब बाद में कह रहे हैं– 'कर्मयोगो विशिष्यते।' अर्थात् विषादी अर्जुन ने भी प्रथम में संन्यास को ही स्मरण किया और प्रभु ने भी सर्वप्रथम सन्न्यासः कहकर उनका समर्थन भी कर दिया लेकिन भगवान को अपना दाव जीतने में देर नहीं लग रही है और वे तत्काल कहते हैं कि 'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' अर्थात् संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। मानो भगवान कह रहे हैं कि संन्यास की तुम पूँछ भी नहीं पकड़ पाये हो किन्तु कर्म के सिर पर पहले से ही सवार हो, अतः उसी के अनुसार चलो। ऐसा कहकर भटके हुए साधकों को मानो भगवान ने संजीवनी जड़ी दे दी है। एक नयी साधना लेना और एक पहले से ही साधना मिली हुई है, इसमें अन्तर हो जायेगा; क्योंकि पहले की साधना की कला का पता है और दूसरे की साधना की कला को अभी सीखना है। जैसे महात्मा अर्जुन कर्म करने की कला तो जानते हैं परन्तु उनमें मात्र एक कमी है। वह क्या? उस कर्म को भगवान से जोड़ने की, जिस कारण से उनका कर्म अबतक 'कर्मयोग' नहीं हो पाया है। महाराज के पास भी प्रायः दो प्रकार के साधक आते हैं, उनमें से जो कर्म में कुशल होते हैं, उन्हें स्थूल कर्म से लेकर सूक्ष्म कर्म का बोध कराकर स्थूल या सूक्ष्म कर्म में प्रवृत्त करा दिया जाता है तथा ज्ञानयोगी को कर्म से उदासीनता तो पहले से है ही, अतः सहज ही उनकी मनोवृत्ति त्याग की तरफ कर दी जाती है अथवा सूक्ष्म कर्मयोगी को अष्टांगयोग की शिक्षा–दीक्षा दी जाती है और ज्ञानयोगी को एकमात्र तप एवं त्याग में प्रवृत्त कर दिया जाता है।

भगवान ने कहने को तो कह दिया कि संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है लेकिन वे सँभल भी गये कि कहीं यह विशेष निराश न हो जाय, घायल न हो जाय; क्योंकि संन्यास की कामना यह अपने मन में सँजोये बैठा है। यह तो विदित ही है कि आत्यन्तिक निराशा में भी व्यक्ति को पागल होते देखा जाता है, इससे झटपट कहा प्रभु ने कि–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

हे महाबाहो! 'जो अपने मन के प्रतिकूल मिली हुई साधना से द्वेष नहीं करता तथा उस साधना की सिद्धि हो जाने पर भी जगत से कुछ चाहता ही नहीं, ऐसा' निर्द्वन्द्व, राग, द्वेष, मानादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

मानो भगवान यहाँ कह रहे हैं कि जो किसी भी प्रकार की कामना से जप, तप, योग आदि नहीं करता, वह तो नित्य ही संन्यासी है, इसलिए कि उसके कर्म की प्रतिष्ठा उसके सद्गुरु की आज्ञा में है। इस मंत्र में 'नित्य' पद आया हुआ है, जिसका तात्पर्य है कि जिस दिन साधक सद्गुरु के शरणागत हुआ, वह उसी दिन संन्यासी ही हो गया। 'यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति'– यहाँ पर 'द्वेष्टि' पद है, इसका तात्पर्य है कि बहुत से लोग उससे द्वेष करेंगे लेकिन

वह यह भी नहीं चाहेगा कि लोग मेरे से द्वेष न करें। इसीकारण वह किसी से भी द्वेष नहीं करता और इसी न्याय से वह द्वेष करके राग को प्राप्त नहीं होता। यदि वह किसी से भी राग–द्वेष करता है तो ज्ञान में अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान में आसक्ति हो जाएगी और अज्ञान से उदासीनता न होकर द्वेष हो जाएगा अर्थात् आज राग है तो कल वैराग्य हो जाएगा, कल वैराग्य है तो परसों राग हो जाएगा। यह द्वेष्टि पद बारहवें एवं अठारहवें अध्याय में भी प्रभु के द्वारा प्रयोग किया गया है– 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि' (अ० १२, १७), न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म (अ० १८, १०)। इसी 'न द्वेष्टि' पद को लाकर प्रभु के द्वारा इस पाँचवें अध्याय में खड़ा किया गया है, जो बड़ा महत्त्व का है। वह इसलिए कि द्वेष करके ही महात्मा अर्जुन ने यह प्रतिज्ञा की थी; कि मैं कर्ण को मारूँगा, द्रौपदी को वेश्या कहनेवाले इस कर्ण की जिह्वा को युद्ध के मैदान में काट लूँगा, इसके मस्तक के हजार टुकड़े कर दूँगा, द्वेष करके ही इन्होंने अपने लिए प्रतिज्ञा की थी क्योंकि इनकी धर्मपत्नी (द्रौपदी) का शील जा रहा था लेकिन ठीक इसके विपरीत महात्मा उग्रसेन की बात ऐसी नहीं है। उन्होंने अपनी प्रजा के हितार्थ अपने ही पुत्र के मस्तक के हजार टुकड़े करने की चाहना की थी। उस महात्मा ने कहा था– 'तेरे मस्तक के हजार टुकड़े करूँगा कंस! जबतक तुम मुझे युद्ध में पराजित नहीं कर देते, तबतक मेरे पद को प्राप्त नहीं कर सकते।' एक (उग्रसेन) प्रजा के हित के लिए स्वजनरूप पुत्र से युद्ध करता है, इसलिए कि धर्म ही उसका स्वजन है, धर्म ही उसकी आत्मा है, अतः पुत्ररूप स्वजन का त्याग कर देता है। भले ही वह अपने पुत्र से पराजित होकर कारागार में बन्द हो जाता है, लेकिन मन में दीनता एवं हीनता नहीं आती बल्कि पुत्र से युद्ध करके अति प्रसन्नता होती है। यदि प्रभु की प्रसन्नता के लिए ही वह कंस से युद्ध करता है तो वही प्रभु का महत् स्वजन है। ठीक इसके विपरीत आप सब देखें कि अभिमन्यु अर्जुन के साथ है, विपक्ष में खड़ा नहीं है; उन्हें पुत्र से युद्ध नहीं करना है, इस न्याय से उग्रसेन इनसे अतिमहत् पद पर आसीन हैं। गीता अध्याय नौ में भगवान राजर्षियों का नाम लेंगे, जिन्होंने धर्मरक्षार्थ अपने स्वजनों से युद्ध किया है। सच पूछा जाय तो अर्जुन से तो ये द्रोणाचार्य, पितामहभीष्म इत्यादि ही यहाँ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि भले ही वे विपक्ष में खड़े होकर युद्ध कर रहे हों किन्तु उन्होंने अर्जुनसहित अन्य पाण्डवों को युद्ध करने की आज्ञा एवं विजय प्राप्ति का आशीर्वाद भी दे रखा है।

अब पीछे मुड़कर देखें युद्ध के मैदान में तो मानो भगवान कह रहे हों कि अभी भी अर्जुन की गुरुजनों के प्रति आसक्ति नहीं समाप्त हुई है, स्वजन ही उनकी आत्मा हो गये हैं, पर वे राग–द्वेष छोड़ दें तो संन्यासी ही हैं। मानो भगवान यह भी कह रहे हैं कि हे पार्थ! यदि तुम्हारी यही कामना है तो भीतर से संन्यासी हो जाओ और बाहर से मेरे भक्त। सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, आकाश तथा युधिष्ठिर, भीम आदि और स्वयं मैं, तुम्हारी भुजायें हैं, इसी कारण से तुम महाबाहो कहे जाते हो। मैं तुम्हारी ज्ञानयोग नामक लम्बी भुजा हूँ और अन्यान्य देवता तुम्हारी कर्मयोग नामक लम्बी भुजा है। जो धर्मयुद्ध ही नहीं चाहता अपितु विकर्ममय धर्मयुद्ध प्राप्त होने पर उससे द्वेष भी नहीं करता, वह सदा–सर्वदा संन्यासी ही है। जो अपने और पराये के भाव से मुक्त हो गया है, वह सुखपूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो ही जाता है। जब

स्वजन के प्रति युद्ध का अवसर आता है तो विकर्ममय धर्मयुद्ध कहलाता है तथा विकर्ममय धर्मयुद्ध से पाप स्पर्श नहीं करता। जब पितामहभीष्म अपने गुरु परशुरामजी से धर्मयुद्ध कर सकते हैं, तो तुम तो उस युद्ध से भी श्रेष्ठ विकर्ममय धर्मयुद्ध करने जा रहे हो। उन्होंने मात्र अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए युद्ध किया था और तुम तो मेरी प्रतिज्ञा के लिए युद्ध कर रहे हो। तुम्हारा युद्ध 'परित्राणाय साधूनां' के लिए है, अतः मैं तो तुम्हें नित्य संन्यासी ही समझता हूँ।

(ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी.....) अब महाराज साधकों की युद्धभूमि में आता है, जिनके पास इस मंत्र पर चिन्तन करना है। बड़े विश्वास की बात है यहाँ पर और ऐसा विश्वास तो वही कर सकता है जो जान ले कि मेरा सद्गुरु सर्वसामर्थ्यशाली है, वरदान एवं शाप देने की सामर्थ्य रखता है और वही साधक सोच सकता है कि सर्वप्रथम क्यों न सद्गुरु को ही प्रसन्न करूँ तथा प्रसन्न होने पर जब वे कहें कि वरदान माँगो तो मैं आत्मपद माँगूँ। जिस साधक के पास श्रेष्ठ एवं कनिष्ठ साधना के प्रति कुछ विचार नहीं आता तो इससे सिद्ध होता है कि न ज्ञान श्रेष्ठ है न कर्म, बल्कि गुरु आज्ञानुसार चलना श्रेष्ठ है, ऐसे साधक के लिए तो किसी अन्य साधन की आवश्यकता है ही नहीं। इसप्रकार किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होने के कारण से वह नित्यसंन्यासी ही है।

'अरे! तुम अपनी बुद्धि क्यों लगाती हो, तुम ऐसा मत किया करो! भगवान से मिलने के लिए, भगवान की साधना में, सेवा में बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती बल्कि सद्गुरु की आज्ञा की आवश्यकता होती है।' एक माई ने अपने सद्गुरु से ऐसा सुनकर अपनी मनमानी साधना को छोड़ दिया। जब कुछ विचार आता, तब सद्गुरु का वही मंत्र उसके कानों में गूँज पड़ता– 'अरे! बुद्धि क्यों लगाती हो, ऐसा मत किया करो .....!' महाराज ने स्वयं उस माई को ऐसा करने में सफल होते हुए देखा। इस न्याय से जो साधक अपनी बुद्धि को नहीं लगाता, एकमात्र सद्गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह नित्य ही संन्यासी है।

इस मंत्र से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि इस शरीर में राग और द्वेष करनेवाला भी पुरुष बैठा हुआ है। अतः वह राग–द्वेष निश्चितरूप से करेगा; लेकिन जब आपने अपने–आप को आत्मरूप जान ही लिया तो आप राग–द्वेष क्यों करेंगे? राग एवं द्वेष तो पुण्य एवं पापमय पुरुष के विषय हैं, आपका विषय तो त्याग एवं ग्रहण से परे है। अतः जैसे ही आप राग–द्वेष से उदासीन होते हैं, वैसे ही संन्यासी कहे जाते हैं। 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'– कर्मरूप बन्धन से सुखपूर्वक मुक्त हो जाओगे– भगवान का ऐसा कहना भी बड़े महत्त्व का है। मानो वे कह रहे हैं कि इस दुःखमय संसार से आप सुखपूर्वक पृथक् हो सकते हैं, जब इसे अपना और पराया मानकर कोई महत्त्व न दें तो। कितनी विलक्षण बात है कि जब कोई नदी के बीच भँवर में फँस जाता है तो दुःखपूर्वक निकल पाता है, कोई कुएँ में गिर जाता है तो दुःखपूर्वक निकल पाता है, कोई कारागार में चला जाता है तो दुःखपूर्वक निकल पाता है, कोई भारी रोग से पीड़ित हो जाता है तो उससे दुःखपूर्वक निकल पाता है अर्थात् भगवान की सृष्टि में ऐसा कोई कष्ट नहीं

है, जिससे सुखपूर्वक निकला जा सके; जबकि सारे कष्टों का कष्ट संसाररूपी बन्धन है तो भी भगवान कह रहे हैं कि इस भारी दुःख से भी पुरुष सहज ही मुक्त हो सकता है, यदि किसी को अपना और पराया नहीं मानता है तो। अपना मानने में इच्छायें प्रकट हो ही जाती हैं तथा पराया मानने में द्वेष प्रकट हो जाता है। सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान का झंझट भी तो मैं एवं मेरा मानने से ही है। यदि कोई साधक अपने को शुद्ध साक्षी चेतन मान ले, तथा उसी अपने आत्मस्वरूप में रहने लगे, फिर तो संसार ही उसे छोड़ देगा, इसीलिए तो भगवान ने कहा कि वह सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है।

स्वजनों से युद्ध करना तथा उनको त्यागना बात बराबर है; क्योंकि क्रिया तो दो है लेकिन उद्देश्य एक है। जहाँ गृहस्थाश्रमी साधक को पल–पल में पग–पग पर स्वजनों से युद्ध करने का अवसर आता है वहीं संन्यासाश्रमी को पल–पल में पग–पग पर त्याग करने का अवसर आता है। घर में थोड़ी कठिन हो जाती है साधना– मन से स्वजनों को भगवान का अंग समझकर भगवान की प्रसन्नता के लिए कर्म करना रहता है, फिर यह तो कठिन बात हो ही जाएगी। रहना है माता–पिता, बाल–बच्चों के साथ और प्रसन्न करना है भगवान को अर्थात् सद्गुरु को। कभी–कभार रहना होता है चोर पिता के साथ, विषयी पिता के साथ, शराबी–जुआरी पिता के साथ अहंकारी पिता के साथ और प्रसन्न करना होता है आत्मज्ञानी सद्गुरु को; रहना होता है स्वजनों के साथ और आज्ञा पालन करनी होती है भगवान की। इतना ही नहीं, बहुत कठिन हो जाता है इनके साथ रहना; क्योंकि शराबी अपना मित्र खोजता है शराब पीने के लिए, उसे अच्छा नहीं लगता अकेले पीना। उसीप्रकार जुआरी, वेश्यागामी तथा चोर भी अपना साथी ढूँढ़ते हैं, अकेले करना तो यह सब कठिन हो जाता है; क्योंकि वे सोचते हैं कि हम सही कर रहे हैं, इसलिए इसका समर्थक चाहिये और इतना आप जान लें कि वे निश्चित ही सोचते हैं कि 'हमारे पुत्र–पुत्री से बढ़कर हमारा समर्थक कौन होगा'– ऐसा सोचकर अपने सभी बाल–बच्चों को अपने जैसा ही बनाने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु जब कोई ध्रुव, प्रह्लाद जैसा बालक और शबरी, मीरा जैसी बालिका उनके अनुसार नहीं चलते तो फिर उनके मन में उन भक्त बालक–बालिकाओं के प्रति स्वाभाविक ही द्वेष हो जाता है। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि 'यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति' अर्थात् उनसे वहाँ द्वेष न कर लेना; क्योंकि उन्हीं के द्वारा अपने मन में भी द्वेष प्रारम्भ हो जाएगा, राग प्रारम्भ हो जाएगा, जिस राग–द्वेष से उनके द्वारा अपने प्रति ही उत्पात प्रारम्भ हो जाएगा तथा ऐसा न सोच लेना कि ये लोग ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी, मीरा आदि की जीवनी को जानते ही हैं। ये कहते भी हैं कि उन भक्तों के साथ घोर अत्याचार हुआ.....! तो फिर अपने बाल–बच्चों के प्रति वैसा ही बर्ताव क्यों करते हैं? ऐसा सोचने पर इनके प्रति अर्थात् स्वजनों के प्रति द्वेष हो जाएगा। मन को ऐसा लगेगा कि ये सब जानबूझ कर मुझे सता रहे हैं, जबकि ऐसा है नहीं, वे तो स्वयं नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं। इसलिए कि उनकी प्रकृति उनके पीछे पड़ी हुई है, आपका प्रारब्ध भी उनके पीछे पड़ा हुआ है जबकि आपके पीछे आपका भगवान पड़ गया है। आपका भगवान अपनी ओर खींच रहा है तथा आपका प्रारब्ध और उनका प्रारब्ध अपनी तरफ खींच रहा है, परन्तु इतना आप जान लें कि आपका भगवान उनके

और आपके प्रारब्ध से अति बलवान है, इसलिए वह आपको अपनी तरफ खींच ही लेगा। अतः उनसे द्वेष न करना तथा 'न काङ्क्षति'– उनसे कुछ अपेक्षा भी मत रखना, अन्यथा भगवान कहेगा कि उनसे अपनी कामना भी पूरी कराते हो और मेरे भक्त भी बनते हो!

'माँ यह ठीक नहीं है। अरे! इनके छोटे भाई ही तो हैं, यदि वे अपना हिस्सा माँगते हैं तो देने में क्या परेशानी है? चाचा अपने भाग्य का खायेंगे और हमलोग अपने भाग्य का खायेंगे।' ऐसा सन् १९७२ में एक भगवद्भक्त बालक को महाराज ने अपनी माँ से कहते हुए देखा। 'कौन समझाये बेटा? यदि ऐसा विश्वास हो जाय इन्हें, तो फिर क्या कहना!' माँ ने भी बेटे का समर्थन किया। बेटे ने कहा– मैं यह नहीं कहता कि चाचाजी गलत नहीं हैं लेकिन यह भी नहीं कहता कि पिताजी सही कर रहे हैं। बड़ा भाई पिता के बराबर होता है और छोटा भाई पुत्र की जगह। अरे! जैसे पिता पुत्र के लिए कमाता है वैसे ही पिताजी ऐसा ही समझें कि मैंने पुत्र (छोटे भाई) को ही पढ़ाया–लिखाया था और जब कमाकर कुछ देने का समय आया, सहयोग करने का समय आया तो हिस्सेदारी कर रहा है। माँ तुम यह समझ लो कि पुत्र तो हिस्सा क्या पूरी विरासत ही लेने आया है, हिस्सेदार तो भाई ही है! माँ ने सचमुच में पिता से पुत्र की यह बात कह दी। पिता की क्रोधाग्नि भड़क उठी– अरे! क्या वह ऐसा कह रहा था? बैठे–बैठे खा भी रहा है और शिक्षा–दीक्षा भी देने की सोच रहा है? मेरे पंचों से वह बुद्धिमान है क्या? मैंने तो सारा निर्णय पंचों पर ही छोड़ दिया है, मैं कहाँ कह रहा हूँ कि मैं नहीं मानता। अच्छा तो आज उससे कह दो कि जीना है तो अपने ही ढोंग तक सीमित रहे। मैं क्या कर रहा हूँ, क्या नहीं कर रहा हूँ, इस विषय में बोलने की उसे आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार उस भगवद्भक्त पुत्र से उस पिता को द्वेष बढ़ता गया। इसप्रकार राजा जनक का व्यवहार कोई साधक ले ले, तो गृहस्थाश्रम में ऐसे विवाद का अवसर आता ही रहेगा। अतः भगवान कहते हैं कि उन लोगों को मन से त्यागना, द्वेषपूर्वक मत त्यागना। 'यह तो आपने घोर संकट लाकर खड़ा कर दिया कि उनके बीच उन्हें त्याग कर रहना तथा उनके द्वारा उत्पात मचाने पर द्वेष भी मत करना। ऐसा कैसे हो सकता है?' क्यों नहीं, ऐसा क्यों नहीं हो सकता! अरे! पशु अपना कहा हुआ कहाँ मानते हैं, तो क्या उनसे द्वेष हो जाता है? अपने खेत में आकर किसी के पशु फसल चर देते हैं तो क्या उन पशुओं को द्वेषपूर्वक डण्डे मारते हैं? वहाँ तो उन्हें डण्डे मारकर खेत से बाहर कर देते हैं और उनके स्वामी को भला–बुरा कहते हैं। उसीप्रकार जब स्वजन पशुवत् जीने लगते हैं तो उनसे द्वेष न कर उनका कहना अस्वीकार कर दिया जाता है। इतने पर भी बात नहीं बनती तो उन्हें त्यागकर संन्यास ले लिया जाता है। यदि कुछ कहे बिना नहीं रहा जाता तो उनके भगवान से कहना होता है कि देखें! ये नहीं मान रहे हैं, अब आप ही बतावें कि क्या व्यवहार करूँ?

प्रभु श्रीराम ने रावण से विरोध नहीं किया, द्वेष नहीं किया; बल्कि सर्वप्रथम शंकरजी एवं ब्रह्माजी से पूछा कि आप दोनों क्या कहते हैं, यह तो उद्दण्ड हो गया है, संतों–भक्तों को सताने ही लगा है? तो कहा उन दोनों ने कि इसे ठिकाने लगा दें आप, अब यह पृथ्वी पर रहने योग्य नहीं है। माँ सुनीति को लगा कि 'ध्रुव का अपने पिता से द्वेष हो जाएगा और यह द्वेष तो इसके

संन्यासपथ में बड़ी बाधा बन जाएगा, यह तपस्या क्या कर पाएगा, द्वेषाग्नि से इसका हृदय जलता रहेगा।' अतः उस देवी ने कहा कि नहीं, नहीं बेटे! तुम्हारी छोटी माँ ने ठीक ही कहा है तथा पिताजी भी मौन रह गये तो यह भी अच्छी ही बात है; क्योंकि तुम सामान्य पुरुषों जैसा जीवन जीने की कामना कर रहे थे, जबकि तुम अक्षय जीवन जीने के योग्य हो। तुम भगवान की अक्षयगोद में बैठने का प्रयत्न करते नहीं, इसलिए तुम्हारे सामने उन्होंने ऐसा दुर्व्यवहार किया है। बस, भक्त बालक ध्रुव के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, द्वेष उनका चला गया अतः माँ से आज्ञा लेकर पिता तथा विमाता का त्याग कर उनसे द्वेषरहित हो वन की तरफ चलते बने।

(यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति.....) जब स्वजनों से कुछ चाहना ही नहीं है तो उनके दुर्व्यवहार से द्वेष किस बात का? इसप्रकार जो द्वेषरहित होकर, इच्छारहित होकर अपने कर्तव्य कर्म का पालन करता है, वही नित्यसंन्यासी है। नित्यसंन्यासी एवं अनित्यसंन्यासी ये दो प्रकार के संन्यासी हैं– जो न द्वेष करता है, न किसी से कुछ चाहता है, वह तो प्रह्लाद, ध्रुव, मीरा, शबरी, जनक की तरह नित्यसंन्यासी है और जो द्वेषपूर्वक जीवन जी रहा है अर्थात् रावण, कंस, शम्बूक आदि की तरह घोर तप तप रहा है, वह अनित्यसंन्यासी है। अनित्यसंन्यासी जीवन में हजारों बार मुँह की खाता है लेकिन नित्यसंन्यासी एक बार भी माया की मार से मोहित नहीं होता। रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि ही अनित्यसंन्यासी क्यों हैं, बल्कि अनित्यसंन्यासी तो वे सब भी हैं जिन्होंने धन, मान, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा की कामना से घर–बार छोड़कर, संन्यास लेकर वन में घोर जप, तप, योग किया है अथवा कर रहे हैं।

भगवान ही नित्यसंन्यासी हैं, तभी तो नारायणी सेना के विपक्ष में हो गये हैं। यदुवंशी उद्दण्ड हो गये थे, युद्ध के मैदान में मनमाना करते। अतः बड़ी ही कुशलता से उन्होंने उन्हें दुर्योधन के साथ कर दिया, यह सोचकर कि ये सब जायें उस मूर्ख की सेना में मनमाना युद्ध करें। ये सब भीम के अनुशासन में तो रहेंगे नहीं, फिर तो एक दूसरी समस्या खड़ी हो जाएगी। उसीप्रकार महाराज दशरथ नित्यसंन्यासी अपने बेटे श्रीराम से कहते हैं कि बेटा! अब वन को मत जाओ, भले मैं नरक चला जाऊँ या तीनों लोकों में मेरा अपयश फैल जाय। प्रभु श्रीराम ने मन ही मन सोचा कि गुरुदेव वसिष्ठ जैसे नित्यसंन्यासी की अध्यक्षता में आप नित्यरागी होकर अयोध्या में रह रहे हैं, यह बड़ा भारी अपराध है। आप जैसा रागी पुरुष वरदाता बने और उसकी कामना पूरी हो जाय, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। गुरुदेव के रहते आपको वरदान देने का क्या अधिकार है? माँग तो माँग ही होती है। माँ को जो अच्छा लगा वह माँग लिया। आप जैसे रागी पिता को वैरागी राम, नित्यसंन्यासी राम नहीं चाहिये। इतना ही नहीं, आप जैसे रागी को मोक्ष नहीं, स्वर्ग चाहिये; क्योंकि वहीं पर मनमाना वरदान एवं शाप देने का विधान है। अतः अब आप वहीं जायें, मैं तो वन में ही जाऊँगा, आपको नरक क्यों जाने दूँगा तथा आपकी कीर्ति भी क्यों नष्ट करूँगा?

उपरोक्त न्याय से घर में तो नित्यसंन्यासी होकर रहना लेकिन एक बात का ध्यान रखना कि नित्यसंन्यासी किसी भी काल में विषयी या अपराधी स्वजनों का साथ नहीं देता। इतने पर

भी यदि वे अपने को स्वीकार करें तो ठीक और यदि वे त्याग कर देते हैं तो सदा–सर्वदा के लिए संन्यास तो मिल ही जायेगा।

(निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो.....) नित्यसंन्यासी ही बड़ी भुजावाला अर्थात् अनन्त सामर्थ्यवाला महाबाहो कहलाता है। इस मंत्र में महाबाहो कहकर भगवान मानो कह रहे हैं कि तभी तो तुम महाबाहो कहे जाओगे जब इनसे द्वेषरहित होकर युद्ध करोगे, अन्यथा क्षुद्रबाहो हो जाओगे। दूसरी बात और भी भगवान कह रहे हैं कि नित्यसंन्यासी ही अनित्यसंन्यासियों से सुखपूर्वक मुक्त हो सकता है। भगवान ने इस मधुर व्यंग्यबाण का प्रहार संन्यासियों पर किया है। मानो वे कह रहे हों कि स्वजन भी संन्यासी ही समझते हैं अपने–आप को; क्योंकि बिना संन्यासी समझे तो वे पागल ही हो जायेंगे। वे तो कहते हैं कि 'हम तो धर्म से ही जीते हैं, अधर्म से कहाँ जीते हैं? भाई–बान्धवों से युद्ध करने की सीख तो भगवान ने ही दी है, चोरी, छल, कपट क्या भगवान ने नहीं किया है? गृहस्थाश्रम में यदि वे भी छल–कपट किये बिना रहे होते तो हम सोचते कि हम अवश्य गलत हैं। हम उनके विरुद्ध व्यवहार कहाँ कर रहे हैं? क्या उन्होंने शिशुपाल का गला नहीं काट लिया, जरासंध के मस्तिष्क को विदीर्ण नहीं करा दिया छल के साथ? अतः उन्होंने जो किया वही हम कर रहे हैं, इसलिए विशेष बुद्धिमान मत बनो।' उनकी इसीप्रकार की सोच के कारण भगवान कह रहे हैं कि मेरी नकल करके घर में मत रहना, बल्कि राजा जनक की तरह व्यवहार करते हुए रहना। महाराज जनक के पास तो पुत्र हैं ही नहीं, एक पुत्री स्वयं की तथा दूसरी पुत्री माँ पृथ्वी से गोद ली हुई, मात्र दो पुत्रियाँ ही हैं; किन्तु उनकी सफलता तो देखें– इन दोनों ही पुत्रियों ने पुत्रों की नाक काट ली। उनका ऐसा दिव्य–जीवन है कि पुत्र स्वप्न में भी याद नहीं आया। पुत्र वे चाहेंगे भी क्यों? क्योंकि उसके (पुत्र के) जप, तप, योग से उन्हें पितरलोक, स्वर्गलोक तो जाना ही नहीं है। यही नहीं, राजा ययाति तो बनना नहीं है कि काम–वासना की पूर्ति के लिए पुत्र की जवानी माँगनी पड़े। अतः घर में न द्वेष करके रहना, न किसी से कुछ चाहना करके रहना बल्कि संन्यासी बन के जीना।

(.....सुखं बन्धात्प्रमुच्यते) सुखपूर्वक मुक्त हो जायेंगे आप। जब न द्वेष करेंगे, न किसी से कुछ चाहेंगे, तो एक न एक दिन लोग ऊबकर कह ही देंगे कि जाओ, जाओ, जाओ! फिर तुम्हारी आवश्यकता यहाँ नहीं है, तुम्हारे जैसे अहिंसक और अपरिग्रही के लिए वन में जगह है। उन्हीं की दृष्टि से तो महाराज साधकों से मस्ती में आकर 'देश' राग से कहता है कि –

भाग रे जोगी वन में ये तो काम की नगरी है।।

काम असन है काम वसन है, काम शयन है काम गमन है।
काम नयन है काम श्रवन है, ये तो काम की ही सगरी है।।

काम ध्यान है काम ज्ञान है काम जोग जप काम राम है।
काम हीत मित काम स्वजन है, ये तो काम की टँगरी है।।

काम युक्ति है काम मुक्ति है, काम स्वर्ग अरू काम भुक्ति है।
महाराज भग काम विरोधी, ये तो काम की पगड़ी है।।

इसप्रकार बिना प्रयास किये आपको वहाँ से मुक्ति मिल जाएगी, संन्यास लेने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा क्योंकि वे आपको स्वयं छोड़ देंगे, संन्यासी बना देंगे। आपने असत्यवादियों को पचाया है, आपने विषयी पुरुषों को पचाया है, आपने हिंसकों को पचाया है, आपने संग्रही को पचाया है लेकिन वे आपको नहीं पचा पायेंगे। आप उनके जीवन में बाधा बन जायेंगे। आप निर्विषयी होकर रहेंगे और वे वहीं अत्यन्त विषयी होकर रहेंगे तो उन्हें अत्यन्त संकोच भी तो होगा! वे आपके सामने झूठ बोल नहीं पायेंगे, बकवास नहीं कर पायेंगे, फिर आपसे चिढ़ने के अतिरिक्त उनके पास क्या विकल्प है? उड़द और अरहर का कोई मेल–जोल ही नहीं है, फूल और काँटे एकसाथ रह ही नहीं सकते। काँटा तो फूल से चिढ़ता ही रहेगा कि सब इसी के ग्राहक आते हैं, मेरे पास तो कोई आता ही नहीं। इसप्रकार न द्वेष करना, न इच्छा करना फिर प्रभु का चमत्कार देखना। तो क्या होगा? यही कि वे सब आपसे द्वेष करना प्रारम्भ कर देंगे। वे ही सब इच्छा करने लगेंगे कि 'क्यों नहीं जाता वन को, क्यों सताता है यह हमको, परेशान करता जन–जन को, आग लगे बस इसके तन को, आग लगे बस इसके तन को, आग लगे बस इसके तन को।'

भगवान के मन में आया कि यह संन्यास, संन्यास, संन्यास की रट लगा बैठा है, जो संन्यास कृपासाध्य है उसे यह क्रियासाध्य बनाना चाहता है, इसलिए इसे इसका बोध कराना होगा कि यह ज्ञान तथा कर्म दोनों ही तो एक बहाना है। ब्रह्मविद्या तो सद्गुरु की देन है, वह चाहे कर्म से दे या ज्ञान से दे, उसके ऊपर निर्भर करता है। इसलिए भगवान कहते हैं–

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

संन्यास और कर्मयोग पृथक्–पृथक् फल देनेवाले हैं, ऐसा तो मूर्ख ही कहते हैं, न कि पण्डितजन। हाँ, है बात सम्यक् प्रकार से इन दोनों में से किसी एक में स्थित होने की तो जिस आत्मरूप की प्राप्ति ज्ञानयोग से होती है उसीकी कर्मयोग से भी होती है। इसप्रकार जो ज्ञान एवं कर्म को मूलरूप से एक देखता है, वही यथार्थ देखता है अर्थात् जिस ब्रह्मपद को संन्यासी प्राप्त करता है, उसी ब्रह्मपद को कर्मयोगी भी प्राप्त करता है अतः ऐसा जानने, माननेवाला पुरुष ही यथार्थ जानता एवं मानता है।

'अधजल गगरी छलकत जाय'वाली कहावत विख्यात है, वह इसलिए कि आधा–अधूरा ज्ञान बड़ा घातक होता है। संन्यास का ककहरा पढ़ लिया किसी ने और बक–बक बोलने लगा कि ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है तो उसकी बात पर क्या ध्यान देना। वैसे ही कर्मयोग का थोड़ा–सा अनुभव हो जाता है तो अनुभवी संतों का पद गाकर चिल्लाने लगता है कि 'मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा'– ये दोनों ही अधकचरे साधक होते हैं। अतः उनकी बातों पर ध्यान न देना; बल्कि

यदि इनकी बातों पर ध्यान जाय तो किसी ज्ञानी के संसर्ग में चले जाना। इस बात पर ध्यान देना कि जो जानता है वह बोलता नहीं और जो बोलता है वह निश्चितरूप से कुछ जानता नहीं, यह अच्छीप्रकार से जान लेना। मूर्ख की मूर्खता को भी जानना चाहिये और बुद्धिमान की बुद्धिमत्ता को भी; क्योंकि मूर्ख तथा शास्त्रीय बुद्धिमान ये दोनों ही आध्यात्मिक पथ में बाधक बन जाते हैं। अतः साधनपथ में देखना कि कहीं आपका साथ किसी अधेड़ मूर्ख या विद्वान से तो नहीं हो गया है। यदि हाँ, 'तो जभी जागा तभी सवेरा' लेकिन चलें कोई बात नहीं, चाहे कोई कुछ भी कहे इस विषय में वह कहता रहे पर भगवान इस बात का समर्थन नहीं करते; बल्कि वे तो स्पष्ट कह रहे हैं कि दोनों में से किसी एक में भी अपने तन, मन, वचन, हृदय की स्थिति अच्छीप्रकार जम जाय तो आत्मपद, ब्रह्मपदरूप फल की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी। प्रायः महाराज भी कहता है कि ज्ञानयोगी त्यागते, त्यागते, त्यागते शरीर का अभिमान, इन्द्रियों का अभिमान, मन–बुद्धि का अभिमान त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है और कर्मयोगी भी भगवत्कर्म को ग्रहण करते–करते किसी दिन आत्मरूप का ही अनुभव करने लगता है। इसीसे भगवान ने कहा है कि ज्ञानयोगी को आत्मज्ञानी के साथ रहते–रहते त्याग सीखने में आ जाता है एवं भक्त को कर्मयोगियों की जीवनी देखते–देखते भगवत्कर्म पकड़ में आ जाता है। स्वयं महाराज भी नचिकेता की जीवनी पढ़ते–पढ़ते पिता–माता, भाई–बान्धवों के लोभी जीवन पर प्रहार करना सीखा तथा प्रह्लाद की जीवनी पढ़ते–पढ़ते अभयरूप होना सीखा एवं भगवान बुद्ध, भगवान दत्तात्रेय, भगवान शुकदेव, भगवान शंकराचार्य आदि की जीवनी पढ़ते–पढ़ते बाह्यत्याग करना सीखा। इन्हीं महापुरुषों के आदर्श जीवन से प्रेरणा पाकर यह पता चला कि मूर्खों एवं अज्ञानियों के बीच कैसे रहना चाहिये और ज्ञानियों के बीच कैसे जाना चाहिये। जीवन में स्वाध्याय क्या रंग लाता है, वह भी अनुभव किया।

लगभग सन् १९७० में एक दिन सिनेमा हाल में बैठकर हरिश्चन्द्र तारामती नाटक देखा। तीन घण्टे हृदय रोता ही रह गया। मन में आया कि सत्य को धारण करने में कष्ट तो है लेकिन परिणाम में आनन्द असंख्य गुना है, तो चलो आज से इस सत्य को ही पूरी तरह से स्वीकार करो। उन्हीं दिनों में कफन नामक नाटक को ग्रामीण मंच पर पात्रों के द्वारा करते हुए देखा तथा उस नाटक को स्वयं से मंच पर खेला भी। सालभर के उपरान्त कलिंगविजय नामक नाटक को खेलते–खेलते अशोक सम्राट के भिक्षुपने ने अपनी तरफ आकर्षित कर ही लिया। ये तीन नाटक मानो तीन पद दे गये– 'सत्य, वैराग्य और त्याग'। इन तीनों ही नाटकों से मूर्खों की मूर्खता का पता चला, विषयी पुरुषों की विषयता का पता चला तथा रही सही जो कसर थी वह रामलीला में तीन–चार साल राम का पाठ करने से पूरी हो गयी। सत्यकाम, आरुणि और उपमन्यु की जीवनी ने सद्गुरु की आज्ञा का पालन करना सिखाया तो सद्गुरु के व्यवहार ने संत व्यवहार देकर कृतार्थ कर दिया। उसके उपरान्त तो अध्यात्मचिन्तन ने अपना साम्राज्य फैलाना प्रारम्भ कर दिया, फैलाते–फैलाते इतना फैला दिया कि जगत एक तरफ और महाराज एक तरफ हो गया। इसलिए इस मंत्र से प्रभु का संदेशरूप उपदेश यह मिलता है कि जो कर्म, शर्म एवं श्रम दोनों देता हो तो जान लेना कि आप भगवत् कर्म में अच्छीप्रकार स्थित नहीं हैं। ठीक इसीप्रकार

जो ज्ञान वाचाल बना रहा हो, अतिवादी बना रहा हो तो समझना कि ज्ञानयोग में भी अच्छीप्रकार बैठकी जमी नहीं है आपके मन, बुद्धि, चित्त की।

'मेरा भाई तीन महीने से आजीवन कारावास भोग रहा है महाराज! यदि निकल गया तो संन्यास ले लूँगा।'– ऐसा सन् १९८५ में एक गृहस्थ भक्त ने कहा। 'अरे! क्या कहा तूने?' महाराज ने पूछा। उसने कहा– क्या कह दिया? 'यही कि अब तुम संन्यास की तैयारी करो, वह थोड़े ही दिनों में कारागार से सदा के लिए मुक्त हो जायेगा।' महाराज के ऐसा कहने पर उसने आश्चर्य से पूछा– ऐसा कैसे हो सकता है महाराज? हाँ, ऐसा हो सकता है, क्योंकि भगवान ने कहा है कि '..... एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' अर्थात् भक्ति (कर्म) या ज्ञान में से किसी एक में भी अच्छीप्रकार स्थिति हो जाय तो अपनी श्रद्धा या संकल्प से उसी समय उसका मनोरथ पूरा हो जाता है। आपने यह नहीं देखा कि आप गंगाजी के सामने कह रहे हैं तथा भाई को कारागार से मुक्त कराने के लिए जीवन को ही दाव पर लगा रहे हैं? प्रथम बात कि आपकी भगवान के प्रति अटूट श्रद्धा है तथा प्रतिज्ञा करते समय छल–कपट अंशमात्र भी नहीं था, आपने सच्चे हृदय से कहा था, आपने भक्त के पद पर स्थित होकर ही एक का जीवन बचाने के लिए अपना जीवन दाव पर लगा दिया। इसलिए जायें आप, जल्दी करें, वह आपका भाई तो कुछ ही दिनों में कारागार से मुक्त होकर आनेवाला है और यदि आप संन्यास नहीं लेते हैं तो या तो आप पागल हो जायेंगे अथवा मृत्युतुल्य दुःख के घेरे में घिर जायेंगे।

ज्ञान एवं कर्म दोनों में से किसी एक में भी भली प्रकार स्थिति हो गयी मन की, तो बात बनते देर नहीं लगेगी। अब प्रश्न खड़ा होता है कि इन दोनों में से किसी एक में भी अच्छीप्रकार से स्थिति हो जाय, उसके लिए कौन–कौन से साधन हैं? हाँ तो ध्यान दें– ज्ञानयोग में भलीभाँति स्थिति होवे, इसके लिए छः अंगों को धारण किया जाता है– शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान, जिसमें स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन से मन की चंचलता का अभाव हो जाता है, जिसे शम कहते हैं। स्वजनों के त्याग से दम की प्राप्ति होती है, जिसे इन्द्रियदमन कहते हैं। दुःख–दोषों पर, मायिक व्यवहारों पर चिन्तन करने, विचार करने से निर्मल वैराग्य की प्राप्ति होती है, जिसे उपरति कहते हैं। शरीर को अपना नहीं मानने से, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान, राग एवं द्वेष नामक द्वन्द्वों का आघात सुखपूर्वक सहन होता है, जिसे तितिक्षा कहते हैं। सद्गुरु में सगुण ब्रह्म की तरह ही विशुद्ध भक्ति हो, उसे श्रद्धा कहते हैं तथा उसके उपदेश को ही योग, जप, तप आदि मान लेने पर सहज ही प्राप्त होती है आत्मरूपता, जिसे कहते हैं समाधान (समाधि)। इसप्रकार आप विचार करें कि इन छः अंगों में आपके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि की अच्छी तरह प्रतिष्ठा है? यदि हाँ, तो वह दिन दूर नहीं जिस दिन आप भी वही कहेंगे जो भगवान कह रहे हैं। अब आते हैं, 'कर्मयोग में अच्छीप्रकार प्रतिष्ठित हैं या नहीं', इसपर विचार करने के लिए– कर्मयोग संन्यासाश्रमी साधक का भी साधन है और गृहस्थाश्रमी साधक का भी। एक तरफ भगवती शबरी, आरुणि, उपमन्यु, सत्यकाम आदि संन्यासाश्रमी कर्मयोगी (भक्तियोगी) हैं, तो दूसरी तरफ राजा जनक एवं राजर्षि हरिश्चन्द्र, रघु,

दिलीप, लीलावती, चूडाला, माँ मदालसा गृहस्थाश्रमी कर्मयोगी हैं। संन्यासाश्रमी कर्मयोगी आप हैं तो नवधाभक्ति के नौ अंगों में अच्छीप्रकार आपके तन, मन, वचन एवं बुद्धि की प्रतिष्ठा है क्या? यदि हाँ, तो चिन्ता की बात नहीं है, एक दिन नवधाभक्ति की प्रतिष्ठा ही ब्रह्म में भलीभाँति प्रतिष्ठित कर देगी। यदि गृहस्थाश्रमी कर्मयोगी हैं तो माता–पिता, पुरोहित–अतिथि एवं दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षियों तथा दीन–दुखियों के प्रति देवबुद्धि है क्या? गृहस्थाश्रमी ब्रह्मचर्य को भलीभाँति पूरा कर रहे हैं क्या? क्या गृहस्थाश्रमी अहिंसा आपके पास है? क्या स्वाध्याय करते हैं? सत्य बोलते हैं? ऐसा तो नहीं है कि सत्य बोलने में असत्य एवं हिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् सत्य सुनने की सामर्थ्य जिसमें नहीं है उसपर आप सत्य का प्रहार तो नहीं करते? क्या समयानुसार संध्याओं में जप, तप, योग के लिए बैठते हैं? क्या मानसिक पूजन भलीभाँति होता है? यदि हाँ, तो वह दिन दूर नहीं जिस दिन आप राजा जनक की जगह पहुँच जायेंगे।

(यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं.....) अरे! भगवान की दृष्टि में आध्यात्मिक साधक वही है जो ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग को तत्त्वदृष्टि से एक ही समझता है अर्थात् फलरूप से इनमें भेद नहीं देखता है। जो यह समझता है कि कर्म से कर्म की प्राप्ति होती है तो वह मूर्ख है, उसकी बात पर क्या ध्यान देना। वह मनमाना चिल्लाता रहे लेकिन उसकी सुनने के लिए बुद्धिमानों के पास कान कहाँ हैं। जाजलि जैसा कोई मूर्ख ही संन्यास को श्रेष्ठ मानकर कर्मयोग का त्याग करता है। घर में लड़ाई–झगड़ा होने पर वह कहता है– इससे तो साधु बन जाना ही अच्छा है।

(साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः.....यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं.....) अब युद्ध के मैदान से भगवान के द्वारा महात्मा अर्जुन के लिए लताड़ भी सुनते चलें– भगवान ने इस मंत्र में एक बार पुनः कहा कि तुम मूर्ख हो पण्डित नहीं। हे पार्थ! तुम अपने को पण्डित तो समझते हो लेकिन पण्डित संशयात्मा नहीं होता, संशयात्मा तो मूर्ख ही होते हैं। तुमसे तो कल्याणी द्रौपदी ही विशेष बुद्धिमान है, जिसने भरी सभा में कौरवों सहित तुम पाण्डवों को भी ललकारा था। अब बात समझ में आयी कि तुम उस समय उसके प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दे पाये। वहाँ भी वही स्वजन थे और यहाँ भी वही स्वजन हैं, जो तुम्हें पलायनवादी संन्यासी बनने के लिए बाध्य कर रहे हैं। उस समय भी जो अपने और पराये भाव से मुक्त था उस विदुर ने स्पष्ट कहा था कि 'हे सभासदो! यह प्रश्न सजीव है। बेटी द्रौपदी प्रश्न जीवित पुरुषों से कर रही है, मरे हुए लोगों से नहीं। सामर्थ्य होते हुए भी जो ऐसे अवसर पर नहीं बोलेगा उसे गूँगा होने का पाप लग जाएगा।' हे पार्थ! इस न्याय से इस समय तुम तो गूँगे एवं बहरे हो ही रहे हो लेकिन मैं गूँगा, बहरा नहीं बनना चाहता। तुमने मुझे अपना सद्गुरु बना लिया है, जिसका धर्म भलीभाँति मुझे पता है। ऐसे अवसर पर मैं तुम्हें विकर्ममय धर्मयुद्ध करने का उपदेश नहीं देता तो मुझे भी गूँगा होने का पाप लग ही जाता और सच पूछो पार्थ! तो मैं किसी के भी प्रश्न का उत्तर दिये बिना नहीं रहता। इसी से अपनी प्रतिज्ञानुसार मैं अपनी कल्याणी द्रौपदी का उत्तर देने के लिए उसकी साड़ी बन गया था, उसकी लाज बन गया था, शक्ति बन गया था, उसकी मर्यादा बन गया था।

महात्मा अर्जुन के मन में विचार कौंध पड़े कि यदि ऐसा है तो महात्मा विदुर क्यों भाग

खड़े हुए, युद्ध के मैदान में क्यों नहीं आये? उन्हें तो आप कुछ कहने नहीं गये? प्रभु ने मन की बात जान ली और कहा– हाँ, तुम ठीक ही सोच रहे हो! अरे! महात्मा विदुर जैसा युद्ध तो कोई कर ही नहीं सकता। उनके द्वारा किया गया युद्ध पितामहभीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य आदि गिनती के ही लोग देख रहे हैं। हाँ, उनके युद्ध करने का ढंग अलग है। इस समय हस्तिनापुर का त्याग करना ही उनका धर्मयुद्ध है। उस महात्मा ने युद्ध कब नहीं किया? दुर्योधन, शकुनि आदि से छल करके तुमलोगों को लाक्षागृह में जलने से बचाया, धृतराष्ट्र का तिरस्कार कर तुम्हारे महात्मा पिता पाण्डु को सिंहासन दिया, महाराज युधिष्ठिर को जूआ खेलने से मना किया, द्रौपदी–चीरहरण के समय पितामह तथा आचार्य द्रोण सहित सभी महावीरों को गूँगा, बहरा एवं हिजड़ा बना दिया और तुम यह न भूलो कि वे अब एक दूसरे युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। वह यह कि जब तुमलोग युद्धविजेता हो जाओगे तब वे महात्मा आकर धृतराष्ट्र को धर्मोपदेश के द्वारा संन्यासी बनाकर वनप्रदेश को ले जायेंगे। वे धृतराष्ट्र का पीछा नहीं छोड़ेंगे तबतक, जबतक कि तुमलोगों को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बिठा न दें। उनका यह कालिक संन्यास (जो संन्यास समयबद्ध हो) मेरी प्रेरणा से है और तुम्हारे संन्यास की कामना स्वजनमोह के कारण से है। कदाचित् वे इस युद्ध में रहते और वीरगति को प्राप्त हो जाते तो फिर धृतराष्ट्र को संन्यासी बनानेवाला युद्ध कौन करता? इसप्रकार तुम्हारे जैसा मूर्ख ही कर्म एवं ज्ञान में भेद देखकर अपने चित्त को सम शान्त नहीं होने देता।

अब इन दोनों ही मार्गों में जो आत्मरूपता को ही देते हैं, उनमें सर्वसाधारण के लिए ज्ञान दुःखसाध्य है, इस विषय पर प्रभु ने प्रकाश डालने का मन बनाया है। वे कहते हैं–

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

हे महाबाहो! अहर्निश सद्गुरु की संगति के अभाव में ज्ञानयोग दुःखसाध्य हो जाता है। ठीक इसके विपरीत भगवत्कर्म में भलीभाँति प्रतिष्ठित पुरुष सुगमता से शीघ्रातिशीघ्र अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अब कर्मयोग की महिमा गाते हुए पुनः भगवान कहते हैं– कर्मयोगी भी भगवत्कर्म में अच्छीप्रकार यदि प्रतिष्ठित है तो विशुद्ध अन्तःकरण हुआ, मन, बुद्धि से अनासक्त हुआ, जितेन्द्रिय पुरुष, 'सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मरूपता है', कर्मासक्त हो ही नहीं सकता।

(सन्न्यासस्तु महाबाहो.....) कर्मयोग के बिना ज्ञानयोग असंभव है। उसके लिए तो देवताओं ने जैसे प्रद्युम्न को छः महीने में मंत्रयोग की शक्ति से बारह साल का बना दिया था, उसीप्रकार कोई सद्गुरु किसी विशेष प्रयोजन से किसी समर्पित शिष्य को सीधे ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित कर दे तो उसकी बात यहाँ नहीं की जायेगी; लेकिन यदि ऐसी बात नहीं है तो स्पष्ट ही है कि बच्चा

जवान होते–होते जवान हो जाता है, जवान वयस्क होते–होते वयस्क होता है, वयस्क वृद्ध होते–होते वृद्ध हो जाता है, ऐसा नहीं होता कि बच्चा सहसा जवान हो जाए, जवान सहसा वयस्क या बूढ़ा हो जाय। उसीप्रकार कर्मयोग होते–होते ज्ञानयोग प्रारंभ हो जाता है, ऐसा नहीं है कि ज्ञानयोग में ही सहसा प्रवेश मिल जाता है। साहित्य और गणित (विज्ञान) का भेद दसवीं कक्षा के बाद ही किया जाता है, उसके पूर्व सभी विषय पढ़ने पड़ते हैं; उसीप्रकार कुछ वर्षों तक तो सभी कर्मयोगी होते हैं ब्रह्मचर्याश्रम में, लेकिन विद्याध्ययनोपरान्त सद्गुरु निर्णय करता है कि कौन ज्ञानयोग का अधिकारी है, कौन कर्मयोग का।

'फिर तो आपने तीसरे अध्याय के तीसरे मंत्र 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा..... अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही सनातन मार्ग हैं' का ही खण्डन कर दिया तथा इससे इसी अध्याय का चौथा मंत्र '.....एकमप्यास्थितः सम्यग्..... अर्थात् दोनों में से किसी एक में भी भलीभांति मन, बुद्धि, चित्त की प्रतिष्ठा हो जाय तो एक ही फल आत्मज्ञान मिलेगा'– यह गलत हो जायेगा?– नहीं, नहीं ऐसा नहीं है, बहुत बार कहा गया है कि सत्ययुग के प्रथम चरण में न कोई वर्णव्यवस्था थी न किसी कर्म का विभाजन था। क्यों? वह इसलिए कि उस समय सभी ज्ञानयोगी ही हुआ करते थे, कर्म मार्ग था ही नहीं। अतः दो मार्ग की बात उस समय थी ही नहीं। उत्तरकाण्ड श्रीरामचरितमानस में स्पष्ट लिखा है–

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।

यह तो जो पुरातन एवं सनातन मार्ग कहा गया है तब से जबसे वर्णविभाजन हुआ है, गुण एवं कर्म के अनुसार साधना का विभाजन हुआ है तथा एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि जिस समय भगवान बोल रहे हैं, उस समय द्वापर बीत रहा है, कलियुग आ रहा है, कलियुग की छाया पड़ गयी है, अतः भगवान सामयिक बातें कर रहे हैं असामयिक नहीं। देश, काल, अवसर के अनुसार परिभाषा भी बदलती रहती है। जहाँ सत्ययुग में ध्यान, ध्यान, ध्यान अपने स्वरूप के ध्यान की ध्वनि गूँज रही थी सबमें, क्योंकि ग्रहण करने की कुछ बात ही नहीं थी, वहीं सत्ययुग के द्वितीय चरण से त्रेतायुग तक यज्ञ, यज्ञ, यज्ञ करने की ध्वनि गूँजने लगी, वहीं द्वापर में दया के साथ मानसिक पूजा प्रधान हो गई तथा कलियुग में दान, दान, दान, दान करो की आवाज आने लगी। क्यों? इसलिए कि ग्रहण, ग्रहण, ग्रहण करो– ऐसा करते करते मेरा–तेरा, इनका–उनका रूप ग्रहण ही लग गया है, इसलिए कर्म, कर्म, कर्म करो की ध्वनि प्रधान हो गयी है। यही कारण है कि कर्म को व्यवस्थित करने की बात की जा रही है। अब मानो कर्मयोगरूप जेर से ज्ञानयोगरूपी शिशु को प्रकट करना है। जहाँ सतयुग के द्वितीय चरण से ज्ञान–ध्यानरूप भूमि से कर्मरूपी बीज को बोने की बात होने लगी, वहीं त्रेता में यज्ञरूप गर्भ से भगवान को प्रकट किया जाने लगा तो द्वापर में मानसिक पूजनरूप सगुणध्यान से निर्गुणरूप आत्मा की प्राप्ति की बात की जाने लगी और अब तो कर्मयोगरूपी जेर से ज्ञानरूप ब्रह्म को प्राप्त करना ही है। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि जिसका कर्म ही व्यवस्थित नहीं हुआ अर्थात् जो कर्म में ही व्यवस्थित नहीं हुआ वह ज्ञान में व्यवस्थित कैसे हो सकता है; क्योंकि उसमें तो कुछ

पकड़ना ही नहीं है। सारा जगत उसे बोलेगा अनाप–शनाप लेकिन वह मौनी ही रह जायेगा, सारा जगत सोयेगा लेकिन उसे जगाया जायेगा, सारा जगत खायेगा लेकिन उसे भूखा रखा जायेगा, सारा जगत सुनेगा लेकिन उसे बहरा होकर रहना पड़ेगा, सारा जगत पिटाई करेगा लेकिन उसे प्यार करना पड़ेगा, सारा जगत रोयेगा–हँसेगा, उसे भी रुलायेगा, हँसायेगा लेकिन उसे सम शान्त बना रहना होगा। ऐसी ही सारी बातें हैं, अतः कितना कठिन है संन्यास, इसी से अनुमान लगाया जा सकता है। ठीक इसके विपरीत कर्मयोग में रोने की, हँसने की भी व्यवस्था है, सोने–जागने की भी व्यवस्था है, देखने–सुनने, बोलने–चालने की भी व्यवस्था है। चोरी करने की, छल, कपट, दम्भ करने की भी व्यवस्था है। अतः इन भावविकारों की भी व्यवस्था कर ली जाय तो कालान्तर में अपनी आत्मरूपता में प्रवेश सहज ही मिल जायेगा। इसीलिए भगवान ने तत्काल इसकी महिमा भी गा दी तथा कर्मयोग के अंगों को भी दे दिया। जहाँ ज्ञानयोग के छः अंग शम, दम आदि हैं, वहीं प्रभु ने मानो कर्मयोग के पाँच अंग दिये हैं। वे पाँचों अंग इसप्रकार हैं– कर्मनिष्ठा, निर्मलचित्तता, मनोजयिता, जितेन्द्रियता और सर्वत्रआत्मदर्शिता। यदि आप कहते हैं कि भक्ति और अष्टांगयोग को आपने कर्मयोग का अंग क्यों नहीं कहा? तो इसपर आपने विचार नहीं किया, इसीलिए कि ये तो इन चार अंगों के उपांग ही हैं। अतः उन्हीं के अन्तर्गत आ ही गये तथा एक बात और जान लेनी चाहिए कि इन नवधाभक्ति के नौ अंगों में से और अष्टांगयोग में से भी कुछ अंग ज्ञानयोग के उपांग ही हैं। इसीलिए भी इन्हें स्वतंत्र रखा है।

भगवान ने मंत्र चार की– 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' अर्थात् दोनों में से किसी एक में अच्छीप्रकार स्थित हुआ पुरुष आत्मपद को प्राप्त कर लेता है', इसी अध्याय के सातवें मंत्र में भी व्यवस्था दी है। वह कैसे? तो देखें–

(योगयुक्तो विशुद्धात्मा.....) अहर्निश सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म करता रहे। ऐसा नहीं कि रात और दिन में– दिन भर तो गुरु की आज्ञापालन कर रहा है और रात में स्वजनों की आज्ञा को महत्त्व दे रहा है या ऐसा नहीं कि योग, जप, तप तो सद्गुरु के अनुसार कर रहा है और कर्म स्वजनों के अनुसार या अपने मन के अनुसार कर रहा है अथवा ऐसा भी नहीं कि मानुषकर्म गुरुदेव के अनुसार कर रहा है और देवकर्म पुरोहितों के अनुसार कर रहा है; बल्कि सम्पूर्ण कर्मों को सद्गुरु के अनुसार ही करता है तब वह योगयुक्त अर्थात् कर्मनिष्ठावाला कहा जाता है। सम्पूर्ण कर्मों का कहने का तात्पर्य है– पुत्र–कर्म, पितृ–कर्म, सेवक–कर्म, भ्रातृ–कर्म, मित्र–कर्म, हित–नातेदार कर्म इत्यादि अर्थात् कहीं तो आप पिता होते हैं, कहीं आप पुत्र, कहीं आप भाई हैं तो कहीं मित्र, कहीं आप सेवक हैं तो कहीं स्वामी और सारे पदों के अनुसार कर्म का निर्णय किया गया है। यदि आप कहते हैं कि इन सबका कर्म तो उस पद के अनुरूप होने पर अपने–आप ही होता जायेगा तो ऐसा नहीं है। महाराज स्वयं देख रहा है कि धर्मपत्नी जब पुत्रकाम की इच्छा से पति को स्वीकार करती है तभी वह धर्मपत्नी कहलाती है। अन्य समय में तो वह कभी पति की ही माँ, कभी पुत्री, कभी मित्र तो कभी गुरु बन जाती है। अतः उस–उस

समय का ध्यान रखना होगा तभी उसके साथ आदर्श व्यवहार होगा अन्यथा जीवनपर्यन्त टोका–टोकी, मारा–मारी, छीना–झपटी होती ही रहेगी। उसीप्रकार पुत्र भी समय के अनुसार पिता का कभी पुत्र, कभी भाई, कभी मित्र, कभी गुरु आदि बनता रहता है। जैसे भगवान बुद्ध अपने पिता के दरवाजे पर अतिथि बन गये थे, भले उनके पिता ने उनका स्वागत नहीं किया। इसलिए कि उनके पिता स्वयं आत्मज्ञानी होने के कारण उनसे पूर्णवाद, चेतनवाद ब्रह्म का प्रचार–प्रसार चाहते थे, लेकिन भगवान बुद्ध का प्रचार–प्रसार शून्यवाद की तरफ इशारा कर रहा था। वैसे ही कभी आपका मित्र, आपका पिता, भाई, पुत्र सबकुछ बन जाता है, इसपर आपको ध्यान देना होगा। इन सारे पदों के अनुरूप कर्म की व्यवस्था गृहस्थाश्रमी महापुरुषों की जीवनी से देखनी होगी न कि संन्यासाश्रमी आप्तकामपुरुषों की जीवनी से। आप चाहें कि हम किसी देशभक्त की जीवनी से इन सभी पदों के अनुरूप व्यवहार सीख लें तो ऐसा नहीं हो सकता बल्कि जिसका जीवन सम्पूर्णता से भगवान के लिए समर्पित होकर, तब सब प्राणियों के लिए समर्पित है, ऐसे किसी राजर्षि या ब्रह्मर्षि के आद्योपान्त जीवन को अपना आदर्श बनाना होगा। वे राजर्षि एवं ब्रह्मर्षि हैं– ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, राजा जनक, हरिश्चन्द्र, रघु, दिलीप, रन्तिदेव, मोरध्वज, उग्रसेन, प्रभु श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, माँ कौसल्या, सुमित्रा, सीता, सावित्री, मंदोदरी, तारा आदि।

निर्मल चित्तता– दूसरा अंग है विशुद्धात्मा (विशुद्ध अन्तःकरणवाला) अर्थात् जिस मन, वचन, कर्म एवं हृदय में अहर्निश एक ही कामना है– अपने स्वरूप को प्राप्त करना, उसे कहते हैं निर्मल चित्तता। श्रीरामचरितमानस में भी प्रभु श्रीराम ने कहा है कि,

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
(सुन्दरकाण्ड)

आध्यात्मिक मार्ग में यदि एक अंश भी सकामता आ गयी तो अन्तःकरण मलीन हो जाता है।

मनोजयिता (विजितात्मा)– यह तीसरा अंग है, जिसका मन जीता हुआ है अर्थात् जो किसी भी काल में मन के अनुसार नहीं चल रहा है, चाहे भले ही योग, जप, तप ही क्यों न हो, उसे कहते हैं मनोजयी। मनोजयी उसे तो कहते ही हैं जिसकी आज्ञा में मन चलता है, जैसे हनुमानजी, लेकिन आत्मजिज्ञासु सहसा ऐसी सामर्थ्यवाला तो हो नहीं जायेगा कि वह मन को आज्ञा करे और मन मान जाय, विचारों को आज्ञा दे कि ठहरो और वे मान जायें, नींद को कहे कि ठहरो और वह मान जाय; परन्तु यदि उन्हें वह स्वीकार नहीं कर रहा है, उनसे अनासक्त है, तो वह भी मनोजयी ही कहलाता है। फौज में आज ही भर्ती हुआ कोई तो साल भर के लिए वह बेमन से परिवारजनों से अनासक्त हो गया है, कई बार मन कहेगा कि छोड़–छाड़कर बाल–बच्चों के पास जाऊँ, किन्तु वह सैनिक मन की बात नहीं मानता तो उस समय वह मनोजयी कहा ही जायेगा; क्योंकि कुछ ही वर्षों में वह मन से भी फौज का सदस्य होकर, तन, मन, वचन, हृदय से देश की सेवा करने लग जायेगा।

जितेन्द्रियता (जितेन्द्रियः)– यह चौथा अंग जो आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि की खुराक को उनके मन से नहीं दे रहा है बल्कि सद्गुरु के मन से ही दे रहा हो तो यह हुई जितेन्द्रियता। इसके पूर्व तीसरे अध्याय के मंत्र चौंतीस में कहा गया है– (इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे.....) अर्थात् इन्द्रियों में राग–द्वेष छिपे रहते हैं, जो साधन पथ में विघ्न डालते हैं। अतः उनके वश में न होना; इसका तात्पर्य है कि उनके अनुसार न चलना। आँखें सुन्दर दृश्य को देखना चाहेंगी, कान पराई निन्दा और अश्लील गीतों को सुनना चाहेंगे, जिह्वा मधुर रस लेना चाहेगी, लेकिन उनके अनुसार मत चलना– इसको कहते हैं जितेन्द्रियता।

सर्वत्र आत्मदर्शिता (सर्वभूतात्मभूतात्मा)– जो सद्गुरु की आज्ञानुसार सम्पूर्ण प्राणियों में एक आत्मा को ही देखने का अभ्यास कर रहा है अर्थात् सम्पूर्ण योनियों के शरीरों को महल समझ लिया है तथा सम्पूर्ण महलों (शरीरों) में एक ही आत्मा को विद्यमान देखता है उसे कहते हैं आत्मदर्शिता। शरीरों की कहानी तो विचित्र ही है जिनके द्वारा संस्कार अपना काम करता रहता है। उनमें कोई शरीर नव दरवाजोंवाले हैं तो कोई शरीर आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो दरवाजेवाले हैं। मनुष्यों से लेकर पशु–पक्षियों, कीट–पतिंगों के इन्द्रियों में कमीवेशी पायी जाती है। पशु बिना हाथ का है तो मनुष्य बिना पूँछ का, साँप बिना हाथ–पाँव का है तो गोजर, केकड़े बहुत से पैरवाले हैं, कोई जीव बहुत मुखवाले हैं तो कोई जीव बिना मुखवाले हैं, कोई मुख से खानेवाले हैं तो कोई नाक से। श्रीरामचरित मानस में इनका संकेत है–

कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू।।
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तनखीना।।
(बालकाण्ड)

इसप्रकार शरीर संस्कार तथा आत्मा ये तीन तो सबमें हैं ही। अतः शरीर और संस्कार को छोड़कर चेतन आत्मा ही जिसकी आत्मा बन गया है, उसी की तरफ दृष्टि रखनेवाला आत्मदर्शी कहलाता है। इसप्रकार कर्मयोगी सबमें आत्मा को प्रमुखता देते हुए अपना व्यवहार सम्पादन करते हैं। यदि इसप्रकार किसी के कर्म की व्यवस्था व्यवस्थित है तो वह निश्चितरूप से आत्मज्ञानरूप परम लाभ को प्राप्त करता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो ही जाता है और ऐसा जब पूर्व में राजर्षिगण करते आये हैं तो आप क्यों नहीं कर सकते, भगवान के कहने का मात्र प्रयोजन यही है। दूसरे अर्थों में आपका कर्म सद्गुरु की व्यवस्था के अनुसार व्यवस्थित है तो निश्चितरूप से आपको निर्मल चित्तता, मनोजयिता, जितेन्द्रियता तथा सर्वत्र आत्मदर्शितारूप फल प्राप्त होगा ही होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

संन्यास साध्य तो है लेकिन दुःखसाध्य है। इसके साधन के लिए कोई आधार ही नहीं दिखाई पड़ता, जबकि आधार से आधेय की प्राप्ति होती है। इसमें सद्गुरु की सांकेतिक भाषा को पकड़ना होता है, सूक्ष्म बुद्धि ही उस संकेत को समझ सकती है और जब बुद्धि संकेत को समझने लगे तो संन्यास अति सुखसाध्य हो जाता है। दुःखसाध्य इसलिए है क्योंकि इसमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि का पालन ही बड़ा कठिन हो जाता है, अतः देहाभिमानी के लिए

यह अति जटिल है और कर्मयोगी शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्म को इसलिए प्राप्त कर जाता है; क्योंकि उसके पास सद्गुरुयोग है तथा उसने शरीर, इन्द्रियों, चित्त, मन आदि को सद्गुरु को समर्पित कर दिया है। ऐसे समर्पण के कारण ही भगवान ने उसे मुनि शब्द से सम्बोधित किया है, मननशील होने के कारण ही इसे मुनि कहा गया। यही तो कारण है कि भगवान ने जितनी प्रशंसा ज्ञानयोगियों की की है उतनी ही कर्मयोगियों की भी की है।

(योगयुक्तो विशुद्धात्मा.....) जो कर्मयोग से ही ब्रह्म की चाहना करनेवाले हैं, वे विशुद्धात्मा हैं, विजितात्मा हैं, जितेन्द्रिय हैं। वे ही सम्पूर्ण भूतों की आत्माओं को अपनी आत्मा समझते हुए, कर्मों को करते हुए भी कर्मदोष से दूषित नहीं होते। दूसरे अर्थों में योगयुक्त वही है, जिसके हृदय में सम्पूर्ण भूतों का आत्मरूप हुआ विशुद्धात्मा, विजितात्मा सद्गुरु बैठा हुआ है। वह उसी की प्रेरणा से कर्मों को करता हुआ कर्मबन्धन में नहीं पड़ता। सद्गुरु को हृदय में बिठाकर उसने पुत्र, पत्नी, तथा धन को हृदय से बाहर निकाल दिया है; क्योंकि योगयुक्त होने के पूर्व ये क्षुद्र आत्माएँ– पुत्र, धन एवं स्त्री आदि ही उसकी आत्मा बन बैठी थीं, लेकिन जैसे ही विजितात्मा एवं जितेन्द्रिय सद्गुरु को उसने हृदय में बिठाया वैसे ही वह भी सम्पूर्ण विशेषणों से युक्त हो गया। आप सब नहीं देख रहे हैं कि महात्मा भरत प्रभु श्रीराम को पाकर हृदय से कैकेयी को बाहर कर विजितात्मा हो गये, जितेन्द्रिय हो गये! महात्मा विभीषण भी अपने हृदय से रावणसहित लंका के ऐश्वर्य को त्यागकर, सम्पूर्ण भूतों की आत्मा प्रभु श्रीराम को पाकर विजितात्मा एवं जितेन्द्रिय कहलाये! जितेन्द्रिय वही होता है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। पूर्व में कहा गया है कि स्वजन ही अपनी स्थूल इन्द्रियाँ हैं। जिन–जिन लोगों ने सर्वप्रथम इन स्थूल इन्द्रियों को त्यागकर सद्गुरु की शरणागति स्वीकार की वे विजितात्मा, जितेन्द्रिय हो ही गये। गृहस्थाश्रम में आये दिन, हर पल संग्राम का अवसर आता रहता है यदि कोई मुमुक्षु है तो! और यदि कोई मुमुक्षु नहीं है तो उसका हिजड़ों का जीवन है। भगवान का यहाँ स्पष्ट संकेत है कि सम्पूर्ण भूतों की आत्मा ही जिसकी आत्मा हो गया है, वह शरीर, वाणी, मन, बुद्धि, चित्त से जो कुछ भी करे, उसका दोष उसे स्पर्श नहीं करता। अतः इस कारण से वह श्रेष्ठ है। यदि कोई कहता है कि तन, मन, वचन, हृदय से वह कर्मयोगी कुछ भी करता हुआ लिपायमान नहीं होता तो क्या वह बुरे कर्मों को करके भी दोषी नहीं होता? नहीं नहीं ऐसा नही है; यह तो स्पष्ट ही है कि जिसके हृदय में सम्पूर्ण आत्माओं की आत्मा बैठा है, उससे क्या बुरे कर्म होंगे! क्या कभी ऐसा हुआ है? किसी शास्त्र में तो ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। दूसरे अर्थो में कर्मयोग इस कारण से भी श्रेष्ठ है कि आप जैसे देहाभिमानी को सद्गुरु प्राप्त हो गया अर्थात् शरीर को अपना माननेवाले आत्मजिज्ञासु को आत्मज्ञानी गुरु प्राप्त हो गया तो उसके लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, इसलिए कि उसका कर्मयोग ज्ञानयोग की समानता करनेवाला है। महात्मा अर्जुन को भगवान नारायण सद्गुरु के रूप में प्राप्त हैं, इसलिए ही तो भगवान उन्हें हे जितेन्द्रिय, हे महाबाहो, हे महावीर, हे महात्मा आदि कहकर पुकार रहे हैं!

इस मंत्र के द्वारा जब भगवान यह कह रहे हैं कि 'जो सम्पूर्ण भूतों की आत्मा को अपनी

आत्मा समझ रखा है वह कुछ भी करता हुआ कर्मों के दोषों से लिपायमान नहीं होता तो इसका तात्पर्य कि वह धर्मविरोधी स्वजनों का वध करता है, तभी तो विजितात्मा एवं जितेन्द्रिय कहलाता है। तो यह अर्जुन के लिए संकेत है कि तुम संकोच मत करो, जितेन्द्रिय बनो, विशुद्धात्मा बनो, विजितात्मा बनो, सम्पूर्ण भूतों की आत्मा मुझ परमात्मा के शरणागत हो जाओ, इसके उपरान्त तुम स्वयं देखोगे कि स्वजनों का वध करने के बाद भी तुम्हारे मन में किञ्चित् मात्र भी शोक–सन्ताप नहीं होगा।

यहाँ तक प्रभु ने पुनः कर्मयोग की प्रशंसा करके अर्जुन की तरफ आशा भरी दृष्टि से देखा, लेकिन हाथ में निराशा ही आयी; क्योंकि महात्मा अर्जुन ने गाण्डीव नहीं उठाया। उधर युद्ध की तरफ चलते हैं तो पता चलता है कि धृतराष्ट्र उस क्षण की प्रतीक्षा में हैं, जिस क्षण में अर्जुन यह कह दें कि हे माधव! आप चाहे कुछ भी कहें, मैं युद्ध तो नहीं ही करूँगा। इसी आशा को लेकर धृतराष्ट्र ने पूछा– संजय! अबतक की वार्ता का सारांश तो बता दो!

संजय ने कहा– हाँ अन्नदाता! एक ऐसे धर्म को लाकर खडा कर दिया भगवान नारायण ने कि अब तो अर्जुन को युद्ध करना ही पड़ेगा। राजन्! मुझे तो लग रहा है कि मानो वे कह रहे हों– जब पितामहभीष्म अपने गुरु परशुरामजी से धर्मयुद्ध कर सकते हैं तो तुम इनसे धर्मयुद्ध क्यों नहीं कर सकते? यही नहीं, इस समय ये अपने पद पर भी नहीं है जबकि वहाँ परशुरामजी तो अपने पद पर थे। परशुरामजी के पास कोई दूसरा परशुराम नहीं था, जबकि इनके पास तो दूसरा भीष्म है और वह भीष्म मैं हूँ। मैं भी इन्हीं की तरह प्रतिज्ञावाला हूँ। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.....'– यह मेरी ब्रह्म प्रतिज्ञा है, जिसको ये खूब अच्छीप्रकार जानते हैं और जानते हैं तो फिर इन्हें पूछना चाहिये कि हे प्रभु! आपने अलग प्रतिज्ञा कर ली मैंने अलग प्रतिज्ञा कर ली, तो फिर मेरी प्रतिज्ञा का क्या होगा? इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के सामने मेरी प्रतिज्ञा का महत्त्व कुछ भी नहीं रखा लेकिन तुम ऐसा न करो, तुम तो मेरी प्रतिज्ञा का मान रखो! इस न्याय से भी तुम युद्ध करने के ही अधिकारी होते हो।

हाँ संजय! बात तो तुम ठीक ही कह रहे हो। धर्म की परिभाषा तो जो परिभाषित की है माधव ने वह अपने–आप में अपूर्व है। इस न्याय से तो अर्जुन का युद्ध करना धर्म हो ही जाता है लेकिन इस समय मेरा पुत्र अर्जुन जो मेरे जैसा ही धर्मभीरु हो गया है, मेरे जैसा ही जिसका चित्त मोह से आच्छादित हो गया है, उसकी स्थिति कैसी है? जब भगवान मधुसूदन ने एक बार फिर युद्ध के लिए ललकारा है तो क्या वह गाण्डीव की तरफ नहीं देख रहा है? धृतराष्ट्र ने पूछा।

नहीं राजन् नहीं, उनके मन में कुछ प्रश्न चल रहा है। वे सोच रहे हैं कि जो ज्ञानयोग मेरे लिए बड़ा ही कठिन है; बड़ा ही कठिन है, इतना कठिन है कि मैं भगवान जैसे सद्गुरु को पाकर भी इसका साधन नहीं कर सकता तो फिर इसका स्वरूप क्या है? भगवान ने मन की बात जान ली और कहा–

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

वह ज्ञानयोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, सूँघता हुआ, खाता–पीता, सोता–जागता हुआ, छोड़ता–पकड़ता हुआ, आँखों को बन्द करता हुआ, खोलता हुआ भी कहता है कि मैं कुछ नहीं करता बल्कि इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में व्यवहार कर रही हैं।

इन दोनों ही मंत्रों से स्थूल इन्द्रियों के द्वारा किये जाते हुए कर्म को ही वह नहीं देखता, बल्कि ऐसा समझता है कि इन्द्रियाँ तो अपने अर्थों में बरत रही ही हैं लेकिन अन्तर इन्द्रियों से भी मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। अर्थात् जिसप्रकार आँखों से भावरूपी संस्कार देखता है, कानों से भावरूपी संस्कार ही सुनता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से भावरूपी संस्कार ही कर्म करता है, उसीप्रकार मन से भावरूपी संस्कार ही मनन करता है, बुद्धि के द्वारा वह भावरूपी संस्कार ही चिन्तन करता है और चित्त से भावरूपी संस्कार ही ध्यान करता है। इसप्रकार इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के द्वारा अपना–अपना स्वार्थ पूरा कर रही हैं। वे इन्द्रियाँ कौन–कौन सी हैं जो इन्द्रियों के द्वारा अपना स्वार्थ पूरा करती हैं? 'वे इन्द्रियाँ हैं– माता, पिता, भाई, बान्धव, पुत्र, पत्नी, हित, मित्र तथा मकान एवं धन–सम्पत्ति (ऐश्वर्य)। मानो माता–पिता दो आँखे हैं, जिनके माध्यम से संस्कार (स्थूल नेत्रों के द्वारा) देखता है; भाई–बान्धव, हित–मित्र ये दो कान हैं, जिनके माध्यम से भावरूपी संस्कार सुनता है; परिवार एवं पड़ोस ये दो नाक हैं, जिनके माध्यम से भावरूपी संस्कार कुत्ते की तरह सूँघ–सूँघकर व्यावहारिक जासूसी करता रहता है; पुत्र ही वह जिह्वा है, जिसके माध्यम से भावरूपी संस्कार नानाप्रकार का रस लेता रहता है; धर्मपत्नी ही शिश्न है, जिसके माध्यम से भावरूपी संस्कार इन्द्रियस्पर्श (आनन्द) का अनुभव करता है; लोकमत ही मनरूप इन्द्रिय है, जिसके माध्यम से वह सामाजिक प्रथा पर मनन करता रहता है; वेदमत ही उसकी बुद्धि है, जिसके माध्यम से भावरूपी संस्कार दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है। इसप्रकार ज्ञानयोगी स्पष्ट देखता है कि आजतक तो मैंने कुछ किया ही नहीं है, कर्म से ही कर्म होता रहा, इन्द्रियों से ही इन्द्रियाँ चलायमान होती रहीं और आज भी हो रही हैं।

कर्मयोगी की साधना जहाँ भावप्रधान होने से शरीर, मन, बुद्धि से प्रारम्भ होती है, वहीं ज्ञानयोगी की साधना चिन्तनप्रधान होने से आत्मा से ही प्रारम्भ होती है। कर्मयोगी स्पष्ट कहता है कि शरीर, वाणी एवं मन से मैं गुरु की प्रसन्नता के लिए कर्म कर रहा हूँ अर्थात् उनकी आज्ञा से ही मेरे तन, मन, वचन, हृदय से कर्म हो रहा है। वहीं ज्ञानयोगी यह कहता है कि मैं तो देख ही रहा हूँ कि न पहले किया, न अब कर रहा हूँ, न आगे करूँगा; क्योंकि जैसा मेरे गुरुदेव ने बताया था वैसा ही मैंने अपने–आपसे भी चिन्तन करके पाया। अपने–आप होती हुई क्रिया को मैं मूर्खतावश क्यों स्वीकार कर लूँ कि मैं करता हूँ। मेरे नहीं चाहने पर भी आँखें दृश्य देखती

हैं, कान शब्द सुनते हैं, नाक सुगन्ध–दुर्गन्ध का अनुभव करती है, जिह्वा को रस का अनुभव होता ही है, भूख–प्यास अपने–आप आती ही है, नींद अपने–आप आती है, सपने अपने–आप होते हैं, नींद अपने–आप टूट जाती है; रही बात मन, बुद्धि, चित्त में विचारों एवं सांसारिक रूपों के आन्दोलन की, तो वह तो बिना मान्यता के होगा ही नहीं। अतः अब मैं किसी भी पदार्थ या विषय को न अपना मानूँगा न पराया, किसी को माता, पिता, पुत्र नहीं मानूँगा तो मोह नहीं आएगा, किसी को स्त्री नहीं मानूँगा तो काम नहीं आएगा, किसी को वैरी नहीं मानूँगा तो क्रोध नहीं आएगा, द्वेष नहीं आएगा, किसी को हित–मित्र नहीं मानूँगा तो राग (आसक्ति) नहीं आएगा। आखिर मैं मानूँ भी तो क्यों? जब सम्पूर्ण मान्यताएँ भावविकार ही हैं तो मुझ आत्मा के द्वारा उन्हें स्वीकार करना महामूर्खता ही तो है, तो लो मैंने सम्पूर्ण मान्यताओं को त्याग दिया। यही पुरातनयोग है और अब मैं अपने पुरातनयोग को स्वीकार कर रहा हूँ। मैं सदा–सर्वदा से शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा था तथा आगे भी रहूँगा।

सद्गुरु योग्यता के अनुसार कर्मयोगी से कहता है कि तुम आत्मा हो और यह तुम्हारा शरीर है, ये तुम्हारी इन्द्रियाँ हैं, यह तुम्हारा मन है, यह तुम्हारी वाणी है, यह तुम्हारी बुद्धि है, इनके द्वारा तुम मेरी प्रसन्नता के लिए युद्ध करो और ज्ञानयोगी से कहता है कि न तुम शरीर हो और न तुम्हारा शरीर है, न तुम्हारी वाणी है, न तुम्हारी इन्द्रियाँ हैं, न तुम्हारी बुद्धि है बल्कि तुम तो शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हो, अतः सर्वस्व का त्याग कर दो। मैं शरीर हूँ, यह क्षुद्रभाव ही सर्वस्व है, इसका त्याग कर देने से अपना शुद्ध साक्षी चेतनरूप अपने–आप ही प्रकट हो जायेगा।

एक दिन प्रश्न किया महाराज ने अभयानन्द से कि तुम क्या देख रहे हो? वहीं खड़े कृपानन्द से भी पूछा कि तुम क्या देख रहे हो? सवेरे–सवेरे क्या देखते आये थे, कहाँ से आये, किस लोक से आये? उसके उपरान्त दोनों ने समझा कि लगता है ये स्वप्नलोक की बात कर रहे हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने कहा कि सपना देखते चले आ रहे हैं। महाराज ने पुनः पूछा– अब क्या कर रहे हो? उन्होंने कहा– 'अब आपको स्नान करायेंगे तथा शौच आदि से निवृत्त होकर हमलोग भी स्नान करेंगे।' नहीं, नहीं, ऐसा मत कहो! जब स्वप्न में सारी क्रिया को करके भी यहाँ कह रहे हो कि हमने सपना देखा, तब तो यहाँ भी क्यों नहीं कहते हो कि हम देख रहे हैं कि उस लोक के लिए तो यह भी स्वप्नलोक ही है! इतना ही नहीं है, यह लोक भी किसी पुरुष का स्वप्नलोक ही है, अतः अब ऐसा देखो कि अभयानन्द नाम का एक शरीर है, अभयानन्द नामक एक पुरुष है जो महाराज नाम के शरीर को अपनी आत्मा मान बैठा है। अब महाराज नाम का शरीर उठ खड़ा हुआ है, जिसे यह सद्गुरु और भगवान मानता है, इन्हें अब जल पिला रहा है, स्नान करा रहा है, इनका वस्त्र धो रहा है। अब पुनः देख रहा है कि अभयानन्द नामक पुरुष के द्वारा शौच किया जा रहा है, स्नान किया जा रहा है और मैं देख रहा हूँ– यही ज्ञानयोग है। यह तो आश्चर्य ही है कि यह अभयानन्द नामक पुरुष इहलोक, परलोक (जाग्रत्, स्वप्न) में विचरण करता हुआ अपने–आप समय व्यतीत करता है और मैं देखता रह जाता हूँ। यह कैसा

आश्चर्य है कि अबतक मैं समझ रहा था कि यह संसार है और मैं शरीर हूँ, लेकिन अब देख रहा हूँ कि न तो यह संसार है और न मैं शरीर हूँ। मैं देख रहा हूँ कि जो संसार कहा जाता है वह विश्वरूप नामक एक पुरुष है, जिसके सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, आकाश ये सात अंग हैं। अतः यह अभयानन्द नामक पुरुष भी इस विश्वरूप से प्रकट होने के कारण से इसी का एक अंग है। अतः न मैं विश्वरूप हूँ और न यह शरीर हूँ; क्योंकि ये दोनों ही मुझे दिखाई पड़ रहे हैं, अतः मैं इन दोनों की अन्तरात्मा हूँ। मैं ही इन सब के बाहर–भीतर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें, सर्वत्र व्याप्त हूँ। जैसे जल में तैरती हुई बर्फ की चट्टानों को देखते हुए भी जल नहीं कहता कि मैं तैर रहा हूँ, उसीप्रकार यह शरीर भी संस्कारों के द्वारा खाना–पीना, सोना–जागना कर रहा है, लेकिन मैं अब यह नहीं देख रहा हूँ कि मैं कर रहा हूँ। अरे! ये क्या? श्वास आ रही है, जा रही है, आँखें स्वतः ही बन्द हो रही हैं, खुल रही हैं, पूर्व के भाव विचाररूप होकर बह रहे हैं और मैं देख रहा हूँ। यह अभयानन्द नामक शरीर पलंग पर सो जाता है तथा इसी चिदाकाश में एक नये स्वप्नजगत की रचना हो जाती है; किन्तु वहाँ का वह पुरुष और यहाँ का यह पुरुष परस्पर में भिन्न हैं। दोनों ही अपने–अपने जगत के कर्ता हैं और मैं निश्चितरूप से इन दोनों का द्रष्टा हूँ। अतः ना, ना, ना, ना, ना, मैंने तो अबतक न भला–बुरा किया, न शुभ–अशुभ किया और न आगे करूँगा। अहो अब मैं–

देखते को देखूँगा, सुनते को देखूँगा।।
सूँघते को देखूँगा, बोलते को देखूँगा।।
खाते को देखूँगा, पीते को देखूँगा।।
सोते को देखूँगा, जागते को देखूँगा।।
उठते को देखूँगा, बैठते को देखूँगा।।
जाते को देखूँगा, आते को देखूँगा।।
बस देखता रहूँगा, बस देखता रहूँगा।।

इन दोनों मंत्रों को गुनगुनाते हुए राग–'भीम पलासी' स्वयं महाराज के चिदाकाश से प्रकट हो रही है। वह क्या गाती है, थोड़ा आप भी देखेंगे।

देखत देखत देखत जोगिया।
करत देखत धरत देखत, उठत बैठत चलत देखत,
सुनत देखत सूँघत देखत, खावत पीवत जावत देखत।
श्वाँसा जात आवत देखत, देखत देखत रे ज्ञान जोगिया।।
त्यागत देखत ग्रहण देखत, आँख मिचत अरू खोलत देखत,
ध्यान करत सो समाधि को देखत, मनन देखत चिन्तन देखत।
ठिठुकत देखत हिचुकत देखत, मिचुकत देखत वाहि को भोगिया।।
सूतत देखत जागत देखत, स्वप्न को देखत सुप्ति को देखत,
तुरिया देखत पुरिया देखत, धुरिया देखत कुरिया देखत।
महाराज न देखत कबहुँ, जान न पावे कोई मन के रोगिया।।

यही तो रहस्यात्मक बात है यहाँ पर कि माना कि भावरूपी वासना मन, बुद्धि, चित्त से भौतिक विषयों का मनन–चिन्तन एवं निदिध्यासन करती है, लेकिन आप चाहें तो उसी मन, बुद्धि, चित्त से आध्यात्मिक मनन–चिन्तन एवं निदिध्यासन कर सकते हैं। आप चाहें कि आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों से हम देखें, सुनें, सूँघे नहीं, आँखों को खोलें या बन्द करें नहीं, हाथ–पाँव को चलायें नहीं, गुदा एवं लिंग से मल–मूत्र का त्याग करें नहीं, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यह शारीरिक धर्म है, भावना से इन कर्मों का कुछ भी लेना–देना नहीं है, लेकिन मन, बुद्धि, चित्त आदि जो अन्तःकरण हैं, ये भावनामय हैं, वासनामय हैं। आप चाहें तो भावनाओं को त्यागकर इनको सदा–सर्वदा के लिए निष्क्रिय कर सकते हैं। आपने देखा होगा कि गाते समय या किसी गहन विषय पर चिन्तन करते समय एक भी विचार नहीं आते। गाते समय अपने–आप राग–रागिनियाँ प्रकट होती रहती हैं; वहाँ आपका संकल्प ही है कि सुन्दर राग–रागिनी प्रकट हों। जिसप्रकार यदि आप किसी गणित को सुलझाने में लगे हुए हैं तो उस समय उस गणित के अनुरूप ही सूत्रों पर विचार चलेंगे, उसीप्रकार आप आध्यात्मिक चिन्तन प्रारंभ कर दें तो भौतिक विचार आयेंगे ही नहीं। जैसे गीताजी के किसी मंत्र पर चिन्तन चल रहा है तो दूसरा चिन्तन नहीं आ सकता, इसे आप प्रयोग करके देखें। इसीलिए तो ज्ञानयोगी को अहर्निश आत्मचिन्तन करने की बात कही गयी है।

इस मंत्र के द्वारा कोई यह न समझ ले कि इस ज्ञानयोग में क्रिया है ही नहीं बल्कि इसमें क्रिया तो है लेकिन अतिसूक्ष्म क्रिया है, जैसे त्याग और चिन्तन ये ही उसकी क्रिया हैं, मैं शरीर हूँ, ये स्वजन मेरे हैं, मैं कर्ता हूँ, खाता–पीता, सोता–जागता हूँ– ऐसी क्षुद्र मान्यता का त्याग कर देना तथा वासना ही इन्द्रियों के द्वारा करती है, इस सत्य को स्वीकार करना एवं मैं शुद्ध साक्षी, चेतन आत्मा हूँ, ऐसा सम्पूर्ण सत्य को स्वीकार कर आत्मचिन्तन करने में तत्पर रहना, यही ज्ञानयोग की क्रिया है। यदि इन्द्रियों के द्वारा वासनायें करती हैं, ऐसी ही समझ को लेकर कोई द्रष्टा हो जाय तो ऐसा सहसा नहीं हो सकता बल्कि आत्मचिन्तन के उपरान्त अचिन्तनरूप शुद्ध साक्षित्व आत्मचेतनता प्रकट होगी। यदि ज्ञानयोगी एकमात्र यह समझ ले कि मैं तो कर्ता हूँ ही नहीं, वासना ही करती है तो फिर मुझे चिन्तन करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा समझने से तो वे वासनायें अपना काम करती रहेंगी और आप कहते रहेंगे कि हम शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हैं। जैसा कि आजकल इसका विशेष प्रचार–प्रसार हो रहा है। ऐसा सोचते रहने से तो भोगों की प्रवृत्ति और भी विशेष बढ़ती ही जायेगी। इसीप्रकार के एक प्रचारक को महाराज ने शराब पीते हुए देखा। वह अपने मित्रों से कह रहा था कि हाथ शराब को मुँह में डाल रहा है, देखो मुँह पी रहा है और मैं देख रहा हूँ। तबतक उसके दूसरे साथी ने जोर से एक चाँटा उसके गाल पर जड़ दिया। उसके उपरान्त वह तथाकथित ज्ञानी आग–बबूला होकर बोल उठा– समझते नहीं हो, मैं कौन हूँ, तुम्हारी मौत आयी है क्या? चाहूँ तो तेरे साथ तेरे बाल–बच्चों को एक संकल्प में भस्म कर दूँ। पिटाई करनेवाले साथी ने कहा– 'अरे! मैं तो देख रहा हूँ कि मेरे मन से आपकी पिटाई करने का भाव आ रहा है, भाव आया और हाथ ने अपना काम कर दिया तथा मैं देखता ही रह गया। अब मैं पुनः देख रहा हूँ कि अब मेरे साथी की वाणी मेरे साथ मेरे

परिवार का सर्वनाश करने का संकल्प कर रही है और मेरे मन से फिर इसकी भरपेट पिटाई करने का विचार आ रहा है। अरे रे, रे, रे! ये क्या! ये तो सच में हाथ घूँसा मारने लगा, एक घूँसा, दो घूँसा, तीन घूँसा, घूँसे पे घूँसा। तुम्हारी वाणी बाद में जलाएगी मुझे और मेरे परिवार को लेकिन मेरा घूँसा तेरे द्रष्टापने को जलाये जा रहा है। अब मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारी वाणी ने बकवास करना बन्द कर दिया है, शरीर सम शान्त हो गया है, शराब के नशे में तुम झूम रहे हो, अब गलियों में गिरते हुए जाओगे, तुम्हारे जैसे ज्ञानयोगी को देखकर, तुम्हारी पत्नी, तुम्हारे बाल–बच्चे मन ही मन हँसेंगे और कहेंगे– इनका यह कैसा ज्ञान है जो शराब पिलाकर इन्हें आनन्द देता है।

इन मंत्रों में मानने की बात कही गयी है अर्थात् मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, वह ऐसा मानता है। ऐसा क्यों?– इसलिए कि क्षुद्रमान्यता की काट विशुद्ध मान्यता है; मैं खाता–पीता, सोता–जागता हूँ, यह क्षुद्र मान्यता है तथा यह सबकुछ मैं नहीं करता बल्कि वासना ही करती है, यह विशुद्ध मान्यता है। भगवान ने यहाँ जो मंत्र में कहा है उससे कुछ खाली जगह की प्रतीति हो रही है, वह यह कि मानने के उपरान्त क्या करें, क्या मानते, मानते ही जान जायेंगे? इसी के उत्तर में प्रभु ने मंत्र सं० १३– 'सर्वकर्माणि मनसा.....' से लेकर मंत्र सं० २६– 'भोक्तारं यज्ञतपसां.....' तक बहुत कुछ कहा है। वह बहुत कुछ क्या है?– ज्ञानयोगी का सूक्ष्म कर्म।

ज्ञानयोगी की साधना देने के पूर्व कर्मयोगी के स्वरूप एवं साधना के विषय में कुछ कह देना चाहिये, इसलिए भगवान ने श्रुतिफल की बात कर दी। जितनी प्रशंसा प्रभु ने ज्ञानयोगियों की की है उतनी ही प्रशंसा कर्मयोगियों की भी की है; इसलिए भगवान अब इन तीन मंत्रों से कर्मयोग की प्रशंसा करेंगे।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

जो साधक सम्पूर्ण कर्मों को, आसक्ति को त्यागकर ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए ब्रह्म को ही समर्पित करते हुए करते हैं, वे जगत में रहते हुए भी जगत के गुण–दोषों से वैसे ही लिपायमान नहीं होते जैसे कमल का पत्ता जल में तो रहता है लेकिन जल के दोष से दूषित नहीं होता। इतना ही नहीं, शरीर, वाणी, मन तथा इन्द्रियों से सम्पूर्ण कर्मों को सर्वप्रथम चित्तशुद्धि के लिए करता है; क्योंकि चित्तशुद्धि होने पर ही सद्गुरु की आज्ञानुसार निष्काम कर्म हो सकता है। उन निष्काम कर्मयोगियों को कर्मफल त्यागकर कर्म किये जाने के कारण से कालान्तर में परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है; लेकिन ठीक इसके विपरीत जो अयुक्त हैं, सकामी हैं, वे कर्मफल

में आसक्त होने के कारण से पुनः–पुनः संसार बन्धन में पड़ते रहते हैं।

सर्वप्रथम कर्मयोगी स्वजनों को भगवान का मानकर उनसे अनासक्त हो जाता है, फिर गुरु आज्ञानुसार चित्तशुद्धि के लिए शरीर, वाणी, मन एवं बुद्धि आदि से कर्म करता है। यह कब होगा? जब कर्म को नहीं बल्कि कर्म के फल को त्याग देगा; क्योंकि उसमें और सकामी में इतना ही अन्तर है कि सकामी भोग एवं ऐश्वर्य की कामना से जप, तप, योग करता है, इसलिए उसकी साधना चित्तशुद्धि का कारक नहीं होती। ठीक इसके विपरीत निष्कामी चित्तशुद्धि के लिए कर्म करता है, इसलिए उसका कर्म ज्ञान प्राप्ति का हेतु बन जाता है। स्वजनों से आसक्ति को त्यागकर सद्गुरु (ब्रह्म) की आज्ञानुसार कर्म करना ही ब्रह्म को कर्म समर्पण करना माना जाता है। भगवान ऐसा इसलिए कह रहे हैं कि जबतक एक अंश भी स्वजनों से आसक्ति रहेगी, तबतक पूरी तरह से गुरु आज्ञानुसार कर्म नहीं हो सकेगा, क्योंकि स्वजन विरोध की सम्भावना बढ़ जायेगी, सामाजिक विरोध की संभावना बढ़ जायेगी। कर्मयोगी भी कर्म करने में स्वतंत्र ऐसा नहीं है जैसा कि अज्ञानी है बल्कि वह सद्गुरु आज्ञानुसार ही कर्म करने में स्वतंत्र है। दूसरे अध्याय के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन.....' का अर्थ यह न लगा लें कि योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि कर्मों को तो मनमाना कर लेंगे और उससे जो फल प्राप्त होगा उसे समर्पित कर देंगे क्योंकि उस समय तो मूल में ही जब मनमाना कर्म हो जायेगा, तो मनमाना फल भोगने की प्रवृत्ति जगेगी, न कि समर्पण की। इसलिए मूल में ही संकल्प शुद्ध होना चाहिये। 'तो क्या अज्ञानी मनमाना कर्म करने में स्वतन्त्र है?' नहीं, नहीं अर्थ का अनर्थ न करें आप। यहाँ जो कर्म में उसकी स्वतंत्रता की बात कही जा रही है, वह इसलिए कि ऐसा ही मानता है वह कि मैं कर्म करता हूँ, वह भाग्य और भगवान को मानता ही नहीं। हाँ, कर्म का मैं कर्ता हूँ, ऐसी मूर्खता को मानने में वह स्वतन्त्र है, अन्यथा कर्म करने की सामर्थ्य उसमें है कहाँ? वह तो प्रारब्ध का मारा हुआ विक्षिप्तमना, मूढ़मना हो गया है। इसलिए उससे व्यंग्य में कहा जाता है कि ठीक है, ठीक है, इस कर्म को आपने ही किया है, आपके जैसा कर्म कौन कर सकता है! उन्हीं मूर्खों के लिए उपनिषद् में कहा गया है कि ऐसे मनुष्य देवताओं के पशु हैं। इन्हीं मनुष्यों की मूर्खता को देखकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से भक्त रसखान प्रार्थना करते हैं–

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जौं खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिंदिकूल कदम्ब की डारन।

अर्थात् हे प्रभु! मेरे प्रारब्धानुसार मेरा जन्म हो तो गोकुल में ही जन्म देना, जहाँ ग्वाल बनकर आपकी आज्ञा में ही रहूँ; पक्षी बनाना तो वहीं का बनाना जहाँ आपका ही गुणगान करता हुआ विचरण करूँ, इत्यादि इत्यादि।

विलक्षण बात भगवान कर रहे हैं कि गुरुआज्ञानुसार चित्तशुद्धि हेतु कर्म करने में आप स्वतंत्र हैं, प्रारब्ध के परतंत्र नहीं; क्योंकि जब गुरुआज्ञानुसार कर्म करते हैं तो प्रारब्ध बाधा डालना चाहकर भी डाल नहीं पाता; इसलिए कि आप एक ऐसी सीमारेखा में हैं जिसमें प्रारब्ध प्रवेश नहीं कर पाएगा। दूसरी बात कि कर्म जब आज्ञानुसार होता है तो कर्म और कर्मफल में

आसक्ति नहीं होने से कर्म की छाप चित्त पर नहीं पड़ती, जबकि यह बहुत बड़ी बात है, तभी तो उसके लिए ऐसी उपमा दी गयी है कि कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अनासक्त रहता है, जल उसे स्पर्श करना चाहता है लेकिन वह जल को स्पर्श करता ही नहीं। इसका तात्पर्य है कि सांसारिक लोग उसे अपने अनुसार चलाना चाहेंगे किन्तु वह उनके अनुसार तो स्वप्न में भी नहीं चल सकता, चाहे उसे कोई भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। आपने देखा होगा कि कमल के पत्ते को कोई जल में डुबोकर नहीं रख सकता। जल के ऊपर जो आसीन है, निश्चितरूप से उसकी जड़ जल के अन्तःकरण में है। उसीप्रकार जहाँ से कर्म अर्थात पुण्य एवं पाप प्रकट होते हैं, उस मूल में ब्रह्म है तो वही मूल उस योगयुक्त मुनि का अपना सर्वस्व हो जाता है। उसकी चेतना सद्गुरु में आरोपित होने से, समर्पित होने से, उसका मूल सद्गुरु के मूल से जुड़ जाता है। सद्गुरु और उसके बीच में माया रहती है, लेकिन चूँकि सद्गुरु की आत्मा उसमें मिली रहती है और उसकी आत्मा सद्गुरु में, इसलिए वह संसार के दोषों से दोषयुक्त नहीं होता। कब? जब शरीर से, वाणी से, मन से, वचन से, हृदय से होते हुए सत्कर्म को अथवा कभी किसी काम में दूसरे की दृष्टि में होते हुए दुष्कर्म को अपने गुरुदेव को ही समर्पित कर देता है तब।

'यह आपने क्या कह दिया कि दूसरे की दृष्टि में होते हुए दुष्कर्म को भी वह समर्पित कर देता है?'– हाँ क्यों नहीं! परशुरामजी ने अपने पिता से (जो कि उनके सद्गुरु भी थे) कहा था– हे प्रभु! भगवान शंकर से प्राप्त इस फरसे से सर्वप्रथम आपके शत्रु दुरात्मा सहस्रार्जुन का वध करूँ अथवा इस जगत में कोई अन्य आपका निरादर करनेवाला हो उसके सिर का छेदन करूँ, अथवा सहस्रार्जुन के साथ–साथ सम्पूर्ण विलासी क्षत्रियों का संहार कर दूँ। 'नहीं' बेटे नहीं! यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इस दिव्य फरसे से अपनी माँ का वध कर दो– ऐसा जमदग्नि ऋषि ने कहा। इसप्रकार परशुरामजी के द्वारा माँ का वध कर दिये जाने पर भी उन्हें पाप ने स्पर्श नहीं किया, पाप का स्पर्श करना तो दूर बल्कि वरदान ही मिल गया। पिता के द्वारा वरदान माँगने के लिए कहने पर माँ को जीवित करने का वरदान माँगा और माँ को जीवित भी करा लिया। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि यदि माता–पिता, गुरु आत्मज्ञानी हैं तो उनके द्वारा दी गयी आज्ञा आत्मज्ञान देनेवाली ही होती है।

शूर्पणखा ने रावण से कहा है–

हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।
(अरण्यकाण्ड)

'जो सत्कर्म है उसको भी समर्पित नहीं किया जाता है तो आपके लिए वह घातक हो जाता है।' जप, तप, योग को करने के उपरान्त हररोज समर्पण करना होता है तथा यह भी देखना होता है कि कोई कर्म मनमाना तो नहीं हो रहा है। समर्पण की बात भगवान इसलिए कह रहे हैं कि कहीं अहंकार न हो जाय कि 'आज मैंने इतना जप, तप, योग कर लिया, इतना ध्यान कर लिया, कल इससे भी विशेष करूँगा, अब मैं बहुत से साधकों से आगे बढ़ गया हूँ।

इसलिए उस बहुत साधना को भी एक पल के भी बराबर न समझें बल्कि गुरुदेव का प्रसाद समझें और सोते समय हररोज कहे कि हे प्रभु! आपकी कृपा से मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सका, अतः आपकी कृपा से हुए कर्म को आपको ही समर्पित करता हूँ तथा यह भी कहना भगवान से कि हे प्रभु! मैं इन सत्कर्मों का फल जो सुखभोग होता है उसे माँगू तो भी मत देना। ऐसा कहने से कर्मयोगी में भगवत्कृपा से कुशलता आती है। वह क्या? यही कि जिस कर्म को कोई चार घण्टे में पूरा करता है, उसे वह चार मिनट में पूरा कर देता है। अतः अहंकार होने की पूरी सम्भावना रहती है कि मेरे जैसा कोई बुद्धिमान नहीं है। लोग कहते पाये जाते हैं कि एक मैं हूँ कि अपने बुद्धि, बल से इतनी सम्पत्ति अर्जित की और एक तुम हो कि इस सम्पत्ति के उपभोग के कर्ता भी नहीं हो सकते। ऐसी डींग हाँकता है वह पुरुष। अतः ऐसी सम्भावना हो सकती है साधक में कि मैंने ऐसा किया, तुमको भी ऐसा करना चाहिये, जबकि यह समझना चाहिये कि सबकी सम्भावना एक जैसी नहीं हो सकती; लेकिन एक विलक्षण बात है कि समर्पण की सामर्थ्य सबमें एक जैसी होती है। नित्यप्रति यह कहने की सामर्थ्य सबमें है कि हे प्रभु! आज दिन में जो शरीर से, वाणी से, मन से जाने–अनजाने में भला–बुरा हो गया है, उनसब को मैं समर्पित करता हूँ। भक्त भगवान (गुरु) की दुहाई देता है। वह कहता है कि गुरुदेव आज मेरे से अपराध हो गया, लेकिन मैं दोषी नहीं हूँ; क्योंकि आपकी अध्यक्षता में भी मेरे से दोष हो गया? इस दोषयुक्त कर्म के आश्रय भी तो आप ही हैं।

महाराजजी वीर्यपतन हो गया, स्वप्नदोष हो गया– सन् १९७७ में महाराज के कमरे में सोये हुए एक साधक ने महाराज से आहें भरते हुए ऐसा कहा। महाराज ने कहा– 'आहें मत भरो। अभी रात्रि के दो ही बजे हैं, अतः बैठो–बैठो ध्यान में बैठो।' वह ध्यान में बैठ गया। लगभग पैंतालिस मिनट के बाद में उसे समाधि लग गयी, जिसे अन्तर्यात्रा कहते हैं। पहली बार समाधि लगने पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा लेकिन एक आश्चर्य और हो गया कि स्वप्नदोष होने के उपरान्त समाधि लगी कैसे! महाराज ने कहा– समर्पण का फल ऐसा ही होता है, वह तत्काल सिद्धि को देता है।

(कायेन मनसा बुद्ध्या.....) इस मंत्र में शरीर, मन और बुद्धि इन तीनों से कर्म करने की बात क्यों कही गई है? हाँ, वह इसलिए कि शरीर सेवा–शुश्रूषा से तथा तप और व्रत से शुद्ध होता है, मन मनन से तथा जप से शुद्ध होता है और चिन्तन तथा स्वाध्याय से बुद्धि शुद्ध होती है। तो क्या शरीर, वाणी, मन, बुद्धि के अतिरिक्त भी किसी के द्वारा कर्म होता है? क्यों नहीं! जैसे ही स्वजनों की आज्ञानुसार कर्म करते हैं तो भले ही आप अपना मन, बुद्धि कहें लेकिन आपके शरीर के साथ–साथ आपके मन, बुद्धि और कर्म इन सब पर उनका अधिकार हो जाता है। अतः माना यह जायेगा कि आप उनके शरीर इन्द्रियों तथा शरीर के साथ कर्म कर रहे हैं, जो उनकी प्रसन्नता का कारण बनेगा न कि भगवान की। यदि आपने एक अंश भी उनके विरुद्ध आचरण किया तो आप जैसा वैरी उनका कोई नहीं होगा; भले ही आप उनके पुत्र, पिता, भाई, पत्नी ही क्यों न हों, तथा दूसरी बात पर ध्यान देना है कि चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना है कि

उनके लिए। तीसरी बात, ऐसा समझें कि मैं नहीं कर रहा हूँ बल्कि मन–बुद्धि के द्वारा सद्गुरु की ही आज्ञा कर रही है। अबतक तो प्रारब्ध ही कर रहा था; किन्तु अब से सद्गुरु की आज्ञा ही करेगी; प्रारब्ध, संस्कार और विचार का कहना नहीं करूँगा।

सिद्धि की कामना से होनेवाले कर्म भगवत् सिद्धि से दूर कर देते हैं। साधक साधना करते हैं, बारह–बीस साल बीत जाते हैं; लेकिन सिद्धि मिलती नहीं है तो कहते हैं कि 'ऐसी साधना कैसी! सुना है दूसरे के मन की बात जान लेता है साधक, मृत को जीवित कर देता है साधक, जड़ को चेतन कर देता है साधक, अतः छोड़ो ऐसी साधना को, खाओ–पीओ मस्त रहो।' ऐसा सोचकर वह साधना से उपराम हो जाता है। इसप्रकार यदि साधना से उच्चाटन हो जाये तो जान लेना कि आप किसी भौतिक कामना से साधना कर रहे हैं। महाराज कहता है– नहीं, नहीं, नहीं, आपको सिद्धि तो मिल ही गई है। सद्गुरु ने कह दिया कि आप आत्मा हैं, शरीर प्रकृति है, उसके द्वारा प्रारब्ध करता है और आप प्रारब्ध का कहा हुआ यदि नहीं मानते हैं तो आपके शरीर, मन, बुद्धि से सद्गुरु की आज्ञा काम करती है। आप तो शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हैं, अतः आपने विश्वास के साथ अपने को आत्मा मान लिया है तो इससे बड़ी सिद्धि क्या होगी। हाँ, अब इसी सिद्धि को अहर्निश धारण करना है। मैं आत्मा हूँ, अतः गुरु आज्ञानुसार शरीर, मन, बुद्धि, वाणी के द्वारा होनेवाले कर्म को देखता रहूँगा तो वही ज्ञानमय समाधि (धर्ममेघ) हो जायेगी, यदि आपने बीस–पच्चीस दिन इसे धारण कर लिया तो, यदि वही धर्ममेघ समाधि तीन चार महीना अखण्ड रह गई तो सर्वज्ञता प्रकट हो जायेगी अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान को जाननेवाली प्रज्ञा प्रगट हो जायेगी। यदि आपने उस सर्वज्ञता को ही सर्वस्व नहीं समझ लिया तो आपकी सर्वव्यापकता, सर्वरूपता आदि परम सिद्धि प्रगट हो जायेगी, जिसे परम ज्ञान, परम शान्ति एवं परम लाभ कहा जाता है। यहाँ तक आप सब बहुत कुछ समझ गये होगे, अतः इसे सूत्ररूप में भी देखें–

मुमुक्षुता + गुरुयोग	= साक्षीत्व (द्रष्टापना)
द्रष्टापना + निरंतरता	= धर्ममेघ समाधि
धर्ममेघ समाधि + निरंतरता	= सर्वज्ञता
सर्वज्ञता + साक्षीत्व (उदासीनता)	= सर्वरूपता, सर्वव्यापकता

इसकी प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा के लिए अब भगवान के द्वारा दिए हुए अगले मंत्र को देखें–

(युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा.....) कर्मयोगी कर्म के फल– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान–सम्मान, पद–प्रतिष्ठा, इन सबको त्यागकर कालान्तर में आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता है; लेकिन जो अयुक्त है, कर्मयोगी नहीं है, अयोगी है तो वह कर्म के फल में फँस ही जाता है। इस मंत्र से एक बात और भी सिद्ध होती है कि गुरु आज्ञानुसार कर्मफल– शब्द, स्पर्श, रूप आदि तो आयेंगे लेकिन यदि वह उनका त्याग करेगा तभी आगे बढ़ने का रास्ता मिलेगा। सकामी और निष्कामी का पता तब चलता है जब विषय सामने आता है। यदि आपने विषय को

स्वीकार कर लिया तो आप सकामी हैं और नहीं किया तो आप निष्कामी हैं। पितामहभीष्म ने कामरूपी फल को त्याग दिया लेकिन धृतराष्ट्र को राजा बनाने के बाद संन्यास नहीं लिया, हस्तिनापुर को पिता शान्तनु की ही सम्पत्ति समझते रहे और उसी की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिए रहे, जो भारतवर्ष के लिए घातक सिद्ध हुआ। आसक्ति का प्रताप तो देखें कि वैसा शास्त्रवेत्ता, सद्गुरु परशुरामजी के पास जाकर भी मात्र स्वार्थ की साधना तो सीखा लेकिन परमार्थ की साधना निष्काम कर्मयोग नहीं सीखा; वहीं विदुर ने भगवान के आने पर संन्यास ले लिया, जबकि महामंत्री का पद उन्हें प्राप्त था।

राजस्थान में महाराज ने एक साधक को देखा जो कि साधना की अच्छी ऊँचाई पर पहुँचा हुआ था, लेकिन तबतक एक महन्त ने कहा– अब तुम इस गद्दी को सम्भालो। साधक ने कहा–ठीक है। साधक उनकी आज्ञा को टाल न सका। अब वह पश्चात्ताप कर रहा है कि 'यह क्या हो रहा है? आया था क्या करने और होने क्या लगा!' महाराज से मिलने पर उसने कहा कि माया की मार अति प्रबल है, मैं तो बुरी तरह से फँस गया, मेरा प्रारब्ध ही ऐसा है क्योंकि जब आपके साथ रहता हूँ तो साधन–भजन में मन लगता है, धूम्रपान आदि सब छूट जाता है, लेकिन जब आपके पास से जाता हूँ तो गाँजा, भाँग, चरस आदि क्या नहीं पीता तथा क्या नहीं करता! महाराज ने कहा कि आप भगवान को नहीं चाहते हैं न! उसने कहा कि हाँ! ऐसे ही मैंने घर छोड़ा है? महाराज ने कहा– नहीं, नहीं यदि भगवान के लिए छोड़ा है तो ठीक है, लेकिन अच्छीप्रकार सिद्धान्त पर चिन्तन नहीं किया है। आपका कहना है कि आपके गुरु ही निष्कामी नहीं हैं, इसीलिए आप भी निष्कामी नहीं हो पा रहे हैं। तो कोई बात नहीं, अब आप निष्कामी बनकर अपने गुरु को बता दें कि मैं निष्कामी हूँ!

(युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा.....) महात्मा भरत ने राजपद, महल और धर्मपत्नीरूपी फल को त्यागकर नन्दीग्राम में घोर जप–तप करते हुए भगवान के आने तक चौदह गुनी सम्पत्ति बढ़ा दी थी। यह कैसे हुआ क्योंकि सम्पूर्ण अयोध्या तो वीरान सी थी? किसी ने श्रीरामजी के आने तक नित्य एक समय फलाहार का व्रत लिया था, किसी ने चान्द्रायण व्रत लिया था, शृंगार आदि तो सभी ने त्याग दिया था। बहुतों ने तो घरों में झाड़ू लगाना बन्द कर लिया था, कुछ लोगों के बाड़ों में तो विकट झाड़ियाँ हो गयी थीं; क्योंकि लोगों ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि राम नहीं तो राज्य नहीं, राम नहीं तो महल नहीं, राम नहीं तो सुख–ऐश्वर्य नहीं। सौ में से पचहत्तर घरों में तो दीपक नहीं जले। वे कहते थे कि हमारा राम अंधेरे में और हम उजाले में! शास्त्र कहता है कि श्रीराम के आगमन पर दीपक जले, दीपावली मनायी गयी और महात्मा भरत ने श्रीरामजी के चरणों में चौदह गुनी सम्पत्ति रख दी। इसलिए कि भरत जैसे महातपस्वी और परम भक्त के द्वारा रामराज्य की स्थापना चौदह वर्ष पूर्व ही कर दी गयी थी। सारे लोग खेतों को राम का खेत मानकर बोते थे और इक्कीस बार काटते थे। सम्पूर्ण अंगों से सत्ययुग ने महात्मा भरत का स्वागत किया था। कौन भरत? वह भरत जो नित्यप्रति ब्रह्ममुहूर्त से लेकर शाम के ब्रह्ममुहूर्त (सन्ध्या) तक जप करता था, तप करता था, ध्यान करता था। वह भरत जो रात्रि में सुमन्त के

द्वारा लाये गये बही–खातों को गुरु वसिष्ठ को दिखाता था और तत्पश्चात् श्रीरामजी की चरणपादुका को समर्पित कर देता था।

महात्मा भरत की भाँति जो कर्मफल का त्याग करके शरीर, वाणी और मन के द्वारा, स्वधर्मरूप कर्म करके अपने इष्ट के चरणों में समर्पित कर देते हैं, वे ही निष्काम कर्मयोगी कहलाते हैं। आपको भी उन्हीं का अनुकरण करना है। अतः उठें! और प्रभु की आज्ञा का पालन करें।

अबतक प्रभु ने कर्मयोग की भूरि–भूरि प्रशंसा की। ज्ञानयोगी सोच रहे होंगे कि भगवान ने अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए ज्ञानयोगियों को भुला ही दिया है लेकिन स्वयं भगवान प्रतीक्षा कर रहे थे कि कर्मयोग के माध्यम से अर्जुन को खींचते हुए वहाँ लाऊँ जहाँ से वे सहज ही ज्ञानयोग में प्रवेश कर सकें और अब वह अवसर आ भी गया। भविष्य में अर्जुन को भी संन्यास लेना है, इसलिए संन्यासी एवं संन्यास दोनों के स्वरूप का भलीभाँति स्पष्टीकरण कर देना भगवान समय की माँग समझ रहे हैं। वे अपने एकमात्र शिष्य को संन्यास एवं संन्यासी के स्वरूप को जानने के लिए कहीं अन्यत्र भटकने देना नहीं चाहते, इसलिए कहते हैं–

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

ज्ञानयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को ही त्यागकर तथा घर–बार से संन्यास लेकर सुखपूर्वक नव दरवाजोंवाले इस पुर (शरीर) में निवास करता है। इतना ही नहीं, न तो वह कर्मों को करता है, न किसी से करवाता है बल्कि सबसे उदासीन होकर सुखपूर्वक इसमें वास करता है।

स्पष्ट है कि कर्म करने और करवाने में ही दुःख का अनुभव होता है। कर्म करने में शारीरिक, वाचिक, मानसिक एवं बौद्धिकश्रम की अनुभूति होती है और दूसरे के द्वारा अपनी आज्ञानुसार कर्म करवाने में अपने अहंकार की तृप्ति होती है। इतना ही नहीं, उसके द्वारा स्वामीपने की दुर्गन्ध भी आने लगती है। इसीलिए वह न करता हुआ, न करवाता हुआ, नव दरवाजोंवाले शरीररूपी महल में सुखपूर्वक रहता है। अतः वह कर्म करे ही क्यों! जब उसने चिन्तन करके जान ही लिया कि मैं ही निर्विकार आत्मा हूँ, कोई दूसरा आत्मा नहीं है, फिर कर्म क्यों करे! किसलिए करे! किस भाव से करे! इसलिए वह संन्यास ले लेता है। संन्यास लेकर ही वह नौ दरवाजोंवाले शरीर में रह सकता है, गृहस्थाश्रम में नहीं। गृहस्थाश्रम में तो सभी के दरवाजों से झाँकना होता है, सभी के करने से करना होता है और सभी को आज्ञा देनी पड़ती है। वह किसी से वहाँ भयभीत रहता है तो कोई उससे ही वहाँ भयभीत रहता है। किसी से वह हँसता–रोता है तो कोई उससे हँसता–रोता है, किसी से वह विकल होता है तो कोई उससे विकल होता है। ऐसा समझकर वह संसार नामक पुर में रहना छोड़ देता है और देहरूपी मकान में ही रहने लगता है। यह संसाररूपी महल बहुत दरवाजोंवाला है, जिसमें माँ एक दरवाजा है तो पिता दूसरा दरवाजा है, पुत्र तीसरा दरवाजा है तो पत्नी चौथा दरवाजा है, भाई पाँचवाँ

दरवाजा है तो मित्र छठाँ दरवाजा है, हित–नातेदार सातवाँ दरवाजा है तो घर–परिवार आठवाँ दरवाजा है, गाँव नौवाँ दरवाजा है तो जाति दसवाँ दरवाजा है, क्षेत्र ग्यारहवाँ दरवाजा है तो प्रदेश बारहवाँ, देश तेरहवाँ, विदेश चौदहवाँ दरवाजा है, धर्मात्मा पन्द्रहवाँ दरवाजा है तो वैरी सोलहवाँ, पापात्मा सतरहवाँ दरवाजा है, मानव अट्ठारहवाँ दरवाजा है तो पशु–पक्षी उन्नीसवाँ, कीट–पतिंगे बीसवाँ दरवाजा है, देवता इक्कीसवाँ, पितर बाइसवाँ दरवाजा है। इसीप्रकार गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि भी एक–एक दरवाजे ही हैं। इतना ही नहीं, इसमें तंत्र, मंत्र, योग, जप, तप तथा वेद, पुराण, शास्त्र आदि भी एक–एक दरवाजे ही हैं और छः शास्त्र चार वेद–ये दस दिशायें भी हैं तथा अट्ठारह पुराण एवं स्मृतियाँ ही किंपुरुष प्रदेश हैं, जो गूढात्मक पहेलियों से भरपूर हैं। इसप्रकार बहुत से दरवाजोंवाले, बहुत सी दिशाओंवाले, इस संसार से वह संन्यास लेकर इस शरीररूपी महल में ही मानो छिप जाता है। शरीर तो संसाररूपी महल में रहता है लेकिन वह शरीररूपी महल में सम शान्त बना रहता है।

इसे दूसरे अर्थों में भी देखें– दायाँ नेत्र एक दरवाजा है, बायाँ नेत्र दूसरा दरवाजा है, दायाँ कान तीसरा, बायाँ कान चौथा, दायीं नाक पाँचवाँ, बायीं नाक छठाँ, मुख सातवाँ, गुदा आठवाँ और लिंग नौवाँ दरवाजा है; वह इन दरवाजों को भी सर्वथा छोड़ देता है। इतना ही नहीं, 'मैं' एक दरवाजा है, 'तू' दूसरा दरवाजा है, मेरा–तेरा, उनका–इनका रूप भाव भी अन्यान्य दरवाजे हैं, जिनका वह त्याग कर देता है। फिर वह शरीर में रहता कहाँ है? क्योंकि सबकुछ छोड़ दिया तो कहीं तो रहने की जगह चाहिये? हाँ, हाँ प्रश्न तो ऐसा ही करना चाहिये। वह तो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दर्शन में रहता है, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दिशा में रहता है, 'मैं सर्वरूप हूँ', इस महल में रहता है, 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ' इस शरीर में रहता है। इसप्रकार वह अपने–आप में रहता है, अपने–आप में रहता है, अपने–आप में रहता है। ऐसे क्यों रहता है कि न शरीर में रहता है, न किसी इन्द्रिय में ही रहता है? वह इसलिए कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ किसी न किसी लोक में प्रतिष्ठित हैं। स्वयं यह शरीर भी इस संसाररूपी लोक में प्रतिष्ठित है, नेत्र दृश्यरूपी लोक में प्रतिष्ठित है तो कान शब्दरूपी लोक में प्रतिष्ठित है, नाक गन्धरूपी लोक में प्रतिष्ठित है तो जिह्वा रसरूपी लोक में प्रतिष्ठित है, त्वचा स्पर्शरूपी लोक में प्रतिष्ठित है तो लिंग मूत्ररूपी लोक में, गुदा मलरूपी लोक में प्रतिष्ठित है, पाँव गमनरूपी लोक में प्रतिष्ठित हैं तो हाथ आदान–प्रदान रूपी लोक में प्रतिष्ठित हैं, वाणी सत्य–असत्य भाषणरूपी लोक में प्रतिष्ठित है तो प्राण प्रारब्धरूपी लोक में प्रतिष्ठित है, मन मननरूपी लोक में तो बुद्धि चिन्तनरूपी लोक में प्रतिष्ठित है तथा अहंकार 'मैं शरीर हूँ, यह मेरा है, यह तेरा है'– इस क्षुद्रभावरूपी लोक में प्रतिष्ठित है। इसप्रकार वह किसी भी इन्द्रिय में वास करता है तो शरीर छूटते समय वह उसी इन्द्रिय के लोक को चला जाता है। इसलिए वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं रहता बल्कि सभी उसी में प्रतिष्ठित रहते हैं। वह इस नौ दरवाजोंवाले पुर में सुखपूर्वक रहता है, यह तो भगवान ने औपचारिकतावश कहा है, यथार्थ तो यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि सहित पूरा ब्रह्माण्ड उसी में निवास करता है न कि वह इनमें। ज्ञानयोग के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय चरण में ऐसा प्रतीत होता है कि मैं इस शरीर में रहनेवाला शुद्ध चेतन आत्मा हूँ, लेकिन कुछ ही वर्षों में ऐसा अनुभव होता है कि

अरे! यह तो मैं गलत ही समझ रहा था कि मैं शरीर में हूँ बल्कि अब तो स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि शरीर सहित पूरा ब्रह्माण्ड मेरे में है।

कोई साधक तो सद्गुरु के पास जैसे ही सुनता है कि 'नैव किञ्चित्करोमीति..... नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्.....वर्तन्त इति धारयन्' अर्थात् आत्मा देखते–सुनते, सूँघते, खाते–पीते आदि भी ऐसा समझता है कि मैं कुछ नहीं करता, वैसे ही वह प्रतिज्ञा कर लेता है कि इस न्याय से तो न मैंने पहले कुछ किया है, न कर रहा हूँ, न कुछ करूँगा। इतना ही नहीं, अब मैं किसी से कुछ करवाऊँगा भी नहीं बल्कि इस नौ दरवाजोंवाले पुर में सुखपूर्वक द्रष्टा होकर रहूँगा। कुछ काल तक गुरुदेव ने जो चिन्तन दिया है, उस चिन्तन को धारण करूँगा और उनके द्वारा दी हुई दृष्टि से देखूँगा। न वाणी से जप करूँगा, न ध्यान करूँगा, न योग (अष्टांगयोग) और न तप ही करूँगा। मैं शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ– यही उनका सिद्धान्त है तथा ये ही उनके द्वारा दिया हुआ योग, जप, तप है। अतः न प्रकृतिवाद का ध्यान करूँगा, न ज्योतिर्वाद का, न शब्दवाद का, क्योंकि ये सब तो मायावाद ही हैं बल्कि अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप में स्थित रहूँगा।

ज्ञानयोगी न करता हुआ न करवाता हुआ, सुखपूर्वक इस नौ दरवाजोंवाले पुर में रहता है तो ऐसा व्यवहार उसने सीखा कहाँ से, कोई तो उसका आदर्श होगा? 'हाँ, हाँ क्यों नहीं, इसका उत्तर भगवान से ही सुनें–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

निर्गुण–निराकार ब्रह्म न किसी के कर्तापने की, न कर्मों की तथा न कर्मफल के संयोग की ही रचना करता है, इतना ही नहीं, न वह किसी के पाप को और न किसी के पुण्य को ही ग्रहण करता है। यह सबकुछ तो प्रकृति ही कर रही है लेकिन अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है, इसी से सारे के सारे अज्ञानी मनुष्य इस रहस्य को नहीं जानने के कारण अति मोहित हो रहे हैं।

मानो भगवान कह रहे हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से वास करनेवाला निर्गुण–निराकार ब्रह्म तो किसी काल में कुछ करता ही नहीं है। चलो इस बात को मान लिया जाता है लेकिन लोगों के कर्मों की रचना तो वही करता है? नहीं, नहीं, वह किसी के कर्म की रचना भी नहीं करता। अच्छा! तो ये बाते है! फिर तो कर्मफल का संयोग उपस्थित कर देता होगा? नहीं, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यह सब तो जीवों की अपनी–अपनी वासना ही करती–कराती है तथा कर्मफल का संयोग भी ला देती है। तामस वासना से तामस कर्म हो जाते हैं, राजस वासना से राजस और सात्त्विक वासना से सात्त्विक कर्म हो जाते हैं। यह तो आपने भगवत् सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया? नहीं, आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिये बल्कि देखें तो वह कैसा सत्तावान है कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में रहता है लेकिन सबसे उदासीन भी रहता

है। अरे! आप नहीं देखते कि बीस–पच्चीस बच्चे परस्पर में खेलते रहते हैं और वहीं कोई वृद्ध उदासीन बैठा रहता है! जब उसे उन बच्चों तथा उनके खिलवाड़ से ही कुछ लेना–देना नहीं है तो फिर भगवान तो भगवान ही है। आप देखते ही हैं कि पृथ्वी को किसी भी औषधि, वनौषधि से कुछ लेना–देना नहीं है। सारी औषधियाँ अपने गुण और प्रभाव से सम्पन्न हैं लेकिन उनके गुण और प्रभाव से पृथ्वी को क्या लेना–देना? औषधियों तथा पेड़–पौधों के जीवन तथा उनके भीतर–बाहर रहनेवाले पृथ्वी तत्त्व को देखें कि वह कैसे सम शान्त बना रहता है। यह बात अलग है कि वह पृथ्वी शक्तिरूप में प्रकट होकर भगवती सीता को लेकर चली जाय। इतना ही नहीं, वह महाराज पृथु से गाय बनकर कहे कि जो कुछ भी दुहना हो आप मेरे से दुह लें लेकिन एक बात को ध्यान में रखना होगा कि यह तो उस पृथ्वी की सत्ता–सामर्थ्य को सूचित करता है, उसके कर्तापने को नहीं। उसीप्रकार निर्गुण–निराकार ब्रह्म न करता हुआ, न करवाता हुआ और न ही कर्मफल के संयोग को रचता हुआ ही सर्वत्र व्याप्त है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह शून्य ही है। फिर यदि शून्य नहीं है तो चलें कोई बात नहीं, पता नहीं क्यों उसका मौनपना है? आप अभी भी नहीं समझ पा रहे हैं– भगवान का कहने का तात्पर्य है कि पृथ्वी को वनौषधियों से, जल को जल–जन्तुओं से क्या लेना–देना है। हाँ, पृथ्वी को भगवती सीता से, भगवान वराह से, संतों से तथा जल को श्रीराम प्रभु से तथा ऋषि–महर्षियों से एवं देवताओं से ही किसी विशेष अवसर पर लेना–देना है। आपमें राम का रामत्व, साधु की साधुता, देवताओं का देवत्व आये तब तो आप जानें इस रहस्य को! 'अच्छा तो कोई बात नहीं, यह बतायें कि जब वह सर्वत्र रहता है तो कुछ खाता–पीता तो होगा; तभी तो आप शून्यवाद का निराकरण कर सकेंगे? 'नहीं, नहीं, नहीं।

(नादत्ते कस्यचित्पापं.....) वह ब्रह्म किसी के पुण्य–पाप को भी नहीं खाता। यह जो कहा जाता है कि वह अपने भक्तों का पाप खा जाता है तथा उनके पुण्य को वह ब्रह्मज्ञान बनाकर लौटा देता है, तो यह भक्तिपक्ष से कहा जाता है न कि ज्ञानपक्ष से। खाने–पीने की बात तो जब वह निर्गुण–निराकाररूप से सगुण–साकाररूप धारण करता है तब की है। पुराणों में तो यह भी लिखा हुआ है कि पापात्मा स्वयं ही अपने पाप को खाते हैं अर्थात् नरक जाते हैं और पुण्यात्मा भी स्वयं अपने पुण्य को खाते हैं अर्थात् स्वर्ग जाते हैं। रही बात ज्ञानयोगी की, तो अभी चौथे अध्याय के सैंतीसवें मंत्र (यथैधांसि समिद्धोऽग्निः.....) में स्पष्ट कहा गया है कि सद्गुरु के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञानरूपी अग्नि में उसके सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे जगने के उपरान्त स्वप्न के शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध उस पुरुष से नहीं रहता, उसके लिए वे कर्म अस्तित्त्वहीन हो जाते हैं, उसीप्रकार आत्मरूप होते ही उस पुरुष के शुभाशुभ कर्म पूर्व की तरह ही अस्तित्त्वहीन हो जाते हैं। हाँ, सद्गुरुरूप में वह खाता–पीता अवश्य है, चाहे वह शिष्य का पाप खा ले या पुण्य खा ले। इस विषय में इसी अध्याय के अन्त में कहा गया है कि वह किस रूप में क्या खाता है और क्या करता है। क्षुद्र तथा मूर्ख मनुष्यों का ज्ञान तो उनके मूर्खतारूपी अज्ञान से ढँका रहता है, इसलिए वे इस रहस्य को कैसे जानेंगे।

एक अद्भुत रहस्य है कि ज्ञानयोगी कहता है कि ब्रह्म करता ही नहीं है, प्रकृति अर्थात् भावरूपी वासना ही करती है। अतः जब ब्रह्म ही नहीं करता तो मैं भी नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर लेता है। कौन कर्म? खाना–पीना, सोना–जागना अर्थात् गृहस्थाश्रम का कर्म। अरे! इस रचना को भी ब्रह्म ने नहीं किया है। कौन सी रचना? मातृधर्म, पितृधर्म की रचना, पुत्रधर्म, मैत्रीधर्म, स्वजनधर्म, कुटुम्बधर्म की रचना। अबतक तो मैं जानता था कि शुभाशुभ धर्म भगवान की रचना है, जबकि ऐसा नहीं है। यद्यपि प्रभु प्रेरणा से ही पुराणों की रचना हुई है लेकिन ज्ञानियों के लिए वह धर्म नहीं है, ज्ञानियों के धर्म की रचना तो प्रभु ने उपनिषद् में की है। उपनिषद् प्रभु की रचना है, सामवेद प्रभु की रचना है; 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'– गीता अध्याय दस में भगवान ने ऐसा कहा है। ज्ञानियों के कर्म का सृजन प्रभु ने किया है, वह कर्म नहीं, अकर्म है। ज्ञानयोगी कहता है– 'अब मैं मौन हो जाऊँ, जब प्रभु नहीं करता तो मैं क्यों करूँ। जब वह परम द्रष्टा है तो मैं उपद्रष्टा हो जाऊँ, जब वह कहे– तब करूँ। भगवान मानो इस मंत्र द्वारा कह रहे हैं कि न प्रभु कर रहा है, न आप कर रहे हैं, यह तो प्रकृति का योग है, कर्मफल का संयोग है। कर्म का फल अज्ञानियों के लिए अमिट है, यह अज्ञानियों के लिए व्यवस्था है। ज्ञानियों के कर्म का फल सद्गुरु है, भगवान है और अज्ञानियों के कर्म का फल स्वजन हैं। 'फिर यहाँ पर विषाद क्यों है?' हाँ वह इसलिए कि यहाँ पर ज्ञानयोगी भी हैं, कर्मयोगी भी हैं। प्रारंभिक चरण में ज्ञानयोगी को कर्मयोगी में और कर्मयोगी को ज्ञानयोगी में दोषदर्शन हो जाता है। ज्ञानयोगी भी सद्गुरु की अध्यक्षता में तबतक रहता है जबतक कि ज्ञान में व्यवस्थित नहीं हो जाता। वह ज्ञान में व्यवस्थित तभी माना जाता है, जब न उसे किसी में गुण दिखाई पड़ता है, न दोष दिखाई पड़ता है। ज्ञानयोगी या कर्मयोगी को तो कभी विषाद होना ही नहीं चाहिये और यदि हो रहा है तो वहाँ सावधानी बरतनी चाहिये, समझना चाहिये कि जिन स्वजनों के प्रति विषाद हो रहा है वह विषाद उन्हीं को हो रहा है, असावधानी में लग रहा है कि मुझे हो रहा है। किसी माँ के विकल होकर रोने से किसी साधक का हृदय द्रवित होकर रो पड़ता है तो उस साधक को समझना होगा कि मेरे हृदय से भी वह माँ ही रो रही है। आप तो प्रभु की आत्मा हैं, यदि आपके मन में विषाद हो गया तो इससे सिद्ध होता है कि सबके मन में विषाद हो गया है। जैसे जब भगवान शंकर के मन में काम प्रकट हुआ तो ब्रह्माण्ड के सारे प्राणिपदार्थों में काम प्रकट हो गया।

'भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै।'
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

अर्थात् कामदेव ने आकर उनके चित्त को काममय बना दिया तो सामान्य की तो बात ही क्या! जोगी, जपी, तपी आदि का भी मन काममय हो गया था। वे गुफाओं में छिप गये। वे समझ गये कि कोई दैवी शक्ति काममय हो गयी है, इसीलिए हमारा चित्त काममय हो गया है, जब उसका मन स्वस्थ हो जायेगा, तब हमारा भी मन स्वस्थ हो जायेगा। साधकों को यहाँ भगवान सावधान करते हैं कि यदि आपके स्वजन शोक–सन्तप्त हैं, क्षुद्रप्राणी हैं, तो उन्हें तो धराशायी होना ही होना है, वे परस्पर में एक–दूसरे के पाप–पुण्य खाते रहें लेकिन आप उनके चक्कर में न पड़ें।

सभी एक–दूसरे को देखने में लगे हुए हैं– पुत्र पिता को, पिता पुत्र को, पति पत्नी को, पत्नी पति को, भाई भाई को, जाति जाति को, समाज समाज को इसी कारण वे न संसार में हैं, न शरीर में बल्कि कभी पुण्य में रहते हैं, कभी पाप में। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं'– तामस प्रकृति के प्राणियों के ज्ञान को उनकी तामस वासना ढके रहती है, राजस प्रकृति के पुरुषों के ज्ञान को उनकी राजस वासना ढके रहती है तथा सात्त्विक पुरुषों के ज्ञान को उनकी सात्त्विक वासना ढके रहती है, इसी से वे किसी प्रतिकूल घटना के घटने पर कहते हैं कि भगवान की ही ऐसी इच्छा थी। अरे! क्या आपके सद्गुरु ने यह प्रमाणित किया है कि भगवान की ही ऐसी इच्छा थी, जो आप भाग्यवादी हो रहे हैं? क्या भगवान की ऐसी ही प्रेरणा है कि आप क्षुद्र प्राणियों जैसा जीवन जीयें? यह कैसी प्रेरणा! यह तो वही बात हुई कि जैसे मूर्ख कहता है कि भगवान शंकर गाँजा पीते हैं, भाँग पीते हैं, शराब पीते हैं और तामससृष्टि की रचना करते हैं; जबकि यह बात सर्वथा झूठी है, अशास्त्रीय है। यह कैसी मूर्खतापूर्ण बात है कि जो भगवान शिव संन्यास पद की प्रतिष्ठा करते हैं, असुरों को साबर तंत्र देते हैं, जो सृष्टि का सृजन करते हैं, वे गाँजा, भाँग, शराब पीते हैं? कोई बुद्धिमान पुरुष इस बात को स्वीकार कैसे करेगा? वैसे ही भगवान को जानते ही नहीं हैं और कहते हैं कि भगवान की प्रेरणा से हो जाता है यह पाप, भगवान नहीं होता तो कैसे होता यह? बड़े भगवानवादी बनते हैं लोग! ऐसे लोग ही भगवान की झूठी दुहाई देते फिरते हैं। निश्चितरूप से ये चौदह मृत प्राणियों में से एक हैं। वे ही ऐसा कहते–फिरते हैं कि भगवान ने ही ऐसी बुद्धि कर दी है। क्या भगवान आपके इतना निकट हो गया है, वह आपके लिए इतना प्रेरक हो गया है कि चोरी करते हैं आप और कहते हैं कि भगवान ने हमको प्रेरणा दी चोरी करने की? जब वह पाप खाता ही नहीं तो पाप करने की प्रेरणा क्यों देगा, जब पुण्य खाता ही नहीं तो पुण्य करने की प्रेरणा क्यों देगा? पुण्य खाते हैं देवता और पाप खाते हैं आप तथा आप जैसे पापात्मा। भगवान को जब खाना होता है तो वह सगुणरूप में आकर भक्तों की भक्ति खाता है, भक्तों की श्रद्धा खाता है, भक्तों का ज्ञान, ध्यान खाता है, भक्तों की समाधि खाता है, और सद्गुरु के द्वारा दी हुई आज्ञा के द्वारा किया हुआ कर्म खाता है।

(अज्ञानेनावृतं ज्ञानं.....) साधकों को चिन्तन से स्पष्ट देखना चाहिये कि जगत के सारे लोग दैव के भरोसे दैववादी हो जाते हैं, कहने मात्र के लिए ही भगवान के भरोसे भगवानवादी होते हैं। संत और सद्गुरु से समर्थन भी नहीं कराते कि हम जो कर रहे हैं, सही कर रहे हैं या गलत।

अब भगवान ज्ञानयोग के श्रुतिफल की बात कर रहे हैं–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

जिस ज्ञानी पुरुष का अज्ञान उपरोक्त ज्ञान से नष्ट हो गया है, उसका वही ज्ञान अपने आत्मस्वरूप को वैसे ही प्रकाशित करता है, जैसे सूर्य जगत को प्रकाशित करता है। इसप्रकार ब्रह्मरूप होने से मन ब्रह्म का ही हो गया है जिसका, बुद्धि ब्रह्म की हो गयी है जिसकी, अपने–आप में ही निष्ठा (श्रद्धा) हो गयी है जिसकी तथा अपने–आप के परायण हो गया है जो वह पापरहित हुआ ज्ञानी पुरुष पुनः आने–जानेवाली गति को प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि ज्ञान से ही अज्ञान प्रकाशित होता है अर्थात् ज्ञान से ही अज्ञान का पता चलता है। ज्ञान से ही ज्ञान प्रकाशित होता है, ज्ञान से ही मन, बुद्धि, चित्त आदि के स्वरूप का ज्ञान होता है, ज्ञान से ही अपना स्वरूप ज्ञानरूप ही हो जाता है तथा ज्ञान से सम्पूर्ण आसक्तिरूप पाप का नाश हो जाता है। फिर तो अपने स्वरूप में स्थित हुआ पुरुष अपने–आप से प्रकाशित होता है। अतः उसके आने–जाने की बात नहीं की जा सकती लेकिन जिन्होंने आने–जाने की ही भाषा सुनी है या पढ़ी है, उनके लिए कहा जाता है कि पुनः वह इस जगत में जन्म लेकर नहीं आता अर्थात् आने–जाने के भावरूप अज्ञान से मुक्त हो जाता है।

'प्रकाशयति तत्परम्'– जैसे इस पुरातन योग को सर्वप्रथम भगवान ने सूर्य को दिया था, वैसे ही उस भक्त को भी देते हैं। आत्मज्ञान के द्वारा कुचिन्तनरूप अज्ञान अपने–आप समाप्त हो जाता है, वैसे ही जैसे प्रकाश के आते ही अंधकार अपने–आप नष्ट हो जाता है। जब आग लग जाती है ईंधन में तो सर्वप्रथम धुएँ को प्रकाशित करती है; किन्तु थोड़े ही समय में वह अपने–आपको ही प्रकाशित करने लगती है। दोनों एकसाथ नहीं रह सकते, एक समय में धुआँ रहेगा या आग। कोई कहता है कि दोनों को साथ देखा जाता है तो ऐसा नहीं है; क्योंकि जब आग लगती है, तो धुआँ बड़े वेग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है और जो कालान्तर में शेष बचता है, वह आग होती है। उसीप्रकार जब मन आत्मा का हो जाता है, बुद्धि आत्मा की हो जाती है, चित्त आत्मा का हो जाता है, श्रद्धा आत्मा के प्रति हो जाती है तथा आत्मा की ही सदा–सर्वदा परायणता रहती है, तब सम्पूर्ण मान्यतारूप पाप, भाव–वासनारूप पाप, धर्म–अधर्म, कर्म–अकर्मरूप पुण्य और पाप धुआँ बनकर निकलते–निकलते निकल जाते हैं; तब एकमात्र आत्मस्वरूप का ही ज्ञान बचता है। अग्नि तत्त्व धुएँ को नहीं खाता बल्कि जैसे ही वह अपने स्वरूप में होता है, वैसे ही धुआँ भागने लगता है। धुएँ को आग जलाती भी नहीं, बल्कि धुआँ जहाँ से आया है वहीं चला जाता है। आग को क्या पता कि कौन जल रहा है, उसीप्रकार ज्ञान को क्या पता कि कितना अज्ञान जल रहा है और कहाँ जा रहा है, वह तो अपने कारण में ही विलीन हो रहा है।

(तद्बुद्धयस्तदात्मानः.....) कोई यह न समझ ले कि ब्रह्म न करता है न करवाता है तथा न वह कर्मफल के संयोग को रचता है तो वह जड़ है। इसीलिए तो भगवान ने कहा– 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' अर्थात् उसी ज्ञानी का मन ब्रह्म का मन बन जाता है, बुद्धि ब्रह्म की बुद्धि बन जाती है इत्यादि इत्यादि। आपने यहाँ कहा कि ज्ञानी की निष्ठा ब्रह्म की निष्ठा बन जाती

है, तो ब्रह्म में भी निष्ठा होती है क्या? वह भी किसी के आश्रित रहता है क्या? हाँ, हाँ, ब्रह्म की निष्ठा स्वयं के प्रति होती है, उसकी पराणयता भी स्वयं के प्रति होती है। एक बात अच्छीप्रकार से जान लेनी चाहिये कि ऐसा कोई गुण नहीं है, जो ब्रह्म में नहीं पाया जाता हो। यहाँ तक कि काम, क्रोध, लोभ, छल, दंभ, पाखण्ड इत्यादि राजस विकार ब्रह्म की ही राजस प्रकृति हैं, तामस विकार एवं सात्त्विक विकार भी ब्रह्म की ही तामस एवं सात्त्विक प्रकृति हैं। अन्तर इतना ही है कि जो सामान्य व्यक्ति के लिए विकार है, वह ब्रह्म के लिए निर्विकार है, जो सामान्य के लिए अशुभ है, वह ब्रह्म के लिए शुभ है। जैसे जो सामान्य पुरुष के लिए अधर्म है, वह विशेष पुरुष के लिए धर्म है। आपके लिए विष प्राणघातक है लेकिन वैद्य के लिए जीवनरक्षक है, इसीप्रकार ब्रह्म में जो भी कुछ है वह साधक है बाधक नहीं। अपना मन ब्रह्म से मिलते ही ब्रह्म हो जाता है, अपनी बुद्धि का उसके साथ योग होते ही वह ब्रह्म ही हो जाती है। श्रीरामचरितमानस में गोस्वामीजी इसे एक मधुर झाँकी के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं–

रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।।
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा।।

मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास।। ६१(क)।।
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम दुराधरष भगवंत।।६१(ख)।।

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला।।
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।।
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।।
कामधेनु सत कोटि समाना। सकल काम दायक भगवाना।।
सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।।
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता।।
धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना।।
भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा।।

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।।
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।।

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

रही बात ब्रह्म में श्रद्धा एवं परायणता के होने की, तो इसी का उत्तर भगवान ने इसी अध्याय के अन्तिम मंत्र में तथा छठें अध्याय के २६ वें, ३० वें तथा ३१ वें मंत्र में दिया है। अर्थात्

जो सर्वत्र, सर्वरूपों में मुझे ही देखता है, सर्वत्र सबमें मेरी सत्ता को ही देखता है, उसके लिए मैं भी सर्वत्र सबरूप में देखनेवाला बन जाता हूँ अर्थात् सब ओर से उसकी रक्षा करनेवाला बन जाता हूँ। इस न्याय से यह भी जान लेना चाहिये कि जो भी कुछ श्रद्धा, भाव, मन, बुद्धि आदि हैं, वे ब्रह्म के श्रद्धा, भाव, मन, बुद्धि आदि की एक अंशमात्र हैं। इसलिए जब तद्रूपता आ जायेगी, तब क्या मनन–चिन्तन करना चाहिये, क्या मनन–चिन्तन नहीं करना चाहिये, किसकी शरणागति को स्वीकार करना चाहिये, किसकी शरणागति को स्वीकार नहीं करना चाहिये, किसको शाप देना चाहिये, किसको वरदान देना चाहिये, यह पता चलता रहता है। इस मंत्र से यह भी पता चलता है कि तद्रूप हुए (ब्रह्मरूप) साधक, सिद्ध, सन्त जो भी कुछ व्यवहार करते हैं, वह ब्रह्म का ही व्यवहार माना एवं जाना जाता है।

अभी तक कुछ पापों के समाधानरूप साधन की बात की गई। शास्त्रों में भी पापों के प्रायश्चित का विधान बताया गया है– तांत्रिक के पास तंत्र से पापों के प्रायश्चित का विधान है, मांत्रिक के पास मंत्र से, योगी के पास योग से, तपस्वी के पास तप से प्रायश्चित का विधान है; किन्तु ज्ञानी के पास एकमात्र त्याग से ही प्रायश्चित का विधान है। 'किस त्याग से?' हाँ, आप ध्यान दें कि किस–किस के मन, बुद्धि के अनुसार आप जीवजगत में गमन करते आ रहे हैं, किस–किस की बुद्धि से आपका व्यवहार संचालित होता है। खोज करने पर पता चलेगा कि कोई न कोई जीव आपपर शासन कर रहा है और जो जीव आपपर शासन कर रहा है, उसी के मन, बुद्धि के द्वारा आपके मन, बुद्धि का संचालन हो रहा है, इसीकारण आपकी सम्पूर्ण श्रद्धा उसी के लिए समर्पित है तथा आप उसी के शरणागत हैं। जब आप बालक होते हैं, तब उस समय आप माता–पिता के अनुसार जीते हैं, जब युवा होते हैं तो कुछ लोग आपके अनुसार भी जीने लगते हैं, आप और भी आगे की उम्र में प्रवेश करते हैं तो कुल, परिवार समाज के मन, बुद्धि के अनुसार चलने लग जाते हैं, जब और भी प्रखरता आती है आपकी बुद्धि में तो ये सभी आपके अनुसार चलने लग जाते हैं तथा जब उससे भी निर्मल मन हो जाता है, निर्मल बुद्धि हो जाती है तब आप शास्त्र, पुराण, वेद के अनुसार चलने लग जाते हैं; क्योंकि शास्त्रों के पास भी मन, बुद्धि है, उनके पास भी भाव एवं श्रद्धा है। वे वेद, शास्त्र एवं पुराण भी कभी मूर्तिमान होकर वरदान एवं शाप देते देखे जाते हैं– श्रीरामचरितमानस में स्पष्ट उल्लेख है कि रावणवध के उपरान्त वेद, शास्त्र एवं पुराणों ने मूर्तिमान होकर श्रीराम प्रभु का स्तवन किया है। उसके आगे आप बढ़ते हैं तो सद्गुरु के मन, बुद्धि के अनुसार आप चलने लग जाते हैं, उन्हीं के प्रति आपकी पूरी श्रद्धा एवं निष्ठा हो जाती है, आप सम्पूर्णता से उन्हीं के शरणागत हो जाते हैं; उसके उपरान्त तो निर्गुण–निराकाररूप ब्रह्म की अनुभूति होते ही अर्थात् तद्रूपता आते ही, ब्रह्मरूपता आते ही, आप स्वयं मन बन जाते हैं, बुद्धि बन जाते हैं, श्रद्धा, निष्ठा एवं भाव बन जाते हैं अर्थात् सबकुछ बन जाते हैं, फिर तो आप ही प्रकट होते हैं और अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। हिरण्याक्ष–हिरण्यकशिपु, चण्ड–मुण्ड, रावण–कंस आदि के पाप बन जाते हैं; (क्योंकि असुर कहते हैं कि यह राम एवं कृष्ण, यह वराह एवं नरसिंह हमलोगों का पाप ही है) और भक्तों के पुण्य बन जाते हैं, उनका ध्यान, ज्ञान, विज्ञान एवं समाधि बन जाते हैं।

(तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठाः.....) जब उसी के (सद्गुरु के) परायण हो जाता है आत्मजिज्ञासु तो वह सद्गुरु भी उसके परायण हो जाता है, यद्यपि सद्गुरु अपने परायण है, अपने–आप में रमण करता है। तो फिर फल क्या मिलेगा उसके परायण रहने से? यही कि 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः– उस आत्मा का सारे किल्विष अर्थात् आसक्तिरूप दोष साथ छोड़ देंगे। आसक्तिरूप दोष ही है जहाँ! किसमें आसक्ति है? हाँ शुभ–अशुभ कर्म में, पाप–पुण्य में, धर्म–अधर्म में; अतः शुभ और अशुभ की आसक्ति को छोड़कर परब्रह्म स्वरूप हो जाता है, तब 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं' अर्थात् न जन्मता न मरता है।

हरपल, हररोज जन्मते हैं, मरते हैं लोग लेकिन वह जनम–मरण से मुक्त हो जाता है। जन्मने–मरने की बात क्यों कर दी भगवान ने पुनः यहाँ पर? इस पाँचवें अध्याय में भी जन्मने–मरने की बात करने की आवश्यकता तो थी नहीं! करना चाहिये था अठारहवें अध्याय में लेकिन इसकी बात कर रहे हैं हर अध्याय में? अरे! प्रभु करें भी तो क्या करें; क्योंकि हररोज मरते हैं, हररोज जीते हैं, हरपल जीते हैं, हरपल मरते हैं। अशुभ हो जाता है न चाहते हुए भी, अतः मानो वे मर जाते हैं, शुभ हो जाता है तो मानो वे जी लेते हैं। कभी स्वर्ग अर्थात् कभी सुखी हो जाते हैं तो कभी दुःखी, कभी मस्ती में काममय होकर क्रीड़ा करते हैं तो कभी दुखमय होकर आहें भरते हैं, कभी विषयी होते हैं तो कभी विषय छिन जाने पर रोते–कलपते हैं; इसप्रकार हररोज जीते हैं मरते हैं, लेकिन आत्मजिज्ञासु शरणागत शिष्य का मन, बुद्धि, चित्त जिस दिन सद्गुरु का मन, बुद्धि, चित्त बन जाता है, जिस दिन उसकी निष्ठा सद्गुरु की निष्ठा बन जाती है, उस दिन वह मरने–जीने के भाव से मुक्त हो जाता है। शरीर से अनासक्त हो गया वह तो फिर मरना–जीना कैसा? फिर तो वह समझता है सुख भी शरीर का है और दुःख भी शरीर का है। हाय! आज तो घर में दाना है ही नहीं– ऐसा सोचते ही गरीब मर गया और वह कल अमीर होगा तो मानो जी गया। फिर कहता है– मेरे जैसा धनवान कौन है, मेरे जैसा पुण्यवान, कुटुम्बवान और ऐश्वर्यवान कौन है। इसप्रकार वह दम्भी, अहंकारी मानो जी जाता है। इसप्रकार मरना–जीना जीवन–जीवन लगा ही रहता है लेकिन वह शरणागत चाहे कर्मयोगी हो चाहे ज्ञानयोगी, वह जन्मने–मरने के भाव से मुक्त हो जाता है। कर्मयोगी सद्गुरु को तन, मन, वचन देकर कहता है कि अब आपको इससे जो भी कराना हो करायें, ऐसा कहकर आत्मरूप में प्रतिष्ठित हुआ वह, गुरुआज्ञानुसार कर्म करता हुआ भी मुक्त ही रहता है और ज्ञानयोगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर मुक्त हो जाता है। वह कहता है– न मैं शरीर हूँ न मेरा शरीर है, उत्पात हो रहा है शरीर पर, फूल बरस रहे हैं शरीर पर, सर्दी–गर्मी लग रही है शरीर को, सुख–दुःख हो रहा है शरीर को और भोग रहा है मन। मैं तो बस देख रहा हूँ– सुख भोगते हुए को, दुःख भोगते हुए को, रोते हुए को, कलपते हुए को, हँसते हुए को, सोते हुए को, जागते हुए को, श्वास लेते हुए, श्वास छोड़ते हुए को, वह मन ही तो है जो भोगता रहता है।

कोई आत्मजिज्ञासु सद्गुरु से कहता है कि गुरुदेव आज सिर में दर्द है। सद्गुरु कहता है– शरीर में तो दर्द नहीं है? तुम्हारे में तो दर्द नहीं है? शिष्य कहता है– नहीं, न मेरे में दर्द

है, न शरीर में दर्द है, सिर में दर्द है। सद्गुरु ने कहा कि चलो तुमने इतना तो मान लिया कि शरीर अलग है, तुम अलग हो, सिर अलग है; अब देखो सिर में दर्द को, इसका अनुभव कौन कर रहा है? अवश्य ही कोई इस दर्द को भेजनेवाला है, इसके द्वारा पीड़ित करनेवाला है, उसी को तो कहते हैं 'प्रारब्ध'! प्रारब्ध मार रहा है, इसलिए सिर में पीड़ा हो रही है। अब तुम बताओ कि इस दर्द को भोग कौन रहा है? शिष्य कहता है– गुरुदेव! मैं ही भोग रहा हूँ और कौन इसे भोगेगा? तो सद्गुरु कहता है– छिः, छिः, छिः, छिः! अरे मूर्ख! तुम किस न्याय से कह रहे हो कि मैं भोग रहा हूँ? तुम भोग रहे हो तो अभी यदि नींद आ जाये, शरीर सो जाये, तो तुम कैसे कहोगे कि मैं भोग रहा हूँ? यदि तुम इस दर्द के भोक्ता होते तो सो जाने के बाद भी भोगते रहते? शिष्य ने कहा– सच है गुरुदेव! सच है, आप सच कह रहे हैं! यदि मैं भोगता तो सो जाने के उपरांत भी भोगता, सपने में भी सिर की पीड़ा की अनुभूति होती रहती। यह तो देखा ही जाता है कि बुखार से ग्रसित शरीर चाहे जितना भी उच्चतम ताप पर रहता है लेकिन जब सोनेवाला सो जाता है तो भी शरीर का ताप बना ही रहता है फिर भी उसे बुखार की पीड़ा की अनुभूति नहीं होती; लेकिन जगते ही हाय–हाय मच जाती है। तो गुरुदेव आप ही बतायें कि इस पीड़ा की अनुभूति करनेवाला कौन है? गुरुदेव ने कहा– स्थूल शरीर में रहनेवाला मन नामक पुरुष है। जैसे इस शरीर का मन है, उसीप्रकार सूक्ष्म शरीर का मन, कारण शरीर का मन, महाकारण शरीर का मन, हंस शरीर का मन, परमहंस शरीर का मन, कैवल्य शरीर का मन है; यह सब मन के स्तर हैं। तुझ शुद्ध साक्षी चेतन स्वरूप की अध्यक्षता में स्थूल शरीर के माध्यम से स्थूल मन ही सुख–दुःख का भोक्ता है, इसीप्रकार सूक्ष्म शरीर का मन सूक्ष्म शरीर से, कारण का कारण मन ही सुख–दुःख का भोक्ता होता है इत्यादि, इत्यादि। जब स्थूल शरीर को तामस वृत्ति अपने अधिकार में कर लेती है तब वासना सूक्ष्म शरीर धारण करके चिदाकाश में ही विचरण करने लगती है तथा वहाँ उसके माध्यम से ही सूक्ष्म मन सुख–दुःख की कल्पना करने लगता है। यह सम्पूर्ण दोष एकमात्र शरीर को अपना स्वरूप मान लेने से तथा उसी में आसक्त हो जाने के कारण से है। शरीर सहित सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग करते–करते जब मन, बुद्धि, चित्त ब्रह्मस्मृति में विलीन हो जाते हैं तब अपने सूक्ष्म साक्षी स्वरूप का स्पष्ट अनुभव होता है। जिसे परमपद कहें या कैवल्यपद कहें, बात बराबर है।

इन मंत्रों से एक बार सहर्ष युद्ध की तरफ दृष्टिपात करते हैं जहाँ मानो भगवान इन मंत्रों द्वारा महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं– हे पार्थ! तुम जीने–मरने की बात कर रहे हो, अतः आज तुम फिर मर गये। तुम जी गये थे तब, जब प्रतिज्ञा कर लिए थे कि मैं इन कौरवों को मारूँगा, लेकिन अब मैं इनको नहीं मारूँगा– ऐसा कहकर तुम आज फिर मर गये। कभी दीन–हीन और कभी प्रबल हो जाते हो, महावीर बन जाते हो। इसप्रकार तुम भी क्षुद्र प्राणियों की तरह अब जीने–मरने लगे। तुम यह न भूलो कि तुमलोगों ने (तुमने, भीम ने, नकुल–सहदेव ने) वन में १३ वर्ष तक महात्मा युधिष्ठिर को जीने नहीं दिया है, प्रेमपूर्वक उन्हें प्रसाद भी नहीं पाने दिया है। प्रसाद पाते समय कल्याणी द्रौपदी कहती थी कि महाराज! क्या ये मेरे बाल बिखरे ही रहेंगे? आज आप जैसे पाँच विश्वविजेता महारथी पतियों को पाकर भी ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हो गई हूँ, किन्तु

मेरी ऐसी दुर्दशा को देखकर आप सब को थोड़ी भी लज्जा नहीं लग रही है? हाय! मैं मरी जा रही हूँ, लेकिन तो भी आप सब कैसे खा–पी रहे हैं? आँसू तो बहते देखा नहीं आप सब की आँखों से मैंने, यदि आँसू बहाते हुए प्रसाद पाते तो मैं समझती कि आप लोगों को बड़ा भारी शोक–सन्ताप है लेकिन मैं तो देख रही हूँ कि गहरी श्वास भी नहीं आ रही आप लोगों को। हे पार्थ! उस समय तुम चारों द्रौपदी का साथ देते थे और उस महात्मा के पीछे पड़े रहते थे। तुम लोग कहते थे– भइया! आप भूल तो नहीं गये दुर्योधन के अत्याचार को और हमसब की प्रतिज्ञा को? उस समय तुम जीते रहते थे; क्योंकि ललकारते रहते थे महाराज युधिष्ठिर को, लेकिन आज तुम मर गये हो। हार और जीत अज्ञान की होती है। पार्थ! तुम तो कर्मयोगी हो और कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी ये दोनों आत्मा ही होते हैं। तुमने मुझे सद्गुरु बनाकर मेरी आज्ञानुसार चलने की इच्छा भी व्यक्त की है। मैंने तो तुमसे स्वयं कहा था कि तुम मुझे क्यों माँग रहे हो, मैं तो युद्ध करूँगा ही नहीं? लेकिन तुमने कहा था कि हम तो आपकी ही अध्यक्षता में युद्ध करेंगे, इसलिए प्रसन्न होकर मैंने तुम्हारा सारथित्व स्वीकार कर लिया और अब तो तुमने मुझे सद्गुरु भी बना लिया है। अतः शरीर, वाणी, मन, बुद्धि, चित्त को मुझे देकर, मेरी आज्ञानुसार अपने को आत्मा समझते हुए युद्ध करो। ऐसा करने से ज्ञानयोगी की तरह तुम्हारा मन, मेरा मन; तुम्हारी बुद्धि, मेरी बुद्धि; तुम्हारा चित्त, मेरा चित्त, तुम्हारी स्मृति, मेरी स्मृति बन जायेगी अर्थात् इनकी मेरे में ही प्रतिष्ठा हो जायेगी। ऐसा करके देखो, तुम आज ही जीने और मरने के भाव से मुक्त हो जाओगे।

यहाँ तक महात्मा अर्जुन अपुनरावृत्तिरूप सन्देश को सुनकर श्रुतिफल को प्राप्त कर लिये, तो भी उनकी चुप्पी सधी की सधी रह गई, मानो लगी थी लगन कुछ और सुनने की। मानो वे पूछते हैं– सम्पूर्ण पापों से मुक्त हुए पुरुष की दृष्टि होती कैसी है माधव! व्यवहार कैसे कर लेता है ज्ञानियों से, अज्ञानियों से भी, फिर भी रह लेता है अपने–आप में, यह कैसी पहेली है? जान सकूँ तो बतायें मुझको, यह जानने की लगन अब लगी है।

दूसरे अध्याय में भी महात्मा अर्जुन ने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ पुरुष का व्यवहार कैसा होता है? मानो उसी प्रश्न की पुनरावृत्ति हो गई। अतः भगवान हँसते हुए से कहते हैं–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, विद्याविनयसम्पन्ने गवि, विद्याविनयसम्पन्ने हस्तिनि विद्याविनयसम्पन्ने शुनि, विद्याविनयसम्पन्ने श्वपाके, विद्याविनयसम्पन्ने पण्डिताः– समदर्शिनः। अर्थात् जिनके मन, बुद्धि, चित्त ब्रह्मरूप हो गये हैं, वे ही आत्मदर्शी कहे जाते हैं। वे ही विद्याविनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गो, हाथी, कुत्ते में तथा चाण्ड़ाल में एक ही आत्मा का दर्शन करते हैं।

वे सबमें एक ही आत्मा को देखते हैं, लेकिन ब्राह्मण यदि सच में ब्राह्मण है तो वे उनके

साथ ब्राह्मण जैसा व्यवहार करते हैं। गाय यदि ब्राह्मण जैसा व्यवहार करेगी तो उसके साथ वे ब्राह्मण जैसा ही व्यवहार करेंगे, हाथी यदि ब्राह्मण जैसा व्यवहार करेगा तो उसके साथ वे ब्राह्मण जैसा ही व्यवहार करेंगे, कुत्ता यदि ब्राह्मण जैसा व्यवहार करेगा तो उसके साथ वे ब्राह्मण जैसा ही व्यवहार करेंगे, चाण्डाल यदि ब्राह्मण जैसा व्यवहार करेगा तो उसके साथ वे ब्राह्मण जैसा ही व्यवहार करेंगे। इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण जैसा व्यवहार करनेवाले ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते एवं चाण्डाल सब अवध्य हैं। प्रभु श्रीराम आत्मदर्शी हैं लेकिन ब्राह्मण होते हुए भी जब रावण ब्राह्मणत्व का परित्याग करता है तो वे उसका वध कर देते हैं। भले ही वह विद्या से सम्पन्न है लेकिन विनय, शीलता और सदाचार से तो पथभ्रष्ट है ही, जिसके कारण वह राक्षस कहा जाता है। विद्या–विनय से सम्पन्न सुदामा को अपने मित्र से चोरी करने के कारण चोरों की तरह ही दण्डित किया गया अर्थात् उन्हें दरिद्र बना दिया गया। आत्मदर्शी का व्यवहार क्रिया के माध्यम से होता है न कि जाति के माध्यम से। यद्यपि विद्या–विनय से सम्पन्न गोमाता ब्रह्मवादिनी है, वह 'ॐ' और 'अम्बा' इस ब्रह्मनाम का ही हुंकार भरती रहती है, लेकिन ब्रह्मा के लिए झूठ बोलने के कारण असत्यवादिनी हो गयी; अतः उसे ब्रह्म द्वारा शाप मिल गया कि हे असत्यवादिनि! तुम कलियुग में मैला खाओगी तथा तुम्हारा मुख जो बड़ा ही पवित्र है, वह अपवित्र हो जाएगा। इसप्रकार कामधेनु गोमाता को भी झूठ बोलने का दंड दे दिया गया। गज (हाथी) भी विद्या–विनय से सम्पन्न ही था, उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति प्राप्त थी कि वह एक उच्च कोटि का साधक था। उसे किसी अपराध के कारण से अगस्त्य ऋषि ने शाप दे दिया था, जिसके कारण वह हाथी बन गया था। तो भी स्मृति प्राप्त होने पर भी वह भगवत्भजन न कर, अपने बाल–बच्चों में आसक्त हो गया, जिसके कारण गण्डकी नदी में मगरमच्छ के द्वारा पकड़ लिए जाने पर घोर संकट में पड़ गया था। उसको मगरमच्छ से भगवान विष्णु ने इसलिए मुक्त किया; क्योंकि उसने शरणागत होकर बाल–बच्चों से संन्यास लेकर अहर्निश भगवद्भजन करने की प्रतिज्ञा की थी। विद्या–विनय से सम्पन्न कुत्ते को प्रभु श्रीराम ने अभयदान दिया था। उसे पीड़ित करनेवाले एक भिक्षुक को उसी के कहने से कालंजर मठ का महंत बना दिया था।

इस कथा से प्रायः लोग अपरिचित हैं, जो कि वाल्मीकीय रामायण में लिखी गयी है। उसे आप थोड़े में देख लें–

'रक्षा करें, रक्षा करें, रक्षा करें! महाराज! रक्षा करें! हे राम! रक्षा करें! ऐसा आर्तनाद करता हुआ एक विद्याविनय से सम्पन्न कुत्ता प्रभु श्रीराम के दरबार में प्रवेश कर उनके सम्मुख खड़ा होकर कहने लगा– हे महाराज! आपके राज्य में सारी प्रजा सुखी है लेकिन मेरे रक्तरंजित सिर को देखकर आप अनुमान लगा सकते हैं कि मैं कितना दुःखी हूँ। महाराज! राजा का कर्तव्य होता है कि वह गुप्त वेश बनावे और प्रजाजनों (मनुष्यों) की ही स्थिति को न देखे बल्कि पशु–पक्षियों की भी स्थिति को देखे। हे महाबाहो श्रीराम! सुना है मैंने कि जब प्रजा सोती रहती है तब राजा जागता रहता है और सोयी हुई प्रजा की रक्षा करता रहता है लेकिन मेरे लिए आप सोते रहे और मेरी यह दुर्दशा आपके राज्य में होती रही जबकि मैं भी आपकी प्रजा का ही एक

अंग हूँ। राजा का शासन सभी प्राणियों पर होता है, उसका अनुशासन ही उसकी दया है। लगता है, आपने उस दया का पात्र हम जैसे क्षुद्र प्राणियों को नहीं समझा है। स्वयं आप बतायें कि हम उसके पात्र हैं या नहीं?' 'हाँ, हाँ! क्यों नहीं! बतायें, किस दुष्ट ने आपकी यह दुर्दशा की है?'– भगवान श्रीराम ने उस पीड़ित कुत्ते से पूछा। कुत्ते ने कहा– हे महाराज! आपकी ही नगरी में रहनेवाला एक भिक्षुक है, जो मेरे स्वामी की गली में ही एक ब्राह्मण के घर में रहता है। वह ब्रह्मचारी (भिक्षु) सात घर भिक्षा माँगकर खाता है। मैं अपनी गली में था और उसने जाते हुए मुझपर डण्डे से प्रहार कर दिया। अतः मैं उसी के लिए आपसे न्याय माँगता हूँ– 'आप उसे दण्डित करें! कहीं कल मेरा प्राणान्त न हो जाय? कल के दिन कोई दूसरा भिक्षु ऐसा उत्पात न मचावे। अतः मेरे पर दया करें।' दरबार में भिक्षुक बुलाया गया। प्रभु श्रीराम के द्वारा यह पूछने पर कि क्या इस कुत्ते को आपने ही दण्डित किया है? उसने कहा– 'क्षमा करें महाराज! मुझ ब्राह्मण ने ही ऐसा कुकृत्य किया है। क्रोध ऐसा चाण्डाल है महाराज! जो क्या से क्या नहीं करा देता है। मुझे तो अहिंसक ही रहना चाहिये था, लेकिन क्षुधा से पीड़ित मैं दरवाजे–दरवाजे जा रहा था। भिक्षा नहीं मिल पायी थी, देर भी हो गयी थी और यह कुत्ता रास्ते में खड़ा था। अतः इससे कहा– हट जाओ, हट जाओ! किन्तु यह हटा नहीं, इसलिए इसपर डण्डे से प्रहार करना पड़ा। श्रीराम प्रभु ने पूछा– इससे बचकर जाने का रास्ता वहाँ पर था? भिक्षुक ब्रह्मचारी ने कहा– हाँ, हे राजन्! इतना रास्ता वहाँ था कि मैं इसके हटे बिना भी वहाँ से किनारा काटकर जा सकता था। प्रभु श्रीराम ने कहा– फिर तो निश्चितरूप से आपका अपराध है। यदि रास्ता था तो आपको निकल जाना चाहिये था। तो बताओ– हे श्वान! इन्हें क्या दण्ड दिया जाय! आपको प्रसन्न करने के लिए आपकी इच्छा के अनुसार ही इन्हें दण्ड दिया जाएगा? प्रभु श्रीराम ने प्रेमभरी वाणी में पूछा। दरबार में बैठे हुए ऋषियों ने प्रभु श्रीराम से कहा कि हे राम! एक बात का आप ध्यान रखना कि ब्राह्मण अवध्य होता है। प्रभु श्रीराम ने कहा कि यदि ब्राह्मण सर्वथा अवध्य होता तो रावण का मैं वध क्यों करता? स्त्री यदि अवध्य ही होती तो परशुरामजी अपनी माँ का वध क्यों करते? हे महात्माओं! विद्या–विनय से सम्पन्न ब्राह्मण ही अवध्य है, न कि राक्षस का काम करनेवाला। अतः ये भिक्षुक ब्रह्मचारी इस समय हिंसकप्राणी हैं, अतः इन्हें दण्ड दिया जाएगा। आप माँगे श्वान! इन्हें कौन सा दण्ड दिया जाय, जिससे आपको अति संतुष्टि होगी। कुत्ते ने कहा– हे राम! यहाँ से कुछ ही दूरी पर कालंजर नामक मठ है। उसमें आपने बहुत विशेष खेत दान कर रखा है, जहाँ बहुत अन्न होता है। आपने उसमें बहुत सी गायें भी दान कर रखी हैं। कुछ दिनों पूर्व ही उस मठ का महन्त मर गया है। अतः मैं इनके दण्ड स्वरूप आपसे माँगता हूँ कि आप इन्हें उसी मठ के महंत पद पर आसीन कर दें, इन्हें मठाधीश बना दें। मेरी सन्तुष्टि के लिए इनके लिए इससे बढ़कर कोई दण्ड नहीं होगा। ऐसा सुनते ही प्रभु श्रीराम ने उस भिक्षुक (ब्रह्मचारी) को हाथी पर बिठा, तिलक कर कालंजर मठ पर भेज दिया। वह ब्रह्मचारी भी उस बड़े मठ का मठाधीश बनकर अति प्रसन्न होकर चला गया। प्रभु श्रीराम ने कुत्ते से कहा कि हे श्वान! ये सभी सभासद आश्चर्य में हैं कि यह शाप है या वरदान? आप इन सभी के कौतूहल को शान्त करें! कुत्ते ने कहा कि हे राम! कुछ समय पूर्व मैं ही उस मठ का

महन्त था जो मठ के अन्न से अतिथियों की आवभगत न कर, आए हुए संत–महात्माओं की मण्डली की सेवा न कर, अपने परिवारवालों का भरण–पोषण करने लगा तथा स्वयं विलासी बन गया। आपसे क्या–क्या बताऊँ महाराज! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयों में ही रमण करने लगा था। वह सबकुछ मेरे से हुआ जो एक मठ पर आसीन महंत से नहीं होना चाहिये था। मैं सबका पाप खाते–खाते बड़ा मस्त हो गया था महाराज! मोटा–तगड़ा, बड़ा बलिष्ट हो गया था, बड़ी पूजा होती थी मेरी। बुद्धि ऐसी पापमयी हो गयी कि संतों के आने पर दुर, दुर, दुर, दुर करता हुआ दुरदुराता था। सोचता था कि कहीं इनकी सेवा न करनी पड़े। समयानुसार काल आया और दुत्कारनेवाला वही मैं, कुत्ता बना, ताकि दरवाजे–दरवाजे दुत्कारा जाऊँ। अब ये भिक्षुक भी आपके द्वारा उसी मठ के महन्त बना दिये गये हैं। निश्चितरूप से उनसे भी अब वही कुकृत्य होगा, जिसके कारण ये कुत्ते बना दिये जायेंगे तथा दरवाजे–दरवाजे भटकते फिरेंगे।

ये सभी जानते हैं कि विद्या–विनय से सम्पन्न चाण्डाल जबतक आदर–मान के साथ युधिष्ठिर के द्वारा राजसूय यज्ञ में खिलाया नहीं गया, तबतक राजसूय यज्ञ को सफल बतानेवाला घण्टा ही नहीं बजा।

भगवान ने इस मंत्र द्वारा पितामहभीष्म, आचार्य द्रोण आदि की भी खूब अवहेलना की है– मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! इस समय तुम्हारे विपक्ष में खड़े कृपाचार्य एवं द्रोणाचार्य यद्यपि जाति से ब्राह्मण हैं लेकिन क्षत्रिय कर्म करने के कारण ये इस समय क्षत्रिय हो गये हैं, ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो गये हैं। अतः ये दण्ड के पात्र हैं। जाति से अवध्य होते हुए भी कर्म से ये वध के पात्र हैं। जो क्षत्रिय जैसा व्यवहार करेगा उसके साथ क्षत्रिय जैसा व्यवहार किया जाएगा, जो कुत्ते जैसा व्यवहार करेगा उसके साथ कुत्ते जैसा व्यवहार किया जाएगा। यदि अपना पुत्र कुत्ता हो गया हो तो उसकी डण्डे से पिटाई करनी होगी। अतः तुम सबमें आत्मदर्शन करते हुए व्यवहार उनके कर्मानुसार करो।

साधक भी इस मंत्र के द्वारा अपने व्यवहार को साफ–सुथरा करें। अभी कुछ समय पूर्व गीता अध्याय ४ मंत्र सं० १३ में कहा गया है– 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' अर्थात् चार प्रकार के वर्णों की रचना मेरी प्रेरणा से ही गुण और कर्म के अनुसार हुई है। इतना होने पर भी जो मूर्ख हैं, वे केवल जाति से ही बात करते हैं, अतः वे न्याय नहीं कर पाते। संत तुकाराम जैसा आत्मदर्शी अपनी कर्कशा पत्नी का नाम 'लाईफबॉय' रखकर उसकी हँसी उड़ाएगा। अष्टावक्र जैसा ब्रह्मदर्शी अपनी लोभी धर्मपत्नी कात्यायनी का, अपनी भौतिक धन–सम्पत्ति देकर उपहास कर देगा; वैसे ही साधकों को भगवान मानो सावधान कर रहे हों और कह रहे हों कि अपने माता–पिता, भाई–बान्धव तथा बाल–बच्चों में भी आत्मा को ही देखना चाहिये, लेकिन इनमें जो विद्या–विनय से सम्पन्न है, उसके साथ तो तद्नुरूप ही व्यवहार करना चाहिये, लेकिन यदि कोई अशिष्ट कुत्ते जैसा व्यवहार करनेवाला है, झूठ बोलनेवाली गाय की तरह व्यवहार करनेवाला है, विषयी हाथी की तरह व्यवहार करनेवाला है, तो उसका त्याग

कर देना चाहिए अर्थात् उससे अनासक्त हो जाना चाहिए। विषयी माता–पिता, बाल–बच्चों एवं स्वजनों को अपने हृदय में प्रवेश न दें बल्कि बाहर से धन का उपार्जन कर वैसे ही खिला–पिला दें, जैसे कुत्ते का पेट भरा जाता है और ऐसा सोचें कि मैं कुत्ते का पेट भर रहा हूँ, क्षुद्र प्राणियों का पेट भर रहा हूँ और ऐसा करने से मोह हो ही नहीं सकता, जिस मोह के कारण से भगवान में प्रीति नहीं हो पा रही है। साधक जबतक यह जान न ले कि मेरी माँ कौन है– साक्षात् देवी है या क्षुद्र प्राणी है, गन्धर्विणी है या नागिन है; तबतक उसके साथ एक सामान्य प्राणी जैसा व्यवहार करे। उसीप्रकार पिता, बाल–बच्चों, स्वजनों तथा हित–मित्रों के दोषों पर भी भलीप्रकार विचार कर लेना चाहिए और विचार करना चाहिये कि जिनकी मैं सेवा कर रहा हूँ, वे लोग कौन हैं? क्या समझकर मैं सेवा करूँ– विषयी समझकर या पिता समझकर या माँ समझकर या मित्र समझकर या यक्ष–राक्षस, भूत–प्रेत, चाण्डाल समझकर। यदि ये लोग विषयी हैं तो देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, भूत–प्रेत, यक्ष–राक्षस, चाण्डाल ये सब विषयी होते हैं; अतः इन्हें उसीरूप में देखते हुए बाहर से सेवा करनी होगी। तब कहीं जाकर भगवान से प्रीति होगी और उन स्वजनों से वैराग्य बना रहेगा, तब उस गृहस्थाश्रम में मुमुक्षुता की प्राप्ति होगी। इसके उपरान्त भगवान को प्राप्त करने का मन करने लगेगा। गृहस्थाश्रम एक दिव्य मंदिर है, 'नवद्वारे पुरे देही'– यह उसका आदर्श है। ब्रह्म में एक दरवाजा होता है। उस एक ही दरवाजे से उसमें प्रवेश करना होता है अर्थात् नौ दरवाजे जो खुले हैं, उन नौ दरवाजों को छोड़कर उस एक ही दरवाजे से उसमें प्रवेश करना। ब्रह्मभावना ही उसमें एक दरवाजा है जिससे प्रवेश करना होता है। गृहस्थाश्रम एक दरवाजेवाला और ब्रह्म का आश्रम नौ दरवाजोंवाला होता है। क्षुद्र प्राणियों के द्वारा बनवाया हुआ मकान एक दरवाजेवाला होता है। उसमें बहुत सी खिड़कियाँ होती हैं हवा के लिए। उनके मकान में चोर, बदमाश न प्रवेश कर सकें, इसलिए एक ही दरवाजा बनाते हैं; क्योंकि विषयी होते हैं वो। इधर नौ दरवाजोंवाले शरीर में एक छिपा हुआ दसवाँ दरवाजा भी है जो ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। सच पूछा जाय तो 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप ब्रह्मस्मृति ही ब्रह्मरन्ध्र है। हाँ, यह बात अलग है कि जो संत एवं भक्त हैं, वे अन्य दरवाजों को भी ब्रह्म दरवाजा ही कर देते हैं लेकिन नौ दरवाजों से ब्रह्म का व्यवहार करते हैं और ब्रह्म के दरवाजे से जो पहले से ही बना हुआ है, जिसका नाम ब्रह्मरन्ध्र (अहं ब्रह्मास्मि) है, उसके द्वारा वे ब्रह्म के महल में प्रवेश कर जाते हैं और ब्रह्मपद को प्राप्त कर जाते हैं। सद्गुरु की भक्ति करनेवाले के लिये तो सद्गुरु ही वह ब्रह्मरन्ध्र है, जिसके द्वारा प्रवेश कर साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप परमपद को प्राप्त कर लेता है। उसीप्रकार गृहस्थाश्रम में आगे–आगे सद्गुरु और पीछे–पीछे शिष्य चले तभी उसमें ब्रह्म की प्रतिष्ठा होती है, तभी उसका घर मन्दिर होता है, तभी उसका शरीर मन्दिर होता है। मुमुक्षु के संकल्प में भगवान की शक्ति बसती है, क्रिया में शक्ति नहीं बसती है। जब वह सद्गुरु के माध्यम से क्रिया धारण करता है तब क्रिया में शक्ति बसती है। न्यायकर्ता भगवान स्वयं न्याय करते हैं और साधकों को न्यायकर्ता बनाते हैं। छठे अध्याय में उन्होंने कहा है– 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' अर्थात् अपना उद्धार पहले आप कर लें, फिर दूसरे की चिन्ता करें। इसके लिए न्यायकर्ता पहले बनना पड़ेगा। किसके साथ रहना चाहिये, किसके साथ नहीं रहना चाहिये, इसका न्याय अपने

लिए कर लेना होगा। किसकी किस दृष्टि से सेवा करनी होगी, किसके साथ किस दृष्टि से रहना होगा, इसका निर्णय पहले ही करना होगा, तभी समदर्शिता आएगी। यदि ऐसा नहीं करते तो क्षुद्रदर्शिता बनी की बनी रह जाएगी।

ॐ मासपारायण, ग्यारहवाँ विश्राम ॐ

अतः अब समदर्शी होने का फल क्या होता है, भगवान के मुख से पुनः सुनें–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

जिसके द्वारा जीते जी संसार जीत लिया गया है अर्थात् शरीररूपी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है जिसने, जो मन, बुद्धि, चित्त में आसक्त नहीं है; ऐसा समदर्शी पुरुष समब्रह्म में ही स्थित है।

सम होने के कारण से जो निर्गुण–निराकार ब्रह्म है वही अवतरित होनेवाला सगुण साकार ब्रह्म है, जो सद्गुरु एवं संतों के रूप में भी अवतरित होता है, वह निर्दोष ही है। इसप्रकार जिसका मन इस निर्दोष ब्रह्म में स्थित है वह ब्रह्म में ही स्थित है अर्थात् उसकी अच्छीप्रकार से स्थिति ब्रह्म में ही मानी जाती है; क्योंकि वे भी समभाव में ही स्थित हैं। अतः वह समब्रह्म ही है। सम उसे कहते हैं, जिसमें विषमता नहीं होती। समब्रह्म होने का अर्थ होता है– जो प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता, अप्रिय को पाकर विषादी नहीं होता तथा सुख–दुःख से सुखी–दुःखी नहीं होता एवं सर्दी–गर्मी से व्यथित नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि हर्ष–विषादवाला उद्वेगवान ब्रह्म ही विषमब्रह्म है। शान्त सरोवर, चंचल लहरों के कारण अशान्त सरोवर कहा ही जाता है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिये।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

ऐसा रामचरितमानस में संकेत है। यदि निर्मल, चेतन और अविनाशी को शरीर होने का भाव होने लगता है, तो उसमें जीवत्व प्रशस्त हो जाता है और जीवत्व के कारण से, विषादमय होने के कारण वह अपने अविनाशीत्वभाव को भूल जाता है, अतः विषमब्रह्म कहलाता है। समब्रह्म और विषमब्रह्म; ये दो ब्रह्म हैं। समब्रह्म कह देने से सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को लेना चाहिये अर्थात् २४ अवतार तथा संत, सद्गुरु आदि एवं अन्तरात्मा अर्थात्, निर्गुण–निराकार ब्रह्म, इन दोनों को लेना चाहिये। जो दृश्यप्रपंच दिखाई पड़ रहा है, जिसमें हर्ष है, विषाद है– वह विषमब्रह्म है। चींटी से हाथी तक, मनुष्य से देवता तक, कीट से पतिंगे तक, ये सारे के सारे विषमब्रह्म हैं। शुभ–अशुभ, ये दो विषमब्रह्म हैं लेकिन शुभ–अशुभ इन दोनों की जो आत्मा है, वह समब्रह्म है, वही निर्दोष है। शुभ भी दोषयुक्त होता है और अशुभ भी शुभयुक्त होता है, ऐसा

देखा जाता है। मुमुक्षु भी पहले दोषयुक्त ही होता है, किन्तु उसके भीतर में निर्दोषता छिपी रहती है, तभी वह कालान्तर में निर्दोष बन जाता है, जैसे ब्रह्मर्षि वाल्मीकि। कालान्तर में वे समब्रह्म हो गये; न शुभ हुए, न अशुभ बल्कि निर्दोष हो गये। निर्दोष ब्रह्म की उपासना करनेवाला भी निर्दोष ब्रह्म ही कहा जाता है। निर्दोष रामनाम की उपासना उन्होंने की, अतः वे निर्दोष हो गये। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'– जो निर्दोष की उपासना करता है, वह भी निर्दोष है– इस न्याय से जिसका सद्गुरु हर्ष–विषाद से रहित है, कामनाओं से रहित है, इतना ही नहीं, निष्कामता से भी आगे बढ़कर आप्तकाम हो गया है, वह निर्दोष ब्रह्म है। उस निर्दोष ब्रह्म की उपासना करनेवाले जो साधकगण हैं, वे भी निर्दोष ही हैं; क्योंकि जो जिसकी उपासना करता है, उसका वही रूप होता है। आद्यगुरु शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति में पहला मंत्र दिया है– साधक कहे कि मैं सम हूँ, शान्त हूँ, सच्चिदानन्द हूँ। दूसरा मंत्र है– मैं निर्विकार, निराकार, निर्मल, अविनाशी हूँ। तीसरा मंत्र– मैं दुःखहीन, आभासहीन, विकल्पहीन और व्यापक हूँ। मैं सम हूँ अर्थात् ब्रह्म की आत्मा होने से मैं उसकी उपासना करता हूँ, इसलिए सम हूँ और इसी कारण से मैं शान्त हूँ और सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ। जैसे युवराज पद पर आसीन होनेवाला राजकुमार ही कालान्तर में राजा की संज्ञा से विभूषित होता है, जब उसके हाथ में पूरी सत्ता आ जाती है– वही बात यहाँ पर भी समझनी चाहिये।

बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि निर्दोष ब्रह्म (सद्गुरु) के निकट रहनेवाले साधकगण जो अपने–आपको दोषी समझते हैं, हर्ष–विषाद से सम्पन्न हैं तो भी निर्दोष ब्रह्म की ओर गमन कर रहे हैं इसलिए कल के दिन निर्दोष ही हो जायेंगे। अतः उन्हें भी निर्दोष की संज्ञा दे दी गयी है अर्थात् ब्रह्म में स्थित होने के कारण से वे ब्रह्मरूप ही हैं। ऊपर–ऊपर का भाव क्यों देखा जाएगा? उनके अंतर्भाव को क्यों नहीं देखा जाएगा। मैं निर्गुण–निराकार आत्मा हूँ और गुरुदेव परब्रह्म परमात्मा हैं, इस भाव से तो निकटता रहती ही है, जिस योग से ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है।

'इहैव तैर्जितः सर्गो'– जिसके द्वारा सर्ग अर्थात् सृष्टि पर विजय प्राप्त कर ली गयी है। 'इह सर्गः' अर्थात् यह सर्ग, सर्ग का तात्पर्य सृष्टि से है– शरीर ही सृष्टि है, मन ही सृष्टि है, बुद्धि ही सृष्टि है, चित्त ही सृष्टि है, अहंकार ही सृष्टि है; सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ही सृष्टि है, प्रारब्ध ही सृष्टि है। इसप्रकार जिन्होंने इन सम्पूर्ण सृष्टियों पर विजय प्राप्त कर ली है, जिनके अधिकार में ये हो गयी हैं, वे ही निर्दोष ब्रह्म में स्थित हैं। किसके अधिकार में ये हो गये हैं? हाँ, उनके जो सम हो गये हैं, जिनमें विषमता नहीं है, राग, द्वेष नहीं है। राग–द्वेष ही विषमता है, हर्ष–विषाद ही विषमता है, लोभ ही विषमता है। जिन्होंने इनका त्याग कर दिया है, वे ही परम विजेता माने जाते हैं। दो बातें यहाँ पर स्पष्ट देखने को मिल रही हैं– 'इहैव' अर्थात् यहाँ ही, अभी–अभी। कब? जब शिष्य समब्रह्म की निकटता प्राप्त करता है तब। जबतक समब्रह्म (सद्गुरु) की निकटता नहीं रहती तबतक शिष्य विषम रहता है किन्तु निकटता जब होती है शिष्य की सद्गुरु से तब वह भी सम हो जाता है और उसी समय 'तैर्जितः' अर्थात् वह

अपने शरीर से अनासक्त हुआ शिष्य सद्गुरु में आसक्त चित्तवाला, सृष्टि विजेता कहा जाता है, सर्वविजेता कहा जाता है, काम–क्रोध, राग–द्वेष विजेता कहा जाता है। उसके मन की स्थिति समब्रह्म की उपासना में अर्थात् सद्गुरु की आज्ञा की उपासना में स्थित हो गयी है, अतः वह निर्दोष कहा जाता है। यदि भलीभाँति यह स्थिति स्थित हो गयी है, तब वह सम्पूर्ण ब्रह्म की संज्ञा से विभूषित होता है और स्वयं मैं सच्चिदानन्द हूँ की घोषणा करता है।

समब्रह्म में अच्छीप्रकार से स्थिति नहीं हुई थी रावण, बाणासुर आदि की। उनलोगों ने भगवान शिव को समब्रह्म माना ही नहीं था; क्योंकि सात्त्विक शक्ति (वैष्णवी शक्ति) से विरोध करते रहे और राजसी तथा तामसी शक्ति की उपासना करते रहे। भगवान शिव और भगवान ब्रह्मा ये दोनों ही उनके लिए विषमब्रह्म से प्रतीत हो रहे थे, अतः वे उनकी विषमब्रह्म समझकर उपासना कर रहे थे। वे जानते थे कि हमारी प्रकृति तामस है, इसलिए हम तामस देवता की उपासना करें; इसकारण वे समब्रह्म में स्थित न हो सके। जबकि भगवान शिव एवं ब्रह्माजी, ये दोनों ही सम हैं, लेकिन उनके अन्दर उतना समादर का भाव नहीं था; क्योंकि वे समझते थे कि शिव और ब्रह्मा से परे विष्णु हैं और हम उनकी उपासना नहीं कर सकते; अतः इनसे शक्ति को प्राप्तकर विष्णु से विरोध करेंगे और उनके द्वारा संग्रामभूमि में मारे जाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। वे भलीभाँति जानते हैं कि विष्णु की अपेक्षा ब्रह्मा और शिव विषम हैं। ये तामस सृष्टि की रचना करते हैं, इसलिए शिव कहलाते हैं और ये राजस सृष्टि करने के कारण से ब्रह्मा कहलाते हैं। रावण बुद्धिमान है, वह जानता है तो भी शक्ति से सम्पन्न हुआ प्रभु श्रीराम से विरोध करने के उपरान्त भगवान शंकर की ही उपासना करता है, अतः समब्रह्म के पास पराजित हो जाता है।

जितने भी साधक विषमब्रह्म की उपासना कर रहे होंगे, वे प्रकृति से पराजित हो जायेंगे। एक अंश भी यदि माता–पिता, भाई–बान्धवों आदि स्वजनों में आसक्ति होगी तो समब्रह्म से पूरी तरह से प्रीति नहीं हो पायेगी। समब्रह्म से तो न्याय ही बरसता है, अन्याय नहीं लेकिन विषमब्रह्म से न्याय और अन्याय दोनों बरसता है अर्थात् जीव अपनों के प्रति दयालु बन जाता है और पराये के प्रति निष्ठुर बन जाता है। 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी'– इस छन्द के माध्यम से कोई–कोई कहते हैं कि क्या श्रीराम प्रभु एकमात्र माँ कौसल्या के हित के लिए ही प्रकट हुए थे? नहीं, नहीं ऐसा नहीं है– कौसल्या का तात्पर्य है कुशल माँ। कुशल माँ वही है, जिसने ब्रह्म की उपासना ब्रह्म के लिए ही की है। इसप्रकार ब्रह्म की उपासना करनेवाली माताओं ने, जिन्होंने ब्रह्म को प्रकट किया है, महात्माओं, साधु, सन्तों एवं भक्तों को प्रकट किया है, उन्हीं माताओं के गोद की लाज रखने के लिए भगवान प्रकट होते हैं, इसलिए कौसल्या हितकारी कहे जाते हैं। वैसे ही जिन साधकों ने अपनी माँ के साथ–साथ उन सम्पूर्ण साध्वी माताओं के गर्भ की लाज रखने की प्रतिज्ञा की है, उनकी गोद को भी सुसज्जित करने की प्रतिज्ञा की है, वे किसी एक माँ (विषमब्रह्म) में आसक्त नहीं होते, एक पिता, एक भाई, एक पत्नी, एक गाँव, एक देश, एक जाति में आसक्त नहीं होते; क्योंकि वे सब विषमब्रह्म हैं। जितने भी प्राणिपदार्थ हैं, वे बाहर–बाहर हैं, जबकि वे भी हृदय में समब्रह्म ही रहते हैं, ऐसा अच्छीप्रकार निर्णय करके हृदय

में समब्रह्म की उपासना करनेवाला और बाहर–बाहर विषमब्रह्म के प्रति औपचारिकता मात्र पूरी करनेवाला साधक सफल हो जाता है। इसप्रकार कालान्तर में उसमें निर्दोषता आने से वही निर्दोष ब्रह्म हो जाता है, अन्यथा सदोषता बनी रहती है।

एक दिन महाराज ने महेशानन्द से पूछा– आसक्त हैं न आप बाल–बच्चों में? उन्होंने कहा– 'जी।' महाराज ने कहा– मृत्यु किनारे खड़ी है, चाहे जिस दिन गले को पकड़नेवाली है, तो भी जो बच्चे अपने नहीं हैं, उनमें चित्त आसक्त है! यह कैसा भ्रम है? महाराज स्पष्ट करना चाहता है कि सद्गुरु के पास आकर भी यदि आपको अपने बाल–बच्चे दिखाई पड़ते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि आप भगवान में स्थित न होकर बाल–बच्चों में स्थित हैं तथा बाल–बच्चों में स्थित होने के कारण से आप नारकीय प्राणी हैं। कहने मात्र को तो आप भक्त हैं लेकिन आप क्षुद्र प्राणियों के ही भक्त हैं। निर्दोष कौन है? वही कि जिसमें राग–द्वेष नहीं है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

जो प्रिय को प्राप्त करके अर्थात् प्रिय की सेवा–शुश्रूषा से प्रसन्न नहीं होता तथा अप्रिय के दुत्कारने से अप्रसन्न नहीं होता; उसी पुरुष की बुद्धि स्थिर है, उसी में निर्दोष ब्रह्म की स्थापना है। वही ज्ञानवान पुरुष ब्रह्म को भलीभाँति जाननेवाला है, इसीकारण वह भी भलीभाँति ब्रह्म में ही स्थित है।

वह जानता है कि भगवान ने दिन–रात बनाये, फूल–काँटे बनाये, विष–अमृत बनाये, लेकिन किसी को वह स्वीकार नहीं करता। भगवान ने तो उसके लिए जो बनाया है, उसी को वह स्वीकार करता है। विष बनाया किसी के लिए, अमृत बनाया किसी के लिए, दिन बनाया किसी के लिए, रात बनायी किसी के लिए, शुभ बनाया किसी के लिए अशुभ बनाया किसी के लिए। अतः साधक को विचार करना है कि उसके लिए भगवान ने क्या बनाया। यह स्पष्ट ही है कि उसके लिए सद्गुरु बनाया; क्योंकि सद्गुरु न दिन की उपासना करता है, न रात की, न भले की, न बुरे की, न शुभ की, न अशुभ की, न पापी की, न पुण्यात्मा की। ब्रह्म में स्थित रहने के कारण वह संशयरहित आत्मा अपने–आप के स्वरूप में स्थित होने के कारण साक्षात् ब्रह्म ही होता है। अतः जो साधक उसमें ही स्थित है अर्थात् उसके अनुसार ही गमन कर रहा है, तो वह भी 'तदादर्शस्त्वमेवासि तस्य भावः स एव हि' (गीतागुह्यम्) अर्थात् साक्षात् ब्रह्म ही है। इस न्याय से उस भगवान ने सद्गुरु बनाया शिष्य के लिए। कामी के लिए स्त्री बनायी, कामिनी के लिए पति बनाया, सिंहासन के लिए पुत्र बनाया तथा लोभी के लिए सिंहासन बना दिया। जिसप्रकार पुत्र सिंहासन चाहता है, पिता सिंहासन चाहता है, उसीप्रकार युद्ध विजेता के लिए युद्ध बना दिया। जरासंध, कंस, बाणासुर, शिशुपाल, कालयवन– जो विषम स्वभाववाले हैं, वे एकसाथ होकर भी समब्रह्म की समानता नहीं कर पाते। भगवती रुक्मिणी को भगवान ने मोर्चा सजाये हुए शिशुपाल के द्वारा वरण किये जाते हुए भी, जैसे शेर हिरणों के बीच से किसी हिरण

को लेकर भाग जाता है, उसीप्रकार भगवान रथ पर बिठाकर रुक्मिणी को हुंकार भरते हुए लेकर चलते बने। वे सारे के सारे सजातीय वृत्तिवाले असुर घेरा डाले हुए थे, लेकिन सामना करने पर सभी पराजित हुए। क्यों?– क्योंकि भगवती रुक्मिणी समब्रह्म में स्थित हो गयी थी, उसी के आश्रित हो गयी थी; उसने सबकुछ छोड़ दिया था सम ब्रह्म पर, कुछ कर ही नहीं रही थी। 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'– रथ पर केवल आसीन थी, कुछ कर ही नहीं रही थी, इसलिए उसके लिए समब्रह्म– भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द युद्ध किये जा रहे थे और वह मौन बैठी थी। इसीप्रकार जो शिष्य सद्गुरु के जीवन में अपने जीवन को आरोपित कर देता है, उसके लिए सद्गुरु सबकुछ करता रहता है और वह मौनी होकर बैठा रहता है, क्योंकि समब्रह्म की महत्ता ही ऐसी है। अतः 'इहैव तैर्जितः'– वह यहीं पर समब्रह्म (सद्गुरु) के शरणागत जिस दिन होता है, उसी दिन सृष्टिविजेता कहा जाता है। आत्मजिज्ञासु ही सृष्टिविजेता है, सृष्टिविजेता वह है जिसके भीतर समब्रह्म (सद्गुरु) बसता है और बाहर में विषमब्रह्म बसता है। इसप्रकार बाहर में पुत्र बैठा है और भीतर में सद्गुरु, ये दो आत्मायें हैं– एक काम, एक राम। पुत्र ही काम है वह बाहर है, पिता ही काम है वह बाहर है, भाई–बान्धव ही काम हैं वे बाहर हैं; भले ही वह भीतर घर में रहता है चाहे बाहर रहता है, चाहे एक दरवाजेवाले घर में रहता है, चाहे दस दरवाजेवाले घर में रहता है तो भी सद्गुरु के साथ ही रहता है; अतः वही समब्रह्म है। यहाँ निर्गुण–निराकार ब्रह्म की बात नहीं की गयी है, बल्कि सगुण साकार ब्रह्म के लिए ही कहा गया है।

यह विलक्षण बात है कि वही समब्रह्म है जो समता में स्थित है। यही सिद्ध करना चाहा है भगवान नारायण ने कि मैं ही समब्रह्म हूँ; क्योंकि मैं दो भागों में बँटा हुआ हूँ– मैं और मेरे पुत्र ये दो भाग हैं, मैं और मेरे पौत्र दो भाग हैं, मैं और द्वारिका ये दो भाग हैं। वैसे ही आप क्यों नहीं कहते कि मैं और मेरा घर–गाँव ये दो भाग हैं, मैं और मेरी पत्नी ये दो भाग हैं, मैं और मेरे बाल–बच्चे ये दो भाग हैं, मैं और मेरा शरीर ये दो भाग हैं? इसप्रकार आप अपने–आपको निर्दोष ब्रह्म में स्थित कर दें और द्रष्टा हो जाएँ तथा शरीर को समब्रह्म (सद्गुरु) को दे दें। इसप्रकार देखें कि आप सृष्टि विजेता कैसे नहीं होते। ऐसा करने से साधक स्वयं तो निर्गुण–निराकाररूप हो ही जाता है और सगुण साकाररूप शरीर को, सगुण साकार ब्रह्म (सद्गुरु) को दे देता है। इतनी ही सी तो बात है, इतनी ही सी तो साधना करनी है, कोई विशेष तो साधना करनी नहीं है। जब यह स्पष्ट हो गया कि मेरे गुरुदेव साक्षात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही हैं, उनका अवतार मेरे लिये ही हुआ है, स्वयं के लिए तो ये निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही हैं, केवल मेरे कल्याण के लिए ये इस जीवजगत में रहते हैं, तो सगुण ब्रह्म (शरीर) को उस सगुण ब्रह्म (सद्गुरु) को देकर आप निर्गुण–निराकार हो जाएँ, ब्रह्मभूत हो जाएँ। सद्गुरु के भी दो भाग हैं– 'वह' और 'उसका शरीर।' शरीर को उसके शरीर में और अपने को उसमें प्रतिष्ठित कर देनेवाली आत्मा, साधना की अपेक्षा से उसके पास नहीं रहता, वह वहाँ निरपेक्ष ही रहता है; क्योंकि समब्रह्म भी निरपेक्ष ही है, इसप्रकार प्रयोजन पूरा हुआ।

महामना आप लें! इस राजा जनक को, राज्यसहित आप ले लें। आज मैं निर्गुण–निराकार आपकी आत्मा राजा जनक को आपको समर्पित करता हूँ। विषमब्रह्म– 'शरीर' और 'राज्य' को गुरुदेव को देकर राजा जनक विदेह हो गये। उसके पहले एक प्रश्न के उत्तर में हजार–दस हजार गायें देते थे। उत्तर मिलता गया, संशय रहा नहीं, सारा का सारा संशय समाप्त हो गया, उनके लिए सर्वत्र सर्वरूप निर्गुण–निराकार ब्रह्म हो गया, असम्मूढ़ हो गया, ब्रह्मभूत हो गया। जब एकरूपता हो गयी तब ब्रह्म में स्थित हो करके अपरब्रह्म को अर्थात् अपनी प्रकृति को, (शरीर को, राज्य को) उन्होंने समर्पित कर दिया, सबकुछ दे दिया और सब कुछ हो गये।

ऐसा करना अति कठिन है– ऐसा सोचकर महात्मा अर्जुन के मन में प्रश्न उठने लगा कि यह भी तो दुःखसाध्य ही लग रहा है। सर्वज्ञ भगवान ने मन की बात जान ली और समाधान करना प्रारम्भ किया।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

बाहर के विषयों से अनासक्त हुआ साधक आत्मा में जो सुख है अर्थात् परमानन्द एवं परम शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है। उसके उपरान्त वह ब्रह्मयोग से युक्त हुआ अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप हुआ, अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

फिर पैनी दृष्टि से भगवान की बात को देखें– हुंकार भरते हुए एक आध्यात्मिक दृष्टि को लाकर उन्होंने महात्मा अर्जुन के ही संपूर्ण संशय को छिन्न–भिन्न नहीं किया बल्कि साधकों के संशय को भी छिन्न–भिन्न कर दिया है। वे कह रहे हैं कि अन्तःस्पर्श और बाह्यस्पर्श ये दो स्पर्श होते हैं। जितने भी प्राणी हैं, वे बाह्यस्पर्श हैं, जिनमें कि जीव आसक्त हैं। एक ही प्राणी की बहुत सी संज्ञाएँ हैं, बाह्यस्पर्श और बाह्यविषय भी हैं ये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये बाह्यस्पर्श भी हैं और बाह्यविषय भी। जिनसे प्राप्त होते हैं ये, वे बाह्य स्पर्श हैं, कैसे? जैसे माँ चुम्बन लेती है बेटे का, यह बाह्यस्पर्श है; पिता अंक लगाता है, गले लगाता है, यह बाह्यस्पर्श है; मित्र मित्र का आलिङ्गन करता है, यह बाह्यस्पर्श है, भाई–बान्धव गले मिलते हैं, यह बाह्यस्पर्श है तथा ये ही बाह्य विषय भी हैं, धर्मपत्नी, बाल–बच्चे ये सारे के सारे बाह्यस्पर्श हैं। वैरी भी बाह्यस्पर्श है। इन बाह्यस्पर्शों से, बाह्यविषयों से अनासक्त हुआ पुरुष, जिज्ञासु, मुमुक्षु, ब्रह्मस्पर्श का अनुभव करता है।

'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'– दो प्रकार के सुख हैं– बाह्यविषय और अन्तर्विषय। बाह्यविषय अनात्मा है और अन्तर्विषय आत्मा है। बाह्य आत्मा का स्पर्श होता है और अन्तरात्मा का दिव्य स्पर्श। बाह्य आत्मा अर्थात् बाह्यविषयों के स्पर्श का जब आप त्याग करते हैं, तब अन्तरात्मा का स्पर्श होता है। नींद भी आती है तब, जब बाहर के विषय को छोड़ते हैं तब। ऐसे तो नींद भी आपको स्पर्श नहीं करती, जबतक कि आँख बन्द करके आप उसका आवाहन नहीं करते, जबतक बाहर से आप थक नहीं जाते, जबतक बाह्यजगत से आप उदासीन नहीं हो जाते। यह नींद भी

बाह्यस्पर्श है, तामस स्पर्श है और स्वप्न राजस स्पर्श है। सुषुप्ति भी आपका स्पर्श नहीं करती जबतक आप जाग्रत्जीव का, स्वप्नजीव का त्याग नहीं करते। तुर्या स्पर्श को तो आप जानते ही नहीं हैं, इसलिए कि जाग्रत्स्पर्श, स्वप्नस्पर्श, सुषुप्तिस्पर्श, इन्हीं तीनों स्पर्शों में आप भ्रमण कर रहे हैं, उन्हीं में आप अति सन्तुष्ट हैं। इन तीनों ही स्पर्शों से थोड़ा आगे बढ़ते हैं तो तंत्रस्पर्श, मंत्रस्पर्श, योगस्पर्श, ध्यानस्पर्श, समाधिस्पर्श, में ही लटके एवं भटके रह जाते हैं। जाग्रत्स्पर्श–शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध को देनेवाले और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध स्वरूप ये दो स्पर्श हैं, जिनमें जीवन–जीवन से आप आसक्त हो गये हैं। आपने ध्यान ही नहीं दिया कि एक दूसरा भी स्पर्श है, वह है आत्मा का स्पर्श। भीतर–बाहर होने से सर्वत्र उसी का स्पर्श होता है लेकिन यदि आपको नहीं हो रहा है तो आपको विचार करना है कि वह सर्वत्र व्याप्त स्पर्श आपको कैसे प्राप्त होगा। माता–पिता तो मन से भीतर–बाहर हैं लेकिन आत्मा तो सहज ही भीतर–बाहर है, जो निर्दोष ब्रह्म है। 'निर्गुण–निराकार ब्रह्म आत्मा है, वह भीतर–बाहर है तो उसके स्पर्श की अनुभूति क्यों नहीं हो पाती?' हाँ, इसलिए कि बाह्यस्पर्श में आप आसक्त हैं। वह ब्रह्म आपको स्पर्श तो करता है लेकिन बाह्यस्पर्श में आसक्ति के कारण आपको अनुभूति नहीं हो पाती। मन के द्वारा हृदय में पुत्र बैठा है, वही बाहर भी बैठा है तथा आँखों में सद्गुरु बैठा है; तो वह आँखों में बैठा हुआ सद्गुरु हृदय में जाये तो जाये कैसे, जबतक आप हृदय को खाली नहीं करते? एकमात्र आँखों में सद्गुरु को बिठा लेने से आप भक्त तो नहीं हो गये? भले आप सोचें कि हम भक्त हो गये। कानों से कुछ उसकी कथा सुन लिए और भक्त बन गये, ऐसा तो हो नहीं सकता। हृदय में और अन्तर इन्द्रियों में ब्रह्म को बिठावें तथा बाहर की इन्द्रियों में स्वजनों को एवं बाल–बच्चों को बिठावें, तभी ब्रह्मस्पर्श की अनुभूति होगी।

(स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा.....) कौन ब्रह्मयोगयुक्त अर्थात् किसका ब्रह्म से योग हो गया है? उसका, जिसका जीव से वियोग हो गया है, जीव से वियोगी हुआ और ब्रह्म से योगी हुआ ही अक्षय आनन्द को प्राप्त करता है, अक्षय सुख–शान्ति को प्राप्त करता है। शान्ति भी आती है, अशान्ति भी आती है, जीव के पास, आनन्द भी आता है निरानन्द भी आता है जीव के पास, ये दोनों ही स्पर्श आते हैं लेकिन जब ब्रह्म का स्पर्श आता है तो वहाँ अक्षय आनन्द एवं अक्षय शान्ति की बरसात होनी प्रारम्भ हो जाती है, जो कभी भी समाप्त नहीं होती क्योंकि उसका आनन्दमय एवं शान्तिमय स्वरूप ही हो जाता है। शान्ति–अशान्ति को त्याग कर देनेवाले का सद्गुरु से योग होता है, फिर उसी सद्गुरु से कालान्तर में ब्रह्मस्पर्श का भी योग हो जाता है। प्रथम अवस्था में साधक सद्गुरु को सद्गुरु के रूप में देखता है, जिसको गुरुयोग कहा गया है; दूसरी अवस्था में उन्हें सगुणसाकार के रूप में देखता है, जिसे ब्रह्मयोग कहा जाता है। उसी ब्रह्मयोग से कालान्तर में ब्रह्मस्पर्श प्रकट होता है।

महाराज के पास भी सर्वप्रथम गुरुदेव ने अपने–आप को संत के रूप में प्रकाशित किया। सन् १९७४ में देखा कि ये एक संत हैं। छः–सात महीने के उपरान्त मन में विचार आया कि इन्हें सद्गुरु क्यों न बना लिया जाय। इससे सिद्ध होता है कि गुरुदेव ने अपने–आपको महाराज के

सामने सद्गुरु के रूप में प्रकाशित कर दिया और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इसके बाद संत एवं सद्गुरु ये दो योग प्रकट हुए और लगभग बारह वर्ष बाद गुरुदेव ने अपने–आपको महाराज के सामने ब्रह्म के रूप में प्रकट किया। उसके उपरान्त तो क्या– 'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।'

बाह्यस्पर्श दुःखदायी ही है, इसको स्पष्ट करते हुए प्रभु कहते हैं–

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

हे कौन्तेय! विषय तथा विषय के संयोग ये दोनों ही दुःखरूप ही हैं तथा आदि–अन्तवाले हैं, एकमात्र विषयी पुरुषों को ही सुखरूप भासते हैं; इसलिए विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करते। इतना ही नहीं, शरीर नाश होने के पूर्व ही, जो काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने की सामर्थ्य रखता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि सारे के सारे लोग अपने को ज्ञानी कहते हैं, अपने को कोई भी मूर्ख नहीं कहता। ऐसा क्यों? हाँ, इसलिए कि कोई जान जाय कि 'मैं मूर्ख हूँ' तो वह जीवित ही नहीं रह पाएगा, या तो मर जाएगा या तो पागल हो जाएगा। इतना ही नहीं, भगवान की मायानगरी में एक अद्भुत पहेली है कि मूर्ख अपने सामने सभी को मूर्ख समझता है और पागल अपने सामने सभी को पागल समझता है, जबकि वह मूर्ख वास्तव में मूर्ख होता है और पागल पागल होता है। यदि मूर्ख या पागल को यह बोध हो जाय कि सच में हम मूर्ख या पागल हैं, तब तो उनकी दिशा ही बदल जायेगी। जैसे महाराज को बचपनावस्था में एकदिन रामायण पढ़ते हुए यह प्रसंग आया कि

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा, मातु पिता गुरु नावहिं माथा।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

महाराज ने इस चौपाई के माध्यम से अपनी मूर्खता को जान लिया और सोचा– अरे! प्रभु श्रीराम नित्यप्रति नींद से उठकर माता–पिता एवं बड़े–बूढ़ों तथा गुरुजनों को प्रणाम करते हैं और मैं तो ऐसा करता नहीं; अतः या तो मैं राम का भी राम हूँ या महामूर्ख और महापागल हूँ। बस, उसी दिन से महाराज ने श्रीराम प्रभु के व्यवहार के अनुसार चलना प्रारम्भ कर दिया। मूर्खता अपने–आप से सिद्ध हो जाय तो बुद्धता आनी प्रारम्भ हो जाती है। कोई भी व्यक्ति भीतर–बाहर से कुरूप नहीं रहना चाहता लेकिन तो भी वह कुरूप है तो वह उसकी विवशता है।

जीव से प्राप्त की हुई सम्पत्ति दुःख की ही हेतु है अर्थात् परिणाम में दुःख ही देनेवाली होती है, अशान्ति ही देनेवाली होती है, नरक ही देनेवाली होती है। अरे! नहीं, नहीं, आप अपने को बुद्धिमान कहते हैं और सामान्य धन, मान–सम्मान एवं स्वजनों में लाभ मान रहे हैं, सुख–शान्ति की अनुभूति कर रहे हैं? यह बुद्धिमानी तो है नहीं। आप ऐसा करने से भले ही अपने को बुद्धिमान मानें लेकिन भगवान तो आपको मूर्ख ही मानते हैं।

एक बेटे ने अपने पिता से पूछा– आप ब्रह्म को जानते हैं? पिता ने कहा– मैं तो ब्रह्म को नहीं जानता। पुत्र ने हँसते हुए कहा कि जो ब्रह्म को नहीं जानता, वह कहता है कि मैं ब्रह्म को जानने की आज्ञा नहीं दूँगा, वनप्रदेश में जाने की आज्ञा नहीं दूँगा। पुत्र ने कहा– कैसी आज्ञा आपसे! मैं तो हिमालय से माँ की आज्ञा लेने आया था, जिसे उसने दे दिया। यदि उसका स्वभाव भी आपकी तरह ही होता, वह भी ब्रह्म की तरफ से उदासीन रहती तो उससे भी आज्ञा माँगने नहीं आता। जो ब्रह्म को नहीं जानता, वह मरा हुआ माना जाता है और मरे हुए से आज्ञा नहीं ली जाती। भक्त जीता है, मुमुक्षु जीता है, धर्मात्मा जीता है– एक वह होता है जो ब्रह्म को जानता है, अतः वह जीता है, दूसरा वह जो ब्रह्म को जानने की चेष्टा करता है वह भी जीता है और जो न ब्रह्म को जानता है, न ब्रह्म के लिए जीता है बल्कि ब्रह्म के लिए जीने में व्यवधान डालता है, ऐसा पुरुष मरा हुआ ही माना जाता है। इस न्याय से मेरे सामने पिता खड़ा नहीं है बल्कि एक मरा हुआ व्यक्ति खड़ा है, जो कह रहा है कि आज्ञा नहीं दूँगा और वैसे की आज्ञा मुझे चाहिये नहीं।

माता–पिता, भाई–बान्धव अपने को ज्ञानी समझते हैं, अतः वे मूर्ख हैं आने–जानेवाले हैं। साधक एवं भक्त इनके भुलावे में न आवें; क्योंकि ये ही विषय स्पर्श एवं विषय दोनों हैं। ऐसा इनके स्वभाव को देखकर ही तो जो फूल से कोमल हृदयवाला है, वह वज्र से भी कठोर हृदयवाला बनकर इनके हृदय में बैठा हुआ है। ब्रह्म की यदि ब्रह्म के रूप में उपासना नहीं की जाती तो अन्यथा दोष हो जाता है, अतः अलग हो जाना पड़ता है उनसे। द्वारिकावासियों ने ब्रह्म (भगवान श्रीकृष्ण) को ब्रह्म के रूप में नहीं देखा, अतः ब्रह्म ने अलग कर दिया उनको। दुर्योधन भी उन्हें ब्रह्म के रूप में नहीं देख रहा है, इसलिए उसके पक्ष से खड़ा कर दिया उनको (नारायणी सेना को)। जो ब्रह्म को ब्रह्म के रूप में नहीं देखता, वह विपक्षी हो जाता है। ठीक इसीप्रकार यदि अपने स्वजन ब्रह्म को नहीं चाहते तो उनसे अलग हो जाना चाहिये, यदि ऐसा नहीं करते तो महानिर्दयी हैं आप। निर्दयी कहते किसे हैं? जिसने ब्रह्म को त्याग दिया है, वही तो महानिर्दयी है; जो अपरब्रह्म (स्वजन) को ही सम्पूर्णता से स्वीकार कर लिया है और परब्रह्म परमात्मा को अस्वीकार कर दिया है, वह महानिर्दयी है, अतः उस निर्दयी के पास परब्रह्म प्रकाशित नहीं हो सकता। वे निर्दयी स्वजन ही दुःख के हेतु हैं; साधकों को इसपर विचार करना चाहिये, जिन्होंने घर–बार छोड़कर संन्यास ले लिया है। घर का तात्पर्य होता है– स्वजन (अपरब्रह्म)। इस अपरब्रह्म अर्थात् प्रकृति का त्याग कर दिया है जिन्होंने, उन्हें बहुत सजग होना चाहिये, बहुत सजग होना चाहिये, जबतक कि अपरब्रह्म मन, बुद्धि, चित्त से निकल नहीं जाता; क्योंकि जबतक

वह नहीं निकलता तबतक परब्रह्म उसमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। जैसे जबतक घड़े का जल नहीं निकल जाता, तबतक उसमें दूध नहीं भरेगा। जो कुछ भी भरना होगा, उसके विपरीत पदार्थ को निकालना होगा। एक समय में एक ही समा सकता है मन में– या तो ब्रह्म या तो जीव। दो को आप नहीं बिठा सकते एक को बाहर करना होगा, एक को भीतर करना होगा। अपरब्रह्म को बाहर एवं परब्रह्म को भीतर कर दें, यही जय है। यदि ऐसा नहीं करते तो पराजय है।

'न तेषु रमते बुधः'– विषयी ही विषय में रमण करते हैं, जैसे बालक खिलौनों से खेलते हैं। यह सम्पूर्ण दृश्यजगत भगवान का खिलौना है, इस खिलौने के बहुत अंगोपांग हैं। मूर्ख इसे विषय समझकर खेलते हैं, भक्त इससे भगवान समझकर खेलते हैं परन्तु ज्ञानयोगी इसे माया समझकर खेलते ही नहीं बल्कि सदा–सर्वदा के लिए इससे उदासीन हो जाते हैं। यद्यपि वे भी खेलते हैं त्याग से लेकिन उनका खेलना दिखाई नहीं पड़ता। गोस्वामीजी ने उनके खेलने के ढंग को इसप्रकार प्रस्तुत किया है–

रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

अर्थात् जिसप्रकार सूर्य के ताप से नदियों का, सरोवरों का जल धीरे–धीरे सूखता जाता है, उसीप्रकार ज्ञानयोगी ममता, मोह आदि दोषों का धीरे–धीरे त्याग करते हैं। त्याग करने के लिए भी वे मोर्चा बनाते हैं। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये उनके मोर्चे के ही तो एक–एक अंग हैं। इससे सिद्ध हो गया कि शम, दम, उपरति आदि ज्ञानयोग के साधनों से ही वे क्रीड़ा करते हैं। यदि आप भी अपने–आपको ज्ञानी समझते हैं, मूर्ख मानने को राजी नहीं हैं, तो विषय भोगों में रमण करना बन्द करें, उनसे खेलना बन्द करें; तभी आप अपने को बुद्धिमान कह सकते हैं।

इस अध्याय में मंत्र सं० १२ तक शम की बात की गयी है, १३ से १६ तक दम की, २० से २२ तक उपरति की, २३ में तितिक्षा की, २४ से २७ तक श्रद्धा की और २८ से २६ तक समाधान की बात की गयी है। अतः आयें, अब तितिक्षारूप शक्ति की बात भगवान के द्वारा देखें–

(शक्नोतीहैव यः सोढुं) शरीर के रहते–रहते जिसने काम–क्रोध के वेग को सहन किया है, लोभ–मोह, राग–द्वेष, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों के वेग को सहन किया है, इस जगत में वही सुखी है तथा वही योगी है, संन्यासी है और जो इन विकारों के वेग में बह जाते हैं, वे भोगी हैं, विषयी हैं। आप चाहें तो इन भाव विकारों के वेग को सहन कर सकते हैं। पशु–पक्षी काम–क्रोध आदि के वेग को सहन नहीं कर सकते, देवता भी इन विकारों के वेग को सहन नहीं कर पाते, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, इनकी तो बात ही क्या करनी है। ये तो काम–क्रोध के वेग को क्या सहन करेंगे बल्कि ये तो 'सदा काम के चेरे जानी' अर्थात् ये तो काम के ही सेवक हैं, काम के ही भक्त हैं। अतः आप इसपर विचार करें कि यदि काम–क्रोधादि

के वेग को सहन करने की योग्यता नहीं होती तो भगवान आप से कहते ही नहीं।

भगवान ने यहाँ पर एक अद्‌भुत दर्शन दिया है, वह यह कि प्रकृति में सतत बहाव है। लोग कहते हैं– आकाश में स्थिरता है लेकिन महाराज कह रहा है कि स्थिर तो एक भगवान ही है। हाँ प्रकृति का गर्भ यह आकाश, अन्य तत्त्वों की अपेक्षा स्थिर सा अवश्य है और यह मत भूलना कि जिसमें बहाव है, उसमें काम–क्रोधादि विकारों का ही बहाव है और वह बहाव भी ऐसा कि बिना ब्रह्मसंकल्प के रुक नहीं सकता। विषयी के पास संकल्प होता ही नहीं, विकल्प ही उसका जीवन है। सकामयोगी के पास तंत्र का, मंत्र का, योग का ही संकल्प होता है, जिसका अन्त विकल्प होने से वह विकल्प ही है। मुमुक्षु का संकल्प उसका सद्‌गुरु है, जो सदा–सर्वदा के लिए स्थिर है। अतः मुमुक्षु भी सदा–सर्वदा के लिए स्थिर हो जाता है। वहाँ जाकर उसके मन, बुद्धि, चित्त से आत्मचिन्तनरूपी धारा प्रवाहित होने लगती है, उसी धारा को वह देखते–देखते ब्रह्मरूप हो जाता है। फिर तो उसके तन, मन, वचन से आनन्दमय एवं शान्तिमयरूपी धारा प्रगट होने लगती है, जिसमें स्नान करने के लिए साधक एवं मुमुक्षु लालायित रहते हैं।

एक अद्‌भुत पहेली है कि विषयी पुरुष के लिए आकाश भी काम है। इसीसे तो सांख्यमत के अनुसार आकाश के काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय इन पाँचों विकारों के वेग में वह बह जाता है। विषयी के लिए वायु भी काम है, इसी से तो वह वायु के विकार उठना, बैठना, बल लगाना, संकुचन करना, दौड़ना आदि विकारों के वेग में दौड़ता रहता है। विषयी के लिए अग्नि भी काम है, तभी तो वह अग्नि के विकार क्षुधा, तृषा, मैथुन, आलस्य एवं तृष्णा आदि के वेगों में बह जाता है। विषयी के लिए जल भी काम ही है, तभी तो वह जल के विकार पित्त, कफ, लार, रक्त, वीर्य, मूत्र आदि वेगों को सहन नहीं कर पाता। विषयी पुरुष के लिए पृथ्वी भी काम ही है, तभी तो वह रोम, त्वचा, मांस–हड्डी आदि विकारों में आसक्त होकर, इन्हीं के बहाव में होकर बहता रहता है। विषयी के लिए ब्रह्मविद्या प्रदाता सूर्य भगवान भी काम ही हैं, तभी तो वह कहता है कि जब सूर्य भगवान माँ कुन्ती के पास आकर अपने काम के वेग को रोक न सके तो मैं फिर क्यों रोकूँ? विषयी के लिए चन्द्रमा भी काम है तभी तो वह कहता है कि इसी चन्द्रमा ने गौतम ऋषि की धर्मपत्नी अहल्या (अहिल्या) के साथ छल करने में इन्द्र का साथ दिया था। इन विषयी पुरुषों का कहना है कि सारे पदार्थ रस प्रधान ही हैं और वह रस काममय ही है, जिसे भगवान ने हमारे लिए बनाया है। वे विषयी तो अपने क्या, बाल–बच्चों, हित–मित्रों के भी काम–क्रोध के वेग को सहन नहीं कर पाते; क्योंकि उनकी युवावस्था को देखकर चिन्तित हो उठते हैं और कहते हैं कि अब जल्दी से जल्दी इनका विवाह कर दें, अन्यथा ये कहीं उत्पात न मचा दें। उन स्वजनों के वैरी को देखकर वे आग–बबूले हो उठते हैं और कहते हैं– इस वैरी को समाप्त ही कर दिया जाय तो अच्छा है।

आजतक के इतिहास में काम, क्रोध, लोभ के वेग को सहन न कर पाने के कारण ही सारे उत्पात हुए हैं। घर–परिवार में भी जब, जहाँ जिस अवसर पर विषमता देखी गयी है, उसका एकमात्र कारण काम, क्रोध, लोभादि के वेग को सहन न कर पाना ही है। आप नहीं देखते कि

कोई पुरुष अपना पूरा जीवन ही बाल–बच्चों के काम–क्रोध की व्यवस्था में ही झोंक बैठा है। आश्चर्य तो तब होता है जब पिता के काम का वेग शिथिल हो जाता है और वह बाल–बच्चों के काम के वेग को देखकर अति सन्तुष्ट एवं पुष्ट होता रहता है। विदेश से आए हुए बेटे को देखकर 'हाय! हाय मेरे बेटे! हाय मेरे लाल! बहुत दिनों के बाद तूने सुध–बुध ली', ऐसा कहते हुए काम अपने अंक (गोद) में पकड़ (भर) लेता है जिसे आप माँ कहते हैं वह चूमती है, चाटती है और बार–बार गले लगती है तथा बेटा भी कहता है– मेरी माँ मुझे बहुत प्यार करती है, वह मेरे लिए ही जीती है। अरे! जिसने ब्रह्म को ही त्याग दिया है, वह तो स्वयं चमारिन है, चमड़े की उपासना करती है, अतः वह तो चाम (चमड़े) की माँ है। आपने उसे अपनी माँ कैसे मान लिया? उसीप्रकार जो चाम की उपासना करता है, वह चमार कहा जाता है, पिता नहीं। यही बात जितने भी हित–नातेदार हैं, उनके लिए भी लागू होती है। अतः महाराज की तरह आप भी इस पद को मस्ती से राग–'जयजयवंती' में गाते हुए झूठे भ्रम को दूर कर लें–

मन करत चाकरी श्याम की, जग करत चाकरी चाम की।।

गावत सुनत करत सुमिरन, बीते दिन हरिनाम की,
जग सुमिरे घर बार हित मित, आवे नहिं कोई काम की।।
मन करत चाकरी श्याम की.....

काम क्रोध लोभ जग सुमिरे, मोरा मन रुप निधान की,
जग सुमिरे सुख मान बड़ाई, और जपे अभिमान की।।
मन करत चाकरी श्याम की.....

स्वर्ग निमित्त जगदेव अराधे, नरक विनाशन के हित साधे,
स्वर्ग नरक अपवर्ग मोरा मन, जानत नहिं कोई काम की।।
मन करत चाकरी श्याम की.....

शीत उष्ण सुख दुःख सम जानत, मोरा मन मान अमान की,
महाराज मन निसदिन विहरत, निज स्वरुप सुख धाम की।।
मन करत चाकरी श्याम की.....

(शक्नोतीहैव यः सोढुं) इन आक्रमणकारी डकैतों के द्वारा प्रकट होते हुए काम, क्रोध, लोभरूपी आघात को निश्चितरूप से आप सहन कर सकते हैं, तभी तो समब्रह्म में स्थित होकर आप अपने को बचा सकते हैं। यदि काम, क्रोधादि से प्रभावित हो, आप कामी, क्रोधी, लोभी बन जाते हैं तो न तो उनका वेग शान्त होता है और न आप शान्त होते हैं। हाँ, किसी संकल्पवान से यह बात नहीं कही जाती कि वह काम और क्रोध के वेग को सहन करे, वह तो आक्रमणकारी काम को वैसे ही भस्म कर देता है, जैसे कि भगवान शंकर; वह तो आक्रमणकारी क्रोधरूप रावण का वैसे ही दमन कर देता है, जैसे प्रभु श्रीराम। उसके पूर्व साधनावस्था में काम, क्रोध आदि वेगों को सहन करने से अकामता, अक्रोधता प्रकट होती है तथा उसी अकामी, अक्रोधी पुरुष के पास

ब्रह्म का संकल्प प्रकट होता है, जिससे वह अपने भीतर एवं बाहर के काम, क्रोध आदि शत्रुओं को सदा–सर्वदा के लिए भस्म कर देता है। अतः काम, क्रोधादि वेगों को आज से ही सहन करना प्रारम्भ करें, पता नहीं, कल शरीर रहेगा कि नहीं रहेगा। जो जैसा है उसको वैसा ही देख लें, अन्यथा पता नहीं कल देखने की शक्ति रहेगी कि नहीं रहेगी। आप भीतर और बाहर व्याप्त काम, क्रोध आदि डकैतों को चाहें तो त्याग सकते हैं और त्यागने पर वे उत्पात मचायेंगे, तो आप उनके उत्पात को भी सहन कर सकते हैं। ऐसा न समझ लेना कि वे उत्पाती कहीं उत्पात ही न मचाते रह जायें और हम सहन ही करते रह जायें। महात्मा प्रह्लाद ने सहन किया उत्पात को तो भगवान से कहाँ देखा गया, उन्होंने आकर हिरण्यकशिपु के उत्पात का सदा–सर्वदा के लिए दमन ही कर दिया।

क्यों रो रहे हो, इस हिमप्रदेश में? यहाँ तो सम–शान्तता बरस रही है। महाराज ने सन् १९८२ में गंगोत्री में एक साधक को करुणक्रन्दन करता देख पूछा। उसने कहा–'आप ध्यान से क्यों उठ खड़े हुए? मुझे तो मेरी माँ याद आ रही है। लगता है वह रो रही है, जब वह रोना बन्द कर देगी तब मैं भी रोना बन्द कर दूँगा; आप तो ध्यान में बैठें!' काम की मार इतनी विकट होती है कि हिमप्रदेश में गए हुए साधक भी विकल हो जाते हैं। धर्मपत्नी का काम वहाँ मारता है, माँ का मोह वहाँ मारता है, धन का लोभ वहाँ मारता है, वैरी का वैर वहाँ मारता है; जो उस वेग को सहन कर लेता है, वही तो योगी है तथा वही परम सुखी है।

'गुरुजी! तीन–चार दिन से रोज पिताजी पिटाई कर रहे हैं'– बहुत वर्ष पूर्व हिमालय में साथ रहनेवाला एक साधक सुबह जगने पर ऐसा कहता था। महाराज कहता था कि चलो, कोई बात नहीं, जाग्रत् में तो उनके उत्पात को सहन किया ही है तुमने, अब सपने में सहन करो। जिस दिन पिटाई करते–करते उनका बदला पूरा हो जाएगा, उस दिन से सपने में वे तुम्हें प्रणाम करते हुए दीखेंगे, क्षमा माँगते हुए दीखेंगे, वे तुम्हारे सामने रोते–गिड़गिड़ाते हुए दीखेंगें। इसप्रकार जो काम, क्रोध आदि वेगों को चाहे सपने में या जाग्रत् में सहन करता है, वही ब्रह्मभूत होने के योग्य है। वही निर्दोष ब्रह्म होने के योग्य है, वही सम शान्त ब्रह्म में स्थित होने के योग्य है।

यहाँ तक बाह्यविषय और बाह्यविषय जहाँ से स्फुरित होता है, वहाँ तक अपरब्रह्म की स्थिति का एवं उसके स्वरूप का भगवान नारायण ने वर्णन कर दिया है। अब उस सुखी एवं शान्त आत्मा को फल क्या मिलता है, उसके विषय में प्रभु ने प्रसन्न होकर महात्मा अर्जुन से कहा–

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, अन्तरात्मा में ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवाला है; वह ब्रह्मभूत हुआ पुरुष निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो

अन्तरात्मा की कामनावाला है, अन्तरात्मा से ही जो सुख चाहता है तथा उसी से जिसे शान्ति एवं सुख मिल रहा है, वह ब्रह्मरूप हुआ शीघ्र ही निर्वाणब्रह्म को प्राप्त कर जाता है।

उससे कैसे सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी? क्योंकि वह तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म है, वह तो भीतर–बाहर व्याप्त है, विषयता तो उसमें है ही नहीं, ऐसा प्रश्न खड़ा हो जाता है? तो कहते हैं– नहीं, सृष्टि में जितने भी विषय प्राप्त हो रहे हैं, उनमें जो सुख एवं शान्ति है, वह ब्रह्म के सुख एवं शान्ति की ही एक किरण है, जो फैली हुई है। उसकी कामना करने से ही उस अन्तरात्मा में प्रीति हो जाएगी। जैसे स्त्री की कामना करने से स्त्री में प्रीति हो जाती है, पुत्र की कामना करते ही धर्मपत्नी और पुत्र में प्रीति हो जाती है; वैसे ही आत्मा की कामना करते ही आत्मा में प्रीति हो जाती है। जो ऐसी कामनावाला है, आत्मा में ही सुख माननेवाला है, उसी में प्रीतिवाला है; तो वही परम ज्योतिवाला ज्ञानस्वरूप है। 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं'– और वही परम योगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'– जैसे ही कामना हुई ब्रह्म की, वैसे ही वह ब्रह्मयोग से युक्त हो जाता है, इसका ऐसा अर्थ लेना चाहिये। जीव–जगत में भी देखा जाता है कि जिस कामना से जिसका मन कामनामय हो जाता है, वह उस विषयवस्तु को प्राप्त करने के लिए वैसा ही कर्म करता है। रोटी–दाल की कामनावाला दिनभर श्रम करता ही है, चाहे उसे जितना भी श्रम करना पड़े। उसीप्रकार अन्तरात्मा से ही अक्षय सुख एवं अक्षय शान्ति की कामना करनेवाला काम, क्रोध आदि के वेग को सहज में ही सहन कर लेता है। जिसका परिणाम होता है कि वह कहीं अन्यत्र नहीं बल्कि अपनी आत्मा से ही सुख–शान्ति एवं परम ज्ञान प्राप्त कर निर्वाणब्रह्म को प्राप्त कर जाता है। प्रभु ने बहुत जगहों पर आत्मसुख, आत्मशान्ति अत्यन्त दुःखसाध्य है, अत्यन्त ही दुःखसाध्य है– ऐसा कहा है; निर्गुण–निराकार ब्रह्म की प्राप्ति, अति ही कठिन है, अति ही कठिन है– ऐसा कहा है लेकिन जब प्रेम में भर जाते हैं, तो सहज ही कहते हैं कि जो अपने–आप में सुख एवं प्रीतिवाला होकर स्थिर हो जाता है, तो वह शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मरूप हो जाता है अर्थात् उसे निर्गुण–निराकाररूप अति सुलभ है। काकभुशुण्डिजी ने भी अति प्रसन्न होकर एवं प्रेम में भरकर महात्मा गरुड़ से कहा है–

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

तथा स्वयं उन्होंने ही गरुड़ से प्रथमावस्था में कहा है–

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहीं बारा।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की तो आँख दिखाई ही नहीं पड़ती, उसका मुँह, नाक, कान, एवं हाथ–पाँव दिखाई ही नहीं पड़ता, जबकि यह जगत सगुण ब्रह्म है, जिसकी आँख सूर्य है, मन

चन्द्रमा है, वायु प्राण है, अग्नि पेट है, समुद्र वस्ति (नाभी के नीचे का भाग) है, पृथ्वी पाँव है तथा मनुष्य एवं पशु–पक्षी उसके विचार हैं इत्यादि– यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है, लेकिन बताने पर किसी को समझ में बात आती नहीं। जो आपका शरीर सगुण ब्रह्म का विचार है, उसी को आपने अपना रूप मान लिया तो फिर सगुण एवं निर्गुण रूप दिखाई पड़े कैसे? लेकिन 'निर्गुणरूप सुलभ अति'– सद्गुरु के वचनों में आपको श्रद्धा है, उसके वचनों में विश्वास है तो जैसे ही वह कहता है कि तुम शरीर नहीं हो, तुम आत्मा हो, तुम तन द्रष्टा, मन द्रष्टा, बुद्धि द्रष्टा एवं जगत द्रष्टा हो, ऐसा सुनते ही आप स्वयं निर्गुण–निराकार हो जाते हैं। महाराज के गुरुदेव ने भी कहा है–

सगुण ब्रह्म सब जगत है निर्गुण बसता माँहिं।
शिवानन्द सच कह रहा किञ्चित दूसर नाहि।।
(मेरा लक्ष्य)

भगवान बुद्ध के पास घोर तप से सम्पन्न एक तपस्वी आया, लेकिन अशान्त चित्तवाला, आत्मज्ञान से रहित, भौतिक सिद्धियों से सम्पन्न, दूसरों के मन की बात जाननेवाला, धरती में समा जानेवाला, आकाश में गमन करनेवाला, जल की धारणा से जल बन जानेवाला, वायु की धारणा से वायु बन जानेवाला, अग्नि की धारणा से अग्नि हो जानेवाला; उस तपस्वी ने भगवान से आत्मज्ञान माँगा। भगवान ने पूछा– आप लोक–लोकान्तरों में गमन करते हैं, जल, थल, वायु, आकाश आदि की धारणा से उनका ही रूप बन जाते हैं, तो भी आप अशान्त क्यों है? तपस्वी ने कहा– हे जगत्पते! सद्गुरु नहीं मिला न! आप जैसे सद्गुरु का अभाव था, अतः प्रकृतिवाद में ही लटकता–भटकता रह गया, यह प्रकृतिवाद है नाथ! यह सत्य नहीं है; अतः सत्य को प्रकाशित कर शान्ति प्रदान करें। भगवान बुद्ध ने कहा– जो द्रष्टा का भी द्रष्टा होता है, श्रोता का भी श्रोता होता है, मन्ता का भी मन्ता होता है, जो गन्ध का भी गन्ध होता है, वह मुक्त ही है। ऐसा सुनकर वह तपस्वी अपने–आप में ही रमण करनेवाला अपने–आप में ही सुख–शान्तिवाला बन गया।

'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः'– जो आत्मा को ही देखता है अर्थात् अपने–आपको ही देखता है, अपने–आपको देखकर यानी द्रष्टारूप होकर जो देखते हुए प्रारब्ध को भी देखता है, खाते–पीते, सोते–जागते, गमन करते हुए प्रारब्ध को भी देखता है, वह तो मुक्त ही है। यह कैसा विलक्षण पद है कि अन्तर में ही सुखवाला, अन्तर में ही प्रीतिवाला तथा अन्तर में ही ज्ञानवाला है; इसका तात्पर्य है कि वह बाहर से उदासीन चित्तवाला है अर्थात् अनासक्त है। भगवान के एक–एक मंत्र का, एक–एक पद का माला की मणियों की तरह चिन्तन करना चाहिये साधक को। इन ब्रह्मविद्यामय मंत्रों को अपने जीवन की घटनाओं से जोड़ देना चाहिये, इन्हीं को आधार बनाकर अपने जीवन को देखना चाहिये।

अन्तरात्मा में प्रीतिवाला अन्तरात्मा के गुणानुवादों को कहते हुए तथा सुनते हुए थकता नहीं, प्रथम अवस्था ऐसी ही होगी। अन्तर्ज्योतिवाला, अन्तर्ज्ञानवाला– बाह्यज्ञान, अन्तर्ज्ञान

अर्थात् प्रकृतिज्ञान बाह्यज्ञान है, आत्मज्ञान अन्तर्ज्ञान है, परम ज्ञान ही उसकी ज्योति है, उसी में प्रकाशित होता है वह, उसी में प्रीति मानता है वह, अतः तत्काल ही निर्वाणसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। निर्वाणसिद्धि अर्थात् आत्मस्वरूप की सिद्धि यानी वह आत्मरूप ही हो जाता है। जो जिसको देखता है, वह उसी का रूप हो जाता है। सृष्टि में ऐसा कोई भी नहीं, जो देख न रहा हो। पृथ्वी जल को– जल अग्नि को, जल पृथ्वी अग्नि को और अग्नि जल पृथ्वी को, जल अग्नि और पृथ्वी वायु को तथा वायु अग्नि जल पृथ्वी को, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश को और आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी को, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश महदाकाश को तथा महदाकाश इन सबको देख रहा है। उसीप्रकार इन सबके साथ महदाकाश परमाकाश को तथा इन सबको परमाकाश भी देख रहा है और इन सबके साथ महदाकाश ब्रह्माकाश को देख रहा है तथा ब्रह्माकाश, परमाकाश सहित महदाकाश आकाश वायु अग्नि जल एवं पृथ्वी को देख रहा है। ये सब ब्रह्म के ही चित्त के स्तर हैं, जो एक–दूसरे को देख रहे हैं। अतः ये सभी ब्रह्मरूप में ही स्थित हैं। पृथ्वी भी सम शान्त है इसीलिए इस ब्रह्म में हलन–चलन नहीं होने से समशान्तता सहज ही बरस रही है। चाहे फूल–काँटे कोई भी प्रकट हों, उस समब्रह्म को लेना–देना नहीं है। मगरमच्छ प्रकट हो, मछली प्रकट हो या मत्स्यपरी प्रकट हो जल में लेकिन उस जल को इनसे कुछ लेना–देना नहीं है; क्योंकि वह समब्रह्म है। ठीक इसीप्रकार अग्नि के द्वारा मंत्रदेवता प्रकट हों या वायु के द्वारा योगदेवता प्रकट हों अथवा आकाश में अनेकानेक सृष्टिरूप देवता प्रकट हों, उन सबसे इन सबको कुछ लेना–देना नहीं है, क्योंकि ये सब समब्रह्म में स्थित हैं। इसीप्रकार यह शरीर भी समब्रह्म ही है। योगासन–पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन आदि में इसे जब सम कर दिया जाता है, उस अवस्था में शरीर के अंग–उपांगों में हलन–चलन नहीं होने से प्राण में भी हलन–चलन नहीं होता। उसके सम शान्त होते ही, विचार भी सम शान्त हो जाते हैं। उस अवस्था में सभी एक–दूसरे को देखने लग जाते हैं– शरीर इन्द्रियों को, इन्द्रियाँ मन को, मन बुद्धि को, बुद्धि चित्त को, चित्त अहंकार को अर्थात् द्रष्टा को देखता है। उसीतरह चित्त से प्रकट हुए सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण को द्रष्टा देखता है, जो अन्तरात्मा होता है। इसप्रकार वह द्रष्टा सम शान्त निर्वाणब्रह्म को प्राप्त कर जाता है।

आप साधना के क्रम को पुनः देखें– सर्वप्रथम विषादयोग अर्थात् वैराग्ययोग में होना, तब ज्ञानयोग में तदुपरान्त कर्मयोग में, तत्पश्चात् ज्ञानकर्मयोग में प्रतिष्ठित हो, साधक जब पाँचवें अध्याय के कर्म संन्यास में प्रतिष्ठित हो जाय, तब उसे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर जप, तप, योग का त्याग कर देना है, उदासीन हो जाना है उससे। कैसे? ऐसे कि सभी एक–दूसरे के द्रष्टा हैं, किसी में हलन–चलन है ही नहीं, मानो ऊपर–ऊपर जल, लहर को देखता है तथा लहरें जल को देखती हैं ये पृथक् नहीं हो सकते। यद्यपि जल लहर को देखता नहीं, क्योंकि उसमें किसीप्रकार का विकार नहीं है, एकमात्र 'रूप' पृथक्–पृथक् हो जाने के कारण से औपचारिकता मात्र के लिए यह बात कही जाती है। उसीप्रकार जो अपरब्रह्म है वह भी परब्रह्म का ही स्वरूप है, अतः जो परब्रह्म है वह अपरब्रह्म की ओर नहीं देखता। वह अपरब्रह्म की ओर क्यों नहीं देखता? इसलिए कि वह (अपरब्रह्म) राग–द्वेषमय होता है। कहीं वह चोर–डकैतों के रूप में

किसी–किसी के लिए काल होता है, तो कहीं हित–मित्रों और बाल–बच्चों के लिए विष्णु हो जाता है। जैसे भगवान नारायण, अर्जुन से कहते हैं– 'मैं इन कौरवों के लिए काल हूँ और तुम्हारे लिए अमृत हूँ।' एक ही समब्रह्म काल बन जाता है और आपके लिए अमृत बन जाता है। इसप्रकार आप अपने स्वरूप में तत्काल ही स्थित हो जाते हैं। ये महात्मा अर्जुन के बहाने आप सब के प्रश्नों का उत्तर है। यहाँ तक आप सब के लिए जो ज्ञानयोग को अतिदुरूह बताया गया था प्रथमावस्था में, उसी को सुलभ–साध्य बना दिया गया जो श्रद्धावान हैं उनके लिए तथा जो विश्वासी हैं उनके लिए एवं जिन्होंने अपने हृदय से अपरब्रह्म को (स्वजनों को) निकाल दिया है अर्थात् उनकी बात नहीं मान रहे हैं और सद्गुरुरूप परब्रह्म की ही बात मान रहे हैं, उनके लिए। अब प्रश्न खड़ा होता है कि जहाँ सद्गुरु और माता–पिता दोनों ही खड़े हों तो वहाँ किसकी बात माननी चाहिये। स्पष्ट है कि सद्गुरु की बात माननी चाहिये; क्योंकि वह परब्रह्म है और माता–पिता अपरब्रह्म हैं।

प्रभु श्रीराम जब आ गये तो भरत का कहना है कि कैकेयी की बात नहीं मानी जाएगी। उसीप्रकार जब धर्म आ गया तो प्रभु श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा कि अब महाराज दशरथ की बात नहीं मानी जाएगी। सुमन्त्र ने कहा था कि हे राम! महाराज दशरथ ने कहा कि 'जाओ इन लोगों को वनप्रदेश दिखाकर ले आओ। वन में राम से कहना कि आपके पिता की आत्मा आपके बिना नहीं रह सकती, तड़पते हुए प्राण छोड़ देगी, इस जीवजगत (अयोध्या) में आने पर राम मुझे नहीं देखेगा, अतः राम को थोड़ी भी मेरे से प्रीति है तो लौट आए।' प्रभु श्रीराम ने कहा– हे सुमन्त्र! जीव, जीव ही होता जाता है अर्थात् अधम होता जाता है, लेकिन राम, राम ही रहता है। राम ने एक बार प्रतिज्ञा कर ली चौदह वर्ष वन में रहने की तो वह चौदह वर्ष वन में ही रहेगा, वह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ नहीं सकता। राम तो कहता है कि वे भी अपनी प्रतिज्ञा को न तोड़ें।

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा।।
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना।।
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

संकल्प ही राम है, राम ही संकल्प है; उसने जीव (दशरथ) की तरफ नहीं देखा। अन्तर में धर्म है, पिता बाहर रह गया। पिता के भीतर राम तो है लेकिन वह राम, पुत्र के रूप में है; अतः तड़पता हुआ मरेगा और वह स्वर्ग जाएगा, ब्रह्मनिर्वाण नहीं होगा उसका। यह कैसी मधुर झाँकी है अपने जीवन में झाँकने के लिए– 'राम आया घर में लेकिन निर्वाणपद नहीं मिला, वसिष्ठ जैसा सद्गुरु मिला लेकिन निर्वाणपद नहीं प्राप्त हुआ, इसलिए कि उस जीव ने (दशरथ ने) सद्गुरु को कुलगुरु (पुरोहित) मान लिया, उस संत को मनुष्य मान लिया, प्राणी मान लिया।' उसीप्रकार संत के दर्शन से प्रीति नहीं हो रही है आपको, सद्गुरु ब्रह्मरूप नहीं दिखाई पड़ रहा है आपको, तो निर्वाणपद कैसे प्राप्त होगा। राजा दशरथ का मोह ही आपके पास है, इसलिए जिस दृष्टि, जिस भाव से आपको सद्गुरु को देखना चाहिये, वह भाव, वह दृष्टि आपके पास

है ही नहीं। अतः आप अन्तरात्मावाले, अन्तर्ज्ञानवाले, अन्तर्ज्योतिवाले, अन्तर्सुखवाले नहीं बन पाते और बाहर के बाहर रह जाते हैं।

आपने घर छोड़ दिया भगवान के लिए, तीर्थ में या गुरुआश्रम में आ गये। प्रतिज्ञा करके आये कि जबतक भगवान को नहीं देख लूँगा तबतक किसी को भी नहीं देखूँगा लेकिन वहाँ भी दोष दिखाई पड़ने लगा, जो महादोष कारक होता है। एक बार जब रावण का सिर धड़ से अलग करते हैं प्रभु श्रीराम तो असंख्य सिर हो जाते हैं। कथानक ने वहाँ कहा है कि जैसे तीर्थ में एक पाप हजार पाप के बराबर हो जाते हैं, उसीप्रकार यहाँ यह दशा हो रही है। गुरुआश्रम या तीर्थ में वास करना और विषयी होकर रहना महापाप है। इतना ही नहीं, वह पाप बढ़ता जाएगा, बढ़ता जाएगा और एक दिन ऐसा आएगा कि वह आपको निगल जाएगा। निर्दोष ब्रह्म है तीर्थ और सद्गुरु आश्रम। इस जीव जगत में गाँव है, घर है, नगर है, देश है, विदेश है लेकिन तीर्थ और सद्गुरु आश्रम को तो वैकुण्ठलोक ही कहा जाता है; क्योंकि वह अपने–आप में समब्रह्म है। वहाँ जप सम है, तप सम है, योग सम है, सेवा–शुश्रूषा सम है; क्योंकि वहाँ समब्रह्म ही प्रकट होता है, फिर भी वहाँ पर आप अपरब्रह्म की चिन्ता करते हैं, अपरब्रह्म को देखते हैं, दोष–दर्शन करते हैं तो लम्बा काल बीत जाता है अन्तरात्मा होने में, अन्तर्सुखवाला होने में, अन्तर्ज्योतिवाला होने में अर्थात् निर्वाणपद प्राप्त करने में। अरे! नौ महीने में बालक पैदा हो जाता है लेकिन साधक की साधना नौ महीने में सिद्ध नहीं होती; धिक्कार है ऐसे साधक को और उसकी साधना को। अरे! नौ महीने नहीं तो नौ वर्ष में तो साधना सिद्ध हो जानी चाहिये, अन्तर्ज्योति एवं अन्तर्सुखवाला हो जाना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि उस साधक के द्वारा अपरब्रह्म की उपासना की जा रही है। गर्भ के अन्तर्गत नौ महीने में हाथ–पाँव, आँख–कान, नाक–जिह्वा आदि सम्पूर्ण अंग–उपांगों की रचना हो जाती है, वह बालक उसके उपरान्त गर्भ के भीतर नहीं रह पाता, अपानवायु के द्वारा अपने समय से माँ के गर्भ से बाहर आ जाता है; लेकिन नौ महीने क्या, नौ साल में साधक जेर से बाहर नहीं आ सका, वह मन से, घर–गाँव से बाहर न आ सका? लिपटा हुआ है मोहरूपी जेर से, अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप आसन सिद्ध नहीं हुआ है। चार साल हो गये, पाँच, छः, सात, आठ साल हो गये, तो भी कहता है मैं साधक हूँ, मैं संत हूँ, मैं मुमुक्षु हूँ? इतना सोया हुआ है, इतना सोया हुआ है कि उसे अपनी मोहरूपी नींद दिखाई नहीं पड़ती।

लक्ष्मण ने जान लिया कि भैया भरत आ गए, लेकिन अब मिलूँ कैसे इनसे? उन्हें ब्रह्मचारी के नियम का पता है, अतः जबतक श्रीराम प्रभु और भरत का मिलन नहीं हो जाता, तबतक वे अपनी औपचारिकता पूरी नहीं कर पाये। कोई साधक सजग होगा, तब वह ब्रह्मचारी कहा जाएगा। ब्रह्म का आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, ब्रह्म में विचरण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, ब्रह्मचारी के नियमों को धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, ब्रह्म के स्वरूप को धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है। यदि सजगता नहीं है, तो नौ महीने क्या नौ जन्म बीत जायें तो भी वह अन्तर्सुखवाला, अन्तर्ज्ञानवाला, अन्तरात्मावाला नहीं हो सकता; आत्मरूप होना तो दूर, शरीर ही अपना कहना नहीं मानता, शरीर ही सम नहीं हो पाता। सर्वप्रथम जैसे जैसे साधक

सम होता जाता है, जैसे–जैसे अपरब्रह्म अर्थात् शरीर सम होता जाता है, फिर इन्द्रियाँ सम होती जाती हैं, मन सम होता जाता है, फिर बुद्धि सम होती जाती है। यही क्रम होता है समब्रह्म होने का। अतः भगवान ने कहा–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

जिनके सम्पूर्ण संशय नष्ट हो चुके हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय दूर हो चुके हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन अपने–आप में स्थित है, वे ही पुरुष निर्वाणब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

मानो भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! तुम निर्वाणब्रह्म को प्राप्त करो। तुम राजर्षि हो, अतः मेरी आज्ञा का पालन करो। मैं तुम्हें निर्वाणपद दूँगा।

प्रभु ने मानो साधकों से हुंकार भरते हुए कहा है– आप सद्गुरु की आज्ञा का पालन करें, वह आपको निर्वाणपद देगा। देशभक्तों ने भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था– तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूँगा। महात्मा अर्जुन के मन में बहुत कुछ संतोष हो चुका था, यह सुन लेने के उपरांत कि ये साक्षात् नारायण ही हैं अर्थात् समब्रह्म ही हैं। निर्गुण भी समब्रह्म होता है और सगुण भी समब्रह्म होता है। निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही सगुण–साकाररूप में प्रकट होता है, अतः वह सम ही होता है, विषम नहीं होता। महात्मा अर्जुन के मन में सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि निर्वाणब्रह्म को प्राप्त पुरुष कहीं ऐसा तो नहीं कि जड़भरत की तरह हो जाय? एक तरफ तो निर्वाणब्रह्म स्वरूप आप हैं, जिन्होंने व्यवहार का त्याग नहीं किया है एवं दूसरी तरफ जड़भरत हैं, जिन्होंने व्यवहार का त्याग कर दिया है तथा और भी हिमालय प्रदेश में रहनेवाले हजारों–हजार साल से समाधिस्थ संत हैं, वे भी हैं। तो क्या वे निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हो चुके हैं? निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष क्या निर्वाणरूप ही हो जाएगा, उसका इस जगत् से कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, वह किसी काम का नहीं रह जाएगा, मात्र द्रष्टा बनकर रह जाएगा तथा फिर–फिर आप कहें कि वह निर्वाणब्रह्म किसे प्राप्त होता है? इसी प्रश्न का उत्तर प्रभु ने दिया है कि 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः'– जो निश्चितरूप से आसक्तिरूप दोष से, आसक्तिरूपी महापाप से मुक्त हो चुके हैं, वे ही निर्वाणब्रह्म को प्राप्त करते हैं। 'क्षीणकल्मषाः'– सम्पूर्ण पापों की मूल है आसक्ति। किसकी आसक्ति? शरीर की आसक्ति। शरीर की आसक्ति से, शरीर के प्रति होनेवाली मोह–ममता से, शरीर के अंग–उपांगों अर्थात् इस शरीर का जो भरण–पोषण करने का ढोंग रचते हैं, उन माता–पिता, भाई–बान्धव आदि सारे के सारे, जो उस मोह की शाखाएँ हैं, अंग–उपांग हैं, उनसे अनासक्त हुए साधुपुरुष ही निर्वाणब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वे निर्वाणब्रह्म को प्राप्त होकर मात्र द्रष्टा ही नहीं हो जाते। तो फिर? 'छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः'– वे आत्मशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए सम्पूर्ण भूतों के हित में रत हो जाते हैं। आसक्तिरूपी दोष के क्षीण होने पर अनासक्ति हो जाती है जगत से और आसक्ति हो जाती है सद्गुरु नामक ब्रह्म से। जबकि पूर्व के मंत्रों में स्पष्ट करके दिखाया गया है कि सारा

का सारा संशय दूर हो गया होता है उनका, अतः वे आत्मवान सम्पूर्ण भूतों के हित में रमण करने लगते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान महात्मा अर्जुन से कहना चाहते हैं कि अभी तक तुमने परिवार के हित की कामना से ही युद्ध किया है। यद्यपि अधर्म युद्ध नहीं किया है उन्होंने तो भी मात्र स्वजनों के हित के लिए ही युद्ध करने के कारण से वह युद्ध 'सर्वभूतहिते रताः' नहीं हुआ है, बल्कि 'स्वजनहिते रताः' हो गया है। अपने कुटुम्बीजनों के हित में ही उन्होंने जीवन बिताया, इसलिए जब 'सर्वभूतहितेरताः' का अवसर आया अर्थात् सम्पूर्ण भूतों के हित के लिए युद्ध करने का अवसर आया तो वे भाग खड़े हुए। सम्पूर्ण भूत का तात्पर्य क्या है? यह किसकी तरफ संकेत है? तो कहते हैं– सम्पूर्ण संतों, भक्तों, साधकों, मुमुक्षुओं के लिए है, चाहे वे गृहस्थाश्रम में हों, चाहे बाहर हों, चाहे राजा जनक के आदर्शवाले हों, चाहे महात्मा शुकदेव के आदर्शवाले हों, उन सबके लिए है; क्योंकि वे ही कालान्तर में स्वभूत हुए, आत्मरूप हुए, सम्पूर्ण भूत–प्राणियों के हित में रत रहनेवाले हो जाते हैं। उनमें और भी क्या विशेषता होती है? यही कि वे आत्मवान होते हैं, उनका संशय दूर हो गया होता है, उन्हें कुछ पाना शेष नहीं रहता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जबतक अपना स्वयं का हित न हो जाय, तबतक सम्पूर्ण भूतों के हित में होने की बात ही नहीं आती। जबतक अपने तन, मन एवं वचन पर शासन न हो जाय, तबतक दूसरे पर अनुशासन करने की क्षमता नहीं आती। बुद्धि का काम है प्रशासन करना, अतः अनुशासन के बाद प्रशासन का अधिकार होता है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि वे 'सर्वभूतहिते रताः' हो जाते हैं।

जड़भरत जड़ नहीं हो गए, निर्वाणब्रह्म को प्राप्त करके बल्कि वे निवृत्ति मार्गीय साधकों के आचार, विचार, व्यवहार को प्रकाशित करने लगे। उनका पागल की तरह रहना संकेत करता है कि ऐसे समय में जब चारों तरफ से काम की बरसात हो रही हो, क्रोध की बरसात हो रही हो, लोभ की बरसात हो रही हो तो उन कामी, क्रोधी, लोभियों के बीच पागल बनकर रह जाना, अन्यथा वे वस्त्र के साथ–साथ लंगोटी से भी छीना–झपटी करेंगे। उनका पागल बनकर रहने का संकेत इसलिए भी है कि साधक कहीं दिखावे में न पड़ जाय। ऐसा देखा भी जाता है कि यदि आज ही कोई साधक गेरूवस्त्र पहनकर निकल गया घर से, तो उसकी आरती होनी प्रारम्भ हो जाती है और वह साधक भी इसी को बहुत बड़ा लाभ मान लेता है। अतः उसे दम्भ हो जाता है, अहंकार हो जाता है कि मैं संत हो गया। वह जानता कुछ है नहीं, त्यागा कुछ है नहीं, तो भी इस दोष के आने की सम्भावना तो होती ही है। भगवान दत्तात्रेय चौबीस अवतारों में से एक हैं। वे आज यहाँ कल वहाँ विचरण करते रहते हैं। ऐसा कोई भी नहीं हुआ कि जो निर्वाणरूप हो गया हो और समाधिस्थ ही रहता हो। सभी जानते हैं कि हनुमानजी, परशुरामजी, विभीषण आदि निर्वाणरूप ही हैं अर्थात् ब्रह्मरूप ही हैं लेकिन वे सदा के लिए समाधिस्थ कहाँ रहते हैं? आज भी ब्रह्मजिज्ञासुओं की जिज्ञासा पूरी करते ही हैं। जब–जब ब्रह्मोपासक उन्हें याद करता है, तब–तब प्रकट हो ही जाते हैं। ठीक इसके विपरीत जो बहुत से साधकों के बीच कौतूहल के विषय बने हुए होते हैं, वे सिद्ध पुरुष होते हैं, न कि ब्रह्मज्ञानी होते हैं। सतोगुण के प्रकाश से

प्रकाशित हुए वे पुरुष सतोगुण की समाधि में आसक्त होकर हजारों साल व्यतीत कर देते हैं, अतः वे सिद्ध की संज्ञा प्राप्त करते हैं न कि ब्रह्मज्ञानी की। भगवान दत्तात्रेय, जड़भरत, महाराज जनक, संत तुकाराम, संत कबीर, भक्त रैदास, गुरुनानक, गोस्वामी तुलसीदास आदि सब निर्वाणब्रह्म ही हैं जो सम्पूर्ण भूतों के हित में ही रहते आये हैं। निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हुई भगवती कौसल्या, सुमित्रा, माँ मदालसा, गार्गी, अनसूया आदि मातायें भी सदा ही सम्पूर्ण भूतों के हित में रमण करती थीं। माँ कैकेयी भी जीवनमुक्त ही थी, जिसे आप कुलकलंकिनी समझते हैं, महात्मा भरत भी जिसे पहचान नहीं पाये थे। एक विशेष उद्देश्य से उसने महाराज दशरथ से वरदान माँगा था, एक सोची–समझी रणनीति थी उसकी। सुमन्त्र एवं अन्य सात मंत्री भी महाराज दशरथ सहित जीवनमुक्त थे। इन्हीं जीवनमुक्तों के घर में निर्वाणब्रह्म प्रकट होता है, जिसे राम कहा जाता है, कृष्ण कहा जाता है। 'क्षीणकल्मषाः'– स्वधर्म का पालन करते–करते आसक्तिरूप दोष से रहित हो गये थे ये। शुभ और अशुभ ये दो दोष नहीं हैं, बल्कि दोष की छाया हैं। यदि ये दोष होते तो फिर रत्नाकर नामक डकैत रौरव नरक ही भोगता, जितना उसने अपराध किया था। ब्रह्महत्या तक का पाप किया था उसने; अतः उसे क्षमा नहीं किया जाता। लेकिन जब निर्वाणब्रह्म उसे प्राप्त होता है और उसपर कृपा होती है, तब वह निर्वाणब्रह्म ही हो जाता है। जब सप्तऋषियों से, जो निर्वाणरूप ही हैं, योग बनता है उसका तो सहज में ही बाल–बच्चों एवं कुटुम्बीजनों से अनासक्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, रत्नाकर नामक शरीर से भी इतना वैराग्य हो जाता है, इतना वैराग्य हो जाता है तथा रामनाम से इतना राग हो जाता है, इतना राग हो जाता है कि वह राम ही हो जाता है। वह ब्रह्मरूप हुआ पुरुष जगत–हितार्थ रामकथा लिखता है, जिसके पठन–पाठन, मनन–चिन्तनरूप स्वाध्याय से भी निर्वाणब्रह्म ही प्राप्त होता है तथा जगत में ब्रह्मर्षि वाल्मीकि नाम से जाना जाता है।

जो मोक्षस्वरूप हो चुका है, आप्तकाम हो चुका है, उसे भी निर्वाणब्रह्म ही कहते हैं। एक तो निर्वाणब्रह्म उसे कहते हैं जिसने शरीर को छोड़ दिया है, निर्गुण–निराकाररूप ही हो गया है, तथा दूसरा– निर्वाणब्रह्म उसे भी कहते हैं, जिसने शरीर के रहते ही निर्वाणब्रह्म प्राप्त कर विदेहावस्था को प्राप्त कर लिया है।

(लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्.....) बहुत देर के बाद अब महाराज इस मंत्र के माध्यम से युद्ध के मैदान में चलता है, जहाँ 'सर्वभूत हितेरताः' वाले भक्त, संत एवं साधक भी हैं, इतना ही नहीं माताएँ भी हैं, जिनके माध्यम से निश्चितरूप से अपने जीवन की झाँकी का पता चलेगा कि हम कितने पानी में हैं, कितने 'क्षीणकल्मषाः' एवं 'सर्वभूतहिते रताः' हैं। घोर तप से तपते हुए अपने तन, मन, वचन, हृदय को दोषरहित कर दिया है भगवती माँ कुन्ती ने, तभी तो उसने प्रभु को पहचान लिया था। उस 'सर्वभूतहिते रताः' माँ ने अपने पाँचों पुत्रों को दान कर, युद्ध के मैदान में जाते समय भगवान नारायण से कहा था– हे माधव! आज ही के दिन के लिए मैंने इन्हें जन्माया है कि धर्मरक्षार्थ अपने गुरुजनों से भी ये युद्ध करें, मोह न करें, मेरी गोद की लाज रखें, ऐसी मेरी आज्ञा है। जगत में जो संत एवं भक्त हैं, उनकी रक्षा करें। इस समय संत, भक्त पीड़ित हो रहे हैं असुरों से, अतः उनकी पीड़ा को दूर करें। महाराज युधिष्ठिर भी 'सर्वभूतहिते रताः' थे।

कभी अधर्म नहीं किया था उन्होंने, अतः 'क्षीणकल्मषाः' भी थे, अर्थात् पापरहित थे। सच पूछा जाय तो अर्जुन भी 'क्षीणकल्मषाः' और 'सर्वभूतहिते रताः' ही थे, थोड़े समय के लिए उनमें दोष आ गया था, वह होना भी चाहिये था। ऐसा क्यों न हो? गुरुजनों के सामने आने पर एक सद्शिष्य के हृदय में मोह होना स्वाभाविक है, इसलिए प्रभु उन्हें बुरा नहीं कहते। दोष तो उनका तब था जब उन्होंने पितरों की बात की, देवताओं की बात की, 'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः'– कहा, अर्थात् वर्णसंकरता की बात की। प्रश्न केवल इतना होना चाहिये था कि हे प्रभु! इन गुरुजनों से मैं युद्ध कैसे करूँगा? दोष तो तब हुआ जब उन्होंने कहा कि हमारे जैसे बुद्धिमान भी इन जघन्य अपराधियों का वध करने जा रहे हैं। ये तो आततायी हैं ही इन्हें तो बोध भी नहीं है लेकिन हमें तो बोध है, हमें तो आगे आनेवाले समय में वर्णसंकरता से होनेवाले उत्पात से बचना चाहिये; यह तो रक्षा में हत्या होने जा रही है। उनके द्वारा ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि वे सदाचार की उस महति भूमि में प्रवेश कर चुके थे, जिसमें भगवान प्रकट होते हैं। सदाचारी नहीं होते वे तो प्रभु सद्गुरु नहीं बनते उनके। अतः मानो भगवान कह रहे हैं उनसे कि 'ये सभी विपक्षी पापरूप ही हैं, पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं, तुम्हारे तरकश में इनका दमन करने के लिए बाण सुरक्षित हैं, तुम्हारे जैसा 'क्षीणकल्मषाः' पुरुष ही इनका दमन कर सकता है।

माँ यशोदा, नन्दबाबा, वसुदेव, देवकी, महाराज उग्रसेन ये सारे के सारे क्षीणकल्मषाः पुरुष थे अर्थात् पापरहित ही थे, तभी तो उनके यहाँ प्रभु ने डेरा डाला था। वे वहाँ पर किसी के पुत्र बन गये थे, किसी के भाई और किसी के सखा बन गये थे और यह न भूलें कि वहाँ पर प्रकट होनेवाली, जिन्हें प्रभु ने अपनी गोपियों के रूप में देखा था, वे सोलह हजार सामवेदीय मंत्र ही थे। वे प्रभु की शक्तियाँ थी। वे सभी 'क्षीणकल्मषाः' थे। किसी को किसी से प्रीति नहीं थी, न गोपियों को किसी से प्रीति थी, न नन्दबाबा को और न ही माँ यशोदा को ही किसी से प्रीति थी। कोई भी कीमत चुकाने को वे तत्पर रहते थे। कंस जैसे दुराचारी से भी युद्ध करते थे नन्दबाबा, तभी तो वे 'सर्वभूतहिते रताः' कहे जाते थे। ब्रह्मविद्या को देनेवाली गोमाता की सुरक्षा के लिए वे बहुधा कंस से लोहा लिया करते थे; कभी हार नहीं मानी उन्होंने। अतः ऐसे पापरहित पुरुष को निर्वाणब्रह्मरूप प्रभु ने पुत्ररूप में आकर आनन्दित कर दिया। वसुदेव एवं देवकी दोनों ही 'क्षीणकल्मषाः' अर्थात् पापरहित हैं। उनके सत्य में प्रतिष्ठित होने के कारण ही उन्हें निर्वाणब्रह्म को देने स्वयं प्रभु ही उनके पुत्ररूप में आ गये। लोग कहते हैं– ऐसे सत्यवादियों को कंस जैसे दुराचारी ने कारागार में कैसे रखा? यह आध्यात्मिक बात है, जिस पर आप सब ध्यान दें– 'हीरे को सोने की पेटी में रखा जाता है, सोने के गहने को चाँदी की पेटी में रखा जाता है, चाँदी के गहनों को लोहे की पेटी में रखा जाता है अर्थात् जो वस्तु जितनी कीमती होती है, उसकी सुरक्षा के लिए उतनी ही कीमती पेटी होती है। जानते हैं, वह कारागार नहीं था जिसमें कंस ने उन्हें बन्दी बना रखा था, वह एक दिव्य संदूक (पेटी) था, ऐसी पेटी कि जिसमें साक्षात् निर्वाणब्रह्म वहाँ पर नौ महीने वास कर रहा था। अतः वह सुरक्षा का कवच था। अध्यात्म तो विरोधी तत्त्वों से घिरा रहता है। आध्यात्मिक साधक प्रतिकूलता के घेरे में रहते हैं। जेर में जैसे

बालक रहता है, वैसे ही प्रतिकूलता नामक जेर से अध्यात्म प्रकट होता है। सात आवरणों से घिरा हुआ कारागार था जिसमें भगवान रह रहे थे। भगवान अन्तिम आवरण में अर्थात् गर्भगृह में वास कर रहे थे। मानो वे संकेत कर रहे हों कि यह सहस्त्रार है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहद, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्त्रार– ये सात आवरण हैं। भगवान स्वयं से ही उस गर्भरूप सहस्त्रार में प्रतिष्ठित थे। वहाँ पर योजनाबद्धरूप से कुछ काम कर रहे थे। वे प्रतीक्षा कर रहे थे उसके तप नाश होने की। इसलिए बारी–बारी से वे अपनी शक्तियों को कन्या एवं बालकों के रूप में भेजते थे, जिनका कंस वध करता था। इसप्रकार उसका घोर तप तपा हुआ, नाश को प्राप्त हो गया। उसके तप में भगवान शंकर समाये हुए थे। प्रभु ने सोचा कि भगवान शंकर उसके आगे–पीछे, दायें–बायें से हट जाएँ, तभी इसका वध करूँ। जितना यह दुराचारी होगा उतना ही वे वहाँ से हटेंगे। सबके जप, तप, योग का सम्मान करना है प्रभु को। अतः छः बार उससे ब्रह्महत्या करवायी गयी। उसके पूर्व ब्रह्महत्या के पाप से पीड़ित तो था ही; क्योंकि पिता को बन्दी बना लिया था, लेकिन उसके घोर तप के कारण उसके अनुपात में उससे पाप कराना था। जो जीव है और दुराचारी हो गया है, उसके लिए ऐसी योजना बनायी जाती है कि उससें तप के अनुपात में विशेष दोष हो जाय, तब उसके तप का नाश हो जाएगा। उसके उपरान्त उसी के दोष से उसका वध हो जाएगा अर्थात् सर्वनाश हो जाएगा। इसप्रकार प्रतिकूलता में अध्यात्म छिपा रहता है। महाभारत और भागवत पढ़ेंगे तो देवकी और वसुदेव का भी कुछ दोष दिखा दिया जाएगा, जिसके कारण वे बन्दी बनाये गये; जबकि वे सदा से ही पापरहित थे। तो प्रश्न उठता है कि फिर ऐसा क्यों कहा जाता है? वह इसलिए कि जो कर्मवादी हैं, प्रकृतिवादी हैं, उनके चित्त को मोहित करना है न। यही कारण है कि मुमुक्षुओं के पास कुछ और बात की जाती है और ज्ञानियों के पास कुछ और। हनुमानजी को तो कोई बन्दी बना ही नहीं सकता लेकिन वे स्वयं मेघनाद के द्वारा संधान किये गये ब्रह्मास्त्र द्वारा स्वेच्छा से बन्दी बन गए। वह इसलिए कि पूरी लंका के लोगों की आँखों में धूल झोंकनी है न। यदि सत्य की दुहाई दी होती वसुदेव ने, तो बन्दी नहीं बना पाया होता कंस। यदि स्वधर्म की दुहाई दी होती उग्रसेन ने भगवान से तो उन्हें भी कंस बन्दी नहीं बना पाया होता। यही कारण है कि वसुदेव, देवकी एवं उग्रसेन ने कारागार में जाते समय स्पष्ट कहा था कि भगवान की यही इच्छा है न! उन्होंने मूर्खों एवं अज्ञानियों जैसे यह नहीं कहा था कि हमारे पाप का फल है, जो हमें कारागार में जाना पड़ रहा है। महाराज के गुरुदेव कहा करते थे– अपने मन का हो तो अच्छा और अपने मन का नहीं हो तो बहुत अच्छा; क्योंकि भगवान के मन का हो रहा है। इस न्याय से जिस साधक को सद्गुरु मिल गया है, वह पापरहित ही है। वह चाहे तो अपना हित करके 'सर्वभूतहिते रताः' हो सकता है।

सारे के सारे स्वरूप को तो नहीं, लेकिन जितनी आपके भाग्य में यह झाँकी प्रकाशित हो जाय, उतनी आपको पर्याप्त माननी चाहिये। जिसप्रकार कोई भी स्त्री निर्वस्त्र शोभा नहीं देती, आभूषणहीन शोभा नहीं देती, उसीप्रकार यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जो दिव्यवस्त्रों से सजायी गयी है, दिव्य गहनों से सजायी गयी है, दिव्य भुजायें हैं इसकी, दिव्य बैठकी है इसकी; इसका

खाना–पीना, सोना–जागना सब दिव्य है। अरे! वह कौन सी ब्रह्मविद्या है? उसे आप प्रकाशित तो करें! हाँ, संत के आचार–विचार, व्यवहार को आप देखें– वही ब्रह्मविद्या है। उसके त्यागरूप शृंगार को देखें, भीतर–बाहर के उसके स्वरूप को देखें, वही ब्रह्मविद्या है। जब वह प्रकट होती है, तब असुरों को भी मोहित कर देनेवाली होती है। आप नहीं देखते कि युद्ध के मैदान में सारे के सारे असुर मोहित हो गये थे– जबतक भगवान ने गीताजी का प्रवचन किया महात्मा अर्जुन के पास, तबतक उस रणभूमि में एकमात्र उनका ही शासन था, उनकी ही सत्ता थी, उनका ही साम्राज्य था। एक आश्चर्यमय घटना घटी वहाँ पर कि बिगुल बज गया, शंखनाद कर दिया पितामहभीष्म ने लेकिन महात्मा अर्जुन के कहने पर भगवान ने कहा– अभी ठहरें! और सबके तन, मन, वचन, हृदय में मानो स्तम्भन हो गया, सब जड़वत् हो गये।

'सर्वभूतहिते रताः'– सद्गुरु के कहने से महाराज के द्वारा किया गया यह भाष्य सबके द्वारा ग्राह्य हो चाहे न हो लेकिन जो जगत में भगवद्भक्त हैं, उनके लिए तो यह भाष्य उनकी आत्मा ही होगा। अतः आप विचार करें, आप भी कल के दिन 'सर्वभूतहिते रताः' हो सकते हैं। जो सद्गुरु के पास आ गया वह पापात्मा नहीं होता, वह पावन होता है और पावन में आत्यन्तिक शक्ति होती है, आत्मबल होता है। जबतक आप घर में रहते हैं, तबतक आपके पास जीवबल होता है, और जब सद्गुरु के पास आते हैं, तो सद्गुरु का बल होता है। जो आत्मवान हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' होते ही होते हैं। पुनः उन्हीं आत्मवानों की प्रशंसा करते हुए भगवान कहते हैं–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

कामक्रोध से रहित जीते हुए मन, बुद्धि, चित्तवाले अपनी आत्मा का साक्षात्कार किये हुए यति (ज्ञानी) के लिये सब ओरसे ब्रह्मनिर्वाण (शान्तब्रह्म) ही प्राप्त है। ब्रह्म को यति (संन्यासी) कह नहीं सकते, ब्रह्मज्ञानी को यति कह नहीं सकते; क्योंकि वह तो ब्रह्म ही हो जाता है। तो फिर 'यतीनां' कौन है? हाँ, जिन्होंने घर–बार छोड़ दिया है, जो ब्रह्मज्ञानी गुरु के शरणागत हो चुके हैं, वे ही यति हैं, वे ही संन्यासी हैं। यदि सच में उन्होंने अपने घर–बार, बाल–बच्चों एवं कुटुम्बीजनों को तथा अपने देश–प्रदेश को त्याग दिया है तो वे ही सचमुच में जीते हुए चित्तवाले, काम, क्रोध, भय आदि दोषों से रहित हैं। अच्छीप्रकार से वे ही मुक्त हैं अथवा कालान्तर में वे ही मुक्त हो जाते हैं।

बाहर के विषयों को बाहर त्यागकर वे काम–क्रोध से रहित हो जाते हैं। कुछ मंत्रों का अन्वय एकसाथ किया जाता है। जब किसी भी छन्द के द्वारा एक ही विषय को प्रकाशित किया जा रहा हो, तो उसमें यह नहीं देखा जाएगा कि एक ही मंत्र को लेकर चला जाय बल्कि उसके सहयोगी मंत्रों को भी साथ लेकर चला जाएगा। जैसे पिता पुत्र में, पुत्र पिता में अर्थात् एक–दूसरे में गुँथे हुए होते हैं, चाहें कितनी भी दूर क्यों न चले जायें पर दोनों एक–दूसरे के पास ही होते हैं। पुत्र विदेश चला जाता है तो भी पिता के पास ही रहता है मन से, बीच में

चाहे कोई भी आ जाय। वैसे ही सारे के सारे मंत्र एक–दूसरे के पूरक भी हैं और स्वतन्त्र भी हैं। अतः 'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां'– वे यति कौन हैं?– वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं जिनकी निष्ठा ब्रह्म में ही है। वे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं जिनकी निष्ठा माता–पिता, बाल–बच्चों में नहीं है और वे ही ब्रह्मचारी यति हैं अर्थात् संन्यासी हैं। 'वियुक्तानां' अच्छीप्रकार से मुक्त भी वे ही हैं। किससे? हाँ, काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं से। अतः उनके लिए सब ओर से अर्थात् भीतर–बाहर निर्वाणब्रह्म ही व्याप्त है। इसप्रकार वे अच्छीप्रकार से आत्मा को जाननेवाले होते हैं। 'कामक्रोधवियुक्तानां'–कौन काम? हाँ, माता–पिता, बाल–बच्चे तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिरूप काम। इनका त्याग कर देनेवालों के लिए– 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं'– सब ओर से ब्रह्म ही प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार के 'यतीनां' अर्थात् यतियों को, ब्रह्मचारियों को काम–क्रोध से अच्छीप्रकार से रहित सद्गुरु की अध्यक्षता को प्राप्त करते ही निर्वाणब्रह्म प्राप्त हो जाता है। सत्यकाम, आरुणि, उद्दालक, उपमन्यु, वीतहव्य आदि सद्गुरु के पास जाते ही निर्वाणब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं; आप उनके जीवनचरित्र को देखें। पीछे मुड़कर नहीं देखा उनलोगों ने। सद्गुरु को देखते, देखते वे स्वयं को ही देखते रह गये। आप देखते ही हैं कि अभी तो सगाई हुई, शादी तो हुई नहीं, पाणिग्रहण तो हुआ नहीं, लेकिन पति–पत्नी की भावना से वे युवक और युवती भावित तो हो ही गये। ठीक वैसे ही अभी तो सद्गुरु का दर्शन हुआ, मिलन तो हुआ ही नहीं, लेकिन एकमात्र स्वजनों को त्याग देने से तथा सद्गुरु को ही स्वजन मान लेने से, वे ब्रह्मचारी एवं संन्यासी कहे जाते हैं। वे श्रद्धावान ब्रह्मचारी कहते हैं– मेरा सद्गुरु तो मेरे भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे एवं दायें–बायें, सर्वत्र व्याप्त ही है। जहाँ वे देखते हैं, वहाँ उन्हें सद्गुरु ही दिखाई पड़ता है।

'गुरुदेव मैंने कुटिया के पीछे जाकर मुर्गे की बलि दे दी, वहाँ कोई था ही नहीं। आपने कहा था कि मुर्गे का वहाँ पर वध करना जहाँ कोई न हो, तुम्हें वध करते कोई देख न सके; अतः ये लें और अब मुझे दीक्षित करें। तबतक दूसरा शिष्य मुर्गे को लिए हुए लौटकर चरणों में मस्तक रखता है और कहता है– हे प्रभु! आप मुझे शिष्य बनावें चाहें न बनावें, लेकिन एकान्त तो मिला ही नहीं। जहाँ इस मुर्गे का वध करने की सोचता था, वहाँ आकाश देखता था, पृथ्वी देखती थी, वायु देखता था तथा मैं तो देख ही रहा था कि वे देख रहे हैं। इतना ही नहीं, जहाँ भी देखता था, केवल आप दिखाई पड़ते थे। दिखाई पड़ता था कि आप ही आकाश हैं, वायु हैं, अग्नि, जल, पृथ्वी हैं। दीक्षा जब होगी तब होगी लेकिन मैंने तो अपनी आँखें आपको ही दे दी हैं; अपने मन को, बुद्धि को, चित्त को आपको ही दे दिया है। जहाँ जाता था बस, आपको ही देखता था। आप जैसे महामना की अध्यक्षता में मुर्गे की बलि क्यों दी जाएगी; क्योंकि आपने तो अपने सामने बलि देने नहीं दी थी। अतः एकान्त कोई जगह नहीं है।

'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं'– इसप्रकार उस यति के लिए, ब्रह्मचारी के लिए, जिसने जगत का त्याग कर दिया है और निर्वाणब्रह्म अर्थात् सद्गुरु को प्राप्त कर लिया है, उसके लिए तो सब ओर से निर्वाणब्रह्म ही प्राप्त है। दो अर्थ लेना चाहिये– भीतर से भी जिसके काम, क्रोध, राग,

द्वेष इत्यादि दोष भगवत् कृपा से, सद्गुरु कृपा से निवृत्त हो गये हैं तथा वे यतिजन, वे ब्रह्मचारीजन जो सम्पूर्ण भूतों के हित में रत हैं, उनके लिए सब ओर से ब्रह्म ही व्याप्त है। वे सब ओर से ब्रह्म की ही सेवा कर रहे हैं। एक अर्थ ऐसा भी लेना चाहिये– 'सर्वभूतहिते रताः' सम्पूर्ण भूतों के हित में वही हो सकता है, जो सबको भगवान के रूप में देखता है। ब्रह्म तो जीव की सेवा नहीं करता, संत जीव की सेवा नहीं करते, वे तो मुमुक्षु की सेवा करते हैं, जिज्ञासु की पीड़ा को दूर करते हैं, धर्मात्माओं के दर्द का हरण करते हैं। सर्वत्र दीखता है उन यतियों को. ....। कौन? प्रथम अवस्था में सद्गुरु और जब वही निर्गुण–निराकार हो जाएगा, तब फिर सर्वरूपों में वही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में निर्गुण–निराकार रूप से दिखाई पड़ेगा, यानी अपनी आत्मा ही हो जाएगा। पूर्व के मंत्र में कहा गया है कि समब्रह्म ही दिखाई देता है सर्वत्र, यदि निर्दोषता आ गयी है तन, मन, बुद्धि में उसके।

भगवान दत्तात्रेय ने अपने चौबीस गुरुओं को तो प्रकाशित किया है लेकिन ऐसा कोई प्राणिपदार्थ नहीं है कि जिससे उन्होंने शिक्षा–दीक्षा न ली हो। एक संत ने कहा– पहरेदार से सीखा है मैंने पहरेदारी करना मन की। वह अपने पेट के लिए रात भर मकान मालिक के मकान की पहरेदारी करता रहता है तो मैं भगवान के लिए चौबीस घण्टे अपने मन की रखवाली करता रहूँगा। ऐसा कौन सा प्राणिपदार्थ है कि जिससे आप को शिक्षा–दीक्षा नहीं मिलती और यह न भूलें कि जिससे शिक्षा–दीक्षा मिलती है, वही सद्गुरु होता है, वही ब्रह्म होता है। वह ब्रह्म ही तो है जो किसी न किसी प्राणिपदार्थ से आत्मजिज्ञासु को कुछ संकेत कर रहा है। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्' आत्मज्ञानी सर्वत्र अपनी आत्मा को ही देखता है, अतः उसके लिए सर्वत्र ब्रह्म ही व्याप्त है। 'सर्वभूतहिते रताः'– एक अवस्था आती है, जब वह ब्रह्म की उपासना करता है और जब ब्रह्म उसके लिए साध्य हो जाता है, तब दूसरी अवस्था आती है कि चाहे उस आत्मज्ञानी की उपासना कोई करे या न करे लेकिन वह सबकी उपासना करता है। यहाँ तक कि हाथी से चींटी तक, मनुष्य से देवता एवं राक्षसों तक का हित चाहने लगता है। यदि ऐसा है तो भगवान ने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह सहित कौरवों पर दया क्यों नहीं की? अरे! उनके ऊपर भगवान की महति कृपा नहीं है तो क्या है! जो इन्हें बहादुरों जैसा मरने का मौका दे रहे हैं। जबकि इन लोगों को तो ब्रह्महत्या का भी पाप लग गया था, जिसके कारण ये सड़–गल कर मरने योग्य थे; लेकिन इतने भारी अपराध का प्रायश्चित उनलोगों के शिष्य के बाणों द्वारा करा देंगे। अपना पुत्र जब विरोधी हो जाता है और पिता जब उसके विरोध को सहन कर लेता है तब वह महापाप से मुक्त हो जाता है। इसप्रकार भगवान के द्वारा इन सबका हित हो जायेगा।

सुना जाता है कि कुमारिल भट्ट ने अपने बौद्धगुरु के साथ छल कर दिया, जिसके प्रायश्चित के लिए अपने शरीर को धान की भूसी में जला डाला था। यद्यपि आद्यगुरु शंकराचार्य ने उन्हें ऐसा करने से मना किया था लेकिन उन्होंने ये कहा था कि हे प्रभु! मुझे ऐसा किये बिना शान्ति नहीं मिलेगी। इसप्रकार के पुरुष के लिए भी अगले जन्म में सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई पड़ेगा; क्योंकि वह अपने पापों का प्रायश्चित कर सर्वथा निर्दोष हो गया रहता है और अब इसी मंत्र

का पुनः स्मरण करते हुए प्रभु ने कहा–

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

बाहर के विषय भोगों को बाहर ही त्यागकर अर्थात् उनका चिन्तन न करता हुआ नेत्रों की दृष्टि को भृकुटि के मध्य स्थापित करके तथा नासिका में विचरनेवाले प्राण और अपान को सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित हो गया है, वह मुक्त ही है।

यहाँ पर प्रभु ने ज्ञानयोगी साधकों की साधना का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जिस साधक ने घर–बार छोड़कर संन्यास ले लिया है, वह अब बाहर के विषय को बाहर ही छोड़ दे। अब वह किंचिन्मात्र भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की चाहना न करे। इतना ही नहीं, जहाँ वह रहे वहाँ अपना अता–पता अर्थात् घर, गाँव, नाम आदि का परिचय न दे, ताकि पूर्व के स्वजन वहाँ तक न आ सकें और न ही किसी को अपना साथी–सँघाती या भक्त बनावे; क्योंकि विषयी मनुष्य भी विषय ही हैं। इसलिए कि उनके तन, मन, वचन, हृदय से शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय ही बहते रहते हैं, जिसके चलते अपने तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों में रहनेवाले विषय प्रभावित होते रहते हैं। इतना ही नहीं, अपनी प्रकृति को अच्छीप्रकार जानकर कि वात प्रधान है, पित्त प्रधान है या कफ प्रधान है, इसका निर्णय करके हल्का शुद्ध सात्त्विक आहार लेकर अपनी दृष्टि को दोनों भौहों के बीच अर्थात् भृकुटि में स्थापित करने से प्राण और अपान सम होकर नासिका में उसीप्रकार विचरण करने लगते हैं, जिसप्रकार गर्भस्थ शिशु के प्राण उसके तालु में विचरण करते हैं। तेल–तासन से निकले हुए अति कड़वे, खट्टे, तीखे एवं बासी पदार्थों के सेवन से प्राण में स्थूलता आ जाती है तथा समयानुसार शौच के द्वारा पेट साफ न होने से अपान वायु दूषित हो जाता है, फिर तो श्वास गहरी आती है और अपान अधोगामी हो जाता है, उसकी गति ऊर्ध्वगामी हो ही नहीं पाती, जिसका परिणाम होता है कि वीर्य भी अधोगामी ही हो जाता है। प्राण और अपान के उत्पात होने से नानाप्रकार के शरीर में रोग प्रकट होने लगते हैं, जिसके चलते मन में विक्षेप होने लगता है। एक तरफ तो अशुद्ध आहार से प्राणों में विषमता आ जाती है तो दूसरी तरफ अशुद्ध आचार–विचार से मन, बुद्धि, चित्त में विषमता आ जाती है, जिसके चलते शरीर, मन तथा बुद्धि का योग नहीं हो पाता और ये तीनों एक–दूसरे का साथ छोड़ देते हैं। अपने को आत्मा न मानने से बुद्धि बिखर जाती है, माया को स्वीकार करने से मन बिखर जाता है तथा मन के बिखरने से स्वाभाविक है कि तन बिखर जायेगा। आप सब देखते ही हैं कि शिशु भले ही अपने को आत्मा नहीं मानता लेकिन अशुद्ध आहार–व्यवहार नहीं होने से उसके तन और मन का योग बना रहता है। उसका मन भी लगभग सम एवं शान्त बना रहता है। वह जिधर देखता है, जिसको देखता है, उधर उसे ही अपलक देखता रह जाता है। लगभग

पाँच, छः महीने तक तो 'मैं' 'तू' 'तेरा' तथा 'मेरा' के न होने के कारण एवं मन बहिर्मुख न होने के कारण से प्राण और अपान ऊर्ध्वगामी रहते हुए ही तालु में ही विचरण करते हुए नाभि तक लौटते रहते हैं, जब वह देखता है तो लगता है कि वह आकाश में देख रहा है। परन्तु जैसे–जैसे वह 'मैं' 'तू' 'मेरे' 'तेरे' के चक्कर में फँसता जाता है, वैसे–वैसे उसके प्राण तालु को छोड़कर नासिका के बाहर तक विचरण करते हुए भीतर लौटते रहते हैं। इतना ही नहीं, मन और प्राण के अधोगामी होने से पन्द्रह–सोलह वर्ष की अवस्था होते–होते उसके शरीर का वीर्य भी अधोगामी होते–होते पूर्णतया अधोगामी हो जाता है। एक बात तो सभी जानते हैं कि किसी शिशु को किसी संत के आश्रम में रखकर, उसे बाह्यविषयों से अपरचित रखा जाय तो उसकी अन्तर्मुखता छिन्न–भिन्न हो ही नहीं सकती, उसके तन, मन तथा प्राण में विषमता आ ही नहीं सकती। भगवान जब प्राण और अपान को सम करने की बात करते हैं तो यह सिद्ध है कि शरीर, प्राण, अपान तथा इन्द्रियों में विषमता आ गयी है। अतः जबतक ये सम नहीं होते, तबतक मन, बुद्धि, चित्त की विषमता जा ही नहीं सकती। आत्मचिन्तन की धारा अखण्डित हो, उसके लिए तन, प्राण तथा दृष्टि सम हों, यह अनिवार्य है। इसीलिए भगवान ने बाहर के विषय को बाहर छोड़ने की बात की। भीतर की बात छोड़ने को वे इसलिए नहीं कह रहे हैं; क्योंकि वे तो आत्मरूप में भलीप्रकार प्रतिष्ठित होते ही मन, बुद्धि के साथ ही साथ आत्मरूप ही हो जाते हैं। बहुधा साधकों में यह कमजोरी देखी जाती है कि 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा विश्वास कर, बिना आत्मरूप में प्रतिष्ठित हुए ही, बिना मन, बुद्धिसहित अन्तर्वासनाओं के मोक्ष हुए ही, वे आत्मरूप राजयोग का प्रचार–प्रसार करने निकल पड़ते हैं; जिसका परिणाम होता है कि उनका तन, मन और प्राण अधोगामी ही बना रह जाता है। तो अब आयें भगवान के द्वारा दी हुई इस साधना का आध्यात्मिक अर्थ देखें।

(स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्.....) यहाँ शरीर ही अपान है– संस्कार ही प्राण है, संस्कार ही अपान है मन ही प्राण है, मन ही अपान है– बुद्धि ही प्राण है, बुद्धि ही अपान है– आत्मा ही प्राण है, जीवन ही प्राण है– मृत्यु ही अपान है, आत्मा ही प्राण है– जगत ही अपान है, मैं प्राण है– तू अपान है, मेरा प्राण है– तेरा अपान है, इसप्रकार प्राण एवं अपान को सम करके अर्थात् इन सबको ब्रह्म समझकर साधक इच्छा, भय और क्रोध से मुक्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो ही जाता है; क्योंकि सबको ब्रह्म के रूप में देखे बिना मन, बुद्धि तथा संस्कारों (वासनाओं) का मोक्ष हो नहीं सकता। इस आध्यात्मिक ग्रन्थ में मन, बुद्धि और संस्कारों का ही मोक्ष होना सिद्ध किया गया है।

अब पुनः दूसरे अर्थों में देखें– हल्का एवं शुद्ध आहार करने से प्राण–अपान सम शान्त होते देखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में प्राण नासिका में विचरण करता हुआ ही पीछे लौट जाता है। अतिसूक्ष्म आहार–व्यवहार करनेवाला साधक यदि आत्मचिन्तन में प्रवृत्त होता है तो शरीर चाहे किसी भी अवस्था में रहे, उसके सभी अंग–प्रत्यंग सम शान्त हो जाते हैं और कालान्तर में वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। पुनः अब एक अन्य अर्थ में इसके तत्त्व को देखें–

सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, सुखासन आदि ध्यान के आसनों में से किसी एक आसन में शरीर को बिठाकर मन को (दृष्टि को) भृकुटि में स्थापित कर ब्रह्मचिन्तन करे तो प्राण अर्थात् विचार मानो नासिका के मूल में रह जाते हैं और वह दिन दूर नहीं जब वह जितेन्द्रिय पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होकर निर्वाणपद का अनुभव करता है। अब प्राण और अपान को सम करने का क्रम भी देख लें– दायाँ पाँव प्राण है– बायाँ अपान है, बायें पाँव पर दायें पाँव को रखकर सम किया जाता है, इसीप्रकार दायें पाँव पर बायें पाँव को रखकर (पद्मासन) सम किया जाता है। नाभि के नीचे का भाग अपान है और ऊपर का भाग प्राण है, इन दोनों को सम करके; गले से नीचे का भाग (धड़) अपान है– सिर ही प्राण है, इन दोनों को सम करके; नीचे के दाँत अपान हैं– ऊपर के प्राण हैं, इन दोनों को खुली अवस्था में सम करके; नीचे का तालु अपान है– ऊपर का तालु प्राण है, इन दोनों के मध्य जिह्वा को सम करके; नीचे की पलकें अपान हैं– ऊपर की प्राण हैं, इन दोनों को अर्धशाम्भवीमुद्रा में सम करके अर्थात् (अधखुली आँखों को अपलक करके); अशुभ विचार ही अपान हैं– शुभ विचार ही प्राण हैं, इनको सम करके अर्थात् इनसे उदासीन हो करके; बायीं भुजा अपान है दायीं भुजा प्राण है, इन दोनों को घुटनों पर सम कर स्थिर करके; अँगूठा प्राण है– तर्जनी अपान है, इन दोनों को ज्ञान मुद्रा में सम करके; भृकुटि में मन को स्थापित करके, जब साधक ब्रह्मचिन्तन करता है तो इस अवस्था में मानो नासिका में उसके पूर्व के विचार (संकल्प–विकल्प) विचरण करने लगते हैं। चूँकि मन को भृकुटि में स्थापित कर दिया है और आत्मचिन्तन में है, इसलिए वे विचार मन में प्रवेश नहीं कर पाते। ऐसी अवस्था में उसकी मेधाशक्ति जागनी प्रारम्भ हो जाती है। इसप्रकार कालान्तर में मन, बुद्धि का मोक्ष हो जाने के कारण से अर्थात् जीवभाव समाप्त हो जाने के कारण से, इच्छा, भय, क्रोध आदि विकारों से मुक्त हुआ साधक निर्वाणरूप ही होता है अर्थात् वह आत्मा ही हो जाता है।

(यतेन्द्रिमनोबुद्धिः.....) वह मोक्ष की कामनावाला उपरोक्त आत्मचिन्तनरूपी साधना से जीते हुए इन्द्रिय, मन, बुद्धिवाला तो मोक्ष स्वरूप ही है। उसके लिए किसी अन्य प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं है। भृकुटि में शिव–शक्ति का वास है, ऐसा पुराण भी कहता है। सम्पूर्ण चेतना का वास है उसमें; ऐसा इसलिए कि प्राण एवं अपान की आत्मा सुषुम्ना नाड़ी है, अतः वह शक्ति है एवं उसी शक्ति से चित्त शुद्ध होता है और सभी जानते ही हैं कि चित्त शुद्ध होते ही अपना स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। जीव की बुद्धि और ब्रह्म की बुद्धि– ये दो प्रकार की बुद्धियाँ हैं। जब ब्रह्म की बुद्धि जागती है तो मेधाशक्ति कही जाती है, उस मेधाशक्ति से सम्पन्न पुरुष जीते हुए इन्द्रिय, मन, बुद्धिवाला कहा जाता है। इसप्रकार इच्छा, भय एवं क्रोधरहित होने के कारण से– 'यः सदा मुक्त एव सः'– वह शरीर के रहते ही सदा–सर्वदा मुक्त ही है और वही समब्रह्म कहलाता है। समब्रह्म में इच्छा, भय, क्रोध आदि नहीं होता। उसे मुक्त होने के लिए साधन करने की आवश्यकता नहीं होती। महाराज जनक ने भी महात्मा शुकदेव से कहा था कि आप इच्छा, भय, क्रोध आदि विकारों से रहित समब्रह्म ही हैं। आप अपने स्वरूप में ही चिन्तन, मनन के द्वारा रमण करें, किसी अन्य साधना की अपेक्षा आपको नहीं है।

भृकुटि में शिव–शक्ति का वास है, ऐसा सुनकर ही कितने साधक भृकुटि में ही मन के द्वारा धारणा करते हैं, जिससे ज्योतिर्मय समाधि या नादब्रह्ममय समाधि प्रकट हो जाती है। इस ज्योतिर्मय तथा नादमय समाधि में आसक्ति होने की सम्भावना पूरी–पूरी बनी रहती है। इसीलिए भगवान ने मन को (स्मृति को) भृकुटि में स्थापित कर बुद्धि के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप आत्मचिन्तन करने को कहा है। आत्मा भृकुटि का ध्यान करे ज्ञानयोग में, ऐसा क्रम तो है ही नहीं। इसलिए ज्ञानयोगियों के आत्मचिन्तन को ही भृकुटि भी समझना चाहिये। अध्यात्म में तो 'मैं' दायीं भौंह है और 'तू' बायीं भौंह है, इन दोनों के मध्य शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा को ही भृकुटि समझना चाहिये, जिसका बोध लम्बे काल तक आत्मचिन्तन करने से होता है।

अब मोक्षस्वरूप हुए साधक का पुण्य और पाप कौन भोगेगा, इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

हे पार्थ! मेरा भक्त मुझको सब यज्ञों और तपों का भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सुहृद हूँ, ऐसा तत्त्व से जानकर शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अन्तिम विराम देते हुए प्रभु ने एक ऐसी घोषणा कर दी, जिस घोषणा को आप भी सुनें– यद्यपि न मैं करता हूँ, न करवाता हूँ, न कर्मफल के संयोग की ही रचना करता हूँ, लेकिन जब सद्गुरु रूप में प्रकट होता हूँ तो 'भोक्तारं यज्ञतपसां'– शिष्य के सम्पूर्ण यज्ञों एवं तपों का भोक्ता बन जाता हूँ।

उस ब्रह्मचारी द्वारा सद्गुरु के आश्रम में, जिसके जीवनरथ पर सद्गुरु ही बैठा है, यज्ञ ही होता है, तप ही होता है। वहाँ उससे इसके विपरीत कुछ भी नहीं होता। यदि इसके कुछ विपरीत होता है तो उसे जान लेना चाहिये कि वह शिष्य नहीं है। बहुत से यज्ञ, तपादि होते हैं उन शिष्यों से, जिनका वह (सद्गुरु) भोग लगाता रहता है अर्थात् वे समर्पित करते जाते हैं तो वह उन्हें खाता जाता है; क्योंकि शिष्यों के द्वारा समर्पित किया हुआ यज्ञ, तप ही उसका ग्रास है, उसका भोजन है। इससे सिद्ध होता है कि शिष्य सद्गुरु को यज्ञ दें, तप दें, योग दें, समाधि दें अर्थात् यही सब समर्पण करें। क्यों? इसलिए कि 'सर्वलोकमहेश्वरम्'– वही उनके सम्पूर्ण लोकरूप ईश्वरों का ईश्वर है अर्थात् महेश्वर है। जिसप्रकार तन एक लोक भी है, ईश्वर भी है शिष्य का, उसीप्रकार दस बाह्य इन्द्रियाँ तथा चार अन्तरिन्द्रियाँ ये चौदह लोक हैं तथा एक–दूसरे पर शासन करने के कारण से एक–दूसरे के लिये ईश्वर भी कही जाती हैं लेकिन सद्गुरु (निर्गुण–निराकार ब्रह्म) का शिष्य के तन, मन, वचन आदि सम्पूर्ण लोकोंपर शासन होता है, इसलिए वह महेश्वर कहा जाता है। इतना ही नहीं, वह उसके सम्पूर्ण भूतों का सुहृद भी है अर्थात् बिना अपने लिए उससे कुछ चाहे, वह उसके तन, मन, वचन एवं हृदय का उद्धार करता है। 'सुहृदं सर्वभूतानां'– अर्थात् वह पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व आदि भूतों को

ब्रह्मरूप बना रहा है यानी ब्रह्म में उनका रूपान्तरण कर रहा है। मूलाधारचक्ररूप भूत को स्वाधिष्ठान में, स्वाधिष्ठान को मणिपुर में, मणिपुर को अनाहद में, अनाहद को विशुद्ध में, विशुद्ध को आज्ञा में, आज्ञा को सहस्त्रार में तथा सहस्त्रार को कैवल्य में लीन कर रहा है। इतना ही नहीं, तामसवृत्ति को राजसवृत्ति में, राजसवृत्ति को सात्त्विकवृत्ति में तथा सात्त्विकवृत्ति को ब्रह्म में विलीन कर रहा है। इसप्रकार इन सम्पूर्ण भूतों का शिष्य से बिना कुछ लिए ही उद्धार कर रहा है, अतः सुहृद कहा जाता है। 'सर्वलोकमहेश्वरम्'– अर्थात् उसके आश्रित जितने भी जिज्ञासु हैं, जितने भी तपी हैं, जितने भी योगी हैं, जितने भी स्वाध्यायी हैं, उनके जप, तप योग तथा स्वाध्याय को वह प्रेमपूर्वक स्वीकार करता है, इसलिए भी वह उनका सुहृद है। इस न्याय से साधकों को सद्गुरु को ही अपना सुहृद मानना चाहिये; माता–पिता, भाई–बान्धवों, बाल–बच्चों तथा स्वजनों को सुहृद तो मान ही नहीं सकते। हाँ, जबतक सद्गुरु से योग नहीं हुआ है, तबतक तो उन्हें स्वजन माना जा सकता है। भगवान ने यहाँ पर सद्गुरु को ही सुहृद कहा है, न कि माँ को कहा, न पिता को कहा, न मित्र को कहा, न स्वजनों को कहा; क्योंकि ये ब्रह्मविद्या तो दे नहीं सकते तथा जो विषयवस्तु देते हैं उसके बदले कुछ लेने की कामना इनमें अवश्य होती है, इसलिए सुहृदरूप उपाधि एकमात्र सद्गुरु के लिए ही है। सद्गुरु ने ही बिना कुछ शिष्य से लिए उसे निर्वाणपद देने का संकल्प लिया है। सद्गुरु को आप दे भी क्या सकते हैं, क्योंकि आपके पास देने के लिए तो कुछ है भी नहीं; क्योंकि शरीर के किसी अंग–उपांग पर अधिकार ही नहीं है आपका। हाँ, आप चाहें तो अपने को दे सकते हैं। 'भोक्तारं यज्ञतपसां'– वह जब आप से यज्ञ, तप, योगादि कराकर ले लेता है तो वह उन्हें आपके कल्याण के लिए ही लेता है; क्योंकि वहाँ यज्ञ का फल, तप का फल प्रकट होता है, जिसे आपको देने के लिए देवता बैठे हैं। कहीं आप उन फलों को खा न लें, ऐसा सोचकर वह खा जाता है अर्थात् ले लेता है। यदि असावधानी से शिष्य फल ले भी ले तो सद्गुरु उसे छीन ही लेता है। एक दिन महाराज ने साधकों से कहा था कि जबतक शिष्य निर्वाणपद को प्राप्त न हो जाय तबतक सद्गुरु ही उसका घेरा बना रहता है, उसके दोष को ही देखता रहता है तथा उन दोषों को सदा प्रकाशित करता रहता है।

लक्ष्मण ने प्रभु श्रीराम को सद्गुरु एवं भगवान दोनों समझ लिया है, अतः भगवान ने बारह साल तक उन्हें उनके दुर्व्यवहार पर धिक्कारा है। वे जब–जब दोषी होते हैं, तब–तब धिक्कारते हुए उनके दोष को बताया है। लक्ष्मण ने भगवान के जीवन जीने में, यानी उनकी कथनी–करनी में जब–जब हस्तक्षेप किया है, तब–तब उन्होंने लक्ष्मण की मूर्खता को ही प्रकाशित किया है। 'अरे! तुमने भरत के विषय में ऐसा विपरीत कैसे सोच लिया? छिः! धिक्कार है तुम्हें! हो सकता है कि क्षीरसागर थोड़ी सी खटाई डालने से फट जाय, लेकिन भरत को तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश का पद पाकर भी राजमद नहीं हो सकता।' प्रभु श्रीराम ने ऐसा चित्रकूट में कहा था। सीताहरण हो जाने के उपरान्त भी प्रभु श्रीराम ने उन्हें धिक्कारा और कहा– तुम आये क्यों? आज्ञा तुमको दी थी मैंने कि सीता की रक्षा करना, लेकिन तुमने वन के देवी–देवताओं को सीता की रक्षा के लिए आज्ञा दे दी। मैं समझ गया कि तुम्हें मेरी आज्ञा से बढ़कर अपनी प्रतिष्ठा प्यारी है। माना

कि सीता ने कह दिया था कि 'तुम कामी हो, ब्रह्मचारी नहीं हो।' माना कि उसने कहा था कि 'तुम मुझे चाहते हो लक्ष्मण! लेकिन तुम्हारी कामना पूरी नहीं होगी;' माना! उसके ऐसा कहने से क्या तुम भोगी हो गये? मेरी आज्ञा का महत्त्व नहीं रहा, तुम्हारी प्रतिष्ठा का महत्त्व हो गया? तुम्हारी नाक कट गयी थी? छिः, धिक्कार है तुम्हें।

आड़े आता है ब्रह्मचारी के जीवन में अपना मान–सम्मान। महाराज ने देखा है कि सद्गुरु की आज्ञा में कौन नहीं रह पाता– जिसको अपनी प्रतिष्ठा प्यारी होती है। वह बड़ी नाकवाला, बुद्धिवादी, पलायनवादी सदा भागता रहता है जीवन में, इस लोक में उसे कहीं भी जगह नहीं मिलती। साधक संशय में मारा जाता है, कम से कम जब भगवान (सद्गुरु) सबका सुहृद है तो अपना तो सुहृद मान ही लेना चाहिये, आपका कल्याण तो निश्चितरूप से चाहता ही चाहता है। यदि आपको विश्वास नहीं होता कि वह जगत के भक्तों एवं साधकों का उद्धार करने ही आया है, तो कम से कम इतना तो विश्वास कर ही लें कि वह आपका कल्याण करने आया है। यदि आपको वह सम्पूर्ण लोकों का ईश्वर नहीं दिखाई पड़ता है तो आपके शरीरसहित आँख, कान, नाक, त्वचा आदि ईश्वरों का तो ईश्वर है ही। यद्यपि ईश्वरों का ईश्वर है प्रारब्ध लेकिन वह तो आपके प्रारब्ध पर भी शासन करता है; इसी से तो महेश्वर कहा जाता है। सूर्य इस जगत के प्राण हैं। सूर्य न रहें तो यह जगत जलमग्न हो जाएगा लेकिन ये सूर्य भी उसका कहना मानते हैं। इसीलिए वह सम्पूर्ण लोकों का भी महेश्वर कहा जाता है। सब उसी की आत्मा हैं, अतः वह सबके हित में तत्पर रहता है। जो सृष्टि में विविधता दिखाई पड़ रही है, विषमता दिखाई पड़ रही है, वह तो ऊपर–ऊपर ही है; उसके द्वारा सदा–सर्वदा सबका हित हुआ है। उसके द्वारा नरक की व्यवस्था भी जीवों के प्रायश्चित की भूमि है, जहाँ जीव प्रायश्चित करते हैं और जहाँ से प्रायश्चित कर पुनः अपने उद्धार की कामना से लौटते हैं। वह सदा जीवों के उद्धार के यत्न में लगा रहता है, असावधान नहीं होता, सदा जागता रहता है। सारे जीव सोते रहते हैं लेकिन वह उन्हें छेड़ता रहता है। जैसे माता–पिता ब्रह्ममुहूर्त में अपने बच्चों को जगाते रहते हैं, चाहे वे तामसी हों, राजसी हों या सात्त्विक। वैसे ही सद्गुरु भी अपने तामस, राजस एवं सात्त्विक साधकों को उनके पुण्यफल को खाकर जगाता रहता है। देखा नहीं आप सब ने कि प्रभु दूत बनकर दुर्योधन को जगाने चले गये, लेकिन वह नहीं जगा तो फिर युद्ध के मैदान में अर्जुन को जगाने लगे। दुर्योधन ने तो प्रेम से सुनने से भी मना कर दिया, उसने रस्सी से बन्दी बनाना चाहा भगवान को भरे दरबार में। अरे! प्रभु तो ऐसा सुहृद है! फिर तो आप उसे अपने हृदय में बन्दी बना लें और तब फिर देखें आपको तत्काल शान्ति कैसे नहीं मिलती है।

अब महाराज युद्ध के मैदान में चलता है, जहाँ आप सबके साथ महाराज को भी भगवान के द्वारा अर्जुन के लिए किये जाते हुए संकेत को सुनना है। मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! पितामहभीष्म ने अपनी जितेन्द्रियता का फल इस जगत में प्राप्त कर लिया है। वह क्या? यही कि जगत में अति प्रसिद्धि फैली हुई है, जिसका इन्होंने भोग कर लिया है। द्रोणाचार्य जैसा धनुर्वेदाचार्य भी अपनी प्रसिद्धि का ही भोजन कर रहा है। दुर्योधन ने अपने तप के फलस्वरूप तेरह वर्षों तक राज्य भोग लिया। यहाँ तक कि कर्ण ने भी सूर्य भगवान से प्राप्त तपस्या का

फल अंगदेश का राजा बनकर भोग लिया है। लेकिन तुमने अभी तक किसी भी प्रकार के फल को नहीं भोगा और न ही आगे भी तुम किसी फल को स्वीकार ही करोगे। मैं जानता हूँ कि जब महाराज युधिष्ठिर के हाथ में सिंहासन आएगा तो उनके भी लाख प्रयत्न करने पर तुम राज्य नहीं ले सकते। अतः मैं तुम्हारे तप का फल परमपद देकर मानूँगा, मैं तुम्हें परमपद देकर मानूँगा।'

ऐसा कहकर भगवान ने एक बार फिर अर्जुन की तरफ प्रेमभरी दृष्टि से देखा, लेकिन महात्मा अर्जुन की गम्भीरता और भी बढ़ी–चढ़ी दीखी। वैसी स्थिति को देखकर संजय से धृतराष्ट्र को यह बताये बिना नहीं रहा गया कि हे राजन्! भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन के पास संकल्प के साथ घोषणा कर दी है कि 'मैं सबका हित करने में तत्पर रहता हूँ, लेकिन तुम्हें तो परमपद ही देने आया हूँ। तुम भले ही परमपद न चाहो लेकिन मैं तो तुम्हें देकर ही मानूँगा। उन्होंने महात्मा अर्जुन से यह भी कह दिया है कि 'हे पार्थ! मैंने अपनी नारायणी सेनारूपी अपान वायु को दुर्योधन के अपान वायु में मिला दिया है इसलिए कि इसने मुझे ब्रह्म के रूप में नहीं देखा है और उस नारायणी सेना का मैं ही प्राण हूँ, जिसे मैंने तुम्हारे प्राण में मिला दिया है। अतः तुम अब विचार करो।' ऐसा संकेत पाने से महात्मा अर्जुन को बड़ा भारी विश्वास होता जा रहा है, राजन्! वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये हैं। वे चाहते हैं कि इस अमृतवाणी को 'जो परम शान्ति प्रदान करनेवाली है', भगवान कहते रहें और मैं सुनता रहूँ।

अब तुम बताओ संजय कि तुम क्या कहना चाहते हो, तुम्हारे मन में क्या विचार चल रहे हैं?

हाँ राजन्! मैं तो सोच रहा हूँ कि यदि अर्जुन जैसा शिष्य हो तो फिर तबतक वह पीछा न छोड़े सद्गुरु का, जबतक कि उसका सारा का सारा संशय दूर न हो जाए। प्रयोग बाद में करे राजन्! पर संशय का निवारण पहले करा ले।

तो फिर तुम ये बताओ कि अबतक के सुनने से, संशय कहाँ–कहाँ से प्रकट होते हैं यह तो तुमने जान ही लिया होगा?

हाँ राजन्! जहाँ–जहाँ से आसक्ति होती है वहाँ–वहाँ से संशय प्रकट होते हैं और आसक्ति तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से, शरीर से तथा अपने माने हुए माता–पिता, बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों, स्वजनों से होती है; लेकिन संशय तो अज्ञानियों के माध्यम से होता है, राजन्! जिसका समाधान परम ज्ञानी सद्गुरु के पास जाकर ही होता है। अभी जो प्रभु ने साधना बतायी राजन्! उसमें किसी विशेष क्रिया की आवश्यकता नहीं है बल्कि यह आत्मचिन्तनरूप साधना तो खड़े–खड़े या पलंग पर बैठकर या टहलते हुए भी की जा सकती है। यह साधना तो बाद में करें राजन्! पर क्या आपके मन में नहीं आ रहा है कि आप शोक–सन्ताप को छोड़कर हुंकार भरें और भगवान के शरणागत हो जाएँ?

नहीं, संजय! नहीं! यह समय शरणागत होने का नहीं है। तुम्हारे इस सद्भाव का मैं आदर करता हूँ। अब देखो अगली स्थिति क्या बनती है, उसे बताओ।

इस अध्याय को महाराज ने गेयपद में लिखा है, जिसे आप पाँच मिनट में गाकर इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त कर सकते हैं। तो आयें आप भी महाराज के साथ इस वैराग्यमय पद को वैरागी राग में गायें–

सुनु रे अर्जुन ज्ञान मरम को।।
वह नहिं पावत अहंभाव तन, सुख सुविधा न धरन को।
सुलभ साध्य सुन कर्म समर्पण, नहिं भव कूप परन को।।
सुनु रे अर्जुन ज्ञान.....

देखत सुनत गुण जागत सोवत, खावत पीवत बोलत चालत।
गुण गुण सो सब होत कहत वह, कर्ता भाव भरम को।।
सुनु रे अर्जुन ज्ञान.....

करत करावत नहिं काहू सो, तन महुँ रह निभ्रम सो।
पाप पुण्य दोऊ कहँ त्यागत, प्रकटत दिव्य धरम को।।
सुनु रे अर्जुन ज्ञान.....

ब्राह्मण गौ चाण्डाल श्वान शुचि, हस्ति देव परम सों।
इन्ह महुँ आतम एक ही देखत, कहत न तर्क करन को।।
सुनु रे अर्जुन ज्ञान.....

एहि विधि हो निर्दोष ब्रह्म वह, त्यागत विषय भरम को।
ज्ञान कर्म संन्यास प्रभु को, महाराज कह गाइ तरन को।।
सुनु रे अर्जुन ज्ञान.....

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में
भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप कर्मसंन्यासयोग नामक
पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छठा अध्याय संन्यासाश्रमी ब्रह्मजिज्ञासुओं की तथा साधनपथ में प्रवेश पानेवाले साधकों की आत्मा है। इस अध्याय के द्वारा प्रभु ने दिव्य ध्यानयोग को सम्पूर्ण भूमिका के साथ दिया है। यह एक ऐसा ध्यानयोग है, जिसमें जप, तप, योग से सम्पन्न (साधन–चतुष्टय से संपन्न) साधक ही प्रवेश कर पाते हैं; यह एक ऐसा ध्यानयोग है जिसमें तन, मन, वचन से अक्रिय हुए साधक ही प्रवेश पाते हैं, यह एक ऐसा ध्यानयोग है जिसमें सम्पूर्णता से ब्रह्म को अर्थात् स्वयं को चाहनेवाले साधक ही प्रवेश करते हैं। जिसमें एक अंश भी भौतिक कामना हो, उसके लिए स्थूल कर्मयोग की प्रशंसा प्रभु ने तीसरे अध्याय में भली–भाँति कर दी है। जिस ध्यानयोग से प्रारब्ध की सत्ता–सामर्थ्य गौण हो जाती है और द्रष्टा, परम द्रष्टा तथा महाकर्ता होकर प्रकट होता है उस ध्यानयोग की आधारशिला देखना चाहें तो आप ध्यान दें–

सर्वप्रथम सब कहते हैं कि हम देखते हैं। वे सही ही कहते हैं, गलत नहीं कहते; क्योंकि चींटी को आप छेड़ेंगे तो सर्वप्रथम वह आपको देखेगी, कुत्ते को छेडेंगे तो सर्वप्रथम वह आपको देखेगा। इसीप्रकार साँप, शेर, चीता, भालू तथा कीट–पतिंगे सर्वप्रथम आपको देखते हैं, फिर उनमें कुछ प्रतिक्रिया होती है। इन्हें ही नहीं, यदि आप मनुष्य को भी छेड़ते हैं तो वह सर्वप्रथम आपकी आँखों में ही देखता है। इन सबके द्वारा सर्वप्रथम देखना नैसर्गिक है। शब्द जहाँ से होगा, पहले वह सावधान होकर उस शब्द को देखना चाहेगा; आगे से हो, पीछे से हो, ऊपर से हो, नीचे से हो, दायें–बायें कहीं से हो, पहले वह शब्द के कारण को देखना चाहेगा उसके उपरान्त ही उसके द्वारा कोई प्रतिक्रिया होगी। जब सभी प्राणी सर्वप्रथम देखते ही हैं और तभी उनके द्वारा प्रतिक्रिया होती है तो आपके तथा उन प्राणियों के देखने में क्या अन्तर है, इसी को स्पष्ट करना है। प्रथम चरण में जब दो की दृष्टि एक–दूसरे में आरोपित होती है अर्थात् दोनों एक–दूसरे को देखते हैं तो वहाँ शेष दोनों का शरीर ही रहता है, दोनों का द्रष्टा एक हो जाता है। इसके उपरान्त 'मैं' प्रकट होता है। आप इसका प्रयोग करें– जब आप किसी प्राणी के पास जायेंगे तो पहले उसके द्वारा देखने के उपरान्त ही उसके शरीर के द्वारा मारने–पीटने या प्यार करने की क्रिया होगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'मैं' सर्वप्रथम द्रष्टामय ही रहता है; किन्तु देखने के बाद जब वह शरीरमय हो जाता है, तब वहाँ पर कौतूहल प्रकट होता है कि यह कौन है? सर्प देखेगा तो मन में सोचेगा कि यह कौन है? सर्वप्रथम देखते समय द्रष्टा होना, फिर शरीरमय होते ही 'यह कौन है' की अभिव्यक्ति होना तथा पुनः भागने या आक्रमण करने की क्रिया होना, ये सब एक ही समय में तीन उपक्रम दिखाई पड़ते हैं। देखने एवं विचार आने में भी कुछ दूरी

होती है। विचारकुशल साधक, सावधान साधक, चाहे तो उस दूरी को पकड़ सकता है अर्थात् देख सकता है। यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियों में द्रष्टा एक ही है, परन्तु शरीरमय होते ही शरीर के माध्यम से जो प्रतिक्रिया होती है, उसी को प्रारब्ध कहा जाता है। इस पहेली को आप फिर से सुनें, सम्भवतः आपकी बुद्धि न पकड़ पायी हो– आपमें और प्रारब्ध में कोई समानता ही नहीं है, जब आप चिन्तन की आँख से देखेंगे तो भली–भाँति यह दिखाई पड़ जायेगा। जब नींद हटती है तो आँख खुलने के उपरान्त आप एकमात्र द्रष्टा ही होते हैं, भले ही आप द्रष्टा एकपल के लिए ही क्यों न हों। उसके उपरान्त ही भाव–व्यंजनाओं की उत्पत्ति होती देखी जाती है। उसके उपरान्त तो आप द्रष्टा नहीं, शरीर बन जाते हैं। जैसे ही आप शरीररूप होते हैं, वैसे ही प्रारब्ध कहता है आज हमने सपना देखा। यही नहीं, स्थूल शरीर से वह प्रारब्ध ही देखने–सुनने, बोलने–चालने और मनन करने लगता है, जबकि आप परम चेतन होते हुए भी शरीररूप से जड़ हो जाते हैं और आपकी सत्ता–सामर्थ्य के बिना जो प्रारब्ध जड़ है, वह चेतन–सा प्रतीत होने लगता है। आपकी इसी मूर्खता को इस अध्याय में ध्यानयोग के द्वारा प्रभु ने उद्घाटित किया है। इस ध्यानयोग के द्वारा आपकी मूर्खता पहले दिखाई पड़ेगी और शुद्ध साक्षी एवं चैतन्यपना बाद में।

आप एक प्रयोग करें– आपके सामने चाहे जैसा भी हिंसक पशु आये तो उसकी आँखों में अपनी आँखों को डाल देना, वह निश्चितरूप से आक्रमण नहीं कर पायेगा; क्योंकि जब दोनों ही 'द्रष्टा' एक हो जाते हैं तो फिर वहाँ क्रिया का अभाव हो जाता है। उसीप्रकार जब नींद आपको देखती हुई प्रकट होती है और आप भी उसे देखने ही लगते हैं, वैसी अवस्था में नींद निष्क्रिय हो जाती है, शरीर निष्क्रिय हो जाता है, तब वहाँ जो शेष बचता है वह 'द्रष्टा' होता है। ठीक वैसे ही प्रथम अवस्था में प्रारब्ध 'द्रष्टा' होता है अर्थात् देखता है और आप भी उसे जब देखते हैं, तो वहाँ न प्रारब्ध रहता है न शरीर, एकमात्र वहाँ द्रष्टा रहता है अर्थात् आप ही रहते हैं। वैसे ही आपको देखती हुई श्वास प्रकट होती है और आप भी उसे एकमात्र देखने ही लगें तो न वहाँ श्वास होगी, न शरीर होगा, एकमात्र द्रष्टा होगा अर्थात् आप होंगे। नींद की भी आँख होती है, श्वासों की भी आँख होती है, विचारों की भी आँख होती है अर्थात् हर प्रारब्ध एक आकृतिवाला है, एक रूपवाला है। हर प्रारब्ध में दो आँख, दो कान, एक मुख, ऐसे ही हाथ–पाँव आदि होते हैं। यह बात अलग है कि कोई प्रारब्ध एक आँख से अन्धा, कोई एक कान का बहरा, कोई वाणी से गूँगा एवं लूला तथा लंगड़ा भी होता है; किन्तु अपंग होते हुए भी द्रष्टापने से अपंग नहीं होता। इसप्रकार वह अलग है, आप अलग हैं; लेकिन आप दोनों का द्रष्टापना एक ही है।

नींद कैसे देखती है, इसको आप समझ लें– नींद जब आती है तो आप उसकी आँखों को देखने का प्रयत्न नहीं करते, इसलिए आपकी चेतनता से वह चेतन होकर सम्पूर्ण शरीर के अंग–उपांगों पर, इन्द्रियों एवं मन, बुद्धि, चित्त आदि पर फैल जाती है, फिर वह आपकी आँखों को देखती है। जब वह आँखों को देखने लगती है तो आँखें सिकुड़ती जाती हैं, वैसी अवस्था में आप इतना ही कहते हैं– नींद आ रही है लेकिन उसे देखने का प्रयत्न नहीं करते। कदाचित्

आप उसी समय नींद को ही देखने लगें तो नींद फिर आपको ही देखने लगेगी। वैसी अवस्था में न नींद रहेगी, न शरीर, एकमात्र आप रहेंगे। वैसे ही जब आप विचारों को देखते हैं तो विचार आपको देखने लगते हैं, उस समय एकमात्र 'द्रष्टा' ही तो शेष रहता है। कोई विचार बिना आपके द्रष्टापने को खींचे, छीने, छिन्न–भिन्न किये, आपसे बलवान होगा ही नहीं। नींद आपके द्रष्टापने को बिखेरकर आप पर शासन करती है। उसीप्रकार सारे विचार आपके द्रष्टापने को बिखेर कर यानी छिन्न–भिन्न कर आप पर भारी पड़ते हैं। महाराज प्रयोग देता है, इसपर विचार करें–

आपको शरीर के माध्यम से ध्यान में बैठे हुए पन्द्रह मिनट हो गया है। मच्छर ने हुंकार भरते हुए ललाट और नाक पर काटना प्रारम्भ कर दिया है। शरीर को सम शान्त रखने के कारण से लगभग उसमें शून्यता सी आ गयी है लेकिन जैसे ही आप हाथ से मच्छरों को भगाते हैं, वैसे ही शरीर पूर्व की अवस्था में आ जाता है। यह भी एक पहेली है कि जब मच्छर काट रहे होते हैं तो उस समय उनके काटने की अनुभूति होगी, दर्द भी होगा,पर वैसी अवस्था में भी शरीर में निष्क्रियता आती ही रहेगी। यदि उनके काटने से होनेवाले दर्द को आप सहन कर रहे हैं तो शक्ति के प्रवाहित होने में कोई अन्तर नहीं होगा। ऐसा क्यों? इसलिए कि उस अवस्था में जब शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त एक दिशा में गमन करते हैं अर्थात् ऊर्ध्वदिशा में गमन करते हैं, तो गुदा में वास करनेवाला अपानवायु, जिसका क्षेत्र नाभि तक होता है, वह ऊर्ध्वगामी होकर प्राण की तरफ गमन करने लगता है, जिसका क्षेत्र नाभि से ऊपर सिर तक होता है। अतः प्राण एवं अपान का संयोग होने से शरीर निष्क्रिय सा हो जाता है और यह आपको पता चलता नहीं है। वैसी अवस्था में जब आप द्रष्टा होते हैं तो मन, बुद्धि एवं चित्त ये सब आपकी तरफ गमन करते हैं लेकिन जैसे ही आप इस मूर्खता को स्वीकार करते हैं कि मुझे मच्छर काट रहा है और हाथ से मच्छर को हटाते हैं, वैसे ही अपानवायु अपनी जगह चला जाता है। ऐसा होते ही मन, बुद्धि, चित्त आदि अधोगामी हो जाते हैं। जो ध्यान के समय बहुत ही सजग है, उसे वैसी अवस्था में अपानवायु नीचे जाते हुए अनुभव में आयेगा; सक्रिय हुई शक्ति निष्क्रिय होती हुई दिखाई पड़ेगी। यदि आपका शरीर सुखपूर्वक सवा घण्टा सम शान्त बैठने में समर्थ हो गया है और आपने छेड़ते हुए मक्खी, मच्छरों को हटा दिया तो उस दिन आपका शरीर सुखपूर्वक एक घण्टा ही बैठ पायेगा। यदि आप किसी भी पदार्थ को छेड़ते नहीं हैं बल्कि अपने स्वरूप में ही रहते हैं तो सारे के सारे अधोगामी प्रारब्ध आपकी तरफ वैसे ही गमन करते हुए आपमें लीन हो जाते हैं, जैसे परदेश से आये हुए मित्र को देखकर सारे मित्र एकसाथ उससे लिपटकर एक हो जाते हैं। जब अपने घर में मालिक जागता रहता है तो चोर नहीं आते, हाँ विशेष हथियारों से सम्पन्न चोर आ जाते हैं लेकिन वे भी जान जायें कि मकान–मालिक के हाथ में शक्तिशाली बम है तो वे भी आक्रमण नहीं कर सकते। उसीप्रकार आप सम्पूर्ण द्रष्टापने से सम्पन्न हैं तो कोई भी प्रारब्ध आप पर आक्रमण नहीं कर सकता, यदि करता भी है तो निष्प्रभावी हो जाएगा।

संकल्पहीन द्रष्टा, क्षुद्रद्रष्टा– ये शरीरगत द्रष्टा हैं, जैसे चींटी, हाथी, पशु, पक्षी तथा पशुवत् जीवन जीनेवाले मनुष्य का द्रष्टा। संकल्प के साथ, प्रतिज्ञा के साथ द्रष्टा होना, साधक एवं

भक्त का द्रष्टा होना है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि आजसे मैं शरीरसहित जगत को एक तरफ करके स्वयं एक तरफ होकर ही समय व्यतीत करूँगा। जब वह साधक कहता है कि शरीर एक तरफ रहेगा और 'मैं' एक तरफ, तो समझना चाहिये कि स्थूल शरीर के साथ–साथ सूक्ष्म, कारण, महाकारण आदि शरीरों की तरफ भी तथा प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की तरफ भी संकेत कर रहा है। इसप्रकार संकल्प के साथ यदि वह द्रष्टा रहता है तभी वह उपकर्ता कहलाता है। संकल्पहीन द्रष्टा होने के कारण से ही प्रारब्ध उपकर्ता हो गया है। वह समय की प्रतीक्षा करता रहता है कि कब आप असावधान होवें कि मैं आप पर आक्रमण करूँ। आप जैसे ही संकल्परहित होते हैं, वैसे ही वह आपसे बलवान हो जाता है। शरीर के अन्तर्गत दोनों नेत्र ही सूर्य एवं चन्द्रलोक हैं, दोनों कान ही दिक्पाललोक हैं, दोनों नासिका ही अश्विनीकुमारों का लोक है, जिह्वा ही वरुणलोक है, पेट ही अग्निलोक है, भुजा ही इन्द्रलोक है इत्यादि इत्यादि। इसप्रकार इन लोकों का आश्रय लिए हुए जन्म–जन्म के संस्कार बैठे हुए हैं; जिनके साथ आपका कुछ वैर था अथवा कुछ लेना–देना था, वे ही अवसर की प्रतीक्षा में हैं। वे प्रतिपल सजग हैं कि आप कब प्रमादी हों और हम आप पर आक्रमण करें। आप नहीं देखते कि मच्छर इतना सजग होकर जागता रहता है कि आप कब सोयें कि मैं आपसे बदला लूँ। छोटे से छोटे प्राणी भी आपसे विशेष सजग हैं लेकिन एक आप ही ऐसे हैं जो सदा ही असजग हैं, तभी तो भीतर के संस्कार अपना भरपेट बदला लेते हैं।

एक दिन एक साधक ने कहा कि मैं क्रोध में पागल हो जाता हूँ। महाराज ने कहा– आप नहीं, आपका वैरी (प्रारब्ध) ही क्रोध में पागल हो जाता है। वह क्रोध करके आपकी तपस्या का हनन करके चला जाता है और आप पश्चात्ताप करते रह जाते हैं। आप समझते हैं कि मैंने क्रोध किया, जबकि क्रोध करनेवाला कोई और था। इसप्रकार 'प्रमाद ही मृत्यु है और सजगता ही जीवन है।' जब आप संकल्पवत् द्रष्टा होते हैं और आपके पास आध्यात्मिक दिव्य अस्त्र–शस्त्र हैं तो आप प्रारब्ध से बलवान हो जाते हैं। जड़ संकल्प, चेतन संकल्प– ये दो प्रकार के संकल्प होते हैं, जिसमें जड़ संकल्प प्रारब्धगत होता है एवं चेतन संकल्प आत्मगत होता है अर्थात् आत्मा का, चेतन का, द्रष्टा का संकल्प होता है। जब स्मृति बिखरती है तो जान लेना चाहिये कि वहाँ पर प्रारब्ध की स्मृति ही काम कर रही है। इसी रहस्यात्मक विषय को भली–भाँति समझने के लिए प्रभु ने इस अध्याय में ध्यानयोग दिया है।

महात्मा अर्जुन भगवान के गृहस्थाश्रमी शिष्य हैं, साधक हैं, जिज्ञासु हैं, लेकिन उनके रक्त में, उनके मन, बुद्धि, प्राणों में धर्मयुद्ध समाया हुआ है अर्थात् ओत–प्रोत है, जैसे जापक की चमड़ी में, दमड़ी में, उसके मन, बुद्धि, चित्त में जप ही ओत–प्रोत रहता है। ऐसे धर्मयुद्ध प्रेमी महात्मा अर्जुन ने भगवान से संन्यास की माँग की है। कोई सद्गुरु पहले शिष्य के स्वभाव को देखता है उसके उपरान्त उसकी शक्ति–सामर्थ्य को देखता है। स्वभाव में संस्कार सन्निहित रहता है, पूर्वजन्म के भाव सन्निहित रहते हैं। सद्गुरु, शिष्य की रहनी–सहनी, कथनी–करनी से ही जान लेता है कि यह पूर्वजन्मों से कर्मयोग करता चला आ रहा है या जपयोग या ध्यानयोग करता हुआ आया है या अष्टांगयोग; यह निर्बीज ध्यानवाला है या सबीज ध्यानवाला; यह

नादयोगवाला है या आत्मज्योतिवाला। इसी न्याय से प्रभु ने महात्मा अर्जुन को कर्मयोगी समझकर संन्यास देने से मना कर दिया है। कर्मयोगी अर्जुन को महात्मा विदुर का संन्यास अच्छा लग रहा है, महर्षि व्यास का संन्यास इनके मन को भा गया है। वे इस कल्पना से बाहर नहीं आ पा रहे हैं कि मेरे से तो वे महर्षि व्यास ही अति उदात्त–भाववाले थे; जिन्होंने जन्म लेते ही अपने माता–पिता का परित्याग कर दिया था और उसी त्याग से आज ब्रह्मपद को प्राप्त किया है, जो अपनी दिव्य दृष्टि से इस समय हमदोनों के दिव्य संवाद को देख–सुन रहे हैं। फिर, मैं उन्हीं जैसा व्यवहार करके परमपद को क्यों न प्राप्त करूँ? जिस महात्मा विदुर ने आधीरात को हस्तिनापुर के दरवाजे पर धनुष–बाण रखकर संन्यास ले लिया है और जिस त्याग की सराहना भगवान मधुसूदन स्वयं कर रहे हैं, तो मैं फिर उस संन्यास को क्यों न प्राप्त करूँ? मैं उस संन्यास का अधिकारी क्यों नहीं हूँ? भक्त अर्जुन की इसी ऊहापोहरूपी कल्पना को भगवान ने इस अध्याय के द्वारा दूर करना चाहा है। इसलिए प्रभु ने बिना प्रश्न किये हुए ही इस आत्मसंयमयोग नामक अध्याय को प्रारम्भ कर दिया। दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अध्याय अर्जुन के प्रश्न द्वारा प्रारम्भ होता है लेकिन छठा एवं सातवाँ अध्याय महात्मा अर्जुन के मौन प्रश्न से प्रारम्भ हुआ है। प्रभु ने अपनी पैनीदृष्टि से भक्त अर्जुन के भीतर के संकल्प–विकल्पों को देखा कि– वे सोच रहे हैं कि मुझे संन्यास पद क्यों नहीं दिया जा रहा है। इसप्रकार उन्हें संतोष हो ही नहीं रहा है। प्रभु के द्वारा उन्होंने सुन भी लिया है कि जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन घर–बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये। वैसे निर्मल वैरागी साधक एवं जिज्ञासु के लिए व्यावहारिक धर्म कोई आड़े नहीं आता। यही नहीं, संन्यास एवं संन्यासी की पूर्व के अध्यायों में प्रभु ने भूरि–भूरि प्रशंसा भी कर दी है। पाँचवें अध्याय में तो यहाँ तक कह दिया है कि 'नैव किञ्चित्करोमीति'.....'सर्वकर्माणि मनसा'.....'नैव कुर्वन्न कारयन्'..... अर्थात् जो ब्रह्मजिज्ञासु है वह अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों एवं धर्मपत्नी तथा बाल–बच्चों को नहीं देखता, वह तो एकमात्र ब्रह्म को ही देखता है। इसलिए सम्पूर्ण कर्मों से संन्यास लेकर सुखपूर्वक नौ दरवाजोंवाले शरीर में अपने स्वरूप में ही रमण करता है। वह भली–भाँति जानता है कि सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता या तो व्यक्ति का प्रारब्ध है या भक्त का भगवान है। दो प्रकार के भाव हैं– अज्ञानी कहता है कि प्रारब्ध ही कर्ता है और भक्त कहता है कि भगवान ही कर्ता है। ऐसा भक्तिभावना से भावित चित्तवाला भक्त कर्म जहाँ से प्रकट होते हैं, उन उद्गम स्थानों का परित्याग कर सुखपूर्वक शरीररूपी महल में बैठता है। इसी तथ्य को लेकर महात्मा अर्जुन के मन में बड़ा कौतूहल हो गया है कि मैं महातपस्वी हूँ, निद्राविजयी हूँ, महात्यागी हूँ, जितेन्द्रिय हूँ, फिर मैं ऐसे संन्यास का अधिकारी क्यों नहीं हूँ? वे अपने मन में मानो भगवान को बार–बार लांछित करना चाहते हैं लेकिन प्रभु उस लांछन पर ध्यान न देते हुए कहते हैं कि तुम बार–बार अपने मन में ऐसी दुर्भावना क्यों लाते हो कि घर–प्रदेश छोड़कर, वनप्रदेश में रहकर, घोर जप–तप करनेवाले ही संन्यासी हैं? महात्मा अर्जुन ने कहा कि हे प्रभु! मैं ऐसा क्यों न समझूँ? क्योंकि आपने सांख्यमत का खूब प्रदर्शन किया है, संन्यासियों को ही आप सर्वश्रेष्ठ बता रहे हैं। स्थितप्रज्ञ के लक्षण में तो आपने प्रशंसा करते हुए उन्हें अपना रूप ही बता दिया है और मैं उसी संन्यास की माँग कर रहा हूँ तो आप विरोध कर रहे हैं। प्रभु ने कहा कि नहीं! नहीं!! मैं तो तुम्हारे स्वरूप को ही बता रहा

हूँ कि तुम भी संन्यासी ही हो, तुम भी योगी ही हो–

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

प्रभु ने कहा– हे पार्थ! जो निष्कामी होकर करने योग्य कर्म करते हैं मैं तो उन्हें ही संन्यासी एवं योगी कहता हूँ, न कि अग्नि न छूनेवाले को और न अकर्मण्य को ही। हे पाण्डव! तुम इतना जान लो कि जिसे संन्यास कहा जाता है उसे ही योग भी कहा जाता है; क्योंकि जबतक कोई निष्कामी नहीं हो जाता तबतक वह योगी अथवा संन्यासी नहीं कहा जा सकता। अतः योग में स्थित होने की कामनावाले को सर्वप्रथम निष्काम कर्म करना होगा तथा जब निष्काम कर्म करते–करते निर्मल वैराग्य हो जाए, कर्मों से अरुचि हो जाए तब उसे ध्यानयोग का अभ्यास करना होगा क्योंकि जब इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयों से और कर्मों से सर्वथा विरक्ति हो जाती है तब उसे योगारूढ़ कहा जाता है।

(अनाश्रितः कर्मफलं.....) हे पार्थ! जो किसी आशा के साथ कर्म करता है वह सकामी है तथा आशारहित होकर कर्म करनेवाला निष्कामी अर्थात् संन्यासी कहलाता है, उसे ही मैं योगी भी कहता हूँ। किसी कामना से कर्म करनेवाला प्रारब्ध के वशीभूत होता है अर्थात् प्रारब्ध की प्रेरणा से वह कर्म करता है, किन्तु निष्कामी पुरुष भगवान की प्रेरणा से कर्म करता है। सकामी के साथ इसीकारण से प्रभु नहीं रहता, किन्तु निष्कामी के साथ अवश्य रहता है। समुद्र की ओर नदियाँ दौड़ती हुई जाती हैं; चूँकि वह निष्कामी है। ठीक उसीप्रकार निष्कामी के पास सम्पूर्ण ऐश्वर्य सहज ही आते हैं। हे पार्थ! तुम निष्कामी हो, तभी तो मैं ब्रह्म होते हुए भी तुम्हारा सारथि और सद्गुरु दोनों बना हुआ हूँ। यदि तुमने मुझे अपना गुरु न बनाया होता तो भी प्रारब्ध के वशीभूत होकर ही युद्ध करते या युद्धभूमि से भाग खड़े होते।

(अनाश्रितः कर्मफलं.....) युद्धभूमि से अब साधकों की भूमि में लौट आवें– एक तरफ आप हैं तो दूसरी तरफ प्रारब्ध है। प्रारब्ध आशा से सम्पन्न है और निर्गुण–निराकार होने से, शुद्ध साक्षी चेतन होने से आप आशारहित हैं ही। आशा से युक्त सात्त्विक प्रारब्ध सुख और शान्ति में बाँधने का प्रयत्न करता है। वह समाधि के द्वारा ज्योतिर्मय प्रदेश में ले जाता है, वहीं रजोगुणी

प्रारब्ध कर्म में प्रवृत्त कर देता है, इसलिए कि वह विषयी है और तमोगुणी प्रारब्ध आलस्य, प्रमाद एवं नींद में आसक्त कर देता है। सकामी पुरुष तो एक ही है प्रारब्ध, किन्तु वही कभी सतोगुणी प्रारब्ध बनकर आता है, कभी वही रजोगुणी प्रारब्ध बनकर आता है और वही तमोगुणी प्रारब्ध को सामने खड़ा कर देता है। इसीलिए कहा कि दो पुरुष हैं– एक, तीन मुखोंवाला प्रारब्ध नामक पुरुष है जो सकामी है और दूसरे, एक मुखवाले आप हैं। आपका जो द्रष्टा है वही आपका स्वरूप है और संकल्प ही मुख है, संकल्प ही आपकी वाणी है, संकल्प ही आपके कान, नाक आदि हैं। प्रथमावस्था में जब आप निष्कामी होते हैं तो ब्रह्म जो आप्तकामी है, वह महाकर्ता बनकर आपके चारों तरफ कवच बनकर खड़ा हो जाता है। इस मंत्र के द्वारा सकामी को भी पहचानना है और निष्कामी को भी पहचानना है। जब कर्मफल को चाहकर कर्म करने का मन करे तो जान लेना कि यह मेरा मन नहीं, बल्कि प्रारब्ध का मन है अतः उसको त्याग देना और सद्गुरु की आज्ञानुसार सिद्धि–असिद्धि में सम रहते हुए उनकी प्रसन्नता के लिए कर्म करना। इसप्रकार करने से भगवान की दृष्टि में आप ही संन्यासी और योगी दोनों हैं, न कि घर–बार छोड़कर संन्यास लेनेवाला ही संन्यासी और योगी है। भले ही आपके व्यवहार में और संन्यासी के व्यवहार में धरती और आकाश सा अन्तर है, तो भी मूल में दोनों एक ही हैं। एक गुरु आज्ञानुसार प्रवृत्तिमार्ग (कर्ममार्ग) को त्यागकर निवृत्तिमार्ग का प्रदर्शन कर रहा है तथा दूसरा गुरु आज्ञानुसार अपने स्वरूप में रहते हुए कर्मयोग का प्रदर्शन कर रहा है।

महाराज ने तीन–चार साधकों को देखा जो समाधि के अन्तर्गत अन्तर्यात्रा करते रहते हैं, सूक्ष्म शरीर के द्वारा वे लोक–लोकान्तरों में भ्रमण करते रहते हैं। वे जब चाहते हैं तब उनके सामने समाधि प्रकट हो जाती है। उनके सामने अन्य दूसरी समाधियाँ भी प्रकट होती हैं, जो सतोगुणी प्रारब्ध के ही कार्यरूप हैं। बहुत से साधक उनलोगों की समाधि को देखकर अति संतुष्ट होते हैं। उनकी दृष्टि में वे महत् पदवाले हैं, किन्तु महाराज कहता है कि वायुयान में बैठकर दूर देश घूमकर आने में और अन्तर्यात्रा करने में किसीप्रकार का अन्तर नहीं है। दोनों की चाहना, चाहना ही है। ज्योतिर्मय समाधि भी जब आप चाहते ही हैं तो आप न निष्कामी ही हुए और न वह ज्योतिर्मय समाधि चित्तशुद्धि की ही कारक बनी। सामान्य व्यक्ति के काम, क्रोध और लोभ आदि विकारों में तथा उनके (समाधिस्थ साधकों के) काम, क्रोध एवं लोभ आदि विकारों में किसीप्रकार का अन्तर नहीं होता।

सद्गुरु ने बता दिया कि तुम शरीर नहीं, अजर–अमर आत्मा हो तो करना क्या है? ऐसा प्रज्ञावादी कह सकता है, जबकि सद्गुरु कहता है कि नहीं, नहीं, नहीं, यदि आत्मा हो तो तुम्हारा स्वराज्य भी होना चाहिये और साम्राज्य भी होना चाहिये, इतने से ही बात नहीं बनेगी। सृजन, संहार और पालनरूप दिव्य शक्ति शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा से ही तो प्रकट होती है। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो आपकी निष्कामता सम्पूर्णता से प्रशस्त नहीं हुई है। आपके साथ–साथ आपका तन, मन, वचन और हृदय जितना ही निर्विकार होगा, उतना ही वह शक्तिमान भी होगा तभी तो आपके पास आये हुए जिज्ञासु का शरीर आपके निर्विकार शरीर के माध्यम से निर्विकारी होगा। आपकी निर्विकार इन्द्रियों से ही उसकी भी इन्द्रियाँ निर्विकार होंगी। आपके निर्विकार

मन, बुद्धि, चित्त के माध्यम से ही उसके मन, बुद्धि, चित्त निर्विकार होंगे। यदि ऐसा नहीं है तो फिर गृहस्थाश्रम में रहने में क्या आपत्ति है? घर छोड़कर संन्यास लेनेवाले साधकों का कर्तव्यकर्म तो विशेष हो जाता है। इसलिए कि बुद्धि के द्वारा द्रष्टा, उपद्रष्टा, परम द्रष्टा, कर्ता, उपकर्ता, महाकर्ता की बात समझ लेने मात्र से कोई कितने दिन तक संतुष्ट रह सकता है? एक महीना, एक साल, दो साल या तीन साल और हो सकता है कि पुनः द्रष्टाभाव होकर शरीररूप हो जाये; क्योंकि कभी आप द्रष्टा थे, तभी तो शरीरमय हो गये थे। अतः यदि आप सजग नहीं होते है तो पुनः शरीरमय होने में देर नहीं लगेगी। द्रष्टारूप हो जाना और द्रष्टा का भाव बनना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। द्रष्टारूप हो जाने के उपरान्त आपका शरीर, आपको वैसा ही दिखाई देगा जैसा कि उस शरीर को कोई दूसरा देखता है। अन्तर इतना ही होगा कि वह शरीर के माध्यम से देखेगा और आप अशरीरी होकर देखेगें। वही द्रष्टा जब लम्बे काल तक अपने ही स्वरूप में स्थित होता है तो व्यष्टिद्रष्टा से समष्टिद्रष्टा हो जाता है। जहाँ व्यष्टिद्रष्टा होकर शरीर दिखाई पड़ता था, वहीं समष्टिद्रष्टा होने पर शरीर सहित यह जगत एक अणु के बराबर दिखाई पड़ेगा, उसी अवस्था को परम द्रष्टापना कहते हैं। आखिर यह कैसे होगा? महाराज इसे स्पष्ट करता है, इसे देखें–

यह स्थूल शरीर बाहर–भीतर के आवरणों के मध्य का आवरण है। शरीर के बाह्य और आन्तरिक भागों में कई आवरण हैं, इनका भेदन किये बिना या इनसे अनासक्त हुए बिना आप सम्पूर्ण द्रष्टारूप नहीं हो सकते। जैसे बाह्य आवरण हैं– माता, पिता, भाई, बान्धव, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, कुल, परिवार, जाति, गाँव, क्षेत्र, प्रदेश तथा लोक इत्यादि। बाह्य आवरणों में ही चींटी से हाथी तक समस्त प्राणी तथा साधु से असाधु तक सम्पूर्ण मनुष्यवर्ग आते हैं। प्रथम में इस शरीर के बाहर ही असंख्य आवरणों का घेरा है, जिन्हें तोड़कर अन्तर में प्रवेश करना है। इन्हीं बाह्यआवरणों में फँसकर ही मूल में जो द्रष्टाभाव रहता है, उसका लोप हो जाता है। उसीप्रकार शरीर के भीतर में सर्वप्रथम अन्धकारमय आवरण है, तत्पश्चात् राजस, तामस तथा सात्त्विक विचारों का आवरण है। पुनः सात चक्रों और उपचक्रों का आवरण है, उसके उपरान्त नानाप्रकार की सिद्धियों के प्रलोभन के आवरण हैं, जिनका भेदन किये बिना अथवा इनसे अनासक्त हुए बिना अपने द्रष्टास्वरूप में आप प्रतिष्ठित नहीं हो सकते तथा संकल्प–शक्ति के बिना आप इनका भेदन भी नहीं कर सकते और वह संकल्प–शक्ति बिना निष्काम कर्म किये प्राप्त भी नहीं हो सकती। आपको जानना होगा कि अन्तर्जगत में सकामी और निष्कामी योगी दोनों ही प्रवेश करते हैं, अन्तर इतना ही है कि सकाम योगी नानाप्रकार की सिद्धियों के चक्रव्यूह में फँसकर अपने द्रष्टास्वरूप से वंचित रह जाता है। सिद्धियों के प्रदर्शन से वह जगत में इतना पूजनीय भी हो जाता है कि पूर्व का संयम कुछ ही वर्षों में बिखर जाता है। वैसी अवस्था में सिद्धियाँ भी अन्तर्ध्यान हो जाती हैं और पुनः वह सकाम योगी शरीरमय ही हो जाता है; किन्तु निष्काम योगी इन सम्पूर्ण आवरणों का भेदन करता हुआ द्रष्टा से उपद्रष्टा, उपद्रष्टा से महाद्रष्टा, उपकर्ता से महाकर्ता हो जाता है। उसके महाकर्ता होते ही सम्पूर्ण प्राकृतिक स्तर उससे पराजित हो जाते हैं, तब जो संस्कार साधक के मार्ग में बाधक होते थे, वे ही साधन बन जाते हैं। जैसे हनुमानजी

की शिष्टता को देखकर असुरों में उदार दृष्टि आ गई थी। लंका के घर–घर में यह चर्चा का विषय बन गया था कि वह श्रीराम का दूत हनुमान कितना शिष्ट था, उसमें कैसी दिव्य सभ्यता थी! जब वह भरी सभा में बोलता था, तो लगता था कि श्रीराम ही बोल रहे हैं। सभी के तन, मन, वचन, हृदय में एक स्तम्भन था। जिसका परिणाम यह हुआ कि जब भक्त अंगद ने लंका में प्रवेश किया तो सभी आदर एवं सम्मान के साथ मार्ग से हट गये। यद्यपि रावण का पुत्र अंगद का सामना करता है, किन्तु मारा जाता है। वे बाह्य आवरण का निर्विघ्नता पूर्वक भेदन करते हुए रावण की सभा में प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु वहाँ कोई नहीं कहता कि इस वानर ने महाराज रावण के पुत्र की हत्या कर दी है।

(अनाश्रितः कर्मफलं.....) चेतन प्राणियों से ही आप कुछ नहीं चाहते तो निष्काम हो गये, ऐसी बात नहीं है बल्कि जड़ पदार्थों से भी आपको निष्काम होना होगा। जड़ पदार्थों का भी यदि आप दुरुपयोग करते हैं तो वह सकामता ही है। यदि पत्थर को एकटक आप देखेंगे तो उससे भी आत्मज्योति प्रकट हो जायेगी। कुछ देर के उपरान्त, न वहाँ पत्थर होगा न आपका शरीर, वहाँ पर एकमात्र आत्मज्योति होगी। वहाँ पत्थर निमित्त है, शरीर कारण है और आप कार्य–कारण से परे द्रष्टारूप हैं। योग में इसे त्राटक कहते हैं। साधकगण पूछते हैं– वह पुरुष कौन है, जो शरीर में बैठा–बैठा अपना काम कर रहा है? भगवान ने इसका उत्तर आठवें अध्याय के प्रारम्भ में ही दे दिया है कि वह अधिदैव नामक पुरुष ही प्रारब्ध कहा जाता है, जो तीन मुखोंवाला है और उस पुरुष पर शासन करनेवाले अधियज्ञ नामक पुरुष आप ही हैं। आप जब निष्काम कर्ता होते हैं तो वैष्णवी शक्ति से सम्पन्न हो ही जाते हैं तथा कालान्तर में आप ही परम अक्षर ब्रह्म होकर सृजन, संहार और पालन के कारण बनते हैं। उस अवस्था में आप ही स्रष्टा कहे जाते हैं। यहाँ तक बहुत–सी बातें प्रकाशित हो गयीं। महाराज ने भरसक गुत्थी खोलने का प्रयत्न किया है। अबतक सजगता से निष्काम होकर सेवा करने की जप, तप, योग करने की तथा ध्यान करने की बात का खुलासा किया गया, ताकि इस अध्याय में वर्णित ध्यानयोग के द्वारा आप जड़ता में न जायँ, चेतन से चेतन में ही जायँ। यह सत्य है कि निष्काम होने में लम्बाकाल लग जाता है, अतः आप समय की प्रतीक्षा मत करना बल्कि ऐसा करना कि समय ही आपकी प्रतीक्षा करता रहे। जीवन को दाव पर लगा देनेवाले के लिए यह निष्काम साधना है। आप इस आशा में न रहें कि आपको इसी जीवन में सफलता मिलेगी। सफल तो आप हो ही गये हैं, क्योंकि आपने मान लिया है कि 'मैं आत्मा हूँ'। हाँ, अब उस स्वरूप की सदा–सर्वदा स्थिति बनी रहे, उसके लिए सद्गुरु के द्वारा दिये हुए व्यवहार को धारण करना है; क्योंकि उसके द्वारा दिये हुए व्यवहार से ही इसमें सफलता मिल सकती है। अमीरी आपका पीछा कर रही है चाहे गरीबी पीछा कर रही है, चाहे भले ही आप अमीर हैं या गरीब, निष्काम होने के कुछ समय के उपरान्त अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवरूप शक्ति जब आपके वश में होती है तो उससे उदासीन हो पाना बड़ा कठिन होता है। बाहर की अमीरी का त्याग करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि भीतर की अमीरी का त्याग करना। निष्काम साधना करने पर जब सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता आदि दिव्य शक्तियाँ प्रकट होती हैं तो उनसे अनासक्त होकर ही अध्यात्म में प्रवेश किया जा सकता है।

एक साधक ने कहा कि बाहर की अमीरी को ही त्याग करने में भय लगता है। तो महाराज ने कहा कि तुम हिजड़े हो। अरे! जो बाहर की अमीरी का त्याग नहीं कर सकता तो वह भीतर की अमीरी का त्याग कैसे कर सकता है?

इस छठे अध्याय के प्रथम चरण में ही चार मंत्र हैं, जो संन्यासी के लिए चार स्वरूपों का वर्णन कर रहे हैं। पहला 'अनाश्रितः कर्मफलं.....' दूसरा– 'यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं.....', तीसरा– 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं.....', चौथा– 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु.....'। संन्यासी प्रथमावस्था में ब्रह्मजिज्ञासु होता है, जिसके लिए प्रभु ने कहा– ब्रह्मजिज्ञासु को सर्वप्रथम निष्काम कर्म करना चाहिये, उसे संन्यास और योग में स्वरूप से किसीप्रकार का भेद नहीं समझना चाहिये। जब कर्म एवं कर्मफलों से उदासीनता आ जाये तो वैसी अवस्था में कर्म से संन्यास ले ही लेना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्णता से कर्म और कर्मफल का त्याग किये बिना योगारुढ़ता प्राप्त हो ही नहीं सकती।

(अनाश्रितः कर्मफलं.....) इसका एक विलक्षण अर्थ सुनें– प्रभु कहते हैं कि कर्मफल के आश्रित न हो जाना। सर्वप्रथम आप यह जान लें कि कर्मफल है क्या? इसे महाराज ने बहुत बार कहा है कि माता, पिता, भाई, बान्धव, धर्मपत्नी, बच्चे, मित्र, घर, परिवार ही कर्म के फल हैं। ब्रह्मजिज्ञासु को इन्हीं के आश्रित नहीं होना है (यहाँ आश्रित होने का तात्पर्य आज्ञा में रहना है)। भगवान कहते हैं कि जब आप ब्रह्मजिज्ञासु हो गये तो उनकी आज्ञा में क्यों रहेंगे? ब्रह्म की आज्ञा में क्यों नहीं रहेंगे? 'कार्यं कर्म करोति यः'– करने योग्य कर्म अर्थात् उनकी सेवा तो आप करेंगे, लेकिन उनकी आज्ञा में नहीं रहेंगे। क्या प्रमाण है कि भगवान उनकी आज्ञा में रहने से मना कर रहे हैं? हाँ, आगे के मंत्रों में कहा गया है– 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासु का पहला व्रत है ब्रह्मचारी के व्रत में प्रतिष्ठित हो जाना और ब्रह्मचर्य व्रत का पहला अंग है सद्गुरु की आज्ञा का पालन करना। अन्य शास्त्रों के साथ–साथ वसिष्ठजी ने भी भरतजी से कहा है–

सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

अतः भगवान की आज्ञा है कि सचमुच में किसी को ब्रह्म चाहिये तो वह जीव की आज्ञा न माने। माता–पिता, भाई–बान्धव यदि निष्कामी नहीं हैं तो वे ही जीव हैं तथा अपने कर्म के फल हैं। उनकी आज्ञा में रहने का तात्पर्य अपने कर्मफल को स्वीकार करना है और कर्मफल को स्वीकार करता हुआ कोई ब्रह्मफल को स्वीकार नहीं कर सकता। तो फिर ऐसा कैसे हो सकता है? हाँ, जबतक आप घर में रहना, तबतक हररोज प्रार्थना करना कि हे प्रभु! मैं तो जानता ही नहीं था कि माता–पिता, बाल–बच्चे अर्थात् स्वजन आदि कर्म के फल हैं, किन्तु अब मैं जान गया कि इन कर्मफलों को आपने ही दिया है, इसलिए आपके ही दिये हुए कर्मफलों को आपको ही समर्पित करता हूँ। हे प्रभु! अब ऐसी शक्ति दें कि मैं इन्हें आपका ही अंग मानकर इनकी उचित सेवा करता हुआ, आपके लिए ही जीऊँ और आपके लिए ही मरूँ। ऐसा समझकर ही गृहस्थाश्रम में रहनेवाला साधक 'स संन्यासी च योगी' अर्थात् संन्यासी एवं योगी है। किसी के

आश्रित नहीं होने से संन्यासी है और निष्काम कर्म करने से योगी है। 'न निरग्निर्न चाक्रियः'– जिसने अग्नि और कर्म को त्याग दिया है, वही संन्यासी एवं योगी है, सो बात नहीं। भगवान आध्यात्मिक परिभाषा दे रहे हैं यहाँ। भौतिक कामना को ही अग्नि कहा गया है तथा मनमाने त्याग को क्षुद्रता, अक्रियता (अकर्मण्यता) कहा गया है अर्थात् जिसने कामना तो त्यागी ही नहीं और संन्यास लेकर अक्रिय (अकर्मण्य) हो गया, उसे संन्यासी और योगी नहीं कहा जा सकता। जिसे लोग संन्यासी और योगी कहते हैं, उसे भगवान ने कभी संन्यासी एवं योगी नहीं कहा। प्रायः लोगों के मन में यह अवधारणा बैठी हुई है कि अरे! ये बहुत बड़े योगी हैं, जो महीनों समाधि में बैठे रहते हैं। अरे! ये तो इतने बड़े महात्मा हैं कि दूसरे के मन की बात जान जाते हैं, एक से अनेक रूप धारण कर लेते हैं। इतना पहले आप जान लें कि ये सब सिद्धियाँ तो हठयोग से भी प्राप्त होती हैं और वह योग तो प्रकृतियोग है, ब्रह्मयोग नहीं। ज्योतिर्ध्यान, मंत्रध्यान, तंत्रध्यान तथा योगध्यान लगाना भी एक कला है, वैसे ही समाधि लगाना एक कला है। वह कर्मसाध्य है कृपासाध्य नहीं, कृपासाध्य तो ज्ञानसमाधि है। इसीलिए भगवान ने कहा कि ब्रह्म की कामना से ही जो घर में रहता है, वही संन्यासी और योगी है।

(.....न निरग्निर्न चाक्रियः) यहाँ आन्तरिक अर्थात् प्राकृतिकअग्नि की बात लेनी चाहिये। कामाग्नि, क्रोधाग्नि, लोभाग्नि, रागाग्नि तथा द्वेषाग्नि– ये ही पंचाग्नि हैं, जिन्हें सकामी एवं अज्ञानी गृहस्थ तापते रहते हैं। जिन्होंने इन पंचाग्नियों का सेवन करना नहीं छोड़ा, वे भले ही संन्यास ले लिये हों, भगवान उन्हें संन्यासी और योगी नहीं कहते।

महाराज आपलोगों को एक पहेली बुझा दे कि जो सज्जन होते हैं वे कभी भी जहाँ धर्म की हानि होती है वहाँ किसी की आज्ञा में नहीं रहते। एक भाई जो जज के पद पर था, उसके सामने उसका भाई जिसने किसी का वध कर दिया था बंदी बनाकर लाया गया। भाई ने उसे फाँसी की सजा सुना दी। पिता ने कहा कि यह क्या कर रहे हो, बेटे? इसको तो निर्दोष करना तुम्हारे हाथ में है! पुत्र ने कहा कि इस समय न मैं आपका पुत्र हूँ, न इसका भाई हूँ, मैं एकमात्र न्यायाधीश हूँ। पिता ने कहा कि मैंने तुम्हें पढ़ा–लिखाकर क्या इसीलिए न्यायाधीश बनाया? पुत्र ने कहा कि क्या आपने चोरी करने के लिए, निर्दोष को दोषी, दोषी को निर्दोष सिद्ध करने के लिए जज बनाया? नहीं, नहीं, नहीं! आपने जज नहीं बनाया। यदि आपके हाथ में जज बनाना रहता तो आप इस हत्यारे भाई को राष्ट्रपति बना दिये होते। यदि यह बात सही है कि आपने मुझे जज बनाया, तब तो यह बात भी सही है कि आपने ही इस छोटे भाई को हत्यारा बनाया है और यदि यह सही है तो आज आप भी इसी फाँसी की सजा के अधिकारी हैं। इसलिए मैं आपके क्षुद्र आदर्श को अस्वीकार करता हूँ।

कोई भी सम्पूर्णता से जीव के अधिकार में नहीं रह सकता। ऐसा कोई नहीं होगा, जो माता–पिता, भाई–बान्धवों को झिड़का न हो, क्योंकि वह मूल में तो ब्रह्म का ही अंश है। जिसमें ब्रह्मत्व है, वह अहर्निश जीवत्व को स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए पहले मंत्र को ही भगवान कुछ अंशों में, दूसरे मंत्र में भली–भाँति सिद्ध कर रहे हैं।

(यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं.....) भगवान प्रमाण देते हैं कि सचमुच में आप मेरे हैं तो आपमें सांसारिक कामना एक अंश भी नहीं होगी और आपमें विश्वास होगा कि हम भगवान के हैं। इसलिए आपकी आवश्यकताओं की चिन्ता भगवान को स्वयं होगी; और इस विश्वास के कारण से ही आप योगी एवं संन्यासी हैं। चाहे आपने अपने मन से भौतिक विषय–वस्तुओं की चाहना की या माता–पिता, बाल–बच्चे एवं कुलगुरु, पुरोहितों की चाहना से चाहना की, बात बराबर है। चाहना तो चाहना ही है।

हीरालाल पटेल (अम्बाचन्दन, इन्दौर) से पूछा कि अब तो किसी बात का अभाव नहीं है, बाल–बच्चे हर बात से बहुत सुखी हैं, फिर आप घर–परिवार एवं व्यवहार से संन्यास क्यों नहीं लेते? अब सदा–सर्वदा भगवान के लिए क्यों नहीं जीते? उनके पास उत्तर तो नहीं था लेकिन तो भी हँसते हुए बहाना बनाने की सोची और कहा कि माँ के चलते मैं संन्यास नहीं ले रहा हूँ। महाराज ने कहा कि झूठ क्यों बोलते हैं? आपकी माँ देखेगी कि यह तो महाराजजी की आज्ञानुसार संन्यास ले लिया तो अति प्रसन्न हो जायेगी। वह सामान्य माताओं की गिनती में नहीं है। इसलिए महाराज ने कहा– आप भगवद्भक्तों की गिनती में नहीं आयेंगे।

मानो भगवान कह रहे हैं कि जिसके पास संकल्प है वही तो संकल्प को त्यागकर संन्यास ले सकता है। जिसके पास बाहरी संकल्प है ही नहीं, उसके लिए संकल्पत्याग की बात नहीं की जायेगी बल्कि संकल्पों के शमन की बात की जायेगी। फिर प्रश्न आता है कि संकल्प है क्या? इसका उत्तर है कि पुत्र, धन तथा मान–सम्मान ही संकल्प हैं। जिसको प्रभु ने तीनों दे दिया है तो फिर वह भक्त कामनावाला क्यों हो रहा है? उन्हीं के लिए क्यों जी रहा है? क्योंकि पुत्र, पत्नी, धन को न चाहने पर भी तो वे आपके ही हैं, क्योंकि जब आप भगवान के हो जाते हैं तो क्या वे आपको अपना मानना छोड़ देते हैं? वे तो आपके ही रहेंगे, दूसरे के तो नहीं हो जायेंगे! यह भी एक पहेली ही है, कि जब आप भगवान के हो जाते हैं तो बाल–बच्चे न चाहते हुए भी मन से आपके बहुत निकट आ जाते हैं। समुद्र कहता है कि मैं भगवान का हूँ तो न चाहती हुई भी नदियाँ उसी की तरफ दौड़ती हुई जाती हैं। यही बात इन स्वजनरूप संकल्पों की है। आप जैसे ही भगवान के होते हैं, वे न चाहते हुए भी आपका ही अनुगमन करने लग जाते हैं। अतः ऐसा जानकर वह भगवद्भक्त साधक इन सबसे उदासीन होकर भगवान में ही आसीन हो जाता है।

(यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं.....) इस मंत्र के द्वारा युद्धभूमि में भगवान क्या कहना चाहते हैं इसे भी देखते चलें– हे पार्थ! तुम संन्यास एवं योग में भी भेद समझ रहे हो, जबकि ये दो नहीं हैं– संसार से वियोग (संन्यास) होते ही ब्रह्मजिज्ञासु का ब्रह्म से योग हो ही जाता है। तुम जहाँ विदुर के विषय में सोच रहे हो कि उन्होंने संन्यास लिया तो माधव ने कुछ नहीं कहा, तो यह तुम गलत सोच रहे हो; क्योंकि तुम विदुर के पद पर नहीं हो और न ही विदुर तुम्हारे पद पर थे। वे एकमात्र महाराज धृतराष्ट्र के मंत्री पद पर थे। यदि वे आज भी मंत्रीपद पर ही रहते तो तुम यह नहीं कहते कि वे युद्ध में क्यों नहीं आये। अरे! वे मंत्री पद पर रहें चाहे संन्यास लेकर वनप्रदेश को चले जायें, उनके व्यवहार से तो तुम्हें कुछ लेना–देना नहीं है। तुम यह मत भूलो

कि जैसे आज तुम्हें मैं युद्ध करने की आज्ञा दे रहा हूँ, वैसे ही उन्हें मैंने ही मंत्री पद को त्यागकर संन्यास लेने की आज्ञा दी है। वे तो एक ऐसे महापुरुष हैं, जिन्होंने मेरी आज्ञा के बिना एक श्वास भी नहीं ली है। उसीप्रकार महर्षि व्यास का संन्यास मनमाना नहीं था बल्कि मेरी प्रेरणा से ही था। इसलिए जैसे उनलोगों ने सहर्ष मेरी आज्ञा पालन की, वैसे ही तुम भी प्रेमपूर्वक मेरी आज्ञा का पालन करो।

(यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं.....) अब साधकों की भूमि में लौट आवें– जो इच्छाओं का त्यागी नहीं है, वह संन्यासी एवं योगी नहीं हो सकता। इस न्याय से पुत्र एवं धन की कामना करनी ही नहीं चाहिये, भगवान ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं– कुछ ब्रह्मजिज्ञासु तो ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासाश्रम में प्रवेश कर जाते हैं और कुछ पुत्र की कामना से गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाते हैं। पुत्र की कामना तो राजर्षियों ने भी की है, राजर्षि अज, दिलीप, रघु, हरिश्चन्द्र आदि इसके उदाहरण हैं, किन्तु जब इनकी पुत्र प्राप्तिरूप कामना पूरी हो जाती है, तो फिर ये सम्पूर्णता से भगवान की कामनावाले होकर संन्यास लेकर वनप्रदेश को चले जाते हैं। उन्होंने पुत्र को भगवान के लिए चाहा है, न कि अपने लिए। उनके लिए प्रजा भगवान का अंग है। उसी की सेवा–शुश्रूषा के लिए सकाम जप, तप, योग के माध्यम से भगवद्भक्त पुत्र जनमाकर उसे प्रजा की सेवा में नियुक्त कर संन्यास ले लेते हैं। अतः उनकी कामना को कामना नहीं कहा गया है। इसीलिए इन्हें संन्यासी और योगी भी कहा जाता है। राजर्षि उपाधि से तो वे विभूषित हैं ही। महात्मा कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया कि गृहस्थाश्रमी भक्त भगवान से माँगे, वह अपने भगवान से कहे कि हे प्रभु! हमें इतना ही धन देना कि मैं सुग्रीव न बन जाऊँ, उतना ही देना कि मैं रावण न बन जाऊँ, ऐसा न वरदान दे देना कि मैं बाली बन जाऊँ बल्कि–

साँई इतना दीजिये जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।।

यहाँ 'मैं भी भूखा न रहूँ' का तात्पर्य है– बाल–बच्चे एवं भाई–बान्धव भी भूखे न रहें। हे प्रभु! जब हमारे दरवाजे पर कोई दीन–दुःखी या अतिथि आ जाय तो मैं उसकी ही छवि में तुम्हें देखकर सेवा करूँ। इसप्रकार ऐसी माँग को माँगना नहीं कहते। सुदामा की माँग, माँ द्रौपदी की माँग तथा गज जैसे भक्तों की माँग को माँगना नहीं कहते। इसलिए–

(आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं.....) इस मंत्र के द्वारा भगवान का सिद्धान्त देखते बनता है। सारे लोग कहते हैं कि जिस दिन भगवान की कामना हो जाय, उसी दिन संन्यास ले लेना लेकिन भगवान इस बात से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं– मोक्ष की चाहनावाले को सर्वप्रथम निष्काम कर्म करना ही चाहिये; क्योंकि कर्म का शोधन तो कर्म से ही होता है। जिसप्रकार गंदे बर्तन की सफाई के लिए केवल जल की ही आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि राख एवं मिट्टी की भी आवश्यकता पड़ती है। जैसे माताएँ पहले जलमिश्रित राख एवं मिट्टी से बर्तन की सूखी हुई गन्दगी को घुला देती हैं, उसके उपरान्त केवल जल से उसकी सफाई हो जाती है अथवा जैसे शरीर की मैल को साबुन–सोडे से पहले घुला दिया जाता है, फिर जल से उन दोनों ही मैलों की सफाई कर दी

जाती है। उसीप्रकार सकाम कर्मरूपी मैल को निष्काम कर्मयोगरूपी मैल से पहले घुला (फुला देना) दिया जाता है, उसके उपरान्त (योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते) जब निर्मल वैराग्य हो जाय, एकमात्र सर्वत्र ब्रह्म की ही खोज प्रारम्भ हो जाय तथा अहर्निश आत्मचिन्तन पकड़ में आ जाय, तब निष्काम कर्मयोग का भी त्याग कर देना। अतः जबतक आप्तकामता नहीं आ जाती तबतक निष्कामता से कर्म करना है। निष्कामता का तात्पर्य है आप्तकाम होने की चाहना करना, जो कभी सकाम हुआ ही नहीं उस ब्रह्म की ही चाहना करना। इसप्रकार मोक्ष की चाहना ही निष्कामता है। कोई कहता है कि भगवान की चाहना भी तो चाहना ही है, इसलिए मैं तो भगवान को भी नहीं चाहता। ऐसे लोगों के लिए महाराज कहता है कि उनकी बुद्धि सठिया गयी है। अरे! ब्रह्म को चाहने के लिए ही तो जगत से निष्काम होना है। क्या गंगाजी नदी हैं? क्या हनुमानजी बन्दर हैं? उसीप्रकार क्या ब्रह्म की माँग सकामता है? इसलिए जब ब्रह्म ही आपकी आशा बन जाता है, वही आपकी आत्मा बन जाता है तो वह स्वयं आपको बताता है कि आपको क्या चाहिये?

भक्त प्रह्लाद के पास भगवान आये और कहा कि वरदान माँगो! तब उन्होंने प्रभु से ब्रह्मज्ञान माँगा। भगवान ने कहा आप अभी से ब्रह्मचिन्तन में बैठ जाओ। वे उसी समय ब्रह्मचिन्तन में बैठ गये। ब्रह्मचिन्तन करते–करते ज्ञानसमाधि की प्राप्ति हुई और कालान्तर में उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ। उनका भगवान उनके लिए ब्रह्मज्ञान बन गया।

भगवान के पास तो आप जो कुछ भी चाहते हैं, वह वही रूप बन जाता है। आप ध्यानमय होना चाहते हैं तो ध्यानमय हो जाता है, ज्ञानमय होना चाहते हैं तो वह ज्ञानमय हो जाता है, आप उससे वेद चाहते हैं तो वह वेदमय हो जाता है अर्थात् उसके आने के बाद आप उससे जिस रूप में होने को कहेंगे वह वही रूप बन जायेगा। मनु एवं शतरूपा ने उससे उसी के जैसा पुत्र माँगा तो वह पुत्र ही बन गया। इसप्रकार भगवान की आशा से कर्म करना ही आशारहित होकर कर्म करना कहा जाता है। अपने स्वरूप में स्थित होना और भगवान की आशा से कर्म करना अर्थात् भगवान की आज्ञा से कर्म करना दोनों बात बराबर है। एक कहता है कि बाल्टी तो आधी भरी है और दूसरा कहता है कि बाल्टी आधी खाली है, ये दोनों एक ही बात कह रहे हैं। वैसे ही भगवान को प्राप्त करने के लिए कर्म करेंगे तो सर्वप्रथम अपने स्वरूप का ही बोध होगा और अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए कर्म करेंगे तो भगवान का पहले बोध हो जायेगा। जिसे बोध होता है वह तो एक ही है, दो नहीं। अतः ऐसी निष्कामता न हो जिसमें कि भगवान अथवा अपने स्वरूप की ही माँग न हो।

महाराज ने शरद नामक साधक से पूछा कि आप जप, तप, योग आदि साधन क्यों करते हैं? उन्होंने कहा कि मैं जो कुछ भी करता हूँ वह भगवान को समर्पित कर देता हूँ। उसके बदले में जो कुछ मुझे चाहिये वे भगवान दे देंगे। महाराज ने हँसते हुए कहा– ये तो आप कैकेयी जैसी बात कर रहे हैं। उसने धरोहर रखे वरदानों के द्वारा श्रीरामजी का वनवास ही माँग लिया। वैसे ही घोर संकट पड़ने पर आप भी भगवान से धरोहर में रखे हुए जप, तप, योग के द्वारा संकट

से मुक्ति माँग लेंगे, इसलिए निष्काम कर्म को समर्पण करते समय कह देना कि हे प्रभु! यह जप, तप, योग आपको समर्पित करता हूँ, जब आप प्रसन्न होना तो इसके बदले में अपने को ही दे देना।

जब भगवान कह रहे हैं कि कर्मफल का त्याग करके कर्म करो तो इससे सिद्ध होता है कि निष्काम कर्म करते ही उसका फल प्रकट होता है, महाराज ने इसका अनुभव किया है। जैसे ही आप कर्मफलों का त्याग करते हैं अर्थात् माता–पिता, भाई–बान्धव, हित मित्र, बाल–बच्चे, पद–प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, घर–बार का त्याग करते हैं, वैसे ही आपका परम फल बनकर सद्गुरु प्रकट होता है। उसके प्राप्त होते ही आन्तरिक ऐश्वर्य मिलता है। वह ऐश्वर्य है अहंभाव का त्याग अर्थात् शरीरभाव का त्याग ही संन्यासी का दिव्य कर्म है। आज 'कर्म' शब्द रूढ़ हो गया है। यही नहीं, 'योग' शब्द भी रूढ़ हो गया है, वह इन्द्रियों तक सीमित रह गया है। इसलिए भगवान कहते हैं कि ब्रह्म की तरफ गमन करनेवाले के लिए त्याग ही कर्म है। (योगारूढस्य तस्यैव. ....) कर्म और कर्मफल का त्याग कर देने के बाद फिर क्या कर्म करें? तो कहते हैं– भगवान को बुलाएँ, यही कर्म है अथवा आत्मचिन्तन करें, यही कर्म है। भगवान के लिए भिक्षु बनकर जीना, यही कर्म है; श्वानवृत्ति से जीना, यही कर्म है; खगवृत्ति से जीना, यही कर्म है या आकाशवृत्ति से जीना, अजगरवृत्ति से जीना यही कर्म है। सद्गुरु आश्रम में रहते हैं आप, तो सत्यकाम जैसा जीना, आरुणि जैसा जीना, लक्ष्मण जैसा जीना, यही कर्म है। गृहस्थाश्रम में हैं तो आत्मज्ञान होने के पूर्व महात्मा भरत जैसा जीना, शत्रुघ्न जैसा जीना, माँ कौसल्या, सुमित्रा जैसा जीना, यही कर्म है। इस मंत्र के द्वारा कर्म और कर्मफल को त्यागने की बात की गयी है, कर्म करने की और भोगने की नहीं। इसप्रकार मन से त्याग किये जानेवाले कर्म को त्यागकर गुरु की आज्ञानुसार कर्म करना ही योग है। अब बात बहुत स्पष्ट हो गयी है कि संन्यासी वही है जिसने त्याग किया है। इसप्रकार सम्पूर्ण वृत्तियों को त्यागते–त्यागते शरीर को ही त्याग दिया। सर्वप्रथम तो शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार के माध्यम से त्याग किया और जब बाहर का त्याग हो गया तो शरीर को ही त्याग दिया अर्थात् देहासक्ति से सम्पूर्णता से अनासक्त हो गया।

अब एक तरफ आप होते हैं और दूसरी तरफ फलरूप से यह शरीर होता है। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगों की गति को प्राप्त होते हुए मनुष्ययोनिरूप फल मिला। मनुष्ययोनि में भी तामस एवं राजस प्रकृति से घूमते–घामते सात्त्विक प्रकृति प्राप्त हो गयी। अब सात्त्विक प्रकृति से निष्काम कर्म करते–करते गुरुयोग के द्वारा यह विश्वास हो गया कि 'मैं आत्मा हूँ' तो शरीरभाव को ही छोड़ दिया अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' यह भाव ही नहीं छोड़ा बल्कि इस शरीर को सद्गुरु को ही दे दिया। अब सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म हो रहा हो तो यह न मान लेना कि मैं कर्म का कर्ता हूँ बल्कि यह जान लेना कि सद्गुरु की आज्ञा ही कर्म कर रही है। इसप्रकार आप कहाँ कर्ता हुए? आप तो संन्यासी हो गये, आप तो योगी हो गये, ब्रह्म का और आपका निकट का सम्बन्ध हो गया– यही गुरुयोग है। ध्यानयोग, जपयोग, तपयोग, ज्ञानयोग तथा अन्य भी सारे के सारे ढेर सारे योग हैं और अन्त में एक दिव्य योग है– गुरुयोग। जिस दिन गुरुयोग प्राप्त

होता है, उसी दिन राजयोग प्रकट होता है। राजयोग एक दिव्य फल है, जिसे सद्गुरु शिष्य की श्रद्धारूपी झोली में प्रेमपूर्वक डाल देता है। प्रथमावस्था में कर्मफल का त्याग ही दिव्य कर्म है, दूसरी अवस्था में कर्म और कर्मफल इनदोनों को ही त्यागकर ब्रह्मचिन्तन करना दिव्य कर्म है और तृतीय चरण में अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मचिन्तन का त्याग ही दिव्य कर्म है। इसप्रकार त्याग करते–करते चतुर्थ चरण में शरीर को त्याग देना ही दिव्य कर्म कहा जाता है। शरीर को त्याग देने का तात्पर्य 'मैं शरीर हूँ' इस भाव के त्याग से है; क्योंकि आत्मा के द्वारा शरीर तो स्वभाव से ही त्यागा हुआ है। आत्मा के द्वारा शरीर कभी भी पकड़ा नहीं गया, इसलिए त्यागा भी तो कैसे जायेगा, अतः मात्र त्यागने और ग्रहण करने का भ्रम हो गया है। कोई कहता है कि त्यागने और ग्रहण करने का भ्रम तो आत्मा को ही हुआ है? नहीं, नहीं! भ्रम किसको हुआ है, इसका पता तो आत्मज्ञान होने के उपरान्त ही चलता है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसप्रकार कर्म का फल भगवान नहीं है बल्कि कर्म का फल है ऐश्वर्य, कर्म का फल है विभूति। वह कर्म चाहे प्राणायाम हो या ध्यान हो अथवा समाधि। भौतिक प्रकृतिवाद (शरीर, मन, बुद्धि, चित्त) का संयम करने से प्रकृति के अन्तर्गत जो विभूतियाँ हैं, सिद्धियाँ हैं, वे ही फलरूप में प्रकट होती हैं। यदि कर्म से भगवान आने लगे तो फिर त्याग की महत्ता नहीं रह जायेगी। अतः शरीर एवं शरीरसहित मन, बुद्धि, चित्त पर संयम करने से प्राप्त हुई सिद्धियों से अनासक्त होने पर, एक दिव्य सिद्धि मिलती है– निजस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्मानुभूति। एक बार पुनः इसे सूत्र में देखें– सर्वप्रथम बाह्यत्याग + देहासक्ति का त्याग + गुरुआज्ञानुसार कर्म का सम्पादन = चित्तशुद्धि का होना + आन्तरिक सिद्धि की प्राप्ति + उन सिद्धियों का त्याग = आत्मस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मफल की प्राप्ति। क्रमानुसार ऐसा ही समझना चाहिए।

इस युद्धभूमि में जिन महात्मा अर्जुन को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ; उनका नैतिक कर्म भी देखते बनता है। जीवन में उन्होंने कभी सुख का मुँह नहीं देखा। वे गुरुजनों की आज्ञा से धर्मयुद्ध करते रह गये, राजाज्ञा से धर्मयुद्ध करते रह गये तथा उस धर्मयुद्ध से प्राप्त होनेवाले सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं विभूतियों को महाराज युधिष्ठिर को भेंट करते गये। चूँकि वे गृहस्थाश्रम में थे, अतः धर्मयुद्ध के उपरान्त प्राप्त होनेवाले फल को स्वीकार भी करते गये और गुरुजनों को तथा महाराज युधिष्ठिर को भेंट भी करते गये। इसका तात्पर्य यह नहीं कि संन्यासाश्रमी साधक भी शरीर और अन्तःकरण की इन्द्रियों के संयम से प्रकट हुई सिद्धियों को सद्गुरु को भेंट करने के लिए स्वीकार करे। यहाँ तक कि स्वयं सद्गुरु ही यदि कदाचित् कभी विषय–वासनाओं को दे तो शिष्य उसे अस्वीकार करने में स्वतंत्र है। यदि विषय–वासना की अस्वीकृतिरूप फल मिल गया तो साधक की बहुत बड़ी सफलता मानी जायेगी। यदि साधक ने अच्छीप्रकार से देख लिया कि स्वजन ही कर्म के फल हैं तो यह भी उसके जीवन में बहुत भारी सफलता कही जायेगी। पहले तो यह जानना है कि ये स्वजन ही कर्म भी हैं, कर्म के फल भी हैं तथा कर्म के उद्गम भी हैं। जब ये कर्म करने की आज्ञा देते हैं तो ये 'कर्म' कहे जाते हैं। ये स्वयं में सगुण कर्म हैं, जिनसे निर्गुण कर्म प्रकट होकर सगुण कर्म बन जाता है। दूसरी अवस्था में ये ही कर्म के फल भी हैं; जब अपने प्रति मोहासक्ति से आच्छादित रहते हैं और साधक भी जब इन्हें अपना बहुत कुछ मान

लेता है। साधकों को इन मंत्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि इन मंत्रों के द्वारा भी भगवान ने भागवतधर्म और कर्म का सांगोपांग विवेचन किया है। संन्यासी एवं संन्यास के प्रति यदि आपकी महत् भावना हो ही जाय और आप स्वयं संन्यास ही लेना चाहें तो कहीं आप सहसा कर्म छोड़कर भटकन–लटकन संन्यासी न बन जायँ, कहीं मठाधीश संन्यासी न बन जायँ तथा असफल होने पर कहीं राजपद की कामनावाले संन्यासी न बन जायँ, इसप्रकार संन्यास आपके लिए दूभर न हो जाए। इसलिए भगवान कहते हैं–

(यदा हि नेन्द्रियार्थेषु.....) जिस समय माता–पिता, बाल–बच्चे अर्थात् स्वजन कर्म एवं कर्मफल के रूप में दिखाई पड़ने लगें या सगुण ब्रह्म के विविध रूप दिखाई पड़ने लगें और ऐसा होने पर आन्तरिक हृदय से उनसे अनासक्ति हो जाय और स्वरूप के प्रति अथवा भगवान के प्रति अहर्निश आसक्ति होने लगे तो वैसी अवस्था में स्वजनरूप संकल्पों का त्यागी पुरुष ध्यानयोग का अधिकारी माना जाता है। वैसे साधक को जिसे भोजन में भी प्रीति नहीं रह गयी, भोजन, कपड़ा, मकान की प्राप्ति के लिए कर्म करने की भावना नहीं रह गयी, मित्र–मित्र जैसा न दिखाई पड़े, स्वजनों से भी बोलने–चालने और व्यवहार करने का मन न करे, नींद अपनी वैरिणी जान पड़े तो ध्यानयोग की कामना से संन्यास ले लेना चाहिये। जब इन्द्रियों में, इन्द्रियों के सुख में मन नहीं रमता तो उसे जान लेना चाहिये कि अब भगवान की कृपा हुई है।(सर्वसङ्कल्पसंन्यासी. .....) संकल्पत्याग का तात्पर्य शेष कुछ कामना ही नहीं रही, इसलिए वह योगी किसी को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं कर सकता। अतः आपको अपने स्वरूप की प्राप्ति की कामना ही है तो आप व्यावहारिक, मर्यादित एवं कुल पारिवारिक व्यवस्था का सर्वथा त्याग कर दें तथा भगवद्धर्म को स्वीकार करें, तब आप संन्यास लेकर ध्यानयोग करने के अधिकारी हैं। संन्यास लेते ही भगवान आपको संन्यासी एवं योगी कहते हैं। जैसे सेना में कोई भर्ती होते ही सैनिक कहा जाता है, भले ही वह राइफल चलाना नहीं जानता किन्तु जैसे वह सैनिक कहलाकर उसी वेश में सैनिक के अनुरूप कर्म भी करता है तब सैनिक कहलाने का प्रयोजन पूरा होता है, वैसे ही संन्यासी होकर संन्यास के योग्य अर्थात् ध्यानयोग में जब आरूढ़ हो जाता है, तभी उसके संन्यास लेने की सार्थकता पूरी होती है। इस मंत्र के द्वारा भगवान पाखण्डवाद का निराकरण कर रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि मोह, ममता से सम्पन्न देखा–देखी करता हुआ कोई जिज्ञासु योगसाधना करता है तो निश्चितरूप से उसे भी संयम से प्राप्त होनेवाली प्राकृतिक सिद्धियाँ ही मिलती हैं, किन्तु उसकी वे सिद्धियाँ उसके बाल–बच्चों अर्थात् स्वजनों के लिए ही काम आती हैं। यही नहीं, वे सिद्धियाँ अहम् भाव को और भी सघन ही करती हैं। मोह, ममता से सम्पन्न रावण के द्वारा प्राप्त हुई सिद्धियाँ, बाली के द्वारा प्राप्त हुई सिद्धियाँ, उनके सर्वनाश का ही कारण बन जाती हैं। कालान्तर में ऐसे साधकों को श्रम ही हाथ लगता है। आश्चर्य की बात तो देखिये कि जिस भगवान सूर्य से भगवद्भक्त हनुमानजी ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, उसी भगवान सूर्य से बाली ने सामान्य सिद्धि प्राप्त की थी। इसलिए भगवान कहते हैं कि जबतक कर्म और कर्मफलों से भली–भाँति मन उपराम न हो जाय, तबतक ध्यानयोग के लिए ही आतुर न हो जाना। इस मंत्र में 'सर्वसङ्कल्पसंन्यासी' पद बड़ा महत्त्व का है। सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग

देना अर्थात् जिसने कर्म ही ब्रह्म है, मंत्र ही ब्रह्म है, स्वजन ही ब्रह्म है, इस भावना को धारण कर लिया है, उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ भी ब्रह्मजिज्ञासु ही हो जायेंगी। उन ब्रह्मजिज्ञासुओं को अहर्निश सजग होकर द्वैतभावना का त्याग करना होगा; क्योंकि द्वैत से ही सम्पूर्ण कामनाएँ प्रकट होती हैं। आप ध्यान दें– देवताओं को कुभावना प्रिय है सद्भावना नहीं, उन्हें विषय प्रिय है निर्विषयता नहीं। देवताओं का तात्पर्य होता है संस्कार। वे संस्कार आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि, चित्त आदि में विषयप्राप्ति हेतु ही बैठे हुए हैं। यदि उनका विषय आप लम्बे काल तक नहीं देते तो वे भी निर्विषयी ही हो जाते हैं तथा सहज ही अन्तर्मुख होने लगते हैं। जैसे कूड़े–करकट को कम्पोस्ट गड्ढे में डाल देते हैं तो वह खाद बन ही जाता है, वैसे ही संस्कारों की भी बात समझनी चाहिये। संस्कारों से तो आपको जहाँ अपनी सेवा लेनी चाहिये तो आपही उनकी सेवा करने लगते हैं! यदि आप उनकी सेवा न कर, उनसे विमुख होकर ब्रह्म की तरफ अग्रसर होते हैं तब आध्यात्मिक धर्म प्रकट होता है। वैसी अवस्था में वे संस्कार बाधक न बनकर साधक बन जाते हैं, तभी आपको निर्मल वैराग्य होता है और फिर ब्रह्मजिज्ञासा (आत्मजिज्ञासा) प्रकट हो जाती है। आपकी वैसी अवस्था को देखकर ही भगवान ने कहा– आप ध्यानयोग के अधिकारी हो जाते हैं। यदि सौ पैसे में पच्चीस पैसा ही स्वजनों से मोह है और पचहत्तर पैसे भगवान से मोह है तो पच्चीस पैसे की चिन्ता मत करना; क्योंकि बिना ध्यानयोग में सुदृढ़ स्थिति हुए स्वजनों से राग सम्पूर्णता से समाप्त नहीं होता।

महाराज के पास एक साधक ने कहा– अब मैं आश्रम से भी संन्यास लेना चाहता हूँ। महाराज ने कहा कि होना तो ऐसा ही चाहिये लेकिन अभी मलाई सामने आने पर मन उसे खाने के लिए टूट पड़ता है, नानाप्रकार के व्यंजनों से अरुचि हुई नहीं है, भले–बुरे की भावना से गप करने में रस आता ही है, फिर किस उपलब्धि को लेकर तुम संन्यास लेना चाहते हो? संन्यास तो आत्मानन्द को लेना चाहिये, जिन्होंने बचपन से लेकर अबतक अर्थात् पच्चीस वर्षों से भरपेट भोजन नहीं किया है। दोनों समय आधापेट प्रसाद पाते हैं, अहर्निश कर्मयोग में लगे रहते हैं। अब अहर्निश स्वाध्याय कर सकते हैं, फिर भी वे संन्यास नहीं ले रहे हैं; क्योंकि वे कब संन्यास लेना चाहिये भली–भाँति जानते हैं। उनसे तुम किस बात में आगे हो– ध्यान में, ज्ञान में, विज्ञान में, तप में, योग में या त्याग में? जिनके आचार, विचार तथा व्यवहार में आरुणि एवं उपमन्यु आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की झाँकी मिलती है। अरे! पाँच वर्ष पूर्व तूने गृहस्थाश्रम को यज्ञशाला बनाया था, अब पाँच साल से गुरु एवं गुरु आश्रम को ही यज्ञशाला एवं साधनाशाला बना रखे हो; फिर क्यों न तुम यहाँ से निर्विकार होकर, सम, शान्त, साक्षी एवं चैतन्य होकर संन्यास लो।

ॐ मासपारायण, बारहवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, छठा विश्राम ॐ

सारे जगत से एवं जगत के व्यवहार से संन्यास लेकर ही ध्यानयोग में आरूढ़ क्यों होना चाहिये? इसपर भगवान कहते हैं–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

सर्वप्रथम अपने–आपसे ही अपने मन का उद्धार करें; उसे अधोगति में न जाने दें; क्योंकि संयमित मन ही अपना भाई–बान्धव तथा मित्र है और उच्छृंखल मन ही अपना शत्रु है। वह शत्रु ही नहीं है बल्कि अजितेन्द्रिय पुरुष के साथ शत्रुता का व्यवहार भी करता है।

प्रभु ने इन मंत्रों के द्वारा मधुर विनोद भी किया है। आपको भगवान नहीं चाहिये तो कोई बात नहीं, उससे आप उदासीन बने रहें, न उसकी कोई हानि है, न आपकी कोई हानि है; क्योंकि उसके द्वारा भी तो आप अपने मायामय मन, बुद्धि, चित्त का ही उद्धार करायेंगे। जब आप कर्मवादी हैं ही, तो कोई बात नहीं, स्वयं से ही स्वयं के मन, बुद्धि, चित्त का उद्धार कर लें। आप शरीर नहीं हैं, आत्मा हैं– इस भाव से तो उद्धार होने की तो कोई बात ही नहीं है; क्योंकि आत्मरूप होने के कारण से आप कभी बन्धन में पड़े ही नहीं, लेकिन आपको इस शरीर को अपना मानकर चलना है तो इसमें प्रकट हुए मनरूप अनात्मा का संहार तो करना ही होगा। आपके इस शरीर में मन अधोगति से अधोगति की तरफ जा रहा है; क्योंकि उसने माया को स्वीकार कर लिया है। बुद्धि ने अन्यथा भाव को स्वीकार कर लिया है। अतः ऐसे विकृत मन और बुद्धि का उद्धार करना है, इसलिए कि इसने असत्यभाव का निश्चय कर लिया है। मैं शरीर हूँ, यह जगत है, पाँच तत्त्वों का शरीर बना है, यह जगत पाँच तत्त्वमय है, यह निर्णय ही तो असत्य निर्णय है। असत्य ही सत्य समझ लिया है जिस बुद्धि ने, उस बुद्धि का उद्धार करना है। जिस बुद्धि ने जो माता–पिता नहीं हैं उन्हें माता–पिता समझ लिया है, जो भाई–बान्धव नहीं हैं उन्हें भाई–बान्धव समझ लिया है, जो मित्र–वैरी नहीं है उन्हें मित्र–वैरी समझ लिया है और जो अपना घर, गाँव, देश नहीं है, उसे अपना घर, गाँव, देश समझ लिया है, जो अपना है उसे पराया और जो पराया है उसे अपना समझ लिया है; ऐसी विकृत बुद्धि का उद्धार करना है। इस अध्याय में मानो भगवान ने आज्ञा दी है कि आप अपना और इनका उद्धार कर सकते हैं। वह कैसे? आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग से। यदि आप सचमुच में ही आत्मजिज्ञासु हैं, अपनी आत्मा की खोज कर रहे हैं, अपनी खोज कर रहे हैं, माया को जानना चाहते हैं, विषयता से विमुख होना चाहते हैं तो सर्वप्रथम अपने–आप से घोषणा करें कि ऐसे अज्ञानमय मन, बुद्धि, चित्त का मैं स्वयं से उद्धार करूँगा।

जब इन्द्रियों में मन नहीं रमता, इन्द्रियों के सुख में मन नहीं रमता, अनासक्ति हो रही हो इनसे तो जान लेना कि प्रभुकृपा हो रही है। अतः जब प्रभुकृपा हो रही है तो आप प्रमाद न करें। तो क्या करें? यही कि इस शरीर और इन्द्रियों से काम लें। जिसे आप क्षुद्र शरीर कहते हैं, जो आपकी इच्छा के विरुद्ध बच्चा, जवान, बूढ़ा होता जा रहा है, वह भी मन, बुद्धि, चित्त का उद्धार करने में सहायक है ही। कैसे? ऐसे कि आप अद्वैत को स्वीकार कर लें। जब आप अद्वैतमय

(आत्मरूप) होते हैं तो यह शरीर भी मानो अद्वैतमय हो जाता है, जैसे लोहे को आग में डालकर कुछ देर के बाद उसमें से उसको निकालते हैं तो वह लोहा नहीं आग का अंगारा कहा जाता है। जिसप्रकार लोहार उस तपते हुए लोहे को अपने अनुरूप बनाकर, अपना काम कर, पुनः उसे लोहे के रूप में ही छोड़ देता है, ठीक उसीप्रकार इस शरीर को संयमरूपी अग्नि में डालकर इसके द्वारा अपने मन, बुद्धि, चित्त को आत्मरूप बनाकर, पुनः इसे शरीररूप में ही छोड़ दिया जाता है अर्थात् अनासक्त हो जाया जाता है।

गृहस्थाश्रमी एवं संन्यासाश्रमी दोनों प्रकार के साधकों के लिए यह बात कही गयी है। यदि किसी का अपने ऊपर शासन नहीं है तो स्वयं से ही वह अपने तन, मन, वचन तथा हृदय पर शासन करे। ऐसा वह क्यों करे? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

(बन्धुरात्मात्मनस्तस्य.....) इसलिए कि मन, बुद्धि, चित्त अपने अधिकार में हैं तो वे ही अपने माता–पिता, भाई–बान्धव एवं मित्र हैं और यदि अपने अधिकार में नहीं हैं तो वे ही अपने महाशत्रु हैं। बाहर भी जो अपने प्रति शत्रुवत् व्यवहार करनेवाले वैरी अथवा प्राणी हैं तो वे भी अपने उच्छृंखल मन, मलिन बुद्धि तथा बिखरे हुए चित्त के कारण से ही हैं। यहाँ तक कि यह उच्छृंखल मन ही महारोग, महाव्याधि, महाशोक–संताप तथा महासंशय को प्रकट करनेवाला है तथा यही सम्पूर्ण उत्पातों का मूल भी है। बाहर में जो भी गुण और दोष दिखाई पड़ रहे हैं, वह चंचल मन के कारण से ही तो!

अतः अपना उद्धार अपने–आप से ही करें; क्योंकि माता–पिता, भाई–बान्धव एवं बाल–बच्चे आपके उद्धारक नहीं हो सकते। पति के मन का उद्धारक पत्नी नहीं हो सकती और पत्नी के मन का उद्धारक पति नहीं हो सकता। उसीप्रकार मित्र परस्पर में एक–दूसरे के मन के उद्धारक नहीं हो सकते, ये सारे के सारे लोग बाधक हैं। कदाचित् आपने अपने मन का उद्धार कर लिया तो आप की शरण में जो आयेंगे उनके भी मन का आप उद्धार कर सकते हैं। आपको यह भ्रम हो गया है कि आप माता–पिता के साथ रहते हैं, बाल–बच्चों के साथ रहते हैं, आपको भ्रम हो गया है कि आप अपने स्वजनों के साथ रहते हैं। यही भ्रम आपके लिए महाकाल बनकर आपकी आत्मशक्ति और सामर्थ्य को खाये जा रहा है, यही भ्रम आपके योग, जप, तप यानी पुण्य को खाये जा रहा है, यही आपके श्रम को भी खाये जा रहा है। अन्ततोगत्वा शरीर छोड़ते समय यही भ्रम आपको खाता हुआ पुनः अगले जन्म में खाने के लिए काल बनकर खड़ा हो जाता है।

भगवान नारायण ने इस मंत्र के द्वारा भ्रातृभाव को ही छिन्न–भिन्न कर दिया है। सभी भ्रातृभाव में ही तो आत्मभाव को भूल गये हैं। स्वबन्धु, परिवारबन्धु, ग्रामबन्धु, क्षेत्रबन्धु, जातिबन्धु, देशबन्धु की भावना ने ही विकृत बन्धुत्व को जन्म दिया है, जो अपने–आपको पग–पग पर बाधा देता रहता है। प्रभु मानो कह रहे हैं कि हाथ में दीपक लेकर ही अन्धेरे में अपनी प्रिय वस्तु की खोज करनी पड़ती है। उसीप्रकार जीते हुए मन, बुद्धि, चित्त से ही अपने स्वरूप में स्थित हुआ जा सकता है। आत्मस्वरूप होकर तन, मन, वचन, हृदय पर सम्पूर्णता से अधिकार हो जाने पर कौन सा फल मिलता है, इसकी भगवान ने साधना अर्थात् ध्यानयोग की प्रस्तावना करने के पूर्व

ही घोषणा कर दी है क्योंकि फल को सुनकर आप सहज ही कर्म में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। अज्ञानी स्वर्ग की कामना से ही यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। बड़ी उत्सुकता रहती है स्वर्ग पाने की, इसलिए कि उन्होंने स्वर्ग के ऐश्वर्य, उसकी विभूतियों तथा वहाँ की सिद्धियों के चकाचौंध के विषय में विस्तार से सुन रखा है। अतः प्रभु ने जिस ध्यानयोग की परम्परा को देना चाहा है उस ध्यानयोग के फल की सिद्धि किसप्रकार होती है उसका व्यवहार क्या होता है? भगवान अब इसके विषय में बता रहे हैं–

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

हे पार्थ! सच पूछो तो जो भीतर–बाहर से सर्वथा शान्त मनवाला है, जितात्मा है, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान में सम है, ज्ञान–विज्ञान से तृप्त है, मायारहित एवं जितेन्द्रिय है तथा मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण में समान दृष्टिवाला है, उसे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई पड़ता है। इसलिए उसे उसके सब ओर से ब्रह्म ही घेरे रहता है। इतना ही नहीं वह सुहृदों में, उदासीनों में, मध्यस्थों में, वैरियों एवं भाई–बान्धवों में और साधु तथा असाधुओं में भी समान बुद्धिवाला होने से बुद्धिमानों में भी बुद्धिमान कहा जाता है।

जब आप अपने तन, मन, वचन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं सब ओर से अर्थात् भीतर–बाहर से आपका मन पूर्णतया शान्त हो जाता है, इन्द्रियाँ भी सम शान्त हो जाती हैं, बुद्धि अतिसूक्ष्म हो जाती है तब भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें, सब ओर ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई पड़ता है। तो क्या वैसी अवस्था में सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमानादि का बोध नहीं होगा? इसपर प्रभु कहते हैं– बोध तो होगा, किन्तु भगवान के रूप में। ऐसा प्रतीत होगा कि भगवान ही सर्दी–गर्मी बना हुआ है, भगवान ही सुख–दुःख बना हुआ है, भगवान ही मान–अपमान बनकर आया हुआ है। ब्रह्म को इसप्रकार सर्वत्र सर्वरूपों में देखने के उपरान्त ज्ञान–विज्ञान में सहज ही तृप्तता आ जाती है; क्योंकि फिर कुछ जानने की कामना शेष नहीं बचती। जैसे अपनी श्वासों को देखते हैं, जानते हैं, उसीप्रकार वेद–पुराण, शास्त्र, नानाप्रकार की साधनाएँ, नानाप्रकार की कलाएँ ब्रह्म की ही श्वास के रूप में दिखाई पड़ती हैं। अतः वह ज्ञान–विज्ञान से तृप्त हुआ पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होकर इन्द्रिय विजेता हुआ, पैसे में अर्थात् धन में और मिट्टी में, पत्थर में तथा सुवर्ण (सोने) में किञ्चित् मात्र भी भेद नहीं देखता, इसलिए वही पुरुष योगी एवं संन्यासी कहा जाता है। ऐसा पुरुष सुहृदों (जो बिना उपकार किये उपकार करता है) में, मित्रों में, उदासीनों (तटस्थ रहनेवालों) में, मध्यस्थों में, भाई–बान्धवों में और

साधु–असाधुओं में भी समबुद्धिवाला होता है अर्थात् ये भी उसे ब्रह्मरूप ही दिखाई पड़ते हैं।

(जितात्मनः प्रशान्तस्य.....समबुद्धिर्विशिष्यते) संस्कार अपनी जगह है, शरीर अपनी जगह और भगवान अपनी जगह है। संस्कार बहुत से जन्मों का एक स्रोत है जो इस शरीर को निमित्त बनाकर मित्र का काम करता है, वैरी का काम करता है, साधु का काम करता है, असाधु का काम करता है, पुण्यात्मा तथा पापात्मा का काम करता है, स्वजनों एवं पराये जनों का काम करता है, आदि–आदि। ये माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे उसी संस्कार के स्रोत हैं। कोई भी नहीं जानता कि यह शरीर कहाँ से प्रकट हुआ है, इसका स्रोत अर्थात् उद्गम कहाँ है। भगवती गंगा का स्रोत कोई भी नहीं जानता, संतों की बात अलग है। संत तो शरीर के संस्कारों तथा उसके उद्गम को भी देख लेते हैं। उन्हें इसप्रकार की ऐसी महत् दृष्टि प्राप्त हो जाती है। 'जितात्मनः प्रशान्तस्य'– वह जितेन्द्रिय साधक सत्त्व में स्थित होकर अर्थात् ब्रह्मरूप हुआ वेद–पुराण, शास्त्र आदि को बाहर ही छोड़ देता है, उसे पुनः उनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इतना ही नहीं, वह विजितात्मा अष्टसिद्धि एवं नवनिधियों से भी सम्पन्न हो त्रिलोकपति होता है अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप त्रिलोकी पर भी भली–भाँति शासन करता है। इतना ही नहीं, रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण भी उसकी आज्ञानुसार ही कर्म करते हैं, तभी तो वह योगी कहा जाता है। वह जड़ को चेतन एवं चेतन को जड़ बनाने की सामर्थ्य रखता है। वह सोने को मिट्टी और मिट्टी को सोना, सर्दी को गर्मी एवं गर्मी को सर्दी बनानेवाला, मान को अपमान तथा अपमान को मान बना देनेवाला, सुख को दुःख और दुःख को सुख बना देनेवाला, लाभ को हानि तथा हानि को लाभ में बदल देनेवाला साधक सदा–सर्वदा स्वयं से ही स्वयं में सन्तुष्ट रहता है। इतना ही नहीं, वह सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में, यहाँ तक कि सुहृदों, मित्रों, भाई–बान्धवों, पापी–पुण्यात्माओं आदि में भी एक ब्रह्म की ही सत्ता–सामर्थ्य को देखता है।

एक अति रोचक घटना है– अगस्त्य ऋषि ने श्रीराम प्रभु को दिव्यास्त्र दिये, जो गुप्तचरों द्वारा रावण को ज्ञात हो गया। रावण ने कहा– 'ऋषि–मुनियों को दिव्यास्त्रों की क्या आवश्यकता है? इससे सिद्ध होता है कि साधु–सन्त के वेष में ये हिंसक प्राणी हैं। ये यदि सच्चे अर्थों में साधु–सन्त होते तो मुझमें और राम में भेद क्यों करते? अतः विजयोपरान्त सर्वप्रथम इन्हीं लोगों को मैं ठिकाने लगाऊँगा।'

इसप्रकार कभी साधु का दिव्य व्यवहार भी असाधु जैसा और असाधु का अदिव्य व्यवहार भी साधु जैसा दिखाई पड़ने से दोष–दर्शन होना स्वाभाविक है। आज का चोर–डकैत एवं राक्षस रत्नाकर कल का वाल्मीकि नामक महर्षि हो सकता है तथा गणिका–अजामिल जैसे असाधु भी कल को ईश्वर भक्त हो सकते हैं। उसी तरह आज की माता कल की कुमाता कैकेयी हो सकती है और आज का पिता कल का हिरण्यकशिपु बन सकता है। अतः प्रभु ने चेतावनी भी दी है कि साधक भेद बुद्धि का आश्रय न ले; क्योंकि सुहृद, मित्र, भाई–बान्धव, पापी–पुण्यात्मा आदि भी ब्रह्म प्रकृति के अंग–उपांग ही हैं। इसलिए किस अंग से वह क्या कर रहा है, यह देखने का अधिकार उस ब्रह्म ने आपको नहीं दिया है।

(सुहृन्मित्रार्युदासीन.....) इस मंत्र में सर्वप्रथम सुहृद का स्मरण किया गया है फिर मित्रों का, उसके उपरान्त क्रमशः उदासीन, मध्यस्थ आदि का। इसलिए कि सुहृद तो एकमात्र संत एवं सद्गुरु ही हैं, जो बिना कुछ लिए अपने सहित भगवान को भी दे देते हैं, जबकि मित्र उपकार का बदला उपकार से चुकाता है। भाई–बान्धवों, पापी–पुण्यात्माओं की परिभाषा आप जानते ही हैं। (साधुष्वपि च पापेषु.....) यहाँ साधु शब्द का अर्थ साधक से लेना चाहिये। साधु शब्द का अर्थ सज्जन से भी लेना चाहिए; क्योंकि गृहस्थाश्रम में भी बहुत से सज्जन पाये जाते हैं, जबकि भगवत् कामना उनमें नहीं पायी जाती लेकिन व्यवहार उनका साधुओं जैसा देखा जाता है। इसप्रकार इन सबमें वह एक ही भगवान को देखता–फिरता है।

(सुहृन्मित्रार्युदासीन.....) सबको भगवान के रूप में देखना– यह कर्म नहीं है बल्कि जीवभाव का त्याग है। ये सुहृद हैं, मित्र हैं और ये ब्रह्म हैं अथवा ब्रह्म के अंग हैं– ये दो बातें हैं। तो सुहृद मित्रादि भाव ही तो त्यागा आपने, रूप तो वही रहा और उस रूप का कर्म भी वही रहा; किन्तु आप वही नहीं रहे, बल्कि ब्रह्मभाव को ग्रहण कर लिये, जो क्रिया नहीं है। सुहृद–मित्र, भाई–बान्धव आदि मानना कर्म का फल है और उन्हें ब्रह्म या ब्रह्म का अंग मानना कर्मफल का त्याग है। भगवान ने जहाँ पाँचवें अध्यायानुसार "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि" कहा है, वहीं इस अध्याय में "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्यबन्धुषु" कहा है। अर्थात् पाँचवें अध्याय में ब्राह्मण, कुत्ता, गाय, चाण्डाल में एक ही आत्मा है, इसे समदर्शन कहते हैं और इस मंत्र द्वारा एकमात्र मनुष्यवर्ग में सुहृद, मित्र, उदासीन आदि का ही नाम लेते हैं, जबकि दोनों मंत्रों में लगभग एक ही बात झलक रही है, इसका क्या कारण है? हाँ; महात्मा अर्जुन ने प्रभु के सिद्धान्त को पाँचवें अध्याय तक भी स्वीकार नहीं किया है, अतः वे देख रहे हैं कि सर्वप्रथम इसके मन को मनुष्यवर्ग से ही उपराम किया जाय अर्थात् मनुष्यभाव से, माता–पिता, भाई–बान्धवभाव से, सुहृद–मित्र, उदासीनभाव से, पापी–पुण्यात्माभाव से, और जब इनमें भगवद्दर्शन होने लगेगा तो सहज ही सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति हो जायेगी। एक बात और जान लेनी चाहिए कि ध्यान में विचार स्वजनों, परजनों, पापात्माओं एवं पुण्यात्माओं के प्रति ही आते हैं, न कि पशु–पक्षी, कीट–पतिंगों के प्रति, इसलिए भी ऐसा कहना समयानुसार अति महत्त्व का है। ध्यानयोग के अन्तर्गत इन स्वरूपों की याद आने पर इनके प्रति ब्रह्मभावना हो जाने पर मन में भगवत्ता प्रशस्त होती है, प्रकट भी होती है। आद्यगुरु शंकराचार्य ने तो अपने अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ में यहाँ तक कह दिया है कि बिना ब्रह्मचिन्तन के ठूँठे पेड़ की तरह कोई बैठा है तो उससे तो श्रेष्ठ पेड़ ही है जो समयानुसार फलता–फूलता तो है? राजा जनक ने तो गुरुदेव के कहने से घर में ही बाल–बच्चों सहित प्रजा को ब्रह्मरूप में देखना प्रारम्भ कर दिया। शरीर सिंहासन पर; किन्तु मन ब्रह्मभावना पर बैठा हुआ है। भगवान द्वारिकाधीश जो भक्तों के क्या, सबके ईश्वर हैं, चाहे कोई स्वीकार करे या न करे; किन्तु उनकी निर्मोहता और भक्तों के प्रति अनासक्ति, निर्ममता देखते ही बनती है। वे संकेत करते हैं कि ब्रह्मभावना से भावित चित्त से यदि आप ध्यान में बैठते हैं तो भी सिद्धियों के चक्रव्यूह में फँसने की संभावना बनी रहती है। महाराज स्वयं पहले यही जानता था कि अष्ट–सिद्धियाँ एवं नव–निधियाँ ही सिद्धि हैं, लेकिन

अध्याय बारह में मंत्र १३ से १६ तक की सिद्धि तथा इस अध्याय के इन तीन मंत्रों (७ से ६) की सिद्धि देखी तो आश्चर्यचकित होकर रह गया। भगवान अष्टसिद्धि–नवनिधि को इस गीताशास्त्र में असिद्धि कहते हैं, जबतक कि आपको परम सिद्धि नहीं मिल जाती।

एक शिष्य ने किसी को शाप दे दिया। सद्गुरु को पता चला तो उन्होंने कहा– शाप क्यों दिया तूने? इससे तो यह सिद्ध होता है कि तुम समर्पण का मात्र ढोंग कर रहे हो? जब सम्पूर्ण जप, तप, योग को समर्पित कर ही देते हो तो संकल्प–शक्ति तुम्हारी तो मानी नहीं जायेगी, वह तो ब्रह्मप्रसाद है, जिसके द्वारा तुम भविष्य में सबमें भगवद्दर्शन कर सकोगे? तुमने क्रोधित होकर शाप दे दिया और कुत्ते ने क्रोधित होकर काट खाया, तो तुम्हारे 'मैं' में और उसके 'मैं' में क्या अन्तर है? तुम्हारे व्यवहार में और उसके व्यवहार में क्या अन्तर है? हाँ, जब तुम अपने स्वरूप में भली–भाँति प्रतिष्ठित हो जाओगे तो उस समय चाहे तुम शाप दो या वरदान, मैं ही क्या भगवान भी कुछ तुम्हें कहने नहीं आयेगा।

१६७६ में महाराज ने देखा– एक व्यक्ति एक साधक के सामने चारपाई पर बैठा रह गया। साधक ने एकटक उसे इस भाँति देखा मानो वह उसे भस्म कर देगा। साधक के एक भक्त ने उस स्थिति को भाँप लिया और कहा– गुरुदेव! ये आगन्तुक हैं, आपको नहीं पहचान रहे हैं। यह सुनकर साधक शान्त तो हो गया किन्तु उसे अपने हृदय पर अति क्षोभ हो गया कि इतने सालों से तपस्या का यही फल है कि कोई अपने सामने चारपाई पर बैठा रह जाय तो वह महा अपराधी हो जायेगा? इससे सिद्ध होता है कि मैं कर्मफल की चाहना से ही तप कर रहा हूँ, मान–सम्मान, पद–प्रतिष्ठा की चाहना से ही जप, तप, योग कर रहा हूँ। ऐसा सोचकर वह सबमें भगवद्दर्शनरूप सिद्धि को प्राप्त करने के उद्देश्य से बहुत दूर एकान्त देश में चला गया और सबमें समदर्शनरूप सिद्धि को लेकर लौटा।

इस घटना से सिद्ध है कि न तो उसे अपनी सकामता का पता था और न ही यह भाव था कि सद्गुरु की आज्ञा ही मेरे शरीर, मन, वचन से जप, तप, योग कर रही है। यदि यह शरीर गुरुदेव का है तो अहंकार किस बात का? कैसा मान कैसा अपमान? अतः सद्गुरु को आगे करके कर्म करना उनकी आज्ञा से ही किसी स्वजन को या पराये को प्रताड़ित या प्यार करना। आप नहीं देखते कि प्रभु की आज्ञा से स्वजन वध भी महात्मा अर्जुन के लिए ब्रह्मज्ञान देनेवाला साधन बन जाता है!

(सुहृन्मित्रार्युदासीन.....) इधर युद्धभूमि में भगवान विनोद भी कर रहे हैं कि हे पार्थ! इस समय धृतराष्ट्र भी मेरे ही विषय में सोच रहे हैं कि जब मेरा पुत्र अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता तो मधुसूदन का अपना क्या स्वार्थ सिद्ध हो रहा है कि ये युद्ध कराने पर तुले हुए हैं? इन्हें तो समदृष्टिवाला ही रहना चाहिए। बात तो कर रहे हैं समदृष्टि की और व्यवहार कर रहे हैं विषमदृष्टि का। मेरा पुत्र दुर्योधन तो सर्वप्रथम इन्हें ही माँगने गया था, फिर इन्होंने वहाँ समव्यवहार क्यों नहीं किया? हे पार्थ! वे यह नहीं जानते कि समदृष्टि, समभाव और समव्यवहार में आकाश–पाताल का सा अन्तर है। तो ऐसी विशिष्ट पारमार्थिक बुद्धि की प्राप्ति के लिए क्या

करना चाहिए, इसे सुनो–

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

सम्पूर्ण कामनाओं से रहित, सबसे अनासक्त मनवाला, कल की चिन्ता न करता हुआ अपरिग्रही साधक बहुत दूर एकान्त देश में सदा–सर्वदा अकेले रहता हुआ, पवित्र भूमि में जो न नीची एवं ऊँची हो उसपर कुशा, मृगछाला, कम्बल आदि बिछाकर सिद्धासन, पद्मासनादि किसी एक आसन में स्थिर बैठकर मन, बुद्धि, चित्त की क्रियाओं को न करता हुआ, स्मृति (मन) को अभीष्ट लक्ष्य में केन्द्रित करता हुआ चित्तशुद्धि के निमित्त ध्यानयोग का अभ्यास करे। उसकी विधि है कि सिर, ग्रीवा (गर्दन) एवं शरीर सीधी रेखा में सम शान्त (अचल) स्थिर हो तथा नासिकाग्र पर दृष्टि हो, अन्य दिशाओं की तरफ उसकी गति न हो। इसप्रकार भयरहित हुआ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित होकर अच्छीप्रकार से शान्त अन्तःकरणवाला मेरे परायण हुआ मेरे में ही मन को लगावे। इसप्रकार संकल्पवत् मन से सदा मेरे ही ध्यान में रहनेवाला योगी (साधक) शीघ्रातिशीघ्र मेरे में रहनेवाली परम निर्वाण एवं परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

उस ध्यानयोगी को एकान्त स्थान के लिए दूर देश में चले जाना चाहिए, जहाँ उसके भाई–बान्धव एवं परिचित न पहुँच सकें, उसे लगे कि वहाँ उसका नया जन्म हुआ है। वहाँ भी पर्वत या वनप्रदेश या नदी का तट हो, जहाँ से गाँव बहुत दूर हों। वहाँ वह अकेले वास करे। सतत का तात्पर्य दिन–रात अकेले रहे। (.....निराशीरपरिग्रहः) वहाँ साथ में आमलोगों की तो बात ही क्या है, भगवद्भक्तों को भी न रखे। वहाँ पर पापियों से द्वेष न करे; क्योंकि चाहे जितना पवित्र देश हो वहाँ पर सौ में पाँच तो पापात्मा रहेंगे ही रहेंगे तथा जहाँ पंचानबे पुण्यात्मा हैं, उनसे प्रेम न करे। (निराशीः.....) जब वह किसी की चाहना करता है, तभी चाहना करनेवाले उसे

चारों तरफ से घेर लेते हैं। जब वह किसी की चाहना नहीं करेगा तो भगवान उसकी चाहना करने लगता है। जब उसके पास किसी को नहीं रखने का, अपने पास नहीं आने देने का निर्मल तथा दृढ़संकल्प होता है तो उस अवस्था में कोई भी उसके पास फटक नहीं पाता अर्थात् आने का साहस नहीं करता।

(योगी युञ्जीत सततम्.....) भगवान के योगी, संन्यासी, भक्त आदि शब्द पर्यायवाची हैं। मंत्र में किसी भी पर्यायवाची शब्द को रखा जाता है, ऐसी परम्परा है। इन मंत्रों का पहले संन्यासाश्रमी साधकों के लिए अर्थ किया जा रहा है। वहाँ उस एकान्तप्रदेश में साधक को चाहिये कि अपने हाथों से भूमि को समतल करे, किसी भी भाग में किंचिन्मात्र भी ऊँची–नीची न हो, उसे गोबर और मिट्टी से लेप करके उसपर कुशा बिछाकर ऊन का वस्त्र अर्थात् कम्बल बिछावे। कम्बल को सात–आठ परत कर दे जिससे वह पर्याप्त मोटा हो जाय, जिसपर सिद्धासन, पद्मासन एवं स्वस्तिकासन आदि आसन लगाने में परेशानी न हो। वह इन तीन आसनों में से चाहे जिस आसन से भी बैठे किन्तु मेरुदंड को सीधा रखे जिससे छाती, ग्रीवा तथा सिर सरल (सीधी) रेखा में गमन करें। हाथों की स्थिति ज्ञानमुद्रा में हो, ओठ बंद हों, दाँत खुले हों, जिह्वा दोनों तालुओं के मध्य में हो, नेत्र अधखुले हों अर्थात् अर्धसाम्भवी मुद्रा में हों तथा मन को नासिकाग्र अर्थात् भृकुटि में स्थापित करे। (नासिकाग्र का आशय नाक के निचले उठे हुऐ हिस्से से कदापि न लें क्योंकि वास्तव में नासिकाग्र भृकुटि को ही कहते हैं, जिसे भ्रूमध्य भी कहते हैं। चूँकि नाक यहीं से प्रारम्भ होती है, अतः इसे नासिकाग्र भी कहते हैं।) और ऊपर–नीचे, दायें–बायें यानी अन्य दिशाओं को न देखे। शरीर को ऊर्ध्वगामी दिशा में इसलिए रखे; क्योंकि वह अधोगामी दिशा को प्राप्त हो गया है। जब शरीर झुका रहता है तो उसमें शिथिलता प्रकट हो जाती है। वैसी अवस्था में तामस एवं राजस वृत्तियाँ स्वतः प्रकट हो जाती हैं अर्थात् आलस, नींद, प्रमादरूप धारा के प्रवाह के साथ–साथ राजस विचारों का ताँता लग जाता है। ठीक इसके विपरीत जब शरीर सीधी रेखा में गमन करता है तब सात्त्विक वृत्ति की धारा प्रवाहित हो ही जाती है अर्थात् सम–शान्तता, निर्विचारता, निर्विकल्पता की स्थिति सहज ही प्राप्त हो जाती है। इसलिए प्रभु ने कहा कि न खड़े होकर, न लेटकर, न चलकर, न ढीला होकर ही ध्यान के लिए बैठना लेकिन साधक अपनी प्रकृति को भली–भाँति जाँचकर आसनों के विपरीत आसनों में भी शरीर को एक दिशा देकर ध्यान करते हैं। जिस साधक के शरीर में तमोगुण की मात्रा विशेष है, उसे खड़े होकर ध्यान करने में कोई आपत्ति नहीं है। उसके उपरान्त मन, बुद्धि, चित्त से अच्छीप्रकार अनासक्त हुआ साधक निर्भय होकर ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहे। इसप्रकार प्रभु के ही आश्रित होकर अर्थात् सद्गुरु के आश्रित होकर सम शान्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा में मन को स्थिर करे। इसप्रकार संयमित मन के द्वारा सदा अपने स्वरूप का ध्यान करता हुआ प्रभु में स्थित परम निर्वाण एवं परम शान्ति को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर जाता है। लेकिन

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

जिस ध्यानयोग के द्वारा परम निर्वाण प्राप्त करने की बात प्रभु ने की है, वह ध्यानयोग न अति अल्पमात्रा में खा–पी एवं सोकर न अधिक मात्रा में खा–पी और सोकर ही सिद्ध होता है तथा न बहुत कर्म करते हुए ही और न बहुत कम कर्म करते हुए ही सिद्ध होता है बल्कि जिसके उपरोक्त विषय संयमित होते हैं उसी को यह परम लाभ प्राप्त होता है।

(प्रशान्तात्मा.....ब्रह्मचारिव्रते स्थितः) इस मंत्र में 'विगतभीः' पद बड़ा महत्त्व का है। अर्थात् वह योगी एकान्त में निर्भय होकर विचरण करे। भय का कारण इसलिए नहीं है कि सद्गुरु के शरणागत है, मन ब्रह्म में ही लगा हुआ है तथा ब्रह्मचर्यव्रत का दृढ़ता के साथ पालन कर रहा है। ब्रह्मचर्यव्रत का मूल है सद्गुरु की आज्ञा में रहना और आज्ञा में रहते हुए ब्रह्मचर्य के आठ अंगों का पालन करना। वे ब्रह्मचर्य के आठ अंग निम्न हैं–

१. किसी स्त्री का किसी अवस्था में भी स्मरण न करना।

२. उसके रूप और गुणों का वर्णन न करना, स्त्री सम्बन्धी चर्चा न करना, गीत न गाना, शृंगाररस के ग्रन्थों को न पढ़ना आदि।

३. स्त्रियों के साथ ताश, चौपड़ आदि न खेलना।

४. स्त्रियों को बुरीदृष्टि से न देखना।

५. स्त्री से एकान्त में बातें न करना।

६. स्त्री को प्राप्त करने के लिए मन में संकल्प न करना।

७. स्त्री की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना और

८. उसके साथ सम्बन्ध न करना।

मनुस्मृति के द्वारा भी ब्रह्मचारी के बाह्य नियमों के पालन को देखें–

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरूपानच्छत्रधारणम्।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः।।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत।।

(मनुस्मृति २।१७५–१८१)

सद्गुरु की अध्यक्षता में रहनेवाला ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रखकर संध्या में निश्चित ही ध्यान करे। शहद, मांस, चन्दन, इत्र, तेल, फुलेल का त्याग कर दे। स्त्रियों तथा सबप्रकार के आसवों (आयुर्वेदिक आसव) का तथा प्राणियों की हिंसा का सर्वथा त्याग कर दे। शरीर में तेल का मर्दन न करे, आँखों में सुरमा न डाले, जूता न पहने, छाता न रखे, काम, क्रोध, लोभ को त्याग दे, नृत्य न करे, गीत न गावे, बाजा न बजावे, जूआ न खेले, गप–शप न करे, निन्दा न करे, झूठ न बोले, स्त्री को न देखे न स्पर्श करे, सर्वत्र अकेला सोए, वीर्यपात न करे। यदि अनिच्छा से स्वप्न में वीर्यपात हो जाये तो उसी समय स्नान कर ध्यान करे, इत्यादि इत्यादि।

(योगी युञ्जीत सततम्.....) जिस योगी का सद्गुरु ही एकान्त देश है, ऐसे ब्रह्मचारी योगी को आरुणि, उपमन्यु, सत्यकाम एवं लक्ष्मण जैसे ब्रह्मचारियों को अपना आदर्श बनाना चाहिये। उन्हीं की रहनी–सहनी, कथनी–करनी को लेकर सद्गुरु की अध्यक्षता में ध्यानयोग का सम्पादन करना चाहिये। प्रभु ने इन मंत्रों में सर्वप्रथम बाह्य साधनों की बात की है; क्योंकि ध्यानयोग के बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के साधन हैं। उनमें से कोई एक भी साधन नहीं है तो ध्यानयोगी सफल नहीं हो पायेगा। जैसे रोटी पकाने के लिए जल, आग, ईंधन में से एक ही न रहे तो रोटी नहीं पक सकती, उसीप्रकार यदि कोई आत्मजिज्ञासु है और उसे सद्गुरु की अध्यक्षता मिल गयी है किन्तु ब्रह्मचर्य के अंगों में से कोई एक ही अंग न हो तो सफलता नहीं मिल सकती। सद्गुरु की अध्यक्षता में रहने के उपरान्त भी मैत्री होने की सम्भावना बनी रहती है; क्योंकि वहाँ भी तो सजातीय वृत्तियाँ रहती ही हैं। सद्गुरु के भक्त भी वहाँ आते हैं, उनकी आवभगत भी समयानुसार करनी पड़ सकती है, तो कहीं उनके प्रति अपनत्व की भावना न हो जाय, इसके लिए सजगता की विशेष आवश्यकता होती है; क्योंकि वे भक्त उच्चकोटि के साधक के तप–तेज को देखकर उसके प्रति आकर्षित होते ही हैं। कहीं ऐसा भाव न हो जाय कि ये हमारे को बहुत आदर दे रहे हैं, अतः उस आदर–सम्मान को अपना न मानकर सद्गुरु का ही माने और मान–सम्मान में न फँसे। उनसे अनासक्त रहे, समाचार भी न करे कि आप कैसे हैं? आपके बाल–बच्चे कैसे हैं? इत्यादि, इत्यादि। इसके लिए थोड़ी सी कीमत चुकानी पड़ेगी कि वे उस साधक को मान–सम्मान के साथ जो धनदान भी दे सकते थे, जिससे उसके लिये परिग्रह

करने की भी सम्भावना हो सकती थी अब वह नहीं होगी और वह साधक के हित में ही तो होगा! यदि औपचारिकता से भी कुशलक्षेम पूछा तो साधक मन से तो उन भक्तों के घर में प्रवेश कर ही जाता है। ऐसा होने पर मन उन भक्तों के घर से उनके कुछ दूषित संस्कारों को लेकर अवश्य आयेगा। ऐसा नियम है कि वेश्या के मुहल्ले में जब मन जाता है तो काम लेकर आता है, वैरी के घर में मन प्रवेश करता है तो क्रोध एवं द्वेष लेकर आता है, इसलिए साधक सदा सावधान रहे।

प्रभु श्रीराम ही जिसके सद्गुरु होते हैं, वैसे ब्रह्मचारी लक्ष्मण ने अपनी पवित्र भूमि चित्रकूट में भक्त भरत को भी अपने पास फटकने नहीं दिया है, प्रवेश नहीं करने दिया है। यही नहीं, भगवती माँ सुमित्रा को भी उसने प्रवेश नहीं दिया है, अयोध्या के लोगों की तो बात ही क्या? उस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य के नियमों का ऐसा घेरा बनाया कि महात्मा भरत, शत्रुघ्न, और सुमित्रा भी उसे तोड़ नहीं पाये अर्थात् एकान्त में मिलकर उन्हें समाचार करने का अवसर भी नहीं दिया। यहाँ तक कि प्रभु श्रीराम के द्वारा भेजने के उपरान्त भी जहाँ सारी माताएँ हैं, वहाँ से प्रणाम करके चला आया, उर्मिला की तरफ तो देखा भी नहीं। उसे इन सबसे भय है कि किसी से मोह हो सकता है तो किसी से काम। इसलिए प्रभु ने कहा– 'विगतभीः' अर्थात् ब्रह्मचारीयोगी यदि अपने नियमों में रहता है तो अभय हो जाता है, जगत एक तरफ और वह एक तरफ होता है। बहुत से साधक औपचारिकता निभाने में ही असफल होते देखे जाते हैं। जिसप्रकार भगवान वज्र से भी कठोर हैं और फूल से भी कोमल, उसीप्रकार साधना काल में साधक का हृदय वज्र से भी कठोर होना चाहिये। सद्गुरु को जीव नहीं कह सकते, किन्तु जीव (विषयी) तथा साधक एवं सिद्ध उनके पास रहते हैं लेकिन वह ब्रह्मचारीयोगी सबके बीच में अकेला होता है। (निराशीरपरिग्रहः. ....) वस्त्र भी शरीर पर उतना ही रखे जितने में काम चल जाय। सर्दी–गर्मी और बरसात के उत्पात से घबराये नहीं, तप से तो शरीर निर्दोष होता ही है; और निर्दोष भगवान के लिए शरीर भी तो निर्दोष ही चाहिए। भगवान निर्वस्त्री है, अतः साधक निर्वस्त्री होकर रहे। मर्यादा के लिए ही वस्त्र पहने, न कि शृंगार एवं सुख के लिए। भगवान निर्गुणी है, एकाकी है, सबके हृदय में रहता है लेकिन किसी के गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होता, वैसे ही साधक सबके बीच रहे लेकिन किसी के गुण–दोषों को न देखे।

(प्रशान्तात्मा विगतभीः.....) वह योगी किसी से भी भयभीत न होवे; क्योंकि किसी के द्वारा भी अपना संस्कार ही सुख–दुःख का हेतु होता है। प्रारब्धवश ही अष्टावक्र गुरु आश्रम से निष्कासित किये गये, उपमन्यु का गुरु आश्रम में भोजन बन्द कर दिया गया, किन्तु उन सद्शिष्यों ने कभी भी उनमें दोष–दर्शन नहीं किया, न उन शिष्यों ने गुरुदेव से शिकायत ही की। वह दृढ़ता से ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित साधक गुरु आश्रम में रहनेवाले अन्य शिष्यों को भी सद्गुरु का ही अंग माने। सुना जाता है कि भगवती सीता जबतक रावण के हृदय में वास कर रही थीं तबतक प्रभु श्रीराम ने भी उसके हृदय पर आघात नहीं किया, फिर शिष्यों के हृदय में तो गुरुदेव सदैव विराजमान रहते ही हैं, अतः उनसबसे द्वेष करने का तात्पर्य गुरुदेव से ही द्वेष करना माना जायेगा।

साधक को सद्‌गुरु के पास कितना सजग होना होता है यह जितेन्द्रिय लक्ष्मण के चरित्र से जानना चाहिए। उनके पास भी उनका प्रारब्ध शूर्पणखा बनकर आ गया था। यद्यपि प्रभु श्रीराम ने ही लक्ष्मण के पास उसे भेजा था; क्योंकि नैष्ठिक ब्रह्मचारी के पास माया भी बिना भगवान की प्रेरणा के नहीं जा सकती, लेकिन लक्ष्मण ने यह जानकर भी कि प्रभु श्रीराम ने ही इसे मेरे लिए भेजा है, उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। सदैव सजग रहनेवाले लक्ष्मण प्रभु की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, जिसका परिणाम हुआ कि आत्मज्ञान पाया। सद्‌गुरु भी साधक की परीक्षा हेतु ऐश्वर्य दे सकता है अर्थात् कंचन, कामिनी और कीर्ति दे सकता है लेकिन साधकों को उसे विनम्रता पूर्वक अस्वीकार करने का ही अधिकार है। ब्रह्मजिज्ञासु महात्मा भरत के सामने भरद्वाज ऋषि ने दिव्य सिद्धियों, विभूतियों एवं ऐश्वर्यों की बरसात कर दी; किन्तु उन्होंने उनकी ओर देखा तक नहीं।

(समं कायशिरोग्रीवं.....) शरीर को सम, शान्त, सीधी रेखा में तो रखें लेकिन इतना तने भी नहीं घोड़े की तरह– यह ब्रह्मचारी का बहिरंग साधन है। वह साधक पलंग पर न बैठे, भले ही लकड़ी का ही पलंग क्यों न हो। आजकल साधक लकड़ी का तख्त बनवाते हैं, इसलिए कि ध्यानावस्था में साँप और बिच्छू शरीर पर न बैठ जाएँ। इसी से तो भगवान ने कहा जब ब्रह्मचारी अपने चारों तरफ ब्रह्म रेखा खींच देता है तो उस रेखा के अन्दर आनेवाला कोई भी हिंसक प्राणी अहिंसक हो जायेगा। ब्रह्म रेखा का तात्पर्य है कि सद्‌गुरु की अध्यक्षता में उसी की आज्ञानुसार चल रहा है तो अपने–आप से शरीर को अलग करने के लिए इसे स्थिर करना होगा। जिसप्रकार मकान के स्थिर होने से पुरुष उसमें आते–जाते हैं, उसीप्रकार सम शान्त एवं स्थिर बैठे हुए शरीर के भीतर–बाहर योगी सुगमता से आ–जा सकता है। यही नहीं, इस दिव्य शरीररूपी महल के चिदाकाश में भगवान बैठा हुआ है अर्थात् अपना मूल केन्द्र है; अतः ब्रह्म रेखा में रहने पर उस केन्द्र में प्रवेश किया जा सकता है अथवा इस शरीर को छोड़कर मन के द्वारा वह साधक बाह्य चिदाकाश में प्रवेश कर सकता है; क्योंकि बाह्य चिदाकाश में भी भगवान उतना ही है जितना कि भीतर। ब्रह्म तो सर्वत्र है, यद्यपि उसका सम्बन्ध इस शरीर से नहीं है, फिर भी भ्रम हो ही गया है तो वह साधक कर भी क्या सकता है? इसलिए इस सूत्र के द्वारा उस संशय का निवारण तो करना ही होगा। अतः इस शरीर को भली–भाँति आसन लगाकर जमा दे और पन्द्रह दिन में पाँच मिनट आसन को बढ़ा दे। पाँवसहित शरीर में दर्द होगा, उस दर्द को सहन करे। आधा घण्टा आराम से शरीर बिना हिले–डुले बैठ जाता है तो पाँच मिनट परेशानी से उसे बैठाकर रखे। इसप्रकार प्रत्येक प्रन्द्रह दिन में पाँच मिनट बढ़ाता हुआ वह साधक दो–तीन साल में ही बिना हिले–डुले पत्थर की चट्टान की तरह शरीर को तीन–चार घण्टे बैठाकर रख सकता है। जब चार घण्टे शरीर स्थिर बैठा रह जाय तो बैठते ही संकल्प करे कि आज बिना हिले–डुले मेरा शरीर सवा चार घण्टे बैठा रह जाय, तो ठीक सवा चार घण्टे के उपरान्त ही पाँव और पीठ में दर्द की अनुभूति होगी। इसप्रकार दस दिन में आधा घण्टा का संकल्प करता हुआ कुछ ही महीनों में बारह घण्टे, पन्द्रह घण्टे शरीर को संकल्पवत् बैठाया जा सकता है। यदि साधक शरीर को सुबह पाँच बजे बैठाकर संकल्प कर दे कि आज आसन पन्द्रह घण्टे जमा रह जाय

तो रात्रि को आठ बजे ही शरीर में स्पन्दनशीलता आयेगी। उसीप्रकार यदि रात्रि में ही ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहता है तो शाम छः बजे से नौ बजे, दस बजे, बारह बजे, दो बजे तक शरीर को संकल्पवत् बैठाता हुआ शाम से सवेरे तक सुखपूर्वक शरीर को बैठा सकता है। इसप्रकार उसे भले ध्यान लगे या न लगे लेकिन उसको एक सिद्धि तो मिल ही जायेगी कि शरीर उसके कहने में हो जायेगा। जब शरीर उसके कहने में हो जाय तब दूसरा प्रयोग करे कि आज एक घण्टा मेरे चित्त से मानसपटल पर विचार न आवें, तो विचार मन को उद्वेलित नहीं करेंगे। इसीप्रकार विचारों को भी संकल्प से स्तम्भित कर दिया जाता है अर्थात् रोक दिया जाता है। नींद भी उसी क्रम से अपने वश में होती है। साधक सर्वप्रथम सालभर तक पाँच घण्टे सोये प्रत्येक पन्द्रह दिन में पाँच मिनट कम करता हुआ तीन साल में दो घण्टे में ही नींद को पूरा कर लेगा। यही नहीं, वह अपने लिए सिद्ध ही हो जायेगी। जब चाहा तब आयेगी और जितना चाहेगा उतनी ही देर आयेगी। जब उसका बहिरंग साधन सम्पन्न हो जाय तो अन्तरंग साधन के लिए प्रयत्न करे। वह कैसे–

(सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं.....) अन्य दिशाओं में न देखकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ अपनी आत्मा को परमात्मा में केन्द्रित करें। यहीं से ध्यानयोग प्रारम्भ किया जाता है–

स्थूल भाषा में नासिका का अग्रभाग तो भृकुटि है; किन्तु यहाँ प्राकृतयोग अर्थात् अष्टांगयोग के ध्यानयोग की बात नहीं की गयी है। यह भगवान द्वारा वर्णित दिव्य ध्यानयोग है। इसलिए नासिका के अग्रभाग एवं अन्य दिशाओं को भी समझना होगा कि वे सब क्या हैं? मैं अमुक जातिवाला हूँ, यह भावना ही अपनी नाक है। इस अहंकार को स्वीकार किये रहना ही अन्य दिशाओं की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं सिद्ध या साधक हूँ, यह भावना ही अपनी नाक है, इस भाव को न त्यागना ही अन्य दिशाओं को देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं जप, तप, योग कर रहा हूँ, यह भावना ही अपनी नाक है, इस अहंकार को न त्यागना ही अन्य दिशाओं की ओर देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं अमुक गाँव, नगर एवं क्षेत्र तथा प्रदेशवाला हूँ, यह भावना ही अपनी नाक है, इस भावना को न त्यागना ही अन्य दिशाओं की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही इस नासिका का अग्रभाग है। मैं अमुक देशवाला हूँ, यह भाव ही अपनी नाक है, इस भाव का त्याग न करना ही अन्य दिशा की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं उत्तम कुल और परिवारवाला हूँ, यही नासिका है इस क्षुद्रभाव को न त्यागना ही अन्यदिशा की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं बड़ा कुटुम्बवान तथा बड़ा धनवान हूँ, मेरे जैसा कोई दूसरा है ही नहीं, यह क्षुद्रभाव ही नाक है, इस क्षुद्रभाव को धारण किये रहना ही अन्य दिशाओं की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। मैं बहुत बड़ी प्रतिष्ठावाला हूँ, यह क्षुद्र भावना ही नाक है, इसको बचाये रखने का यत्न करते रहना ही अन्य दिशाओं की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। ये मेरे माता–पिता, भाई–बान्धव एवं बाल–बच्चे हैं, यह द्वैत भाव ही नाक है, इसको न त्यागना ही अन्य दिशा की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका

का अग्रभाग है। 'मैं' और 'मेरा', 'तू' और 'तेरा' यह शरीरगत भाव ही नाक है, अहर्निश इसी में लगे रहना ही अन्य दिशाओं की तरफ देखना है तथा आत्मचिन्तन ही नासिका का अग्रभाग है। इसप्रकार नासिका के अग्रभाग (आत्मस्वरूप) का चिन्तन करता हुआ योगी अपने शुद्ध, साक्षी, सम शान्त सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करे। (प्रशान्तात्मा.....मनः संयम्य मच्चित्तो.....युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः.....) शरीर, मन, बुद्धि से अच्छी प्रकार अनासक्त हुआ वह उपद्रष्टारूप होवे, यही उसका ब्रह्म में अपने चित्त को देना है, स्थिर करना है। इस द्रष्टापना की स्थिति के लिए प्रयत्न करना ही उपकर्ता होना है। प्रथमावस्था में वह उपकर्ता और उपद्रष्टा होता है तथा द्वितीयावस्था में वही महाकर्ता और महाद्रष्टा (परम द्रष्टा) कहलाता है। वह उपकर्ता और उपद्रष्टा कैसे होवे इसके विषय में चिन्तन देखें– सर्वप्रथम मैं एक ही था; किन्तु अज्ञानात्मक दृष्टि को धारणकर, शरीर को अपना स्वरूप मानकर दो हो गया, मातृ–पितृभाव को स्वीकार कर तीन–चाररूपों में हो गया, शादी–विवाह रचाकर बाल–बच्चों एवं अन्य स्वजनोंसहित अनेक हो गया। अब अनेक से एक हो रहा हूँ; क्योंकि न मैं शरीर हूँ, न मेरा मन है, न मेरी बुद्धि है, न मेरा चित्त है, न मेरा अहंकार है, और न ही मेरे कोई माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे एवं अन्यान्य स्वजन ही हैं। अब मैं प्रकृति के इन सम्पूर्ण अंगोपांगों को न अपना मानूँगा, न इनके व्यवहार को ही देखूँगा। ये चाहे मरें चाहे जीयें, चाहे रोयें या हँसें, चाहे मुझे भला कहें या बुरा, चाहे मुझे सतायें या प्यार करें, मैं अब सम शान्त, शुद्ध साक्षी होकर देखता रहूँगा। आखिर मैं जब शरीर नहीं हूँ, न मन–बुद्धि आदि मेरे हैं, तो मुझ साक्षी आत्मा को कोई कैसे देख सकता है और कोई कैसे कुछ कह सकता है। अहो! कैसा आश्चर्य है कि यह शरीर ही एक नाक है और जगतरूप दृश्य ही अन्य दिशाएँ हैं। फिर मैं न नाक को देखूँगा, न अन्य दिशाओं को देखूँगा। मैं तो अब शुद्ध साक्षीरूप में ही सदा–सर्वदा रमण करूँगा। जिस शरीर और संसार को मैं बहुतकुछ समझता था, बहुत ही महत्त्व देता था, वह तो कुछ भी नहीं है, सम्पूर्णता से निःसार है, फिर सार वस्तु तो एकमात्र मैं ही हूँ। मैं अपने–आपको ही क्यों न देखूँ! छिः! छिः! छिः! धिक्कार है मेरे को, कि मेरे संकल्प के आधीन रहनेवाले शरीर, मन, बुद्धि मुझे ही अपने वश में कर लिए थे। मैं उपकर्ता ही क्षुद्रकर्ता बन गया था अर्थात् प्रकृति के कर्म को ही अपना किया हुआ कर्म मान लिया था। ज्योतिर्मय ध्यानी को देखकर सतोगुणी ध्यान करने लगता था, जापक को देखकर कभी जप करने लगता था, पूजक को देखकर कभी पूजक बन जाता था; इसप्रकार मैं निष्क्रिय सा हो गया था। कभी सतोगुण उत्पात मचाता था तो कभी रजोगुण और तमोगुण, लेकिन मैं मूर्ख, आत्मा होकर भी अनात्मा सा हो गया था, इत्यादि इत्यादि।

इसप्रकार आत्मचिन्तन करते–करते अचिन्तनरूपता प्रकट होगी, मौनावस्था आयेगी और स्वयं का साक्षीत्व (द्रष्टापना) भी प्रकट होगा। आत्मचिन्तन करना ही आध्यात्मिक धारणा (उपकर्ता होना) है। उसके उपरान्त पाँच–दस मिनट के लिए शुद्ध–साक्षीत्व प्रकट हो जाना ही अपने स्वरूप का ध्यान है यानी उपद्रष्टा होना है तथा इस द्रष्टापना का बारह–पन्द्रह घण्टे टिका रह जाना ही समाधि है और सदा–सर्वदा के लिए सम शान्त सच्चिदानन्दघन शुद्ध साक्षी

आत्मा होने की स्थिति बने रहना ही परम निर्वाणरूपता है, परम शान्ति है, परमानन्द है, कैवल्यपद है, परमपद है। 'मैं ही आत्मा हूँ'– यह प्रकट होने लगना आध्यात्मिक योगियों की आत्मज्योति है तथा मैं ही सर्वरूप होने से सगुण हूँ और सर्वरूपता का वासस्थान होने से मैं ही निर्गुण हूँ, यह अनुभूति ही अनाहद नाद (अनहद नाद) है और अहर्निश समष्टि चेतना अर्थात् समष्टि स्मृति का बना रहना ही आत्मस्वरूपता है।

प्रश्न है कि ऐसी स्थिति आने में तो नींद और विचार (रजोगुण) बहुत बाधा डालेंगे तो यह स्थिति होगी कैसे? इसके उत्तर में ही कहा गया है– (युक्ताहारविहारस्य.....योगो भवति दुःखहा) दुःखों का नाश करनेवाले इस ध्यानयोग की प्राप्ति के लिए कोई चाहे कि सहसा हम कर्म को छोड़ दें, कोई चाहे कि सहसा हम निद्रा को छोड़ दें, अनशन करके करें, तो ऐसा नहीं हो सकता, अर्थात् सहसा ध्यानयोग नहीं प्राप्त किया जा सकता। सात्त्विक एवं संयमित आहार–व्यवहार से ही यह ध्यानयोग सिद्ध हो सकता है। शुद्ध आहार एवं शुद्ध कर्म से शरीर तपोमय होता है अतः तपोमय जीवन से कायाकल्प करके, शरीर को बिठावे। ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित होने से भी कायाकल्प होता है, ऐसा करके शरीर को ध्यान–चिन्तन में बिठावे। शरीर के द्वारा सर्वप्रथम हल्के एवं शुद्ध आहार से नींद कम करे; थोड़े से प्राणायाम, आसन एवं भगवन्नाम जप से मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध करे, फिर आत्मचिन्तन की योग्यता आ ही जायेगी। आहार–व्यवहार के अनुपात को भी अच्छी प्रकार देखें–

साधक सुबह नौ से दस बजे तक आधा पेट दलिया या खिचड़ी अथवा फल–फूल, साग–सब्जी लेकर पेट के तीसरे भाग को जल से भरे, चौथे भाग को वायु के लिए रिक्त रखे, ताकि पाँच–छः घण्टे के उपरान्त शरीर प्राणायाम एवं ध्यानयोग में बैठने के योग्य हो जाय। ग्यारह बजे दिन से लेकर शाम चार बजे के मध्य कुछ शारीरिक कर्म तथा स्वाध्याय करे। शाम पाँच बजे से लेकर आठ बजे तक ध्यानयोग में बैठनेवाला साधक नौ बजे तक पूर्वोक्त प्रसाद पावे और पाँच से ग्यारह बजे तक बैठनेवाला साधक ग्यारह से साढ़े–ग्यारह बजे तक किसी भी अवस्था में प्रसाद पा ले। अब पाँच से ग्यारह बजे तक बैठनेवाला साधक ध्यान में बैठने का समय बदल दे– वह नौ–दस बजे सवेरे हल्का आहार लेकर पुनः तीन–चार बजे शाम को भी हल्का प्रसाद ले ले। चार–पाँच बजे तक टहले, पाँच से छः बजे तक शौच–स्नान करके सात बजे तक थोड़ा ध्यान में बैठ ले, पुनः सात से ग्यारह बजे रात्रि तक शयन करे और ग्यारह बजे रात्रि से सुबह छः बजे तक ध्यान में बैठे, छः से सात बजे सवेरे शौच–स्नान, सात बजे से आठ बजे तक आसन–प्राणायाम, आठ बजे से नौ बजे प्रार्थना–ध्यान और चिन्तन करता रहे। इसीक्रम से दिन में साधना करनेवाला साधक तीन बजे रात्रि में जगकर चार बजे तक शौच स्नान करे। पुनः चार बजे ब्रह्ममुहूर्त से लेकर एक बजे दिन तक ध्यानयोग में बैठे। एक से दो बजे तक आसन–प्राणायाम, दो से तीन बजे तक भोजन–प्रसाद पाकर, तीन से चार बजे तक स्वाध्याय, चार से पाँच बजे तक टहलना, पाँच से छः बजे तक शौच स्नान, छः से सात बजे तक ध्यान और सात से आठ बजे तक साग–सब्जी, फल–फूल का थोड़ा आहार, आठ से दस बजे रात्रि तक पुनः स्वाध्याय और दस बजे रात्रि से तीन बजे रात्रि तक नींद लेकर जग जाये। साधक अपनी सुविधा एवं सामर्थ्य

के अनुसार प्रत्येक महीने में एक घण्टा आसन को बढ़ाते हुए सुबह चार बजे से शाम छः, सात, आठ बजे रात्रि तक बैठकर आत्मचिन्तन सहित ध्यानयोग का अभ्यास करे या शाम छः बजे से लेकर सुबह छः–सात बजे तक यानी रातभर चिन्तनसहित ध्यानयोग का अभ्यास करे। जब साधक लगभग सात–आठ घण्टे एक बैठकी (आसन बदलकर भी) में बैठकर चिन्तन एवं ध्यान कर लेता है तो उसकी नींद तीन घण्टे में पूरी हो जाती है तथा भूख भी अति सूक्ष्म हो जाती है। जब साधक एक बैठकी में नौ–दस घण्टे बैठ लेता है तो नींद दो घण्टे में पूरी हो जाती है। उसके उपरान्त तो नींद संकल्पवत् हो ही जाती है। यही कहानी भूख की भी है। जैसे–जैसे ध्यान बढ़ता जायेगा वैसे–वैसे भूख कम होती जायेगी, आहार हल्का होता जायेगा। चौबीस घण्टे में एक बार प्रसाद पाने पर भी शरीर में शक्ति और सामर्थ्य बनी रहेगी, भूख वाणी में रह जायेगी। कहा ही जाता है कि ध्यानयोगी की भूख वाणी में होती है, बालक की भूख उसकी आँखों में तथा स्थूलकर्म करनेवाले की भूख उसके पेट में होती है। हाँ, जप करनेवाले जापक एवं स्वाध्यायी की भूख प्रचण्डरूप धारण कर लेती है। इसप्रकार जहाँ ध्यानयोगी की भूख ही समाप्त हो जाती है, वहीं अखण्ड जपयोगी की भूख विशेष बढ़ जाती है। आजकल तो साधक घी–दूध की व्यवस्था करके साधना में प्रवृत्त हो रहे हैं, जबकि उन्हें पता होना चाहिये कि वीर्य की इतनी विशेष मात्रा चमड़ी, हड्डी, मांस आदि में छिपी हुई है कि साधक बिना दूध–घी खाये केवल साग–सब्जी, खिचड़ी–दलिया खाकर ही अपनी विशेष साधना सम्पन्न कर सकता है।

सन् १९७६ ई० में महाराज को किसी साधक ने दस–बारह काजू खाने को दिये। गुरुदेव ने काजू खाते हुए महाराज को देखा और कहा– ऐं! साधक काजू, किशमिश और बादाम खाता है? जो पहले से ही शरीर में शक्ति अर्जित है, पहले उसे तो पचा लो! महाराज ने उसी समय कान पकड़कर ऐसा न करने का संकल्प ले लिया। आप सब ने देखा होगा कि बद्रिकाश्रम में भगवान को दाल–चावल का भोग लगता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि वहाँ पर भगवान नर–नारायण ने कन्द–मूल एवं साग आदि खाकर ही घोर तपस्या की है। कालान्तर में साधना करनेवाले साधकों ने चावल–दाल का ही उन्हें भोग लगाकर और वही प्रसाद स्वयं पाकर अपनी साधना सम्पन्न की है, तभी से आजतक भोग लगाने का वही क्रम चला आ रहा है। आजतक जितने भी साधक, संत एवं योगी हुए हैं, उन्होंने जप, तप, योग की प्रारम्भिक अवस्था में कन्द–मूल, साग–पात, फल–फूल एवं अन्न में सात्त्विक अन्न, जैसे– चावल जौ, मूँग, तिल आदि का ही सेवन किया है। आप हवन की ही सामग्री को देखें– तिल का आधा भाग चावल, चावल का आधा भाग जौ, जौ का आधा भाग औषधियाँ तथा औषधियों के अनुपात में अर्थात् उसके आधा से आधा पंचमेवा होता है तथा घी की मात्रा तो और भी कम हो जाती है। इसप्रकार सात्त्विक आहार समयानुसार लेने से शरीर के साथ–साथ स्थूल प्राणों की भी मैल दूर हो जाती है, प्राण सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म होता जाता है। ध्यानयोग में आचार–विचार, आहार–व्यवहार मुख्य आधार हैं, इन पर सजगता से जितना ही ध्यान दिया जायेगा साधना उतनी ही निर्विघ्न सम्पन्न होगी।

उपरोक्त आध्यात्मिक ध्यानयोग के समय शरीर, मन, वाणी एवं चित्त में प्रतिक्रिया क्या होगी, इसे भी जान लेना चाहिए। हाँ, यह नियम है कि जहाँ याद जाती है, वहीं मन भी चला जाता है। यही नहीं, प्राण भी वहीं जाता है। इस न्याय से जब शरीर और संसार को छोड़कर नेत्रों को सम शान्त अवस्था में रखते हुए जगत और शरीर के बीच में दृष्टि को स्थापित कर, आत्मचिन्तन होगा तो स्थूलप्राण निष्क्रिय होते–होते अन्तर्मुख होते जायेंगे। बाहर से तो अन्तर्मुख होंगे और भीतर में ऊर्ध्वमुख होंगे। उनके साथ–साथ मन और वाणी भी अन्तर्मुख होते जायेंगे। चूँकि स्मृति के द्वारा आत्मचिन्तन को छोड़कर न ही भृकुटि का और न ही सात चक्रों में से किसी चक्र का आश्रय लिया गया, इसलिए प्राण निष्क्रिय होकर चिदाकाश में ही प्रवेश करता जायेगा, जिसके कारण सतोगुण प्रकट होता जायेगा। वह इतना विकसित होता जायेगा, इतना विकसित होता जायेगा कि रजोगुण और तमोगुणरूप वृत्तियाँ उसी में विलीन होती जायेंगी। जैसे अंधकार धीरे–धीरे प्रकाश में विलीन होता जाता है और सम्पूर्ण प्रकाश के आने पर एकअंश भी अंधकार दिखाई नहीं पड़ता, उसीप्रकार एक दिन रजोगुणी विचार एवं तमोगुणी वृत्तियों को अर्थात् नींद, आलस, प्रमाद को सम्पूर्णता से सतोगुण निगल जायेगा। जैसे–जैसे शरीर निष्क्रिय होता जायेगा, वैसे–वैसे हृदय में स्पंदनशीलता प्रकट होती जायेगी। जैसे–जैसे शरीर के बाहर जड़ता होती जायेगी, वैसे–वैसे नेत्रों के भीतर–बाहर प्रकाश प्रस्फुटित होता जायेगा, उतरता जायेगा अर्थात् फैलता जायेगा। जैसे–जैसे शरीर तथा इन्द्रियाँ निष्क्रिय होती जायेंगी, वैसे–वैसे रोम–रोम से शक्ति प्रवाहित होती जायेगी जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है। कुण्डलिनी शक्ति का अति व्यापक क्षेत्र है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के भीतर–बाहर फैला हुआ है। रोम–रोम में वे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जो शक्ति के सक्रिय होने पर स्वयं भी सक्रिय हो जाते हैं। बीज को देखा जाता है कि– वह जैसे–जैसे ऊपर से सड़ता जाता है, वैसे–वैसे उसकी बाहर की शक्ति अन्तर्मुख होती जाती है और भीतर–भीतर ही वह चेतन अंकुरित होता जाता है तथा किसी दिन पृथ्वी के बाहर निकलकर पौधा बन जाता है। वैसे ही आत्मचिन्तन की अवस्था में सर्वप्रथम त्वचा से शक्ति सक्रिय होते ही त्वचा निष्क्रिय–सी हो जायेगी। जब वह शक्ति रक्त में छिपी शक्ति को सक्रिय करेगी तब स्थूल रक्त निष्क्रिय हो जायेगा। जब वह शक्ति वीर्य में छिपी हुई शक्ति को सक्रिय करेगी तब वह वीर्य निष्क्रिय सा हो जायेगा। जब वही मांस और हड्डी में छिपी हुई शक्ति को सक्रिय करेगी तो मांस और हड्डी में निष्क्रियता सी हो जायेगी। निष्क्रिय का तात्पर्य है कि इन सबकी स्पंदनशीलता शून्य सी हो जायेगी। इसप्रकार वह दिव्य शक्ति त्वचा, रक्त, मांस, वीर्य और हड्डी का मंथन करते हुए फिर वात, पित्त, कफ का मंथन करते हुए, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त का मंथन करते हुए, बड़े वेग से अपनी तरफ गमन करती है तथा अपनी याद को भी लेकर मानो ज्योतिर्मय बना देना चाहती है। उस अवस्था में बाहर–भीतर एकमात्र ज्योतिर्मय प्रकाश रहने के कारण से विचारहीनता हो जाती है, शरीर और जगत का भान नहीं रहता। वही अवस्था सजग होने की है; क्योंकि उस दिव्य ज्योति को स्वीकार करते ही स्मृति, चेतनसमाधियों को प्राप्त हो जायेगी, जो निर्विकल्प ध्यानयोगी के लिए अभीष्ट नहीं है। यदि वैसी अवस्था में उस दिव्य शक्ति का अनुमोदन न किया जाय, अपने साक्षी स्वरूप में ही रहा

जाय तो स्वयं वह दिव्य शक्ति अपने–आपके स्वरूप में अर्थात् द्रष्टारूप में विलीन होते–होते द्रष्टारूप हो जायेगी। इसी को ज्ञानमय समाधि कहते हैं। न वहाँ पर शरीर होगा, न संसार, न चेतन होगा, न अचेतन, न वहाँ दृश्य होगा, न दर्शन, न द्रष्टा; वहाँ तो एकमात्र सम शान्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा होगा, वहाँ तो एकमात्र परम द्रष्टा, परम स्रष्टा अर्थात् परम निर्वाणपद होगा। वहाँ व्यष्टि द्रष्टा समष्टि द्रष्टा हो जाता है, व्यष्टि चेतन समष्टि चेतन बन जाता है, व्यष्टि कर्ता समष्टि कर्ता बन जाता है अर्थात् व्यष्टि द्रष्टा, परम द्रष्टा बन जाता है।

ध्यान रहे– आत्मचिन्तन करते–करते शरीर, मन एवं प्राण के अन्तर्मुख होने पर जब शक्ति भीतर–बाहर से प्रवाहित होने लगती है तो नेत्र भी अपने–आप बंद हो जाते हैं। अतः उसकी चिन्ता साधक को नहीं करनी चाहिये। यहाँ तक कि चिन्तन करते–करते अचिन्तनरूपता अपने–आप प्रकट होगी, उसकी भी चिन्ता न करें। वह तबतक चिन्तन करता रहे जबतक साक्षीत्व ही शेष न बचे। सावधान! यदि आत्मचिन्तन छोड़कर दिव्य सतोगुण के प्रकाश को ही आदरभाव से देखने लग जायेगा तो सहज में प्रकाशरूपता हो जायेगी, जिसके चलते ज्योतिर्मय समाधि ही लग जाएगी और वह ज्ञानसमाधि को प्राप्त नहीं कर पायेगा। अतः जब आत्मचिन्तन के द्वारा ज्ञानसमाधि में नित्यप्रति बारह–बारह घण्टे, सोलह–सोलह घण्टे रहने लगता है, तब कायाकल्प, प्राणकल्प, मनकल्प, बुद्धिकल्प, चित्तकल्प अपने–आप हो जाता है अर्थात् ये सम्पूर्णता से निर्विकार ही हो जाते हैं और वह निर्विकार, निर्मलचित्तयोगी सम्पूर्ण दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

अब जिन साधकों को यह निर्विकल्प ध्यान जो प्रभु के द्वारा वर्णित है, समझ में नहीं आया है तो वे सुगमतापूर्वक कैसे इस ध्यानयोग को प्राप्त करें, महाराज इसे थोड़े में ही संकेत कर देता है।

जिसप्रकार बच्चा दरवाजे पर खड़ा होकर माँ को पुकारता है और आवाज देकर दरवाजा खुलने की प्रतीक्षा करता है, उसीप्रकार उपरोक्त आत्मचिन्तन को इस भाँति करे, जैसे वह भृकुटि को देखते हुए अपने द्रष्टारूप को स्मरण कर रहा हो। वैसी अवस्था में उसकी स्मृति के दो भाग हो जायेंगे– एक भाग से भृकुटि को देखता रहेगा और दूसरे भाग से आत्मचिन्तन करता रहेगा। आत्मचिन्तन करते–करते जब वह दस–पन्द्रह मिनट के लिए मौन हो जायेगा तो उस समय भी स्मृति का दो भाग हो जायेगा। एक भाग से वह भृकुटि को स्मरण करेगा और दूसरे भाग से सम्पूर्णता से सजग होकर विचारों को देखता रहेगा। जब वह उन विचारों को भली–भाँति देखता है तो निश्चितरूप से उनके उद्गम दिखाई देते हैं। उन विचारों के केन्द्र हैं– माता, पिता, भाई, बान्धव, हित, मित्र, घर, परिवार, साधु, असाधु, गाँव–क्षेत्र, देश तथा स्वयं का शरीर। पुनः पन्द्रह–बीस मिनट के उपरान्त उनका सगुण ब्रह्म के रूप में चिन्तन करे एवं अपनी भूल को याद करे और अपने–आप से स्पष्ट कहे कि जब ये सभी सगुण ब्रह्म ही हैं तो इनके विषय में हमें भला–बुरा सोचने का अधिकार क्या है? ऐसा बार–बार चिन्तन करने पर पाँच–दस मिनट के लिए विचार तिरोहित हो जायेंगे। उस अवस्था में प्राणों के ऊर्ध्वगामी होने के कारण से तथा

शक्ति के सक्रिय होने से भृकुटि में दबाव होता है; जिससे वह घबराये नहीं। वह जाने कि जब भृकुटि में दबाव हो रहा है तो कुछ ही दिनों या महीनों में शब्द या प्रकाश प्रकट होनेवाला है।

प्रश्न है कि विषयी जीवों को तथा क्षुद्र प्राणिपदार्थों को साधक ब्रह्म के रूप में क्यों चिन्तन करे? वह इसलिए कि ये ब्रह्म के ही संकल्प होने से मूलरूप में ब्रह्म ही हैं। भले ही ये अपने को शरीर मान रहे हों। आप ठीक कह रहे हैं लेकिन यदि इन्हें ब्रह्म के रूप में न देखकर एकमात्र साक्षीभाव से ही देखा जाय तो क्या हानि हो जायेगी? हाँ! हानि यही होगी कि व्यवहारकाल में साधक शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मद्रष्टा नहीं हो पायेगा और जबतक भीतर–बाहर से सबको ब्रह्मरूप नहीं देखेगा, तबतक विचार उसका पीछा नहीं छोड़ेंगे। क्योंकि सम्पूर्ण शुभाशुभ विचारों का पर्यवसान एकमात्र सर्वत्र ब्रह्मदर्शन से ही होता है। उन साधकों को स्वप्न में भी एक भी विचार नहीं आता होगा, जो अपने–अपने सद्गुरु को सचमुच में सगुण ब्रह्म ही समझ रहे होंगे, यही न्याय सर्वत्र लागू करना होगा। ताली दोनों हाथों से बजती है। जब कोई साधक किसी को जीव समझेगा तो निश्चितरूप से वह उसे संत या ब्रह्म क्यों समझेगा? तथा लम्बे काल तक कोई साधक सभी को ब्रह्मरूप में देख रहा है तो सब उसे जीव रूप में क्यों देखेंगे? योगवासिष्ठ में एक अद्भुत रोचक कथा है–

आकाश मंडल में एक विद्याधरी ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से कहा– मुनिवर! कृपया आप चलें, मेरे पति ब्रह्माजी को समझा–बुझा दें; क्योंकि बारह वर्ष पूर्व उन्होंने मेरे से शादी रचायी थी, किन्तु तब से आजतक इन्होंने मुझे अपनी भार्या माना ही नहीं है। वसिष्ठजी ने ब्रह्माजी से अनुनय–विनय पूर्वक प्रार्थना की और पूछा– हे प्रभु! विद्याधरी के विषय में आप क्या कहते हैं? ब्रह्माजी ने कहा– ब्रह्मन्! मेरी दृष्टि में तो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं; अतः कभी मैंने इसका पाणिग्रहण किया ही नहीं है, इसकी बात तो सर्वथा झूठी है। तब विद्याधरी ने ब्रह्माजी से कहा– हे प्रभु! बारह वर्ष पूर्व मैंने ही स्वयं आपको पतिरूप में मन से मान लिया था लेकिन आपने अपनी ब्रह्मदर्शनरूपी दृष्टि का त्याग नहीं किया, जिसका परिणाम हुआ कि अब मैं भी आपको ब्रह्मरूप में देखने के लिए बाध्य हो गयी हूँ। मैं भी ब्रह्मविषयी होकर निर्विषयी बन गयी हूँ। आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरी विषय वासना भी ब्रह्म वासना बन गयी है; क्योंकि यह नियम है कि रागी पुरुष के राग को लम्बी अवधि तक अवसर न मिले विषयों को भोगने का तो वह विरागी बन जाता है। जैसे किसी भी बीज को अंकुरित होने के लिए हवा–पानी, प्रकाश न मिले तो लम्बे काल के उपरान्त वह सड़कर मिट्टी ही बन जायेगा। हे प्रभु! मेरी वासनाओं की भी यही स्थिति हो गयी है। यही नहीं, अब मुझे ब्रह्मज्ञान पाने की अतिलालसा हो उठी है। अतः आप मुझे अपनी शिष्या समझकर आत्मज्ञान दें। ऐसा सुनकर ब्रह्माजी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर, उसे आत्मज्ञानी बना दिया।

उपरोक्त घटना से यही शिक्षा–दीक्षा मिलती है कि साधक सम्पूर्ण विचारों को ब्रह्मरूप में ही देखे, तब वह मात्र द्रष्टा ही नहीं, ब्रह्मद्रष्टा भी कहा जायेगा। जब द्रष्टा दृश्य को ब्रह्मरूप समझ लेता है, तब वह दृश्य भी अपने लिए कालान्तर में द्रष्टा ही हो जाता है। अतः उस

अवस्था में द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य ये तीन नहीं होते, वहाँ तो शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा ही होता है। इसप्रकार सबको ब्रह्मरूप में देखता हुआ कुछ समय के लिय पुनः भृकुटि में याद (स्मृति) को केन्द्रित कर साक्षीरूप हो जाये। पाँच–दस मिनट के उपरान्त पुनः विचारों का झंझावात प्रकट हो तो इसप्रकार भी चिन्तन करे कि–

एक तरफ तो मैं आत्मा हूँ दूसरी तरफ यह जड़ शरीर, फिर हमदोनों का निकट का सम्बन्ध कैसे हो गया? शरीर का वह कौन सा स्तर है, जिसपर आसीन होकर मैंने स्वयं को शरीर मान लिया था? निश्चितरूप से वह स्तर अज्ञान ही है, जिसके द्वारा मैंने स्वयं को शरीर मान लिया था। अब सद्गुरु के सत्संग और स्वयं के चिन्तन द्वारा मैंने अपने निर्विकार, निर्मल एवं अविनाशी चेतनस्वरूप को जान लिया है, अतः जहाँ तक मेरे और शरीर के सम्बन्ध की बात है तो इसका एकमात्र कारण मान्यता ही है। यदि इसे मैंने अपना स्वरूप या अपना शरीर नहीं माना होता तो आज संकल्प–विकल्पों की तरंगों से रहित मैं सर्वत्रव्यापक आत्मा होता। यह तो स्पष्ट ही अनुभव में आता है कि यदि पुत्र को माँ के सामने कोई गोली से मारे और वह छटपटाता हुआ प्राण छोड़ने लगे तो माँ पहले ही मूर्च्छित हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? गोली तो पुत्र को लगी और घायल वह हुई, असह्य पीड़ा पुत्र को हो रही है फिर माँ के मूर्च्छित होने का क्या औचित्य है? एकमात्र 'यह मेरा पुत्र है'– इस मान्यता के कारण ही तो? अहो! यह कैसी मान्यता है कि किसी दूसरे के पुत्र को गोली लगे और वह असह्य वेदना से कराहते हुए प्राण छोड़े तो उसी माँ के हृदय में कोई भी वेदना नहीं होती, कोई भी प्रतिक्रिया नहीं होती। अतः ना, ना, ना, आजसे मैं इस शरीर और संसार को अपना नहीं मानूँगा। यह मरे या जीये लेकिन मैं किसी के मरने से अपने को मरा हुआ नहीं मानूँगा। जिसप्रकार जल से बुदबुदे प्रकट हो–होकर जल में ही विलीन होते रहते हैं उसीप्रकार ये शरीररूपी बुदबुदे ब्रह्म से ही प्रकट होकर ब्रह्म में ही हँसते–रोते, सुखी होते–दुःखी होते, शोक–सन्ताप करते और अशोक–असन्ताप का अनुभव करते विलीन हो जाते हैं। सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि में विकल होना शरीर का धर्म है, मुझ शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा का नहीं। वास्तव में शरीर को लम्बा काल अपना मानते हुए हो गया है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राकृतिक घटना मुझे या मेरे मन को ही प्रभावित कर रही है। देखा ही जाता है कि किसी भी शिशु को माता–पिता, भाई–बान्धव व जाति–पाति आदि को, घर, गाँव को, स्वीकार करने में डेढ़–दो साल लग ही जाते हैं। ऐसा स्वीकारने के पूर्व उस शिशु को उसके माता–पिता या स्वजनों के प्रति या उसके घर–गाँव के प्रति, कुछ भला–बुरा कहा जाये, अपशब्द कहा जाये तो उसके चित्त पर किसी भी प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं होती। उसके सामने माता–पिता या कोई भी मरे–जीये, इससे उसे कुछ भी लेना–देना नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि काम–क्रोध, लोभ–मोह, राग–द्वेषादि विकार लम्बे काल से 'मैं–तू', 'मेरे', 'तेरे' के अभ्यास से ही प्रकट हो गये हैं, जबकि अभी भी न ये विकार मेरे हैं और न मुझमें हैं और न ही ये विकार शरीर में हैं, न शरीर के हैं; ये तो निश्चितरूप से मान्यता के हैं। अतः आजसे ही मैं शरीर सहित इन विकारों को अपना मानना छोड़ता हूँ। शरीर के उठने–बैठने, चलने–फिरने, सोने–जागने, खाने–पीने, बोलने–चालने से मैं

ये नहीं समझूँगा कि ये क्रियाएँ मेरी हैं। यही जन्मता है, बड़ा होता है, दुबला या मोटा होता है अर्थात् घटता–बढ़ता है, यही सोता–जागता है, यही भूखा एवं प्यासा होता है और इसीप्रकार एक दिन मर भी जाता है। ये सब धर्म इसी के हैं, न कि मुझ आत्मा के। अतः अब मैं अपने–आपको अजर, अमर, शाश्वत, सनातन, पुरातन, शुद्ध, साक्षी, सम शान्त सच्चिदानन्द के रूप में देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ।

इसप्रकार चिन्तन करता हुआ भृकुटि में ही वह साधक पुनः मौन होकर प्रतीक्षा करे तो कुछ ही महीने में अन्तर प्रकाश वर्तुलाकार होता हुआ नेत्रों के सामने प्रकट होता दिखाई देगा। उस अवस्था में विचार अतिसूक्ष्म हो गये रहते हैं, नेत्र अपने–आप बन्द हो जाते हैं, शरीर सुन्न होता जाता है, स्मृति (याद) भी ज्योतिर्मय होती जाती है। (जैसा कि पहले शरीरमय होती है, उसीप्रकार अब ज्योतिर्मय होती जायेगी)। इसप्रकार दिव्य ज्योति धारण करने से कुछ ही महीनों में मन (याद, स्मृति) ज्योतिर्मय होकर अन्तर में प्रवेश कर जायेगा, इसी को ज्योतिर्मय समाधि कहते हैं। इसी क्रमानुसार वह दिव्य ज्योति से, दिव्यतमज्योति के रूप में होकर एक दिन परम ज्योति, परब्रह्म, परमात्मारूप हो जायेगा, जिसे ज्योति की संज्ञा देना मूर्खता है। परम ज्योति, परम प्रकाश का तात्पर्य है– जहाँ न अंधकार है न प्रकाश लेकिन संकेतमात्र के लिए ऐसे शब्द दे दिये जाते हैं। जहाँ से सारे नाम प्रकट होते हैं, उसे अनाम कैसे कहा जाय तथा जहाँ से अंधकार और प्रकाश प्रकट होते हैं उसे किस भाषा में पुकारा जाय? इसलिए परम प्रकाश कह दिया जाता है।

ध्यान यह भी देना चाहिए कि स्थूल शरीर को छोड़कर प्रकाश के माध्यम से सूक्ष्म शरीर ही पकड़ में आ गया और लोक–लोकान्तरों में गमन कराने लगा तो उसी को सबकुछ नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि उसीके माध्यम से दिव्य लोकों में गमन करते रहने की इच्छा भी हो सकती है। इसलिए अपने इष्ट से प्रार्थना करे कि यह क्या? एक शरीर से अनासक्त होने पर यह दूसरा शरीर मिल ही गया, यह भी तो सतोगुणी माया ही है? इसप्रकार किसी दिन प्रार्थना सुन ली जायेगी और स्मृति कारण शरीर को प्राप्त होकर कुछ ही महीनों में, महाकारण, हंस, परमहंस शरीरों का भेदन करती हुई कैवल्य शरीर को प्राप्त हो जायेगी, जो शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा के अति निकट है। उसे तो शरीर कहना भी नहीं चाहिए, लेकिन संकेतमात्र के लिए ही उसे शरीर की संज्ञा दी गयी है। साधकों को ध्यान रहे– यदि बारह–बारह घण्टे ध्यान में, समाधि में बैठे रहते हैं तो संकल्पसिद्धि मिल ही जाती है। यदि उसका प्रदर्शन न करें तो उसी संकल्प–शक्ति से अन्तर की विघ्न–बाधाओं से मुक्त भी हुआ जा सकता है। जैसे किसी साधक को हररोज सूक्ष्म शरीर द्वारा अन्तर्यात्रा ही होने लगी है तो वह ध्यान में बैठते ही संकल्प करे कि अब मैं दिव्य लोकों को देखना नहीं चाहता बल्कि उससे आगे बढ़ना चाहता हूँ तो उसी दिन अन्तर्यात्रा न होकर ज्योतिर्मय प्रदेश की प्राप्ति हो जायेगी या यदि उस दिन ऐसा नहीं हुआ तो प्रति दिन संकल्प करता रहे, किसी न किसी दिन अर्थात् दस–पन्द्रह दिनों में ही वह अन्तर्यात्रारूप बाधा समाप्त हो जायेगी। इसी क्रमानुसार साधक संकल्प–शक्ति से ही सारे चक्रों का भेदन कर सकता है।

साधक अपने संकल्प की जाँच भी कर ले कि कितने अनुपात में संकल्प की सिद्धि हुई है। बारह घण्टे समाधि में रहने के उपरान्त एक छोटे से पत्थर के टुकड़े को देखकर संकल्प करे कि यह फूल बन जाय। यदि वह फूल बन जाय तो जान ले कि कुछ संकल्प–सक्रियता बढ़ गयी है। उसमें यदि प्रकृति को रूपांतरित करने की क्षमता आ गयी तो वह दिन दूर नहीं, जब अपने संकल्पबल से ही अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर जायेगा।

ध्यान रहे कि यदि कोई साधक भृकुटि के माध्यम से ही अन्तर्मुख होना चाहता है तो कोई निश्चित नहीं है कि उसके पास सर्वप्रथम दिव्य ज्योति ही प्रकट होगी, बल्कि सर्वप्रथम नाद (अनाहद नाद) भी प्रकट हो सकता है।

१९७६ में एक साधक दिन–रात ध्यान में बैठा रहता था, कुछ महीने के बाद अनाहद नाद का प्रथम चरण प्रकट हुआ जो झिंगुर की आवाज (झन–झन) जैसा होता है। कुछ दिन तो वह यही समझता रहा कि यहाँ कोई झिंगुर है, जो झन–झन सी आवाज कर रहा है। कुछ दिन के उपरान्त उसने सोचा कि यह कैसा झिंगुर है जो कभी आवाज बन्द करता ही नहीं? ऐसा सोचकर दीवार और कुछ जगहों की तरफ देखा; किन्तु झिंगुर दिखाई न पड़ा। हाँ, वह आवाज जो प्रथमावस्था में बाहर प्रतीत होती थी, वह शरीर के भीतर ही मस्तिष्क से प्रकट होती हुई प्रतीत हुई। उसके पूर्व उसने सुना नहीं था कि नाद या प्रकाश प्रकट होता है, न पढ़ा ही था। अब वह नाद बढ़ता गया, फैलता गया और असंख्यरूपों में प्रकट होने लगा। जैसे रेल के इंजन को चालूकर चालक ब्रेक लगाकर छोड़ देता है, उस समय सभी कल–पूर्जों से जैसे अंसख्य शब्द प्रकट होते हैं; वैसे ही उन शब्दों में एक ऐसा नाद था जो अति गंभीर, मानो सम्पूर्ण नादों का केन्द्रबिन्दु हो। घण्टे पर चोट करके यदि छोड़ दिया जाय तथा ध्वनि को सुना जाय तो मानो लगता है कि ऊँकार की ध्वनि गूँज रही हो– "ओऽऽ.....ओ" ध्वनित हो रहा हो और 'म्' की प्रतीक्षा हो। अब वह साधक उसी मुख्यध्वनि में अपने मन को केन्द्रित कर दिया तथा धीरे–धीरे जब वह शब्द पूरी तरह से उसके मन की पकड़ में आ गया, तो स्वतः ही वही शब्द उसकी धारणा का केन्द्र बन गया और भृकुटि अपने–आप छूट गयी। धीरे–धीरे वह अनाहद नाद से ही अन्तर्मुख होने लगा। प्रत्येक चक्रों से नाद झंकृत होने लगे और जब अच्छीप्रकार से मन (स्मृति) नादमय हो जाता था तो वह उसी नाद से उस चक्र में उतर जाता था। इसप्रकार वह कुछ ही महीने में शब्द से निःशब्द में उतरने लगा और कुछ ही महीनों में समाधिस्थ हो गया।

ध्यान रहे– जब शब्द धारणा सिद्ध हो जाती है उस समय एकसाथ किसी चक्र के शब्द ऊर्ध्वगामी होते हैं तो प्रथमावस्था में रोम–रोम भय से काँप उठता है और समाधि से साधक वंचित रह जाता है लेकिन यदि उस भय को अपने इष्ट के प्रति समर्पित करता रहे तो कुछ ही महीनों में वह भय जाता रहता है। यह भय चाहे ज्योतिर्मय ध्यान हो या नादमय ध्यान दोनों के समय प्रकट होता है।

ध्यान रहे– किसी–किसी साधक के सामने ज्योति और शब्द एकसाथ प्रकट होते हैं। अतः वैसी अवस्था में जिसमें मन की धारणा सुगमता से हो रही हो, उसी का चुनाव करे। ध्यान रहे

कि भृकुटिमय स्थूलधारणा, ज्योति और शब्द पकड़ लेने के उपरान्त छोड़ने के लिए है। बहुत से साधक भूल करते हैं कि लम्बे काल तक वे भृकुटि को छोड़ ही नहीं पाते, जिससे समाधि लाभ शीघ्रातिशीघ्र होने में बाधा पड़ती है।

ध्यान रहे– जो प्रथम में निर्विकल्प ध्यान की बात की गयी है, उस ध्यानयोग में भी ज्योति और नाद प्रकट होते ही हैं लेकिन उनसे उदासीन होकर साधक चिन्तन करता रहता है तो धीरे–धीरे अचिन्तनमय होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो ही जाता है। यदि उसे उस अवस्था में एक अंश भी ज्योतिर्मय या नादमय चेतन समाधि की कामना हो जायेगी तो फिर वही समाधि लगनी प्रारम्भ हो जायेगी जो उसके निर्विकल्प ज्ञानमय समाधि के लिए तो बाधा ही है।

ध्यान रहे कोई साधक ऐसा न समझ ले कि सर्वप्रथम आसन सिद्ध करना होगा फिर आत्मचिन्तन करना होगा बल्कि आत्मचिन्तन चलता रहेगा और आसन भी सिद्ध होता रहेगा। यही नहीं, आत्मचिन्तन होने से तो आसन शीघ्रातिशीघ्र सिद्ध होता है। यदि आसन समयानुसार सिद्ध नहीं हो रहा है, तो जानना चाहिए कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि व्रतों में कोई न कोई व्रत अवश्य ही सिद्ध नहीं हुआ है। इसलिए घबराये नहीं बल्कि दोष को दूर करे।

ध्यान रहे कि भगवान नारायण ने आत्मचिन्तन के साथ ज्ञानमय ध्यान में उतरने की बात की है, न कि ज्योति, नाद या जप के साथ लेकिन जिन्हें यह समझ में न आवे उनके लिए महाराज ने निर्विकल्प ध्यान में उतरने के लिए सविकल्प ध्यान की व्यवस्था दी है।

ध्यान यह भी रखना चाहिए कि यदि संकल्पसिद्धि नहीं मिली अर्थात् शाम से सुबह तक एक ही बैठकी में (आसन बदलकर भी) बैठकर ध्यान करने से भी संकल्प–शक्ति सक्रिय नहीं हुई तो कोई बात नहीं, असन्तोष को अवसर न दें और सुबह से शाम तक या शाम से सुबह तक ध्यान में बैठते रहें। ऐसा करने से पाँच, दस, पन्द्रह, बीस दिनों में तो संकल्प–शक्ति जग ही जायेगी।

महाराज को हठयोग की नौली क्रिया करनी थी। आत्मानन्द को पहले ही दिन नौली क्रिया होने लगी, लेकिन महाराज को इक्कीस दिन में होनी प्रारम्भ हुई, वह भी जब हररोज सुबह और शाम एक–एक घण्टा नल निकालने का प्रयत्न करता था। आत्मानन्द को तो आवश्यकता ही नहीं थी इस क्रिया की, तो उनकी सहज में हो गयी और जिसे आवश्यकता थी उसमें इतनी देर हो गयी।

ध्यान रहे कि जो साधक पाँच–सात घण्टे एक बैठकी में ध्यान कर रहे हैं, उन्हें एक सप्ताह में एक बार सुबह अच्छीप्रकार गजकर्णी (जल पीकर वमन) करना चाहिए और एक महीने में एक दिन शंखप्रक्षालन भी कर लेना चाहिए। जिससे ध्यान में बैठने से शरीर में बढ़ी हुई गर्मी शान्त हो जाय अन्यथा रोग होने की भी सम्भावना बनी रहती है तथा जो साधक एक बैठकी में बारह घण्टे ध्यान में बैठ लेते हैं, वे दस दिन में एक दिन शंखप्रक्षालन करके दिनभर

कोई अन्य क्रिया न करें बल्कि शरीर को विश्राम दें। सूत्रनेति, जलनेति तो उन्हें नित्य ही करनी चाहिए तथा वस्ति तीन–चार दिन में करने का विधान है। जब नौली सुखपूर्वक हो रही है तो बैठकर वस्ति करने में एक मिनट लगता है। एक डब्बे या लोटे में जल भरकर गुदा में एक अंश नली (प्लास्टिक या रबर की) लगाकर उससे लोटे का जल खीचें। जैसे ही बैठे–बैठे पेट का नल बाहर की तरफ आयेगा वैसे ही लोटे का पूरा जल नाभि तक आ जायेगा। जल से पेट भरने की आवश्यकता नहीं है, उसे दो चार–बार नौली करके गुदा से निकाल दें, पूरा मल बाहर निकल जायेगा। एक ही जगह साधना करें, कहीं आयें–जायें नहीं तथा दिन में न सोयें।

ध्यान रहे– जब कुण्डलिनी शक्ति जागती है और शरीर उसे पचा नहीं पाता तो वह शरीर को गिरा भी सकती है अर्थात् शरीर न चाहते हुए भी उछल–कूद कर सकता है और दो–चार महीने में जब शक्ति पचने लगेगी तो फिर आनन्द (दिव्य स्पर्श) की बाढ़ तो रहेगी लेकिन शरीर सम शान्त बैठा रहेगा।

साधक को ध्यान में विशेष बैठे रहने की आवश्यकता जान पड़ रही है, उसे बैचैनी हो रही है तथा शरीर पूर्णतया साथ नहीं दे रहा है और निर्मल वैराग्य भी है, तब वैसी अवस्था में उसे सात्त्विक धृति का आश्रय लेना चाहिए, जिसका संकेत इस अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में भगवान ने किया है। (शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया.....)– सात्त्विक बुद्धि एवं धृति के द्वारा मन को वश में करने का धीरे–धीरे प्रयत्न करे। सात्त्विक धृति है–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। (१८/३३)

अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म ही है, ऐसी भावना करके पुनः प्राणायाम के द्वारा वृत्ति को सूक्ष्म करे, रजोगुण एवं तमोगुण का दमन करे। सर्वप्रथम नाड़ीशोधन करके इड़ा–पिंगला (चन्द्रनाड़ी, सूर्यनाड़ी अर्थात् दायाँस्वर, बायाँस्वर) इन दोनों नाड़ियों को अपने अनुसार चलाकर सुषुम्ना को जागृत करे। प्रत्येक डेढ़–दो घण्टे के उपरान्त स्वर बदल जाते हैं, उस स्वर बदलने की स्थिति में एक–दो मिनट के लिए ही सुषुम्ना खुलती है। दौड़ते समय, कठोर श्रम करते समय, बायें करवट लेटते समय सुषुम्ना जागृत रहती है। जब दोनों स्वर समान हों, खुले हों तो जानना चाहिए कि सुषुम्ना चल रही है। सम्पूर्ण जप, तप, योग इसी नाड़ी की अध्यक्षता में करने से बड़ा प्रभावकारी होता है। इसी को खोलने के लिए सर्वप्रथम विशेष नाड़ीशोधन किया जाता है। नाड़ीशोधन को ही शास्त्रों में अनुलोम–विलोम भी कहा गया है। जब बिना कुम्भक प्राणायाम के रेचक–पूरक, रेचक–पूरक ही किया जाता है, तो इसे नाड़ीशोधन प्राणायाम कहते हैं।

सहजतापूर्वक धीरे–धीरे दाँयेंस्वर से हवा पूरे शरीर में भरकर बाँयेंस्वर से धीरे–धीरे निकालें, पुनः बाँयेंस्वर से हवा को धीरे–धीरे पूरे शरीर में भरकर दाँयेंस्वर से निकालें। इसप्रकार यह एक नाड़ीशोधन प्राणायाम माना जायेगा। पहले ही दिन जब बिना रुके हुए बीस की संख्या में यह प्राणायाम किया जायेगा तो सुषुम्ना खुल जायेगी। अतः उसी अवस्था में अब पाँच

रेचक–पूरक एवं कुम्भक प्राणायाम करें, जो इसप्रकार है– दाँयेंस्वर से ही वायु को धीरे–धीरे सम्पूर्ण नस–नाड़ियों सहित शरीर में भरकर उसे यथासामर्थ्य मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध एवं उड्डियानबन्ध लगाकर रोके रहें। जब मन घबराये तब पुनः उसे बाँयेंस्वर से धीरे–धीरे निकाल दें (रेचक करें)। पुनः बिना रुके हुए बाँयेंस्वर से वायु को भरकर यथासामर्थ्य पेट–छाती में रोककर धीरे–धीरे दाँयेंस्वर से पूरी वायु को निकाल दें। इसप्रकार बिना रुके हुए इसकी पाँच आवृत्ति करें और अब ध्यानस्थ हो जायें। इसीप्रकार नित्यप्रति एक–एक नाड़ीशोधन बढ़ावें तथा सात दिन पर एक रेचक–पूरक, कुम्भक प्राणायाम बढ़ावें। इस प्रक्रिया को करते हुए जब तीन महीने में नाड़ीशोधन की १०० (सौ) संख्या हो जायेगी तो प्रत्येक सात दिन पर बढ़ाया जानेवाला रेचक–पूरक एवं कुम्भक प्राणायाम लगभग बीस–इक्कीस की संख्या में पहुँच जायेगा। अब ऐसी अवस्था में नाड़ीशोधन को पुनः हररोज पाँच की संख्या में घटावें, जैसे– सौ से पन्चानबे, नब्बे, पचासी, अस्सी। इसप्रकार पुनः दस की संख्या में लाकर इसे करते रहें और रेचक, पूरक, कुम्भक पूर्ववत् चलते रहने दें। जब रेचक, पूरक, कुम्भक की संख्या चालीस से पैंतालीस तक हो जाय तो देखना चाहिए कि ध्यान में सुषुम्ना कितनी देर खुली रहती है। यदि सुषुम्ना ही ध्यान में बनी रहती है तो रेचक–पूरक एवं कुम्भक चालीस–पैंतालीस की संख्या में रहने दें और केवलीकुम्भक सात दिन पर एक बढ़ाते रहें। इसे इसप्रकार किया जाता है– हाथों को दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रखकर दोनों स्वरों से वायु को धीरे–धीरे पूरे पेट एवं छाती में भरकर तीनोंबन्ध लगाकर यथासामर्थ्य रोके रहें, जब घबराहट होने लगे तो धीरे–धीरे वायु को बाहर कर दें और बिना विश्राम किये पुनः वायु को भरकर पूर्ववत् ध्यान करें। ध्यान रहे कि पूरे प्राणायाम के समय मन भृकुटि में रहे। मूलबन्ध अच्छीप्रकार न लगता हो तो अश्विनीमुद्रा (गुदा का बार–बार संकुचन करना एवं छोड़ना) करें तो धीरे–धीरे हल्का उड्डियान बन्ध अपने–आप लग जायेगा, यही नहीं जालन्धर बन्ध भी स्वतः ही लग जायेगा। अब स्पष्ट हो गया कि जब वायु भरें तो तीनों बन्धों को लगावें और जब वायु निष्कासित करें तो बन्धों को छोड़ दिया करें। इसप्रकार यह प्राणायाम बढ़ाते हुए तबतक करते रहें जबतक कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत न हो जाय।

जिसप्रकार आसनों में पद्मासन श्रेष्ठ है, उसीप्रकार प्राणायामों में केवलीकुम्भक श्रेष्ठ है; क्योंकि इसी प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना प्राण वायु का पान करती है। सामान्यावस्था में तो दोनों स्वर क्रमशः डेढ़–डेढ़ या पौने दो–दो घण्टे वायु का पान करते रहते हैं और सुषुम्ना भूखी की भूखी रह जाती है। जहाँ दोनों स्वरों से क्रमशः प्राणवायु के द्वारा विचार ही चलते रहते हैं, वहीं सुषुम्नाद्वारा वायु का पान कर लेने पर दिव्य प्रकाश की धारा प्रवाहित होने लगती है, अनाहद नाद भी हुंकार भरने लगता है जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। वह नाभि से गुदा का स्पर्श करती हुई मेरुदण्ड के ठीक मध्य में वक्राकार सर्पाकृति की भाँति सिर के पिछले भाग से गमन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र का स्पर्श करते हुए भ्रूमध्य तक आकर मानो सोई हुई सी है। जिसप्रकार सर्प को छेड़ देने से फुफकारते हुए खड़ा हो जाता है, ठीक इसीप्रकार भ्रूमध्य में मन को केन्द्रित कर प्राणायाम करने पर यह शक्ति प्रकाश और नाद को उगलती हुई प्रकट हो जाती है। साधक सावधान

रहे कि इस सम्पूर्ण ध्यानयोग में शरीर अचल हो, जिससे प्राणवायु शरीर के रोम–रोम में पहुँचकर सोयी हुई शक्ति को वैसे ही जगाये जैसे फूँक–फूँक कर अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। जिसप्रकार वैश्वानर अग्निदेवता जल के द्वारा भोजन का मन्थन कर सम्पूर्ण धातुओं को पृथक्–पृथक् कर उनके नियत स्थान तक पहुँचा देते हैं, वैसे ही प्राणवायु भी शरीरसहित दसों इन्द्रियों और स्थूलचक्रों का मन्थन करके शक्ति को ऊर्ध्वगामी बना देती है।

ध्यान रहे कि यदि एक घण्टा प्राणायाम में लगता है तो तीन घण्टे बिना प्राणायाम का ध्यान होगा, तभी वायु भी पचेगी अन्यथा शारीरिक हानि हो जायेगी। इसीप्रकार दो घण्टे प्राणायाम में लगता है तो पाँच घण्टे ध्यान में और तीन घण्टे प्राणायाम में लगता है तो नौ घण्टे, दस घण्टे, बारह घण्टे ध्यान किया जाना चाहिए।

जिन्हें बहुत ही बेचैनी है कोई रास्ता नहीं मिल रहा है तो दस दिन तक चालीस–पैंतालीस मिनट सवेरे और आधा घण्टा शाम बड़े जोरों से लम्बी और गहरी श्वास लेते हुए भस्त्रिका प्राणायाम करने से अनाहद नाद खुल जाता है, उसी नाद को सुनते हुए ध्यानस्थ हो जाय।

१९७६ में एक साधक को महाराज ने देखा कि उसके पास सर्वप्रथम नाद प्रकट हुआ और नाद में ही उसने अपनी स्मृति को केन्द्रित किया लेकिन आश्चर्य की घटना यह हुई कि अन्त में चिदाकाश से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मानो निगलती हुई गेरुवर्ण की एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई और स्मृति को खींचकर अपने–आप में मिला–घुला ली। उसने देखा कि मैं ज्योति ही हूँ; वहाँ ब्रह्माण्ड या कोई भी शरीर का आवरण है ही नहीं, ज्योति ही उसका शरीर था। समाधि टूटने पर वह आश्चर्य किया कि नाद में स्मृति को केन्द्रित किया था तो ज्योतिर्मय समाधि क्यों लग गयी? उसीप्रकार देखा कि उसी ज्योति का ध्यान कर रहा था और एकसाथ चिदाकाश से दिव्यनाद हुंकार भरता हुआ (मानो हजारों–हजार हवाई जहाज एकसाथ आवाज करते हुए आकाश की तरफ बढ़ें और उस समय जो शब्द हो, कहीं उस शब्द से भी विशेष शब्द) प्रकट हुआ और स्मृति को (मन को) नादमय बना दिया। फिर कुछ समय के उपरान्त उसने उसे चिदाकाश में छोड़ दिया, फिर तो देखा कि चिदाकाश और भूताकाश अर्थात् भीतर–बाहर वही–वही है, न शरीर है, न संसार, न प्रकाश है, न नाद। समाधि टूटने पर उसने देखा कि एक मिनट तक शक्ति रोम–रोम से सन्–सन् कर प्रवाहित होती रही। तब वह समझ गया कि समाधि की अवस्था में यह शक्ति शरीर के भीतर–बाहर वैसे ही प्रवाहित होती रहती है, जैसे लोहे को अग्नि की भट्ठी में डालकर निकाल लें तो वह मात्र अंगार सा दिखाई देगा अर्थात् अग्नि उसके भीतर–बाहर प्रवाहित हो रही होगी और कुछ समय बाद वह पुनः अपने स्वरूप में आ जायेगा। उसे यह भी अनुभव हुआ कि महीनों–वर्षों की समाधि में यही शक्ति बाह्य उत्पातों, जीव–जन्तुओं एवं हिंसक प्राणियों आदि से शरीर की सुरक्षा करती है।

यदि साधक समुद्र सा गम्भीर हो और समाधि के अनुभवों को किसी के सम्मुख प्रकट न करे तो वह समाधि शीघ्रातिशीघ्र संकल्पवत् हो जायेगी तथा अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करा देगी। अन्यथा विज्ञापन करने पर जो है वह भी चली जायेगी। रामचरितमानस में कहा गया है–

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ।।
(बालकाण्ड)

अर्थात् जोग–जप, तप–मंत्रादि को जितना ही गोपनीय रखा जाता है वह उतना ही शीघ्र फलदायी होता है। हाँ, आवश्यकतानुसार संशय की अवस्था में जानकारी के लिए सद्गुरु के पास प्रकटकर, उनसे परामर्श लेना ही चाहिए।

जप, तप, योगादि की अवस्था में भी विचार पीछा नहीं छोड़ते– ऐसी लोगों की शिकायत रहती है! अरे! विचार सहसा पीछा क्यों छोड़ेंगे? वे तो देखते ही हैं कि जब व्यक्ति जाड़े में तापने के लिए ईंधन में आग लगाता है तो सर्वप्रथम उसे धुएँ का ही भोजन करना पड़ता है, कुछ देर के बाद धुआँ एवं आग एकसाथ प्रकट होते हैं तथा सम्पूर्णता से ईंधन जल जाने पर एकमात्र आग ही बची रह जाती है। उसीप्रकार जब भृकुटि के माध्यम से या जप के माध्यम से अन्तर में प्रवेश करना चाहेंगे तो सर्वप्रथम विचाररूप धुएँ का ही सामना करना पड़ेगा। यह स्थिति लम्बे काल तक बनी रहती है। तत्पश्चात् विचार एवं प्रकाश एकसाथ आते रहते हैं तथा कालान्तर में विचारों का लोप हो जाता है और शेष प्रकाश ही बचा रह जाता है। आगे बढ़ने पर तो वह ज्योतिर्मय समाधि संकल्प से प्रकट होती है और संकल्प से ही अपने कारण में विलीन हो जाती है।

पतझड़ होते हुए सभी देखते हैं। बसन्तऋतु का आगमन हुआ नहीं कि पेड़ पुराने पत्तों को छोड़ना शुरु कर देता है। पीपल के पेड़ को ही देखा जाय तो लगभग संक्रान्ति से पतझड़ होना प्रारम्भ हो जाता है और होली तक एक–एक पत्ते गिरते हुए सारे के सारे पत्ते गिर जाते हैं, इसके उपरान्त पेड़ ठूँठा हो जाता है। बाहर से लगता है कि पेड़ सूख गया लेकिन भीतर ही भीतर वह नये जीवन की तैयारी करता है। पन्द्रह दिन में पेड़ नये पत्तों से एकसाथ लहलहा उठता है। एकसाथ का तात्पर्य दस–पन्द्रह दिनों में ही पेड़ सम्पूर्ण पत्तों से भर जाता है। आश्चर्य की बात है कि जिन टहनियों, डालियों से दो महीने, डेढ़ महीने, और पन्द्रह दिन पहले पत्ते गिरते हैं, उन सारी टहनियों एवं डालियों में एक ही साथ कोपलें निकलती हैं। यह पेड़ की प्रतीक्षा एवं धैर्य का अपने–आप में अनूठा उदाहरण है। उसीप्रकार साधक के हृदय में भी 'मैं शरीर हूँ' यह क्षुद्रभावरूपी पेड़ बहुत विशाल रूप धारण कर लिया होता है, जिसमें मैं, तू, मेरा, तेरा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, छल, कपट आदि पत्ते लगे हुए हैं। जब भगवत् कृपा से 'मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ'– ऐसे दिव्य भावरूप बसन्तऋतु का आगमन होता है तो उपरोक्त मैं, तू, मेरे, तेरे तथा काम, क्रोध आदि दोषरूपी पत्ते हररोज ध्यानावस्था में एक–एक करके मानसपटल पर आ–आकर झड़ते रहते हैं अर्थात् गिरते रहते हैं। साधक भ्रमवश समझता है कि विचार आ रहे हैं; जबकि जिस मन के द्वारा विचाररूप पत्ते प्रकट होते हैं, उसी मन से वे गिरते भी हैं। इसलिए साधक पेड़ की तरह धैर्यवान होकर इन विचाररूपी पत्तों को गिरने दे। दस–बारह महीने होते–होते वह देखेगा कि वे विचार अतिसूक्ष्म हो गये हैं, अब बाधा नहीं बन रहे हैं तथा 'मैं निर्विकार आत्मा हूँ'– ऐसा भावरूप दिव्य वृक्ष जो पूर्व के क्षुद्रभाव की जगह खड़ा

हो गया था, अब विशाल हो गया है तथा पूर्व के मायामय वृक्ष को निष्क्रिय कर दिया है और उस दिव्य पेड़ में दिव्यानुभूतिरूप कोपलें एकसाथ प्रकट हो रही हैं तथा कुछ ही महीनों में वे कोपलें दिव्य पत्तों का रूप लेकर चाहे जिन प्राणिपदार्थों से दिव्य ज्ञानरूप प्रकाश का पान कर रही हैं अर्थात् पी रही हैं। इसप्रकार कुछ ही वर्षों में उस दिव्य पेड़ में सम्पूर्ण वृत्तियों का त्यागरूपी फूल लगता है, उसके उपरान्त आत्मज्ञानरूपी फल प्राप्त हो जाता है।

साधक विचारों की चिन्ता करते हैं, जबकि वे विचारों से अति बलवान और सामर्थ्यवान हैं। एक सद्गुरु ने अपने शिष्यों से कहा कि दूध से भरे हुए ये पचास–साठ घड़े हैं तथा जल से भरा हुआ एक घड़ा है, इस जल से भरे हुए घड़े से बिना जल को निकाले, दूधवाले घड़े से इसमें दूध भर दो। ध्यान रहे कि जलवाले घड़े में एकमात्र दूध ही रहे, एक बूँद भी जल न रहे। सारे शिष्यों के मौन ही रहने पर एक भगवत् कृपा प्राप्त शिष्य ने दूध से भरे हुए घड़ों को जल से भरे हुए घड़े में उड़ेलना प्रारम्भ किया। वह दूध तबतक डालता रहा, जबतक जल से भरे घड़े में से जल निकलकर दूध ही नहीं हो गया। गुरुदेव ने प्रसन्न होकर उसको पूरी अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति दे दी।

ठीक उसीप्रकार साधक के हृदयरूपी घड़े में सात्त्विक, राजस एवं तामस भावरूपी विचार लबालब भरे हुए हैं। वह उनकी चिन्ता न करे बल्कि उसमें आत्मचिन्तनरूपी दूध को डालता जाय। प्रथमावस्था में पूर्व के विचारों के साथ यह आत्मचिन्तन भी मिश्रित होकर बहता जायेगा, लगेगा कि यह क्या हो रहा है! जैसे ही जप, तप, ध्यान में बैठता हूँ, वैसे ही विचारों का प्रवाह चल पड़ता है, मानो विचारों की कोई सेना आक्रमण कर रही हो, किन्तु जब साधक साहस, उत्साह और धैर्य के साथ आत्मचिन्तन करना नहीं छोड़ता तो कालान्तर में भीतर–बाहर से आत्मचिन्तन ही स्वयं से प्रकट होने लगता है। यद्यपि इस प्रक्रिया में लम्बा काल लग जाता है; क्योंकि राजस, तामस विचारों का स्रोत मूलाधारचक्र से लेकर विशुद्धचक्र तक फैला हुआ है। उसके उपरान्त तो जैसे प्रारम्भिक चरण में राजस, तामस विचार बलात् आते थे, वैसे ही दिव्यतेजोमय समाधियाँ हठात् आयेंगी; जिन्हें संकल्प से हटाकर आत्मरूप में ही रहना होगा।

पुनः उपरोक्त मंत्रों में से प्रथम मंत्र पर एक बार दृष्टिपात करें, जिससे उठे हुए प्रश्नों का समाधान हो–

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।

इस मंत्र में पाँच पद हैं– पहला– 'वह अकेला रहे', दूसरा– 'जीते हुए मनवाला हो', तीसरा– 'किसी से कुछ न चाहे', चौथा– 'अपने पास कुछ न रखे' और पाँचवाँ– 'अपने आत्मा को सदा परमात्मा में लगावे'। इसको इसप्रकार देखें– १.एकाकी २.यतचित्तात्मा ३.निराशीः ४. अपरिग्रहः और ५.योगी सततमात्मानं युञ्जीत।

प्रश्न खड़ा होता है कि जब अकेला ही रहना है तो साधना क्यों करे? हाँ, इसलिए साधना

करे क्योंकि अकेले में रहनेमात्र से शरीरगत द्रष्टा की भावना होती है, न कि आत्मगत। गर्भ में नौ माह अकेला रहकर ही जीवात्मा पूर्व वासनाओं के संकल्प से शरीर की रचना करता है, तभी बिना व्यवधान के अपने कार्य में सफल हो पाता है। उसीप्रकार बिना एकान्त में रहे आध्यात्मिक मन बुद्धि, चित्त का निर्माण नहीं हो सकता। यदि साधना के प्रारम्भ में ही शिष्य–शिष्या को रखने के चक्कर में पड़ गये तो उनका संकल्प ही अपने संकल्प में बाधा बन जायेगा, अतः अहर्निश ब्रह्मचिन्तन नहीं हो सकता। द्वैतभावनावाले के संसर्ग से ही 'मैं' और 'तू' की भावना 'मैं' एवं 'मेरे' की भावना सिद्ध हो गयी है। अब पुनः अद्वैतभावना को सिद्ध करना है तो बिना द्वैतभाववाले को त्याग किये, ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है। यदि ऐसा है तो राजा जनक को कैसे सिद्धि मिल गयी? इसलिए कि उन्हें आत्मज्ञानी अष्टावक्र जैसा सद्गुरु मिल गया था, जिन्हें उन्होंने अपने तन, मन, वचन एवं हृदय को दान कर दिया था। इसीलिए वे राजा जनक के मन, बुद्धि, चित्त को आध्यात्मिक बनाने में सफल हो गये, किन्तु जिनका सद्गुरु निकट नहीं है तथा जिनका अपने बाल–बच्चों और घर–द्वार पर अधिकार नहीं है, उनके लिए संन्यास लेने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है।

(एकाकी रहसि स्थितः.....) राजा जनक के ऊपर उनके गुरुदेव के अतिरिक्त किसी का शासन नहीं था, इसलिए वे अकेले ही थे। वे स्वयं प्रजापति थे, चाहे जो करें, लेकिन प्रजावर्ग में ऐसा होना असम्भव है। यदि घर में पुत्र विशेष साधना करता है तो व्यावहारिक धर्म आड़े आता है। यदि वह उसका पालन नहीं करता तो पिता–पुत्र में परस्पर विषमता होने की सम्भावना बनी रहती है। जैसे पिता का कोई मेहमान आया और पुत्र उस समय विशेष साधना में बैठा है, तो प्रश्न है कि मेहमान की सेवा कौन करे– पुत्र या पिता? यदि पिता सेवा करता है तो मेहमान हँसी उड़ाता है और पुत्र इस बात पर ध्यान देता है तो साधना विखण्डित होती है। इसलिए संपूर्ण संहिताएँ एवं स्मृतियाँ एक स्वर से कहती हैं कि साधक एवं भक्त को सर्वप्रथम स्वतंत्र हो जाना चाहिये। जिसका संकेत भगवान ने पूरी गीताजी में बहुत बार करते हुए अठारहवें अध्याय में स्पष्ट कह दिया है कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य.....'

(यतचित्तात्मा.....) इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि साधक मन पर विजय प्राप्त करके सद्गुरु के पास या उनकी आज्ञानुसार अकेले वनप्रदेश में रहे बल्कि 'यतचित्तात्मा' का अर्थ है सबसे अनासक्त और ब्रह्मचिन्तन में आसक्त चित्तवाला होकर ध्यानयोग का अभ्यास करे।

(निराशीः.....) वह साधक जगत के लोगों से ही क्या, अपनी साधना से भी ब्रह्म के सिवा कुछ भी न चाहे; क्योंकि साधना में अहर्निश बैठने पर सिद्धियाँ तो न चाहने पर भी प्रकट हो जाती हैं और ध्यानयोग में बाधक बन जाती हैं। यदि अचाह होने पर सिद्धियाँ आती हैं तो उनकी तरफ देखने का मन भी नहीं करेगा। भरत का एकमात्र लक्ष्य था श्रीराम प्रभु को प्राप्तकर अयोध्या लौटा लाना, यही कारण था कि भरद्वाजजी के द्वारा सिद्धियों को प्रकट करने पर भी उन्होंने उनकी तरफ देखा भी नहीं।

(अपरिग्रहः.....) अपने पास कुछ भी न रखे, यहाँ तक कि कल का भोजन भी नहीं, कन्द,

मूल, फल, साग–सब्जी भी बची हुई हो तो पशुओं को खिला दे। कल के दिन सर्दी आयेगी इसलिए कम्बल, चादर रख लेता हूँ– ऐसा भी न करे। एक साधक ने प्रश्न किया कि अमुक संत ने समय को देखते हुए भगवान द्वारा दिये हुए इन कठोर नियमों में संशोधन कर दिया है। महाराज ने कहा तभी तो वे बाद में व्यापारी बन गये और अपने शिष्यों को व्यापार करने का उपदेश दे गये। उनके शिष्यों के गले में जंजीर हाथ में घड़ी, पाँव में सैंडिल एवं शरीर पर टेरीकॉटन के कपड़े रहते हैं। क्या भगवान इस वर्तमान समय को विशेष नहीं जानते थे? ये ही विशेष समय जाननेवाले हैं क्या?

(शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य.....) अबतक इन मंत्रों द्वारा संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी साधकों की ही साधना को प्रकाशित किया गया। अब गृहस्थाश्रमी साधकों, भक्तों के लिए एकान्त देश, पवित्र भूमि की व्यवस्था देखें–

यदि अत्रिमुनि जैसा आत्मज्ञानी पति हो तो वैसे पति के पास रहनेवाली पत्नी के लिए वही एकान्त देश है एवं उसकी सेवा–शुश्रूषा ही पवित्र भूमि में आसन है तथा उसके उपदेशानुसार जप, तप, योग करना ही ध्यानयोग है। इसीप्रकार माँ मदालसा, चूडाला तथा लीलावती जैसी आत्मज्ञानी धर्मपत्नी मिल जाय तो उसके पति के लिए उसकी धर्मपत्नी ही एकान्त देश है तथा उसके उपदेशानुसार ही जप, तप, योग करना ध्यानयोग है। आध्यात्मिक पक्ष में उसकी आज्ञा में ही रहना होगा तथा भौतिक पक्ष में वह आपकी आज्ञा में रहेगी। जैसे माँ बच्चे का शौच साफ करती और दूध भी पिलाती है, उसीप्रकार वह आपकी सेवा–शुश्रूषा भी करेगी और आत्मज्ञान भी देगी। माँ मंदोदरी एवं तारा उन्हीं माताओं में से एक हैं, जिनका उपदेश सुनकर उसके अनुरूप व्यवहार न करने से रावण एवं बाली को क्या दण्ड मिला, सभी जानते हैं। बाली ने तो शरीर त्याग करते समय सुग्रीव को चेताते हुए कहा– सुग्रीव! मैंने इस तारा का घोर अपमान किया है जबकि यह साध्वी है, इसके हृदय में भगवान का वास है, यह प्रकृति के भी सूक्ष्म रहस्यों, संकेतों को जानती है; अतः तुम कभी इसका अपमान मत करना। मेरी बात मानोगे तो जीवन में कभी धोखा नहीं खाओगे। इसीप्रकार यदि मदालसा जैसी आत्मज्ञानी माँ ही मिल जाय तो उसकी सेवा–शुश्रूषा करते हुए तथा उसकी आज्ञानुसार जप, तप, योग करते हुए, उसी के सत्संग से पुत्र आत्मज्ञान लाभ कर सकता है। उसके लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। इसीप्रकार अपना भाई ही आत्मज्ञानी है तो वैसे भाई को त्यागकर कहीं वन–वन भटकने की आवश्यकता नहीं है। संत ज्ञानेश्वर तथा उनके एक भाई और बहन ने अपने भाई को सद्गुरु बना लिया था; क्योंकि वे भगवान में प्रतिष्ठित थे। सभी जानते हैं कि संत ज्ञानेश्वर ब्रह्मज्ञानियों में से एक हैं। महाराष्ट्र के तो बच्चे–बच्चे भी उन्हें भगवान के रूप में ही मानते एवं जानते हैं। महात्मा भरत ने तो अपने बड़े भाई को भगवत्रूप देखते हुए उन्हीं की आज्ञानुसार अयोध्या को ही एकान्त देश तथा उसके निकट नन्दीग्राम को ही पवित्र भूमि बना लिया था और समयानुसार जप, तप, योग एवं प्रजा की सेवा–शुश्रूषा करते हुए जीवनमुक्त हो गये थे। महात्मा लक्ष्मण ने भी अपने भ्राता श्रीराम को ही भगवान के रूप में देखकर उन्हीं की सेवा–शुश्रूषा को अपनी साधना का केन्द्रबिन्दु बनाया और जीवनमुक्त हो गये। यदि किसी पुत्र–पुत्री के पिता ही महर्षि या

ब्रह्मर्षि हैं तो उनके लिए उनकी सेवा ही एकान्त देश तथा आज्ञा ही पवित्र भूमि है एवं उनसे प्राप्त साधना ही ध्यानयोग है। भगवान परशुराम ने अपने पिता जमदग्नि ऋषि को ही सद्गुरु बनाकर भगवत्ता प्राप्त कर ली। ब्रह्मवादिनी योगिनी गार्गी ने भी अपने आत्मज्ञानी पिता को ही सद्गुरु बनाकर उनकी ही अध्यक्षता में जप, तप, योग सम्पन्न कर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया था, जिसने एक बार महाराज जनक की विदेहता की परीक्षा के लिए भरी सभा में उनके तन, मन, वचन को अपने अधिकार में कर लिया था।

आज भी पंजाब, गुजरात, राजस्थान तथा महाराष्ट्र में ऐसे परिवार बहुत हैं, जिनमें सभी सदस्य जपी, तपी एवं ध्यानी, ज्ञानी, विज्ञानी हैं। इन प्रदेशों के बहुत से माता–पिता स्वयं भी चाहते हैं कि हमारे पुत्र–पुत्री घर में ही साधन–भजन कर आत्मज्ञानी बनें और यदि संन्यास ले लिये तो घर न आवें, साधना सम्पन्नकर जगतकल्याण करें। पंजाब के रोहतक शहर में ही लगभग सौ–सवा सौ बच्चियाँ होंगी, जिन्होंने भगवान को ही अपना जीवन दान दिया है।

आत्मानन्द जैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए एकान्त देश में जाने की आवश्यकता नहीं है, न पवित्र भूमि में आसन लगाने की ही आवश्यकता है। ऐसा ब्रह्मचारी तो मात्र सद्गुरु के साथ–साथ रहते हुए उनकी आज्ञापालन करते हुए भी आत्मज्ञान लाभ कर सकता है। आत्मानन्द को महाराज के गुरुदेव ने कहा था कि इनके लिए ध्यान–साधना की आवश्यकता नहीं है, ये तो नित्यप्रति पन्द्रह–बीस मिनट ध्यान में बैठ लें, यही पर्याप्त है।

इस मंत्र के द्वारा भगवान के संकेत को सभी समझें। यदि किन्हीं पुत्र–पुत्रियों के माता–पिता ब्रह्मजिज्ञासु हैं तो वे उनकी कामना का समादर करें और उनकी साधना में बाधा न डालें बल्कि प्रेम के साथ तीर्थ में या सद्गुरु के पास उन्हें जाने में सहयोग करें। इसीप्रकार माता–पिता का भी कर्तव्य है कि वे उन पुत्र–पुत्रियों की ब्रह्मकामना का स्वागत करें और सद्गुरु के पास स्वयं भेजें।

(ब्रह्मचारिव्रते स्थितः.....) इसका गृहस्थाश्रम के साधकों के अनुरूप अर्थ देखें यदि पति–पत्नी दोनों ही जपी, तपी, योगी एवं ध्यानी हैं और ऋतुकाल में अपने और धर्मपत्नी के रजोगुण निवृत्ति के लिए सम्बन्ध करते हैं तो वे भी ब्रह्मचारियों की श्रेणी में ही आते हैं। यदि वे दोनों एक–दूसरे को विषय–वस्तु न समझकर अपने–आपको एक–दूसरे का साधन समझें तो वह दिन दूर नहीं, जब दोनों काम–क्रोधादि विकारों से मुक्त हो जायेंगे। वे ये न भूलें कि संन्यासी ब्रह्मचारियों को भी स्वप्नदोष होता है, जो लम्बे काल तक चलता है। प्रथम अवस्था में तीन महीने–चार महीने में, द्वितीय अवस्था में छः–सात महीने में, तृतीय अवस्था में आठ–दस महीने में और चुतर्थावस्था में साल–डेढ़ साल में वीर्य स्खलित हो जाता है, जो आगे चलकर पूर्णतः बन्द हो जाता है। यह वीर्य नहीं गिरता बल्कि जन्म–जन्म का दोष गिरता है। यदि पिता चोर है, छली–कपटी है, कंजूस है, दस प्रतिशत लाभांश का दान नहीं करता और उसीकी सम्पत्ति खाकर कोई साधक साधना करता है तो निश्चित ही वह अशुभ पदार्थ साधना अवस्था में स्वप्नदोष का बहाना बनाकर गिर जायेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो वही वीर्य वेश्या के पास

ले जाता है। उसी वीर्य ने तो बहुत लोगों को शराबी, जुआरी, मांसाहारी एवं हिंसक बना रखा है। अतः साधकों के लिए स्वप्नदोष भगवान के द्वारा दी गयी एक व्यवस्था है। इसीप्रकार समाज–परिवार के द्वारा धर्मपति एवं धर्मपत्नी को देना एक व्यवस्था है। पति–पत्नी एक–दूसरे के वीर्य को पीते हुए आगे बढ़ते हैं। भगवान शंकर ने समुद्रमन्थन के समय हलाहल विष पी लिया, उसीप्रकार धर्मपत्नी एवं धर्मपति एक–दूसरे के रजोगुणरूपी विष को पी लेते हैं और कुछ ही वर्षों में निर्विकार हो जाते हैं। दोनों ही एक–दूसरे के लिए संन्यासी बन जाते हैं। वे दोनों ही प्रतिज्ञा करलेते हैं कि शादी के पूर्व भी हम भाई–बहन थे, अब पुनः भाई–बहन की तरह रहते हुए एकसाथ भगवान के लिए जीयेंगे। इसप्रकार वे संन्यासी–ब्रह्मचारी की भूमि में ही प्रवेश कर जाते हैं। हाँ, गृहस्थाश्रम में साधना थोड़ी कठिन हो जाती है, समय लम्बा लग जाता है; लेकिन ऐसा नहीं है कि साधना वहाँ सिद्ध ही नहीं होती। गृहस्थाश्रम भी एक दिव्य यज्ञशाला है, दिव्य यज्ञकुण्ड है, वह दिव्य एकान्त भूमि है; यदि सभी सदस्य एक साथ या बारी–बारी से जप–ध्यान में बैठते हैं तो।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब पति–पत्नी एक–दूसरे के रजोगुणरूपी विष को पी लेते हैं, तो शादी–शुदा होकर ही साधना क्यों न करे? नहीं, ऐसा भगवान नहीं कहते। वे तो कहते हैं कि जिस समय विषय प्रिय न लगे, इन्द्रियाँ भौतिक विषयों से उपराम हो गयी हों, वैसी अवस्था में एकान्त देश में, ब्रह्मचारी के व्रत को धारण कर ध्यानयोग का अभ्यास करें। इससे सिद्ध होता है कि बचपन में ही, जिसे भगवत्कामना प्राप्त हो गयी, वह जवानी की प्रतीक्षा क्यों करेगा? जिसे शादी के पूर्व ही ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट हो गयी, सोलह आने में बारह आना निर्विषयता प्राप्त हो गयी तो वह शादी क्यों करेगा? मुख्य बात तो है निर्विषयी होना। जिसके माता–पिता भगवान के भक्त हैं, जिनका कुल ही भगवान का कुल है, जिन्होंने शुद्ध प्रसाद का ही सेवन किया है, वे तो सहज ही अन्तर्मुख होते हुए आगे बढ़ते हैं। उपरोक्त जो पति–पत्नी के लिये परस्पर में ऋतुकाल में मैथुन की व्यवस्था की बात की गयी है, वह तो विवशतापूर्ण व्यवस्था है, न कि सहजतापूर्ण। अब जिनकी शादी हो गयी है, दो–चार साल धर्मपत्नी या पति एक–दूसरे को विषयी ही समझ लिए हैं तथा भगवान को पाने की कामना भी उठ रही है, उनके लिए कहा गया है कि अब मैथुन रजोगुण निवृत्ति की कामना से स्वीकार करें, न कि आनन्द पाने की कामना से। भावना ही तो प्रधान है, विषय को आनन्द भोगने के लिए स्वीकार करना और उससे निवृत्त होने के लिए स्वीकार करना, ये दो बातें हैं। जैसे साधनाकाल की प्रथम अवस्था में साधक दो बार हल्का आहार लेता है और दूसरी अवस्था में एक बार लेता है तथा तीसरी अवस्था में जब साधना से एक दो दिन में उठता है, तब लेता है एवं चौथी अवस्था में दस–बारह दिन के लिए समाधिस्थ हो गया तो भोजन–प्रसाद लेता ही नहीं है। यही बात उपरोक्त विषय को स्वीकार करने, न करने के सन्दर्भ में जाननी चाहिए। ये तो सभी जानते हैं कि विषयी धर्मपत्नी से विषय बढ़ता है। उसीप्रकार विषयी पति से निर्विषयी धर्मपत्नी का विषय बढ़ता है लेकिन यदि दोनों ही निर्विषयी होना चाहते हैं भगवान के लिए तो विषय घटेगा, बढ़ेगा नहीं।

सन् २००० में एक ब्रह्मजिज्ञासु ने संन्यास लेना चाहा। उसके पिता ने विरोध किया और

उसकी शादी कराने में सफलता प्राप्त कर ली। उसके सद्गुरु ने कहा– कोई बात नहीं, तुम कमजोर हो, पिता के प्रति मोह है, इसलिए ऐसी घटना घट गयी। अब तुम अपने अलग कमरे में ही रहना संयुक्त बिस्तर (डबलबेड) को स्वीकार मत करना। ऐसा करने से कभी–कभी मैथुन की कामना होगी, उसे सहन करना। दस–बारह बार सहन करने पर जब मैथुन के प्रति अति विकलता हो जाय तो जाकर सम्बन्ध कर लेना लेकिन साधक ने परिवार की व्यवस्था को ही माना, सद्गुरु की व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। अब चार–पाँच साल में जो कुछ वैराग्य था, वह भी चला गया। ब्रह्मप्राप्ति की कामना तो है लेकिन विषयता भी अपनी चरम–सीमा पर है। वह कहता है कि लगता है– ब्रह्मजिज्ञासा भी कहीं चली न जाय। ऐसे साधक के लिए ही उपरोक्त व्यवस्था दी गयी है कि जो साधक गृहस्थाश्रम के अनुकूल ब्रह्मचर्य की व्यवस्था में रह नहीं सकते, उनके लिए स्पष्ट कहा गया है कि 'वे दूर देश चले जाएँ, जहाँ न अपनो कोय। कोई खाकर मरे या जीये, जीये हँसे या रोय।।'

तो आयें अब ध्यानयोगी के आध्यात्मिक अंग–उपांगो पर थोड़ा ध्यान दें–

ध्यानयोगी का–

सद्गुरु ही	–	एकान्त देश है।
सद्गुरु आश्रम या वह जहाँ भेज दे वही उसकी–		पवित्र भूमि है।
आत्मचिन्तन ही	–	शरीर है।
ब्रह्मचर्यव्रत ही उसका	–	मुख्य प्राण है।
अहिंसाव्रत ही उसका	–	अपान है।
तथा ब्रह्मचर्य के आठ अंग	–	अन्य आठ प्राण हैं।
स्वाध्याय एवं सर्वत्र आत्मदृष्टि	–	दो दिव्य नेत्र हैं।
सत्संग एवं सद्गुरुसिद्धान्त श्रवण	–	दो दिव्य कान हैं।
विषय–अरुचि एवं ब्रह्मजिज्ञासा	–	दो दिव्य नाक हैं।
अचाह एवं अपरिग्रह	–	दो दिव्य पाँव हैं।
जीता हुआ मन (चित्त)	–	उसका मुख है।
सात्त्विक धृति (जप, तप, योग)	–	दिव्य भोजन है।
ब्रह्मभाव	–	दिव्य जिह्वा है।
अहं ब्रह्मास्मि	–	ध्यानयोग है।
सर्वाहमस्मि (सब कुछ मैं ही हूँ)	–	आत्मा है।

(.....योगो भवति दुःखहा) सम्पूर्णदुःखों का नाश करनेवाला यह ध्यानयोग तो आध्यात्मिक तन, मन, वचन एवं हृदयादि के द्वारा सम्पन्न होता है, सिद्ध होता है। घोर तप तो असुरों ने भी किया है लेकिन उनकी आन्तरिक वेदना अर्थात् आसक्तिरूप दुःख समाप्त नहीं हुआ। रावण, बाणासुर आदि ने घोर तप करके भगवान शंकर और ब्रह्मा के द्वारा त्रिलोकी के पद को भी स्वीकार कर लिया; लेकिन उनका अन्तर दुःख–दर्द तो रह ही गया, काम, क्रोध से होनेवाली पीड़ा ज्यों की त्यों रह गयी। शरीराभिमानरूपी महादुःख घटने की जगह बढ़ता ही गया, जिसका परिणाम हुआ कि वे दुःख–दर्द लेकर ही परलोकगामी हो गये। सकाम जप–तप में आन्तरिक वेदना दिखाई नहीं पड़ती, वह तो जब साधक रोम–रोम से ब्रह्मजिज्ञासु हो जाता है, तब उसके सामने वह पीड़ा दिखाई पड़ती है। वह भगवान के वियोग में उस समय ऐसे कराह उठता है, जैसे पुत्र के खो जाने पर माँ, अपनी मणि के खो जाने पर सर्प। यह ध्यानयोग उसी दुःख का नाश करता है; क्योंकि उसके लिए कोई भी संयोग वियोग का कारण ही नहीं होता।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥१९॥

इसप्रकार जिस साधक का चित्त योग के निरन्तर अभ्यास से भली–भाँति सम शान्त हो चुका है और अपने ही आत्मा में स्थिर हो गया है तथा सम्पूर्णकामनाएँ अपने ही कारण में विलीन हो गयी हैं, वैसे ही साधक को संन्यासी एवं योगी कहा जाता है। कामनाएँ अपने कारण में विलीन हो गयी हैं, इसका तात्पर्य क्या है? तो सुनें– कामनाओं का कारण अज्ञान है और अज्ञान का कारण ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान को धारण किया जाता है। सभी जानते हैं कि एक दिन शरीर को मरना है तो भी इसी की सुख–सुविधा को प्राप्त करने के प्रयत्न में आसक्त हैं। वे यह जानते ही नहीं कि 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ', 'कहाँ जाऊँगा'। यह सत्य जानकारी होते हुए भी असत्य कामनाओं को धारण कर रहे हैं लेकिन जब साधक ध्यानयोग के द्वारा ज्ञान–अज्ञान से भली–भाँति मुक्त हो जाता है तो उस समय सम्पूर्ण कामनाओं का अन्त होकर एकमात्र अपने स्वरूप की स्थिति ही बनी रह जाती है। ऐसे ब्रह्म के अभिमुख हुए चित्तवाले साधक की स्थिति क्या होती है? उसके विषय में भगवान कहते हैं– जिसप्रकार वायुरहित स्थान में जलती हुई दीपक की लौ हलन–चलन से रहित होकर ऊपर की तरफ ही सम शान्त बनी रहती है, ठीक यही उपमा साधक के ब्रह्ममय चित्त के लिए दी जाती है; अर्थात् वह योगी हृदय से अच्छीप्रकार निर्विषयी होने के कारण विषयी पुरुषों के संसर्ग से भी विषयी नहीं होता। अथवा जिसप्रकार पतिव्रता नारी पति के दुर्व्यवहार से, भगवद्भक्त पुत्र पिता–माता के व्यवहार से, धर्मात्मा मित्र अपने मित्र के दुर्व्यवहार से विचलित नहीं होते, वैसी ही स्थिति शुद्ध साक्षीरूप हुए योगी के जीते हुए चित्त की होती है। अब पुनः जीते हुए चित्त का स्वरूप क्या होता है, इसे जानना चाहिये–

जिस चित्त से अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ), सर्वाहमस्मि (सर्वत्र एवं सर्वरूप मैं ही हूँ)– ऐसी दिव्य अनुभूति न चाहते हुए भी अहर्निश प्रकट होती रहती है उसे जीता हुआ चित्त कहा जाता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि ऐसी अनुभूति को प्राप्त कर सम शान्त चित्त हो जाने के कारण वह जड़वत् हो जाता हो? इसपर भगवान कहते हैं– नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है–

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

अहर्निश ध्यानयोग में रहने से, अज्ञानात्मक चित्त के ज्ञानरूप हो जाने से आध्यात्मिक बुद्धि के द्वारा अपने आत्मस्वरूप में ही अत्यंत संतुष्ट होता रहता है। भले ही उसके सुख की कल्पना आमलोगों की कल्पना के बाहर है किन्तु वह ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है, जिसकारण से वह अपने स्वरूप से विचलित होता ही नहीं।

(सुखमात्यन्तिकं यत्तद्.....) वह परमानन्द, जिसे आत्यंतिक सुख कहा जाता है, परम बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, न कि दृष्टि के द्वारा, न कि मन के द्वारा, न कि वाणी के द्वारा, न कि शरीर के द्वारा।

जब ज्योतिर्मय समाधियों के द्वारा प्राप्त हुए आनन्द के सुख को ही साधक बखान नहीं कर सकता, अपनी वाणी से कह ही नहीं सकता तो परमानन्दरूप नित्यनिरतिशय परम सुख को वह अपनी वाणी से कैसे व्यक्त कर सकता है। इसी से भगवान ने यहाँ पर आत्यंतिक सुख कहा है। सुख, विशेष सुख तथा परम सुख– ये तीन प्रकार के सुख होते हैं। विषय के संयोग की अवस्था में प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय सुख को सुख कहते हैं, चेतन समाधियों के द्वारा प्राप्त होनेवाले सुख को विशेष सुख अर्थात् दिव्य सुख कहा जाता है तथा द्रष्टा के अपने स्वरूप में स्थित हो जाने पर आध्यात्मिक बुद्धि का उसके द्वारा संयोग होने पर जो प्राप्त सुख है उसी को परम दिव्य सुख अर्थात् आत्यंतिक सुख कहा जाता है। भगवान ने यहाँ आत्यंतिक सुख इसलिए कहा क्योंकि साधक कहीं ध्यान और समाधि से प्राप्त हुए दिव्य सुख में आसक्त होकर रह न जाएँ।

महाराज ने एक ऐसे साधक को देखा है जो चेतन समाधि के कारण से प्राप्त होनेवाले दिव्यशब्द, दिव्यस्पर्श, दिव्यरूप, दिव्यरस तथा दिव्यगन्धरूप सिद्धियों से सम्पन्न है, लेकिन जब

उसके सामने प्रतिकूलता आती है तो वह अपने स्वरूप से सर्वथा विचलित हो जाता है और जिस पुरुष के द्वारा प्रतिकूलता की प्राप्ति हुई रहती है, उस पुरुष को उस समय मार ही देना चाहता है। अतः इस दिव्य सुख को भी भगवान सामान्य सुख ही मानते हैं।

(यत्रोपरमते चित्तं.....) फिर सामान्य चित्त क्या है, जो दुःखरूप संसार से योग करानेवाला है?

'मैं शरीर हूँ, यह संसार है, ये मेरे स्वजन हैं, ये मेरे हित, मित्र, वैरी हैं'– यही सामान्य चित्त है और भी सुनें– जाग्रदवस्था चित्त है, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था चित्त है, राग–द्वेष, अभिनिवेश (भयवृत्ति) चित्त है– महर्षि पतञ्जलि ने इसप्रकार चित्त को पाँच भागों में विभक्त किया है। ऐसे चित्त से संयोग हो जाने से साधक की आत्मा का परमात्मा से वियोग हो गया है, इसलिए उसके ऊपर भारी दुःख आ पड़ा है। ऐसा विचारकर ही वह साधक ध्यानयोग के द्वारा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, राग, द्वेष, अभिनिवेशरूप चित्त पर शासन करता है। जाग्रत् चित्त की स्मृति पर शासन करने पर ब्रह्मस्मृति से योग हो जाता है। यही नहीं, ब्रह्मसंकल्प से भी योग हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह साधक सात्त्विक, राजस एवं तामस विचारों से कहता है– ठहरो! तो विचार ठहर जाते हैं। ठीक इसीप्रकार वह नानाप्रकार की कुवृत्तियों एवं सुवृत्तियों पर भी शासन करता है। फिर अधिकार में आयी हुई कुवृत्तियों, सुवृत्तियों तथा विचारों का वह करता क्या है? हाँ, वह इन्हें ब्रह्मरूप में रूपांतरित कर देता है और कहता है–

ॐ आनन्दमयमानन्दमयं च शान्तिमयमशान्तिमयम्।
वृत्तिमयमवृत्तिमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

जैसा कि देवी को ही सर्वत्र सबरूपों में देखनेवाले मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है– या देवी सर्वभूतेषु मनसारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।। या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण, चित्तरूपेण, वृत्तिरूपेण, काम, राग, द्वेषरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।। इत्यादि इत्यादि।

यह अभिनिवेश चित्त क्या है? अभिनिवेश कहते हैं, भय वृत्ति को। यह भय वृत्ति मनुष्य से देवता तक, चींटी से हाथी तक अर्थात् सभी प्राणियों के चित्त तक फैली हुई है, सभी को मृत्यु का भय सताता रहता है। सर्प को मनुष्य से, मनुष्य को सर्प से, चूहे को सर्प से, सर्प को मोर से तथा मोर को शिकारी से, सज्जनों को दुर्जनों से तथा दुर्जनों को अपने से बड़े दुर्जनों से इत्यादि, इत्यादि। कोई दरिद्र होकर भिक्षा माँग रहा है लेकिन जीना चाहता है, सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो गया है, बाल–बच्चे घृणा कर रहे हैं, तो भी वह जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता है यही अभिनिवेश नामक वृत्ति है।

एक संत ने गोबर के कीड़े से पूछा कि आपको नारकीय जीवन से मुक्त कर दूँ? कीड़े ने पूछा– कैसे? संत ने कहा कि मारकर। कीड़े ने कहा कि नहीं, नहीं, महाराज! मुझे तो किसीप्रकार के कष्ट का अनुभव ही नहीं हो रहा है, मैं तो उन्हें नारकीय प्राणी मानता हूँ जो

गधे की तरह बोझ ढोते–ढोते मरते हैं। संत ने कहा कि स्वर्ग की कामना तो आपको भी है? कीड़े ने कहा– हाँ, क्यों नहीं; पर स्वर्ग की कामना है तो क्या हुआ? मैं तो समय से ही मरना चाहता हूँ। संत ने मन में कहा कि यही अभिनिवेश क्लेश है। यह अभिनिवेश क्लेश पृथ्वी तत्त्व से लेकर आकाश तत्त्व तक फैला हुआ है। ध्यानयोगी देखता है कि मैं कभी मर ही नहीं सकता और शरीर कभी बच ही नहीं सकता। ऐसा दृढ़निश्चयी आध्यात्मिक चित्त ही दुःखरूप योग से वियोग कराता है। उसे और क्या फल मिलता है इसपर भगवान कहते हैंः–

(यं लब्ध्वा चापरं लाभं.....) अपनी अखण्डित आत्मस्वरूप स्थिति को पाकर दूसरे लाभ की तरफ देखता ही नहीं है तो उन लाभों को बड़ा क्या मानेगा? स्वयं के स्वरूप में स्थित होना ही उसका परम लाभ है जिसके लिए वह चिरकाल से प्रतीक्षारत था। साधनाकाल में बहुत से लाभ होते हैं– सर्वप्रथम कीर्ति फैल जाती है लेकिन उसे वह लाभ नहीं मानता, उसमें सन्तुष्टि नहीं होती, दूसरी अवस्था में अणिमा, गरिमा, वसिता, दिव्य–स्पर्शता आदि अनेकानेक सिद्धियों का लाभ मिलता ही है; किन्तु वह उसे भी लाभ नहीं मानता; क्योंकि ये सिद्धियाँ तो असुरों के द्वारा साधना करने पर भी मिल जाती हैं। इसप्रकार निश्चित ही इन लाभों को जब त्यागता हुआ साधक आगे ही बढ़ता जाता है, तो वह अपने स्वरूपानुभूतिरूप लाभ को ही परम लाभ मानता एवं जानता है। यही नहीं, जब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो दैहिक, दैविक एवं भौतिक इन तीनों प्रकार के तापों में से कोई भी ताप, कोई भी भारी दुःख आने पर अपने स्वरूप से वह विचलित नहीं होता। वह ऐसा नहीं सोचता कि मेरी किडनी सड़ क्यों गयी, मेरे शरीर में कैंसर रोग क्यों हो गया, मेरा प्रियपुत्र क्यों मर गया, मेरे धर्मात्मा पति क्यों मारे गये, उन्होंने तो किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा था। मेरी धर्मपत्नी क्यों डूब मरी; क्योंकि इस जन्म में तो वह सदा–सर्वदा भगवत्पूजा एवं संतसेवा में ही लगी रहती थी.....इत्यादि इत्यादि।

महात्मा प्रह्लाद के ऊपर भारी दुःख आ गया था पिता के ही द्वारा; किन्तु उन्होंने एक बार भी नहीं कहा कि दुःख मेरे पर क्यों आया और न ही दुःखों से ही कहा कि हे दुःख! तुम्हें मेरे शरीर को पीड़ा देकर क्या मिलेगा, तुम मुझ भगवद्भक्त को क्यों सता रहे हो! मैं तो किसी के प्रति स्वप्न में भी बुरा नहीं सोचता, इत्यादि–इत्यादि। यही नहीं, स्वयं महाराज युधिष्ठिर की सारी सम्पत्ति छल से छीन ली गयी थी; किन्तु उन्होंने कभी नहीं सोचा कि मैंने तो कभी असत्य व्यवहार किया ही नहीं, फिर जूए में क्यों हारा और मैं वन–वन क्यों भटक रहा हूँ? ठीक इसके विपरीत द्रोणाचार्य पर भी भारी दुःख आ पड़ा, जब उन्होंने सुना कि अश्वत्थामा मारा गया तो सुनते ही वे अति विकल हो गये। इतना ही नहीं, उन्होंने धनुष–बाण भी त्याग दिया। वहीं जब आत्मज्ञानी अर्जुन के पास महाभारी दुःख आया यानी पुत्र मारा गया तब उन्होंने द्रोणाचार्य की तरह धनुष–बाण फेंककर यह नहीं कहा कि मैं युद्ध ही नहीं करूँगा बल्कि प्रतिज्ञा कर ली कि अभिमन्यु के मारे जाने के मूल कारण जयद्रथ को कल मार डालूँगा, ऐसा नहीं कर पाया तो अग्नि में जलकर मर जाऊँगा। उन्होंने यह भी ध्यान नहीं दिया कि अग्नि तो उन्हें जला ही नहीं सकती। इसप्रकार द्रोणाचार्य के ऊपर आया हुआ भारी दुःख उनके ही वध का कारण बना और

अर्जुन पर आया हुआ भारी दुःख उनके उत्थान का कारण बना। अभिमन्यु वध के पूर्व वे गुरुजनों के सामने युद्ध करने में संकोच करते थे लेकिन जब देखा कि गुरुदेव की अध्यक्षता में ही अभिमन्यु छल से मारा गया तो हुंकार कर बैठे फिर तो उनका युद्धकौशल, युद्धोत्साह एवं भीषण–संग्राम देखते बनता था। उनके युद्धकौशल को देखकर साधुवाद दिया जाने लगा। स्वयं महाराज ने दो–तीन आत्मज्ञानी सन्तों के शरीर पर भारी दुःख पड़ते देखा है लेकिन उन सन्तों के स्वरूप को वह दुःख विकृत न कर सका, अपने स्वरूप से उन्हें विचलित न कर सका।

संन्यासी–ब्रह्मचारी के पास भी भारी दुःख आ जाता है लेकिन वह अपने कर्म, धर्म एवं स्वरूप से विचलित नहीं होता। साधकों पर कौन सा भारी दुःख आ जाता है, जिन्होंने घर त्याग कर दिया है? हाँ; साधनावस्था में बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिलते देख घर लौट जाने का मन करना ही भारी दुःख आ पड़ना है, हित–मित्रों, भाई–बान्धवों अर्थात् स्वजनों से मिलने का मन करना ही भारी दुःख है, इन स्वजनों के कारण साधना के नियमों को तोड़ना ही भारी दुःख का आ पड़ना है, ध्यानयोग के समय चित्तवृत्तियों द्वारा सहसा आक्रमण कर देना ही भारी दुःख आ पड़ना है। भगवान कहते हैं– वह अपने–आप में प्रतिष्ठित योगी उपरोक्त भारी दुःखों से विचलित नहीं होता। इसप्रकार इन सम्पूर्ण भारी दुःखों से उसकी महत् अनासक्ति तो देखते ही बनती है।

अब प्रश्न है कि आत्मज्ञानी पर दुःख क्यों आता है? वह स्वयं दुःखहर्ता है, सृजन, पालन, संहारकर्ता है, तो ऐसी शक्ति–सामर्थ्यवालों के ऊपर दुःख क्यों आयेगा? यही नहीं, स्वयं भगवान ने चौथे अध्याय में कहा है कि 'उस ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी के सम्पूर्ण कर्म वैसे ही जल जाते हैं, जैसे अग्नि में ईंधन' और इधर स्वयं भगवान उसीपर भारी दुःख के आने की बातें करते हैं, यह तो संगति नहीं बैठती? बात तो ठीक ही है; किन्तु समझने की बात है। भगवान कहते हैं– 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (अ० ४)– ज्ञानाग्नि उसके सम्पूर्ण कर्मों को जला देती है अर्थात् उसके कर्तापने के भाव को जला देती है। मैं शरीर हूँ, यह मेरा शरीर है, ये मेरे भाई–बान्धव यानी स्वजन हैं, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा देश है, मैं भक्त हूँ, साधक हूँ, इत्यादि भावों को ही ज्ञानाग्नि जला डालती है, न कि शरीर को या शरीर के प्रारब्ध को। हाँ, शरीर और उसका प्रारब्ध उसके अधिकार में हो जाता है। वह जब चाहता है तो शरीर के प्रारब्धों को बुला लेता है ताकि वे अपना काम कर लें। वे उसी समय आकर उस शरीर में नानाप्रकार के रोग के रूप में प्रकट हो जाते हैं, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके शरीर के भारी दुःख को तो उनके निंदक भोगते हैं और अपने भक्तों के भारी दुःख को उनका शरीर भोग लेता है। शरीर को दुःख भोगते हुए वे तो वैसे ही देखते हैं, जैसे कोई अन्य व्यक्ति शरीर को दुःख भोगते हुए देखता है। रामचरितमानस में एक गूढ़ात्मक प्रसंग है, जिसका भाष्य करते हुए महाराज के गुरुदेव कहते हैं– *'दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।।'*

जिसके हृदय में राम का प्रभाव हो गया, उसके मन में दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप का प्रभाव नहीं पड़ सकता अर्थात् ये दुःख उसके शरीर को स्पर्श करेंगे लेकिन उसके मन को नहीं।

महाराज ही क्या! बल्कि सभी सन्तों की ही अनुभूति है कि साधनावस्था में तो दैहिक (फोड़ा–फुन्सी, शारीरिक रोग), भौतिक (जल में डूबना, अग्नि से जलना, भूकम्प में मारा जाना, लू लगना, विशेष ठंढ से शरीर का चले जाना आदि) ताप होते ही नहीं हैं। हाँ, साधना सिद्ध हो जाने पर वह आत्मज्ञानी शरीर को छोड़ देता है कि अब तुम दुःखों को भोग लो, इसमें मेरी कोई हानि नहीं है।

(यं लब्ध्वा चापरं लाभं.....गुरुणापि विचाल्यते) सद्गुरु कृपा से प्राप्त दिव्य दृष्टि से दिव्य सम्वाद को सुनने एवं सुनानेवाले भक्त संजय ने कहा– राजन्! ये मधुसूदन आपके महात्मापुत्र अर्जुन को अभयता की दीक्षा भी दे रहे हैं।

वह कैसे संजय!

लगता है राजन्! कि अर्जुन के मन में पितामह, आचार्य एवं कर्ण आदि को देखकर मोह के साथ कुछ भय का भी अंश आ गया था।

यह तो स्वाभाविक ही है, संजय! क्योंकि ये सभी महारथी अजेय तो हैं हीं।

तो सुने राजन्! अब मानो भगवान आपको सन्देश दे रहे हों कि आत्मज्ञान हो जाने के उपरान्त अर्जुन के सामने भारी से भारी दुःख आ जाने पर भी ये अपने स्वरूप से विचलित नहीं होंगे, वहीं जब अर्जुन इनके सामने भारी दुःख के रूप में प्रकट होंगे तो ये सारे के सारे अपने को अजेय मानने–जाननेवाले मन से विचलित हो जायेंगे।

अब तो यह समय ही बतायेगा संजय! यह तो सिद्धान्त की बात है, प्रयोग की प्रतीक्षा करो।

(संजय का मुसकराते हुए भगवान के सम्वाद की तरफ ध्यान देना!)

(तं विद्याद् दुःखसंयोग.....) जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है उसके विषय में अच्छीप्रकार सद्गुरु के मुख से सुनकर, हृदयंगम कर, उसे धैर्य और उत्साह के साथ बिना उकताए हुए (बिना घबराये हुए) चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

इस ध्यानयोग की महिमा गाते–गाते प्रभु का हृदय दयार्द्र हो उठा और वे अपने परम प्रिय भक्तों को सन्देश दे बैठे कि यह योग मेरे परम प्रिय भक्तों को अवश्य करना चाहिए। वे यह न सोचें कि यह ध्यानयोग तो अति कठिन है; कठिन तो है लेकिन साध्य भी है। जब भगवान कह रहे हैं तो उनकी आज्ञा का पालन करके देखना चाहिए। जीवन को दाव पर लगानेवाली बात प्रभु ने की है। मानो वे कह रहे हों कि क्षुद्रनिश्चय, भगवत् आज्ञा पालन करनेवाले दृढ़निश्चय से छिन्न–भिन्न हो जाता है, जैसे अंगद ने प्रभु श्रीराम की आज्ञा को अति महत्त्व दिया। उन्होंने कहा– हे प्रभु! आपने मुझे आज्ञा दी, इससे यही सिद्ध होता है कि मैं रावण का मान–मर्दन अवश्य करूँगा; क्योंकि आपकी आज्ञा में ही सम्पूर्ण शक्ति सन्निहित है। श्रीराम प्रभु भी राज्यासीन होते ही अपनी प्रजा से यही कहते हैं कि यह जीवन भगवान की कृपा से प्राप्त हुआ है, न कि पुण्य की कृपा से। अतः

भगवद् कृपारूप प्रसाद (इस शरीर) को स्वजनों के लिए ही दाव पर न लगा दें बल्कि भगवान की वस्तु से भगवान का काम करें अन्यथा बड़ा–भारी दुःख प्राप्त होगा। वह यह कि मृत्यु के उपरान्त आप भूत–प्रेत बनकर अनन्तकाल तक भटकते रहेंगे। अयोध्यावासियों ने प्रभु का कहना माना और सभी निष्काम कर्म, जप, तप, योग में लग गये। सभी जानते हैं कि भगवान के साथ वे सभी साकेत धाम चले गये थे, सभी मुक्त हो गये थे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने भी यहाँ अपनी प्रजारूप भक्तों से यही माँगा है। बिना घबराये हुए मन से यह योग करना चाहिए, ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि इस ध्यानयोग में मन विकल होगा, मन का उच्चाटन हो जायेगा लेकिन उच्चाटन होने का तात्पर्य यह नहीं कि ध्यान को ही त्याग दिया जाय बल्कि धैर्य के साथ खोज करें कि ध्यान लग क्यों नहीं रहा है अर्थात् ध्यान प्रकट क्यों नहीं हो रहा है? मैंने कौन सा अपराध कर दिया है कि मेरी आत्मस्मृति की विस्मृति हो जाती है? वह कौन है जो मेरी याद को अपनी तरफ खींच रहा है?

भगवती सीता का रावण ने अपहरण कर लिया। उनके आर्तनाद को सुनकर भी भगवान नहीं आ रहे, तो उन्होंने उस विषम परिस्थिति में खोज किया कि भगवान मेरी सुरक्षा में आ क्यों नहीं रहे हैं? सर्वप्रथम वे प्रार्थना करती हैं फिर प्रभु की यदा–कदा की हुई अहैतुकी कृपा को भी याद करती हैं। कहती हैं– हे प्रभु! आप इस ब्रह्माण्ड में अद्वितीय वीर हैं, आप ही निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म हैं, आप मुझे कितना चाहते हैं, मैंने सदा अनुभव किया है– जयंत ने थोड़ा सा अपराध किया तो आपने उसके शरणागत होने पर भी एक आँख ही ले ली, विराध ने मुझे जैसे ही पकड़ा तो आपने उसके प्राण ही ले लिए, शूर्पणखा ने थोड़ा सा डराने का प्रयत्न किया था तो आपने उसकी नाक–कान ही काट ली। आज उसी आपकी अर्धांगिनी को, आपकी आत्मा को राक्षसराज रावण बलात् लिए जा रहा है लेकिन आपकी बड़ी भुजा रावण के गले तक नहीं पहुँच रही है तो अवश्य ही मेरे से कोई बड़ा अपराध हो गया है। माँ सीता ने जैसे ही कारण की खोज की, वैसे ही उत्तर आ गया, कारण का पता चल गया और बोल उठीं– अरे! ये जितेन्द्रिय लक्ष्मण आपको मेरे से भी विशेष प्रिय हैं, जिन्होंने अपनी साध्वी माँ को आपके लिए त्यागा है, जिन्होंने अपनी तपस्विनी उर्मिला को आपके लिए त्यागा है, वैसे आपकी प्रिय आत्मा लक्ष्मण के चरित्र पर ही मुझ अभागिन ने उँगली उठायी थी, इसीकारण से आपने अत्यन्त कुपित हो, मेरी सुध–बुध भुला दी है। आप सोच रहे हैं कि ऐसी नारी जगत में न रहे तो ही अच्छा है। संत सच ही कहते हैं कि अपना किया हुआ ही कर्म जीव को प्राप्त होता है, इस न्याय से लक्ष्मण जैसे ब्रह्मचारी को मैंने कलंकित करना चाहा तो रावण ने मुझे कलंकित करना चाहा है। जब मैं एक ब्रह्मचारी को कामी समझ सकती हूँ तो रावण मुझे कामिनी क्यों नहीं समझ सकता। तो हे अन्तर्यामी! अब आपके साथ–साथ आज मैं महात्मा लक्ष्मण की शरण में भी होती हूँ–

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा।।
(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

हे महावीर लक्ष्मण! आपका तो किञ्चिन्मात्र भी दोष नहीं था, मुझ मूर्खा ने आर्त होकर

आपको कलंकित कर दिया; लेकिन हे श्रीराम प्रभु की सनातन आत्मा! मैं आपकी भी लाज उतनी ही हूँ जितनी कि आपके प्रभु श्रीराम की। इसलिए मुझ शरणागता के अपराध को क्षमा करें, अपने प्रभु से आज्ञा लेकर मुझ अभागिन का उद्धार करें। अब दया करें! दया करें!! दया करें!!! मुझ शरणागता पर दया करें।

इतने पर भी बात नहीं बनी तो हनुमानजी से उन्होंने इसी सन्देश को महात्मा लक्ष्मण के पास भेजा। हनुमानजी ने कहा– हे महावीर जितेन्द्रिय लक्ष्मण! भगवती सीता के प्रति जो आपके मन में मैल है, उसे दूर कर दें। वे तो अशोक वृक्ष के नीचे जितना प्रभु श्रीराम को याद नहीं कर रही हैं, उससे कहीं विशेष आपको याद कर रही हैं। यद्यपि उनकी वाणी में रामनाम है, स्मृति में प्रभु श्रीराम की छवि है लेकिन उस छवि के साथ–साथ एक आपकी भी छवि है, जब उन्होंने आपके चरित्र पर आक्षेप किया था और तब आप हृदय से कराह उठे थे। आपकी उसी मुद्रा को याद करके वे अपने–आप को क्षमा नहीं कर पा रही हैं। उनके नेत्र धरती माँ की तरफ आस लगाये देख रहे हैं कि कब धरती माता फटें तो मैं उनमें समा जाऊँ, मैं उनमें प्रवेश कर जाऊँ और लक्ष्मण को अपना मुँह न दिखाऊँ; किन्तु माता धरती भी उनसे इस अपराध पर कुपित हैं और उन्हें जगह नहीं दे रही हैं। अतः अब तो आपकी ही वे शरणागत हैं। यदि आपने अपराध क्षमा कर दिया तो प्रभु भी माँ के अपराध को क्षमा कर देंगे अन्यथा बात बनती नहीं दीखती है। प्रभु अब देर न करें और अब माँ पर दया करें, वैसे ही प्रभु श्रीराम ने कहा– हनुमान! अभी सैन्य संगठन करो, अभी अभिजित मुहुर्त है, लंका के लिए प्रस्थान करो!

इसीप्रकार ध्यानयोगी को अपने अपराध की खोज करनी चाहिए, अपनी कमी की खोज करनी चाहिए। ऐसा करने पर कुछ ही दिनों में अपनी कमी, अपना दोष दिखाई पड़ेगा। महाराज भी प्रायः कहा करता है कि आपका भगवान क्यों रूठा कि आप उसके लिए जी नहीं पाते, आप उसका ध्यान नहीं कर पाते, आप उसकी आज्ञापालन नहीं कर पाते। इसलिए वह भगवान आपके ध्यान का कवच एवं कीलक नहीं बन पा रहा है। आपने उस भगवान को, उस ध्यान को, जप को, सद्गुरु से नहीं लिया। क्यों? महाराज कभी कभी गाता है–

जोगिया कहे जो राम, जोगिया कहे जो राम।।

अर्थात् सद्गुरु अपने परम प्रिय शिष्य के पास राम के जिस स्वरूप की व्याख्या कर दे, उसी स्वरूप की आराधना करनी चाहिए। उपरोक्तमंत्र के द्वारा भगवान नारायण ने स्वयं के स्वरूप को अहर्निश स्मरण करना ही ब्रह्म की उपासना करना माना है। यह उन साधकों के लिए है जिनकी इस आध्यात्मिक ध्यानयोग में निष्ठा है, जिन्होंने सद्गुरु के महामंत्र– 'मैं आत्मा हूँ' को स्वीकार कर लिया है। भगवान चाहते हैं कि केवल ऐसा माना ही न जाय बल्कि तदनुरूप व्यवहार भी किया जाय। उसके लिए सर्वप्रथम रोम–रोम में, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में भी इस आत्मस्मृति को उतारना होगा और आत्मजिज्ञासु ऐसा निश्चित कर सकते हैं। यदि ऐसा होनेवाला नहीं रहता तो भगवान ऐसा करने पर जोर देते ही नहीं।

(तं विद्याद् दुःखसंयोग.....) यह ध्यानयोग दुःखरूप संसार से संयोग हुए चित्त का ब्रह्म से योग कर देता है, जोड़ देता है। संसार से, संसार के किसी भी प्राणिपदार्थ से, किसी भी विषय से यदि चित्त का संयोग हो गया है तो यह ध्यानयोग चित्त का उससे वियोग कराकर ब्रह्म से एकाकार करा देता है। चित्त संसार से युक्त होकर बिखर गया है, बहिर्मुख हो गया है, लेकिन संसारभाव से हटते ही, शरीरभाव हटते ही 'मैं ही ब्रह्म हूँ'– ऐसा ज्ञानरूपी दीपक जल जाता है।

दो प्रकार के योगों की प्रशंसा की भगवान ने– ज्ञानयोग एवं कर्मयोग की, उसके उपरान्त ध्यानयोग की बात की है। यह ध्यानयोग, राजयोग ही है; किन्तु जो इसमें शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि का एक आसन में बैठकर संयम करने की बात की गयी है, वह इसलिए कि सूक्ष्म कर्मयोग का आधार लिया गया है। ज्ञानयोग तो राजयोग की भूमिका है तथा ज्ञानयोग की भूमिका तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों पर संयम है। इसी से भगवान ने नवम अध्याय में राजयोग की प्रस्तावना करने के पूर्व आत्मसंयमयोग (छठा अ०), ज्ञानविज्ञानयोग (सातवाँ अ०), अक्षरब्रह्मयोग (आठवाँ अ०) के द्वारा इसकी भूमिका तैयार की है। भगवान भविष्यद्रष्टा हैं, वे जानते हैं कि अर्जुन को महामोह हो गया है, इसलिए स्वतन्त्ररूप से पहले ही राजयोग नहीं दे रहे हैं। इससे तो आप यह कहना चाहते हैं कि राजयोग के लिए आत्मसंयम अर्थात् तन, मन, वचन तथा इन्द्रियों पर संयम की आवश्यकता है?

हाँ, हाँ क्यों नहीं! स्पष्ट कह दिया गया है कि राजयोग का आधार ज्ञानयोग है। यह बात अलग है कि बहुत से ऐसे साधक हुए हैं जिनकी एकमात्र राजयोग के उपदेश से ही अपने स्वरूप में स्थिति प्रशस्त हो गयी। इससे सिद्ध होता है कि राजयोग के पूर्व की भूमिका उन्होंने पूर्व के जन्मों में तैयार कर ली है। स्वयं अर्जुन को ही आत्मसंयम की आवश्यकता नहीं पड़ी और वे अपने स्वरूप में स्थित हो गये क्योंकि वे तो आत्मसंयमी थे ही। वैसे भी कर्मयोग की परम्परा देखें– गुरु आज्ञानुसार बाह्य कर्मों को करना स्थूल कर्मयोग है, वाणी से जप करना सूक्ष्म कर्मयोग, स्वाध्याय करना कारण कर्मयोग, 'मैं' का चिन्तन करना महाकरण कर्मयोग और 'मैं कौन हूँ' 'कहाँ से आया हूँ', 'शरीर हूँ तो कैसे हूँ एवं शरीर नहीं हूँ तो कैसे नहीं हूँ' 'मैं शरीर नहीं आत्मा ही हूँ'– यह निश्चय करना हंस कर्मयोग है और द्रष्टापना में स्थित होकर प्रभु आज्ञानुसार हनुमानजी की तरह कर्म करना परमहंस कर्मयोग कहलाता है। यद्यपि हंस और परमहंसावस्था में किये हुए कर्म को कर्म न कहकर कर्म से विनोद करना, खेलना क्रीड़ा करना कहा जायेगा। वह कर्म औपचारिकता मात्र है; क्योंकि वह कर्म तो ज्ञानस्वरूप ही होता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान, कर्म और ध्यान तथा राजयोग सब ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं।

शरीर छोड़ने के पूर्व एक सद्गुरु ने अपने शिष्यों से पूछा– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का स्वरूप क्या है? कोई भी शिष्य उत्तर नहीं दे पाया। गुरुजी ने कहा– अरे! उस शिष्य को भी बुलाओ, जो बारह वर्षों से धान कूटने की सेवा कर रहा है। सभी शिष्यों ने गुरुजी से हँसी की कि क्या आप विनोद कर रहे हैं? वह तो इस विषय में एक अंश भी नहीं बता पायेगा। गुरुजी

ने कहा– भले न बताए लेकिन उससे प्रश्न तो करना ही पड़ेगा। उसके आने पर गुरुजी ने वही प्रश्न किया। उसने कहा– गुरुदेव! मन, बुद्धि, चित्त आदि तो हैं ही नहीं तो इनके स्वरूप को मैं क्या बता सकता हूँ। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य जब तीन भागों में विभक्त होते हैं तो मन, बुद्धि, चित्त का निर्माण होता है। जब द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ही नहीं हैं तो मन–बुद्धि आदि का स्वरूप मैं क्या बताऊँ? गुरुदेव सहसा आसन से उठे और उसे अपने अंक में भर लिया और अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति उसे दे दी। ऐसे भी कुछ साधक पाये जाते हैं जो स्थूल कर्मयोग से ही भगवत् स्वरूप हो जाते हैं। ऐसे के लिए किसी भी योग की बात की ही नहीं गयी है।

(तं विद्याद् दुःखसयोग.....) भगवान ने मानो अर्जुन से कहा– हे पार्थ! शरीरभाव होने से ही तुम्हारा और कौरवों का संयोग हो गया है, तुम्हारा और भौतिक गुरुजनों का संयोग हो गया है। यह संयोग ही भारी दुःख का कारण बना हुआ है। इस संयोग से वे भी दुःखी और तुमलोग भी दुःखी हो गये हो। चूँकि अब तुम्हारा और मेरा योग हो गया है, इसलिए यह परमयोग अवश्य ही तुमलोगों का इस भारी दुःख से वियोग करा देगा। मैं मानता हूँ कि तुम्हें इस ध्यानयोग के प्रति अति उत्सुकता हो गयी है, तुम कह रहे हो कि मैं इसी दिव्य ध्यानयोग की प्राप्ति के लिए वन को जा रहा था तो जाने क्यों नहीं दिया? तो इसका उत्तर है कि इस परम फलरूप आत्मज्ञान को तो मैं तुम्हें वरदानरूप में देने ही आया हूँ। कई जन्मों में तुमने आत्मसंयमयोग को साध लिया है, अतः पुनः आसन, प्राणायाम और ध्यानयोग की आवश्यकता तुम्हारे लिए है ही नहीं। तुम तो इस परमयोग का परम लाभ लो, मेरी प्रसन्नता के लिए मेरा काम करो और ब्रह्मज्ञानरूप वरदान लो।

भगवान ध्यानयोग की महिमा गाने में रह गये थे। अब पुनः ध्यानयोग के अन्तर्गत मानसिक कर्मयोग की अवश्य आवश्यकता पड़ेगी, इसलिए उसे ही अगले मंत्रों से प्रस्तावित कर रहे हैं–

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

संकल्प से प्रकट होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर और सब ओर से मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके धीरे–धीरे सात्त्विक धृति के द्वारा मन को आत्मा में स्थिर करके कुछ भी चिन्तन न करे। तो भी यह चंचल मन जब–जब, जहाँ–जहाँ, जिन–जिन, विषयों में भटकता है, वहाँ–वहाँ से रोककर सदा–सर्वदा आत्मा में लगावे।

(सङ्कल्पप्रभवान्कामान्.....) द्वैत ही यहाँ संकल्प है, द्वैत की सिद्धि हो गई है। इस द्वैतरूपी सिद्धि के कारण से ही राजस, तामस एवं सात्त्विक कामनाएँ बलात् प्रकट होती रहती हैं। अद्वैतमय जीवन जीने का संकल्प करने के पूर्व द्वैतमय जीवन की सिद्धि हो चुकी रहती है। इस सिद्धि का त्याग करने में लम्बाकाल लग जाता है। यह द्वैत सिद्धि मन को अपनी ओर आकर्षित किये रहती है, अतः द्वैतमय मन का त्याग ही त्याग है।

ध्यानयोग के समय पूर्व के संकल्प से यानी प्रतिज्ञा से ही नानाप्रकार की इच्छायें उठती हैं। जैसे यदि कोई विद्यार्थी विद्याध्ययन में लगा हुआ है, उस समय अत्यन्त उच्चपद की कामना को वह मन में संजो रखा है तो उसका सम्पूर्ण अध्ययन अपने अभीष्ट अंक को प्राप्त करने के लिए ही होता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो सके। यदि उसी समय प्रभुकृपावश उसे वैराग्य हो जाता है तो पूर्व की कामनायें बार–बार नहीं चाहने पर भी आती रहेंगी। वही पूर्व का संकल्प जब वर्तमान के संकल्प से कमजोर पड़ जाता है, तभी वे कामनायें समाप्त होती हैं।

महाराज ने एक साधक को देखा– वह परीक्षा देकर भगवान की कामना से हिमालय चला गया लेकिन उसे वनप्रदेश में भी परीक्षाफल को जानने की जिज्ञासा बनी रहती थी। अन्ततोगत्वा जब उसका मन नहीं माना तो अध्यापक से पत्राचार कर परीक्षाफल को जान लिया। उसने जैसे ही जाना कि लगभग ६०% अंक आये हैं तो पलभर के लिए उसका मन पुनः विद्याध्ययन करने का हो गया। यद्यपि उसने उस इच्छा को अंशमात्र भी महत्त्व नहीं दिया लेकिन विचार तो उठ ही गये थे। ऐसे ही पूर्व के बहुत से विचार उठेंगे, जिन्हें भगवान ने अस्वीकार करने को कहा है।

निष्काम साधना में उतरने के पूर्व, पूर्व की सकाम कामनाओं के वेग को सहन करना पड़ता है। यदि इन्द्रियों को अपने संयम में न रखा जाय तो वे कामनायें मन को मथती रहती हैं। इसीलिए कहा गया है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों पर संयम करते हुए ध्यानयोग का अभ्यास करे। जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होती हैं तो वे कामनायें भी अन्तर्मुख होती ही हैं। जैसे यदि कोई पद्मासन लगाकर बैठे और उसका सम्पूर्ण शरीर सीधी रेखा में अर्थात् ऊर्ध्वरेखा में स्थित हो तो पाँव के द्वारा बहिर्मुख होते हुए चलने की कामनावाले संस्कार, हाथ से बहिर्मुख होकर कर्म करने की कामनावाले संस्कार, आँख, कान, नाक, जिह्वा से बहिर्मुख होकर अपनी–अपनी कामना के अनुरूप व्यवहार करनेवाले संस्कार, ऊर्ध्वमुख होकर ब्रह्मकामना में विलीन होते देखे जाते हैं। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियों को सब ओर से रोककर ध्यानयोग में प्रवृत्त हो। सबओर से का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन्द्रियों से भी है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं तथा स्वजन एवं वैरीजन कारण इन्द्रियाँ हैं। ये सब मन के सूक्ष्म एवं कारण स्वरूप भी हैं। अतः इन सब से मन को अच्छीप्रकार से रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। वह कैसे?–

(शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या.....) धीरे–धीरे सात्त्विक धृति के द्वारा धैर्य एवं उत्साह के साथ मन को आत्मचिन्तन में लगावें। वासनायें उठती रहेंगी, उनकी चिन्ता तथा उनका चिन्तन न करें– 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।' अर्थात् ध्यानावस्था में नानाप्रकार के द्वैत सिद्धान्त प्रकट होंगे,

उन्हें महत्त्व न दें; क्योंकि जितने भी द्वैत सिद्धान्त हैं, जिनका प्रतिपादन महर्षि गौतम, कणाद, भगवान कपिल आदि ने किया है, वे इसी अवस्था में सात्त्विक प्रकृति पर चिन्तन करने के ही परिणामरूप फल हैं। भारत में ऐसे ही अन्यान्य मत भी हैं, जिनका त्यागमय व्यवहार तो भगवत् धर्म से पूरी तरह से मिलता है लेकिन मत में भिन्नता देखी जाती है। कुछ भी चिन्तन करने पर भगवद्चिन्तन की धारा टूट जायेगी। महर्षि विश्वामित्र के साथ यही तो हुआ। ध्यानावस्था में उनका मन दिव्य मंत्रों की ओर बह जाता था। वे उन मंत्रों को बहुत महत्त्व दे बैठते थे, परिणाम क्या होता था– सभी जानते हैं।

(.....बुद्ध्या धृतिगृहीतया) यदि ध्यानयोग में वृत्तियों की मार विशेष पड़ रही हो तो सात्त्विक बुद्धि के द्वारा सात्त्विक धृति का भी कुछ सेवन करे; जिसका वर्णन इसी अध्याय में पूर्व के मंत्रों में कर दिया गया है। यदि कोई पूछता है कि कैसे पता चलेगा कि अमुक विषय चिन्तनीय नहीं है? हाँ, जिस समय साधक आत्मचिन्तन में लगा हुआ है, उसी समय तत्त्वचिन्तन आने लगे (जैसा कि सांख्यमत है) तो उस समय जान लें कि यह अचिन्तनीय विषय है। तत्त्वचिन्तन का तात्पर्य पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के पृथक्–पृथक् दिखाई पड़ने से है।

सन् १६७८ ई० में एक साधक अहर्निश ध्यानयोग में बैठा रहता था तो एक दिन उसके हृदय से आयुर्वेद प्रकट होने लगा। उसने अपने सद्गुरु से पूछा कि यहाँ क्या करना चाहिये, किसी को बताना चाहिये, लिखना चाहिये या नहीं? तो उसके सद्गुरु ने कहा कि नहीं, नहीं! उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये। ऐसे में भटकने की पूरी सम्भावना रहती है।

(संकल्पप्रभावान्कामान्.....) कहने का आशय स्पष्ट है कि ब्रह्मजिज्ञासा का संकल्प जब से हुआ उसके पूर्व में तो संकल्प हजारों हो गये थे। यही नहीं, वे चित्त के अति गहरे में प्रवेश कर गये रहते हैं, उनको फिर अपना माने ही नहीं। ध्यानावस्था में चमत्कारों के विज्ञापन की बात जब आती है तो जान लेना चाहिए कि उस साधक के द्वारा यह सिद्धि अपनी मानी जा रही है, जबकि ऐसी बात है नहीं। वह तो सतोगुण के प्रभाव के कारण से है।

एक साधक कर्मकाण्ड में विशेष अभिरुचि रखता था। महाराज ने कहा–थोड़ा विशेष जप, तप, ध्यान में बैठो, बातें कम करो। जैसे ही कुछ दिन बैठा वैसे ही काम वासना ने आकर उसके तन, मन, चित्त को मथ कर रख दिया। महाराज ने कहा– 'शक्नोतीहैव यः सोढुं.....(गीता अ० ५)' काम और क्रोध के वेग को, इनकी मार को जो सहन कर लेता है, वह सुखी एवं शान्त हो सकता है। तुमने कैसे मान लिया कि यह काम तुम्हें परेशान कर रहा है? क्या तुम अपने को शरीर मानकर ध्यान कर रहे हो? शरीर को अपना माननेवाले को तो निष्काम कर्मयोग करना चाहिए। जब कर्मयोग से कर्म का शोधन हो जाय तो ध्यानयोग में आना चाहिए लेकिन पूर्व की वासना तो ध्यानयोग द्वारा ही निष्कासित की जायेगी और दूसरा मार्ग है ही कौन! इस काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष की मार को तो सहन करना ही पड़ेगा। आखिर यह होगा कैसे? धीरे–धीरे जहाँ से, जिस रूप से काम प्रकट हो रहा है, वहाँ–वहाँ उस रूप को सगुण ब्रह्म समझ कर उसकी पूजा करो, फिर देखो काम कैसे नहीं तिरोहित होता है। वैरी को ब्रह्म समझकर मन से उसको

भगवान शंकर समझकर पूजा करो, फिर देखो कि द्वेष कहाँ भाग जाता है, क्रोध कहाँ चला जाता है, सम्पूर्ण सम्पत्तियों को भगवान की ही सम्पत्ति मान लो तो देखो लोभ कहाँ जाता है– इसप्रकार मानसिक पूजा करो। जहाँ–जहाँ मन जाय, वहाँ–वहाँ ब्रह्मभावना करने से मन अपने–आप में सहज ही लौट आता है, पुनः आत्मचिन्तन प्रारम्भ कर दो।

वैसे मन तो कहीं आता–जाता है ही नहीं बल्कि मन में वासनाएँ आती–जाती सी प्रतीत होती हैं, जैसे आकाश कहीं आता–जाता नहीं है बल्कि आकाश में बादल प्रकट और लीन होते देखे जाते हैं। साधक यदि अपने को आकाशवत् निर्विकार द्रष्टारूप में प्रतिष्ठित कर दे तो वासनारूप बादल प्रकट होंगे लेकिन थोड़ी देर में अन्तर्ध्यान हो जायेंगे।

स्मृति कैसे फैलती है इसको आप विचार द्वारा देखें– स्मृति तो निर्विकार आत्मा ही है लेकिन जब उसमें जीवत्व प्रकट होने लगता है तो वही जीव की स्मृति कही जाती है। शिशु जबतक माँ को नहीं पहचानता तबतक उसकी स्मृति एकमात्र दूध में, भूख में तथा सोने–जागने में रहती है। जब वह माँ को समझने लगता है तो स्मृति अब माँ तथा माँ के व्यवहार तक फैल जाती है। पिता को पहचानता है तो पिता तक एवं उनके व्यवहार तक फैल जाती है। इसीप्रकार जिस–जिस को अपना–पराया मानने एवं जानने लगता है, उस–उस तक वह बहिर्मुख होते–होते फैलती जाती है। इसप्रकार वह इतनी स्थूल हो जाती है कि वह भूल ही जाता है कि मैं शुद्ध, निर्विकार, साक्षी, चेतन आत्मा हूँ। इसप्रकार शरीर को तो अपना रूप मान लेता है तथा संसार को अपना देश। अब ठीक इसके विपरीत आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग से जब सब ओर आत्मदृष्टि होने लगती है तो पुनः वही स्मृति नाम–रूपों को छोड़ते हुए ब्रह्मस्मृति हो जाती है, लेकिन थोड़ी सी ब्रह्मस्मृति हो जाय तो संतोष मत कर लेना क्योंकि पलभर की भी समाधि होती है; एक मिनट, दो मिनट से लेकर वर्षों तक की भी समाधि होती है। तो कब सन्तोष करें? इसके विषय में भगवान अगले मंत्र से कह रहे हैं–

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

रजोगुणरूप पाप के शान्त होने से जिसका मन सम शान्त हो चुका है, वैसे ब्रह्मरूप हुए ध्यानयोगी को आत्यन्तिक सुख की अनुभूति होती है। वह आत्यन्तिक सुख क्या है? ब्रह्मस्पर्श ही आत्यन्तिक सुख है। ब्रह्मस्पर्श क्या है? अपने स्वरूप में ही सदा–सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाना ब्रह्मस्पर्श है।

भगवान ने इन दो मंत्रों के द्वारा रजोगुण को ही महापाप कहा है, अतः वही त्यागने योग्य है। तमोगुण तो हल्का आहार और तन, मन, वचन के संयम से सतोगुण की वृद्धि होने पर अपने–आप सतोमय हो जाता है। यही नहीं, ध्यानयोग में प्रथमावस्था में तीन–चार घण्टे की

नींद सहायक भी होती है। वैसे भी नींद शरीर का धर्म है, न कि मन का। अतः शरीर के धर्म को कम–बेशी किया जा सकता है लेकिन सर्वथा त्यागा नहीं जा सकता। जन्म लेता हुआ शरीर नींद को लेकर आता है, स्वप्न–सुषुप्ति को एवं जाग्रदवस्था को लेकर आता है, जन्म लेता हुआ शरीर भूख–प्यास को लेकर आता है, जन्म लेता हुआ शरीर द्रष्टापना लेकर आता है लेकिन ईर्ष्या–द्वेष, छल–कपट आदि लेकर नहीं आता। हाँ, ये सब विकार उसके चित्त में रहते तो हैं लेकिन सुषुप्तावस्था में ही रहते हैं क्योंकि इन्हीं विकाररूप प्रारब्धों से तो उसने जन्म लिया है; परन्तु ये सारे विकार रजोगुणी पुरुषों के संसर्ग से ही प्रकट होते हैं। यदि रजोगुणी पुरुषों का संसर्ग न हो तो ये निष्क्रिय ही रह जायेंगे और कालान्तर में रूपान्तरित होकर शक्ति बन जायेंगे। अतः इसप्रकार रजोगुण शरीर का धर्म नहीं है, वह अज्ञान का धर्म है। यह बाहर से भीतर आ गया है, इसलिए इसे त्यागा जा सकता है। अतः जबतक रजोगुण का एक अंश भी मन में है तबतक ब्रह्मरूपता नहीं आ सकती; क्योंकि ब्रह्म में अंशमात्र भी रजोगुण नहीं है। तो क्या ब्रह्म में तमोगुण है? नहीं, ब्रह्म में तमोगुण भी नहीं है लेकिन ब्रह्म यदि सगुणरूप धारण करता है अर्थात् शरीर का निर्माण करता है तो तमोगुण को स्वीकारता ही है। आम या कोई भी फल बिना छिलके का नहीं रहता, वह छिलका ही तमोगुण है; इसलिए ब्रह्म भी गर्भवास से शरीर का निर्माण करता हुआ आता है तो उसका शरीर भी सोयेगा, जागेगा, भूखा होगा, प्यासा होगा, घटेगा–बढ़ेगा, मोटा होगा, पतला होगा। हाँ, यह बात अलग है कि ब्रह्म इन शरीर के धर्मों से अनासक्त रहेगा। यही नहीं, नींद, भूख–प्यास उसकी इच्छानुसार प्रकट होंगे। वह तमोगुणी शक्ति से शरीर को विश्राम देता है और सतोगुणी शक्ति से राजसवृत्ति को निष्क्रिय करके ज्ञानबल से नाश कर डालता है। फिर तो नरसिंह भगवान, वराह एवं मत्स्य भगवान का शरीर भी तमोगुण से आच्छादित होगा? नहीं, नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि वह गर्भ से तो नहीं आया है। जब देवताओं का शरीर संकल्पवत् होने से भूख–प्यास, नींद, घटने–बढ़ने से रहित होता है तो भगवान तो उन देवताओं की भी आत्मा हैं। वे तो दिव्य ज्योतिर्मय तनवाले ही होते हैं। मात्र वह आकृति दिखाई पड़ती है, आकृति होती नहीं है।

(प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं.....) यहाँ स्पष्ट है कि सम शान्त मनवाले योगी को ही, जो ब्रह्मरूप हो गया है, ब्रह्मस्पर्शरूप परमानन्द की अनुभूति होगी, न कि उसे प्राप्त होगी जो कभी तो समाधिवाला हो जाता है और कभी जीव ही हो जाता है, या जो कभी सिद्ध हो जाता है और कभी साधक ही हो जाता है। फिर यह मन शान्त कब होगा? तो कहते हैं रजोगुण के शान्त होने पर। इससे सिद्ध होता है कि इस मंत्र के द्वारा भगवान ने रजोगुण को ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल बताया है। फिर रजोगुण क्या है? काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड आदि सब रजोगुण हैं। ब्रह्मस्पर्श के पूर्व मनरूपी जीव का रजोगुण से ही स्पर्श होता है– कामस्पर्श से प्राप्त होनेवाले आनन्दरूप सुख से तो प्रायः सभी परिचित हैं, लेकिन ये न भूलें कि क्रोधस्पर्श से भी सुख की ही अनुभूति होती है। वैसे ही लोभस्पर्श, रागस्पर्श, द्वेषस्पर्श, छल–कपटस्पर्श, पाखण्डस्पर्श आदि भी क्रियाकाल में सुख ही पहुँचाते हैं। जहाँ काम द्वारा इन्द्रियस्पर्श से शरीर को आनन्द मिलता है, वहीं क्रोध, लोभ, राग–द्वेषादि से अहंकार तृप्त होता

है। आप यह भी देखते हैं कि एकसमय में एक ही स्पर्शरूप सुख रहेगा। जैसे जब मन काममय होगा तो उस समय क्रोध, लोभादि सुख का स्पर्श नहीं होगा और जब क्रोधमय रहेगा तो उस समय फिर काममय, लोभमय नहीं हो सकता। वैसे ही जब लोभमय होता है तो काम–क्रोध, राग–द्वेषमय नहीं होता। ऐसे ही अन्य विकारों को भी समझना चाहिए। इसी से भगवान कहते हैं कि जब आत्मचिन्तनरूप ध्यान पलभर के लिए भी योगी नहीं छोड़ता तो सुखपूर्वक ब्रह्मस्पर्श की अनुभूति होने लगती है अर्थात् ब्रह्मरूपता प्रकट हो जाती है और जब ब्रह्मस्पर्श (ब्रह्मरूपता) प्रकट हो गया तो काम–क्रोध, लोभादिरूप स्पर्श हो ही नहीं सकते लेकिन भगवान ने इन मंत्रों में एक विशेष विशेषण दिया है कि यदि सदा–सर्वदा आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग में लगा रहेगा तभी ब्रह्मरूपता सम्भव है, अन्यथा नहीं। जैसे लोहे को अग्नि में थोड़ी देर डाल दें फिर निकाल लें, फिर डालें फिर निकालें, ऐसा ही करते रहें तो वह आग का अंगारा नहीं बन सकता। उसे तो अग्नि की भट्ठी में डालकर छोड़ दें तो आग का अंगारा होकर ही लौटेगा, वहाँ उस समय लोहा दिखाई ही नहीं पड़ेगा। वैसे ही जब उपले को, कोयले को, आग में डाल देते हैं तो वह कुछ देर में आग का अंगारा ही हो जाता है। यदि उसे आग की भट्ठी से निकालें तो एक अंश भी धुआँ नहीं दिखाई पड़ता। उसीप्रकार जब लम्बे काल तक आत्मचिंतन होता रहता है तो एक दिन तन, मन, वचन सहित भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें सर्वत्र ही ब्रह्मरूपता ही बरसती है, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द की बरसात होती रहती है।

एक पहेली है कि जिस मन से जीवत्व अर्थात् काम, क्रोध, लोभादि को स्वीकार किया जाता है, उसी मन से ब्रह्मत्व भी स्वीकार किया जाता है। सम्पूर्ण जीवत्व लाने में भी बाल्यावस्था में कम समय नहीं लगता है, उसीप्रकार जब जीवत्व स्वीकार कर लिया गया है तो ब्रह्मत्व स्वीकार करने में कम समय नहीं लगेगा। एक बात पुनः जान लें कि रजोगुणरूप काम–क्रोध आदि से इन्द्रिय सुख मिलता है, जिसे इन्द्रियस्पर्श कहते हैं, उसीप्रकार ज्योतिर्मय या नादमय ध्यानयोग से सतोगुण होने पर चेतन ध्यानावस्था या समाधि में दिव्य स्पर्शरूप सुख मिलता है लेकिन अहर्निश आत्मचिन्तन (ब्रह्मचिन्तन) में रहने से ब्रह्मरूपता ही प्राप्त होती है, जिसे परमानन्द, परम शान्ति कहा जाता है।

ऐसी अवस्था में उस ब्रह्मस्पर्शी संत का व्यवहार क्या होता है, उसके लिए ब्रह्म की व्यवस्था क्या है तथा उसे छूट क्या मिली है, अर्थात् विशेषाधिकार क्या मिला है, इसपर भगवान कहते हैं–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

वह अहर्निश अपने–आप के स्वरूप में रमण करनेवाला समदर्शी सन्त सम्पूर्ण भूतों को (दृश्यवर्ग को) अपने आत्मस्वरूप में और अपने–आपको सम्पूर्ण भूतों में, सर्वत्र देखता है। अतः उस सर्वत्र ब्रह्मदर्शी योगी के लिए तीनोंकाल में मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए कभी भी अदृश्य नहीं होता। इसलिए सम्पूर्णभूतों में एकमात्र मुझे ही देखता हुआ कर्म करनेवाला ब्रह्मकर्मा ही कहा जायेगा।

भगवान अर्जुन की जगह साधकों को जानकर कहते हैं कि जिस साधक को समदर्शिता प्राप्त हो गयी, उसकी वह परम भावरुपी, ब्रह्मदृष्टि कभी ओझल नहीं होती। इसी कारण वह भी सर्वत्र व्याप्त आत्मा के लिए ओझल नहीं होता, उसे हिंसक मनुष्य या प्राणी भी अति महत्त्व देते हैं तथा उसके दर्शनमात्र से अति तृप्त होते देखे जाते हैं। वैसे प्राणियों का वह व्यवहार आत्मा के कारण से होता है। सभी देखते ही हैं कि वह सन्त, जाति, गाँव, देश से नहीं पहचाना जाता अर्थात् कोई भी उसकी जाति तथा गाँव, देश नहीं पूछता; बल्कि सभी उसकी अध्यक्षता में ही अपने भौतिक और आध्यात्मिक कर्मों को सम्पन्न करने लगते हैं। वह समदर्शी जब व्यवहार में उतरता है तो अज्ञानियों के साथ अज्ञानमय बात करने से अज्ञानी नहीं हो जाता, द्वेषियों के साथ द्वेषपूर्ण बात–व्यवहार करने से द्वेषी नहीं हो जाता। 'जैसे हनुमानजी समदर्शी हैं, आत्मदर्शी हैं, वह उन्हीं के व्यवहारवाला हो जाता है। वे रावण से युद्ध करते हैं, विरोधपूर्ण, रोषपूर्ण बातें करते हैं फिर भी द्वेषी नहीं होते, उनकी आत्मरूपता छिन्न–भिन्न नहीं होती।' इसीप्रकार वह बालक के साथ बालक जैसा, वृद्ध के साथ वृद्ध जैसा, ज्ञानी के साथ ज्ञानी जैसा और अज्ञानी के साथ अज्ञानी जैसा व्यवहार करता हुआ भी आत्मरूप ही रहता है। गृहस्थाश्रम में है तो उसे राजा जनक, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र आदि जैसा दोहरा जीवन जीना पड़ता है, लेकिन तो भी वह अपने–आप में ही रह लेता है। जैसे माता–पिता बाल–बच्चों के साथ दोहरा जीवन जीकर भी माता–पिता ही रहते हैं– अबोध बालक से चन्दा मामा कहेंगे तथा उससे प्रबुद्ध बालक से चन्द्रमा को ग्रह बतायेंगे, उससे प्रबुद्ध बालक से कहेंगे यह चन्द्रमा एवं सूर्य तो विश्वरूप भगवान की दो आँखें हैं, आदि–आदि। इसप्रकार ब्रह्मदर्शी के व्यवहार को, कर्म को, व्यवहार या कर्म नहीं कहा जा सकता; वे कर्म तो सगुण ब्रह्म की किरणें हैं। सूर्य से जैसे किरणें बिखरती रहती हैं, उसीप्रकार ब्रह्मरूप हुए योगी से ब्रह्मकर्म प्रकट होता ही रहता है। वह उसका स्वभाव ही है, अतः वह कैसे कहेगा कि मैं कर्ता हूँ।

महाराज भगवान की अहैतुकी कृपा को कहाँ तक कहे। यदि सर्वत्र भगवद्दर्शी कभी प्रमाद भी कर दे तो भगवान प्रमादी नहीं होता। जैसे महात्मा अर्जुन प्रभु को तथा प्रभु की सामर्थ्य को भूल गये थे लेकिन भगवान उन्हें नहीं भूले। यहाँ तक कि अब वे उनसे ब्रह्मकर्म भी करा के मानेंगे। प्रभु के द्वारा प्रेरित होकर वे युद्ध करेंगे और वह युद्ध ब्रह्मकर्म कहलायेगा।

यह मंत्र जितना संन्यासाश्रमी ध्यानयोगी के लिए है उतना ही गृहस्थाश्रमी योगी के लिए भी सार्थक है। वह साधक अपने बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों के बीच में रहता तो है लेकिन हृदय के भीतर वह सम्पूर्णता से भगवान का होता है। यही नहीं, वह वहाँ इतना गोपनीय रहता है कि

कोई उसके राज को, रहस्य को जान ही नहीं पाता, सबके साथ सबके जैसा व्यवहार करके भीतर–भीतर मुसकराता रहता है। भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम भी अभेददर्शी होकर इन कौरवों से वैसे ही युद्ध करो जैसे श्रीराम ने रावण से, असुरों से युद्ध किया था। तुम वैसा ही युद्ध करो जैसा मैंने बाणासुर, जरासंध, शिशुपाल आदि से किया था।

महात्मा अर्जुन मन ही मन कह रहे हैं कि अभेददर्शी को, ब्रह्मरूप हुए साधक को, योगी को, भक्त को गृहस्थाश्रम में रहने की आवश्यकता क्या है? इसके उत्तर में भगवान कह रहे हैं कि उसे यदि घर में ही सद्गुरु ब्रह्मज्ञान दे दे तो संन्यास लेने की आवश्यकता भी क्या है? हाँ, सद्गुरु की आज्ञा हो गई या संन्यास लेने की ही प्रभु प्रेरणा हो गई तो बात अलग है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

हे पार्थ! ब्रह्मरूप हुआ योगी भी तो शारीरिक धर्म स्वीकार करके ही रहता है? उसके लिए कोई दूसरा तो सोता–जागता नहीं है, खाता–पीता नहीं है। सुख–दुःख को भी वह स्वयं ही भोगता है, उसका सुख–दुःख कोई और तो नहीं भोगता? यही तो कारण है कि सुख–दुःख को भी वह ब्रह्म समझकर ही भोगता है, इसलिए वह मुझे योगियों में परम श्रेष्ठ योगी मान्य है।

भगवान सच ही कह रहे हैं क्योंकि संन्यासी का भी भक्त परिवार होता ही है। वह एक माँ छोड़ता है तो असंख्य भक्तिमती माताओं को पकड़ लेता है। जगत की सारी बहन–बेटियाँ उसकी अपनी बहन बेटियाँ हो जाती हैं, सारे भगवद्भक्त पुरुष उसके धर्मपुत्र हो जाते हैं। इसप्रकार सभी संन्यासी संत लोकहितार्थ कर्म करते देखे ही जाते हैं, भले उनका कर्म सूक्ष्म हो। एक अध्यापक अध्ययन करके अध्यापन का कार्य करता है, वैसे ही संत भगवत् स्वरूप होकर आध्यात्मिक विद्या का दान करते ही हैं, बैठा कौन रहता है? हृदय के भीतर चाहे भले ही वह सबको ब्रह्मरूप ही देखे लेकिन व्यवहार में भिक्षा माँगते समय (मधुकरी करते समय) तो 'भिक्षां देहि' ही कहता है। वह आकाश से भोजन मँगाकर खाने तो नहीं लगता और न ही आकाश में ही रहता है। इसलिए महात्मा अर्जुन को न तो गृहस्थाश्रम में रहने में आपत्ति होनी चाहिए और न ही युद्ध करने से मना करना चाहिए। भगवान मानो कह रहे हैं कि एक तो तुम शरीर नहीं हो और दूसरा न शरीर ही तुम्हारा है। जिसका शरीर है वह मैं ही तुम्हारे पास आकर कह रहा हूँ कि युद्ध करो तो इसमें आपत्ति किस बात की?

भगवान ध्रुव को, प्रह्लाद को, विभीषण को दर्शन और वरदान देकर घर भेज देते हैं। यद्यपि वे लोग नहीं जाना चाहते थे लेकिन उन्हें घर में रखने का कुछ भगवान का विशेष प्रयोजन होगा, जिसे वे नहीं जान पा रहे होंगे; अन्यथा भगवान को क्या पड़ी थी उन्हें घर में भेजने की।

(आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति.....) जो सर्वत्र स्वयं को ही देखता है, उसके शरीर में भी सुख–दुःख प्रकट होते देखे जाते हैं, उसकी भी व्यावहारिक क्रिया सामान्य जनों सी ही होती

है। अतः इसमें दुराग्रह की सम्भावना ही कहाँ रहती है। प्रकृति के स्तरों को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिये। संन्यासी भी जबतक शरीर को स्वीकार किये रहता है, तबतक अपने उपासकों के संकल्प को स्वीकार करता ही है। यदि वह ऐसा न करे तो महात्मा शुकदेव की भाँति सदा ज्ञानसमाधि में समाधिस्थ रहे। आश्चर्य की बात है कि राजर्षि परीक्षित जैसे उत्तम अधिकारी की उत्कट ब्रह्मजिज्ञासा को देखकर उनका भी हृदय पिघल ही गया और वे अपनी ब्रह्मसमाधि को त्यागकर भक्त परीक्षित के पास भगवत्कथारूपी गंगा बहाकर, उनका भवसागर से उद्धार कर पुनः हिमालय को लौट गये। कोई कह सकता है कि जब महात्मा शुकदेव भी परीक्षित जैसों पर दया करने के लिए विवश होते हैं, तब तो वे नैष्कर्म्यसिद्ध सन्त नहीं कहे जायेंगे। नहीं, नहीं! ऐसी बात नहीं है। संत अहैतुकी कृपावश कृपा एवं करुणा करता है, न कि प्रकृति से प्रेरित होकर। ज्ञानी भी व्यवहारकाल में अज्ञानी जैसा ही रहता है, लेकिन मेधा शक्ति से सम्पन्न होने के कारण, अन्तर में समष्टिचेतनरूप होने के कारण, आमलोगों के वश की बात नहीं है कि उसकी आन्तरिक स्थिति को समझ सकें। जब कोई चोर को ही नहीं पहचान पाता तो संत को क्या पहचान सकता है। हाँ, बस या ट्रेन में जेबकतरा लोगों से हँसते हुए मधुर–मधुर बातें करता भी रहता है और जेब कतरता भी रहता है, वैसे ही संत भी सम्पूर्णता से लोगों के मध्य रहता हुआ, उन्हीं जैसा व्यवहार करता हुआ, सम्पूर्णता से ब्रह्मरूपता में ही स्थित रहता है।

ॐ मासपारायण, तेरहवाँ विश्राम ॐ

भगवान ने तो यहाँ सबकुछ कह दिया लेकिन महात्मा अर्जुन को भली–भाँति सन्तोष न हो सका। वे इतना समझ गये कि युद्ध तो मुझे करना ही पड़ेगा। जब वे योग की बातें सुनते हैं तो योग में उनकी प्रीति प्रकट हो जाती है, श्रद्धा उधर ही बह जाती है, किन्तु जब भगवान की ओर देखते हैं तो उनकी आज्ञापालन करने में भी अभिरुचि हो जाती है। मोह की भूमि में आसीन होने के कारण से उनकी बुद्धि सुन तो रही है लेकिन निश्चितरूप से कुछ अंश अज्ञान का होने से पूरी तरह उसमें स्थित नहीं हो पा रही है। अतः वे सोचते हैं कि चलो यदि इस जन्म में मुझे योग का अवसर नहीं मिला तो दूसरे जन्म में ही सही, इसलिए अभी से क्यों न अगले जन्म में साधना करने की बात पूछ लूँ। महात्मा अर्जुन ने पूर्व में अग्नि देवता, वरुण देवता और भगवान शिव को प्रसन्न (प्रकट) करने के लिए घोर जप, तप तथा ध्यान भी किया है। यद्यपि उस समय उन्होंने सगुण ध्यान के द्वारा ही उनकी उपासना की है तो भी उन्हें मन की चंचलतारूप उत्पात का सामना करना ही पड़ा है। इसलिए यह चंचल मन आत्मचिन्तन कर सकता है– ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है। अतः वे प्रभु से निवेदन करते हैं–

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

हे मधुसूदन! इस ध्यानयोग में तो मन की एकाग्रता अनिवार्य है और यह मन बड़ा चंचल है। चंचल ही नहीं हठी भी है, जो ठान लेता है वह करके मानता है। उसके लिए वह अपना सर्वस्व दाव पर लगा देता है और आप कहते हैं कि यह ध्यानयोग सभी भक्तों अर्थात् आत्मजिज्ञासुओं को करना ही चाहिए। इस प्रमथन स्वभाववाले अत्यन्त बलशाली मन को रोकना तो मैं वायु को रोकने की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ।

महात्मा अर्जुन द्वारा किया गया यह प्रश्न सभी साधकों, भक्तों एवं जिज्ञासुओं द्वारा किया जाता है; क्योंकि प्रायः सभी इसके घेरे में रहते हैं और शिथिल प्रयत्न करने पर निकल नहीं पाते। सौ में से पन्चानबे ध्यानयोग की कामना करनेवाले तो कुछ ही दिन में इस मन से पराजित होकर जप, तप और ज्योतिर्ध्यान का अवलम्बन ले ही लेते हैं। क्या करें, सर्वप्रथम तो उन्होंने इसे बहुत हलराया, दुलराया है, इसे बहुत चूमा–चाटा है, इसकी सारी कामनाओं को स्वीकार किया है, तो सहसा ध्यानयोग में यह क्यों प्रवृत्त होगा बड़े–बड़े योगेश्वरों को इसने पटकनी दी है। सर्वप्रथम तो यह पहचानने में नहीं आता और पहचानने में आ जाय तो कई रूप बदलकर आने लगता है। फिर इसे वश में किया कैसे जाय? सर्वप्रथम यह काम बनकर आता है, यदि उस रूप में इसे सन्तुष्ट न किया गया तो क्रोध बन जाता है, क्रोधरूप को रोका जाय तो लोभ बन जाता है, लोभ की बात न मानी जाये तो राग बन जाता है, राग को संयमित किया जाय तो द्वेष बन जाता है, द्वेष को छेड़ा जाय तो छल बन जाता है, छल से अनासक्त होते हैं तो कपट एवं दम्भरूप में आता है, यदि दम्भ पर हँसी उड़ाते हैं तो पाखण्ड बनकर ढोंग करने लगता है। इसके किस–किस रूप से युद्ध किया जाय, समझ में बात नहीं आती।

प्रभु ने ध्यानयोग की सिद्धि की समय–सीमा भी निर्धारित नहीं की है, इसलिए भी मन पर भरोसा नहीं होता। तंत्र, मंत्र एवं देवसिद्धि के लिए समय सीमा दी गयी है किन्तु ध्यानयोग दो–चार, दस, बीस साल में या इसी जीवन में सिद्ध हो जायेगा– ऐसा भी नहीं कहा गया, इससे सिद्ध होता है कि मन की चंचलता से प्रभु भी परिचित हैं। जब वह चंचलता त्यागे तब तो बात बने, इसीलिए यह प्रश्न सारे साधकों के जीवन में आकर खड़ा हो जाता है। तन, वचन तथा इन्द्रियाँ वृद्ध होते देखी जाती हैं लेकिन यह तो नित्यप्रति युवावस्था को ही प्राप्त करता रहता है। इसकी जवानी सबकी जवानी को निगलती जाती है लेकिन तो भी इसकी वृद्धावस्था नहीं आती। यदि दृढ़ संकल्प हो, उत्कट ब्रह्मजिज्ञासा हो, सद्गुरु की शरणागति हो तो मन को चुनौती भी दी जा सकती है कि अबतक तेरा किया, अब तुझे मेरा करना पड़ेगा। महाराज ने कभी ऐसा ही इससे कहा और बेचारा मन मान गया। तो आयें आप भी मनायें इस मन को 'मालकोष' राग में गाकर–

मन अब बहुत हुई है तेरी।।
युग–युग जनम्यों तेरे खातिर, अब बाजी है मेरी।।
जो जो नाच नचायो रे तू, नाच्यो नाच घनेरी,

गीत गवायो जो जो गायो, अब नहीं तेरी बनेरी।।
मन अब बहुत हुई है तेरी.....

नाम रूप की व्यर्थ कल्पना, जग झूठो ही मनेरी,
कहँ लगी कहौं झूठ तेरी सच, झूठ मूठ की फेरी।।
मन अब बहुत हुई है तेरी.....

मैं तैं तोर मोर की गठरी, फेंक दई है तेरी,
अब संतोष, शांति सुख सुचिता, हो गई मेरी चेरी।।
मन अब बहुत हुई है तेरी.....

जहँ तहँ देखूँ रूप अपनो ही, अब नहीं कहत बनेरी,
महाराज आनन्द की रहनी, जीवन फन्द कटेरी।।
मन अब बहुत हुई है तेरी.....

तो आयें देखें कि इस प्रश्न के समाधान में भगवान क्या कहते हैं, अर्जुन को रुलाते हैं या हँसाते हैं–

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

प्रभु कहते हैं– हे पार्थ! बात तो तुम ठीक कह रहे हो, किन्तु योगाभ्यास और वैराग्य के बल पर योगीजन प्राण एवं मन को वश में करते देखे जाते हैं। यह भी सत्य है कि असंयमी पुरुष जो मन से अनासक्त नहीं हो पा रहे हैं उनके द्वारा यह ध्यानयोग अति कठिन है लेकिन जो मन से अनासक्त होने के प्रयत्न में अहर्निश लगे रहते हैं, उनके द्वारा मन की एकाग्रता प्राप्त होनी सहज है, ऐसा मेरा मत है।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान सहजभाव से दे रहे हैं; क्योंकि अर्जुन ने कभी भी इस ध्यानयोग का अंशमात्र भी अभ्यास नहीं किया है, इसलिए उनके द्वारा ऐसा प्रश्न करना भले ही वर्तमान में बहुत अर्थ नहीं रखता हो लेकिन चूँकि जो ध्यानयोग में लगे हुए हैं, वैसे साधकों के लिए इसका उत्तर अति महत्त्वपूर्ण है, इसलिए भगवान संकेतरूप से समाधान भी कर रहे हैं। मानो भगवान कह रहे हों कि माना कि मन चंचल है लेकिन इस चंचल मन की अवस्था में ही शरीर जन्मता है, मन की चंचलावस्था में ही शरीर बच्चा से जवान होता है, चंचलावस्था में ही जवान से बूढ़ा होता है और मन की चंचलावस्था में ही शरीर से प्राण निकल जाता है। मन की

चंचलता शरीर के जन्मने–मरने, घटने–बढ़ने, बच्चे से जवान एवं बूढ़ा होने में तो बाधा नहीं बनती, मन की चंचलता में ही नींद आ जाती है, मन की चंचलता में ही स्वप्न होता है, सुषुप्ति होती है, जाग्रदवस्था होती है; मन इतना चंचल नहीं कि भोजन ही न करने दे। मन चंचल तो है लेकिन फिर भी सारे प्राणी अपना–अपना व्यवहार कर ही रहे हैं। इस मन को किसी ने प्रेम से एवं किसी ने हठ से वश में किया है और किसी–किसी ने प्रेम एवं हठ दोनों का प्रयोग किया है। महाराज ने प्रायः प्रेमपूर्ण व्यवहार से इस चंचल मन को सम शान्त करने का प्रयत्न किया था। वह मानो उसे प्रेमपूर्वक लोरी सुनाता था और उस लोरी में ही जो कुछ भी कहना होता था, कह देता था। तो आप भी वैसा प्रयोग कर सकें तो करें राग 'कौषिक कान्हाड़ा' से–

मन धरु धीर रे, मन धरु धीर रे।।
जिनने छुड़ाई भाई बन्धु से, हीत मीत की पीर रे।।
मन धरु धीर रे .....

जिनने छुड़ाई घर बार तेरी, वे ही हरें सब पीर रे।।
मन धरु धीर रे .....

जिनने छुड़ाई प्रपंच जगत के, उन्हहीं को दे दे सीर रे।।
मन धरु धीर रे .....

जिनने छुड़ाई द्वेत भरम सब, वे ही हरें सब भीर रे।।
मन धरु धीर रे .....

जिनने छुड़ाई महाराज की, फिर क्यों होत अधीर रे।।
मन धरु धीर रे .....

इसी अध्याय के प्रारम्भ में ही पाँचवें एवं छठे मंत्र में कहा गया है कि जिसने मन को जबतक अपना साथी नहीं बनाया, अपना भाई–बान्धव, हित–मित्र नहीं बनाया अर्थात् प्रेम से उसे अपने वश में नहीं कर लिया तभीतक वह चंचल है, वह शत्रु है; लेकिन सद्गुरु के सिद्धान्त के अनुसार प्रेमपूर्वक धीरे–धीरे इसे भगवान में लगाया जाय तो निश्चितरूप से यह अपना कहना मानता है। यह न भूलें कि यह मन आत्मा का ही अनुगामी है, जो आपके विषयी होने से विषयी हो गया है। आप निर्विषयी होकर देखें तो यह निर्विषयी कैसे नहीं होता। संयमी माता–पिता के पुत्र उनके अनुगामी होते ही हैं। सद्गुरु के अनुगामी शिष्य होते ही हैं, मित्र का अनुगामी मित्र होता ही है। यही न्याय मन द्वारा आत्मा का अनुगामी होने में भी है। अनात्मा का अर्थात् सकामी पुरुष का अनुगामी मन क्यों होगा? वह विषयी तो स्वयं मन का अनुगमन करनेवाला है, वह मूर्ख स्वयं मन का ही सेवक होता है। संयमी पुरुषों के सम्मुख मन भाग खड़ा होता है और सेवक बनकर लौटता है। जगत का वह कौन सा पुरुष एवं प्राणी है, जो प्रेम से वश में नहीं होता। मनुष्य, पशु, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेतों के साथ–साथ भगवान तक को भी प्रेम के वशीभूत होते देखा जाता है, तो फिर मन क्या प्रेम के वशीभूत नहीं होगा! मन

को वश में करनेवाले प्रेम को परम प्रेमी सद्गुरु के पास प्राप्त किया जाता है। जब क च ट त प को सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है तो क्या प्रेम की परिभाषा जानने के लिए, उसे प्राप्त करने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ेगी?

एक दिन आत्मानन्द ने पूछा था कि जो कई शास्त्रों, पुराणों एवं वेदों के विद्वान हैं, उनका मन तो शीघ्र ही स्थिर हो जायेगा? महाराज ने कहा– भगवान में प्रवेश करने के लिए अथवा उसको प्राप्त करने के लिए, विद्वान बनने या मूर्ख रहने की बात नहीं है बल्कि निष्काम होने की बात है, ब्रह्मजिज्ञासु होने की बात है। छल–कपट रहित होने की बात रामचरितमानस में भगवान ने स्वयं कही है–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
(सुन्दरकाण्ड)

यदि विद्वान निष्कामी एवं भक्त नहीं है तो मूर्ख तो मूर्ख है ही लेकिन वह महामूर्ख है। ऐसा ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है।

(.....अभ्यासेन तु कौन्तेय.....) मन को वश में करके ही अगस्त्य ऋषि ने एक बार देवताओं के हितार्थ समुद्र के जल का ही पान कर लिया था, माँ अनसूया ने भी एक बार सूर्य की गति को रोक दिया था। सर्वसाधारण के लिए यह कार्य असम्भव एवं आश्चर्यजनक है। ऐसा देखा जाता है कि नदी की धारा को रोककर अभियन्तागण (इन्जीनियर) उसमें से नहर निकालते हैं ही। ठीक उसीप्रकार समर्पित साधक के मन की दिशा बदलकर सद्गुरु उसे सकामी से निष्कामी तथा योगी बना देता है। यदि निर्मल वैराग्य हो तो जगत की तरफ बहता हुआ मन भगवान की ओर बहने लगता है। जगत को वैराग्य के स्वरूप से देखें! महाराज के हृदय से यह स्वरूप एक पद के माध्यम से निकलता है, जिसे आप सब भी देखें, राग –'कलावती' से–

कोई न लागे मोहें नीको, जगत भयो सब फीको।।
धनपति बनूँ जनपति बनूँ चाहे, पृथ्वीपति बनीको।
सुरपति बनूँ गुरूपति बनूँ चाहे, बनूँ सभी को अधीतो।।
कोई न लागे मोहे नीको.....

साधक सिद्ध सुजान बनूँ चाहे, बनूँ सबको मीतो।
विद्यापति बनूँ सुविद्यापति बनूँ चाहे, चाहे प्राणपति किसी को।।
कोई न लागे मोहे नीको.....

ब्रह्मादिक आदिशक्ति सब, निज स्वरूप से फीको।
महाराज अब मन सिमिटे बिनु, सुख संतोष न जी को।।
कोई न लागे मोहे नीको.....

महात्मा अर्जुन को भगवान की कही हुई बात समझ में आ गयी अतः श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक

उन्होंने निवेदन किया–

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥३९॥

हे प्रभु! जिनकी श्रद्धा उपरोक्त ध्यानयोग के द्वारा अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने की है, परन्तु संस्कारवश शिथिल यत्नवाला होने के कारण वे अपने स्वरूप में स्थित न हो सके तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि छिन्न–भिन्न बादलों की तरह उसकी साधना भी निष्फल हो जाय? अथवा सिद्धियों की चकाचौंध में संयम खो बैठे तो फिर वैसे साधकों की गति क्या होगी? हे प्रभु! मैं समझता हूँ कि आपके अतिरिक्त मेरे इस संशय का निवारण कोई अन्य नहीं कर सकता।

आज भी पथभ्रष्ट योगियों की कहानी प्रायः सभी जानते हैं, पढ़ते भी हैं। निश्चितरूप से महात्मा अर्जुन ने भी ऐसी कहानियों को पढ़ा एवं सुना है, तभी यह प्रश्न उनके मन में खड़ा हुआ है। हर क्षेत्र में सफलता–असफलता के प्रति विचार स्वाभाविक ही आते हैं लेकिन तो भी विश्वास के साथ कर्म करना ही पड़ता है। सारे संसार का व्यापार विश्वास पर ही तो टिका है, लेकिन अब चूँकि प्रश्न खड़ा हो ही गया है तो इसपर विचार करना ही पड़ेगा। अर्जुन के मन में युद्ध की सफलता में तो सन्देह है ही, अब ध्यानयोगियों के प्रति भी सन्देह हो गया। जब भ्रम होता है तो सर्वत्र सन्देह ही सन्देह की स्थिति हो जाती है।

एक व्यक्ति को तो देखा कि उसे केवल इतना ही अनुमान से पता चला कि डकैतों का गिरोह उसपर कुपित है, अतः इतना भयभीत रहने लगा कि घर से बाहर ही नहीं निकलता था। यही नहीं, पाँच–छः महीने में वह डर से घर ही छोड़कर दूर देश चला गया और आजतक किसी को पता नहीं लगने दिया, लगभग बीस वर्ष हो गये। कितने असंयमी तो ध्यानयोग में संयम की बात सुनकर यह कह बैठते हैं कि भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें खाने, पीने, सोने की छूट है, जबकि ऐसी बात है नहीं। चाहे भक्तियोग हो या ध्यानयोग या ज्ञानयोग, संयम तो सबमें एक जैसा है। ये सभी साधनाएँ त्याग की अपेक्षा रखती ही हैं।

महाराज ने भी ऐसे बहुत से साधकों को देखा है जो बड़े उत्साह और प्रेम से साधना में प्रवृत्त हुए लेकिन उनका या तो शरीर रोगी हो गया या तो मन रोगी हो गया। वे कहते हैं– क्या करूँ? मेरा कोई पाप पीछा कर रहा था जिससे सफलता नहीं मिली। अब तो मेरा मन बहुत

विषयी हो गया है, इसलिए अगले जन्म की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

(कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्ना.....)किसी–किसी साधक का साधना करते–करते प्राण छूट जाता है; क्योंकि शरीर की अवधि उतनी ही रहती है। कोई साधक ५०–६० वर्ष की उम्र में ही साधना में आते हैं और साधना सिद्ध होने से पूर्व जगत से चले जाते हैं तथा कोई–कोई सिद्धियों के चक्रव्यूह में फँसकर साधना छोड़ बैठते हैं, यह सारी बात होते देखी जाती है। साधक का भगवान भी वहाँ किसी विशेष कारण से मौन रहता है। महाराज तो ऐसा कहता है कि विशेष अवसर की प्रतीक्षा में रहता है। साधक की साधना ऐसी अवस्था में सिद्ध हो कि वह कुछ साल तक लोकसंग्रह के लिए भी व्यवहार कर सके अन्यथा सद्गुरु मिला तो गुरुता क्यों न मिलेगी? यदि उसमें भगवत् दृष्टि है तो अपने में भगवत्ता क्यों नहीं आयेगी? जब अर्जुन पर भगवान युद्ध के मैदान में कृपा कर सकते हैं तो साधना एक बहाना है। इसी से नवम् अध्याय में भगवान कहते हैं कि जो दोषदृष्टि से रहित हैं, मैं उन्हें राजयोग देता हूँ। तो जो भगवान राजयोग देता है, वह निर्मल वैराग्य नहीं दे सकता क्या? यदि श्रद्धा की बाढ़ हो तो निर्विकारता आने में देर नहीं होती। प्रायः सभी साधक भगवान की प्राप्ति के लिए ही घर छोड़कर वन की तरफ चलते हैं और उन सभी को सद्गुरु मिल जाता है; यदि सचमुच में उन्होंने ब्रह्म के लिए घर छोड़ा है तो, लेकिन सद्गुरु मिलने पर भी कोई–कोई विरले ही साधक होते हैं जो सालभर में सुबह से शाम तक जप, तप, योग कर सकते हों। यदि साधक संयमी है तो सालभर में १२–१६ घण्टे जप, तप, योग करना कोई बड़ी बात नहीं है या अखण्ड सद्गुरु की सेवा–शुश्रूषा में रह ले, यह भी बड़ी बात नहीं है। यदि कोई कहता है कि कभी का ब्रह्महत्या का पाप वहाँ भी पीछा करता है तो महाराज नहीं मानता। यदि ऐसा होता तो सद्गुरु ही नहीं मिलता, यदि ऐसा होता तो घर ही नहीं छूटता।

लोग तीन–चार घण्टे में ही जप या जप के साथ ध्यान या केवल ध्यान में क्यों ऊब जाते हैं? शरीर थक गया माना, ध्यान नहीं लग रहा है माना, तो क्या हुआ, आँखों को खोल दें और फिर ध्यान करें या घबराहट को ही देखें। कम से कम जप करने से या भगवान के नाम पर बैठे रहने से सतोगुण की तो वृद्धि होगी? तो चलें आयें आपकी श्रद्धा की शिथिलता क्या करती है, कौन–सी गति या लोक दिलाती है, यह सुनें–

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥

प्रभु ने भक्त अर्जुन को निराश नहीं किया बल्कि और भी विशेष सन्तुष्ट कर दिया। उन्होंने कहा– नहीं पार्थ नहीं! तुम छिन्न–भिन्न बादल की तरह नष्ट–भ्रष्ट होने की बात कर रहे हो, ऐसा तो होता ही नहीं। वह न इहलोक में नष्ट होता है, न परलोक में अथवा न यहाँ उसका नाश होता है न परलोक में; क्योंकि निष्काम कर्मयोग या प्रभुप्राप्ति निमित्त ध्यानयोग कभी नष्ट होता ही नहीं बल्कि योग में बाधा पड़ जाने से वह योगी दिव्य लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त कर उनमें बहुत काल तक निवास कर फिर धर्मात्माओं के घर में जन्म लेता है अथवा अति वैराग्यवान होता है तो पुण्यवानों के लोकों में न जाकर सीधे ज्ञानवान योगियों के घर में जन्म ले लेता है जो ज्ञानवान योगियों का कुल मिलना संसार में अति दुर्लभ है।

सभी कहते हैं कि 'तप चूक राज, राज चूक नरक' अर्थात् कोई पुरुष तप से चूक जाता है यानी तप से बीच में ही विमुख हो जाता है तो उसे राजपद मिलता है, वह भौतिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न हो जाता है और कोई राजधर्म का परित्याग कर दिया तो सीधा भिखारी बन जाता है लेकिन यहाँ भगवान ने अपने भक्त को, जप, तप, योग में बाधा आ गयी और वे साधना छोड़ बैठे तो भी पुरस्कार ही दिया; ऐसा नहीं कि असफल घोषित कर दिया हो। यदि सच में कोई सच्ची श्रद्धा से ध्यानयोग में लगा हुआ है या अन्य किसी निष्काम साधना में लगा हुआ है और प्रारब्ध ने बाधा डाल दी, कोई रोग हो गया या बुढ़ापारूप महारोग ही आ गया तो उसे विश्राम करने के लिए नानाप्रकार के दिव्य ऐश्वर्य सामने रखे जायेंगे। जब उसकी थकान मिट जायेगी तब उसे पुण्यात्माओं के घर जन्म दे दिया जायेगा, जहाँ (जिस कुल में) सभी भगवद्भक्त होंगे। उस घर में कोई वैष्णवभक्त होगा तो कोई शैव (शिवभक्त) और कोई शाक्त (शक्ति का उपासक) या सभी वैष्णव ही हों, या सभी शिवभक्त, शाक्तभक्त ही हों, या जहाँ ज्ञानवान योगियों का कुल मिल जायेगा, वहाँ पर उस योगी का जन्म हो जायेगा। भगवान बुद्ध, जड़भरत, भगवान दत्तात्रेय, भगवान कपिल, शुकदेव, राजा जनक, भगवान शंकराचार्य आदि का जन्म ज्ञानवान योगियों के घर में ही तो हुआ था। भगवान बुद्ध के पिता आत्मज्ञानी थे, भगवान दत्तात्रेय के पिता–माता दोनों ही ऋषि थे, भगवान कपिल के माता–पिता दोनों ही योगी थे, आद्यगुरु शंकराचार्य के पिता योगी थे तथा माँ तपस्विनी एवं साध्वी थी, राजा जनक के पिता आत्मज्ञानी थे। इसप्रकार उस योगी का उन्हीं घरों में जन्म होता है जहाँ नित्य ही सन्तों का, साधकों का, सिद्धों का आना–जाना एवं रहना होता रहता है।

जन्म एवं व्यवहार के चार चरण देखें– पुण्यवानों के घर में जन्म होना पहला चरण, उसमें समयानुसार सद्गुरु (संत) का मिलना दूसरा चरण, वहाँ ब्रह्म की जिज्ञासा होना तीसरा चरण और सद्गुरु द्वारा साधना करने की प्रेरणा मिलना चौथा चरण– ऐसा योग यदि किसी को मिल गया है तो उसके जैसा सौभाग्यशाली जगत में कोई विरला ही होगा।

ऐसा भी होता है कि किसी साधक की केवल माँ ही निष्काम भगवद्भक्त है और सभी सकाम भक्त हैं, किसी साधक के पिता ही निष्काम भक्तयोगी या ज्ञानयोगी है अन्य सदस्य देवोपासक हैं लेकिन घर में कोई न कोई अवश्य भगवद्भक्त होता है। यदि माता–पिता दोनों ही

सकामी देवोपासक हैं तो दादी–दादा, परदादा–परदादी में से कोई न कोई अवश्य भगवद्भक्त होगा, तभी उस घर में निष्काम ध्यानयोगी का जन्म होता है; क्योंकि उसके द्वारा उस घर के सदस्यों का भी तो उद्धार होता है? फिर प्रह्लाद, ध्रुव एवं मीरा जैसे भगवद्भक्तों के विषय में क्या कहा जायेगा? कहा क्या जायेगा! भगवती मीरा के माता–पिता सन्त ही थे, ध्रुव के माता–पिता भक्त ही थे। माता तो साक्षात् योगिनी ही थी और पिता भक्त थे तभी तो ध्रुव से कहा है कि बेटे! ऐसी बातों को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए, मैंने तो कुछ नहीं कहा है? ऐसा कहते हुए वे घोर पश्चात्ताप करते हैं। रही बात प्रह्लाद की तो माँ साक्षात् ज्ञानयोगी है ही और पिता भी शैव है थोड़ी देर के लिए मूर्खतावश उत्पात मचा देना, सकामी पुरुषों के स्वभाव में आता है। अन्ततोगत्वा कभी का वह भक्त था तभी तो भक्त प्रह्लाद ने भगवान से वरदान में उसका उद्धार होना, सद्गति मिलना माँग लिया।

यदि किसी साधक को अपने पूर्वजन्म का गणित करना हो तो अपने परिवार के सदस्यों का, माता–पिता, दादी–दादा आदि का, व्यवहार देखना चाहिए।

भगवान मानो संकेत से महात्मा अर्जुन को भी बता रहे हों कि तुम्हारा जन्म भी दुर्लभ योगियों के ही तो कुल में हुआ है? तुम्हारे पिता परम भगवद्भक्त एवं तपस्वी थे, माँ तो ज्ञानयोगी एवं मेरी आत्मा है ही, इसलिए मेरे पास तुम्हारे लिए आत्मज्ञानरूप वरदान सुरक्षित है, चिन्ता मत करो।

अच्छा तो पुण्यवानों या ज्ञानयोगियों के कुल में जन्म हो जाने पर होगा क्या? इसपर भगवान कहते हैं–

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

हे कुरुकुल को प्रसन्न करनेवाले पार्थ! वह वहाँ मेरी कृपा से पूर्वजन्म के निष्काम ध्यानयोग को या निष्काम साधनाओं को अपने–आप प्राप्त कर लेता है और पहले से भी बढ़कर विशेष प्रयत्न करने लग जाता है। वहाँ भले ही पुण्यवानों के घर में परतन्त्र हो, किन्तु किसी न किसी उपाय से, किसी न किसी निमित्त से वह ब्रह्म की तरफ खींच ही लिया जाता है तथा वहाँ वह ध्यानयोगी सहज में वेद में कहे हुए सकाम कर्म की साधनाओं को (जो वैदिक मंत्रों द्वारा पूरी होती हैं) और उनके फलों को सहज में उल्लंघन कर जाता है अर्थात् उनसे अनासक्त हो जाता है; किन्तु जो योगियों के घर में जन्म लेनेवाला साधक है वह तो अनेक जन्मों की निष्काम साधना

के बल से निष्पाप हुआ ध्यानयोग द्वारा इसी जन्म में शीघ्रातिशीघ्र अपने आत्मस्वरूप अर्थात् परमगति को प्राप्त कर जाता है।

यहाँ भगवान ने बड़ी बारीकी से दो प्रकार के साधकों के जन्म लेनेवाली बात कही है। एक वे जो साधना काल में प्राप्त हुई सिद्धियों के चक्रव्यूह में फँसकर साधना छोड़ बैठे या किसी रोग के कारण साधना छूट गयी, जिसके कारण ब्रह्मजिज्ञासा पूरी नहीं हुई या वृद्धावस्था के प्रवेशकाल में ब्रह्मजिज्ञासा तो हुई, साधना के प्रति अति श्रद्धा भी हुई लेकिन वृद्धावस्था के कारण शरीर के पूरी तरह साथ न देने से साधना में शिथिलता रही और प्राण–पखेरू उड़ गये तथा दूसरा साधक वह जो साधना की चोटी के निकट पहुँचकर शरीर छोड़ दिया है; यानी उसके शरीर की अवधि पूरी हो गयी। यही दूसरा साधक कई जन्मों से निष्काम साधना करता चला आ रहा है, अतः इस जन्म में वह बचपन या युवावस्था से ही उस पूर्व की साधना के संयोग को प्राप्त कर जायेगा। इस दूसरे साधक के घर–परिवार में उसकी साधना के प्रति विरोध नहीं होगा। यही नहीं, माता–पिता को प्रसन्नता ही होगी; क्योंकि उस घर में या तो माता–पिता दोनों ही ध्यानयोगी होंगे या दोनों में से कोई एक ध्यानयोगी होगा तथा एक सगुणोपासक होगा। यहाँ पर इस अध्याय में भगवान ने निर्गुणोपासक साधकों की बात की है, जो शुद्ध साक्षी चेतन एवं आत्मरूप होकर ध्यान कर रहे हैं। उन साधकों का यह निश्चितरूप से अन्तिम जन्म होता है।

प्रथम साधक की बात जो की गयी है कि भले ही वह वैदिक देवोपासकों, वैष्णव, शैव, एवं शाक्त उपासकों के घर जन्मा हो, भले ही उस कुल–परिवार में वैदिक पूजा की ही प्रधानता हो लेकिन वह ब्रह्मजिज्ञासु पूर्व की साधना के संयोग से, प्रेरणा से, उस वैदिक पूजा–पाठ से, देवोपासना से, आगे बढ़ जायेगा और एकमात्र ध्यानयोग में ही रहने लगेगा। ऐसी स्थिति में उस परिवार में उसका घोर विरोध भी हो सकता है लेकिन तो भी प्रभुकृपावश वह उस विरोध को सहन करते हुए आगे बढ़ता जायेगा।

श्रीमानों अर्थात् वैदिक (शब्दब्रह्म) पूजा–पाठ करनेवाले देवोपासक परिवार, जिसमें शैव एवं वैष्णव तथा शाक्त तीनों प्रकार के सकामी भक्त थे, ऐसे परिवार में जन्में हुए एक साधक ने अपने ही जीवन की (बचपन से युवावस्था तक की) कहानी बतायी; जिससे पूर्व की साधना का संयोग वर्तमान जन्म में कैसे प्रकट हो जाता है, यह सुगमता से पता चल जायेगा।

उस साधक ने बताया कि पाँच वर्ष की अवस्था में मुझे दूसरे गाँव में बूआ के घर पढ़ने के लिए भेज दिया गया, इसलिए कि वहाँ उनके घर उसी विद्यालय के अध्यापक रहते थे। वहाँ पहली, दूसरी एवं तीसरी कक्षा तक रहा, वैसे जैसे दरवाजे पर कोई संन्यासी रहता है। तीन साल तक मैंने एक दिन भी भोजन–जलपान नहीं माँगा। बूआ चिल्लाती हुई प्रेम से आती और खाने–पीने के लिए ले जाती। चौथी कक्षा में अपने चाचा के साथ दूसरे प्रदेश में पढ़ने को भेजा गया। वहाँ भी वही शीलता, वही संकोच साथ में था; लेकिन एक दिन अद्‌भुत कृपा हुई– बच्चों के साथ नदी–स्नान करने गया था, बारह बजे दिन की बात है। वहीं से साथियों से छिपकर

वन को चला गया और चौबीस घण्टे अखण्ड भगवान का नाम जपता रहा। दूसरे दिन यह सोचकर घर आ गया कि चाचा–चाची अति संकोच में हो जायेंगे क्योंकि मेरे खो जाने का कलंक उनके ऊपर लग जायेगा लेकिन उस दिन के बाद ब्रह्मजिज्ञासा जग गयी और मन ही मन उसकी खोज प्रारम्भ हो गयी। पुनः नवी कक्षा में एक दिव्यातिदिव्य स्वप्न हो गया। स्वप्न में बारह बजे रात्रि को अपने इष्ट आये और आशीर्वाद देकर चले गये। उस दिन के बाद से ही साधना आँधी–तूफान की तरह आगे बढ़ी और दसवीं–ग्यारवीं कक्षा तक इष्टसिद्धि प्राप्त हो गयी लेकिन जैसे ही साधना प्रारम्भ हुई वैसे ही घर में पिता और भाइयों ने घोर विरोध प्रारम्भ कर दिया। उनलोगों का साथ पूरे गाँव–क्षेत्र ने दिया। प्रारम्भ में अध्यापकों ने भी विरोध किया किन्तु उनलोगों ने थोड़े ही दिनों में प्रेम करना शुरू कर दिया। पिता का विरोध अपनी चरम सीमा पर था, माँ साक्षात् भगवतीरूपा थी। वह एक दिव्य निष्कामयोगिनी थी, अतः उसने गुप्तरूप से पूरा सहयोग किया। पिता का कहना था कि आँख बन्द करने से साधना नहीं होती, यह तो ढोंग करता है, सारी प्रतिष्ठा मेरी दाव पर लगा दी है। यदि पूजा करना ही है तो शंकर भगवान के मंदिर में स्नान करके बैठता तो माना जाता या यदि ढोंग नहीं है, इसे तपस्या ही करनी है तो वन, जंगल में क्यों नहीं चला जाता। उनकी बात सत्य हुई और मैंने एक दिन माँ से कहा– पिताजी अति व्यथित हो गये हैं, उनका खाना, पीना, सोना दूभर हो गया है, उनकी अशान्ति देखी नहीं जाती, इसलिए तुम मुझे वनप्रदेश को जाने दो; भगवान मिला, शान्ति मिली तो लौटूँगा। माँ ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उस समय तक इष्टसिद्धि तो हो ही गयी थी, लेकिन शान्ति नहीं मिली थी। अपना इष्ट (भगवान) ही सब रूपों में दृष्टिगोचर होने लगा था, लेकिन मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहा जाऊँगा? निर्गुण–निराकार ब्रह्म क्या है? माया क्या है? कहाँ से प्रकट होती है? संसार क्या है, इसका वास्तविक रूप क्या है, इसका उद्गम क्या है? इत्यादि प्रश्नों की जिज्ञासा बढ़ गयी थी। इसलिए उस इष्ट ने मुझे घर छोड़ते ही सद्गुरु दिया और सद्गुरु प्राप्त होते ही पूर्व के निर्गुण–निराकार ध्यानयोग का संयोग प्राप्त हो गया, जो 'मैं ही वह निर्गुण–निराकार, शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ'– इस अद्वैत ज्ञान से प्रारम्भ होता है। जब साधना पूरी हुई तो समझ में बात आ गयी कि मैंने तो कुछ किया ही नहीं, बल्कि पूर्वजन्मों की निष्काम साधना ने ही अपना काम कर लिया। निष्काम ध्यानयोग भले ही बीच में व्यवधान आने से रुक जाय लेकिन वह नष्ट नहीं होता अपितु बढ़ता ही रहता है। निष्काम साधना (ध्यानयोग) निर्गुण–निराकार ब्रह्म का ही सगुण–साकार रूप है, वह बढ़ते–बढ़ते इतना हो जायेगा कि पुनः निर्गुण–निराकार, शुद्ध चेतनरूप होकर ही विराम लेगा। निर्गुण से ही सगुण हुआ था और सगुण से पुनः निर्गुण हो जायेगा।

(तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्.....) साधना के पूर्व की भूमिका के यदि चार चरण आपको मिल गये हैं अर्थात् धर्मात्माओं के घर, भगवद्भक्तों के घर जन्म हुआ है, वहाँ संतों के आने–जाने से सत्संग की प्राप्ति हो रही है, ब्रह्मजिज्ञासा हो गयी है और सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी है, तब आपमें निर्बलता कहाँ से कैसे आ गयी है? आपकी पूर्व की निष्काम साधना प्रतीक्षा कर रही है, थोड़े से संकल्प की आवश्यकता है। यदि आप श्रद्धा से भरे हुए होते हैं, थोड़ी सी

तत्परता दिखाते हैं तो पूर्वजन्म की साधना का संयोग अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

सामवेदीय गायक पूर्वजन्म के संयोग को भली–भाँति जानते होंगे। वर्तमान जन्म में जब गुरु की अध्यक्षता में ताल, मात्राओं तथा राग–रागिनियों का अभ्यास कर रहे होंगे तो गुरु सिखाता होगा थोड़ा और वे सीखते होंगे बहुत ज्यादा। बाहर से वह थोड़ा ही बतायेगा लेकिन हृदय से बहुत ज्यादा आयेगा। ऐसा क्यों? क्योंकि पूर्वजन्म में भी उन्होंने इन्हीं राग–रागिनियों का सतत अभ्यास किया है। जितने भी कलाकार, गायक होते हैं, वे कहते ही हैं कि हम नहीं जान पाते कि हम इतना सुन्दर कैसे गा लेते हैं। हमारे चिदाकाश से जब दिव्य राग–रागिनियाँ नृत्य करती हुई मानसपटल पर आती हैं तो आरोह–अवरोह की दिशा को जितना हम जानते हैं, उससे कहीं विशेष वे जानती हैं। हमें स्वयं आश्चर्य होता है– जितना श्रोता नहीं सुनते उतना तो सर्वप्रथम हम ही सुनते हैं। एक समय ऐसा आता है कि हम मात्र श्रोता एवं द्रष्टा होते हैं और वे राग–रागिनियाँ स्वतः ही वाणी का आश्रय लेकर गाती हुई प्रकट होती रहती हैं तथा हम देखते एवं सुनते रह जाते हैं। वैसे ही साधना की भूमिका के चार चरण आपको प्राप्त हैं तो आप प्रयत्न करेंगे थोड़ा और पायेंगे विशेष। इसलिए घर से संन्यास लेकर आये हुए साधकों से महाराज कहता है कि उन्हें प्रथम दिन से ही प्रातः तीन घण्टे एवं सायं दो घण्टे से साधना प्रारम्भ करनी चाहिये। शरीर एवं इन्द्रियाँ थक कर चूर–चूर हो जायेंगी, लेकिन तीन घण्टे से पूर्व उठना ही नहीं चाहिये, नहीं तो सद्गुरु का अपमान माना जायेगा। इसप्रकार नित्यप्रति कुछ मिनट साधना के समय को बढ़ाते हुए वर्षभर में सुबह से शाम तक एक बैठकी में साधना होनी चाहिये। मात्र चार–पाँच माह में शरीर की पीड़ा शान्त हो जायेगी, भले ही मन पीड़ित होता रहे या विकल होता रहे, ध्यान भले ही न लगे पर जप तो होता रहेगा। शरीर में जितना ही दर्द होगा उतना ही स्वस्थ जप होगा। शरीर में जब पीड़ा रहेगी तो मन जायेगा कहाँ? पीड़ा पर या जप पर। उसके पूर्व में किया हुआ जप–ध्यान तो आलस एवं प्रमाद के कारण बिखरा हुआ रहता है। यदि लक्ष्य बन गया है कि अब दिनभर भगवान के आने की प्रतीक्षा करेंगे तो दिनभर में कई बार मन में उच्चाटन होगा, मन में ऊबन होगी। अतः उस अवस्था में प्रकट होनेवाले उच्चाटन को और ऊबन को ही देखें, उसी की खोज करें कि यह उच्चाटन अर्थात् ऊबन कहाँ से आ रही है। इसप्रकार कभी पद्मासन से, कभी सिद्धासन से, कभी सुखासन से और कभी ताड़ासन से अर्थात् खड़े होकर जप या आत्मचिन्तन तथा शुद्ध साक्षी चेतन होकर प्रतीक्षा करने में सहज ही बारह–बारह घण्टे व्यतीत हो जायेगा। यही नहीं, दो साल होते–होते तो सुबह से दस बजे रात्रि तक या शाम पाँच बजे से सुबह नौ बजे दिन तक जप, तप, योग में समय कब बीत गया पता चलते हुए भी पता न चलने के बराबर होगा। जब इसी गीताजी के अठारहवें अध्याय में भगवान ने स्वयं कहा है कि 'मेरी साधना प्रारम्भ में विषतुल्य प्रतीत होती है तथा परिणाम में अमृत को प्रदान करनेवाली होती है', तो चिन्ता किस बात की है? माँ जानती है कि प्रसव के समय पीड़ा कितनी होती है, तो भी उस पीड़ा के भय से बच्चा जन्माना बन्द नहीं करती । वैसे ही उच्चकोटि के साधकों, सिद्धों, सन्तों ने ध्यान, समाधि प्रकट होने के पूर्व की पीड़ा को देखा है। वह पीड़ा तन, मन, वचन में होती है, जिसे सहन करना ही होगा। यदि

आप मंत्रजापक हैं तो जपयोग प्रकट होने में पीड़ा होगी, यदि आप अष्टांगयोगी हैं तो उस योग के प्रकट होने में पीड़ा होगी, यदि आप ध्यानयोगी हैं तो ध्यानयोग के प्रकट होने में पीड़ा होगी और यदि आप विशुद्ध चेतन ध्यानयोगी हैं तो आत्मचिन्तनयोग प्रकट होने में पीड़ा होगी। सारी की सारी साधनायें भौतिक कामनारूपी जेर से लिपटी हुई हैं, जो चिदाकाशरूपी गर्भ में सुरक्षित रहती हैं। जब वे गर्भ से बाहर आती हैं तो असह्य पीड़ा होती ही है। सेना में भर्ती होनेवाले लोगों में से छः महीने के अभ्यास काल में ही कितने तो भाग खड़े होते हैं, जो छः महीने के अभ्यास काल में सफल हो गया, वह सहज में ही पूरी अवधि तक सेवा कर लेता है। उसीप्रकार साधक की साधना का भी छः महीना–सालभर का अभ्यास काल अत्यन्त पीड़ादायक होता है, फिर तो वह पूर्वजन्म के संयोग को प्राप्त करते ही अति वेग से आगे बढ़ता जाता है। सद्गुरु ने ध्यानयोग आपके कानों से, आपकी आँखों से, आपके चित्त में डाल दिया, दे दिया, वह भीतर गर्भ में जाकर सुरक्षित हो गया और भीतर ही भीतर विकसित होने लगा; अब वह शीघ्रातिशीघ्र आपको आनन्दित करता हुआ बाहर भी प्रकट हो, उसके लिए आपको अहर्निश ध्यानयोग में लगा रहना होगा। वर्तमान का आत्मचिन्तन करते–करते पूर्वजन्म के आत्मचिन्तन के पास जैसे ही जायेंगे, वैसे ही वह आत्मचिन्तन शुद्ध साक्षी चेतन आत्मरूप बनकर प्रकट हो जायेगा। इसी को गर्भ से आत्मज्ञान प्रकट होना कहते हैं। भगवत् सिद्धान्त बाहर से हृदय के भीतर जाकर सुरक्षित हो जाता है तब वह ब्रह्मबीज कहलाता है, लेकिन फूल–फल बनकर कालान्तर में प्रकट होता ही है, ऐसा नहीं कि वह सड़–गलकर नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है।

साधक भगवत्प्राप्तिरूप ध्यानयोग में लगा हुआ ही शरीर छोड़ दिया तो भगवान उसे योगभ्रष्ट नहीं कहना चाहते; क्योंकि पुनः दूसरा जन्म तो उस साधना को पूरा करने के लिए ही प्राप्त होता है। अतः वह जन्म रात्रि में सोकर सुबह जागने के जैसा है। रात्रि में सोकर स्वप्न देखता हुआ सुबह जगे या प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में सोया हुआ होकर ही सुबह जगे, उसके जगने की प्रतीक्षा करनेवाले को इससे क्या लेना देना। तो भगवान भी 'योगभ्रष्टोऽभिजायते' क्यों कह रहे हैं? इसलिए कि अर्जुन के थोड़ा हाँ में हाँ मिला देते हैं। प्रभु की शरण में कोई चला गया और वे उसे विषयी कह देंगे तो भक्त के घेरे में आ जायेंगे, उन्हें भक्त को योगभ्रष्ट कहना बड़ा महँगा पड़ेगा क्योंकि भक्त कहेगा भगवान के लिए घर छोड़ना मेरा धर्म है और बाहर में सुरक्षा प्रदान करना भगवान का धर्म है।

उपरोक्त साधना को प्रकट होने में जो पीड़ा होने की बात की गयी है वह जप, तप, योग के अभ्यास काल की बात है, न कि परिणाम काल की। भगवती माँ कौसल्या एवं देवकी जैसी माताओं को प्रसव काल में पीड़ा नहीं होती; क्योंकि प्रसव के पूर्व उन्होंने घोर जप, तपरूप पीड़ा को सहन कर लिया है। पीतल के बर्तन में दही तो नहीं रख सकते न; क्योंकि वह विष हो जायेगा। यदि उसमें दही रखना ही है तो उसके ऊपर राँगे की कलई चढ़ानी ही पड़ेगी। वैसे ही यदि आपका शरीर नारकीय है, क्षुद्र हो गया है तो घोर जप, तप से उसे तपाना ही होगा। पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन आदि में शरीर को बिठाने में जो पीड़ा होती है, उसे सहन करना

ही पड़ेगा। प्रतिकूलता को सहन करना ही तप है। उसके उपरान्त ध्यानयोग प्रकट होने में पीड़ा नहीं होती बल्कि मन, बुद्धि, चित्त की पीड़ा समाप्त हो जाती है और बहुत भारी दुःख चला जाता है; क्योंकि यह दुःखों का नाश करनेवाला ध्यानयोग है।

(प्रयत्नाद्यतमानस्तु.....) एक–दूसरे का लम्बे काल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जन्म–जन्मान्तर का सम्बन्ध है। जो आज की धर्मपत्नी है किसी जन्म की नौकर भी हो सकती है, हो सकता है जो आज की बहन है किसी जन्म की अपनी कर्जदार भी हो, जो आज का पिता है कभी का शत्रु या मित्र भी हो और जो आज का मित्र है किसी जन्म का अपना पशु भी हो या शत्रु भी हो। यात्रा में चलते समय मित्र एवं शत्रु बनते देखे जाते हैं– इसप्रकार अनेक जन्मों से अनेकानेक योनियों से सम्बन्ध बनाते हुए एक–दूसरे का मित्र–वैरी बनते हुए, इस पड़ाव पर पहुँचते हैं, जहाँ आपको विशेषाधिकार प्राप्त होता है। इस पड़ाव पर पहुँचकर आप चाहें तो ध्यानयोग में प्रवेश करने के लिए हुंकार भर सकते हैं, जैसे देवी ने रणभूमि में आकर सर्वप्रथम हुंकार भरा था। मनुष्ययोनि एक ऐसा पड़ाव है, एक ऐसी भूमि है, जहाँ खड़े होकर हुंकार भरने में, प्रतिज्ञा करने में कोई आपत्ति नहीं है। जन्म–जन्म की अनन्तशक्तियों को लेकर आप यहाँ तक आये हुए रहते हैं, आपके पास सारे आयुध होते हैं। ऐसा कोई आयुध अथवा अस्त्र–शस्त्र नहीं है, जो आपके चिदाकाश में न हो और जो आपको प्राप्त न हो सके। ऐसा कोई ऐश्वर्य नहीं, ऐसी कोई विभूति नहीं, ऐसा कोई सौन्दर्य नहीं है, जो आपके पास न हो। ऐसा नहीं है कि यह सब महात्मा के पास ही होते हैं बल्कि यह सब आपके पास भी हैं, बस आपको पुरातनयोग को स्मरण करना है।

(शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते) यदि पुण्यात्माओं के घर जन्म मिला, ब्रह्मजिज्ञासा हुई और सद्गुरु मिला तथा सद्गुरु की आज्ञा अर्थात् साधना करने की प्रेरणा मिल गयी तो जान लेना कि मैंने पूर्वजन्मों में भी साधना की है। पूर्वजन्मों में भी मैंने, देवताओं की, शक्तियों की, सद्गुरुओं की, सन्तों की पूजा की है, तभी ऐसा योग प्राप्त हुआ है। अतः आप मौन न रहें, आगे बढ़ें। आप अपने को धिक्कारें मत, अपने सौभाग्य की सराहना करें। ऐसा करने से तन, मन, वचन अति उत्साहित हो जायेंगे और अन्दर की ब्रह्मजिज्ञासा अति प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी। प्रथमावस्था में दूसरे की देखा–देखी में भी पूजा–पाठ करने का मन करता है, जप, तप, ध्यान करने का मन करता है; लेकिन एक ऐसी अवस्था आती है कि अपने–आप ही घोर जप, तप, योग करने की प्रेरणा प्राप्त हो जाती है, वह बड़े महत्त्व की होती है लेकिन वह प्रेरणा तब प्रकट होती है, जब सद्गुरु एवं सन्त की आज्ञानुसार आपका व्यवहार हो रहा होता है। सन्त की, सद्गुरु की आज्ञा में ही तो सम्पूर्ण शक्ति छिपी हुई है। जड़ में चेतनता आने में सन्त एवं सद्गुरु का वरदान या शाप ही कारण होता है। नल–नील को तो सन्त का शाप ही था कि तुमदोनों के स्पर्श हो जाने से पत्थर पानी में डूब भी नहीं सकता। वह शाप उनके लिए भगवान के सेतु–निर्माण में वरदान सिद्ध हुआ।

आप उस सद्गुरु के महत्त्व को समझें और अनाश्रित कर्म अर्थात् जिस कर्म का कोई

आश्रय ही नहीं है, उस कर्म का त्याग कर दें। वह कर्म क्या है? जो मन से होनेवाला है, वह कर्म कौन है? जो घर–परिवार की प्रतिष्ठा को देखकर किया जानेवाला है, वह कर्म कौन है? जो सकाम है, सामान्य पौराणिक मत से सम्पन्न होनेवाला है। यदि सद्गुरु प्राप्त है तो फिर इन कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। वे कर्म अस्तित्वहीन एवं आश्रयरहित हैं। ये कर्म निश्चितरूप से छिन्न–भिन्न हुए बादल की तरह बिना भगवत्फल दिये नष्ट–भ्रष्ट हो जाते हैं। हलवाहा दिनभर हल जोतता है, रिक्शावान दिनभर रिक्शा चलाता है, वे बड़े भारी कर्म करते हैं, तो भी यह निश्चित नहीं है कि उन्हें शाम को रोटी मिलेगी ही। क्या कारण है? यही कि उनका कर्म बिखरा हुआ है, छिन्न–भिन्न है। उनका वह कर्म न देवताओं को प्राप्त होता है, न भगवान को बल्कि केवल श्रम देता है। इसीप्रकार श्रम करते–करते जीवन बिखर कर छिन्न–भिन्न हो जाता है। अन्ततोगत्वा मन करता है कि आज मरूँ, कल मरूँ, आज जहर खाऊँ, कल डूब मरूँ। बुढ़ापा कराह उठती है, बाल–बच्चे धक्के देने लगते हैं, घर–गाँव के भी लोग बोलते नहीं, उल्लू की दशा हो जाती है। उल्लू अकेला रहता है, वैसे ही अकेलापन सदा काटने को दौड़ता है। इसप्रकार आश्रयहीन कर्म के कारण आप न मर पाते हैं न जी पाते हैं बल्कि अति दयनीय दशा को प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए तो प्रभु ने इस अध्याय के प्रथमचरण में ही 'उद्धरेदात्मनात्मानं. .....' कहकर सावधान किया है कि आप अपना उद्धार अपने से करें। माता–पिता आपका उद्धार नहीं कर सकते, भाई–बान्धव, हित–मित्र आपका उद्धार नहीं कर सकते, पति आपका उद्धार नहीं कर सकता, पत्नी आपका उद्धार नहीं कर सकती; क्योंकि ये सब तो आपके साधन पथ के महाबाधक हैं। सुग्रीव ने भी कहा है–

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।।
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक।।
सत्रु मित्र सुख दुःख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

इस न्याय से यदि आपका मन भगवान के चरणों में समर्पित हो जाता है तो प्रभु आपका भी उद्धार करता है, आपके माध्यम से आपके बाल–बच्चों का भी उद्धार करता है और आपके माता–पिता, भाई–बान्धवों का भी उद्धार करता है। यह मिथ्या भ्रम ही हो गया है आपको कि आप माँ के साथ रहते हैं, पिता के साथ रहते हैं, बाल–बच्चों एवं भाई–बान्धवों के साथ रहते हैं। सच तो यह है कि आप न किसी के साथ रहते हैं और न अन्यलोग आपके साथ रहते हैं। लेकिन भ्रम तो भ्रम ही है। वह आपका काल बनकर आपके पूर्वजन्मों के योग, जप, तप को, आपके पुण्यों को खाये जा रहा है। अन्ततोगत्वा आपके साथ कोई नहीं जाता बस, साथ जाती है आपकी मूर्खता। इसलिए भगवान द्वारा दी हुई चेतावनी को महाराज ने पूर्वी राग में गाकर आपके सामने प्रस्तुत किया है, जिसे आप भी गाकर अपनी मूर्खता को समझायें–

ममता मोह छोड़ रे, ब्रह्म के बटोहिया;
देख तेरे घर में, राम की नगरिया बसे।।

झूठो गाँव, घर झूठो, झूठो तेरो देशवा;
झूठो माई बाप तोरा, हित रे भदेशवा।
झूठो तोरा तन मन, धन की गठरिया;
देख तोरा घर में श्याम की बहुरिया बसे।।
ममता मोह.....

झूठो तोरा जप तप, ज्ञान दान ध्यनवाँ;
झूठो तोरा प्रेम नेम, झूठो स्वाभिमनवाँ।।
झूठो झूठो झूठो रे, समाधि की लहरिया;
देख तोरा घर में ब्रह्म की बहुरिया बसे।।
ममता मोह.....

महाराज नाम झूठो, झूठो याको तनवाँ;
झूठो झूठो झूठो रे, मन के बहनवाँ।
राज राज ब्रह्म राज, राज की रजोरिया;
देख तोरा घर में, ब्रह्म की सगरिया बसे।।
ममता मोह.....

(प्रयत्नाद्यतमानस्तु.....) बहुत से जन्मों के जप, तप, योग के प्रताप से आपको पुनः मनुष्ययोनि मिली, उसमें भी वह कुल–परिवार मिला, जिसमें साधु–सन्तों की सेवा होती है, जिसमें भगवान की सेवा होती है, जिसमें देवयज्ञ होता है। अतः आप जान लें कि आठ–दस जन्मों से आप मनुष्ययोनि में ही प्रकट होते आ रहे हैं। अतः इस जन्म को क्यों न आप अपने अन्तिम जन्म के रूप में देखें। क्यों न आप ऐसा सोचें कि मैं इस जन्म में तो सम्पूर्णता से अपने स्वरूप को ही प्राप्त कर जाऊँ। यदि सद्गुरु घर में ही प्राप्त है और वह आपको वहीं पर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने का इच्छुक है तो आपका वह घर ही सन्यासाश्रम है। भगवान जितना आपके घर में है, उतना ही जंगल में है। मुख्य है अहर्निश सद्गुरु की निकटता एवं घर, परिवार, समाज से स्वतन्त्रता। जैसे शिशु की देख–रेख माँ करती रहती है, वैसे ही सद्गुरु आपके व्यवहार एवं अध्यात्म की देख–रेख करने लगे तो जान लेना कि आपके सौभाग्य का अभ्युदय हो गया है। जब पुत्र से, धर्मपत्नी से अथवा माता–पिता से हठात् अज्ञानियों का वियोग हो जाता है तो चाहे वे जिस भी अवस्था में बैठें, उनका आँसू बहता रहता है, उनकी याद आती रहती है एवं मन में पीड़ा होती रहती है। उसीप्रकार जब भगवान की उत्कट कामना हो जाती है तो चाहे जिस अवस्था में आपका शरीर बैठे, उस अवस्था में ही भगवान की याद आती रहेगी, भगवान का नाम स्मरण होता रहेगा अथवा आत्मचिन्तन की धारा मन में प्रवाहित होती रहेगी। ऐसा नहीं है कि जब आसन सिद्ध हो जाय तभी आप ध्यानयोग करेंगे। पता नहीं, आसन कब सिद्ध हो। आवश्यकता क्या है, आसन सिद्ध होने की? हाँ आपका मन सिद्ध होना चाहिये। मन की सिद्धि क्या है? सर्वथा भगवान का हो जाना। जैसे कोई युवक, जैसे ही किसी कन्या का पाणिग्रहण

स्वीकार करता है, वैसे ही उसके मन में यह मेरी धर्मपत्नी है और मैं इसका धर्मपति हूँ, यह भाव सहज ही प्रकट हो जाता है। इसी को समर्पण कहते हैं। चाहकर भी पति, धर्मपत्नी को माँ नहीं समझ सकता; क्योंकि उसकी इस भावना में आसन जम गया है।वैसे ही जिस दिन आप घोषणा करते हैं कि आज से मैं सदा–सर्वदा के लिए भगवान का हो गया, तो उसी दिन आपके चित्त में भगवान बैठ जाता है और मन का आसन जम जाता है, बाहर का आसन चाहे जब जमता रहे, उसकी क्या चिन्ता। इसप्रकार अनेक जन्मों के जप, तप, योग से आपका रजोगुणरूप पाप जाता रहता है और फिर आप भगवद्सिद्धिरूप परम लाभ को प्राप्त कर लेते हैं। यह इस अध्याय के अन्तिम चरण का उपसंहार हो रहा है।

इस छठे अध्याय में भगवान ने जगह–जगह साधक, साधना और उसके स्वरूप की महिमा गायी है। अब इस अध्याय का उपसंहार भी निष्काम कर्मयोगी को सर्वश्रेष्ठ साधक बताकर, वह मेरी आत्मा ही है, ऐसी घोषणा कर रहे हैं–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

हे पार्थ! उपरोक्त ध्यानयोगी, तपयोगी से श्रेष्ठ है, वेदज्ञ विद्वानों से श्रेष्ठ है तथा सकाम भक्तयोगियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए तुम मेरी आज्ञा पालन करो और ध्यानयोगी हो जाओ। इसप्रकार सम्पूर्ण योगियों में भी जो अन्तर मन से श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना में लगे रहते हैं वे मुझे अतिशय प्रिय हैं।

साधकों के लिए इस मंत्र के रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है। इसे आप अच्छीप्रकार से सुनें। 'तपस्विभ्योऽधिको योगी'– जिस ध्यानयोग की बात प्रभु ने इस अध्याय में की है, उस ध्यानयोग को स्वीकार करनेवाला पुरुष योगी कहलाता है। वह योगी सामान्य हठयोगियों से श्रेष्ठ होता है। सामान्य योगी कौन है? हाँ, जो तपयोगी है, जो मनमाना तप कर रहा है शम्बूक की तरह, मनमाना तप कर रहा है रावण, कुम्भकरण, कंस आदि असुरों की तरह, मनमाना पंचाग्नि ताप रहा है, मनमाना अनशन कर रहा है, मनमाना चौराहे पर खड़ेशरी, बटेशरी बना फिर रहा है, ऐसे लोगों द्वारा किये हुए मनमुखी तप को भगवान अस्वीकार करते हैं। प्रभु ने जिस ध्यानयोग की बात की है ऐसे निष्काम कर्मयोगी से वह तपस्वी अति तुच्छ है। इससे सिद्ध होता है कि वह ध्यानयोगी अतिश्रेष्ठ है, जो भगवान (सद्गुरु) की अध्यक्षता में रहते हुए उसकी आज्ञानुसार जैसा वह बताता है वैसा ही करता है, वही योगी है और वही श्रेष्ठ है।

आप सब देखते ही हैं कि माताएँ मनमाना तप करती हैं। टी.वी में देख लिया शुक्रवार की कथा को किसी माँ के द्वारा करते हुए तो सारी माताओं ने शुक्रवार का व्रत शुरू कर दिया, किसी को बृहस्पतिवार के व्रत करने से लाभ हो गया तो सबने बृहस्पतिवार का व्रत प्रारम्भ कर

दिया, ये सब मनमाना तप (व्रत) है। क्या सद्गुरु ने बताया कि तुम बृहस्पतिवार का व्रत करना, शुक्रवार का व्रत करना! अरे! शुक्र का व्रत हो ही रहा है और पति पर, पुत्र पर दुःख का संकट आ ही रहा है, शुक्रवार व्रत तो हो ही रहा है और मन में घुन लग ही रहा है? राहू, केतु और शनि की पूजा हो ही रही है और दुःख पर दुःख आ ही रहा है? इससे सिद्ध होता है कि जो आपकी पूजा है, वह सद्गुरु की आज्ञा से नहीं बल्कि अपने मन के अनुसार हो रही है अर्थात् मन की आज्ञा से हो रही है। इतना आप जान लें कि उस समय आप तपस्वी नहीं होते जब आप मनमाना तप करते हैं। व्रत के दिन चाय पीते हैं आप, क्या सद्गुरु ने कहा चाय पीने को? एकादशी के दिन चाय पीते हैं, नवरात्रि में व्रत करते हैं! क्या तो हम फलाहार करते हैं, फलाहार के साथ–साथ चाय किसने दिया पीने को? जब मन के ही आप सेवक हैं तो फिर तप क्यों करते हैं? तपस्वी तो होते हैं आप लेकिन मनमाना व्यवहार भी करते हैं, इससे बड़ी दुर्दशा होती है, जैसे भगवान श्रीराम के द्वारा शम्बूक नामक तपस्वी की हुई थी। अतः वही श्रेष्ठ महात्मा है, वही श्रेष्ठ साधु है, वही श्रेष्ठ तपस्वी है, जो सद्गुरु की आज्ञा से ही कोई भी टूटा–फूटा व्रत करता है। वह सद्गुरु से पूछता है कि व्रत के दिनों में क्या खाना चाहिए, कितना सोना चाहिए, व्रत के दिनों में दिन में सोना चाहिए कि नहीं सोना चाहिए, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। इसप्रकार वह छोटा ही, थोड़ा ही व्रत बड़ा प्रभावकारी होता है। अब आप समझ गये होंगे कि वैसे सकाम तपस्वियों से सद्गुरु की आज्ञानुसार ध्यान करनेवाला योगी श्रेष्ठ है।

('ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः.....') उसीप्रकार अपने से ग्रंथ उठा लेनेवाले अर्थात् मनमाना चाहे जिस ग्रंथ को उठाकर पढ़नेवाले, मनमाना चिन्तन करनेवाले, मनमाना स्वाध्याय और चाहे जिस–तिस से सत्संग करनेवाले ज्ञानयोगी से भी ध्यानयोगी श्रेष्ठ है। सवेरे से शाम तक पढ़े जा रहे हैं ग्रंथ को, इसे स्वाध्याय कहते हैं; जबकि स्वाध्याय के लिए भी अनुमति लेनी होती है सद्गुरु से कि मैं किस ग्रंथ का अधिकारी हूँ तथा कौन सा ग्रंथ मेरे योग्य है? जो ध्यान नहीं कर सकते लेकिन यदि कोई माँ पढ़ी–लिखी है, कोई पिता पढ़ा–लिखा है तो कम से कम स्वाध्याय तो कर ही सकते हैं। कोई भगवान शंकर का उपासक है तो शिवपुराण पढ़े, भगवान विष्णु का उपासक है तो विष्णुपुराण पढ़े, कृष्ण भगवान का उपासक है तो श्रीमद्भागवत पढ़े, प्रभु श्रीराम का उपासक है तो वाल्मीकीय रामायण अथवा रामचरितमानस का स्वाध्याय करे। दिनभर का स्वाध्याय, सत्संग उनके लिए है जो ध्यानयोग नहीं कर सकते। जब कथा हो तो कथा में जाए, जब कथा नहीं है तो स्वाध्याय में जाए, जब थोड़ा मन ऊब जाये तो चिन्तन में जाए। इसप्रकार तप के साथ कोई स्वाध्याय करता है तब तो वह ज्ञानयोगी होता है और उसकी श्रेष्ठता के विषय में भगवान को नकारना ही नहीं है लेकिन यदि मनमाना स्वाध्याय करता है, चिन्तन करता है तो वह बातूनी ज्ञानी है। जो पुराणों को, शास्त्रों को, वेदों को, उपनिषदों को बहुत पढ़ लिया लेकिन प्रयोग में उतरा ही नहीं है वैसे बातूनी ज्ञानी से तो वह ध्यानयोगी, अनपढ़–गँवार कोई साधक श्रेष्ठ है अर्थात् पूजनीय है।

('कर्मिभ्यश्चाधिको योगी.....') इतना ही नहीं बल्कि सिद्धि की कामना से मनमाना देवता की पूजा करनेवाले, स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ करनेवाले सकामकर्मी से ध्यानयोगी श्रेष्ठ

है। जो देवयज्ञ तो करता है अर्थात् माता–पिता की सेवा तो करता है लेकिन उनकी सेवा, उनकी विरासत (धन–सम्पत्ति) को प्राप्त करने के लिए करता है, उनकी तिजोरी पर अधिकार करने के लिए अर्थात् उनसे चाभी (चाबी) लेने के लिए करता है तो वैसे पुत्र–पुत्री से माता–पिता की सेवा भगवान की प्रसन्नता के लिए करनेवाले श्रेष्ठ हैं। भगवान सूर्य की, अग्नि देवता की, भगवती तुलसी माँ की, पीपल वृक्ष आदि की सभी बहुत पूजा करते हैं लेकिन यदि उनकी सकामपूजा करते हैं तो वैसे सकामपूजकों से तो ध्यानयोगी अति श्रेष्ठ है। देवपूजक से अर्थात् उस सकामकर्मी से जो मनमाना महामृत्युञ्जय का घोर जप करनेवाला है, मनमाना गायत्री का विशेष अनुष्ठान करनेवाला है, मनमाना 'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं' अर्थात् नवार्ण मंत्र का अहर्निश जप करनेवाला है लेकिन तुच्छकामना से सम्पन्न रहता है, ऐसे जपयोगी से तो ध्यानयोगी श्रेष्ठ है। बिना सद्गुरु के बताये हुए पढ़ लिया, देख लिया टी.वी. पर और जप करने लगे मंत्र का वैसे सकाम जापक से ध्यानयोगी श्रेष्ठ है। निष्काम कर्म करते–करते ध्यानयोग में प्रवेश मिल जाता है, जिस ध्यानयोग का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। निष्काम कर्मयोगी में चार–चाँद लग जाता है जब वह ध्यानयोगी हो जाता है, इस अध्याय का यही उद्देश्य है। माता–पिता, कुलगुरु, पुरोहित, गोमाता और दरवाजे पर आये हुए अन्यान्य दीन–हीन पशु–पक्षी की सेवा तो वह करता है लेकिन बदले में भगवान की भक्ति माँगता है, कालान्तर में उस भक्ति से भगवान को ही माँग लेता है, तब उस निष्काम कर्मयोगी की श्रेष्ठता का बखान करते भगवान अघाते नहीं हैं। तो कहेंगे आप कि फिर तो ऐसा निष्काम कर्म करने से दीनता(धन–जन का अभाव) साथ नहीं छोड़ेगी, यदि हम भगवान को ही मानेंगे तो? भगवान ने कहा– नहीं, नहीं ऐसा नहीं है बल्कि भगवान तो आने से पहले ही ऐश्वर्य देता है। यदि भगवान को माँगते हैं सबकी सेवा के बदले में तो भगवान आने के पहले ऐश्वर्य देता है और धन–धान्य से सम्पन्न कर देता है।

श्री भागीरथी धाम (ऋषिकेश) में हरिओम नाम का बालक रहता था। अभी वह इन्दौर(मध्यप्रदेश) चला गया है, बड़ा उद्दण्ड था बचपन में वह। उसके पिता राधेश्याम ने महाराज से उसकी शिकायत की। महाराज ने कहा– भागीरथी धाम भेज दो। उस समय आश्रम में वह अकेला बालक था, अन्य सभी वहाँ साधक थे। साधुओं के बीच में रहने पर भी चटपटा प्रसाद(भोजन) नहीं रहने से कभी–कभी वह थाली फेंक देता था तथा घर भाग जाता था लेकिन जब आता था घर से तो सारे संत उसी से सेवा लेते थे और वह भी सेवा तो मन से ही करता था। महाराज के साथ–साथ वह आत्मानन्द, रामानन्द, भूषणानन्द, सुदामानन्द आदि साधकों से अतिशय प्रेम करता था। ये सभी साधक उसे पढ़ने नहीं देते थे बस, सेवा कराते थे। कुशाग्र बुद्धिवाला होने से थोड़ा सा पढ़ लेने पर ही वह उत्तीर्ण हो जाता था। जब वह उत्तीर्ण हो गया बी.ए. में तो उसे संतों की सेवा करने का फल क्या मिला? यही कि एक दिन कल्पना के बाहर एक बात कही उसने इन्दौर जाते समय। महाराज के चरणों को पकड़ लिया और फूट–फूट के रोते हुए कहने लगा कि सारे लोग यहाँ साधना के लिए आते हैं और आप मुझे यहाँ से फैक्ट्री में भेज रहे हैं। यदि मैं सचमुच में आपका सेवक हूँ तो आप कृपा करें! मैं शादी नहीं करना चाहता और न ही

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हूँ, मैं तो बस इसीप्रकार संतों की सेवा करना चाहता हूँ! महाराज ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। इसप्रकार यदि सकामता आपकी संत की अध्यक्षता में है तो उसमें निष्कामता निहित होती है; क्योंकि संत की उसमें प्रतिष्ठा रहती है।

भगवान का यहाँ आशय है कि आप योगी हो सकते हैं। झाड़ू लगाने से लेकर ध्यान करने तक आप सद्गुरु की आज्ञा में रह सकते हैं। क्या खाना–पीना चाहिए, किसके साथ रहना चाहिए, सद्गुरु से पूछें। सद्गुरु जितना अनुपात बता दें उसी अनुपात के अनुसार खाना, पीना, सोना, जागना, देखना, व्यवहार करना आप करें और देखें कि कैसे नहीं जीवन में दिव्यता आती है। निश्चित ही कभी न कभी आपके हृदयक्षेत्र में एक अध्यात्म ज्योति का आगमन होगा, आध्यात्मिक फूल और भगवान का फल लगेगा। महाराज ने प्रयोग करके देखा है– संत के शरणागत होते ही जड़ को चेतन होते देखा है, मूर्ख को ज्ञानी होते हुए देखा है, असाधु को साधु होते देखा है, पापी को पुण्यात्मा होते देखा है। सद्गुरु की गोद में हैं आप, उसकी अध्यक्षता में हैं आप फिर तो आपको शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि मिल जानी चाहिए, जिस कामना को लेकर आये हैं आप वह शीघ्रातिशीघ्र पूरी हो जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो निश्चितरूप से आपकी शरणागति में कमी है। इतना आप जानलें कि उसके शरणागत होते ही साधना बाद में होगी और कामना पहले पूरी हो जायेगी, यदि आपका उसके प्रति भगवद्भाव है तो।

इस अध्यायानुसार आप सब ध्यानयोगी हो जाएँ भगवान नारायण की ऐसी ही घोषणा है। वही शरणागत होता है जो भगवान अर्थात् सद्गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में रहता है, सद्गुरु की आज्ञा से ही संन्यासाश्रम में रहता है, सद्गुरु की आज्ञा से ही वानप्रस्थाश्रम में रहता है तथा सद्गुरु की आज्ञा से ब्रह्मचर्य आश्रम में रहता है। ऐसा नहीं है कि वह मनमाना होकर, उच्छृंखल होकर, विषयी होकर इन सारे आश्रमों में रहेगा। पाप, पापी में नहीं होता– यदि किसी ने सौ गायों का वध कर दिया, माता–पिता का वध कर दिया गुरु प्राप्त होने के पहले तो उसे समाज पापी कहेगा लेकिन जिस दिन वह प्रभु की शपथ खाकर, हाथ ऊपर उठाकर, उस पाप का स्मरण करते हुए सद्गुरु के शरणागत हो गया तो उसी दिन उसके साथ–साथ उसके सारे पापों का उद्धार हो जाता है, ऐसा सारे वेद–पुराण कहते हैं। क्या आपके लिए वह वेद, शास्त्र, पुराण नहीं है, वे झूठ बोलते हैं? निश्चितरूप से यदि आप दीन हैं, दुःखी हैं, अशान्त हैं तो कहीं न कहीं आपने गुरु की अवहेलना की है, भगवान की अवहेलना की है, इसपर आप विचार करें।

इधर युद्धभूमि की तरफ देखते हैं तो महात्मा अर्जुन ने पूछा– फिर तो मुझे, आप एकान्त वनप्रदेश में जाने दें और वहाँ अहर्निश ध्यानयोग का अभ्यास करने दें!

प्रभु ने कहा कि यदि मैं तुम्हारे सामने नहीं होता तो ऐसा ही करना उचित था, किन्तु जिस आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग के लिए तुम वनप्रदेश को जाओगे, वह आत्मचिन्तनरूप ब्रह्म तो तुम्हारे सामने तुम्हारा जीवन सारथि बना हुआ है। जहाँ से आत्मचिन्तनरूपी किरणें प्रवाहित हो–होकर तुम्हारे जैसे भक्तों एवं साधकों के हृदय को आप्लावित करती रहती हैं। तुम मुझे आत्मचिन्तनरूप किरणों का केन्द्र जानकर तो देखो, फिर तुम्हें पता चलेगा कि एकान्त देश की आवश्यकता है

या रणभूमि की।

भगवान का स्पष्ट आशय है कि आध्यात्मिक श्रद्धा से सम्पन्न साधक को यदि ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु अहर्निश प्राप्त है तो उसके लिए एकान्त प्रदेश में, पवित्र भूमि में, आसन लगाकर उसपर बैठकर, ध्यानयोग करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि सद्गुरु ही कहे कि तुम एकान्त प्रदेश में ध्यान करो तो वह बात दूसरी है, उस समय तो वैसा ही करना चाहिये जैसा कि वह कहता है। जिसप्रकार चोर यदि अपने बच्चे को सदा साथ रख रहा है तो उसे चोरी करने की कला सीखने के लिए किसी पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती, कामिनी के साथ रहनेवाले व्यक्ति को कामशास्त्र पढ़कर काम की कला सीखने की आवश्यकता नहीं पडती, हठयोगी के साथ रहनेवाले किसी साधक को हठयोग की क्रियाओं को सीखने के लिए घेरण्ड संहिता आदि पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वैसे ही भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जैसा सद्गुरु प्राप्त हो तो गुडाकेश जैसे जितेन्द्रिय साधक को आत्मज्ञान के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। आपके ऐसा कहने से तो एकान्त देश में जाकर पवित्र भूमि पर आसन लगाकर ध्यान करनेवाली भगवान की बात गलत सिद्ध हो रही है? नहीं; नहीं; ऐसा नहीं है। भगवान ने स्पष्ट कहा है कि–

'जितात्मनः प्रशान्तस्य.....ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा.....सुहृन्मित्रार्युदासीन..... (७–८–९)।'

अर्थात् जो जितेन्द्रिय है, शान्त अन्तःकरणवाला है, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान में सम है, ज्ञान–विज्ञान से तृप्त है, मिट्टी, पत्थर एवं स्वर्ण में सम है, निर्विकार है, सुहृद, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ एवं भाई–बान्धवों में, धर्मात्माओं तथा पापियों में भी समान दृष्टि रखनेवाला है, ऐसे पुरुष की बुद्धि विशिष्ट कही जाती है। यदि ऐसे विशिष्ट गुणों और विशिष्ट बुद्धिवाला नहीं है तो वैसे साधक को ब्रह्मचर्य धारण करके ऐसे विशिष्ट गुण एवं सम बुद्धि की प्राप्ति के लिए आत्मचिन्तनयोगरूप ध्यान करना चाहिये, जबकि महात्मा अर्जुन में ये विशिष्ट गुण एवं विशिष्ट बुद्धि स्वाभाविक ही है, एकमात्र आत्मचिन्तन का अभाव है, जो गुरुयोग से सम्पन्न हो ही जाता है। इसलिए भगवान के अनुसार ऐसे विशिष्ट लक्षणोंवाले साधकों के लिए गुरुयोग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गुरु एवं शिष्य में आध्यात्मिक दिव्य संवाद की परम्परा है। लक्ष्मण जैसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मजिज्ञासा होने पर प्रभु श्रीराम ने एकान्त वनप्रदेश में जाकर आसन जमाकर आत्मचिन्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी। वही न्याय भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने अर्जुन जैसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के लिए किया है। इसीलिए तो भगवान बार–बार कह रहे हैं कि तुम शुद्ध साक्षी चेतन आत्मरूप हो जाओ और इस तन से मेरी आज्ञापालनरूप युद्ध करो। जब मेरा मन युद्ध के गुण दोषों से लिपायमान नहीं होगा तो आत्मरूप होने से तुम्हारा मन युद्धरूप व्यापार से होनेवाले लाभ–हानि से लिपायमान कैसे होगा। तपयोग में भी 'मैं कर्ता हूँ'– ऐसा क्षुद्र अहंकार रहता है। वह तप शरीर से ही प्रारम्भ होता है। वेद–वेदान्तों के स्वाध्यायरूप ज्ञानयोग में भी कर्तापने का अभिमान रहता है; क्योंकि यह भी तन, मन, वचन से ही सम्पन्न होता है। सद्गुरु के अभाव में कर्मयोग सही हो रहा है

या गलत, इसका भली–भाँति पता नहीं चलता लेकिन इस अध्याय का आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप परम भाव से प्रारम्भ होता है। इस ध्यानयोग में एकमात्र स्वबोध ही रहता है, कर्तापने की अंशमात्र भी झलक नहीं आती। इसप्रकार उपरोक्त तपयोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग तथा भगवान के द्वारा दिये गये इस ध्यानयोग में कहीं से कहीं तक एक अंश भी समानता नहीं है। इसीलिए भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने को शरीर न मानकर जन्मने, मरनेवाला न मानकर शुद्ध चेतन, सत् एवं अक्षर आत्मा मान लो, स्वीकार कर लो, तो फिर तुम्हें ध्यानयोग में बैठने की आवश्यकता नहीं है। बस, मैं तो अर्जुन नामक शरीर से धर्मयुद्ध कराता रहूँगा और तुम देखते रह जाओगे।

('तपस्विभ्योऽधिको योगी.....') तपस्वी से ध्यानयोगी इसीलिए बड़ा है क्योंकि तप के उपरान्त भी सद्गुरु की ही प्राप्ति होगी और गुरुयोग द्वारा भी यही ध्यानयोग प्राप्त होगा। ज्ञानयोगी से ध्यानयोगी इसीलिए बड़ा है क्योंकि ज्ञानयोगी भी चित्तशुद्धि के लिए ही स्वाध्याय यज्ञ करता है। उसके उपरान्त तो आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए गुरुयोग की ही आवश्यकता होगी। यही नहीं, कर्मयोगी से भी ध्यानयोगी श्रेष्ठ है; क्योंकि उसे भी तभी शान्ति मिलेगी, जब गुरुयोग से अपने को निर्विकार, निराकार, निर्मल, शुद्ध, चेतन आत्मरूप जान लेगा।

यदि आत्मचिन्तनरूप ध्यानयोग समझ में आ गया और आत्मरूप होने में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न रहा तो कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर गुरु आदेशानुसार लोकसंग्रह के लिए प्रवृत्तिमय या निवृत्तिमय व्यवहार को प्रकाशित करता हुआ रहना होता है। जैसा कि रघुवंशी राजर्षि (इक्ष्वाकुवंशी), ब्रह्मर्षि गुरु वसिष्ठ के अनुसार ही आत्मज्ञान से सम्पन्न होकर राज्यासीन होते आये हैं।

ऐसा नहीं है कि भगवान की प्राप्ति में तप, ज्ञान, कर्म, यज्ञ, दान आदि निमित्त नहीं हैं, लेकिन यदि किसी अधिकारी साधक को सद्गुरु बता रहा है ध्यानयोग और वह मन लगा रहा है तपयोग, ज्ञानयोग या कर्मयोग में तो वैसे साधक से कहा जाता है कि तुम्हारे लिए जप, तप, ज्ञान एवं कर्मयोग से श्रेष्ठ ध्यानयोग है। तुम अपने को और अपनी सामर्थ्य को भले न जानो, लेकिन तुम्हारा सद्गुरु तुम्हें, तुम्हारे संस्कारों को और तुम्हारी महत् शक्ति–सामर्थ्य को जानता है। लंका कौन जा सकेगा, जब सबने अपनी असमर्थता व्यक्त की तो जामवन्तजी ने हनुमान से कहा आप अकेले में बैठे क्या भगवान के नाम, गुण एवं रूप का कीर्तन, मनन एवं चिन्तन कर रहे हैं? आपके लिए तो प्रभु श्रीराम की सेवा ही जप, तप, योग एवं ध्यान है। आपका जन्म एकमात्र उनकी सेवा–शुश्रूषा के लिए ही हुआ है। उसीप्रकार भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि तुम क्या जप, तप, ध्यान करोगे, यह तो तुमने पूर्व के जन्मों में बहुत कर लिया है। अब अपने सनातन सच्चिदानन्दरूप को याद करो और जगत–हितार्थ यह धर्मयुद्ध करो।

महाराज ने देखा, एक संत के पास भी कुछ उत्तम अधिकारी साधक हैं, जिन्हें वे इसी ध्यानयोग को देना चाहते हैं लेकिन वे लोग ज्योतिर्ध्यान और नादध्यान आदि की तरफ बहते हुए चले जा रहे हैं। वे सोचते हैं कि पहले के तपस्वी, ज्ञानी एवं अष्टांगयोगी मूर्ख थे क्या, जिन्हें

उनके सद्गुरु ने ध्यानयोग नहीं दिया? मैं आत्मा हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, शाश्वत सनातन हूँ इतना ही मात्र मान लेने से शान्ति कैसे मिल जायेगी। वैसे साधक अपने ही पूर्व के संस्कारों को चिन्तन द्वारा नहीं जानने के कारण ऐसा सोचते हैं।

अष्टावक्रजी ने जैसे राजा जनक को भरी सभा में यह कहकर सम शान्त कर दिया कि हे राजन्! तुम सत्–असत् दोनों से परे हो, ज्ञान–अज्ञान की भी आत्मा हो, तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों की आत्मरूप होने से आत्मा हो। वैसे ही भगवान भी महात्मा अर्जुन से दो सेनाओं के मध्य चिल्ला–चिल्लाकर कह रहे हैं कि आत्मज्ञान के अतिरिक्त तुम सर्वगुण सम्पन्न हो। इसलिए आत्मस्वरूप होकर अब मान–अपमान, हानि–लाभ, सुख–दुःख से अनासक्त हो जाओ और फिर तुम्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

(योगिनामपि सर्वेषां.....) इसप्रकार सम्पूर्ण योगियों में भी जो आत्मरूप होकर अपने ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु के सिद्धान्त के अनुसार ही जगत में व्यवहार करता है, वह तो मुझे अतिशय प्रिय है।

जगत के लोगों को तपयोगी प्रिय है; क्योंकि उसका बाह्यत्याग स्पष्ट दिखाई दे रहा है तथा सिद्धियों से भी सम्पन्न होकर भले ही वह आत्मरूप हुआ हो या नहीं, लेकिन लोगों के काम आ रहा है, इसलिए लोग उसी को श्रेष्ठ मानकर उसकी पूजा करते हैं। जगत के लोगों को ज्ञानयोगी ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वह अपनी बुद्धि कौशल से वैदिक एवं पौराणिक मतों के द्वारा लोगों की शंका का समाधान कर दे रहा है, भले ही उसी के चित्त का समाधान न हुआ हो। लोगों को कर्मयोगी ही श्रेष्ठ लगता है; क्योंकि वह सबकी सेवा में उतर गया है, सबके लिए जीने लगा है, भले ही अपने लिए न जी पाया हो, भले ही अपना उद्धार न किया हो किन्तु भगवान इन सबको उतना महत्त्व नहीं दे रहे हैं और न निरादर ही कर रहे हैं, बल्कि जिसने सर्वप्रथम अपना उद्धार कर लिया है, अपने मन, बुद्धि का उद्धार कर लिया है अर्थात् तन, मन, वचन एवं बुद्धि से अनासक्त हो गया है तथा जिस ढंग से उसके सद्गुरु ने उसे जीवन जीने को कहा है वैसे ही जी रहा है तो वह भगवान को अति प्रिय है। श्रद्धा के साथ भजन करने का तात्पर्य है सद्गुरु की इच्छानुसार व्यवहार करना।

(मद्गतेनान्तरात्मना.....श्रद्धावान्भजते यो मां.....) अर्थात् श्रद्धा से आप प्रभु का भजन करते हैं, श्रद्धा से सद्गुरु की आज्ञा मानते हैं, श्रद्धापूर्वक अन्तर मन से उसकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं तो निश्चितरूप से आप प्रभु के अतिशय प्रिय होते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि आप आज्ञा को पूरी तरह से पालन कर ही लेंगे। उसकी आज्ञा पालन करने में त्रुटि भी होगी लेकिन यदि आप उसके प्रति श्रद्धा से सम्पन्न हैं तो वह उस त्रुटि को देखकर अनदेखा कर देगा। कदाचित् कोई प्रारब्धवश बड़ा भारी अपराध हो गया तो वह उसे क्षमा कर देगा। अतः जितनी सामर्थ्य है उतना ही आप करें लेकिन श्रद्धा तो पूरी रहनी चाहिए। आध्यात्मिक एवं भौतिक– दो प्रकार का हृदय होता है, एक अज्ञानियों का दूसरा भगवद्भक्तों का। अन्तिम विराम को साधक ध्यान से सुनें क्योंकि उन्हीं के लिए बात हो रही है। ध्यानयोग का उपक्रम चल रहा

था, अब उसका उपसंहार होने जा रहा है। मूर्खों ने, अज्ञानियों ने, सकामियों ने, असुरों ने, अपने हृदय को अपने बाल–बच्चों को दे दिया है, अपने भाई–बान्धवों को दे रखा है, अपने हित–मित्रों को दे दिया है और भक्तों ने, साधकों ने अपने हृदय को भगवान को दे दिया है। अज्ञानियों के हृदय में स्वजनोंसहित कुल–परिवार की परम्परा बसती है, देव–पूजकों के हृदय में शास्त्र परम्परा बसती है और भक्तों के हृदय में सन्तों, सद्गुरुओं की परम्परा बसती है। अब साधकों को ध्यान देना है कि उनके हृदय में कौन बस रहा है? यदि भगवान का सिद्धान्त बस रहा है और संस्कारवश पूरा का पूरा पालन नहीं भी हो रहा है तो सद्गुरु के हृदय में अन्यथादोष नहीं आता। वह तो आन्तरिक श्रद्धा एवं भाव देखता है तथा सम्पूर्ण श्रद्धा और भाव प्रभुमय है तो वे ही साधक, भक्त उसकी आत्मा होते हैं, वे ही उसे अतिशय प्रिय लगते हैं।

इसप्रकार भगवान क्षणभर के लिए मौन होते हैं और संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं–

हे राजन्! भगवान मधुसूदन का दिव्य संवाद पलभर के लिए बन्द है। मानो वे महात्मा अर्जुन की प्रतीक्षा कर रहे हों।

पहले तो तुम ये बताओ कि भगवान ने अभी कहा क्या? ऐसा धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– हे राजन्! भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि तुम मेरी आज्ञा पालन करते हो तो मैं आज ही तुम्हारे हृदय में बैठता हूँ। तुम अपना श्रद्धामय हृदय दे दो।

और क्या कहते हैं? पुनः धृतराष्ट्र ने पूछा।

हे राजन्! और जब आप पूछ ही रहे हैं तो मैं आपको सुनाना नहीं चाहता था, लेकिन तो भी आप सुनें– प्रभु कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम अपने बाल–बच्चों को, भाई–बान्धवों को, स्वजनों को, अपनी कुल–परम्परा को, अपने भौतिक आचार्य द्रोणाचार्य एवं कुलगुरु कृपाचार्य को, पितामहभीष्म को, अपने हृदय से निकाल दो और उस हृदय में श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक मुझे बिठा लो। जिसप्रकार मैं तुम्हारे रथ के अगले भाग में बैठा हूँ, उसीप्रकार तुम्हारे हृदय में भी आगे ही बैठना चाहता हूँ। फिर किसीप्रकार का संशय, शोक, मोह तुम्हारे हृदय में प्रवेश नहीं कर सकता और जो छिपा रह जायेगा वह मेरे आते ही हृदय से भाग खड़ा होगा।

मेरा प्रिय अर्जुन क्या कह रहा है? धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– राजन्! उनका सिर झुका हुआ है, कुछ बोल नहीं रहे हैं लेकिन सन्तोष की मुद्रा में अवश्य दिखाई पड़ रहे हैं। स्वयं भगवान उनके बोलने की प्रतीक्षा में हैं। महात्मा अर्जुन धरती की तरफ देख रहे हैं और भगवान मधुसूदन उनकी ओर।

इस छठे अध्याय का सम्पूर्ण सारांश महाराज ने काफी राग में गाया है। इसको आप भी गाते हैं, तो छठे अध्याय के पाठ का भी फल मिल जायेगा, भले ही सवेरे बिस्तर पर जगते ही गायें या सोते समय या स्नान करते समय। तो आयें पद गाते हैं–

सुनो रे पार्थ जोगिया जोगें धीरे–धीरे।।
शुद्ध भूमि महँ शुद्ध कुशासन, पर बैठत वह करि कमलासन।
सम राखत सिर तन को भाग, मन भृकुटि में धारे निज रूप विचारे,
पर होत न कबहुँ अधीरे.....सुनो रे पार्थ.....

अधिक न्यून नहिं खावत पीवत, करत कर्म नहिं सोवत जागत।
युक्ताहार विहार को साधे, नहिं प्रकृति सो बाधे निज रूप अराधे,
यह योग सकल दुःख चीरे.....सुनो रे पार्थ.....

योग करत निष्पाप भयो वह, सब प्राणिन्ह कहुँ ब्रह्म में देखत।
सब कहुँ प्रभुमय, प्रभु कहुँ सबमय, गुप्त न होत परस्पर कबहुँ,
देखत ऐसो योगी रे.....सुनो रे पार्थ.....

योग भ्रष्ट नहिं छिन्न भिन्न हो, जोगी जपी कहँ जन्म को पावे।
महाराज कहत प्रभु साँचों, तप ज्ञान से आगे वह कर्म से जागे,
तहाँ परमपद सुमिरे.....सुनो रे पार्थ.....

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म विद्यारूप योगशास्त्र में
भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप आत्मसंयमयोग नामक
छठवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ सप्तमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

यद्यपि भगवान नारायण ने अबतक ज्ञानयोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानकर्मयोग एवं कर्मसंन्यासयोग तथा आत्मसंयमयोग के द्वारा प्रकृति के गुह्यतम रहस्यों को खोलते हुए अर्जुन को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का यथासम्भव प्रयत्न किया है। भगवान ने यहाँ तक कह दिया 'यो मां पश्यति सर्वत्र.....'– 'जो मुझे सर्वत्र देखता है, सबमें मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता, चाहे वह घर में अनासक्त होकर कर्म करे अथवा संन्यास लेकर ज्ञानसमाधि में बना रहे। इस न्याय से यदि तुम्हें दिखाई पड़ गया कि सर्वत्र ब्रह्म ही है तो तुम पूर्व के राजर्षि ज्ञानियों के द्वारा किये गये व्यवहार के समान ही व्यवहार करो। रघुवंशियों की तो परम्परा ही चली आ रही थी कि पहले ब्रह्म को प्राप्त करो फिर कर्म करो अथवा ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त कर्म करो। अर्जुन के द्वारा इतना सुनने के उपरान्त फिर प्रश्न की सम्भावना नहीं बनती; फिर भी उन्होंने प्रश्न कर ही दिया कि 'यदि योग में कोई सिद्धिलाभ नहीं कर पाता तो कहीं वह छिन्न–भिन्न बादल की भाँति साधनपथ से नष्ट–भ्रष्ट तो नहीं हो जाता।' भगवान ने न चाहते हुए भी इसका उत्तर दे ही दिया। 'न चाहते हुए! ऐसा क्यो?'– वह इसलिए कि भगवान ने पूर्व में कहा है कि अपने स्वरूप में स्थित होकर जो हानि–लाभ, जय–पराजय की चिन्ता को छोड़कर लोकसंग्रह के निमित्त कर्तव्यकर्म को करता है तो वे कर्म उसे बाँधते नहीं हैं फिर जन्म और मृत्यु की बात ही कहाँ आती है, लेकिन महात्मा अर्जुन का चित्त मोह से आच्छादित है, माया की मार पड़ रही है, इस कारण वे यथार्थ नहीं समझ पा रहे हैं। जब उन्होंने अपनी चुप्पी खोली नहीं, तब प्रभु ने स्पष्ट देखा कि अभी तक इसमें पूरी तरह से प्रबुद्धता नहीं आ पायी है अतः इसे कुछ विशेष देना पड़ेगा।

उधर धृतराष्ट्र एक अवसर की खोज में हैं कि अर्जुन माधव की बात को सुनी–अनसुनी कर दे, ताकि उसपर ये (माधव) क्रोधित हो जायँ। ये बहुत ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे हैं, जब ये क्रोधित हो जायेंगे, तब अर्जुन को इनके प्रति विशेष शंका हो जायेगी। इधर भगवान और अर्जुन दोनों ही अपने लक्ष्य की ओर देख रहे हैं– एक का लक्ष्य है, यह युद्ध करे और दूसरे का लक्ष्य है, मैं युद्ध न करूँ। एक (अर्जुन) भगवान की अवहेलना पर अवहेलना किये जा रहा है तो दूसरा (भगवान) अर्जुन को प्यार पर प्यार किये जा रहा है। एक सम्पूर्ण असत्यमय (विषादमय) हो गया है तो दूसरा सम्पूर्ण सत्यमय, आनन्दमय, शान्तिमय है, लेकिन दोनों की विकलता देखते बनती है। वैसे ही जैसे किसी माँ के स्तन से दूध की धारा झर रही हो और बालक रूठकर

पीने से मना कर रहा हो, वैसे ही अर्जुन के लिये भगवान के हृदय से वरदान बह रहा है किन्तु अर्जुन लेने को राजी नहीं हैं। फिर भी अब भगवान के द्वारा पुनः दिव्य प्रकाश फैलने ही वाला है, जिससे मोहांधकार का कहीं भी अता–पता नहीं होगा। भगवान नारायण ने सोचा– अब इसके बाहर–बाहर रहने से बात बननेवाली नहीं है। अतः उस जगतपति ने अपनी अतिशय प्रिय आत्मा अर्जुन के भीतर प्रवेश कर उनका मन बन जाना चाहा, उनकी बुद्धि बन जाना चाहा, अहंकार बन जाना चाहा। उन्होंने अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखकर अन्तरिक्ष में एकटक देखते हुए, उनके त्राटकयोग को छिन्न–भिन्न कर दिया। भगवान ने कहा– पार्थ! क्या सोच रहे हो? 'कुछ नहीं..... माधव कुछ नहीं, मैं कुछ नहीं सोच रहा हूँ।' नहीं, नहीं कुछ सोच तो अवश्य रहे हो लेकिन इतना जान लो पार्थ! कि मैं तुम्हारा पीछा छोड़ने वाला नहीं हूँ। चलो! आओ हम दोनों एक दूसरे जगत में प्रवेश करते हैं, इस जगत में रहकर तो बात बननेवाली नहीं है; क्योंकि हम दोनों की वार्ता वैसे ही वाग्विलास बनकर ही रह जायेगी, जैसे दो बातूनी पण्डितों की वार्त्ता से कोई अर्थ नहीं निकलता। अतः–

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

हे पार्थ! अनन्यप्रेम से मुझमें आसक्त चित्तवाले तथा मेरे परायण होकर योग में लगे हुए, तुम जिसप्रकार सबके आत्मरूप मुझ परमात्मा को संशयरहित हुआ जान जाओगे, उसे सुनो। मैं उस ज्ञान को सम्पूर्णता से तुम्हारे लिये विज्ञानसहित कहूँगा, जिसको जानकर इस संसार में फिर कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता।

इस मंत्र में 'मय्यासक्तमनाः' पद अर्थात् 'मेरे में आसक्त मनवाला' पद अत्यन्त महत्त्व का है, जो बहुत कुछ संकेत कर रहा है। भगवान मानो कह रहे हैं कि तुम्हारा मन एकमात्र मेरे में ही आसक्त है, तुम्हें एकमात्र मेरे से ही मोह है अन्य से नहीं, क्योंकि तुम्हारा स्वजन तो जन्म–जन्मान्तर से मैं ही हूँ। यह तो बाहर–बाहर से एक क्षुद्रमोह इनके प्रति हो गया है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह तो अभी थोड़े ही समय में छिन्न–भिन्न हो जायेगा। अतः पहले तुम मेरी आज्ञानुसार कर्मयोग में प्रवृत्त हो जाओ, फिर तो मैं अपने सम्पूर्ण स्वरूपों को तुम्हारे को दिखाता जाऊँगा। समयानुसार जब मैं अपनी सर्वज्ञता, सर्वत्र विद्यमानता, सर्वरूपता को दिखाऊँगा तो उस समय तुम्हारे मन में मेरे प्रति भी जो कुछ संशय हो गया है, वह सब नष्ट हो जायेगा।

महात्मा अर्जुन को यही पता नहीं है कि उनका मोह एकमात्र भगवान से ही है, अन्य

किसी से नहीं। वे सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म ही हैं इसका बोध अभी तक प्रभु ने उन्हें नहीं कराया है, इसीलिये उनके मन में अभी तक भगवान के प्रति भगवान होने में सन्देह है। यदि उन्हें विश्वास रहता कि ये साक्षात् नारायण ही हैं, तब तो उनके चित्त की कहानी कुछ और ही होती। अर्थात् स्वजनों के प्रति आंशिक मोह भी हृदय से प्रकट नहीं होता।

कभी–कभार महाराज किसी सद्गृहस्थ भक्त से पूछता है कि यदि अभी आपके सामने भगवान आ जाय और कहे कि चलो अब मेरे धाम चलो तो आप क्या करेंगे? इसके उत्तर में सौ भक्तों में से तीन–चार भक्त कह देते हैं कि जी! चले जायेंगे। तब महाराज पूछता है कि ये बाल–बच्चे अधर में लटके हुए हैं, अभी इनकी शिक्षा–दीक्षा भी पूरी नहीं हुई है और न ही अभी इनका शादी–विवाह ही हुआ है, तो भी चल देंगे? तो उनमें भी कोई एक भक्त सहर्ष कह देता है कि 'बाबा! भगवान आ जाय सामने और कहे साथ चलने को तो उस समय यह सब याद आयेगा? उस समय तो छलांग लग जाएगी।' ऐसा उत्तर क्यों देते हैं लोग? इसीलिए कि मूल में अपना स्वजन अर्थात् सर्वस्व भगवान ही है। अतः अपनी आत्मा के सामने आते ही अनात्मा की याद चली जाती है। भगवान के स्वरूप और उसकी भगवत्ता पर एकमात्र विश्वास होने की बात है। यदि रोम–रोम में विश्वास हो जाय कि भगवान सर्वत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वरूप है, सर्वसामर्थ्यशाली है, तो जीवन की कहानी कुछ और ही हो जायेगी, उस पुरुष को किसी के प्रति मोह हो ही नहीं सकता। यह तो जो लोग कहते हैं कि भगवान सर्वत्र है, सर्वत्र है, वह सुनी–सुनायी बात कहते हैं, न कि अपने मन की बात। इस मंत्र के द्वारा यह स्पष्ट झलक रहा है कि मोह तो भगवान से ही होना चाहिये, आसक्ति तो भगवान से ही होनी चाहिए; क्योंकि भगवान के प्रति मोह हुए बिना उनके प्रति आसक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान के प्रति मोह हुए बिना स्वजनों से निर्मोहता हो ही नहीं सकती तथा बिना स्वजनों के प्रति निर्मोहता के अर्थात् अनासक्ति के भगवान में न मोह हो सकता है, न आसक्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, बिना भगवान में मोह–आसक्ति हुए, सर्वथा निष्कामकर्मयोग या ज्ञानयोग में चित्त की प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती और बिना चित्त के सर्वथा उसमें प्रतिष्ठित हुए तद्रूपता आ ही नहीं सकती। जब भगवान कह रहे हैं कि 'तू संशयरहित हुआ मुझको जानेगा' तो इसका तात्पर्य है– अपने को जान लेना और अपने को जान लेने का अर्थ है भगवान को जान लेना। यहाँ भगवान को जानने का तात्पर्य है– 'सद्गुरु को जानना, फिर अपने को जानना।' भाव है कि सद्गुरु के आश्रित होकर उसकी आज्ञानुसार चलने पर ही उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हुआ जा सकता है। जबतक कोई उसी को सर्वस्व समझकर उसकी आज्ञानुसार नहीं बरतता, तबतक उसे क्या पड़ी कि वह अपनी सर्वज्ञता को प्रकाशित करे या सर्वरूपता एवं सर्वसामर्थ्यता को प्रकाशित करे।

(मय्यासक्तमनाः पार्थ.....) महात्मा अर्जुन प्रभु में वैसे ही आसक्त हैं जैसे पुत्र पिता में, पत्नी पति में, मित्र मित्र में, अर्थात् ये एक–दूसरे में जैसे आसक्त होते हैं वैसे ही अर्जुन प्रभु में आसक्त हैं। आज भगवान भी महात्मा अर्जुन जैसे भक्त में आसक्त हो गये हैं। इसलिए क्योंकि उन्होंने उन्हें अपना बना लिया है। अबतक कोई भी ऐसा नाता नहीं था, जिससे प्रभु उन्हें अपने स्वरूप का दर्शन कराते। वे भाई मानते थे माँ के भतीजे होने के नाते, वे भगवान को मित्र मानते थे साथ

में रहने के नाते तथा वे सामर्थ्यवान मानते थे शिशुपाल, कंस आदि असुरों का वध करने के नाते। इसप्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने ऐसा कोई नाता नहीं बना रखा था, जिससे भगवान उन्हें अपनी विरासत दे देते। पुत्र को विरासत दी जाती है, पत्नी को विरासत दी जाती है एवं शिष्य को विरासत दी जाती है; लेकिन वे न भगवान के पुत्र की जगह थे अबतक, न शिष्य की जगह थे; परन्तु अब वे शिष्य की जगह हो गये हैं, अतः भगवान अपनी विरासतरूप सम्पत्ति जो अध्यात्म विद्या है, ब्रह्मविद्या है, उसे दे रहे हैं। उनकी नारायणी सेना तो भौतिक सम्पत्ति है जिसे दुर्योधन को दे रखा है, जो अभी पितामहभीष्म के शासन में रहेगी, द्रोणाचार्य एवं कर्ण के शासन में रहेगी कुछ दिन के लिये। तो आयें देखते हैं कि भगवान किस युक्ति से अपनी ब्रह्मविद्यारूप विरासत महात्मा अर्जुन को दे रहे हैं।

(ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः.....) मैं अबतक कहे हुए ज्ञान को विज्ञानसहित कहता हूँ, जिसे तुम श्रद्धापूर्वक सुन लेते हो तो तुम्हें किसी अन्य से कुछ भी जानना शेष नहीं रह जायेगा। 'तुम्हें कुछ जानना शेष नहीं रह जायेगा'– ऐसा कहने का तात्पर्य है कि मानो भगवान भयभीत हैं कि सुनने के उपरांत पुनः कहीं अर्जुन प्रश्न न कर दे; क्योंकि जबतक यह प्रश्न करता रहेगा, तबतक तो युद्ध की बात बनेगी ही नहीं, इसीलिए इस विज्ञान की भी भूरि–भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। प्रभु सोच रहे हैं कि सूर्योदय हो जाने के उपरांत भी आलसी एवं प्रमादी तबतक नहीं जगते जबतक कि सूर्य की किरणों के चाँटे उनके चेहरे पर नहीं पड़ते, वही बात इसकी है। यह तबतक नहीं मानेगा जबतक प्रकृति के गुह्यतम रहस्यों को जान नहीं लेता।

प्रभु ने ज्ञान को अबतक बाहर–बाहर कहा, अब उस ज्ञान को विज्ञान के साथ कहने जा रहे हैं। मानो वे अपनी अब दिव्य किरणों को फैलायेंगे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्दरूप ज्ञान का सूर्योदय तो हो गया है लेकिन उनमें से अब विज्ञानरूपी किरणें प्रस्फुटित होंगी, जो घर–घर में, द्वार–द्वार में तथा गाँव–गाँव, नगर–नगर में एवं जन–जन के तन–मन में, बुद्धि में, चित्त में प्रवेश कर जायेंगी। जिससे भक्तों एवं संतों का शोक–संताप जाता रहेगा। उसी का तो नाम है श्रीमद्भगवद्गीता। आश्चर्य की बात है कि श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्दरूपी (ज्ञानरूपी) दिव्य सूर्योदय होने के उपरांत भी महात्मा अर्जुन को संतोष नहीं हुआ, जबकि उपासना के योग्य तो उदयकाल का सूर्य ही होता है। सूर्योदय के समय भगवान भास्कर अपनी सम्पूर्ण किरणों को अपने–आप में समेटे हुए दिव्य अग्निवर्ण (गेरू वर्ण) के होते हैं। मानो वे संकेत कर रहे हों कि इस वर्ण (ज्योति) की उपासना कोई करे तो उसकी सुषुम्ना शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित हो जायेगी। इसीप्रकार वे मानो महात्मा अर्जुन से संकेत कर रहे हों कि इस समय मैंने सम्पूर्ण देवी–देवताओं को अपने–आप में ही धारणकर रखा है, अतः एकमात्र मेरी ही उपासना करने से सम्पूर्ण देवी–देवताओं की सेवा करने का फल मिल जायेगा।

ज्ञान तो 'मैं आत्मा हूँ और शरीर अनात्मा है'– इतना ही है। सांख्यमत के अनुसार इस अनात्मरूप शरीर (प्रकृति) की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है। कोई साधक कह सकता है कि मैं ब्रह्म हूँ और शरीर प्रकृति है तो ठीक है चलो मैंने मान लिया, और 'मैं अजन्मा हूँ'– यह

भी मैंने मान लिया लेकिन अनात्मशरीर का मूल क्या है? हाँ, इस अनात्मशरीर का मूल वासना है, वासना का मूल अज्ञान है, अज्ञान का मूल प्रकृति है तथा प्रकृति का मूल पुरुष एवं पुरुष का मूल परम पुरुष है। इस न्याय से तो अज्ञान का मूल ज्ञान ही है, यह एक अद्‌भुत पहेली है। जैसे वायु का मूल आकाश है, अग्नि का मूल वायु है, इसीप्रकार जल का मूल अग्नि तथा पृथ्वी का मूल जल है। अज्ञानी पुरुष इस बात को कैसे मानेगा? वह तो कहेगा कि अग्नि से जल और जल से पृथ्वी कैसे प्रकट हो सकती है, क्योंकि इन दोनों का ही अपने–अपने मूल से विरोध है? लेकिन यह सृष्टि तो संकल्पवत् है। इसलिए इसमें शंका की सम्भावना तो कहीं से कहीं तक नहीं है। भगवान जब ज्ञान को विज्ञान के साथ कहेंगे तो इसीप्रकार का विस्तार होगा। जैसे 'एकोऽहं बहुस्याम्'– इस मंत्र में 'एकोऽहम्' तो ज्ञान है और 'बहुस्याम्' विज्ञान है, इसीप्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अहं' ज्ञान है और 'ब्रह्मास्मि' विज्ञान है; 'मैं शुद्ध साक्षी हूँ'– यह ज्ञान है लेकिन 'मैं चेतन हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं निर्गुण हूँ'– यह ज्ञान है, 'मैं सगुण हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं निराकार हूँ'– यह ज्ञान है, 'मैं साकार हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं साक्षी आत्मा हूँ'– यह ज्ञान है, 'मैं सर्वज्ञ हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं साक्षी चेतन आत्मा हूँ'– यह ज्ञान है और 'मैं सर्वशक्तिमान हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं ब्रह्म हूँ'– यह ज्ञान है और 'मैं सर्वत्र हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं सर्वत्र हूँ'– यह ज्ञान है लेकिन 'भक्तों के हृदय में प्रकट होता हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं अकर्ता हूँ'– यह ज्ञान है, लेकिन 'भक्तों के पापों का संहार करता हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं निर्गुण–निराकार हूँ'– यह ज्ञान है और 'सद्‌गुरुरूप में प्रकट होता हूँ'– यह विज्ञान है : 'मैं सम हूँ, शान्त हूँ, निर्विशेष हूँ'– यह ज्ञान है लेकिन 'जब–जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब–तब भक्तों एवं संतों के हितार्थ प्रकट होता हूँ'– यह विज्ञान है; 'मैं अमृत हूँ'– यह ज्ञान है और 'मैं असुरों के लिये काल हूँ'– यह विज्ञान है; 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान है तो 'तंत्र, मंत्र, योगादि साधन' विज्ञान हैं। 'सर्वाहमस्मि' ज्ञान है तो 'तत्त्वमसि' विज्ञान है; 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान है तो 'वेद, पुराण, शास्त्र आदि साधन' विज्ञान हैं; 'शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा' ज्ञान है तो 'महदाकाश' विज्ञान है; 'महदाकाश' ज्ञान है तो 'भूताकाश' विज्ञान है; 'भूताकाश' ज्ञान है तो 'वायु' विज्ञान है; 'वायु' ज्ञान है तो 'अग्नि' विज्ञान है; 'अग्नि' ज्ञान है तो 'जल' विज्ञान है; 'जल' ज्ञान है तो 'पृथ्वी' विज्ञान है। इसीप्रकार 'आकाश' ज्ञान है तो 'आकाशचारी सिद्ध' विज्ञान हैं; 'आकाशचारी सिद्ध' ज्ञान हैं तो 'सिद्धियाँ' विज्ञान हैं; 'वायु' ज्ञान है, तो 'वायु में प्रतिष्ठित देवता' विज्ञान हैं; 'अग्नि' ज्ञान है, तो 'इसमें प्रतिष्ठित देवता' विज्ञान हैं; 'जल' ज्ञान है तो 'जल देवता एवं जलचर' विज्ञान हैं; 'पृथ्वी' ज्ञान है तो 'वनस्पतियाँ एवं पेड़–पौधे तथा पृथ्वी के प्राणी' विज्ञान हैं; 'जगत' ज्ञान है तो 'मनुष्य, पशु–पक्षी, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेत आदि' विज्ञान हैं। इसी विज्ञान का विस्तार अब भगवान इस अध्याय से प्रारम्भ करेंगे।

ज्ञान से विज्ञान प्रकट हुआ, ज्ञान से ही शरीर प्रकट हुआ अर्थात् माया प्रकट हुई। इस ज्ञान से ही अज्ञान की सत्ता दिखाई पड़ती है, जैसे सत्य से असत्य की सत्ता दिखाई पड़ती है। चोर, चोरी में सफल होता है, वह इसलिये कि पूर्व में उसका उपार्जन किया हुआ जो पुण्य था वही उसका आधार बना हुआ है, उसी सत्य के आधार से असत्य भी विजयी होता दिखाई पड़ता

है। बहुत लोग जान नहीं पाते लेकिन पूर्व के पुण्य से ही पापात्मा कुछ समय के लिये इस जन्म में सफल होते देखे जाते हैं किन्तु जैसे ही उनका पुण्य समाप्त हो जाता है, वैसे ही वे छिन्न–भिन्न हो जाते हैं, उनका सर्वनाश हो जाता है। महात्मा अर्जुन के अज्ञान का आधार भी ज्ञान ही है; इसी अज्ञान के कारण उनके अन्तर्गत मायावाद का साम्राज्य सा हो गया है। इसी अज्ञान के कारण उनके तन, मन, वचन, हृदय से अज्ञान की धारा बह चली है, जिसके कारण वे समझ रहे हैं कि 'पितामहभीष्म और द्रोणाचार्य के साथ युद्ध? जिन्होंने लालन–पालन, पोषण किया, शिक्षा–दीक्षा दी, इनके साथ युद्ध? ना, ना, ना, ना, ना, इनका तो मेरे ऊपर ऋण ही ऋण है, इनका ऋण उतारना तो दूर, इनका वध करने ही चल पड़ा? छि:! धिक्कार है!'

जितेन्द्रिय लक्ष्मण ने परशुरामजी से व्यंग्य में ही कहा था कि माता के ऋण से मुक्त हो गये आप, पिता के ऋण से मुक्त हो गये आप– पिता की आज्ञापालन करके माँ का वध करने से और पिता से वरदान में माँ का जीवन माँगकर माँ के ऋण से मुक्त हो गये; लेकिन लगता है गुरु का ऋण बाकी है और उस ऋण के भार से आप दबे जा रहें हैं, इसी कारण मुझ गुरुभक्त एवं स्वामीभक्त को ही बलिवेदी पर चढ़ाकर उस ऋण से मुक्त होना चाहते हैं।

ऐसी आम धारणा होती है लोगों में। लोग समझते हैं–इन्होंने जन्माया, खिलाया, पिलाया, लालन–पालन किया; अतः इस शरीर के मूल ये (स्वजन) ही हैं। इसलिए इनका ऋण हमारे ऊपर हो गया है और इनके ऋण को उतारे बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कुछ प्रबुद्धता आती है उन लोगों में तो कहते हैं– 'शरीर का मूल तो संस्कार ही है।' इसके आगे बढ़कर सोचने–समझने की सामर्थ्य सामान्यजनों में नहीं होती; ज्ञान को विज्ञान के साथ समझने की सामर्थ्य तो अर्जुन जैसे जितेन्द्रिय भक्त में ही होती है, जो भगवान में अतिशय आसक्त होते हैं। जो बाल–बच्चों में आसक्त हैं, स्वजनों में आसक्त हैं, वे तो जीवन–जीवन ऋण, ऋण, ऋण ही चिल्लाते रहेंगे। कभी किसी का ऋण उतारने के लिये दूसरे जन्म में वे उसके बाल–बच्चे बन जायेंगे और कभी उनका ऋण उतारने के लिये दूसरे लोग उनके बाल–बच्चे बन जायेंगे। जिन्हें भगवान के ऋण की चिन्ता नहीं है, वे कभी भी किसी के भी ऋण से उऋण नहीं हो सकते और न ही कभी भी स्वजनों से तथा शरीर से अनासक्त ही हो सकते हैं। वे कहते हैं कि 'हमारा जीवन तो इन स्वजनों से ही संचालित होता है।' जैसे कोई शिकारी कुत्ते के पीछे चलता है और समझता है कि मेरा जीवन कुत्ते से ही संचालित होता है; मदारी बन्दर को नचा–नचाकर कमाता–खाता है, उसके पीछे–पीछे चलने के कारण से कहता है कि मेरे जीवन का संचालन तो बन्दर से होता है; कोई भालू के पीछे–पीछे चलते–चलते समझता है कि भालू ही मेरा जीवन है क्योंकि उसी के द्वारा उसका भरण–पोषण होता है तथा सर्कसवाले शेर को अपने अनुसार चलाकर पैसे कमा लेते हैं, अतः कहते हैं– शेर ही मेरी आत्मा है। इसप्रकार सभी किसी न किसी प्राणिपदार्थ में आसक्त हैं, लेकिन महात्मा अर्जुन भगवान में आसक्त हैं। इस कारण प्रभु उनको स्वयं वह रहस्य बतायेंगे जिसको जानकर उन्हें कुछ जानना शेष नहीं रह जायेगा। जब भगवान कह रहे हैं कि इस विज्ञान को जान लेने पर, समझ लेने पर कुछ अन्य जानना, समझना शेष नहीं रहेगा, तो इसका अर्थ यह भी लेना चाहिये कि वह इस जीवजगत में पुनः जन्म नहीं ले

सकता। इसलिये कि मरणभाव से तो वह मुक्त ही हो जायेगा। इस ज्ञान को विज्ञान के साथ साधक सुनेंगे और उनको दिखाई पड़ जायेगा कि 'वे आत्मा ही हैं' एवं 'यह दृश्यवर्ग तथा शरीर अनात्मा' है, जो प्रारब्ध से संचालित होता है और वह प्रारब्ध, इस ज्ञान को विज्ञान के साथ धारण करने से अपने संकल्प से ही संचालित होता है।

(मय्यासक्तमनाः पार्थ.....) 'तुम मेरे में आसक्त हो, अतः तुमसे ज्ञान को विज्ञान के साथ कहूँगा।' यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि क्या प्रमाण है कि अर्जुन भगवान में आसक्त हैं? यही प्रमाण है कि महात्मा अर्जुन, प्रभु के भार से अबतक दबे हुए हैं, लेकिन न युधिष्ठिर को, न ही पितामहभीष्म और आचार्यद्रोण आदि को ही पुकार रहे हैं कि आप सब मेरा भार हटायें। अबतक इन्होंने भगवान से मुक्ति पाने के लिये किसी की गुहार नहीं लगायी है, इससे सिद्ध होता है कि उस भार से भी कुछ ऐसा दिव्य संतोष प्राप्त हो रहा है, जो पूर्व में कभी नहीं मिला है।

मेरठ में हुए हिन्दू–मुस्लिम के दंगे में उस बस के ऊपर आक्रमण हो गया जिसमें महाराज आत्मानन्द के साथ बैठा हुआ था। उस समय महाराज के शरीर पर आत्मानन्द भार बन बैठे, शरीर के ऊपर ही चढ़ बैठे और पूरे शरीर को ढक लिया। महाराज ने कहा–अरे! ये क्या कर रहे हो, ये क्या कर रहे हो?' 'पत्थर बरस रहा है न! आपको चोट लग जायेगी!' उन्होंने कहा। महाराज कहता रहा कि 'छोड़ दो, छोड़ दो, हटो! तुम्हें भी चोट लग सकती है; लेकिन उनके नहीं हटने पर महाराज के मन में एक दिव्य संतोष था। वैसे ही अर्जुन को भी अति संतोष है, जबकि प्रभु ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया है, तो भी वे किसी को पुकार नहीं रहे हैं कि 'रक्षा करें', रक्षा करें! मैं युद्ध नहीं करना चाहता, तो भी ये मेरे को विवश कर रहे हैं युद्ध करने को। लगता है इनको युद्ध ही प्रिय है, ये युद्ध के लिये ही जीते हैं। वे यह भी नहीं कह पा रहे हैं कि 'ये स्वजन हन्ता हैं, इन्होंने अपने मामा कंस तथा अपने बूआ के बच्चे शिशुपाल का वध कर डाला है और अब मुझे भी स्वजनवध के लिये प्रेरित कर रहे हैं।' इसी से सिद्ध है कि महात्मा अर्जुन भगवान में आसक्त हैं, किन्तु अभी उनकी भगवान से कुछ और भी जानने की अभिलाषा शान्त नहीं हुई है, इसी से भगवान अब ज्ञान को विज्ञान के साथ प्रकट कर रहे हैं।

कहने को तो भगवान ने कह दिया कि मैं अब तुमसे ज्ञान को विज्ञान के साथ कहूँगा लेकिन ज्ञान के जिज्ञासुओं के अभाव पर खेद भी व्यक्त कर दिया। वे अपनी वेदना को छिपा नहीं पा रहे हैं, अतः कहते हैं–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

अहो! खेद है पार्थ! हजारों मनुष्य मेरी प्राप्ति के प्रयत्न में लगते हैं, लेकिन उन प्रयत्न करनेवालों में से कोई–कोई ही मुझे तत्त्व से जान पाते हैं।

यह तो देखा ही जाता है कि भगवान की खोज में हजारों–हजार पड़े हुए हैं, गृहस्थाश्रम

में भी खोजनेवाले खोज ही रहे हैं, वानप्रस्थाश्रम में भी खोज रहें है, ब्रह्मचर्याश्रम में भी भगवान को पाने का प्रयत्न कर ही रहे हैं तथा कुछ लोग तो ऐसे हैं, जिन्होंने संन्यास लेकर भगवत् सिद्धि के लिये अपने जीवन को ही दाव पर लगा दिया है। भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए, उन साधकों–भक्तों में भगवत् सिद्धि में देर होने पर कुछ तो तंत्र की चकाचौंध में उलझकर तंत्रसिद्ध हो जाते हैं, कुछ मंत्रप्रसिद्धि को देखकर मंत्रसिद्ध होकर रह जाते हैं, कुछ योग के चमत्कार को सुनकर आकाशचारीसिद्ध बनने की कामना से योगसिद्ध बनकर रह जाते हैं तथा ये सभी अपनी शक्ति–सामर्थ्य का प्रदर्शन करते हुए अपने–आपको परम सिद्ध होने की घोषणा कर देते हैं, जबकि ये प्राकृतसिद्ध ही होते हैं। किसी का शरीर पर शासन होता है तो किसी का शरीर के साथ–साथ इन्द्रियों पर, किसी का शरीर इन्द्रियों के साथ–साथ मन पर तो किसी का उन सबके साथ–साथ बुद्धि पर शासन हो जाता है। यही कारण है कि किसी ने तंत्र को ही ब्रह्म की आत्मा बताया तो किसी ने मंत्र को, किसी ने योग को, तो किसी ने स्वाध्याय (शास्त्रीय ज्ञान) को। इतना ही नहीं, इन सिद्धों में से बहुतों ने अपने–अपने ढंग से ब्रह्मप्राप्ति की साधना भी दी है। जैसे पतञ्जलिजी ने योगदर्शन की स्थापना की तो महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन की, भगवान कपिल ने सांख्यदर्शन दिया तो महर्षि व्यास एवं जैमिनी आदि ने अन्य दर्शन। यही कारण है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने सम्पूर्ण दर्शनों को एक कर गीतारूप दर्शन दिया।

व्यष्टिचेतन से समष्टिचेतन की तरफ गमन किया जाता है। भले ही लगभग सभी प्राकृतसिद्ध अपनी चेतना को सहस्त्रार तक फैला दें, लेकिन जबतक वे वहाँ से अनासक्त नहीं होते, तबतक उनकी चेतना समष्टिचेतना नहीं बन पाती। बहुत से आत्मजिज्ञासु साधक आते हैं, अपने आचार्य के शरणागत हो जाते हैं, लेकिन उनमें से कोई–कोई ही उनकी आत्मा बन पाते हैं। अन्य सभी तो उनके बाहर के बाहर ही रह जाते हैं। उन साधकों में से कोई–कोई तो उनकी आँख बनकर रह जाते हैं, कोई कान बनकर रह जाते हैं, कोई वाणी बनकर रह जाते हैं, कोई जिह्वा बनकर रह जाते हैं, कोई हाथ बनकर रह जाते हैं, कोई रक्त बनकर रह जाते हैं तो कोई मांस, हड्डी, वीर्य बनकर रह जाते हैं, कोई प्राण बनकर रह जाते हैं तो कोई उनका मन बनकर रह जाते हैं तो कोई बुद्धि, चित्त बनकर रह जाते हैं तथा कोई उनका अहंकार बनकर रह जाते हैं और कोई–कोई ही होते हैं जो सद्गुरु की आत्मा बन पाते हैं। सद्गुरु की आत्मा बन जानेवालों में से वे साधक यद्यपि प्राणविजेता होते हैं, मनविजेता, बुद्धिविजेता, चित्तविजेता होते हैं, तो भी वे उस विजय को विजय नहीं मानते, अतः सद्गुरु के शरणागत होकर आत्मा बन जाते हैं। पूर्व में जितनी भी साधनाएँ बतायी गयी हैं, यदि उन साधनाओं से उन्होंने सम्पूर्ण प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है, फिर भी अंशमात्र भी जगत को रिझाने का प्रयत्न नहीं करते तो सद्गुरु उनपर रीझकर उन्हें अपनी आत्मा बना लेता है।

प्रभु ने यहाँ पर भगवत्प्राप्ति की साधना में लगे हुए साधकों को सिद्ध की संज्ञा से विभूषित किया है। इसलिये कि जब वे भगवत् साधना में लग ही गये हैं तो कभी न कभी भगवान को प्राप्त हो ही जायेंगे। इसलिये साधकों को सावधान हो जाना चाहिये कि जब

भगवान उन्हें इतना महत्त्व दे रहें हैं, तो फिर वे अपना महत्त्व क्यों नहीं समझ पा रहे हैं तथा जादू–टोने के चक्कर में क्यों माथापच्ची कर रहे हैं। साधकगण चलते हैं भगवान की प्राप्ति के लिए और साधना करने लगते हैं आकाशगमन की सिद्धि के लिये, जलगमन, थलगमन, वायुगमन, अग्निगमन की सिद्धि के लिये। चिन्ता होनी चाहिये कि भगवान अबतक क्यों नहीं मिला तो चिन्ता होती है कि सिद्धि मुझे अभी तक क्यों नहीं मिली। भगवान तो भगवान ही हैं वे तो अपने नाम से गेरूवस्त्र पहन लेनेवाले को भी सिद्ध ही कहेंगे; लेकिन जब जप, तप, योगादि की सिद्धि नहीं हो पाती और आप चिन्तित होते हैं, हतोत्साहित हो जाते हैं तब आप असिद्ध हो जाते हैं। महाराज स्वयं अपने पास आये हुए आत्मजिज्ञासुओं की स्थिति को देखकर इस स्थिति को अच्छीप्रकार देखता है। कोई साधक शोक–सन्ताप से अच्छीप्रकार से सन्तापित रहता है तो महाराज उससे पूछता है–'क्यों चिन्तित हैं आप? सिद्धि को पाने के लिये या भगवान को पाने के लिये? क्योंकि जप की भी सिद्धि होती है, तप की भी सिद्धि होती है, योग की भी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण सिद्धियों से परे आत्मज्ञान की भी सिद्धि होती है, तो फिर बतायें कि क्यों शोक–सन्तप्त हैं? यदि भगवान के लिये चिन्तित हैं तो आप खोज करें कि अर्जुन की तरह आप अपने सद्गुरु में आसक्त हैं? यदि नहीं तो जगत में जिसके प्रति आसक्ति है, उससे अनासक्त होने का प्रयत्न करें और यदि जप, तप, योग की सिद्धि के लिये चिन्तित हैं तो यह घोषणा कर दें कि मुझे भगवान नहीं चाहिये, मुझे आत्मज्ञान नहीं चाहिये, मुझे तो एकमात्र प्राकृतसिद्धि चाहिये। इस न्याय से साधकों को विचार करना चाहिये कि भगवत्प्राप्ति की साधना करनेवाले हजारों साधकों में से वे वह साधक क्यों न बन जाय, जो ब्रह्म की आत्मा बन जाता है।

(मनुष्याणां सहस्रेषु.....) इस मंत्र के द्वारा भगवान का मानो यह संकेत है कि इस रणभूमि में भी बहुत से सिद्ध आये हुए हैं, जैसे पितामहभीष्म देवसिद्ध हैं, कर्ण ने भी भगवान सूर्य से सिद्धि प्राप्त की है, द्रोणाचार्य ने भगवान परशुराम एवं भगवान शिव से सिद्धि प्राप्त की है, अश्वत्थामा को भगवती दुर्गा, भगवान शिव तथा भगवान ब्रह्मा से बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त हैं। इसलिये ये सभी लोग अपने–अपने इष्ट में आसक्त हैं। इन्होंने अपने को तथा ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करना तो दूर बल्कि जानने का एक अंश मन भी नहीं बनाया है। दुर्योधन को लक्ष्मीसिद्धि प्राप्त है, वह जल में छिपने की भी विद्या जानता है। इसमें कुछ ऐसे सिद्ध भी हैं, जो भूमि में छिपने की भी कला जानते हैं तथा कुछ वायु में और कुछ अन्तरिक्ष में छिपने की कला भी जानते हैं, किन्तु ये सभी प्राकृत विजयी हैं, इनमें भगवान पर विजय प्राप्त करनेवाला कोई भी नहीं है। ठीक इसके विपरीत महात्मा अर्जुन ने भी भगवती देवी को, भगवान शंकर को, अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं को अपने योग, जप, तप एवं समर्पण से प्रसन्न कर सिद्धि प्राप्त की है; लेकिन उन्होंने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द को पाकर जितना महत्त्व उनको दिया, उतना महत्त्व इन देवी–देवताओं को नहीं दिया। जिसका जिसमें चित्त आसक्त रहता है, वह उसी का स्मरण करता है, यही कारण है कि भगवान उनके रथ पर आसीन हैं। जहाँ भगवान रहता है वहीं सगुणरूप में उसकी शक्ति भी रहती है। इसी से तो हनुमानजी भी अर्जुन के रथ की ध्वजा पर आसीन हैं, जो एकादश रुद्रों में से एक हैं। जहाँ भगवान रहते हैं, वे भी वहाँ स्वतः

ही रहते हैं। जहाँ ब्रह्म रहता है, वहाँ संन्यासी तो रहता ही है, ये हनुमानजी संन्यासी हैं। वे भी भगवान में आसक्त हैं और महात्मा अर्जुन भी आसक्त हैं, इसीलिये अब ज्ञान को महात्मा अर्जुन के प्रति विस्तार के साथ कहेंगे जो विज्ञान बन जायेगा। जैसे बीज के स्वरूप की कल्पना करने के उपरान्त यदि किसी को बात समझ में नहीं आती तो वृक्ष के स्वरूप को खोला जाता है। यद्यपि वृक्ष के स्वरूप को खोलते–खोलते पुनः बीज तक ही आ जाना होता है। यही स्थिति इस समय भगवान और अर्जुन के बीच हो गयी है। प्रभु ने महात्मा अर्जुन के सामने ज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति कर दी है लेकिन उनकी बुद्धि इसे भलीभाँति नहीं समझ पायी है। इसीलिये प्रभु उस ज्ञान का ही अब विस्तार कर उन्हें प्रबुद्ध करेंगे।

'हजारों–हजार मनुष्यों में से कोई–कोई ही मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है'– ऐसा कहकर भगवान मानो उनका (अर्जुन का) मान करते हुए तथा उत्साह बढ़ाते हुए यह कहना चाहते हैं कि उस युद्ध के मैदान में एकमात्र वे ही परम सिद्ध हैं; क्योंकि उन्होंने सद्गुरुरूप में भगवान की शरणागति स्वीकार कर ली है। महात्मा अर्जुन भगवत् प्राप्त सिद्धों में से एक इसलिये भी हैं, क्योंकि भगवान स्वयं इस जन्म में उनका पीछा कर रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनेकानेक जन्मों में भगवान का पीछा अर्जुन करते आये हैं। नियम भी है कि भक्त जब जन्म–जन्म तक शक्ति एवं शक्तिमान का अनुगमन करता है, तब अन्तिम जन्म में ब्रह्म ही उसका अनुगमन करने लगता है। बहुत से जन्मों में वे (भक्त आदि) यह समझते रहते हैं कि भगवान साधनसाध्य है किन्तु जब वे जान लेते हैं कि ब्रह्म साधनसाध्य नहीं बल्कि कृपासाध्य है तब वे साधना को गौण मान, पुरुषार्थ की आशा छोड़, भगवान के शरणागत होकर उसकी कृपा की प्रतीक्षा करने लगते हैं तब उनका पीछा भगवान करने लगता है। भगवान और महात्मा अर्जुन के परस्पर के व्यवहार से यह स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है; क्योंकि महात्मा अर्जुन ने गाण्डीव छोड़ दिया है। अपने संन्यासीगुरु (भगवान श्रीकृष्ण) को पाकर स्वयं भी संन्यासी बन जाना चाहते हैं तो भी भगवान उनका पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। इसलिये कि भगवान स्वयं उनकी सिद्धि बन गये हैं। यदि भगवान उनकी सिद्धि नहीं होते तो भक्त अर्जुन उन्हें आज्ञा कैसे दे सकते थे कि हे माधव! दोनों सेनाओं के बीच में आप मेरे रथ को ले चलें? ब्रह्माण्ड में उस समय भक्त अर्जुन को छोड़कर प्रभु को ऐसी आज्ञा देनेवाला कौन है?

भगवान अब ज्ञान को विज्ञान के साथ कहने जा रहे हैं, लेकिन वे महात्मा अर्जुन को विज्ञान का स्वरूप ही नहीं बतायेंगे बल्कि वे यह भी बतायेंगे कि जिन भाई–बान्धवों, पिता–पितामहों के प्रति अर्जुन के मन में मोह हो गया है, वे अर्जुन के स्वजन नहीं बल्कि, भगवान के स्वजन हैं। इसलिये अर्जुन को किञ्चिन्मात्र भी उनके विषय में शोक–सन्ताप करने का अधिकार नहीं है। तो आयें देखें कि भगवान ज्ञान का विस्तार कर विज्ञान के रूप को कैसे प्रकाशित कर रहे हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

हे पार्थ! पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार, इसप्रकार आठ प्रकार से विभक्त हुई यह प्रकृति है, जिसे अपरा प्रकृति कहा जाता है तथा दूसरी प्रकृति जीवात्मा है, जिसे परा प्रकृति कहा जाता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है। अतः इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से सम्पूर्ण भूतप्राणियों की उत्पत्ति होती है– ऐसा तुम्हें जानना चाहिये लेकिन एक बात और जान लो कि इन दोनों प्रकृतियों एवं सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही हूँ।

भगवान ने तीसरे अध्याय में 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' (प्रकृति ही करती है) कहकर सांख्यमत के अनुसार प्रकृति की सत्ता को सिद्ध किया था, लेकिन इस सातवें अध्याय में प्रकृति की सत्ता को भलीभाँति नकार दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार– ये मिलकर अष्टधा प्रकृति कहलाते हैं, किन्तु जीवात्मा (परा शक्ति) इन आठों प्रकृतियों के भीतर–बाहर व्याप्त है। इन दोनों के योग से ही सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रकट हो रहे हैं। इससे सिद्ध हो गया कि यदि दोनों का योग न हो तो कोई भी क्रिया हो ही नहीं सकती, भूतप्राणियों के तो उत्पन्न होने की बात ही क्या है; परन्तु अपरा प्रकृति से 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्' (जीवात्मा ही इस जगत को धारण करता है) कहकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि अपरा प्रकृति तो परा प्रकृति के सामने शून्य है, तुच्छ है, सामर्थ्यहीन है, सत्ताहीन है; फिर तो प्रकृति की सत्ता की बात ही क्या करें। पर परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा की ही सत्ता–सामर्थ्य की सम्पूर्णता से स्थापना न हो जाय, इसलिये भगवान ने तत्काल ही कहा कि इस सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय का स्थान तो मैं ही हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत मेरे से ही प्रकट होता है, स्थित सा रहता है और मेरे में ही इसका प्रलय हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकृतियाँ परा एवं अपरा जब एकसाथ हैं, तभी इस दृश्यवर्ग का नाम जगत है, संसार है, सृष्टि है, ब्रह्माण्ड है। भगवान के इस कथन से यह सिद्ध हो गया है कि प्रकृति को वश में करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि ब्रह्म को प्रकट करने की आवश्यकता है। जब ब्रह्म प्रकट हो जायेगा तो प्रकृति तो स्वयं अपना (साधक का) अनुगमन करने लगेगी। दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों का (दुःखों का) तभी तक वर्चस्व है, जबतक कि ब्रह्म प्रकट नहीं है, जबतक कि ब्रह्म अपना नहीं हुआ है। कोई भी दुःख या शोक, सन्ताप या राग, द्वेष, काम, क्रोध एवं लोभ उसकी आज्ञा के बिना आ ही नहीं सकते। यही कारण है कि भक्तों के ऊपर आया हुआ दुःख साधकों, भक्तों, आत्मजिज्ञासुओं को बहुत कुछ देकर चला जाता है। जैसे अर्जुन को विपक्षियों के रूप में अपने स्वजनों को ही देखकर बड़ाभारी शोक–सन्ताप हो गया, जिससे रक्तचाप भयंकर बढ़ गया। यहाँ तक कि उनके अंग–प्रत्यंग निष्क्रिय से होने लगे, उनकी चेतना जाने

लगी, वे खड़े भी नहीं रह सके। शरीर में कंपन एवं स्वेद होने लगा, मुँह सूख गया, वे अति विक्षिप्त–से हो गये, लेकिन उनका वह दुःख जगत के लिये एक दिव्य शक्ति दे गया, जिसका नाम है–'श्रीमद्भगवद्गीता'। इसीप्रकार वसुदेव एवं देवकी पर भगवद् इच्छा से आया हुआ भारी दुःख भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द को ही देकर चला गया। धर्मशास्त्रों में भक्तों के ऊपर आया हुआ ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिसके माध्यम से जगत का कल्याण न हुआ हो। अतः आत्मजिज्ञासु जान लें कि प्रकृति की सत्ता तभी तक है, जबतक कि उनके पास भगवत् सत्ता प्रकट नहीं हो जाती, जबतक कि भगवान प्रकट नहीं हो जाता। इन मंत्रों से तो यही सिद्ध हो रहा है कि अज्ञानियों की तथा सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों की उत्पत्ति इन्हीं अपरा और परा प्रकृति के योग से होती है तथा भक्तों, संतों एवं आत्मजिज्ञासुओं की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा से, ब्रह्म के संकल्प से होती है।

(एतद्योनीनि भूतानि.....) ये सम्पूर्ण भूतप्राणी तो प्रारब्ध की इच्छा से अर्थात् अपने संस्कारों की इच्छा से प्रकट होते हैं, ठीक इसके विपरीत भक्त एवं संत आदि ब्रह्म की इच्छा से प्रकट होते हैं। अतः प्रतिपल उन्हें ब्रह्म के स्मरण की आवश्यकता है न कि विशेष साधना की। यही कारण है कि नानाप्रकार के तपों में आमरण अनशन भी एक मुख्य तप है। कितने साधकों ने जब जान लिया कि सर्वत्र भगवान है, वह चेतन है, सर्वज्ञ है एवं सर्वसामर्थ्यशाली है, तो प्रतिज्ञा कर लिया कि जबतक वह ब्रह्म प्रकट नहीं हो जायेगा तबतक मैं जल के सिवा कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। शास्त्रों में आमरण अनशन करके ब्रह्म प्राप्त करनेवाले साधकों की कथाएँ देखने को मिलती हैं। कोई यह न मान ले कि यह तो सगुण ब्रह्म की ही प्राप्ति का साधन है, बल्कि बहुत से निर्गुण निराकारोपासकों ने भी इसे स्वीकार किया है। इसका संकेत तो भगवान ने दूसरे अध्याय के उनसठवें मंत्र में ही कर दिया है– 'विषया विनिवर्तन्ते..... परं दृष्ट्वा निवर्तते।' अर्थात् अपने इष्ट से अपना अभीष्ट वरदान प्राप्त करने के लिये सकामी भक्त भी शब्द, स्पर्शादि विषयों का त्याग कर देते हैं यानी आमरण अनशन तक कर लेते हैं लेकिन उनके मन में से विषयभोगों का राग (आसक्ति) नहीं जाता। जैसे रावण, कुम्भकर्ण, बाणासुर, हिरण्यकशिपु आदि असुरों ने भी आमरण अनशन किया है, किन्तु अपना अभीष्ट वरदान पाकर वे पुनः विषयी हो गये; जबकि ब्रह्मर्षि वाल्मीकि, बृहस्पति पुत्र कच तथा ऐसे असंख्य महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने आमरण अनशन किया है परन्तु आत्मज्ञान होने के उपरान्त वे पुनः विषयी नहीं हुए।

बहुत से साधक, भक्त आदि शरीर में नानाप्रकार के रोगों के उत्पन्न हो जाने के कारण से दिन–रात आहें भरते रहते हैं कि यह जीवन तो अब व्यर्थ ही चला जायेगा, क्योंकि अब मैं कुछ भी साधना नहीं कर सकता। कितने वृद्ध भी यह सोचकर मन ही मन पश्चात्ताप करते रहते हैं कि यह जीवन भगवत् साधना से रहित ही चला गया क्योंकि इस वृद्धावस्था में अब हमसे कुछ भी जप, तप, योग नहीं हो सकता, जबकि ऐसी बात नहीं है, इस समय योग, जप भले न हो लेकिन आमरण अनशन तो हो ही सकता है। जब सम्पूर्ण अंगों से स्वस्थ साधक उत्कट वैराग्य की अवस्था में आमरण अनशन कर बैठते हैं तो रोग से ग्रसित आत्मजिज्ञासु ऐसा क्यों नहीं कर सकते? हाँ, देखना यह होगा कि रोम–रोम से भगवान को ही पाने की कामना हो गयी

है या नहीं।

(भूमिरापोऽनलो वायुः.....ययेदं धार्यते जगत्) शरीर पञ्च महाभूतों का संघात है, जिसमें अन्न, घी (दूध–तेल) तथा जल इन तीनों से तीन–तीन धातुओं का निर्माण होता है। जब वैश्वानर अग्नि देवता पेट में डाले हुए अन्न का मंथन करते हैं तो अन्न के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से मन बन जाता है, सूक्ष्म भाग से मांस तथा स्थूल भाग से मल बनकर बाहर चला जाता है। उसीप्रकार जब वैश्वानरदेव के द्वारा जल का मन्थन होता है तो उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से प्राण की रचना होती है, जिसे स्थूलप्राण कहते हैं, उसके सूक्ष्म भाग से रक्त बन जाता है, तीसरा बचा हुआ स्थूल भाग मूत्र बनकर बाहर आ जाता है। इसीप्रकार घी और तेल का जब वैश्वानर अग्निदेवता द्वारा मन्थन किया जाता है तो उसके उत्तमात्युत्तम भाग से बुद्धि का निर्माण होता है, उसके मध्यम भाग से वाणी का निर्माण होता है तथा अधम भाग वीर्य बन जाता है। इसप्रकार नव धातुएँ हुईं, जिनमें मन, बुद्धि, प्राण भी इन्हीं तीन प्रकार के पदार्थों के मन्थन से प्राप्त होते हैं। वैसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के अतिरिक्त मन और बुद्धि इन दो तत्वोंसहित तथा स्थूल 'अहं' को मिलाकर आठ प्रकार की प्रकृति का संकेत किया गया है। यद्यपि यह 'अहं' प्रत्यय निर्विकार है लेकिन शरीर को ही अपना रूप मान लेने से प्रकृति का ही एक अंग स्वीकार कर लिया जाता है। इस अष्टधा प्रकृति को भगवान ने अपरा नाम दिया है। इस अपरा प्रकृति को धारण करनेवाली एक चेतन प्रकृति है, जिसका नाम परा है अर्थात् 'जीवात्मा है' और इसी जीवात्मा को ही स्मृति कहा जाता है। 'अहं' प्रत्यय को एक बार फिर से समझ लेने की आवश्यकता है, जो सम्पूर्ण प्राणियों से प्रकट हो रहा है। मैं, मैं, मैं,– मैं चींटी हूँ, मैं हाथी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं प्रेत हूँ, मैं साधु हूँ, मैं तुच्छप्राणी हूँ। छूईमूई घास को आप सब ने देखा होगा कि वह छूते ही सिकुड़ जाती है, उसके भीतर से भी 'मैं' प्रकट हो रहा है, मानो वह कह रही हो कि मुझे मत छेड़ो। चुम्बक की परिधि में यदि उसके सजातीय तत्त्व आते हैं तो वह उन्हें अपनी तरफ खींच लेता है, इसप्रकार सारे के सारे प्राणिपदार्थों में से 'मैं' प्रकट हो रहा है। वह निर्विकारी 'मैं' जब शरीर के माध्यम से 'मैं' कहता है तो वही विकारी हो जाता है। अतः मैं चींटी हूँ, मैं सिद्ध हूँ– ऐसा शरीरभाव से कहने के कारण से दोनों एक ही जगह खड़े हो जाते हैं। अध्यात्म में दूरी नहीं है अर्थात् 'मैं संत हूँ' यदि ऐसा कोई शरीर को लक्ष्य करके कहता है तो वह चींटी से विशेष नहीं है अर्थात् असंत ही है। इसी से भगवान ने शरीरगत 'मैं' को शरीर का आठवाँ तत्त्व मान लिया।

महात्मा अर्जुन रथ पर बैठे हुए हैं, यदि उस रथ की आत्मा भगवान नारायण रथ से हट जाते हैं तो रथ की कोई सत्ता नहीं होगी; क्योंकि रथी की आत्मा सारथि होता है। जैसे मोटर के द्वारा जल खींचा जाता है, मोटर है, तार है, जल भी है, सबकुछ है, पाइप भी लगा है, लेकिन यदि बिजली नहीं है तो सब मिलकर भी मृतप्राय हैं अर्थात् अस्तित्वहीन हैं। इसीप्रकार यह परा प्रकृति यानी जीवात्मा (स्मृति) ही इस शरीर को धारण करता है, जब यही परा शक्ति संस्कारों (वासनाओं) को खींचकर शरीर को छोड़ देती है, तब यह शरीर अस्तित्वहीन हो जाता है। पराशक्ति भूत, भविष्य वर्तमान को भी जानती है। देखा जाता है कि जब शरीर मूर्च्छित हो जाता

है तो उस समय प्राण भी है, मन भी है, वाणी भी है, बुद्धि भी है, सबकुछ है, शरीर भी है; लेकिन स्मृति के अभाव में ये महत्त्वहीन हो जाते हैं। ब्रह्म की स्मृति जब अपरा प्रकृति (जड़ प्रकृति) में वास करती है, तब वह प्रकृति भी चेतन हो जाती है, इसी से परा प्रकृति को (स्मृति को) इस जीवजगत (शरीर) को धारण करनेवाला कहा जाता है। तब तो कोई तीसरा भी होना चाहिये? इसके विषय में भगवान कहते हैं–

(एतद्योनीनि भूतानि.....) जिसप्रकार मोटर और बिजली का निर्माण करनेवाला तथा उनका संचालन करनेवाला कोई पुरुष ही होता है, ठीक उसीप्रकार इन दोनों ही अपरा और परा प्रकृतियों की उत्पत्ति तथा प्रलय स्थान तीसरा पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है। इसी को भगवान नारायण ने स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा है कि हे पार्थ! मुझ परम पुरुष परमात्मा की अध्यक्षता में ही इन दोनों प्रकृतियों के योग से सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रकट होते हैं।

(अहं कृत्स्नस्य जगतः.....) यहाँ भी भगवान के द्वारा 'मैं' (अहं) पद का प्रयोग किया गया है, अर्थात् जब भगवान वहाँ बोल रहे हैं तो कृष्ण हो के नहीं बोल रहे हैं, बल्कि जब भगवान ने देखा कि 'अब छिपने से काम नहीं चलेगा क्योंकि मेरे में ही इसका चित्त जीवन–जीवन से आसक्त है, तो इस जीवन में मैं सम्पूर्णता के साथ इसके सामने अपने–आपको प्रकट कर दूँ।' अतः प्रभु ने अपने निर्गुण–निराकाररूप से ही बोलना प्रारम्भ कर दिया। यदि ऐसी ही बात है तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म से तो आकाशवाणी होनी चाहिये? ऐसा प्रश्न खड़ा हो सकता है। नहीं, नहीं ऐसा नहीं है, क्यों होनी चाहिये आकाशवाणी? आकाशवाणी तो देवता भी करते हैं, भूत–प्रेत भी करते हैं, असुर भी करते हैं, तांत्रिक–मांत्रिक एवं योगी भी करते हैं। यदि भगवान के कहने से इन्हें विश्वास नहीं होगा तो फिर आकाशवाणी से भी विश्वास नहीं होगा। आकाशवाणी तो कर्ण को भी हुई थी कि हे दानवीर कर्ण! यह जानते हुए भी कि अभिमन्यु तुम्हारा भतीजा है, तो भी कौरवों के साथ मिलकर तुमने उसका वध करा दिया। यद्यपि तुम जानते थे कि यह अधर्मयुद्ध हो रहा है, तो भी अपने मित्र दुर्योधन की आज्ञापालन कर उसके ऋण को चुकता कर चुके हो। हमसब जानते हैं कि तुम ऐसा अधर्मयुद्ध करके संतुष्ट भी नहीं हो, बल्कि अति व्यथित हो; अतः अब जाओ, पाण्डवों के पक्ष से युद्ध करो! अब ऐसा अवसर तुम्हारे लिये फिर नहीं आयेगा। किन्तु कर्ण ने उस आकाशवाणी को महत्त्व नहीं दिया। अतः यदि भगवान निर्गुण–निराकार होकर आकाशवाणी से बोलते हैं तो कोई आवश्यक नहीं है कि भक्त अर्जुन उसे स्वीकार कर ही लें, उस वाणी पर विश्वास कर ही लें। जो अपनी आत्मा होते हैं, वे तो अपनी बात पर सहज ही विश्वास करते हैं। जैसे बच्चे अपने माता–पिता से तर्क नहीं करते कि दिखाओ मैं ब्राह्मण कैसे हूँ, क्षत्रिय कैसे हूँ, वैश्य कैसे हूँ, शूद्र कैसे हूँ, बल्कि वे सहज ही स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ तक कि किसी मूर्ख ने भी अपनी माँ से यह नहीं पूछा होगा कि क्या प्रमाण है कि ये मेरे पिता हैं; बल्कि माँ के कहने मात्र से ही वह उन्हें पिता मान लेता है। उसीप्रकार भगवान भी सोच रहे हैं कि जब इसने माँ कुन्ती और महात्मा पाण्डु की बात को आँख बन्द करके माना है, शास्त्र की बात को आँख मूँदकर माना है तो मैं क्यों प्रमाण दूँ? अतः इसे मेरी बात को भी आँख मूँदकर मानना होगा। इसलिये इसे ऐसा प्रमाण नहीं दूँगा, जिससे इसे

कौतूहल हो क्योंकि इसका मन फिर मेरे में नहीं लगेगा, मेरी शक्ति में लगेगा। यह मुझे शक्ति के माध्यम से पहचानेगा, मुझे मेरे माध्यम से अर्थात् ब्रह्म के माध्यम से नहीं पहचानेगा। अतः भगवान ने कहा–मैं ही इन दोनों प्रकृतियों का मूल हूँ। किन दो प्रकृतियों का? शरीर (अपरा) और शरीरी (परा) का।

बहुत बड़ी भूल होती है किन्हीं–किन्हीं भगवद्भक्त पुत्रों के जीवन में जब अपनी माँ की वे देवी समझकर सेवा नहीं करते, क्योंकि वे समझते हैं कि भगवत्ता तो इसमें दिखाई नहीं पड़ रही है। वे समझते हैं कि ये तो मेरी माँ है, वे अपने पिता की भी देवता मानकर सेवा नहीं करते, उसीप्रकार कुलगुरु, पुरोहित तथा बड़े–बूढ़ों की भी देवता मानकर सेवा नहीं करते। वे समझते हैं कि ये लोग भी तो किसी के पति हैं, पुत्र हैं, सेवक हैं, देवत्व इनमें कहाँ है? इनमें काम है, क्रोध है, लोभ है, राग है, द्वेष है, इसलिये देवता कैसे हो सकते हैं?

ठहरो माँ ठहरो! ये क्या कर रही हो? जब देखता हूँ! जब देखता हूँ तब तुम्हारे द्वारा एक विडम्बना दिखाई पड़ती है। तुम हट्टे–कट्टे, मोटे–ताजे को भी भिक्षा देती रहती हो। भारतवर्ष एक तो ऐसे ही कंगाल हो गया है, दूसरे तुम्हारे जैसे लोगों ने इसे और भी कंगाल बना दिया है! ऐसा विनोबाजी ने अपनी जीवनमुक्ता साध्वी माँ से कहा, जो मदालसा जैसी आत्मज्ञानी माँ की जगह पर खड़ी थी। माँ बोल उठी– हाँ बेटा! हाँ! बेटा तूने ठीक कहा! लेकिन मेरे पास वह आँख नहीं, जिससे यह दिखाई पड़े कि ये हट्टे–कट्टे के रूप में भगवान नहीं हैं। मेरे पास वह आँख नहीं कि जैसे शुक्राचार्य ने हट्टे–कट्टे ब्रह्मचारी के वेश में आये हुए भगवान वामन को पहचान लिया और राजा बलि से कहा कि अरे! दान मत दो, संकल्प मत करो कुछ देने का, नहीं तो ये सब कुछ छल से ले लेंगे। बेटे! मैंने सुना है कि भगवान कोढ़ी के रूप में भी आ जाता है। फिर माँ ने विनोबाजी का हाथ पकड़ लिया और उनकी आँखों में झाँककर कहा– बेटा! क्या प्रमाण है कि तुम वही ब्रह्म नहीं हो? क्या प्रमाण है कि तुम मेरे बेटे हो? बेटे! मैंने यह भी सुना है कि भगवान हट्टे–कट्टे ब्राह्मण के रूप में राजा मोरध्वज के पास उनके पुत्र को माँगने चले गये थे। बेटे! गृहस्थाश्रमी के दरवाजे पर भगवान को गाय, कुत्ते तथा चाण्डाल के रूप में भी आते देखा गया है। विनोबाजी के लिये माँ का वह अन्तिम संदेश था– क्या प्रमाण है कि तुम मेरे बेटे हो, भगवान नहीं हो? विनोबाजी ने स्वयं कहा है कि मैं उस दिन माँ की तरफ देखता सा रह गया, गहरे में प्रवेश करती गयी वह बात; फिर उन्होंने माँ के चरणों में प्रणाम करके कहा कि 'माँ मुझे आज्ञा दो, मुझे भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करनेवाला संन्यासी बनने की आज्ञा दो। आज से मैं भिक्षा माँग–माँगकर इन दीन–हीनरूप दरिद्रनारायण भगवान की सेवा करूँगा। उन्हीं में मैं अपनी आत्मा को देखूँगा।' तूने कहा है– क्या प्रमाण है कि तुम आत्मा नहीं हो तो लो मैंने आज से अपने को आत्मा ही मान लिया, अब अपने तन, मन, वचन एवं चित्तशुद्धि के लिये दरिद्र नारायणरूप भगवान की सेवारूप निष्काम कर्मयोग को धारण कर लिया। ऐसा कहकर वे महापुरुष इस जीवजगत में चल पड़े तथा राजर्षियों से धरती ले–लेकर भूदान यज्ञ करते हुए अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला दिया।

अब महाराज अपने विषय पर आता है– भगवान नारायण ने सोचा कि मुझे इसी वाणी का आश्रय लेकर अपनी भगवत्ता को सिद्ध करना चाहिये। यहाँ तक आप सब समझ गये होंगे कि महात्मा अर्जुन इतने सौभाग्यशाली पुरुष हैं जो इस जीवजगत में प्रयोजनरहित हो गये हैं, जिसके कारण भगवान उनके तन, मन, वचन, हृदय से अपना प्रयोजन सिद्ध करेंगे। अर्जुन की ही तरह यदि आप भी प्रयोजनरहित होते हैं, तो भगवान आपके तन, मन, वचन, हृदय से अपना प्रयोजन सिद्ध किये बिना नहीं रहेंगे।

(अहं कृत्स्नस्य जगतः.....) भगवान ही दोनों प्रकृतियों के मूल हैं अर्थात् शरीर और शरीर की स्मृति के मूल हैं। आगे बढ़ने से पहले आप सब इसे याद रखें, क्योंकि महाराज अब इसी विषय को आपकी बुद्धि की सृष्टि के आदि में ले जाकर प्रकाशित करना चाहता है। द्वितीय अध्याय में 'अव्यक्तादीनि भूतानि.....' कहा जा चुका है–अव्यक्त अर्थात् जो प्रकृति अव्यक्त है– सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण जब साम्यावस्था में रहते हैं तो उसे अव्यक्त प्रकृति कहते हैं, मूल प्रकृति कहते हैं। जब घी, दही, छाछ, मक्खन एकसाथ रहते हैं तो उसे दूध कहते हैं। जैसे गाय माता से दूध प्रकट होता है, वैसे ही ब्रह्म से मूल प्रकृति प्रकट होती है। दूध को सर्वप्रथम जब दही बनाकर मंथन करते हैं तब उसमें पृथकत्व आ जाता है, वैसे ही ब्रह्म का संकल्प ही मूल प्रकृति है इसमें नानात्व कैसे प्रकट होता है इसे देखें– वैष्णवीशक्ति, ब्राह्मीशक्ति और माहेश्वरीशक्ति – जब ये तीनों शक्तियाँ एकसाथ रहती हैं तो वही उस ब्रह्म का मुख्य आवरण कहा जाता है, इसी को अव्यक्त प्रकृति कहते हैं। 'अहंकार इतीयं मे' अर्थात् वह अहंकार ही अव्यक्त है। यहाँ पर अब आप दो प्रकार के अहंकार की बात समझ लें– एक स्थूल अहंकार जो चींटी से लेकर हाथी तक, मनुष्य से लेकर देवता तक प्रत्यक्ष होता है जो उनके द्वारा मैं, मैं, मैं, यह अहं प्रत्यय प्रकट होता रहता है और एक दूसरा सृष्टि के आदि में प्रकट होता है तथा अव्यक्त रहता है। उसी 'अहं' से एक प्रकृति प्रकट होती है, जिसे महत्तत्त्व कहा गया है। उस महत्तत्त्व से पुनः स्थूल अहंकार प्रकट होता है तथा उस 'अहं' से भूताकाश प्रकट होता है, जिसमें आकाश समाया रहता है। यही 'अहं' आकाश का मूल है। इसीप्रकार आकाश, वायु का मूल है; वायु, अग्नि का मूल है; अग्नि, जल का मूल है; जल, पृथ्वी का मूल है। ये एक–दूसरे के लिये अव्यक्त ही हैं। पृथ्वी का मूल जल है क्योंकि यदि पृथ्वी अपने–आप को 'अहं' पद से अलग करके देखे तो 'अहं' का उसे पता नहीं चलेगा, क्योंकि 'अहं' का स्रोत बहुत गहरे से आ रहा है अर्थात् आकाश तत्त्व के परे से आ रहा है। इसे पुनः देखें– आकाश से परे 'अहं', 'अहं' से परे महादाकाश, महादाकाश से परे अव्यक्त प्रकृति जो अहंमय है अर्थात् सत्, रज, तममय है। जब ये तीनों सत्, रज, तम साम्यावस्था को प्राप्त होते हैं तो उसी को व्यष्टि चेतन अर्थात् परा प्रकृति भी कहते हैं। इसके उपरान्त तो 'समष्टि अहं' है, जो 'समष्टि चेतन' भी कहा जाता है, वही सबका मूल है। उसी 'समष्टि अहं' का ही इस मंत्र के द्वारा संकेत है। भगवान 'समष्टि अहं' के माध्यम से बोल रहे हैं कि मैं परा और अपरा इन दोनों प्रकृतियों का मूल हूँ। यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश क्या प्रारम्भ से ही इसीप्रकार प्रकट हो गये?–नहीं, नहीं पहले 'समष्टि अहं' से 'ॐकार' प्रकट होता है। जैसे किसी भी देवी–देवता के प्रकट होनेपर सर्वप्रथम बीज प्रकट

होता है, फिर व्याहृति प्रकट होती है। जैसे ॐ ही सम्पूर्ण मंत्रों, तंत्रों, योगों का बीज है अर्थात् आत्मा है, इसके उपरान्त भूः, भुवः, स्वः या ह्रौं, जूं, सः इत्यादि व्याहृतियाँ प्रकट होती हैं। अतः यह ॐ ही अ, उ, म् इन तीन मात्राओं में प्रकट होता है, जिसे ब्राह्मी, वैष्णवी तथा माहेश्वरी शक्ति कहा जाता है। अतः आकाश (ब्रह्मा) ही अकार है; वायु, अग्नि, जल (विष्णु) ही उकार है तथा पृथ्वी (शिव) ही मकार है। इसप्रकार ये ही वे तीन शक्तियाँ हैं, जिनसे सम्पूर्ण भूतप्राणियों की उत्पत्ति होते देखी जाती है। ज्योतिष शास्त्र में भी इस अष्टधा प्रकृति को गणित के लिये इसीप्रकार लिया गया है– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा आकाश। अब पुनः इसे इस ढंग से समझें– जिससे आकाश प्रकट होता है, उस 'अहं' पद से 'ॐ' (नाद) प्रकट होता है और उस 'ॐकार' से अकार (भुवः) अर्थात् आकाश प्रकट होता है, उस आकाश में नाद के साथ ही उकार (स्वः) अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल प्रकट होते हैं; तत्पश्चात् 'अहं' पद से मकार (भूः) अर्थात् पृथ्वी प्रकट होती है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रथमावस्था में ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में प्रकट होते हैं। जो कालान्तर में आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी के रूप में आपको दिखाई पड़ते हैं। यही अपरा प्रकृति कहलाती है। जैसे आम का फल प्रथमावस्था में छिलका, गूदा, गुठली इत्यादि के रूप में पृथक्–पृथक् नहीं होता, किन्तु जैसे–जैसे वह आम यौवन को प्राप्त होता है, वैसे–वैसे छिलका, गूदा, गुठली और बीज में पृथकत्व आ जाता है, यही बात प्रकृति की साम्यावस्था और विषमावस्था में होती है, जिसे आप पृथ्वी, जल, अग्नि आदि कहते हैं। वे पृथ्वी, अग्नि, जल आदि न होकर उनके स्थूल भाग हैं। स्थूल आकार में यह जगत कहलाता है, कोई इसे प्रकृति भी कहता है तथा राजयोगी तो माया कहते ही हैं। इसप्रकार इससे यह सिद्ध हुआ कि परम अव्यक्त अर्थात् परम पुरुष से स्मृति और स्मृति का स्थूल भाग शरीर भी प्रकट होता है।

यहाँ तक साधकों को बहुत कुछ संकेत मिल गया होगा–'सम्पूर्ण भूतों' की योनि अर्थात् माता तो मूल प्रकृति है और पिता परब्रह्म परमात्मा हैं।' प्रथम में महात्मा अर्जुन का यह प्रश्न भी था कि वे मेरे स्वजन कैसे नहीं हो सकते? इसका उत्तर भी भगवान ने इस मंत्र के माध्यम से दे दिया है।

(अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्)– 'मैं शरीर हूँ'– इसमें 'मैं' परा प्रकृति है और 'शरीर हूँ' यह क्षुद्रभाव ही अपरा प्रकृति है। इन्हीं दोनों प्रकृतियों से राजस, तामस एवं सात्त्विक विचाररूपी भूतप्राणियों की उत्पत्ति हो रही है। ये सात्त्विक, राजस एवं तामस प्राणी परस्पर में क्रीड़ा करते रहते हैं, जिसके चलते इन्हीं को देखने में ही अपनी स्मृति छिन्न–भिन्न हो गयी रहती है। इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से पाँच प्रकार की वृत्तियाँ प्रकट हो रही हैं, जिन वृत्तियों के चक्र में ही जीवनचक्र भ्रमण कर रहा है। इसीप्रकार 'मैं ब्राह्मण हूँ' और 'ये लोग क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि हैं', इन्हीं दोनों अशुभ भावरूप प्रकृतियों के योग से नानात्व प्रकट हो रहा है। 'मैं मनुष्य हूँ' और 'ये पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे हैं'– इसमें 'मैं मनुष्य हूँ', मानो यह भाव ही परा प्रकृति है तथा 'ये सब पशु–पक्षी कीट–पतिंगे हैं'– यह क्षुद्रभाव ही अपरा प्रकृति है, इन्हीं दोनों

प्रकृतियों के योग से नानात्व प्रकट हो रहा है। 'मैं पति हूँ', 'यह मेरी धर्मपत्नी है'– इस क्षुद्रभावना में मानो 'मैं पति हूँ'– यह भाव ही परा प्रकृति है तथा 'यह मेरी धर्मपत्नी है'– यह भाव ही अपरा प्रकृति है, इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से नानाप्रकार के बाल–बच्चे प्रकट होते हैं, जिसके कारण नानात्व प्रकट होता है। 'यह मेरी सम्पत्ति है'– इस क्षुद्रभाव में 'मैं पुरुष हूँ'– यह परा प्रकृति है तथा 'यह मेरी सम्पत्ति है'– यह अपरा प्रकृति है। इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से लोभ नामक विकार प्रकट होता है। 'मैं पुरुष हूँ' तथा 'यह मेरा वैरी है'– इस क्षुद्रभाव में 'मैं पुरुष हूँ'– यह परा प्रकृति है तथा 'यह मेरा वैरी है'– यह क्षुद्रभाव ही अपरा प्रकृति है, इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से क्रोध नामक विकार प्रकट होता है। 'मैं पुरुष हूँ', 'यह स्त्री है',– इस क्षुद्रभाव में 'मैं पुरुष हूँ' यह भाव ही परा प्रकृति है और 'यह स्त्री है'– यह भाव ही अपरा प्रकृति है, इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से कामरूप विकार (महाशत्रु) प्रकट होता है, जिसके कारण अपना अमूल्य जीवन ही व्यर्थ चला जाता है। 'मैं गृहस्थ हूँ' तथा 'मेरा अमुक धर्म है'– इस क्षुद्रभाव में 'मैं गृहस्थ हूँ'– यह परा प्रकृति है तथा 'मेरा अमुक धर्म है'– यह अपरा प्रकृति है, इन्हीं दोनों प्रकृतियों के योग से धर्मासक्तिरूप विकार प्रकट होता है। इसीप्रकार जितने भी वाक्य बनते हैं, भाव बनते हैं, उनमें इन्हीं दोनों प्रकृतियों का वास होता है; जिसके कारण नानात्व ही प्रकट होता रहता है लेकिन इसी की जगह कोई भक्तयोगी यह जान ले कि इन सम्पूर्ण प्रकृतियों का मूल एकमात्र निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है तो उसकी प्रतीक्षा (ध्यान) में वह सहज ही प्रतिष्ठित हो जाएगा। न वह 'मैं' में आसक्त होगा, न 'मेरे' में; न 'तू' में आसक्त होगा, न 'तेरे' में बल्कि मौनी द्रष्टा होकर रह जाएगा। फिर तो वह दिन दूर नहीं जिस दिन उसके पास परम द्रष्टा एवं परम स्रष्टा प्रकट होकर उसे कृतार्थ कर देगा। ठीक इसके विपरीत जब राजयोगी समझता है कि मैं ही इन दोनों प्रकृतियों का मूल कारण हूँ, मैं ही उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूँ तो वह सहज ही अपने शुद्ध–साक्षी द्रष्टारूप में सदा–सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित हो जाएगा।

इस परा और अपरामय प्रकृति (जगतरूप प्रकृति) से ही सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रकट होते हैं– ऐसा कहा गया है तो फिर किस अंग से कौन से प्राणी प्रकट होते हैं, यह भी जानना चाहिये। हाँ, इस मंत्र में यह न भूलें कि ब्रह्म और ब्रह्म की दो प्रकार की प्रकृतियों की तरफ प्रभु ने संकेत किया है, जिसमें कहा गया है कि ब्रह्म (परम अव्यक्त) की अध्यक्षता में ही मूल प्रकृति चराचर भूतप्राणियों की रचना करती है। जिसप्रकार अज्ञानियों के लिये ब्रह्म अव्यक्त है अर्थात् उनके जानने में नहीं आता, उसीप्रकार यह प्रकृति (जगत) भी उनके लिये अव्यक्त ही है। इसलिये समझाने के लिये महाराज ने परम अव्यक्त (ब्रह्म) और अव्यक्त (प्रकृति)– ये दो नाम रखे हैं। इसे ऐसे समझें– जिसप्रकार भक्तिपक्ष में इस जगत को सगुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है, उसीप्रकार मायावाद में भी मायामय पुरुष (जगत) के अंग–उपांगों को वैसे ही स्वीकार किया गया है, जैसे कि स्वप्नपुरुष के अंग–उपांगों को। अच्छा तो इस प्रकृति (मायामय पुरुष) के कौन–कौन से अंग–उपांग हैं, इसे देखें– 'ब्रह्मज्योति (जो गेरूवर्ण की है) ही इसका सिर है, सूर्य इसकी आँख है, आकाश इसका चित्त है, वायु इसका प्राण है, अग्नि इसका उदर है, जल इसका वस्ति (नाभि के नीचे का भाग) है तथा पृथ्वी इसका पाँव है।' अब इसके अंगों का तीन भाग

किया जाता है– ब्रह्मज्योति तथा सूर्य, उसके गले के ऊपर का भाग अर्थात् सिर है, जिसे संकेत के लिए रूपक स्वरूप पुराणों में भगवान विष्णु कहा जाता है। आकाश, वायु, अग्नि– ये तीनों मिलकर उसके शरीर के मध्यभाग हैं, जिसको ब्रह्मा कहा जाता है। जल और पृथ्वी मिलकर उसके अधोभाग कहे जाते हैं, जिसे संकेत के लिये शिव कहा जाता है। इसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन्हीं तीनों शक्तियों (देवताओं) से सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों की रचना हुई है। जिसप्रकार राजा वेन के मृतक शरीर का मंथन करने से उसकी भुजा से भगवान पृथु, जाँघों से निषाद (अधम योनियों के प्राणी) प्रकट हुए, उसीप्रकार परा–अपरा प्रकृति (जगत) के ऊर्ध्वभाग से (सूर्यरूप परावाणी के हुंकार द्वारा) सिद्धपुरुष प्रकट हुए, जो निष्काम होने के कारण से ब्रह्म को ही चाहनेवाले होते हैं; यही भगवान विष्णु की संकल्पवत् सृष्टि (प्राणी) कही जाती है तथा आध्यात्मिक भाषा में ये सात्त्विक प्रकृति के अंश से प्रकट हुए पुरुष माने जाते हैं। उसके मध्यम भाग से (आकाशरूप पश्यन्ति वाणी के हुंकार द्वारा) सात्त्विक सृष्टि (प्राणी) प्रकट होती है। इस मध्यम भाग से ही वायु, अग्निरूप मध्यमा वाणी के द्वारा हुंकार करने से राजस एवं तामस मिश्रित प्राणी (पुरुष) प्रकट होते हैं, जो पूरी तरह से सकामी होते हैं, उनमें सात्त्विकता अंश मात्र होती है; यह ब्रह्म की राजस–तामस मिश्रित प्रकृति कही जाती है। प्रकृति के अधोभाग (जल, पृथ्वीरूप वैखरी वाणी) द्वारा हुंकार करने से तामस प्राणी तथा तामस पुरुष, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे तथा अन्यान्य अधमयोनि के पुरुष प्रकट होते हैं; जो भगवान शंकर की सृष्टि (संतान) कही जाती है।

इसे दूसरे ढंग से भी देखा जा सकता है– जो निष्कामी साधक हैं, वे इस विश्वरूप ब्रह्म की सन्तान हैं, क्योंकि विश्वरूप ब्रह्म ही निष्कामी है। यह भी अज्ञानियों के लिये अव्यक्त ही है, जिसको परा शक्ति धारण करती है, जिसका आश्रय निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है। इसने अपने ऊर्ध्वभाग (सूर्य) से निष्काम पुरुषों को प्रकट किया, मध्यभाग (आकाश, वायु, अग्नि) से सकामी पुरुषों को प्रकट किया तथा अपने अधोभाग (नाभि से नीचे का भाग) से तामस प्राणिपदार्थों की सृष्टि की। भक्तों एवं संतों ने अपनी–अपनी भावना के अनुसार इसे व्यक्त किया है। शिवपुराण के अनुसार जो शिवभक्त हैं वे इस विश्वरूप को ही शिव कहते हैं, उनकी दृष्टि में सारे भूतप्राणी शिव के संकल्प हैं। इसीप्रकार जो वैष्णव भक्त हैं, वे विष्णुपुराण के माध्यम से इस विश्वरूप को विष्णु मानते हैं तथा ब्रह्मपुराण को माननेवाले इस विश्वरूप (सृष्टि) को ब्रह्मा मानते हैं तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों को उन्हीं का संकल्प मानते हैं। तथा जो ब्रह्म के सगुणस्वरूप को मानते हैं अर्थात् उपासना करते हैं, वे तो साक्षात् इस सृष्टि की विश्वरूप भगवान के ही रूप में उपासना करते हैं तथा जो निर्गुण–निराकारोपासक हैं, वे इसे ब्रह्म की माया मानते हैं। इसप्रकार कोई कुछ भी माने किन्तु प्रभु तो सातवें मंत्र में स्पष्ट कह रहे हैं कि 'ये सब नाम रूप, लोगों की सारी मान्यतायें मुझ एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अन्तर्गत ही हैं,' अतः यह सृष्टि मेरी ही है। यह मेरे संकल्प से प्रकट होकर मेरे में ही वास करती है और मेरे संकल्प से ही इसका प्रलय हो जाता है। अतः साधकों को चाहिये कि वे अपनी शरीररूप सृष्टि को ब्रह्म को ही समर्पित कर दें।

ऐसा कहने से क्या पौराणिक मत का खण्डन नहीं हो रहा है? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है– पौराणिक मत का खण्डन नहीं बल्कि मण्डन हो रहा है। भगवान के उपरोक्त कथन से तो यह स्पष्ट ही हो गया कि ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी शक्ति एवं माहेश्वरी शक्ति– ये तीनों शक्तियाँ उन्हीं की संकल्प हैं। क्या ये तीनों शक्तियाँ निर्गुण–निराकारोपासक साधक से आकर यह कहेंगी कि हमारी उपासना क्यों नहीं करते, ब्रह्म की क्यों करते हो? बल्कि वे तो अति प्रसन्न होंगी कि यह हमारे निर्गुण–निराकार स्वरूप की उपासनाकर हमें ही कृतार्थ कर रहा है।

यदि निष्कामी पुरुष सम्पूर्णता से निर्गुण–निराकार ब्रह्म के ही संकल्प हैं तो उन्हें विशुद्धरूप से ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये, जबकि ऐसा नहीं पाया जाता; क्योंकि निष्कामी साधकों को भी कभी–कभी सकामी होते देखा जाता है। फिर इसका रहस्य क्या है? हाँ, ऐसा नहीं है, यहाँ मूल को देखा जाएगा अर्थात् सर्वप्रथम तो यह देखना चाहिये कि यहाँ सृष्टि के प्रथमचरण के प्राणियों की उत्पत्ति की बात की गयी है। उस समय से अबतक प्रकृति में कितनी विकृति आ गयी होगी, यह कल्पना से बाहर की बात है। अब माना कि कोई योगपथ से भ्रष्ट होकर दूसरा जन्म पाता है तथा वहाँ पर निष्कामी होकर ब्रह्म को ही चाहता है, किन्तु बीच–बीच में राजस एवं तामस विचारों से आहत होता देखा जाता है तो यह अच्छीप्रकार से जान लेना चाहिये कि वह सकामी माता–पिता के उदर से ही प्रकट हुआ है। अतः उनके राजस, तामस विचारों की परतें भी तो उसके मन के ऊपरी भाग में जमी हुई हैं, जिनसे उसे जूझना ही पड़ेगा। साधना में आगे बढ़ने पर तो यह स्पष्ट पता चल ही जाता है कि ये सात्त्विक, राजस एवं तामस विचार मेरे नहीं हैं, बल्कि दूसरों के हैं।

युद्ध की तरफ मुड़कर देखते हैं तो अबतक इन मंत्रों से यह भी संकेत मिलता है कि युद्ध के मैदान में भगवान नारायण ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं तथा अर्जुन ही परा प्रकृति हैं और सम्पूर्ण सेना अपरा प्रकृति है; क्योंकि यदि अर्जुन (परा प्रकृति) नहीं हैं तो युद्ध नहीं है।

(एतद्योनीनि भूतानि.....) सम्पूर्ण प्राणियों की माँ तो मेरी मूल प्रकृति है और मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही उनका पिता हूँ। भगवान ने ऐसा कहकर साधकों को संकेत किया है कि 'कोई माने या न माने लेकिन आप तो इस बात को मान लें और ब्रह्म से ही नाता जोड़ लें।' भौतिक माता–पिता के द्वारा तो आप ब्रह्म से गोद लिये गये हैं, अब जब भगवान ने बता ही दिया कि आपके पिता वे (भगवान) ही हैं और आपकी माँ उनकी मूल प्रकृति है तो उनकी शरण में आने में देर क्यों? भगवान की बात पर ध्यान देना होगा क्योंकि गोद दिये हुए बच्चे के प्रति माता–पिता के मन में उस बच्चे के प्रति उतना ही मोह रहता है, जितना कि अपने अन्य बच्चों के प्रति। इतना ही नहीं है, उधर गोद लिये हुए माता–पिता के मन के किसी कोने में तो यह भाव रहता ही है कि यह मेरा बालक नहीं बल्कि गोद लिया हुआ बालक है; क्योंकि गोद लिये हुए बालक से थोड़ी भी असावधानी होने पर, भूल या गलती होने पर वे माता–पिता यह कहते हुए नहीं चूकते हैं कि 'है तो यह किसी और ही माता–पिता का, लगता है वे कुलीन नहीं हैं।' इतना ही नहीं जब बच्चा भी जान लेता है कि मेरे माता–पिता ने मुझे इनको गोद दे रखा है

तो उसी समय जन्म देनेवाले माता–पिता के ही प्रति अन्तर्मन से समर्पित हो जाता है। यह बात दूसरी है कि इस माता–पिता के प्रति औपचारिकता पूरी तरह से निभाता है। सभी जानते हैं कि कर्ण ने जब जाना कि मेरी माँ कुन्ती है तो उसी समय उसका पूरा का पूरा पुत्रत्व माँ कुन्ती के प्रति हो गया। यहाँ तक कि जो मन में अर्जुन के प्रति वैर था, द्वेष था, वह एकपल में समाप्त हो गया। तभी तो भगवान के पूछने पर कि यदि अर्जुन से आपका युद्ध हो ही जायेगा तो आप क्या करेंगे? तब कर्ण ने कहा था–'भगवान शिव उसकी रक्षा करें।' ठीक यही बात आप साधकों के लिये भी है, जिस दिन भगवान के इस मंत्र 'एतद्योनीनि भूतानि.....' (अ॰ ७/६) पर विचार करके विश्वास कर लेंगे तो स्पष्ट दिखायी पड़ेगा कि मैं भगवान के द्वारा इन विषयी माता–पिताओं को गोद दिया गया हूँ; जबकि मैं तो भगवान का वरदपुत्र, संकल्पवत् पुत्र होने के कारण शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हूँ। ऐसा विश्वास होते ही एक पल में इन सांसारिक माता–पिता से, बाल–बच्चों से, स्वजनों से मोह–ममता सदा–सर्वदा के लिये समाप्त हो जाएगी। इतना ही नहीं, एक बहुत बड़ी सफलता यह भी मिलेगी कि उन माता–पिता तथा उन स्वजनों से मोह–ममता तो पलभर में समाप्त हो जाएगी, लेकिन उनसे द्वेष नहीं होगा बल्कि प्रेम हो जाएगा और सम्भव है कि दया भी आ जाय। उस समय यह विचार आ सकता है कि अहो! यह कैसा आश्चर्य है कि ये लोग भी भगवान के ही वरदपुत्र हैं, इनकी भी माँ मूल प्रकृति और पिता भगवान ही है लेकिन पता नहीं क्यों भगवान ने मुझे इस रहस्य को बता दिया और इन्हें नहीं बताया। यही तो कारण था कि जब भगवान कपिल ने जाना कि माँ देवहूति भी भगवान की ही आत्मा है तो उन्हें उस माँ पर दया आ गयी और उन्होंने संन्यास लेने के पूर्व उस माँ को ज्ञानोपदेश कर उसे आत्मज्ञानी बना दिया फिर संन्यास लिया। आद्यगुरु शंकराचार्य ने भी अपनी साध्वी एवं तपस्विनी माँ पर दया करके कहा था कि ठीक है, अन्तिम समय में आकर मैं तुम्हारा दाह संस्कार कर दूँगा। सभी जानते हैं कि उन्होंने माँ के दाह संस्कार के साथ–साथ उसके मन और बुद्धि का भी संस्कार कर दिया था अर्थात् मोक्षपद दे दिया था। इसप्रकार जब आपको यथार्थ का पता चलेगा तो उसी समय अज्ञानी प्राणियों से प्रेम तथा उनपर दया दोनों ही हो सकती है या भगवान बुद्ध की तरह सबसे उदासीनता भी आ सकती है। इससे स्पष्ट हो गया कि जो कपिल भगवान एवं शंकराचार्य की तरह सामर्थ्यवान साधक होते हैं वे तो माँ को समाधिस्थ कर संन्यास लेते हैं तथा जो आत्मजिज्ञासु हैं वे अपने–आप पर दया के साथ–साथ माता–पिता एवं स्वजनों पर दया करके सर्वप्रथम गुप्त संन्यास लेकर आत्मज्ञान से सम्पन्न होते हैं, तब उन सबका भी उद्धार करते हैं। इसी से छठे अध्याय के मंत्र पाँच और छः में भगवान ने कहा है–पहले अपना उद्धार कर लो फिर अपने स्वजनों या परजनों की चिन्ता करना।

कैसी विलक्षण बात है कि भगवान अज्ञानियों के सामने अज्ञानियों जैसा व्यवहार करते हैं तथा ज्ञानियों के सामने ज्ञानियों जैसा। जो भगवान कर्ण से कहते हैं कि आपकी माँ तो कुन्ती है; वे ही भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि तुम्हारी माता, माँ कुन्ती न होकर मेरी मूल प्रकृति है और पिता महाराज पाण्डु न होकर साक्षात् मैं कृष्ण हूँ। 'सम्पूर्ण शरणागत के सामने अपनी सम्पूर्ण गोपनीयता को खोल दिया जाता है तथा सामान्य पुरुष के सामने यदि वह कुछ अपने

प्रति आदरभाव रखता है तो सामान्य गोपनीयता खोली जाती है।' कर्ण ने इस जन्म में भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से कभी द्वेष नहीं किया है, उनके प्रति प्रभुभाव तो नहीं है लेकिन पूज्यभाव अवश्य है। वह उन्हें सबसे सामर्थ्यवान मानते हैं, इसलिये उसके सामने भगवान गुप्तराज (रहस्य) को प्रकाशित कर देते हैं। अतः साधक यह न भूलें कि यदि उनके हाथ में गीताजी आ गयीं तो उन्हें मानना पड़ेगा कि साक्षात् उनके सामने भगवान ही आ गये। अतः उन्हें भगवान की बात पर अवश्य ही विश्वास करना चाहिये। भगवान इस मंत्र से यह भी कहना चाह रहे हैं कि ये कितनी खेद की बात है कि अपनी मूल प्रकृतिरूपा माँ को छोड़कर कोई आत्मा अपने को ही माँ मान लेती है और मूल पिता मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को छोड़कर अपने को ही पिता मान रही है। इसलिये उन माता–पिताओं को भी सावधान हो जाना चाहिये कि वे अब अपने को माता–पिता कहकर अपनी मूल प्रकृतिरूपी माँ का तथा पिता ब्रह्म का अनादर न करें। जबतक नहीं जानते थे तबतक कहते रहे, कोई बात नहीं, उसका उतना महत्त्व नहीं माना जाता; लेकिन जब जान गये तब अपराध न करें, स्वयं भगवान के हो जायँ और गोद लिये हुए बाल–बच्चों को भी पुनः भगवान का ही बना दें। आप सब ने देखा ही होगा कि ऐसा करनेवाली माँ मदालसा, माँ सुमित्रा आदि का तो स्वयं भगवान ने ही अपने श्रीमुख से स्तवन किया है। यदि कोई माँ कहती है या पिता कहता है कि इतना जान लेने पर भी ममता–मोह नहीं छूट रहा है तो ऐसा नहीं है; क्योंकि न आप भगवान (गीताजी) की बात मान रहे हैं, न जान रहे हैं। यदि विश्वास होता तो मोह उसी समय चला जाता। यदि इतना ही कहने से विश्वास नहीं हो रहा है तो कोई बात नहीं, क्योंकि भगवान अब और भी विस्तार से इसी बात को समझा रहे हैं।

अब यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि माता–पिता, पुत्र–पुत्री, भाई–बान्धव, हित–मित्र बन जाने से कुछ तो कर्तव्य अवश्य होगा? अतः माँ का कर्तव्य, पिता का कर्तव्य, पुत्र का कर्तव्य, पुत्री का कर्तव्य, पति का कर्तव्य, पत्नी का कर्तव्य, मित्र का कर्तव्य या भाई का कर्तव्य पूरा कर लेते हैं तब हम भगवान के हो जायेंगे? इसका उत्तर भी भगवान आगे दे रहे हैं तथा अब प्रकृतिवाद का भी निराकरण करते हुए यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि प्रकृति...., प्रकृति....., प्रकृति.....– यह जो कहा जा रहा है, वह मात्र संकेत के लिये है, मुझे तो अपने अतिरिक्त कुछ अन्य दिखायी ही नहीं पड़ रहा है। इतना ही नहीं, कोई इस दृश्यवर्ग को विष्णु कहे, ब्रह्मा कहे, शिव कहे या विश्वरूप कहे लेकिन–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनञ्जय! यहाँ मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र कुछ भी नहीं है। जिसप्रकार माला की मणियाँ सूत में ही गुँथी हुई होती हैं; उसीप्रकार ये सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ तथा सृष्टिरूपी मणियाँ मुझ ब्रह्मरूपी सूत में गुँथी हुई हैं।

जैसे सूत्र में पिरोई हुई माला की मणियों का आधार एकमात्र सूत्र ही है, यदि वह नहीं

है तो माला ही नहीं है। उसीप्रकार सभी प्राणिपदार्थ तो भगवानरूपी सूत्र में ही गुँथे हुए हैं, अतः सबकी आत्मा तो भगवान ही है, फिर कर्तव्य किसके प्रति और कैसा? 'माला के मनकों का कर्तव्य? यह कैसी हास्यास्पद बात है।' दिव्य मनकोंवाली माला तो भगवान का शृंगार है, उन मनकों को तो भगवान ने कर्तव्य–अकर्तव्य से मुक्त रखा है; फिर कहाँ से कर्तव्य–अकर्तव्य की बात आ गयी? जिन पुराणों शास्त्रों तथा वेदों से कर्तव्य–अकर्तव्य की ध्वनि प्रकट हो रही है, वे भी तो भगवान के गले की एक माला ही हैं, जो प्रभु की स्मृतिरूपी सूत्र में ही गुँथे हुए हैं? तथा वे कहते क्या हैं, उन्होंने तो वही बात कही है जो भगवान ने कही है। जो सामान्य कर्तव्य–अकर्तव्य की बातें उनके द्वारा देखने को मिलती हैं, वह तो परम कर्तव्य को बताने की ही एक दिव्य कला है। उन्होंने भी दिव्य कथाओं एवं मंत्रों से मोह–ममतारूपी शत्रु को घेरकर मार डालने का उपाय बताया है तथा भगवान भी यहाँ एक दिव्य मोर्चा बनाकर ही बता रहे हैं कि मुझ नित्यानन्द परमानन्द परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यहाँ पर प्रभु ने अपने निर्गुण निराकाररूप की विधिवत् स्थापना कर दी है। तो आयें भगवान के उस दिव्य मोर्चे को देखते हैं, जिस मोर्चे के कारण अज्ञानरूपी शत्रु प्रवेश कर ही नहीं सकता और यदि प्रवेश कर भी गया तो सुगमतापूर्वक उसका वध कैसे हो जाएगा।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

हे पार्थ! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ॐकार तथा आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, भूतों में उनका जीवन तथा तपस्वियों में तप हूँ। यही नहीं तुम सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज कारण मुझे ही जानो, मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों की आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ तथा सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ।

निर्गुण–निराकाररूप में भगवान ने स्वयं दिव्य माला की मणियों का सूत (धागा) बनकर, जिन–जिन दिव्य मालाओं को पहन रखा है, जिससे वह अति शोभा पा रहा है, उन मालाओं के साथ अब हमसब भगवान का दर्शन करें। जिस अपने स्मृतिरूपी सूत (धागे) में निर्गुण–निराकार

ब्रह्म ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीरूपी दिव्य मनकों को गूँथ लिया है– ऐसी इस दिव्य माला को ही मानो उसने पहन रखा है। उसीप्रकार–

'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'– ब्रह्म ने रसरूपी धागे में समुद्र, महानद, नद, नदी, सरोवर, तालाब, तलैया तथा झरने– इन दिव्य मनकों को पिरोकर दिव्य माला को पहन लिया है।

'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'– ब्रह्म ने प्रकाशरूपी धागे में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा तारोंरूप दिव्य मनकों को पिरोकर दिव्य माला को पहन रखा है।

'प्रणवः सर्ववेदेषु'– इसीप्रकार उसने ॐरूपी धागे में सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृतियोंरूपी दिव्य मनकों को पिरोकर दिव्य माला को पहन रखा है।

'शब्दः खे'– जितने भी प्राणिपदार्थ हैं, जिनके भीतर उनका अपना चिदाकाश है, उन सम्पूर्ण आकाशरूपी दिव्य मणियों को शब्दरूप धागे में पिरोकर दिव्य माला को उस ब्रह्म ने पहन रखा है।

'पौरुषं नृषु'– संसार में जितने भी शक्तिशाली पुरुष हैं, वे ही दिव्य सामर्थ्यरूपी धागे की दिव्य मणियाँ हैं, जिन्हें पिरोकर दिव्य माला को ब्रह्म ने पहन रखा है।

'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'– उस निर्विकार ब्रह्म ने दिव्यगन्धरूपी धागे में पृथ्वी, पर्वत, पहाड़, पहाड़ी तथा वनरूपी दिव्य मनकों को पिरोकर दिव्य माला को पहन रखा है।

'तेजश्चास्मि विभावसौ'– उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा ने आठ प्रकार की अग्निरूपी दिव्य मणियों को पिरोकर दिव्य माला को पहन रखा है।

'जीवनं सर्वभूतेषु'– स्पर्शरूपी दिव्य धागे में प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, देवदत्त, धनञ्जय, कुर्म तथा कृकल– इन दिव्य मणियों को पिरोकर दिव्य माला को उस नित्यानन्द ने पहन रखा है। ये दिव्य मनके ही सम्पूर्ण भूतों का जीवन बने हुए हैं।

अथवा

दिव्य स्पर्शरूपी धागे में ४९ मरुद्गण (वायुदेवता) रूप दिव्य मणियों को पिरोकर दिव्य माला को उस परमानन्द परम पुरुष ने पहन रखा है। ये ४९ मरुद्गणरूपी मणियाँ ही सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन बनी हुई हैं।

अथवा

दिव्य स्पर्शरूपी धागे में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रारब्धरूपी दिव्य मनकों को पिरोकर दिव्य माला को उस सम शान्त ब्रह्म ने पहन रखा है।

'तपश्चास्मि तपस्विषु' – तप भी ब्रह्म ही है, अतः तपरूपी दिव्य धागे में नानाप्रकार के तपस्वियोंरूपी दिव्य मनकों से बनी हुई दिव्य माला को उस सनातन पुरुष ने पहन रखा है।

'बीजं मां सर्वभूतानां' – सम्पूर्ण प्राणियों के बीज कारण, आत्मारूपी दिव्य सूत में सम्पूर्ण भूतसमुदायरूपी दिव्य मनकों को पिरोकर, इस दिव्य माला को ब्रह्म ने पहन रखा है।

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'– आध्यात्मिक बुद्धिरूपी दिव्य सूत में सम्पूर्ण बुद्धिमानरूपी मणियों को पिरोकर उस दिव्यात्मा पुरुष ने दिव्य माला को पहन रखा है।

'तेजस्तेजस्विनामहम्'– आध्यात्मिक तेजरूपी दिव्य सूत में सम्पूर्ण तेजस्वीरूपी दिव्य मणियों को पिरोकर परब्रह्म परमात्मा ने दिव्य माला को पहन रखा है।

'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'– कामना और मोह से रहित दिव्य सामर्थ्यरूपी धागे में सम्पूर्ण सामर्थ्यवान पुरुषरूपी दिव्य मणियों को पिरोकर, दिव्य माला को उस परमानन्द परम पुरुष ने पहन रखा है।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि'– इसीप्रकार धर्म के अनुकूल कामरूपी धागे में सम्पूर्ण गृहस्थाश्रमी धर्मात्मारूपी दिव्य मणियों को पिरोकर उस निर्विकार आत्मा ने दिव्य माला को पहन रखा है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो गया कि इन दिव्य मालाओं को अपने चिदाकाशरूपी दिव्य गले में पहनकर वह निर्गुण निराकार ब्रह्म अति शोभायमान हो रहा है।

अब पुनः एक बार और ब्रह्म के द्वारा पहनी हुई दिव्य मालाओं की तरफ ध्यान दें– उस ब्रह्म के गले में दिनरूपी दिव्य सूत्र में गुँथी हुई रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार तथा शनिवाररूपी दिव्य मणियों से बनी हुई दिव्य माला शोभा दे रही है। स्वररूपी दिव्य धागे में सरगम के सात स्वररूपी दिव्य मणियों से बनी हुई दिव्य माला उसके गले में शोभा दे रही है। इसीप्रकार दिव्य शक्तिरूपी दिव्य धागे में सातचक्ररूपी दिव्य मनकों से गुँथी हुई दिव्य माला उसके गले में शोभा दे रही है। वह दिव्यात्मा पुरुष वीर्यरूपी दिव्य धागे में सात–सात प्रकार के याज्ञिक अन्न, फलरूपी दिव्य मणियों से गुँथी हुई माला को पहनकर शोभा पा रहा है। उस ब्रह्म के चिदाकाशरूपी गले में दिव्य वनपशुरूपी दिव्य धागे में शेर, बाघ, चीता, जरक, शृगाल, कुत्ता और बिल्लीरूपी दिव्य मणियों से गुँथी हुई माला शोभा दे रही है। इसीप्रकार उस परम पुरुष के चिदाकाशरूपी गले में मनुष्यवर्गरूपी दिव्य धागे में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कोल–भील, म्लेच्छ और चाण्डाल– इन सात दिव्य मणियों से गुँथी हुई दिव्य माला शोभा दे रही है। इसीप्रकार वह परमात्मा जलाशयरूपी दिव्य धागे में सात समुद्ररूपी दिव्य मणियों से गुँथी हुई माला को पहनकर शोभा पा रहा है। इतना ही नहीं, वह जगदात्मा द्वीपरूपी दिव्य धागे में सात दिव्य द्वीपरूपी (जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, कुशद्वीप, क्रोञ्चद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप) दिव्य मणियों से गुँथी हुई दिव्य माला को चिदाकाशरूपी गले में पहनकर शोभा पा रहा है। ठीक इसीप्रकार आत्मस्मृतिरूपी दिव्य धागे में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी दिव्य मणियों से गुँथी हुई माला को पहनकर सर्वान्तर्यामी ब्रह्म अति शोभा पा रहा है। समाधिस्थ साधक को समाधि में ये सारी की सारी दिव्य मालायें स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं और आश्चर्य तो

यह है कि बाहर से भले ही बिखरी हुई दिखायी पड़ती हों लेकिन ज्ञानरूपी नेत्रों से देखने पर निर्गुण–निराकार ब्रह्म के चिदाकाशरूपी गले में एक माला के बाद दूसरी माला, दूसरी माला के बाद तीसरी माला अर्थात् असंख्य मालायें शोभा देती हुई दिखायी पड़ती हैं। जिसप्रकार व्यूहाकार खड़ी हुई सेना में महारथियों की एक पंक्ति (कतार), रथियों की दूसरी पंक्ति, गजसवारों की तीसरी पंक्ति, घुड़सवारों की चौथी पंक्ति, पैदल सैनिकों की पाँचवीं पंक्ति, उसके उपरान्त राशन, अस्त्र–शस्त्र आदि ढोनेवाले वाहनों की छठी पंक्ति तथा चिकित्सकों की सातवीं पंक्ति अति शोभा देती है।

(रसोऽहमप्सु कौन्तेय.....कामोऽस्मि भरतर्षभ) ये मंत्र संकेत कर रहे हैं कि जल में रसरूप से भगवान ही हैं, सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रकाशरूप से भगवान ही हैं, सम्पूर्ण वेद, पुराणों एवं शास्त्रों की आत्मा ॐरूप से भगवान ही हैं, सम्पूर्ण प्राणियों का चिदाकाश भगवान ही हैं, सम्पूर्ण पुरुषों का पुरुषत्व भगवान ही हैं, पृथ्वी में पुण्यगन्ध, अग्नि में तेज, सम्पूर्ण भूतों का प्राण, तपस्वियों का तप, सबका आदि कारण, बुद्धिमानों की बुद्धि एवं तेजस्वियों का तेज, अनासक्त पुरुषों का बल तथा धर्म के अनुकूल सम्पूर्ण गृहस्थ पुरुषों में पाया जानेवाला काम भी भगवान ही हैं। अतः किसी में भी साधकों को दोषदर्शन नहीं करना चाहिये। भगवान इसी ज्ञान को तो विज्ञान के साथ कह रहे हैं। साधक को जल का दोष भी लगता है, अन्न का दोष भी लगता है, स्थान का दोष भी लगता है, किसी कारण से उसके ऊपर सूर्य एवं चन्द्रमा भी कुपित हो जाते हैं, जिसके कारण उसके सूर्य एवं चन्द्रस्वर विषम चलने लगते हैं; अग्निदेवता भी कुपित हो जाते हैं, जिसके कारण मन्दाग्नि हो जाती है। अपानवायु भी कुपित हो जाता है, जिसके कारण स्वप्नदोष की झड़ी लग जाती है और वीर्यपतन से उसका चित्त आहत हो जाता है। वायु देवता के कुपित होने से वात, अग्निदेवता के कुपित होने से पित्त तथा वरुणदेवता के कुपित होने से कफ कुपित हो जाता है। अतः साधक जब इन मंत्रों के माध्यम से सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को ब्रह्मरूप ही देखता है तो वह किसी भी दोष से दूषित नहीं होता।

आये दिन हरपल, हरक्षण व्यक्ति के जीवन में भगवानरूपी दिव्य धागे में गुँथी हुए दिव्य मणियों से निकट का सम्बन्ध होता रहता है, लेकिन आश्चर्य है कि जिसप्रकार मित्र को, माता–पिता आदि को देखकर आत्यन्तिक प्रसन्नता होती है, उसीप्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूर्य, चन्द्रमा तथा उनके प्रकाश एवं ॐकार आदि के प्रति ब्रह्मभावना नहीं होती। जबकि साधकों को इस क्षुद्रभावना का त्याग कर देना चाहिये कि ये जड़ पदार्थ हैं, ये एक तत्त्व हैं, ये एक ग्रह हैं। उसीप्रकार 'ॐ' के प्रति मंत्र की भावना हो गयी है, जो अत्यन्त तुच्छ कही जा सकती है। किसी के भीतर से जो भी शब्द प्रकट होता है, वह उसके चिदाकाश से ही प्रकट होता है, भले ही वह पुरुष उसका अर्थ न जाने लेकिन हँसी विनोद में भी निकले हुए वाक्यों के गूढ़ार्थ होते हैं, क्योंकि वे ब्रह्म के विविधरूप हैं। गन्ध, तेज, तप तथा स्पर्श आदि भी भगवान के ही रूप हैं, किन्तु उनकी तरफ से सदा उदासीनता बनी रहती है। तपस्वी के तप को देखकर लगता है कि वह तप कर रहा है, जबकि उसके तन, मन, वचन से तपरूप भगवान ही प्रकट

होता है। बुद्धिमान तथा तेजस्वी पुरुष की बड़ाई होते देखी जाती है, जबकि उसकी महत् बुद्धि तथा तेज के रूप में साक्षात् भगवान ही प्रकट हैं। सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज कारण भी भगवान ही हैं, परन्तु ऐसा लग रहा है कि इन सबके जीवन का कारण पुण्य–पापरूप कर्म ही हैं। उसीप्रकार कामना और आसक्ति से रहित बलवानों का बल यानी सामर्थ्यवानों की सामर्थ्य भी भगवान ही हैं, किन्तु भगवान की बड़ाई होने की जगह उन पुरुषों की बड़ाई होनी प्रारम्भ हो जाती है। बलवानों के बल का तात्पर्य जप का बल, तप का बल, योग का बल होता है, जिसे महात्माजन जानते हैं, तभी तो सामर्थ्यवान होते हुए भी ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने विश्वामित्र के द्वारा उनके सौ पुत्रों का वध करने के उपरान्त भी विश्वामित्र को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायी, जबकि वे हुंकार भरने मात्र से ही उन्हें मार सकते थे। कर्मयोगियों, राजर्षियों का धर्मानुकूल काम भी ब्रह्म का ही रूप है, तभी तो उनके काम में राम ही छिपा रहता है।

(मत्तः परतरं नान्यत्.....कामोऽस्मि भरतर्षभ) अब पुनः युद्ध की तरफ दृष्टिपात करते हैं कि भगवान अर्जुन से क्या कहना चाहते हैं– वे कह रहे हैं कि हे पार्थ! सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज कारण होने से उन सबकी आत्मा तो मैं ही हूँ, अतः किसी में भी तुम दोषदर्शन नहीं कर सकते। तुम इन कौरवों में दोष देखकर पलायन कर रहे हो, संन्यासी बन रहे हो। तुमने इन्हें पापात्मा और अपने को पुण्यात्मा कहकर मेरा ही अपमान किया है। यदि ये पापात्मा हैं तो तुम्हारे स्वजन कैसे हो गये? हाँ, इस समय सम्पूर्ण बुद्धिमानों में से तुम महत् बुद्धिमान अवश्य हो कि तुमने मुझे ही अपना सद्गुरु बना लिया है लेकिन तुम यह न भूलो कि यह बुद्धि भी मैं ही हूँ। इस युद्ध के मैदान में ओजस्वी, तेजस्वी तथा व्रती पुरुषों की भरमार है, जैसे पितामहभीष्म की प्रतिज्ञा मैं हूँ, युधिष्ठिर का सत्य मैं हूँ, तुम्हारा समर्पण मैं हूँ, अभिमन्यु और धृष्टद्युम्न का तेज तथा द्रोणाचार्य का पराक्रम भी मैं ही हूँ। इतना ही नहीं, धर्म के अनुकूल तुम्हारा काम भी मैं ही हूँ। तूने कल्याणी द्रौपदी को मेरे कहने से स्वीकार किया है, सुभद्रा को भी मेरे कहने से ही स्वीकार किया है, भीम ने भी हिडिम्बा को माँ कुन्ती के कहने से स्वीकार किया था। इसप्रकार तुमलोगों के पास काम तो है ही नहीं। हे महावीर! हे महात्मा अर्जुन! हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ! जरासंध ने, जयद्रथ ने, कालयवन ने, दुर्योधन तथा उसके अनुचरों एवं मित्रों ने मुझे काम ही समझ रखा था, जबकि मैं ब्रह्म हूँ। यह तो तुम जान ही गये कि ब्रह्म में ब्रह्म ही होता है, काम नहीं होता। तुमने देखा ही है कि भरी सभा में शिशुपाल ने मुझे महाकामी तथा स्त्रीचोर कहा था, सौ गालियों में से ऐसी भी गाली दी थी उसने। ये सब वही शिशुपाल हैं, जो इस समय तुम्हारे विपक्षी बनकर युद्ध में खड़े हैं। अतः उठो! मोहित मत होओ त्रिगुणमयी माया से।

(कामोऽस्मि भरतर्षभ) यह आध्यात्मिक आख्यायिका है, इसलिये यहाँ पर काम का अर्थ काम (मैथुन) तथा कामना इन दोनों से लेना चाहिये। यहाँ पर प्रभु ने बड़ी पैनीदृष्टि से काम को अपने ही रूप की संज्ञा दी है। यह सत्य ही है कि वह कौन सा मूर्ख होगा जो महाराज दशरथ के काम को काम कहेगा, जिन्होंने भगवान राम को ही अपना पुत्र बना लिया था। इसप्रकार सूर्यवंशियों के काम को काम नहीं कहते, जिनके काम से अकाम राजर्षि ही प्रकट होते रहे।

वसुदेव एवं देवकी जैसे चंद्रवंशियों के काम को काम नहीं कहा जा सकता जिनके यहाँ ब्रह्म ही पुत्र बनकर आता है। स्पर्श की कामना से स्त्री को स्वीकार करना ही काम कहलाता है। ब्रह्म को पिता के रूप में, पुत्र के रूप में, सखा के रूप में माँ के रूप में चाहने की कामना को काम नहीं कहते।

ॐ मासपारायण, चौदहवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, सातवाँ विश्राम ॐ

'भगवद्भक्तों का शास्त्रीय काम और कामना मैं हूँ'– ऐसा कहकर भगवान नारायण ने सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में अपनी अलौकिक शक्ति के साथ अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन करा दिया, महात्मा अर्जुन आश्चर्य की तरह देखते रह गये। उस समय प्रसन्नवदन प्रभु ने यह कहते हुए भक्तों को माया से न मोहित होने का सन्देशरूप उपदेश दिया है कि सारा का सारा जगत मेरी माया से मोहित हो रहा है लेकिन आसुरी एवं पाशविक प्रकृति को धारण करनेवाले, नारकीय जीवन जीनेवाले पामर, नीच, विषयी इसे नहीं जानते। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं–

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयी॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

ये जो सात्त्विक, राजस एवं तामसभाव हैं, जो सबके चित्त से क्रमशः प्रकट होते रहते हैं, उनका आधार भी मैं ही हूँ, वे मेरे से ही प्रकट होते हैं; किन्तु उन्हें यह बोध नहीं होने के कारण से मैं उनमें हूँ लेकिन वे मेरे में नहीं हैं अर्थात् मैं यह नहीं दिखाता कि मेरी शक्ति–सामर्थ्य से ही इन भावों में भी प्रकाश आ रहा है अर्थात् शक्ति आ रही है। इतना ही नहीं, इन तीनों गुणों तथा भावों से यह सारा जगत मोहित हो रहा है, इसीलिये वे इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी तत्त्व को नहीं जानते।

(ये चैव सात्त्विका भावा.....) भगवान संकेत कर रहे हैं कि जो सात्त्विक, राजस एवं तामसभाव में आसक्त हैं, वे जानते हैं कि नींद सोने के लिए ही तो बनायी गयी है तथा विचारों को तो आना ही चाहिये– यदि स्वजनों के प्रति विचार नहीं आयेंगे तो क्या पशु–पक्षियों के प्रति विचार आयेंगे! वैसे ही जो सतोगुण से बँधे हुए हैं, वे ऐसा समझते हैं कि देवी–देवता ही सर्वस्व हैं, भगवान तो निर्गुण–निराकार हैं। अतः स्वर्गादि की कामना से ही वे मोहित होते रहते हैं। इतना ही नहीं ये तीनों गुण भगवान से ही संचालित होते रहते हैं, फिर भी वे भगवान में प्रतिष्ठित नहीं हैं, जबकि भगवान उनके बाहर–भीतर व्याप्त है ही। साधक इसके ठीक विपरीत समझते हैं कि नींद परेशान करती है, वे ऐसा जानते हैं कि विचार परेशान करते हैं तथा वे समझते हैं कि सात्त्विक गुणों से प्रकट होनेवाली समाधि से बढ़कर है ही क्या। इन कारणों से

वे मोहित चित्त हुए भगवान की तरफ नहीं बढ़ पाते; क्योंकि भगवान की सत्ता–सामर्थ्य को समझनेवाले तो स्पष्ट जानते हैं कि भगवान तो नींद में भी है, विचारों में भी है, ध्यान एवं समाधि में भी है। इसलिये उनके चित्त के व्यथित होने का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। इसीप्रकार सात्त्विक, राजस एवं तामस– तीन प्रकार के वैराग्य होते हैं। सात्त्विक वैराग्य देवसिद्धि के निमित्त होनेवाला वैराग्य है। सुन लिया कि आकाश में उड़ने की भी सिद्धि होती है, पृथ्वी में छिपने की भी सिद्धि होती है, अग्निमय होने की भी सिद्धि होती है, वायु, जल और पृथ्वीमय होने की भी सिद्धि होती है, जीवित को मृत एवं मृत को जीवित करने की भी सिद्धि होती है; इसप्रकार कौतूहलवश ऐसी सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये, संसार से जो वैराग्य होता है, उसे सात्त्विक वैराग्य कहते हैं। स्वर्ग, पुत्र, धन, मान–सम्मान पाने की कामना से घोर जप, तप, योग, यज्ञादि के लिये कुछ समय के लिये हुए वैराग्य को राजस वैराग्य कहा जाता है तथा तीनों लोकों अथवा सबका स्वामी बनने की कामना से, दूसरों को दुःख देने की कामना से होनेवाले वैराग्य को तामस वैराग्य कहा जाता है। इतना ही नहीं, धर्मपत्नी, बाल–बच्चों तथा भाई–बान्धवों से कलह करने से तो मूर्खतापूर्ण वैराग्य होता है वह तामस वैराग्य कहलाता है, इसे श्मशानी वैराग्य भी कहते हैं। ऐसे वैराग्य में घर–बार छोड़कर माया की मार से मोहित हुआ पुरुष कुछ ही समय में बाल–बच्चों आदि के घेरे में लौट आता है। रावण, कंस, मेघनाद, कुम्भकर्ण, हिरण्यकशिपु आदि असुरों का तामस वैराग्य है। हम तीनों लोकों पर शासन करें या तो वरदानी होकर जीयें या तो भगवान शंकर के पास आमरण अनशन करके मर जायँ– ऐसा सोचकर उन्हें जो संसार से वैराग्य होता है, उसे तामस वैराग्य कहते हैं। अथवा ये सब दुःखरूप ही हैं, चाण्डाल हैं, प्रेत हैं, जीने भी नहीं दे रहे हैं, स्त्रीरूप में यह डाकिनी ही है और बच्चों के रूप में ये सब पिशाच हैं, जीने भी नहीं दे रहे हैं, इनके बीच में रहने से तो अच्छा है कि भगवान के लिये जीयें– इसप्रकार वह श्मशानी वैराग्य को प्राप्त करनेवाला साधक, तामस वैराग्य को प्राप्त होकर वनप्रदेश को जाकर धक्के खा–खाकर पुनः उसी कलहरूपी कारागार में लौट आता है, इसे तामस वैराग्य कहते हैं। यदि कोई कहता है कि 'श्रीमद्भागवत महापुराण के महात्म्य की पहली कथा के अनुसार तो धुन्धुकारी के उत्पात से उसके पिता आत्मदेव तथा भाई गोकर्ण भी तो सारी सम्पत्ति लुट जाने के उपरान्त खिन्न होकर ही वनप्रदेश को गये थे, फिर वे आत्मज्ञानी क्यों हो गये? उनका भी तो श्मशानी वैराग्य कहा जा सकता है?'– नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है; माना कि धुन्धुकारी धुँआधार मचा देता है, त्राहि–त्राहि मच जाती है घर में, वह वेश्याओं के चंगुल में फँसकर सारी सम्पत्ति लुटा देता है, तो भी उसके पिता एवं छोटे भाई– आत्मदेव एवं गोकर्ण खिन्न नहीं होते, उससे लड़ाई–झगड़ा नहीं करते, बल्कि वे परस्पर में कहते हैं कि भगवान की ऐसी ही इच्छा है तो चलो हम दोनों ही भगवान के लिये वन को चलते हैं। यह कोई प्रेत ही आ गया है पुत्र के रूप में लेकिन भगवान ने इसे क्यों भेजा हमलोगों के घर में, यह तो भगवान ही जानें। लगता है संन्यास लेने का यह उपयुक्त समय आ गया है, भगवान ही नहीं चाहते कि हम सुख–सुविधा, दुःख–दुविधा को देखकर घर में पड़े रहें बल्कि सुख–दुःख, शोक–सन्ताप आ जाये तो उनके स्रोत के खोज की कामना करें, ब्रह्म के खोज की कामना करें। 'मैं कौन हूँ, ये

बाल–बच्चे कौन हैं, इनका स्रोत कहाँ है, इनका सम्बन्ध मेरे से क्यों और किस कारण से हुआ इत्यादि, इत्यादि के खोज की कामना करें। इसप्रकार स्वतः से होनेवाला वैराग्य नित्य वैराग्य कहलाता है; वह न सात्त्विक, न राजस, न तामस ही कहा जाता है। राजर्षियों को जो वैराग्य होते देखा गया है और उस वैराग्य से गुरुजनों ने उन्हें राजसिंहासन पर बैठे–बैठे जो आत्मसमाधि दे दी है, वह प्रभु की प्रेरणा का परिणामरूप फल ही है। भगवान ने उनके लिए वैसा ही चाहा है, क्योंकि भगवान की प्रेरणा से ही तो सबकुछ हो रहा है।

यहाँ पर अब प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब प्रभु की प्रेरणा से ही सबकुछ हो रहा है, सात्त्विक, राजस एवं तामस विचार प्रकट हो रहे हैं तब तो जो कुबुद्धि आयी है कौरवों में उसका भी कारण भगवान ही हैं? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है, कुबुद्धि भगवान ने नहीं दी है बल्कि इनकी कुबुद्धि होने पर वे मौन हैं, हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यदि कोई कुबुद्धि को ही सुबुद्धि मान ले तो भगवान वहाँ पर कुछ भी क्यों करेंगे? ये तीनों भाव प्रभु से ही प्रकट होते हैं, कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे ही इन तीनों भावों के कर्ता हैं, बल्कि जिसप्रकार पृथ्वी में से फूल–काँटे एवं फलवाले पौधे उत्पन्न होते हैं तो कोई कहे कि पृथ्वी ने ही इनको जन्माया तो ऐसा कहना तो मूर्खता ही होगी। हाँ, पृथ्वी से ये सब उत्पन्न हुए हैं, इस कारण पृथ्वी इनके रोम–रोम में व्याप्त है, लेकिन ये सब पेड़–पौधे इस बात को माने तब तो प्रभु इनके जीवन में काम आयें। ये सब तो पृथ्वी से होते हुए भी, पृथ्वी को मानते ही नहीं हैं, ये सब तो माली को मानते हैं, कहते हैं– यह हमें जल देता है, हमारी सुरक्षा करता है। वनप्रदेश के पेड़–पौधे कहते हैं– हमारा जन्मदाता तो बादल है, सूर्य है, हवा है, पृथ्वी तो इनकी दृष्टि में तुच्छ ही है। उसीप्रकार कौरव प्रभु को कहाँ मानते हैं, वे सब तो जप, तप, योग, यज्ञ को मानते हैं। इसीलिये भगवान वहाँ पर मौन रहते हैं। प्रभु के मौन रहने के कारण से ही कौरवों ने उनका इतना अपमान कर दिया है कि उन्हें (कौरवों को) दण्ड देने के लिये प्रकृति उठ खड़ी हुई है। यद्यपि भगवान के मना करने से प्रकृति मान सकती है, किन्तु इस प्रकृति का भी तो कुछ अधिकार है, भगवान उसके अधिकार को क्यों छीनें? देखा जाता है कि धर्मात्मा पिता अपने धर्मात्मा पुत्र को ही अपनी विरासत देता है, उस समय वह बड़ा–छोटा नहीं देखता। वह धर्मात्मा पुत्र पिता के सिर पर किसी को मैला फेंकता देख, पिता के मना करने पर भी उस नराधम नीच को दंड देगा ही देगा। उसीप्रकार वे मूढ़ नराधम कौरव उस समय प्रकृति के घेरे में आ गये थे, जिनको प्रकृति ने खूब अच्छीप्रकार ठिकाने लगाया था। भगवान ने तो मैं अस्त्र–शस्त्र नहीं उठाऊँगा– ऐसी प्रतिज्ञा इसलिए की थी क्योंकि उन ब्रह्महत्यारों महापापी, नीचों की भगवान के अस्त्र–शस्त्र के द्वारा वध किये जाने पर तो सद्गति हो सकती थी। हाँ, ठीक इसके विपरीत यदि किसी के ऊपर प्रकृति अत्यन्त कुपित हो गयी है और वह भक्त उसी समय भगवान के शरणागत हो जाता है तो भगवान उसके जीवन में अवश्य हस्तक्षेप करता है, यानी प्रकृति से उसकी रक्षा कर लेता है।

(.....मत्त एवेति तान्विद्धि.....) इन तीनों भावों की सत्ता भगवान से ही है, न कि भगवान की इनसे, जिसप्रकार अग्नि से ईंधन की सत्ता है न कि ईंधन से अग्नि की। अग्नि को यदि ईंधन

से निकाल दिया जाय तो वह राख हो जाता है, जैसे इस शरीर की सत्ता प्रारब्ध से है, प्रारब्ध की सत्ता शरीर से नहीं है; क्योंकि जिस दिन प्रारब्ध समाप्त हो जाएगा, उस दिन शरीर की सत्ता भी समाप्त हो जाएगी; इसप्रकार प्रारब्ध भी ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता होने से ही प्रारब्ध की सत्ता है न कि प्रारब्ध की सत्ता से ब्रह्म की। यदि प्रारब्ध में से ब्रह्म निकल जाय तो प्रारब्ध का अता–पता भी नहीं चलेगा। उसीप्रकार सात्त्विक, राजस एवं तामस– इन तीनों प्रकार के पुरुषों में भगवान तो है, लेकिन भगवान में ये तीनों ही नहीं हैं; क्योंकि वे भगवान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। सात्त्विक पुरुषों को देवताओं पर भरोसा है, राजस पुरुषों को यक्ष–राक्षसों पर भरोसा है, तामस पुरुषों को भूत–प्रेतों पर भरोसा है। इस न्याय से प्रश्न खड़ा हो सकता है कि इन तीनों भावों से परे लोगों में भगवानभाव क्यों नहीं आ रहा है? हाँ, इसलिये कि कहीं न कहीं किसी साधु पुरुष के प्रति उन लोगों के मन में तामस या राजस भाव है।

एक साधक ने अपने सद्गुरु से कुछलोगों के व्यवहार से दुःखी होकर कहा कि गुरुदेव मैंने आप सब का बहुत अपमान कर दिया है, अतः अब मैं आश्रम से जा रहा हूँ। उसके गुरुदेव ने कहा–'अच्छा! तो तुम चले जाना लेकिन अभी पन्द्रह–बीस दिन अहिंसा व्रत का पालन कर लो; मन से, शरीर से, वाणी से किसी को कष्ट मत दो। इसका अर्थ यह मत लेना कि इस आश्रम में तुम्हारे प्रति हिंसक कोई होगा ही नहीं। कोई तुम्हारे विषय में बुरा सोचे, बुरा कहे, तुम्हारा अपमान करे, तो भी तुम उसके प्रति भला सोचना, भला करना। यह जो तुम्हें दुःख लग रहा है, यह भी अध्यात्म में हिंसा ही तो है। किसी को दुःख देना तथा किसी से दुःखी होना, ये दोनों बात बराबर है; यदि तुम्हें अध्यात्म में प्रवेश पाना है तो इन दोनों से ही मुक्त होना होगा। उसने बीस–पच्चीस दिन अहिंसा व्रत का पालन किया। उसके उपरान्त उसके सद्गुरु ने उससे कहा कि उस दिन जो तुमने क्षुब्ध होकर आश्रम से जाने की बात कही थी, उसमें तो तुम्हारे गुरुदेव का ही अपमान था। इससे तो यह बात स्पष्ट है कि तुम गुरुदेव के पास भी मान–सम्मान ही पाना चाहते हो? यदि तुम्हारा पक्ष सही ही था और सद्गुरु तुम्हारे विपक्ष में ही थे तो भी तुम तो यहाँ से जाकर अपने गुरुदेव को दण्ड ही देना चाहते थे? उस कारण को लेकर यहाँ से जाना ही तो सद्गुरु को दण्ड देना है। तुमने अपने गुरु के अन्तर की बात तो नहीं जानी थी कि वे तुम्हें ही दोष क्यों दे रहे हैं। तुम रहस्य को जाने बिना अपने सद्गुरु को वैसे ही दण्ड दे रहे थे, जैसे प्रभु श्रीराम को भगवती सीता ने दिया था। उन्होंने कहा था–

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।
(वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड)

यदि यह सत्य है कि मैंने किसी भी काल में श्रीरघुनाथजी के अतिरिक्त किसी भी पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं किया है तो पृथ्वी माता मुझे अपनी गोद में स्थान दें। यही नहीं, यदि मैंने श्रीरामजी की आराधना के अतिरिक्त किसी अन्य की आराधना न की हो तो पृथ्वीमाता मुझे शरण दें। यदि मैंने श्रीरामजी को छोड़कर किसी अन्य पुरुष को जाना ही नहीं है तो इस सत्य से पृथ्वीमाता मुझे शरण में लें।

ऐसी कैसी प्रतिज्ञा, जिसमें प्रभु श्रीराम का अपमान छिपा हो? वे तो स्पष्ट कह रही हैं कि हे पृथ्वी माँ! मैं ऐसे श्रीराम के साथ नहीं रहना चाहती, जिन्होंने अपनी प्रजा तथा अपने मान–सम्मान के सामने मेरे स्वाभिमान तक को कुछ भी नहीं समझा। जो अपनी प्रजा के लिए ही मात्र जीता है और प्रजा के मध्य कुछ दूषित तत्त्वों के कारण से पुनः–पुनः सत्य की दुहाई देने को कहता है; मैं ऐसे निरपराधिनी को दण्ड देनेवाले के साथ नहीं रहना चाहती।

भगवती सीता ने प्रभु श्रीराम के अन्तर में झाँककर नहीं देखा है। यह भगवान की ही देन है कि आज उनके साथ–साथ घर–घर में भगवती सीता की भी पूजा होती है। जिस श्रीराम ने उनके जाने के उपरान्त हजारों वर्षों तक इस पृथ्वी पर एकाकी रहकर, भूमिशयन आदि व्रतों का पालन करते हुए शासन किया, वैसे श्रीराम प्रभु का त्याग करना भगवती सीता को कतई शोभा नहीं देता।

यदि उन्होंने श्रीराम प्रभु को भलीभाँति पहचाना होता तो अग्नि का साक्षीत्व लेकर पुनः श्रीराम प्रभु के साथ हो लेतीं। ऐसा न करना भगवती सीता के द्वारा श्रीराम प्रभु का महत् अपमान माना जायेगा। स्वयं श्रीराम प्रभु ने भगवती सीता तथा वहाँ जनसमुदाय के बीच महर्षि वाल्मीकि के पास क्षमा माँगते हुए यह वचन कहा है–

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित्।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः।।
प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसंनिधौ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता।।
लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली।
सेयं लोकभयाद् ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता।
परित्यक्ता मया सीता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति।।
जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे।।

हे ब्रह्मर्षे! आपके निर्दोष वचनों से मुझे जनकनन्दिनी सीता पर पूरा विश्वास हो गया है, जबकि मैं भी यह भलीभाँति जानता ही हूँ कि सीता सर्वथा निष्पाप हैं। इन्होंने अपनी पवित्रता का प्रमाण लंका में दे दिया था तथा पुनः इनके विषय में जितना व्यापक लोकापवाद उठ खड़ा हुआ है, उससे ये सर्वथा अपरिचित हैं, जो इनके जैसी पवित्र नारी के योग्य नहीं है। हे प्रभु!

मैं यह भी जानता हूँ कि लव व कुश मेरे ही पुत्र हैं तो भी जनसमुदाय में अपनी शुद्धता का प्रमाण देती हैं, तभी पुनः इनका और मेरा साथ हो सकता है।

इससे सिद्ध होता है कि प्रभु श्रीराम अपनी नहीं बल्कि निर्दोष भगवती सीता की सब ओर से सुरक्षा करना चाहते थे।

आये दिन बहुत से साधक भी अपने सद्गुरु के व्यवहार को पहचान नहीं पाते हैं और दोषदर्शन करके पतन को प्राप्त होते हैं। यदि वे सत्, रज, तम इन भावों का अच्छीप्रकार अध्ययन कर लें तो निश्चितरूप से इनसे छुटकारा मिल जाए। ऐसा नहीं करने के कारण से क्या होता है, भगवान ने आगे कहा–

(त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः.....) ये जो तीन प्रकार के सात्त्विक, राजस एवं तामसभाव हैं, वे तीन गुणों के ही कार्य हैं न कि साधक के। चूँकि यह रहस्य नहीं जानने के कारण से ही सारे लोग इन्हीं भावों में रचे–पचे हुए हैं, इसलिए सनातन पुरुष को वे नहीं जान पा रहे हैं। माना कि उन्होंने शास्त्राध्ययन भी किया है किन्तु जब–जब प्रकृति से परे होने का अध्याय आता है तो वे उसे संतों का विषय समझकर छोड़ देते हैं। धर्मात्माओं की कहानी वे खूब पढ़ते हैं किन्तु महात्माओं की कहानी के समय उदास रहते हैं, यह सोचकर कि क्या मुझे साधु बनना है? साधक गृहस्थों की कहानी न पढ़े यह तो ठीक ही है क्योंकि वह गृहस्थाश्रम से ही आया हुआ है, किन्तु सद्गृहस्थ संतों की जीवनी, संतों की कथनी–करनी तथा उनके दिव्य भावों का अध्ययन न करें, यह उचित नहीं है।

जहाँ सारा जनसमुदाय स्वर्ग और नरक की ही बात कर रहा हो, वहाँ एक व्यक्ति अपवर्ग की बात करे तो उसकी सुनेगा कौन? सुनना तो दूर बल्कि वे सब परस्पर में उसकी हँसी ही उड़ायेंगे। वैसी अवस्था में या तो वह साधक उनकी तरह जीवन जीने के लिये बाध्य हो जायेगा या तो वहाँ से भाग खड़ा होगा। कहा जाता है कि यदि हजार बार झूठ को सत्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय तो वह सत्य सा प्रतीत होने लगेगा, फिर यहाँ तो सारे के सारे एक स्वर से विषय को ही प्रधानता दे रहे हैं तो ऐसे में ऐसा भी भाव आ सकता है कि कहीं मैं ही तो गलत नहीं हूँ। देखा भी जाता है कि जहाँ सभी सो रहे हों, वहाँ एक को जागना भारी पड़ता है; जहाँ सभी खा रहे हों, वहाँ किसी एक को भूखा रहना महँगा पड़ जाता है; उसीप्रकार जहाँ सभी विषयी होते हैं, वहाँ निर्विषयी होके रहना कठिन हो जाता है। आग के पास आँच न लगे, बर्फानी पहाड़ के पास ठंढ न लगे, खुले आकाश में धूप न लगे, ऐसा हो ही नहीं सकता। उसीप्रकार जहाँ सभी इन्हीं तीनों भावों से मोहित हो रहे हों, वहाँ मोह न हो, ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, किसी विरले की ही कहानी कुछ और होती है। जहाँ सभी सो रहे हों, वहाँ एक जाग रहा हो तो या तो वह रोग से पीड़ित है या निर्मल–वैराग्य से पीड़ित है। हाँ, कोई निर्विषयी भी आकर विषयी को जगा देता है, अपनी कला–कुशलता से या संकल्प से तो उसकी बात अलग है।

भगवान इस सात्त्विक, राजस एवं तामसभाव की बरसात से कोई न भीगे, ऐसा कठिन बताते हुए मानो कह रहे हैं कि यदि मैं उसके ऊपर गोवर्धन पहाड़ उठा दूँ तो वह नहीं भीग सकता। महात्मा अर्जुन के मन में आया कि यह तो बड़ा कठिन है, अतः भगवान ने कहा–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

हे पार्थ! माना कि यह त्रिगुणमयी माया दैवीशक्ति है, अतः इसका उल्लंघन करना अति कठिन है। हाँ, यदि कोई मेरे शरणागत हो जाय तो इस मेरी महत् तथा दुस्तर माया को समझ–बूझकर सुगमता से पार कर सकता है। इतना होने पर भी जिन पापात्माओं का, नराधम–नीच पुरुषों का चित्त आसुरी–प्रकृति द्वारा अपहरण कर लिया गया है, आसुरीभावों के द्वारा उन्हें मोहित कर दिया गया है, वे दुष्कर्मी, मूढ़ मुझ अन्तरात्मारूप परमात्मा के शरणागत नहीं हो पाते।

यह भगवान की त्रिगुणमयी माया अति दुस्तर है, इसने सारे प्राणियों को मोहित कर रखा है। वे ही इसका उल्लंघन कर सकते हैं जो भगवान के शरणागत हो जायँ। जो भगवान के शरणागत होकर भगवान के लिये ही कर्म करते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं। प्रभु के लिये कर्म करना तथा प्रभु की आज्ञा से कर्म करना ये दो बाते हैं। फिर वह कर्म क्या है? यही कि भगवान की आज्ञा के द्वारा किये हुए कर्म से वे भगवान को ही चाहते हैं– ऐसे शरणागत भक्तों का माया कुछ बिगाड़ नहीं सकती। एक दिन किसी से भजन गाते हुए सुना था महाराज ने– यह माया की नगरी है, वह क्या करेगी जब भगवान की दृष्टि मेरे ऊपर होगी।

का करी माया के हो बजरिया,
सीताराम सीताराम।
जब होई स्वामी तोहरी नजरिया,
सीताराम सीताराम।।
फेरऽ नजरिया हमरी ओरिया,
हेरऽ हमरी ओरिया हेरऽऽ।
जइसेऽ हेरेऽऽ लेऽ बाल महतरिया,
सीताराम सीताराम।।

(मामेव ये प्रपद्यन्ते.....) जो मेरा भजन करते हैं, प्रकृति उन्हीं का पीछा छोड़ती है। प्रकृति का तात्पर्य होता है प्रारब्ध। प्रारब्ध, दुष्कर्म और सत्कर्म दो प्रकार के होते हैं। दुष्कर्म भी पीछा नहीं छोड़ता, सत्कर्म भी पीछा नहीं छोड़ता, सत्कर्म न चाहने पर भी स्वर्ग देकर मानता

है। राजा के घर का बालक ही नहीं, उसके घर का कुत्ता भी रोटी देखकर छोड़ देता है, इतना अघाया हुआ रहता है अर्थात् रोटी भी उसके लिये किसी महत्त्व की नहीं है, लेकिन झोपड़ी में रहनेवाले गरीब को नमक–रोटी भी नहीं मिलती। राजा के राजकुमार को बिना किये सिंहासन मिलता है, गर्भ से वह राजकुमार होता है, चाहे भले ही वह दुराचारी हो किन्तु सिंहासन पर रहता है। कंस दुराचारी रहता है लेकिन सिंहासन पर रहता है, रावण दुराचारी रहता है लेकिन सिंहासन पर रहता है। दुर्योधन दुराचारी है, किन्तु सिंहासन पर बैठा है और इस दुराचारी का साथ देनेवाले सारे के सारे सिंहासन पर बैठे हुए हैं। पूर्व का पुण्य सुख दे के मानता है। पूर्व की तपस्या ने इनको सुख दे दिया और अब जो इनके ऊपर जघन्य अपराध का, ब्रह्महत्या का पाप लगा है, वो भी अपना काम करेगा, इनको दुःख दे के मानेगा।

तंत्रशक्ति का उल्लंघन मंत्रशक्ति से किया जा सकता है, मंत्रशक्ति का उल्लंघन योगशक्ति से किया जा सकता है, योगशक्ति का उल्लंघन ज्ञानशक्ति से किया जा सकता है, किन्तु इस अलौकिक माया का उल्लंघन तो किसी भी शक्ति से किसी भी साधन से किया ही नहीं जा सकता; लेकिन भगवान को कोई अपनी शक्ति बना ले तो निश्चितरूप से इस दुस्तर माया से पार हुआ जा सकता है। मानो भगवान ने इस मंत्र के द्वारा संकेत किया है कि जगत के लोग प्रभु की बात मानें न मानें उनकी इच्छा, लेकिन भक्त और साधक तो भगवान की बात मान ही सकते हैं। यदि भक्त विषयी माता–पिता, बाल–बच्चों की शरणागति छोड़कर ब्रह्म की शरणागति स्वीकार कर लेते हैं तो उनके लिये इस दुस्तर माया से पार जाना कठिन नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि हम इन सबका, इन स्वजनों का त्याग कैसे कर सकते हैं? तो उनका ऐसा कहना सर्वथा असत्य है। देखा जाता है कि भगवान के कहे बिना सैकड़ों–हजारों बार माता–पिता, बाल–बच्चों तथा भाई–बान्धवों से सैद्धान्तिक विरोध होता है। वे लोग अपनी प्रसन्नता के लिये ऐसा कर सकते हैं किन्तु भगवान की प्रसन्नता के लिये ऐसा करने में उनका सारा का सारा पुण्य चला जाता है और वे नरकगामी हो जाते हैं। सच में ऐसा देखा भी जाता है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से चोरी, झूठ, छल–कपट आदि क्या–क्या नहीं करता है, किन्तु वही जब किसी संत के कहने से करना पड़े तो कहता है– आप भी मुझे ऐसा ही सिखाते हैं? बहुत से दम्पति (पति–पत्नी) अपने माता–पिता से सुख–सुविधा और स्वतंत्रता के लिये अलग हो जाते हैं, उनसे बँटवारा भी कर लेते हैं किन्तु यदि अभी किसी की अवस्था ऐसी नहीं आयी है और उनसे कहा जाय कि तुम भगवान के लिये माता–पिता को छोड़ दो तो वे माता–पिता के भक्त बन जाते हैं।

एक बालक से उसकी उद्दण्ड प्रकृति को देखकर एक संत ने कहा कि तुम संन्यास ले लो। उसके माता–पिता से भी संत ने कहा कि यह मूल नक्षत्र का है, यह योग इसके लिये ही नहीं आपलोगों के लिये भी बड़ा घातक हो सकता है, इसलिए इसे संन्यासी बनने दें। ऐसा सुनकर बच्चे के माता–पिता को असह्य क्लेश हुआ कि देखो, हमारे बच्चे को ये अपना चेला बनाना चाहते हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं। उस बच्चे ने भी लगभग ऐसा ही सोचकर उत्तर दिया

था कि महाराज! माता–पिता की भी सेवा तो भगवान की ही सेवा है। संत मन ही मन हँसकर रह गये। शादी होने के सालभर बाद माता–पिता और बेटे–बहू का संग्राम देखकर उस विनोदी स्वभाववाले संत ने कहा–बेटे! माता–पिता तो भगवान होते हैं न! बालक ने कहा–ऐसा भगवान होता है, जो मेरी सारी सुख–सुविधा को निगल ही जाय? अपने तो बाजार में जाकर गुलछर्रे उड़ाते हैं और हम दोनों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। क्या माता–पिता ऐसे ही होते हैं? माता–पिता तो उन्हें कहते हैं, जो अपने न खाकर बच्चे को खिलावें, अपने न सोकर बच्चे को सुलावें, अपनी सुख–सुविधा का ध्यान न रखकर बच्चे की सुख–सुविधा का ध्यान दें। संत ने माता–पिता की तरफ देखा तो माता–पिता ने कहा– 'हम अभागे क्या करें महाराज! आप जैसे संत पर भी हमें शंका हो गयी थी, जब आपने कहा था कि ये मूल नक्षत्र का है इसे साधु बना दो, तो उस समय हमलोगों के मन में आया था कि साधु कितने निर्दयी होते हैं, जो किसी के भी बेटे–बेटियों को साधु बनाते फिरते हैं, किन्तु आज स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि वे कितने दयावान होते हैं, अपने–अपने भक्तों के भविष्य की सुरक्षा का दायित्व अपने पर लेना चाहते हैं। महाराज! उस दिन आपने इसे साधु बना दिया होता, तो आज हमसब की ऐसी दुर्दशा नहीं होती।

(मामेव ये प्रपद्यन्ते.....) जो अहर्निश तन, मन, वचन एवं हृदय से भगवान के ही शरणागत हो जाते हैं, माया तो उनसे तरती है, वह उन्हें क्या तारेगी। शरणागति का अर्थ है, भगवान के अनुसार कर्मों को करना। भगवान की आज्ञानुसार भक्त कर्म करता है और ज्ञानी कर्म का त्याग करता है, वह सत्, रज, तम को अपना मानता ही नहीं। वह तो समझता है कि तीन प्रकार के मायामय बादल मुझ द्रष्टामय आकाश में प्रकट होते हैं और मुझमें ही विलीन हो जाते हैं, मुझे इनसे क्या लेना देना? इतना ही नहीं ये शरीर भी नानाप्रकार के बादल ही हैं, जो मुझ ब्रह्माकाश से प्रकट–अप्रकट होते रहते हैं, अतः इन शरीररूपी बादलों से मेरा कैसा सम्बन्ध, किसलिये सम्बन्ध तथा क्यों सम्बन्ध? ऐसा सोचकर वह ज्ञानयोगी अपने स्वरूप में ही विचरण करने लगता है तो कुछ काल में ही माया उसका साथ छोड़ देती है। यह तो नित्य ही देखा जाता है कि धर्मपत्नी से उदासीन रहनेपर वह तलाक ले ही लेती है। एक माई ने अपने पति से कहा कि जब साधना ही करनी थी, गीता–रामायण ही पढ़ना था तो फिर शादी क्यों की आपने? क्या नौकरानी बनाकर लाये थे? तो अब मैं चली अपने मायके, आप खूब चन्दन लगायें, माला फेरें, चौबीस घण्टे आँख मूँदें। इसीप्रकार माया भी ज्ञानी से तलाक लेकर अपने मायके को चल देती है; लेकिन भक्तयोगी की शरणागति कुछ और ढंग की होती है। वह तो मस्ती में गाता फिरता है (राग–भैरवी)–

ॐ आनन्दमयमानन्दमयं च शान्तिमयमशान्तिमयम्,
वेदमयमवेदमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्॥ १॥
भूतमयमभूतमयं च, जगतमयमजगतमयम्,
देवमयमदेवमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्॥ २॥
प्राणिमयमप्राणिमयं च, नाड़िमयमनाड़िमयम्,

घ्राणमयमघ्राणमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ३ ।।
यज्ञमयमयज्ञमयं च, मंत्रमयममंत्रमयम्,
सिद्धमयमसिद्धमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ४ ।।
तत्त्वमयमतत्त्वमयं च, सत्त्वमयमसत्वमयम्,
सत्यमयमसत्यमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ५ ।।
सृष्टिमयमसृष्टिमयं च, दृष्टिमयमदृष्टिमयम्,
वृष्टिमयमवृष्टिमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ६ ।।
वृत्तिमयमवृत्तिमयं च, धृतिमयमधृतिमयम्,
कृतिमयमकृतिमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ७।।
भक्तिमयमभक्तिमयं च, शक्तिमयमशक्तिमयम्,
मतिमयममतिमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ८ ।।
पुराणमयमपुराणमयं च, शास्त्रमयमशास्त्रमयम्,
ग्रंथमयमग्रंथमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।। ९ ।।
वरदानमयमवरदानमयं च, शापमयमशापमयम्,
तापमयमतापमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१०।।
तपोमयमतपोमयं च, व्रतोमयमव्रतोमयम्,
जपोमयमजपोमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।११।।
छुधामयमछुधामयं च, तृषामयमतृषामयम्,
सुधामयमसुधामयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१२।।
वैराग्यमयमवैराग्यमयं च, रागमयमरागमयम्,
त्यागमयमत्यागमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१३।।
योगमयमयोगमयं च, भोगमयमभोगमयम्,
रोगमयमरोगमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१४।।
धर्ममयमधर्ममयं च, कर्ममयमकर्ममयम्,
विकर्ममयमविकर्ममयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१५।।
ज्ञानमयमज्ञानमयं च, ध्यानमयमध्यानमयम्,
मोक्षमयममोक्षमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१६।।
मित्रमयममित्रमयं च, शत्रुमयमशत्रुमयम्,
सुहृदमयमसुहृदमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१७।।
शीतमयमशीतमयं च, उष्णमयमउष्णमयम्,
मानमयमपमानमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१८।।
देहमयमदेहमयं च, मनोमयममनोमयम्,
चित्तमयमचित्तमयं च, सर्वमयं हे रक्ष माम्।।१९।।
प्रकृतिमयमप्रकृतिमयं च, अहमहमहंमयम्,

पुरुषमयमपुरुषमयं च, परमपुरुष हे रक्ष माम् ।।२०।।
महाराजः राजः राजमयं, सुखशान्तिं च ज्ञानप्रदम्,
महाराजमयं नित्यानन्दं, सर्वमयं हे रक्ष माम् ।।२१।।

इसप्रकार भावपूर्ण प्रार्थना से उसके तामसलोक का प्रलय हो जाता है अर्थात् वह जब चाहेगा तभी ब्रह्म नींद के रूप में आयेगा, जब चाहेगा तब राजसलोक का प्रलय हो जाएगा, जब चाहेगा तभी छन्द, मंत्र प्रकट होंगे, जब चाहेगा तब सात्त्विक लोक का प्रलय हो जायेगा अर्थात् समाधि से आगे बढ़ जायेगा। वह जानता है कि जो ब्रह्म बाह्यसृष्टि का पालन करता है, वही प्रकट और संहार करता है। तो क्या भक्तों एवं साधकों के लोकों का प्रलय करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है! कितने साधक नींद और विचार को बाधा मानते हैं किन्तु सात्त्विक समाधि को बाधा नहीं मानते, जबकि वह भी एक प्रकृति का भोग ही है। हाँ, यह बात अलग है कि वह सात्त्विक भोग है, किन्तु अध्यात्म में प्रवेश के लिये तो इस समाधि से भी अनासक्त होना ही पड़ेगा।

एक संत ने अपने एक साधक से कहा– समाधि में ही रमण करते रहोगे या आगे भी बढ़ोगे? अरे! माँ के मोह में फँसे या वेश्या के काम में फँसे, बात तो बराबर है। अरे! समाधि के सुख की आसक्ति भी तो मोह ही है, इसलिए इसे छोड़कर आगे बढ़ो!

महाराज भी सतोमयी समाधि के सुख में फँसे हुए साधकों से कहता है कि उन्हें अपने इष्ट से नित्य ही प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभु! यह सतोगुण से उत्पन्न होनेवाली समाधि भी आप ही हैं, अतः मैं आपको इस रूप में भी प्रणाम करता हूँ; लेकिन आपके उत्तमात्युत्तम रूप का दर्शन करने की इच्छा करता हूँ, जिसका दर्शन इस समाधि के त्याग से प्राप्त हो सकेगा। हे प्रभु! इस समाधि को त्यागने की सामर्थ्य मेरे में नहीं है, किन्तु आपकी सामर्थ्य तो है ही कि इस समाधिरूप से हटकर वास्तविकरूप में प्रकट हो सकते हैं।

अब प्रभु उनलोगों को धिक्कारते हैं जो भगवान की सामर्थ्य एवं महिमा को जानते हैं, तो भी आसुरी एवं पाशविक भावों के ही आश्रित रहते हैं अर्थात् उसी में रमण करते हैं।

(न मां दुष्कृतिनो मूढाः.....) त्रिगुणमयी माया के द्वारा जिनका तन, मन, वचन, हृदय मायामय हो गया है, वे आसुरी स्वभाववाले पापात्मा, नीच पुरुष भगवान की शरण जायेंगे ही क्यों? उनकी दृष्टि में तो उनका पुरुषार्थ ही सबकुछ है। वे समझते हैं कि भगवान क्या करेगा? जब हमने कर्म किया तभी तो प्रारब्ध बना, अतः हम चाहेंगे तो प्रारब्ध को भी निर्बल (क्षीण) कर देंगे। वे समझते हैं कि मूर्ख एवं दुर्बल हृदयवाले ही भाग्य–भाग्य एवं भगवान–भगवान चिल्लाते रहते हैं। वैसे नराधम, नीच पुरुषों का प्रकृति पीछा नहीं छोड़ती। वे यह नहीं समझ पाते कि प्रकृति के घेरे में ही ऐसा सोच रहे हैं। साधु–सन्तों के कहने पर भी वे शरणागत नहीं हो पाते, बल्कि उन संतों से भी भगवान की हँसी उड़ाने लगते हैं। यद्यपि भगवान की अलौकिक शक्ति–सामर्थ्य को तो वे अनुमान द्वारा ही जानते हैं, कि इस शरीर को बनानेवाला भगवान ही

है, हममें तो शरीर तथा शरीर के अंग–उपांगों में से किसी एक की भी रचना करने की सामर्थ्य नहीं है तो भी वे अपने कर्म पर ही झूठा विश्वास करते हैं। कैसी घिनौनी सोच है कर्म पर विश्वास करनेवालों की जो कर्म का सृजन करनेवाले भगवान को ही भूल जाते हैं। हिरण्याक्ष, भगवान से विरोध करने पर मारा गया, तब हिरण्यकशिपु ने सोचा– मेरे भाई को मारनेवाला तो विष्णु के अतिरिक्त कोई है नहीं, अतः अपने योग, जप, तप के बल से इस जगत से उस विष्णु का नामोनिशान मिटा दूँगा। उस बिचारे ने प्रयत्न तो ऐसा ही किया लेकिन अपने पुत्र से ही पराजित होकर भगवान के हाथों मारा गया। उसके उपरान्त एक के बाद एक, एक के बाद एक असुर प्रकट होते गये और सब वही प्रतिज्ञा करते रहे कि भगवान के नाम को मिटाकर हम अपने नाम का अलख जगायेंगे, लेकिन भगवान के द्वारा उन सबका वध होता ही गया। उसके उपरान्त रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर–दूषण, कालयवन, जरासंध, कंस, दुर्योधन आदि मक्खी–मच्छर की तरह भगवान के द्वारा मारे गये, फिर भी आजतक आसुरी माया से मोहित हुए चित्तवाले उन्हीं के आचार–विचार एवं व्यवहार का अनुकरण करते हैं और धराशायी हो जाते हैं। भगवान का नाम बढ़ता गया और उनका घटते–घटते घट ही गया। कोई भी माता–पिता अपने बाल–बच्चों का नाम हिरण्यकशिपु, कंस, रावण, कुम्भकर्ण, दुर्योधन आदि नहीं रखते। भगवान मानो कह रहे हैं कि उन असुरों की तरफ क्या देखना, उनका तो जन्म ही होता है संत, शास्त्र एवं सद्गुरु का तिरस्कार करने के लिए, लेकिन साधकों एवं भक्तों का जन्म होता है, संत, शास्त्र, सद्गुरु तथा भगवान का मान–सम्मान करने के लिये, भगवान का नाम तथा कर्म व्यापक करने के लिये। यदि स्वजन उन्हीं असुरों की तरह अपने और अपने बाल–बच्चों के लिये ही जी रहे हों तो उनकी तरफ क्या देखना? साधक को चाहिये कि वह सर्वप्रथम भगवान की ओर देखे और भगवान को देखकर अपनी तरफ देखे। अर्थात् संतों, भक्तों के चरित्र को देखकर अपने चरित्र का संशोधन करे अन्यथा आसुरी प्रकृति का एक प्रवाह बहता रहता है, राजसी प्रकृति का प्रवाह बहता रहता है, वह प्रवाह आपके चित्त को बहाकर कहाँ ले जाएगा, यह कल्पना से बाहर की बात है। आसुरी एवं राजसी प्रकृति अपने घेरे में कैसे कर लेती है, इसपर महाराज को एक पुरातन कथा याद आ रही है–

बहुत सी अप्सरायें इन्द्र के सामने दिव्य नृत्य से उसके चित्त को मोहित कर रही थीं, वहाँ चारण, सिद्ध और देवगण भी थे। उसी समय देवगुरु बृहस्पति अपने शिष्यों के साथ वहाँ पहुँच गये लेकिन आसुरी एवं राजसी प्रकृति के आश्रित हुए इन्द्र ने उठकर उनका स्वागत भी नहीं किया बल्कि उन अप्सराओं तथा अन्य देवताओं के द्वारा देवगुरु बृहस्पति का स्वागत करने पर वह कुपित भी हो गया। इसके उपरान्त देवगुरु बृहस्पति वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गये और वहाँ हाहाकार मच गया। इन्द्र, चेतना आने पर देवताओं के साथ गुरुदेव को मनाने गये तो वे वहाँ से भी अन्तर्ध्यान हो गये। क्षमा का पात्र न होने से गुरुदेव उसे क्षमा माँगने का अवसर भी न देकर, उससे अन्तर्ध्यान ही होते रहे। तीनों लोकों में बात फैल गयी। राजा बलि ने अपने गुरुदेव शुक्राचार्य के पास जाकर उनको प्रसन्न करते हुए यह संदेश सुनाया कि देवगुरु बृहस्पति का अपमान करने के कारण से इन्द्र का सौ अश्वमेध यज्ञों का फल समाप्त हो चुका है, आपकी

आज्ञा हो तो हम उसपर आक्रमण करें। शुक्राचार्य की आज्ञा मिलने पर राजा बलि ने इन्द्र पर आक्रमण किया और वे बन्दी बना लिये गये तथा राजा बलि त्रिलोकपति बन बैठे।

आसुरी प्रकृति साधकों को कैसे घेरे में लेती है, यह तो आपने जान ही लिया। साधनाकाल में महाराज जब–जब पराजित होता था अपनी प्रकृति से तो सोचता था कि कौन सा दोष हो गया है, किस पूज्य का अपमान मैंने किया है कि पराजय का मुख देखना पड़ा? दिन दूनी रात चौगुनी साधना बढ़नी चाहिये लेकिन यहाँ तो पराजय ही हो गयी। शरीर में दर्द क्यों हो गया आज, बुखार आया क्यों? ब्रह्म के क्षेत्र में रहनेवाले को तो जबतक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक ऐसा कुछ नहीं होना चाहिये– ऐसी खोज करता था। आत्मानन्द सेवा करते थे, बहुत बार महाराज ने आत्मानन्द से क्षमा माँगी है, वह इसलिए कि उनकी थोड़ी सी भूल पर भी महाराज उन्हें कुत्ते की तरह भौं–भौं करता हुआ डाँटता था। डाँटने के बाद उनसे कहता कि प्रमाद हो गया था आत्मानन्द, महाराज को प्रमाद हो गया था। यही बात प्यार से बोलनी चाहिये थी, आज कटुवाणी में बोल दिया। फिर महाराज खोज करता था कि आखिर ये कटुवाणी बोली क्यों गयी, राजस प्रकृति ने चित्त पर अधिकार कैसे कर लिया? आज रात्रि में बैठने पर विक्षेप क्यों हो गया? गुरुदेव तो कहते थे कि आपने जगत में किसी को अशान्त कर दिया है, इसलिए आपको अशान्ति हो गयी, कोई न कोई सज्जन पुरुष आपके व्यवहार से अशान्त है, दुःखी है। महाराज उस समय खोज करता था कि कहाँ दोष हो गया है। महाराज चाहता है कि साधक भगवान के इस मंत्र पर विचार करें और इसीप्रकार सावधान रहें, निश्चितरूप से एक न एक दिन सफलता मिलेगी। सदाचार एक सिद्धि है, जिसके लिये कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती। असुरों के भाव को स्वीकार नहीं करने से सदाचार प्रकट होता रहता है। तंत्र, मंत्र, योग को सिद्ध करना पड़ता है, लेकिन सदाचार तो आत्मा की आत्मा ही है। अतः आपका सदाचार सम्पूर्ण प्राणियों के लिये उसी तरह सुव्यवस्थित है, जैसा कि आपके सद्गुरु के लिये, तो वह दिन दूर नहीं, जिस दिन राजस एवं तामस प्रकृति से ही क्यों, आप तो सात्त्विक प्रकृति से भी आगे ब्रह्मप्रकृति में प्रवेश कर जायेंगे। कहीं न कहीं आपसे अन्यथा दोष हो जाता है, तभी साधनाकाल में आपके लिये पेट बाधा बन जाता है, नींद बाधा बन जाती है, काम बाधा बन जाता है, क्रोध, लोभ, राग एवं द्वेष बाधा बन जाते हैं। संध्याओं में खाने से वह भोजन असुर का भोजन हो जाता है, उसमें असुर प्रवेश कर जाता है, अतः वह प्रसाद आसुरी प्रकृति–काम, क्रोध, राग, द्वेष, छल, कपट को देनेवाला हो जाता है, जो साधनापथ में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। अखाद्य पदार्थ को जब ब्रह्मचारी खाता है, साधक खाता है तो उसमें काम बस जाता है; क्योंकि वह असुरखाद्य है। अपनी प्रकृति को नहीं पहचानने से भी कि वातमय है, कफमय है या पित्तमय है– रोगों का उत्पात प्रारम्भ हो जाता है। किसके संसर्ग में रहना है, किसके संसर्ग में नहीं रहना है, कब सोना है, कब जागना है– यह भी देखना होता है, यही तो भगवान के शरणागत होना है। साधनाकाल में साधक नींद से घायल होते हैं लेकिन वे अपने भगवान से यह भी नहीं पूछते कि नींद क्यों आ रही है? हे प्रभु! या तो आप कारण बतायें या तो नींद को हटायें; क्योंकि आप नींद की भी आत्मा हैं। विचारों के आने पर आप अपने भगवान से यह भी

नहीं कहते कि हे प्रभु! आप तो विचार की भी आत्मा हैं, आपके आने की जगह विचार क्यों आ रहे हैं? मेरे खोजने से तो पता नहीं चल रहा है, अतः या तो आप कारण बतायें या तो विचार को हटाकर आप आयें। हे जगत्पते! न जप में मन लग रहा है, न तप में, न योग में और न ही ध्यान में, बैठा हूँ आपके लिये और आते हैं ये! ऐसा क्यों? आप तो भक्त का योग बन जाते हैं, जप बन जाते हैं, तप बन जाते हैं, ध्यान बन जाते हैं, फिर मेरे लिये आप मौन क्यों हैं?– ऐसी प्रार्थना करते रहें और फिर चमत्कार देखें। इसप्रकार की समर्पणरूप प्रार्थना करनेवाला साधक ही कालान्तर में तीनों गुणों पर शासन करनेवाला होकर परम शासक कहलाता है। चलें यह तो बाद की बात है, लेकिन इतना तो सत्य है कि आपका भगवान सृष्टिकर्ता, सृष्टिपालनकर्ता तथा सृष्टिसंहर्ता तीनों है। वह सृष्टि का प्रलय कर देता है, जिसने ऐसा देखा, उसने लिख दिया, प्रलय करने का समय भी दे दिया; जिसको पढ़ लिखकर भी आप जान नहीं पाते। ऐसा सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहर्ता भगवान सृष्टि का संहार पता नहीं कब करेगा लेकिन वह आपकी नींदरूप सृष्टि का तो आप जब चाहें तब प्रलय कर ही सकता है। नींद भी एक लोक है। वह सृष्टिसंहर्ता आपके राजस विचाररूप, तामस विचाररूप लोकों का भी तो सर्वनाश कर सकता है। जब आप अपने सात्त्विक, राजस एवं तामस लोक का संहार उस ब्रह्म से करायेंगे तो उस प्रलयंकारी दृश्य को देखते रह जायेंगे लेकिन जल्दबाजी भी मत करना अन्यथा आपकी बुद्धि में उत्पात मच जाएगा, आप सहन नहीं कर सकेंगे। साधक जब ध्यान में बैठता है, कुण्डलिनी शक्ति जागती है तो रोम–रोम काँप जाता है और कितने ही साधक भाग खड़े होते हैं, कितने विक्षिप्त–मूढ़ हो जाते हैं। उन्हें जानना चाहिये कि कहीं न कहीं उन्होंने जल्दबाजी की है, उनके तन, मन, वचन एवं बुद्धि में अवश्य ही कहीं न कहीं तामस एवं राजस प्रकृति का वास है तभी तो ब्रह्म की शक्ति नहीं पच पा रही। भगवान की शक्ति को देखकर तो असुर भागते हैं, वे ही विक्षिप्त, मूढ़ एवं पागल हो जाते हैं। नरसिंह भगवान को देखकर सभी भाग खड़े हुए थे लेकिन ब्रह्म प्रकृति से सम्पन्न महात्मा प्रह्लाद प्रेमपूर्वक दर्शन करते रह गये थे।

यहाँ बहुत से प्रश्न खड़े हो जाते हैं, उन प्रश्नों में से एक प्रश्न तो स्पष्ट ही है कि जो भगवान के लिये जीते हैं, उनके साथ प्रकृति का उत्पात क्यों होता है, क्या उन्हें भगवान का भक्त होने का भ्रम हो गया है? यदि हाँ तो उसे कैसे जाना जाय? भक्त एवं भक्ति में भी श्रेणियाँ हैं क्या? हाँ, क्यों नहीं, क्यों नहीं, इसी के उत्तर में तो भगवान कहते हैं–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी स भरतर्षभ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

हे भरतर्षभ! तुम मुझे भले ही भगवान मत मानो किन्तु इस जगत में आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी– ये चार प्रकार के भक्त मेरी भक्ति करते ही हैं; किन्तु उनमें भी ज्ञानी तो मेरी

आत्मा ही है पार्थ! क्योंकि वह सदा ही मेरे में प्रतिष्ठित है, उसे मेरी भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य की भक्ति करने की इच्छा स्वप्न में भी नहीं होती है। इसलिए मैं उसके लिये अति प्रिय हूँ, यही कारण है कि फिर मेरे लिये भी वह अतिशय प्रिय हो जाता है।

(चतुर्विधा भजन्ते मां.....) सुकृतिनः यानी पुण्यात्मा– पुण्य करते–करते पाप का अनुपात अंश मात्र रह गया है जिनका, वे ही पुण्यात्मा, आपत्तिकाल में भगवान को पुकारते हैं। जो इसप्रकार के पुण्यात्मा नहीं होते, वे आपत्तिकाल में अपने से बलवान को पुकारते हैं, माता–पिता, भाई–बान्धवों को पुकारते हैं, देवी–देवताओं को पुकारते हैं, वे वैसी स्थिति में भगवान को नहीं पुकारते। जिनके पाप की मात्रा विशेष होती है, उनमें भगवान को पुकारने की शक्ति–सामर्थ्य नहीं होती, अतः पुण्यात्मा पुरुष ही प्रथमावस्था में आर्त होते हैं। माँ द्रौपदी प्रथमावस्था में आर्त है, वह अजन्मा है, गर्भ से वह प्रकट नहीं हुई है, एक दिव्य अन्तरिक्ष से आयी हुई है। उसने पाँचों पाण्डवों को अपनी दिव्य शक्ति से ही पति के रूप में देख लिया था। जगत को दिखाने के लिये भरी सभा में वह आर्तनाद कर बैठती है, उसकी आर्तनाद में भगवान साड़ी बन जाते हैं, यह देखा गया है। इसके बाद तो वह भगवान की ही हो जाती है, बालों को बिखेर देती है, जैसे साधक बालों को बिखेर देते हैं, दाढ़ी–बाल नहीं कटाते, प्रतिज्ञा कर लेते हैं, तबतक श्रृंगार नहीं करते जबतक भगवान नहीं मिल जाते हैं। उसीप्रकार भगवती द्रौपदी कहती है कि जबतक असुरों का विनाश नहीं हो जाता तबतक बालों को बाँधूंगी ही नहीं। इसप्रकार भगवान से असुरों का विनाश करवा डालती है। वह कहती है– इस असुरलोक में मेरा भगवान के सिवा कोई भी नहीं है। जगत का कल्याण कराने के कारण से भगवान ने उसे कल्याणी कहकर पुकारा। अर्थार्थी भक्तों में भगवान के पास भक्त सुदामा स्मरण किये जाते हैं, जिनके लिये भगवान धन–सम्पत्ति बन गये थे, ऐश्वर्य एवं विभूति बन गये थे। भगवान के आत्मजिज्ञासु भक्तों में महात्मा अर्जुन प्रथमावस्था में प्रथम स्थान रखते हैं, जिनके माध्यम से आत्मज्ञान प्रदायिका गीताजी प्रकट हुई हैं अतः उन्हीं की तरह जितने भी आत्मजिज्ञासु हैं, उनको भी स्मरण किया जाता है; क्योंकि उन्हीं के कारण से सद्गुरु प्रकट होते हैं। महात्मा विदुर, महर्षि व्यास एवं गर्ग आदि ही ज्ञानी भक्त की श्रेणी में आयेंगे, जिन्हें किसीप्रकार की उपासना की आवश्यकता नहीं है तो भी चूँकि वे जानते थे कि निर्गुण निराकार ब्रह्म ही भगवान श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं, अतः उनकी सेवा–शुश्रूषा में वे लगे रहते थे। वन में रहनेवाले महर्षि व्यासजी ने स्वयं राजसूय यज्ञ में भगवान की अग्रपूजा का समर्थन किया था। अतः इसप्रकार के ज्ञानी भक्तों की प्रभु ही आत्मा हैं तथा प्रभु की वे आत्मा हैं।

साधकों को विचार करना चाहिये कि इन चारों भक्तों में से वे किस श्रेणी के भक्त हैं। यदि साधना के क्षेत्र में आने के उपरान्त विशेष साधकों की साधना देखकर ईर्ष्या होती है, यदि उनके विशुद्ध तप एवं त्याग को देखकर ईर्ष्या होती है, सद्गुरु के प्रति उनके समर्पण को देखकर ईर्ष्या होती है, उनकी रहनी–सहनी तथा आहार एवं व्यवहार को देखकर ईर्ष्या होती है तो आप जान लेना कि आप अर्थार्थी हैं, जिज्ञासु नहीं हैं। शरीर में रोग लग गया है, आप

स्वयं उस रोग के कारण से अपने–आप से घृणा कर बैठे हैं, जिस रोग से घर, परिवार, समाज घृणा कर रहा है, जो रोग जीवन जीने में बाधा बन गया है, ऐसा कोई घोर संकट आ गया है कि लाज जानेवाली है तो उन घोर आपत्ति–विपत्तियों से आप आर्तनाद कर बैठते हैं, यदि भगवान से उन्हीं संकटों से मुक्ति पाने की कामना करते हैं तो आप आर्तभक्त हैं, जिज्ञासु नहीं; ज्ञानी तो होने की बात ही नहीं है। चोर–डकैतों से घिर जाने के बाद यदि आप भगवान से रक्षा की भीख माँगते हैं तो आप आर्तभक्त हैं, जिज्ञासु नहीं। साधनाकाल में आप सुन्दर भोजन, सुन्दर वस्त्र तथा सुन्दर मकान चाहते हैं तो आप अर्थार्थी हैं, जिज्ञासु नहीं। इतना ही नहीं आप अपने लिये भोजन, वस्त्र और मकान माँगें या किसी अन्य के लिये तो भी आप अर्थार्थी ही कहे जायेंगे। उसीप्रकार आप भले ही दूसरे के घोर संकट के निवारण के लिये अपने इष्ट से प्रार्थना करते हैं तो आप आर्त कहे जायेंगे, जिज्ञासु नहीं। यदि चमत्कार दिखाकर लोक (जगत) को रिझाते हैं, तो आप अर्थार्थी ही कहे जायेंगे, आत्मजिज्ञासु नहीं। आप किसी भी युक्ति से भगवद्भक्तों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि आप संत हैं तो आप अर्थार्थी हैं, आत्मजिज्ञासु नहीं। आर्त और अर्थार्थी में कोई भेद नहीं होता, नाम मात्र का अन्तर होता है, उसकी आप अच्छीप्रकार से खोज कर लें; क्योंकि बिना इसकी अच्छीप्रकार से खोज किये आप अपने स्वरूप को नहीं जान पायेंगे कि आखिर मैं किस श्रेणी का भक्त हूँ। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, पुनः मैं कहाँ जाऊँगा, यह माया क्या है, जीव क्या है, ब्रह्म क्या है, बन्धन क्या है, मोक्ष क्या है? ऐसा प्रस्ताव यदि आप सद्गुरु के पास रखते हैं तो जिज्ञासु कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त आपने उससे कुछ पूछा तो आर्त और अर्थार्थी के घेरे में आ जायेंगे। उसीप्रकार यदि आपमें आर्तता तथा अर्थार्थी भाव नहीं है तथा आपने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया है, अपने–आपको आत्मा जानकर संन्यास ले लिया है तो आप ज्ञानी भक्त कहे जाते हैं। ठीक इसके विपरीत आप साध्वी माँ को छोड़कर संन्यास ले बैठे हैं, जो आपके वियोग में रोती होगी, कलपती होगी अथवा संतोष में जी रही होगी कि मेरा बेटा भगवान को लेकर आएगा और कहेगा कि माँ मैं भगवान को लेकर आ गया, भगवान को पा गया, तो भी यदि आप साधना में प्रमाद करते हैं तो उन्हीं असुरों की श्रेणी में आते हैं, जिन असुरों की बात भगवान कर रहे हैं। महात्मा प्रह्लाद ने घोर आपत्ति–विपत्ति में भी प्रभु से शरीररक्षा की भीख नहीं माँगी, तभी तो वे भगवान की आत्मा बन गये, इसलिए वे ज्ञानी की श्रेणी में आते हैं।

(तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त.....) ज्ञानीभक्त जिसने घर–बार छोड़ दिया है, भगवान ने तो उससे केवल मन ही माँगा है लेकिन वह तो घर–बार तथा घर–बारियों को छोड़कर अपना तन, मन सबकुछ दे देता है। जितना भगवान ज्ञानी से माँगता है, वह उतना ही नहीं देता, बल्कि वह कहता है कि शरीर से मन तो अलग है नहीं, इसलिए मन ही क्यों दूँ भगवान को? मन किसी पेड़ में नहीं लगा हुआ है कि फूल की तरह तोड़ा और भगवान को चढ़ा दिया, वह कोई पदार्थ नहीं है कि यहाँ से उठाया और वहाँ दे दिया। यद्यपि वे चाहे घर में रहें चाहे बाहर, कहीं भी भगवान का भजन कर सकते हैं, लेकिन संतोष उन्हें नहीं होता। वे कहते हैं कि घर में रहेंगे तो घर–बारियों का शासन हो जाएगा, जबकि हमारे शरीर पर किसी का शासन न होकर, किसी

का अधिकार न होकर एकमात्र भगवान का ही शासन एवं अधिकार हो– ऐसा सोचकर सर्वप्रथम वे घर–बार छोड़कर भगवान को ही अपने शरीर को भेंटकर देते हैं, कालान्तर में भगवान उनका मन अपने–आप ही ले लेता है। वे महत् बुद्धिवाले होते हैं, अतः चार प्रकार के भक्तों में से भगवान की ही आत्मा होते हैं। जो भगवान के लिये ही जीते हैं, भगवान के लिये खाते–पीते, सोते हैं, व्यवहार करते हैं, भगवान के लिये हँसते हैं, भगवान के लिये रोते हैं, इस जगत में उनका भगवान के सिवा कोई भी नहीं होता; अतः वे भगवान की ही आत्मा होते हैं। वे ही भगवान के जीवन हैं, वे ही भगवान के प्राण हैं, वे ही उनकी आँखें हैं, वे ही उनके अंग–प्रत्यंग हैं, वे ही उनके मन हैं, वे ही उनकी बुद्धि हैं, वे ज्ञानी ही उनके चित्त हैं। ठीक इसीप्रकार यदि साधक अपने मन तथा तन को भगवान को दे देते हैं तो वे उन ज्ञानियों में से एक हो जाते हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया है भगवान को। उससे बढ़कर कोई संन्यासी नहीं होता और न ही इससे अद्‌भुत कोई संन्यास होता है, जहाँ केवल आत्मा बचता है, केवल आत्मा बचता है। साधक भगवान की इस बात पर विचार करें।

भगवान मानो महात्मा अर्जुन से कह रहे हों कि हे पार्थ! मैं भक्तों के लिये अवतरित होता हूँ, गो की रक्षा के लिये अवतरित होता हूँ, दुराचारियों का हनन करने के लिये और भक्तों के अनुताप को दूर करने के लिये प्रकट होता हूँ। तुमने जीवनपर्यन्त वही किया है जो मैं करने आया था। यद्यपि तुम अपने को एक धर्मात्मा मानते रहे, पुण्यात्मा मानते रहे, किन्तु तुम्हारे द्वारा क्रिया एक ज्ञानी की हुई है।

भगवान का कहना सच है– कभी–कभार कोई धर्मपत्नी यह नहीं जान पाती कि मैं अपने धर्मपति की सेवा भगवान के लिये ही कर रही हूँ। वह इस जीवजगत में यह समझती है कि मेरा धर्म है पति की सेवा करना। अतः उसकी क्रिया भगवान के लिये हो जाती है, उसका धर्म इतना व्यापक हो जाता है, इतना व्यापक हो जाता है कि उससे पति तो पकड़ में नहीं आता है और न ही पति ही उसे पकड़ पाता है बल्कि भगवान ही उसे पकड़ लेता है। महाराज ने एक साध्वी एवं तपस्विनी माँ के जीवन को देखा है तथा उसकी साधना को भी देखा है। पति के साथ, बाल–बच्चों के साथ, परिवार के साथ, ग्रामवासियों के साथ, हित–नातेदारों के साथ भी उसके व्यवहार को देखा है। इन सब से जिसप्रकार वह अनासक्त होकर व्यवहार करती थी, वैसा व्यवहार तो एकमात्र ज्ञानी ही कर सकता है। उसने प्रथमावस्था में भगवान की प्राप्ति के लिये योग, जप, तप नहीं किया था, स्वाभाविक ही यह सब हुआ करता था; क्योंकि उसके पास कोई संन्यासी गुरु नहीं था, कुलगुरु, पुरोहित आदि घर पर आते थे, जैसी की परम्परा थी। स्वधर्म पालन में भी भगवत्कामना नहीं थी। सम्पूर्ण देवी–देवता मेरे पर प्रसन्न हों इस कामना से वह योग, जप, तप करती थी, लेकिन स्वधर्म का इतना सांगोपांग पालन किया इतना पालन किया कि भगवान ने उसको पकड़ लिया। भगवान ने उसको पकड़ लिया है, इसका प्रमाण उस समय मिला जब उसका पुत्र संन्यास ले रहा था तो उसने कहा था कि जाओ! तुम भगवान को वन में ढूँढो, मैं घर में ढूँढूँगी, आज से मैं भगवान के लिये जीऊँगी। सन् १९७४ में उसने कहा था

इस वाक्य को और सन् १९८० में उसके सामने देवतागण आकर बात करने लगे, वह सिद्धयोगिनी हो गयी, जिसे सिद्धसंतों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था। सन् १९८२ में सुषुम्ना भीतर–बाहर प्रकाशित हो गयी और उसका अधिष्ठाता देवता– गेरूवर्ण का प्रकाश (जो ब्रह्मज्योति कहलाता है) सामने आ गया। सर्वप्रथम वह आकाशमण्डल में अवतरित हुआ और सन् १९८३ में उसके निकट हो गया तथा उसके सामने से ओझल होता ही नहीं था। उसके उपरान्त वह ब्रह्मज्योति उसके लिये व्यापक हो गयी। सभी साधकों के पास प्रारम्भिक चरण में ऐसी घटना घटती है। किसी के सामने कभी–कभी लगता है कि टार्च जलने जैसा प्रकाश हो गया, किसी के सामने तारा चमकने जैसा प्रकाश हो जाता है, किन्हीं–किन्हीं लोगों के पास हरा, नीला, पीला प्रकाश आता–जाता दिखायी पड़ता है। वही प्रकाश आगे बढ़ने पर गेरूवर्णवाली ब्रह्मज्योति में विलीन हो जाता है तथा सर्वत्र व्यापक होते–होते ज्योतिर्मय समाधि का कारण बन जाता है। भगवान सर्वप्रथम सामान्यरूप में आता है भक्त को सन्तोष प्रदान करने के लिये। वह माँ उस ज्योतिर्मय ब्रह्म को एकटक देखती रहती थी। उसके पति यह देख कहते थे कि अजगर की तरह बैठी रहती है, पत्थर की चट्टान की तरह बैठी रहती है, इसे तो वनप्रदेश में चला जाना चाहिये; तो भी वह सम शान्त बनी रहती थी। उसका जप, तप, योग बढ़ता गया, कालान्तर में उसे ज्ञान हुआ। गाँव घर के लोग, हित–नातेदार उसे उकसाते थे कि आप कैसी माँ हैं, आपके वे संन्यासी बेटे तो आपका बड़ा आदर करते थे, फिर भी आपको उनके दर्शन की कामना नहीं होती। वह साध्वी माँ दो बूँद आँसू बहाकर उनका समर्थन कर देती थी, लेकिन भीतर से अतिसन्तुष्ट, अतिसन्तुष्ट, अतिसन्तुष्ट रहती थी। लोक व्यवहार में जो कुछ कहना चाहिये कह देती थी, मूर्खों के साथ मूर्ख तथा ज्ञानियों के साथ ज्ञानी बन जाती थी।

(तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त.....) भगवान जब कहते हैं कि आर्त, अर्थार्थी एवं जिज्ञासु–ये तीनों ही उदार भक्त हैं क्योंकि वे जो कुछ भी माँगना होता है मेरे से ही माँगते हैं और जगत के सम्पूर्ण सकामी भक्तों से भी भगवान से ही माँगने को कहते हैं, तो उनका कहना है कि पुत्र अपने पिता से नहीं माँगेगा, तो किससे माँगने जाएगा 'लेकिन इन तीनों भक्तों के उपरान्त जो चौथा ज्ञानी भक्त है, वह तो मेरी आत्मा ही है'– भगवान के ऐसे कथन से तो यही सिद्ध होता है कि अन्य जो तीन भक्त हैं, वे उनकी आत्मा नहीं हैं। फिर तो उदार की संज्ञा देने में विचार करना चाहिये? नहीं, नहीं ऐसा नहीं है, आर्त, अर्थार्थी एवं उदार भक्तों में से कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी भगवान से आर्तता पूरी होने पर, अर्थ पूरा होने पर, उदार तो बने लेकिन ज्ञानी न बन सके; जिसका परिणाम हुआ कि भगवान की वे आत्मा न हो सके। सुग्रीव उन्हीं भक्तों में से एक हैं, जिनका घोर–संकट भी समाप्त हुआ और राज्य भी प्राप्त हो गया। वे अपनी पूरी सेना समेत स्वयं भी भगवान के बहुत काम आये लेकिन उसके उपरान्त भी कल्याणी द्रौपदी, भक्त सुदामा एवं भक्त ग्राह की तरह वे सर्वथा भगवान के न हो सके, अतः न भगवान उनकी आत्मा बन पाया और न वे भगवान की आत्मा बन पाये। ऐसा देखा भी जाता है कि कोई पुत्रप्राप्ति के लिये अपने सद्गुरु या किसी संत के पास उनके कहे अनुसार जप, तप, योग करता है और उनसे वरदान स्वरूप पुत्र प्राप्त कर लेता है, लेकिन पुत्रप्राप्ति के उपरान्त पुनः भगवत् प्राप्ति के निमित्त वह

जप, तप, योग नहीं कर पाता। अतः संतमिलन की बात उसके लिये आयी–गयी सी होकर रह जाती है। न वह संत की आत्मा बन पाता है, न संत उसकी आत्मा बन पाता है। जो आर्त एवं अर्थार्थी भक्त हैं, वे जबतक ब्रह्मजिज्ञासु नहीं बन जाते, तबतक तो ज्ञानी भक्त बनने का प्रसंग ही नहीं है। अतः एकमात्र उदार भक्त बनने से ही कोई भगवान की आत्मा तो नहीं बन सकता। अरे! आत्मा बनना तो दूर सुग्रीव की जब आर्तता दूर हो गयी, अर्थ की प्राप्ति हो गयी तो उसने तो भगवान को ही भुला दिया; वह तो भगवान के डराने–धमकाने से पुनः अपने रास्ते पर आया। इसलिए भगवान किसी भी सकामी भक्त को निष्कामी भक्त की श्रेणी में नहीं लाते। इसलिए वे ज्ञानी भक्त को अपनी आत्मा कहने में संकोच नहीं करते, भले ही आर्त एवं अर्थार्थी भक्त को भगवान का ऐसा कहना अच्छा न लगे। भगवान की पूजा करना और भगवान का बन जाना, इसमें आकाश–पाताल का अन्तर है, उसीप्रकार भगवान से कुछ अपने लिये चाहना और भगवान से भगवान के लिये चाहना इस बात में भी आकाश–पाताल का अन्तर है। जिस आर्त की आर्तता भगवान से पूरी हो जाती है और वह फिर भगवान को भूल जाता है तो फिर भक्त कैसा? वह तो आमलोगों की जगह ही खड़ा हो जाता है, जबतक भगवान की भक्ति करता था घोर संकट से मुक्ति पाने के लिये, तबतक भक्त कहलाता था। उसके उपरान्त तो भक्त भी क्यों कहलाएगा? यह कैसी भक्ति है कि काम पड़ा तो भगवान याद आया और काम निकल गया तो बाल–बच्चे ही याद आते रह गये? इसी से तो भगवान ने अगले मंत्र में कहा है–

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

हे पार्थ! यद्यपि ये सभी उदार भक्त ही हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है– ऐसा मेरा मत है; क्योंकि तन, मन, बुद्धि, चित्त को मुझे ही देनेवाला ज्ञानीभक्त उत्तमात्युत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छीप्रकार स्थित है। इसप्रकार बहुत जन्मों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुआ पुरुष सबकुछ वासुदेव ही है– ऐसा ही मान एवं जानकर मेरे लिये ही जीवन जीने लगता है। हे पार्थ! इसप्रकार का महात्मा तो इस जगत में अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान मानो महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि उन ज्ञानी भक्तों के समान ही आज तुम भी अपने तन, मन, वचन, हृदय को मुझे दे दो तो उन्हीं सर्वस्व अर्पण करनेवाले ज्ञानियों में से एक हो जाओगे। इसप्रकार के संन्यास से बढ़कर तो कोई संन्यास होता नहीं। यदि तुम मेरा कहा हुआ मान लेते हो तो आज तुम मेरी आत्मा बन जाते हो और मैं तुम्हारी आत्मा बन जाता हूँ। मेरी आत्मा बन जाना, जीवन को दाव पर लगा देने के उपरान्त होता है। जीवन को दाव पर लगाना तो हे पार्थ! बहुत जन्मों के उपरान्त अन्तिम जन्म में होता है। तुम ऐसा क्यों नहीं मानते हो कि तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है।

(उदाराः सर्व एवैते.....) यद्यपि आर्त तथा अर्थार्थी भक्त भी उदार हैं, लेकिन ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है– ऐसा कहकर भगवान ने आर्त तथा अर्थार्थी को भी बहुत महत्त्व दे दिया है। उनकी दृष्टि में वे कम से कम उन्हीं (भगवान) को तो अपना माता–पिता, भाई–बान्धव मान रहे हैं, तभी तो उन्हीं के शरणागत होते हैं। घोर संकट से मुक्ति पाने के लिये, धन, मान, सम्मान पाने के लिये वे देवी–देवता तथा तंत्र–मंत्र का आश्रय नहीं लेते, इसलिए वे उदार भक्तों की श्रेणी में आते हैं। ज्ञानी तो उनकी आत्मा हैं ही यानी प्राण हैं ही लेकिन भगवान का भी केवल प्राण से ही काम चलनेवाला नहीं है, उन्हें भी आँख चाहिये, कान चाहिये, जिह्वा चाहिये, हाथ–पाँव आदि भी चाहिये। अतः इन्हीं आर्त तथा अर्थार्थियों में कोई तो उनकी आँख, कान, नाक तथा जिह्वा बन जाते हैं तथा कोई हाथ–पाँव आदि बन जाते हैं। जैसे जिज्ञासु इनके कान है, अर्थार्थी इनकी जिह्वा हैं, आर्त इनकी नाक हैं। अतः ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य तीनों भी उदार हैं। कोई ज्ञानी को उदार की ही श्रेणी में न रख ले; क्योंकि वह तो भगवान की आत्मा है, अतः परम उदार है। आर्त, अर्थार्थी तथा जिज्ञासु ये उदार इसलिये भी हैं क्योंकि उनसे जगत को संदेशरूप उपदेश भी मिलता है कि देवी–देवताओं से, तंत्र–मंत्रों से क्या माँगना; क्योंकि वे देवी–देवता तो स्वयं भगवान से शक्ति माँगकर शक्तिमान होते हैं, अतः भगवान से ही क्यों नहीं माँगते। दूसरी बात यह भी कहते हैं कि देवी–देवताओं तथा तंत्र–मंत्रों की तो सीमित शक्ति होती है; वे ब्रह्महत्या के पाप से तो आपको मुक्त नहीं कर सकते? क्योंकि उन्हें भी जब ब्रह्महत्या का पाप लग जाता है, फिर तो भगवान की शरण में ही आना पड़ता है। आप सब शास्त्रों से तो जानते ही हैं कि इन्द्र बहुत बार ब्रह्महत्या के पाप से दूषित हुए हैं, जिन्हें उस पाप के परिणामरूप दुःख को भोगना ही पड़ा है या फिर भगवान की शरण जाना पड़ा है। ब्रह्महत्या के पाप से तो एकमात्र भगवान ही रक्षा कर सकते हैं। सर्वविदित है कि भक्त सुदामा जैसे वेदज्ञ भक्त ने भी शास्त्रों, पुराणों, वेदों, मंत्रों, देवी–देवताओं तथा लक्ष्मी की सिद्धि करने की आवश्यकता को छोड़कर भगवान की शरणागति ले ली, क्योंकि वे जानते थे कि ब्रह्महत्या से प्राप्त दरिद्रता लक्ष्मीसिद्धि होने ही नहीं देगी, अतः वे भगवान के शरणागत हो गये। भगवान के पास याचक होते ही वे धन, धान्य, वैभव से सम्पन्न हो गये। इतना ही नहीं, उन उदारमना भक्त ने यह भी संदेश दिया कि भगवान से प्राप्त हुई लक्ष्मी (धन–सम्पत्ति, मान–सम्मान तथा ऐश्वर्य) भगवान की तरफ ही ले जाती है, वह विषयी नहीं बनने देती। भगवान के द्वारा दिया हुआ अन्न, वस्त्र, मकान, भगवान का ही प्रसाद है। अतः वह उसे प्रसादरूप में ग्रहण करने की प्रेरणा देगा और योग, जप, तप ही करायेगा तथा कालान्तर में ज्ञानीभक्त बनाकर अपवर्ग (मोक्ष) दे देगा।

गज–ग्राह का युद्ध हुआ है तथा ग्राह का वधकर प्रभु ने गज को मुक्ति दी है– ये सभी जानते हैं। अतः गज जो आर्त भक्तों की श्रेणी में आता है, उसने संदेशरूप उपदेश दिया कि यदि मेरी तरह प्राणघातक संकट आ जाय तो संन्यास लेने का संकल्प ले लेना, वैसी अवस्था में संन्यास लेने का संकल्प करते ही वह संकट आपको छोड़ देगा और यदि वह नहीं छोड़ता तो भगवान का चक्र उसका वध कर देगा; क्योंकि संन्यासी किसी के मारने से नहीं मर सकता अर्थात् उसे कोई मार नहीं सकता। अस्त्र–शस्त्र, जल, अग्नि, वायु आदि कोई भी उसका

बाल–बाँका नहीं कर सकते, वध करना तो दूर ही रहा– 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि.....।'

सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु आदि आत्मजिज्ञासुओं की श्रेणी में आते हैं, जो सद्गुरु के निकट उनके आश्रित रहने को तबतक कहते हैं, जबतक कि उनसे आत्मज्ञानरूप वरदान न मिल जाय। वे कहते हैं कि एकमात्र सद्गुरु की प्रसन्नता ही आत्मज्ञान में हेतु है, अतः अपने प्राणों को दाव पर लगाकर भी उसे प्रसन्न करना चाहिये। इसप्रकार ये सब भी उदार हैं। उदार वह है जो बाँटता रहता है, जो जीता है भगवान के लिये लेकिन आदर्श बनता है जगत का, वह भगवान की शक्ति–सामर्थ्य का दर्शन कराता है। यदि आर्त, अर्थार्थी न हों तो भगवान को कोई जाने–पहचाने ही नहीं, अतः प्रभु ने उन्हें उदार कहा। रामचरितमानस में भी कहा गया है कि *'जिमिउदार गृह याचक भीरा'* अर्थात् उदार के घर याचकों की भीड़ लगी रहती है। सच में आज भगवती द्रौपदी, सुदामा, ग्राह आदि भक्तों की कथा घर–घर में गायी जाती है तथा आरुणि, उपमन्यु, सत्यकाम, शबरी, मीरा आदि आत्मजिज्ञासु तो ब्रह्मचर्याश्रम की आत्मा ही हैं। ब्रह्मचारीगण इन्हीं आत्मजिज्ञासु ब्रह्मचारियों के चरित्र से अपना आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त करते हैं।

भगवान ने एक प्रश्न का उत्तर भी दिया है 'ज्ञानी मेरी आत्मा है', ऐसा कहकर। पूर्व में अर्जुन ने पूछा है कि ज्ञान श्रेष्ठ है या कर्म तो भगवान कर्मयोग की श्रेष्ठता का बखान करते–करते अब ज्ञान योग की प्रशंसा पर उतर आये हैं। वे कहना चाहते हैं कि ज्ञानयोग तो अतिश्रेष्ठ, अतिश्रेष्ठ है, उसकी श्रेष्ठता का बखान किया ही नहीं जा सकता। कर्म और ज्ञान में कनिष्ठ और श्रेष्ठ की बात तो भक्त के भाव के अनुसार ही कही जाती है। यदि महात्मा अर्जुन 'ज्ञान और कर्म में श्रेष्ठ कौन है?'– ऐसा प्रश्न नहीं करते तो प्रभु ज्ञानयोग को साधना की संज्ञा नहीं देते। यदि कोई कहता है कि रामचरितमानस में भी कहा गया है–

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहीं बारा।।
(उत्तरकाण्ड)

अर्थात् ज्ञान मार्ग तो तलवार की धार पर चलने जैसा है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ज्ञानयोग कोई साधना नहीं है? यदि आप गोस्वामी तुलसीदासजी की बात करते हैं तो उन्होंने ही तो लिखा है कि *'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'* अरे! गोस्वामीजी क्या कहते हैं, क्या नहीं कहते हैं, पहले आप गोस्वामीजी बन जायें फिर तो आप जान ही जायेंगे। चाहे गोस्वामीजी हों, चाहे कोई भी संत हों, वे पात्र की योग्यता तथा प्रसंगानुसार ही किसी विषयवस्तु की प्रस्तावना करते हैं। अरे! जिसने सद्गुरु को सगुण ब्रह्म के रूप में देख लिया और स्वयं को निर्गुण निराकार मान लिया तथा सद्गुरु के अनुसार ही अपने तन, मन, वचन से कर्म होने दिया तो वह क्या साधना कर रहा है– ऐसा कहा जायेगा? ऐसा कौन मूर्ख कहेगा? जब महात्मा अर्जुन ने स्पष्ट कह दिया कि मैं आत्मा हूँ, मुझे अपनी आत्मस्मृति प्राप्त हो गयी, उसके उपरान्त उनके तन, मन, वचन से किया हुआ युद्ध क्या युद्धरूप कर्म कहा जाएगा? नहीं, नहीं, नहीं, ज्ञानी के लिये कर्म तो एक विनोद है, उसके लिये कर्म एक खेल है– ऐसा ही मानना चाहिये।

(ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्.....) सद्गुरु ही ब्रह्म है जिसकी दृष्टि में, तो एकमात्र इस दृष्टि से ही उसका समाधान हो जाता है, अर्थात् वह ज्ञानीभक्त उत्तमात्युत्तम गति को प्राप्त कर जाता है– मानो भगवान यहाँ इसी बात का संकेत कर रहे हैं। वे इस बात का भी संकेत कर रहे हैं कि वह ज्ञानी भक्त उसी दिन उत्तमात्युत्तम गति को प्राप्त होता है, जिस दिन मध्यमगति, अधमगति, अधमाति अधमगति को छोड़कर गुरुदेव के शरणागत होता है। यदि गृहस्थाश्रम में साधक के माता–पिता, भाई–बान्धव तथा स्वजन, आसुरी, राक्षसी, स्वभाववाले हैं तो वह गृहस्थाश्रम ही असुरलोक है। अतः यदि साधक उन सबको छोड़कर सद्गुरु के शरणागत होता है तो यह माना जाएगा कि वह साधक असुरलोक को छोड़कर उत्तमात्युत्तम गति स्वरूप सद्गुरु को प्राप्त हो गया है। जिस साधक के माता–पिता, भाई–बांधव, स्वजन आदि अति दरिद्र, अति दीन हैं, जिनका उदर (पेट) बहुत कर्म करने पर भी नहीं भरता तथा इतना होने पर भी उनमें भक्तिभाव नहीं जगता तो वे नरकलोक के प्राणी हैं। अतः वैसी स्थिति से आया हुआ साधक माना जाएगा कि वह नरकलोक से, अधमगति से आकर सद्गुरुलोकरूप उत्तमात्युत्तम गति को प्राप्त हो गया है। जो साधक सुखी–सम्पन्न घर से आया है, जिसके माता–पिता, दादा–दादी एवं अन्य स्वजन भी भक्तिभाव से सम्पन्न हैं, वह निश्चित ही स्वर्गलोक से आकर सद्गुरुलोकरूप उत्तमात्युत्तम गति को प्राप्त हो गया है। इसप्रकार जब बाहर से सद्गुरु में ब्रह्मभावना हो गयी है तो परमगति प्राप्त करने से उसे कोई रोक नहीं सकता। वह ज्ञानी भक्त भगवान में ही अच्छीप्रकार से स्थित है, इसलिए कि अहर्निश उसके तन, मन, वचन, हृदय से ज्ञानमय कर्म एवं ज्ञानमय आचार, विचार, व्यवहार ही प्रकट होते रहते हैं। वह भगवान की तरह ही फिर सबके लिये जीने लगता है, भले ही उसके पास कोई आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु ही क्यों न आवे। वह सबके बीच ज्ञान, ध्यान, विज्ञान बिखेरता रहता है, बाँटता रहता है, वह उसमें कंजूसी नहीं करता, चाहता है सारे लोग इस परमानन्द एवं परम शान्ति को प्राप्त करें। वह कहता है–

खर्चे नहीं कोई चोर न लूटे, दिन दिन बढ़त सवायो।
पायो जी मैंने राम रतन धन पायो.....।।
(मीराबाई)

इसप्रकार भगवान साधकों एवं भक्तों से कहते हैं कि यदि मेरी आत्मा बनना है तो सर्वप्रथम वे ज्ञानयोगी बनें; क्योंकि 'ज्ञानी ही मेरी आत्मा होता है।' इसके लिये वे सद्गुरु के यहाँ ही बसेरा करें, उसका दिया हुआ प्रसाद पायें, उसी का दिया हुआ वस्त्र लपेटें, उसी के दिये हुए आसन पर बैठें, उसी के सिद्धान्त का श्रवण करें, मनन, चिंतन एवं निदिध्यासन करें। अब उस ज्ञानी भक्त का स्तवन करते हुए भगवान कहते हैं–

(बहूनां जन्मनामन्ते.....) इसप्रकार परमगति की कामनावाला जो सद्गुरु को ब्रह्मरूप में 'सर्वाहमस्मि' देख रहा है, उससे सद्गुरु ने कह दिया– 'सर्वाहमस्मि'– सबकुछ मैं ही हूँ अथवा 'सर्वं ब्रह्म'– सब ब्रह्म ही है अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि'– मैं ब्रह्म ही हूँ अथवा 'तत्त्वमसि'– तू ही तू है, जो मैं हूँ वही तुम हो अथवा 'अयमात्मा ब्रह्म'– यह जो आत्मा है, वही ब्रह्म है अथवा

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'– यहाँ ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है अथवा 'ब्रह्म इत्थं इत्थं इत्थं'– यह सब ब्रह्म ही है, सब कुछ ब्रह्म ही है की दीक्षा लेकर ब्रह्ममय हो जाता है। अतः जो सबको ब्रह्मरूप में ही देखता है, ऐसा ज्ञानी भक्त इस जीवजगत में दुर्लभ ही है।

भगवान अपने शिष्य से ज्ञान को विज्ञान के साथ कहते–कहते अब ज्ञानमयभक्तिपथ से बोल रहे हैं। प्रभु ने यहाँ दुराव नहीं किया, कुछ भी नहीं छिपाया, भलीभाँति अपने को प्रकट कर दिया। मानो वे कह रहे हैं कि यह जो पक्ष–विपक्ष दिखायी पड़ रहा है, यह तो ऊपर–ऊपर से दिखायी पड़ रहा है, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि इस पक्ष–विपक्ष के रूप में मैं ही खड़ा हूँ। ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन ने जो कि अब जिज्ञासु हो गये हैं, प्रभु की तरफ देखा, मानो वे समर्पित होकर कह रहे हों कि हे प्रभु! इन सारे रूपों में आप ही हैं, ये सब कृष्णमय ही हैं! भगवान श्रीकृष्ण का एक नाम वासुदेव भी है, सारा जगत जिसमें वास करता है, उसे वासुदेव कहते हैं। प्रभु मानो कह रहे हैं कि तुम युद्ध करो, मैं कब कहता हूँ; लेकिन दिखायी पड़ रहा हो मेरे कहने से कि सब ओर मैं ही हूँ, सबका जीवन, सबकी आत्मा, सबका प्राण, सबका रूप मैं ही हूँ, एक से अनेक मैं ही हुआ हूँ तब तो मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि तुम युद्ध करो। अब इन रूपों में हे पार्थ! मैं नहीं रहना चाहता, किसी कारण से मैंने यह दिव्य लीला स्वीकार की है।

पृथ्वी में से शुभ और अशुभ पदार्थ भी प्रकट होते हैं, फूल और काँटे भी प्रकट होते हैं। फूल एवं काँटे पृथ्वी के ही रूप होते हैं, वे पृथ्वी से भिन्न नहीं होते। उसीप्रकार दुरात्मा और महात्मा, प्रभु के ही दो रूप हैं, जो प्रभु के संकल्प से ही प्रकट होते हैं। 'अर्जुन किसका वध करेंगे? यह वध नहीं होगा, यह तो एक क्रीड़ा होगी; जो बाणों की होली से की जाएगी।' होली के अवसर को छोड़कर यदि किसी दूसरे से किसी व्यक्ति के चमकते हुए वस्त्र पर रंग के छींटे पड़ जायँ तो वह चिढ़ जाता है, एक गन्दा छींटा भी पड़ जाय तो चिढ़ जाता है। कोई नया वस्त्र पहनकर जा रहा हो और साइकिलवाले से छलकती हुई मिट्टी उसके वस्त्र पर पड़ जाय तो वह आग–बबूला हो जाता है, कहता है– होश में चलाओ साइकिल, होश में चलाओ। किन्तु यदि वही होली का अवसर हो और उन वस्त्रों पर वैसा रंग जो कभी छूटे ही नहीं डाला जाय तो लोगों के पास वहाँ हँसने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं बचता, प्रसन्न होना ही वहाँ धर्म हो जाता है चाहे उस कपड़े को जलाना ही क्यों न पड़े, फेंकना ही क्यों न पड़े। उसीप्रकार यह अद्भुत होली है जो बाणों से खेली जाएगी और अर्जुन होली खेलेंगे तथा भगवान द्रष्टा बनेंगे। होली देखनेवाले भी बताते हैं– देखो, देखो! वह भाग रहा है, उसपर रंग डालो, उसपर रंग डालो! भगवान ने तो होली खेल ही ली है, किसी ने सुना होगा और यदि नहीं सुना हो तो सुन ले– 'प्रभु ने एक बार भगवतीस्वरूपा गोपियों का आवाहन किया। शरद पूर्णिमा की उस अर्धरात्रि को जब सब गोपियाँ आ गयीं, तब प्रभु ने वहाँ रासलीला प्रारम्भ की। वे दो गोपियों के बीच में कृष्णरूप से ही प्रकट होते गये तथा सम्पूर्ण गोपियों के बीच वे प्रकट होकर दोनों तरफ गोपियों के हाथ में हाथ डाले हुए उन गोपियों के साथ अद्भुत नृत्य करने लगे। उस अद्भुत महारास को देखने के लिये अन्तरिक्ष में सिद्ध, महर्षियों एवं देवताओं का जमघट लग गया। प्रभु की उस

दिव्य रासलीला को देखते–देखते भगवान शंकर से रहा न गया, अतः वे भी एक गोपी का रूप बनाकर महारास में सम्मिलित हो गये। वे नृत्य करते–करते इतने आत्मविभोर हो गये कि अपने वास्तविक स्वरूप में आकर ताण्डव नृत्य करने लगे। वे नृत्य करते–करते इतने मग्न हो गये कि अपने शिवस्वरूप को भी भूल गये और कृष्णरूप हो गये तब देखा कि यहाँ तो गोपियाँ हैं ही नहीं, अपितु सर्वत्र मैं कृष्ण ही कृष्ण विद्यमान हूँ। कुछ काल के उपरान्त जब प्रभु ने अपने स्वरूप को पृथक् करके अपनी दिव्य बाँसुरी से ब्रह्मराग गायी, तो सब पूर्ववत् हो गया।' ऐसा ही इस समय दृश्य बना हुआ है– सबमें द्वारिकाधीश हैं, सबमें कृष्ण हैं, सबमें अर्जुन के सद्गुरु हैं, जिन्हें उन्होंने अपना सामान्य गुरु बना रखा है, इसे महर्षिगण देख रहे हैं। एक बार किसी को वह आँख मिल जाय तो देखेगा कि यहाँ कोई है ही नहीं मेरे सिवा।

इसीप्रकार साधकों को दिव्य होली खेलनी है, यह आध्यात्मिक होली है, जहाँ न कोई मरता है, न कोई जीता है; जीने–मरने का भ्रम हो जाता है। समुद्र से लहरें प्रकट होती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं, भले चंचल जल का नाम लहर हो और रूप भी पृथक् दिखाई पड़े, लेकिन जल के मौलिक स्वरूप में किसीप्रकार का विकार नहीं दिखायी पड़ता। एक होकर भी भगवान बहुत रूपों में हो गये हैं, इसी से तो बहुत प्रकार की क्रियायें भी हो गयी हैं। शकुनि ने कहा था कि दुर्योधन! यह मत भूलो कि इस पूरे विश्व में जूए की सारी कलायें श्रीकृष्ण के पास हैं, उसका एक अंश मेरे पास है, उस एक अंश से ही आज मैं युधिष्ठिर को पराजित करूँगा। वही अद्भुत जुआरी अर्जुन के जूए पर बैठा हुआ है (यह जूआ रथ में जुते हुए घोड़ों के कन्धे पर होता है) तथा साधक यह न भूलें कि वही जुआरी सद्गुरुरूप में साधक के जीवनरथ पर भी बैठा हुआ है। अतः लगायें, लगायें, दाव पर लगायें, अपने जीवन को ही दाव पर लगा दें; फिर उसकी क्रीड़ा को देखें, उसके जूए को देखें, महारास को देखें, महारासमय दिव्य होली को देखें। 'स महात्मा सुदुर्लभः'– वह दुर्लभ महात्मा आप ही बन जायँ।

बहुत से जन्मों से भगवत्प्राप्ति के निमित्त जप, तप, योगादि करता हुआ साधक भगवत्रूप ही हो जाता है, वह स्पष्टरूप से देखता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं, माया उसे दिखायी ही नहीं पड़ती। अज्ञानियों के साथ ठीक इसके विपरीत होता है, उन्हें अपने स्वजनों के अतिरिक्त कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता। साधकों को इस मंत्र पर विशेष विचार करना है। यह प्रभु का मंत्र है– 'वासुदेवः सर्वं– सब ब्रह्म ही है', तो फिर क्या पाना क्या खोना। अर्थात् ब्रह्म जो पाया हुआ है, उसकी अनुभूति हो जाना– यही इसका आशय है।

जगन्नाथपुरी में एक सिद्ध संत रहते थे। एक दिन चौराहे पर वे कुत्ते की पीठ पर बैठ गये तथा उसी पर बैठे–बैठे वे रोटी पाने लगे। यह देख लोग हँसने लगे; तब उन्होंने कहा–

विष्णु बैठा विष्णु पर वह विष्णु को ही खा रहा।
अद्भुत बना यह दृश्य जिस पर विष्णु हँसता जा रहा।।

अतः जब साधन और साध्य तथा साधक, तीनों ब्रह्मरूप ही दिखायी पड़ने लगते हैं तब

जीवन सार्थक माना जाता है। जिसप्रकार लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर, उसकी प्राप्ति के साधन त्याग दिये जाते हैं, उसीप्रकार जिन्हें सब ब्रह्म ही दिखायी पड़ रहा हो, उनके लिये ब्रह्मदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई साधना नहीं रह जाती। महाराज के गुरुदेव ने भी साधकों को चिन्तन देते हुए कहा है–

अद्‌भुत रूप बना तेरे स्वामी जित देखूँ तित तू ही तू।
पितृभाव से पिता कहाते मातृभाव से माता तू।।
पुत्रभाव से पुत्र कहाते भ्रातृभाव से भ्राता तू।
पत्नी भाव से पत्नी कहाते पतिभाव से भर्ता तू।।
धर्मात्मा तू धर्म धरे तो कर्म करे तो कर्ता तू।
लोभ करे तो लोभी कहाते क्रोध करे तो क्रोधी तू।।
क्षोभ करे तो क्षोभी कहाते डाले विघ्न विरोधी तू।
भजन करे तो भक्त कहाते योग करे तो योगी तू।।
तप करे तो तपी कहाते अनासक्त हो वियोगी तू।
चोरी करे तो चोर कहाते छल करने से छलिया तू।।
साधु बनकर साधु कहाते मर्म बुझाय पहेलिया तू।
इत्यादि.....

किसी भक्त एवं साधक की ऐसी महत् स्थिति क्यों नहीं हो पा रही है, इसके विषय में भगवान अगले मंत्रों से कह रहे हैं–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

हे पार्थ! नानाप्रकार के भोगों की कामना से जिनका चित्त अपहरण कर लिया गया है वे मेरी उपासना नहीं कर पाते, फिर मैं क्या करूँ मुझे दया आ जाती है और उनके लिये देवी–देवता ही बन जाता हूँ; क्योंकि वे जल्दी में होते हैं। जल्दबाजी में होने के कारण से मेरी उपासना क्यों करेंगे, क्योंकि मेरी उपासना की सिद्धि तो लम्बे काल की अपेक्षा रखती है। अतः

उनके लिये देवता बनकर उनमें देवश्रद्धा भी भर देता हूँ, देवी बनकर देवीश्रद्धा भर देता हूँ; क्योंकि श्रद्धा भी मैं ही हूँ, अतः मैं वहाँ उनके लिये देवीश्रद्धा, देवश्रद्धा, पितृश्रद्धा, तंत्रश्रद्धा, मंत्रश्रद्धा भी बन जाता हूँ। उसके उपरान्त वे प्रकृति के नियमों से आबद्ध हुए मेरी दी हुई श्रद्धा से देवी–देवताओं की उपासना करते हैं, जिन देवी–देवताओं के रूप में मैं ही प्रकट हूँ। मेरा ऐसा नियम है कि जो जिस देवी–देवता की उपासना करना चाहता है, आराधना करना चाहता है तो मैं उस देवी–देवता का रूप बनाकर उनमें ही उसकी श्रद्धा प्रकट कर देता हूँ और मैं उससे अलग हट जाता हूँ। इतना ही नहीं, वे उस नियम तथा श्रद्धा के द्वारा उपासना कर अपनी कामनाओं को प्राप्त कर लेते हैं; जबकि उनकी कामनाओं को मैं ही पूरा करता हूँ, किन्तु वे समझते हैं कि मेरी कामना अमुक देवी–देवता ने पूरी की। लेकिन वे इस बात को नहीं जान पाते कि उन देवी–देवताओं के द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वह क्षणिक होता है, क्योंकि जब देवता ही क्षणिक हैं तो उनके द्वारा दिया हुआ फल स्थायी कैसे होगा। ठीक इसके विपरीत मेरे भक्त इस रहस्य को जानकर मेरे को ही प्राप्त कर लेते हैं।

प्रभु ने इस अध्याय में एक विलक्षण बात कही, वह यह कि तंत्र से जो सिद्धि मिलती है, वह तंत्रदेवता बनकर प्रभु ही देते हैं, लेकिन वह मूर्ख समझता है कि तंत्र देवता प्रसन्न हो गया है; यही बात मंत्र, तप और योगादि सिद्धि की है। मंत्र, जप, तप, योग सिद्ध होने पर वह साधक समझता है कि मेरी क्रिया सिद्ध हो गयी, जबकि उस मूर्ख को जानना चाहिये कि उस ब्रह्म में अलग से जप, तप, योग कहाँ से आ गया। वह क्या जाने कि नानाप्रकार की क्षुद्रकामनाओं से उसके ज्ञान पर पर्दा पड़ गया है, इसलिए उसे कुछ का कुछ दिखायी पड़ता है, जैसे विश्वामित्र के लिये भगवान गायत्री बन गये। दशम् अध्याय में स्वयं भगवान ने स्पष्ट कहा है– 'गायत्री छन्दसामहं' अर्थात् 'गायत्री कोई मंत्र या देवी नहीं है बल्कि मैं ही गायत्री के रूप में प्रकट हुआ हूँ।' लेकिन गुरुविरोध के कारण भगवान उनकी तपस्या का फल गायत्रीरूप बन गये, उनके लिये वे गायत्रीरूप में हननकर्ता बन गये। वह यह कि उन्होंने राजर्षिपद पा लिया, उसके आगे बढ़ने पर महर्षिपद पा लिया लेकिन ब्रह्मर्षिपद नहीं पाया। गायत्री बनकर भगवान ने उनके मन का अपहरण कर लिया, अतः उनमें महत् अज्ञानता समा गयी और उन्होंने सोचा कि यदि वसिष्ठ के कहने से ही मैं ब्रह्मर्षि कहलाऊँगा तो आज मैं वसिष्ठ का ही वध कर दूँगा, न बाँस रहेगा और न बाँसुरी बजेगी! तब तो ब्रह्माजी को मुझे ब्रह्मर्षि कहना ही पड़ेगा। इसका एकमात्र कारण था कि उन्होंने गायत्री मंत्र को एकमात्र देवी के रूप में देखा, ब्रह्म के रूप में नहीं। वे यह नहीं जान पाये कि गायत्री मंत्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की आत्मा है, जिसका परिणाम हुआ कि बुद्धि मारी गयी और उन्हें मुँह की खानी पड़ी। भस्मासुर, भगवान शंकर से वरदान पाकर भगवान शंकर का हननकर्ता हो गया। उसीप्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की आत्मा गायत्री मंत्र को पाकर वे (विश्वामित्र), ब्रह्मर्षि वसिष्ठ को ही मारने चल पड़े। जबकि मारना तो दूर रहा, वे स्वयं मर गये अर्थात् उनका अहंकार मर गया।

(यो यो यां यां तनुं भक्तः.....) जो जिस देवता की उपासना करते हैं या करना चाहते हैं, मैं उनके लिये उसी देवता में शक्ति भर देता हूँ; जिस शक्ति को वे प्रसन्न होकर उन्हें वरदान

के रूप में देते हैं। इसी से महात्मा प्रह्लाद ने कहा था– 'हममें तुममें खड्ग खम्भ में घट घट व्यापे राम' अर्थात् 'मेरा राम पत्थर में भी बसता है, मेरा राम जल में, अग्नि में, वायु में, आकाश में सर्वत्र रहता है' और ऐसा उन्होंने दिखा भी दिया। उन्होंने इस रहस्य को भलीभाँति जान लिया था कि पिता हिरण्यकशिपु के पास जो तंत्र, मंत्र, योग, जप, तप की सिद्धि थी, वह तो भगवान की ही सिद्धि थी। भगवान ने ही ब्रह्मा बनकर इनको वरदान दिया था, अतः भगवान के सामने उन्हीं की शक्ति मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं पायेगी।

पुष्करानन्द ने कहा– गुरुमंत्र नहीं दिया आपने सवेरे? महाराज ने कहा– 'माँगा नहीं आपने, आपने तो कहा था– जनेऊ संस्कार कर देंगे? महाराज ने कहा था– कर देंगे।' उन्होंने कहा– तो मैं तो जानता था कि आप गुरुमंत्र देंगे, तो क्या यह गुरुमंत्र नहीं है? महाराज ने कहा– 'नहीं, यह गुरुमंत्र तो है, लेकिन आपकी दृष्टि में ब्रह्म अलग है, गायत्री अलग है अर्थात् गायत्री मंत्र अलग है और ब्रह्ममंत्र अलग है, ऐसी आपमें भावना है। बचपन से सुनते–सुनते अनेकानेक मंत्र, अनेकानेक तंत्र और योग के प्रति आपका मन अभिमुख हो गया है अतः भेद दृष्टिहोने के कारण से यह गुरुमंत्र नहीं कहा जायेगा।' 'तो आज तो अक्षय तृतीया है,' उन्होंने कहा; 'फिर कल के लिये क्यों छोड़ते हैं आप।' तो महाराज ने कहा– तो चलो, फिर गंगाजी के किनारे।.....

अपना इष्ट तुम किसको मानते हो?– महाराज ने पूछा। उन्होंने कहा– ऊपरवाले को मानता हूँ। तब महाराज ने गुरुमंत्र दिया– वह आपका ऊपरवाला नीचे भी है, भीतर–बाहर सर्वत्र है, वह घर में भी है, बाहर भी है। गायत्री शक्तिमंत्र है, आपकी भावना के अनुसार आपकी धारणा है कि जो जनेऊ पहनेगा, वही इस गायत्री मंत्र का अति पवित्रता के साथ जप कर सकता है, अनुष्ठान कर सकता है। अतः आपके लिये वह विधि–निषेध से सम्पन्न होनेवाली गायत्री अति पवित्रता से जप करने पर सिद्ध होनेवाली है, लेकिन जो आपका भगवान ऊपर है, वह भीतर–बाहर, अशुद्ध–शुद्ध सबमें व्याप्त है, भले–बुरे सबमें व्याप्त है; बालक–वृद्ध, स्त्री–पुरुष सबमें व्याप्त है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, कोल–भील, म्लेच्छ आदि सबमें व्याप्त है; वह दिन–रात, योग–लग्न, तिथि, पल, मुहूर्त सबमें व्याप्त है; वह तंत्र, मंत्र, योग, जप, तप सबमें व्याप्त है; वह सत्य–असत्य सबमें व्याप्त है; वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि सबमें व्याप्त है; वह देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस सबमें व्याप्त है; वह माता–पिता, भाई–बान्धव, घर–गाँव, हित–मित्र, देश–विदेश सबमें व्याप्त है; वह आपकी आँख, कान, नाक, जिह्वा, रक्त, मांस, वीर्य, हड्डी, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अस्मिता, प्रकृति, प्रारब्ध, सबमें व्याप्त है; वह भूत, भविष्य, वर्तमान सबमें व्याप्त है; वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, सरस्वती, काली आदि शक्तियों में भी व्याप्त है; वह आपकी प्रत्येक मान्यताओं में, 'मैं और तू' में 'मेरे और तेरे' इन सबमें व्याप्त है।

(देवान्देवयजो यान्ति.....) देवपूजक देवता को प्राप्त हो जाते हैं, मंत्रपूजक मंत्रदेवता को, तंत्रपूजक तंत्रदेवता को प्राप्त हो जाते हैं, मूर्खपूजक मूर्खदेवता को प्राप्त हो जाते हैं। कर्ण पहले

सूर्य की उपासना करता था, अब युद्ध के मैदान में दुर्योधन की उपासना कर रहा है तथा दुर्योधन, मूर्ख कर्ण की उपासना कर रहा है, कर्ण नहीं है तो वह नहीं है; दोनों एक–दूसरे का हित चाहते हैं। 'अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्'– कोई देवता की, कोई जीव की, कोई माँ की, कोई पिता की, कोई भाई–बान्धवों की उपासना करता है और जीवन को बेमोल बेच देता है। ये सब भी तो देवता हैं– इस क्षुद्रभाव का त्याग कर यदि इन्हें भी सगुण ब्रह्म के रूप में देखा जाय तो ब्रह्म की उपासना हो जायेगी; क्योंकि माता–पिता भी मरते हैं तथा माता–पिताभाव भी मरता है; बाल–बच्चे, भाई–बान्धव, स्वजन आदि भी मरते हैं तथा बाल–बच्चे, स्वजनभाव भी मरता है, लेकिन ब्रह्मभाव तो मरता ही नहीं, बल्कि वह ब्रह्म को देकर ब्रह्म ही हो जाता है। अतः भगवान कहते हैं– 'जो अमर है, वह अमर को ही देता है।' इसप्रकार सबके प्रति ब्रह्मभावना क्यों नहीं की जाती? भगवान मानो कह रहे हैं कि ऐसी जल्दी भी तो क्या है, माना कि ब्रह्मभावना देर से सिद्ध होती है, लेकिन ऐसी बात तो है ही नहीं कि सिद्ध ही नहीं होगी। यद्यपि जो सिद्ध है, उसी को सिद्ध करना, यह बात जचती नहीं, लेकिन तो भी असिद्धि (जीवभाव) रूपी गड्ढे में गिरा पुरुष ब्रह्मभावना के द्वारा निकलते–निकलते निकलकर एक दिन ब्रह्म ही हो जाता है।

भगवान का संकेत है कि उन अज्ञानियों को धन, मान, सम्मान पाने की जल्दी रहती है, इसलिए अति शीघ्र सिद्ध होनेवाले तंत्र–मंत्रों की ही साधना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें क्या पता कि तंत्र की उपासना से प्राप्त होनेवाला पुत्र आसुरी प्रकृति का तथा बीस, पच्चीस, तीस वर्ष की उम्र का होता है तथा मंत्रदेवता से प्राप्त होनेवाला पुत्र राजस प्रकृति का होता है। वह भी भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा न होने के कारण से माता–पिता आदि को क्षणिक सुख ही देनेवाला होता है। यही बात तामस देवता से प्राप्त होनेवाले धन की तथा पद–प्रतिष्ठा की होती है। स्पष्ट ही है कि कर्ण, शकुनि, दुर्योधन, द्रोणाचार्य आदि सब देवोपासक हैं और अब उनकी उपासना का फल समाप्त हो गया है तथा वे इस रहस्य को नहीं जान पा रहे हैं। वे भगवान के द्वारा सृजित हैं, अतः स्वाभाविक ही है कि वे अपने सृजनहार के विरोध में खड़े नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, भगवान सूर्य ने तो भगवान का ही साथ दिया था, जिस कारण से जयद्रथ और कर्ण मारे गये। आपमें से भी कोई अपने बहुमूल्य जीवन को माँ के लिये दाव पर लगा बैठा है, कोई पिता के लिये, कोई भाई के लिये तथा कोई मित्र के लिये तो कोई पुत्र–पुत्री के लिये। उनलोगों के लिये जीना ही तो उनकी उपासना करनी है।

एक व्यक्ति ने कहा– महाराज! मैंने इतना धन कमा लिया है, इतना धन कमा लिया है कि मेरी तीन–चार पीढ़ी खाती रहे तो भी समाप्त होनेवाला नहीं है। उसके कुछ वर्ष बाद ही उनका एक बच्चा उनसे अलग हो गया। बँटवारा जब हो गया तो स्थिति उनकी इतनी दयनीय हो गयी कि उनकी नींद चली गयी, स्मृति काम नहीं कर रही है। वे सोचते रहते हैं कि 'जिसके लिये मैं जीया, उसी ने मुझे मार दिया।' भगवान कहते हैं कि पुत्र एक देवता है, जब आप उसकी उपासना करते हैं तो आपकी श्रद्धा को उसी के प्रति स्थापित कर देता हूँ, लेकिन इतना स्पष्ट है कि जिस दिन आपका पुण्य समाप्त होगा, वह पुत्र नामक देवता आपके लिये घातक बन जायेगा। संतों ने कहा है–

गोधन गजधन वाजिधन और रतनधन खान।
जब आवे संतोषधन सब धन धूरि समान।।

महाराज भी कहता है–

गो गज वाजि और रतनधन तथा स्वजनधन खान।
प्रभुधन आवे जाहि दिन, सबधन प्रभुधन मान।।

पिता एक धन है किन्तु अन्तवान है, माँ एक धन है किन्तु अन्तवान है, धर्मपत्नी और पुत्र एक धन हैं किन्तु अन्तवान हैं, मित्र तथा भाई–बान्धव एक धन हैं किन्तु अन्तवान हैं, घर–बार आदि भी एक धन हैं, किन्तु अन्तवान हैं। हाँ, अपनी आत्मा एक ऐसा विलक्षण धन है कि वह अनन्त एवं नाशरहित है। महात्मा अर्जुन जैसे साधक के लिये तो वही न्याय होगा, जो उनके लिये हो रहा है। जैसे प्रभु ने उनके स्वजनरूपी धन को छीनकर संन्यासधन दिया था, ब्रह्मधन दिया था, वही आपके साथ भी करेंगे।

बड़ी बारीकी से अपनी साधना को निरखना–परखना है कि कहीं मन के किसी कोने में अन्य देवी–देवताओं के प्रति महद्भाव तो नहीं हो गया है और यही नहीं, जब यह स्पष्ट हो गया कि सम्पूर्ण देवी–देवताओं के रूप में, तंत्र–मंत्रों के रूप में भगवान ही विद्यमान हैं, तो भगवान को ही क्यों न भजा जाय। जब ये देवी–देवता, भगवान होकर भी अन्तवान हैं तो फिर अन्तवान की उपासना कर अन्तवान क्यों बनना? यह तो स्पष्ट ही दिखायी पड़ रहा है कि आजतक जिन–जिन असुरों, यक्ष–राक्षसों, देवताओं ने तंत्र–मंत्र एवं देवी–देवताओं की उपासना की, वे नाश को प्राप्त हो गये तथा उनका नाश होने के उपरान्त, वे देवी–देवता नाश हो गये; क्योंकि वे तो उन्हीं मूर्खों के संकल्प थे।

मेघनाद की ऐसी कैसी देवी निकुम्भिला कि वरदान देकर भी रक्षा नहीं कर पायी? रावण की ब्रह्मा, शिव तथा अन्य दिव्य शक्तियाँ किस बात के ब्रह्मा, शिव तथा देवी–देवता थे, जो उसकी सुबुद्धि भी नहीं बन पाये? इससे यह सिद्ध होता है कि वे ब्रह्मा, वे शिव, वे देवी–देवता असली नहीं बल्कि नकली थे अर्थात् भगवान ही उसकी भावना के अनुसार ब्रह्मा, शिव आदि बन गये थे। यही बात कंस, बाणासुर, जरासंध आदि असुरों के लिये भी है, वे भी मूर्खता के कारण काल्पनिक भगवान की उपासना से जीवमात्र की कल्पना के विषय बनकर रह गये।

आज घर–घर में देवी–देवताओं की बाढ़ सी है। ठीक है, उसमें कोई आपत्ति नहीं लेकिन भक्तों–साधकों के लिये तो यह आपत्ति का ही विषय है, उन्हें तो ब्रह्ममंत्र, ब्रह्मरूप की ही उपासना करनी चाहिये, किसी अन्यान्य देवी–देवता की नहीं।

भक्त अर्जुन ने तो जो भगवान स्वजन हैं, उनको तो पराया मान लिया है और जो परजन हैं उनको अपना मान लिया है; इसी कारण से अब भगवान का पुनः व्यंगबाण चल पड़ा–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे पार्थ! मुझ अव्यय अविनाशी उत्तमात्युत्तम अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा को वे मूर्ख जन्मने–मरनेवाला एक व्यक्ति समझ बैठे हैं, इस क्षुद्रभाव के कारण से वे परम भाव से वंचित हो गये हैं। इसी कारण मैं अपनी योगमाया से उनके सामने ब्रह्मरूप में प्रकट नहीं होता। आखिर मैं क्यों प्रकट होऊँ? क्योंकि वे मूर्ख मुझ सम्पूर्ण लोकों के स्वामी अजन्मा को न जानते हैं और न जानने की चेष्टा ही करते हैं जबकि सम्पूर्ण भूतों को, उनके भूत, भविष्य, वर्तमान को तथा आगे होनेवाले और व्यतीत हुए प्राणियों को भी मैं जानता हूँ।

भगवान ने ऐसा कहकर अपनी भगवत्ता तथा शक्ति–सामर्थ्य का प्रदर्शन इसलिए किया है ताकि महात्मा अर्जुन में उनके प्रति भगवत् श्रद्धा प्रकट हो जाय; क्योंकि वे भी तो प्रभु को प्रभु नहीं मानते थे। वे भी यह जान लें कि ये भगवान हैं और मुझ मूर्ख की मूर्खता के कारण से ही अबतक अपना राज नहीं बताया था। दूसरे अध्याय में तथा चौथे अध्याय में भी भगवान ने उपरोक्त बातें कही हैं, किन्तु अबतक भी उनके मन में थोड़ा सन्देह बना का बना रह गया है। भगवान का कहना था कि तुमने मुझे एक व्यक्ति समझ लिया था, इसलिए तुम्हारे सामने प्रकट नहीं हो रहा था, किन्तु ऐसा न कहकर 'मूर्ख मुझे व्यक्तिरूप में जन्मने–मरनेवाला मान बैठे हैं', ऐसा कहना यह भी सिद्ध कर रहा है कि सन्देह जो पहले था वह उतना नहीं है, जितना है उतने के लिये भगवान ने इशारे से उनपर व्यंगबाण चला ही दिया है।

(अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं.....) तन, मन, वचन, हृदय के द्वारा सम्पूर्णता से अपने–आप के प्रति ही समर्पित होते हुए अर्जुन को देखकर प्रभु ने एक बार फिर अपने–आपके ही निर्गुण निराकार होने की घोषणा कर दी। यह तो सब देखते ही हैं कि अपने प्रिय पुत्र के प्रति पिता अपनी सम्पूर्ण शक्ति–सामर्थ्य को प्रकाशित कर देता है, वह अपनी सनातन कुल–परम्परा का बखान करता हुआ अपनी सम्पूर्ण गोपनीयता को उसके प्रति खोल देता है। उसीप्रकार प्रिय पति–पत्नी परस्पर में एक–दूसरे के प्रति अपनी शक्ति–सामर्थ्य को खोल देते हैं, एक मित्र अपने दूसरे मित्र से किसीप्रकार का दुराव नहीं रखता। ठीक यही बात यहाँ पर अर्जुन के प्रति भगवान द्वारा अपने दिव्य रूप की झाँकी खोलने से स्पष्ट हो रही है। तत्कालीन समय में ऋषि–महर्षियों सहित माँ कुन्ती, द्रौपदी, महात्मा विदुर आदि कुछ एक भक्तों को छोड़कर भगवान को सभी व्यक्ति के रूप में ही देख रहे हैं। यहाँ तक कि दुर्योधन एवं कर्ण, शकुनि आदि तो उन्हें परम तांत्रिक एवं मांत्रिक समझ बैठे हैं। वे ये तो मानते हैं कि इस समय ये ही जगत में अद्वितीय वीर

हैं लेकिन भगवान मानने को राजी नहीं हैं। इसलिए कि भगवान ने स्पष्ट कह दिया कि 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' अर्थात् मैं सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। भगवान, अर्जुन को जताना चाहते हैं कि मैं ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ, ये आसुरी एवं मानवी प्रकृति के लोग भले ही मुझे भगवान न माने किन्तु तुम तो मुझे भगवान के रूप में देखो। यदि तुम ऐसा मानते हो कि ये (कृष्ण) भगवान होते तो पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य आदि ने घोषणा कर दी होती, तो इसप्रकार की क्षुद्रभावना का परित्याग कर दो; इसलिए कि इन लोगों के पास मैंने अपने–आपको सम्पूर्णता से प्रकाशित नहीं किया है। तुम्हारे पास मैं क्यों प्रकट हो रहा हूँ, वह तो केवल मैं जानता हूँ और एक केवल तुम जानोगे, लेकिन तुम जानोगे तब तो जब मुझे भगवान मानोगे?

भगवान भक्तों, साधकों एवं आत्मजिज्ञासुओं से कह रहे हैं कि उन्हें अपने ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु को व्यक्तिभाव के रूप में ही क्या सिद्ध एवं संत के रूप में भी नहीं देखना चाहिये। उन्हें तो साक्षात् निर्गुण–निराकार एवं शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही देखना चाहिये। यदि इस दृष्टि से वे नहीं देख रहे हैं तो उनकी भगवत्ता को प्राप्त करने के वे अधिकारी नहीं हैं। सिद्धभाव से देखने से उनकी सिद्धिरूप विरासत के ही वे अधिकारी हैं लेकिन निर्गुण निराकार ब्रह्मस्वरूप के अधिकारी नहीं हैं। सभी जानते ही हैं कि हनुमानजी को विशिष्ट गुणवाला एवं विशेष शक्ति से सम्पन्न देखकर भी सुग्रीव अभय न हो सका। उन्हें वह भीतर–बाहर से मंत्री के रूप में ही देखता रह गया, जिसका परिणाम हुआ कि वह लम्बे वर्षों तक बाली के भय से जगत में भटकता रहा। उसकी इसी सामान्यभाव की दृष्टि के कारण से स्वयं हनुमानजी ने उसके सामने अपने असली स्वरूप को प्रकट नहीं किया। अतः साधकों, भक्तों एवं संतों को इसपर विचार करना चाहिये।

आजकल तो बहुत सी ऐसी संस्थायें हो गयी हैं जो नानाप्रकार की युक्तियों से यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रही हैं कि श्रीराम एवं श्रीकृष्ण भगवान नहीं थे, हाँ उस समय समस्त पुरुषों में विशेष पुरुषोचित गुणों से सम्पन्न थे; इसलिए पुरुषोत्तम कहलाये। इसप्रकार के मूर्खों की बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। वे जब स्वयं अपने को शरीर मान बैठे हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि मान बैठे हैं तो उस अव्यक्त को क्या जान पायेंगे और किसप्रकार देख पायेंगे। दिव्य शरीरवाले को, दिव्य दृष्टिवाले को तो दिव्य शरीर एवं दिव्य दृष्टि से ही देखा जा सकता है। यह तो परम्परा है ही कि चोर को चोर ही देख सकता है अर्थात् समझ सकता है। उसीप्रकार कामी को कामी, क्रोधी को क्रोधी, लोभी को लोभी, रागी को रागी तथा द्वेषी को द्वेषी ही समझ सकता है। उसीप्रकार अव्यक्त, अव्यय एवं उत्तमात्युत्तम परम पुरुष को जो स्वयं को अव्यक्त, अव्यय, अजन्मा एवं उत्तमात्युत्तम पुरुष मानेगा, वही जान पायेगा।

यह स्वाभाविक है कि जो भगवान को भगवान न मानकर जीव मान ले, सद्गुरु को ब्रह्म न मानकर संत मान ले, तो भगवान वहाँ अपनी भगवत्ता को प्रकाशित करना तो दूर उसके लिये दण्डविधान लागू कर देता है। इन्हीं अर्थों में भगवान कहते हैं–

(नाहं प्रकाशः सर्वस्य.....) जो भगवान को भगवान नहीं मानते उनलोगों के मन का

प्रकृति अपहरण कर लेती है, अतः उनमें असुरता प्रकट हो जाती है। जिसका परिणाम होता है कि भगवान उनके हृदय में ही छिप जाता है। अन्तर्गुहा में छिपा हुआ होने के कारण से निश्चितरूप से जब अन्तर्गुहावाला ही प्रकट होगा, तब आप उसे जान पायेंगे। बाहर में जब संत ही किसी गुफा में छिप जाता है तो कोई नहीं जान पाता, तो हृदय में छिपे हुए भगवान को कोई क्या जान पायेगा। अन्तर में छिपे हुए भगवान को ही क्या, कोई अन्तर के दिव्य भावों को ही नहीं जान पाता। उन भावों का जो भवन है उस हृदय को ही नहीं जान पाता जिसमें कि भगवान छिपा हुआ है, तो भगवान को जानना फिर हो ही कैसे सकता है? यदि ऐसा है तो भगवान भक्तों–सन्तों को छोड़ अन्यलोगों की हृदयरूपी गुहा में छिपा ही क्यों है, निकल क्यों नहीं जाता? अन्य लोगों के हृदय में छिपे रहने से तो अच्छा है कि वहाँ से निकल जाय और सबके हृदय से नहीं ही निकल सकता तो कम से कम असुरों के हृदय से तो निकल ही जाना चाहिये। ऐसा प्रश्न खड़ा होनेपर इसका उत्तर दिया जाता है– यही तो यहाँ गूढ़ात्मक बात है कि प्रभु चाहकर भी असुरों के हृदय से निकल नहीं सकता, क्योंकि कहीं उनका भगवान उनके हृदय से प्रकट होकर उन्हें यह न बता दे कि ये साक्षात् भगवान हैं। असुर भी देवी–देवताओं तथा भगवान ब्रह्मा और शिव के उपासक होते हैं। यदि वे युद्ध के मैदान में कहीं क्षत–विक्षत हो गये और अपने इष्ट के पास आर्तनाद किया तो कहीं वे यह न बता दें कि ये श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं साक्षात् ब्रह्म ही हैं तथा अपने इष्ट से ऐसा सुनकर वे वहीं भगवान के शरणागत न हो जायँ, जबकि वे शरणागत होने के पात्र भी नहीं हैं क्योंकि एक बार ऐसा धोखा हो चुका है। वह कब?

जब एक बार भगवान बाणासुर के हृदय से निकल गये तब उसने उनके साथ युद्ध करते समय अपने को हारता हुआ जानकर भगवान शंकर को याद किया। भगवान शंकर ने उसकी प्रसन्नता के लिये भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से घोर संग्राम किया और उनसे पराजित हो गये। बाणासुर ने भगवान शंकर से अपनी रक्षा की भीख मांगी। वे तो अवढरदानी ठहरे, अतः उससे भगवान का राज बता दिया। उन्होंने कहा कि ये साक्षात् अन्तर्यामी प्रभु हैं, मेरी तो तुमने दशा देख ही ली, अतः प्राण रक्षा चाहते हो तो इनके शरणागत हो जाओ। बाणासुर ने वैसा ही किया और अपनी माँ को आगे कर भगवान के शरणागत हो गया। परिणाम हुआ कि भगवान उसका वध नहीं कर पाये। इसलिए ही वे दुर्योधन के भी हृदय में छिपे रह गये कि कहीं दुर्योधन ने लक्ष्मी देवी को बुला लिया संकटकालीन समय में और उन्होंने उससे यह रहस्य खोल ही दिया कि ये परब्रह्म परमात्मा ही हैं, इनका सामना करने की सामर्थ्य सृष्टि के किसी भी देवी–देवता में नहीं है तो भगवान का प्रयोजन ही पूरा नहीं हो सकेगा। कर्ण के हृदय में आकर भगवान सूर्य ने उसे भगवान के रूप को बता दिया तो उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इसप्रकार उन सबों के उनके अपने–अपने देवता हैं, वे थोड़े में ही प्रसन्न होकर उनकी रक्षा का उपाय बता सकते हैं अर्थात् उन्हें भगवान के शरणागत कर सकते हैं। यदि कोई कहे कि परशुरामजी ने तो हस्तिनापुर की भरी सभा में यह राज खोल ही दिया था कि जिन्हें आप कृष्ण के रूप में देख रहे हैं, ये साक्षात् भगवान ही हैं, तो उनके कहने में और इष्ट के कहने में अन्तर है। सारे जगत के भक्त अपने–अपने हृदय के भगवान पर ही विश्वास करते हैं, न कि दूसरे के।

यदि कोई कहे कि ये शरणागत होने के पात्र हैं ही नहीं तो भगवान स्वयं दूत बनकर उनको समझाने के लिये क्यों गये थे? वह इसलिए कि भले ही कौरव पाण्डवों को अपना वैरी मानते थे, किन्तु पाण्डव उन्हें (कौरवों को) अपना स्वजन ही मानते थे। जैसा कि महात्मा अर्जुन ने युद्ध के मैदान में उन्हें स्वजन सिद्ध कर ही दिया। इतना ही नहीं, माँ गान्धारी और महर्षि व्यास यह न कहें कि मधुसूदन ने युद्ध शान्ति का कुछ प्रयत्न ही नहीं किया; क्योंकि वे सब उन मूर्खों की मूर्खता को दूर करने के प्रयत्न में लगे हुए थे। और भी गूढ़ात्मक बात है कि जब गोमाता, साधक, सिद्ध, देवगण, ऋषि, महर्षि किसी पर कुपित हो जाते हैं तथा भगवान के शरणागत होकर उसके सर्वनाश की माँग कर देते हैं तो भगवान के पास उसकी शरणागति स्वीकार करने का समय निकल जाता है। उस समय वही समय आ गया था। भगवान ने अपनी योगमाया से असुरों के चित्त को स्तम्भित कर दिया था, ताकि वे शरणागत न होने पावें। उसप्रकार के दुरात्मा, भगवान के दिव्य विग्रह के साथ युद्ध करने के अधिकारी नहीं होते। इसलिए प्रभु ने महात्मा अर्जुन को निमित्त बनाया है।

भगवान द्वारा इतना कहने के उपरान्त भी महात्मा अर्जुन पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हुए, लेकिन आप सब सन्तुष्ट हों, इसके लिये महाराज गूढ़ात्मक तत्त्वों को समझाने का प्रयत्न करता है। एक तरफ तो भगवान ने 'वासुदेवः सर्वम्' कहकर अपनी सर्वव्यापकता एवं सर्वरूपता को सिद्ध कर दिया है दूसरी तरफ 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' अर्थात् सबके हृदय में मैं छिपा हुआ हूँ– ऐसा कहकर मानो अपने सर्वव्यापकता एवं सर्वरूपतावाले सिद्धान्त का विरोध कर रहे हैं। जब प्रभु के मत में सब ब्रह्म ही है तो किसी के सामने प्रकट और किसी के सामने छिप जाना यह क्या नाटक है? अथवा सबके हृदय में 'छिपा हुआ हूँ' ऐसा कहने से तो भगवान अलग हो गया और सबका हृदय अलग हो गया, यह कैसी बात है? ऐसा कहकर तो द्वैतमत का भी प्रतिपादन कर रहे हैं? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। महात्मा अर्जुन जैसे द्वैतवादी के पास भगवान ने अद्वैतमत का प्रतिपादन कर दिया है लेकिन अभी भी महात्मा अर्जुन का शोक–सन्ताप सर्वथा गया नहीं है, अतः रह–रह करके उनके हृदय से शोक–सन्ताप की लहर उठ जाती है। भगवान तो अद्वैत से बाहर जा ही नहीं रहे हैं लेकिन यदि किसी को समझ में न आये तो इससे सिद्ध होता है कि उसके हृदय में भगवान छिप गये हैं। अद्वैतमय मंत्र को द्वैतमय कैसे समझ लिया जाता है, इसे 'आत्मचिन्तनम्' नामक ग्रंथ के दूसरे मंत्र से देखें–

सर्वाश्रयः सकलसर्गमयोऽव्ययश्च
सर्वेश्वरः सफलकर्मकलोऽक्रियश्च।
सर्वान्तरः सततशान्तिवहोऽवकाशः
जिज्ञास्यतेऽमृतपदाय परात्परो ज्ञः।।
(प० पू० मस्तराम बाबा)

मानो बाबाजी हुंकार भरते हैं– 'सर्वाश्रयः' अर्थात् वह ब्रह्म सबका आश्रय है। इसपर भक्त पूछता है कि अच्छा, अच्छा! इस न्याय से तो ब्रह्म अलग हो गया और सारे प्राणिपदार्थ अलग

हो गये? आज आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, जबकि आप तो कहते थे कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं? तब वे कहते हैं– नहीं, नहीं; 'सकलसर्गमयः'– वह ब्रह्म ही सृष्टिमय भी है। वही अविनाशी ब्रह्म, अपरब्रह्म बना हुआ है। सृष्टि अपरब्रह्म है और परब्रह्म उसकी आत्मा है। इसप्रकार वह एक स्थूल शरीरवाला है, इसलिए अपने सृष्टिरूप शरीर का ही वह आश्रय है, न कि किसी दूसरे का। यदि ऐसा है तो फिर तो उसकी निर्गुण–निराकारता में कमी आ गयी होगी? तो कहते हैं– नहीं, नहीं, 'अव्ययः'– सम्पूर्ण सृष्टिरूप होने पर भी ब्रह्म के निर्गुण निराकारता में किसीप्रकार की कमी नहीं आयी, वह अव्यय का अव्यय ही है। उसके उपरान्त उन्होंने 'सर्वेश्वरः'–पद प्रकट किया अर्थात् वह ब्रह्म सम्पूर्ण ईश्वरों का ईश्वर है। भक्त कहता है– आपने फिर समस्या लाकर खड़ी कर दी, यहाँ भी आपने सर्व और ईश्वर दो भागों में ब्रह्म को विभक्त कर दिया? तो कहते हैं– नहीं, नहीं ऐसा न समझें। शरीर सहित आँख, कान, नाक, जिह्वा, हाथ, पाँव, मन, बुद्धि, चित्त इन सबका ईश्वर प्राण है अर्थात् प्रारब्ध है और उस प्रारब्ध का भी ईश्वर होने से उस ब्रह्म को सर्वेश्वर कहा जाता है। प्रारब्ध पर एकमात्र ब्रह्म का ही शासन होता है। वह चाहे तो प्रारब्ध को भस्म भी कर दे अर्थात् निर्गुण–निराकार रूप बना दे, इसलिए कि वह प्रारब्धरूप भी है। अतः 'सफलकर्मकलोऽक्रियश्च'– यद्यपि वह अक्रिय है लेकिन आजतक जो भी क्रिया हो रही है, वह उसकी अध्यक्षता में होने के कारण से, उसी के द्वारा होने से, उसी की प्रेरणा से होने के कारण से सफल ही है। तो क्या उसके द्वारा असफल कर्म हुए ही नहीं? नहीं, नहीं, सदा–सर्वदा सबके लिये सफल ही होते रहे। क्या आपकी इस बात को असुर भी स्वीकार करेंगे? क्यों नहीं, पुराणों में, शास्त्रों में देवताओं के साथ–साथ असुरों के गुणों का बखान भी भगवान के गुणों के साथ–साथ किया गया है, उनका भी यश गाया गया है। *'धन्य धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान'*– कहकर अंगद और हनुमानजी ने मेघनाद को साधुवाद दिया है। हनुमानजी मेघनाद से उसकी माँ को साधुवाद देते हुए कहते हैं कि हम तुम्हारी माँ को धन्यवाद देते हैं, जिसने तुम्हारे जैसे सुपुत्र को पैदा किया है। यही तो भगवान का सफल कर्म है। असुरों के माध्यम से भगवान सार्थक होता दिखायी देता है। ऋषि–महर्षि अपने ढंग से भगवान को प्रकाशित करते हैं और असुर अपने ढंग से भगवान की भगवत्ता को बताते हैं। अतः ब्रह्म का प्रत्येक कर्म सफल है, विफल नहीं। उसके उपरान्त उनके हृदय में झंकृत होता हुआ 'सर्वान्तरः' पद प्रकट होता है अर्थात् वह ब्रह्म सबकी आत्मा होने से 'सर्वान्तर' कहलाता है। शरीर के सम्पूर्ण अंगों की आत्मा होने से ही वह 'सर्वान्तर' कहलाता है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि उसके स्थूल शरीर के अर्थात् अपरब्रह्म के अंग हैं और वह पृथ्वी, जल, अग्नि आदि की भी आत्मा है, सूर्य–चन्द्रमा की भी आत्मा है; ब्रह्मा, विष्णु, शिव की भी आत्मा है। इसी से वह सर्वान्तर कहा जाता है। भक्त ने बाबाजी की तरफ बड़ी जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखा, मानो वह पूछ रहा हो कि उसके सर्वान्तर होने से लाभ क्या है? तो पद प्रकट होता है– 'सततशान्तिवहोऽवकाशः' अर्थात् वह अन्तर में रहकर सबको शान्ति एवं आनन्द देता रहता है। आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, जबकि असुर तो अशान्त ही अशान्त रहते हैं? नहीं, नहीं ऐसा न समझें और भी गहराई में जायें। उन असुरों को अशान्ति में भी शान्ति मिलती रहती है। उनका स्वाभिमान बना का बना रह जाता है, वे मर के भी सन्तुष्ट ही रहते हैं, वे मर के भी जीते ही

रहते हैं; क्योंकि उन्हें यहाँ से अति विशेष शान्ति, सुख, सन्तोष का साधन स्वर्ग दिया जाता है तथा नरक देकर उनका प्रायश्चित करा दिया जाता है। ब्रह्म सदा–सर्वदा शान्ति ही वहन करता रहता है, अशान्ति तो उसमें है ही नहीं तो अशान्ति देगा क्या। इतना होनेपर भी उस दाता में परम अवकाश ही अवकाश है। ऐसा नहीं कि सदा–सर्वदा परम शान्ति एवं परमानन्द का दान देने से अन्य को शान्ति एवं आनन्द प्राप्त करने के लिये उसमें कोई जगह ही न हो, बल्कि सदा–सर्वदा सबके लिये उसके हृदय का दरवाजा खुला रहता है। लेकिन इतना ही मत समझें आप, वह तो 'जिज्ञास्यतेऽमृतपदाय परात्परो ज्ञः'– आत्मजिज्ञासुओं को शान्ति एवं आनन्द ही नहीं बल्कि अमृतपद अर्थात् अपना पद ही दे देता है। उपरोक्त न्याय से जो ब्रह्म को इसीप्रकार का देखता है, समझता है, उसके लिये वह परात्पर ब्रह्म अवश्य जानने में आता है।

(नाहं प्रकाशः सर्वस्य.....) मानो भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में छिपा हुआ हूँ, लेकिन इस मूढ़ दुर्योधन को तो मैं इस रहस्य को किसी काल में जानने ही नहीं दूँगा, न उसको मैं यह जनाऊँगा कि मैं जो अर्जुन के हृदय में निर्गुण निराकाररूप से छिपा हुआ था, उसका उद्धार करने के लिये कृष्णरूप से बाहर आ गया हूँ। इस मूर्ख के साथ–साथ इन अन्य नराधमों को भी मैं बलात् नरक में खींच कर ले जाऊँगा, इसीलिए इनके हृदय में बैठा हूँ। तुम्हारे को मुक्ति देने के लिये बाहर आ गया हूँ तो इनलोगों को बन्धन में डालने के लिये इनके भीतर बैठा हूँ। हे पार्थ! जिसे तुम कृष्ण के रूप में देख रहे हो, जिसे तुम वासुदेव के रूप में देख रहे हो, वही 'वासुदेवः सर्वम्' है, दूसरा कोई माने चाहे न माने लेकिन अब तुम मान लो। मैं ही भक्तों, सन्तों के भीतर बैठा हूँ वरदान देने के लिये और असुरों के भीतर बैठा हूँ बन्धन देने के लिये। स्वर्ग भी बन्धन ही है, जहाँ से पुण्यफल भोगकर पुनः नरकगामी हो जाया जाता है। अतः हे पार्थ! उठो, शोक–सन्ताप छोड़ो! और गाण्डीव उठाकर इन नराधमों को यमलोक पहुँचा दो।

कोई भी आचार्य अपने प्रिय आत्माओं के लिये प्रकाशित रहता है और सामान्य साधकों के पास छिपा रहता है, यह आदि परम्परा है। सबके पास सभी छिपे रहते हैं लेकिन अपने प्रिय के पास अपने को प्रकट कर देते हैं। पिता अपने प्रिय पुत्र के पास अपने गुप्त खजाने को प्रकट कर देता है; मित्र अपने प्रिय मित्र के पास अपनी शक्ति–सामर्थ्य को खोल ही देता है। सभी के पास कुछ न कुछ अपने प्रिय पात्र को देने के लिये विरासत रूप में रहता ही है, जिसे प्रसन्न होकर वह समयानुसार दे देता है। वही बात यहाँ भगवान के द्वारा भी हो रही है।

शरद नामक ब्रह्मचारी से महाराज ने पूछा– कहाँ से आये हो? उसने कहा– महाराष्ट्र से। तो कहा कि महाराष्ट्र से तो यह शरीर आया है, तुम कहाँ से आये हो? इस पर वे हँस पड़े। फिर पूछा– क्या चाहिये आपको? उन्होंने कहा– विट्ठल भगवान। अच्छा तो महाराज की दो बातें मान लो– यह शरीर विट्ठल भगवान का मन्दिर है, जिसमें वे छिपे हुए हैं और आप समझें कि आप इस मन्दिर में विट्ठल भगवान के पुजारी हैं। इस विट्ठल भगवान को प्रसन्न करने के लिये उनके नाम का मन ही मन अखण्ड जप ही दिव्य फूल है, जिसे आप समर्पित करते जाओ। बस,

विट्ठल भगवान से छिपा नहीं रहा जाएगा और कुछ ही सालों में वे आपके सामने खड़े हो जायेंगे। उसके उपरान्त उनसे जो कुछ माँगना हो माँग लेना। दो–चार साल तो लगेंगे, बहुत विशेष लगेगा तो पाँच साल लग जाएँगे, आठ साल, दस साल, बारह साल लग जाएँगे। जब वह आपके जप की गर्मी को सहन नहीं कर पाएगा तब आपके हृदय से भाग खड़ा होकर आपके सामने खड़ा हो जाएगा। हररोज आसन के साथ जप बढ़ाते जाते हैं, एक महीने में पन्द्रह मिनट तो चार साल में बारह घण्टे हो जायेगा, पाँच साल में पन्द्रह घण्टे हो जायेगा, सपने में भी जप होने लगेगा, सपने में भी विट्ठल भगवान आने लगेंगे। महाराज लिखी हुई ही बात नहीं कहता, अपनी अनुभूति कहता है। महाराज ने एक उच्चकोटि के साधक को भगवान के नाम का जप करते हुए नहीं देखा, बल्कि भगवान के नाम को लिखकर उसका श्रृंगार करते हुए देखा। वे नाम पर ही मुकुट बनाकर, उसमें अनेकानेक रंग भरते थे, कलम से ही दिव्य मन्दिर बनाकर उसमें नाम को ही बिठा देते थे। कभी–कभी नाम को नानाप्रकार के रंगों से भरकर नाम के दोनों तरफ सूँड़ में फूल की माला लटकाये हुए हाथियों को बना देते थे, मानो वे नाम को माला पहना रहे हों। कभी–कभी नाम को लिखकर उसे शंख में बिठा देते थे। इसप्रकार दिव्य महल में भगवान नाम, दिव्य गुफा में भगवान नाम, दिव्य झोपड़ी में भगवान नाम, मनुष्य, पशु–पक्षी में भगवान नाम लिखते रहते थे। फिर तो क्या! उनका भगवान आकाश, पाताल, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्य, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगों, देवता, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेतों, अशन, वसन में भी दिखायी पड़ता हुआ सचमुच में उनके सामने प्रकट हो गया और उनको जो चाहिये उन्हें देकर, उन्हीं के तन, मन, वचन, हृदय में समा गया।

(नाहं प्रकाशः सर्वस्य.....) इस मंत्र से तो स्पष्ट हो ही गया कि यदि आपके हृदय में भगवान छिपा हुआ है और जीवनपर्यन्त छिपा ही रह जाता है तो निश्चितरूप से आपमें असुरता है क्योंकि वह असुरों के पास ही छिपा रहता है। अतः यह तो निश्चित ही खोज करने का विषय है कि आपमें वह कौन सी क्षुद्रता है, जिससे आपसे भगवान ही छिप गया है। जो स्वजन आपके सामने प्रकट हैं, वे तो स्वयं को ही नहीं जानते कि वे कौन हैं फिर आपके पास वे प्रकट कैसे हैं, जिनके पास से भगवान ही चला गया है तथा जो उसकी खोज भी नहीं कर रहे हैं। जो कि अपनी आत्मा है, उसी को आप अपने लिये अप्रकट मान रहे हैं। इतना ही नहीं आप अपने–आप के लिए ही प्रकट नहीं हैं और दूसरों को अपने सामने प्रकट हुआ मानते हैं, यह कितनी खेद की बात है। इस मंत्र के द्वारा तो आप जान ही लें कि कभी भगवान आपके लिये प्रकट था, तभी छिपने की बात कर रहा है, अन्यथा छिपने की बात नहीं कहता। यदि आप पूछते हैं कि वह कब प्रकट था तो इसका उत्तर है कि जब–जब आप मानुष गर्भ में आते हैं तब–तब उस गर्भ में प्रकट होकर वह पुरातन योग दे देता है, पुरातन नियम, पुरातन आचार, विचार, व्यवहार दे देता है। उस समय आप उपकृत होकर प्रतिज्ञा भी करते हैं कि हे प्रभु! अब आपको नहीं भूलूँगा। इसीलिए शैशवावस्था में आप निर्विकार रहते हैं, मैं, तू से पृथक् रहते हैं। वह इसलिए कि आपको भगवान से की हुई प्रतिज्ञा याद रहती है लेकिन जैसे ही आप माया को स्वीकार करते हैं वैसे ही वह आपसे दी हुई निर्विकारता, निरपेक्षता, निष्कामता तथा आत्मबोधता आदि गुणों तथा स्वरूप को

छीनता हुआ आपकी हृदयरूप गुहा में छिप जाता है लेकिन उसकी अहैतुकी कृपा तो देखें कि वह आपके हृदय में ही छिप गया, हृदय से निकल नहीं गया। अतः आप एक बार हृदय से पुकारें यह कहते हुए कि हे प्रभु! अब रक्षा करें! हे जगत्पते! अब मेरी भूल को क्षमा करें! हे दयानिधे! अब आप कृपा करें! मैंने यह जान लिया कि मेरा कोई नहीं है, मैं सबको छोड़कर आपकी शरण में आ गया हूँ; अब पुनः अपना बना लें। इसप्रकार पुकारने मात्र से ही वह छिपा हुआ भगवान पुनः प्रकट हो जाएगा।

अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब भगवान सबके हृदय में छिपे हुए हैं तो फिर छिपने मात्र से इनके छल–कपट को ये कैसे जान पायेंगे? युद्ध के मैदान में ये तो मेरे हृदय से बाहर आ गये हैं और कौरवपक्ष के वीरों के हृदय में छिपे हुए हैं, फिर कहाँ तक ये विशेष सार्थक हो पायेंगे? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

(वेदाहं समतीतानि.....) महात्मा अर्जुन के सामने भगवान उत्तर के साथ–साथ अपनी शक्ति–सामर्थ्य का परिचय भी दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे पार्थ! मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियों के भीतर हृदय में छिपा ही नहीं रहता हूँ बल्कि उनके भूत, भविष्य, वर्तमान को भी जानता हूँ। ज्योतिषी तो बाहर का बाहर रहता है, वह भूत, भविष्य, वर्तमान क्या जानेगा? जिसे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा पर विश्वास नहीं है कि उनके भूत, भविष्य, वर्तमान को मैं जानता हूँ, वे ही ज्योतिषियों के पास जाते हैं। अरे! जिस ज्योतिषी ने अपने ज्योतिष शास्त्र के द्वारा अपने ही भूत, भविष्य, वर्तमान को नहीं जाना है, वह उनका भविष्य क्या बतायेगा! भगवान ने हँसते हुए मानो कहा कि हे पार्थ! ये सारे के सारे अपने–आपको ज्योतिष का ज्ञाता मानते हैं, लेकिन जानते कुछ भी नहीं हैं। यह अश्वत्थामा भी अपने–आपको बहुत बड़ा ज्योतिषी मानता है, गणित कर लिया है कि वह युद्ध के मैदान में मारा ही नहीं जाएगा। इसीलिए वह मूर्ख तुम लोगों के विपक्ष में खड़ा है। यदि यह जान गया होता कि मरने से भी अति दयनीय स्थिति मेरी हो जायेगी तो यह युद्ध के मैदान में आता ही नहीं, भाग खड़ा होता; क्योंकि इसको जीवन बड़ा प्यारा है। द्रोणाचार्य ज्योतिष शास्त्र से ही जानते हैं कि पाण्डव तो शील–संकोच में मेरा वध करेंगे ही नहीं और न किसी को करने देंगे; इसलिए वे अपने पुत्र की सुरक्षा में आ गये हैं। हाँ, एकमात्र पितामहभीष्म ही बहुत कुछ जान–बूझकर भी एक बार पुनः युद्ध का स्वाद चखने यहाँ पर आ खड़े हुए हैं। मूर्ख दुर्योधन को तो ज्योतिषियों ने बता ही दिया है कि जिसके साथ कर्ण है, पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि हैं, उसे पराजित कौन कर सकता है। इसप्रकार दुर्योधन जैसे मूर्ख ही योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथि पर विश्वास करके रह जाते हैं, जिसका परिणाम होता है कि जीवनपर्यन्त उनका ग्रह शान्त होता ही नहीं। अतः आप उनके जैसा न बनें, यदि आपके हाथ में गीताजी हैं और उसमें जो कुछ भी लिखा है, यदि उसपर विश्वास है तो आज ही आप सर्वदर्शी सर्वसामर्थ्यशाली भगवान के हो जायँ!

भगवान ने घोषणा कर दी कि मैं सबके हृदय में छिपा हुआ हूँ। भक्त इस रहस्य को जानकर सर्वथा मेरे लिये जीवन जीने लगते हैं लेकिन जो नराधम हैं, नीच हैं, मूढ़ हैं, वे तो अपनी कामनाओं के ही दास होते हैं। महात्मा अर्जुन के मन में यह विचार आना स्वाभाविक है

कि एक तरफ तो भक्त एवं संत हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन भगवान के लिये है। दूसरी तरफ आसुरी प्रकृति के लोग हैं जिनका सम्पूर्ण जीवन छल–कपट, दम्भ–पाखण्ड के लिये तथा ऐश्वर्य एवं भोगों के लिये है; लेकिन एक तीसरे पुरुष होते हैं, जो न संत एवं भक्त होते हैं न असुर ही होते हैं, फिर वे क्यों नहीं आपका ध्यान, भजन करते हैं? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

हे परन्तप! प्रारब्ध के कारण से उनके भीतर से नानाप्रकार की इच्छायें प्रकट होती हैं। उन सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने से उनका मन, बुद्धि, चित्त शोक–सन्ताप से भर जाता है। जिसके चलते राग–द्वेष, सर्दी–गर्मी आदि की मार पड़ने से वे मोहित होते रहते हैं। इसप्रकार वे पुनः–पुनः अपनी प्रकृति को प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् प्रारब्ध को प्राप्त होते रहते हैं लेकिन ठीक इसके विपरीत नानाप्रकार के जप, तप, योगादि के द्वारा तन, मन, वचन, हृदय से पवित्र हुए धर्मात्मा पुरुष राग–द्वेष, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित होकर वे दृढ़व्रती अहर्निश मेरी ही प्राप्ति के यत्न में लगे रहते हैं।

मानो भगवान कह रहे हैं कि सारे के सारे जगत के लोग ब्रह्म को क्या जानेंगे, वे तो नानाप्रकार की कामनाओं को जानते हैं। वे उन कामनाओं का ही भजन किया करते हैं, राग–द्वेषादि द्वन्द्वों का ही भजन–ध्यान करते हैं। वे उन कामनाओं को स्वीकार करते हैं, जिन कामनाओं से वे पुनः–पुनः अपनी प्रकृति को अर्थात् जीव की प्रकृति को प्राप्त होते रहते हैं। इस लोक में तो सुख की कामना से वे लटकते–भटकते रहते ही हैं, लेकिन स्वर्गादि लोकों के ही विषय में सुन रखने के कारण से उनकी गति वहीं तक सीमित हो जाती है। कदाचित् प्रयत्न करने पर स्वर्गादि लोकों को वे प्राप्त कर भी जाते हैं तो पुण्य क्षीण होने पर वे कर्मविपाक को ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मनुष्य, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे, साँप–बिच्छू बन जाते हैं।

एक साधक ने कहा– मैं तो देवी कवच पहन लेता हूँ, उससे मेरी रक्षा होती रहेगी न? 'क्यों नहीं, क्यों नहीं!' महाराज ने कहा– किन्तु यहाँ के साधकों द्वारा तो ब्रह्मकवच पहन लिया जाता है। हररोज ये लोग 'ऊँ आनन्दमयमानन्दमयं च शान्तिमयमशान्तिमयं.....' गाते हुए ब्रह्मकवच पहन लेते हैं। यह अद्वैत ब्रह्मकवच है, जिसके द्वारा ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्म का आवाहन करता है। उसका ब्रह्म सम्पूर्ण रूपों में विद्यमान है। अतः सब रूपों का आवाहन करता हुआ कहता है– हे प्रभु! तुम आनन्दमय एवं निरानन्दमय हो, शान्ति एवं अशान्तिरूप हो, वृत्ति–कुवृत्तिरूप हो, भूख–प्यासरूप हो, नींद, स्वप्न, सुषुप्ति एवं जाग्रत्रूप हो; वेद, पुराण एवं शास्त्ररूप हो; तंत्र, मंत्र, योगरूप हो; मैं–मेरा, तू–तेरा रूप हो, पुरुष एवं प्रकृतिरूप भी तुम ही हो, अतः सर्वमयं हे रक्ष माम्– हर तरह से, हर रूप से मेरी रक्षा करो! रक्षा करो!! रक्षा करो!!! ये साधक जल लेकर

आचमन करके देव आराधना नहीं करते क्योंकि ब्रह्म भाव के द्वारा अपनी तरफ आकर्षित किया जाता है, न कि बाह्यशुद्धि के द्वारा। ब्रह्मभाव की पवित्रता में चला आता है, देवता मंत्र की पवित्रता में चले आते हैं। उनके लिये भाव हो या न हो, वे मंत्रशुद्धि, आसनशुद्धि हो तो चले आयेंगे। यदि थोड़ी सी भी अशुद्धि हो गयी तो वे मार भी डालेंगे। सभी देख रहे हैं कि बहुत से यज्ञ हो रहे हैं, लेकिन नानाप्रकार के सम्प्रदाय बढ़ते ही जा रहे हैं। अब तो हर घर में किसी न किसी सदस्य में सनातन धर्म के विरोधी सम्प्रदाय प्रवेश कर गये हैं। मनमाना व्रत चलने के कारण से घर में कोई वाममार्गी प्रवेश कर जाता है। कोई शराब पीता है, मांस खाता है और कहता है, मैं सनातनी हूँ; कोई होटल की चाय पीता है, होटल का भोजन करता है और कहता है– मैं गायत्री, महामृत्युञ्जय एवं नवार्ण मंत्र का उपासक हूँ।– यह सब उसकी बकवास है, इसी से तो कुछ काल के बाद उसे पागल होते देखा जाता है। कहता है– हाय! मैंने देवी की उपासना की, गायत्री की उपासना की, महामृत्युञ्जय आदि की उपासना की फिर पागल क्यों हो गया! लोग भी कहते हैं– 'पागल क्यों हो गया?' अरे! मनमानी साधना की उसने, इसलिए पागल हो गया। साधक तो ब्रह्मकवच पहन लेते हैं। वे 'ऊँ सत्यं सत्यं सत्यं.....' का ब्रह्मकीलक गाड़ देते हैं, जिसका स्मरण करते ही माया चरणों की दासी बन जाती है। आध्यात्मिक साधक का प्रारब्ध ही महावैरी होता है, जिसे कील करने के लिये, स्तम्भन करने के लिये साधक ब्रह्मकीलक का गायन करता है। गीताजी में दिया गया 'राजयोग' ही वह ब्रह्मकवच है तथा मायावाद का निषेध ही ब्रह्मकीलक है। ज्ञानकाण्डीय उपनिषद् ही ब्रह्मकवच हैं तथा उपासनाकाण्डीय उपनिषद् ही ब्रह्मकीलक हैं। आद्यगुरु शंकराचार्य के ग्रन्थ ब्रह्मकवच एवं ब्रह्मकीलक ही तो हैं। इसीप्रकार आप्तकाम संतों एवं सद्गुरुओं से प्राप्त सत्संग ब्रह्मकवच एवं उनसे प्राप्त गुरुमंत्र ही ब्रह्मकीलक है। अब जिनको इसपर विश्वास न हो, वे सब किसी भी कीलक के द्वारा अपनी कील निकालते रहें।

इच्छा–द्वेष से मोहित हुए साधक भी तो आज यहाँ कल वहाँ, भटकते हुए पाये जाते हैं। सिद्धियों की प्रबल कामना होने से तथा शीघ्रातिशीघ्र उनकी सिद्धि नहीं मिलने से जब वे विकल होकर इधर–उधर भटकते हैं तो लगता है किसी ने उच्चाटन एवं मारण मंत्र का प्रयोग कर दिया है। उनका चित्त सात्त्विक, राजस एवं तामस कामनाओं के बोझ से इतना लदा हुआ होता है कि एक साधना पर मन टिकता ही नहीं, शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि नहीं मिलने से हर दो–चार महीने में साधना को बदल देते हैं। न उन्हें जप पर विश्वास रहता है, न तप पर, न योग पर, बस, बहुत से तांत्रिकों, मांत्रिकों एवं योगियों के पास भटकते हुए अमूल्य समय को व्यर्थ में व्यतीत करते रहते हैं। सद्गुरु के वचनों पर विश्वास करके यदि कोई एक जगह बैठकर साधना करे, तो वह देखे कि कौन सी सिद्धि उसे प्राप्त नहीं होती। ठीक इसके विपरीत–

(येषां त्वन्तगतं पापं.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि निष्काम योग, जप, तप, यज्ञ, दान करते–करते जिनका पाप क्षीण हो गया है, वे द्वन्द्वादिक दोषों से रहित हुए दृढ़व्रती सदा–सर्वदा ध्यान, भजन में लगे रहते हैं। इस मंत्र के द्वारा एक और बात स्पष्ट हो रही है कि निष्काम कर्म होगा और सकामता चली जाएगी। सकामता के जाते ही राग–द्वेषादि द्वन्द्व चले

जायेंगे लेकिन निष्काम कर्म कौन कर सकता है, इसी के उत्तर में भगवान ने कहा– 'भजन्ते मां दृढव्रताः' अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ ही निष्काम कर्म कर सकता है। दृढ़व्रती ही तो कहता है कि जब राम नहीं तो आराम कहाँ, जब राम नहीं तो जीना क्या है, मरना इससे तो है अच्छा, घूँट–घूँट विष पीना क्या। वही जीवन को दाव पर लगाकर आमरण अनशन तक कर बैठता है। यदि आमरण अनशन नहीं किया तो जगत में मौनी बनकर रह जाता है, बहरा बनकर रह जाता है, अन्धा बनकर रह जाता है। वैसे दृढ़व्रती सनातनियों के लिये ही गृहस्थाश्रम में नानाप्रकार के व्रत दिये गये हैं। यदि उन्हें निष्काम भाव से किया जाय तो चित्त शुद्ध होते देर न लगे। चैत्र तथा आश्विन (क्वार) की दोनों नवरात्रियाँ, कार्तिक का महीना, मलमास (पौष कृष्ण पक्ष प्रतिपदा से लेकर पौष मकर संक्रान्ति तक), पूरा श्रावण मास तथा अन्य पर्व– ये समय विशेष जप, तप, योग के लिये ही तो हैं। भारतवर्ष तपोभूमि तो है ही, भले कोई इसे भोगभूमि मान ले। सामान्य व्रती देवी–देवताओं को चाहता है किन्तु दृढ़व्रती भगवान को ही चाहता है, इसलिए कि भगवान भी दृढ़व्रती ही हैं। इसी गीताजी में बहुधा भगवान ने प्रतिज्ञापूर्ण ही अर्जुन को संदेशरूप उपदेश दिया है। यहाँ तक कि अठारहवें अध्याय में– मैं तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हें भवसागर से पारकर परमपद दे दूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है। भगवान श्रीराम ने भी बहुत बार प्रतिज्ञा की है, जैसे–

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।।
(श्रीरामचरितमानस– अरण्यकाण्ड)

प्रतिज्ञा में संकल्प होता है। यह सृष्टि संकल्पवत् है, और जो संकल्पवत् है उसका निदान भी संकल्प से ही होता है। एकादशी या नवरात्रि में जलाहारीव्रती प्रतिज्ञा करते हैं कि इतने दिन अन्न, फल आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे और वे सफल होते देखे जाते हैं। ऐसा नहीं की भूख की मार उनपर नहीं पड़ती, तामस–राजस विचारों की मार नहीं पड़ती, बल्कि प्रतिज्ञा हो जाने के उपरान्त तो खाने का और भी मन करता है किन्तु वहाँ संकल्प ही रक्षा करता है। भगवान का यहाँ संकेत है कि प्रतिज्ञा के साथ रहना, अन्यथा जीवन ही बिखर जायेगा। अन्य प्राणी तो प्रतिज्ञा कर ही नहीं सकते, प्रतिज्ञा का अधिकार तो एकमात्र आपके लिये ही दिया गया है। यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि एक तरफ तो भगवान के द्वारा प्रतिज्ञा की बात की जा रही है और दूसरी तरफ सहज होकर स्वाभाविक कर्म करने की बात की जा रही है। ये दोनों बातें तो विरोधी सी प्रतीत हो रही हैं? नहीं, नहीं ऐसा नहीं है, बल्कि जब–जब सहजकर्म करने की बात आवे तब–तब उसका अर्थ स्वाभाविक कर्म से लेना चाहिये न कि सरलता से। डेढ़–पौने दो घण्टे के उपरान्त स्वर बदल जाते हैं, इसीप्रकार विचार भी बदलते रहते हैं। मन का स्वभाव तामस एवं राजस विचारों की तरफ बहने का है। अतः प्रतिज्ञा के साथ रहने पर स्वाभाविक ही उसका कहना न मानने में सुगमता होगी। 'दृढ़व्रताः'– पद बहुत कुछ कह रहा है। वह यह कि भगवान अपने को देने के पूर्व जो अधिभूत, अधिदैव आदि सिद्धियाँ देते हैं, तो उन सिद्धियों से बचने में दृढ़प्रतिज्ञता ही काम आती है। भगवान अब श्रुतिफल की बात करते हुए कहते हैं–

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

अर्थात् मेरे भक्त तो जन्म–मृत्यु आदि से मुक्त होकर कैवल्यपद प्राप्त करने के लिये मेरे शरणागत होते हैं, लेकिन मैं तो उन्हें जीते–जी अपना स्वरूप देकर सम्पूर्ण अध्यात्म एवं सम्पूर्ण कर्मों के स्वरूप को ही बता देता हूँ। इसप्रकार वे अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ आदि को भी भलीभाँति जानकर प्रयाणकाल के समय मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

मानो यह संकेत है कि भले ही कोई जन्म–मृत्यु से मुक्त होने के लिये ही भगवान की शरणागति स्वीकार करे, लेकिन भगवान इतना ही देने में सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि वह तो दैहिक, दैविक एवं भौतिक सिद्धियाँ भी दे देता है ताकि लोग यह न कह सकें कि वे भगवान को पा गये तो क्या बड़ी बात हो गयी, उनका ही तो इससे हित हुआ, जगत का तो हित नहीं हुआ। अरे! जगत का हित तो जितना उस मौनी साधु से होता है, भिखारी साधु से एवं अल्हड़ साधु से होता है, उतना तो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से भी नहीं होता। ये जो बाल–बच्चे अपने माता–पिता को प्रणाम करते हैं, उनके साथ–साथ बड़े–बूढ़ों का भी मान करते हैं और उसके बदले में जो प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त करते हैं, वह सब दीन–हीन से दिखनेवाले, बिना घर–बारवाले साधकों एवं सन्तों की ही तो देन है, जिन्होंने कन्द, मूल, फल खाकर एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए, वेद, शास्त्र, पुराण तथा आचार संहिताओं की रचना की है। इन्हीं ग्रन्थों से ही तो लोग सदाचार, सद्विचार आदि सीखते हैं। यह तो देखा ही जाता है कि जिन वनप्रदेशों में, जिन देशों में ये नहीं जाते हैं अथवा जहाँ ये ग्रन्थ नहीं हैं, वहाँ के लोगों का जीवन पशु–पक्षियों से बढ़कर तो नहीं है।

भगवान ने अब गूढ़ात्मक रहस्य को खोलते हुए भक्तों को, साधकों एवं संतों को उत्साहित किया है। जब वे जरा–मरण से मुक्त होने की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि उन साधक–सन्तों का शरीर बूढ़ा होता ही नहीं तथा मरता ही नहीं, बल्कि यह समझना चाहिये कि वे शरीर की सम्पूर्ण अवस्थाओं के साथ–साथ शरीर के मृत्यु के भय से भी अनासक्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जब वे ब्रह्म को जान लेते हैं तो उनके द्वारा सबकुछ जान लिया जाता है। चाहे भले ही उन्होंने वेद, शास्त्र, पुराण पढ़ा हो या न पढ़ा हो। आजतक जितने भी साधक–सन्त हुए हैं, उन्होंने अपने जीवन में कल्पना भी नहीं की होगी कि ब्रह्मप्राप्ति के पूर्व ही हमें अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जायेंगी। इतना ही नहीं भगवद्भक्तों ने एकमात्र भगवान के लिये घर छोड़ा, भगवान मिल जाने में ही अपना वे परम सौभाग्य मानते हुए घर से वन को आये। उन्हें क्या पता था कि जिस तन, मन, वचन, हृदय को वे अपना मानते थे, उसे निर्गुण निराकार ब्रह्म जगत्–हितार्थ अपना अंग बना लेगा। तभी तो वे

उपद्रष्टा होकर ब्रह्म के द्वारा सृजन, संहार एवं पालनरूप कर्मों को भी अपने तन, मन, वचन, हृदय से होते हुए देखते हैं। वे सम्पूर्ण कर्मों को जान जाते हैं– ऐसा भगवान के द्वारा कहे जानेपर यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण कर्मों पर तथा प्रकृति के अंग–उपांगों पर उनका शासन हो जाता है। इतना ही नहीं उनके प्रति भी जो शरणागत भक्त होते हैं, उनके भी सम्पूर्ण प्रारब्ध पर शासन करने की सम्पूर्ण क्षमता उनमें रहती है। इस मंत्र से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि भले ही कोई साधक भगवान को प्राप्त करने का यत्न करे, वह दिन–रात उसी को प्राप्त करने में लगा रहे, लेकिन भगवान सर्वप्रथम अपनी शक्ति से उसे शक्तिमान कर तब उसे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मरूप को दे देता है।

महाराज तो ऐसा नहीं समझता कि कोई भी साधक अधिभूत, अधिदैव, अधिपुरुष आदि के स्वरूप को जानने के लिये घर छोड़ता होगा लेकिन आजतक ऐसे कोई साधक–संत नहीं हुए, जिन्होंने इन सम्पूर्ण स्वरूपों को आत्मसात न किया हो; परन्तु दृढ़व्रती भक्त तो दृढ़ प्रतिज्ञा कर ही लेते हैं कि जबतक भगवान ही नहीं मिल जाता, तबतक हम अधिभूत, अधिदैवादि सिद्धियों को भी स्वीकार नहीं करेंगे। जब साधक निष्काम जप, तप, योग आदि करता है तो सर्वप्रथम शरीर एवं इन्द्रियों के संयम करने से दूरश्रवण, दूरदृष्टि, दिव्यगन्ध आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ साधक इस अधिभूत सिद्धि का प्रयोग अथवा प्रदर्शन किसी के सामने नहीं करता और न ही इनका विशेष महत्त्व समझता है। फिर अधिदैव सिद्धि जैसे अणिमा, लघिमा, वसिता आदि की प्राप्ति होती है किन्तु वह उनसे भी अनासक्त ही रहता है। यहाँ तक कि उसमें जीवित को अपने संकल्पबल से मारने की और मरे हुए को जीवित करने की क्षमता रहती है, तो भी वह दीन–हीन होने का तबतक प्रदर्शन करता रहता है, जबतक उसका 'भगवत्प्राप्तिरूप' मनोरथ पूरा न हो जाय। महात्मा प्रह्लाद ने अपने गुरुपुत्र को जीवित कर दिया था, किन्तु उनकी सिद्धियों का प्रदर्शन लोगों के बीच देखा नहीं गया है। जो सिद्धि सद्गुरु और भगवान के काम आती है, उसे प्रदर्शन नहीं कहते। साधक जानता है कि भगवान के मार्ग में सिद्धियाँ बाधक ही हैं, इसलिए इनसे सर्वथा उदासीन रहता हुआ आगे बढ़ता जाता है। जो साधक दृढ़व्रती नहीं हैं, वे ही भक्तों के द्वारा दी हुई घड़ी को हाथ में पहने फिरते हैं, गले में जंजीर पहन लेते हैं, पाँव में सैण्डिल तथा राजसी वस्त्र पहन लेते हैं। इतना ही नहीं, अब तो विदेशी सैर (भ्रमण) प्रारम्भ हो ही गया है। उनके भक्त कहते हैं कि आप तो संत हैं, भगवान हैं, आपके लिये देश और विदेश क्या! आपके लिये स्वर्ग, नरक और अपवर्ग में तो कोई अन्तर ही नहीं है, अतः चलें हमें कृतार्थ करें! अमेरिका में आपके चरणों के बिना हमारा घर सूना–सूना है, अपवित्र भी है। ऐसा सुनकर उन भगवानजी के चरण अमेरिका के घर–घर को पवित्र करने चल पड़ते हैं। उन्हें क्या पता है कि यही अधिभूत सिद्धि है।

महाराज ने देखा– एक भक्त एक साधक को घड़ी भेट कर रहे थे। वे कह रहे थे कि इसमें हमने सोने का डायल लगवाया है, इसलिए कि आपको पहनाना है। साधक ने उन भक्त से पूछा– आपने मेरे से पूछा कि संत को क्या देना चाहिये? उसे क्या खिलाना–पिलाना चाहिये? उसे कैसे रखना चाहिये? आपको पता नहीं है तो फिर आज जान लें कि संत कोई मेहमान नहीं

होता। मेहमानों अर्थात् रिश्तेदारों की सेवा अपने मन से की जाती है तथा संतों की सेवा उनके ही मन से की जाती है। संत को तो फल–फूल देना चाहिये, रोटी–पानी देना चाहिये, जलपात्र देना चाहिये, अन्न देना चाहिये। झोपड़ी में जाकर वहाँ की व्यवस्था देखनी चाहिये। घड़ी और जंजीर देकर उसे गृहस्थ नहीं बनाना चाहिये, बिस्कुट, चॉकलेट एवं चाय देकर उसे विषयी नहीं बनाना चाहिये। जब आपके काल्पनिक देवता के लिये बिस्कुट, चॉकलेट एवं चाय का हवन नहीं होता, तो आप सोचें कि संत तो देवताओं का भी देवता होता है, उसे भाव एवं श्रद्धा के साथ कितनी पवित्र वस्तु खिलानी चाहिये। यह सब प्रकृति का प्रलोभन है, जिसे अधिभूत सिद्धि कहते हैं।

दिव्य मंत्रों पर तथा दिव्य चक्रों पर मन की धारणा करने से लोक–लोकान्तर गमन की शक्ति प्राप्त होती है। दूसरे के मन, बुद्धि, चित्त पर मन को केन्द्रित कर उसके मन की कल्पनाओं को जान लेने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसे अधिदैव सिद्धि कहते हैं। पृथ्वीतल में कौन वस्तु कहाँ छिपी हुई है, इसे जानने को अधिभूत सिद्धि कहते हैं। आप सब जानते ही हैं कि स्वयंप्रभा नाम की सिद्ध योगिनी (जिसने हनुमान, अंगद आदि को भगवती सीता का पता बताया था, जो एक गुफा में रहती थी), जिसे अधिभूत, अधिदैव आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं; उसने हनुमान आदि से कहा– अब मैं प्रभु श्रीराम के पास जानेवाली हूँ, अतः आप सब आँख बन्द करें ताकि जहाँ आप सबको जाना चाहिये, वहाँ मैं आप सब को भेज दूँ। उसके कहने पर उनलोगों ने अपनी–अपनी आँखें बन्द कीं और पलभर में अपने–आपको समुद्र के तट पर पाया तथा इधर स्वयंप्रभा प्रभु श्रीराम के पास आकर अनपायिनी भक्ति का वरदान माँगकर बद्रीधाम क्षेत्र को चली गयी।

(साधिभूताधिदैवं मां.....) यद्यपि जरा–मरण से मुक्त होने के लिये आप सद्गुरु के पास आते हैं, लेकिन मुक्ति देने के पूर्व आपको अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, अधिकर्मरूप सिद्धि को लाकर दिया जाएगा। सर्वप्रथम जिसको छोड़कर आप आये हैं, उसी को पुनः दिया जाएगा। माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चों को छोड़कर आये हैं तो दूसरे माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे आपके लिये निर्मित होंगे तथा दिये जायेंगे। जो आपके माता–पिता, बाल–बच्चे, भाई–बान्धव शरीर के हैं, वे आप जब कुछ कर्म करेंगे तब खाना–पीना देंगे, यदि आप कुछ करते नहीं हैं तो डण्डे मारकर भगा देंगे। वे कहेंगे– अरे! दरवाजे पर रहनेवाला कुत्ता भी भौंकता है तब खाता है, लेकिन तू तो भौंकता भी नहीं है, भरपेट खाकर सोया रहता है। परन्तु संन्यास लेने के उपरान्त प्राप्त हुए माता–पिता, बाल–बच्चे बिना किये हुए ही दिव्य फल, दिव्य वस्त्र, दिव्यान्न आदि लाकर देते हैं। वे अपने न खाकर आपको प्रिय वस्तु खाने को देंगे, पहनने को देंगे। कितने साधक तो इस अधिभूत सिद्धि को ही भगवत्कृपा मान लेते हैं, जबकि यह तो साधक के लिये प्रलोभन दिया जाता है। यदि इस प्रलोभन में साधकगण नहीं फँसते हैं तो फिर कैवल्य मुक्ति दे दी जाती है।

एक साधक ने महाराज से कहा कि मेरे गुरुदेव ने कहा कि तुम मेरी सम्पूर्ण व्यवस्था को

सम्भाल लो। गुरुदेव ने मेरी स्थिति को जान लिया और कहा– कोई बात नहीं, कोई बात नहीं, मैंने भी अपने गुरुदेव के द्वारा ऐसा कहने पर मना कर दिया था। अतः मेरे शरीर छोड़ने के उपरान्त मेरे भक्त जब तुम्हें व्यवस्था सम्भालने को बाध्य करें तो कह देना कि अभी मेरा कार्य पूरा नहीं हुआ, इसलिए आप सब मुझे क्षमा करें।

इसप्रकार सद्गुरु भी सर्वप्रथम अधिभूत, अधिदैव, अधिपुरुष नाम की सिद्धि देता है लेकिन साधक इन्हें भी अस्वीकार कर देता है, तब ब्रह्मज्ञान देकर जन्म–मृत्युरूप चक्र से सदा–सदा के लिये मुक्त कर देता है।

इस दिव्य संवाद को देखने एवं सुननेवाले महात्मा संजय ने धृतराष्ट्रसे कहा– हे राजन्! भगवान मधुसूदन ने भक्त अर्जुन से स्पष्ट कह दिया है कि तुम मेरे शरणागत शिष्य हो, इसलिए मैं तुम्हें अपनी अधिभूत, अधिदैव आदि सिद्धियों का ज्ञान कराकर मानूँगा। यद्यपि तुमने मात्र परम ज्ञान एवं परम शान्ति माँगी है किन्तु तुम्हें एवं तुम्हारे जैसे भक्तों को इस जगत में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के भी पद से महत् पद देकर सर्वप्रथम जगत पूज्य बना देता हूँ।

धृतराष्ट्र ने ऐसा सुनकर कौतूहलवश पूछा– तो संजय! ऐसा सुनकर, मेरा प्रिय अर्जुन इस समय क्या कह रहा है?

संजय ने कहा– कहने की बात तो दूर है महाराज! हाँ, इससे पूर्व उनके मन में कुछ कौतूहल सा दिखायी पड़ रहा था किन्तु अब तो वे अन्तरिक्ष की ओर एकटक देखते हुए सोच रहे हैं और भगवान मधुसूदन भी अर्जुन की ओर देखकर प्रेम भरी दृष्टि से मानो कह रहे हों कि हे पार्थ! अब तुम्हें क्या जानना शेष है? आज तुम इतने मौन क्यों हो गये हो–

(राग–वागेश्वरी)

आज तू मौन क्यों रे पार्थ।।
बोल बोल अब चुप्पी खोल,
होले मेरे साथ साथ।।
आज तू मौन.....
उठा ले धनुष तू दिखा युद्ध कौशल,
बन जा मेरे दिव्य हाथ।।
आज तू मौन.....
द्रौपदी के आँसू पोंछ, हर वेदना माँ की,
कर कर तू कर परमार्थ।।
आज तू मौन.....
हे पाण्डुनन्दन तू बन कृष्णनन्दन,
अतः छोड़ दे छुद्र स्वार्थ।।
आज तू मौन.....

महाराज प्रेमाश्रु के साथ गाये,
चरणों में दे प्रभु के माथ।।
आज तू मौन.....

महाराज ने इस सातवें अध्याय को गेयपद में गाया है, जिसे आप गाकर इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त कर सकते हैं। अतः आयें इस दिव्य राग को भैरवी में गायें–

कण कण महँ मोहें जान धनंजय, यह विज्ञान सनातनम्।
मणिमाला इव गूँथ्यो सकल जग, एक सूत्र सच्चिदामयम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

प्रकटत अपरा परा प्रकृति सों, जीव सकल सचराचरम्।
इन्ह दोऊ को पिता ब्रह्म हौं, उत्पत्ति प्रलय पुरातनम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

जिमि यह गुँथ्यों सकल प्राणिन्ह महँ, पार्थ सुनो विज्ञानमयम्।
सकलवेद कहुँ एक ही अक्षर, बीज परम वह ॐमयम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

जल महुँ रस हौं तेज अग्नि महँ, नभ को बीज हौं शब्दमयम्।
पुरुष में पौरुष गन्ध धरामहँ, सर्वभूतमहुँ जीवनम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

तपतपसिन्ह महुँ बुद्धि सकलगुण, बीज भूत सनातनम्।
एहि विधि भजत त्रिभिर्गुण जीतत, पावत पद सो अनामयम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

ब्रह्मप्रकृति सब जानि भक्तमम, होत निरंतर ज्ञानमयम्।
महाराज प्रभु गूढ़ मरम सब, खोलत होऊँ सनातनम्।।
कण–कण महँ मोहें.....

ॐ मासपारायण, पंद्रहवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में
भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप ज्ञानविज्ञानयोग नामक
सातवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

जिसप्रकार शरीर पर वस्त्र होते हैं जिन्हें समयानुसार बदल दिया जाता है; ठीक उसीप्रकार यह शरीर भी जीवात्मा पर वस्त्र के समान होता है, जो बचपन से जवानी में, जवानी से बुढ़ापे में, बुढ़ापे से मृत्यु में, मृत्यु से पुनर्जन्म में बदलता रहता है; किन्तु जीवात्मा जो बचपन में रहता है वही जवानी में रहता है, जो जवानी में रहता है वही बुढ़ापे में रहता है, जो बुढ़ापे में रहता है वही मृत्यु में रहता है, जो मृत्यु में रहता है वही पुनर्जन्म में रहता है; क्योंकि वह अजर है अमर है शाश्वत है सनातन है पुरातन है अव्यय है अविनाशी है घट–घटवासी और सुख की राशि है। अतः आज से गुरु आदेशानुसार मैं अपने आपको शरीर न मानकर आत्मा जीवात्मा अन्तरात्मा मानूँगा तथा जानूँगा/मानूँगी तथा जानूँगी।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि–हिय–कमल विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते।। जय०।।

कर्म–सुमर्म–प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान–विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा।। जय०।।

निश्चल–भक्ति–विधायिनि, निर्मल मलहारी।
शरण–रहस्य–प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी।। जय०।।

राग–द्वेष–विदारिणी, कारिणि मोद सदा।
भव–भय–हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा।। जय०।।

आसुर–भाव–विनाशिनि, नाशिनि तम–रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि–रसिका सजनी।। जय०।।

समता, त्याग सिखावनि, हरि–मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी।। जय०।।

दया–सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरिपद–प्रेम दान कर अपनो कर लीजै।। जय०।।